पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :
अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक
एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्‌बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आप-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भा..दारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंत:स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दु:खी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस-हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्राय: पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनने महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलथाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

□□□

भूमिका

कथा-कहानी एवं कविता, साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं। सीधी-सादी और गंभीर शैली में दिये जाने वाले उपदेशों को सुनने में अधिक देर तक मन नहीं लगता; बहुत से व्यक्ति तो उनको 'नीरस' कहकर शीघ्र ही उपराम हो जाते हैं, उनको रुचिपूर्वक सुनने और समझने वालों की संख्या सदैव अत्यन्त अल्प ही रहती है।

इसलिए विद्वानों ने प्राचीनकाल से कथा-कहानी एवं काव्य-प्रणाली को अपनाया है। इसमें उन्हीं उपदेशों को घटनात्मक शैली, काव्य शैली या दृष्टान्त रूपक बनाकर सुनाया जाता है। ये बातें मनुष्य को अपने जीवन या सामाजिक हलचल से मिलती-जुलती जान पड़ती हैं, इसलिए वह उसकी समझ में आ जाती हैं, उसकी रुचि जाग्रत हो जाती है और अनेक बार उनमें से कुछ बातें तो उसके अंतस्तल में इतनी गहराई तक प्रविष्ट कर जाती हैं कि उन्हीं के बलबूते बड़ी-बड़ी महाक्रान्तियाँ उठ खड़ी होती हैं और देखते ही देखते समाज, देश व विश्व का नक्शा ही बदल जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव का सदैव यही उद्देश्य रहा है कि सार्वभौम एकता एवं वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श साहित्य तक ही सीमित रहने से आगे बढ़कर जन-जन के व्यवहार में उतारा जाय और उसी एकता के आधार पर बाह्य एवं आन्तरिक जीवन की सुख-शान्ति को उपलब्ध किया जाय। यही कारण है कि भारतीय समाज के प्रायः समस्त धर्मग्रन्थों-वेदों से लेकर पुराणों तक अंतःकरण को झकझोर कर रख देने वाली मर्मस्पर्शी, सरल भाषा शैली में अनुवादित और प्रकाशित किये गये हैं। पुरातन साहित्य को नवीन के साथ जोड़ देने से यह साहित्य सृजन और भी अधिक प्रभावशाली बन पड़ा है। अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय से जीवन जीने की कला को एक सांगोपांग आचार पद्धति के रूप में उपस्थित किया गया है। इस आचार-विचार के साप्याश्रित शास्त्र के अतिरिक्त आत्म-निर्माण,परिवार-निर्माण एवं समाज-निर्माण की दिशा में सरलतापूर्वक प्रेरणा, प्रकाश और दिशा देने वाला प्रचुर साहित्य उनकी लेखनी से सृजा गया है। सृजनात्मक कार्यों में संलग्न व्यक्तियों के जीवन प्रसंग जनसामान्य को उच्चस्तरीय अनुगमन की प्रेरणा उभारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विश्वव्यापी विचार क्रान्तियों के जन्मदाता युग मनीषियों, निर्भीक विचारकों एवं ज्ञानक्रांति के अग्रदूतों ने अपनी लेखनी, वाणी व कर्तव्यनिष्ठा से संसार में जिन महाक्रान्तियों को जन्म दिया, उनकी फलश्रुतियाँ सबके सामने हैं। गाँधी, मार्क्स, रूसो, हैरियटस्टो आदि महामानव इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा का सहयोग न होने पर भी अमावस की सघन तमिस्रा को नन्हें-नन्हें दीपकों की प्रकाश ज्योति भी दीपावली में बदलने में समर्थ है। तात्पर्य यह है कि सामर्थ्यवानों का सहयोग न मिलने पर भी मनीषी जब तनकर खड़ा हो जाता है तो उसकी वाणी और लेखनी वह कार्य कर दिखाती है जो परमाणु बम, तोप और तलवारें भी नहीं कर पातीं। पीढ़ियाँ सदा ऐसे ही व्यक्तियों को श्रद्धासिक्त हो नमन करती और उन्हें अपना मार्गदर्शक मानती हैं।

परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी से वाङ्मय के इस खण्ड में इसी तरह के महामानवों के जीवन प्रसंगों को लिया गया है। महामनीषी कल्लट, खलील जिब्रान, रवीन्द्रनाथ टैगोर, विष्णु शर्मा, दान्ते, बाबू गुलाब राय से लेकर शोपेन हॉवर, विलियम शेक्सपीयर, पियर्सन, रूसो, टालस्टाय आदि तक विश्व के मूर्धन्य दार्शनिक, चिन्तक, मनीषी एवं विचार क्रांति के द्रष्टा महामानवों के जीवन चरित्रों को प्रथम अध्याय में स्थान दिया गया है। जन जाग्रति के प्रणेता युग मनीषियों को दूसरे अध्याय में लिया गया है। मानवी चिंतन चेतना को जाग्रत कर उसे निश्चित दिशा एवं गति प्रदान करने का कार्य जिन महामानवों ने किया है, उनमें से अधिकांश के हृदयोद्गार कविता की निर्झरिणी के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। महाकवि कालिदास, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई आदि से लेकर दान्ते, चन्दवरदायी एवं निराला तक समय के पृष्ठों पर अग्नि-काव्य लिखने वाले साहित्य साधकों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व आज भी जनमानस में रचे-बसे हैं और उन्हें अनुप्राणित-उद्वेलित करते रहते हैं। अर्नेस्ट जोन्स, पुश्किन, जाइगेर, इलियट, पाब्लोनेरूदा जैसे पाश्चात्य सद्ज्ञान साधकों के जीवन-प्रसंग भी जन-जाग्रति के प्रणेताओं में अग्रणी हैं।

युग प्रवाह को मोड़ने में प्रतिभावान व्यक्तियों की विशिष्ट भूमिका होती है। विचारक, लेखक, कवि, वक्ता, पत्रकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, धनी, विद्वान व राजनीतिज्ञ आदि ऐसी ही विशिष्ट विभूतियाँ हैं जिनका सीधा सम्पर्क जनजीवन से होता है। नवनिर्माण से जुड़ी जिन समर्थ प्रतिभाओं को तीसरे अध्याय में लिया गया है उनमें चन्द्रधर

शर्मा गुलेरी, जानस्टीनबेक, पर्लबक, हैरियट स्टो एवं एच. जी. वेल्स से लेकर कार्ल मार्क्स, लेनिन, अर्नाल्ड टायनबी इत्यादि को सम्मिलित किया गया है।

'विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी' नामक वाङ्मय के इस खण्ड के चौथे एवं अंतिम पाँचवें अध्यायों में ज्ञान क्रान्ति के उन अग्रदूतों एवं लोककल्याण के लिए समर्पित महामानवों के जीवन प्रसंगों की चर्चा की गयी है जिन्होंने मानस मंथन कर ज्ञान-क्रांति की मशाल जलाई और तमसाच्छादित जनमानस को नूतन मार्ग दिखाया। इनमें लोकमान्य तिलक, समर्थगुरु रामदास, पाइथागोरस, जार्ज बर्नार्डशा, डार्विन, न्यूटन, महाकवि कम्बन, यूक्लिड, वाल्टेयर, बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, पुरुषोत्तम दास टंडन, डॉ० राधाकृष्णन, मैसरिक, दादा साहब फालके, के० सी० डे आदि के नाम प्रमुख हैं; जिन महामानवों ने ज्ञान को व्यावहारिक जीवन का अंग बनाया तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों, अन्याय एवं शोषण आदि को हटाने-मिटाने के साथ-साथ शिक्षा प्रसार के कार्यों में अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया, उनमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, जे० सी० बसु, डॉ० बीरबल साहनी से लेकर डॉ० हरगोविन्द खुराना, चार्ल्स डिकेंस, अलवर्ट आइन्स्टाइन, अर्नेस्ट हेमिंग्वे एवं अल्फ्रेड नोबुल आदि के नाम प्रमुख हैं। इन महापुरुषों के जीवन चरित्र न केवल पठनीय है, वरन् उसमें सन्निहित प्रेरणाओं को अपने जीवन में उतारने, तदनुरूप जीवन ढालने के लिए ही वाङ्मय के इस खण्ड में ऐसे महामानवों के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गयी है जिन्हें पाकर यह विश्व-वसुधा भी धन्य हो गयी।

—ब्रह्मवर्चस

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

****

विश्वव्यापी विचार क्रान्ति के जन्मदाता देवदूत

महामनीषी कल्लट की तप-साधना

भद्रे ! अतिथि पधारे है ! अर्घ्य ! महापण्डित अपनी लेखनी छोड़कर बड़ी आतुरतापूर्वक उठे थे । उन्होंने आज पता नहीं कितने वर्षों के बाद पत्नी को उच्च स्वर में पुकारा था । गौर-वर्ण, कृशकाय, उन्नत भाल, जैसे कोई जनःलोक का ऋषि धरती पर उतर आया हो । शिला पर एक जीर्ण कुशासन पड़ा था और आस-पास भोज पत्र बिखरे थे ।

अद्भुत थी, कश्मीर की इस एकान्त कुटिया में ग्रन्थ प्रणयन करने वाले, इस महापुरुष की शक्ति । उनके जीवन काल में ही उनके ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ प्रयाग और काशी तक आ पहुँची थीं । नवीं शताब्दी के इस उत्तरार्द्ध काल में पुस्तके छपती नहीं थीं । पत्रों में समालोचना निकलने का सवाल कहाँ उठता ? उनके प्रचार का साधन थी उनकी श्रेष्ठता । उन्हें इतना उत्कृष्ट होना चाहिए कि जो एक बार पन्ने उल्टे, वह इतना उत्सुक हो उठे कि कई मास उसकी प्रतिलिपि करने मे होने वाला श्रम उसे सहज स्वीकृत हो जाय । इस प्रतिलिपि परम्परा से ही सम्भव था उनका प्रचार-प्रसार । संस्कृत विद्या के महान केन्द्रों में देश भर के विद्वान उनकी ग्रन्थ प्रतिलिपियों का आदर करते थे । अभिभूत थे उनकी उस विचार-शक्ति के समक्ष जो विद्वानो से लेकर सामान्य जन तक सभी को एक साथ प्रभावित किये थी । तभी तो इस शक्ति का स्रोत ढूँढने के लिए मनीषियों का समुदाय प्रयाग से कश्मीर तक की पद यात्रा करके आ पहुँचा था और कोई साधन भी तो नहीं यात्रा का सिवा पाँवो के ।

आगत-जन उन्हें निहारते हुए अभी कुछ सोच रहे थे कि मिट्टी के बर्तन में अर्घ्य के लिए जल लेकर महापण्डित की सहधर्मिणी उटज के बाहर निकलीं ।

"हम आपके दर्शनार्थ आए हैं । साक्षात न सही-आपके वाङ्मय शिष्य हैं हम सब !" आगतो ने श्रद्धासमन्वित प्रणिपात किया । पण्डितराज उन्हे अर्घ समर्पित करें—यह अत्यन्त संकोच की बात थी । उन्होंने देख लिया कि अतिथियो को संकोच हो रहा है तब उन्होंने स्वयं चरण धोने का आग्रह नहीं किया । शिला पर चटाई बिछा दी । तपस्वी के आश्रम का आतिथ्य उसके उपयुक्त ही तो होगा ।

"आपकी सत्कीर्ति का चुम्बकत्व हमे खींच लाया ।" आगन्तुको ने अपना परिचय दिया । "हम लोगो की तरफ विद्वत् समुदाय में कश्मीर मण्डल कल्लट के कश्मीर के रूप में प्रचलित है ।" उनमे से एक ने उनकी लोकप्रियता उजागर करनी चाही ।

"अरे नहीं ! नहीं !!" बात को नया मोड़ देते हुए वह बोले "यह भूमि कल्लट के कारण नहीं महर्षि कश्यप के कारण विख्यात है । तभी तो इसका प्राचीन नाम कश्यपमीर है । अभी भी श्रीनगर से तीन मील की दूरी पर कश्यप मुनि का आश्रम है । शारिका देवी का मन्दिर, भगवती सती के कण्ठ-पात का स्थान यहीं है । अमरनाथ की गुफा, शिव के रुद्रतीर्थ ने इसे गौरवपूर्ण बनाया है । भगवान मत्स्य की अवतार भूमि यही है ।" वे कश्मीर की ऐतिहासिकता बता रहे थे । केसर व कवित्व की जन्मभूमि का इस रूप में परिचय सभी को उत्साहवर्द्धक लगा ।

"अतिसान्निध्यादनादरम् ।" तनिक एकान्त पाकर प्रयाग के एक पण्डित ने अपने सहचरों से धीरे से कहा—"यहाँ का नरेश ऐसे अमूल्य रत्न का भी आदर नहीं कर सका ।"

"यह जीर्ण कुटीर ! यह कंगाली-सरस्वती के ऐसे वरद पुत्र के पास !" व्यथा सब के चित्त को पीड़ित कर रही थी । "हम कल उसे धिक्कारेंगे, बड़ा आया विद्वानों के सत्कार का इच्छुक ?"

दूसरे दिन प्रयाग और काशी के ये विद्वान राजसभा में पधारे । महाराज ने उनका श्रद्धा-समन्वित स्वागत किया । उन्हें वस्त्राभरण एवम् विपुल दान-दक्षिणा प्रदान करनी चाही । किन्तु उनमें से किसी ने नरेश के सम्मान के प्रति आस्था व्यक्त नहीं की । उल्टे स्पष्ट सुना दिया "नरेश ! तू हमें कंचन से ठगना चाहता है ? तेरी मंशा है कि इसे लेकर हम तेरा स्तवन करे, तेरी कीर्ति का प्रसार करें ? कृपण ! तेरे यहाँ अमूल्य रत्न और उसे दो मुट्ठी अन्न की भी व्यवस्था नहीं । भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ विद्वान यहाँ जीर्ण कुटीर मे कच्चे फलों पर जीवनयापन करने पर विवश है । यह उसकी विवशता नहीं, तेरी उपेक्षा का परिणाम है कि इतना यशस्वी महापण्डित नितान्त दीन अवस्था मे रह रहा है ।" "आप सब सत्य कहते हैं ।" कश्मीर नरेश सिर झुकाये कह रहे थे । "किन्तु महापण्डित कुछ स्वीकार करेंगे, इसकी संभावना कहाँ ?"

"प्रयत्न किया कभी ?" विद्वानो का रोष शान्त नहीं हुआ था । अन्ततः उनका आदेश महाराज ने डरते-डरते स्वीकार कर लिया । एक उत्तम जागीर का दानपत्र लिखवाया उन्होंने और राजमुद्रा से अंकित करके उनको अर्पित कर दिया ।

"क्या प्रश्न है ? वैसे ही सुना दें आप सब ?" वह दानपत्र लेकर जब विद्वानो का समुदाय महापण्डित के आश्रम में पहुँचा और उनके चरणों के समीप वह दानपत्र धर दिया, तब उन्होंने समझा कि कोई लिखित शंका इन विद्वानो ने उनके सम्मुख रखी है ।

"कोई प्रश्न नहीं !" नम्रतापूर्वक उन सबने कहा । "नरेश ने निर्वाह योग्य भूमि आपको अर्पित की है, उसका दानपत्र है यह ।"

"राज्य को आश्रय देने वाला ब्राह्मण राजाश्रय में रहे !" वह झटके से उठ खड़े हुए । दानपत्र शिला से नीचे गिर पड़ा । उन्होंने चटाई गोल करके दबाई और कमण्डलु उठाया । पत्नी को आवाज दी "भद्रे ! यहाँ के शासक मे धनमद आ गया । चलो, चलें यहाँ से ।"

सहधर्मिणी को क्या लेना था, कुटिया में उसकी गृहस्थी थी ही कितनी । उसने अपना जीर्ण उत्तरीय मस्तक पर डाला और द्वार से बाहर आ खड़ी हुई । "मुझे क्षमा कर दें ! यह अपराध मैंने स्वतः नहीं किया है ।" कश्मीर नरेश वृक्षों के पीछे से निकले और सिर झुका कर खड़े हो गए । उन्हें पता था जनता जिसे अपना आराध्य मानती है, उसके जाने से जन द्रोह हुए बिना न रहेगा । स्वयं उनके मन में भी पण्डितराज के प्रति कम सम्मान न था ।

"यह अपराध हमारा है । हमने महाराज से अनुरोध किया था ।" विद्वानों ने करबद्ध प्रार्थना की ।

"ब्राह्मण धन की माँग करे ?" एक क्षण के लिए उनके मुख पर रोष की रेखाएँ उभरीं । लेकिन दूसरे ही क्षण संयत स्वर मे बोले "आप सब तो अतिथि हैं ।" उन्होंने संकेत किया पत्नी को कुटिया मे चले जाने का । चटाई शिला पर बिछाते हुए उन सबसे बोले "खेद है आप सबने अपरिग्रह को दरिद्रता समझ लिया, जबकि यह है मनुष्य मे मनुष्य के विश्वास की चरमावस्था और ब्राह्मण का जीवन है इसका चरमादर्श । संग्रह का तात्पर्य है, इस विश्वास का अभाव । इस विश्वास के अभाव का मतलब, अलगाव । आदमी के दिल और दिमाग पर खिंची अलगाव की रेखाएँ—मनुष्यता पर आरियाँ चलाए बिना न रहेंगी । परिणाम होगा—आतंक की दहशत में सिसकता जीवन ।" उन्हें अभी तक इसका दुःख था कि इन सबने ब्राह्मण होकर व्यक्तिगत सुख के लिए धन चाहा । भले ही यह कार्य अनजाने मे हुआ हो पर स्वयं ब्राह्मण होकर वे अतिथिगण ब्राह्मणत्व के मर्म को नहीं समझ पाए थे, यह सोच-सोचकर वे क्षुब्ध थे ।

सभी मौन थे । व्याप्त होती जा रही नीरव स्तब्धता को तोड़ते हुए बोले "ब्राह्मण व्यक्ति नहीं संस्थान है । यह किसी जाति विशेष मे उपजे कुछ मानवों का समुच्चय नहीं, महत्तर कर्म का आदर्श है । समाज रूपी शरीर के इस स्नायु सस्थान में गड़बड़ी हुई तो सब कुछ ठीक रहते हुए भी हर अंग अपाहिज हो जाएगा । हो क्यों न हर कहीं संवेदना के प्राण पहुँचाने वाले स्नायु जो मरने लगे ।"

सब सिर नवाये खड़े थे—उन्हें क्या पता था जिसे वे इस महातापस की दरिद्रता समझ बैठे थे, उसमे इतने गहरे रहस्य छुपे हैं । उनकी वाणी अभी भी अबाध गति से प्रवाहमान थी । "ब्राह्मणो ! अपने को पहचानो तुम्हारा धन ...न और धातु के टुकड़े नहीं, तप और विद्या है । तप अर्थात् विद्या का अर्जन और विद्या, यानी कि लोकजीवन का सृजन, पोथियों का भार वहन नहीं ।" वार्तालाप के इस दौर में उनके हाथ दानपत्र को फाड़ रहे थे । उनके आसन की शिला के आस-पास दानपत्र के टुकड़े वायु में उड़ने लगे थे ।

"मैंने सारे जीवन इसी ब्राह्मणत्व की साधना की है । यही मेरी ऊर्जस्विता और शक्ति का स्रोत बना है ।" इन शब्दों ने प्रयाग के पण्डितों को चौंका दिया-यही तो वे ढूँढ़ने आए थे । क्या है, महापण्डित कल्लट का शक्ति स्रोत ? उन्हें स्वयं पर शर्म लगने लगी थी । इधर वे कह रहे थे—"मेरा कर्तृत्व भूर्जपत्रों पर कुछ अक्षरों को जोड़ने तक सीमित नहीं रहा । मैंने लोगों के दिलों को जोड़ा है ।"

"हम सभी क्षमा चाहते हैं महापण्डित ।" उनमें से एक वयोवृद्ध सज्जन जैसे-तैसे करके बोल सके । "अब से हम सभी आपके आदर्श पर चलने की चेष्टा करेंगे । हमें अब कहीं जाकर आपके कर्तृत्व का मूल, उसका मर्म ज्ञात हुआ है ।" "यह मेरा आदर्श नहीं, मेरा निजी कर्तृत्व नहीं है । ऋषियों का सनातन आदर्श, आर्य भूमि की गौरवमयी परम्परा है । ब्राह्मण बनने और ब्राह्मण बनाने की तुममें से प्रत्येक समाज के स्नायु संस्थान का जीवन्त स्नायु बने । ध्यान रखे ! पहले दिल अलग होते हैं तब घर बँटते हैं । घर का यह बँटवारा एक माँ के लाड़लों के बीच अलगाव, आतंक दुश्मनी की आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचता है । इसे वही मिटा पाएगा जिसने ब्राह्मणत्व का अर्जन किया है, जो विद्या और तप का धनी है । स्वयं की संवेदना के प्रवाह से औरों को संवेदनशील बनाने की क्षमता रखता है ।"

नवीं शताब्दी में कहे गए ये वाक्य आज भी उतने ही प्रखर और सार्थक हैं । 'सपन्दकारिका' के यशस्वी लेखक कल्लट के आदर्श को आज की परिस्थितियों मे वैसा ही शाश्वत, चिरन्तन, स्थायी नियम माना जा सकता है । संवेदना उसी मे विकसित हो सकती है जो स्वयं तपा हो । औरों का दुःख जिसे अपना लगता हो । अपने ऊपर कठोरता ब्राह्मण इसीलिए करता है ताकि जीवन जीने की सही विधा का औरों को शिक्षण मिल सके तथा साधनों का दुरुपयोग न होकर मानव मात्र के लिए सदुपयोग हो ।

निष्ठुरता, एकाकीपन, अलगाव से भरे आज के समाज मे सतयुगी संभावनाएँ तभी साकार होंगी जब मानव के अन्दर का ब्राह्मणत्व जागेगा । 'सादा जीवन, उच्च विचार' की परम्परा का विस्तार होगा । गरीबी को जानबूझकर ओढ़ने वालों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाएगा । बड़प्पन की कसौटी एक ही होगी, विकसित भावसंवेदना, श्रेष्ठ-उदात्त चिन्तन व समाज को ऊँचा उठाने वाले सत्कर्म । सधिवेला मे ऐसे अनेक नव ब्राह्मण उभरकर आएँगे । जाति, वंश के भेद से परे इन महामानवों की जीवनचर्या परमार्थ परायण होगी । सतयुग की वापसी तब ही तो होगी ।

क्रान्तिदर्शी साहित्यकार—
सन्त खलील जिब्रान

"लोग मुझे पागल समझते हैं कि मैं अपने जीवन को उनके सोने-चाँदी के कुछ टुकड़ो के बदले नहीं बेचता । और मैं इन्हें पागल समझता हूँ कि वे, मेरे जीवन को बिक्री की एक वस्तु समझते हैं ।"

ये शब्द विश्वप्रसिद्ध सन्त खलील जिब्रान ने उस समय कहे थे जब कुछ स्वार्थपरायण लोगों ने उन्हें स्वदेश से निष्कासित करा दिया था । जिब्रान जैसे धनाढ्य और प्रतिभासंपन्न व्यक्ति यदि चाहते तो समस्त ऋद्धियाँ एवं सिद्धियाँ उनके चरणों की अभ्यर्थना करतीं । परन्तु देश, जाति और समाज को जीवन देने वाले महापुरुषों ने इन क्षणिक मृगतृष्णाओ को स्वीकार ही कब किया है ? वे तो किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही संसार में जन्म लेते हैं और आजीवन लक्ष्य-पूर्ति मे जुटे रहते हैं, भले ही उन्हे अनगिनत कष्ट और बाधाएँ क्यो न सहनी पड़ें ।

खलील जिब्रान का जन्म ६ जनवरी, १८८३ ई. को लेबनान के बशरी नगर में हुआ था । इनके पिता अत्यन्त धन सम्पन्न थे । उन्हें विदेश भ्रमण का शौक था अतएव समय-समय पर विभिन्न देशो की यात्रा किया करते थे । पिता के साथ बालक जिब्रान ने १० वर्ष की अल्पायु मे ही अमरीका, बेल्जियम, फ्रांस आदि अनेकानेक देशों का भ्रमण किया था । इस विदेश-भ्रमण के परिणामस्वरूप उनका बौद्धिक ज्ञान अत्यन्त विस्तृत हो गया, साथ ही उन्हें विभिन्न धर्म और जाति के लोगो को देखने-परखने का अवसर भी प्राप्त हुआ ।

इनकी माता कलिमा रहमी अत्यन्त विदुषी महिला थीं । उनकी ही लगनशीलता और उदात्त विचारधारा का परिणाम था कि विश्व को खलील जिब्रान से महापुरुष दे पाई । जिनकी वाणी युग-युग तक मानव जाति का पथप्रदर्शन करती रहेगी । माता की हार्दिक अभिलाषा अन्धकार से घिरी एवं भटकती मानव जाति के लिए मेरा पुत्र दीप स्तम्भ का कार्य करे, जिब्रान ने पूरी की ।

तत्कालीन समाज मे फैली हुई रूढ़िवादिता, धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों तथा अव्यवस्थाओं को देखकर खलील जिब्रान ने विचार किया कि जब तक इन्हे दूर न किया जायेगा, तब तक जीवन मे विकृतियों की भरमार बनी ही रहेगी और समाज स्वस्थ वायु में साँस न ले सकेगा । अतएव उन्होने इस सबके विरुद्ध व्यापक आन्दोलन छेड़ दिया । खलील जिब्रान ने सर्वप्रथम तत्कालीन ईसाई धर्म में फैली हुई बुराइयो के विरोध में आवाज उठायी । वे कहा करते थे कि धर्म की सार्थकता इसी मे है कि वह उन्नत और सदाचारी जीवनयापन की पद्धति को दर्शा सके । ऐसा धर्म जो गरीब और असहाय लोगो का गला काटता है—धर्म नहीं कुधर्म है । उसका परित्याग करना ही उचित है । धर्म और धार्मिको के खिलाफ लिखने से उन्हे पादरियों का रोष सहना पड़ा ।

गरीब और असभ्य लोगों के, समाज के पीड़ित शोषित वर्ग के पक्ष मे बोलने तथा उनमें अपने मानवीय अधिकारों की चेतना जाग्रत करने के फलस्वरूप खलील जिब्रान को जागीरदारों और शासक वर्ग का कोपभाजन बनना पड़ा । उनके भाषणो और पुस्तकों ने समाज के दलितवर्ग मे ऐसी चेतना भरी कि वह अपने हनन किए अधिकारों को पुनः प्राप्त करने को सक्रिय हो उठा । शोषकों, जागीरदारो और धर्म के ठेकेदारो के विरोध में ऐसा बवण्डर उठा कि उन्हे चैन से रहना ही कठिन पड़ गया ।

सामाजिक क्रान्ति का बिगुल बजाने का परिणाम यह हुआ कि स्वार्थलोलुप अधिकारी वर्ग ने उन्हे देश निकाला दे दिया । १९१२ मे संयुक्त राज्य अमेरिका चले गये । तथापि वहाँ से भी वे अपने देशवासियो को लेखन द्वारा निरन्तर प्रेरणा देते रहे तथा उनका मार्गदर्शन करते रहे । उन्होंने अपने जीवनकाल में लगभग पच्चीस पुस्तकें लिखीं, जो न केवल उनके देशवासियो के लिए अपितु समस्त विश्व के लिए आज प्रेरणा दीप बनी हुई हैं ।

गीता मे बताया गया है कि आत्मा कभी मरती नहीं । आत्मा को किसी ने देखा नही पर अनुभव सभी ने किया है । आत्मा नहीं मरती तो महान आत्माओं के अमर होने मे संदेह करना बेमानी होता है । 'हाँ' महान आत्माएँ कभी मरती नहीं, अपने विचारों के रूप मे सदा सर्वदा जीवित रहती हैं और जब उनके विचारों पर आडम्बरों और बाह्याचार का कुहासा छाने लगता है तो किसी व्यक्ति के रूप मे, जन चेतना के रूप में, प्रखर प्रभाकर बनकर उसे भेद देती है, छिन्न-भिन्न कर देती है । महात्मा ईसा के विचारों को भुलाकर जब लोग केवल बाह्य रस्मो को ही सब कुछ समझने लगे तब सत्य को सामने रखने वाली एक आवाज के रूप मे उनके विचार गूँज उठे । इस गूँज के निमित्त बने थे उक्त महामानव के साथ ही खलील जिब्रान जो साहित्यकार, चित्रकार एवं युगदृष्टा दार्शनिक भी थे ।

उन्होने लोगों को उस धर्म से परिचित कराया जिसे ईसा चाहते थे । उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'दि क्रूसीफाइड' की ईस्टर पर्व के सम्बन्ध में लिखी गई निम्नलिखित पंक्तियाँ उस वेदना को स्पष्ट करती हैं जो उन्होने लोगों को धर्म के नाम पर आडम्बर को पूजते देखकर भोगी थी—"आज ईसाई आत्माएँ स्मृतियों के परों पर सवार होकर येरूशलम पहुँचेगी । वहाँ वे विशाल "समूहो में खड़ी होकर अपनी छातियाँ पीटेगी और उसकी ओर अपलक देखेगी, काँटो का गोल ताज पहने अपनी बाहो को स्वर्ग की ओर फैलाये और मृत्यु के पर्दे के पीछे जीवन की गहराइयो मे देखते हुए, लेकिन जब दिन के मंच पर रात का पर्दा गिरेगा और यह लघु नाटक पूरा हो जायेगा तभी ईसाई लोग समूहो में वापस चले जायेगे,

विस्मृतियों के अन्धकार में अज्ञान और आलस्य के गद्दों पर सोने के लिए ।"

इन रस्मी कर्मकाण्डों के साथ उस सत्य को जीवन में न उतारा जाय तो उनकी क्या सार्थकता है । अतः खलील जिब्रान ने बताया—"जीसस ने कभी भय की जिन्दगी नहीं जी, न वे दुःख झेलते हुए शिकायत करते हुए मरे—वे एक नेता बनकर जिये धर्म योद्धा के रूप में सूली पर चढ़े, उन्होंने जिस मानवीय साहस और आत्मबल के साथ मृत्यु का वरण किया, उससे उनके हत्यारे और सताने वाले भी दहल गये । वे मानव हृदय को एक मन्दिर, आत्मा को एक वेदी और मस्तिष्क को एक पुजारी बनाने आये थे । यदि मानवता के पास बुद्धि होती तो वह विजय और प्रसन्नता के गीत गाती ।

जिस सत्य को जानने, स्वीकारने और कहने का साहस करने के कारण ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया था । उस सत्य को १९०० वर्ष बाद भी किसी व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर उसे क्या मिला—प्रशंसा, मान, यश, नहीं 'निर्वासन दण्ड' । इसे मानव समाज की कौन-सी बुद्धिमत्ता कही जाय ? युवा जिब्रान ने चर्च की औपचारिकताओं और व्यवस्थाओं से हटकर जो सच्ची बात कही थी उसके कारण उन्हें लेबनान के शासकों ने निर्वासन दण्ड दिया ।

खलील जिब्रान—जिनके व्यक्तित्व में थौरो का प्रकृति प्रेम, माइकल एंजिलो की कला निष्ठा, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का काव्य कौशल और मंसूर की सी स्पष्टवादिता का अनूठा संयोग देखने को मिलता है । सम्पन्न और सुसंस्कृत परिवार मे जन्मे खलील जिब्रान को कला के प्रति प्रेम उनकी माता से विरासत मे मिला था । उनके नाना का परिवार अपने गाँव का सबसे अधिक संगीत प्रेमी परिवार माना जाता था । परिवार के ऐसे वातावरण और प्रकृति की सुरम्य गोद मे पले बालक का कला की ओर प्रेम जाग जाना स्वाभाविक ही था । बाद में वे प्रसिद्ध कवि, साहित्यकार व चित्रकार के रूप मे प्रसिद्ध हुए ।

मेनेराइट चर्च में उनका बपतिस्मा हुआ और प्रारम्भिक शिक्षा लेबनान में ही हुई । किशोरावस्था से ही सङ्गीत, चित्रकला और लेखन की ओर उनकी विशेष रुचि थी । अतः प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके वे अपनी माता, भाई और दो बहिनों के साथ अमेरिका चले गये । १९०८ में वे पेरिस की 'एकेडमी ऑफ फाइन आर्ट्स' मे प्रविष्ट हुए और प्रख्यात मूर्तिकार आगस्ट रोदो से शिक्षा ग्रहण करके अमेरिका लौट गये ।

चित्रकला के क्षेत्र में उनको सबसे अधिक प्रभावित किया था माइकल एंजिलो के देवत्व भरे चित्रों ने जिनमें मानवता के उच्चतम विकास की झाँकी देखने को मिलती है । उन्हीं के चित्रों से प्रभावित होकर खलील जिब्रान ने भी उन्हीं की शैली में ऐसे चित्रों का निर्माण किया, जिनसे मनुष्य को सत्प्रेरणाएँ मिलती है । उन्होंने मानवाकृतियों में शारीरिक सौन्दर्य को नहीं आत्मिक सौन्दर्य को सफल अभिव्यक्ति दी थी, अपने चित्रों के माध्यम से ।

प्रकृति और प्रकृति के हर प्राणी से उन्हे बेहद लगाव था । भारतीय सूफी संत परम्पराओं की तरह ही वे सब प्राणियों मे एक ही आलस्य परमात्मा के दर्शन करते थे । लेबनान की सुरम्य घाटियों में इठलाती हुई बहने वाली अल्हड़ पवन से खेलते, लतागुल्मों को दुलराते, दुलार पाते, झरनों का नैसर्गिक अविकल सङ्गीत सुनते हुए उन्हें जो आनन्द मिलता था वह भला कृत्रिमता के लबादे ओढ़े तथाकथित सभ्य समाज में उन्हें देखने को नहीं मिला । भोले-भाले गड़रियों और ग्वालों मे उन्हे जो मानवता दिखाई थी उसकी सज्जनता पर वे मुग्ध थे ।

इन अनुभूतियों और अनुभव का सरोवर जब उनके मानस में लबालब भर गया तो वह नित्य प्रवाही सरिता की तरह बह निकला— गद्य गीतो और छोटी-छोटी शिक्षाप्रद और मानव मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाली कथाओं के रूप में । उनमें प्रकृति की सी सादगी, सहजता, सौंदर्य और मोहकता थी । पहले वे अरबी मे लिखते थे फिर अँग्रेजी में लिखने लगे ।

उस नैसर्गिक सहजता के सामने उन्हे जराजीर्ण समाज मे फैला हुआ पाखण्ड और आडम्बर बहुत ओछा लगा । जीसस को वे भी प्यार करते थे, पूजते थे, उसे हरदम अपने पास, अपने भीतर, अपने बाहर अनुभव करते थे । उस ईसा में और तत्कालीन समय में चर्च के ठेकेदारों द्वारा पूजे जाने वाले ईसा मे धरती आकाश का अन्तर था । एक जीवन्त था तो दूसरा मात्र उसके कलेवर का प्रदर्शन । उन्होंने उस आडम्बर का जमकर विरोध किया । जिस पूजा-पाठ मे मानवता को विकसित होने के द्वार ही बन्द कर दिये गये हो वहाँ भला ईश्वर की अनुभूति कहाँ सम्भव थी । उनके प्रारम्भिक साहित्य में आडम्बरों की इस कारा से धर्म को मुक्ति दिलाने के ही स्वर गूँजे थे । उन्होंने स्पष्ट किया था कि ईसा और उसके अनुयाइयो के विचारों और मान्यताओं की मठाधीशों ने किस प्रकार हत्या करके वहाँ अपने स्वार्थ को प्रतिष्ठापित कर दिया है और भोली जनता उसी को सत्य समझकर स्वीकार कर रही है ।

अपने 'निम्फ्स ऑफ वेली' नामक संग्रह में उस सत्य को उद्घाटित किया है कि आनन्द और सुखसमृद्धि मात्र भौतिक प्रगति में ही निहित नहीं है—'पवित्रता और आध्यात्मिक स्वच्छता के उस सुन्दर और सरल जीवन के दर्शन को यदि हम मुड़कर देखें तो उसे बसंत में मुस्कराते हुए, गर्मी की धूप मे ऊँघते हुए, हेमन्त में कटनी करते हुए और सर्दी में आराम करते हुए पायेंगे । अपनी माँ प्रकृति की तरह सभी मनःस्थितियों में हम भौतिक सम्पत्ति की दृष्टि से उन ग्रामवासियों से धनी हैं पर उनकी आत्मा हमारी आत्माओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है । हम बोते तो बहुत है पर काटते नहीं । सचमुच में अपने को सभ्य कहने वाला

मनुष्य आज कितना बनावटी हो चला है । बात-बात पर अभिनय करने वाला, समय-समय पर भिन्न-भिन्न मुखौटे ओढ़ने की विडम्बना में फँसा हुआ आज का मनुष्य बोता तो बहुत है किन्तु काटता कुछ नहीं । उसके जीवन का सारा रस ही इस दोहरेपन ने चूस लिया है ।

दान, दया, ममता, प्रेम, बंधुत्व, शान्ति और सहयोग की मानवीय सम्पदाओं को चाँदी के टुकड़ों से अधिक महत्व देने वाले जिब्रान, जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि से उठकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात सोचते थे । उनके साहित्य, उनके चित्र और उनके दर्शन में सर्वत्र यही आध्यात्मिक विभूतियाँ पाने की प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं । उनकी पुस्तक 'दि प्रोफेट' के विषय में जार्ज रसेल ने कहा था—"पूर्व से रवीन्द्र नाथ ठाकुर की गीताञ्जलि का स्वर आया था अब वैसा ही सुन्दर सँजीला स्वर जिब्रान के 'दि प्रोफेट' में सुनने को मिला है । मेरी समझ में इससे सुन्दर पुस्तक कोई देखने में नहीं आती ।"

खलील जिब्रान ने धर्मावलम्बियों के इस दुराग्रह का डटकर विरोध किया कि हमारा धर्म श्रेष्ठ है । वे कहते थे जो श्रेष्ठ है उसे हम मानें चाहे वह किसी भी देश में उपजा दर्शन क्यों न हो । उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व एक ही स्वर में यह कहता रहा विश्व के सब प्राणी एक हैं । धर्म, राज्य, भाषा, समुदाय आदि की उनके बीच दीवार बनाना मनुष्यता नहीं । जो धार्मिक सिद्धान्त, कर्मकाण्ड, आचार, व्यवहार मनुष्यता से परे हैं वह धर्म नहीं पाखण्ड है । इसी कारण वे ईसा के भक्त होते हुए भी ईसाइयत के दुराग्रह नहीं थे । वे ईसाई मान्यताओं के विपरीत हिन्दू दर्शन के परलोक, पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे ।

उन्होंने ईसा के उपदेशों को सही स्वरूप में मानवीय उच्चादर्शों से समन्वित करते हुए अपने सम्पूर्ण साहित्य में उन्हीं बातों को प्रभावी सरल ढङ्ग से कहा है, 'दि प्रोफेट' उनका प्रतिनिधि ग्रन्थ है । कई लोग इसकी पावन अनुभूतियों और प्रेरक विचारों के कारण उसे पश्चिम की गीता भी कहते हैं । प्रेम, विवाह, संतान, लेन-देन, खान-पान, कार्य, दुःख, मकान, कपड़े, क्रय-विक्रय, अपराध-दण्ड नियम, स्वतंत्रता, तर्क और भावना, कष्ट, आत्मज्ञान, शिक्षा, मित्रता, वार्तालाप, समय, सत, असत, प्रार्थना, आनन्द, धर्म, सौंदर्य, मृत्यु, जीवन आदि विषयों पर एक युग दृष्टा के ढङ्ग से मानवता परक विचार साहित्यिक और प्रभावशाली ढङ्ग से प्रस्तुत किये हैं । इसे लोग इस युग की समग्र आचार संहिता कहा करते हैं ।

बढ़ती हुई भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति के साथ यदि मानवता और अध्यात्मवादिता को नहीं अपनाया गया तो यह दुनिया किसी भी दिन विनष्ट हो सकती है । इस कटु सत्य को दार्शनिक खलील जिब्रान ने भली प्रकार समझा था । धर्म का जो आडम्बर युक्त स्वरूप आज चल रहा है वह उस विनाश और धरती पर निरन्तर बढ़ते नारकीय वातावरण को रोक नहीं सकता क्योंकि उसमें उस वैचारिक सम्पदा और अध्यात्म प्रसूत प्रेरणा शक्ति का अभाव होता है ।

मातृभूमि से निर्वासित होकर अमेरिका में सुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हुए भी खलील जिब्रान अपनी उस मातृभूमि को नहीं भूले, जिस धरित्री ने उन्हें वे चैतन्य अनुभूतियाँ दीं थीं जो शरीर से परे मन और आत्मलोक की वासिनी थी । १९३१ में यह व्यक्ति, जिसका जीवन एक कविता, दर्शन और मानवता को शाश्वत सौरभ लुटाने वाले पुष्प की तरह हँसता-मुस्कुराता रहा, सदा के लिए मिट्टी में मिल गया पर उसकी अमर सौरभ आज भी विश्व में फैली पड़ी है ।

वह साहित्य, साहित्य नहीं मात्र मानसिक आँख मिचौनी है जो जनमानस में श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और महान बनने की प्रेरणा न दे सके, वह कला, कला नहीं मात्र मनोरञ्जन है जो मनुष्य की देववृत्तियों को उभार न सके, यही सिद्धान्त उनकी साहित्य-साधना और कला-साधना का लक्ष्य रहा था । शुष्क दर्शन को जिस सरस साहित्यिक ढङ्ग से सुबोध शैली में उन्होंने विश्व मानव के सामने रखा उसका मूल्य समय के साथ घटने वाला नहीं है क्योंकि वे निःसर्ग प्रसूत और चिरंतन सत्यों पर आधारित हैं ।

अपनी मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी लाखों रुपयों की लागत की सम्पदा की वसीयत अपने ग्रामवासियों के नाम कर दी ताकि उससे उनकी जन्मभूमि में कोई सेवा-संस्थान चल सके । यह उनके उस संत स्वभाव का परिचायक है कि वे लोगों से समान भाव से प्रेम करते हैं । तिरस्कार करते हैं, मात्र बुरी प्रवृत्तियों का । जिस लेबनान ने उनकी आज तक उपेक्षा की । आज उनका नाम सारे विश्व में एक युग-दृष्टा के रूप में चमक रहा है, किन्तु उसकी चमक से लेबनान अछूता है । इन सब से निरपेक्ष रहते हुए वे वहाँ की भूमि से वहाँ के सामान्य जन से प्रेम करते रहे और उसकी साक्षी भी अपनी वसीयत के रूप में छोड़ गये हैं । मानवता ऐसे महामानव की चिर ऋणी रहेगी ।

नीति कथाओं के अमर लेखक विष्णु शर्मा

साहित्य, समाज का मार्गदर्शक और शिक्षक होता है । अगर कोई उचित व्यवस्था न की जाय और सद्विचारों की शिक्षा न दी जाय तो मनुष्यों की प्रवृत्ति प्रायः ऐसे स्वार्थपूर्ण कार्यों की तरफ रहा करती है, जो समाज के अन्य सदस्यों के लिए अहितकर सिद्ध होते हैं । इससे समाज के हितैषी विद्वान् सदा से यह प्रयत्न करते आये हैं कि लोगों में नैतिक शिक्षाओं का प्रचार अधिकाधिक मात्रा में किया जाय जिससे वे अपने कर्तव्य को पहिचानें और समाज-हितकारी कार्यों में सहयोग देते रहें ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतवर्ष के प्राचीन विद्वानों ने पुराणों, इतिहासों, कथाओं की ऐसी बहुत सी

पुस्तकें लिखी हैं जिनसे मनुष्यों को धर्म, नीति, परोपकार, दया आदि की शिक्षा मिलती है। यह साहित्य बहुत विशाल है और उसमें धर्म और नीति के तत्वों का बड़ा उत्तम विवेचन किया गया है। पर दो बातें ऐसी हैं जिनसे उनके प्रचार और लोकप्रियता में अन्तर पड़ जाता है। पुराणों और धर्म कथाओं में प्रायः ऐसी अलौकिक बातें भर दी गई हैं और उनके पात्र देवगण अथवा देवताओं की सहायता प्राप्त विशिष्ट मनुष्य हैं, जिनका अनुकरण सामान्य मनुष्य नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए अनेक स्थानों पर उनको ऐसा गम्भीर और रूखा बना दिया गया है कि सामान्य पाठकों का मन ज्यादा देर तक उनके पढ़ने में नहीं लगता।

जिन विद्वानों ने इस व्यावहारिक कठिनाई को अनुभव किया उन्होंने लोक-शिक्षण के उद्देश्य से ऐसे कथा-साहित्य की रचना की, जिनकी घटनाएँ सामान्य बुद्धि के पाठकों को भी रोचक जान पड़ें और इतनी रोचक हों कि छोटे-बड़े सभी आयु और योग्यता के व्यक्ति उनको खुशी के साथ पढ़ और सुन सकें। प्राचीन भारतीय साहित्य में इस प्रकार की पुस्तकों की संख्या अधिक नहीं है, पर उनमें एक ही पुस्तक ऐसी महत्त्वपूर्ण है कि जिससे हमारे कथा-साहित्य का यश तमाम दुनिया में फैल रहा है। उसका नाम है 'पंचतन्त्र'।

इस पुस्तक के रचे जाने की भी एक रोचक कथा है। कहा जाता है कि अबसे लगभग १८०० वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में 'महिलारोप्य' नाम का राज्य था, जिसका शासक अमरशक्ति था। उसके तीन पुत्र थे, बहुशक्ति, उग्रशक्ति, अनन्तशक्ति। संयोगवश वे तीनों ही बड़े मन्दबुद्धि, नटखट और उपद्रवी थे। राजा उनके आचरणों को देखकर बड़ा दुखी रहता था। उसे यह भी चिन्ता होती थी कि मेरे पश्चात् ये राज्य भार कैसे सँभालेंगे और प्रजा की क्या दशा होगी? कोई उपाय समझ में न आने पर उन्होंने अपनी चिन्ता की बात दरबार के सभासदों के सामने प्रकट की। कोई दरबारी इस समस्या को हल करने का ठीक मार्ग न सोच सका। तब पण्डित विष्णुशर्मा ने जो वहाँ उपस्थित थे, कहा कि-राजकुमारों की शिक्षा यहाँ तो नहीं हो सकती। आप इनको मेरे घर भेज दीजिए तो मैं छै महीने में इनको राजनीति में चतुर बना दूँगा। राजा ने यह स्वीकार कर लिया और तीनों लड़के विष्णुशर्मा के आश्रम में पढ़ने को भेज दिये गये।

विष्णुशर्मा ने उन तीनों की मनोवृत्ति का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि वास्तव में उनकी बुद्धि और रुचि ऐसी सामान्यकोटि की है कि गम्भीर पुस्तकों को न तो वे समझेंगे और न उनमें उनका मन लगेगा। बिना मन लगे जो कुछ पढ़ाया जायेगा उसका कोई प्रभाव नहीं होगा। इसलिए उन्होंने एक दूसरा उपाय सोचा और उन लड़कों को कहानी सुनाकर शिक्षा देने लगे। कहानियाँ बड़ी रोचक और मनोरंजक थीं, इससे वे बड़े चाव से उनको सुनते और याद रखते थे। पर इन कहानियों में राजनीति की शिक्षा का पूरी तरह समावेश किया गया था, जिससे उनकी बुद्धि का प्रसार हो गया और वे राज्यव्यवहार के नियमों को समझ गये।

विष्णुशर्मा की इन कहानियों की एक बहुत बड़ी विशेषता है कि ये सब जीव-जन्तु, पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर रची गई हैं। इनसे उनकी रोचकता बढ़ जाती है और जो कार्य सामान्य पशु-पक्षी कर सकते हैं वे हम क्यों नहीं कर सकते, यह भावना स्वतः ही हृदय में उत्पन्न हो जाती है।

इस कथा-संग्रह का नाम 'पंचतन्त्र' होने का कारण यह है कि उनमें पाँच विषयों की चर्चा की गई है। इन पाँचों विषयों में एक-एक कथा मुख्य है और फिर उसके अन्तर्गत बहुत सी उपकथायें ऐसी चतुराई से दी गई हैं कि पाठक की उत्सुकता लगातार बढ़ती जाती है और जब तक वह पूरी पुस्तक नहीं पढ़ लेता तब तक उसे मूल कथा का परिणाम ही ज्ञात नहीं हो पाता। इन कहानियों के सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स ने, जो कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रधान जज थे और जिन्होंने बड़े प्रयत्न से संस्कृत सीख कर उसमें पाण्डित्य प्राप्त किया था, यथार्थ ही कहा था कि— विष्णुशर्मा की कथाएँ संसार की सब कथाओं से अधिक सुन्दर, प्रेरक और पुरानी हैं।

विष्णुशर्मा की प्रतिभा की यह प्रशंसा है कि आज लगभग दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी, और उस युग के देश-काल के सर्वथा बदल जाने पर भी उनकी कहानियाँ नवीन सी बनी हैं और आज के बालक उनको उसी शौक से सुनते और पढ़ते हैं जैसा कि दो-डेढ़ हजार वर्ष पहले वाले पढ़ते होंगे। इसका मुख्य कारण भी यही है कि उन्होंने अपनी कहानियों का पात्र सिंह, सियार, हिरन, कौआ, कबूतर, चूहा, उल्लू, बिल्ली आदि पशु-पक्षियों को बनाया है। परिवर्तन तो मनुष्यों के रहन-सहन और विचारों में हुआ है, पशु-पक्षी तो आज भी वैसे ही हैं जैसे दो हजार वर्ष पहले थे। इसलिए इन कहानियों में किसी को पुरानापन नजर नहीं आता।

पन्चतन्त्र की कहानियों की श्रेष्ठता असंदिग्ध है और उसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि उस प्राचीन युग में भी, जब आवागमन और दूरवर्ती लोगों में विचार-विनिमय के साधन अत्यन्त अल्प थे, विष्णु शर्मा की इस कृति की कीर्ति भारतवर्ष की सीमाओं को लाँघ कर विदेशों तक पहुँच गई। कोई भी सभ्य देश ऐसा नहीं जिसकी भाषा में पन्चतन्त्र का अनुवाद न हो गया हो और वहाँ के लड़के और युवक इन कहानियों को पढ़कर मनोरंजन के साथ नीति-शिक्षा का लाभ न उठाते हों। सबसे पहले इसका अनुवाद ईरान की प्राचीन पहलवी भाषा में सन् ५५० के लगभग 'बुरजोई' नामक विद्वान ने किया। इस अनुवाद के आधार पर स्याम देश की भाषा में भाषान्तर किया गया और उसके बाद अरबी में भी उसका रूपान्तर हो गया। ग्यारहवीं शताब्दी में यह योरोप जा पहुँची और सोलहवीं शताब्दी तक इसके अनुवाद यूनानी, हिब्रू, जर्मन, स्पेनिश, इटालियन और फ्रान्सीसी भाषाओं में

हो गये। पंचतन्त्र का एक परिवर्तित अनुवाद फारसी में 'अनवार सुहेली' के नाम से हुआ। जिसके भाषान्तर बाद में तुर्की, फ्रांस, जर्मन, डच और मलाया की भाषाओ मे भी हो गये। अभी भी ये अनुवाद इतने ही लोकप्रिय हैं।

विष्णुशर्मा के विषय मे कुछ अधिक ज्ञात न होते हुए भी, उनकी कथाओ ने उनको अमर बना रखा है। उनकी कहानियाँ पुरानी होने पर भी नई बनी हुई हैं और संसार भर मे फैली हुई हैं। कथा-साहित्य मे ऐसा केवल एक नाम और मिलता है जो 'ईसप' का है। ये दोनों कथाकार कभी के काल के गाल मे समा गये, पर उनकी रचनाएँ आने वाली शताब्दियों तक मानव-जाति का हित साधन करती रहेंगी।

पंचतंत्र—विश्व की सर्वाधिक लोकप्रिय अमर-कृति

ईरानी सम्राट खुसरो के प्रधान चिकित्सक और मंत्री बर्जुए ने कही पढ़ा और सुना था कि भारत में एक ऐसी औषधि है जिसके सेवन से मुर्दा आदमी भी जीवित हो बोलने लगता है। बड़ा आश्चर्य हुआ यह जानकर और आश्चर्य के साथ-साथ कौतूहल भी यह जानने का कि वह औषधि क्या है? उसे कैसे तैयार किया जाता और कैसे उसका सेवन होता है? यह सब जानने के लिए आवश्यक था कि भारत की यात्रा की जाये और यहाँ से वह सारा ज्ञान-विज्ञान प्राप्त किया जाये।

बर्जुए ने अपने आश्रयदाता बादशाह खुसरो के सम्मुख यह बात रखी और खुसरो से उसे भारतयात्रा की अनुमति व सुविधाएँ मिल गयीं। ऐसी अमूल्य वस्तु मिल जाये तो फिर क्या कहने। बर्जुए ने बादशाह की अनुमति लेकर आवश्यक तैयारी व व्यवस्थाएँ कीं और भारत की यात्रा पर निकला। मार्ग में जितने भी प्रतिष्ठितजनो से भेंट हुई, बर्जुए उनसे पूछता चला उस अमृत औषधि के सम्बंध मे। प्रायः सभी ने इसकी पुष्टि करते हुए कहा कि—"हाँ सुना तो है कि भारत मे ऐसी औषधि होती है, पर उसे पाने मे केवल वही लोग सफल हो सकते है जो वहाँ के धर्मगुरुओ और तपस्वियो की प्रसन्नता प्राप्त कर लें।"

बर्जुए ने भारत आकर पहले तो इस औषधि की खूब स्वतन्त्र रूप से छानबीन की, पर वह सफल नहीं हो सका। जब सफल नहीं हो सका तो उसने एक भारतीय महर्षि की सेवा आरम्भ की और एक दिन अवसर पाकर पूछा-"मैंने सुना है कि हिंदुस्तान में कोई ऐसी औषधि है जिसे खिला देने से मरा हुआ आदमी भी जीवित हो जाता है। उस औषधि को पाने के लिए मैं ईरान से यहाँ तक आया पर सफल नहीं हो सका। क्या आप मुझ पर यह अनुग्रह कर सकते हैं।"

"क्यो नहीं"—महर्षि ने कहा—"और तुम व्यर्थ ही भटकते रहे। किसी भी भारतीय महात्मा से पूछते तो वह तुम्हें बता देता।"

बर्जुए की आँखें सफलता की सिद्धि से चमक उठीं। तब महर्षि ने कहा—"यह बात अलंकारिक ढंग से कही गयी है। 'विद्वान व्यक्ति' वह-पर्वत है जहाँ यह 'संजीवनी' औषधि मिलती है, उसके सेवन से मूर्ख-रूपी मरा-हुआ मुर्दा व्यक्ति भी जीवित हो सकता है। यह दवा हमारे ग्रन्थो में प्रचुर मात्रा मे बिखरी पड़ी है।"

"कौन सा ऐसा ग्रन्थ है जिसे पढ़कर मूर्ख व्यक्ति भी विद्वान बन जाये"— बर्जुए ने पूछा और तब कहते हैं महर्षि ने 'पंचतंत्र' कथाओं का नाम लिया। बर्जुए ने जब पंचतंत्र की कथाएँ पढ़ीं तो उसे सचमुच ही लगा कि यह पुस्तक तो बाल बुद्धि व्यक्ति के लिए भी उपयोगी है और उतनी ही उपादेय बड़े से बड़े विद्वान के लिए भी। उन कथाओं के संकलन की—पंचतंत्र की एक प्रति बर्जुए अपने साथ ईरान भी ले गया। जिसे पढ़कर बादशाह ने भी अनुभव किया कि वस्तुतः इस पुस्तक का अध्ययन करने के बाद तो हमे भी लगने लगा है कि अभी तक नीतिमत्ता की दृष्टि से हम भी कोरे ही थे। बादशाह ने पंचतंत्र का अनुवाद पहलवी भाषा मे कराया। किसी विदेशी भाषा में पंचतंत्र का यह पहला अनुवाद था जो अब से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व ईरान के सम्राट खुसरो अनूसरायो के शासन काल (५३१ से ५७९) मे किया गया।

इस ग्रन्थ की रचना ईसा से तीन सौ वर्ष बाद कभी की गयी लगती है। संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन करने वाले प्रो. विण्टरनीज और ए. बी. कीथ का मत है कि पंचतंत्र ईसा के तीन सौ वर्ष बाद और पाँचवीं शताब्दी के पूर्व—कभी लिखा गया। प्रो. जोहानीस बर्टी के मतानुसार यह ईसापूर्व की रचना है। जो भी हो, इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। उनके मतो में कहीं समानता है तो यह कि पंचतंत्र बाइबिल के समकालीन ग्रन्थ है। यह एक तथ्य है कि बाइबिल का अनुवाद संसार की सर्वाधिक भाषाओं मे हुआ है और 'यह' भी एक तथ्य है कि उसका प्रचार किसी भी पुस्तक से अधिक है और यह भी एक तथ्य है कि बाइबिल के बाद अनुवाद किये गये ग्रन्थो और उनकी प्रसार संख्या की दृष्टि से पंचतंत्र का ही स्थान आता है। बाइबिल को छोड़ कर संसार में शायद ही कोई ऐसी पुस्तक हो जो पंचतंत्र के मुकाबले अधिक विख्यात हो।

एक दृष्टि से पंचतंत्र को बाइबिल से भी अधिक लोकप्रिय कहा जा सकता है। यह सर्वविदित है कि बाइबिल का अध्ययन निष्ठावान ईसाई ही प्रायः करते है। ईसाइयों में भी उन लोगों की संख्या अधिक है जो साहित्य की अपेक्षा धर्मग्रन्थ के रूप में बाइबिल को अपने घर में रखते हैं। पढ़ते हैं या नहीं पढ़ते है यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है। संसार की अधिकांश भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद भी प्रचार की दृष्टि से ही किया गया है। ईसाई धर्म प्रचारक विश्व के प्रायः सभी देशों में फैले हुए हैं और वे अपने धर्म के प्रचार हेतु बाइबिल की प्रतियाँ निःशुल्क वितरित करते

है । अतः इस कारण भी बाइबिल का प्रसार अधिक है । धर्मग्रन्थ और प्रचारकों के कारण बाइबिल भले ही अद्वितीय है पर साहित्य और अध्ययन की दृष्टि से तो बाइबिल भी पंचतंत्र के मुकाबले नहीं ठहर पाती । इस प्रकार पंचतंत्र बिना किन्हीं विशिष्ट प्रयासो के विश्व में इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि उसकी बराबरी कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं कर सकता ।

इस लोकप्रियता का कारण है पंचतंत्र की अपनी अनूठी विशेषता । इसका मूल उद्देश्य पाठक को ऐसी सामग्री प्रदान करना है जिसे पढ़ते-पढ़ते वह रसविभोर भी होता रहे तथा उसे मनोरंजन के साथ-साथ नीतिशास्त्र की शिक्षा भी मिलती रहे । मनोरंजन और शिक्षा दोनो को साथ-साथ लेकर चलने के कारण ही पंचतंत्र इतना लोकप्रिय हो सका और इसी कारण यह बच्चों के लिए भी उतना ही उपादेय है जितना कि बड़ों के लिए । बच्चो को भी नीतिमत्ता में उतना ही प्रवीण बनाने में समर्थ है पंचतंत्र, जितना कि वयस्क पाठकों को ।

यहाँ नीति और दर्शन शास्त्र मे थोड़ा अन्तर समझ लेना आवश्यक है । यो ये दोनो ज्ञानधाराएँ परस्पर विरुद्ध नहीं है, पर दर्शन का आधार नीतिशास्त्र को कहा जा सकता है । दर्शन, जीवन के जो आदर्श और आधारभूत सिद्धान्त स्थापित करता है वे उन्हीं अर्थों में जरा व्यवहार्य नहीं हो पाते । आदर्श और यथार्थ मे तो अन्तर है । उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति या समाज अहिंसा का ही पुजारी बना रहे तो फिर अवांछनीय तत्वों की बन आयी । अहिंसावादी स्वाभाविक रूप से अहिंसा के सिद्धान्त को जिस प्रकार से ग्रहण कर सकता है कि किसी की हिंसा न करना तो हिंसक-तत्व, समाजघाती और स्वार्थी, आक्रमक बड़ी आसानी से अपने मतलब पूरा करते रहेंगे । अब अहिंसा के आदर्श को यह व्यावहारिकता नीतिशास्त्र ही प्रदान करेगा कि किसी की हिंसा न करने के साथ-साथ अवांछनीय तत्वों का दमन भी अहिंसा ही है । पंचतंत्र, कथाओं के माध्यम से इसी व्यावहारिक अध्यात्मवाद की शिक्षा देता है जिसे नीतिशास्त्र भी कहा जा सकता है ।

पंचतंत्र की रचना ऐसे मूढ़मति राजकुमारो के लिए की गयी जिन्हें नीतिशास्त्र का शिक्षण देना और किसी प्रकार सम्भव नहीं था । जिस तथ्य को विश्लेषण या विवेचन की कोई पद्धति समझा नहीं सकती, कथा-कहानी उस तथ्य को समझाने में भी सफल हो सकती है । सुनने वाले या पढ़ने वाले के लिए विषय का विवेचन कितना गम्भीर है यह महत्वपूर्ण नहीं है, वरन् महत्वपूर्ण यह है कि वह उसे कितना समझ रहा है । सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी कथा और दृष्टान्तों के माध्यम से किसी भी गम्भीर विषय को उपयुक्त ढंग से समझ सकता है । पंचतंत्र के कथामुख—प्रस्तावना में इस कृति का उद्देश्य भी एक कहानी के माध्यम से बताया गया है । दक्षिण भारत के किसी प्रान्त में एक शूरवीर कुशल राजनीतिज्ञ और पराक्रमी राजा राज्य करता था । हर दृष्टि से वह संपन्न और सुखी था पर तीन पुत्रों के होते हुए भी उसे अपने उत्तराधिकारी की चिन्ता थी क्योंकि तीनों के तीनों जड़मति थे । शिक्षा के लिए भी छात्र का थोड़ा तो बुद्धिमा होना आवश्यक है पर कहा जाता है कि तीनों में नाममा को भी बुद्धि नहीं थी । राज्य के पाँच-छह सौ शिक्षको मे से कोई भी शिक्षक उन्हें कुशल बनाने में सफल नहीं हुआ । अन्त में किसी मन्त्री ने पं. विष्णुशर्मा को राजपुत्रों के लिए शिक्षक नियुक्त करने का परामर्श दिया । राजा ने आचार्य विष्णुशर्मा को जड़मति राजकुमारों का शिक्षण दायित्व सम्हालने के लिए कहा और पुरस्कार में यथेष्ट राशि देने का आश्वासन दिया । आचार्य विष्णुशर्मा ने शिक्षण का दायित्व तो सम्हाल लिया पर उसके बदले में कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार विद्या बेची नहीं जानी चाहिए ।

विष्णुशर्मा ने जिन कथाओं के माध्यम से राजपुत्रों को व्यवहार, नीति और राजनीति की शिक्षा दी वे कथाएँ ही पंचतंत्र के रूप में संग्रहीत कर दी गयीं । पाँच खण्डों में विभक्त इस अमरकृति के प्रत्येक खण्ड मे छोटी-छोटी अनेक कहानियाँ हैं और ये कहानियाँ आपस मे एक दूसरे से इतनी कुशलता के साथ दी गयी हैं कि पाठक उन्हे पढ़ना आरम्भ कर पुस्तक को पूरा किये बिना छोड़ना नहीं चाहता । इन कहानियो के पात्र पशु-पक्षी हैं और उनके माध्यम से नीतिशास्त्र की व्याख्या इतने सुन्दर ढंग से की गयी है कि पाठक चमत्कृत रह जाता है ।

पंचतंत्र का पहला अनुवाद फारसी या पहलवी भाषा में हुआ । इससे पूर्व यह कृति भारत की अन्यान्य भाषाओं में अनूदित हो चुकी थी और उन अनुवादों के भी लगभग पच्चीस पाठान्तर मिलते हैं—जो लगता है आगे चलकर अनुवादको ने शायद अपनी ओर से परिवर्तन किया हो । आठवीं शताब्दी के बाद से ही पंचतंत्र के अनुवाद का क्रम चला जो अब तक अनवरत चला आ रहा है । अपने देश की भाषाओं को जोड़कर तो सौ से भी अधिक विदेशी भाषाओं मे इस कृति का अनुवाद हो चुका है । यूरोप, अफ्रीका और एशिया के लगभग सभी देशों मे पंचतंत्र के अनुवाद प्राप्त है । जावा से लेकर आइसलैण्ड तक ऐसा कोई देश नहीं जहाँ के निवासी पंचतंत्र के नाम से परिचित न हो । ये निष्कर्ष हर्टील और बेन्फी नामक दो जर्मन विद्वानो के हैं । इन्होंने अपना सारा जीवन ही पंचतंत्र की गवेषणा मे लगा दिया । थियोडोर बेन्फी ने सन् १८५९ ई. में मूल संस्कृत के पंचतंत्र का जर्मन भाषा में अनुवाद किया । इसके पूर्व अनुवादो के अनुवाद उपलब्ध थे—जिनमें स्वाभाविक ही मूल से काफी भिन्नता आ गयी थी । बेन्फी ने जर्मन भाषा में पंचतंत्र का अनुवाद तो किया ही, उस पर अनुसंधान करने में भी उन्होंने पूरी जिन्दगी लगा दी । इसके लिए भारतीय संस्कृत प्रेमियो को बेन्फी का कृतज्ञ होना पड़ेगा । उन्होने पंचतंत्र पर जो शोधकार्य किया उससे विश्व का ध्यान इस अमर कृति की ओर आकृष्ट हुआ और इसे विश्व साहित्य का ग्रन्थ माना जाने लगा ।

पंचतंत्र के ही अनुसंधान में अपने को समर्पित करने के लिए संस्कृत-प्रेमियों को एक और जर्मन विद्वान हानीस हर्टेल का भी आभार मानना होगा। वे इन निष्कर्षों पर पहुँचे कि पंचतंत्र की रचना ईसा से दो सौ वर्ष पहले की गयी तथा उसके लेखक कश्मीर के रहने वाले एक वैष्णव आचार्य थे। बारहवीं शताब्दी में जैन पण्डित पूर्णभद्र ने उत्तरपश्चिम के किसी राजा के निर्देश पर पंचतंत्र का संकलन व सम्पादन किया। हर्टेल ने उस संकलित व सम्पादित ग्रन्थ को खोज निकाला तथा उसे प्रकाशित कराया।

इन दो विद्वानों द्वारा पंचतंत्र पर कार्य करने के बाद तो अनेक विद्वानों ने पंचतंत्र पर शोधकार्य किये, जिनमे अमेरिका के प्रो. फैक्लिंग एडगर्चन, बूलर, कीलहार्न, विंटरनीज, कीथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है छठवीं शताब्दी से ही पंचतंत्र का विदेशी भाषाओं में अनुवाद फारसी से आरम्भ हो गया था। उस अनुवाद से दूसरी भाषाओं के विद्वान भी प्रेरित हुए और फारस के ही बुद् नामक ईसाई विद्वान ने इसका सीरिया की प्राचीन भाषा में अनुवाद किया। तदुपरान्त अरबी में पंचतंत्र का अनुवाद हुआ इसके बाद तो अनुवादो का ऐसा क्रम चला कि विश्व की सभी प्रमुख भाषाओ में अब तक पंचतंत्र के अनुवाद हो चुके हैं। अँग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन मे तो इसके कितने ही अनुवाद हुए।

धर्मग्रन्थ के रूप मे बाइबिल को छोड़ कर साहित्य की दृष्टि से पंचतंत्र के प्रभाव को भी कोई और पुस्तक नहीं पहुँच सकी। भारत तो पंचतंत्र की जन्म भूमि है यहाँ की भाषाओं में—गद्य में उसके अनुवाद होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है, पर विदेशी भाषाओ मे भी कई प्रकार के संस्करण निकले हैं। इसकी लोकप्रियता का एक प्रमाण यह भी है कि कई देशों में पाये जाने वाले पुराने मंदिरो की दीवारों पर पंचतंत्र की कथाएँ चित्रांकित की हुई मिली हैं। मध्य एशिया में खोतान की गुफाओं तथा कम्बोडिया में तो पंचतंत्र के कथा-चित्र आज भी जीते जागते मिलते हैं।

इस प्रकार सारे विश्व में व्याप्त एक भारतीय अमरकृति—पंचतंत्र हमारे लिए गौरव का विषय है।

विद्वत्ता, विज्ञान और चिन्तन के अद्वितीय संगम—अलबेरूनी

ग्यारहवीं शताब्दी मे महमूद गजनवी ने अपने आक्रमण से आस-पास के राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए आक्रमण किया और कई निर्बल देशो ने घुटने टेक दिये! परन्तु इन राज्यो में कई ऐसे नागरिक भी थे जो राष्ट्रीयता, देशभक्ति और स्वतंत्रता प्रेम की भावनाओ और निष्ठाओं से सराबोर थे और उन्होंने जनमानस को इस दिशा में मोड़ने का प्रयास भी किया था। वे इसी प्रकार के एक स्वतंत्रता प्रेमी और देशभक्त थे। खीवा के अलबेरूनी। सन् १९१७ ई. में महमूद ने जब खीवा पर आक्रमण किया तो अलबेरूनी एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने खीवा को इस आक्रमण से बचाने का प्रयत्न किया और जनमानस को विदेशी आक्रमण के प्रतिरोध के लिए प्रेरित किया लेकिन वे अपने प्रयासो में सफल नहीं हुए और खीवा की सत्ता महमूद के हाथों मे चली गयी।

महमूद गजनवी और उसके प्रधानमन्त्री अहमद हसन को जब यह पता चला कि अलबेरूनी ने लोगों को इस आक्रमण का सामना करने के लिए प्रेरित किया था तो वे मानने लगे कि अलबेरूनी हमारा खतरनाक विरोधी रहा है और उसने अपने इस खतरनाक विरोधी को निष्कासित कर दिया। खीवा में तो अलबेरूनी का रहना दुश्वार हो गया, अतः उन्होंने सोचा कि किस ओर जाया जाय। उनको ध्यान आया अपनी उस अभिरुचि की ओर जिसके कारण कि उन्हें स्वतंत्रता तत्वदर्शन और अध्यात्म की प्रेरणा मिली थी। यह प्रेरणा उनकी अद्वितीय जिज्ञासा की ही फलश्रुति थी। अन्ततः उन्होंने अपना निर्वासित जीवन भारत में व्यतीत करने का निश्चय किया।

भारत में आकर उन्हें ऐसा लगा कि जिस लक्ष्य को वे अनजाने ही अपना जीवन अर्थ बना चुके थे, वह अयाचित ही सार्थक होने जा रहा है। भारतीय धर्म और अध्यात्म का उन्होंने गहन अध्ययन किया तथा पहली बार मुस्लिम-जगत मे स्वतंत्र उदारचेता के रूप में भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया।

भारतीय संस्कृति के प्रथम अध्येता और ज्योतिष, धर्म दर्शन, तत्वज्ञान विज्ञान के मध्यकालीन पण्डित अलबेरूनी के जीवन का पूरा वृतान्त प्रामाणिक रूप से कहीं नही मिलता। क्योंकि एक तो भारतीय जीवन दृष्टि व्यक्ति को नहीं उसके विचारो को महत्त्व देती है और दूसरे स्वयं अलबेरूनी ने अपनी कृतियो मे अपनी जीवन की घटनाओ का कहीं उल्लेख नही किया। सम्भवतः उनकी यह विशेषता भारतीय जीवनधारा से जुड़े रहने का ही परिणाम हो। यों भी उनके जीवन पर सदैव भारतीय चिन्तनधारा का प्रभाव छाया रहा। फिर भी इतिहासकारों ने उनके जीवन वृतान्त का जो घटनाक्रम शोध निकाला है वह उनकी महानताओं को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

अलबेरूनी का पूरा नाम अबरैहा मुहम्मद इन अहमद अलबेरूनी था। उनका जन्म रूस के उजबेकिस्तान प्रान्त के दरव्वशिज्म नगर के निकट कैथ नामक एक छोटे से कस्बे मे सन् ९७३ ई. मे हुआ था। उनके पिता ईरानी कबीलो से सम्बद्ध थे और शिक्षा तथा अध्ययन के प्रति उनका विशेष लगाव था। स्वयं उन्होने तो ज्ञानार्जन में विशेष प्रतिभा का विकास किया ही था, उन्हीं विभूतियों को उत्तराधिकार के रूप में अपने बेटे के लिए उपलब्ध कराने की ओर भी उन्होंने समुचित ध्यान दिया।-अलबेरूनी जब छोटे थे तभी उन्हें सुप्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिष विज्ञान के आचार्य बदाबुल सरहसनी तथा अवनसर मंसूर के पास भेज दिया। अपनी

जिज्ञासा के बल पर अलबेरूनी ने गणित और ज्योतिष में अपनी प्रतिभा को विशेष रूप से निखारा और विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओ का अध्ययन भी किया। जिन दर्शनों की ओर वे विशेष रूप से आकृष्ट हुए उनमें भारतीय दर्शन के अतिरिक्त ईरानी, यूनानी, इब्रानी तथा मानी दर्शन धाराएँ भी थीं। इन क्षेत्रों में फैले धर्म-सम्प्रदायों के आधार सिद्धान्तों से लेकर उन्होंने कर्मकाण्डो, परम्पराओं और रीतिरिवाजों की ओर भी विशेष ध्यान दिया।

वे अभी ज्ञानसाधना मे रत ही थे कि सन् ११९५ ई. में एक पड़ोसी राज्य ने उनकी मातृभूमि पर आक्रमण किया। ज्ञान और अध्यात्म दर्शन के मूर्तिमान इस व्यक्तित्व के लिए पराधीनता ऐसी ही थी जैसे कि खुली हवा में उड़ने वाले पक्षी के लिए बन्द पिंजड़ा। उन्होंने अपनी मातृभूमि को छोड़ दिया और एक दूसरे राज्य के प्रमुख नगर में जाकर रहने लगे। ११९७ ई. मे एक चन्द्रग्रहण हुआ, जिसका अध्ययन अलबेरूनी ने उपलब्ध साधनों से किया। इसी चन्द्रग्रहण को बगदाद के अबुलवफा नामक ज्योतिषी ने भी देखा। बाद मे संयोगवश एक समय जब दोनों विद्वानों की भेंट हुई तो अपने निष्कर्षों से एक दूसरे को अवगत कराया। अलबेरूनी ने एक विशेष बात पर ध्यान दिया कि दोनो स्थानो पर चन्द्रग्रहण दिखाई देने के समय में अन्तर था। इस आधार पर उन्होंने एक नया प्रयोग किया। जो इतिहास मे अपने ढंग का पहला प्रयास था।

इस प्रयास के बाद उनमे ज्योतिर्विज्ञान के प्रति शोध की प्रेरणा उत्पन्न हुई और उन्होंने विभिन्न राज्यो मे प्रचलित पंचांगो, सम्वतो, दिनों की तिथियो तथा काल गणना की पद्धतियो का अध्ययन किया। इस विषय पर अपने अध्ययन का निष्कर्ष उन्होंने 'आसार—अलबाकिया' (पुराने राज्यो का कालक्रम) नामक पुस्तक में किया। यह पुस्तक ग्यारहवी शताब्दी के आरम्भ के वर्ष मे लिखी गयी थी जिसमें ईरानी, यूनानी और मध्य एशिया मे प्रचलित अन्य संवत तथा इतिहास की महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ संकलित की गयी थीं। पुस्तक की चर्चा जुर्जान के राजदरबार मे भी पहुँची और वहाँ के शासक ने अलबेरूनी की प्रतिभा का लोहा माना।

कुछ समय बाद वे अपनी मातृभूमि लौट आये। वहाँ के शासक ने उनको सम्मानित किया और राजदरबार में उच्च
...द पर प्रतिष्ठित भी किया। लेकिन वे अपनी मातृभूमि के
...पर्श सुख का आनन्द कुछ ही वर्षों तक ले पाये। १०१७
... महमूद गजनवी ने जब खीवा दख्वारिज्म पर आक्रमण किया
...र खीवा परास्त हुआ तो निर्वासित होकर वे भारत आये।
...ों की संस्कृति का परिचय उन्हें भारतीय ग्रन्थों के अरबी
...वाद से प्राप्त हो चुका था। भारत के प्रख्यात ज्योतिर्विद
...गुप्त के कई ग्रन्थों का अनुवाद इन्होंने पढ़ डाला था और
... के धार्मिक पौराणिक संस्कृति साहित्य का अध्ययन भी
...ी तरह कर लिया था। ये अनुवाद अलबेरूनी के लिये
...र्षण और रुझान के मुख्य केन्द्र बन गये थे। क्योंकि
...तर्क उन्होंने जिस भी देश प्रदेश के साहित्य या विज्ञान

का अध्ययन किया था, उन सबमें भारतीय साहित्य सर्वाधिक परिश्रम और शोध के बाद लिखा गया अनुभव हुआ था।

अनुवाद जब इतने प्रभावपूर्ण हों तो उसमें कोई सन्देह नहीं कि मूल कृतियाँ और ज्यादा श्रेष्ठ तथा ज्ञानवर्द्धक लगें। अनुवादक, मूल रचनाओं का अनुवाद करते समय अपने अनुवाद में अपने दृष्टिकोण को भी जोड़ता चलता है और उसमें मूलकृति से काफी भिन्नता आ जाती है। इस विचार ने अलबेरूनी को मूल कृतियों के अध्ययन की प्रेरणा दी। परन्तु उन्हें संस्कृत तो आती नहीं थी अतः सर्वप्रथम संस्कृत सीखने के लिए उन्होंने भारतीय आचार्यों को अपना गुरु बनाया। उस समय न तो भारत पराधीन था और न यहाँ की परम्पराएँ इतनी विकृत हुई थी कि किसी व्यक्ति को जो भारतीय तत्वदर्शन से लाभान्वित होने के लिए उत्कण्ठित हुआ हो मना कर दिया जाय। उस समय शिष्यत्व की पात्रता जाति, वर्ण, वर्ग और धर्म-संप्रदाय के आधार पर नहीं परखी जाती थी वरन् पात्रता की कसौटी थी जिज्ञासा और उसे पूरी करने की लगन।

अलबेरूनी इस कसौटी पर एक सौ एक प्रतिशत खरे उतरे थे। अतः उन्हे भी संस्कृत भाषा का ज्ञान सिखाया गया और संस्कृत में रचित ग्रन्थ पढ़ाये गये। संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करने के बाद जिन भारतीय ग्रन्थों से प्रभावित हुए उनमे भगवद्गीता सर्वप्रथम है। गीता के विचारों और जीवन्त सिद्धान्तो ने उन्हे मुग्ध कर लिया और उन लोगों को गीता का परिचय दिया जो भारत से बाहर बसते थे, संस्कृत नहीं जानते थे तथा भारतीय धर्म को हेय दृष्टि से देखते थे। गीता का प्रभाव उनके विचारो में ही नहीं कार्यों पर भी परिलक्षित हुआ। इस सनातन दर्शन के विश्वकोश की चर्चा उन्होंने अपनी २० पुस्तकों मे अनेक स्थानों पर की तथा इसे मानव मात्र के लिए आत्म-कल्याण का शाश्वत देदीप्यमान प्रदीप प्रतिपादित किया। अरबी जनता जो अब तक भारतीय धर्म को कुफ्र की निगाह से देखती थी, के प्रबुद्ध वर्ग ने भी अलबेरूनी के माध्यम से गीता का परिचय प्राप्त कर उसे ग्राह्य समझा और मुक्त कण्ठ से गीता की प्रशंसा की।

भारत में आकर सर्वप्रथम अलबेरूनी ने ज्योतिष ग्रन्थो का अध्ययन कर उनका अनुवाद किया। उनकी मान्यता थी कि मुस्लिम देशो मे रहने वाले धर्म भाई ज्योतिष की इसलिए उपेक्षा करते है कि उन्हे भारतीय ज्योतिष विज्ञान का परिचय नहीं मिला है, कारण उन्हे इस विषय की पुस्तके पढ़ने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। यदि वे भारतीय ज्योतिर्विदो की वैज्ञानिक गवेषणाओ से परिचित हो सके तो बहुत सम्भव है कि अपने ज्ञान के भण्डार को और भी बढ़ा लें। इस दिशा में उन्होंने प्रयास भी किये और अपने समाज की कमियो को दूर करने के लिए वराहमिहिर की बृहत्संहिता तथा लघु जातक का अरबी में अनुवाद किया। इसके बाद उन्होंने चिकित्सा-विज्ञान में भारतीय शोधों को अपना रुचि क्षेत्र बनाया और उस समय उपलब्ध चरक संहिता—जो आयुर्वेद की

सर्वाधिक प्रचलित पुस्तक थी का अध्ययन व अरबी में अनुवाद किया।

तदुपरान्त उन्होंने भारतीय दर्शन ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया। सांख्य और योगदर्शन का उन पर सर्वाधिक प्रभाव हुआ। इसके बाद वे गीता की ओर आकृष्ट हुए। तारीखल हिंदू एक ऐतिहासिक कृति है—जिसमें सैकड़ों स्थानों पर गीता के श्लोक उद्धृत किये हैं। यह एक प्रकार से तत्कालीन भारत का इतिहास, दर्शन और संस्कृति विषयक कोष है जो उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अस्सी अध्यायों में उन्होंने युग कल्पना, ईश्वर सम्बन्धी धारण, आत्मा और कर्म का सिद्धान्त, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष, मूर्तिपूजा और विभिन्न प्रतिमाओं के पीछे छुपा रहस्य, वेद-पुराण, दर्शन, ज्योतिष, भूगोल, सृष्टि की विभिन्न जातियो का विवेचन, गणित, ब्राह्मण, भारत का भौगोलिक परिचय, यज्ञ, दान, विवाह, संस्कार आदि विषयों का समावेश, विवेचन तथा अपना दृष्टिकोण है।

भारतीय विचारों से प्रभावित होने के बावजूद भी उन्होंने किसी विचार को केवल इसलिए नहीं मान लिया कि वह जनप्रिय और लोक प्रचलित है। वरन् उसके औचित्य और आहार की तर्कपूर्ण दृष्टि से खोज करने के बाद ही उन्होंने उसे अपनाया। उदाहरण के लिए ज्योतिष में वे ब्रह्मगुप्त से सर्वाधिक प्रभावित थे फिर भी उन्होंने चन्द्र-ग्रहण के सम्बन्ध में ब्रह्मगुप्त की राहु से ग्रसने वाली परम्परागत धारणा को अमान्य कर दिया। जबकि उस समय आर्यभट्ट ने अपनी वैज्ञानिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया था कि चन्द्रग्रहण वस्तुतः चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया मात्र है। इस परम्परा भक्ति के लिए अलबेरूनी ने ब्रह्मगुप्त की आलोचना भी की थी।

उन्होंने स्वयं भी कई वैज्ञानिक खोजें कीं और तत्कालीन ग्रन्थकारों में सर्वोपरि स्थान भी प्राप्त किया। अलबेरूनी के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उन्होंने १४६ पुस्तकें लिखी। लेकिन अधिकांश अब अनुपलब्ध हैं। भारतीय विद्वत्समाज में भी उनका अच्छी-खासी प्रतिष्ठा थी और वे थे भी सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न एक विद्वान, एक वैज्ञानिक और एक विचारक। इन तीनों प्रवृत्तियों का उनमे ऐसा समन्वय था जो बहुत कम ही देखने मे आता है। साधनो और सुविधाओ के अभाव का रोना रोकर कई लोग असफलताओ और कठिनाइयों को रोते रहते हैं। जबकि साधन और सुविधाएँ व्यक्ति के मार्ग मे कोई बाधा नहीं बनती। बाधा बनतीं है, उसकी अपनी अकर्मण्यता और निष्क्रियता। पुरुषार्थी और परिश्रमी व्यक्ति कभी साधनों, सुविधाओं और परिस्थितियो का मुँह नहीं ताकते। अलबेरूनी की तरह आगे बढ़ते ही रहते हैं।

जीवन और साहित्य के गौरव निधि—बाबू गुलाब राय

प्रहलाद की कथा सुनकर बाबू गुलाब राय ने बचपन में एक कुम्हार से अजीब घटना सुनी। ईंटों को पकाने के लिए आवे में कुछ हँडियाँ रख दी गयी थीं। कच्ची हँडिया में था बिल्ली का छोटा-सा बच्चा और जब आवा खोला गया तो वह बच्चा जीवित और स्वस्थ था। भीषण ताप और गर्मी में भी उसकी रक्षा हुई। बाबू गुलाब राय को बड़ा कौतूहल हुआ। यह कह रहे हैं इसलिए सच है और यह भी सच है कि भगवान अपने भक्त की रक्षा करता है। फिर क्यों न उस प्रभु का भक्त बना जाय।

घटना की यथार्थता पर उन्हे बिल्कुल भी संदेह न हुआ बल्कि इसने तो ईश्वर के प्रति विश्वास को और भी सुदृढ़ बनाया। अब समस्या यह हुई कि भगवान का प्रिय बनने के लिए क्या किया जाय। भक्ति-साधना और पूजा-पाठ करती हुई माँ व पड़ौस की स्त्रियों को देखा तो वे इस साधन भजन में लग गये। माँ और उनकी साथी महिलाएँ भजन के रूप में तुलसी, सूर और मीरा के भजन गाया करती थीं। इन महान भक्तो की वाणी में ईश्वर से किसी लौकिक वस्तु की कामना नहीं की गयी है, माँगा गया है दैवी गुणो का वरदान। ज्यों-ज्यो समझ बढ़ती गई, भजन साधन के साथ चिन्तन-मनन भी चला और बाबूजी ने समझ लिया कि आत्मपरिष्कार ही प्रभु का प्रियपात्र बनने की सच्ची साधना है। वे ईश्वर की उपासना के साथ-साथ सहज जीवन की साधना की ओर भी आकृष्ट हुए।

धार्मिक आस्थाओ ने उन्हें आत्मनिर्माण की प्रेरणा दी और परिवार के वातावरण ने उस प्रेरणांकुर को हवा पानी। उनके पिताजी किसी शासकीय कार्यालय में साधारण क्लर्क थे। छोटे-से-छोटे सरकारी कर्मचारी का भी उन दिनों बड़ा मान-सम्मान होता था। जरा-सा काम निकलवाने के लिए लोग भेंट लेकर आ जाया करते। बाबू गुलाब राय जी के पिता ने सदैव ऐसे लोगों को निरुत्साहित किया। भेंट-रिश्वत मे लायी गयी बड़ी से बड़ी रकम को भी उन्होंने बिना देखे लौटा दिया। देखने पर प्रलोभन पैदा हो सकता है न, इसलिए।

ऐसे वातावरण में गुलाब राय जी का हृदय मानवीय जीवन मूल्यों के प्रति सहज ही निष्ठावान बनता गया। माँ का भक्तिभाव और पिता की चारित्रिक-दृढ़ता इन दो गुणो ने मिलकर समाज को एक ऐसा साहित्यकार दिया जिसके हृदय में विद्या और सद्ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती ने अपना आसन लगा कर चेतना और प्रज्ञा की गंगा प्रवाहित की। बाबू गुलाब राय जी ने स्वयं इस वातावरण को अपने साहित्य सृजन की प्रेरणा माना है।

उनका जन्म सन् १८८८ मे उत्तर प्रदेश के एक साधारण वैश्य परिवार में हुआ।

व्यवसाय था । परन्तु, बाबू गुलाब राय जी के पिता ने शासकीय सेवा मे रहना ही ठीक समझा । वे अपने पुत्र को भी इसी लाइन मे लगाना चाहते थे । इसी कारण उन्होंने गुलाबराय जी को उर्दू स्कूल में भरती करवाया । इस भाषा का ज्ञान उस समय शासकीय सेवा की योग्यता का प्रमाण समझा जाता था ।

इधर उनके पितामह चाहते थे कि गुलाबराय पैतृक व्यवसाय के टूटे क्रम को फिर से शुरू करने वाला बने । इसलिए वे घर पर ही हिन्दी पढ़ाने लगे । सूर और मीरा की भावप्रवण काव्यधारा ने गुलाबराय जी को धर्मशास्त्रों के अध्ययन की ओर आकृष्ट किया । धर्म के प्रति उनकी आस्थाएँ तो पहले से ही दृढ़ थीं । इस जिज्ञासा भाव ने उन्हे संस्कृत भाषा की ओर धकेला । मिडिल पास करके वे संस्कारो से प्रेरित होकर संस्कृत विषय लेकर आगे पढ़ने लगे ।

१९०५ में उन्होंने कॉलेज जीवन में प्रवेश किया । धर्म और संस्कृति के प्रति भक्ति-भाव ने उन्हें यहाँ भी संस्कृत विषय लेकर पढ़ने के लिये बाध्य किया । यद्यपि वे बी.ए. में फेल भी हुए फिर भी उन्होंने संस्कृत विषय नहीं छोड़ा ।

इस संस्कृत प्रेम के साथ-साथ उनमें राष्ट्रीय-चेतना का स्पर्श भी हुआ । उन दिनों बंग-भंग विरोध और स्वदेशी आंदोलन की बाढ़ आई हुई थी । बाजार, गलियों, सड़कों और घर सभी स्थानों पर स्वदेशी निष्ठा की आवा थी । बाबूजी भी इसके सम्पर्क में आये और पूरी तरह भारतीयता के रंग मे रंग गये । धर्मशास्त्रों के माध्यम से उन्होंने भारतीय-संस्कृति और जीवन-दर्शन का जो ज्ञान अर्जित किया था वह भी अब व्यक्त होना चाहता था । इसलिए उन्होंने साहित्य-जगत मे प्रवेश का निश्चय किया ।

इस अवसर पर उन्होंने एक अनुकरणीय परम्परा डाली—लेखकों के लिए । यद्यपि उन्हें दृढ़ चरित्र, सत्य निष्ठा और सादगी अपने पिता से विरासत के रूप मे प्राप्त हुई थी, फिर भी उन्होंने गम्भीर दृष्टि से आत्मावलोकन करना आवश्यक समझा । बी.ए. कर लेने के बाद वे स्वयं को लेखक की—जन ज्ञान के प्रतिनिधि की—मान्य कसौटियों पर कसते रहे । ज्ञान-वर्द्धन के लिये उन्होंने तर्कपूर्ण चिन्तन-शैली का अभ्यास किया । वे कई छात्रों को निःशुल्क ट्यूशन पढ़ाया करते थे । अपने चरित्र की सबलता को वे तब तक सूक्ष्म दृष्टि से परखते रहे जब तक कि उन्हें अपनी साहित्यकार की दायित्व योग्यता पर विश्वास न हो गया ।

एम.ए. पास कर लेने के बाद वे छतरपुर राज्य दरबार में उच्च पद पर नियुक्त हुए । इस रियासत के राजा ने अपने यहाँ अच्छे विद्वान पुरुषों की सभा बना रखी थी सभा में भारतीय-संस्कृति और धर्मशास्त्र के अच्छे विद्वान थे । बाबू गुलाबराय की प्रतिष्ठा भी विद्वान के रूप में हुई थी । परन्तु उनमें अपने अन्य सभासदों की भाँति वृथाभिमान नहीं था । घेरे विज्ञजनों में अपनी विद्वता का अहंकार उन्हें अभिमानी तथा दिखावटी गम्भीर बना देता है । नम्रता और निरभिमान विद्या के प्रवेश द्वार कहे गये हैं । इन गुणों के होते व्यक्ति अपने ज्ञान का विकास कर सकता है । जैसे ही गुणों का लोप हुआ ज्ञानार्जन की क्षमता भी मारी जाती है।

बाबू गुलाबरायजी ने ज्ञान के साथ-साथ गुणों को साधा था । इसलिए वे सतर्कतापूर्वक वृथाभिमान से बचे रहे। इस कारण वे अपने साथियों की प्रतिभा से भी लाभ उठा रहे । अध्ययन-मनन द्वारा उनकी ज्ञान-सम्पदा का भंडार निरन्तर बढ़ता रहा ।

कुछ समय तक छतरपुर राज्य में रहने के बाद आगरा आकर रहने लगे । छतरपुर में ही उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया था । आगरा आने तक तो वे एक सफल साहित्यकार सिद्ध हो चुके थे । उन्होने कई पुस्तकें लिखीं। विभिन्न विधाओ पर कलम चलाई और इन सब सुरचनाओं में उनके द्वारा भारतीय-संस्कृति की ही प्रतिष्ठा हुई है ।

परिवार की पैतृक-सम्पदा के रूप में उन्हें जो कुछ मिला—पारमार्थिक कार्यों मे लगाते रहे । पारिवारिक सम्बन्धों मे भी वे भारतीय आदर्शों की प्रतिमूर्ति ही सिद्ध होते हैं। उनके भाई श्री रामचन्द्रजी गुप्ता ने लिखा है—"उन्होंने पैतृक सम्पत्ति को विभाजित न होने देकर भ्रातृप्रेम, एकता, निःस्वार्थ स्नेह और पारिवारिक सामञ्जस्य का जो परिचय दिया वह हमेशा सबके लिए आदर्श बना रहेगा ।"

दीर्घकाल तक साहित्य साधना करते हुए वे सन् १९ में रोगशैय्या पर पड़े । इस अवसर पर उन्होंने जीवनभर के पालित-पोषित आस्थाओं और मान्यताओं का सम्बल पकड़ और १३ अप्रैल सन् १९६३ को यह लोक छोड़ कर विदा हो गये । बाबू गुलाबराय जी के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से इस सत्य को स्वीकार किया गया है कि वे महान साहित्यकार ही नहीं एक ऊँचे और सहृदय इन्सान थे और इन गुणो का विकास ही उनके साहित्य का स्रोत बना।

मानवीय आदर्शों, जीवन मूल्यों और भावनाओं से प्रेरित हुआ साहित्य-सृजन उन लोगो की तुलना मे लाख गुना बेहतर है, जो इन आदर्शों की विवेचना तो गहन दार्शनिक ढंग से कर जाते है परन्तु व्यवहार के नाम पर शून्य रहते हैं ऐसे ही साहित्यकारों की आज भरमार है । तभी तो लोकमन को आज के प्रकाशन और कृतियाँ राई भर भी छू नहीं रही है ।

उत्कृष्टगुणो की साधना के साथ-साथ अपनी कमियों और कमजोरियों को सहज रूप से स्वीकार कर लेना उनका स्वभाव रहा अन्यथा एक महापुरुष के रूप में [illegible] व्यक्ति अपनी कमजोरियों को भी कोई न कोई [illegible] आधार दे ही देता है ।

एक कर्मयोगी इतिहासकार— गौरीशंकर ओझा

बड़े भाई को जब यह ज्ञात हुआ कि छोटे भाई ने वकालत की पढ़ाई का विचार छोड़ दिया है और दिन रात इतिहास की मोटी-मोटी पुस्तकों मे खोया रहता है तो उसने छोटे भाई से कारण पूछा—"क्यो गौरी, तुमने अच्छी भली पढ़ाई छोड़कर यह क्या काम शुरू कर दिया है ? कुछ ही समय में वकील हो जाते, घर की आर्थिक स्थिति भी सुधर जाती।" "हाँ भैया वकील हो जाता तो धन जरूर कमा लेता लेकिन मैं धन कमाने के साथ-साथ ऐसा काम भी करना चाहता हूँ जिससे मेरी पढ़ाई सार्थक हो जाय।" छोटे ने उत्तर दिया।

मेरी मानो तो इस चक्कर में मत पड़ो। पढ़ाई की सार्थकता तो तुम्हें इस काल में ही नजर आ आयेगी फिर जीवन भर पढ़ना ही है तो बात दूसरी है वैसे तुम इतने बड़ा भाई की यह सम्मति भी छोटे भाई को ध्येय-पथ से विचलित न कर सकी। यही दृढ़ निश्चयी युवक, गौरीशंकर कई अमूल्य इतिहास-ग्रन्थों की धरोहर भावी पीढ़ी को दे सका।

पं. गौरीशंकर ओझा का जन्म सन् १८६३ मे राजस्थान के सिरोही जिले के ग्राम रोहीड़ा मे हुआ था। पिता हीराचन्द एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। इस सरस्वती के उपासक के पास लक्ष्मी का अभाव था। गाँव की पाठशाला में बालक ने चार वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। पिता वेदपाठी थे। बालक ने पिता को प्रथम गुरु बनाकर वेदाध्ययन आरम्भ किया। कोरे कागज जैसे बालक के मन पर, इस सत्साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। वेद की ऋचायें वह बड़े मनोयोग से पढ़ता था। पिता ने बालक की ज्ञानार्जन के प्रति यह लगन देखी तो वह बड़े प्रसन्न हुए। वे गौरीशंकर जी से कहा करते थे—"मैने बचपन मे जो शिक्षा वेदों से प्राप्त की उसी का शुभ परिणाम है कि मैं कुछ कर सका हूँ।"

उन दिनो मेवाड़ में एक दो ही हाईस्कूल थे। आगे पढ़ने की इच्छा से इनके पिता ने उनके बड़े भाई के पास बम्बई भेजा। इनके बड़े भाई वहाँ मुनीम का काम करते थे। सिरोही क्षेत्र में उस समय न रेल थी न मोटर। चौदह वर्ष के गौरीशंकर को अपने भाई के साथ अपने गाँव से अहमदाबाद तक पैदल चलना पड़ा। पूरे डेढ़ सौ मील चलकर इन दोनो ने अहमदाबाद से रेल पकड़ी और बम्बई पहुँचे।

गाँव छूटा, घर छूटा, संगी-साथी छूट गये। साथ ही साथ एक कठिनाई जो सामने आयी वह यह थी कि यहाँ उनकी भाषा समझने वाला भी कोई न था। फिर भी इन्होंने अपने लक्ष्य की ओर ध्यान रखा जिसके कारण जिन विपरीत परिस्थितियो में कई लोग घबरा जाते हैं उनसे ये विचलित नहीं हुए। प्राइवेट तौर पर गुजराती पढ़कर ये गोकुलदास तेजपाल सेमीनरी स्कूल मे भर्ती हुए।

समृद्ध परिवार के बालकों के पढ़ने के लिए अलग से अध्ययन कक्ष होता है। टेबल-कुर्सी, टेबुल लेम्प तथा और कई सुविधा के साधन होते हैं। अपने साथ पढ़ने वाले ऐसे कई लड़के उन्होंने देखे थे। ऐसी साधन सुविधा तो दूर इनके भाई कालवादेवी की जिस कोठरी मे रहते थे उसमे सामान रखने के बाद दो जने सो भी नहीं सकते थे। ये पास के भागेश्वरी मन्दिर की परिक्रमा में अपनी पुस्तके तथा चटाई लेकर चले जाते और मिट्टी के तेल की ढिबरी के मन्द प्रकाश में पढ़ते और वहीं सो जाते। इन अभावो मे रहते हुए भी ये अपनी लगन तथा परिश्रम के बल पर कक्षा मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते थे।

१९ वर्ष की आयु में जब गौरीशंकर ने हाईस्कूल परीक्षा अच्छे अंकों से पास की तो उनका साहस बढ़ गया। उन्होंने पुरुषार्थ के द्वारा यह कार्य सफल होते देखा तो अपने भाई कहने से वकालत पढ़ना आरम्भ किया। उन्ही दिनो इनकी भेंट डा. भगवान लाल जी इन्द्र से हुई। उनकी प्रेरणा से ये इतिहास तथा पुरातत्व सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़ने लगे।

उस समय भारतवर्ष के इतिहास के रूप मे बहुत कम सामग्री उपलब्ध थी। जो उपलब्ध थी उसमे अधिकांश विदेशी लेखकों की थी। इतिहास अतीत का जो चित्र प्रस्तुत करता है उसमें वर्तमान मे प्रेरणा मिलती है। भारत के इतिहास को ग्रन्थ रूप मे बाँधने के लिए उस समय ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता थी जो इस कार्य के लिये अपना जीवन अर्पित कर सके। इन्द्रजी ने इनमे वह प्रतिभा तथा लगन देखी। उन्होंने गौरीशंकर को समझाया। जन-जीवन मे नये प्राण फूँकने में गौरवपूर्ण अतीत का बड़ा हाथ होता है। यदि इतिहास उसका वह रूप प्रस्तुत कर सके तो उससे राष्ट्र तथा नागरिकों का बड़ा हित होता है। मै समझता हूँ तुम यह कार्य कर सकते हो। गौरीशंकर इनसे सहमत हो गये।

इन्होंने देखा कि भाई साहब जो कमाते हैं वह हमारे लिये पूरा नहीं पड़ता है। वे चाहते हैं कि मै उनका भार हलका करूँ। एक ओर परिवार का दायित्व है और दूसरी तरफ आत्मा की पुकार, समय का तकाजा ? किसे चुनें ? उन्होंने दूसरे रास्ते को चुना फिर भी वे भाई के ऊपर भार बनकर रहना नहीं चाहते थे। उन्होंने ट्यूशन करके अपना खर्च चलाना आरम्भ कर दिया।

डा. भगवानलाल इन्द्र की सहायता से उन्होंने लिपियो का अध्ययन आरम्भ किया। सुबह-शाम ट्यूशन करना और दिन को एशियाटिक सोसायटी के ग्रन्थालय मे अध्ययन करना इनका नित्य-क्रम हो गया। इन्होंने यूनान, रोम, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि के इतिहास को पढ़ा। फिर भारत के इतिहास को पढ़ा तो उन्हें इन्द्र जी की बात मे पूरी सच्चाई दिखाई दी। भारत के इतिहास-ग्रन्थ अन्य देशों के इतिहास-ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत सीमित थे।

अपनी कर्मनिष्ठा के कारण ये थोड़े ही समय मे डॉ. इन्द्र की सहायता से प्राचीन लिपियों, मुद्राओं आदि का

पढ़ना सीख गये । एक दिन इन्होंने कुशाण सरीखी कठिन लिपि को पढ़ लिया तो इनके मार्गदर्शक बड़े प्रसन्न हुए । अब तक गौरीशंकर एक संगमरमर की शिला थे अब डाक्टर ने तराश कर उसे एक सुन्दर कलाकृति का रूप दे दिया । उन्होंने राजस्थान के इतिहास का पर्याप्त अध्ययन भी इन्हीं दिनों कर लिया ।

कर्नल टाड द्वारा लिखे गये राजपूताने के इतिहास को पढ़कर उन्हें अपने प्रदेश राजपूताने के इतिहास की रचना करने के उद्देश्य से वे उदयपुर गये । उन दिनों वीर विनोद नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास की अध्यक्षता में की जा रही थी । पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर इन्होंने श्यामलदास जी को अपने सुझाव प्रस्तुत किये । श्यामलदास जी इनके इतिहास सम्बन्धी ज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए । उन्होंने उदयपुर नरेश से इनको सहायक के रूप में रखने के लिये कहा । उदयपुर के महाराणा ने इसे स्वीकार कर लिया ।

उदयपुर में आकर गौरीशंकर जी को अपने आपके लिये एक विशाल कर्म क्षेत्र मिला । मेवाड़ के राजाओं का चरित्र इस प्रकार का उदात्त, आदर्श तथा शौर्य से परिपूर्ण रहा था कि जो तत्कालीन राजनैतिक दासता से मुक्ति पाने के लिये जनता को जाग्रत करने की क्षमता रखता था । कर्नल टॉड विदेशी होने के कारण अपने इतिहास में कुछ भूलें कर गए थे जिन्हें सही रूप में प्रस्तुत करने के लिये उनकी आत्मा छटपटा रही थी । इनके परिश्रम तथा कर्मयोग का ही परिणाम था कि राणाप्रताप जैसा व्यक्ति भारतवासियों के सम्मुख प्रस्तुत हुआ । राणा के व्यक्तित्व की महत्ता एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में भारतीय स्वातन्त्र्य वीरों का आदर्श बनी ।

सन् १८८० में उदयपुर मे विक्टोरिया पार्क मेमोरियल हाल का निर्माण हुआ । आपको उसका अध्यक्ष बनाया गया । प्राचीन मूर्तियों तथा शिलालेखो के एकत्रित करने तथा उन्हे यथास्थान स्थापित करने मे आपका जो महत्वपूर्ण हाथ रहा उसी का परिणाम था कि उदयपुर स्थित यह हाल इतिहासविदों के आकर्षण का केन्द्र बना ।

कर्नल टॉड ने जो इतिहास लिखा था उसमे इन्होंने पर्याप्त सुधार करके टिप्पणियाँ लिखी । कर्नल टॉड का जीवन चरित्र भी लिखा और इसे पुनः प्रकाशित कराया । इसके लिये उन्होंने बड़ा परिश्रम किया था ।

उदयपुर से फिर ये अजमेर मेयो कालेज के मन्त्री बनकर चले गये । अपूर्व विद्वान होने पर भी इनकी सादगी देखते ही बनती थी । विनय तथा सौजन्य की तो ये साक्षात् मूर्ति थे । अपनी कर्मनिष्ठा के कारण वे शिलालेखो के चलते फिरते विश्वकोष बन गये थे । उन्हे जबानी कितने ही शिलालेख याद हो चुके थे । जो भी व्यक्ति इनसे मिला, प्रभावित हुए बिना नही रह सका । साधारण व्यक्ति से लेकर वायसराय तक से ये एक ही भाव से मिले थे ।

इन्हे सरकार की तरफ से 'राय बहादुर' तथा महामहोपाध्याय की उपाधियों से अलंकृत किया गया था ।

उन्होंने स्वयं कई इतिहास लिखे तथा अन्य लोगों को इस दिशा में लिखने की प्रेरणा दी । इन्होंने (१) प्राचीन लिपि माला (२) भारतीय लिपि माला (३) सोलंकियों का इतिहास (४) सिरोही राज्य का इतिहास (५) बाप्पा रावल का सोने का सिक्का (६) वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप (७) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (८) राजपूताने का इतिहास (९) बीकानेर, जोधपुर, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़, उदयपुर राज्य का इतिहास (१०) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री (११) कर्नल जेम्स टॉड का जीवन चरित्र (१२) नागरी अंक और अक्षर (१३) राजस्थान की ऐतिहासिक दन्त कथाएं आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखकर भारतीय इतिहास भण्डार की श्री वृद्धि की । यह निश्चय ही एक महान कार्य था । इतने इतिहास लिखने के लिये उन्हें कहाँ-कहाँ भटकना पड़ा तथा किस प्रकार इतनी सामग्री एकत्रित कर पाये वे ही जानते थे । उनके इस कार्य को देखते हुए उन्हे 'प्राचीन लिपि माला' ग्रन्थ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया ।

इन्होंने कई ऐतिहासिक ग्रन्थो का सम्पादन भी किया जिनमें (१) पद्य रत्न माला (२) गद्य रत्न माला (३) महलौत नैणसी का 'ख्यात २ भाग (४) जय सोम रचित कर्मचन्द वंशोत्कीर्तन काव्यम् (५) जयानक प्रणीत पृथ्वीराज विजय महाकाव्य (६) अशोक की धर्म लिपियाँ (७) सुलेमान सौदागर तथा अन्य कई ग्रन्थ सम्मिलित है ।

इन्होंने सभी ग्रन्थ हिन्दी मे लिखे । हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरने में भी इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा । वे वर्षों तक 'नागरी प्रचारिणी समिति' पत्रिका के सम्पादक रहे । उन्होंने अपने जीवन को भारतीय इतिहास, भारतीय संस्कृति तथा हिन्दी भाषा के उत्थान को ही समर्पित कर दिया था । उन्होंने कई महत्वपूर्ण व्याख्यान भी इन विषयो पर दिये । इनके कार्यों को देखते हुए इनके सम्मान मे अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार करके भेंट किया गया ।

अल्प साधन-सुविधाओं मे भी इतना काम कर जाना आश्चर्यजनक लगता है । वे कर्मयोगी थे । जीवन का लक्ष्य सामने रखकर सारा जीवन उसी में खपा देने वाले पुरुषो मे उनकी गणना की जाती है ।

ओझा जी का यह जीवन प्रत्येक व्यक्ति को निराशा से ऊपर उठकर आशा, विश्वास का सम्बल प्रदान करता है, स्वार्थ के साथ परमार्थ का समन्वय करने की प्रेरणा देता है । लगन और परिश्रम के परिणाम कितने आश्चर्यजनक होते हैं इसे इनके जीवन से स्पष्ट देखा जा सकता है । ऐसे आदर्शवादी व्यक्ति ही आज के पतनोन्मुख मानव समाज को अपने व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व से प्रकाश दे सकते हैं ।

संत साहित्यकार—चिम्मन लाल गोस्वामी

संवत् १९८५ में कल्याण के यशस्वी संपादक स्वर्गीय हनुमान प्रासाद जी पोद्दार ने बीकानेर में सत्संग गोष्ठियाँ चलायीं। इन गोष्ठियों मे धर्म और अध्यात्म के सनातन तथा गौरव-पूर्ण सिद्धान्तों का अनुकरण करने की प्रेरणा दी जाती। लोग बड़ी संख्या मे सुनने आते और पोद्दार जी के प्रवचन सुनकर अलौकिक जीवन जीने की दिशा मे प्रेरित होते। उन प्रेरणाओ को पोषित और विकसित तो कितने लोगो ने किया होगा यह तो नहीं मालूम। लोग, धर्म और अध्यात्म को भी समय काटने का साधन बना लेते है। जबकि यह इस विद्या के गौरवानुकूल है ही नहीं।

महामानवों को इसकी चिन्ता होती भी कहाँ है कि कोई उनके प्रयासों से लाभान्वित हो रहा है या नहीं हो रहा है। कर्म में ही वे अपना अधिकार मान कर परिणाम की चिन्ता किये बिना वे तो कर्तव्य साधना मे ही निरत रहते है। लेकिन जो व्यक्ति धर्म और अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप का थोड़ा भी मूल्य और महत्त्व समझते हैं वे आतुर होकर ऐसे अवसरो की तलाश मे रहते हैं, जिनसे आंतरिक और आत्मिक क्षुधा को तृप्त किया जा सके।

ऐसे ही अवसर की तलाश मे थे बीकानेर राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्ति चिम्मन लाल गोस्वामी। पोद्दार जी के प्रवचन सुनकर उन्हे लगा कि अब उनकी खोज पूरी हो गयी है। स्वाती नक्षत्र मे बरसने वाले पानी से अपनी प्यास बुझाने वाला चातक पक्षी—तृषा शांति के संयोग पर जिस तरह प्रफुल्लित हो उठता है उसी तरह गोस्वामी जी भी आनंदित हो उठे और वे उसी अवसर पर पोद्दार जी के और अधिक निकट आये। दो-चार दिनो के सान्निध्य ने ही उनकी जीवन दिशा बदल दी और उन्होंने सेवा को ही अपना आदर्श-लक्ष्य साधना बना लिया। कुछ वर्ष अपने भावी जीवन की रीति नीति निर्धारित करने मे व्यतीत हुए और गोस्वामी जी ने सन् १९३३ मे बीकानेर राज्य की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। ऐश-आराम और सुख-सुविधा पूर्ण, साधन संपन्न जीवन त्याग कर वे भाई जी (पोद्दार जी) के पास आ गये और अंत तक उन्ही के सहयोगी, अनुगामी, सहचर बन कर रहे। सेवा का जीवन कितना कष्टपूर्ण और असुविधाजनक रहता है। उन लोगो के लिए तो यह और भी असुविधादायी रहता है, जो वैभव पूर्ण स्थिति के अभ्यस्त हो। परन्तु, आंतरिक निष्ठा बदलते ही —बाह्य जगत भी बदल जाता है। वैभव के खीर-पकवानो से सेवा-साधना मे मिली रूखी रोटी रुचिकर लगने लगी और गोस्वामी जी अपने आत्मिक विकास के साथ-साथ लोकमंगल की दिशा के भी समन्वित साधक बन गये।

उनका जन्म सन् १९०० में अध्यापक पं. ब्रजलालजी के घर मे हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा का क्रम बीकानेर, वाराणसी तथा जयपुर मे चला। हाईस्कूल की परीक्षा बीकानेर से उत्तीर्ण कर उन्हे वाराणसी भेज दिया गया था ताकि वे यहाँ रह कर अच्छी शिक्षा अर्जित कर सके। क्वीस कॉलेज तथा काशी-विश्वविद्यालय में ही उनकी उच्चशिक्षा संपन्न हुई। फिर बाद मे उन्होंने १९२४ में जयपुर से संस्कृत मे शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की।

लौकिक जीवन मे कुछ दिनों तक वे महामना मदनमोहन मालवीय जी के निजी सचिव भी रहे। बाद में बीकानेर राज्य में एक उच्च पद पर नियुक्त हुए, परन्तु उनकी असली जीवन यात्रा तो भाई जी के संपर्क में आने के बाद ही आरम्भ हुई। भाई जी उनकी योग्यता और प्रतिभा को भलिभाँति परख चुके थे। इसीलिए १९३४ मे जब कल्याण कल्पतरु का प्रकाशन आरम्भ हुआ तो उसका सम्पादन भार गोस्वामी जी पर आया।

सन् १९७१ से वे कल्याण के सम्पादक बने, उनके सम्पादन में कल्याण के कई खोज पूर्ण विशेषांक निकले। भाई जी के निधन के बाद यह समझा जाता रहा कि गोस्वामी जी के रूप मे वह काम पुनः उसी गति से आगे बढ़ता रहेगा परन्तु शायद नियति को यह स्वीकार नहीं था। सन् १९७४ मे मौत ने उन्हे भी छीन लिया।

महाराष्ट्र के साहित्यिक भीष्म—दत्तो वामन पोतदार

समाज-सेवा के बहुत से क्षेत्रो मे एक साहित्य-क्षेत्र भी है। यह क्षेत्र अन्य क्षेत्रो की अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण भी माना जा सकता है। साहित्य किसी भी समाज का दर्पण कहा गया है। दर्पण इस अर्थ मे कि साहित्य के अंचल मे समाज की सभ्यता, संस्कृति, मान्यताएँ तथा धार्मिक रीति-नीति प्रतिबिम्बित होती है। साहित्य द्वारा ही किसी समाज का मानसिक, बौद्धिक तथा नैतिक स्तर अवगत होता है। देश के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य की खोज, विकास तथा प्रसार कम महत्वपूर्ण समाज सेवा नहीं है।

महाराष्ट्र के श्री दत्तो वामन पोतदार उन समाज-सेवियो मे से हैं जिन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन भारत के प्राचीन साहित्य की शोध तथा आधुनिक साहित्य की श्री वृद्धि में समर्पित कर दिया और गत बावन तिरेपन वर्षों से इस क्षेत्र मे सराहनीय सेवा कर रहे है। अपने इस उद्देश्य के पालन मे जीवन का प्रत्येक अणु व क्षण लगा देने के मन्तव्य से उन्होने आजीवन अविवाहित रहने का व्रत लिया। ईसी ब्रह्मचर्य व्रत के कारण वे महाराष्ट्र के साहित्यक भीष्म कहे जाते है। ये साहित्य महारथी लगभग अस्सी साहित्य-सेवी संस्थाओं का दायित्व लेकर सेवा मे जिस सामर्थ्य का परिचय दे रहे है वह किसी आजीवन ब्रह्मचारी के लिये ही सम्भव है। श्री दत्तो वामन पोतदार आत्मनिर्मित, आत्म-निष्ठ और आत्म-बल सम्पन्न एक अनुकरणीय साहित्य सेवी हैं।

१९१० मे फर्ग्युसन कालिज पूना से बी.ए. पास करने के बाद जब पोतदार अपने पैरो खड़े होने योग्य हो गये तब इनके विवाह की चर्चा चलने लगी। किन्तु इन्होने स्पष्ट

इनकार करते हुए कह दिया कि मै विवाह नहीं करूँगा और आजीवन गार्हस्थ्य से मुक्त रह कर साहित्य और साहित्य के माध्यम से समाज व राष्ट्र की सेवा करूँगा। उस समय तो लोगो ने उनके इस कथन को अतिवाद समझा, किन्तु आज जब उन व्रतधारी ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दिखाई तो लोग उन्हें महाराष्ट्र के भीष्म कह कर सम्मानित करने लगे। दृढ़-निश्चयी तथा आत्म-नियन्त्रित सत्पुरुषो के लिये संसार का कौन-सा कर्त्तव्य दु:साध्य हो सकता है ?

श्री पोतदार ने जब सबसे पहले कुछ साथियों को लेकर पूना मे 'भारतीय इतिहास संशोधक मंडल' की स्थापना की तब लोगो ने यथास्वभाव उनके इस काम को न तो कोई महत्व देना चाहा और न मान्यता। बल्कि इस संस्था को एक साहित्यिक मनोरंजन का माध्यम माना और उसकी यथार्थ उपयोगिता मे संशय व्यक्त किया। यह असहयोग एक निरुत्साहक स्थिति थी। किन्तु श्री पोतदार लोकमत से विचलित हुए बिना विश्वासपूर्वक अपने कर्त्तव्य में लगे रहे और अपनी लगन तथा योग्यता के अन्तिम बिन्दु तक प्रयत्न द्वारा उक्त संस्था को इतना उपयोगी बना दिया कि वह आज भारतीय इतिहास शोधकों के लिये तीर्थ के समान बन गई है। इस संस्था के पास अपना एक विशाल-भवन है और भारत की अन्य इतिहास शोधक संस्थाओं मे इसको अग्रस्थ स्थान प्राप्त है। आज पचास वर्ष से यह संस्था इतिहास लेखन, नवीन शोधो, ऐतिहासिक कागज पत्रो, चित्रो तथा प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री एवं त्यागी तथा निष्काम कार्यकर्ताओ द्वारा इतिहास के उद्धार में जो योगदान कर रही है, वह सब इन्ही दत्तो वामन पोतदार के परिश्रम, अध्यवसाय तथा लगन का ही फल है।

श्री पोतदार न केवल इतिहास संशोधक संस्था के संस्थापक ही है बल्कि इतिहास के अखण्ड अध्येता भी। उन्होने भारतीय इतिहास का इतना गूढ़, गहन तथा व्यापक अध्ययन किया है कि वे इतिहास की गुत्थियों में प्रमाण रूप माने जाते है और लगभग तेरह चौदह वर्षों तक परशुराम भाऊ कालिज पूना मे इतिहास के प्राध्यापक रह कर अपनी योग्यता का दान करते रहे है। इसके अतिरिक्त उन्हे उनकी योग्यता एवं कार्य-क्षमता के कारण अखिल भारतीय-इतिहास काँग्रेस के मंत्रिपद का दायित्व सौंपा गया जिसका निर्वाह उन्होंने इस दक्षता से किया कि जब इन्डियन हिस्टोरिकल रिकार्डस कमीशन की स्थापना हुई तब उन्हें उसकी सदस्यता के लिये अनुरोधित किया गया और उस स्थिति में उल्लेखनीय एवं बहुमूल्य कार्य कर दिखाने के उपलक्ष्य में भारतीय सरकार ने उन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित किया और भारत के प्रमुख इतिहासकारों ने १९५० में उनकी इकसठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ के साथ अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

इतिहास के अतिरिक्त, साहित्य की अन्य और भी अनेक शाखाएँ है और उन्हें छोड़ देने से उनकी सेवाएँ अधूरी रह जायेगी—यह बात श्री पोतदार कभी नहीं भूलते थे और जब वे दूसरी शाखाओ की ओर मुड़े तो इतिहास प्रेमियों प्रार्थना की कि आप इतिहास का क्षेत्र छोड़ कर अन्य दिशाओं में संक्रमण न करें। श्री पोतदार ने उनको आश्वस्त करते हुए कहा—"आप लोग ऐसा भ्रम न करें कि मैं इतिहास क्षेत्र का परित्याग कर रहा हूँ। फिर भी मुझे साहित्य के अन्य क्षेत्रो में भी अपनी सेवा के सुमन चढ़ाने हैं। इतिहास ही नहीं, समग्र-साहित्य सेवा मेरा जीवन व्रत है और जिन-जिन क्षेत्रों में मैं जो कुछ कर सकता हूँ, करने का प्रयत्न करूँगा। और चाहूँगा कि भारत की सारी प्रतिभाएँ किसी एक ही क्षेत्र तक सीमित न रहें बल्कि उनकी गति, विकास तथा कर्तृत्व जिन-जिन उपयोगी दिशाओं मे हो सके उनमें करना चाहिए। समाज, साहित्य अथवा देश का सर्वांगीण उद्धार तभी हो सकता है जब सब दिशाओं एवं क्षेत्रो में समुचित कार्य होता चले।"

श्री दत्तो वामन पोतदार मराठी-साहित्य की ओर मुड़ गये। यह क्षेत्र उनके लिये नवीन अथवा अछूता नहीं था। अपने ऐतिहासिक कार्यों के साथ-साथ समय निकाल कर वे मराठी साहित्य का भी अध्ययन-मनन करते रहे थे। उन्हे पता था कि आगे चल कर इस क्षेत्र में भी उन्हे अपनी सेवाएँ समर्पित ही करनी है। उन्होने 'गद्या चा इन्ग्रीजी अवतार' नामक एक ऐसा शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किया जो इस शती के मराठी गद्य विकास पर प्रमाण ग्रन्थ माना जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होने मराठी भाषा पर सैकड़ो की तादाद मे शोध लेख, नूतन उद्भावनाओ तथा रेडियो वार्ताएँ प्रस्तुत कीं जिनसे उदीयमान मराठी लेखको को मार्गदर्शन तथा लेखको को प्रेरक प्रकाश मिला है।

अपनी इन्हीं साहित्य-सेवाओ के कारण उन्हे कोल्हापुर के मराठी, साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्षपद सौंपा गया जो निस्सन्देह गौरवपूर्ण होने के साथ-साथ दायित्वपूर्ण भी था। इस पद पर उन्होंने किस योग्यता से काम किया उसका प्रमाण यह है कि उन्हे जल्दी ही महाराष्ट्र-साहित्य-परिषद का अध्यक्षपद तथा मराठी-साहित्य पत्रिका का सम्पादन सम्हालना पड़ा। जिसका निर्वाह भी उन्होंने अप्रतिम रूप से किया।

महाराष्ट्र के भीष्म श्री दत्तो वामन पोतदार एक विस्तृत एवं व्यापक राष्ट्रीयदृष्टिकोण के विद्वान तथा साहित्यकार रहे है। महाराष्ट्र के पुत्र रत्न तथा मराठी साहित्य के आदृत अध्येता होने पर भी उन्होंने मराठी तक ही सीमित रह कर अपनी व्यक्तित्व परिधि को संकीर्ण नहीं होने दिया। राष्ट्र-भाषा हिन्दी उनकी दृष्टि में मराठी से किसी भी दशा में कम महत्वपूर्ण नहीं रही। हिन्दी की सेवा किये बिना, उनका विचार रहा है, कि साहित्य की पूरी सेवा नहीं हो सकती। हिन्दी की सेवा करना राष्ट्र की सबसे बड़ी सेवा है—इस विश्वास से प्रेरित होकर उन्होंने इस ओर भी अपनी योग्यता तथा शक्ति को प्रसारित किया।

महाराष्ट्र में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिये जो भी संस्थाएँ स्थापित की गईं अथवा जो भी काम किये गये है उनके प्रेरणा केन्द्र श्री पोतदार ही रहे है। अपनी अनेक

शिक्षण-संस्थाओं द्वारा हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं की व्यवस्था करने वाले महाराष्ट्र का हिन्दी प्रचार संघ इन्हीं के प्रयत्नों का फल है। उसकी स्थापना में ही न केवल उनका हाथ रहा है बल्कि बहुत समय तक उसके अध्यक्ष भी रहे। इस अध्यक्ष पद को वे केवल कार्यालय की मेज तक ही सीमित नहीं रखते बल्कि नवयुवको मे हिन्दी शिक्षा का प्रचार भी करते। श्री पोतदार की प्रेरणा से महाराष्ट्र के न जाने कितने छात्रो एवं छात्राओ ने संघ की शिक्षण-संस्थाओ द्वारा हिन्दी की योग्यता प्राप्त की और परीक्षाएँ दीं। बम्बई प्रान्त के बोर्ड ऑफ एजुकेशन ऑफ हिन्दुस्तानी के वे सम्मानित सदस्य रहे। बम्बई सरकार की हिन्दी-शिक्षण-समिति इनके प्रयत्नो का मूर्तिमान प्रमाण है। आप उस समिति के अनेक वर्षों तक अध्यक्ष भी रहे हैं।

पूना विश्वविद्यालय के उपकुलपति होने पर उन्होंने जो सबसे पहले और महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह है विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग का संगठन एवं संचालन। विश्वविद्यालय के इस संगठन ने श्री पोतदार की प्रेरणा एवं देख-रेख में हिन्दी की अनेक हस्तलिखित पुस्तके तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ खोज निकाले, इस अमूल्य साहित्य ने महाराष्ट्र के अनेक छात्र-छात्राओ का ध्यान आकर्षित किया और वे इन पर शोध कार्य कर रहे हैं। साथ ही काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से उन्होंने सीधा सम्पर्क स्थापित कर महाराष्ट्र में उसकी अनेक शाखाये स्थापित की जो कि महाराष्ट्र मे हिन्दी प्रचार मे सराहनीय योगदान दे रही है।

श्री दत्तो वामन पोतदार उन विद्वानो में से थे जो मातृभाषा मराठी के अतिरिक्त हिन्दी, संस्कृत तथा अँग्रेजी धाराप्रवाह रूप मे बोल तथा लिख सकते हैं। किन्तु वे राष्ट्रभाषा के सम्मान तथा प्रचार में अधिकतर हिन्दी ही बोलते और लिखते। आज हिन्दी जो महाराष्ट्र की दूसरी मातृभाषावत् बन गई है उसका पुण्य, पूर्ण श्रेय अधिकांशतः श्री पोतदार को ही है।

राष्ट्र-भाषा के इन महाभक्त श्री दत्तो वामन पोतदार का सेवा-क्षेत्र फिर भी यहाँ तक ही सीमित नहीं रह गया। उन्होने जन-हित मे आरोग्य-मंडल, सहकारी-वस्तु भंडार आदि उपयोगी संस्थाओ के साथ ललितकला तथा मनोरंजन के क्षेत्र मे भी भारतीय-संगीत-प्रसारक मंडल, आर्य क्रीडोद्धारक मंडल, चित्रकार मडल, नाटक मंडल आदि अनेक संगठन पूना तथा पूना से बाहर बहुत से स्थानों पर स्थापित किये जो अपने कार्यक्रमो द्वारा जनता की सांस्कृतिक-चेतना को उन्नत एवं परिमार्जित करते है।

इन सराहनीय सेवाओं के अतिरिक्त श्री पोतदार ने शिक्षा के क्षेत्र मे जो स्थायी कार्य किये है वे उन्हे जन-मानस में सदा सर्वदा के लिये अमर रखेगे। उन्होने परिश्रमपूर्वक जिस शिक्षा-शास्त्र का व्यापक अध्ययन किया उसका उपयोग महाराष्ट्र यूनीवर्सिटी जैसे महान् शिक्षा-संस्था स्थापित कराने में किया। इस विशाल-शिक्षा-संस्थान के अन्तर्गत उन्होंने विभिन्न नगरो में और न जाने कितने विद्यालय एवं महाविद्यालयों की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पूना शहर में आज पुस्तकालयो तथा वाचनालयों का जो जाल फैला हुआ दिखलाई देता है उनमें से किसी एक की भी स्थापना मे श्री पोतदार का प्रयत्न एवं परिश्रम न सन्निहित हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इन महान साहित्य एवं समाजसेवी श्री दत्तो वामन पोतदार का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त मे कोलाबा जिले के अन्तर्गत बीरबन्डी नामक कस्बे मे ५ अगस्त, १८९० को हुआ था। उनकी अधिकांश शिक्षा पूना में हुई और उनकी सेवाओ का क्षेत्र सारा महाराष्ट्र प्रान्त रहा है। श्री दत्तो वामन पोतदार आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत के धनी होने से वृद्धावस्था में भी उनके शरीर मे तरुणो जैसी स्फूर्ति और मुख पर तेज विराजमान था और वृद्धावस्था मे भी लगभग साठ-सत्तर संस्थाओं का दायित्व वहन करते हुए उल्लेखनीय रूप से समाज की सेवा मे संलग्न रहे। महाराष्ट्र के भीष्म श्री दत्तो वामन पोतदार भारतीय जन सेवको के पथ-प्रदर्शन एवं आदर्श बनें, परमात्मा से ऐसी प्रार्थना है

साहित्य : दिव्यजीवन का मानचित्र—दान्ते

एक क्षण के लिये पलके झपकीं, दृष्टि पुनः सामने बह रही नदी की जल धारा से एकाकार होने की कोशिश मे लग गई। फ्लोरेस के शहरी जीवन से थोड़ा हटकर इस टेकरी पर खड़े वृक्षों के घने झुरमुट के बीच बनी झोपड़ी में वे विगत कई वर्षों से रह रहे थे। इस टेकरी के ठीक नीचे यह नदी बहती थी, जिसके किनारे बैठे शाम से ही कुछ सोच रहे थे ? सोच क्या थे, मन की पोथी को उलटने-पुलटने का प्रयास ?

इस उलट-पुलट मे जब से होश सँभाला था तब से लेकर अब तक की यादे, जीवन की घटनाएँ एक-एक करके मुखर हो उठी। जन्मते ही उन्हे वे परिस्थितियाँ प्राप्त हुईं। जिनके मिलने पर मनुष्य को सौभाग्यशाली समझने की परिपाटी है। किन्तु परिपाटियाँ तो अक्सर भ्रमो से सनी होती हैं। सौभाग्य और दुर्भाग्य, सुख और दुःख, शान्ति और अशान्ति कहाँ है यह सब ? अन्दर या बाहर ! उनके अधरो से टपक पड़ी मुसकान को बह रही सरिता ने लहरो के आँचल में थाम लिया।

वैभव, शान-शौकत, रौब, दाब, ऐशो-आराम के किले मे रहने वाले स्वजनों को उन्होंने अतृप्ति के धधकते ज्वालानल मे जलते अनुभव किया था। ओह ! शायद विलासिता के पाशव-उन्माद में मानव अपनी मानवता गवाँ बैठता है। उनकी देह मे सिहरन दौड़ गई। मानस पटल पर दृश्य साकार हो उठा। शराब के छलकते जामो की झनकार में दासो की देह पर बरस रहे कोड़ो की विलय होती सीत्कार। आखिर उस दिन वह बेचारा प्राण छोड़ ही बैठा।

अमीरी और गरीबी, सुख और दुःख के प्रचलित पर्याय । न न वह होठो ही होठो में बुद-बुदा उठे । उफ ! कितना भ्रम है । सारा खेल तो मन का है । मन की सुगढ़ता सुख है और इसी की अनगढ़ता दुःख, जैसे वह अपने आप से कहने लगे मन की समस्याएँ मन के समाधान । लोकमन के अनगढ़ होने के कारण ही तो कितना भौंडा, कुरूप, बेडौल होता जा रहा है, लोकजीवन ।

इसी को भव्य और दिव्य बनाने के लिए ही तो..... । हवा के एक तेज झोंके के साथ चिन्तन शृंखला को झटका लगा । अन्तर मे झाँकने की कोशिश कर रही दृष्टि फिर से बाहर लौट आई । प्रहरी की भाँति सीधे तने खड़े पेड़ कभी-कभी हिल डुल कर अपनी सचेतनता का आभास दिला देते थे । नदी अपनी गोद मे तारो को लहरो की प्यार भरी थपकियाँ देकर सुलाने का यत्न कर रही थी । रात्रि के गतिमान-चरण अपनी सघनता की ओर बढ़ रहे थे ।

वह उठा, नपे-तुले कदमो से अपनी झोपड़ी की ओर चलने लगा । कितनी खट्टी-मीठी स्मृतियो की साक्षी बनी है यह । जब उसने लोकसेवा के लिये, जन-मन को जीवन बोध कराने के लिए वैभव के किले से अपने पैर बाहर निकाले, सुवर्ण की अर्गलाएँ तोड़ी तब सभी तो विरोधी थे, हर कोई उसे मूर्ख कहता था । अभी ही कौन से कम है ? सोचते-सोचते पैर को ठोकर लगी झुक कर नीचे की ओर देखा एक पत्थर का टुकड़ा था । सँभलकर दोनो हाथो से उठा, एक ओर फेंक दिया । पैर फिर बढ़ने लगे । दिव्य-जीवन की राह मे भी तो इसी तरह अवरोध है । इन अवरोधो से कैसे बचा जाय ? सँभल कर कैसे बढ़े जीवनोद्देश्य की ओर ? इसी के लिए तो उसने नक्शा तैयार किया है । आज ही तो उसकी समाप्ति हुई है । भले ही उसका स्वरूप काव्य हो पर यथार्थ मे वह दिव्य जीवन का नक्शा है ।

झोपड़ी आ चुकी थी । आहिस्ते से द्वार खोला । दीपक की पतली लौ अन्दर के तम से एकाकी जूझ रही थी । भले वह दुर्बल हो, कमजोर हो किन्तु उसकी लगन, निष्ठा के सामने चारो ओर पसरा हुआ अँधेरा हारने को मजबूर हो रहा था । आँखों की पुतलियाँ इधर से उधर हुईं । पैनी दृष्टि ने कुछ भाँपने की कोशिश की । शायद कोई आया है सामान की बेतरतीबी से ऐसा कुछ लग रहा था । अभी वह कुछ और सोचते कि पीछे से किसी ने वार करने का प्रयास किया । दीपक के प्रकाश मे उसकी हिलती-डुलती छाया दिखी । उन्होने झुक कर वार बचाया और पीछे मुड़ कर उसके हाथ पकड़ लिये ।

यह सब एक क्षण मे बिजली की तेजी से हुआ । वार करने वाला हतप्रभ था । हाथ का गँडासा छीन कर उसे रोशनी में लाते हुए पूछा 'तुम कौन हो भाई । मैने तुम्हारा बिगाड़ा है, जो मुझे मारने की कोशिश कर रहे थे मुझे मार डालने से तुम्हें मिलेगा भी क्या ? कुछ माल पत्त मेरे पास है नही ।''

सुनने वाला मौन हो टुकुर-टुकुर उनकी ओर देखे रहा था । शायद उसका प्रयत्न उनका चेहरा पढ़ने का ह अथवा यह सोच रहा हो कि अब क्या होगा मेरा ।

"बताते क्यो नहीं ? मुझे अपना मित्र समझो । कुछ परेशानी, समस्या हो तो निःसंकोच कहो ।'' वाणी में मधुरता थी, प्यार छलक रहा था ।

व्यवहार की इस मधुरता ने उस मे आत्म-ग्लानि भर दी । स्वपरिताप से आँखो से आँसू छलक पड़े । सिसकते हुए बोला "आप से मेरा कोई वैर नही । मुझे तो फ्लोरेस की साहित्यिक-सभा के अध्यक्ष ने भेजा था । उसके आदेश के मुताबिक आपको मार कर कोई एक किताब चुरानी जिसे आपने लिखा है ।'' "ओह"! सुनकर उन्होने गह श्वास ली । 'यही है पाण्डित्य, यही है विद्वता जिसका एव ही काम बचा है कि अपने अहंकार के पत्थरो से लोकहित को कैसे कुचले । विद्वता विभूति है, जब वह अपने को जनहिताय समर्पित करे और दुर्भाग्य है तब जबकि इस मे आड़े आये ।''

"तुम जानते हो वह किताब कैसी है ।''

"न ।''

"अच्छा, तुम्हे उसका एक अंश सुनाता हूँ । सुनकर निर्णय करना ।'' कहकर कपड़े मे लिपटी एक हस्तलिखित पोथी उठाई । उसके कुछ पन्ने पलट कर दीपक के प्रकाश मे पढ़ना शुरू किया । लोकभाषा का माधुर्य हृदय की गहराइयो से निकला काव्य-रचनाकार की वाणी से झरने लगा ।

सुनने वाला निस्तब्ध था । "इतनी अच्छी बाते । रोजमर्रा के जीवन से लेकर आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक का इतना मर्मस्पर्शी मार्गदर्शन । ऐसी कृति को नष्ट करने चला था वह ।'' अन्तरात्मा धिक्कार उठी । अनजाने मे कितना बड़ा अपराध हो जाता सोचकर वह सिहर उठा ।

काव्य-पाठ चलता रहा । भावो के मोती झरते रहे साथ ही कहने और सुनने वालो के अश्रुबिन्दु । पता नहीं कितनी देर तक यह क्रम चला । बन्द होने के साथ ही एक अन्य व्यक्ति ने अन्दर प्रवेश किया ।

"अरे तुम कब आये"! रचनाकार ने बड़ी तत्परता के साथ उसे गले से लगा लिया ।

"मैने सुना था कि तुमने लैटिन को छोड़कर लोक भाषा मे कोई काव्य लिखा है, पर उसमे इतना अकल्पनीय सौन्दर्य होगा, इतना सार्थक जीवन बोध होगा, ऐसी कल्पना नहीं थी ।''

"तो तुम भी सुन रहे थे ।'' अपने बाल मित्र की ओर आश्चर्य से देखा ।''

"हाँ बाहर खड़े होकर ।''

पर इतनी रात क्रो कैसे? "लैटिन के पण्डितो ने, साहित्यकारो ने आज की रात तुम्हे समाप्त करने की योजना बनाई थी"

उन मूर्खों को क्या पता साहित्य का मर्म ।

कहते हुए आगन्तुक ने मुँह बिचकाया ।

कुछ ही क्षणों के वार्तालाप में सारी बात स्पष्ट हो गई । "सच कहते हो मित्र ! यथार्थ में साहित्य दिव्य-जीवन का मानचित्र है । जो कलात्मक ढंग से सीधे-सच्चे सुखप्रद जीवन की राहे सुझाता है । इसकी सार्थकता तभी है जब सभी समझे । ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि यह सहज, सरल, सुबोध और भावों से ओतप्रोत हो, ताकि सरलता से ग्राह्य हो । यही मैने किया है ।" बात पूरी करते हुए एक बारगी दोनो की ओर देखा ।

"तुम पूर्णतया सफल हो । अपने अहंकार का ढोल बजाने वाले ये पण्डित क्या समझेगे इन चीजों को ।"

"इस लोकभाषा को क्या नाम दोगे ?"

इटली की है इसलिए 'इतालवी' ।

ठीक बिल्कुल ठीक ।

"कल से हम दोनो गाँव-गाँव पहुँच कर औरो को लेकर तुम्हारा यह मानचित्र समझाएँगे, डिवाइन कमेडी गाएँगे ।"

वह किन्ही भावों मे डूबने लगे । डिवाइन कमेडी के रूप मे दिव्य-जीवन का मानचित्र बनाने वाले रचनाकार थे दाँते । जिन्हे न केवल इटैलियन के जनक के रूप मे बल्कि दिव्य-जीवन के पथ-प्रदर्शन के रूप मे समूचा इटली २२ मई को याद करता है । ७०० वर्ष बीत जाने पर आज भी लगभग उनकी लिखी एक लाख प्रतियो को प्रति वर्ष लोग खरीदते है ।

भारतीयता के परिवेश मे युग-साहित्य के रूप मे ऐसे ही मानचित्रो का सृजन हुआ है, जिसके सहारे हमारे अपने कदम सही राह पर बढ़ सके । गहराई से पहचाने इन नक्शो को और गति दे अपने रुके पाँवो को ।

साहित्यिक प्रतिभा के धनी डॉ. धीरेन्द्र वर्मा

प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना हुए अधिक समय नही हुआ था । आरम्भ मे हिन्दी का अध्यापन नहीं होता था । इसका कारण था योग्य अध्यापक का अभाव । विश्वविद्यालय के संस्थापको ने इस संस्थान को अपूर्व एवं असाधारण शिक्षण-संस्थान का रूप देना चाहा था । उस समय विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे डॉक्टर गंगानाथ झा । उनके सम्पर्क मे आये म्योर सेण्ट्रल कॉलेज से स्नातकोत्तर शिक्षण प्राप्त कर चुके डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा । सत्ताईस वर्ष के इस तरुण ने संस्कृत ग्रुप से एम.ए. डी-लिट् किया था । डॉक्टर झा को वर्मा जी प्रतिभाशाली युवक दिखाई पड़े और उन्होंने इनको 'लेक्चरर पद' सौंपा ।

कॉलेज में हिन्दी की कक्षाएँ आरम्भ हो गयी । डॉक्टर वर्मा ने इस उत्तरदायित्व पद को अपना सौभाग्य समझा और बड़े लगन के साथ इस कार्य मे जुट गये । और जब तक इस पद पर रहे पूरी तत्परता के साथ अपना कर्तव्य निभाते रहे ।

डॉक्टर वर्मा के प्रारम्भिक जीवन में ऐसी कोई विशेषता नहीं दिखाई दी जिसके कारण यह कहा जा सके कि वे आगे के जीवन मे कोई महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित कर सकेंगे । धीरे-धीरे उनकी अन्तर्निहित प्रतिभा विकसित होती गयी । जिसे देखकर विश्वास करना ही पड़ता है कि प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त एक ऐसा उपहार है जो हर व्यक्ति को, उसने बिना किसी भेदभाव रखे बाँटा है । अब यह उस व्यक्ति पर निर्भर है कि उस क्षमता का विकास उपलब्ध परिस्थितियों मे, चाहे वे अनुकूल रही हो या प्रतिकूल, किस प्रकार कर लेता है । उनका जन्म बरेली के निकट एक छोटे से कस्बे मे हुआ । उनके पिता खान चन्द्र प्रख्यात आर्य समाजी नेता तथा ओवरसियर थे । पैतृक परम्परा में जमींदारी मिली थी । सम्पन्नता, समाज सुधार और धर्मनिष्ठा उन्हे विरासत में मिली थी । प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के बाद उन्हे देहरादून के डी. ए. वी. कॉलेज मे भर्ती कराया । परन्तु, कुछ ही दिनो बाद वे अपने पिता के पास चले आये और लखनऊ के क्वीन्स कॉलेज में भर्ती हो गये । प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होकर वे इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज मे भर्ती हो गये ।

यहीं पर उनका साहित्यकार जागा । यह बड़ा ही सुखद संयोग रहा कि उनके सभी सहपाठी आगे चलकर अच्छे साहित्यकार और विशिष्ट प्रतिभाशाली सिद्ध हुए । आचार्य नरेन्द्रदेव, सुमित्रानन्दनपंत, पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र, बाबूराम सक्सेना और परशुराम चतुर्वेदी आदि विभूतियाँ उनके प्रमुख साथियो मे रहीं ।

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर अद्वितीय शोधकार्य किया । मौन साधक की तरह उन्होंने जो कुछ भी किया उसकी प्रशस्ति, प्रशंसा एवं आलोचना के सभी विभिन्न अवसरो पर उन्होंने कभी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की । उनका व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा का अद्भुत समन्वय था । सार्वजनिक मन्चो पर अत्यन्त मितभाषी, साहित्य के अनुसंधान में तल्लीन, शैक्षणिक प्रशासन में अत्यन्त दृढ़ निश्चयवान, फिर भी व्यक्तित्व और वेशभूषा से अति सादगी प्रिय । आरम्भ में कोई नया व्यक्ति उनके बाहरी कलेवर को देखकर उनके सम्बन्ध में कोई धारणा कायम करता तो यही सोचता कि धीरेन्द्र वर्मा पुरातन प्रिय हैं । फिर धीरे-धीरे उनके सम्पर्क मे आता तो यह विश्वास करने लगता कि वे नये विचारो और नयी प्रवृत्तियो के प्रति बहुत जागरूक हैं । हिन्दी के प्रति उनमें अटूट स्वाभिमान भरा था । वे हिन्दी-साहित्य एवं समाज की प्रगति के विकास के लिए बड़े ही चिन्तनशील

थे । उनके हजारों निष्ठावान शिष्य देश भी में हिन्दी सेवा में निरत है । इस संख्या में उनसे विद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र भी हैं तथा उनके जीवन एवं कृतित्व से प्रभावित होने वाले, प्रेरणा ग्रहण करने वाले साहित्य-आराधक भी ।

प्रशासन मे ही नहीं व्यक्तिगत जीवन में भी डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा अनुशासन प्रिय रहे हैं । स्वयं उन्होंने अपने तक को कठोर नियमो से बाँध रखा, कड़ी मर्यादाओं का पालन किया परन्तु बाहर के लोगो को कभी यह अनुभव नहीं होने दिया कि वे अनुशासन लाद रहे हों । फिर भी अनुशासन को अपने प्रभाव एवं कार्यक्षेत्र मे तो उन्होंने कभी भी टूटने नहीं दिया ।

उनके व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता थी उनकी सुरुचि प्रियता । लेखन से लेकर रहन-सहन तक उनकी यह सुरुचि प्रियता हर जगह अभिव्यक्त हुई है । पचास वर्ष पूर्व लिखे गये उनके पत्र और वृद्धावस्था में उनके द्वारा लिखी गयी चिट्ठियो में कोई अन्तर दिखाई देगा तो वह अक्षरों की बनावट और भाषा शैली मे परिमार्जन ही मालूम देगा । यह नहीं कि जल्दी-जल्दी मे या वृद्धावस्था के कारण वे घसीट कर कुछ लिख गये हों । छोटे खूबसूरत अक्षरों मे उनकी चिट्ठियाँ पर्याप्त मार्जिन छोड़कर लिखी जाती थीं । पत्रों में किसी भी व्यक्ति का उल्लेख आने पर 'श्री' 'जी' आदि शिष्ट एवं सम्मान-सूचक शब्दों का प्रयोग वे कभी नहीं भूले ।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा को भाषा-विज्ञान के उच्च अध्ययन हेतु सन् १९३४ में पेरिस भेजा गया । वहाँ प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री जूलब्लाख के निर्देशन मे पेरिस विश्वविद्यालय से 'डाक्टर ऑफ लिटरेचर' की डिग्री प्राप्त की और हिन्दी विभाग के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी अकादमी के बहुत दिनो तक मन्त्री रहे, वहीं वे 'लिग्युस्टिक-सोसायटी ऑफ इण्डिया' के अध्यक्ष पद पर भी बहुत दिनो तक कार्य करते रहे ।

वे प्रायः अपना सारा काम अपने ही हाथो से कर लिया करते थे । किसी भी आवश्यकता के लिए वे दूसरे का मुँह नहीं ताकते । विलासिता का उन्हे स्पर्श तक नहीं हो पाया था । इस सिद्धि का सबसे बड़ा कारण यही है कि दैनंदिन जीवन मे स्वावलम्बी रहते हुए दूसरो की अनावश्यक सहायता किसी भी स्थिति मे उन्हे स्वीकार नहीं थी । डॉक्टर वर्मा ने इसी सिद्धान्त के आधार पर सादा जीवन उच्च-विचार की मन्त्रसिद्धि प्राप्त की थी । एक बार उनके कार्यालय में बिजली चली गयी । स्टाफ के सभी सदस्य बड़े परेशान हुए । कुछ ने तो कूलर के अभ्यास होने के कारण चपरासी को पंखा झलने के लिये कह दिया । एक अधिकारी ने डॉक्टर साहब को हवा करने के लिए दूसरे चपरासी को उधर भेजा । परन्तु डाक्टर साहब ने उसे वापस जाने के लिए कह दिया । उनके व्यक्तित्व की महानता का बोध कराने वाली अनेकानेक घटनाएँ उनके परिचितों को याद है ।

सन् १९५९ में वे हिन्दी-विश्व-कोष के प्रधान सम्पादक नियुक्त किये गये । वर्मा जी के सम्पादन में निकला यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य-निधि है, उनकी अन्य कतिपय विख्यात कृतियाँ हैं । ब्रज-भाषा व्याकरण, अष्टछाप, मेरी कालेज डायरी, मध्य प्रदेश, ब्रजभाषा, ग्रामीण हिन्दी, हिन्दी-राष्ट्र, यूरोप के पत्र । इन कृतियों में अधिकांश रचनाएँ शोध-साहित्य है । भुक्तभोगी ही जानते है कि शोध-प्रबंध लिखना कितने परिश्रम का काम है ।

हिन्दी-विश्वकोष का सम्पादन करने के बाद वे पं. द्वारिकाप्रसाद मिश्र के विशेष अनुरोध पर मध्य-प्रदेश गये तथा क्रमशः सागर विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान के व्याख्याता एवं जबलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे । इधर कुछ वर्षों से उनका स्वास्थ्य खराब रहने लगा । २३ अप्रैल, १९७३ को उनका देहांत हो गया ।

उन्होंने हिन्दी-साहित्य के विकास मे जो योगदान दिया तथा सृजन के जो द्वार खोले वे उन्हें चिरस्मरणीय बनाये रहेंगे ।

असम के कका देउसा— श्री नीलमणि फुकन

असम के लोकमान्य और राजमान्य कवि-शिरोमणि 'वाग्मीवर' श्री नीलमणि फुकन, जिन्हें असम के सारे परिचित लोग कका देउसा (दादा) कहते है । असम के पितामह माने जाते हैं ।

कका का जन्म १८८० में असम के एक सम्पन्न और सनातन हिन्दू-परिवार मे हुआ । उनके दादा संस्कृत के पंडित और एक बड़े सरकारी अधिकारी थे । लेकिन बाद में कका के पिता जी की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं रही थी । कका कहते हैं—"यद्यपि पिताजी के काल मे सम्पत्ति नहीं रही । फिर भी मैने दारिद्र का कभी अनुभव नहीं किया, क्योंकि मेरी बहिनो ने मुझे बड़े लाड़-प्यार से रखा ।" पिताजी आचरणनिष्ठ थे, सो प्रातः स्नान, पूजापाठ करना आदि संस्कार कका को बचपन से ही मिले थे। बाजार जाना, गाय की सेवा करना आदि कार्यों में भी हाथ बँटाना पड़ता था । इतना सब करते हुए भी उन्होंने स्कूल व कालेज मे अपनी प्रथम श्रेणी कभी खोई नहीं ।

विद्यार्थी जीवन में ही लो. तिलक, गोखले, रानाडे, लाला लाजपतराय, अरविंदघोष आदि की जीवनियाँ पढ़ने में आई और कका के बालपन पर देश-सेवा के संस्कार उभरने लगे । उस समय यह भी अनुभव हुआ कि असम अभी बहुत पिछड़ा हुआ है और राजनैतिक क्षेत्र मे असम को धीरे-धीरे आगे ले जाने की कोशिश हो रही है । लेकिन 'असमिया भाषा' साहित्य क्षेत्र मे पिछड़ी है, इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया है । उनके मन मे मातृभाषा की सेवा करने की उत्कंठा जागी । मन मे प्रतिज्ञा हो गई ।

कलकत्ता से बी.ए. करने के बाद कका ने वकीली का अध्ययन शुरू किया लेकिन वकीली की दूसरी परीक्षा मे उत्तीर्ण न हो सके, क्योंकि उसी समय उनके जन्म-स्थान डिब्रूगढ में एक पाठशाला की स्थापना हुई थी और उसके प्राचार्य पद का भार कका को सौंपा गया था। वहीं उनके जीवन-वृक्ष पर जाग्रति की पत्तियाँ फूट निकलीं। १९१४ में पहला विश्वयुद्ध छिड़ा और पाठशाला को मिलने वाली सरकारी सहायता बन्द हो गई। अब क्या करें ? उन्हीं दिनों नीग्रो शिक्षाविद् बुकरटी-वाशिंगटन की कहानी पढ़ने में आई, उससे साहस बढ़ा। उधर गोखले की 'डेक्कन एजुकेशन सोसायटी' की कहानियाँ भी अनुप्राणित करने लगीं। कका ने वकीली की परीक्षा का विचार छोड़ दिया और शिक्षा क्षेत्र मे कार्य करने का निश्चय किया। इस प्रेरणा ने कका को कई दिनो तक साइकिल पर घुमाया। छह महीने में १४००० रुपये चन्दा इकट्ठा हुआ, जिससे उस क्षेत्र मे तीस पाठशालाएँ स्थापित की गईं। ये सामान्य पाठशालाएँ नहीं थीं। इनमें प्राण-संचार था। रात मे भी पढ़ाई चलती थी। यहाँ नव-युवकों को गाँधी-विचार की शिक्षा मिलने लगी। पुस्तकों के साथ शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा भी सिखाई गयी।

शिक्षा क्षेत्र ने समाज-सेवा के क्षेत्र मे प्रवेश कराया, नशाबन्दी आन्दोलन मे कका शरीक हुए। असम मे खास कर आदिवासी क्षेत्र में यह एक बड़ी विकट समस्या है। आदिवासी उत्थान के कार्य मे कका लगे रहे। क्या आदिवासी, क्या ब्राह्मण मानव मात्र एक है ? उनकी यह निष्ठा है।

कका नीलमणि जी ८१ वर्ष की उम्र मे भी सतत कार्य में संलग्न रहे। उनका लेखन कार्य भी जारी रहा। शरीर, बुद्धि, मन से पूर्ण स्वस्थ कका मे उम्र का कोई असर नहीं दिखाई देता था। उनमे अद्भुत उत्साह और प्रसन्नता थी। इसका सबसे बड़ा कारण उनका ब्रह्मचर्य था।

कका जहाँ जाते थे वहाँ हँसी का वातावरण खिल उठता था। गम्भीर बीमारी के अधीन होकर एकबार अस्पताल में पड़े थे तब भी उनका हँसना-हँसाना बन्द नहीं था। न उनकी कलम बन्द थी। रुग्ण-शैया पर बैठे-बैठे लेखन कार्य जारी रहता। सेविकाएँ पूछा करतीं—क्या लिख रहे है कका ? वे जवाब देते। दिन भर की तुम्हारी कड़ुवी दवा का कड़ुआपन मिटाने के लिये थोड़ा शहद चख रहा हूँ।

निरभिमानी लोक-सेवक—नारायण बाबू

सन् १९३५ मे पटना मे हुए बिहार-प्रान्तीय-साहित्य सम्मेलन के अवसर पर प्रसिद्ध पत्रकार व साहित्य-सेवी बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक स्थूलकाय सज्जन को तरकारी काटते, भोजन परोसते, हाथ धुलाते व स्टेशन पर विदा करते हुए देखा जो निश्चय ही उनकी भारी भरकम काया पर अनावश्यक बोझ ही था, किन्तु वे सज्जन थे कि हर काम मे ऐसे जुटे हुए थे जैसे उनकी इकलौती कन्या का विवाह हो रहा हो। इनकी इस अतिथि सेवा से प्रभावित हो उन्होंने एक परिचित सज्जन से पूछा-"ये महाशय कौन है ?"

"आप इन्हें नहीं जानते ?" उन्होंने आश्चर्य से उनकी ओर देखा और श्रद्धासिक्त स्वर मे बोले-"ये हमारे नारायण बाबू हैं। कभी दिल्ली में असेम्बली के मेम्बर रहे थे। बिहार मे शिक्षा, ग्राम सुधार और राजनीतिक चेतना जगाने में इन्होंने बहुत काम किया है।"

चतुर्वेदी जी तक उनकी ख्याति तो पहले ही पहुँच चुकी थी अब दर्शन भी हो गये। जैसा सुना था उन्हें वैसा ही पाया निरभिमानी, अपने धन और मान का मिथ्या किये बिना हर काम में आगे रहने वाले, भारतीय-संस्कृति के **'अतिथि देवो भव'** आदर्श को समग्र साकार कर देने वाले नारायण बाबू को देखकर उनका हृदय गदगद हो गया। लोकसेवा को कर्तव्य-भाव से करने वाले ऐसे समाज-सेवियो के आज तो दर्शन ही दुर्लभ हो गये हैं। अब तो भाषण, मालाओं और आत्म-विज्ञापन के बल पर समाज-सेवी बनने की छूत चल रही है। इस हवा को देखकर तो नारायण बाबू जैसे लोगों की स्मृति बरबस उभर आती है, उनके जेहन मे।

नारायण बाबू का जन्म बिहार के एक सामान्य परिवार मे हुआ था। परिवार की स्थिति का सहज अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वे किसी स्कूल में कभी नही पढे। उन्होंने जो कुछ अर्जित, उपार्जित किया अपने परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर। 'परिश्रम वह सुनहरी चाबी है जो किस्मत के द्वार खोल देती हैं' इस अँग्रेजी कहावत के वे साकार प्रतीक थे। परिश्रम से उन्होंने धन भी कमाया। स्वाध्याय, आत्मचिंतन व समग्र तत्परता के द्वारा संसार में बिखरे पड़े मणि-मुक्ताओ से अपना ज्ञान भण्डार विस्तृत करके ही वे सन्तुष्ट नहीं हो गये वरन् उन्होने अपने क्षेत्र में शिक्षा प्रसार व सहयोगी कृषि का अभियान भी चलाया।

उनके अतिथि-सत्कार और भारतीय-संस्कृति के आदर्शों में ढले व्यक्तित्व को देखकर स्व. पद्मसिंह शर्मा उनके बारे मे कहा करते थे—"अगर भारतवर्ष मे कोई संस्कृति *विश्वविद्यालय* खुले तो उन्हे उसका उपकुलपति *बनाया जाना* चाहिए।" तभी तो वे सामान्य स्थिति से ऊपर उठकर एसेम्बली के मेम्बर हो जाने पर भी वैसे ही विनम्र रहे और दुर्योधन के राजसूय यज्ञ मे कोषाधिकारी बनने की बजाय उन्होंने सदा श्रीकृष्ण की तरह पाँव धोने जैसे कामो मे ही अपना बड़प्पन समझा।

युवावस्था मे ही अपनी आर्थिक व बौद्धिक नींव सुदृढ करके वे अपने क्षेत्र मे शिक्षा का प्रसार करने की ओर उन्मुख हुए। उन्होने जो कुछ पढ़ा था उसे गुना भी था और गुनकर जीवन में चरितार्थ भी किया था। अत: स्वयं किसी स्कूल में नहीं पढ़े होने पर भी वे अपने सद्प्रयासों से स्थापित गोरैया कोठी के हाईस्कूल के विद्यार्थियो के लिये अपने व्यक्तित्व के बल पर श्रद्धा व सम्मान के पात्र बने रहे।

अपने ग्राम गोरैया कोठी में उन्होंने एक हाईस्कूल खोला। उसमे पढ़ने वाले छात्रों की पढ़ाई के साथ-साथ वे चरित्र-निर्माण पर भी पूरा-पूरा ध्यान देते थे। और यही कारण था कि उस स्कूल से निकले हुए छात्र बिहार के भिन्न-भिन्न जिलो में उच्च पदो पर आसीन हुए।

युवको के निर्माण के लिये अपने क्षेत्र में शिक्षणालय खोलने के लिये उन्होंने क्षेत्र में दौरा किया। उनकी प्रेरणा से कई विद्यालय खुले। उन विद्यालयों मे शिक्षा के साथ चरित्र-निर्माण पर भी पूरा ध्यान दिये जाने पर उन्होंने बल दिया। अपने व्यस्त-कार्यक्रमों में से समय निकाल कर उनकी व्यवस्था भी देखते थे।

किसानों की आर्थिक-दशा सुधारने के लिये उन्होंने अपने गाँव के किसानों को सामूहिक कृषि का सुझाव दिया। किसान उनकी इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं हुए। बड़े समझाने-बुझाने और हानि होने पर भरसक सहायता देने का वचन देने पर कहीं वे सामूहिकता का लाभ उठाने को तैयार हुए। पहले ही वर्ष उन्हें सामूहिक खेती में ड्योढ़ा लाभ हुआ तो उनकी योजना चल निकली। धीरे-धीरे इस ग्राम के किसानों की सफलता व नारायण बाबू के प्रचार के कारण कई अन्य गाँवो मे भी सामूहिक कृषि का प्रचार बढ़ा।

असहयोग-आन्दोलन के समय बिहार में राजनैतिक जाग्रति लाने वाले लोगो मे भी वे अग्रिम पंक्ति में रहे। उनके सम्बन्ध में स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है—

"बाबू नारायण प्रसाद एक सज्जन पुरुष थे, जिनके उच्च कोटि के रचनात्मक कार्यों से सर्वसाधारण का स्थायी हित हुआ। असहयोग-आन्दोलन के आरम्भ होते ही बिहार में अभूतपूर्व जाग्रति उत्पन्न हो गयी थी, उसमे नारायण बाबू की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण रही थी। उन दिनो नारायण बाबू ने गोरैया कोठी मे एक हाईस्कूल खोला, जो अब तक आसपास की जनता की प्रशंसनीय सेवा कर रहा है। उस संस्था ने देश को कितने ही अच्छे कार्यकर्ता प्रदान किये है। कॉंग्रेस क्षेत्र मे और प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा सभाओ मे नारायणबाबू ने जो कार्य किये थे उनके अतिरिक्त एक समाजोपयोगी काम उन्होंने यह भी किया कि अपने ग्राम में तथा अपने आसपास के गाँवों में सहयोगी कृषि की नीव डाली। अवश्य ही उनका कार्य प्रयोग अवस्था मे था, फिर भी उसकी जो रिपोर्ट वे मुझे समय-समय पर भेजते रहते थे उससे यही प्रतीत होता था कि उन्हें सफलता मिल रही है। अन्तिम दिनो तक वे उसी में लगे रहे।"

नारायणबाबू लेखक भी बने और पत्रकार भी। उन्होंने 'योगी' नामक एक पत्र भी निकाला जिसे वे स्वयं लिखते थे। उनके पत्र प्रकाशन और लेखन के पीछे एक ही उद्देश्य था। वह था जन जाग्रति। सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राजनैतिक जाग्रति ही उनका आजीवन ध्येय रहा। उन्होंने ठोस कार्य किये किन्तु उसका श्रेय स्वयं न लेने की स्वाभाविक सज्जनोचित उदारता के कारण उनके कार्यों के सम्बन्ध में कोई प्रचार उन्होंने पसन्द नहीं किया।

सन् १९५० में उनका देहावसान हो गया। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक लोकसेवा के कठिन व्रत का पालन करते रहे। आज ऐसे ही नेताओं की आवश्यकता है जो मान-सम्मान से विलग हो, क्षेत्रों में कार्य कर सकें। तभी हमारा देश प्रगति कर सकता है।

लोकशिक्षक, समाजसेवी पत्रकार—नारायण परूलेकर

कॉलेज की उच्च-कक्षा में पढ़ने वाला एक युवक पूना में दैनिक 'सकाल' के कार्यालय में फर्श झाड़ रहा था। उसका एक सहपाठी अपना कोई लेख देने वहाँ आया। छोटे काम को हीनता की दृष्टि से देखने की हमारी स्वाभाविक कमजोरी ने उस फर्श झाड़ते युवक को हीनता ने व्यस्त सा कर दिया। वह झेंप गया। यह बात पत्र के सम्पादक से छिपी न रह सकी। व्यक्ति पर चढ़कर उसके व्यक्तित्व को धूमिल कर देने वाले इस हीनता के बोध और छोटे काम मानने की गर्व को झाड़ देना ही उचित समझा। विद्यार्थी को अपने पास बुलाकर उन्होंने समझाया।

"मैंने अमेरिका में पढ़ते समय छोटे मजदूरी के काम करके अपना खर्च चलाया है। तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है कि एक सज्जन मेरे ही लिखे लेख की प्रशंसा कर रहे थे और मैं उसी रेस्तरां में झूठी रकाबियाँ धोता हुआ उसे सुन रहा था। तुम्हें इसमें शर्माना नहीं चाहिए। काम करने वालो को नहीं निकम्मो को शर्माना चाहिए।"

सच में, उक्त सम्पादक श्रीनारायण राव परूलेकर की प्रगति की गाड़ी ऐसी ही टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों से गुजरते हुए अपने भव्यतम लक्ष्य तक पहुँची थी। बेलगाम जिले के एक छोटे से गाँव के निर्धन परिवार का यह छोटा सा बालक अपने गाँव की पाठशाला मे प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर उच्च-शिक्षण की अदम्य आकांक्षा की डोर से बँधा विद्या-नगर पूना के लिये चल पड़ा। तेरह वर्ष की आयु मे, जेब में मात्र एक रुपया लेकर जो रास्ते मे होने वाले भोजन व्यय के लिये भी पर्याप्त नहीं था। पैदल ही वह बेलगाम के उस छोटे से गाँव से पूना पहुँचा।

यहाँ वह दिन भर स्कूलों व हेडमास्टरो के घरों के चक्कर लगाता और रात्रि को किसी मंदिर का आश्रय खोज, पड़ा रहता। कई लम्बे कष्टपूर्ण दिन बिताने पर एक दिन इस रत्न का एक पारखी मिल गया। प्रसिद्ध शिक्षाविद श्रीबालूकान्ता निरंकार के रूप में उन्होंने बालक को अपने घर में आश्रय दे दिया। फिर उन्होंने अपने मित्रो के सहयोग से एक अनाथाश्रम खोला तो नारायण राव को वहाँ रख दिया। मधुकरी करते हुए विद्यार्थीगणों को विद्योपार्जन करना वहाँ का क्रम था जिसे उसे भी निभाना था।

इसी बालक ने 'विद्यार्थी' नामक मासिक हस्तलिखित पत्रिका प्रकाशित की। यह भावी पत्रकारिता का शुभारम्भ था। यह अध्ययनशील, जिज्ञासु विद्यार्थी पूना कालेज में अध्ययन करके बी. ए. ऑनर्स और एम. ए. कर चुकने पर अपने उस अनाथ विद्यार्थी गृह में थोड़े दिन अध्यापक रहा जहाँ कभी वह स्वयं रहता था।

पढ़ते हुए दत्तो वामन पोतदार और रामभाऊ रानाडे जैसे मूर्धन्य विद्वानो के सम्पर्क मे आकर उसकी ज्ञान पिपासा और बढ़ी जिसे जब अनन्त शिवाजी देसाई फर्म व उद्योगपति प्रताप सेठ का आर्थिक सहयोग मिला तो वह पिपासा उसे अमेरिका खींच ले गयी। वहाँ न्यूयार्क के विश्व विख्यात कोलम्बिया विश्वविद्यालय से उन्होने दर्शन शास्त्र, समाज शास्त्र व पत्रकारिता में एम. ए. किया।

अमेरिका-प्रवास मे वे समाचार-पत्रों द्वारा होने वाले महत्वपूर्ण कार्य की महत्ता समझ चुके थे। मेरे देश में भी पत्र जनजागरण व लोक-शिक्षण का महत्वपूर्ण कार्य कर सकते है, यह जानकर उन्होने निश्चय किया कि वे भारत आकार पत्र निकालेंगे। अमेरिका मे ही वे समाचार पत्रों के लिये लेख लिखकर सम्मानित हो चुके थे।

लौटते समय वे योरोपीय देशो को देखते हुए आये। फ्रेंच सीखने की लालसा से वे फ्रांस रुके। फ्रेंच भी सीखी और वहीं की एक विदुषी कन्या से विवाह भी रचाया। कुमारी जेन बीच पामर उनके सम्पर्क मे आकर उनकी ही हो गयी और शान्ताबाई परूलेकर बनकर उनके साथ भारत आयी। वे जब भारत लौटे तब तक 'न्यूयार्क वर्ल्ड''ले मोद' 'फेशिस्ते जायतुंग' आदि अमेरिकी, फ्रांसिसी पत्रो के संवाददाता और प्रतिनिधि बन चुके थे।

योरोप जाकर भी वे अपनी भारतीय परम्परा व भारतीय आदर्शों को नहीं भूल थे। वहाँ उन्होंने सदा शाकाहारी सात्विक आहार ही लिया। वे अपने देश नहीं लौटते और वहीं अपनी सम्मानित डिग्रियों व पत्रकारिता की प्रतिभा के बल पर धन व सुख सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकते थे किन्तु उन्हे अपने समाज का, अपने देश का और उस ऋण का ध्यान था, कि वहाँ के विद्वज्जनों ने उन्हें कितना ज्ञानदान किया था, कितना जनता ने आर्थिक सहयोग दिया था ? भला वे कैसे उस ऋण से उऋण होना अस्वीकार कर देते ?

स्वतन्त्र प्रज्ञा, भारतीय आदर्श व देश-भक्ति-सम्पन्न सह भारती का वरदपुत्र स्वदेश लौटा तो पूना के रूढ़िवादी संकीर्णमना समाज ने उनका घोर विरोध किया क्योंकि वह एक विदेशी इतर धर्मावलम्बी पिता की पुत्री को अपनी पत्नी बना लाया था। किन्तु, इन विरोधो का डट कर सामना करने की क्षमता भी उन्होने अपने में विकसित कर ली थी।

यहाँ उन्होने पत्रकारिता के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी, साहसिक कदम उठाये। अल्प पूँजी व साधनों से उन्होने लोक-शिक्षण व जन-जागरण के लिये पूना से मराठी दैनिक 'सकाल' का प्रकाशन आरम्भ किया।

सकाल को उन्होने अब तक चली आ रही पत्रकारिता की नीतियों से विपरीत एक वर्ग विशेष तक ही सीमित नहीं रखकर जन-सामान्य का पत्र बनाया, जो मजदूर की झोपड़ी से लेकर राजा की कोठी तक पहुँच सके और समान रूप से लोकप्रिय हो। सकाल की भाषा इतनी सरल और सटीक थी कि उसे ताँगा हाँकने वाला भी समझ ले। जन-सामान्य में अपने पत्र की पहुँच बनाने के लिए उन्होने कुछ प्रयोग भी किये। उन्होने अपने पत्र को चुनने के लिये एक प्रतियोगिता का आयोजन भी किया, जिसे लेकर कई सम्पादकों ने उनका मजाक भी उड़ाया। किन्तु 'सकाल' की प्रगति ने उनके मिथ्यात्व को उजागर करके रख दिया। सम्पादकीय मे भाषण न देकर वे विवेचनात्मक जानकारी दिया करते थे। समाचार-पत्रों के समाचार को नेताओ के विवरण तक ही सीमित न रखकर उसमे जन-सामान्य को स्थान मिला। संवाददाताओं द्वारा प्राप्त अधिक तथ्यपूर्ण तथा समाचारो के प्रकाशन को अधिक महत्व दिया गया।

पूना का संकीर्ण-समाज पहले ही उनके दाम्पत्य सम्बन्ध को लेकर रूठा था। विज्ञापन नहीं मिलते थे। फिर भी 'सकाल' बढ़ता ही गया। जनता की बात, जनता का दुःख-दर्द और जनता की समस्याओं का समभागी सकाल जनता की आवाज बनकर पालिकाओं व सरकारो की कार्य-पद्धति में सुधार करने में भी समर्थ हुआ। अकाल के समय जन-जीवन व पशु-धन की रक्षा की जो व्यावहारिक योजनाएँ 'सकाल' ने प्रस्तुत कीं वे सरकार व जनता दोनों को ग्राह्य हुई।

देखते ही देखते उन्होने सिद्धहस्त सम्पादकों को व उनके पत्र ने समर्थ-पत्रों को पीछे छोड़ दिया। वे सैद्धांतिक व व्यावसायिक दोनों पक्षो से सफल रहे। ढाईवर्ष में ही 'सकाल' आयातित रोटेरी मशीन पर छपने लगा, फिर दूसरी तेज रोटेरी मशीन मँगाई गयी, ब्लाक विधि मे परिवर्तन हुआ। बिजली की अव्यवस्था देखकर पत्र का अपना जनरेटर लगा। विज्ञापन भी खूब आने लगे क्योंकि वे इसके लिये सरकार व बड़े संस्थानो पर ही निर्भर नहीं रहे। यही नही परूलेकर ने अपनी टाइप फाउंड्री भी खोल ली और विदेशी मिलों से सीधा कागज मँगवाकर आर्थिक-व्यवस्था सुदृढ़ कर ली।

थोड़े ही दिनो में 'सकाल' आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़, लोकप्रिय और विशाल पाठक समुदाय वाला समाचार पत्र हो गया। अपनी इस सफलता की स्थिति में भी वे उस तेरहवर्ष के निराश्रित बालक के से सरल, निस्पृह और विनम्र बने रहे। 'प्रभुता पाई मदमत्त' होने की भूल उन्होने कभी नही की। अपने एक मित्र को उन्होने अपनी इस सफलता का रहस्य बताते हुए कहा था "यह सब भगवान का काम है मेरा अपना नहीं। जीवन की रंगभूमि पर जो भूमिका निभाने के लिये भगवान ने मुझे भेजा है, मै अन्तिम श्वांस तक उसके साथ न्याय करने का प्रयास करूँगा।"

सम्पादन, प्रकाशन के साथ ही गरीब विद्यार्थियो व विद्वानो को आर्थिक-सहायता, असहाय व विपन्नो को सहारा, विकसित-साहित्य, कला-सुमनो को प्रोत्साहन, पुरस्कार, मेधावी छात्रो को उच्च्व शिक्षार्थ विदेश भेजने के परोपकारी कार्य भी वे करते रहे थे और वे पत्रकार परूलेकर के साथ ही 'नाना साहेब परूलेकर' भी बन गये । उनका यह दान, अनुष्ठान कुछ इस ढंग से चलता था कि उसे अपना दूसरा हाथ भी नही जान पाता था । जिससे न लेने वाले को कृतज्ञताज्ञापन करना पड़ता, न उनके व्यक्तित्व पर ही अहंकार का मलाक्षेप चढ़ता ।

उन्होने देखा कि गरीब देश भारत के युवक शिक्षा पाने मे आर्थिक दृष्टि से अक्षम होते हुए भी यदि श्रम, सम्मान व अपने संकल्पो की सफलता के लिये धैर्य का अवलम्बन नही छोड़ें तो उन्हे सफलता के पथ से कोई विचलित नही कर सकता । वे स्वयं गरीबी भोग चुके थे और विपन्न परिस्थितियो से जूझते हुए सफलता के शिखर तक पहुँच चुके थे । वैसा ही शिक्षण और अपने अनुभवो का लाभ पहुँचाने के लिये उन्होने अपने कार्यालय मे पढ़ने वाले विद्यार्थियो के लिये ऐसे कार्यों की व्यवस्था की जिससे उनका ज्ञान, योग्यता भी बढ़े और उनका आर्थिक अभाव भी दूर हो जाय । उन्होने सम्पादन, वितरण, व्यवस्था व मुद्रण आदि कामों मे विद्यार्थियो को नियोजित किया । साथ ही ऐसी कई योजनाएँ भी चलाई जिससे साधनविहीन, संकल्पशील विद्यार्थी ज्ञानार्जन कर सके, 'सकाल' कार्यालय तो एक प्रकार से युवको की कर्म-शाला ही बन गया था ।

वे जाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय व प्रदेशवाद की संकीर्णता के कट्टर विरोधी थे । वे अपनी इस विवेकपूर्ण मानवीय आस्थाओ की रक्षा के लिये एक बार अपने पत्र की लोकप्रियता व सम्पदा को भी दाँव पर लगाने से हिचकिचाए नहीं । राज्यो का निर्माण भाषा और प्रदेश की दृष्टि से नही राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से होना चाहिए । अपनी इस नीति पर दृढ़ रहते हुए उन्होने संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन का प्रबल विरोध किया था । इससे उनके पत्र की लोकप्रियता भी घटी लोगों ने उनकी नकली अर्थी निकाली, पुतले जलाये पर वे अविचलित हो अपने सिद्धांत पर डटे रहे । 'सकाल' के कार्यालय पर हुए आक्रमण पर उन्होने अविचलित भाव से कहा था—'लोग चाहे तो 'सकाल' को जला कर राख कर सकते है परन्तु वह अपनी राख मे से भी उठकर खड़ा हो जायेगा क्योंकि वह चिरंतन मूल्य पर आधारित है ।''

यह सिद्धांत-निष्ठा ही उनकी वास्तविक शक्ति थी और सच ही, थोड़े ही दिनों मे सकाल अपनी उसी लोकप्रियता को पाने में सफल रहा । पूना का पावशेत बाँध टूटने पर उन्होने पीड़ितो की भरसक सहायता की । वे प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया के अध्यक्ष भी बनाये गये । दो बार भारत सरकार ने उन्हें 'पद्म भूषण' से अलंकृत किया । ८ जनवरी, १९७३ को ७५ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो जाने पर देश भर के लोग, प्रबुद्ध पत्रकार इस निस्पृह समाज सेवी के चले जाने की वेदना से भर उठे । फिर भी उनके अपने कर्ममय-जीवन-आदर्श के अनुरूप 'सकाल' के सम्पादक व सामान्य कर्मचारी उसी लगन व निष्ठा से काम करते रहे जो उनकी विरासत थी ।

साहित्य सेवियों के निर्माता—पं. पद्मसिंह शर्मा

"आपने जो मुझे लोकोत्तर विरुदावलियों से विभूषित किया है वह केवल आपकी कृपा और दाक्षिण्य का अविकल-प्रमाण है । मैं स्वयं अपने को अत्यन्त अल्पज्ञ मानकर आपकी सहायता का सदैव अभिलाषी हूँ ।" भारत के प्रथम राष्ट्रपति होने का सम्मान पाने वाले नर रत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने १९१० मे बेचू चटर्जी स्ट्रीट कलकत्ता से पं. पद्मसिंह शर्मा को लिखे पत्र का यह अंश इस तथ्य का परिचायक है कि शर्मा जी किस प्रकार प्रतिभाओ को परख कर उन्हे अपनी प्रोत्साहन देने वाली प्रसंशा के द्वारा उनकी प्रगति मे सहायक बनने की कला मे सिद्धहस्त थे ।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद उन्हे श्रद्धेय तथा गुरु तुल्य मानते थे । वे प्रख्यात राजनीतिज्ञ तथा अभिभाषक ही नहीं अच्छे लेखक भी थे । उन्हे अच्छे लेखक बनाने का बहुत कुछ श्रेय उनके लेखन-गुरु पं. पद्मसिंह शर्मा को जाता है ।

शर्मा जी ऐसे नर श्रेष्ठ थे कि वे स्वयं तो पीछे रह जाते किन्तु नई प्रतिभाओ को आगे लाने के लिए प्राणपण से प्रयास करते थे । यही कारण है कि उन्हे हिन्दी के उन्नायको मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा गणेश शंकर विद्यार्थी के समान ही श्रेय व सम्मान मिला है । वे उन्हीं के समकालीन थे । गंगा, जमना व सरस्वती की तरह इन तीनों की जीवन-सरिताओ ने हिन्दी के आँगन को उर्वर बनाया है । पद्मसिंह जी ने सरस्वती की तरह अज्ञात रहकर हिन्दी को कई नये लेखक दे गये ।

उनका सारा जीवन-साहित्य की सेवा में व्यतीत हुआ । उन्होने साहित्य भी सृजा व साहित्यकारो का निर्माण भी किया । साहित्य चर्चा व दूसरों को प्रोत्साहन देने का क्रम उन्होने अविकल रूप से निभाया । वे हिन्दी व संस्कृत के उद्भट विद्वान तो थे ही फारसी व उर्दू के भी पण्डित थे । वे तुलनात्मक आलोचना के प्रवर्तक थे—माने जाते है । उनकी लेखन शैली अनुपम थी ।

उन्होने परिचयहीन रहकर निष्काम-साधना को अधिक महत्व दिया । वे सदा दूसरो की स्मृति के रक्षण के लिए प्रयत्नशील रहे । उनके प्रशसक आज भी अपरिमित सख्या मे है किन्तु उनका अपरिचय आज भी ज्यो का त्यो बना हुआ है । उनके ग्रन्थों के एक से दूसरे संस्करण नहीं छपे है किन्तु उन्होने जो कुछ किया वह भुलाया जाने योग्य नहीं है । उनके लगाए हुए पौधो ने अपनी शीतल छाँव व मधुर फल सम्पदाओं से हिन्दी साहित्य-जगत को अनुप्राणित किया है ।

मौलाना आजाद ने उनके निधन पर जो बात कही थी वह सच ही उनके बारे मे सटीक बैठती है । "आज वह साँचा ही टूट गया जिसमें साहित्य-सेवी ढाले जाते थे ।" उनके देहावसान के साथ ही मार्गदर्शन व प्रोत्साहन देकर साहित्य-सेवी उत्पन्न करने की परम्परा समाप्त ही हो गयी ।

साहित्य एक शस्त्र है, एक सेतु है—जन-मानस के उन्नयन का सुदृढ़ आधार है । शर्मा जी साहित्यकार ही नहीं साहित्य-सेवियों का निर्माण भी करते थे । साहित्य के द्वारा समाज का हित हो यह भावना हृदय मे रखकर साहित्य की निष्काम-भाव से साधना करने का गुरु मन्त्र वे अपने शिष्यो को दिया करते थे । आज वह परम्परा विलुप्त हो जाने से इस विद्या का विनाशकारी प्रयोग भी कम नहीं हो रहा है । जनरुचि व नये प्रयोगों के नाम पर जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें से अधिकांश मनुष्य की विकृतियों का कच्चा चिट्ठा भर है । जिसमें उत्थान व प्रगति का कोई जोश नहीं । वह साहित्य भला जन-जीवन को क्या दिशा दे सकता है ?

पत्र-लेखक के रूप मे उनका मुकाबला हिन्दी साहित्य में कोई नहीं कर सकता । उनके पत्रों मे जो प्रेरणा, जो चुटीलापन व भाषा का सजीव प्रयोग देखने को मिलता है वह अन्यत्र नहीं मिलता । उनके पत्रों के जो संग्रह निकले है निश्चय ही संग्रह करने योग्य हैं ।

रेखाचित्र व संस्मरण इन दो विधाओ का प्रवर्तन हिन्दी में उन्हीं ने किया था । महाकवि अकबर व कविरत्न सत्य नारायण के जो संस्मरण उन्होंने लिखे हैं वे निश्चय ही नये लेखकों को प्रेरणा व प्रकाश देने के लिए पर्याप्त है । उनकी मार्मिकता देखते ही बनती है ।

ब्रज-भाषा के माधुर्य पर वे मुग्ध रहा करते थे । उनकी लिखी हुई बिहारी-सतसई की टीका उनके ब्रज भाषा-प्रेम का अनूठा उदाहरण है । संस्कृत के विद्वान होने के नाते वे देववाणी-संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिए आजीवन संघर्षशील रहे । संस्कृत की उन्होंने पर्याप्त सेवा की ।

प्रशंसा करने व प्रोत्साहन देने में वे सिद्धहस्त थे । उन्होंने अपने इस देवगुण का प्रयोग आत्म-प्रशंसा व व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कदापि नहीं किया । उसका प्रयोग उन्होंने लोकहित मे ही किया । उनकी इस कला पर ऋषीकेश भट्टाचार्य से लेकर, महाकवि शंकर तथा कविरत्न सत्य नारायण तक मुग्ध थे । साथ ही साथ उनके इस महान व्यक्तित्व के कायल भी ।

महाकवि शंकर उनकी पारखी दृष्टि व गुण ग्राहकता पर ध्यान देते थे । वे यही कहा करते थे—"स्वयं को पीछे रखकर किसी को आगे बढ़ा देने की कला कोई शर्मा जी से सीखे । स्वयं चार-चार भाषाओ के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी वे अपनो से कम सामर्थ्यवान की प्रशंसा कर उसे अपने से अधिक यशस्वी बनाने मे पीछे नहीं रहते थे ।" उत्तर प्रदेश के साहित्यकार श्री स्व. श्रीराम शर्मा को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हीं को जाता है ।

उनकी इन साहित्य-सेवाओं को दृष्टिगत रखकर उन्हें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मुजफ्फरपुर मे हुए अधिवेशन में अध्यक्ष पद प्रदान कर सम्मानित किया गया । यह सम्मान उनकी सेवाओं को देखते हुए नगण्य ही कहा जायगा । उन्हें सच्चा सम्मान तो तभी दिया जा सकेगा कि उनके द्वारा निभायी जाती साहित्य-सेवियों की निर्माण करने की परम्परा पुनर्जीवित की जाय ।

उनका सारा जीवन हिन्दी के भण्डार को भरने मे ही व्यतीत हुआ । वे चाहते तो अपनी विद्वता व विभूतियो का स्वहित में उपयोग कर यश व ऐश्वर्य पा सकते थे जैसा कि आज के तथाकथित साहित्यकार कला को वेश्या बनाकर कर रहे है, किन्तु वे इस ब्रह्मराक्षसत्व से बचे रहे और पुण्य-परमार्थ की दिशा में लोकसेवा का लक्ष्य रख चलते रहे । उनकी कीर्ति आज भी अक्षुण्ण है । आगरा स्थित के.एम. मुंशी विद्यापीठ के पुस्तकालय में सुरक्षित उनके पत्र व्यवहार सुरक्षित है । डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा उद्घाटित पद्मसिंह शर्मा कक्ष इसी विद्यापीठ मे अवस्थित है, जो उनके स्मारक के रूप मे साहित्यकारों को साहित्यसेवी बनने व प्रशंसा से दूर रहने के लिए प्रेरित करता रहेगा ।

सृजन और संघर्ष के प्रतिरूप-डा. खानखोजे

महाराष्ट्र के वर्धा जिले के पालक बाड़ी ग्राम के सम्पन्न खान खोजे परिवार का एक सोलह-वर्षीय युवक रात्रि को घर से भाग निकला । दूसरे दिन तो उसका विवाह होने वाला था ।, पर उसने इस विवाह के पहले ही सामान्येतर जीवन-लक्ष्य वरण कर लिया था जिसमे विवाह एक बाधा ही थी । पिता जब समझाने पर नहीं माने तो उसने यही राह चुनी । वह पैदल ही अपने गाँव से हैदराबाद पहुँचा । वहाँ एक समाचार पत्र में अपने पिता द्वारा प्रेषित एक विज्ञापन देखा जिसमे उनसे घर लौटने का आग्रह था और विवाह न करने का आश्वासन भी था । अतः वह घर लौट आया ।

विवाह आवश्यक हो सकता है व्यक्ति के लिये, पर अनिवार्य नहीं । और उसका भी समय होता है । व्यक्ति जब अनुभव करे कि उसे एक जीवन-साथी की आवश्यकता है और वह अपना व उसका भार वहन करने और साथी के प्रति दायित्व-निर्वाह की क्षमता से युक्त है । यह युवक, परतंत्र भारत में पैदा होकर भी स्वतंत्र भारत के सपने देखा करता था और उन्हें साकार करना चाहता था और उन्हे साकार करने मे अपनी समूची सामर्थ्य नियोजित करना चाहता था । अतः उसने अपने पिता की इच्छा का इस प्रकार विरोध किया था ।

यह अपनी धुन का धनी आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी तथा विश्व विख्यात कृषि-विशेषज्ञ के रूप में सम्मानित हुआ । डा. पाण्डुरंगसदाशिवखानखोजे ! यही नाम था उनका, जो

भारत ही नहीं मेक्सिको, ईरान व स्पेन मे भी स्मरणीय बना हुआ है ।

डॉ. खानखोजे का जन्म ७ नवम्बर, १८८४ के दिन और मृत्यु १८ जनवरी, १९६७ के दिन हुई । अपने ८३ वर्ष के जीवन मे वे स्वदेश की स्वतंत्रता और समृद्धि के लिये जो उत्कट भावना लेकर बलिदानी परम्परा का निर्वाह करते रहे थे वह अपने ढंग का एक अनोखा उदाहरण है । व्यक्ति किस प्रकार अपने व्यक्तिगत हितो को राष्ट्रीय और सामाजिक हितो के लिये विसर्जित कर सकता है उसका अनूठा उदाहरण थे डा खानखोजे ।

देशभक्ति और क्रान्ति ये भावनाएँ उनको अपने पितामह से विरासत मे मिली थी । उनके दादा वेकटेशराय खान-खोजे ने १८५७ की क्रान्ति मे भाग लिया था । उनके पोते ने अपने दादा के और अपने उत्सर्ग को अपनी आँखो के आगे सफलीभूत होते देखा था । अठारह-सौ सत्तावन और उन्नीस सौ सैतालीस के बीच नब्बे वर्ष का अन्तर है । उस आरम्भ का अन्त देखने के लिये उनके दादा जीवित न रहे हो पर वे तो रहे थे और उन्होने देखा था कि समाज और राष्ट्र के हित में किया गया कोई भी कार्य निरर्थक नही जाता चाहे उसकी तात्कालिक उपलब्धि कुछ भी नजर न आये ।

अठारह वर्ष की आयु मे मैट्रिक परीक्षा पास करने के बाद ही पाण्डुरंगसदाशिवखानखोजे पारिवारिक मोह बँधनो मे न बँधते हुए भारत भूमि को विदेशी दासता से मुक्त कराने के प्रयत्नो मे जुट गये । उन्होंने क्रातिकारी बांधव समाज नामक एक नवयुवक, संगठन की स्थापना की जिसका उद्देश्य सशस्त्र-क्रान्ति द्वारा भारत को स्वतंत्र कराना था । क्रान्तिकारी-भावनाओ के प्रचार और देश मे फैले हुए क्रान्तिकारी संगठनो को सूत्रबद्ध करके उन्हे सहायता पहुँचाना इनकी अपनी इस इकाई का काम था । खुले रूप से इस दल का कार्य करना सम्भव नही था । अत· पर्वों और त्यौहारो के अवसर पर उसकी गतिविधियाँ गुप्तरूप से संचालित की जाती थी ।

महाराष्ट्र मे यो भी लोकमान्यतिलक के आह्वान पर कितने ही नवयुवकों में देशभक्ति की भावना हिलोरे लेने लगी थी । ऊपर से बंग-भंग को लेकर उत्पन्न हुई जन-चेतना ने भी गजब का काम किया था । युवक खानखोजे भी हवा का रुख पहचान चुके थे । उनके दल की बढती हुई सरगर्मियो का भेद अँग्रेज अधिकारियो को चल गया था । अत: उन्होंने अपना क्षेत्र वर्धा से हटाकर नागपुर बना लिया पर उनकी गतिविधियाँ रुकी नही ।

उनके पिता वकील थे । नागपुर मे चल रही उनकी क्रान्तिकारी-गतिविधियो का ज्ञान सरकार को हो जाने पर उनके पिता को अँग्रेज अधिकारियो ने कड़ी चेतावनी दी कि यदि उनका पुत्र अपनी इन सरकार विरोधी गतिविधियो मे ही लगा रहा तो उसे पकड़कर जेल में ठूँस दिया जायेगा साथ ही उनकी वकालत की सनद भी छीन ली जायेगी ।

उन्होने पुन: पाण्डुरंग को विवाह के बंधनों में बं[illegible] चाहा तो वे घर से भाग निकले । उनका विचार था विदेशो मे रहकर वे भली प्रकार क्रान्ति को बल दे सकें अत· वे एक जहाज मे कुली बनकर सैगोन जा पहुँचे । [illegible] उन्हे चीन के प्रसिद्ध-क्रान्तिकारी सनयात सेन के सम्पर्क आने का अवसर मिला । उन्हीं की सहायता से वे [illegible] शिक्षा पाने के लिये अमेरिका पहुँचे । स्वामी रामतीर्थ [illegible] अमेरिका गये तो उनसे पाण्डुरंगसदाशिवखानखोजे ने सम्[illegible] साधा । स्वामी जी की सहायता से उन्हें [illegible] सैनिक-प्रशिक्षण-संस्थान मे भर्ती होने मे सफलता मिली उन्होने वहाँ से सैनिक शिक्षण पूरा किया ।

विदेशो मे रहकर भारत को आजादी दिलाने के लि[illegible] भरसकप्रयास करने वालों मे उनकी भी मुख्य रूप से गण[illegible] होती है । पाण्डुरंगसदाशिवखानखोजे ने केलिफोर्निया [illegible] इण्डिया इन्डिपेडेस लीग नामक एक संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य प्रवासी भारतवासियों को संगठित करके भारतीय-स्वतंत्रता-संग्राम को व्यापक बनाना था । इसी दौरान उनकी भेट गदर पार्टी के नेता काशीराम जोशी से हुई । उ[illegible] दोनो देशभक्तो ने अमेरिका ही नहीं जर्मनी, तुर्की व कुस्तुन्तुनिया के भारतवंशियो से सम्पर्क साधकर काफी धन शक्ति व जन शक्ति संगठित कर ली ।

जर्मनी मे इन्डियन लिबरेशन आर्मी को मान्यता दिलाना और प्रसिद्ध क्रान्तिकारी भूपेनदत्त, वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, डा प्रभाकर, चम्पकरण मल पिल्ले आदि के समर्थ सहयोग से बिलोचिस्तान के एक भाग में स्वतंत्र-भारतीय राज की स्थापना उनकी कर्मठता और संगठन शक्ति का अनूठा उदाहरण था । जो व्यक्ति यहाँ से खाली हाथ विदेश गया हो और वहाँ एक भूभाग पर स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने और दो वर्ष तक संरक्षण करते रहने मे सफल हुआ हो उसकी प्रबल उमंगो और जीवट की जितनी सराहना की जाय कम है । भारत को स्वतंत्रता दिलाने का सेहरा भले ही किसी के सिर बँधा हो । डा. पाण्डुरंग जैसे क्रान्तिकारियो का यह उद्योग भी उसमे कम सहायक नही रहा था ।

बिलोचिस्तान के भूभाग पर स्थापित किये स्वतंत्र-भारतीय-राज के पतन के बाद वे छद्मरूप से भारत भी आये थे व लोकमान्य तिलक से भी मिले थे, किन्तु उनके प्राणो का भय देखकर तिलक ने उन्हे विदेश मे रहते हुए ही क्रान्तिकारी गतिविधियाँ संचालित करने की राय दी ।

डॉ. खानखोजे से अँग्रेज सरकार कितनी भयभीत थी, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि तत्कालीन सरकार ने उन्हे जीवित या मृत पकड़ने वाले को दस हजार रुपये का इनाम देने की घोषणा कर रखी थी । इसी कारण तिलक ने उन्हे यहाँ नही रहने दिया ।

वे भारत से बड़ी कठिनाई से अमेरिका पहुँच सके थे । ईरान में उनकी अँग्रेज सरकार के जासूसो से मुठभेड़ भी हुई, पर वे उनके हाथ नहीं आये । पुन: अमेरिका आने के बाद

उन्होंने क्रान्तिकारी-गतिविधियों के संचालन के साथ ही कुछ सृजनात्मक कार्य करने की सोची । मेक्सिको में उन्होंने कृषि-कार्य को व्यवसाय के रूप में अपना लिया । मेक्सिको उन दिनों विकासशील देशों की गिनती में आता था । कृषि-कार्य में अर्जित अपने अनुभवों से उन्होंने मेक्सिकोवासियों को बड़ा लाभ पहुँचाया । मेक्सिको सरकार ने भी उनकी योग्यता और अनुभवों को देखते हुए उनका यथोचित सम्मान किया । वे वहाँ के कृषि-विभाग के निदेशक बनाये गये । उन्होंने अपने इस महत्त्वपूर्ण पद को पूरी जिम्मेदारी, श्रम और सूझ-बूझ के साथ निभाया जिससे वहाँ की पैदावार का प्रतिएकड़ औसत काफी बढ़ गया । अपनी कृषि सम्बन्धी इन सफलताओं से उन्हें मेक्सिको में ही नहीं विश्व के अन्य देशों में भी प्रसिद्धी मिली ।

अँग्रेज-सरकार ने मेक्सिको-सरकार से उन्हें उनके सुपुर्द कर देने का आग्रह किया पर डा. खानखोजे की सेवाओं को देखते हुए उन्हें ब्रिटिश-सरकार को नहीं सौंपा गया । वहाँ के लोगों के साथ उन्होंने घनिष्ट आत्मीयता स्थापित कर ली थी । उसे देखते हुए उन्हें ब्रिटिश सरकार को सौंपा भी कैसे जा सकता था ।

भारत से पुनः अमेरिका लौटकर सृजनात्मक कार्यों में संलग्न होने के पीछे भी उनका अपना एक उद्देश्य था । वे अपनी आँखों से देख आये थे कि भारतवासी अब इतने जाग चुके हैं कि उन्हें अधिक समय तक पराधीन बनाए नहीं रखा जा सकता । भारत के स्वतंत्र होते ही संघर्ष की समाप्ति हो जायगी और सृजन का दौर चलेगा तब सृजन में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहेगी । इस प्रकार वे ब्रिटिश-सरकार की पकड़ से बाहर भी हो गये और स्वदेश-प्रेम की भावना से प्रेरित अपना सृजनक्रम भी पूरा करते रहे ।

१९५५ मे भारत सरकार ने उन्हें भारत आकर रहने का निमंत्रण दिया । इस आमंत्रण पर वे सहर्ष भारत आये । अपने देश को स्वाधीन देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ । उन्होंने जिस दिन के लिये यौवनकाल में ही कष्ट और कठिनाइयों को गले लगाया था, प्राण हथेली पर रखकर देश-विदेश घूमते रहे थे, वह शुभ दिन उन्हें इस जीवन में ही देखने को मिल गया ।

वे चाहते थे कि स्वतंत्र भारत के सृजन में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो । मेक्सिको सरकार के उच्च सम्मानित पद और मान की पर्वाह न करते हुए उन्होंने अपने देश की सेवा करना ही श्रेष्ठ समझा । उन्होंने भारत आकर शासकीयस्तर पर मध्यप्रदेश के कई दौरे करके कृषि सुधार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये पर प्रशासकीय ढर्रे की लालफीता शाही से उनकी प्रतिभा का लाभ हमारे देश को नहीं मिल सका । उनके द्वारा सुझाये गये तथ्य और सुझाव फाइलों में ही बंद पड़े रह गये ।

डा. खानखोजे ने स्पेनिश-भाषा में कृषि सम्बन्धी १८ पुस्तकें लिखी हैं, जो स्पेन के विभिन्न विश्वविद्यालयों मे कृषि-विज्ञान की श्रेष्ठतम पुस्तकों के रूप में सम्मानित होकर पाठ्यक्रम में सम्मिलित की गयी हैं । मेक्सिको सरकार ने भी उनकी इन प्रतिभा से लाभ उठाया पर उसका लाभ हमारे देश को नहीं मिल सका। यह हमारा दुर्भाग्य ही कहा जायगा । जो प्रशासनिक ढाँचा अँग्रेज लोग दे गये थे, वही अब चल रहा है । इसी कारण डॉ. खोजे के द्वारा दिये गये महत्त्वपूर्ण सुझाव फाइलों में ही फँसे रह गये । इससे उन्हें मानसिक आघात हुआ ।

भारतमाता के इस महान पुत्र की यह संघर्ष की वीर गाथा भारत की भावी पीढ़ी के लिये एक प्रकाशदीप का काम करेगी ।

उपाधियों से परे—श्री सातवलेकर

"जिसमें हमारे पूर्वजों ने विशेष पराक्रम किये, जिसमें देवों ने असुरों का पराभव किया । वह हमारी मातृभूमि हमें सौभाग्य प्रदान करे । यह भूमि मेरी माँ है, मैं इसका पुत्र हूँ । हे मातृभूमि, जो इससे द्वेष करे, हमें दास बनाने की इच्छा करे, उसे हम अपने हित के लिए नष्ट कर दें ।"—कोल्हापुर से प्रकाशित होने वाले 'विश्ववृत्त' मासिक पत्र में इन भावनाओं से परिपूर्ण एक लेख छपा । लेखक थे-विवेक वर्धिनी महाविद्यालय के संस्थापक श्रीपाद-दामोदर-सातवलेकर । अथर्ववेद के बारहवें काण्ड में से प्रथम सूक्त के सभी मन्त्रों का अनुवाद कर उन्होंने वैदिक—राष्ट्रगीत, शीर्षक से प्रकाशित करवाया था । संस्कृति-प्रेमी-भारतवासियों में जहाँ इस लेख ने आग फूँक दी वहीं अँग्रेज-सरकार और उनके पिट्ठुओं की क्रोधाग्नि में घी का काम किया ।

यों अँग्रेज-अधिकारी उनकी संस्थापित विवेक वर्धिनी पाठशाला से ही असन्तुष्ट थे । जो छोटे-छोटे बालकों में देश-भक्ति और संस्कृति-प्रेम की भावना जगा रही थी । यह पाठशाला यद्यपि अब विकसित होकर महाविद्यालय बन गयी है, परन्तुः उन दिनों एक छोटे से मकान में ही कक्षाएँ लगती थीं । पाठ्यक्रम के नाम पर सातवलेकर जी के व्याख्यान, व्यायाम और धर्म का शिक्षण दिया जाता था । इन व्याख्यानों का विषय और उद्देश्य जानकर हैदराबाद की रेजीमेंट उन पर पहले ही वक्र दृष्टि रखती थी ।

और जब 'वैदिक-राष्ट्रगीत' लेख के रूप में छपने के बाद पुस्तकाकार मे प्रकाशित हुआ तो रेजीमेंट के लिए सातवलेकर असह्य हो गये । देखा जाए तो वैदिक-राष्ट्रगीत में आक्षेपार्ह कुछ भी नहीं था । परन्तु स्वातन्त्र्य-क्रान्ति के ज्वालामुखी पर बैठी हुई अँग्रेज सरकार के लिए मातृभूमि-प्रेम ही तो सबसे बड़ा विस्फोट था । पुस्तक रूप में छपते-छपते सरकार को पता चल गया और बम्बई संयुक्त प्रान्त की सरकारों ने उसे सर्वत्र जप्त घोषित कर दिया । जो कुछ प्रतियाँ अभी बाजार में निकलीं और पाठकों तक पहुँची थीं उन्हें भी ढूँढ-ढूँढकर जला दिया गया ।

वैदिक—राष्ट्र–गीत लेख के प्रकाशक, वामनमल्हार रावजोशी, मुद्रक जोशीराव, विश्ववृत्त के सम्पादक विजापुर कर और लेखक सातवलेकर इन चारों के नाम वारण्ट जारी कर दिए गए । सातवलेकर तो इस रवैये की खबर पहले ही लग जाने के कारण हैदराबाद से निकल कर स्वामी श्रद्धानन्द के पास गुरुकुल काँगड़ी पहुँच गये थे । जेल जाकर उन्हे अभी से अपनी आयु, समय और क्षमता को नष्ट नहीं करना था । बल्कि उसका उपयोग तो केवल देश सेवा में ही करना अभीष्ट था । स्वामी श्रद्धानन्द सातवलेकर जी की गतिविधियो और योग्यताओं से परिचित तो थे ही । उन्होंने अपने गुरुकुल मे सातवलेकर जी को वेद तथा चित्रकला का प्राध्यापक नियुक्त कर दिया ।

वे चित्रकला मे पारंगत ही नहीं, सार्वजनिक जीवन मे उसके माध्यम से ही प्रविष्ट भी हुए थे । आरम्भ से इस समय तक की कहानी सातवलेकर जी के संघर्षो, प्रतिकूल परिस्थितियों तथा साहस और शौर्य की कहानी थी । उनका जन्म १९ सितम्बर, १८९७ को महाराष्ट्र की सावंत वाड़ी रियासत के एक छोटे से गाँव में हुआ था । पिता पौरोहित्य-कर्म द्वारा अपने परिवार का निर्वाह करते थे । आर्थिक-स्थिति साधारण से भी गयी गुजरी थी । पौरोहित्य व्यवसाय से इतनी आय नही थी कि परिवार के भरण-पोषण के साथ-साथ एकमात्र पुत्र की समुचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी हो सके ।

अपनी वय के अन्य साथियो को अँग्रेजी-स्कूल में जाते देख बालक श्रीपाद की स्वाभाविक इच्छा हुई कि वे भी उनके साथ पढ़ने जाएँ । इंगलिश स्कूलो की फीस आठ आना प्रति मास थी । सातवलेकर जी के माता-पिता इसकी भी व्यवस्था नहीं कर सकते थे । उन्होंने अपने लाडले से कह दिया—"हमे अँग्रेजी की जरूरत नही है बेटे । तुम साधारण स्कूल में पढ़कर ही धन्धा करने योग्य शिक्षा प्राप्त कर लो । वही पर्याप्त भी है ।''

पिता ने हीनता का भाव न आने देने के विचार से भले ही वस्तुस्थिति प्रकट न की हो । परन्तु सातवलेकर से यह बात छुपी नहीं रही । उन्हे पता चल ही गया कि पिता जी के लिए यह फीस बहुत ज्यादा है और देने की सामर्थ्य उनमे है नहीं । निर्धन होने के बावजूद भी पिता अपने पुत्र के प्रति स्नेहाभिव्यक्ति में किसी प्रकार कमी न आने देते थे ।

बच्चो को बाहरी सुख-सुविधाएँ न मिले तो उसका कोई प्रभाव नहीं होता । बल्कि प्रेम और स्नेह बराबर मिलता रहे तो वे अपना दायित्व भी समझने लगते । बाह्य-परिस्थितियाँ स्नेह और प्रेम मिलने पर कोई बुरा प्रभाव नहीं डालतीं । सातवलेकर जी का व्यक्तित्व भी इस मनोवैज्ञानिक-तथ्यो के अनुसार ढलने, विकसित होने लगा । वे पिता से पुरोहित का काम सीखकर अपनी शिक्षा का स्वय प्रबन्ध करने लगे । इधर-उधर छोटे बड़े संस्कारादि सम्पन्न करवाकर दक्षिणा मे मिले पैसो से स्कूल की पुस्तके और फीस आदि भरने लगे ।

साथ ही उनकी सूझबूझ और परिवार के वातावरण ने दैनन्दिन कार्यों में स्वावलम्बी और आत्म-निर्भर भी बना था । वे स्वयं अपने कपड़े धोते, खाने के बाद बर्तन अपने ही हाथों से साफ करते ।

अँग्रेजी सीखने की ललक उनकी अभी शांत नहीं हु थी । स्वावलम्बी बनकर वे अपनी इस इच्छा को पूरा करने का प्रयत्न भी कर रहे थे । सावंतवाड़ी के एक अध्यापक से उन्होने अँग्रेजी सीखना शुरू किया और कामचलाऊ ज्ञान अर्जित कर लिया । इसके बाद उन्होने चिन्तामणि शास्त्री से इसी प्रकार संस्कृत भाषा भी सीखी । उन्हीं दिनो सावंतवाड़ी मे एक चित्रकला का स्कूल खुला । सादरकर जी इस स्कूल मे भर्ती होकर ड्राईंग का अभ्यास करने लगे । अध्यवसाय, परिश्रम और लगन द्वारा उन्होंने अच्छे चित्र बनाने की क्षमता त्वरित अर्जित कर ली ।

चित्रांकन का अच्छा अभ्यास हो जाने के बाद उन्होंने इसे व्यवसाय रूप में अपनाने का भी निश्चय किया । शादी हो जाने पर वे और भी चाहने लगे । अपने साथ-साथ पत्नी का भी भार माता-पिता पर डालना उन्हें अच्छा नहीं लगा । और चित्रकला को व्यवसाय-रूप मे सावन्तवाड़ी गाँव मे चलाया नही जा सकता था । इसलिए उन्होंने अपने पिता से बम्बई जाने की अनुमति माँगी । पिता ने अपने पुत्र की भावनाओ को समझा और सराहा तो सही लेकिन पुत्र प्रेम उन्हे जिस किसी भी स्थिति में सातवलेकर जी को अपनी आँखो के सामने ही बने रहने के लिए विवश कर रहा था । सातवलेकर जी का आग्रह भी बढ़ता गया । निदान, पिता पुत्र को भारी हृदय से विदा कर दिया । सही बात तो य थी कि सातवलेकर जी पौरोहित्य कर्म को जीविका का साध बनाना नहीं चाहते थे । उनकी मान्यता थी धर्म-सेवा को उदर-भरण का साधन बनाना कम से कम मेरे लिए तो ठीक नही है । वह भी एकांगी और अर्थहीनस्वरूप मे ।

सन् १८९० ई. मे वे बम्बई आ गये । कला मे और निखार आये इसलिए जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स मे भर्ती हो गये । वहाँ रहते हुए जीविका उपार्जन और अध्ययन-प्रशिक्षण का क्रम साथ-साथ चला । कुछ दिन कठोर-विपन्न-आर्थिक-परिस्थितियो मे गुजारने के बाद उनकी कठिनाइयाँ थोड़ी कम हुई । चित्रकला मे विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर लेने के कारण विद्यालय की ओर से उन्हें छात्रवृत्ति दी गयी । फिर भी उन्होने पूर्वाभ्यासों मे किसी प्रकार का व्यतिक्रम नही आने दिया । उसी स्तर का जीवन व्यतीत करते हुए अधिकाधिक समय चित्रकला मे लगाया । कोई भी कला साधना अभ्यास मनोयोग माँगती है । अपने अनथक परिश्रम से सातवलेकर जी ने कला सिद्धि के उस स्तर को छू लिया था । फलस्वरूप उन्हे कला क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठपदक मैयोमेडल से विभूषित किया गया ।

मैयोमेडल की विजय से मिली ख्याति के परिणाम स्वरूप उन्हें अध्ययनोपरांत उसी संस्था मे कला-शिक्षक के

पद पर नियुक्त किया गया। उस समय वेतन के रूप में उन्हे कुल ५० रु. मिलते थे परन्तु शिक्षक होना भी बड़े सम्मान की बात थी। यहीं, सातवलेकर जी में महत्वाकांक्षी जीवन की अभीप्सा जागी। वे सन् १९०० में हैदराबाद चले गये। यह निर्णय उन्होंने अपनी सुविधा और प्रगति की सम्भावनाओ का अनुकूल लगाकर ही लिया था।

हैदराबाद में आशा के अनुकूल उन्हें सफलता मिली। उनका व्यवसाय प्रगति के शिखर पर चढ़ने लगा। परन्तु जीवन दिशा में आयी क्रान्ति ने इस पथ से विजय के एक दूसरे ही मार्ग पर ला पटका। एक दिन उनके हाथों में महर्षि दयानन्द की कुछ प्राणवान् कृतियाँ आ गयी। सुन रखा था इन ग्रन्थों ने भारतीय समाज को एक नयी ही दिशा दी है। एक ही बैठक मे पढ़ डाली और हृदय पर लिया उनका प्रभाव। सातवलेकर जी यहीं वेदाध्ययन की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश और ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का मराठी भाषा में अनुवाद किया। ये ग्रन्थ बड़ौदा के महाराजा सय्याजीराव की दृष्टि में आये। सय्याजीराव बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने इनके प्रकाशन की योजना बनाकर उसे मूर्तरूप दे डाला।

अनुवाद के प्रकाशन ने उन्हें आर्यसमाज के बहुत निकट ला दिया। वे आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य भी बन गये और वेदों के विषय पर लिखने भी लगे। हैदराबाद में ही वे थियोसॉफिल सोसायटी के सम्पर्क में भी आये। उसके भी सदस्य बने। इस प्रकार दोनों संस्थाओं की विचारधाराओं का उन पर प्रभाव पड़ा। सातवलेकर जी ने इसी अवधि में भारतीय-संस्कृति के वाङ्मय-ग्रन्थों का अध्ययन किया। तभी उनका परिचय हैदराबाद के क्रांतिकारी नेताओं तथा कॉंग्रेसी कार्यकर्ताओं से हुआ। यह अवधि उनके भावी-जीवन-विकास की सुदृढ़ आधार निर्माण की प्रसव घड़ियाँ कही जा सकती है। राजनीति के क्षेत्र में लोकमान्य-तिलक उनके आदर्श बने। तिलक ने स्वातन्त्र्य-भावना को जाग्रत करने के लिए धर्म और अध्यात्म का सहारा लिया तो सातवलेकर जी ने भी वही मार्ग अपनाया।

वैदिक—राष्ट्रगीत काण्ड के कारण उन्हें हैदराबाद छोड़ देना पड़ा। स्वामी श्रद्धानन्द के सानिध्य मे रहकर उन्होंने देश-प्रेम की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस प्रकार वे भारतीय-पुनर्जागरण के क्षेत्र में पूरी तरह पदार्पण कर चुके थे। लोग उन्हें वैदिक विषयों पर ही अधिक लिखते रहने के कारण पण्डित जी कहने लगे। परन्तु पाण्डित्य का गर्व उन्हें अन्त तक छू भी नहीं पाया। पंडित के रूप में उन पर संस्कृत का वह श्लोक खरा उतरता है। जिसमें कहा गया है—

मातृवत् परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्व भूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः॥

गुरुकुल कॉंगडी मे छुपे रहना अधिक समय तक सम्भव नहीं रह सका। कुछ समय के लिए वे इस बीच पूना, बेलगाँव और अनगोल आदि स्थानों पर गये। उन्होंने अब और उग्र-विचारों का प्रचार आरम्भ कर दिया था। छद्म नाम से, अज्ञात रहकर वे राष्ट्रवादी सांस्कृतिक मान्यताओं पर आधारित विचारों का प्रकाशन प्रसार करते रहे। यह सक्रियता ही उनकी निर्भय मनःस्थिति और साहसपूर्ण भाव-भूमि का परिचय देती है। वे अँग्रेजी शासन से भीति ग्रस्त होकर नहीं, अपने विचार, प्रचार, अभियान को गतिशील बनाये रहने के लिये ही भूमिगत हुए थे।

वर्ष भर तक पूना तथा महाराष्ट्र के अन्य कई नगर ग्रामों में रहकर पण्डित जी पुनः कॉंगड़ी चले आये। प्रशासन अधिकारियों को इसका पता नहीं था। गुरुकुल के डाकिये को जब यह पता चला कि राजद्रोही घोषित किये गये पण्डित जी गुरुकुल में रह रहे हैं, तो उसने पुलिस को सूचना दे दी। तत्काल प्रशासन की मशीनरी सक्रिय हुई और पण्डित जी के नाम कलक्टर द्वारा वारण्ट जारी करवा दिया गया। एक साधारण से व्यक्ति को गिरफ्तार करने के लिये चार सौ सिपाहियों की टुकड़ी रवाना हुई। उसे गुरुकुल के विद्यार्थियों ने अन्दर जाने से रोका, पण्डित जी को सूचित करने से भी मना कर दिया तो हाथापाई की नौबत आ गयी। ये सब सूचनाएँ पण्डित जी तक पहुँची तो वे अपने निवास-गृह से बाहर आ गये और अपने आपको पुलिस के हवाले कर दिया। एक अपने बचाव के लिए इतने सारे विद्यार्थियों और सम्पूर्ण आश्रम को खतरे में डालना उन्हें बिल्कुल उचित नहीं लगा। महामानव अपनी रक्षा या हित के लिए कभी किसी को खतरे में नहीं डालते फिर इतने सारे जीवन शाला के छात्रों के लिए तो बात ही क्या है।

सातवलेकर जी पर दो गम्भीर अभियोग लगाये गये खून और राजद्रोह का। परन्तु उनमे से एक भी प्रमाणित न हो सका। जिस न्यायालय में उन पर मुकदमा चला उसका न्यायाधीश भी संयोग से भारत के प्रति सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति था। परिणामस्वरूप, पण्डित जी ससम्मान मुक्त कर दिये गये। सरकार के इशारों पर न चलने के कारण बाद में उस न्यायाधीश को भी पदमुक्त कर दिया गया। सरकार ने बाद में भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। वह उन्हें किसी न किसी मामले में फँसाने के षड्यन्त्र रचती ही रही। फिर भी उन्होंने अपने प्रयत्नों में किसी प्रकार शिथिलता न आने दी। झंझावातों और आँधी-तूफानों में भी निरापद जीवन-यात्रा तय करने वालों को अविराम चलते रहने के लिए साहसी और धैर्यवान होना ही पड़ता है।

पण्डित जी ने कार्य-क्षेत्र के रूप मे लाहौर चुना परंतु किन्हीं विवशताओ के कारण उन्हें शीघ्र ही यह स्थान छोड़ देना पड़ा। ये विवशताएँ उस प्रतिकूल वातावरण और परिस्थितियों से सम्बन्धित थीं जिनके कारण पण्डित जी अपना ध्येय ही धूमिल होता देखने लगे थे। तभी औंध महाराज ने १९१८ मे वहाँ रहने और कार्य करने के लिए आमन्त्रित किया। पण्डित जी वहीं चले गये और भावी कार्यक्रम की रूपरेखा निर्धारित करने लगे। मूलतः, उनका उद्देश्य

वैदिक-संस्कृति का पुनरुद्धार तथा उनके आधार पर सशक्त भारतीय समाज का पुनर्गठन था। औंध-नरेश के सहयोग से उन्होंने १९१८ में स्वाध्याय-मण्डल-वैदिक-अनुसन्धान-केन्द्र की नींव रखी। महाराजा ने उन्हें सभी प्रकार की सहायता दी। पुण्य कार्यों के लिए सहयोग-अनुदान देने के लिये आगे आने वालों की संख्या कम नहीं है। आवश्यकता ऐसे लोगों की है, जो इस काम में हाथ डालने का साहस कर सकें।

और—महाराजा के सहयोग का साहस कर सके। प्रकाशन तो हुआ परन्तु कार्य इतना सफल होता नहीं दिखायी दिया कि उसे आगे जारी रखा जा सके। पण्डित जी ने प्रथम प्रयास की असफलता को आगामी सफलताओं का सन्देशवाहक समझा। कुछ समय बाद यह विश्वास सत्य सिद्ध भी हुआ। असफलताएँ निराश करती है तो वह दुर्भाग्य और गतिरोध है। इसके विपरीत पुरुषार्थ और उत्साह बढ़ाती है तो निःसन्देह सौभाग्य का द्वार बन जाती है।

पण्डित जी ने चारों वेदों की शुद्ध संहिताओं का प्रकाशन किया और सस्ते मूल्य पर उपलब्ध कराया। इसके साथ ही साथ संस्कृत अध्ययन की प्रवृत्ति जगाने के लिए उन्होंने कई महत्वपूर्ण-ग्रन्थ भी लिखे। इस प्रकार की कृतियों में उनकी संस्कृत-स्वयं-शिक्षक पुस्तक को इस मार्ग का प्रकाशदीप माना जाता है। इस ग्रन्थ की सहायता से कई साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति भी संस्कृत-ग्रन्थों के सफल अध्येता बन गये हैं। निःस्सन्देह यह उनके ज्ञान और गहन-अध्ययन का ही परिणाम है। और कोई भी कार्य इतनी गहनता, श्रम और लगन के साथ तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि उसके पीछे महान उद्देश्य और प्रगाढ़ निष्ठा न हो।

सन् १९४८ में वे स्वाध्याय मण्डल, औंध से पारडी (गुजरात) ले आये। इस समय उनकी आयु ८२ वर्ष थी। इतनी दूर मण्डल को स्थानान्तरित करने में उन्हें जितना परिश्रम करना पड़ा वह इस वय के अन्य व्यक्तियों द्वारा लगभग असम्भव ही है। अन्त तक वे कभी बीमार नहीं हुए। पण्डित जी ने इस सशक्त जीवन का श्रेय भारतीय-जीवन-पद्धति और योग साधनाओं की वैज्ञानिकता को ही दिया है।

९ जून, १९६८ को उनका स्वास्थ्य अचानक खराब हुआ। कभी बीमार न पड़ने वाले सातवलेकर जी को रोग का यह पहला आक्रमण मरण का कारण बना। उस समय उनकी आयु १०१ वर्ष थी। बिना किसी प्रकार परेशान हुए वे शान्तिपूर्वक मृत्यु की गोदी में चले गये। पार्थिव-शरीर से भले ही वे इस संसार से विदा हो गये हो, परन्तु यश शरीर और आदर्श जीवन द्वारा वे सदा भारतीय-समाज के लिए जीवित रहेंगे।

समाज-सेवा के आदर्श—फणीश्वर नाथ रेणु

पिछले दिनों पटना में सोनभद्र एवं गंगा का
अपनी सीमा पार कर जन-जीवन को अस्त-व्यस्त एवं
बना रहा था। उस पानी ने अपना कब्जा खेतों, घरों,
तक कि लोगों के चूल्हे-चौकों पर भी जमा लिया था।
जन को कितनी मात्रा में उदरस्थ कर चुका था, इसका
पता नहीं था। चारों तरफ जीवन-रक्षा के लिए
मची थी। असमर्थ, बूढ़े एवं बच्चे तो पहिले झोंके में
चुन लिये गये थे। कहीं-कहीं नवजवान भी इस
के ग्रास बने थे। ऐसी हृदय-द्रावक-परिस्थिति में भी लेखक
एवं कवि मौन धारण किये अपने स्वार्थ में लीन थे। इस
एक विभूति ने कला की शक्ति से इन पीड़ित मानवों की
दर्दनाक कहानी लगातार 'दिनमान' में प्रकाशित करना
किया। इससे पाठकों के मन कुछ करने के लिए उद्वेलित
हो उठे एवं अनेक तरह से अपनी सेवाएँ बाढ़ पीड़ितों के
लिए देते रहे। जिसने हृदय के भावों को उड़ेल कर,
के लिए अनेक व्यक्ति को गंगा के तट पर बुलाया, वह
व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य का बेजोड़ कथाकार फणीश्वरनाथरेणु
था।

रेणुजी ने मात्र साहित्य ही नहीं बल्कि अन्यान्य परिक्षेत्रों
में भी पदार्पण कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया, इसके
लिए उन्हें जीवनपर्यन्त संघर्षों का सामना करना पड़ा था।
किन्तु वे संघर्षों से घबराये नहीं। खतरनाक परिस्थितियों
भी वे पीछे नहीं रहे। सदा आगे की पंक्ति में खड़े हुए,
यह जानते हुए भी कि विषम परिस्थितियों में कदम बढ़ाने
से उसके परिणाम भी भुगतने पड़ सकते हैं। मानव-मंगल
के लिए इन साहसपूर्ण कदमों का आह्वान कर उनने दुगना
ही पाया।

समाज में जब भी वे शोषितों एवं दलितों के प्रति
अमानवीय व्यवहार देखते तो उनका हृदय द्रवित हो उठता
था। वे जानते थे कि "ये दलित जिनको तिरस्कृत कर उनके
मानवीय-अधिकारों का हनन किया जा रहा है। हमारे ही
अंश है। समाज रूपी शरीर के समग्र विकास के लिए
इनकी उपेक्षा करना अपने समाज को अपंग बनाना है।"
अतः वे उनकी न्यायोचित सहायता के लिए आगे बढ़ते रहे।
मानवीय आदर्शों की गरिमा बताते हुए वे कहते थे कि
"अपने से कमजोरों की सेवा-सहायता कर उन पर दया करने
के लिए ईश्वर ने शक्ति एवं सामर्थ्य दी है न कि उन्हें
पीड़ित करने के लिए। निष्ठुरतापूर्वक अत्याचार करते रहना
तो शरीर एवं आत्मा दोनों के लिए अहितकर है। इससे
सुख-सन्तोष की अपार सम्पत्ति से सदा ही वंचित रहना पड़ता
है।" इस मानव कल्याणकारी प्रेरणा से अनेक ने विध्वंसात्मक
मार्ग छोड़ कर रचनात्मक कार्यों में स्वयं को नियोजित किया।
समाज उत्थान के लिए दलितों के उद्धार का महत्व समझकर

लाखो हाथ इस वर्ग को उठाने आगे बढ़े भी । दलितोद्धार के इस रचनात्मक कार्य ने उनके प्रति श्रद्धा का परिपोषण किया फलस्वरूप उनके सहयोगी एवं मित्रों की संख्या बढ़ती ही गई ।

सन् १९७४ के जे. पी. आन्दोलन मे रेणु जी ने सक्रिय रूप से साथ दिया । आन्दोलन में भाग लेने के पूर्व निजीस्वार्थों की हानि होने की सम्भावनाएँ सामने दिखाई दे रही थीं । किन्तु उन्होंने इसका तनिक भी ध्यान नहीं दिया । उनका यह विचार था कि "जिस समाज से अनेक सापनों एवं सेवाओं को पाकर हमारा जीवन पल रहा है, इसका कर्ज नगद रूप में चुका सकना असंभव है । अत: समाज की भलाई के समय भी काम न आ सके तो इससे बुरी बात क्या हो सकती है ।" समाज-सेवा के लिए अपने समय एवं अर्थ का एक अंश लगाते रहने का सदाव्रत भारतीय-संस्कृति का आदर्श है भी ।

राजनीति मे जब भी नयी लहर पैदा करने हेतु नेताओ ने इनका आह्वान किया रेणु ने भी उनका साथ दिया । राजनीतिको को वे सत्ताधारी संस्था नहीं, समाज कल्याण का क्षेत्र मानते थे । व्यक्तिगत स्वार्थ सुख और उन्होंने भोग लोलुपता से प्रलोभित हो इस क्षेत्र मे आना निन्दनीय ही समझा । इसी सेवा-भावी इच्छा को लेकर उन्होंने राजनीति मे प्रवेश किया । बाद में चस्का लग जाने पर तो हमेशा ही दिलचस्पी से कार्य करते रहे । सच्चे नेता की कल्पना करते हुए उन्होंने अपने आप को उस क्षेत्र मे संलग्न किया । चुनाव लड़ने या हारने-जीतने की कोई विशेष लगन नही थी । वे तो राजनीति मे रहकर जन-सेवा करना चाहते थे ।

रेणुजी ने जो भी कार्य किये अपने नाम को प्रकाशित करने या नेता होने को नहीं अपितु सेवा-भाव से प्रेरित होकर किये थे । क्योंकि सेवा में लगा समय, श्रम एवं अर्थ कभी भी निरर्थक नहीं जाता । इसके सत्परिणाम अवश्य ही मिलते हैं । उनकी नि:स्वार्थ सेवा के कारण उनके अनेक मित्र बन चुके थे । यही था उनकी सेवा का नगद सत्परिणाम । जब कोई उनके पास टूटे दिल से, अधूरे मन से, पस्त हिम्मत से बेचैन होकर आता, तो वह हिम्मत और शक्ति लेकर जाता था । लोग उनका आत्मीयता भरा प्यार, विवेकयुक्त सुझाव एवं सच्चा मार्गदर्शन पाकर जाते थे । उनकी सेवा का फल लोगो का सन्तोष ही होता था ।

सन् १९४२ मे स्वतन्त्रता-संग्राम चल रहा था । स्वार्थी को मान्यता देने वाले यह कहकर इस संकट से बचने की राह साफ करते रहे कि "हमे इससे क्या लेना देना । हम पर बीतने लगेगी तब देखी जायेगी । जानबूझ कर आग मे कूदने की मूर्खता क्यो करे ।" ऐसे समय मे राष्ट्रभक्त, समाज सेवी का दिल घर की सीमाओ मे बंधित रहकर कैसे शान्ति पा सकता था । प्रारम्भ से लोक हितकारी भावो को परिपुष्ट करते रहने वाले रेणु ने इस संग्राम में भाग लेकर ही सन्तोष पाया । वे कहा करते थे कि-"जितनी महत्ता व्यक्ति की नही उतनी समग्र-राष्ट्र की है ।" राष्ट्र के लिए उनने स्वतन्त्रता संग्राम मे भाग तो लिया ही पर रचनात्मक-साहित्य का सृजन कर राष्ट्र को अपने विचारो की स्थायी निधि भी दी ।

श्री रेणु ने साहित्य-सेवा मे अपना जीवन १९४५ से प्रारम्भ किया था । सर्वप्रथम इनकी 'बटवारा' नामक कहानी 'विश्वामित्र' मे प्रकाशित हुई थी । उसके बाद भी वे साहित्य द्वारा समाज को रचनात्मक-दिशा देते रहे । मैला आँचल, परती परिकथा, दीर्घ तथा जुलूस ठुमरी, कितने चौराहे, आदिम रात्र की महक, अग्निखोर आदि कृतियाँ उनका नाम हिन्दी-साहित्य-जगत में याद दिलाती रहेंगी ।

इस व्यक्तित्व ने अपने जीवन के बाद के ३२ वर्षों की उम्र में ही कितने पहलुओं को छुआ और उनमे सफलता प्राप्त की । उन्होने अपने अनुभवों के आधार पर बताया है कि "जीवन को संघर्ष मानते रहने का सत्परिणाम मेरी सफलता का कारण है । जहाँ संघर्ष की समाप्ति हो जाती है, जीवन का अन्त वहीं पर ही हो जाता है ।" उन्होंने इसे केवल कहा ही नहीं अपने जीवन में करके भी दिखाया । रेणु जी लम्बी बीमारी से पीड़ित रहे । इस कारण उनका शरीर दुर्बल ही बना रहा । शारीरिक-दुर्बलता की उन्होंने चिन्ता की भी नहीं, क्योकि वे शरीर से ज्यादा आत्मा की महत्ता समझते थे । जीवन के विशेष-कार्य उन्होंने आत्मबल द्वारा ही सम्पन्न किये थे । हृष्ट-पुष्ट-शरीर रहने पर भी आत्म-विश्वास न रहा तो जीवन मे साहसपूर्ण कदम उठा सकना असम्भव है ।

इलाहाबाद के फूकरगंज में एक छोटे से उजड़े बंगले में रहने वाला दीन-दु:खियो का प्रिय, सफल साहित्यकार, कुशल कलाकार, जनप्रिय नेता, आदर्श समाजसेवी, राष्ट्रभक्त, क्रान्तिकारी, आत्मविश्वासी ११ अप्रैल, ७७ को जीवनयात्रा पूर्ण कर संसार से चला गया । लेकिन उनके कर्त्तव्य सदा ही उनके नाम को याद दिलाते रहेंगे ।

राष्ट्रभाषा की नींव के पत्थर

बालकृष्ण भट्ट

धनाढ्य और सम्पन्न, किन्तु धर्मप्राण, श्रद्धालु परिवार उस समय तीर्थयात्रा की तैयारी कर रहा था । तीर्थ-यात्रा मे सभी परिजन तो नहीं जा रहे थे, परन्तु जो जा रहे थे वे ऐसे थे कि उन्हे लगता था जीवन में हम यह पुण्य यात्रा अन्तिम बार कर रहे हैं और पता नहीं लौटना हो भी सकेगा या नहीं । इसलिए परिवार का मुखिया एक प्रकार से पारिवारिक उत्तरदायित्वो से मुक्त होकर ही जा रहा था ।

वे शहर के जाने-माने व्यवसायी थे । किराने का धन्धा चलता था और इस धन्धे मे उन्होंने लाखो कमाये थे । बहुत समय पूर्व ही उन्होंने अपने पुत्रो को इस दृष्टि से तैयार करना आरम्भ कर दिया था कि उनके बाद भी कारोबार उसी प्रकार चलता रहे और धीरे-धीरे सारा धन्धा सम्हालने मे उनका छोटा पुत्र होशियार हो गया । सारे काम-काज की वही देखभाल

करने लगा । तीर्थ-यात्रा से पूर्व उन्होंने अपने उत्तराधिकार सौपने तथा सम्पत्ति का बँटवारा करने के लिए सभी पुत्रो को बुलाया । उस समय वे अपने पुत्रो से कुछ संकल्प लेकर आश्वस्त हो जाना चाहते थे । उनका संकल्प लेना यह कुल परम्परा थी कि तीर्थ-यात्रा पर निकलने से पूर्व यात्री अपने परिजनों से कोई संकल्प करवा ले और तब यात्रा पर निकले ।

पिता जब तीर्थयात्रा पर जाने से पूर्व कुल की यह परम्परागत रस्म पूरी करने लगे तो सभी परिजनों ने संकल्प-दान किया । अपने बड़े पुत्र को बुला कर घर का सारा उत्तरदायित्व सौंपते हुए उन्होंने कहा— बेटा बालकृष्ण ! कदाचित् हम लोग गया जी से लौट न सके तो तू ही इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनना । सब लोगों को यथासमय उचित भाग सौंप देना और अपने आश्रितजनों का भलीभाँति पालन-पोषण करना ।

'परन्तु', बालकृष्ण ने कहा—

'परन्तु क्या बेटा''—पिता ने कहा—'हाँ अब समझ मे आया तेरा संकल्प ।''

'हाँ' संकल्प भी तो सुन लीजिये पिताजी । सब लोगो की तरह मै भी आपसे एक वचन माँगना चाहता हूँ ।'

'हाँ हाँ बोलो बेटा, 'पिता' ने कहा ।

''पहले पिताजी आप विश्वास करे कि वचन से फिरेगे नहीं ।''

'हाँ हाँ । वचन से फिरना क्या अपने परिवार मे कभी हुआ है'—पिता ने यह कहा । बालकृष्ण के अन्तिम वाक्य ने उपस्थित सभी परिजनो को आश्चर्य में डाल दिया । वे सोचने लगे कि चार पाँच लाख की पूरी सम्पत्ति पर बालकृष्ण की नीयत डोल गई है । उन्हे संदेह हुआ कि अपनी मन्शा पूरी करने का यह सबसे अच्छा अवसर जान कर वह पूरी की पूरी जायदाद डकारने की सोच रहा है । भाईयो को हिस्सा देने पर तो मुश्किल से दो ढाई लाख हिस्से मे आयेगे जो खुले हाथ से खर्च करने वाले बालकृष्ण के लिये निश्चित ही अपर्याप्त है । पिता के चेहरे पर भी असमंजस के भाव थे । फिर भी वे बचनबद्ध थे इसलिये अपने पुत्र की ओर प्रतीक्षा भाव से देख रहे थे ।

''पिताजी आपने जो दायित्व मुझे सौपा है उसे मै पूरे उत्साह और निष्ठा से पूरा करूँगा परन्तु''—बालकृष्ण ने कहा, तभी उनके एक निकट सम्बन्धी ने बात काट दी और लगे अपनी सुनाने ।

बालकृष्ण जी के पिता ने कहा-''अरे भाई पहले इसकी बात तो पूरी हो जाने दो । बाद में फिर तुम अपनी कहना ।''

''अपनी क्या कहूँ । मै अभी से निश्चित कहे देता हूँ कि जायदाद का बराबर-बराबर बँटवारा होगा ।''

'नहीं होगा बँटवारा बिल्कुल नहीं होगा । यह मै कभी नहीं कर सकता''—बालकृष्ण जी ने यह कहा तो उपस्थित लोगों का संदेह सचमुच विश्वास में परिणित हो गया । परन्तु इसके बाद बालकृष्णजी भट्ट ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा-''मै आपकी सम्पत्ति से एक कानी कौड़ी भी नहीं लूंगा क्योंकि मुझे अपने आप पर भरोसा है और मेरे लिए अपने श्रम की कमाई ही पर्याप्त है ।''

उनकी बात के अन्तिम अंश ने उपस्थित परिजनों को और भी सकते में ला दिया था । वे अपनी दृष्टि में आप ही नीचे गिर गये कि उन्होंने बालकृष्णजी की बात पूरी सुने बिना ही उबलकर कितना ओछापन जाहिर कर दिया है ।

भट्टजी के पिता तो वचनबद्ध हो गये थे । क्षण भर को अपने पुत्र के सम्बन्ध में वैसा दूषित विचार आया—इसके उनके हृदय मे भी पछतावा था । हालांकि उनका संदेह, संदेह ही रहा अन्य परिजनो की भाँति तुरन्त विश्वास में नहीं बदला, क्योंकि उन्हे अपने पुत्र की सदाशयता पर रत्तीभर भी शंका कभी जिन्दगी में नहीं हुई थी । चूँकि वे वचनबद्ध थे इसलिये स्वयं तो भट्टजी से अपनी बात वापस लेने के लिए नहीं कह सकते थे लेकिन अन्य परिजनो की ओर इसी अपेक्षा से देखा । उपस्थित सम्बन्धी उन्हे तरह-तरह से समझाने लगे परन्तु भट्टजी थे कि किसी भी स्थिति मे उनकी बात मानने को तैयार नहीं थे ।

अन्त मे सभी प्रयत्न करके थक गये तो पिता ने पूछा—''मै जान सकता हूँ कि बेटा तुम्हारा ऐसा संकल्प लेने का क्या कारण है ।''

''इसका कारण यह है पिताजी कि दुकान का सारा काम काज भैया देखा करता है । मैने तो इस जायदाद के लिए एक क्षण भी नहीं लगाया है । इसलिये सारी मिल्कियत का वही मालिक बने''—और पिता को उनकी ही बात रखनी पड़ी ।

उस समय जब भट्टजी को अच्छी-खासी रकम हाथ लग रही थी, इस उत्कृष्ट निर्लोभता का परिचय देकर उन्होंने धन-दौलत की व्यर्थता ही प्रमाणित की थी और जीवन भर सम्पत्ति के प्रति इसी प्रकार अनासक्त रहे । गया से लौटने के बाद जब उनके पिता का देहावसान हुआ तो वचन को केवल वचन ही मानकर छोटे भाई ने बराबर का हिस्सा लेने के लिए कहा । परन्तु भट्टजी की मान्यता मे तो वचन, जीवन से भी अधिक प्यारा हो गया था । रघुकुल रीत सदा चली आयी । प्राण जाय पर वचन न जायी ॥ —की टेक उन्होंने निभाई ही ।

अच्छी-खासी दौलत को एक बार फिर आते हुए उन्होंने केवल इसी कारण लौटा दिया कि उसे अर्जित करने में उन्होंने कभी कोई श्रम नहीं किया और न ही समय दिया था । मेहनत और ईमानदारी की कमाई से ही जीवन निर्वाह हो, तो ही आत्मा का उत्थान सम्भव है और उनकी दृष्टि में शरीर तथा जीवन से भी अधिक थी आत्मा ।

उस समय जब पिता का देहान्त हुआ और छोटा भाई उचित भाग देने के लिए आया तथा उन्होंने अपने भाग को मेरा कोई अधिकार ही नहीं है कहकर लौटाया तब उनके

परिवार को बड़ी कठिन-परिस्थितियों में जीवन गुजारना पड़ा था। गृहस्थी का खर्च बड़ी मुश्किल से चलता था। जिस मकान में वे रहते थे वह उन्होंने अपने निज की कमाई के तीन रुपयों से खरीदा था। घरोंदानुमा उसी मकान में वे अपनी पत्नी बच्चों सहित रहते थे और आय का तो यह हाल था कि वे पन्द्रह रुपये मासिक वेतन पर एक संस्कृत पाठशाला में अध्यापक थे। उस समय छोटे भाई ने निवेदन करते हुए कहा—"आप आधा हिस्सा न लें तो न सही, परन्तु पिताजी से भी पूर्व की जो सम्पदा है उसमें से दो मकान और उस राशि का छोटा सा हिस्सा ले लें।"

'नहीं भाई नहीं'—भट्टजी ने दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया—"मैंने कह दिया न मैं अपने श्रम की रोटी खाना ही अधिक बेहतर समझता हूँ।" और उन्होंने एक फूटी कौड़ी भी लेने से इनकार कर दिया।

श्रम के प्रति इस आदर्श-निष्ठा की चरित्रगत विशेषता के बावजूद भी उन्हे उनके व्यक्तित्व की उन विभूतियों के कारण अधिक स्मरण किया जाता है जो उन्होंने समाज रूपी देवता की आराधना में लगायीं। भट्टजी ने हिन्दी के माध्यम से राष्ट्र की जो सेवाएँ कीं, उन सेवाओ को राष्ट्र की मूक आत्मा को वाणी देने के समतुल्य कहा जाता है। हिन्दी के पुनरुत्थान काल मे भट्ट जी का नाम उस देदीप्यमाननक्षत्र की तरह लिया जाता है जिसका प्रकाश धरती पर वर्षों में पहुँचता है। परन्तु, उसकी दीप्ति मे दिनो दिन प्रखरता आती रहती है।

भट्टजी ने अपना सारा जीवन ही साहित्य और समाज की सेवा मे खपा दिया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक पूरे के पूरे युग को भारतेन्दु-युग के नाम से जाना जाता है और भट्टजी उस काल के लोह-स्तम्भ कहे जाते हैं और उस समय, जबकि हिन्दी-भाषा का कोई स्वरूप नहीं बन पाया था। वह चंद प्रांतों के गँवईनिवासियो की भाषा थी। भट्टजी ने १८८२ मे हिन्दी-प्रदीप नामक एक मासिक पत्र निकाला। आजकल हिन्दी-साहित्य मे पत्रकारिता की जो स्थिति है, उससे कई गुना बदतर उस जमाने में थी। वह लेखक या सम्पादक ही क्या, जिसे फाकाकांशी की जिन्दगी गुजारनी न पड़ी हो। वह समय, हिन्दी-जगत मे साहित्य-सृजन और पत्रकारिता के विकास मे नीव रखने की अवधि थी और ऐसी अवधि मे समाज की प्रत्येक धारा, चाहे वह संस्कृत हो या साहित्य, धर्म नीति हो या राजनीति, समाज व्यवस्था हो या अर्थ-तंत्र-व्यवस्था। विकास का प्रत्येक पक्ष त्याग और बलिदान माँगता है, मूल्य माँगता है। उस मूल्य को चुकाने के लिए कुछेक ही मनस्वी शूरमा आगे आते है।

आजीविका के नाम पर, उन दिनो भट्टजी कायस्थ पाठशाला प्रयाग मे संस्कृत के प्राध्यापक हो गये थे और वेतन के रूप मे मिलता था पचास रुपये प्रतिमास। जिस प्रकार जीवन का अधिकांश समय साहित्य-सृजन मे लगा उसी प्रकार इस सीमित आय का भी अधिकांश भाग पत्रकारिता की भेंट चढ़ा। वेतन की राशि कभी प्रेस का बिल चुकाने में लग जाती तो कभी बाहर से पुस्तकों की बी.पी. छुड़वाने मे। हिन्दी-प्रदीप की ग्राहक संख्या कभी दो सौ से ऊपर नहीं गई। ग्राहकों द्वारा प्राप्त चंदे से पत्रिका का खर्च भी बड़ी मुश्किल से निकलता था। डाक टिकिट और अन्य खर्च तो वे अपने वेतन मे से लगाते थे।

इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-प्रदीप का प्रकाशन जिस-तिस तरह २८ वर्ष तक किया। इस पत्र के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रभाषा और राष्ट्रभक्ति का निर्भीकता से प्रचार किया। उस समय की सरकार के लिए तो निर्भीकता किसी प्रकार पक्ष में नहीं हो सकती थी सो उन्हें भी सरकार का कोप-भाजन बनना पड़ा। हिन्दी-प्रदीप के विकास मे रोड़े अटकाये जाने लगे। इस स्थिति में पत्र नहीं चल सकेगा यह अनुभव कर उन्होंने कर्मयोगी से सम्बन्ध जोड़े। परन्तु भट्टजी ने तो कर्मयोगी के माध्यम से भी वही काम किया जो हिन्दी-प्रदीप के माध्यम से कर रहे थे। सरकार ने प्रेस-एक्ट लाकर उनकी गतिविधियो और प्रवृत्तियों पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया। परिणामस्वरूप सन् १९१० में कर्मयोगी और हिन्दी-प्रदीप दोनो का प्रकाशन एक साथ बंद हो गया।

भट्टजी, मात्र साहित्यकार ही नहीं थे। वे एक सफल समाजसेवी भी थे। भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार तुरन्त आवश्यक था देश को, भारतीय सभ्यता संस्कृति और जन जीवन को, दासता के कालपाश से मुक्त करना और भट्टजी ने इस आवश्यकता को समझते हुए स्वराज्य के जन्म सिद्ध अधिकार को प्राप्त करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न किये। कॉंग्रेस के जन्म से लेकर अपने जीवन के अन्त तक उन्होंने इस संस्था के कार्यक्रमों और आन्दोलन में भाग लिया। यो उनके निर्भीक विचारो, राष्ट्र की आत्मा को मुखर करने के प्रयासो मे वे स्वतन्त्र रूप से भी काफी समय तक क्रियाशील रहे और इन निर्भीक स्वतन्त्र-विचारों के परिणामस्वरूप सरकार की वक्रदृष्टि का शिकार होते रहे। परन्तु, पण्डित मदन मोहन मालवीय जो उनके अन्तरंग मित्रों में से थे—से प्रभावित होकर उन्होंने कॉंग्रेस पार्टी की सदस्यता ग्रहण की।

मालवीय जी भट्टजी का बहुत सम्मान करते थे। दोनों के हृदय एक थे। परन्तु, वैचारिक और सैद्धान्तिक धरातल पर भट्टजी की पटरी मालवीय जी के साथ कभी न बैठ पाई। भट्टजी सिद्धान्त से उग्रवादी और लोकमान्य तिलक के पक्के भक्त थे। उन दिनो राजनीति मे उस वर्ग के नेताओ और कार्यकर्ताओं को गरम दल कहा जाता था। भट्टजी बड़े गर्व के साथ स्वयं को गरम दल का सदस्य कहा करते थे। उनका विश्वास था कि स्वराज्य—चाहे जैसे भी हो प्राप्त किया जाय। जबकि मालवीय जी तथा अन्य नरम दल के नेताओं की मान्यता थी कि सच्ची स्वतन्त्रता केवल वैधानिक उपायों से ही प्राप्त की जा सकती है और उसके लिये वे तथाकथित वैधानिक तरीके ही प्रयोग में लाते थे।

राजनीति के क्षेत्र में भट्टजी ने जिस स्पष्ट वक्तृता से काम लिया वह उनके अन्तर में जलती हुई आग और पिघलती हुई तप्त लोह-भावनाओ की ही परिचायक है । उस समय जब कि सभा मंच पर वे कुछ सम्बोधित कर रहे होते थे—उनके साथियो को सदा यह भय बना रहता था कि कहीं भट्टजी ऐसी बात न कह जायें कि सरकार सीधा एक्शन से ले । घटना उन दिनों की है, जब वन्देमातरम बोलना और क्रान्तिकारियो की चर्चा करना भी अक्षम्य अपराध था । गरम दल वालो की यह दशा थी कि उन्हें कोई अपने घर पर ठहराने से भी डरता था—यहाँ तक कि उन लोगों के परिवार वाले भी । ऐसे समय मे आजादी के दीवानों को वर्षों तक अन्धेरे कोनो मे अपना मुँह छुपाये रहना पड़ा ।

उस समय लोकमान्यतिलक को छै वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया था । इसके विरोध में प्रयागवासियो ने सभा आयोजित की । यमुना के किनारे बलुआ घाट पर सभा आयोजन की व्यवस्था की गयी और अध्यक्ष बनाये गये बालकृष्ण भट्ट । सभापति बैठने के लिये एक कुश का आसन था । शेष लोग घाट के पक्के फर्श पर बैठे । वक्ताओ ने इस घटना के प्रति रोष व्यक्त करते हुए दबी जबान से विरोध प्रकट किया । लेकिन जब भट्ट जी का नम्बर आया तो उन्होने खुलकर अपनी जोशीली वाणी मे कहा—"हमे लोकमान्य तिलक के जेल जाने पर कतई क्षुब्ध नही होना है । वे अपने देश के लिए गये है और पुन.लौट आयेगे । दुख तो उन लोगो का है जो फिर लौट कर कभी न आयेगे । वे कलियाँ जो फूल बनकर अभी खिल भी न सकी थी कितनी बेरहमी से मसल दी गयी है । जैसे खुदीराम बोस......।"

उस अवसर पर पुलिस वाले भी वहाँ थे । गरम दल वालो की गतिविधियो पर तो सरकार की तगड़ी निगरानी रहती थी । साथियो ने सोचा इस नाम पर और अधिक चर्चा चली तो शायद यही गिरफ्तार होना पड़ेगा । इसलिए एक साथी ने पीछे से उनका पल्ला खीचा । भट्टजी समझ गये कि पल्ला क्यो खीचा जा रहा है और वे उसी देहाती भाषा मे उबल पड़े—"हमारा पल्ला खीचता है । हमसे कहता है न कहो । कहो काहे ना । हिये मे तो आग लगी है । काहे न कहे...... ।"

और इस स्पष्ट वक्तृता का उन्हे मूल्य चुकाना पड़ा । सभा आयोजन के दूसरे दिन ही उन्हे शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर ने बुला भेजा और कल की वक्तृता के लिए क्षमा माँगने के लिए कहा । इस पर भट्टजी ने इस तरह जवाब दिया कि जैसे उन्हे इस स्थिति का पहले से ही अनुमान था और ऐसी घड़ी मे उन्हे क्या करना है, यह वे पहले से ही सोचकर आये थे । उन्होने कहा—"मैने कोई गलत बात नही कही है और आप इस नौकरी की आड़ मे मेरी आत्मा को दबाना चाहते है तो मुझे ऐसी नौकरी नहीं चाहिए । सम्हालिये अपनी नौकरी ।"

और यह कहते हुए वे वहाँ से उठ गये थे । लौकिक दृष्टि से यह भले ही गलती कही जाय परन्तु सिद्धान्तनिष्ठ के उस स्तर को जिन लोगो ने छुआ है, अपने आप को इतना ऊँचा उठाया है कि आदर्श प्राण से भी अधिक प्रिय हो—वे भट्टजी के कलेवर में निवास कर रही महान-आत्मा के प्रति अनायास ही श्रद्धा से नतमस्तक हो उठेंगे ।

उन्होंने बड़े से बड़े मूल्य चुकाये अपने सिद्धान्तों के लिये परन्तु सभी आँधियों, तूफानों और झंझावतों में वे निर्वात निष्कम्प, दीप शिखा की भाँति जलते रहे । उन्हें अपने जीवन के अन्तिम छह वर्ष और अधिक कठिनाइयो मे गुजारने पड़े । उनका देहान्त सन् १९१४ मे हुआ । नहीं ! नहीं !! सन् १९१४ में उन्होंने अमरता प्राप्त कर ली क्योंकि उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व के माध्यम से काल के कपाल पर में ऐसा जोर का डंका मारा कि उसकी ध्वनि अनन्त काल तक गूँजती रहेगी ।

नेत्रहीन कर्मयोगी—
श्री बैजनाथ दुबे

शारीरिक असमर्थता, यह तर्क कि चक्षुहीनता भी कर्मठ व्यक्ति के मार्ग मे बाधक नही होती । प्रस्तुत है एक ऐसे ही व्यक्ति की कहानी, जिसने योजना तो बनायी खुली आँखों से किन्तु उसकी पूर्ति की मन की आँखो से, मूक एवं अनवरत साधना और त्याग से ।

राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति वर्धा के प्रातीय मंत्री श्री बैजनाथ प्रसाद दुबे ऐसे ही सुदृढ एवं संकल्पवान व्यक्ति है । भोपाल मे 'हिन्दी भवन' बनाने का सपना उन्होने खुली आँखों से देखा था । किन्तु उसे साकार किया उनकी अन्तर्मन की आँखो ने । नेत्र खोकर भी उन्होने अपना उद्देश्य पूरा किया । राजधानी भोपाल मे जहाँ इतने सारे बड़े-बड़े साहित्यिक महारथी विराजमान है । कल तक 'हिन्दी भवन' का नक्शा कागज पर ही टँगा रहा, किन्तु अकेला एक नेत्रहीन व्यक्ति इस कार्य मे पहल कर उसे साकार बनाने मे सफल हो गया ।

लेकिन यह सारी कहानी जितनी सच उतनी ही प्रेरणादात्री है । जो उत्साह और लगनपूर्वक जीना जानता है, उसका आशादीप कभी नहीं बुझता । दुबेजी की जीवनगाथा भी बाधाओं पर साहस की विजय गाथा है ।

दुबेजी को पिता की मृत्यु के बाद पन्द्रहवर्ष की अवस्था में ही घर-गृहस्थी का भार उठाना पड़ा था । परिवार के भरण-पोषण और ऋण की अदायगी के लिए मालगुजार के यहाँ मुखतार बने । धार्मिक-निष्ठा माँ तथा स्वावलम्बन, अनुशासन तथा प्रणपालन की दीक्षा पिता से मिली । आर्थिक कठिनाई के कारण माध्यमिक शिक्षा के बाद ही अध्यापन-प्रशिक्षण प्राप्त कर कार्य-क्षेत्र मे उतर पड़े और साथ-साथ अगली परीक्षाएँ—विशारद, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, मैट्रिक, इटरमीडिएट आदि पास करते रहे । स्काउटिंग मे सर्वोच्च-परीक्षा पास कर 'मेडल आफ मेरिट'

प्राप्त किया और रेड-क्रास काउन्सलर बने । १९२८ से ४८ तक २० वर्ष अध्यापन कार्य करते हुए नगर की अनेक शैक्षणिक-सामाजिक संस्थाओं में सक्रिय भाग लेते रहे । कुछ एक के संस्थापक, संचालक और कइयों के सहयोगी, मार्गदर्शक एवं परामर्शदाता रहे । हिन्दी के विकास मे उनकी रुचि प्रारम्भ से ही रही है । महू के प्रसिद्ध 'रामचन्द्र पुस्तकालय' में सचिव के नाते पुस्तकालय के संचालन एवं विकास में उनका प्रमुख हाथ रहा । मध्य भारत हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हो, 'हिन्दी-दिवस' समारोह हो, साहित्यिक गोष्ठी हो या कवि सम्मेलन सर्वत्र दुबेजी ही कर्ताधर्ता के रूप में दिखायी देते रहे । आगे चलकर उनका साहित्य-प्रेम इतना बढ़ा कि प्रसिद्ध साहित्यकारों को नगर मे बुलाने तथा उनका स्वागत करने में दुबेजी का उत्साह देखते ही बनता ।

भोपाल के राजधानी बनने पर 'राज्य भाषा प्रचार समिति' का प्रांतीय कार्यालय जब यहाँ लाया गया तो मंत्री-संचालक के नाते उन्हें भी महू नगर का अपना कार्यक्षेत्र छोड़ भोपाल मे आ बसना पड़ा । भोपाल आने पर उन्होंने तत्कालीन मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल के सम्मुख अपनी 'हिन्दी-भवन' की योजना रखी । शुक्ल जी के न रहने के बाद भी दुबेजी इस सपने को मन में सँजोये रहे थे । फिर उन्हें नेत्र-रोग ने आ घेरा । महीनों अस्पताल में पड़े रहे । आपरेशन हुए, पर अन्ततः नेत्र-ज्योति लुप्त हो गयी । इतने समर्थ कार्यकर्ता एकाएक असहाय हो गये । पर एक ठहराव के बाद संकल्प-शक्ति ने फिर जोर मारा । वे पूर्ववत कार्य मे जुट गए । बाहरी खिड़कियाँ बन्द हो जाने पर भीतरी नेत्र खुले । नेत्रहीन होते हुए भी शिक्षा-पात्र लिए वे द्वार-द्वार गये । उनकी लगन देखकर लोगो ने मुक्त-हस्त से सहयोग दिया । राज्य-सरकार ने भी कुछ अनुदान दिया । इस तरह एक लाख से अधिक की लागत से 'हिन्दी-भवन' बनकर तैयार हुआ । मुँदी आँखे ही नक्शा बनातीं, निर्माण कार्य देखती रहीं और विशाल भवन बनकर तैयार हो गया । अब उसी भवन मे मोतीलाल नेहरू पुस्तकालय बनाने का सपना उनका था । साथ ही प्रेस, पत्रिका, पुस्तक प्रकाशन और न जाने क्या-क्या योजनाये उनके अन्त स्तल मे छिपी हुई थीं जो उनकी दृढ़-संकल्प-शक्ति का इंतजार कर रही थीं ।

पाश्चात्य और पूर्वी सभ्यता के सेतुबन्ध—डॉ. भगवानदास

जिन दिनों महामना पं. मदनमोहनमालवीय हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना के लिए घर-घर अलख जगा रहे थे, डॉ. भगवान दास उनका दाहिना हाथ बनकर इस कार्य मे सहयोग दे रहे थे । हिन्दू विश्व-विद्यालय की स्थापना के बाद उनकी सेवाओ को स्मरणीय बनाये रखने के लिए विश्व-विद्यालय में एक डॉ. भगवानदास छात्रावास भी खोला गया, ताकि भविष्य में लोग उन्हें याद रखें और उनके सशक्त आदर्श चरित्र से प्रेरणा लेते रहें ।

डॉ. भगवान दास मूलतः एक दार्शनिक थे । परन्तु, उन्होंने दर्शन को साध्य नहीं साधन ही माना । जो विचार या सिद्धान्त मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध हो उसी का चिंतन, प्रतिपादन और क्रियान्वयन उनकी दर्शन-साधना का स्वरूप था । वे मानते थे कि शिक्षा मनुष्य के पूर्ण विकास की आवश्यकता है । भारतीय समाज अपनी इस आवश्यकता पूर्ति के क्षेत्र में सबसे अधिक पिछड़ा हुआ है । इसलिए समाज में—इस उद्देश्य से पर्याप्त जाग्रति आये । लोग जीवन को सुखी, समुन्नत और समृद्ध बनाने की राह पर चल पड़ें । इसलिए उन्होंने ऐसे सभी प्रयासों का स्वागत, समर्थन और सहयोग किया जो इस प्रेरणा से किये गये थे । काशी विश्व-विद्यालय ही नहीं वाराणसी को एक और शिक्षण संस्था काशी विद्यापीठ की स्थापना मे भी उन्होंने अकथ्य सहयोग दिया था । इस विद्यापीठ की स्थापना के लिए बाबू शिवप्रसाद गुप्त प्रयत्नशील थे और दूसरे डॉ. भगवान दास । महामानवों की यही परम्परा रही है कि सामाजिक हितो के लिए वे सर्वप्रथम आगे आते हैं ।

डॉ. भगवानदास का जन्म १२ जनवरी, १८६९ को काशी के एक संपन्न वैश्य परिवार में हुआ । पूरा परिवार तो धर्मनिष्ठ और आस्थावादी था ही उनकी दादी माँ क्षेत्र में सबसे आगे थीं । भगवानदास जी को उनकी दादी माँ पुराण, रामायण और महाभारत की कहानियाँ सुनाया करती थीं । इन्हीं कहानियों ने उनमें बाल्यावस्था में ही धर्म के प्रति दृढ़ आस्थाएँ जमा दीं थीं । जो आगे चल कर अध्यात्म-विद्, दार्शनिक के रूप में प्रस्फुटित, पल्लवित और विकसित हुईं । बच्चों को आरम्भ से दीक्षा देते रहने का प्रयास उनके जीवन-विकास और भावी प्रगति मे बड़ा सहायक सिद्ध होता है । मनुष्य के व्यक्तित्व-निर्माण की नींव बाल्यावस्था में ही रखी जाती है । बच्चो को जिस प्रकार का वातावरण मिलेगा उसी से प्रेरणाएँ और संस्कार ग्रहण कर उस दिशा में बढ़ते है ।

डॉ. भगवान दास की प्रारम्भिक शिक्षा काशी में ही पूरी हुई । किशोरावस्था में ही उनकी दादी माँ का स्वर्गवास हो गया और विशेष परिस्थितियो में उन्हें आगे पढ़ने के लिए कलकत्ता जाना पड़ा । घर का वातावरण था तो घुटन भरा परन्तु उसके अभ्यस्त भगवानदास जी धर्म दर्शन के प्रति इतने अधिक जिज्ञासु और पिपासु हो गये थे कि कलकत्ता की आधुनिक हवा उन्हें रास नहीं आयी । वे स्कूल से बचा समय अपने कमरे मे ही गुजारते और पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों तथा दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन-मनन करते रहे ।

अपने समय को व्यर्थ गपशप या मौज-मस्ती मे बर्बाद न करते हुए उसे उपयोगी दिशा में नियोजित करने की लगन, वांछित परिणाम प्रस्तुत करती ही है । भगवान दास जी भी अपनी इस प्रवृत्ति से विकास की ओर अग्रसर होने लगे ।

आत्मा-परमात्मा, धर्म, अध्यात्म, भाग्य-पुरुषार्थ आदि के गूढ़ विषय उन्हें अच्छी तरह समझ में आने लगे।

परन्तु, उन्होंने अपनी पाठ्य-शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की। धर्म और अध्यात्म का अध्ययन करने के साथ-साथ स्कूली किताबों में भी समुचित ध्यान दिया। फलस्वरूप उन्हें शिक्षा के क्षेत्र में भी सफलता मिली।

जब वे विद्यार्थी ही थे तभी उनका विवाह हो गया। यद्यपि उन्होंने आत्म-निर्भर होने से पूर्व इस शादी का विरोध किया परन्तु माता-पिता की इच्छा आज्ञा के सम्मुख हारना पड़ा। सौभाग्य से पत्नी सुशीला और सात्विक मिली। उन्हें अपनी पत्नी से कभी कोई शिकायत नहीं रही बल्कि उन्हें अपनी पत्नी से हर कार्य और क्षेत्र में सहयोग ही मिला। डॉ. साहब अपनी पत्नी को प्रेम और निष्ठा का पाठ सिखाने वाला अध्यापक ही मानते थे।

शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद वे तहसीलदार और कुछ दिनों उपरान्त डिप्टी-कलेक्टर बने। इन पदों पर रहते हुए भी वे ज्ञान-साधना के लिए समुचित समय निकालते रहे। परन्तु बाद में उन्हें शासकीय-सेवाएँ छोड़ देनी पड़ीं, कारण था स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेने की अन्तःप्रेरणा तथा साहित्य और शिक्षा का खुला क्षेत्र पाना। इस खुले क्षेत्र के लिए उन्होंने बन्धनों से बँधी हुई किन्तु पर्याप्त सुविधाओं से संपन्न जीवन के प्रलोभनों को ठुकरा दिया और उन्हीं दिनों काशी विश्वविद्यालय तथा विद्यापीठ की स्थापना में अमूल्य योगदान दिया।

काशी-विद्यापीठ के वे कई दिनों तक प्रिन्सिपल भी रहे। इस पद पर रहकर उन्होंने विद्यापीठ को एक ऐसा स्वरूप दिया जिसमें से आगे चलकर कई विभूतियाँ देश सेवा के कार्य में लगी। डा. बी. बी. केसकर, लाल बहादुर शास्त्री, कमलापति त्रिपाठी जैसे स्वतंत्रता सेनानी इसके अध्यापक रह चुके है। एक ही संस्थान से निकली इन विभूतियों का श्रेय काशी-विद्यापीठ की ठस शिक्षा पद्धति को ही दिया जाना चाहिए, जिसके निर्धारण में डॉ. भगवान दास का प्रमुख हाथ था। जिसके कारण विद्यार्थियों में और अध्यापकों के हृदय-सागर में अपने देश, सभ्यता और संस्कृति के प्रति प्रेम-भावनाओं का जल, उत्ताल तरंगें प्रवाहित करने लगता था।

सन् १९०९ में वे सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के मंत्री बने और बाद में स्वतंत्रता-आंदोलन में कूद पड़े। स्वाधीनता की माँग करने के कारण उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा। और वहाँ का असह्य, अनभ्यस्त जीवन भी जीना पड़ा। परन्तु उन्होंने कोई असुविधा अनुभव नहीं की। धर्म-संस्कृति और देश की रक्षा तथा पुनरुत्थान का व्रत धारण करने वाले शूरवीर अनेक कष्ट-कठिनाइयाँ और असुविधाएँ भी हँसते-हँसते सहन कर लेते है। लेकिन अपना रास्ता नहीं बदलते।

सन् १९१६ में वे संयुक्त-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष बने। १९३५ से ३८ तक उन्होंने केन्द्रीय-धारा-सभा में अपने क्षेत्र का प्रतिनिधित्व भी किया। वे देश-सेवा को धर्म साधना का ही एक भाग समझकर राष्ट्रीय-आंदोलन में भाग लेते थे। उनका मूल अहं धर्म और अध्यात्म से पालित-सिंचित था।

धर्म और अध्यात्म को मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का मूल स्रोत मानते हुए दर्शन और संस्कृति की व्याख्या इसी स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए की। यही कारण है कि उन्होंने धार्मिकता को सम्प्रदायवाद के संकीर्ण दायरे से अलग और मुक्त बताया। सभी धर्मों का एक लक्ष्य है—अपने इस विश्वास से प्रेरित होकर उन्होंने सर्वधर्म समन्वय का प्रयास किया और इस विषय पर कई गम्भीर दार्शनिक-ग्रन्थ भी लिखे इस विषय पर उनकी सवधर्मसमन्वय नामक पुस्तक तो बड़ी लोकप्रिय भी हुई है। संसार की कई भाषाओं में इसका अनुवाद भी हुआ है। इस विचार का प्रतिपादन और प्रचार करने के लिए उनकी लिखी हुई लगभग दो दर्जन से भी अधिक पुस्तके प्रकाशित हुई है।

१८ सितम्बर सन् १९५९ को उनका देहान्त हो गया। परन्तु उनके विचार जो मानव की मूल सत्ता के अस्तित्व का पोषण करते थे सदा अमर रहेंगे। जीते जी भी उन्होंने स्वयं को कभी महत्व नहीं दिया। लम्बी यात्राएँ कर दर्शन करने मात्र के लिए आने वाले व्यक्तियों को, व्यर्थ पैसा खर्च करने के लिए उन्होंने सदा निरुत्साहित ही किया।

धर्म एवं धर्म-निरपेक्षता

कसैला मुख बनाते हुए उसने भीड़ के कथन का एक शब्द दुहराया 'धर्म'। इस शब्द के उच्चारण के साथ न जाने कितने भाव उभरे एवं विलय हुए। शब्द सिर्फ ध्वनि तो नहीं और न अक्षर समूह। यद्यपि इसके बगैर इसकी अभिव्यक्ति नही। अक्षरों के घट में भरे भावो की पहचान सार है। पर स्वयं की अनुभूतियों-मान्यताओं की मिलावट में यह खो जाती है। उसके साथ कुछ ऐसा ही घटा। अभी कल ही यहाँ आया था। आने के पीछे सोच थी मित्र से मिलन और भारत-भ्रमण। भ्रमण का प्रथम बिन्दु, यही क्यों न रहे, बस यही सोच उसे वाराणसी ले आयी। सफर की थकान मिटाने के बाद ये घूमने निकले थे। वे दो थे महज रूप-रंग, देश के विचार से नहीं बल्कि व्यक्तित्व, विचार-अनुभूतियों और मान्यताओं में अलग-अलग होने पर भी कहीं अन्दर से कोई सूत्र उन दोनों को जोड़ता था अन्यथा मित्रता कैसे निभती? यह थी संवेदना की धारा जो दोनों दिलों को सींचती थी। यह थी मन की वह कसक जो उन दोनों के बीच सेतु बनी जिसके कारण दोनों ने समाज को अपना मन, अपना अस्तित्व और अस्मिता अर्पण की। यही सौहार्द था उनके बीच, नहीं तो दो, कब एक हुए है?

दिन चढ़े सड़क की यह उदासीनता विचित्र लगी। मन में हल्का सा कंप हुआ। चिन्तन-सागर में विचारों की एक लहर उठी। असंख्य भूले-भटके, बिछुड़ों को अपने ऊपर ढोकर मिलाने वाली राह की यह विरक्ति! राह की विरक्ति

मानव से अथवा मानव की राह से । दार्शनिकमन में सहज तर्कशास्त्रीय सवाल उठा । खैर होगा, सोच कर सिर झटका और चल पड़े । मित्र को बताने लगे "यह वाराणसी है हमारे शास्त्र इसे तीनो लोक से न्यारी कहते हैं । उमा-महेश्वर की शाश्वत निवासस्थली जिसके चरणों को धोने के लिए गंगा हिमालय से गंगा-जल ले दौड़ी आती है ।" उनके ये विदेशी मित्र खासी हिन्दी समझते हैं, हाँ बोलने में अभी जरूर थोड़ी कठिनाई थी । कवित्वपूर्ण भाषा में अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुए साथ चल रहे मित्र महोदय के चेहरे की ओर देखा, वहाँ उदासीनता थी । सहज नास्तिक मन को इस विवरण से क्या ? बात को पलटते हुए उनने कहना शुरू किया "बनारस अपनी........।" कथन को पूरा करते इतने में देखा दो तीन आदमी तेज कदमों से गुजर रहे हैं । उनका चलना लगभग दौड़ने जैसा है । चाल का अटपटापन, चेहरों पर छायी दहशत भरी मायूसी, फटी-फटी सी आँखे दोनों की दृष्टि को अपनी तरफ घसीटे बिना न रहीं ।

"क्या हो गया इन्हें ? तब क्या ।" प्रश्न दिशाओं में खोने लगे । दोनों ने एक-दूसरे की ओर ताका.......तब? एक ने दूसरे से कहा । "चलते हैं आगे बढ़ने पर पता चल जाएगा ।" यद्यपि कहने वाले का मन शंकाकुल था । कल कुछ ऐसी-वैसी बाते कानों में पड़ी थीं जो मन को मथने लगी थीं ।

उसके कदम शिथिल हो गए । चेहरे पर छायी उल्लास की कान्ति एक क्षण को मन्द होती दिखी । भौंहों पर आकुंचन की रेखाएँ आयीं, गहरी हुईं, पर शीघ्र विलीन होने लगीं । कुछ दूर आगे बढ़े कि गली के मोड़ से शोर उभरा । शब्द अस्फुट थे, ध्वनियों के गर्जन में । हाँ भावों का जरूर कुछ अनुमान लगा । थोड़ा फासला और तय करने पर दिखाई दिया कि कुछ लोग आगे खड़े हैं । उनके हाथ—लाठियों, भाले, फरसे आदि धारदार हथियारों से लैस हैं । चोरी छुपे कुछ और भी लिये हों तो कोई अचरज नहीं । एक दूसरे के पास कानाफूसी और भद्दी गालियाँ....... ।

क्या हुआ ? पर भीड़ तो भीड़ ठहरी, वहाँ कौन सुनने को तैयार था । एक आदमी जो भीड़ से निकल रहा था तनिक-सा पूछने पर उबल पड़ा "होगा क्या साहब ? यहाँ और क्या होने को है ? दंगा हुआ है । सब एक-दूसरे की जान के दुश्मन बने हैं । कल तक जो एक साथ रहते थे आज वही...... । ऐसे में आप लोग कहाँ जा रहे हैं" ऊपर से नीचे देखते हुए बोला "लौट जाइए बाबू लोग अपने घर जाइये ।" धोती-कमीज पहने हिन्दुस्तानी और अँग्रेजियत की खिचड़ी बने ३५-४० साल के इस आदमी पर दोनों ने अपनी दृष्टि उठाई । आहिस्ते से सवाल किया "किसने किया दंगा ?" और कौन करेगा ?" इन की ओर इस तरह देखा जैसे बहुत बचकाना सवाल पूछ बैठे हो । आँखें साफ कह रही थीं इतना भी नहीं जानते मूर्ख कहीं के । पर मुख से बोला "इनसान करता है हुजूर इनसान, कभी सुनाई पड़ा है कि जानवरो ने दंगे किए हैं । वे तो बेचारे मेल-मिलाप से रहते हैं । धर्म और मजहब लड़ मर रहे है ।" कहता हुआ एक ओर चलने लगा । सम्भवतः वह समय से सुरक्षित घर पहुँच जाना चाहता था और इनके साथी ने उसके कहे एक शब्द को चबाते हुए दुहराया ।

"चलो लौट चलते हैं", इन्होंने उसका हाथ पकड़ा और वापस लौट चले । "देखा ! डाक्टर साहब आप धर्म की इतनी वकालत करते रहते हैं और धर्म जहर बुझी कटार की तरह इनसान और इन्सानियत का दिल चीर रहा है ।" उसे अपने यहाँ के कैथोलिक प्रोटेस्टेण्टों के झगड़े याद आ गए । बोला आज न जाने कितनी हँसती-खिलखिलाती जिन्दगियाँ धरती से उठ जाएँगी । न जाने कितनों को अपनों की याद में सारे जीवन झुलसते हुए जीना पड़ेगा । कितने बेसहारों के भविष्य की उज्ज्वलता पर हमेशा-हमेशा के लिए कालिमा पुत जाएगी । कौन दोषी है इसका ? वह तीखे शब्दो में आक्रोश व्यक्त कर रहा था । लम्बे समय तक यह एक शब्द उन दोनों के बीच बहस का मुद्दा रहा है, भले पत्र माध्यम बनते आए हों । हमेशा वह उन्हें समझाते आए है प्रकृतिवाद, भौतिकवाद, मानववाद मानव को उसके लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकते । पर आज, विषाद के घुटन भरे माहौल में उन्होंने कुछ कहते न बन पड़ा । उनने आँखें उठाईं । एक नजर मित्र की ओर देखा और नजरें झुका लीं । नेत्रों की पुतलियाँ गहरे जल में तैर रही थीं । लगता था कि सारे विवाद को वे पी जाना चाहते हैं पर असमर्थ हो रहे हैं ।

उनकी भाव दशा साथ चल रहे सज्जन से छुप न सकी—स्वर धीमा हो गया "मैं कहता हूँ धर्म की जरूरत क्या है ? है भी तो कोई एक होता । धर्म के नाम पर इतनी खाइयाँ-खंदक, टीले पहाड़ । जहाँ देखो जिधर देखो आदमी भावना और भूगोल के आधार पर बँटा है, बँट रहा है, बँटना चाहता है । कौन जोड़ेगा इन्हें ? कौन पाटेगा विषमता के गड्ढे? कौन मेटेगा विभाजन की रेखाएँ ? किससे ढहेंगी बँटवारे की दीवारें ?

"धर्म" उनके मुख से फिर से यह शब्द सुनकर वह बौखला गया । सड़क किनारे खड़े पेड़ इन दोनों की बहस मौन हो सुन रहे थे । आस-पास के मकानो के दरवाजे बन्द थे । श्मशान के सन्नाटे पर इन्हीं की आवाज हथौड़े बजाती हुई आगे बढ़ रही थी ।

"आप का स्वास्थ्य तो ठीक है । अभी इतना सब देख कर आ रहे हैं फिर वही बात ।" "मैं भला चंगा हूँ पर वह धर्म नहीं है और न लड़ने वालो को इससे मतलब है । यह इनसान के अहंकार की टकराहट है और धर्म का पहला कदम है, अहंकार का विसर्जन । ऐसा होने पर लड़ाई की गुंजाइश कहाँ ? इस टकराहट को बहाना चाहिए कभी एक कभी दूसरा ।" मित्र जितना उत्तेजित थे वह उतने ही शांत थे । बातों की रफ्तार से शायद पैरों की रफ्तार तेज थी । बातो के लम्बे सिलसिले के बीच उनका मकान आ पहुँचा । कभी के डिप्टी कलेक्टर पर आज काशी-विद्यापीठ

के संस्थापक संचालक का मकान । काशी मे उन्हें सब पहचानते थे, समूचे देश में उनके नाम की कदर थी विदेशों में प्रसार था । विरोधी भी उनके सामने झुकते थे । यह थे डॉ. भगवान दास ।

दरवाजा खोल कर अन्दर पहुँचे । घर के सदस्यों की जान में जान आई । सभी चिन्तित थे । हवाई जहाज राकेट सब को अपनी गति सीमा मे पीछे छोड़ने वाली अफवाहे भला यहाँ तक पहुँचने से पीछे कैसे रहतीं ? पर प्रत्यक्ष के प्रकाश में इनका प्रभाव फीका पड़ गया । अतिशयोक्ति के अलंकरण धूमिल पड़ गए । घर वालों को खैर-कुशल सुनाते हुए ये दोनों अध्ययनकक्ष में पहुँचे । पूरा कमरा किताबों से भरा था । एक नजर मे ऐसा लगता कि सारे संसार भर की विद्वता ने अपनी पार्लियामेण्ट जमा रखी है । खिड़की का एक सिरा खोल दोनों एक-एक कुर्सी से टिक गए । इतने मे चाय आयी । चाय की चुस्कियों मे मौन घुल गया । "एक बात सोचो धर्म निरपेक्षता के जमाने मे धर्म, है भी तो कोई एक होता । इनमें इतनी भिन्नता क्यो है ? मैं तो धार्मिक-वार्मिक हूँ नही आप ही कुछ बोलो । हर धर्म की अलग-अलग अनुभूति... ।" कथन को बीच मे छोड़ दिया ।

हँसते हुए वह बोले 'देखो ब्राण्ट ! धर्म निरपेक्षता शब्द को तुमने भारत मे सुना है । इसका मतलब भी जानते हो ।" सैक्यूलिरिज्म सुनने वाला तपाक से बोल पड़ा "नहीं ।" उन्होने सहज भाव से कहा "यह संस्कृत शब्द है धर्म का अर्थ है राह और निरपेक्ष का मतलब है अपेक्षा नहीं । अर्थात् राह की अपेक्षा नहीं. और जिसे राह की जरूरत नहीं वह कौन होगा 'गुमराह' यही न" कहते हुए थमी हँसी एक बारगी में बह निकली सुनने वाले सज्जन ध्यान से सुन रहे थे "और जहाँ तक अनुभूति का सवाल है वहाँ भेद नहीं । हाँ अभिव्यक्ति का जरूर भेद है । इस अभिव्यक्ति को सब कुछ मानने वाले लड़ने लगते है, देख ही लिया । क्योंकि अभिव्यक्ति अनुभूति से नही आती अभिव्यक्ति आती है व्यक्तित्व से । जरा इस वाटिका की ओर देखो" उन्होने खिड़की से उस ओर इशारा किया । यहाँ फूल खिले है, पक्षी उड़ रहे है और यदि एक रुपया भी पड़ा हो तो जानते हो धन प्रेमी के लिए सब कुछ खो जाएगा, दिखेगा सिर्फ रुपया । कहीं कवि प्रवेश कर गया तो उसका सारा व्यक्तित्व—पक्षी के गीतों में बह जाएगा । चित्रकार रंगो मे खो जाएगा । फिर उन तीनों की बातों में व्यक्तित्व की भिन्नता झलकेगी जबकि तीनो बगीचे में गए है ।

बात समझ में आ रही थी । ब्राण्ट का रोष कम पड़ा । चाय भी समाप्त हो गई थी । प्यालों को एक ओर रखते हुए दोनों ने हाथ झाड़े, पैरों को फैलाकर हल्की-सी अँगड़ाई ली । एक क्षण के मौन के बाद गेलार्ड कहने लगे "तब तो यही कहा जा सकता कि कोई ऐसा सूत्र नही जो एकता स्थापित कर सके और यह विरोध अन्ततः धरती को... ।"

"अस्थिर मत बनो मि. गेलार्ड, धर्ती 'स्वर्गादपिगरीयसी' ही साबित होगी । हाँ धर्मों को अनुभूति के आधार पर समझना होगा शब्दों के आधार पर नहीं

"कौन-सी है वह अनुभूति ।" तनिक उत्सुकता बढ़

'संवेदना' यह प्राण है धर्म का । प्रत्येक धार्मिक द एक है और जो यहाँ एक है वही धार्मिक है । यही संवेदना महावीर में अहिंसा बनकर अभिव्यक्त होती है । पग घुँघरू बाँधे हुए मीरा के नृत्य में । शंकर में विवेक और बुद्ध में करुणा । ईसा मे वही प्रेम है । गंगा की तरह हिमालय से सागरपर्यन्त धर्म की शाश्वत धारा समूचे विश्व में एक है, हाँ घाट जरूर अलग-अलग है । लड़ाई घाटों की है, जल धारा की नहीं । आप जैसे कोई मानववादी—धर्म-संवेदना की धारा में बिना किसी घाट में प्रवेश किए सीधे धारा में नहा रहे है । इसी कारण सौ फीसदी धार्मिक होते हुए आज तक नहीं जान पाए कि आप धार्मिक भी है ।

"खूब रही" गेलार्ड हँस पड़ा । "मढ़ दिया वह स मेरे मत्थे पर" । वह मानववादी होने के साथ इण्डोलाजिस्ट भी था । मुख से कुछ भी कहे पर भारत और भारतीयता का अर्थ था उसके लिए महान सौन्दर्य । उसकी समझ ने ही उसे यहाँ सूक्ष्मताएँ प्रदान कीं । उसकी हँसी थमने पर यह बोले "धर्म, पोथियो मे नहीं रहता ब्राण्ट । इसका निवास ईंट, पत्थरों के बेजान टुकड़ों मे भी नहीं है । इसकी जगह है इन्सान का हृदय जो पीड़ितो के लिए पीड़ित है, जिसमें मानवीय निकलता के निवारण की तड़प है । उसी के हृदय में धर्म है । वह जीता जागता मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा है । उसके जीवन के क्रियाकलाप धर्म स्थान के विराट प्रांगण है ।" "और इस अनुभूति को पाना ?" उसकी आवाज पुन उभरी ।

इसी के बिना तो सारा विवाद है । भाषा का विवाद है सच्चाई का नहीं और जो भाषा का विवाद कर रहे है कम से कम वे धार्मिक तो नहीं । हाँ शब्द शास्त्री भले हो, और शब्द जाल तो भ्रमो का अरण्य है, जिसमें मनुष्य जाति भटक रही है ।"

दोनों सोच में डूब गए । मि. गेलार्ड ब्राण्ट शाम को निकलना चाहते थे तब तक सांध्य समाचार मे खबर थी दगे के कारण कर्फ्यू लगा दिया गया है । कब तक कैद रहेगा मानव ? इसके जवाब का चित्रांकन कागज की कैनवास पर वह करने बैठ गए । विचारो की लकीरो में कल्पना की कूँची भावों के रंग भरने लगी । दार्शनिक डॉ. भगवान दास के "इजेशियल यूनिटी आव ऑल रिलीजन्स" नाम से प्रकाशित इस शब्द चित्रांकन के सारे शब्द मिल कर एक ही शब्द उभारते है-संवेदना । नए जमाने के नए मनुष्य की पहचान, उसके धर्म और धार्मिकता की पहचान । जिसको अपनाए बिना वह मानव नहीं—पशु भी नहीं ! क्या है

माँ—हिन्दी के अनन्य सेवक—भगवानदास केला

जिस बालक के जन्म लेने के दूसरे वर्ष ही पिता का देहावसान हो गया हो और उसकी विधवा माता को माँ की ममता के साथ ही पिता का स्नेह-संरक्षण भी देना पड़ा हो और वह भी ऐसी विषम परिस्थितियों में कि जब वह चार वर्ष का हो उसके ज्येष्ठ भ्राता का देहावसान हो जाय। तदनन्तर उसकी बहिन भी अकाल कवलित हो जाय, उसके ज्येष्ठ भ्राता जो पटवारी थे और जिलेदार बनने वाले थे, वह भी थोड़े ही समय बाद देहान्त हो जाय और माँ को बड़ी मेहनत से परिवार की गाड़ी खींचनी पड़े तो उस बालक की अपनी माता के प्रति कितनी श्रद्धा हो सकती है, उसका अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता और यदि ऐसी माता उस समय चल बसे जब उसका पुत्र सेवा करने योग्य हो जाय तो उसके मन पर क्या गुजर सकती है ?

उस व्यक्ति ने माँ की ममता को अपने जीवन में साकार देखा था। उसने अपने संस्मरणों में लिखा है—"मेरे जन्म के अगले वर्ष ही पिताजी का देहान्त हो गया। माता जी की उम्र उस समय चालीस वर्ष की होगी। मैं उनकी अन्तिम सन्तान था। मुझसे पहले दस ग्यारह सन्तानें हो चुकी थीं। उनमें से हम तीन भाई और एक बहिन जीवित रही थीं। सन्तान के वियोग ने माताजी को अत्यधिक दुखित कर दिया था और उनकी आँखें कमजोर हो गयी थीं। ऐसे जर्जर तन और थके मन के बावजूद भी माता जी ने परिवार की गाड़ी को खींचा।

माताजी कपास ओटतीं, सूत कातती और कपड़ा सींती थीं। सर्दी के मौसम में वे सवेरे उठ जातीं और बहुधा अँधेरे में ही चरखा चलाती रहतीं। अक्सर रात के समय रुई चरखी के पास रख दी जाती और सब व्यवस्था ऐसी कर दी जाती कि अँधेरे में ही काम शुरू किया जा सके। अगर किसी दिन कुछ खास जरूरत पड़ती तो दिया जलाकर पूरी कर ली जाती। पीछे उसे बुझा दिया जाता। इस तरह रात का भी दिया सिर्फ उतनी ही देर जलाया जाता, जितनी देर उसकी जरूरत होती। कपास ओटने से जो बिनौले मिलते, उन्हें माताजी समय-समय पर बेचकर रोजमर्रा का फुटकर खर्च चलाती। रुई जब कोई इकट्ठा मोल लेने वाला सौदागर आता तब बेचती थीं। कुछ रुई अपने खर्च के वास्ते, सूत कातने के लिये रख लेती थीं।

माताजी की निगाह कमजोर होने से बारीक सिलाई का काम नहीं होता था पर वे दोहर, रजाई का गिलाफ, मिरजई, ओढ़ना आदि सीने का काम खूब करती थी और गाँव में इसकी ही विशेष जरूरत होती थी।

माँ की इस कठिन तपस्या का बदला पुत्र अपनी सेवा द्वारा चुकाना चाहता था पर वह जब इस स्थिति को प्राप्त हुआ तो माँ चल बसी। वह अपनी सेवा-भावना के पुष्प उस देवी के चरणों पर चढ़ा पाता उसके पूर्व ही वह देवी चल बसी।

पिता, भ्राता, भगिनियों सबको यों अकाल काल के ग्रास में जाते देखने वाले इस युवक के लिए अपने अन्तिम अवलम्ब को छिन जाने का जो कल्पनातीत दुःख था उस मानसिक दुःख का प्रभाव शरीर पर भी पड़ा। उसका हृदय बुरी तरह धड़कने लगा, चक्कर आने लगे। अस्वस्थता की तन्द्रा ने शरीर को तन्द्रिल बना दिया। उसी तन्द्रावस्था में उसके भीतर की दिव्य-चेतना मानवीरूप धारण कर उसके समक्ष उपस्थित हुई और कहने लगी—"पगले तू रोता है। जीवन की तरह मृत्यु भी सत्य है। उसे स्वीकारना ही होगा। तेरी जननी, पार्थिव दृष्टि से दिवंगता हुई है पर प्राणी मात्र की जननी माँ धरती भी तो है। माँ धरती के पुत्र भी तेरे अग्रज, अनुज, भगिनियाँ ही तो है। तू उन्हीं की सेवा कर।"

इतना सुनना था कि युवक स्वस्थ हो गया। उसका आवेग समाप्त हो गया। सोचने लगा—"कैसा पागल हूँ, मैं भी। अमर कौन रहता है। माँ नहीं रही तो क्या ? सेवा का क्षेत्र ही समाप्त हो गया ? नहीं। और उसे सेवा का क्षेत्र मिल गया राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा का विशालतम क्षेत्र। वह युवक आगे चलकर हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार भगवानदास केला के रूप में यशस्वी हुआ और राष्ट्रभाषा की सेवा कर धन्य हुआ।

केला जी ने बचपन में जिन कष्टों, अभावों और संत्रासो को झेला था वे उनकी साहित्यिक सम्वेदनाओं को जगाने में पर्याप्त सहायक थे। केला जी पर अपनी जननी के बड़े अहसान थे। उन अहसानों का बदला उन्होंने मातृ-भाषा की सेवा करके चुकाया।

उनकी घर स्थिति को देखते हुए तो वे क्या पढ़-लिख सकते थे पर उनकी माता ने हर कष्ट सहकर उन्हें रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज में प्रविष्ट कराया था। वे रुड़की में ही थे तब उनकी माता का देहान्त हो गया। वे अन्तिम दर्शन भी न कर पाये। नियति जिसके विचित्र कार्यकलाप देखकर कभी हम उसे निष्ठुर भी कह देते हैं पर वह निष्ठुर नहीं होती, उसके हर क्रिया-कलाप के पीछे कोई प्रयोजन होता है। उसी नियति ने भगवानदास जी की सब मोह-माया तोड़कर उन्हें राष्ट्रभाषा से जोड़ दिया था।

जो मातृ-वियोग केला जी के लिये अभिशाप था वही हिन्दी-साहित्य के लिये वरदान सिद्ध हुआ। विपत्तियाँ भी कभी वरदान हो जाती है। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इस आघात ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी। यह भी अच्छा ही हुआ कि वे इन्जीनियरिंग परीक्षा में असफल हुए, नहीं तो हिन्दी जगत अपने एक अनन्य-साधक की सेवाओं से वंचित हो गया होता। वे नहरों व सड़कों के इंजीनियर भले ही न बन सके हों, साहित्य-सरिता की नहरो के अभियन्ता तो बन ही गये। उन्होंने अकेले ही जो कार्य

सम्पादित किया वह एक व्यक्ति का ही नही एक संस्था का कार्य था ।

कितनी विनम्रतापूर्वक विकट-साधना के पथ पर हिन्दी-साहित्य-साधक केला जी चालीस वर्ष तक चलते रहे । उन्होंने कोई छुट्टी नहीं मनायी, साठ वर्ष की आयु तक एक ही पथ पर निरन्तर चलते रहने के अभ्यास के कारण आगे से उनके मन से यह बात ही उतर गयी कि मनुष्य को छुट्टी भी चाहिए । हिन्दी जगत मे ऐसे कार्यकर्ताओ की संख्या कई सौ होगी जिन्हें मानसिक भोजन केला जी के सद्ग्रन्थों से ही मिला है । उनकी क्षुद्रत्व की भावना को दूर करने मे उनकी पुस्तको ने अद्भुत प्रेरणा दी है ।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार का श्रेय जिन थोड़े से मूक महान साधको को है केला जी की गणना उन्ही मे की जाती है । आज हिन्दी भाषा जो कुछ है वह ऐसे ही मातृभाषा-सेवको की तपस्या का फल है ।

उनकी राष्ट्र-भाषा-साधना किस स्तर की थी उसकी जानकारी हमें उनके सुपुत्र श्री ओमप्रकाश के हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे पत्र से मिलती है—

"२५ जून १९३४ की घटना है, जो मुझे भुलाये नही भूलती । मेरे बड़े भाई की अवस्था उस समय चौदह वर्ष की थी । स्वास्थ्य को छोड़कर वे अन्य सब गुणों में पिताजी के सर्वथा अनुरूप थे । पिताजी का स्वास्थ्य जितना खराब था, उनका स्वास्थ्य उतना ही अच्छा था । चौदहवर्ष की उम्र में वे अठारहवर्ष जैसे हृष्ट-पुष्ट युवक प्रतीत होते थे । भाषण-शक्ति उनमें असाधारण थी; क्योंकि बचपन से ही उन्होंने इसका अभ्यास किया था । पिताजी ने उन्हे सर्वथा अपनी कल्पना के अनुरूप ही पाया था और उनसे भविष्य मे बड़ी-बड़ी आशाएँ, केवल उन्होंने ही नहीं, उनके मित्रो ने भी बाँध रखी थीं । उन्हे उस वर्ष मोतीझरा निकला । आरम्भ से ही योग्य चिकित्सको द्वारा इलाज कराया गया । १५ जून प्रातःकाल तक स्थिति काफी अच्छी थी । पर दोपहर को यकायक दशा बिगड़ने लगी और फिर वह बहुत खराब हो गयी । तीन बजे करीब उन्हे शैया से उतार कर भूमि पर ले लिया गया । पन्द्रह मिनट में ही बार बार 'हरि ओम्' कहने के बाद उन्होने प्राणत्याग दिये । उनका यमुना मे जल प्रवाह कर दिया गया और पिता जी श्मशान से लौट आये । आते ही वे तुरन्त लिखने मे लग गये । जो मित्र इस समाचार को सुनकर शोक में धैर्य बँधाने आये थे, उन्हें भ्रम हुआ कि उन्हें गलत सूचना मिली थी । कुछ लोग तो भ्रम से लौट ही गये, पर जिन्हें निश्चित पता था, उन्होंने पिताजी से पूछा—'आप इस अवस्था में कुछ लिख कैसे पा रहे हैं ।"

"मैंने, आपने भरसक प्रयत्न किये, पर ईश्वर की इच्छा यही थी । मुझे अपना कार्य करना चाहिए ।" पिताजी का यह संक्षिप्त-सा उत्तर था, गीता का उपदेश और वैराग्य की बात मैंने लोगों से प्रायः सुनी है पर पिताजी के मुँह से मैंने ऐसे उपदेश कभी नहीं सुने थे किन्तु इस घोर वज्रपात के समय अपने धैर्यपूर्ण व्यवहार द्वारा जो उपदेश दिया वह जीवनभर याद रहेगा ।

केला जी कितने सिद्धांतनिष्ठ थे, इस सम्बन्ध में भी उनके पुत्र ने जो घटना वर्णित की वह बड़ी ही मार्मिक है। उनके ज्येष्ठ पुत्र का देहान्त चौदह वर्ष की अवस्था में ही हो गया था । कनिष्ठ पुत्र ने बी.ए. पास करने के अनन्तर सन् १९७४ में ब्रिटिश सेना में अफसर बनने के लिए आवेदन किया और उस समय महायुद्ध के कारण सेनाधिकारियो की आवश्यकता भी थी सो उन्हे परमीशन भी मिल गया । यह सब राष्ट्रवादीपिता को पता नहीं था । अन्तिम समय मे जब ट्रेनिंग के लिये देहरादून जाना था तब पुत्र ने पिता से आज्ञा चाही उन्हें धक्का-सा लगा । पूछने लगे—"क्या तुम्हारा यह कार्य उचित है ? क्या तुम्हारा यह कदम देश द्रोहात्मक नहीं है ?"

"मैं तो अँग्रेजी सेना में भाड़े का सिपाही बनूँगा । मेरे लिये एकमात्र आकर्षण, भावी उन्नति है ।" पुत्र ने स्पष्ट उत्तर दिया ।

इस पर केला जी ने इतना ही कहा—'मुझे इस बात का भय नहीं कि तुम युद्ध मे मारे जाओगे । मुझे दु:ख भी नही होगा, क्योकि मैं सिद्धांतहीन व्यक्ति के जीवन को जीवन नहीं मानता । तुम्हारी मृत्यु तो आज हो चुकी । मुझे दु:ख केवल इस बात का है कि जो बच्चा बाल्यकाल मे यह गीत गाता था—

हम सूखे चने चबायेंगे,
काँटों पर दौड़े जायेंगे,
पर शीश न कभी झुकायेंगे ।

जिसमे देशभक्ति के संस्कार डाले गये थे, जो उसी वातावरण मे पला था, वही आज अपने को साम्राज्यवादी शक्तियो के हाथ बेच रहा है । समय आने पर सम्भव है, तुम अपने भाइयों पर गोली चलवाने में भी न चूको ।" कुछ रुककर उन्होने भरे कंठ से फिर कहा—'तुम्हारे भाई की मृत्यु से जो दु:ख मुझे नहीं हुआ, वह तुम्हारे सेना मे भर्ती होने से हो रहा है । यह तुम्हारी मृत्यु ही नहीं बल्कि आंशिक रूप से मेरी भी मृत्यु है ।"

पिता के मुँह से ये तथ्यपूर्ण मार्मिक वचन सुनकर पुत्र को अपनी भयंकर भूल ज्ञात हुई । उन्होने अपना देहरादून जाकर ट्रेनिंग लेने का निर्णय बदल दिया ।

इतने सिद्धांतनिष्ठ व्यक्ति का साहित्य कितना प्रेरक होगा, यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । वे एक रास्ते के चले हुए आदमी थे । दुनियादारी या लल्लो-चप्पो की बातें उन्हें नहीं आती थीं । अपने निर्णय को वे सीधी-सादी भाषा मे कह देते थे और यही उनकी लेखन-शैली की विशेषता भी थी ।

जीवन की सहजता का आनन्द जिन लोगों ने भोगा है या जिन्हें ज्ञात है वे इसका लाभ बखूबी से जानते है । केला

जी भी जानते थे और वैसा ही जीवन उन्होंने जिया भी था। आज की मान्यताओं के सन्दर्भ में यह बात कुछ अजीब लग सकती है। आज हर व्यक्ति भीतर बाहर की दो-दो भूमिकाएँ निभाने की, नाटक करने की, मुखौटे ओढ़े रहने की अनिवार्यता अनुभव करता है और उससे जीवन का आनन्द ही खो बैठता है। इस कृत्रिमता को बनाये रखने में जो लोग लाभ समझते हैं वे अपने आप को धोखा देने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते।

साहित्य में भी उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि उसे सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी समझ सके। उनका साहित्य प्रसाद-गुण से ओत-प्रोत रहा। उसमे भावों की गम्भीरता और विचारो की उच्चता तो अनुपम रही पर उसे शब्दाडम्बर और अभिव्यक्ति की जटिलता मे उन्होंने उलझाया नहीं। सीधी, सरल और प्रवाहमयीभाषा में उन्होने जीवन के चरम सत्यों का जो उद्‌घाटन किया है वह अपूर्व है।

कहना न होगा कि उन्होंने साहित्य-साधना को सेवा-उपासना मानकर किया था। इसके बीच किसी प्रकार का विराम, विश्राम लेना उन्हे कभी भी रुचिकर न हुआ। एक निष्काम कर्मयोगी की तरह उन्होंने अपनी दुर्बल काया के सहारे जो दुर्वहदायित्व निभाया वह भी अपने आप मे एक आश्चर्य ही है। इस दृष्टि से उनकी तुलना किसी से की जा सकती है तो सियाराम शरण गुप्त से, जो अपनी लम्बी चलने वाली असाध्य-बीमारी के बीच भी साहित्य सृजन कर सके थे।

उनके मित्रों और परिचितो की संख्या अति स्वल्प थी। इसे वे अपने कार्य में बाधक मानते थे अतः इसे अपने हित में ही समझते थे। पर अपने साहित्य के माध्यम से वे लाखो से परिचित ही नहीं हुये अंतरंग मे बसकर उन्हें दिशा निर्देश भी देते रहे थे।

केला जी के जीवन का एक दर्शन है। उस दर्शन पर उनकी माताजी की स्पष्ट छाप है। वे कहा करते थे—"हमारी माता जी भाभी को कहा करती थीं, देख बेटी, अगर दस आदमी हमसे अच्छी हालत में है तो कितने ही हमसे बुरी हालत मे भी हैं। इसलिये हमें अपने से अच्छी हालत वालों से ईर्ष्या करने या अपने भाग्य को कोसने के बजाय शक्तिभर प्रयास यह करना चाहिए कि जो हमें अपने समान बना लें। यदि यह नही किया जा सके तो सन्तोष तो कर ही लेना चाहिए।"

केला जी की मितव्ययिता भी आदर्श थी तो उनका धैर्य भी अप्रतिम। एक-एक पैसा बचाकर उन्होंने सोलह सौ रुपये एकत्रित किये थे। वे जिस बैंक में जमा थे, उसने दिवाला निकाल दिया। यह उनके छोटे से व्यापार लेखन-प्रकाशन पर घोर विपत्ति थी, पर उन्होंने इसका जिक्र अपने पुत्र तक से नहीं किया। कोई कृपण होता तो मर ही जाता। कृपणता और मितव्ययिता के बीच उनके इस व्यवहार ने जितनी सुन्दर सटीक सीधी रेखा खींची है।

वे कितने मितव्ययी थे उसका उदाहरण नीचे प्रस्तुत है। यह नागपुर से उनके द्वारा अपने पुत्र को लिखे गये पत्र का अंश है—

"इस बार मैंने निश्चय कर लिया था कि मेरा मासिक खर्च यहाँ पन्द्रह रुपये से अधिक न हो। यहाँ भी भोजन सहित खर्च बारह रुपये है और बिना घी का नौ रुपये। इस प्रकार केवल घी के तीन रुपये माहवार होते है। हम घर पर तीन-चार रुपये का घी सब मिलकर खर्च करते हैं। इसलिये मैंने यहाँ बिना घी के भोजन लेना शुरू किया और बारह तेरह दिन तक वैसा ही किया। फिर श्री रामगोपाल जी पहले एक किलो घी ले आये, पीछे मैंने मोल मँगा लिया। अब घी का खर्च औसत रुपया-सवा रुपया महीने से अधिक नहीं होगा....।"

पत्र में इससे आगे वर्णन था कि किस प्रकार वे महँगा होने के कारण नित्य दूध नहीं लेते। कपड़ों की धुलाई महँगी है सो हाथ से ही कपड़े धो लेते थे।

न्यूनतम साधनो में अधिकतम कार्य कर जाना और ध्येय-समर्पित-जीवन का कण-कण उसी महान उद्देश्य मे लगाना, यह केलाजी का जीवन रहा। जो प्रशिक्षण उन्हे बचपन में प्रकृतिमाता और उनकी जननी ने दिया था उससे उन्होंने जीवन भर लाभ उठाया और मातृ-भाषा हिन्दी का ऋण चुकाया। उनकी साधना ऐसी ही कठोर थी ऋषि-मुनियो जैसी पर कभी उस पर गर्व नहीं किया—अहसान नहीं जताया, सदा कहते रहे—"अरे अन्य कइयों की तुलना में हमे विज्ञापन भी अधिक मिल गया है। साधन भी मिले है। हिन्दी जगत में अनेक योग्य व्यक्ति ऐसे हुए हैं जो सचमुच बड़े साधक थे। जीवनभर कष्ट ही पाते रहे। हमारा जीवन तो बहुत सुविधामय रहा है। हमने क्या साधना की है?"

उनके जैसे अल्पतम साधनों वाले व्यक्ति की महत्तम उपलब्धि भी हमें कुछ वैसी ही प्रेरणा न दे जैसी उन्होंने पायी थी तो कमी उनके प्रेरक जीवन की नहीं कृपणता हमारे लेने की ही कही जायेगी।

निष्काम-साहित्य-सेवी—
भगवतीप्रसाद बाजपेयी

"नित्य प्रति भगवान से प्रार्थना कर उससे माँगते रहना उसका अपमान करना है। क्योंकि आखिर हम उसी की तो सन्तान है। इससे उसके गौरव को धक्का लगता है। साधारण आवश्यकताओं और समस्याओं की पूर्ति तथा समाधान करने योग्य उसने हमें बना दिया है, फिर रोज उसे तंग करने की क्या जरूरत"—भगवतीप्रसाद बजपेयी से जब उनके बीमार पिता ने कहा कि आभावों और कठिनाइयों में भगवान से प्रार्थना कर उसकी सहायता माँगनी चाहिए तो उन्होंने यह उत्तर दिया था।

१.४२ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

बाजपेयीजी आजीवन कठिनाइयो से रहे। परन्तु, उन्होने उनके निवारण हेतु प्रार्थना, उपासना जैसे उपायो का कभी दुरुपयोग नहीं किया। इन अर्थो मे उन्हे सर्वोच्च ईश्वर-भक्त तथा आस्तिक कहा जा सकता है।

उनका जन्म ११ अक्टूबर, १८९९ ई. को उत्तर प्रदेश के मंगलपुर (कानपुर) ग्राम मे हुआ। पिता अनपढ़ होने के साथ-साथ निर्धन भी थे इसलिये अधिक शिक्षा नही हो सकी। गाँव की पाठशाला मे ही मिडिल तक पढ़कर उन्हे आजीविका तलाशनी पड़ी। उसी गाँव में उनके मामा भी रहा करते थे, जो संस्कृत के विद्वान और सरस्वती के उपासक थे। उनके सम्पर्क मे रहने के कारण बाजपेयीजी भी अध्ययन और चिन्तन की ओर प्रवृत्त हुए।

परिवारिक स्थिति को ध्यान मे रखकर उन्होने गाँव मे ही अध्यापक की नौकरी कर ली। परन्तु तभी चला होम रूल लीग का आन्दोलन। संस्कृति-प्रेम ने उन्हे अध्यापक जीवन से घसीट कर आन्दोलन मे खीच लिया और वे नौकरी छोड़कर लीग मे आ गये। अपने मामा के सम्पर्क मे रहने के कारण संस्कृत और संस्कृति के प्रति अगाध-प्रेम पनप गया था।

बाजपेयीजी अपनी पत्नी के साथ कानपुर आकर रहने लगे। होम-रूल-लीग के वाचनालय मे उन्हें लाइबेरियन का काम मिल गया था। यहीं पर उन्हे चिरसाधित ज्ञान पिपासा को तृप्त करने का अवसर मिला। वे पुस्तकालय की सभी पुस्तके पढ़ गये। ज्ञान का भण्डार जब भरने लगा तो उन्होने लेखन का निश्चय किया। कविताएँ तथा गद्य मे उन्होने अपनी साहित्य-साधना आरम्भ की। महत्व के साधक ऐसे छोटे-छोटे अवसरो का लाभ उठाकर ही बड़प्पन की दिशा में आगे बढ़ते है।

भले ही कितने भी अभाव और कठिनाइयो का सामना क्यो न करना पड़े, दृढ़ निश्चयी, धैर्यपूर्वक उन बाधाओ को पार करते चलते है। पुस्तकागारिक के पद पर उन्हे पन्द्रह रुपये प्रतिमास वेतन मिलता था। शहर का जीवन साथ मे माता, पत्नी और बहनोई भी। पाँच-छह सदस्यो के परिवार का निर्वाह बड़ी मुश्किल से चलता। बाजपेयी ने पुस्तके-बेचने का साइड-वर्क भी किया। किताबों का गट्ठर बाँधकर वे कन्धे पर उठाये कानपुर की सड़को और गलियो मे साहित्य बेचने लगे। इससे आंशिक सहयोग तो मिला।

सन् १९१९ मे उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया। कुछ समय बाद लीग भी टूट गयी। बाजपेयीजी के सामने एक साथ बढ़े हुए दायित्व और बेरोजगारी की दो समस्याएँ सामने आयीं। भाई की मृत्यु से उनके परिवार की जिम्मेदारी भी बाजपेयीजी के कन्धों पर आ पड़ी थी। आज की तरह कोई युवक होता तो यही कहता कि सबकी जिम्मेदारियो का मैने कोई ठेका थोड़े ही ले रखा है। बाजपेयी जी ने प्रेम और पारिवारिक-कर्त्तव्यों को भली-भाँति देखा-समझा और उन्हें स्वीकार किया। उनका प्रेम केवल मुँह से व्यक्त करने या झूठी आत्मीयता जताने वाला नहीं था। आगत कर्त्तव्यों को उन्होंने अविचल भाव से ओढ़ा और उन्हें पूरा करने का प्र भी किया। परिवार के प्रति उनकी निष्ठा भावना का परि सभी लोगो के लिये पारिवारिक-प्रेम का ज्वलंत उदाहरण है

उन्होंने एक स्वदेशी स्टोर खोला। पूँजी तो पास मे थी नहीं। पत्नी ने अपने सब जेवर आभूषण दे दिये। अनपढ़ होते हुए भी बाजपेयीजी की धर्मपत्नी कई शिक्षित और समझदार स्त्रियों से भी श्रेष्ठ थीं। पति की आय और परिवार की आवश्यकताओं की कोई चिन्ता न करते हुए अपनी साज-सज्जा और रूप-सजावट मे ही जिनका समय और पति का पैसा बड़ी बेरहमी से खर्च होता है उनका दाम्पत्य जीवन कैसे सुखी बनेगा। भले ही बाजपेयीजी का परिवार आर्थिक दृष्टि से समृद्ध न रहा हो परन्तु पति-पत्नी की परस्पर निष्ठा, भाई-भाई का प्रेम, पुत्र की पिता के प्रति श्रद्धा-भा और माँ-बेटे का निश्छलस्नेह उनके जीवन में, उस स्वर्ग सुख की सृष्टि कर देता था जो अच्छे-खासे धनवान औ समृद्ध परिवारो को भी प्राप्त नहीं होती।

समृद्धि इन गुणो और भावनाओ के अभाव मे फीकी ही नही सालने वाले भी लगती है। बाजपेयीजी अभाव और कष्टो के बाद विपत्ति के क्षणो मे भी निराकुल और अनुद्विग्न दिखायी पड़ते थे। स्टोर खोले अभी कुछ ही दिन हुए थे कि दुकान मे चोरी हो गयी। पत्नी के आभूषणो के रूप में रही-सही पूँजी भी चली गयी और जीविकोपार्जन का एकमात्र साधन भी।

बाजपेयी परिवार को एक समय का भोजन भी दुर्ल हो गया। ऐसे समय मे पिता ने उनसे भगवान की प्रार्थन और ग्रह शान्ति के उपाय करने का परामर्श दिया था, जिसे उन्होने अनुचित समझा।

उन्होने प्रयत्न और पुरुषार्थ मे विश्वास किया। सफलता के आधारभूत इन ठोस उपायो का अवलम्बन लेकर वे आगे बढ़े और उन्हे एक प्रेस मे प्रूफ रीडिंग का काम मिल गया। यहीं से उनकी प्रगति और सफलता का एक नया आरम्भ हुआ। परिवार निर्वाह भी ठीक प्रकार चल लगा और बाद मे उन्होने इस प्रेस से विक्रम तथा 'माधुरी' के माध्यम से पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्रवेश किया।

आठवी कक्षा तक पढ़ा हुआ, परिस्थितियो का शिकार रहा एक नवयुवक उनसे हार न मानकर निरन्तर संघर्ष करते हुए आगे बढ़ने लगा। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हे सहायक मंत्री बनाया। बाद मे वे इन पत्रो के प्रधान सम्पादक भी बने।

बाजपेयीजी ने साहित्य के माध्यम से समाजसेवा का लक्ष्य चुना। यद्यपि उनका अध्ययन और शैक्षणिक ज्ञान इतना विस्तृत नहीं था फिर भी उनका चिन्तन परिपक्व था। इसका कारण था उन्होने पढ़ा कम और सीखा ज्यादा। इसका उल्लेख करते हुए एक स्थान पर उन्होने स्वयं लिखा है—"मैने थैले लादकर बाजार में शराफी का ...

हो सकती । ईमान से गिरना उन्हे किसी भी कीमत पर मंजूर नहीं होता । इन व्यक्तियों के उदाहरण ही अगणित व्यक्तियो के प्रेरणा स्रोत बनते है ।

हिन्दी-भाषा मे भारतेन्दु हरिश्चन्द को खड़ी बोली के जनक के रूप मे जाना जाता है । अपनी उदारवादिता के लिए वे प्रख्यात थे । उनकी विपुल पैतृक सम्पत्ति इस प्रवृत्ति के कारण कुछ ही समय मे समाप्त हो चली । कर्ज चढ़ गया । एक महाजन का तीस हजार रुपये का ऋण था समय पर न मिलने पर उसने उनके विरुद्ध दावा किया । ऋण से उन्होंने एक नाव खरीदी तथा कुछ नकद रुपये भी महाजन से लिये थे जिनका भुगतान नहीं कर सके । पर उस ऋण का कोई लिखित ब्यौरा महाजन के पास ऐसा नहीं था जिस पर बाबू हरिश्चन्द का हस्ताक्षर हो । इस केस में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्थापक सरसैयदअहमदखाँ न्यायाधीश थे । उन्होंने अकेले में बुलाकर पूछा कि नाव का वास्तविक मूल्य क्या था और वास्तव में उन्होंने महाजन से कितने रुपये उधार लिये थे । भारतेन्दु जी ने उत्तर दिया कि दावे मे लिखा गया मूल्य सही है तथा नकद-राशि भी उतनी ही ली गयी थी ।

न्यायाधीश का इशारा वस्तुतः कुछ और ही था । उनकी सहानुभूति हरिश्चन्द के साथ थी । उन्होंने समझाते हुए कहा कि "एक बार बाहर जाकर शान्त मस्तिष्क से याद करो ।" बाहर भारतेन्दुबाबू के शुभ चिंतको की भीड़ थी । सभी ने परोक्षरूप से ऋण लिये जाने से मुकर जाने के लिये प्रेरित किया । वे सुनते रहे और पुनः भीतर आये ।

न्यायाधीश महोदय ने फिर पूछा नाव का सही मूल्य क्या था ? परीक्षा की यह घड़ी थी । चाहते तो पूर्णतः मुकर भी सकते थे कि उन्होंने कोई ऋण महाजन से नहीं लिया है, ना ही नाव की कीमत बाकी है । कारण कि वैसा कुछ भी लिखित सबूत न्यायालय मे प्रस्तुत नहीं किया गया था । पर वे चट्टान की भाँति अपनी सत्यनिष्ठा पर अडिग रहे । स्पष्ट शब्दो में उन्होंने स्वीकार किया कि दावे में लिखित राशि सही है । पैसे के लिए मैं कभी भी धर्म एवं सत्य का परित्याग नहीं कर सकता । ऋण का भुगतान अन्ततः उन्होंने अपना मकान बेचकर किया पर सत्य निष्ठा पर आँच न आने दी ।

उदारता के लिए प्रख्यात साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द के एक मित्र की कन्या का विवाह था । वे कुछ याचना का मनोरथ लेकर आये, पर भारतेन्दुजी की जेब उन दिनो बिल्कुल खाली थी । अपना निर्वाह भी कठिन पड़ रहा था ।

फिर भी जरूरतमन्द को खाली हाथों न जाने देना ही उन्होंने उचित समझा । हीरा जड़ी अँगूठी उतार कर एक हाथ से मित्र के हाथ में रखी और लेने से इन्कार करने का अवसर आने देने से पूर्व ही उन्होंने दूसरे हाथ से मित्र का मुँह यह कहते हुए बन्द कर दिया—बस, अब कुछ मत कहना । मेरे पास अब कुछ नहीं बचा है ।

शाह अशरफ अली का स्वभाव संतो जैसा था । एक बा[र] वे सहारनपुर से रेलगाड़ी द्वारा लखनऊ जा रहे थे । उन्हो[ने] आदमियो से उन्होंने सहारनपुर स्टेशन पर कहा कि सामान का वजन करा ले, जितना अधिक हो उसे बुक करा दे । गाड़ी का गार्ड भी निकट ही खड़ा था । वह सन्त को पहले से जानता था तथा उनसे विशेष रूप से प्रभावित था । व[ह] तपाक से बोला "सामान बुक कराने की आवश्यकता नहीं, मैं भी साथ चल रहा हूँ ।" चकित होकर शाह ने पूछा "तुम कहाँ तक जाओगे ? मैं बरेली तक जा रहा हूँ, म[गर] आप सामान की चिन्ता न करें दूसरे साथी गार्ड से मैं क[ह] दूँगा, वह सुरक्षित लखनऊ बिना किसी व्यवधान के पहुँचा देगा" । "फिर आगे क्या होगा" सन्त ने पूछा । शाह अटपटा था । असमंजस को दूर करने के लिये गार्ड ने पूछा, "आपको जाना तो लखनऊ तक ही है न ?" मुस्कराते हुए साह ने उत्तर दिया "बरखुरदार ! जिन्दगी का सफर बहुत लम्बा है । वह खुदा के पास जाने से ही समाप्त होगा । तुम्हारी थोड़ी अविवेकपूर्ण हमदर्दी से मैं अपने ईमान से नहीं गिरना चाहता । जुर्म की सजा से यहाँ बच भी गया तो खुदा के यहाँ से कौन बचायेगा ?" गार्ड लज्जित हुआ उसने तुरन्त सामान का टिकट बना दिया ।

प्रलोभन कितना छोटा अथवा कितना बड़ा था, महत्व इस बात का नहीं । महत्त्व है कि इन अवसरो पर कितना दृढ़ रहा गया । इसी आधार पर व्यक्ति को आदर्शनिष्ठा की परख की जा सकती है । छोटे बड़े ऐसे परीक्षा के अवसर हर व्यक्ति के जीवन में आते रहते है जिसमें अधिकांश असफल तथा थोड़े सफल होते देखे जाते है । इन थोड़े व्यक्तियो को ही सच्चे अर्थों मे सिद्धान्तवादी कहा जा सकता है । वे ही अन्ततः चर्चा के विषय व गौरव के अधिकारी बनते है ।

क्रान्तिकारी विचारो के जनक होने पर सामाजिक परिस्थितियो की मान्यताओ से ताल-मेल न खाने से प्रसिद्ध विचारक कार्ल-मार्क्स को फ्रांस तथा जर्मनी दोनो ही देशों से निकलना पड़ा । वे परिवार सहित लन्दन मे जा बसे । वहीं पर उन्होंने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ 'कैपिटल' की रचना की । लन्दन प्रवास के दौरान मार्क्स को घोर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । दो बच्चे गरीबी के कारण भूख की ज्वाला की भेंट चढ़ गये । किराया न दे पाने के कारण मकान मालिक ने घर से निकाल दिया । रोटी के लिए बिस्तर एवं वस्त्र तक बेचने पड़े । इन सभी कठिनाइयो के बावजूद भी उन्होंने मजदूरों के उद्धार का जो बीड़ा उठाया था, उस संकल्प मे जरा भी शिथिलता नही आने पायी । मजदूरों के बीच यथावत बोलने, उनका संगठन खड़ा करने तथा विचारों को लिपिबद्ध करने का क्रम चलता रहा ।

उन्हीं दिनों जर्मनी मे विस्मार्क का प्रभुत्व था । प्रधान मन्त्री के रूप में वे ही सत्तारूढ़ थे । पूँजीवादी राष्ट्रों में जर्मनी अग्रणी था । विस्मार्क को डर था कि यदि मार्क्स के विचार फैल गये तो उसकी सत्ता तथा जर्मनी में पूँजीवाद की

नींव सदा के लिये उखड़ जायेगी। विस्मार्क ने अप्रत्यक्ष रूप से मार्क्स को रिश्वत देकर खरीदना चाहा, ताकि उसके विचारों का बढ़ता प्रभाव समाप्त हो जाये। मार्क्स के पुराने साथी बूचर को उसने पैसे के बल पर फोड़ लिया तथा उसके हाथो ५ अक्टूबर, १८६५ को एक गुप्त पत्र भिजवाया, जिसमें सरकारी समाचार पत्र के सम्पादन में सम्पादक के रूप में मार्क्स को आमंत्रित किया गया था। इस कार्य के लिए एक मोटी रकम मासिक के रूप में देने का लोभ जुड़ा था। पत्र के अन्तिम भाग मे यह भी उल्लेख था कि सरकार के समर्थन से भी राष्ट्र की सेवा हो सकती है।

विस्मार्क की मार्क्स को खरीदने की यह एक कुटिल मनोवैज्ञानिक चाल थी जो सफल न हो सकी। दूसरा कोई होता तो उन कठिनाइयो में डिग जाता पर मार्क्स ने इस प्रस्ताव का स्पष्ट रूप से इनकार कर दिया। श्रेष्ठ सिद्धान्तों को व्यक्तिगत आवश्यकताओ से भी अधिक महत्व देने वाले मार्क्स ने कठिनाइयो को स्वेच्छापूर्वक वरण किया। पर वे झुके नहीं, बिके नहीं। यह प्रलोभनो पर आदर्शों की एक ऐसी महान विजय थी जिसने मार्क्स को सदा महानता की ओर अग्रसर किया, उन्हे विश्व-विख्यात बनाया।

सचमुच ही दीन दुर्बल वे नहीं जो गरीब अथवा कमजोर है वरन् वे है जो कौड़ियों के मोल अपने अनमोल ईमान को बेचते हैं, प्रलोभनो में फँसकर अपने व्यक्तित्व का वजन गिराते हैं। तात्कालिक लाभ देखने वाले व्यक्ति उस अदूरदर्शी मक्खी की तरह हैं, जो चासनी के लोभ को संवरण न कर पाने से उसके भीतर जा गिरती तथा बेमौत मरती है। मृत्यु शरीर की नही नहीं व्यक्तित्व की भी होती है। गिरावट भी मृत्यु है।

आदर्शनिष्ठा, सिद्धान्त-वादिता की सच्ची परख यही हो सकती है उन्हे वाणी के विलास मात्र तक सीमित न रखा जाय उन्हें आचरण मे उतारा जाय। कथनी और करनी में एकरूपता का सदा समावेश रखा जाय। ऐसा सम्भव हो सके तो महानता की ओर अग्रसर होने का पथ प्रशस्त हो सकता है।

परिष्कृत संस्कृत के महान् प्रणेता—
महर्षि पाणिनि

मनुष्य क्या और कितना कुछ कर सकता है, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसके सम्बन्ध मे केवल यही कहा जा सकता है कि वह सब कुछ कर सकने में पूर्ण समर्थ है, यदि वह वास्तव मे कुछ करना चाहता है। बात ऐसी भी नहीं है कि कुछ कर सकने की क्षमता अनेक गिने-चुने लोगो मे ही होती है। हर व्यक्ति बहुत कुछ कर सकने में समान रूप से सक्षम है।

अब यहाँ पर मनुष्यो के कर्त्तव्यों मे असमानता इस लिये हो जाती है कि कुछ, कुछ कर दिखाने की चिन्ता करते है और हौसला रखते है बाकी अपने जीवन की सारी क्षमताएँ छीना-झपटी, खाने-पीने और हा-हा, ही-ही में गवाँ देते हैं। मोटे तौर पर अपनी सामान्य क्रियाशीलता को उपयोग में लाकर स्थूल रूप से चला-चली वाली जिन्दगी बिता जाते है। वे अपने अन्दर सुरक्षित उन विशेष शक्तियों का लाभ नहीं उठाते जिनको काम में लाने पर मनुष्य अनिवार्य रूप से ध्यानाकर्षक कार्य कर सकता है। जो अपने अन्दर ठहरी इस विशेष कुमुक को काम में लाते हैं वे संसार के जीवन समर में सफल होकर अपने स्थायी स्मारक अवश्य ही छोड़ जाते हैं।

आचार्य पाणिनि उन्हीं बुद्धिमान व्यक्तियों में से थे जिनका ध्येय जीवन बिताना नहीं, उसे पराकाष्ठा तक काम में लाना होता है और जो अपनी बूँद-बूँद क्षमता का सदुपयोग करने में जरा भी मुरव्वत नहीं करते। इस आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता के प्रबल-शत्रु ने मानव शक्तियों के प्रमाण में जो प्रस्थापना लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व की वह 'पाणिनि अष्टाध्यायी' के नाम से आज भी अमर है और आगे भी रहेगी।

'पाणिनि अष्टाध्यायी' वह व्याकरण शास्त्र है जिसने युगों से अदलती-बदलती आ रही भारतीय-भाषा का संस्कार कर उसे एकरूपता के साथ स्थायित्व प्रदान किया। पाणिनि ने अपने इस महान कार्य से न केवल एक सर्वाङ्गपूर्ण भाषा को ही जन्म नहीं दिया अपितु राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति को सदा-सर्वदा के लिए अक्षुण्ण बना दिया। युग-युग की विचार-विभूति को पीढ़ी-दर, पीढ़ी के लिये सुरक्षित रख सकने के लिये एक परम पात्र की रचना कर दी।

साधारण आचार-व्यवहार से लेकर दर्शन तक और लोककथाओ से लेकर इतिहास तक किसी राष्ट्र की जो भी सम्पदा होती है वह सब उसकी भाषा में ही संकलित रहती है और आगामी पीढ़ियाँ उसे उसी माध्यम से प्राप्त कर लाभ उठाती हैं जिससे राष्ट्र की सभ्यता एवं सांस्कृतिक परम्परा चिरंजीव बनती है।

आज तक संसार में असंख्य भाषाओं का उदय-अस्त हुआ। अनेक तो अपने बदले हुए रूप में चलती रही हैं, कुछ के स्थान पर कोई नवीन भाषा बन गई और कोई भाषा अपने में किसी को मिलाकर अथवा स्वयं किसी में मिलकर एक नवीन भाषा बन गई और अनेक भाषाओं का अस्तित्व ही संसार से मिट गया। केवल एक ही भाषा संस्कृत ही ऐसी है जो हजारों वर्षों से आज तक अपने एक रूप में चली आ रही है। इसी संस्कृत-भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण रचकर महर्षि पाणिनि ने उसे नियमबद्ध किया।

संस्कृत से पूर्व देश में कोई एक ऐसी सार्वदेशिक भाषा नहीं थी जिसके माध्यम से एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश के लोगो से विचार-विनिमय कर सकते और यह कमी राष्ट्र की एकता के लिये बहुत घातक थी। भारत का बहुमूल्य वाङ्मय न जाने कितनी भाषाओं मे बिखरा पड़ा था, जिसका अध्ययन कोई भी देश की लगभग सभी भाषाओं को पढ़े

बिना नही कर सकता था और यह साधारणतः एक कठिनतम बात थी ।

महर्षि पाणिनि ने इस देश की विशाल कमी का अनुभव किया और देश के सारे शब्द-भण्डार को एक व्यवस्थित रूप मे रखकर, उनकी व्याख्या और अर्थ निश्चित करके एक नियमबद्ध भाषा का निर्माण करने का निश्चय कर लिया । यह काम साधारणतः कठिन ही नहीं बल्कि बहुत ही विराट् तथा असाधारण था । इस एक काम को पूरा करने के लिए कितनी शक्ति, कितने परिश्रम, कितनी लगन और कितने अध्ययन, अनुभव एवं अविरतता की आवश्यकता थी, पाणिनि इससे अनभिज्ञ नहीं थे । किन्तु उन्होंने इसकी रंच मात्र भी चिन्ता न की । जहाँ उन्हें कार्य की कठिनता तथा विराटता का ज्ञान था वहाँ मानव की अनन्त क्षमताओ का भी पता था ।

अपने नियमपूर्ण निर्माण और संयमशील आत्मा, प्रबुद्ध बुद्धि, अविचल मन और अखण्ड अध्ययन के बल पर पाणिनि को पूर्ण विश्वास था कि वे राष्ट्र की इस बड़ी कमी को अवश्य पूरा कर लेगे । वे जानते थे कि उन्होने अब तक के अपने श्रम से जो कर्मठता उपार्जित की है उसकी तेजस्विता के सम्मुख आलस्य, प्रमाद, विलम्ब अथवा दीर्घसूत्रता के पतंगे आ ही नही सकते । जब वे शरीर के साथ अपने मन-मस्तिष्क को सम्पूर्ण रूप से नियोजित करके काम करना शुरू करेगे तब उनकी क्रियाशीलता एक अविचल लगन के रूप मे बढ़ती जायेगी । और फिर ऐसी दशा मे काम के अपूर्ण रह जाने का प्रश्न ही नही उठता । निदान उन्होने संसार के सारे सुख भोगो का विचार त्याग कर अपने जीवन का प्रत्येक क्षण उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दिया । अपने स्वार्थ, वैयक्तिक सुख और व्यक्तित्व के साथ अस्तित्व को जनोपयोगी कार्य के लिए दान कर दिया । अपने विद्वान गुरुवर्य से विद्या प्राप्त कर पाणिनि घर जाने के बजाय देशाटन पर चल पड़े । उनके देशाटन कार्यक्रम मे उनके दो साथी व्याडि और वररुचि भी सम्मिलत हो लिए ।

अपनी यात्रा क्रम मे पाणिनि सबसे पहले हिमालय पहुँचे जहाँ उनकी भेंट ईश्वरदेव नाम के एक प्रकाड विद्वान से हुई । पाणिनि ने उनका ध्यान देश की भाषाई कमी की ओर आकर्षित किया और उसे दूर करने की अपनी योजना बताई—उन्होने बताया कि सम्पूर्ण देश में जितनी भी बोलियाँ, भाषाएँ तथा लोक भाषाएँ प्रचलित है उन सबका शब्द कोष इकट्ठा करके समानार्थक शब्दो को वर्गबद्ध कर लिया जाये अनन्तर प्रत्येक शब्द का इस प्रकार परिष्कार किया जाये कि वे एक जातीय जैसे हो जाये । फिर उनके स्वरूप, प्रयोग अर्थ तथा आकार निश्चित कर दिया जाय और इस प्रकार भारत की तमाम भाषाओ की सहायता एक ऐसी राष्ट्र-भाषा का निर्माण कर दिया जाये जो देश की समग्र जनता को समान रूप से ग्राह्य हो । श्री ईश्वरदेश ने पाणिनि की इस योजना को उपयोगी ही नहीं आवश्यक बतलाते हुए उनकी प्रतिभा, दूरदर्शिता तथा सूझ-बूझ की बहुत प्रशंसा की और स्वयं भी हर प्रकार का सहयोग तथा सहायता देने का वचन दिया ।

जिस राष्ट्र में उसका हित सोचने वाले सर्वत्यागी तपस्वी होते रहे हों उसका अनादि से अनन्त तक जीवित रहना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है । भारत की अज्ञात प्राचीनता का यही एक रहस्य है कि यह भूमि पाणिनि जैसे तपस्वियों से कभी खाली नहीं रही और जब तक इस प्रकार के महापुरुषों की परम्परा बनी रहेगी, भारत अपने गौरव के शिखर पर आसीन रहेगा । पाणिनि ने अपने उद्देश्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया । वे अपनी इस यात्रा में केवल नगरों में ही नहीं जन-पदों, कस्बों तथा छोटे-से-छोटे गाँवों तक में गये, वहाँ रहे और अध्ययन के साथ अर्थ, भाव तथा उच्चारण सहित अपार शब्द राशि संकलित की । शब्द-राशि के अतिरिक्त पाणिनि ने प्रान्त-प्रान्त, नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम के रीति-रिवाज आहार-विहार तथा आचार-विचार का भी अध्ययन किया ! लोगों से मिलकर, बात कर और गहरी से गहरी खोज मे उतरकर एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके इतिहास का पता लगाया ।

इतना बड़ा और व्यापक कार्य करने मे पाणिनि को कितना श्रम करना पड़ा होगा इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । पाणिनि अपनी खोज के लिए जहाँ भी गये होगे वहाँ की भाषा सीखी होगी, निवासियों से अपनत्व प्राप्त करने के लिए आचार-व्यवहार का अभ्यास किया होगा । वृद्धों एवं विद्वानो का सहयोग, सहानुभूति पाने के लिए अपनी पात्रता सिद्ध की होगी । क्योंकि इसके बिना वे अपने कार्य मे कृत-कृत्य न हो सकते थे ! निःसंदेह पाणिनि ने इस शब्द सकलन तथा स्थान-स्थान की भाषाएँ सीखने और उनके रीति-रिवाजो का अध्ययन एवं अभ्यास करने मे आयु का बहुत बड़ा भाग लगा दिया होगा ।

अपने इस यात्रा काल मे वे भाँति-भाँति के अच्छे-बुरे, क्रूर, करुण, मूर्ख, विद्वान स्त्री-पुरुषो के सम्पर्क मे आये होंगे और निःसन्देह यह सारी यात्रा पैदल ही पूरी की होगी ।

किन्तु उनके जीवन-वृत्त, कार्य-कुशलता तथा उद्देश्य की महानता से स्पष्ट है कि अपने लक्ष्य-पथ के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग पर एक पद भी न चले होंगे । इतनी विराट्यात्रा में उनके सम्मुख हजारो बार भय, मोह अथवा स्वार्थ, प्रलोभनों के अनेक अवसर आये होगे किन्तु उनकी सफलता इस बात की गवाही देती है, कि वे इन मानवीय दुर्बलताओ से एक क्षण को भी प्रभावित न हुए होगे ! भूख-प्यास, शीत-घाम तथा वर्षा के कष्टो को उठाते हुए पाणिनि निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते रहे होगे अन्यथा संसार की फिजूल बातों मे अपने को उलझाकर वे इतना बड़ा काम न कर सके होते । जिनको जीवन मे कुछ करने की लगन लगी होती है उनकी सारी व्यक्तिगत आवश्यकताओ का अभाव हो जाता है । इस प्रकार अपने को नि-स्वार्थ, निस्पृह एवं निर्विकार बनाये बिना इतना बड़ा काम सम्पादित कर सकना असम्भव ही होता है ।

देश का अपार शब्दभण्डार इकट्ठा करके पाणिनि हिमालय के एक एकान्त स्थान में जा बैठे और अपना काम शुरू कर दिया। अब तक का सारा पुरुषार्थ उनके असली काम की तैयारी मात्र ही था एक कुशल शिल्पी की भाँति अब पाणिनि ने अपने उपकरण जमा कर लेने के बाद महाग्रन्थ की रचना शुरू कर दी।

सर्वप्रथम उन्होंने उस विशाल शब्द संकलन को क्रम से वर्गों मे बाँटा, उनका परिष्कार किया, अर्थ एवं आकार निश्चित किया, प्रयोग के नियम बनाये और इस प्रकार एक व्यापक व्याकरण की रचना करके संस्कृत नाम की भाषा को जन्म दिया, जो उसी समय से भारत की राष्ट्रभाषा और सार्वदेशिक आचार-विचार का माध्यम मान ली गयी।

पाणिनि का व्याकरण शास्त्र आठ अध्यायों मे विभक्त है अतएव उसको अष्टाध्यायी कहा जाता है जिसमें वृत्ति तथा तद्धित एवं कृदंत सिद्धान्तों को भाषा के क्षेत्र मे एक बड़ी क्रांति माना जाता है। उन्होंने शब्द निर्माण, अर्थ संकोच अथवा विस्तार तथा रूपार्थ के परिवर्तन के उन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की कि जिनके आधार भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ।

अपने इस विशाल कार्य को पूरा करने के बाद पाणिनि पाटलिपुत्र मे महाराज नन्द के दरबार मे पहुँचे। उन दिनों नन्द का दरबार देश भर के बड़े-बड़े विद्वानो से भरा रहता था और वही विद्वन्मंडली उन दिनो नये पंडितों द्वारा किये गये कार्यों को जाँच कर मान्यता प्रदान किया करती थी और किसी बहुत बड़ी नई खोज पर पंडित को 'सन्नयन' की उपाधि दिया करते थे।

उस विद्वन्मंडली ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की जाँच की और उनको 'सन्नयन' की उपाधि देकर यह भी घोषणा की कि पाणिनी के इस व्याकरण शास्त्र को जो अच्छी तरह समझ लेगा उसे भी एक हजार मुद्राएँ पुरस्कार में दी जाया करेगी।

भाषा-शास्त्र मे इस प्रकार एक क्रांति उपस्थित करने वाले महर्षि पाणिनि का जन्म गान्धार मे सिन्धु तथा काबुल नदियों के संगम से चार मील ऊपर हट कर लहुर नामक ग्राम मे हुआ था। किन्तु उनका पालन-पोषण उनके ननिहाल के ग्राम शलातुर मे हुआ था जहाँ उनके पिता जाकर बस गये थे। इनके पिता का नाम सामन पाणिनि तथा बाबा का नाम विष्णुशर्मनपाणिनि था। केवल पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध इनका नाम आहिक पाणिनि था। इनके वंशज वाल्हीक के रहने वाले थे, इनका जन्म ईसा पूर्व ४८०-४१० माना जाता है और मृत्यु के विषय मे प्रसिद्ध है कि अपनी खोज मे तल्लीन पाणिनि को एक व्याघ्र ने भक्षण कर लिया था।

राष्ट्र भाषा के अमरशिल्पी—
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

गृह की सफाई-सुव्यवस्था मे व्यस्त गृहिणी को कमरे मे रखे एक बक्स में दो पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुईं। सरस्वती के उपासक के घर इन की प्राप्ति कोई अस्वाभाविक न थी। वह स्वयं पढ़ी-लिखी थी। किसी भारी-भरकम उपाधि का बोझ न ढोने पर भी स्वाध्याय की निरन्तरता ने उनके भीतर विवेक को जाग्रत किया था, चिन्तन को विकसित किया था। पति के द्वारा तैयार की गई इन पाण्डुलिपियों को एक सरसरी निगाह से देखा तो अवाक रह गईं। लज्जा और क्रोध से उनका चेहरा आरक्त हो गया। साहित्य के नाम पर यह प्रवंचना उन्हें असह्य लगी।

वस्तुतः, ये पाण्डुलिपियाँ काम शास्त्र पर थीं। जिन्हें उनके पति ने लगातार परिश्रम के बाद तैयार किया था। इस विषय पर उनकी एक पुस्तक सुहागरात पहले छप चुकी थी। इस किताब को जनसमुदाय ने खूब पसन्द किया। बिक्री भी खूब हुई, पर्याप्त धन भी मिला। धन और सस्ती लोकप्रियता के यों ही मिल जाने पर मित्र मंडली ने आग्रह किया कि ऐसा ही कुछ और लिखें। परिणाम, उक्त दो पाण्डुलिपियाँ थीं। अपने पति की यह करतूत देखकर सिद्धान्तनिष्ठ पत्नी तिल मिला गईं। जनमानस मे कुत्सित-भावों को पनपाने पर जो लोकप्रियता और धन मिलता है उस पर धिक्कार है। ऐसे साहित्यकार से तो गँवार होना अच्छा।

उस विवेकशीलनारी को साहित्यकार की उत्तरदायित्वहीनता एकदम असहनीय लगी। उनकी दृष्टि मे साहित्यकार की प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त विभूति थी और जनमानस को श्रेयपथ पर चलाने वाले साहित्य का सृजन करना उस विभूति का सदुपयोग था। इस सिद्धान्त का हनन करना किसी भी साहित्यकार के लिए उचित नहीं। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि वे अपने पति को इस मोह से विरत करके रहेंगी।

यह विचार कर उन्होंने पाण्डुलिपियाँ पृथक सन्दूक मे रख लीं, चाबी उनके अपने पास थी। कई दिनों बाद पति अपने सदूक में इन्हें खोज रहे थे, न मिलने पर परेशान भी थे। पर पूछें किससे? पत्नी के स्वभाव से परिचित थे पूछने की हिम्मत नहीं हो रही थी। इसी उधेड़बुन मे माथे पर पसीने की बूँदें छलछला आईं।

परेशानी को भाँप कर गृहिणी ने "पूछा आप क्या खोज रहे है?"

"कुछ भी नहीं"। "नहीं कुछ तो?"

"अपनी किताबों की पाण्डुलिपियाँ ढूँढ रहा हूँ, जहाँ रखी थीं, वहाँ मिल नहीं रही है।"

"वह मेरे बक्से मे ताले में बन्द है और आपको कभी नहीं मिलेगी।"

"लेकिन मैंने उन पर बड़ा परिश्रम किया है।" "कुएँ मे पड़े ऐसा परिश्रम। स्त्री-पुरुषों के शारीरिक सम्बन्धों के उद्दीपक भावों को चित्रित करने, जनमानस में कुत्सा भड़काने में ही अब श्रम करना सार्थक हो गया है। भगवान ने अकल दी है, कलम में ताकत दी है तो सामाजिक समस्याओं के निदान क्यों नहीं सुझाते? जनरुचि को परिमार्जित कर आदर्शों की ओर मोड़ने के लिए क्यों नहीं लिखते? कलम चलाना है तो मनुष्य में मुरझाई-कुम्हलाई संवेदनाओं को क्यों नहीं सींचते? यदि यह नहीं कर सकते तो साहित्य लिखने की जगह मजदूरी करिए। इससे मुझे भी संतोष मिलेगा और आप दुष्कर्म से बचेंगे।"

पत्नी की फटकार से पति का सोया विवेक जाग पड़ा। क्षमा-याचना के स्वर में कहा "तुम ठीक कहती हो देवी! *तुमने मेरी आँखें खोल दीं।*"

जाग्रत-विवेक ने साहित्यकार को दिशा दी। वह दायित्व को पहचान, जुट पड़ा लोकमानस का परिष्कार करने के लिए। साहित्यकार के दायित्व व गरिमा को पहचानने वाले मनीष थे पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी और दिशा बोध कराने वाली थी उनकी पत्नी जिनके प्रयासों व आदर्शनिष्ठा से वह युगनिर्माता-साहित्यकार के रूप में जाने गये और अनेक व्यक्तियों का उन्होंने निर्माण किया।

द्विवेदी जी की समय-साधना

आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी को हिन्दीसाहित्य मे बड़ा सम्माननीय स्थान प्राप्त है। उनकी सेवाएँ इतनी महत्वपूर्ण हैं, कि उनके साहित्यसेवाकाल को 'द्विवेदी युग' से सम्बोधित किया जाता है। सामान्य रूप से लोग उन्हे साहित्य-साधक के रूप मे ही जानते है किन्तु यह थोड़े व्यक्तियों को ही ज्ञात है कि वह सबसे पहले समय के साधक थे। बाद मे कुछ समय की साधना तथा उसके अनुशासन के निर्वाह द्वारा ही उन्होंने अपने जीवन मे अनेक आश्चर्यजनक कार्य किये।

भारतीय मनीषियों ने समय को बहुत महत्व दिया है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि जीवन मे अनेक आध्यात्मिक व नैतिक-गुणों की उपेक्षा के साथ हमने समय की साधना भी भुला दी। अपनी इस छोटी-सी भूल के कारण हमें 'इण्डियन टाइम' जैसा कुत्सित व्यंग्य सहना पड़ता है यह वास्तव में एक भयंकर गलती है। यह स्पष्ट घोषणा है कि हममें आज समय जैसी ईश्वरीय विभूति का महत्व समझने योग्य न तो बुद्धि है तथा न उसका सही उपयोग करने योग्य क्षमता। यह ऐसा कलंक है जिसे किसी भी स्वाभिमानी को स्वीकार नहीं करना चाहिए। यही नहीं, प्रयत्नपूर्वक इसे धोया भी जाना चाहिए।

उक्त कलंक से अपने आपको बचाकर, कवि प्रणीत संस्कृति का मुख उज्ज्वल करने वाले सपूतों मे आचार्य द्विवेदी का भी नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने समय का उपयोग इतने अच्छे ढंग से किया कि अपने आपको इस आदर्श के प्रति निष्ठावान मानने वाले विदेशी भी उनकी सराहना करते थे।

हमारे देश में अपनी व्यस्तता की शिकायत एक बड़प्पन का चिन्ह-सा बनती जा रही है। लोग समझते हैं कि 'हमें समय नहीं मिलता' कहकर वह अपनी क्रियाशीलता की प्रशंसा कर रहे है। किन्तु वास्तव में देखा जाये तो यह एक भ्रान्ति है, एक कमी है। जिन्हें पैसा खर्च करना नहीं आता वह अर्थाभाव का रोना रोया करते हैं, इसी प्रकार जिन्हें समय का उपयोग करना नहीं आता वह समयाभाव की दुहाई देते हैं। समय को ईश्वर प्रदत्त-विभूति मानकर उसके क्षण-क्षण का उपयोग करने का प्रयास अपने आप में एक महत्वपूर्ण साधना है। अध्यात्म का तो वह प्राण है ही किन्तु लौकिक-जीवन की सफलता के लिये भी परम लाभकारी है। आचार्य महावीर प्रसाद जी ने इसी साधना में कुशलता प्राप्त की थी।

पहले जब वह रेलवे की नौकरी मे थे—उन्हें भी कार्य मे व्यस्त रहना पड़ता था। उनके अन्दर जो साहित्यिक तथा लोकशिक्षण की वृत्तियाँ थीं वे अन्दर से जोर मारा करती थीं। उन्हे लगा कि "क्या रेलवे की नौकरी की व्यस्तता उनकी इस उमंग को कुण्ठित कर देगी? विचार करने के बाद उनने अपने जीवन मे कड़ाई के साथ खाली समय के उपयोग की योजना बनाई। इस निर्णय ने शीघ्र ही अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर दिया। उसी के फलस्वरूप वर्षों तक अपने कार्यालय के उत्तरदायित्व के कुशल निर्वाह के साथ सरस्वती जैसी श्रेष्ठ पत्रिका का विधिवत् सम्पादन उन्होंने किया। अवकाश के क्षणों मे हजारों पुस्तके पढ़ीं तथा सैकड़ों पुस्तके लिखीं। साहित्य-रचना के साथ ही साथ नये लेखकों तथा कवियों को पत्राचार द्वारा मार्गदर्शन देकर उनकी प्रतिभा एवं क्षमता का विकास किया। हिन्दी को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध करके उसे संस्कारित करने का अति कठिन कार्य भी वह इन सब कार्यों के साथ कर सके। यदि वह समय को इस प्रकार उपयोग मे न ला सके होते तो वह भी जीवनभर सामान्य 'कर्मचारी' ही बने रहते। अस्त-व्यस्त जीवनक्रम मे तो जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति ही भारी दिखाई पड़ती।

एक बार राष्ट्रकवि श्री मैथलीशरणगुप्त श्री द्विवेदी जी से मिलने के लिये तैयार हुए। अचानक उन्हे ध्यान आया कि पिछली बार उनके यहाँ दरवाजे पर एक तख्ती लटकती हुई देखी थी। उस पर लिखा था—"प्रातःकाल भेंट न हो सकेगी।" श्री गुप्तजी ने यह बात ध्यान मे आने पर मिलने का कार्यक्रम शाम का ही बना लिया। शाम को द्विवेदी जी से काम की बात समाप्त करके उन्होंने उक्त तख्ती का रहस्य पूछा। द्विवेजी जी मुस्करा उठे और बोले—"यह बात है कि प्रातः मैं सरस्वती के सम्पादन का कार्य करता हूँ। पत्रिका के स्तर के अनुसार उस पर श्रम भी करना पड़ता है। यदि एकाग्रतापूर्वक यह कार्य न किया जाये तो उसमें उत्कृष्टता नहीं आ सकती। प्रातःकाल का समय मानसिक कार्यों के

लिये रहता भी अधिक उपयोगी है । मिलने-जुलने के लिये तो शाम का समय भी उपयोग में लाने मे कोई हानि नहीं है ।" बात प्रामाणिक थी । मैथिलीशरण जी को पूरा-पूरा सन्तोष हुआ । मन ही मन उनने इस व्यावहारिकता तथा समय के उपयोग की सराहना की ।

एक और कठिनाई समय के पालन मे इस कारण पैदा हो जाती है कि कार्यों को आवश्यकता से अधिक समय दे दिया जाता है । उससे अन्य कार्यों का समय अकारण मारा जाता है । यह सन्तुलन भी अभ्यास द्वारा बनाया जाता है ।

एक बार प्रसिद्ध साहित्यकार श्री सद्गुरुशरण अवस्थी अपने एक मित्र के साथ द्विवेजी जी से मिलने गये । द्विवेदी जी अवस्थी जी का पर्याप्त सम्मान करते थे । अवस्थी को हिन्दी मे कोई डिगरी प्राप्त नहीं थी, किन्तु उनकी लेखन-शैली से प्रभावित होकर द्विवेदी जी ने उन्हें सनातन धर्म कालेज में हिन्दी का प्रवक्ता नियुक्त करवा दिया था । द्विवेदी जी उनसे बड़े प्रेम से मिले । किन्तु समय की कमी के कारण पहले ही संकेत कर दिया— हम समझते है कि अपनी बात १५ मिनट मे पूरी हो जावेगी । अवस्थी जी उनकी व्यस्तता से परिचित थे । उनने नपे-तुले शब्दों में बातचीत की । समय पूरा होने पर द्विवेदी जी ने पुनः स्नेह से पूछा—"और कोई विशेष बात तो नहीं रह गई ।" अवस्थी जी ने उत्तर दिया—"बात तो सब हो गई इतनी जल्दी पूरी हो सकने की हमे तो आशा भी नहीं थी ।" इस पर द्विवेदी जी ने जो उत्तर दिया समय नष्ट करने वालो के लिये यह पद्धति एक जीवन मन्त्र सिद्ध हो सकती है । उन्होंने कहा—"पूर्व निर्धारित समय के बिना काम करने से एक कार्य दूसरे की सीमा में अकारण घुस जाते है और सारी व्यवस्था चौपट कर देते हैं । पूर्व निर्धारित समय मे कार्य करने का संकल्प मनुष्य की शक्तियों मे अधिक निखार लाता है । यदि समय का निर्धारण न करते तो हम सभी का समय तो व्यर्थ जाता ही है सन्तुलित भाषण के अभ्यास से भी वंचित रह जाते ।" हममे से न जाने कितने लोग इसी असावधानी के कारण दोहरी हानियाँ उठाते रहते है । यदि इस मन्त्र को जीवन में धारण कर सके तो समय की कमी की शिकायत भी दूर हो जावे तथा जीवन का विकास भी अधिक तेजी से हो सके ।

अपने समय का उपयोग करने के साथ ही अन्य लोगो के समय को भी महत्व देना एक गुण है । दूसरो द्वारा भी समय का उपयोग कराना जिन्हे आता है वे न जाने कितनो को दीन-हीन जीवन से उबार लेते है, अनेक हानियो से बचा लेते हैं । द्विवेदी जी मे यह गुण भी पर्याप्त मात्रा मे था । एक बार उन्होंने अपने भानजे तथा प्रतिष्ठित मेहमान को समय रक्षा के लिये प्रेरित करके बरसते पानी मे १४ मील पैदल चलाकर ठीक समय पर लखनऊ भेजा था । उस समय तो उन दोनो को कुछ शारीरिक कष्ट अनुभव हुआ । किन्तु बाद में उनने ही स्वीकार किया कि "यदि हमें इतनी प्रबल प्रेरणा न मिलती तो हम सामान्य से शारीरिक कष्ट से डर कर वहाँ पड़े ही रह जाते । इसके फलस्वरूप उसको हानियों का प्रभाव लम्बे समय तक भुगतना पड़ता ।" वस्तुतः यदि समय को महत्व देना सीख लिया जाये तो सामान्य अड़चनें व्यक्ति के मार्ग मे बाधक नहीं बन सकतीं ।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी अपने जीवन मे समय की साधना के ऐसे ज्वलन्त उदाहरण छोड़ गये है कि उनसे हम दीर्घकाल तक प्रेरणा ले सकते है । एक बार उनसे मिलने आये अँग्रेज डिप्टीकमिश्नर इतने प्रभावित हुए थे कि उनने भी स्वीकार किया था कि—"यहाँ आकर मैंने बहुत कुछ पाया, बहुत कुछ सीखा ।" इस प्रकार के गौरव के अधिकारी वह सभी व्यक्ति हो सकते हैं जो पूर्ण मनोयोग से समय के अनुशासन मे चलने का अभ्यास करे ।

सेवा साधना

संत और शिल्पी, शिल्पी और संत । दोनो एक दूसरे के पूरक अथवा यों कहें दोनों एक है । संत वही है जिसने अपने को भली भाँति गढ़ा हो । गढ़ने की समूची कुशलता अपने जीवन रूपी पत्थर पर दिखाई हो । उसे एक देवता के रूप में सँवारा हो । जिसमे यह कुशलता है वही दूसरो को सँवार, निखार सकता है ।

यह बात जीवन के संदर्भ मे जितना सच है साहित्य रचना के सम्बन्ध मे उतनी ही खरी उतरती है । साहित्य रचना सिर्फ शब्दों व अक्षरों का कौतुकपूर्ण विन्यास नहीं, वरन वाक्यों और रचना के माध्यम से रचनाकार उन भावों को उड़ेलता है जिनसे उसका अन्तर लबालब भरा हुआ है । तभी रचना जीवन्त होती और अपना अनुकरण करने को बाध्य करती है, अन्यथा व्याकरण और शब्दों की दृष्टि से ठीक रहने पर भी निष्प्राण बनी रहती है ।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचार सिर्फ मन की तरंगें भर नही है । उनका समूचा जीवन इन्हीं भावो से ओत-प्रोत था । प्रभावी साहित्यकार के पीछे उनका प्रभावी जीवन था । जिसे उन्होंने इन्हीं विचारों के अनुरूप गढ़ा-ढाला था ।

एक बार उन्होंने पुरुलिया कुष्ठाश्रम के बारे में एक लेख पढ़ा । पढ़कर जो भाव आए उन्हे सम्पादक को लिख भेजा । भाई तुम्हारा लेख पढ़कर रो पड़ा । मैं बड़ी देर तक विह्वल रहा । धन्य है उफमैन साहब ! मेरे हृदय में अजीब परिवर्तन हो गया है । दूसरो का दुःख सहन नहीं किया जा सकता । पेंशन के ७ रुपये में से पाँच भेज दिए है । अब मन बेचैन है कि सातों रुपये क्यों नहीं भेजे ?

उनका यह अन्तस क्या किसी सन्त के अन्तराल से कम है । वे कहा करते थे—साहित्यकार को समाजसेवी होना आवश्यक है । तभी वह समाज मे जाग्रति पैदा करने वाला साहित्य दे सकता है । स्वयं उन्होंने ऐसा किया भी । उन्होंने अपने जीवन का बहुत समय किसानों की सेवा मे बिताया और अन्त तक इसे निभाते रहे । श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके बारे में लिखा है कि द्विवेदी जी पूरी तल्लीनता से किसानो के पास जाते थे, उनकी समस्याएँ सुनते और निवारण

के प्रयास करते थे । एक बार किसी किसान का लड़का जंगली खाद्यान्न की रोटी खा रहा था । आगे चले तो पाया कि एक किसान नया अन्न खाकर बीमार पड़ गया है । बस, लौट चले घर की ओर, एक के लिए सब्जी, दूसरे के लिए दवा लेकर हाजिर हो गए ।

बनारसीदास जी के पूछने पर उन्होने कहा सेवा और साहित्य रचना दो जीवन के पहलू भर है । ये दोनों ही एक सिक्के के दो पहलू है । स्थिति को देखे, जाने और उसके साथ गहरा तादात्म्य बिठाए बिना भला समाधान कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है ? इससे एक लाभ और मिलता है कि विभिन्न अंचलो में रहने वाले जन-समुदाय की मानसिक-संरचना के बारे मे गम्भीर और बारीक जानकारियाँ मिलती है । इसी आधार पर प्रभावी ढंग से शैली का परिवर्तन, गठन और सुधार किया जा सकता है ।

फिर उन्होंने बर्नार्डशा के कथन का उल्लेख करते हुए कहा-साहित्य-सृजन एवं समाज-निर्माण दोनो एक है । जीवन का उपयोग इस महान उद्देश्य के लिए किया जाय । हम ईश्वर की एक शक्ति के रूप मे विकसित हो न कि क्लेश, शोक और उपालंभो के ज्वर ग्रस्त और क्षुद्र मृतपिण्डो के रूप मे ।

द्विवेदी जी ने स्वयं को ईश्वर की एक शक्ति के रूप मे समझा और सेवा व सृजन को एक किया । गणेश शंकर विद्यार्थी, मैथलीशरण गुप्त जैसे अनेक व्यक्तियों को सामान्य से उठाकर मूर्धन्य बनाया । एक समूचा युग ही द्विवेदी युग के रूप मे सँवारा । क्या आज के तथाकथित साहित्यकार इस साहित्य-शिल्प के मर्मज्ञ से कुछ सीख ले पायेगे ?

द्विवेदी जी की प्रगति में सहायक— परिश्रमशीलता

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी देश के उन साहित्यकारो मे से है जिन्होने जीवन भर व्यक्तिगत सुख-सुविधाओ की उपेक्षा कर् मातृभाषा-हिन्दी की सेवा की है । यदि उनके व्यक्तित्व को एक ही शब्द मे कहना चाहे तो वह है 'संघर्षशील ।'

रायबरेली से ३६ मील दूर दौलतपुर ग्राम मे पंडित रामसहाय द्विवेदी के परिवार मे जन्म लेने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रारम्भिक शिक्षा तो ग्राम के विद्यालय मे ही प्राप्त कर ली थी पर १३ वर्ष की आयु में ही अँग्रेजी पढ़ने के लिए रायबरेली के स्कूल मे प्रवेश लेना पड़ा । पिताजी का मासिक वेतन केवल दस रुपये था । उतने से पूरे परिवार का खर्च चलाना भी मुश्किल था । द्विवेदी जी के लिये रायबरेली पढ़ने हेतु अलग खर्च की व्यवस्था करना और भी कठिन था ।

रायबरेली के स्कूल मे संस्कृत विषय की कोई व्यवस्था न थी अत: चाहते हुये भी द्विवेदी जी उस विद्यालय मे संस्कृत न पढ़ सके । अँग्रेजी के साथ फारसी विषय लेकर साल भर अध्ययन करते रहे, फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष अध्ययन किया । परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उनकी पढ़ाई का यहीं हो गया ।

बम्बई में अपने पिता के साथ तार का काम सीख जी जी. आई. पी. रेलवे में २० रुपये मासिक पर नौक कर ली । उन दिनों द्विवेदी जी झाँसी में कार्यरत थे । दि भर कार्यालय में कार्य करना पड़ता था । और रात को जे कि उनके विश्राम का समय था, जिला यातायात अधीक्षक की बेगार करते थे । यातायात अधीक्षक तो अपनी राते बँगले प या तो किसी क्लब में बिताते थे और उनके आये हुए तार को ये अपनी कुटिया में पड़े-पड़े प्राप्त करते रहते और जवा देते रहते । वे तार स्पेशल रेलगाड़ियों के सम्बन्ध में थे । दस पाँच दिन की बात होती तो यह बेगार करते रहते । धीरे-धीरे इस अत्याचार को सहते हुए कई माह निक गये ।

सहनशीलता के कारण द्विवेदी जी यह सब चुपचाप सहन करते रहे, पर एक दिन जब उनके वरिष्ठ अधिकारी ने अन्य कर्मचारियो को भी साथ लेकर ८ बजे सुबह आने का आदेश दिया तो द्विवेदी जी ने साफ-साफ दिया—"मैं अवश्य आपके बताये समय पर आ सकता पर अन्य कर्मचारियो को साथ लाने के लिए विवश करन मेरा कार्य नहीं । मुझे अन्य व्यक्तियों पर अत्याचार करने का अधिकार ही क्या है ?" बात बढ़ी और द्विवेदी जी ने अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया । त्यागपत्र की बात विभाग के समस्त कर्मचारियो मे बिजली की तरह फैल गई । कितने ही व्यक्तियो ने त्याग-पत्र वापिस लेने के लिये जोर भी दिया । द्विवेदी जी घर पहुँचे उन्होने अपनी पत्नी से त्याग-पत्र वापिस लेने के सम्बन्ध मे विचार जानना चाहा, तो पत्नी ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—"क्या थूककर भी कोई चाटता है ।" और द्विवेदी जी चुप हो गये उन्हे यही कहते बना "धन्य है देवी ! ऐसा कभी न होगा ।"

द्विवेदी जी की धर्मपत्नी ने यहाँ तक संकल्प कर लिया कि यदि आठ आने रोज की भी आय होगी तो भी परिवार का खाने-पीने का खर्च चलाऊँगी और उन्हे किसी भी प्रकार की असुविधा न होने दूँगी । एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने वाले तथा दूसरो की भावनाओ को समझने वाले पति-पत्नी कठिनाइयो मे भी राह निकाल ही लेते है ।

नौकरी छोड़ते समय द्विवेदी का वेतन दो सौ रुपया था । इतने वेतन पाने वाले पद को लात मारकर 'सरस्वती' की सेवा से केवल २३ रुपये मासिक स्वीकार किये, जिसमे २० रुपये मासिक उनका पारिश्रमिक था और ३ रुपये डाक खर्च के लिये मिलता था । यह अभूतपूर्व निर्णय हिंदी-साहित्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ । जिसका श्रेय उनकी धर्मपत्नी के साहस व दृढ विचारो को जाता है ।

हर समय कार्य करते देखकर तो ऐसा लगता था जैसे परिश्रमशीलता उन्ही के हिस्से में आई है । 'सरस्वती' का प्रत्येक अंक पाठको के पास समय पर पहुँच सके इस बात

का उन्हे विशेष ध्यान रहता था। इसीलिए ६ माह आगे के अंकों तक की सामग्री उनके पास एकत्रित रहती थी ताकि आपत्ति के समय में भी पाठको से क्षमा-याचना करके संयुक्तांक न देना पड़े।

महावीरप्रसाद द्विवेदी वेतन के अतिरिक्त धन को आजन्म हराम समझते रहे। जो पैसा बिना परिश्रम के मिलता है वह पाप का है। अत: उन्होने एक पैसे की भी किसी से इच्छा नहीं की। वरन्, अल्पवेतन मे भी मितव्ययता से रहकर कई विद्यार्थियो को अपने खर्च से पढ़ाया, गाँव की कई कन्याओ की शादी में आर्थिक सहायता दी। तीन भानजियो की शादी तथा गौने किये। उनका हृदय उदार और दृष्टिकोण विशाल था। अपने परिवार के सदस्यों के प्रति कर्तव्यपूर्ण करने के लिए तो वे सजग रहते ही थे। इसके अतिरिक्त धनाभाव में किसी का कार्य रुकता होता तो वे अवश्य पूर्ण करते थे। बच्चे और पत्नी के लिए धन जोड़कर रखने जैसी संकुचित भावना द्विवेदी जी की न थी। यदि गाँव की कोई स्त्री विधवा हो जाती तो उसे अपनी विधवा-बहिन मानकर ही सहायता प्रदान करते रहते थे।

नैतिक रूप से विद्या-अध्ययन करने का अधिकार तो प्रत्येक छात्र को है। पर सैकड़ो छात्रो की पढ़ाई विद्यालय का शुल्क समय पर जमा न कर सकने के कारण बन्द हो जाती है। द्विवेदी जी भुक्त-भोगी थे। अध्ययनकाल की कठिनाइयाँ वे भूले न थे। अत: अधिक से अधिक निर्धन छात्रों को आर्थिक सहायता देना अपना कर्तव्य मान लिया था। पुत्र, पुत्री, भतीजे या परिवार के ही अन्य बच्चो की शिक्षा व्यवस्था तो सभी कर देते हैं पर अपने बच्चो की तरह औरों के बच्चो को समझने वाला व्यक्ति ही पढ़ाई के लिए प्रोत्साहन दे सकता है। द्विवेदी जी ने ६,४०० रुपये हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए छात्रवृत्ति हेतु दिये।

किसी साहित्यकार की सम्पत्ति उसकी पुस्तके होती हैं। द्विवेदी जी उच्चकोटि के साहित्यकार थे। अत: उनके संग्रह मे मूल्यवान पुस्तको का होना कठिन बात नहीं। जिन पुस्तको के अध्ययन से शोधार्थी लाभान्वित हो सकते हों और साहित्यकार जीवन की नई दिशा निश्चित कर सकते हो, वह अलमारी मे बन्द रखी रहे यह द्विवेदी जी कब सहन कर सकते थे। अत: कानपुर का पुस्तक-संग्रह नागरी-प्रचारिणीसभा को दे दिया, बाद को बची हुई लगभग तीन गाड़ी पुस्तके भी धीरे-धीरे करके वही भिजवा दीं।

वास्तव मे पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के लिए जितना महत्वपूर्ण कार्य किया है शायद ही किसी साहित्यकार द्वारा हुआ हो। आज के समस्त साहित्यकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे उनके ऋणी है, क्योंकि अनेक साहित्यकार तो उनके मार्गदर्शन मे ही आगे बढ़े है। उन्होने महान कठिनाइयो के बीच अपना मार्ग बनाया था। मार्ग की बाधाओ को कठिन परिश्रम द्वारा दूर करके उन्होने एक आदर्श उपस्थित किया था, जिससे लोग प्रेरणा लेते रहे।

द्विवेदीजी की मितव्ययिता और दानशीलता

पं. महावीर-प्रसाद द्विवेदी ऐसे स्मरणीय और अनुकरणीय महापुरुषों में से एक थे, जिन्होने मनुष्य जीवन की सफलता और सुव्यवस्था मे मितव्ययिता की आवश्यकता का सुन्दर समायोजन किया। जब हिन्दी संसार के सुपरिचित सुलेखक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी उनसे मिलने गये और जब उनके आय-व्यय का हाल द्विवेदीजी को मालूम हुआ तो उन्होंने उनको डाँट कर कहा-मैं तो अपने तेईस रु. मासिक वेतन में से भी चार रु. प्रतिमाह बचा लेता था और जनाब आप पौने दो सौ रु. में से एक पैसा भी नहीं बचा पाते। आखिर हमें बताइये तो आप किस चीज मे से पैसा उड़ा देते हैं?" चतुर्वेदीजी को संकोच के साथ अपनी अव्यवस्था स्वीकार करनी पड़ी। तब द्विवेदीजी ने अपना उदाहरण देकर उन्हें मितव्ययिता का मार्ग दिखलाया—

"सत्रह वर्ष की उम्र में मैने रेलवे की नौकरी १५ रु.मासिक पर शुरू की। २१ वर्ष बाद जब स्वाभिमान की रक्षार्थ उसे छोड़ा तो १५० रु. वेतन और ५० अलाउन्स मिलाकर २०० रु. मासिक मिलते थे। कभी किसी से एक पैसा हराम (रिश्वत) का नहीं लिया। उसके बाद साहित्य-सेवा की भावना से 'सरस्वती' का सम्पादन सिर्फ २३ रु. मासिक पर आरम्भ किया। १८ वर्ष मे यह बढ़ते-बढ़ते १५० रु. तक पहुँच गया। उसके बाद 'सरस्वती' से ही ५० रु. मासिक पेंशन मिल रही है। मैने अपना खर्च सदैव कम से कम रख कर प्रतिमास कुछ रुपया अवश्य बचाया। पर जो बचाया वह सब दूसरों के लिये खर्च भी कर दिया। कई होनहार लड़को को खर्च करके पढ़ा दिया। उनमे से कुछ तो एम. ए., बी. ए. हो गये। रिश्ते की तीन भांजियो की शादियाँ कीं। और की भी दो लड़कियाँ ब्याहीं। गाँव के कई गरीब घरो की लड़कियो की शादियो मे मदद की। कई विधवाओ का पालन किया। दो एक को अब भी मासिक वृत्ति दी जाती है। गत वर्ष मेरे कुटुम्ब की अन्तिम स्त्री मरी तो उसकी अन्त्येष्टि में १ हजार रु. दीन-दुखियो को बाँट दिया। कानपुर का पुस्तक संग्रह काशी नागरी प्रचारिणी सभा को दे दिया था। अब यहाँ गाँव से भी एक गाड़ी पुस्तके उसे दानस्वरूप और भेज दी हैं। सभा को एक हजार रुपया सहायतार्थ भी दिया है। अब जो कुछ बचा है (लगभग ६४०० रुपया) वह सब छात्रवृत्तियो के लिये हिन्दू विश्वविद्यालय (बनारस) को दे रहा हूँ।"

यह है एक आदर्श मितव्ययिता का नमूना और उसका प्रतिफल। द्विवेदीजी को उतना ही वेतन मिलता था जिससे एक सामान्य गृहस्थ सुविधापूर्वक जीवन-यापन कर सकता है। पर उन्होने अपनी आवश्यकताओ को सदा कम रखा और जितना सम्भव था उतना पैसा जमा किया। इस प्रकार ४० वर्ष में वे १५-२० हजार. रु. बचा पाये होंगे। अगर वे आजकल के समान कालिज से पढ़ कर निकले 'बाबुओं' की

तरह होते और सिगरेट, चाय, सिनेमा आदि मे एक रुपया रोज भी खर्च करते रहते, तो वे एक पैसा भी न बचा पाते । तब उपकार और सर्वोपयोगी संस्थाओ की सहायता करना तो दूर किसी संकट मे पड़ जाने पर स्वयं ही दूसरो का मुँह ताकते । यद्यपि अदूरदर्शी व्यक्ति बिना सोचे-समझे ऐसे व्यक्ति को कंजूस कहने लग जाते है, पर द्विवेदीजी के उदाहरण से हम समझ सकते है कि यह कंजूसी नही मितव्ययिता है । यदि फैशन, दिखावट और व्यसनो से बचाकर कुछ धन इकट्ठा किया जाय और उसे जरूरतमन्दो की सहायतार्थ अथवा लोक-कल्याण के लिये देते रहा जाय तो यह एक 'देवोपम गुण' कहा जायेगा । इससे एक तरफ व्यक्ति जहाँ स्वयं दोष और दुर्गुणो से बचा रहता है वहाँ वह दीनजनो को यथाशक्ति सेवा कर सकने मे भी समर्थ होता है । ऐसे जीवन को हम तपस्यामय ही कहेगे और द्विवेदीजी जहाँ अपनी मातृभाषा सेवा के आधार पर साहित्य क्षेत्र मे द्विवेदी युग के के प्रवर्तक माने जाते है वहाँ उपयुक्त परोपकारी मनोवृत्ति के लिये भी सदैव हमारे श्रद्धा पात्र बने रहेगे ।

जब जाग उठता है ब्राह्मणत्व तो

महल की सीढ़ियाँ चढ़ने के साथ ही एक बार फिर उनके हाथ कुर्ते की जेब मे गए । दूसरे ही क्षण एक लिफाफा हाथ मे था । इसमे मोड़ कर रखे गए कागज को खोला और पढ़ने लगे । अक्षरों के क्रम के साथ ही चेहरे पर भावो की लहरें उठ रही थी । इन लहरो मे ऊर्जस्विता भर रहा था यह कागज का टुकड़ा । ऐसा क्या था इस सोलह अंगुल के कागज मे । वह भी तो एक कागज ही था जिसने कल से ही उनके मन को मथ रखा था । कितनी बार पढ़ा होगा उन्हे कुछ ख्याल नही, हाँ यह अवश्य है कि जितनी भी बार पढ़ा विकलता बढ़ती गई और आखिर मे रखना ही पड़ा इस कागज को, जो इस क्षण उनके हाथ में था । यह कागज का एक टुकड़ा नहीं, उनका आत्म-निर्णय था ।

दरबान काफी देर से उनको बड़ी बारीकी से देख रहा था । जेब से लिफाफे का निकालना, उलटना-पलटना कागज खोलकर पढ़ना फिर भावों के दरिया में डूब जाना । आखिर उससे रहा न गया पूछ ही बैठा क्या सोचने लगे पण्डित जी ?

'अं' वह जैसे सोते से उठे । चिन्तन की निमग्नता टूटी । दरबान को सम्बोधित करते हुए बोले—हिज हाइनेस को सूचना दो कि मैं मिलना चाहता हूँ ।

अरे आपके लिए क्या सूचना चले जाइए ।

नहीं-नहीं तुम बताकर आओ ।

अच्छा कहकर वह चला गया और वे फिर सोचने लगे ठीक ही तो लिखा है महामना ने— ब्राह्मणत्व एक साधना है । मनुष्यता का सर्वोच्च सोपान है । इसकी साधना की ओर उन्मुख होने वाले क्षत्रिय विश्वामित्र और शूद्र ऐतरेय भी ब्राह्मण हो जाते है । साधना से विमुख होने पर ब्राह्मण कुमार अजामिल और कौण्डिलायन शूद्र हो गए । सही तो है जन्म से कोई कब ब्राह्मण हुआ है । ब्राह्मण वह जो समाज से कम से कम लेकर उसे अधिकतम दे । स्वय के तप, विचार और आदर्श जीवन के द्वारा अनेक को सुपथ पर चलना सिखाए । इस कसौटी पर कसे जाने... । आगे कुछ सोच पाते कि दरबान ने खबर दी महाराज आपको बुला रहे है ।

उनके नपे-तुले कदम महल के एक आलीशान कक्ष की ओर बढ़ गए । यहाँ महाराज अपने खास मित्रों के साथ बैठ कर वार्तालाप किया करते है । उन्हें सामने देख कर वह बोल उठे आज असमय कैसे आना हुआ, खैरियत तो है ।

जवाब में उन्होंने वही कागज थमा दिया । पढ़कर राजा साहब चौंक उठे जैसे कागज न होकर बिच्छू हो । बड़ी मुश्किल से उनके मुख से निकला क-क...क्यों ? यह सब । कहकर नरेश ने उनके चेहरे की ओर देखा जैसे वह पूर्ण कारण जानना चाहते हो ।

"कल मालवीय जी का पत्र आया था, उन्होंने लिखा है यदि तुम में ब्राह्मणत्व जागे तो रियासत की आरामतलबी छोड़कर हिन्दू-विश्वविद्यालय के कर्तव्य-क्षेत्र में आ जाओ ।" यहाँ तुम्हारी उपयोगिता और आवश्यकता कहीं अधिक है ।

ब्राह्मण तो आप है ही इसमें जगने और सोने की क्या बात है ? महाराज को वाकया समझ में नही आ रहा था ।

"आज से पहले मै भी यही समझता था । किन्तु अब मालवीय जी की परिभाषा पढ़कर लगा कि अर्थ लोलुप भी कही ब्राह्मण हो सकता है ?" "कितना मिलेगा वहाँ ?" "यही तकरीबन अढ़ाई तीन सौ ।" और यहाँ आपको साढ़े तीन हजार प्रतिमास मिलता है, आवास तथा अन्य सुविधाएँ अलग । मालवीयजी से पूछियेगा । ब्राह्मण होने का मतलब बुद्धिहीन होना तो नहीं है ? और विवेकहीन होना भी नहीं है । बुद्धि और विवेक ? क्या अन्तर है इनमें ?

"बुद्धि येन केन प्रकारेण तिकड़म भिड़ाकर उल्लू सीधा करती है और विवेक भावनाओं से एक होकर उच्चादर्शों के लिए अपनी राह खोजता है ।"

"तो आपका यह अंतिम निर्णय है ?"

"हाँ, आत्मा की इस प्रकार की अवहेलना करने में असमर्थ हूँ ।" सुनकर नरेश उनकी ओर देखते हुए बोले, "आप हमेशा से मेरे श्रद्धाभाजन रहे और आज तो आपके प्रति मेरी श्रद्धा पहले की अपेक्षा द्विगुणित हो उठी है । सच पण्डित जी आज मैंने जाना कि ब्राह्मण राजा से भी बड़ा होता है ।"

यह महामानव थे पं. रामचन्द्र शुक्ल जिनने कर्तव्य की पुकार पर कालाकांकर नरेश के हिन्दी-सचिव का पद ठुकराकर मालवीयजी का सहकर्मी बनना श्रेयस्कर माना । यही है सही माने में ब्राह्मणत्व का जागरण ।

मातृ-भाषा, मातृ-भू के अनूठे सेवक—बेनीपुरी

स्व. मैथिलीशरण गुप्त उनकी लेखनी के लिये कहा करते थे—"वह लेखनी नही जादू की छड़ी है जिससे वह पाठकों पर मोहन मंत्र फूँक देते है। बेजोड़ शब्द शिल्पी है बेनीपुरी जी।" उनका यह कथन मात्र अतिशयोक्ति नहीं। हिन्दी के साहित्यकारों में रामवृक्ष बेनीपुरी का अपना एक स्थान है, शब्द-शिल्पी के रूप में। हिन्दी-साहित्य में उनकी जोड़ का कोई शब्द-शिल्पी नहीं मिलता।

मनुष्य को ईश्वर ने इस धरती पर खाली हाथ नहीं भेजा है। उसे किसी न किसी विशेषता से संयुक्त करके भेजा है। जिस व्यक्ति ने अपनी उस विशेषता को जान लिया, उसे आत्मसात कर लिया वह प्रतिभा सम्पन्न, विभूतिवान की श्रेणी में गिना गया। पर उसका यह विभूतिवान या प्रतिभावान हो जाना ही उसके लिये गौरव की बात नही, गौरव की बात तो तब बनती है जब वह उस देन का उपयोग समाज के हित में करता है। उस देन से अपने शरीर और परिवार के लिये उतना ही लेता है जितना न्यायसंगत है। इसी सिद्धान्त के मानने वाले थे बेनीपुरी जी।

वे सौन्दर्य को सौन्दर्य के लिये, कला को कला के लिये, सिद्धान्त में विश्वास नही करते थे। उनको जो ईश्वर ने शब्द-शिल्प-सामर्थ्य दी थी उसका प्रयोग उन्होंने कभी उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार नही किया। उनकी कला, जीवन के साथ, उसके साथ जुड़ी हुई उच्च मानवीय आस्थाओं, विश्वासों और आदर्शों के साथ गलबहियाँ डाल कर चलती थीं।

सन् १९०२ में उत्तर बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में बागमती तट पर बसे ग्राम बेनीपुर के एक निर्धन कृषक परिवार में उनका जन्म हुआ। उन्हें जन्म देकर बेनीपुर भी भारत में विज्ञापित हो गया। गरीब घर में पैदा होकर भी वे किसी प्रकार दुःखी या उदास नही हुए। गरीबी को वरदान मानकर वे अपने पुरुषार्थ के बल पर जीवन के क्षेत्र में ही नहीं हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में भी अपने पाँव जमाने में सफल हुए। जब वे स्वयं साहित्य के क्षेत्र में नहीं जम पाये थे तब भी उन्हें जाने-माने लेखकों से किसी प्रकार की कोई शिकायत नही थी। सिद्ध लेखक हो जाने पर भी वे युवा लेखकों से कटे नहीं। उनका हाथ नये साहित्य-सेवियों की पीठ थपथपाता रहा था। हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कवि रामधारी सिंह दिनकर बड़े गर्व और श्रद्धा के साथ कहते थे—"बेनीपुरी जी ने मुझे प्रकाशित किया है, उद्भासित किया है।"

मनुष्य की अपनी वैयक्तिक, पारिवारिक महत्वाकांक्षाएँ होना स्वाभाविक है पर उनके साथ देश और समाज के दायित्व भी उसके कंधे पर है। किन्तु होता यह है कि मनुष्य प्रायः अपनी वैयक्तिक और पारिवारिक महत्वाकांक्षाओं को महत्व देता है और देश और समाज की ओर से आँखें मूंद लेता है। बेनीपुरी जी इस संकीर्णता को बहुत बुरा मानते थे। वे स्वयं पराधीन भारत में जन्मे पर भारत को स्वाधीन करने की लड़ाई में उन्होंने पूरा योगदान दिया। उस परतंत्रता से मुक्ति पाने के लिए उनका मन छटपटाता ही रहा। राजनैतिक ही नहीं आर्थिक, सामाजिक, नैतिक स्वतंत्रता के लिये भी उनके हृदय में कम छटपटाहट नहीं थी। यही छटपटाहट—यही वेदना उनके साहित्य का मूलाधार थी।

कलम के सिपाही तो वे थे ही पर प्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्रता-संग्राम में लड़ने वाले सेनानी भी थे। गाँधीजी के असहयोग-आन्दोलन में उन्होंने पूरी तरह भाग लिया था। वे कई बार जेल गये, लाठियाँ खाईं, यंत्रणाएँ सहीं। उन्होंने जीते जी उसका परिणाम भी देखा। भारत को स्वतंत्रता मिली। किन्तु उनका काम समाप्त कहाँ हुआ था। अँग्रेज तो चले गये पर हम लोगों के मन-मस्तिष्क में जो अँग्रेजियत छिपी बैठी थी उसे बाहर करने के लिये उन्हें अभी और संघर्ष करना था। अभी तो राजनैतिक-स्वतंत्रता मिली थी। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक-स्वतंत्रता पाना तो अभी शेष ही था। इसलिये मात्र राजनैतिक आन्दोलनों में दिलचस्पी रखने वालों की तरह उन्होंने अपने दायित्वों की इतिश्री नहीं समझी।

साहित्य और पत्रकारिता के माध्यम से पहले भी जन जागरण किया करते थे और आजादी के बाद भी करते रहे। 'योगी युवक' और 'जनता' के सम्पादकीय लेख जिन्होंने पढ़े है वे उनकी लेखनी के चमत्कार से चमत्कृत हुए बिना न रहे होंगे। 'हिमालय' और 'नयी धारा' के क्षेत्र में नूतन कीर्तिमान स्थापित किये थे।

आलोचकों को अवैतनिक प्रचारक कहा करते थे। प्रशंसा करने वालों की अपेक्षा आलोचकों से व्यक्ति को अधिक लाभ मिलता है, उसे सुधार-सुधार कर अच्छा आदमी और अच्छा साहित्यकार बनने का अवसर मिलता है। बेनीपुरी जी की तरह प्रत्येक व्यक्ति भी आलोचकों की उपयोगिता समझने लग जाय तो उसे आगे बढ़ने के अवसर मिलते जाये। वे स्वयं भी कभी-कभी किसी वर्ग की आलोचना कर दिया करते थे तो उसके पीछे उनकी यही भावना रहती थी। उनकी कृति 'अम्बपाली' को एक नहीं दो-दो प्रकाशक मिले। एक बार उन्होंने स्वयं उसे प्रकाशित किया। फिर भी वह प्रकाशकों की लोकवृत्ति को देखकर कभी-कभी उनकी स्वस्थ आलोचना कर दिया करते थे ताकि वे अपने लोभ के लिये साहित्यकार का गला न दबाएँ।

मिथिला की मिट्टी और बागमती के चंचल प्रवाह का सहज दर्शन उनकी शैली में हो जाता है। उनके पात्र तो मिथिला की मिट्टी से ही सिरजे गये है जिससे वे काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक लगते है। उनकी कृति 'अम्बपाली' अत्यधिक लोकप्रिय हुई थी। 'गेहूँ और गुलाब' के प्रतीक रूप में उन्होंने आर्थिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अथक प्रयास किया था।

बेनीपुरी जी स्वांतः सुखाय और 'कला कला के लिये' सिद्धान्तों को एक नहीं मानते थे । 'कला कला के लिये' के समर्थक तुलसी के 'स्वांत सुखाय रघुनाथ गाथा' कथन की दुहाई देते हैं पर वे यह नहीं देखते कि तुलसी का मानस कितना 'कला कला के लिये' सिद्धान्त की पुष्टि करता है । साहित्यकार कोई जनोपयोगी साहित्यिक कृति का सृजन करता है तो उसे आंतरिक प्रसन्नता होती है । इस आत्मवृत्ति को स्वांतः सुखाय कहा जा सकता है पर साहित्य के नाम पर कुण्ठाओं और विकृतियों का दुरूह प्रस्तुतीकरण तो कुछ भी अर्थ नहीं रखता । वे इस प्रकार के लेखकों को जीवनोन्मुख बनाने के लिये भरसक प्रयास करते रहे । उन्होंने अपने मकान पर 'गेहूँ और गुलाब' की कलात्मक प्रति प्रतिष्ठित की थी जिससे उनके जीवनोद्देश्य का परिचय मिलता था—भौतिक सुख-समृद्धि और उच्चतम आध्यात्मिक, सांस्कृतिक जीवन का समन्वय । ये दोनों उनके लिये एक दूसरे के पूरक थे, प्रतिस्पर्धी नहीं । व्यक्ति भौतिक सुख-सुविधाएँ पाने के लिये तो प्रयत्नशील रहे ही पर उससे भी अधिक सांस्कृतिक जीवन जीने का प्रयास भी करे । वे स्वयं भी इसी जीवन-दर्शन को लेकर चलते रहे थे ।

६६ वर्ष की अवस्था में उनका देहावसान हुआ । उसके पूर्व सात-आठ वर्ष तक वे पक्षाघात से पीड़ित रहे । उसके पूर्व वे वृद्धावस्था में भी युवकों के से उत्साह से काम करते रहे थे । रोगग्रस्त स्थिति में भी वे बहुत अधिक दुखी और उद्विग्न नहीं हुए ।

एक स्थितप्रज्ञ की भाँति जीवन के उतार-चढ़ावों से तटस्थ रहकर देश, समाज और परिवार की निःस्वार्थ सेवा में लगे रहे । भारतीय-संस्कृति एवं भारतीय-वाङ्मय की गुण-गरिमा के सदैव पृष्ठपोषक रहे । लोकेषणा और वित्तेषणा से कोसों दूर एक मौन सेवाव्रती की भाँति जीवन भर लोक सेवा में रत रहे । अपने समय के मूर्धन्य साहित्यकार होते हुए भी आलोचकों और समालोचकों की प्रशंसा करते रहते थे ।

एक सामान्य परिवार में उत्पन्न होकर अपने समय के साहित्यकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने तक उन्हें जो श्रम करना पड़ा होगा इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । भारत के स्वतंत्र हो जाने पर भी उनके मन को शान्ति नहीं मिली । जो शासन पहले अँग्रेज चला रहे थे अब भारतीय चला रहे हैं । स्वराज्य तो आ गया पर सुराज्य नहीं आया । उस सुराज्य को लाने के लिये प्रयत्न करना हम सभी का कर्तव्य है । राष्ट्रभाषा हिन्दी और मातृभूमि भारत-भू की सेवा में अपना जीवन समर्पित करने वाले इस संघर्षशील योद्धा की आत्मा हमें उसके लिये शक्ति देती रहेगी ।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

"जन-गण-मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता" राष्ट्रगीत के निर्माता—रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जीवन-भर पद-दलित मानवता को ऊँचा उठाने के लिए, मानव को मान बनकर रहने की प्रेरणा देने के लिए संघर्ष किया । वे जानते थे कि क्रान्ति-तोपों और बन्दूकों से नहीं, विचार परिवर्तन से होती है । भावनाएँ न बदलें तो परिस्थितियों में स्थायी हेर-फेर नहीं हो सकता । फिर यदि विचार बदल जायें तो बिना दमन या दबाव के भी सब कुछ बदल सकता है । उन्होंने कुरूप परिस्थितियों को सुन्दर बनाने के लिए एक सच्चे कला की तरह साधना की थी । कला को कला के लिए सी नहीं रखा जा सकता । उसे सत्यं, शिवं, सुन्दरं की सेवा लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए । इस तथ्य को उन्होंने मूर्तिमान करने के लिए जो तपस्या की उसे चिर-काल तक भुलाया न जा सकेगा ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व-कवि माने जाते हैं । उनकी कविताएँ मानवता का प्रतिनिधित्व करती हैं, उनकी कला में मानवता की उत्कृष्टता उभरकर आती है । कलाकार विश्व-मानव की सुसज्जा में कितना उत्तरदायित्व उठा सकता है, इसका अनुपम उदाहरण उन्होंने अपने सारे जीवन को काव्यमय बनाकर प्रस्तुत किया ।

७ मई, १८६१ मे कलकत्ता में वे जन्मे । उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर बंगाल के महर्षि कहे जाते हैं । उन्होंने अपने सद्गुणो और उदात्त-भावनाओ को इस छोटे बालक में कूट-कूट कर भरने का प्रयत्न किया था । वे चाहते तो दूसरे पिताओ की तरह अपने पुत्र को 'कमाऊ' बनाने के लिए लगाये रह सकते थे, पर उन्होंने सोचा पिता वही धन्य है जिसने अपनी सन्तान को मानवता की सेवा कर सकने योग्य बना सकने मे सफलता प्राप्त की हो । देवेन्द्र बाबू जब तक जिये यह प्रयत्न करते रहे कि उनका पुत्र ससार के श्रेष्ठ नागरिकों मे गिनने योग्य बने और विश्व-मानव का गौरव बढ़ाने में कुछ महत्वपूर्ण योगदान करे । उन्होंने बालक को इसी दृष्टि से शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न किया और उनके प्रयत्न सफल भी हुए । विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपना जीवन-क्रम जिस प्रकार ढाला, उससे उनके पिता की आत्मा सन्तुष्ट हुई होगी ।

कामचलाऊ पढ़ाई पढ़ने के बाद क्लर्क ढालने वाली शिक्षा से उन्हें घृणा हो गई और वे नये युग का नया साहित्य लिखने मे लग गये । ग्रेजुएट बनने का विचार उन्होंने छोड़ दिया । माता-सरस्वती की साधना ही उनका लक्ष्य बन गया । छोटी आयु मे ही उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं । कविताएँ ही नही नाटक, उपन्यास और निबन्ध भी उन्होंने लिखने प्रारम्भ किये । मनोयोग, अध्ययन और सदुद्देश्यपूर्वक लिखी गई उनकी रचनाएँ सम्मान प्राप्त करने लगीं । यौवन के द्वार में प्रवेश करते-करते उन्होंने बहुत कुछ लिख डाला था । इन कृतियो ने पराधीनता के बंधन काटने के लिए जहाँ तड़प पैदा की, वहाँ यह प्रकाश भी दिया कि हमे आखिर करना क्या है, जाना कहाँ है ? स्वाधीनता की सार्थकता तभी है, जब उसका उपयोग व्यक्ति को सुसंस्कृत और समाज को सुविकसित करने के लिए हो सके । बदलने वाले युग के

उद्‌गाता की तरह उन्होंने यही सब कुछ गाया था। उनका गायन जन-मानस को झंकृत करने में सफल हुआ, यह मानना पड़ेगा।

उनको देख-भाल करने की जिम्मेदारी सौंपी गई, पर रोजी-रोटी का प्रश्न जब बिना उनके सिर खपाये भी हल हो सकता था तो वे क्यों पिसे को पीसने में अपना समय बर्बाद करते। जमींदारी का काम घर के दूसरे लोगो पर छोड़कर वे कमाने में नहीं, मानवता का शृंगार करने मे जुट गये। उन्होंने एक से एक अभिनव रचनाओ का निर्माण आरम्भ कर दिया। बँगला-भाषी जनता उनकी प्रेरणाओ से भाव-विभोर हो उठी थी।

उनके कन्धे जितने मजबूत होते गये उतने ही उत्तरदायित्वों का भार भी लदता गया। 'भारती' मासिक पत्रिका का सम्पादन आरम्भ किया। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का बन्द पड़ा हुआ 'बङ्ग दर्शन' अपने सम्पादकत्व मे पुनः प्रकाशित किया तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं मे अपने विचारों को छपाना आरम्भ कर दिया। नव-जीवन संचार की धारा अजस्र रूप से बहने लगी।

टैगोर की भावना उनकी लेखनी मे ही नहीं , उनके कार्यों मे भी उभर-उभर कर ऊपर आती थी। भारत के अनेक क्षेत्रों मे प्लेग फैला तो वे एक सच्चे लोक-सेवी की तरह उनकी सेवा, सहायता मे जुट गये। 'चिर कुमार सभा' का संगठन करके रचनात्मक-कार्यों मे अनेक नवयुवको को लगाया। बिहार-भूकम्प के समय पीड़ितो की सहायता के लिए उन्होंने दिन-रात एक करके बहुत काम किया। बङ्गीयसाहित्यसम्मेलन के प्रान्तीय, राजनैतिक सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप मे उन्होने अपने समय मे जो कार्य किया उससे उनकी सेवा-साधना में चार चाँद लग गये।

उन्होंने शांति निकेतन कला मंदिर बनाया, जो छोटे रूप मे आरम्भ होकर विश्वविद्यालय के रूप तक विकसित हुआ। इस विश्व-भारती ने भारत के लिए ही नहीं, संसार भर के लिए सच्चे कला-साधको का लोक-सेवियो का-निर्माण करने मे महत्वपूर्ण योग-दान दिया है।

संसार के प्रमुख देशो मे भ्रमण करके उन्होंने अपने विचारो का प्रचार यूनान, मिश्र, आस्ट्रेलिया, हगरी, रूमानियाँ, इटली, जापान, स्वीडन, कनाडा, रूस मे किया था। इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशो के विश्वविद्यालयो मे उनके भाषण हुए जो बहुत ही पसन्द किये गये। सन् १९१३ में उनकी कविता के संग्रह 'गीतांजलि' पुस्तक पर 'नोबेल पुरस्कार' मिला। उस कविता-पुस्तक का अनुवाद संसार की प्रायःसभी भाषाओ में हो चुका है। भारत में तथा भारत से बाहर उन्हे अनेक विश्वविद्यालयों ने 'डाक्टर' की उपाधि दी और भारत सरकार ने भी उन्हे 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया।

१९१९ मे जलियाँवाला में जो नृशंस हत्याकाण्ड हुआ, उससे उन्हे भारी क्षोभ हुआ था। उनके सभापतित्व मे इस काण्ड के विरुद्ध एक बड़ी सभा होने वाली थी पर सरकारी प्रतिबन्ध के कारण वह न हो सकी। फिर भी वे अपना क्षोभ प्रकट करते रहे और 'सर' की उपाधि वापिस कर दी। वे इंग्लैण्ड गये और बिटिश सरकार के मंत्री से भारतीय जनता का क्षोभ व्यक्त किया। अमेरिका गये और वहाँ की जनता तथा सरकार को अँग्रेजो की दमन-नीति से परिचित कराके भारतीय स्वाधीनता के लिए सहानुभूति अर्जित की।

स्वतंत्रता-आन्दोलन को अनुचित रीति से दमन करने की सरकारी नीति के वे दिन-दिन विरुद्ध होते गये। अपना प्रभाव डालकर वे सरकार को 'अति' बरतने से रोकते रहे और खुले शब्दों में अपना रोष लेखों और भाषणों में व्यक्त करते रहे। यों रवीन्द्र विशुद्ध रूप से कवि थे, पर कवि केवल गीतकार ही नहीं होता, अनीति को देखकर व्यथित होना भी उसकी सहृदयता की कसौटी होती है। टैगोर सच्चे कवि की तरह अनीति का विरोध करने में पीछे नहीं रहे। अपनी शक्ति के अनुसार उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के लिए अपने ढंग से बहुत कुछ किया। सन्त ऐण्डरूज और ऐनीबेसेन्ट को कवि का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा।

साहित्य को उन्होंने नई दिशा मे मोड़ा था। पाशविक प्रवृत्तियों का चित्रण करके पाठक के पशुत्व को भड़काना उन्होंने एक अनैतिक कार्य समझा और उन लोगो को लताड़ते रहे जो जनता की निम्नगामी रुचि के अनुरूप वस्तुएँ लिखकर सस्ती ख्याति तथा पाप की कौड़ी कमाना चाहते हैं। कवि और साहित्यकार का कर्तव्य और उत्तरदायित्व जन-मानस को पतन की ओर से मोड़कर उत्थान की ओर अभिमुख करना है। कुण्ठाओं को हटाकर आशा का प्रकाश उत्पन्न करना है। कर्तव्यनिष्ठ कवि ने बहुत लिखा है। कभी-कभी अपने नाटकों मे स्वयं भी अभिनय किया था। उनकी कृतियो पर कई फिल्में बनी हैं। उनके उपन्यासो को श्रद्धा-पूर्वक पढ़ा जाता है और गीतों को भावनापूर्वक गाया जाता है। इस लोक-प्रियता के पीछे कवि का वह महान व्यक्तित्व और कर्तव्य काम करता है, जिसमे मानवता की सेवा को ही अपना लक्ष्य रखा और उसी के लिए अपने को खपा दिया।

विश्वमनीषी टैगोर एवं विज्ञानवेत्ता हाइजन वर्ग का मिलन

उल्लास और संकोच के साथ उसने अपने पैर धरती पर रखे। इस सपनों के देश मे आगमन सुहृद आत्मीय नितान्त अपने से मिलन का सुयोग। ऐसे अवसर पर उल्लास न हो तो कब हो ? पर साथ ही संकोच की एक झीनी चादर उसे अपने में लपेटे थी। चाहकर भी इस अनचाहे आवरण से अपने को छुटा नहीं पा रहा था। रह-रहकर हवाई जहाज के भीतर का माहौल, आगे की सीट पर बैठे हुए यात्री का चेहरा, चश्में के नीचे से झाँकती उसकी दो गोल-मटोल चमकीली आँखें और शब्द... उफ... वह सिहर उठा।

सामान के नाम पर एक अटैची को लेकर हवाई अड्डे के बाहर आ चुका था। पता नहीं कब तक अपने में खोया रहता, पर ताँगे वाले ने टूटी-फूटी अँग्रेजी मे पूछा कहाँ चलेंगे और उसने एक पता बताया। इस पते पर रहने वाले को कौन नही जानता। कलकत्ते की जगह अगर उसने यह नाम भारत के किसी कोने में भी कहा होता, तो लोग उसे उनके पास तक पहुँचा देते। मोल-भाव करने की जरूरत नहीं समझी। इस तरह का वाद-विवाद करने जैसी अभी उसकी मनःस्थिति भी नही थी।

ताँगा चल पड़ा। पहिए सड़क पर तेजी से दुलकने लगे थे। साथ ही चल पड़ी उसकी थमी हुई विचार शृंखला। भाव, कल्पना, विचार यही तीन तो मनुष्य को उसकी मनुष्यता प्रदान करते है। इनमे से एक भी गायब हुआ बस इनसान जानवर बना। भाव के बिना प्रेरणा नहीं, कल्पना के बिना दूरदर्शिता नही और विचारो के बिना इनकी साज-सँभाल नहीं। विचारो की शृंखला में बार-बार साथ सफर करने वाला यात्री आने लगा।

वह व्यक्ति भी लगभग साथ ही चढ़ा था। प्लेन की गति पकड़ लेने पर यात्रियों मे चर्चा शुरू हो गई। चर्चा और क्या होती? विश्वयुद्ध की सरगर्मियाँ प्रत्येक के दिलो-दिमाग पर छाई हुई थीं। यही केन्द्र-बिन्दु बना था यात्रियों की बात-चीत का। मनुष्य क्यो करता है ध्वंस? इस रक्त तर्पण, उज्ज्वल धरती पर खून की लाल कीच फैलाने का दोषी कौन? इनसानी लाशों, कटे छितराए अगो के बीच इनसानी ठहाके। मासूम बच्चे, बेसहारा महिलाओ की करुण चीत्कारों के बीच हँसी की गूँज, सफलता का उन्मत्त गान। यह सब किसका कर्तृत्व है?

चर्चा कर रहे व्यक्तियो में वह प्रधान था। अपनी गोल आँखों को चमकाता हुआ वह बोला था "यह सब विज्ञान की करामात है, विज्ञान की। वैज्ञानिको की अकल जो न करे सो थोड़ा।" इतना कहते-कहते वह आक्रोश मे आ गया था। सारे शरीर मे जैसे लाखो लाख चींटियाँ एक साथ रेग गई थी। उसकी प्रतिक्रिया से बेखबर अन्य लोग रस ले रहे थे।" विज्ञान भला दोषी क्यो है?" एक ने पूछा। "वह नहीं तो और कौन?" दोषी ठहराने वाले व्यक्ति की एक तेज आवाज उभरी।" "सैकड़ों तरह के बम, मारक प्रक्षेपास्त्र जहरीले रसायन, विनाश के रोज नए सरंजाम कौन जुटाता है? इसकी खोज मे जुटे अकल के इन ठेकेदारों को क्या नहीं मालूम कि ये किस काम आएँगे। पर नहीं, पैसा, सुविधा, सम्मान, पदक की चमक से चौंधियायी आँखों को मनुष्यता का क्षत-विक्षत जिस्म कहाँ दिखता है? किसे फुरसत है जो उसकी कराहटों को सुने?"

जहाज मे सन्नाटा था। सभी उसकी बातों को ध्यान से सुन रहे थे। सभी के साथ वह भी। बोलने वाला तो जैसे दहकते अंगारे-उछाल रहा था और सारे अंगारे उसी के जिस्म पर पड़ रहे थे। वह सोचने लगा क्या सिर्फ विज्ञान दोषी है अथवा दोषी है मानवी प्रवृत्तियाँ? जब विज्ञान नहीं था तब क्या लड़ाइयाँ नहीं होती थीं, मार-काट नहीं मच थी। भले उस में आज की तरह अणु-आयुध न इस्तेमाल किए जाते हो। किन्तु विनाश की तांडव-लीला तो आज की तरह पहले भी थी। बेचारा विज्ञान तो मानवी प्रवृत्तियों के हाथ की कठपुतली भर है और अधिक कुछ सोचता कि उसके कानो मे पिघलते शीशे की तरह उसके शब्द पड़े। "आप कहेंगे-विज्ञान यंत्र है। मै कहता हूँ विज्ञान शक्ति है। आज के मानव की सर्व समर्थ शक्तियों मे प्रधानता। इस शक्ति को विनाशकारी बनाकर अनगढ़ मानवों के हाथ मे सौंपने वाले कौन है? जब मालूम है मनुष्य अनपढ़ है तब उसके हाथों मे ऐसे प्रलयंकारी सरंजाम क्यो सौंपे जा रहे है?" यह जैसे उसी के सवाल का जवाब था।

उसने एयरहोस्टेज को इशारे से बुलाकर एक पत्रिका माँगी। इस पत्रिका की आड़ मे उसने पेशानी पर छलछ आयी पसीने की बूंदो को पोछा और विज्ञान-मनुष्य-दो कौन? इस गणित को सुलझाने लगा। उसके उतरने के पहले वह उतर कर चला आया था। किन्तु सवाल ज्यों के त्यो थे? मानवीय अस्तित्व के शाश्वत प्रश्न इन्हे कौन सुलझाएँ?

"साहब! आश्रम आ गया।" ताँगे वाले ने कहा। वह चौंका—देखा-ताँगा एक विशालकाय परिसर के सामने खड़ा है। क्यारियो मे खड़े सुरभि बिखेर रहे रंग-बिरंगे फूल, आने वालो की आगवानी करते कतार मे खड़े वृक्ष, मखमली घास-प्रकृति की सारी सुरम्यता जैसे विश्व कवि का सहवास पाने के लिए यहीं आकर टिक गई हो। भीड़-भाड़ से दूर यह जगह अपने नाम के अनुरूप शाति का उपवन थी। देखने पर आँखे नही अघाती थी।

धोती-कुर्ता पहिने एक व्यक्ति ने सौम्यता बिखरते हुए उनका परिचय पूछा। गुरुदेव के मित्र है, सुनकर बड़े आदर से उनका सामान रखा, साथ लेकर उनसे मिलाने चल दिए। कुछ ही क्षणो मे दोनो आमने-सामने थे। ठेठ बगाली पहिनावे मे लिपटे इस ऋषि कल्प व्यक्तित्व को देखते ही आँखें जुड़ा गईं। उन्हें गले लगा लिया। भोजन, आवास, विश्राम की समुचित व्यवस्था हुई।

शाम को आश्रमवासियो से उनका परिचय हुआ। एक लॉन मे सभी कुर्सियाँ डालकर बैठ गए। इस सब के बीच वायुयान की चर्चा उसके दिमाग मे ज्यो की त्यो जमी थी। दोषी कौन? समाधान क्या? ये सवाल उसके चिन्तन आकाश में पूर्ववत् मँडरा रहे थे।

चर्चा के बीच उसने पूरी घटना को यथावत सुनाया। साथ ही अपने प्रतिक्रियात्मक चिन्तन को भी। प्रत्येक की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि का शीतल अहसास उसे हो रहा था। समाधान के लिए सभी ने गुरुदेव की तरफ ताका।

दाढ़ी के भीतर से झिलमिलाती मुस्कान के ... कहना शुरू किया ...

है पर इन मानवीय प्रवृत्तियों के परिशोधन की जिम्मेदारी किसकी है ?

एक ऐसा सवाल—जिसके जवाब के बारे में पश्चिमी मन ने अभी तक सोचा ही नहीं । आगन्तुक वैज्ञानिक मौन थे । उनने स्वयं जवाब दिया- "अध्यात्म ।" "मानवीय चेतना के विविध स्तरों की संरचना प्रक्रिया की जानकारी करने इसमें आवश्यक फेर बदल करने में समर्थ विधा" ।

"तब यह अपनी जिम्मेदारी से इतना विमुख क्यों ?" हवा के तेज झोके के साथ उभरा वैज्ञानिक महोदय का सवाल वाजिब था ।

"स्थूल के मोह से बँधे मनुष्य ने अध्यात्म के तत्व को भुलाकर उसके कलेवर रूप कर्मकाण्ड को पकड़ना चाहा । पर यह भी कहाँ पकड़ा जा सका ? अस्तित्व की गहराइयो से निकल रही उनकी वाणी उपस्थित लोगों को एक पीड़ा का अहसास करा रही थी । देश-काल की अनेक प्रथाएँ, परम्पराएँ, रीत-रिवाज मान्यताएँ इससे आकर चिपट गए । अनेक मूढ़ताओ के अनुरूप अनेक धर्म । अध्यात्म का तत्व तो इन मूढ़ताओं के पहाड़ के नीचे दबा सिसक रहा है । कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट, हिन्दू, मुस्लिम, सिख का जामा पहनकर दूषित मानवीय प्रवृत्तियाँ धर्मतन्त्र के शुभ्र नीर वाले समुद्र मे रक्त की कीच घोलती है ।"

"ओह !" अनेक के मुख से एक साथ निकला । कइयों की लम्बी साँस एक साथ वातावरण में सरसरा उठीं ।

"ऐसी दशा मे विकृत मानवी-प्रवृत्तियाँ विज्ञान द्वारा जुटाए जा रहे साधन-संरंजाम का उपयोग कैसे करेगी, यह भी कोई बताने की बात है । मानवीय बुद्धि की कुटिलता की परिणति..." आशंका के भयावह सागर मे अनेक मन डूबने लगे । "तब फिर क्या ?" निराश वैज्ञानिक ने उनकी ओर देखा ।

"समाधान है ।" विश्व कवि की उर्वर कल्पना मुखर हो उठी । सुनने के लिए अनेक मन अकुला उठे । वह कह रहे थे "विज्ञान और अध्यात्म एक साथ मिले, एकाकार हों । इनमें विरोध की जगह सौहार्द्र पनपे ।"

"पर विज्ञान की प्रवणता और प्रयोगों की कसौटी पर क्या अध्यात्म टिक सकेगा ?"

"सुनकर कवि गुरु खिलखिलाकर हँस पड़े । भ्रमों से दूर रहने वाले विज्ञान को यही भ्रम है बार-बार । विज्ञान के ये गुण तो अध्यात्म के सहयोगी बनेगे । तर्क प्रवणता और प्रयोगो की छैनी-हथौड़ी ही तो इसे मूढ़ताओं के भार से मुक्त करेगी । जन सामान्य समझ सकेगा, अध्यात्म जमीन-इमारते नहीं, वेशभूषा-माया नहीं, अलगाव-आतंक नहीं, प्रेम है । इनसान को इनसानियत सिखाने की कला है ।"

दोनो मनीषी विभोर हो उठे । मानो विज्ञान और अध्यात्म के मिलन का उल्लास पर्व मना रहे है ।

वैज्ञानिक हाइजेन वर्ग कह उठे तब तो वैज्ञानिक अध्यात्म या आध्यात्मिक विज्ञान सुखी मानवता के चिन्तन और जीवन की राह बनेगा । भावी मानवता का आधारभूत जीवन दर्शन बनेगा । कवीन्द्र-रवीन्द्र ने प्रसन्नता व्यक्त कर अपनी सहमति की मोहर लगा दी ।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर से भौतिक विज्ञानी हाइजेन वर्ग का यह मिलन उनके जीवन की अमूल्य निधि बन गया । 'द होलो ग्राफिक पेरीडाइम' के उल्लेख के अनुसार इस मुलाकात के बाद न उन्होने न केवल भौतिकी की शोध मे बल्कि अपनी जीवन पद्धति में भारी फेर-बदल की । हमारा अपना जीवन भी भवितव्यता के अनुरूप कुछ ऐसा ही बदलेगा-नियन्ता यही आशा कर रहा है ।

महाकवि की लोक-सेवा

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ-टैगोर को आज सारा संसार न केवल जानता ही है बल्कि आदरपूर्वक नमन भी करता है । वे विश्वकवि ही नहीं विश्वनागरिक भी माने जाते थे । उन्होने अपने जीवन मे अपार ख्याति एवं सम्मान पाया । यूरोप, अमेरिका और एशिया के अनेकानेक विद्यालयों ने उन्हे डॉक्टर की सम्मानित उपाधियाँ दीं, इंग्लैण्ड की सरकार ने उन्ह रूर की पदवी से आभूषित किया । उनकी विश्व विख्यात रचना 'गीतांजलि' पर उन्हें संसार का सबसे सम्मानित पुरस्कार 'नोबुल-प्राइज' मिला ।

प्रायः लोग उनके इस सम्मान और ख्याति का कारण उनकी काव्य-प्रतिभा और साहित्यिक कृतियो को ही मानते हैं । बात भी कुछ ऐसी ही है । उनका साहित्यिक रूप भी उनके जीवन मे सबसे आगे है । उसी के पीछे उनके लोक-सेवा के कार्य छिपे हुए हैं । रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उतनी ही सक्रिय लोक-सेवा भी की है, जितना कि साहित्य लिखा है । उनकी सेवाएँ किसी भी रूप मे उनके साहित्य से न तो कम हैं और न कम महत्त्वपूर्ण ।

उन्होने अपने आरम्भिक जीवन-काल में ही 'भारती' नामक एक मासिक पत्रिका प्रकाशित की और स्वयं ही उसका सम्पादन किया । यह प्रकाशन उन्होंने व्यापार की दृष्टि से नहीं किया था । इसके पीछे उनका उद्देश्य जन-सेवा ही था । साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब कहा गया है । किसी भी समाज का साहित्य देख कर उसकी अन्तर्दशा और सभ्यता का स्तर जाना जा सकता है । समाजों के उत्थान और पतन में साहित्य एक स्पष्ट भूमिका प्रस्तुत करता है । साहित्य, समाज का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है । इन तथ्यों को रवीन्द्रनाथ टैगोर भलीभाँति जानते थे । उन्होने अपने इस पत्र द्वारा लेखको और कवियों को उचित निर्देशन तथा प्रकाशन दिया । अश्लील, गन्दा और निरुपयोगी साहित्य लिखने वालों की कड़ी आलोचना की, साहित्यिक रुचि को ऊँचा उठाया । इस प्रकार उन्होने 'भारती' द्वारा जनता का जो मानस-संस्कार किया, वह उनकी महत्त्वपूर्ण समाज सेवा ही थी ।

अपने इसी पत्र द्वारा उन्होंने युवकों में देश-भक्ति और राजनीतिक तथा आत्मिक-स्वाधीनता की प्रेरणा प्रसारित की थी । अपने इस पत्र द्वारा उन्होंने स्वाधीनता की आवाज को

ऊँचा उठाया और जन-मानस को उसके अनुरूप आंदोलित किया। इस प्रकार उन्होंने जो स्वदेश-सेवा का कार्य सम्पादित किया वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अपनी साहित्यिक तथा कलात्मक सेवाओ के अतिरिक्त उन्होंने कठिन से कठिन लोक-सेवाओ से भी मुख नहीं मोड़ा। जिस समय भारत के अनेक क्षेत्रो मे प्लेग का प्रकोप हुआ, उस समय यह सुकुमार कला-प्राण पुरुष एक सहृदय पुरुष की भाँति पीड़ित मानवता की सेवा के लिये सक्रिय हो उठा। उन्होंने प्लेग-पीड़ितो की सहायता के लिये प्रेरणा प्लावित अपीलें निकाली। प्रयत्नपूर्वक रोगियो के लिये धन तथा औषधियो की व्यवस्था की। डाक्टरो, नर्सों तथा उपचारकों से मिल कर उन्हे रोगियों की सेवा के लिये प्रेरित किया और भेजा। स्वयंसेवको का निर्माण करने में उन्होंने जिस परिश्रम तथा तत्परता से काम किया उसे देख कर यह मानने में संकोच होता था कि रवीन्द्र नाथ टैगोर कल्पना-लोक में निवास करने वाले एक कलाकार कवि है। उन्होंने प्लेग-पीड़ितो की सहायता के लिए लेखो और अपीलों द्वारा सरकार पर अपने जिस रूप को प्रकट किया था, वह उनके एक महान् लोक-सेवक होने का साक्षी था। इसके अतिरिक्त उन्होंने न जाने कितना धन तथा सामग्री स्वयं अपने पास से प्लेग-पीड़ितो के लिये भेजी थी।

बिहार के भूकम्प के समय रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जिस हार्दिक-करुणा, सहानुभूति और सम्वेदना का परिचय और कर्मठता का प्रमाण दिया उसके प्रकाश मे देखने पर वे लोक-सेवी, महा-मानव के सिवाय और कुछ भी न मालूम होते थे। उन्होंने भूकम्प से बरबाद हुए न जाने कितने बालक, वृद्ध और स्त्री-पुरुषो के आँसू सुखाये और अपनी मार्मिक सहायता तथा सहानुभूति द्वारा उनके टूटे हुए हृदयो को जोड़ा। आश्रयार्थी न जाने कितने पीड़ित परिवारो को आश्रय दिलाने की व्यवस्था की। दुःखी मानवता को सान्त्वना प्रदान करने वाली उनकी ये सेवाएँ इतिहास मे सदा सर्वदा के लिए लिखी रहेगी।

जाड़े का मौसम था। कई-कई ऊनी कपड़ा लाद लेने पर भी शीत से पीछा नहीं छूटता था। तापमान इतना नीचे गिर गया था कि खुले स्थानो मे रखा पानी जमकर बर्फ बन जाता था। ऐसे अवसर पर महाकवि रवीन्द्र लन्दन की एक सड़क पर जा रहे थे। चलते-चलते उन्होंने देखा कि सड़क के किनारे एक व्यक्ति खड़ा है, जो थोड़े से फटे-टूटे वस्त्र और जूते पहिनकर ही शीत की कठोरता को सहन कर रहा है। उसकी दीनावस्था देखकर रवीन्द्र का हृदय द्रवित हो गया और उन्होंने एक 'गिन्नी' (सोने का सिक्का) उसके हाथ पर रख दिया और बिना कुछ कहे आगे बढ़ गये। एक मिनिट भी नहीं बीता था कि वही भिखारी दौड़ता हुआ उनके पास आया और कहने लगा—"महोदय ! आपने भूल से मुझे एक गिन्नी दे दी है !" जब इन्होंने उसे आश्वासन दिया तब वह उसे लेकर गया।

इस घटना से जहाँ एक ओर कवि की दयार्द्र प्र
का पता लगता है वहाँ यह भी प्रकट होता है कि इंग्लै
जैसे 'भौतिकवादी' देश के निवासी हमारे 'अध्यात्मवादी'
देशवासियों की अपेक्षा अधिक ईमानदार और सत्यप्रिय
है। हमारे यहाँ तो बड़े लोगों की क्या बात बालकों को भी
छोटी आयु से ही लेन-देन में 'चालाकी' से काम ले
सिखाया जाता है।

जिस 'भ्रमण वृतान्त' में उपर्युक्त घटना दी गई है,
उसी में रवीन्द्र के भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम का भी
परिचय मिलता है। उनका 'ठाकुर-परिवार' पूर्ण रूप से
आधुनिक शिक्षा और सभ्यता का आगार था। महाकवि के
सबसे बड़े भाई, जो जज के पद पर थे, अंग्रे
आचार-व्यवहार के इतने प्रेमी थे कि उनके स्त्री-बच्चे प्रा
इंग्लैण्ड में रहा करते थे। जब रवीन्द्र के शिक्षा प्राप्त करने
के लिये इंग्लैण्ड जाने की बात तय हुई तो बड़े भाई ने
सोचा कि इनको अंग्रेजी रहन-सहन की कुछ शिक्षा देनी
चाहिए, जिससे योरोपियन समाज में अच्छी तरह घुल-मिल
सके। पर बहुत चेष्टा करने पर भी रवीन्द्र अपने 'स्वदेशी'
ढंग को न बदल सके।

नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड मे भारतीय वेष-भूषा में
रहने से लोग एक तमाशे की तरह उनको देखने के लिये
दौड़कर आते थे। एक बार एक स्कूली लड़के ने चिल्ला
कर कहा—'अरे, इस काले को तो देखो।' पर रवीन्द्र ऐसी
घटनाओ से विचलित नहीं हुये और उन्होंने विलायती पोशाक
पहिनना कभी स्वीकार नहीं किया। वे कहते थे कि अंग्रेज
लोग भारत जैसे गर्म देश मे उष्णता का कष्ट सहकर भी
अपनी भारी-भरकम पोशाक लादे रहते हैं तो हमको अपना
वेष त्यागकर उनकी नकल करने की क्या आवश्यकता है?

ऐसे स्वदेश और भारतीय संस्कृति के प्रेमी रवीन्द्रनाथ
का जन्म (सन् १८६१ से १९४१) कलकत्ते के ठाकुर परिवार
में हुआ था। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर देश के
प्रसिद्ध व्यक्ति और 'ब्रह्म समाज' के संस्थापको में से थे।
यह समाज अधिकांश मे आधुनिक शिक्षा प्राप्त और 'सुधारक'
श्रेणी के व्यक्तियों का समुदाय था, जिसे पुराने ढंग के पंडित
और कट्टर हिन्दू 'क्रिस्तान' कहकर प्रकाश करते थे।
रवीन्द्रनाथ भी पिता के कारण इसमे आते जाते थे। उन्होंने
इसमे जाकर एक ही निराकर ईश्वर की उपासना करना तो
सीखा, पर वे विदेशी फैशन तथा व्यवहार के प्रेमी कभी नहीं
बन सके।

रवीन्द्र का कविता-प्रेम केवल एक शौक या मनोरंजन
की तरह न था और न वे वाहवाही प्राप्त करने के लिए
काव्य-रचना करते थे। वे इसे आत्मा और परमात्मा के मध्य
सम्बन्ध स्थापित करने का एक साधन मानते थे और
जनता-जनार्दन के हित का ध्यान रखकर ही रचना करते।
फिर वे केवल कवि ही न थे वरन् उपन्यास, कहानी, नाटक,
निबन्ध आदि साहित्य के सभी अंगो मे कुछ न कुछ लिखते
ही रहते थे। अपनी रचनाओ मे भारतीय जनता का, खासकर

दीनजनों का वास्तविक चरित्र चित्रण करने के लिये रेलगाड़ी के युग में भी उन्होंने कलकत्ते से पेशावर तक की यात्रा बैलगाड़ी से की, जिससे वे यहाँ के ग्रामों और उनके निवासियों की दशा का निरीक्षण अपनी आँखों से कर सकें। इसका वर्णन करते हुए उनके जीवन चरित्र में एक स्थान पर कहा गया है—

'मार्ग में उनको अनगिनती गाँव और दीन कृषकों की झोंपड़ियाँ देखने का अवसर मिला। उन्होंने देखा कि तरह-तरह के कष्टों से, फटे-पुराने चिथड़े लपेटे हुये उनका जीवन व्यतीत होता है। यह देख कर चित्त दुःखी हो गया। वे सोचने लगे कि पंखों के नीचे सोने वाले अमीरों को क्या पता कि गरीबी कैसी होती है ?'

इन अभावों और त्रुटियों का जिक्र उन्होंने अपनी रचनाओं में किया जिससे शिक्षित देशवासियों की आँखें खुल गयीं। इन बातों की तरफ उन्होंने सरकार का ध्यान भी आकर्षित किया, जिससे शिक्षा और सिंचाई के सम्बन्ध में बहुत से नये सुधार किये गये।

पर रवीन्द्रनाथ भारतवर्ष की शिक्षा-प्रणाली से कभी प्रसन्न न थे। एक तो यहाँ की तत्कालीन शिक्षा की जड़ ही गलत थी। विदेशी सरकार ने जिस समय यहाँ शिक्षा का विस्तार किया उसका उद्देश्य अपने दफ्तरों के लिये क्लर्क और छोटे अफसर तैयार करना था। इससे न तो छात्रों का चरित्र-निर्माण होता था और न उनमें अपने देश की सभ्यता, संस्कृति की जानकारी और उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती थी। साथ ही शिक्षा-पद्धति खर्चीली थी, भारत का सामान्य ग्रामीण कभी उसका व्यय-भार नहीं उठा सकता था। इसलिये बहुत कुछ विचार कर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय जनता की शिक्षा-समस्या को हल करने के लिये यहाँ की प्राचीन गुरुकुल प्रणाली ही फलप्रद सिद्ध हो सकती है, जिसमें कम से कम व्यय में व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया जाता था। उसमें गुरु और शिष्य एक दूसरे के इतने निकट रहते थे और उनके जीवन में ऐक्य का ऐसा सूत्र उत्पन्न हो जाता था कि जन्म भर के लिये परस्पर सच्चे शुभचिन्तक बन जाते थे। उस प्रणाली की तुलना वर्तमान शहरी स्कूलों से कदापि नहीं की जा सकती, जहाँ 'गुरु और शिष्यों' का कुछ घण्टों के लिये अनिश्चित मिलन हो जाता है और वे एक दूसरे के लिये कल्याणकारी और प्रसन्नतादायक होने के बजाय 'भार स्वरूप' जान पड़ते हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने बोलपुर में 'शान्ति निकेतन' की स्थापना की और अपनी समस्त सम्पत्ति और शक्ति उसके संचालन में लगा दी। यहाँ तक कि उनकी पत्नी के आभूषण, उनका जगन्नाथपुरी वाला मकान तथा पुस्तकों का स्टाक भी उसका खर्च चलाने के लिये बेच डाला गया। सन् १९१३ में उनको अपनी जगत प्रसिद्ध रचना 'गीताञ्जलि' पर जो सवा लाख रुपया का 'नोबुल पुरस्कार' मिला वह भी संस्था को ही दिया गया। फिर किसी समय जब खर्च की कमी पड़ी तो वे एक 'अभिनय मंडली' बना कर भ्रमण करने के लिये निकले और अनेक बड़े नगरों प्रदर्शन करके संस्था के लिये धन एकत्रित किया। इस प्रकार उन्होंने सिद्ध कर दिखाया कि वे कोरे भावुक कवि ही नहीं हैं वरन् भगवान् कृष्ण के अनुयायी एक सच्चे 'कर्मयोगी' भी हैं।

महाकवि के परिश्रम एवं त्याग-भावना से इस संस्था की निरन्तर उन्नति होती गई और समय आने पर इसी के अन्तर्गत एक शाखा में 'विश्व-भारती' की स्थापना की गई, जिसमें संसार भर के विभिन्न देशों के विद्यार्थी आकर उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने लगे जिस प्रकार प्राचीनकाल में तक्षशिला और नालन्दा आदि के विद्यालयों में देश-देश के विद्यार्थी भारतीय ज्ञानामृत से अपनी आत्मा को परिपुष्ट करते थे। पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस शिक्षा-संस्था के सम्बन्ध में ठीक ही कहा था—"जिसने शान्ति-निकेतन को नहीं देखा उसने हिन्दुस्तान ही नहीं देखा।"

जूट के व्यवसाय में कई लाख रुपये का घाटा हो गया। सामान्य दृष्टि से होना यह चाहिए था कि वह रोते, कलपते, बीमार पड़ते, भाग-दौड़ मचाकर घाटा पूरा करने का प्रयत्न करते या फिर हो जाता 'हार्ट फेल' और लोक छोड़ परलोक की तैयारी करते।

पर वे थे असामान्य व्यक्ति, सागर की तरह धीर और गम्भीर थे। उनको न लाभ का लोभ था और न घाटे में अप्रसन्नता, निस्पृह कर्तव्य दूत—ऐसी विषम घड़ी में वह एक ऐसे प्रतिष्ठान की स्थापना की बात सोच रहे थे जो अपनी भारतीय-कला और संस्कृति को सुरक्षित और ज्योतिर्मय रख सके। कई लाख रुपयों की प्रस्तावित योजना थी।

तभी किसी ने पूछा—प्रारूप तो तैयार कर लिया पर पैसा कहाँ से आयेगा ? प्रश्न सामने आया—तब कहीं उन्हें याद आया कि उन्हे तो व्यवसाय में घाटा पड़ चुका है सचमुच पैसा कहाँ से आयेगा ? एक हल्की-सी लहर मस्तिष्क में उठी और वहीं विचारों के अथाह सागर में खो गई। आज तक कोई भी मानवतावादी सत्प्रयत्न अधूरे नहीं रहे, तो यह प्रयत्न ही क्यों अधूरा रहने लगा। ऐसी स्फुरणा अंतरंग में उठी और उन्होंने अपना पुरी स्थित बंगला, अपने पास की कई कीमती वस्तुएँ, मंगल स्मृतियों के कई उपादान तक बेच दिये थे। फिर भी आवश्यकता अधूरी की अधूरी रही। योजना का पूरा करने का पेट न भरा।

इस बात का पता जब कवीन्द्र रवीन्द्र की धर्म-पत्नी को चला तो उन्होंने बिना किसी से पूछे और कहे अपने सम्पूर्ण आभूषण एकत्र किये और एक पोटली में बाँधकर पतिदेव के चरणों में जा रखे। देव ! वह बोली—यह रही आपकी सम्पत्ति, यह आपके काम आये मेरे लिये इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है। टैगोर बाबू ने वह आभूषण बेच दिये और इस तरह असम्भव सा दिखने वाला 'शान्ति निकेतन' की स्थापना का कार्य भी सम्पन्न हो गया।

लोग कहते थे कि रवीन्द्र बाबू असामान्य व्यक्ति थे। उनके हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति उत्सर्ग का अनोखा भाव था पर जानने वाले जानते है कि उनकी प्रत्येक सदिच्छा को शक्ति, उनकी धर्मपत्नी मृणालिनी देवी ने दी थी। कविगुरु, प्रकाण्ड पण्डित, इंग्लैण्ड तक पढ़े-लिखे और माता मृणालिनी—एक गाँव की अनपढ़ कन्या, दोनों में परिस्थितियों की यह विषमता होते हुये भी अटूट और निश्छल दाम्पत्य-प्रेम, शान्ति-निकेतन की स्थापना से कहीं अधिक आदर्श और वन्दनीय है। आज के युग में जबकि छोटी-छोटी भूलो, अभावो, अयोग्यताओ के कारण भी गृहस्थ जीवन कटुता और मनो-मालिन्य के बुरे-से-बुरे रूप में परिणित हो जाते है रवीन्द्र बाबू का दाम्पत्य-जीवन समुद्र के उस प्रकाश-स्तम्भ की तरह है जो नाविको को दूर से ही उनका पथ-प्रदर्शित करता रहता है।

श्री रवीन्द्र बहुत शिक्षित थे, उनका सम्बन्ध गाँव की एक अनपढ़ कन्या से निश्चित हो रहा है यह उन्हे पता था। पर वे आज के नव-युवको की तरह नही थे। जो नाक-नक्शे, सौन्दर्य-शृंगार, शिक्षा और कला के साथ यह चाहते है कि कन्या दहेज के रूप में अपने पिता से चाहे वह निर्धन ही क्यो न हो, मोटी रकम अपने साथ लेकर आये। अपने समाज, अपनी जाति के अन्य लोगो की पीड़ा अनुभव न करने वाले युवको की अपेक्षा रवीन्द्र नाथ भिन्न मिट्टी के बने थे। उन्हें इंग्लैण्ड जाने का वीसा मिल चुका था। उनके घर वालो ने सोचा लड़का इंग्लैण्ड जाने से पूर्व वहाँ के रहन-सहन, शिक्षा-संस्कृति से परिचित हो जाये, अतएव उन्हे बम्बई के एक बहुत शिक्षित परिवार मे रखा गया। इस परिवार की एक युवती उनकी ओर असाधारण रूप से आकर्षित हुई, किन्तु उसने अपनी भूल जल्दी ही समझ ली। उसने अपने मन में समझ लिया, रवीन्द्र के अन्तरंग मे कवियो वाली भावुकता ही नहीं योद्धाओं जैसी दृढ़ता भी है। बहुत प्रयत्न करने पर भी वह रवीन्द्र को आकर्षित न कर सकी।

अपनी 'बाल-वधु' नामक कविता में कवीन्द्र ने अपने विवाह के प्रारम्भिक संस्मरण संकलित किये है। मृणालिनी जब ब्याहकर आई थीं तब कुछ अल्पायु की, कुछ अशिक्षित थीं। उसका प्रभाव था कि वे रवीन्द्र बाबू से बच्चों जैसा खेलने-कूदने वाला व्यवहार करती थीं। पर भावुक रवीन्द्र उनके इस व्यवहार से न तो कभी रुष्ट हुए न असन्तुष्ट। धीरे-धीरे अपने स्नेहपूर्ण व्यवहार से उन्होंने मृणालिनी को अपने जीवन मे घुला लिया।

मृणालिनी ने अपने पति के निश्चल-प्रेम को अन्तःकरण से अनुभव किया था इसलिए वे न केवल उनके साथ वरन् उनकी एक-एक वस्तु से परिवार के एक-एक सदस्य से पूर्ण आत्मीयता व ममत्व का व्यवहार करती थीं। रवीन्द्रनाथ जी के घर में उनकी एक वृद्धा भाभी थीं। उन्हें घर में सब लोग दीदी कहा करते थे। पर दीदी थीं कि उन्हे घर में किसी पर विश्वास नहीं था। वे किसी के हाथ का दिया पानी तक नहीं खाती थीं। घर के अलगाव की प्रवृत्तियाँ

स्वार्थपूर्णदृष्टिकोण के कारण होती है। मृणालिनी देवी ने अ
अपने आपको अपने पति की इच्छा में ही घुला दिया त
उनके स्वार्थ का कोई प्रश्न ही नहीं था। उनके स्व
की इस परमार्थ-प्रियता का ही फल था कि दीदी जैसी शक
वृद्धा का भी उन्होंने एकछत्र स्नेह पा लिया था। किसी के
हाथ का न खाने वाली दीदी को मृणालिनी के हाथ का ख
ही पड़ता था। ये कई बार स्नेह मे कह दिया करतीं।
मृणालिनी तेरी जैसी बहुएँ घर-घर हो जायें तो गृह-कलह न
की कोई वस्तु ही धरती पर न रहे।

इसका सम्पूर्ण श्रेय अकेली मृणालिनी को न देक
दाम्पत्य-जीवन की इस सुव्यवस्था को ही दिया जा सकता
जो पति-पत्नी दोनो मे एक-दूसरे के प्रति आदर्श, कर्तव्य द
के लिए उभरा था। मृणालिनी देवी एक बार बहुत अधि
बीमार हो गईं। अपने समाज का दुर्भाग्य है कि यहाँ पत्नी
कितनी ही सेवा करे, पति उससे छुएगा नहीं, उल्टे उ
लोकोत्तर पुण्य में कमी न पड़ने का भय दिखाता रहेगा औ
चाहेगा कि पत्नी की सेवाओ का जितना अधिक शोषण कि
जा सकता है किया जाना चाहिए। पर यदि कभी उल्टी सेव
का अवसर आये तो वहाँ से दूर भगेगा। पत्नी की सेव
को हीनता मानेगा। बेचारी स्त्रियाँ सुश्रूषा के अभाव में स्ने
से वंचित अपने कष्टो के दिन कैसे काटती है इसे तो वही
जानती है, फिर भी मनुष्य अपने आपको बड़ा माने, त
उसकी मूर्खता को क्या कहा जा सकता है।

पत्नी की सेवा बड़प्पन होती है यह श्री रवीन्द्र की
प्रतिष्ठा थी। वे अपनी पत्नी को दवा-दारू पिलाने से लेकर
उनके बिस्तर बदलने और पंखा झलने तक का काम स्व
ही करते थे। उन्हें बैठे कहानियाँ और मीठे-मीठे संस्मरण
सुनाया करते। मृणालिनी अपने पति के इस व्यवहार में ऐसी
निमग्न हो जातीं कि अपना सारा कष्ट भूल जातीं। मृत्यु हुई
तब उनकी एक ही कामना थी—मुझे जब जब नारी होने क
अवसर मिले तब तब रविबाबू जैसा ही पति मिले।

क्रोध यदि क्रोध, प्रतिशोध यदि प्रतिशोध को प्रखर क
सकता है तो प्रेम और कर्तव्य की प्रतिध्वनि प्रेम और कर्तव्य
के रूप में वापस न लौटे ऐसा सम्भव नहीं। रविबाबू ने
शान्ति-निकेतन स्थापित कर दिया। विद्यार्थी आ गये थे।
अध्ययन प्रारम्भ हो गया पर सामने दिक्कत थी बच्चों के
लिए भोजन बनाने की। तत्काल कोई ऐसी महिला मिल नहीं
रही थी जो शान्ति-निकेतन के आदर्शों में फिट हो सके।
बात साधारण थी उसके लिये किसी बड़े घराने की स्त्री से
कहा जाता तो वह अपमान समझती, पर अपने पति के ह
छोटे-बड़े कार्य को भगवान् का कार्य मानने वाली मृणालिनी
को उस काम में कहीं भी तो अपमान दिखाई नहीं दिया।
बहुत दिन तक उन्होंने भोजन स्वयं बनाकर बच्चों को
खिलाया। बच्चे उनके हाथ का भोजन जितना खाते उससे
अधिक उनके स्नेह का पयपान कर तृप्ति अनुभव करते थे।
उनके बाद भोजन बनाने वाली कोई और आई, पर उनके

पति के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ मृणालिनी के हाथों के भोजन का आनन्द उन बेचारो को फिर नहीं मिल सका।

अनूठे कर्मयोगी महापण्डित— राहुल सांस्कृत्यायन

बौद्ध-धर्म तथा संस्कृति के अध्ययन के जिज्ञासु एक भारतीय युवक ने तिब्बत जाकर अध्ययन करने का निश्चय किया। ब्रिटिश सरकार ने इसे 'व्यर्थ की बात' कहकर अनुमति नहीं दी। युवक को उनकी अनुमति की पर्वाह भी क्या थी ? उसने देखा सरकारी प्रतिबन्ध तो उन सुगम मार्गो पर ही है जहाँ से जन-सामान्य का आना जाना होता है। कण्टकाकीर्ण पथो पर तो चौकी-पहरा नहीं है। नैपाल की राह से जाने वाला मार्ग तो दुर्गम था किन्तु नैपाल में किसी भी भारतवासी को शिवरात्रि के बाद ठहरने देने का नियम नहीं था। फिर भी उन्हे तो किसी तरह तिब्बत पहुँचना था। उन्होंने अपना वेष बदल कर नैपाल मे प्रवेश किया। फिर लद्दाखी का रूप बनाकर मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो का सामना करते हुए वे तिब्बत पहुँच ही गए। इस सफलता से उसका यह विश्वास दृढ हो गया कि पूरे मनोयोग से किया गया काम कभी अपूर्ण नहीं रहता।

सोलह वर्षीय यह युवक अपने नाना के घर (हैदराबाद दक्षिण) से भाग आया था। मिडिल तक उर्दू पढ़ने के बाद उसे इस शिक्षा से कुछ होता जाना नजर नहीं आया, वह अपने ज्ञान-भण्डार को विस्तृत करना चाहता था। उर्दू मिडिल पास युवक जो १९०७ मे घर से भाग आया था, अपनी संकल्प-शक्ति, आपत्तियों से जूझने की क्षमता और परिश्रम के बल पर १९३५ में संस्कृत तथा पाली का महापण्डित त्रिपिटकाचार्य बन गया। जिसे राहुल सांस्कृत्यायन के नाम मे सारा विश्व जानता है। बौद्ध धर्म के श्रेष्ठ विद्वानो मे इनकी गिनती हुई है।

राहुल सांस्कृत्यायन भारतीय संस्कृति का उदात्त स्वरूप विश्व के सम्मुख रखना चाहते थे इसके लिए उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थो की खोज करना आरम्भ कर दिया। इस खोज के लिए उनको प्राण हथेली पर रखकर कार्य करना पड़ा। भोजन और आवास की परवाह किये बिना उन्हें पहाड़ो मे घूमना पड़ा। अपने काम मे वे कितने लीन रहते थे—यह एक उदाहरण से स्पष्ट है कि वे बीमारी के समय मे भी 'प्रमाणवार्तिक' ग्रन्थ का नाम ले रहे थे जिसे उन्होंने स्वस्थ होते ही खोजना आरम्भ कर दिया और सफल भी हो गये।

देश के पराधीन होने से वे चाहते थे कि स्वयं भी स्वतन्त्रता आन्दोलन मे भाग ले। मन मे द्वन्द्व चलता था कि पराधीनता से लड़ूँ या संस्कृति के क्षेत्र मे खोज करूँ। सन् १९२१ तथा १९२४-२६ मे ढाई वर्ष तक के स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने के कारण ढाई वर्ष तक जेल मे रहे। इसके बाद उन्होंने अपना क्षेत्र-धर्म और संस्कृति के प्राय: लुप्त ग्रन्थो का पुनरुद्धार करना ही चुन लिया।

राहुल जी के कार्यों का लेखा-जोखा किया जाय तो आँखें आश्चर्य से फैली ही रह जायेगी। मनुष्य करना चाहे तो वह क्या नहीं कर सकता। राहुल जी दो दर्जन भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। इन भाषाओं को सीखने के लिये उन्हें कई देश-विदेशो में भटकना पड़ा था। देश-विदेशो मे जाकर इन्होंने भाषा-ज्ञान ही प्राप्त किया हो ऐसा नहीं है बल्कि वहाँ के इतिहास तथा दर्शन का भी गहन अध्ययन करते रहे।

सैकड़ो पुस्तकों के लेखन के साथ-साथ कितने ही ग्रन्थो की खोज भी चलती रही। अध्यापन का क्रम भी अनवरत चलता ही रहा। राहुल जी कहा करते थे कि यह सब करना कोई बड़ी बात नहीं है यदि कोई इन्हें करने का मन मे ठान ले। वे एक नहीं पूरी चार-चार पुस्तकें एक साथ ही आरम्भ करते थे। जब एक को लिखते-लिखते मन ऊब जाता तो दूसरी प्रारम्भ कर देते। इस प्रकार ऊबने की स्थिति का प्रश्न ही नहीं उठता था।

काम की चिन्ता उन्हे हर क्षण लगी रहती थी। वे कहा करते थे—"व्यक्ति को आयु देते समय प्रकृति कंजूसी करती है। मुझे जितना काम करना है उसके अनुपात मे मुझे आयु बहुत कम मिली है।" उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि समय कितना अमूल्य होता है ? क्षण-क्षण का वे सदुपयोग करते थे। प्रातःकाल चार बजे उठने के बाद रात्रि के बारह बजे तक अविरल-गति से प्रवाह-मान-सरिता की तरह उनका कार्य चलता रहता था।

पूरे दिन के कार्यक्रमो का वे इस प्रकार से निर्धारण करते थे कि किसी समय मन ऊब न जाए। विभिन्नता का समावेश करके उन्होंने सरसता उत्पन्न कर ली थी। दोपहर मे नाम मात्र का विश्राम करने के अतिरिक्त वे कभी सुस्ताते भी नहीं थे। उनका यह क्रम एक वर्ष नहीं, दो वर्ष नहीं, पूरे चालीस वर्ष तक चला।

उन्होंने न किसी विश्वविद्यालय मे शिक्षा ही पाई थी और न उन्होंने कोई डिग्री ही प्राप्त की थी। ज्ञानार्जन के समक्ष वे इन डिग्रियों को महत्त्वहीन समझते थे। वास्तविक प्रतिष्ठा वही होती है जिसे बिना किसी अलंकरण के प्राप्त किया जाय। श्रीलंका के विश्वविद्यालय मे बौद्ध-धर्म तथा संस्कृति विभाग का डीन बनाया गया।

इतनी भाषाओं के ज्ञाता होने पर भी वे प्राय: संस्कृत तथा हिन्दी मे ही लिखा करते। श्रीलंका में इनके व्याख्यानो का सिंहली में अनुवाद करके छात्रो को पढ़ाया गया। सिंहली के ज्ञाता होने के कारण छात्रों ने इनसे सिंहली मे भी पढ़ाने के लिये दबी जबान से आग्रह किया। इस पर उन्होंने कहा कि भारतीय धर्म तथा संस्कृति की इन दो भाषाओं में ही अच्छी और सही अभिव्यक्ति हो सकती है। उनकी सभी पुस्तकें हिन्दी तथा संस्कृत मे लिखने का भी यही कारण था

राहुल जी अपने कार्यों में इतने निमग्न रहते थे कि अपना आपा भी भूल जाते थे। इतिहास की घटनाएँ चाहे वे कैसी भी हो जब उनके विषय में वे बतलाना प्रारम्भ करते

तो ऐसा लगता जैसे उन्होंने वे घटनाएँ अपनी आँखों से देखी हों या वे स्वयं उसके पात्र रहे हों। उनका कहना था—"मैंने उन ऐतिहासिक स्थलों की मिट्टी तथा पत्थरों को भी चखकर देखा है कि इनमे स्वाद कैसा है।" स्मृति की यह विलक्षणता कोई नवीन नहीं है। जिस विषय के प्रति जितनी एकाग्रता से सोचा जाता है वह उतना ही स्थायी रहता है। वे यह मानते थे कि किसी भी विषय में भूल जाने का कारण है उसे पूरे मनोयोग से नहीं पढ़ा गया, ज्ञानार्जन के प्रति निष्ठा रखकर नहीं, बेगार टालने जैसा अध्ययन कर लिया गया है।

साठ वर्ष की वृद्धावस्था में भी उनमें युवावस्था जैसा ही उत्साह और फुर्ती दिखाई देती थी। मधुमेह के मरीज होने के कारण वे शारीरिक शक्ति से क्षीण भले ही नजर आते थे किन्तु मनोबल के सहारे अपने सभी कार्यों को पूरा कर लेते थे। हाथ काँपने लगे तो उन्होंने टाइप का सहारा ले लिया किन्तु काम नहीं छोड़ा इस हाथ काँपने की असमर्थता को भी उन्होंने अपने लिये हितकारी ही माना और कहने लगे कि टाइपराइटर मे कितनी ही प्रतियाँ एक साथ निकल जाती है, श्रम और समय की भी बचत हो जाती है। इस प्रकार की निराशाओ मे भी जो आशावान बने रहते है वे ही जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकते है।

जो कुछ भी एक बार पढ़ सुन या देख लिया जाता है वह स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता है। इन क्रियाओ के साथ जितना एकात्म स्थापित किया जाता है वह उतना ही स्थायी होता है। राहुल जी इन तथ्य से अनभिज्ञ न थे। इसी कारण उन्होंने अपनी स्मृति को इतना विस्तृत कर लिया था कि वे जहाँ कहीं भी जाते कुछ न कुछ लिखा ही करते थे। चलती हुई रेलगाड़ियों व धर्मशालाओं में भी उन्होंने लिखने का क्रम बन्द नही किया। सन्दर्भ के लिये उन्हे पुस्तको की आवश्यकता नहीं होती थी। उनका मस्तिष्क ही सब कुछ था। उनकी तरह स्वाध्याय का स्तर कोई भी बनाना चाहे तो उसके लिये तो यह असम्भव नहीं है। मनुष्य का मस्तिष्क यन्त्र इतना सूक्ष्म होता है कि उसे पूर्ण रूप से सक्रिय बनाया जाय तो जीवन में बहुत कुछ किया जा सकता है।

इतने ज्ञानार्जन के बाद भी उन्होंने कभी अपने ज्ञान पर गर्व नहीं किया। प्रत्येक व्यक्ति से वे साधारण व्यक्ति की तरह सरलता से ही मिलते थे। वे बच्चो तथा बूढ़े सभी के लिये 'राहुल' जी ही थे। भारतीय संस्कृति तथा धर्म के शोधकर्ता मे यही सब स्वाभाविक भी था।

राहुल-सांस्कृत्यायन के रूप में संकल्प, साहस, परिश्रम तथा दृढ़ निष्ठा की जो विजय परिस्थितियो पर हुई वह सामान्य जन-मानस को सदैव महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिये जीवन अर्पित करने की प्रेरणा देती रहेगी। ऐसे ही कर्म-निष्ठ व्यक्ति विश्व-मानव दिशा दे सकते है।

साहित्य व कला के उपासक—नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के निर्माण के लिये देशी नरेशों ने विपुल आर्थिक सहयोग दिया था। हिन्दू-विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में धन्यवाद भाषण में महात्मा गाँधी ने जो मार्मिक बात निर्भयतापूर्वक कही उससे राजाओं पर जो प्रतिक्रिया हुई होगी वह तो वे ही जाने किन्तु उपस्थित जनता के हृदय को उन्होंने जीत लिया। "भोजन और वस्त्र के अभाव में जब सारा देश गरीबी में जीवन व्यतीत कर रहा है, तब कुछ लोगों का ठाठ बाट से जीना पाप है।" गाँधी जी ने इन शब्दों में उनके क्रान्तिकारी एवं जन-सामान्य के प्रतिनिधि नेता होने के प्रखर स्वर गूँजे थे।

उस समय गाँधी जी के द्वारा दिये गये इस निर्भीक प्रवचनो से प्रभावित होने वालों मे तमिलनाडु प्रदेश के उदीयमान राष्ट्रभक्त-कवि और चित्रकार श्री नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै भी थे। जो पहले गर्मदल के समर्थक थे। किन्तु इस भाषण को सुनने के बाद तो वे पूरे गाँधीवादी हो गये।

गाँधीजी के असहयोग और सिद्धांतों में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनमें स्वतंत्रता ही एकमात्र लक्ष्य नहीं थी वरन् भारत की समग्र प्रगति की ठोस आधारभूमि भी वे प्रस्तुत करते थे। भारतीय धर्म, अध्यात्म, जीवन-दर्शन व जनमानस की प्रवृतियों का उनमे तालमेल था। यही कारण था कि भारतीय जनता गाँधीजी के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान हो उठी थी। उन्हे महात्मा मानने लगी थी। सही माने में गाँधीजी ने अपने आपको उस ढंग से विस्तारित व विकसित किया भी था। युवक रामलिंगम् का उनसे प्रभावित हो जाना स्वाभाविक ही था। क्योंकि वह मूलतः कलाकार थे, गाँधीवाद में उन्हें भारतीय धरा की सोंधी गंध सूँघने को मिली जिससे उनके नासापुट परितृप्त हो गये। और उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन गाँधीवादी सिद्धान्तों के अनुसार देश-सेवा के लिये समर्पित कर दिया।

उनके रचे हुए गीतो ने दक्षिण भारत मे स्वतन्त्रता आन्दोलन को प्रखर बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सात्विक उत्साह का ऐसा निर्झर उनके गीतो मे बह निकला जो जन-जन के हृदय पादपो को सींचता रहा। उन्हे राष्ट्र-कवि सब मणिय भारती का उत्तराधिकारी बना दिया गया। तमिल भाषी उन्हे आदर सहित 'नामक्कल कविञर' कहते है।

सत्याग्रही बंधुओं के लिये तो उनके गीत एक प्रकार से युद्ध प्रयाण-गीत ही थे। नमक-सत्याग्रह के समय राजाजी के नेतृत्व मे नमक-कानून तोड़ने के लिये वेदारण्यम् जाने वाला जत्था उन्हीं के उस तमिल गीत को गाता हुआ जोश मे भर उठा था जिसकी कुछ पंक्तियो का भावार्थ इस प्रकार है—

"बिना खड्ग के बिना रक्त के नया युद्ध यह आया है, अमर सत्य से जिन्हे प्यार है वे सब इसमें साथ दे ।" सचमुच यह काव्यांश सत्याग्रह के उस स्वरूप को प्रस्तुत करता है जो भारतीय धर्म, दर्शन व संस्कृति के उपवन में उगा, खिला एवं विकसित हुआ था । जो व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ आदर्शों के लिये संघबद्ध हो प्रयाण करने को प्रेरित करता है ।

ऐसे साहित्य-उपासक का जन्म सन् १८८८ मे तमिलनाडु प्रदेश के सेलम जिले के मोहनूर गाँव में हुआ था । किन्तु उनका अधिकांश जीवन नामक्कल ग्राम मे बीता था अतः वही उनके नाम के साथ जुड़ गया । बाल्यकाल से ही उनका झुकाव कविता और चित्रकला की ओर रहा था । स्कूली-शिक्षा के साथ-साथ उनकी ये प्रतिभाएँ भी विकास पाती रहीं । स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके कॉलेज में प्रविष्ट ही हुए थे कि कान की भयंकर पीड़ा ने उन्हे चिकित्सालय की शरण जाने को विवश कर दिया । पर्याप्त उपचारोपरान्त कान की पीड़ा दूर हुई और वह श्रवण शक्ति भी हर ले गयी । इस प्रकार आगे की पढ़ाई के लिये द्वार बन्द हो गये सदा के लिये ।

यौवन मे ही इस प्रकार श्रवण शक्ति खो देने पर पहले तो वे खिन्न हुए किन्तु फिर उसे विधि का विधान मान कर सहज रूप से स्वीकार करने लगे । कहीं इसके पीछे भी कोई अच्छा ही उद्देश्य होगा यह सोचकर वे अपनी साहित्य-कला-साधना की ओर झुके । पिता चाहते थे कि वे नौकरी करे । उन्होंने रामलिंगम् को नौकरी दिलायी भी सही पर उनका मन उसमे रमा नहीं । अतः उन्होंने चित्रकला को अपना व्यवसाय और कविता को अपनी आत्म क्षुधा परितृप्त करने का माध्यम बनाया ।

उनमे प्रतिभा तो थी ही उसे अध्यवसाय के द्वारा उन्होंने खूब निखारा । प्रकृति के प्रेरक-सौन्दर्य, सजीव चित्रण और महापुरुषों का छवि अंकन उनके प्रिय विषय थे । उन्हीं विषयो पर उन्होंने अपने चित्रो की सृष्टि की । उनकी तूलिका मे सूक्ष्म रेखांकन के साथ ही सत्प्रेरणाओं के चटख रंग भरने की भी अद्भुत क्षमता थी । मानव के भीतर बैठे हुए देवत्व को विकसित करने, उभारने मे ही वे अपनी कला की सार्थकता स्वीकार करते थे । कला को अपने उच्चादर्शों से पदच्युत कर काम-वासना प्रधान, नारी के मोहक आकर्षक स्वरूप को अंकित करना वे महापाप मानते थे । उनके चित्रो मे भी कविता के से उच्चभाव रहते थे ।

शीघ्र ही चित्रकला के क्षेत्र मे उनका नाम विख्यात होने लगा । १९१० मे मद्रास मे हुई चित्रकला-प्रदर्शनी मे रामलिंगम् पिल्लै के चित्रो को प्रथम पुरस्कार मिला । पत्र-पत्रिकाओ मे उनकी कला-साधना की सराहना की गयी । १९१३ से १९२० तक उन्होने चित्रकला में कई अभिनव प्रयोग किये । वस्तुतः उनकी कला व्यवसाय न होकर आत्माभिव्यक्ति की साधना थी अतः वहाँ पवित्रता, निष्कलुष सौन्दर्य व उच्च भावो की अभिव्यक्ति साकार हो उठी थी ।

उनकी यह कला साधना अधिक लम्बे समय तक नहीं चल सकी । जब देश पराधीन हो देशवासियो पर विदेशी शासकों का क्रूर दमन चक्र चल रहा हो तो ऐसे समय में कोई भावनाशील युवक कैसे कला साधना में ही अपने को निरत रख सकता है । जब वे कॉलेज में प्रविष्ट ही हुए थे उन्हीं दिनो बंग-भंग को लेकर जन आन्दोलन का एक प्रबल प्रवाह-सा उठा था । उनके युवा हृदय मे भी मातृभूमि को दासता के बंधनो से मुक्ति दिलाने के लिये छटपटाहट उसी समय से होने लगी थी । लोकमान्य तिलक और क्रान्ति द्रष्टा अरविन्द के विचारों ने उसे क्रियात्मक रूप दे दिया और वे राजनीति में भाग लेने लगे ।

उनके पिता पुलिस कर्मचारी थे । उनके द्वारा निषेध किये जाने पर भी वे विद्यार्थी-जीवन में ही क्रान्तिकारी साहित्य पढ़ा करते थे । पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले क्रान्तिकारी लेख पढ़ना व स्वतंत्रता समर्थक जनसभाओ मे भाग लेने में उन्हें अव्यक्त प्रसन्नता होती थी ।

साहित्य की शक्ति किसी भी शस्त्रास्त्र से कम नहीं होती वरन् परमाणु बमो से भी वह अधिक शक्तिशाली होती है । अतः वे ज्यों-ज्यों क्रान्तिकारी-साहित्य के सम्पर्क में आते गये त्यों-त्यों उनके हृदय मे देशभक्ति का ज्वार तरंगायित होने लगा । अरविन्द का अपनी पत्नी के नाम लिखा गया वह पत्र पढ़ कर तो वे अभिभूत हो उठे थे, जिसमें उन्होंने भारत माता की पराधीनता का वर्णन करते हुए लिखा था कि जब मेरी भारत माँ ही मर रही है तो मै तुमसे स्नेहालाप करने का समय कहाँ से निकालूँ ।

वे देशवासियो के सिर से पराधीनता का कलंक धोने के लिये मैदान में कूद पड़े । अपनी जोश भरी कविताओ के माध्यम से, आग बरसाते भाषणो के माध्यम से वे जन जागरण का कार्य करने लगे । वे खुल कर राजनीतिक सभाओं में भाषण देते, देशभक्ति पूर्ण कविताओ का पाठ करते । घर-घर जाकर सोये भारतवासियो को उठ खड़े होने और परतंत्रता की लोह-शृंखलाओं को तोड़ फेंकने के लिये उद्बोधन देने लगे ।

१९१४ में तिरुचनापल्ली मे हुए कांग्रेस-सम्मेलन के मंत्री के रूप मे उन्होने अपनी सेवा और प्रबंध कुशलता का परिचय देकर आगंतुकों का मन मोह लिया । सम्मेलन के अध्यक्ष करुणाकर मेनन और उद्घाटन कर्त्री श्रीमती ऐनीबेसेंट ने उनकी मुक्त कण्ठ से सराहना की थी । उनकी युवावस्था से जो देश सेवा का यज्ञ आरम्भ हुआ वह मृत्युपर्यन्त चलता ही रहा । इस प्रकार वे कलम कूची के ही धनी नहीं कर्म के भी धनी सिद्ध हुए ।

अब तो वे खुल कर सत्याग्रह-आन्दोलन मे भाग लेने लगे । १९३२ के सत्याग्रह में उन्हें एक वर्ष का कारावास भोगना पड़ा । इसी समय उनकी पत्नी का भी देहावसान हो गया । उनका स्वास्थ्य भी जेल के वातावरण व रूखे-सूखे

भोजन के कारण लड़खड़ा गया । उधर आजीविका का स्रोत भी मद पड़ गया । इन सब कष्टो को उन्होंने बड़े धैर्य के साथ हँसते-हँसते सहा । जेल से छूटते ही वे दुगुने उत्साह से देश-सेवा व साहित्य और कला साधना मे जुट गये ।

उन्होने कविता के रूप मे वीणा-वादिनी-सरस्वती की आराधना की थी । उनकी कविता मे वह शक्ति थी जो जन-मानस को मनचाही दिशा मे मोड़ सकती थी । उसका सदुपयोग उन्होने राष्ट्रीय-चेतना जगाने मे किया । उनके रचे हुए गीत उन दिनो तमिल प्रदेश के बच्चे-बच्चे की जिव्हा पर थे । आज भी वे उतने ही लोकप्रिय है । उन गीतो ने लाखो व्यक्तियो को अपने व्यक्तिगत व पारिवारिक हितो मे कटौती करके देश के लिये—राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये समय, साधन व शक्ति जुटाने की प्रेरणा दी थी । चित्रकला को भी उन्होने इसी प्रकार पूजा, उपासना से कम पावन, कम महत्त्वपूर्ण नही माना था ।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् मद्रास राज्यसरकार ने उन्हे राज्य कवि बनाकर उनका आदर किया । उस अवसर पर उन्होने जिस विनम्रता और अनासक्ति का परिचय दिया वह अनूठा ही था । उन्होने इस पद के लिये स्वयं को अयोग्य बताते हुए उसे कविकुल का सम्मान मानते हुए कविकुल के लिये ही स्वीकार किया । इसके पीछे उनका यही भाव था कि काव्य प्रतिभा मनुष्य को मिली हुई एक दैवी-विभूति है । उसे पाकर अहंकार मे भर उठना या उसके महत्त्व को नकारते हुए दुरुपयोग करने लगना बहुत बड़ी भूल है क्योकि यह उसकी अपनी प्रतिभा नही होती वरन् ईश्वर से किसी विशेष प्रयोजन के लिये उसे मिली होती है, ईश्वर से ।

उनके सम्पूर्ण काव्य मे सनातन-भारतीय-संस्कृति के प्रति दृढ निष्ठा या जड़तापूर्ण अति भौतिकतावाद के प्रति विद्रोह झलकता है । उसमे सर्वत्र आतंकित चैतन्य का सा भाव गूँजता है । वे स्वतंत्रता के पश्चात् भी संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सांस्कृतिक व नैतिक पुनरुत्थान के सद्प्रयासो मे निरत रहे । सच्चे गाँधीवादी की तरह वे स्वराज्य को रामराज्य मे परिणित करने के लिये प्रयत्न करते हुए २४ अगस्त, १९७२ को सदा के लिये मौन हो गये । उनकी यह जीवन-यात्रा साहित्यकारो, कलाकारो के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करती है । एक प्रश्न चिन्ह छोड़ती है, क्या वे साहित्यकार के कलाकार के धर्म को निभा रहे है ?

विद्याविभूति के सदुपयोगकर्ता वासुदेव शरण

आधुनिक भारत के डॉ. रघुवीर, डॉ. भगवानदास और महापण्डित राहुलसांकृत्यायन की कोटि के वंदनीय विद्वानों की शृखला की एक कड़ी थे श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल । उनके जीवन के बारे मे उनके ये शब्द बहुत कुछ कह जाते है—"पढ़ने और लिखने को इतना पड़ा है कि दस जन्म लूँ तब भी पूरा न हो । जीवन का क्या भरोसा, ? काम बहुत है और समय बहुत कम । जीवन तो जायेगा ही पर इ व्यर्थ नहीं जाना चाहिए"—और इसीलिये उन्होंने जीवन के हर क्षण का उपयोग करके जीवन को सार्थक बनाया ।

जीवन के संध्या-काल मे तो वे विशेषरूप से जि कुछ अधिकतम बन पड़े कर जाना चाहते थे । उनके मृ के कुछ समय पूर्व ही हिन्दी-भाषा के मूर्धन्य-साहित्य रामकृष्णदास ने पदमश्री गोपालप्रसाद व्यास ने कह था—"आजकल उन्हे आदमी नहीं सुहाते । किसी से बातें करना उन्हें प्रिय नही है । कहीं आना जाना भी उन्होने छो दिया है ।" यह सब इसलिये किया जा रहा था कि जित कुछ अधिक से अधिक किया जा सके, इस जीवन में क जाये ।

वासुदेवशरण जी की विद्वता और उनकी सर्जना शक्ति विलक्षण थी । उन्होने जितने विपुल और बहुमुखी वाङ्मय की रचना की उतनी विश्व के बहुत कम मनीषियो ने की है । उनकी रचनाओ मे से जो कुछ प्रकाशित हो गया व भी इतना अधिक है कि आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि कैसे एक व्यक्ति ने इतना लेखन किया है । इसके अतिरिक्त उनके द्वारा रचित छोटे-मोटे अप्रकाशित ग्रन्थो की संख्या भी अस्सी से कम नहीं बतलायी जाती । वेद, उपनिषद, पुरा. महाभारत एक ओर तो पाणिनी, कात्यायन, वररुचि और पतजलि दूसरी ओर संस्कृत के कालिदास, अवधि के जायसी और ब्रज के सूरदास से लेकर चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य और पुरातत्व मे उनकी गहरी पैठ थी । इन सब को उन्होंने नये अर्थ और नयी व्याख्या प्रदान की ।

व्यक्ति, जीवन मे कितना कुछ ज्ञानार्जन कर सकता है ! इस तथ्य के वे सटीक उदाहरण थे । श्री गोपालप्रसाद व्यास ने उनके लिये लिखा है—"संसार की शायद ही कोई मुख्य भाषा ऐसी हो जिसका ज्ञान वासुदेव जी को न हो और जिसकी लिपि, उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध मे उनकी जानकारी न हो । भारत की किसी भी भाषा का शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ऐसा बचा हो जो वासुदेव जी ने न पढ़ा हो । भारत-विद्या का शायद ही ऐसा कोई प्रश्न हो जिसका उत्तर उनके पास न हो । ज्ञान के प्रति जिज्ञासा उन्हे अत्यंत प्रिय थी । लोग उनसे भाँति-भाँति के प्रश्न पूछने आया करते थे ।"

कई लोगो को तो अपने देश का इतिहास भी ज्ञात नही होता, पर उन्हे तो लाखो शब्दो का इतिहास ज्ञात था । उनसे एक प्रश्नकर्ता ने प्रश्न किया—"वासुदेव जी ! यह 'पागल' शब्द कैसे बना है ?" तो वे लपक कर अपने आसन से उठे और भीतर से एक कोष निकाल लाये । कहने लगे—"इसे रूस के जार ने पहले-पहल छपवाया था । पहले-पहल 'पागल' शब्द का प्रयोग इसी कोष मे हुआ ।" ऐसा विलक्षण था उनका ज्ञान और विलक्षण थी उनकी ज्ञान-साधना ।

सरस्वती के इस अनन्यआराधक का जन्म जिस कुल में हुआ उस कुल की परम्परा ही दूसरी थी। वैश्य कुलोत्पन्न वासुदेवशरण के पुरखों ने लक्ष्मी की उपासना में ही अपने जीवन का सार्थकत्व समझा था। उनकी विलक्षण ज्ञान साधना को उनके परिवार की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में देखने पर और भी आश्चर्य होता। कैसे एक वणिककुल में एक ऋषिकल्प व्यक्ति उत्पन्न हुआ। कहाँ से मिले उन्हें ये संस्कार ! डारविन का विकासवाद यहाँ फेल हो जाता है। निश्चित रूप से ये संस्कार उनकी आत्मा के साथ पलते थे।

वासुदेव शरण जी का जन्म सन् १९०४ में मेरठ जिले के खेड़ा ग्राम में हुआ था। उनके पितामह का अपनी व्यावसायिक बुद्धि, व्यवहार कौशल व प्रतिभा के कारण दस बीस गाँवों में सिक्का चलता था। १९१२ में उनके पिताजी व्यापार के सिलसिले में लखनऊ गये तो उनकी प्रतिभा को शिक्षण कुल के माध्यम से विकसित होने का समुचित आधार मिल गया। हाईस्कूल, इन्टर, बी. ए., एम. ए., पी. एच. डी. और डी. लिट. तक के शैक्षणिक सोपान उन्होंने लाँघे।

इन डिग्रियों से उनके साहित्यकार का जितना नाता नहीं है उतना नाता दूसरी ही शिक्षा से है। सन् १९१५ में उनकी रुचि संस्कृत भाषा पढ़ने की ओर हुई। उनके पिताजी ने उन्हें संस्कृत सीखने के लिये अवध के प्रतापगढ़ जिले के एक सात्विक ब्राह्मण पं. जगन्नाथ जी के पास रख दिया। इसे वासुदेवशरण जी अपने पूर्वजन्म का संयोग ही मानते थे। उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है—"पण्डित जी ने मुझे पुराने ढंग की संस्कृत-विद्या में डाल दिया। मेरे लिए ज्ञान का नया क्षेत्र खुल गया। संस्कृत पढ़ते हुए मैं बहुत दूर निकल गया। पण्डित जी की कृपा से मेरा परिचय पाणिनी के महान् ग्रंथ अष्टाध्यायी से हो गया। 'अष्टाध्यायी' भारतीय जीवन का दर्पण है। १९२९ में जब मैंने प्राचीन इतिहास में एम. ए. कर लिया तो मेरे गुरु डॉ. राधा कुमुद मुखर्जी ने आग्रह के साथ मुझे 'अष्टाध्यायी' विषय पर ही शोध कार्य करने को कहा। मैंने बारह वर्ष तक उस विषय पर कार्य किया। १९४१ में मेरा ग्रंथ 'इण्डिया एज नोन टू पाणिनी' समाप्त हो गया और मुझे पी. एच. डी. की उपाधि मिली।"

१९४६ में उसी ग्रंथ के परिवर्द्धित संस्करण पर उन्हे डी. लिट. की उपाधि मिली। १९५३ मे यह ग्रंथ प्रथम बार प्रकाशित हुआ तो उन्हें देश-विदेश में बहुत ख्याति मिली।

वासुदेवशरण जी दिखने मे जितने साधारण थे उतनी ही असाधारण थी उनकी विद्वत्ता और उनका कृतित्व। उनकी काया दुबली-पतली थी। देखने में वे हड्डी का ऐसा ढाँचा दिखाई देते थे जिस पर चमड़ी चढ़ा दी गयी हो। फिर भी उनके चेहरे पर आठों पहर खेलने वाली मुस्कान और बालकों जैसा सरल स्वभाव हर किसी के लिये आकर्षण की वस्तु था।

उनके व्यक्तित्व में जो प्राकृत सरलता, निर्मलता और सज्जनता थी उसे देखते हुए उन्हें 'देवता' पुरुष कहा करते थे। अपनी दुर्बल काया से उन्होंने जितना कार्य किया वह उनके महा-प्राण होने का साक्षी है। निरन्तर श्रम और अध्यवसाय से उनका शरीर रोगाक्रान्त भले ही हो गया हो उनकी आत्मिक उत्फुल्लता में कोई कमी कभी नहीं आयी। ज्ञान के अथाह-सागर जैसे उनके व्यक्तित्व में किसी ने कभी अहं का ज्वार उठते नहीं देखा। संसार की विपुल-शब्द-सम्पदा और महान-भारत-विद्या को दोनों बाहों में समेटे हुए भी वे न तो कभी अनुदार हुए न कृपण। पूरे चालीस वर्ष तक महादानी कर्ण की भाँति उन्होंने अपनी ज्ञान सम्पदा को दोनों हाथों से लुटाया, पर इस दाता का कोष कभी रिक्त नहीं हुआ।

वे अपनी पारिवारिक परम्परा को निभाते तो वे भी अर्थ-साधना करके सुख-सुविधा और आरामतलबी का जीवन जी सकते थे। किन्तु उन्होंने तो विद्या का अखण्ड तप किया था। एक लकड़ी का तख्त, सामने लिखने की एक छोटी सी चौकी, उस चौकी पर भगवान विष्णु की छोटी सी प्रतिमा, कमरे में ढेरों पुस्तके और लिखने-पढ़ने में डूबे हुए वासुदेवशरण जी, बस यही उनकी दुनिया थी। एक योगी की तरह पद्मासन लगा कर वे घण्टों कार्य किया करते थे।

विद्या की विभूति तो कइयों को ईश्वर देता है। किन्तु वासुदेवशरणजी की तरह उसकी साधना और सदुपयोग बहुत बिरले ही कर पाते हैं।

१९३१ मे एम. ए. कर लेने के बाद दो वर्ष बाद ही उन्हें मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय का अध्यक्ष चुन लिया गया। १९४० में वे लखनऊ संग्रहालय के अध्यक्ष बनाये गये। १९४६ में वे दिल्ली के राष्ट्रीय-संग्रहालय के अध्यक्ष पद पर बिठाये गये। तत्पश्चात् १९५१ में हिन्दू-विश्वविद्यालय वाराणसी के कला-विभाग के अध्यक्ष बन कर काशी आये तो वहीं जमकर रह गये।

उन्होंने संस्कृत-साहित्य की सहायता से कला और पुरातत्व सम्बन्धी सहस्रों शब्दों का उद्धार किया। यूनानी कला के लिये भी ऐसा ही कार्य यूनान में हुआ था, वासुदेवशरणजी का यह कार्य भी कुछ उसी प्रकार का था।

वासुदेवशरणजी का मन कुछ ऐसा था कि उसमें बहुत से विषयों के प्रति रुचि होती गयी थी। जैसे किसी घर में बहुत से द्वार और खिड़कियाँ हों ऐसा ही उनका मन भी था।

३५ वर्ष तक उन्होंने भारतीय-कला का अध्ययन किया। इस अध्ययन का परिणाम उनकी कई भागो मे लिखी पुस्तक 'इंडियन आर्ट' है। जनपदीय दृष्टिकोण, भारतीय कला, संस्कृत-साहित्य और भारतीय-संस्कृति के कितने ही विषय उनके मन-मस्तिष्क में भरते चले गये। उन्होंने जब दीर्घतमस के अस्यवामीय सूत्र की व्याख्या लिखी तब उन्हे यह विश्वास हो गया कि वेद-विद्या सृष्टि-विद्या है, उसके

सदृश ऊँची और कोई विद्या नहीं । यही सनातनी योग-विद्या या प्राण-विद्या है ।

वासुदेवशरणजी साहित्य और कला के शास्त्र और लोक के रसमय व्याख्याता थे । नीरस से नीरस विषय पर वे जिस सरसतापूर्वक पठन-पाठन और चिंतन कर सकते थे वह अपूर्व था और यही उनकी अनुपम विद्वत्ता का आधार भी था । उन्होने भारतीय-दर्शन, भारतीय-संस्कृति, भारतीय-पुरातत्व, भारतीय-साहित्य, भारतीय-इतिहास और भारतीय-भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण कार्य किया । उनका अकेले का कार्य एक संस्था के कार्य जितना है । अपने छोटे से जीवन मे जितना महत्व उन्होंने देश और देशवासियों को दिया उस ऋण से हम उऋण नहीं हो सकते । उन जैसे व्यक्तित्व ही राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पदा होते है ।

इतने बड़े विद्वान और कला-मर्मज्ञ होते हुए भी उन्हे अपनी विद्वता और मर्मज्ञता का तनिक भी गर्व नहीं था । आत्म-विज्ञापन से वे कोसो दूर रहते थे । उनकी दर्जनों पुस्तके प्रकाशित हुई है जिनमे बौद्धिक-क्षुधा की तृप्ति का अपरिमित भण्डार है । इसके लिये उन्हे कितनी साधना करनी पड़ी होगी ? पर उनमे कहीं उन्होने अपने बारे मे कोई भी जानकारी नही दी है और न किसी मे अपना चित्र ही छपाया है ।

पुरातन मे भी ऐसे कई उपयोगी तत्व है, जिनकी आधुनिक-युग मे भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कभी थी । जो कुछ प्राचीन मे अच्छा था, आज के लिये योग्य है, उसे पूरी योग्यता के साथ भेंट करने की ऋषि तुल्य-तप-साधना उन्होने की । उन्होने अपनी समस्त वृत्तियो को इसी एक ध्येय के वृत्त मे समेट लिया था । वे जंगल में नही गये, किसी गुफा मे एकांतवास उन्होने नहीं किया पर अपने शरीर और मन की समस्त वृत्तियो को समेट कर एक ध्येय के लिये जीवन का एक-एक क्षण समर्पित कर देने की एकांतिक-साधना उन्होंने की थी । उस महान साधना को देखते हुए वे हजारो योगियों से भी अधिक काम कर गये थे । ऐसे प्रतिभा के धनी, ज्ञान के कोष और कर्म के व्रती ही अपने सुर-दुर्लभ मनुष्य-जन्म को सार्थक कर पाते है ।

वेदाध्ययन और अनुसन्धान हेतु आचार्य विश्वबन्धु का सराहनीय समर्पण

संस्कृत के उद्भट विद्वान और भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त, औरियेण्टल कालेज लाहौर के प्राध्यापक और पंजाब विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. वूलनर के पास उनका एक प्रिय मेधावी शिष्य अपनी एक समस्या लेकर आया और बोला—"श्रीमान मै चाहता हूँ कि अपना सारा जीवन वेदो के अध्ययन के लिये समर्पित कर दूँ । किन्तु पिताजी विवाह के लिये पीछे पड़े हुए है । मेरा विचार है यदि मै इस झंझट में फँस गया तो अपने काम को ठीक तरह से नहीं कर सकूँगा । आप इस सम्बन्ध में मुझे उचित राय दीजिये ।"

अपने छात्र का यह आदर्श भरा संकल्प सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए । थोड़ी देर विचार करने के बाद उस गोरा विद्वान ने अपने छात्र से कहा—"बड़ी अच्छी बात है । मै तुम्हारे इस निश्चय पर बहुत प्रसन्न भी हूँ । तुम्हारे पिताजी को मै इस बात के लिये समझा भी दूँगा । लेकिन मन मे दुराग्रह मत रखना यदि उचित समझो और ऐसा कोई जीवन साथी मिल जाय तो तुम्हारे उच्च प्रयोजन मे सहायक हो सके तो विवाह अवश्य कर लेना । यह कोई बहुत आवश्यक नही है कि अविवाहित रहकर ही कोई बड़ा काम कर सके ।"

इस प्रकार युवक को समुचित राय भी मिल गयी और प्रशंसा भी किन्तु उसके जीवन में ऐसा अवसर ही नहीं आया कि उसे अपने प्रयोजन में सहायता देने वाला कोई जीवन साथी मिला हो और न उसने कभी उसके अभाव का ही अनुभव किया । उसके सामने इतना बड़ा काम पड़ा था कि उसे इस विषय पर सोचने का समय मिल सके । यह युवक आगे चलकर वेदविद्या के प्रख्यात विद्वान आचार्य विश्वबन्धु के नाम से जाना गया । जिसे फ्रांस और इटली की सरकार ने श्रेष्ठ विद्वानो को दी जाने वाली उपाधियों से सम्मानित किया । उसने स्वामी विश्वेश्वरानन्द द्वारा आरम्भ किये वैदिक शब्दकोष को पूरा किया । ग्यारह हजार पृष्ठो के इस शब्दकोष का अधिकांश भाग उन्होने रचा था । यह विश्व मे वेदो का सबसे प्रामाणिक शब्द कोष माना गया ।

होशियारपुर पजाब के विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसन्धान-संस्थान और संस्कृत तथा भारतीय-विद्याओ के विश्वेश्वरानन्द संस्थान के निदेशक के रूप मे भारतीय धर्म और संस्कृति की उन्होने जो सेवा की, उसने उनकी कीर्ति को अमर कर दिया ।

उनके जीवन मे ऐसे कई अवसर आये जब उन्हे आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा । उनके सामने समय-समय पर ऐसे प्रस्ताव भी आये कि वे अपनी विद्वता व योग्यता से उच्च-पद और अच्छी आय पा सकते थे किन्तु उन्होने इस प्रकार के महान उद्देश्य से डिगने की बात स्वप्न में भी नही सोची । वेद जैसे ज्ञान के भण्डार पर शोध और उनके अध्ययन मे निरत रहते हुए उन्होने स्वेच्छा से गरीबी वरण की । प्रतिभा, योग्यता और विद्वता होने की बड़ी बात नही मानते थे यदि उनका सदुपयोग निस्वार्थ-भाव से नही किया जाय ।

शोध-संस्थान की आर्थिक स्थिति को देखते हुए उन्होने संस्थान पर भार बनने की अपेक्षा निस्वार्थ-भाव से काम करते रहना ही श्रेयस्कर समझा । उन्होने अपनी पैतृक-सम्पदा से कम्पनियो के कुछ शेयर खरीद लिये थे उन्हीं के लाभांश से वे अपना खर्च चलाया करते थे ।

उन्होंने अपने जीवन का एक ही लक्ष्य रखा । वेदो पर अनुसन्धान, अध्ययन और संस्कृत के दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन । यह उन्हीं की निष्ठा व श्रम का परिणाम था कि विश्वेश्वरानन्द-शोध-संस्थान द्वारा प्रकाशित प्रत्येक ग्रन्थ को प्रामाणिक माना गया, सम्मानित किया गया । उनका जीवन उन प्राचीन भारतीय आचार्यों की याद ताजा कर देता है जिनका जीवन महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन मे ही नियोजित होता था ।

आधुनिक युग के ऋषि साहित्यकार विष्णुसखाराम खांडेकर

६४ वर्ष की आयु में जब शरीर साथ देने से इन्कार करने लगता है—तो खांडेकर जी ने अपनी उन कृतियों को कलम का स्पर्श दिया, जो अधूरी पड़ी थीं । साहित्यकार कभी बूढ़ा नहीं होता क्योंकि लेखनी और शब्द ही तो उसके शरीर और प्राण हैं । जीवन और जगत में जो देखा, अनुभव किया उसमे से जो अवांछनीय लगा उसके संशोधन का संकल्प लेकर ही लेखक की कलम उठती है, तब वह साहित्यिक ऋषि पद का अधिकारी बन जाता है । उसके मात्र विचार ही नहीं स्वयं का व्यक्तित्व भी क्रान्तिदर्शी बन जाता है ।

इस वृद्धावस्था में ही खांडेकर जी ने सन् १९६२ तक पन्द्रह उपन्यास, दो सौ निबंध, चार सौ से अधिक लघु कथाएँ तथा सौ-डेढ़ सौ काव्य के ग्रन्थों का प्रणयन किया था । यों लिखने को तो बहुत कुछ लिखा जाता है, परन्तु लेखन की सार्थकता तो तभी है जब सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी यह जीवन संघर्ष और विकारों के पराजित करने की प्रेरणा दे । खांडेकर जी ने इस कसौटी पर खरा उतरने वाला विशाल-साहित्य प्रस्तुत किया है । इसका एक कारण उनका स्वयं का जीवन और अनुभव भी रहे होंगे, जो उन्हें पैसठ वर्ष की दीर्घावधि तक मिले।

खांडेकर जी का जन्म महाराष्ट्र-प्रान्त के सतारा जिले में सांगली नगर के निवासी वकील परिवार मे हुआ था । बाल्यकाल के कुछ वर्ष बड़े आराम से व्यतीत हुए । नियति को शायद उन्हें विपन्नताओं की आग में तपाना था । क्योंकि, प्रतिकूल परिस्थितियो मे मनुष्य की अन्तर्निहित प्रतिभा की अभिव्यक्ति की जितनी सम्भावना होती है, उतनी सुख-सम्पन्न जीवन मे नहीं । उनकी आयु अभी तेरहवर्ष की ही थी कि पिता की मृत्यु हो गयी । परिवार की सम्पूर्ण व्यवस्था लड़खड़ा गयी । खांडेकर जी तीन भाई थे, तीनो ही अनाथ हो गये ।

पिता की मृत्यु के बाद खांडेकर जी के चाचा ने उन्हे गोद लेना चाहा । वे तीनों भाइयो मे मझले थे । प्रचलित-परम्परा के अनुसार सबसे बड़े और सबसे छोटे भाई को दत्तक नहीं लिया जाता । इसलिए चाचा की गोद में खांडेकर जी को ही जाना पड़ा । परिवार का साथ छोड़ कर, उन्हें चाचा के पास जाना उचित नहीं जँचा । भले बुरे जैसे भी दिन हों, अपने आत्मीय परिवार के साथ ही व्यतीत करना श्रेष्ठ है । घर वालों को इस स्थिति में छोड़कर स्वयं सुखी और आराम से रहना किशोर गणेश आत्माराम को अच्छा नहीं लगा । उन्होंने यही कहा कि—"मुझे अकेले अपने को सुखी नहीं बनाना है ।"

चाचा द्वारा स्कूल जाने का प्रलोभन देने तथा भाइयों द्वारा ज्यादा जोर देने पर ही खांडेकर जी अपने चाचा के पुत्र बने । वे गणेश-आत्माराम से विष्णु सखाराम बन गये । उस समय वे सोलह-सत्तरह वर्ष के होंगे । इस उमर में इतना सोच-विचार करना परिवार के प्रति अगाध-आत्मीयता और सुख-दुःख में सहजीवन की भावना का ही परिचायक है ।

नये पिता ने विष्णु सखाराम को स्कूल में भर्ती करवा दिया । हाईस्कूल तक की पढ़ाई उन्होंने सांगली मे ही पूरी की । पढ़ने लिखने में वे अग्रणी ही रहे । अच्छे अंको से उत्तीर्ण होते रहने के कारण आगे पढ़ने के लिए उन्हें छात्रवृत्ति मिली और हाईस्कूल के बाद की शिक्षा के लिए पूना चले आये । चाचा की आर्थिक स्थिति भी कोई खास अच्छी नहीं थी । वे जब पूना जाने के लिए तैयार हुए तो सांगली से निकलने के लिए उनके पास किराये तक के पैसे नहीं थे । वे पैदल ही चल दिये ।

१२ अप्रैल, १९२० को पन्द्रह मील की पैदल यात्रा कर वे कोंकण से शिरोदा पहुँचे । शिरोदा में उन्होने वहाँ के ट्यूटोरियल स्कूल में शिक्षकों के रिक्त स्थान का विज्ञापन पढ़ा और खांडेकर जी ने सोचा कि इस पद के लिए आवेदन कर देना ही उचित रहेगा । आगे के अध्ययन-क्रम के साथ निर्वाह और भरण-पोषण की समस्या का समाधान भी हो जायगा । दोहरा लाभ देने वाले इस दुर्लभ अवसर को उन्होंने हाथ से नहीं जाने दिया और स्कूल के प्रधान को अपना आवेदन दे ही दिया ।

खांडेकर जी को ट्यूटोरियल स्कूल में अध्यापकपद पर नियुक्त कर दिया गया । इस पद पर रहते हुए उन्होने अपने साहित्यस्रष्टास्वरूप का निर्माण किया तथा अध्यापन कार्य को भी निष्ठा और सजगता से करते रहे । आत्म-विकास और कर्तव्य-निष्ठा दो अलग-अलग बातें हैं, फिर भी दोनों अन्योन्याश्रित हैं । कर्तव्य का समुचित रूप से पालन किये बिना कोई भी व्यक्ति अपनी प्रतिभा को कुशलतापूर्वक निखार नहीं सकता । कर्तव्य पालन का आदर्श व्यक्ति के विकास की सम्भावनाओं को मूर्तरूप प्रदान करता है ।

खांडेकर जी की शैक्षणिक योग्यता बहुत कम थी । पर उन्होंने अपने कर्तव्यनिष्ठ स्वभाव के कारण सभी साथी अध्यापकों तथा अधिकारियों का स्नेह अर्जित कर लिया था । इस कारण उन्हें हर कोई सहयोग देने के लिए तैयार रहता । उसी स्कूल के संस्कृत के एक अध्यापक की सहायता से इस भाषा का साहित्य पढ़ा । बाणभट्ट और कालिदास की कई

रचनाओ का उन्होने गहन अध्ययन किया । वहीं वे मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार देवल तथा खांडेलकर और गडकरी, कोल्हटकर जैसे विद्वानो के सम्पर्क मे आये । इन विद्वानो के सम्पर्क व सान्निध्य का लाभ उठाते हुए खांडेकर जी ने लोक-जीवन को भी निकट से देखा । दूसरी भाषा के साहित्यकारो तथा उनकी कृतियो का अध्ययन कर उनका प्रभाव, वैशिष्टय और शैली से प्रेरणा प्राप्त की ।

अभी तक खांडेकर जी आत्म-विकास और कर्तव्य-पालन की ओर ही ध्यान दे पा रहे थे । तभी उनके पिता के एक मित्र डॉ. देव ने खांडेकर जी को जन-सेवा की ओर प्रेरित किया । डॉ. देव अपने मित्र के पुत्र की ज्ञान-प्रतिभा से बड़े प्रभावित हुए थे और इसी कारण वे खांडेकर को अपने व्यक्तित्व का लाभ सम्पूर्ण समाज को देने के लिए अनुप्रेरित करने मे लगे हुए थे ।

जन-सेवा की सुप्त भावनाएँ हृदय मे तरंग लाने लगी तो खांडेकर जी इसका उपयुक्त माध्यम तलाशने में जुटे । लोक-जीवन का अध्ययन कर वे इस तथ्य से तो अच्छी तरह परिचित हो गये थे कि समाज और जनसाधारण कई समस्याओ तथा विकृतियो से परेशान एवं उद्विग्न है । चिन्तन-मनन द्वारा उन्होने यह भी जाना कि इन विकृतियों का एकमात्र कारण सामाजिक-कुरीतियाँ, पारिवारिक अस्त-व्यस्तता था । व्यक्तिगत अनैतिकता भी है । विवेक और सामाजिकता का अभाव ही हर व्यक्ति को अवांछनीयता की ओर ढकेलता है । यदि किसी प्रकार इन विकारों को दूर किया जा सके तो सभी समस्याएँ आसानी से सुलझ सकती है ।

सभी विकारों और समस्याओ को सुलझाने का एक मात्र उपाय दिखायी दिया, जन-मानस के स्तर को ऊँचा उठाना । उसमें घुसी हुई विकृतियो को दूर करना । इसके लिए उन्होने माध्यम चुना—रंग-मंच, फिल्म और साहित्य । सिनेमा और रंगमंच ही सर्वसाधारण के मनोरंजन का साधन था । प्रबुद्ध-वर्ग का व्यक्ति, अवकाश का समय साहित्य का आस्वाद लेकर व्यतीत करता था । दोनो वर्गों को इन माध्यमो से सही दिशा प्रदान की जा सकती थी ।

१९२० से ३८ तक शिरोदा स्कूल मे अध्यापन कार्य करके इस नये लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शिक्षक पद से त्याग पत्र दे दिया और हँस पिक्चर्स में आ गये । इस फिल्म कम्पनी के लिए उन्होने कई चित्र कथाओं का निर्माण किया । उनकी सभी फिल्म कथाएँ समाज-सुधार के उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखी गयी थीं । उनका पहला कथा चित्र 'छाया' के नाम से रिलीज हुआ । उसी वर्ष इस फिल्म को उत्कृष्ट सिने—कथानक का स्वर्ण पदक मिला ।

१९३६ से ४७ तक अच्छे स्तर की मराठी-फिल्मों के इतिहास निर्माण मे उनका अपूर्व योगदान रहा । बाद में वे साहित्य-सृजन की ओर आकृष्ट हुए । १९२९-३० में उनका 'हृदय की पुकार' उपन्यास तथा एक कहानी संग्रह नव पल्लिव के नाम से भी प्रकाशित हुआ ।

'ययाति' पुस्तक पर उन्हे सन् १९६१ में महा सरकार तथा साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत किया । दूसरे व उन्हें 'ययाति' पर 'ज्ञानपीठ' पुरस्कार भी मिला है । इत सफल साहित्यकार होते हुए भी खांडेकर जी सदैव अर्प प्रगति से अतृप्त ही रहे । उनका हर प्रयास पिछले प्रयत से निखरा हुआ रहा है ।

भारत-माता के अनन्य आराधक—
पं. विशुन नारायण दर

अँग्रेजी की विख्यात उपन्यास-लेखिका मिसेज स्टील उन दिनों भारत-यात्रा के दौरान शिमला आई हुई थी । उस समय उन्हे जिस भारतीय विद्वान ने सर्वाधिक प्रभावित किया था, वे थे पं. विशुन नारायणदर । तब दर के लेख उच्च-कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करते थे । स्वराज्य के समान व स्वदेशी के ग्रहण की प्रेरणाएँ ही उनके लेखों मे प्रधानतया मिलती थी । पढ़े-लिखे लोगों में हिन्दी-भाषा के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत करने मे भी उनकी लेखनी सफलतापूर्वक चलती थी । उनके लेखो में प्रतिपादित विचार, पाठक के मस्तिष्क को कौंचते चले जाते और हृदय की गहराइयो मे जा घुसते । विचारों की तीक्ष्णता और भाषा के गठन ने दर को मिसेज स्टील की दृष्टि मे अद्वितीय बना दिया । वस्तुतः वे थे भी असाधारण ।

शिमला मे निवास करने के कार्यक्रम को बीच में ही बदलकर वे विशनु नारायण दर से मिलने के लिए लखनऊ गयीं । एक साधारण से मकान में अति सादगी पूर्ण जीवन बिता रहे दर को देखकर स्टील आश्चर्यचकित रह गयीं । लेखो का स्तर देख कर तो वे यह मान बैठी थी कि लेखक एक सफल-साहित्यकार होगा । अपने देश में साहित्यकारों की स्थिति अच्छी तरह जानने के कारण उन्होने अनुमान लगाया था कि दर तो काफी सम्पन्न और धनवान होंगे तथा उन्ही तरह से ठाठ बाट और ऐश्वर्य से परिपूर्ण जीवन उनका होगा । परन्तु, उनके संपर्क मे आकर तो उन्हे यह बिलकुल भी महसूस नहीं हुआ कि जिस व्यक्ति से वह मिलने आयी है यह वही हो सकता है । कहीं मै गलत जगह पर तो नहीं आ गई—वे बड़ी असमंजस मे पड गयीं । फिर भी आयी है तो अपना संदेह दूर करना चाहिए अथवा गल्ती भी ठीक प्रकार से जान लेनी चाहिए ।

इसी कारण, उन्होने अपनी आशंका व्यक्त करते हुए पूछा—"क्या मैं विशुन नारायण दर से ही मिल रही हूँ जिनसे मुलाकात करने के उद्देश्य से मैं यहाँ आयी हूँ ।"

"आप ठीक ही कह रही है देवी जी—दर ने कहा—मुझे ही विशुन नारायण दर कहते है ।"

वाणी में जो मधुरता और विनम्रता थी उसने स्टील को प्रभावित कर लिया । जो व्यक्ति अपनी लेखनी से आग उगलता हो, व्यवहार मे वह इतना सौम्य और सुहृद भी हो सकता है । यह तथ्य उन्हें चमत्कृत कर गया ।

ढंग से प्रभावित होने का दूसरा कारण था दर की सादगी और साधारणसी जिंदगी। कारण पूछते हुए बोलीं वे—"आप जैसे सफल साहित्यकार को इस स्थिति में देखते हुए मुझे विश्वास नहीं होता कि विशुनन‍ारायणदर आप ही हैं। इसलिए आप मेरे कहने का बुरा मत मानियेगा।"

उस समय दर महाशय चाहते तो अपनी महानता की अच्छी छाप छोड़ सकते थे। परन्तु नहीं, उन्होंने आत्म-प्रकाशन के स्थान पर यथास्थित को सामने रखा और कहा—"बहिन जी, इस समय भारत के साहित्य जगत् में यह स्थिति नहीं आयी है कि यहाँ का लेखक भी धन सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति बन सके।"

उस समय साहित्य-सृजन का कोई व्यक्ति अपनी जीविका नहीं चला सकता था। फिर भी दर महोदय अपना अधिकांश समय लेख लिखने, विचार व्यक्त करने और भारत के सुषुप्त मानव की तन्द्रा तोड़ने का प्रयत्न करने में बिताते थे। वस्तुतः लेखन उनका पेशा हो भी नहीं सकता था। जिस व्यक्ति के लिए लेखन पूजा हो, आराधना हो, आरती हो वह अपनी इस लक्ष्य-साधना को व्यवसाय कैसे बना सकता है। वस्तुस्थिति से अवगत होकर स्टील का हृदय सहानुभूति से भर आया और अपनी सदाशयता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—'यदि आप उचित समझें तो इंग्लैण्ड चलिये। वहीं आपकी प्रतिभा का सही मूल्यांकन होगा।'

'आपकी सद्भावनाओं के लिए बहुत बहुत धन्यवाद। परन्तु देवी जी, आप मुझे ठीक प्रकार से समझ नहीं पाई हैं'— श्री दर ने आत्म, विश्लेषण करते हुए कहा—मेरे विचार में लेखन व्यवसाय नहीं एक साधना है। लोकमंगल की साधना। मैं अपने देशवासियों में इस साधना के माध्यम से आत्म-गौरव का भाव जगाना चाहता हूँ। इसलिए मेरे लिए उपयुक्त स्थान यहीं है।'

स्टील ने इतना निष्ठावान लोक-साधक और साहित्याराधक और कहीं न देखा था। इसीलिए उनके प्रति सम्मान और श्रद्धा का भाव और भी अधिक बढ़ गया। विदेशियों के लिए भी समाराध्य पं. विशुन नारायण दर एक ऐसी विभूति थे जिन्होंने अँग्रेजी-साहित्य का भण्डार भरा और अपने देश के नागरिकों को अँग्रेजी निष्ठा के लिए फटकारा भी सही।

सन् १८६४ में उत्तरप्रदेश के एक नगर मे विशुन नारायण दर का जन्म हुआ। एफ. ए. की परीक्षा लखनऊ में ही पास कर, वे विलायत पढ़ने के लिए चले गये। अध्ययनशीलता का गुण उन्हें अपने परिवार से विरासत में मिला था। सौभाग्य से, विलायत यात्रा के दौरान जहाज पर ही उनकी मुलाकात संस्कृत के विद्वान और वेदमर्मज्ञ प्रो. मैक्समूलर से हो गयी। प्रोफेसर साहब इस युवा-भारती से बड़े प्रभावित हुए और उन्हें विदेश की चकाचौंध भरी सभ्यता में रहते हुए भी अपने देश और आध्यात्मिक परम्पराओं के प्रति गौरव को भुला न देने के लिए कहा—दर भी विद्वान प्रोफेसर से प्रभावित हुए थे। उनके विषय में वे थोड़ा बहुत जानते थे, इसलिए इस ऋषि की बात को उन्होंने गाँठ में बाँध लिया और वचन दिया कि वे पाश्चात्य वातावरण से कुछ सीखेंगे तो केवल अच्छे तत्व ही।

मैक्समूलर के परिचय प्रभाव से वे इंग्लैण्ड में हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे विद्वान के संपर्क में आये। स्पेन्सर के अतिरिक्त टिण्डल हक्सले, डार्विन, लेकी, कालीइल्द प्रभृति पुरुषों को विचार साहित्य भी उन्हें प्राप्त हुए। उन्होंने इन विद्वानों के साहित्य का गहन अध्ययन किया और जिस निष्कर्ष पर पहुँचे वही उनके भावी-जीवन का सूत्र संचालक बना। उन्होंने अनुभव किया कि कोई भी जाति या समाज अपने अस्तित्व की सुरक्षा केवल स्वतन्त्र रहकर ही कर सकती है। गुलाम और पराधीन देश के नागरिक अपने विकास में कभी सफल नहीं हो सकते। उन्होंने निश्चय किया कि आगे चलकर जब भी कभी अवसर मिला तो वे इस व्यवस्था पर अवश्य चोट करेंगे।

विदेशी-शासन से संघर्ष करने की मानसिक तैयारी और बैरिस्ट्री पास कर वे १८८७ में भारत लौटे। परन्तु, यहाँ आकर तो उन्हें सर्वप्रथम अपनी जाति के, समाज के लोगों को ही अपने विरोध में खड़ा पाया। कश्मीरी ब्राह्मणों ने उनकी समुद्री यात्रा पर आपत्तियाँ कीं। उस समय तक कोई भी उनका सजातीय ब्राह्मण विदेश नहीं गया था। वे तो शासन और विदेशियों से संघर्ष की तैयारी कर चले थे परन्तु यहाँ एक दम उल्टी ही बात देखी और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। परन्तु, इसकी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। अन्धविश्वास जनित दुराग्रही विरोध उपेक्षित होने पर स्वयंमेव ही ठण्डा पड़ जाता है। उसी प्रकार दर महाशय का विरोध भी अपने आप समाप्त हो गया।

मैक्समूलर को दिया गया वचन भलीभाँति निभाते हुए उन्हें अपने देश को स्वतन्त्र कराने की चिंता भी हुई। तब भारतीय-संस्कृति और सभ्यता पर पाश्चात्य सभ्यता का आक्रमण हो रहा था। अँग्रेजी-शासन और ईसाई मिशन के मिले जुले षड्यन्त्र भारत-वर्ष ने राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार का निर्दयतापूर्ण शोषण करने में रत थे। शासन और विदेश के इन कुटिल इरादों को कई विचारशील व्यक्तियों ने जाना था और लोक-चेतना को जाग्रत कर उसे विफल करने का श्रम भी किया था। जो लोग इस उद्देश्य से कार्य कर रहे थे वे अपर्याप्त थे। इसलिए आवश्यकता थी कि बड़ी संख्या में लोग इस कार्य में लगें।

विशुन नारायण दर ने भी अपना कर्तव्य समझा और वे वैयक्तिक महत्वाकांक्षा को तिलाञ्जलि देकर देश-सेवा के कार्य में लग गये। वे चाहते तो सफल वकील हो सकते थे। परन्तु उन्होंने तो निश्चय किया कि सामान्यजनों को कानूनी हक दिलाने के लिए लड़ने की अपेक्षा कहीं बेहतर है देश और संस्कृति के व्यापकहितों और अधिकारों के लिए संघर्ष करना। इसी कारण वे राष्ट्रीय-पुनर्जागरण में रत लोक-सेवियों

की संस्था इण्डिन नेशनल कांग्रेस मे भर्ती हो गये और स्वतन्त्रता-आंदोलन में सक्रिय भाग लेने लगे । उन्हें बैरिस्ट्री की रत्तीभर भी चिंता नहीं रही । अधिकतर उनका ध्यान सार्वजनिक विषयो मे ही लगा रहता । एडवोकेट और लीडर में उनके विचारपूर्ण लेख प्रायः छपने लगे थे । इन लेखों ने उन्हें काफी प्रसिद्धि प्रदान की ।

आगे चल कर वे लखनऊ नगर-पालिका के अध्यक्ष भी बने । बाद मे कॉंग्रेस के प्रान्तीय प्रेसीडेण्ट तथा इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य भी रहे । उस समय कॉंग्रेस अध्यक्ष का अर्थ था प्रान्त और देश का सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति । भारत की, उत्तर प्रदेश की जनता ने उन्हें यह सम्मान देकर हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की ।

दर महोदय ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा, योग्यता और सम्पदा राष्ट्रीय हितों के लिए अर्पित कर दी । फलतः इन विभूतियो का विकास भी उनमे खूब हुआ । उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर महामना गोखले ने कहा था—इस समय मैं देश मे दो ही सार्वजनिक साहित्य आराधक देख रहा हूँ, पण्डित विशुन नारायण दर उनमे सर्वप्रथम है । इतने विख्यात होने के बावजूद भी उन्होंने स्थान-स्थान पर स्वयं को ईश्वर का आभारी माना है । अपने में किन्हीं भी विशिष्ट गुणो के आरोप को अस्वीकार करते हुए वे सदैव यही कहते—"भाई मैं तो एक साधारण सा सेवक मात्र हूँ । बस मैने जो कुछ भी पास में था उसे देश-सेवा के लिए लगाने का प्रयास भर किया है ।"

इतनी विनम्रता उनके व्यक्तित्व को विभूषित करने मे ही सहायक सिद्ध हुई । वे जहाँ इतने नम्र थे, सिद्धान्त और निष्ठा के प्रश्न पर उतने ही कठोर भी थे । निर्भीकता के साथ अपने सिद्धान्तो पर दृढ़—कठोर रहना उनकी दूसरी चारित्रिक विशेषता थी । इन दोनों विशेषताओ को सम्पुट दिया था उनकी कर्मण्यता ने । सन् ५० के आस-पास वे क्षय-रोग के शिकार हो गये और तत्परतापूर्वक काम लेने की सामर्थ्य नहीं रही । फिर भी वे जहाँ तक बनता चैन से बिस्तर पर नहीं लेटते थे । मित्रों और शुभ-चिन्तकों ने उन्हे जबर्दस्ती आराम करने के लिए विवश-सा कर दिया था । क्षय-रोग के कष्टों से आराम पाने के लिए उन्हे अलमोड़ा ले जाया गया । वहाँ थोड़ा बहुत विश्राम मिला । फिर वे काम करने की जिद करने लगे ।

उन्हें बहुत रोका गया । परन्तु, क्षीण शरीर में भी धधकती रहने वाली देशप्रेम की वह्नि उन्हें चैन कहाँ लेने देती थी । पं. नेहरू जैसे राजनीतिज्ञों तक को उन्होंने रुग्णावस्था में विचारपूर्ण परामर्श दिये । जो इतने वीक थे उन्हें जान कर विश्वास करना पड़ता है कि शरीर से रुग्ण होने पर भी वे मन से कितने स्वस्थ थे । राष्ट्रीय-आंदोलन तथा साहित्य के क्षेत्र मे मृत्यु-पर्यन्त सक्रिय भाग लेते हुए वे चौदह वर्ष तक रोग की यत्रंणाएँ सहते रहे । भारत के सार्वजनिक, सामाजिक-दुर्भाग्य ने उन्हें असमय ही हमसे छीन लिया । उनकी मृत्यु हो जाने पर देश के तमाम बुद्धिजीवियों ने अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये । गणेश शंकर विद्यार्थी ने उनके निधन पर शोक व्यक्त करते हुए लिखा है—यह हमारा दुर्भाग्य कि जब हमें इनके सच्चे, निर्भीक विचारशील मार्ग-दर्शन की आवश्यकता थी, तब वे हमसे दूर हो गये ।

सर यदुनाथ सरकार जो इतिहास के अज्ञात पृष्ठ सामने लाये

चपरासी ने अन्दर आकर सूचित किया कि कोई ग्रामीण वृद्ध मिलना चाहते है । सर यदुनाथ सरकार उस समय किन्हीं आवश्यक कार्यों को निबटाने मे व्यस्त थे । फिर भी उन्होंने कहा कि उसे आने दिया जाय । चपरासी चाहता तो उस ग्रामीण वृद्ध को बाहर से ही वापस भेज सकता था । परन्तु, सरकार ने यह कड़ी हिदायत दे रखी थी कि ऐसा कोई भी व्यक्ति आये, जिसे देखकर यह लगे कि वह सहायता माँगने आया है तो उसे वापस न जाने दिया जाय । इसीलिए चपरासी ने अन्दर आकर यदुनाथ सरकार को सूचित किया और अन्दर आने का आदेश प्राप्त कर लौट गया ।

कुछ क्षणों बाद मैले वस्त्र पहने, हाथ में एक छोटी सी पोटली दबाये और साथ मे फटे पुराने पैन्ट बुशशर्ट पहने एक लड़के को लिए उक्त ग्रामीण-वृद्ध ने उस कक्ष मे प्रवेश किया जहाँ यदुनाथ सरकार बैठे हुए थे । वह ग्रामीण छपरा जिले का रहने वाला था । उसका बेटा महाविद्यालय पूर्व की शिक्षा पूरी कर आगे पढ़ना चाहता था । परन्तु, पिता की आर्थिक-स्थिति इसकी अनुमति नहीं देती थी । ग्रामीण ने जब यह सुना कि पटना कॉलेज मे एक अँग्रेजी के प्रोफेसर हैं जो हर तरह से गरीब छात्रो की मदद किया करते है तो सोचा चलो उन्ही के पास चलकर किस्मत अजमायी जाय । लड़के के भाग्य मे अगर आगे पढ़ना होगा तो कुछ न कुछ प्रबन्ध हो ही जायेगा ।

कमरे मे प्रवेश करते ही सरयदुनाथ ने वृद्ध-ग्रामीण को कुर्सी पर बैठने के लिए कहा । ग्रामीण को थोड़ा संकोच हुआ कि ऐसे मैले कुचैले कपड़े पहनकर साफ और ऊँचे लोगों को बैठने के लिए बनायी गयी कुर्सी को क्यों खराब करे ? अत. वह नीचे ही बैठने लगा । नीचे बैठते देख सर यदुनाथ अपने स्थान से उठे और 'अरे ! अरे !! यह क्या करते हो?' कहते हुए वृद्ध का हाथ पकड़ कर कुर्सी पर बिठाने लगे ।

ऐसा व्यवहार देखकर वृद्ध की आँखे नम हो गयीं । और उसे लगा कि शायद खाली हाथ नहीं लौटना पड़ेगा । आवभगत के बाद सर यदुनाथ ने पूछा—"कहो बाबा कैसे आना हुआ ?"

'साहब यह जो आपका बच्चा है न'—वृद्ध ने अपने लड़के की ओर इशारा करते हुए कहा—"यह आगे पढ़ना चाहता है । आपकी इतनी सी मेहरबानी हो जाय कि आप

अपने जान पहचान की किसी भी जगह पर इसे थोड़ा सा काम दिला दें तो यह पढ़ लेगा । मेरी तो हैसियत है नहीं कि मैं इसकी पढ़ाई का खर्च बर्दाश्त करूं ।'

'ठीक है कोई बात नहीं । सब इन्तजाम हो जायगा ।'—सरयदुनाथ ने कहा और उस युवक के पढ़ने-लिखने, खाने-पीने, रहने सहने का प्रबन्ध अपने घर पर कर दिया । यही युवक आगे चलकर पटना हाईकोर्ट में एडवोकेट बना । सर यदुनाथ को तो उसके प्रति किये गये सहयोग का बिल्कुल भी अहसास नहीं था । परन्तु, उक्त एडवोकेट 'जीवन भर' उन्हें अपने पिता के स्थान पर देखता रहा । सर यदुनाथ को इसलिए अहसास नहीं था कि उनके सहयोग से कितने ही युवकों ने अपना जीवन सँवारा था । कई एक छात्रों ने उनकी सहज सहानुभूति से लाभ उठाया था ।

इस प्रकार अपने शिष्यों से पुत्रवत् स्नेह और वात्सल्यपूर्ण व्यवहार करने वाले सरयदुनाथसरकार का नाम शताब्दियों तक याद किया जाता रहेगा । न केवल इस कारण कि उन्होंने दीन, निर्धन छात्रों की सहायता की और उनके भविष्य को सँवारा वरन् इसलिए भी कि उन्होंने भारतीय-इतिहास के अन्धेरे पृष्ठों को खोला और उसे भी सँवारा-सँजोया । उस समय जो इतिहास लिखा गया उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि भारतीय इतिहास में कई तथ्यों को मोड़ मरोड़कर ऐसा रूप दिया गया था, जिससे सहज ही यह लगे कि अँग्रेजों के आने से पूर्व भारत में नितान्त असभ्य और जंगली लोग रहा करते थे । कहना नहीं होगा कि अँग्रेज इतिहासकारों ने इतिहास लेखन-निर्दोष चित्त से नहीं किया था ।

उस इतिहास में शिवाजी को एक लुटेरा कहा गया था । मराठा सरदारों को दस्यु और चोर डाकू बताया गया था । महाराणा-प्रताप को एक विकृत महत्वाकांक्षी तथा कायर व्यक्ति निरूपित किया गया था । कहने का अर्थ यह है कि किसी भी भारतीय पृष्ठ को कलंक-कालिमा से कलंकित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी गयी थी । उन्हें नया इतिहास लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली इस सम्बन्ध में एक घटना प्रसिद्ध है ।

१९०५ में कलकत्ता में भयंकर हैजा फैला । इस महामारी मे कई लोग मर गये । जनता में भय इतना व्याप गया था कि लोग अपने प्रिय परिजनों को भी वैसी ही हालत में छोड़कर भाग गये । कलकत्ता के गली सड़कों में स्थान-स्थान पर गंदगी के अम्बार लग गये, इससे महामारी का और भी वीभत्स रूप प्रकट होने की आशंका हुई । ऐसी स्थिति में भगिनी निवेदिता अपने सहयोगी सहकर्मियों को साथ लेकर सफाई अभियान मे जुटीं । उन्होंने स्वयं झाड़ू हाथ में ली और रास्तों पर पड़ी गंदगी हटाने लगीं । भगिनी निवेदिता का यह कृत्य देखकर सर यदुनाथ भी बड़े प्रभावित हुए और वे भी इस काम में लगे । इस काम को करते समय ही उन्हें इतिहास का ध्यान आया और यह भी कि इतिहास का पुनः शोध होना चाहिए ।

उन दिनों सर यदुनाथ अँग्रेजी-साहित्य का अध्यापन करते थे । तभी यह संकल्प उठा कि सड़कों की सफाई की तरह इतिहास क्षेत्र में प्रचलित गलत धारणाओं की भी सफाई करनी चाहिए और उन्होंने मुगलकाल से इतिहास का पुनर्शोधकार्य आरम्भ किया । इतिहास में उन्हें वहीं से गड़बड़ का आभास हुआ था । कहीं उल्लेख आया कि अकबर के प्रधान सभासद और विश्वस्त मन्त्री अबुलफजल ने तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर एक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा है । यह ग्रन्थ है—आइने अकबरी । सर यदुनाथ ने उस ग्रन्थ को ढूँढ निकाला परन्तु, अब समस्या उत्पन्न हुई उसके अध्ययन करने की । आइने अकबरी फारसी भाषा मे लिखा गया था, लेकिन यदुनाथ को फारसी तो क्या उर्दू भी नहीं आती थी । उनकी मातृ-भाषा थी बंगला और अधिकार था अँग्रेजी पर ।

परन्तु, इतिहासकार को तो इससे भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । अतः उन्होंने निश्चय किया और फारसी का अध्यापक खोजा और जीवन के मध्यकाल में वे एक बार पुनः शिष्य बने । फारसी के साथ-साथ उन्होंने अरबी-भाषा का अध्ययन भी किया और फिर आइने अकबरी व इतिहास जानने के अन्य साधनों के बल पर उन्होंने इतना तथ्य-पूर्ण-विवरण प्रस्तुत किया कि उसे देखकर अँग्रेज इतिहासकार भी चमत्कृत हो उठे ।

इस गवेषणा के साथ इतिहासकार के रूप मे वे विख्यात हुए । इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना कितनी टेढ़ी खीर है यह भुक्तभोगी ही जानते हैं । परन्तु, सर यदुनाथ जिन्होने स्वयं ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया, अपने श्रमस्वेद बहाकर स्वयं को झंझावाती युग में स्थिर और उत्तुंग किया तथा औरों को भी आश्रय दिया, उन्हीं क्षमताओ के आधार पर इतिहास के नये पृष्ठ भी खोले । केवल इसलिए कि भारतीय-संस्कृति के गरिमामय ओजस्वी और आत्माभिमानी स्वरूप को संसार के सम्मुख लाना था । उनका जन्म १० दिसम्बर १८७० ई. को कलकत्ता हुआ था तथा शिक्षा-दीक्षा कलकत्ता और पटना में । विद्यार्थी जीवन से ही वे मेधावी और जिज्ञासु छात्र थे । नयी बातों को जानने और सीखने की उत्सुकता उन्हें पारिवारिक-परिवेश में विकसित रूप में मिली थी ।

उन दिनों शिक्षा-क्षेत्र में ही नहीं समाज में भी अँग्रेजी का बोलबाला था । अँग्रेजी जानने और समझने वालों को ऊँची निगाह से देखा जाता था । अतः उन्होंने भी पटना विश्वविद्यालय से अँग्रेजी में एम. ए. किया । अँग्रेजी पर उनका असाधारण अधिकार था । यहाँ तक कि उनके अँग्रेजी ज्ञान पर इंग्लैण्ड में शिक्षित अँग्रेज पदाधिकारी भी विस्मित थे । शेक्सपियर के नाटक, मिल्टन के काव्यांश तथा वर्डसवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन आदि की कई रचनाएँ उन्हें

कण्ठस्थ थीं। अँग्रेजी में एम. ए. करने के बाद अँग्रेजी के अध्यापक से ही उन्होंने अपना वय: जीवन भी आरम्भ किया।

इतिहास की ओर रुचि हो जाने के बाद उन्होंने मुगल काल के सम्बन्ध मे फैली हुई कई गलत धारणाओं का खंडन किया और वस्तुस्थिति को सप्रमाण रखा। मुगलकाल के सम्बन्ध प्राप्त इन सफलताओं से प्रोत्साहित होकर वे मराठायुग के अध्ययन की ओर भी उन्मुख हुए। मराठाशासको, शिवाजी तथा पेशवाओ के इतिहास का यथातथ्य विवरण शोध निकालने के लिए उन्होंने अनथक प्रयास किये और उन्हीं अनथक प्रयासो का परिणाम है कि आज हम मराठायुग को इतिहास के स्वर्ण पृष्ठो के रूप में अंकित देखते है। १६९१ में मराठा और पठान सैनिको की लड़ाई—पानीपत के दूसरे युद्ध का जो प्रामाणिक विश्लेषण उन्होंने किया है वह इतिहास के मार्ग में मील का पत्थर है।

मराठा इतिहास के सम्बन्ध में उनकी देन राष्ट्रीय उपलब्धियों भी कही जाती है। मराठा और मुगल शासको के उत्थान पतन का इतिहास लिखते हुए उन्होंने पराजय के जिन कारणो का विश्लेषण किया स्वतन्त्रता संग्राम मे राष्ट्र उनकी पुनरावृत्ति से बच गया। वस्तुत: मराठा युग के सम्बन्ध में उनके निष्कर्ष इतिहास को एक नयी ही दृष्टि प्रदान करने मे सक्षम है।

इस युग का राष्ट्रीय दृष्टिकोण राष्ट्रीय आन्दोलनों मे भी खींच लाया। वह समय राष्ट्रीय-आन्दोलन का यौवन काल था। महात्मा गाँधी, मोतीलाल नेहरू, सरदार पटेल, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, आचार्य विनोबा भावे, पं. नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद आदि नेताओं के हाथ मे स्वाधीनता-संग्राम की बागडोर थी और राष्ट्रीय आन्दोलन अपने पूरे उफान पर था। ऐसी स्थिति में सर यदुनाथ चुप कैसे बैठे रहते। एक ऐसी विभूति जिसने इतिहास के विस्तृत पृष्ठो को राष्ट्रीय दृष्टिकोण दिया था—उसी प्रेरणा से विलग कैसे रह सकती थी। अत: वे भी स्वतन्त्रता-संग्राम में खुलकर भाग लेने लगे। देश के चोटी के नेताओं से उनका सम्पर्क बना और अधिकांश नेताओं से उनका पत्र व्यवहार चलता था। कलकत्ता में जब काँग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उन्होंने इस अधिवेशन को सफल बनाने के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया। इस अधिवेशन में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

इन प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए भी वे इतिहास की धारा से इतने संतृप्त हो गये थे कि अन्त समय तक वे इस कार्य को छोड़ न सके। इतिहास का शोध कार्य आगे भी चलता रहे—इसके लिए उन्होंने एक इतिहास भवन की स्थापना का प्रयत्न भी किया। उनकी धारणा थी कि भारतीय-इतिहास के बहुत से सन्दर्भों को जान बूझकर छोड़ा—उपेक्षित किया गया है तथा कई बातें पर्याप्त प्रयासों के अभाव में प्रकाश में नहीं आ सकीं। अत: भारतीय इतिहास का पुनर्लेखन किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य से उन्होंने तरुण इतिहासकारों को एकत्र कर यह कार्य सम्पन्न करने का उपक्रम भी किया था।

समाज मे उनका अच्छा प्रतिष्ठित पद भी था। कलकत्ता के प्राचीन इतिहास प्रतिष्ठान, वंगीय साहित्य परिषद् तथा रायल एशियाटिक सोसायटी के वे सम्मानित सदस्य रहे। परन्तु उनके अन्तिम दिन बड़े ही कष्टपूर्ण क्षणों में व्यतीत हुए। सर्वप्रथम तो उनकी पत्नी का देहान्त हुआ। फिर कुछ वर्षों बाद उनका एकमात्र पुत्र सांप्रदायिक दंगों में मारा गया। जीवन के सन्ध्याकाल में वे एकाकी रह गये। पुत्र का देहान्त हो जाने के बाद तो वे भी अधिक दिन जीवित नहीं रहे परन्तु इतिहास मे उन्होंने नये पृष्ठ खोलने के साथ-साथ नये पृष्ठ जोड़े भी सही—जो उनको चिरवन्द्य बनाये रखेंगे।

सृजन व संघर्ष के अग्रदूत—सुदर्शन

सन् १९२५। उर्दू के एक ख्याति प्राप्त लेखक का कन्या महाविद्यालय जालन्धर की स्नातिका एक विदुषी ब्राह्मण कन्या से पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हुआ। पति-पत्नी ने एक दूसरे के विचारो मे पूरा-पूरा साम्य पाया। उन्होंने अपने सुधारवादी सिद्धान्तों को व्यवहार मे लाना आरम्भ कर दिया। उन्होंने निश्चिय किया कि वे पर्दा प्रथा का उन्मूलन करेंगे और उसका शुभारम्भ घर से ही होगा।

इस निश्चय को कार्यान्वित किया गया तो घर में भूचाल आ गया। बहू जब खुले मुँह बड़े-बूढ़ो के सामने आयी तो उन्होंने उसे निर्लज्ज कहा। उन दिनों भारतीय नारियो का पर्दे मे रहना कुलशील माना जाता था। कर्मकाण्डी ब्राह्मण परिवार की बहू का यह आचरण लोकनिन्दा का विषय बन गया। रूढ़िवादिता और विवेकशीलता का यह संघर्ष स्वाभाविक ही था। विवेकशील दम्पति अपने वयोवृद्धों का सम्मान करते हुए भी उनके मिथ्या बन्धनों के आगे झुकने को तैयार नहीं थे। फलस्वरूप उन्हें घर छोड़ना पड़ा। जिसे उन्होंने सहज स्वीकार किया। यह दम्पति थे हिन्दी के प्रख्यात लेखक सुदर्शन व उनकी श्रीमती।

हिन्दी-साहित्य-जगत में जन-जीवन को दिशा-बोध कराने वाला साहित्य रचने वाले स्वनामधन्य लेखकों में वे प्रेमचन्द की तरह ही श्रेय पाने के अधिकारी ठहरते है। अपने युग की अनुपयुक्त परम्पराओं—परिस्थितियों से जूझने, उन्हें समाप्त करने के प्रबल संकल्पों—सजीव चित्रणों युक्त साहित्य प्रदान करने में इन्होंने अपनी सारी साहित्यिक-प्रतिभा नियोजित की थी। प्रगति के नूतन सोपानों का दिग्दर्शन भी उन्होंने कराया था।

उनका जन्म सन् १८९६ मे स्यालकोट पंजाब के एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। परिवार का वातावरण उन्हें अपने रंग मे नहीं रंग सका। वे हर परम्परा के पीछे विवेक की पृष्ठभूमि को खोजकर ही उसे स्वीकार करना चाहते थे। यह दृष्टिकोण भी उन्हें अपने भारतीय धार्मिक साहित्य से ही मिला था। वे पक्के क्रान्तिकारी विचारधारा के निकले। परम्परायें कुछ सामयिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर

निर्मित की जाती हैं। उन परिस्थितियों के समाप्त होते ही महत्वहीन हो जाती हैं। किन्तु लोग उन्हीं को अपने गले से बाँधे फिरते हैं। यह उन्हें असह्य था। इस प्रकार रूढ़ियों को मानते चलने के मूल मे अशिक्षा व बौद्धिक परावलम्बन ही होता है। इसे समाप्त करने का निश्चय उन्होंने कैशोर्य में ही कर लिया था। उसका उपयुक्त माध्यम उन्हें साहित्य-सृजन ही लगा।

जहाँ कुछ करने की प्रबल उमंग होती है। जहाँ विकृतियों से जूझने की कुछ टीस होती है वहाँ क्षमताओं का द्रुत विकास भी सम्भव होता। यही सुदर्शन के साथ हुआ। जब वे आठवीं कक्षा मे थे तभी एक दिन प्रार्थना की समाप्ति पर पाठशाला के प्रधानाध्यापक ने पाठशाला के सभी विद्यार्थियो को सम्बोधित करते हुए कहा—"आठवीं कक्षा का विद्यार्थी बद्रीनाथ (सुदर्शन का वास्तविक नाम) यहाँ आ जाये।

आज से साठ वर्ष पहले की पाठशाला का अनुशासन भीरू बालक बद्रीनाथ डरता, सहमता प्रधानाध्यापक के पास पहुँचा। मन ही मन शंकित हो रहा था कि कहीं कुछ गलती तो नहीं कर बैठा। यदि ऐसा है तो दण्ड मिलेगा। किन्तु उसकी यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। अध्यापक जी ने उसकी पीठ थपथपाई तथा छात्रो को बताया कि उसकी लिखी हुई कहानी लाहौर के उर्दू पत्र 'रिसाले' में छपी है। उन्होंने पूरी कहानी पढ़कर सुनायी तथा साथ ही वह सम्पादकीय टिप्पणी भी, जिसमें उसकी प्रशंसा के साथ उज्ज्वल साहित्यिक-भविष्य की शुभकामनाएँ भी थीं।

यह उनके साहित्यिक-जीवन का शुभारम्भ था। जिसने उन्हे अपने सहपाठियो तथा अध्यापकों के बीच लोकप्रिय बना दिया था। आरम्भ मे वे उर्दू में लिखा करते थे। उन्हे हिन्दी के क्षेत्र मे लाने का श्रेय उनकी पत्नी को है। महाकवि निराला की तरह उन्हे भी हिन्दी सीखने की प्रेरणा अपनी पत्नी से ही प्राप्त हुई। वे कन्या महाविद्यालय जालन्धर में पढ़ती थीं। वे उर्दू नहीं जानती थीं। अतः उनसे पत्र व्यवहार करने के लिए उन्होने हिन्दी को अपनाया। धीरे-धीरे हिन्दी के शब्दसौष्ठव व अनूठेपन के कारण वे उस पर मुग्ध हो हिन्दी के ही हो गये। हिन्दी में उनकी पहली कहानी १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई।

उन्होंने अपने युग के कहानी-साहित्य के शैशव का चित्र अपने शब्दों मे इस प्रकार खींचा है। उनके इस कथन से उनके कर्तृत्व व उद्देश्य को समझने, आत्मसात करने मे बड़ी सहायता मिलेगी—"उस युग मे लेखक का ध्यान उपदेश, जादू और काव्य-कल्पना से हटकर घर और जीवन की ओर आ रहा था। एक युग था जब रात को घर के बच्चे आँगन में खेलते थे। बुड्ढे आग तापते और जंगली जीव-जन्तुओ की कहानियाँ कहा करते थे। उनमें लालित्य हो या न हो, मगर वे सदुपदेश के मोतियो से भरी पड़ी हैं। इसके बाद दूसरा युग जादू का युग आया। लोग अद्भुत और चमत्कार की कहानियाँ माँगने लगे, ये कहानियाँ पाठक को चकित कर देतीं, परन्तु कहानी की समाप्ति पर वह अनुभव करता कि उसने कुछ पढ़ा नहीं, समय नष्ट किया है। अनहोनी बाते पढ़ी हैं। फिर तीसरा युग आरम्भ हुआ। प्रेम और रूप की कहानियाँ आरम्भ हुईं। उनमें काव्य, कला, कल्पना—सबसे बढ़कर मानव-हृदय व मानव-मन की व्याख्या है।"

इसके बाद कहानी का नया युग आरम्भ हुआ। वर्तमान समय का सर्वश्रेष्ठ गल्प लेखक वह है जो जीवन का, घर के अन्दर का चित्र खींचकर रख दे, वह केवल बाहर का कहानी लेखक नहीं है। वह परिवार का, हृदय का, अन्तःकरण का कहानी लेखक भी है।

यह भी उनके सर्वश्रेष्ठ गल्प लेखक की परिकल्पना थी। पलायनवादी न बनकर समाज की, व्यक्ति की सहज महानता पर आश्वत रहकर उनकी प्रगति के नये आयाम देना ही उनकी दृष्टि में लेखक का कर्तव्य था। उसे उन्होंने स्वयं निभाया। उन्होंने कहानी को तिलिस्म की काराओं से मुक्त करके जनोपयोगी बनाया। उसे समय नाश का कारण नहीं सद्‌वृत्तियों को पोषण—विकास के हेतु बनाया। यह बड़ा ही कठिन कार्य था। एक ओर रहस्य, रोमाञ्च की गुदगुदी से जन रुचि को यथार्थ की ओर मोड़ना तथा दूसरे धर्म व परम्पराओ के जाल-जंजाल से जन-मानस को उबारना उनके सत्यं-सुन्दरम् को नूतन अर्थ देना कम श्रम व समय-साध्य नहीं था।

यथार्थ का चित्रण भी हो जाय व आदर्शों के प्रति अनुरक्ति बढ़ती ही जाय ऐसे ही कथा-साहित्य का सृजन सुदर्शन ने किया। उनकी कहानियों में यत्र-तत्र उदात्त जीवन-दर्शन, आदर्शवादिता व मनुष्य की देवत्व की ओर सहज गति के दर्शन होते हैं। उसकी 'हार की जीत' नामक कहानी इसका अनुपम उदाहरण है। एक डाकू के हृदय में भी परमार्थ की भावनाएँ सोयी रहती हैं और समय पाकर अँगड़ाई ले उठ खड़ी होती हैं। वह यह सोचने को विवश हो उठता है—"लोगों को यदि इस घटना का पता चल गया तो वे किसी गरीब का विश्वास नहीं करेंगे। दुनिया से विश्वास उठ जायेगा।" और वह सही मार्ग पर चल पड़ता है। विश्वास की रक्षा करता है। अपने सामाजिक-दायित्व का निर्वाह करने लगता है।

यो सत्साहित्य व विचारोत्तेजक-साहित्य का प्रभाव समाज पर पड़ता ही है। उससे जन-मानस को सद्प्रेरणाएँ मिलती ही हैं। किन्तु यदि यह केवल लेखन तक ही सीमित रह जाय उसे व्यवहार में न लाया जाय तो उसकी सचाई पर एकाएक विश्वास नहीं आता। सुदर्शन ने विचारोत्तेजक, लोकोपयोगी साहित्य का सृजन ही नहीं किया—उसे अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारा भी। अपने उपनाम की तरह वे सुदर्शन तो थे ही उनका व्यक्तित्व भी प्रखर व वट-वृक्ष की तरह सानिध्य पाने वाले को अपनी सुखद छाया की तरह उल्लास, हर्ष व प्राण-शक्ति प्रदान करता था। सुदर्शन अपनी

मुखरता, उन्मुक्तता व निर्भयता को जहाँ भी जाते पाटल प्रसून की तरह बिखेरते रहते थे ।

अपने जीवन में उन्होंने घोर अर्थाभाव व संघर्ष का सामना किया था । किन्तु यह सब विपरीततायें उनके चेहरे पर अठखेलियाँ करने वाली मोहक मुस्कान में किंचित मात्र भी कमी नहीं लाती थीं । आदर्शवादी होने के कारण उन्होंने अपने स्वार्थ, सफलता व प्रसिद्धि के लिए वाम-मार्ग का अनुगमन नहीं किया । वे मन्द किन्तु सहज, सत्य, दक्षिण-मार्ग को ही अपनाए रहे थे । यही कारण था कि उनका सारा जीवन ही अभावों व संघर्षों में बीता था । किन्तु उन्होंने अपनी दैवी-विभूतियों का कभी दुरुपयोग नहीं किया—बदनाम स्वर्ण के बदले अपनी कलम उन्होंने नहीं बेची ।

आदर्शवादिता अव्यावहारिक नहीं होती यह भी उन्होंने अपने जीवन में सिद्ध करके बताया । फिल्मी दुनिया में जहाँ प्रेमचन्द, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद बाजपेयी व 'उग्र' जैसे लेखक भी नहीं टिक सके वहीं सुदर्शन ने अपना झण्डा गाड़ा व सफल होकर दिखाया । वे मात्र आदर्शवादी नहीं थे वरन् आदर्श को व्यावहारिक बना देने की क्षमताएँ भी उन्होंने विकसित करली थीं ।

अर्थाभाव के दिनों में भी वे तनिक चिन्तित व खिन्न नहीं होते थे । उनकी पारिवारिक सरसता को भी उन पर आया हुआ अर्थाभाव मिटा नहीं सका था । लोग कहते हैं कि भूखे पेट प्रेम नहीं हो सकता । यह बात कुछ अंशों में सत्य हो सकती है किन्तु पूर्ण सत्य कदापि नहीं होती । यदि परिवार रूपी रथ के दोनों पहियों ने—पति पत्नी ने एक दूसरे के प्रति स्वयं को पूरी तरह समर्पित कर दिया है तो आपात्कालीन स्थिति में भूखे पेट भी प्रेम बना रह सकता है ।

सुदर्शन जी के जीवन में कई बार ऐसे प्रसंग आये जब इस आदर्शवादी लेखक के घर में अन्न का एक दाना भी नहीं था । जब वे बम्बई मे थे एक दिन उनकी यही स्थिति थी । मित्रगण उनसे थियेटर देखने के लिए आग्रह करने लगे । सुदर्शन टालते रहे पर उनकी श्रीमतीजी नहीं मानी उन्हे मित्रों के साथ भेज ही दिया । वहाँ लड्डू खाने का अवसर आता है । घर मे बच्चे भूखे हो और वे लड्डू खाएँ ऐसा कैसे हो । वे मित्रों की नजर चुका कर वे लड्डू जेब में रखकर घर ले आये । पत्नी जानती थी कि मित्र अल्पाहार का आग्रह अवश्य करेंगे । सो उसने हँसी मे पूछ लिया—"आज तो खूब छनी होगी ।" उत्तर मे उन्होंने उसके सामने वे लड्डू रख दिये । "तो आप चोरी भी करते है?" "आज चोरी न करता तो कसाई होता ।" और वे मुस्करा पड़े । यह था उनका पारिवारिक सुख-सूर्य जिसे अर्थाभाव का राहु ग्रस न सका ।

भारतीय-जन-मानस में स्वतन्त्रता के भाव—स्फुल्लिंग उत्पन्न करने के लिए उन्होंने आग उगलने वाला साहित्य भी रचा था । वे युग-धर्म से विमुख भी नहीं रहे थे । स्वयं आन्दोलन में भाग लेने में असमर्थ थे क्योंकि घर गृहस्थी का भार उनके कन्धों पर था तो पत्नी को राष्ट्रीय आन्दोलन में उतार कर उन्होंने दोनों मोर्चे सम्भाले थे । किस प्रकार पति-पत्नी मिलकर व्यक्ति, परिवार व समाज के दायित्वों का सन्तुलित निर्वाह करते है उसका यह अनूठा उदाहरण है ।

लेखक के रूप में—एक जाग्रत विवेकशील व्यक्ति के रूप में उनका यह प्रखर जीवन उनके दिवंगत हो जाने पर भी अमर बन चुका है । जो हमें बहुत कुछ देता रहेगा ।

शारदा के वरदपुत्र—पं. शंकरनाथ

कृष्ण-पक्ष की पञ्चमी का सद्योदित चन्द्रमा नारियल की लम्बी-लम्बी बाहुओं की तरह फैली शाखाओं में अटक गया था । अपने मकान की खिड़की से उसे देखता हुआ पाँच वर्ष का बालक बलात् उसकी चेतना पर अधिकार करने वाली निद्रा को भगा रहा था । कब पिता अपने नित्य कर्म से निवृत्त हों और कब उसे कहानी सुनाएँ ।

उसकी प्रतीक्षा का अन्त हुआ और पिता ने आकर उसे कहानी सुनाना आरम्भ किया । आज उसके पिता ने उसे जो कहानी सुनाई उसमें उसने अपने जीवन का आदर्श खोज लिया था । कहानी थी वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिये सारे भारत का भ्रमण करके दिग्विजय करने वाले जगद्गुरु शंकराचार्य की । बालक के कोमल सूक्ष्म-संस्कार-ग्राही-अवचेतन में वही प्रेरणा बनकर बस गयी । यह बालक आगे चलकर प्रख्यात विद्वान, राजनीतिज्ञ, ज्योतिषी पं. शंकरनाथ के नाम से जाना गया । महाराजा रणजीत सिंह के मन्त्री व सेनानी होने का गौरव उसने पाया । बचपन में बालक के भावी जीवन के प्रासाद की नींव किस प्रकार डाली जा सकती है इसे पं. अग्नि शरणम् निम्बूदरी जैसे समझदार पिता ही समझ पाते हैं ।

उनका जन्म सन् १९७८ में केरल के परम्ब तालुक के कारी बल्लूर ग्राम में हुआ था । विद्वान पिता पं. अग्नि भरणम् और काव्य रसिक माता पार्वती के बहुत कुछ संस्कार बालक शंकर को मिले । विवाह के कई वर्षों पश्चात् उत्पन्न होने वाले इस इकलौते पुत्र पर माता पिता का विशेष स्नेह था ।

प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के सुयोग्य अध्यापकों [illegible]ए पूरी होते ही वे संस्कृत व ज्योतिष का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर चुके थे । उनके भीतर शंकराचार्य की तरह विद्वान् बनने और उस विद्वता को जनहित मे प्रस्तुत करने की जो कामना बचपन में जाग पड़ी थी वह उन्हें ज्ञानार्जन के लिये प्रबल प्रेरणाएँ दे रही थी ।

पिता चाहते थे कि प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके व स्वाध्याय के द्वारा संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त करके वह अपने पैतृक व्यवसाय पुरोहिताई को अपना लें किन्तु वे कुछ और ही स्वप्न देख रहे थे । उनकी इच्छा काशी जाकर ज्ञान, धर्म व संस्कृति का विशद अध्ययन करने की थी । अकेला

पुत्र घर से बाहर चला जाय यह माता पिता को अच्छा तो नहीं लगा पर सद्उद्देश्य से प्रेरित अपने संकल्पवान पुत्र के मार्ग में वे बाधा बनना भी नहीं चाहते थे । अतः उन्हे स्वीकृति देनी ही पड़ी ।

ज्ञान-गंगा में जी भरकर डुबकियाँ लगाने की कामना लेकर यह किशोर पैदल ही केरल से काशी के लिये रवाना हो गया । ज्ञान की भूख मनुष्य की स्वाभाविक नियति होती है । इसी कारण उन्हें यह लम्बी कष्टपूर्ण यात्रा सहज सह्य हुई ।

मार्ग में उन्हे कई बार भूखे रहना पड़ा, कई बार निर्जन स्थान में रहना पड़ा, कई बार अन्य पशुओं के शिकार होते-होते बचे । फिर भी वे अपने संकल्पों के बल पर बढ़ते ही रहे । इसी यात्रा के दौरान इनकी भेंट प्रसिद्ध योगी वरदाचार्य से हुई । वे उनके शिष्य बन गये । उनसे पं. शंकरनाथ ने धर्म शास्त्र, ज्योतिष व मन्त्र विज्ञान की शिक्षा पायी ।

अपने घर से चलने के कोई दस, ग्यारह महीने पश्चात् वे काशी पहुँचे । यहाँ उन्होने आर्ष-ग्रन्थों तथा विविध शास्त्रों का गहन अध्ययन किया । धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ता, उनके उत्कृष्ट चरित्र और उनके तपोमय-जीवन की ख्याति काशी के बाहर भी फैलने लगी ।

शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ वे आत्मशोधन और आत्म-विकास की तपश्चर्याएँ भी करते रहे थे । काँचीपुरम में उन्होने आत्म-शुद्धि के लिये इकतालीस दिन का व्रत सम्पन्न किया था । काशी में भी उनके चान्द्रायणादि व्रत चलते रहते थे । ज्ञान, तप, और आदर्श-समन्वित उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर हो चला था । आध्यात्मिक-योग-साधनाओं के द्वारा उन्होने अपने आपको एक ऐसा कल्प-तरु बना लिया था कि जो उनके निकट आता वह कुछ न कुछ लेकर ही जाता । वे अपने पास आने वालो को जो सत्परामर्श देते थे वे उनके जीवन में सुख, शान्ति, सम्पन्नता की अभिवृद्धि करते थे । अतः राजा से रंक तक सब उनके कृपाकांक्षी बने रहते थे ।

लोग उनके पास बहुमूल्य उपहार लेकर आते वे उन्हे छूते तक नहीं थे उन्हें लोक सेवी-संस्थानों को दे दिया करते थे । हिमालय की एक छोटी सी 'कोटे-काँगड़ा' नामक रियासत के राजा शमशेरचन्द तक इस ब्रह्मचारी की ख्याति पहुँची तो वे उनके दर्शन लाभ के लिए आये और उन्हे अपना आध्यात्मिक-गुरु वरण कर लिया । उनके आग्रह पर वे उनके राज-ज्योतिष बनकर 'कोटे-काँगड़ा' चले गये । यह सब उपलब्धि उन्होने २७ वर्ष की अवस्था मे ही प्राप्त की थी ।

पं. शंकरनाथ अपने ज्योतिष-ज्ञान तथा आध्यात्मिक योगबल के सहारे इस बात का पूर्वाभास कर चुके थे कि निकट भविष्य मे भारत पर विदेशी लोगों, अँग्रेजों का आधिपत्य होने की सम्भावना है । वे इस सम्भावना को निर्मूल करने के लिये जितना कुछ स्वयं से बन पड़े उतना प्रयास करना चाहते थे । नन्हा दीपक सम्पूर्ण विश्व के अन्धकार को तो नहीं मिटा सकता है किन्तु जहाँ वह होता है वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता इसी प्रेरणा से वे भी सामर्थ्य भर प्रयास करना चाहते थे । 'कोटे काँगड़ा' के राजा के मन्त्री बनने मे उनका अपना यही प्रयोजन था ।

'कोटे काँगड़ा' के राजा तो अँग्रेजों के मित्र थे किन्तु पंजाब के तत्कालीन महाराजा रणजीत सिंह उनसे पूरी तरह सावधान थे । वे उनका विरोध कर रहे थे । अँग्रेज उनसे मैत्री करने के इच्छुक थे पर रणजीत सिंह उन मछलियों की तरह मूर्ख नहीं थे जो चारे के लालच में काँटे में मुँह फँसा देती है । यहाँ तक कि उन्होंने अपने राज्य में अंग्रेजों का प्रवेश निषिद्ध ठहरा रखा था । डा. मूरक्राफ्ट नाम का एक अंग्रेज यात्री इस वर्जना की परवाह नहीं करते हुए पंजाब में आ घुसा तो उन्होने उसे पकड़ कर जेल मे डाल दिया । इससे अंग्रेज भड़क उठे । अपने सम्बन्धी को सम्भावित युद्ध से बचाने के लिये 'कोटे-काँगड़ा' के राजा ने उन्हे रणजीत सिंह को समझाने के लिये भेजा ।

महाराज रणजीत सिंह ने उनके समझाने पर डा. मूरक्राफ्ट को मुक्त कर दिया । वे पं. शंकरनाथ की विद्वता, नीति-निपुणता और तपोमय प्रखर व्यक्तित्व से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्हें अपनी मन्त्री परिषद् का सदस्य बना लिया । उसकी सम्मति से ही महाराज रणजीतसिंह ने कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों के साथ युद्ध करके सन्धि कर लेने और अपनी शक्ति बढ़ाने की ओर ध्यान दिया । महाराज के उत्कर्ष में पं. शंकरनाथ का बहुत बड़ा हाथ था ।

उनकी विद्वता और योग्यता के अंग्रेज भी कायल थे । लार्ड विलियम बेंटिक, सर सी. वाईड, तथा सर जी. आर. क्लार्क पोलिटीकल एजेन्ट भी उनका बहुत सम्मान करते थे । पं. शंकरनाथ भी उनकी इस व्यावहारिकता का सम्मान करते हुए उनसे अच्छा व्यवहार करते थे । किन्तु वे उनकी साम्राज्यवादी नीति से भीतर ही भीतर अप्रसन्न रहते थे ।

पं. शंकरनाथ ने अपनी विद्वता का सदुपयोग कर संस्कृत के दुर्लभ-ग्रन्थो की खोज की । मन्त्री-परिषद मे रहते हुए उन्होंने अपने राज्य में ही नहीं अन्य राज्यों मे भी प्राचीन ग्रन्थों की खोज का क्रम चलाया जिससे उन्हें कई दुर्लभ-ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ मिलीं । उन्हें वे अपने साथ केरल ले गये । उन्होंने 'देवी भागवत' का मलयालम में अनुवाद भी किया । उत्तर और दक्षिण भारत को जोड़ने में उनका यह प्रयास बहुत ही महत्वपूर्ण माना जाता है ।

पण्डित जी भारतीय धर्म व भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान और कलम के धनी ही नहीं थे । जब महाराज रणजीत सिंह ने अफगानों से संघर्ष किया तो वे स्वयं एक सेनानी के रूप में युद्ध संचालन करते हुए बड़ी वीरता से लड़े थे । उनकी इस वीरता पर महाराजा बड़े प्रसन्न हुए ।

मंत्री पद पर रहते हुए उनके पास धन सम्पन्न नदी नालों के महासागर में विलीन होने की तरह कई मार्गों से

आता था। सच ही कहा गया है जहाँ सुमति-सदज्ञान है वहाँ सम्पति आयेगी ही। किन्तु विद्वता और ससम्पन्नता व उच्च पद उनके सीधे-सादे, निरहंकारी, निस्पृह जीवन में कोई अन्तर नहीं ला सकी। वे आयी लक्ष्मी को दोनों हाथों से दान कर दिया करते थे। राजनीति मे लगे होने के कारण उन्हें सदा यह भय रहता था कि वे अपनी आत्मा पर मलावरण न चढ़ा ले अत: उन्होने लाहौर रहते हुए दो बार 'सर्वस्व दान' किया। दान देते हुए वे पात्रत्व व उसके सदुपयोग का बड़ा ध्यान रखते थे। कई बार उन्होने चन्द्रायण-व्रत सम्पन्न किये। अफगान-युद्ध की समाप्ति पर उन्होने राज्य की सुख-शांति व युद्ध के भावनात्मक अनिष्ट प्रभाव को मेटने के लिये विशाल-यज्ञ सम्पन्न कराया। कुछ समय तक वे हिमाचल-प्रदेश के ज्वालामुखी नामक स्थान पर एकान्तवासी भी रहे।

वैदिक-संस्कारो, ईश्वर-भक्ति और भारतीय-धर्म, अध्यात्म दर्शन पर उन्हे अगाध निष्ठा थी। उसी के अनुरूप ही वे अपने जीवन की नौका चलाते थे।

ट्रावनकौर महाराज स्वाति तिरुनाल के आग्रह पर वे १८२७ मे पुन: अपनी जन्मभूमि केरल आये। महाराज स्वयं अच्छे विद्वान और कवि थे। महाराजा रणजीतसिंह ने उनकी यात्रा का समुचित प्रबन्ध किया था। एक दिन पैदल खाली हाथ अपने घर से जाने वाला बालक शंकर नाथ ज्ञान की सम्पदा लेकर राजकीय सम्मान के साथ केरल आ रहा था। यह उसके अपने त्याग, तप व कर्ममय जीवन का ही शुभ परिणाम था।

केरल रहकर उन्होने वहाँ संस्कृत तथा उत्तर-भारत की भाषाओं का प्रचार-प्रसार करने का कार्य किया। वहाँ के महाराजा ने उन्हें न्यायाधीश बनाया।

१८३५ मे महाराजा रणजीतसिंह के आग्रह पर वे पुन: पंजाब आ गये तथा अपने पहले वाले पद पर काम करने लगे। महाराज की मृत्यु के पश्चात् महाराज कुड़क्क सिंह व महाराज शेरसिंह के समय में उन्होने राज्य की शक्ति-सामर्थ्य को बनाये रखने का भरसक प्रयास किया किन्तु महाराज रणजीतसिंह के उत्तराधिकारी उतने योग्य नहीं थे। अत: वे मन्त्री पद छोड़कर पुन: धर्म व समाज की सेवा के लिये अपनी जन्म-भूमि केरल आ गये।

१८४४ में उन्होने लक्ष्मीअम्मा नामक सुलक्षणा स्त्री से विवाह कर गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए केरल में ज्ञान व धर्म का प्रचार करने के लिये अपना शेष जीवन लगा दिया। वे अपनी विद्वत्ता, योग्यता और समाज सेवा के कारण उत्तर व दक्षिण भारत में समान रूप से पूजे गये। १८५८ में उनका देहावसान हो गया। अपने प्रोज्वल ब्राह्मणत्व के कारण वे आज भी अनुकरणीय बने हुए है।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' के मन्त्रदृष्टा—शरत्च

नारी जीवन की कुण्ठाओं और समस्याओं का रस बाबू ने अपनी कृतियों में सफल चित्रण किया है। एक ऐ युग में जब भारतीय स्त्रियाँ निर्जीव और पंगु पड़ी थीं, उन्हों अपनी कलम उठाई और समाज के बड़े-बड़े आकाओं क ध्यान मातृशक्ति की ओर खींचा। परवश और पद स्त्री-समाज में चेतना का प्राण फूँकने का समग्र श्रेय किसी के दिया जाय तो उसके लिए बंगला के प्रसिद्ध कथाक शरत्चन्द्र ही अधिक योग्य होंगे।

यद्यपि शरतबाबू ने स्वयं को अनीश्वरवादी कहा पर उनके जीवन की पुस्तक का पृष्ठावलोकन किया जाय तो सच्चे अर्थों में आस्तिक ही कहे जायेंगे। उन वैव परिस्थितियों और संघर्षों से जूझने वाला व्यक्ति यदि अप भक्तों का ही भला चाहने वाले प्रचलित पक्षपाती भगवान् की सत्ता को मानने से इन्कार कर दे तो इसमे क्या आश्च है।

शरतबाबू युवावस्था मे ही रंगून अपने मौसा अघोरना बनर्जी के पास चले गये थे। उन दिनो बंगाल में प्ले फैला हुआ था। घर के सब लोग इस महामारी मे स हो गये थे। फलस्वरूप जीविका की तलाश और जीवन-र के लिए वे बर्मा गये।

वहाँ उन्हे नौकरी भी मिल गयी। दैवयोग से उनक कण्ठ मधुर था। गाने का भी कुछ शौक था इसलिए रंगू के बंगाली समाज में उन्हे मान-सम्मान भी मिला पर शरतबाबू तो दूसरी ही मिट्टी के बने हुए थे। लोकेषणा सदा ही बचे रहे और दरिद्र-नारायण के अधिकाधिक सन्नि बने रहने के लिए वे हमेशा निम्न वर्ग मे रचे-पचे रहे आत्मगोपन की भावना उनके अन्दर गहराई तक बैठी हुई थ और इसी भावना ने उन्हें कुछ अर्थों मे पलायनवादी बन दिया। यहीं उनकी अध्ययनशील-वृत्ति का विकास हुआ। निम्न वर्ग के लोगो मे रहने के बाद जो समय मिलता उ वे पढ़ने मे व्यतीत करते। धीरे-धीरे उन्होने समाज शास्त्र, यौन-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र और मनोविज्ञान प बहुत सी पुस्तके पढ़ डाली।

यहीं उनका परिचय मणीन्द्रनाथरेणु और उनके माध्य से रामकृष्ण-मिशन के स्वामी रामकृष्णानन्द से हुआ। घण्टों दर्शन और अध्यात्म पर चर्चा चलती। क्रमश: उनके म मे जमी अनास्था की काई हटने लगी और ईश्वर के सच्चे-स्वरूप का भान होने लगा। अब उनके परिचय क दायरा बढ़ने लगा। शरत के स्वच्छन्द विचारों और तर्कों से स्वामी बड़े प्रभावित हुए।

सहसा तभी रंगून में भी प्लेग फैलने लगा। इस बु कदर फैला कि लोग घर छोड़कर भागने लगे। शरत बा के मित्र मणीन्द्रकुमार भी रंगून छोड़कर शहर से दूर एक छोटे से गाँव में रहने चले गये। वहाँ भी ...

लिए कहा पर अन्तर्रात्मा ने कुछ और ही प्रेरणा दी । यहाँ लोग मर रहे हैं और तुम्हें अपने जीवन की पड़ी है ? उत्तम तो यह है कि इन असहाय लोगों की सेवा में स्वयं को लगाया जाये । शरत ने अपने मित्र के साथ जाने से इन्कार कर दिया ।

उस समय प्लेग के भय से लोग अपने प्रिय से प्रियजन को छोड़कर चले जाते थे । वहाँ शरत किसी अजनबी के पास भी पहुँच जाते । बर्फ और दवाइयाँ खरीद कर लाते । घर में वे अकेले रह गए । पास-पड़ौस के सभी लोग अपना निवास और सम्पत्ति छोड़कर जा चुके थे । शरतबाबू अपने कार्यालय के साथियों के लिए बनाये गये मैस में रहने चले गये । वहाँ कुछ साथी सहकर्मी भी रह गये थे । प्लेग से वे भी अछूते न रहे । एक दिन उनका साथी भी रोग ग्रस्त हो गया और वे भी । दोनों एक-दूसरे के सिर पर आईस बैग रखते । शरतबाबू ने अपना मनोबल बनाये रखा, लेकिन साथी की दशा निरन्तर बिगड़ती रही । उन्होंने मैस के दूसरे साथियों को सहायता के लिए पुकारा लेकिन कोई भी आगे नहीं आया । होना वही था । उनका साथी चल बसा और वे बुखार में ही मैस छोड़कर मिस्त्री पल्लियों की बस्ती में आकर लोगों की सेवा-सुश्रूषा में जुट गए ।

वे निश्चय ही महान थे और जितने थे उतना ही स्वयं को अँधेरे में भी रखते थे । निम्न वर्ग के, असहाय लोगों के प्रति उनकी आत्मीयता देखकर किसी मित्र ने उनकी प्रशंसा में कुछ कहा तो शरतबाबू ने बड़ी सहजता के साथ अपना अन्तस् खोल दिया । बताया कि निम्न वर्ग के साथ मेरी सहानुभूति का कारण यह है कि—"मैं अभिजात्य कुल के लोगों से बदले की भावना रखता हूँ । भद्र लोगों के लिए मैं चरित्रहीन हूँ क्योंकि मुझे जाति से बहिष्कृत कर दिया गया है । रिश्तेदार मेरे पास आने से हिचकिचाते हैं । यहाँ भी बंगाली लोग मुझसे नफरत करते हैं और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप मैं निम्न वर्ग के लोगों से और अधिक प्यार करने लगता हूँ ।"

शरतबाबू का पूर्वोक्त कथन यदि सच भी हो तो भी उनकी महानता में किसी भी प्रकार कमी नहीं आती । समाज से मिले तिरस्कार और घृणा के रचनात्मक प्रत्युत्तर की इससे अच्छी मिसाल और क्या होगी ।

इन्हीं दिनों उन्होंने अपनी विख्यात कृति 'चरित्रहीन' लिखना आरम्भ कर दिया । दिन भर आफिस में काम करते और रात को लालटेन के उजाले में अपना लेखन कार्य करते । पास-पड़ोसी और ईर्ष्यालु साथी इनकी लगन और महत्वाकांक्षा को देखकर बहुत चिढ़ने लगे । अपने पड़ोसियों से तंग आकर उन्होंने अपना वह घर छोड़ दिया और दूसरी जगह जाकर रहने लगे ।

रात को प्रायः वे देर से लौटा करते । जब सब सो जाया करते थे । शरत बाबू समुद्र के किनारे या कभी निर्जन से आते और अपना काम करते थे । ऐसे ही एक दिन अँधेरी रात में सदा की तरह घर लौटे तो देखा कि दरवाजे की कुण्डी खुली हुई है । अपने आस-पास बसने वाले लोगों पर उन्हें बेहद विश्वास था और अविश्वास करने जैसी स्थिति भी नहीं थी । घर में कामचलाऊ सामान, पुस्तकें और कागज के अलावा ऐसा कुछ भी तो नहीं था जिसे चले जाने का डर हो । चोर-उचक्के घर में घुस जायें तो सिवा पछताने के कुछ नहीं मिलता । सोचा भूल से मैं ही कुण्डी चढ़ाना भूल गया होऊँगा । दरवाजे को धक्का दिया तो मालूम हुआ कि अन्दर से बन्द है ।

फिर जोर से धक्का लगाया और पुकारा—"अन्दर कौन है ।" बार-बार पुकारने पर दरवाजा खुला, देखा सामने पड़ौस में रहने वाली यज्ञेश्वर मिस्त्री की लड़की शान्ती सहमी हुई खड़ी है ।

शरतबाबू ने कहा—"शान्ति तुम यहाँ क्या करने आई हो ?"

नीचे दृष्टि किए वह खड़ी रही । उन्होंने फिर पूछा । शान्ति ने कहा—"बाबा ने कुछ रुपये लेकर एक शराबी और बदमाश बूढ़े आदमी के साथ विवाह का रिश्ता पक्का किया है और नशे में धुत होकर वह मेरा सतीत्व लूटने पर आमादा है सो अपनी रक्षा के लिए यहाँ आ छुपी । मुझे बचाइए शरतबाबू । और शान्ति उनके चरणों मे गिर पड़ी ।

उन्होंने शान्ति को अपने कमरे में सोने के लिए कहा और वे स्वयं कहीं और चले गये । दूसरे दिन यज्ञेश्वर मिस्त्री से घोषाल के साथ तय रिश्ता तोड़ने के लिए कहा तो मिस्त्री बोला कि—"मुझ पर उसका बहुत कर्जा चढ़ा हुआ है और शान्ति के लिए उससे योग्य वर कहाँ मिलेगा ।"

शरतबाबू ने स्वयं कर्जा चुकाने की हामी भरी । पर मिस्त्री तो शायद शांति का हाथ उस बूढ़े आदमी को ही सौंपना चाहता था बोला—"तो इससे क्या होगा बाबू साहब । आपके अन्दर शांति के लिए इतनी दया-माया है तो आप ही क्यों न उसका हाथ थाम लेते हैं ।"

सुनकर वे हतप्रभ रह गये। उन्होंने लड़की को जीवन भर तिल-तिल कर जलने से बचाने की ठानी । बहुत समय तक सोच-विचार करते रहे और यज्ञेश्वर से बोले—"मै तैयार हूँ ।" शान्ति को उन्होंने जीवन-संगिनी के रूप में स्वीकार कर लिया । अपने साहित्य में नारी जीवन का मार्मिक चित्रण करने वाला कलम का धनी हृदय का भी धनी था। वे वही लिखते थे जो हृदय स्वीकार करता था और हृदय से स्वीकार कर लेने के बाद व्यक्तित्व भी उसके अनुरूप ढल जाता था। यही कारण है कि उनकी आत्मा का उद्बोधन भारतीय जीवन में क्रान्तिकारी मोड़ देने का श्रेयभाजन बना । रवीन्द्र बाबू यदि 'जन-गण-मन' के ऋषि माने जाते हैं तो शरत बाबू को भी 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते'—का मन्त्र दृष्टा मानना होगा ।

उनकी कृतियाँ महान हैं और उनसे ज्यादा महान् है, उनके प्रणेता शरत का व्यक्तित्व ।

कारुणिक संवेदनशीलता

बंगला भाषा के प्रख्यात साहित्यकार शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय की कृतियो में जो सजीव प्राण है, वे प्राण उनके व्यक्तित्व और अन्तस् से प्रसूत हुए हैं। वस्तुतः किसी भी रचनाकार की कृतियाँ उसकी कलम से नहीं उसके हृदय से ही अनुप्राणित होती हैं। शरद् बाबू के एक निकटवर्ती मित्र ने उनकी इस प्राणदायिनी क्षमता का उल्लेख करते हुए लिखा है—संसार मे मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो कर्तव्य और सहज भाव है, शरदचन्द्र की कृतियों में वही भाव गहरी अनुभूतियों और मस्तिष्क के विचारों द्वारा जीवन के विश्लेषण के रूप मे मूर्तिमान हो उठा। इसलिए वे जो कलुष है, जो विद्रूप है उसे देखकर शरत् चन्द्र विचलित हो उठते है। उनकी यह संवेदनशील करुणा ही उनकी रचनाओं में हमें डुबो देती है।''

एक बार की घटना है। रात अधिक हो गयी थी और शरत बाबू अपने मित्र के घर से लौट रहे थे। साथ ही मित्र दम्पत्ति श्री नरेन्द्र देव और श्रीमती राधा रानी भी थे। साढ़े दस ग्यारह बजे का समय हुआ होगा, यातायात कम हो चला, तीनों बाते करते हुए चले आ रहे थे। मण्डितिया रोड के एक मोड़ पर पहुँच कर उन्होंने देखा तीन-चार लोग एक वृक्ष के नीचे ज़ोर-जोर से बाते कर रहे थे। उन व्यक्तियों की कुछ बाते शरत बाबू के कानों तक भी पहुँची और वे सुनकर ठिठके। साथी भी रुक गये। तभी वृक्ष के नीचे खड़े व्यक्तियों मे से किसी एक ने कहा—'महोदय, जरा सुनिये तो।'

तीनों उधर की ओर चल दिये। जाकर देखा लाल कपड़े में लिपटा हुआ एक नवजात शिशु पड़ा हुआ है। कहना नहीं होगा पथ भ्रष्ट यौनाचार के परिणामस्वरूप कोई युवती या महिला अपने मातृत्व का बेतरह गला घोट कर यह दुष्कृत्य कर गयी थी। सद्योजात बालक को देखा शरत बाबू ने तो उसके शरीर पर चीटियां रेग रही थीं और उनके काटने से उसकी देह मे स्थान-स्थान पर लाल रंग चढ़ गया था। शरत बाबू ऐसी स्थिति में कैसे घर आ सकते थे—वहाँ उपस्थित लोगो के साथ विचार-विमर्श कर उन्होंने निश्चय किया कि बालक को अस्पताल भिजवा दिया जाय ताकि संसार में हाल ही आया यह अतिथि यो ही न विदा हो जाये'।

अस्पताल वालो को इसकी सूचना देने और शिशु को वहाँ भिजवाने की व्यवस्था करने के लिए शरत् बाबू ने अपने मित्र नरेन्द्र को पास ही कहीं मिल जाये तो फोन करने के लिए कहा और खुद बच्चे के आहार की व्यवस्था में लगे—जन्म लेने के बाद से अभी तक जिसके गले से कुछ भी नहीं उतरा था। दूध तो बच्चे ने नहीं पिया, शहद अवश्य उसके गले से नीचे उतरा। फिर वे नरेन्द्र देव के पास पहुँच गये जो पास ही एक मिठाई वाले की दुकान पर अस्पताल वालो को फोन कर रहा था।

अस्पताल वालों ने इस प्रकार मिले अवांछित बच्चे को लेने से इन्कार कर दिया। नियमानुसार पहले इसकी सूचना पुलिस को देनी पड़ती थी। अतः पुलिस को फोन किया गया। पुलिस स्टेशन से तत्काल कोई आने को तैयार नहीं हुआ। नरेन्द्र ने पुलिस को शरत् बाबू का हवाला दिया तो वहाँ से आदमी भेजने की व्यवस्था की गई।

कुछ देर बाद दो पुलिसमैन घटनास्थल पर आये। शरत् बाबू और उनके साथी तब तक वहीं खड़े रहे। बच्चे को पुलिस के सुपुर्द करने तथा उसकी व्यवस्था करते रात के दो बज गये पर शरत् बाबू के चेहरे पर न तनाव आया और न सुस्ती। वे उसी प्रकार बच्चे की व्यवस्था में लगे रहे। कलकत्ता जैसे शहर में इस प्रकार की घटनाएँ उस समय भी कोई खास महत्व नहीं रखती थीं—पर शरत् बाबू के समक्ष कहीं कोई जीवन तड़प कर प्राण छोड़ जाय—उनसे सहन नहीं होता।

यही कारुणिक संवेदनशीलता उनके साहित्य को वह शक्ति दे गयी जो पाठक को भी करुणार्द्र कर जाती है। इसमें आश्चर्य ही क्या है?

जिनके सामने अंग्रेजी हुकूमत भी झुक गयी

शरत् चन्द्र कलकत्ता यूनिवर्सिटी मे प्रोफेसर थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन काल था। इसलिए योग्यता और कार्य की दृष्टि से समान होते हुए भी अंग्रेज प्राध्यापकों का वेतन भारतीय प्राध्यापकों की अपेक्षा बहुत अधिक होता था। इस अन्याय को भारतीय चुपचाप सहन करते थे। किसी मे सत्ता के प्रतिकूल आवाज उठाने का साहस नहीं होता था।

शरत् बाबू से यह अनीति देखी न गई। उन्होंने विरोध के लिये सविनय अवज्ञा की सर्वथा नई नीति अपनाई। अर्थात् वे विद्यालय तो नियमित रूप से जाते, अध्यापन भी करते, पर वेतन लेना बन्द कर दिया। यह स्थिति कई महीने तक रही। इस बीच उनकी आर्थिक व्यवस्था बुरी तरह लड़खड़ा गई।

उन्हे गंगा पार करके यूनिवर्सिटी जाना पड़ता था। अब नाव के पैसे चुकाने की भी स्थिति नहीं रही। उस समय उनकी धर्मपत्नी ने अपने मंगलसूत्र बेच डाले और उनसे एक छोटी-सी नाव खरीद ली और नियमित रूप से प्रतिदिन स्वयं ही उन्हें पहुँचाने और लेने जाने-आने लगीं।

अँग्रेज हुकूमत को इस बात का पता चला तो वह शर्म से झुक गई और तब से भारतीय प्राध्यापकों का वेतन भी अँग्रेजो के समान कर दिया गया।

शरत् बाबू ने अपनी धर्मपत्नी को धन्यवाद देते हुए कहा—"इस जीत का श्रेय तो वस्तुतः तुम्हे ही है।" स्त्री के साहस में पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति है।

हिन्दी की सर्वतोमुखी विकास साधना में समर्पित—बाबू श्यामसुन्दरदास

स्वातन्त्र्य आन्दोलन के दौरान भारतीय-जनमानस के पुनर्जागरण हेतु विविध धाराएँ बहीं। इस पुनर्जागरण मे सामाजिक उत्थान, राजनैतिक चेतना और राष्ट्रभाषा का विकास—तीन प्रमुख लक्ष्य रहे थे । एक लेखक के अनुसार—"देश के सामाजिक जीवन मे स्थान—उन दिनो आर्य समाज का और राजनैतिक आन्दोलन के क्षेत्र मे कॉंग्रेस का रहा वही स्थान और महत्व राष्ट्रभाषा के विकास मे नागरी प्रचारणी सभा का है।" इस संस्था की स्थापना करने और उसे पल्लवित, पुष्पित करने में एक सजग बागवान की तरह लगे रहने वालो मे बाबू श्याम सुन्दरदास का नाम सर्वप्रथम लिया जायेगा।

किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व उसकी कुछ विशिष्टताओं से जीवित रहता है और उन विशेषताओ में संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार की तरह राष्ट्र भाषा का भी एक प्रमुख स्थान है । प्रमुख ही नहीं अग्रणी भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी । क्योकि भाषा की भी अपनी एक शक्ति होती है जो उस राष्ट्र की जीवनधारा को प्रभावित किये बिना नहीं रहती । इस आवश्यकता को उस समय हर विचारशील-व्यक्ति अनुभव कर रहा था । राष्ट्रभाषा की आवश्यकता उसके विकास की पृष्ठभूमि भी स्वराज्य-आन्दोलन का एक अंग बन गयी थी और देश के बहुसंख्यक भाषा-भाषियो द्वारा बोली जाने वाली हिन्दी ही इसके लिए उपयुक्त सिद्ध हुई । लेकिन समस्या यह थी कि अँग्रेजों ने भारतवासियों को राजनैतिक दृष्टि से ही गुलाम नही बनाया था कि स्वयं गुलामी का पंजा मानसजगत पर भी कसा था और यही कारण था कि स्वयं को समझने वाले लोगो ने किसी भी स्वदेशी भाषा को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा । जो लोग राष्ट्र-भाषा के विकास मे अपनी प्रतिभा का उपयोग कर सकते थे वे ही उसके विरोधी होते गये और परिणाम यह हुआ कि हिन्दी भाषा केवल बोल-चाल की ही भाषा बनकर रह गयी ।

१८५७ के बाद जब राष्ट्रीय-चेतना जाग्रत हुई तो राष्ट्रवादी लोगों का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट हुआ तथा तभी से आरम्भ हुई हिन्दी के विकास की प्रचण्ड यात्रा । उस यात्रा-वाहन के ही एक समर्थ संवाहक थे बाबू श्याम सुन्दरदास । जिन्होने हिन्दी के उन्नयन मे स्वयं को जीवन भर के लिये समर्पित कर दिया ।

उनका जन्म बनारस के एक धर्मनिष्ठ परिवार मे १७ मई १८७५ ई. को हुआ था । परिवार के धार्मिक वातावरण मे भारत, भारती और भारतीयता के प्रति आस्था भक्ति के संस्कार जमते रहे पर बाबू श्याम सुन्दरदास बचपन में एक नटखट और पढ़ने से जी चुराने वाले बालक थे । स्कूल की किताबों में उनका मन नहीं लगता था और अपने संगी-साथियो के साथ ही खेलना उन्हे भाता था । पर उपयुक्त वय मे जब उनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ तो उनमे आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ और वे मन लगाकर पढ़ने लगे । इस परिवर्तन के सम्बन्ध में पढ़-सुनकर आम आदमी यह सोचने लगे की यह संस्कार सम्पन्न कराने वाले पण्डित की शक्ति या संस्कार-आयोजन का दैवी चमत्कार होगा पर तत्ववेत्ता जानते है कि उथले मूड मे कही गयी बातों का प्रभाव और ही होता है तथा भावोद्वेलित वातावरण मे कही गयी बातों का महत्व कुछ और ही होता है। एक धार्मिक परिवार के परिवेश में पालित-पोषित बालक को धर्मानुष्ठान के भावोद्वेलित वातावरण मे शिक्षा दी जाय—यह बताया जाय कि यह तुम्हारा दूसरा जन्म है और अब ज्ञानार्जन, आत्म-कल्याण, लोकसेवा तुम्हारा लक्ष्य है तो निश्चित रूप से बालक पर उसका अनुकूल प्रभाव पड़ेगा ।

संस्कृत-भाषा से बाबू श्याम सुन्दरदास ने अपना अध्ययन आरम्भ किया और पाठशाला मे भी नियमित रूप से जाने, मन लगाकर पढ़ने का क्रम बना । संस्कृत-भाषा मे अपेक्षित योग्यता प्राप्त करने के साथ उनमे विचारशीलता भी उत्पन्न हुई । उन दिनों के विकास और प्रचार की छुटपुट प्रक्रियाएँ आरम्भ हो चुकी थीं और भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र का यह दोहा सबकी जबान पर था—

निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
बिन निज-भाषा-ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल ।

भारतेन्दुजी के अतिरिक्त हरिऔधजी, रत्नाकर जी आदि हिन्दी की पद्य रचनाओ में लगे हुए थे और हिन्दी साहित्य-भण्डार को भरने की भरपूर चेष्टा कर रहे थे । बाबू श्याम सुन्दरदास जी के मन में उक्त-विचार कुछ इस प्रकार घर कर गया कि उन्होने तभी से हिन्दी की सेवा को अपना जीवन लक्ष्य बना लिया । राष्ट्रीय भावनायें उन दिनो युवको के हृदय मे उफन तो रही ही थीं अतः श्याम सुन्दरदास जी को कुछ और साथी ऐसे भी मिल गये जो उक्त विचार के समर्थक थे । और उन सबने मिलकर सन् १८९३ ई. मे ही नागरी-प्रचारणी सभा की स्थापना कर ली व इसके माध्यम से हिन्दी-भाषा का प्रचार-प्रसार करने लगे । उस समय उनकी आयु मात्र अठारह वर्ष ही थी पर जैसे-जैसे उनकी वय और उनका अनुभव बढ़ता गया नागरी-प्रचारिणी सभा भी प्रगति करती रही । आगे चलकर इसी सभा के माध्यम से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई, दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार सभा और वर्धा की राष्ट्र-भाषा-प्रचार-सभा आदि इसी के पुष्प-पल्लव है ।

नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के दो वर्ष बाद उन्होने इण्टर की परीक्षा पास की और क्वीन्स कॉलेज मे भर्ती हुए । १८९७ में क्वीन्स कॉलेज से बी. ए. की डिग्री प्राप्त कर वे हिन्दी स्कूल मे अध्यापक नियुक्त हुए ।

जिन दिनो उन्होंने हिन्दी-भाषा की सेवा का बीड़ा उठाया उन दिनो हिन्दी केवल बोल-चाल और पद्य साहित्य

की भाषा थी । गद्य-साहित्य इसमें लगभग नहीं ही था जबकि किसी भी भाषा के समग्र विकास और समृद्धि हेतु सभी विधाओं में प्रचुर साहित्य होना आवश्यक है । इतिहास, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, रसायन, भौतिक-शास्त्र आदि विषयो में भी हिन्दी कुछ देने की स्थिति मे नहीं थी । इसका एक कारण तो यह था कि उस समय शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी थी और दूसरा यह कि व्याकरण, शब्दकोश, साहित्य-सृजन जैसी कोई चीज हिन्दी के पास नहीं थी । यह सारा काम अकेले श्यामसुन्दर दासजी पूरा करते तो कई जन्मों का था । फिर भी उन्होंने मध्यम मार्ग निकाला और ऐसे व्यक्ति तैयार किये जो विभिन्न विधाओं से साहित्य-सेवा के लिए आगे आये ।

हिन्दू स्कूल मे अध्यापन काल मे ही उनके पिता का देहान्त हो गया और वे जीविका के अधिक समर्थ स्रोत की तलाश मे जम्मू-कश्मीर गये । वहाँ नौकरी तो मिली पर बाबू साहब स्वयं को वहाँ जमा नहीं पाये अतः शीघ्र ही नौकरी छोड़कर १९१३ में लखनऊ आ गये और वहाँ के कालीचरण स्कूल में प्रधान अध्यापक नियुक्त हुए ।

जीविकोपार्जन के साथ-साथ जीवन-लक्ष्य-साधन का काम भी पूरी गति से चलता रहा । तब तक नागरी-प्रचारिणी-सभा भी अपने मिशन को पूरा करने के लिए अच्छी प्रगति करने लगी थी । इस सभा का कार्य था पुराने ग्रन्थों को खोजकर प्रकाश मे लाना । यह कार्य बड़ी सीमा तक सफलतापूर्वक चल पड़ा । तुलसी, सूर, कबीर, जायसी आदि कवियो की प्रामाणिक ग्रन्थावलियाँ उन्होंने तैयार करवायी तथा तुलसीदास कृत रामचरित-मानस को भी प्रकाशित कराया । उनके द्वारा सम्पादित रामचरितमानस तो आगे चलकर पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित किया गया । चन्दवरदाई का लिखा हुआ 'पृथ्वीराज रासो' सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रकाशित कराया ।

हिन्दी के लि इतनी महान सेवाओं से प्रभावित होकर पं. मदनमोहन मालवीय ने उन्हें अपने पास बुलाया और काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद का भार सम्हालने के लिए कहा । चूँकि यहाँ रहकर वे हिन्दी-भाषा की सेवा और अधिक भली-भाँति कर सकते थे अतः उन्होंने अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया । और सचमुच ही हिन्दी की ऐतिहासिक सेवाएँ उन्होंने यहीं रहते हुए कीं । विद्यार्थी उन्हें बाबूसाहब के नाम से सम्बोधित करते थे ।

वे थे तो हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे । पर विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष की कक्षाओ से लेकर एम.ए. तक हिन्दी पढ़ाना आरम्भ कर दिया । एक तो इस दृष्टि से छात्रों को हिन्दी का शुद्ध ज्ञान कराया जाय कुछ नहीं तो कम से कम इतना तो हो ही जाय कि वे अँग्रेजी की तुलना में हिन्दी को गौण महत्व न दें । और दूसरा प्रयोजन यह था कि ऐसे प्रतिभाशाली छात्रो को खोजना जो हिन्दी के लिए कुछ काम के सिद्ध हो सके । उनकी वक्तृत्व की शैली से सभी छात्र प्रभावित थे और पहला प्रयोजन आसानी से पूरा होता चला । उस समय उनके छात्र रह चुके ए लेखक ने उनकी वक्तृत्व कला का परिचय दे दिए है—"हिन्दू-विश्वविद्यालय में उस समय हिन्दी के जितने अध्यापक थे उनमें बाबू साहब ही ऐसे थे । जो धारा हिन्दी में धारावाहिक रूप से घण्टों बोल सकते थे । उन्हें प्रबल वक्तृत्व शक्ति और भाषा पर अच्छा अधिकार था ।"

दूसरा प्रयोजन जो हिन्दी के विकास हेतु निरन्तर साहित्य-साधक तैयार करना था वह भी आशाजनक रूप से पूरा होता था । उनकी पारखी आँखें ऐसे छात्रों को तुरंत ही पहचान लेतीं जिनमें साहित्यिक प्रतिभा हुआ करती थी । ऐसे प्रतिभाशाली छात्रों को परख लेना ही पर्याप्त नहीं था वरन् उन्हें प्रेरणा देना, प्रोत्साहित करना और मार्गदर्शन देना भी तो एक अनिवार्यता थी, सो भी बाबू साहब बड़ी निष्ठा के साथ करते थे । इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐसे विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता भी दी जो होनहार थे । साहित्यिक-प्रतिभाओं को परखकर उन्हें तैयार कर साहित्य-सेवियों के मिशन को पूरा किया । बाबू साहब ने इन्हीं लोगो से विभिन्न विधाओं पर लिखवाकर हिन्दी का साहित्य-भण्डार भरा ।

उन्होंने पं. मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में एक देश आन्दोलन भी चलाया जिसमें कचहरी और राजकाज की भाषा के रूप में हिन्दी को भी मान्यता मिली । उस समय लेखक न होते हों, ऐसी बात नहीं थी वरन् लेखकों को कहीं से प्रोत्साहन ही नहीं मिल पाता था इसलिए अधिकांश लेखक हार-थककर निराश हो बैठ जाते । ऐसे साहित्य-सेवियों को प्रोत्साहन देने के लिए उन्होंने कई लेखको को प्रोत्साहन दिया और उनकी रचनाएँ भी प्रकाशित करायीं ।

हिन्दी-भाषा को उनकी तीन अमूल्य देन ऐसी है जिन्हें कभी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा । पहली बार उन्होंने हिन्दी का प्रामाणिक शब्दकोष तैयार कराया और चार खण्डों में प्रकाशित किया । 'हिन्दी-शब्दसागर' के नाम से प्रकाशित इस शब्दकोश मे एक लाख शब्द है। दूसरा कार्य उन्होंने पं. रामचन्द्र शुक्ल से लिया । शुक्ल जी उस समय मिर्जापुर मे ड्राईंग मास्टर थे । बाबू साहब ने उन्हें हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए प्रोत्साहित किया । आगे चलकर शुक्लजी भी उनके साथ काम करने लगे । तीसरा कार्य उन्होंने पं. कामता प्रसाद गुरू से करवाया वह था—हिन्दी भाषा का व्याकरण । इस प्रकार एक साथ तीन ऐतिहासिक कार्यों के प्रेरणा केन्द्र रहकर भी उनका श्रेय स्वयं किंचिन्मात्र भी नहीं लिया ।

नये लेखको को प्रोत्साहन देने के लिए उन दिनों 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसका सम्पादन भार उन्हें सौंपा गया और कई नये लेखको को प्रकाश मे लाया । यही नहीं हिन्दी-भाषा के लिए विदेशी साहित्यकारों का योगदान भी प्राप्त किया । स्वयं बाबू साहब सिद्ध हस्त लेखक थे । उन्होंने साहित्यलोचन, भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा

और साहित्य आदि मौलिक कृतियाँ लिखीं। जिनमें साहित्यालोचन तथा भाषा-विज्ञान तो हिन्दी के प्रति उनकी निष्ठा भक्ति और प्रेम का ही प्रतीक कहना चाहिए। आलोचना-सिद्धान्तो का निर्धारण और भाषा-विज्ञान पर उनकी खोज तथा पैठ उनके हिन्दी प्रेम का ही प्रतीक है।

सन् १९४० में इकहत्तर वर्ष की अवस्था में उनका निधन हुआ तब तक हिन्दी-भाषा के विकास की एक ऐसी आधारशिला रखी जा चुकी थी जिसके बल पर आज तक और आगे भी चिरकाल तक हिन्दी-प्रगति करती रहेगी और इसके लिए राष्ट्र तथा हिन्दी-प्रेमी-जन बाबू श्यामसुन्दरदास के आभारी रहेंगे।

संस्कृति साहित्य के प्रभापुञ्ज—आचार्य हेमचन्द्र

गुर्जराधिपति सम्राट कुमारपाल के गुरु आचार्य हेमचन्द्र कुछ समय के प्रवास के अनन्तर राजधानी पाटण लौट रहे थे। सम्राट के गुरु होते हुए भी वे कहीं जाते तो पैदल ही। राजा के आग्रह पर भी वे रथ, अश्व और परिचारकों की सुविधाएँ नहीं स्वीकारते थे। अतः मार्ग में उन्हें स्थान-स्थान पर रात्रि में विश्राम करना पड़ता था। 'अतिथि देवो भव' की प्रचलित पुण्य-परम्परा के कारण उन्हे मार्ग में कोई असुविधा नहीं होती थी और फिर उन जैसे परम विद्वान और विख्यात आचार्य को आतिथ्य देकर हर कोई कृतार्थ होना चाहता था।

एक रात्रि को वे एक गाँव मे एक निर्धन विधवा के अतिथि बने। छोटे से गाँव की इस छोटी सी जीर्ण-शीर्ण कुटिया में भी आचार्यवर को राज प्रासादों से भी अधिक आनन्द मिल रहा था। उस आनन्द का कारण उन्हे आतिथ्य देने वाली बहिन का निर्मल प्रेम था। आचार्य तो भावनाओं के भूखे थे।

वह विधवा-बहिन अत्यन्त निर्धन थी। आय का कोई स्रोत नहीं होने के कारण सूत कात कर अपना निर्वाह किया करती थीं। प्रेम-पूरित-मन से उसने जो कुछ मोटा झोटा अन्न पका कर उन्हें खिलाया उससे उन्हें अपूर्व तृप्ति हुई। प्रातः जब वे चलने को हुए तो उस मुँहबोली बहिन ने भाई को अपने हाथ के कते सूत की एक चादर भेंट की। आचार्य हेमचन्द्र 'ना' 'ना' करते रहे पर आयु में उनसे बड़ी होने के कारण उसे देने का अधिकार जो था फिर इतनी भावना से दिया जाने वाला उपहार वे ठुकरा भी कैसे सकते थे। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक वह मोटे सूत की चादर ग्रहण कर ली और ओढ़ कर पाटण के लिए चल पड़े।

उनके पाटण पहुँचने की सूचना पाकर सम्राट कुमारपाल अपने गुरुदेव का स्वागत करने के लिए नगर के बाहर आ उपस्थित हुआ अपनी शान के साथ अपने गुरुदेव के कन्धे पर पड़ी हुई यह गाढे की चादर उसे किंचित मात्र न भायी। प्रथम तो उसने गुरु के चरण स्पर्श किये। आशीर्वाद पाया। तदनन्तर उसने निवेदन किया—आचार्य प्रवर! यह क्या? सम्राट कुमारपाल के गुरुदेव के कन्धों पर यह गाढे का बेढंगा चादर? यह चादर आपके शरीर पर शोभा नहीं देती इसे बदल लीजिये।

आचार्य हेमचन्द्र समझ गये कि राजा मुझे मात्र अपना गुरु ही समझता है। उसमें अहम् करवटें लेने लगा है। अतः वे बोले—"शरीर पर शोभा नहीं देता? यह शरीर तो अस्थि, चर्म और माँस, मज्जा का ढेर है। इस चादर के ओढ़ने से ऐसा क्या अपमान हो गया इसका।"

"गुरुदेव आप तो दैहिक सुख, शोभा से निर्लिप्त हैं पर मुझे तो लज्जा आती है कि मेरे सम्राट होते हुए मेरे गुरुदेव के कन्धो पर बहुमूल्य कौशेय उत्तरीय न होकर गाढे की चादर हो।" सम्राट का यह कहना था कि आचार्य हेमचन्द्र बोल उठे अपनी ओजपूर्ण वाणी में—

"इस चादर को मैंने ओढ़ रखा है इस बात को लेकर तुम्हें शर्म आ सकती है पर कई गरीबों का तो यह व्यवसाय ही है। कई असहाय विधवाओं और वृद्धाओं द्वारा दिन भर सूत कात-कात कर बनायी हुई ये चादरें ही उनका पालन-पोषण करती हैं। उन्हें पहनने में मुझे लज्जा नहीं गर्व की अनुभूति होती है। तुम्हारे जैसे धर्मपरायण सम्राट के राज्य में भी ऐसी कितनी ही बहिनें हैं जिन्हे दिन भर श्रम करने पर भी पेट भर भोजन नहीं मिलता। ऐसी ही एक बहिन की दी हुई, यह मूल्यवान भेंट मेरे मन और आत्मा को जो सादगी, निर्मलता और शोभा प्रदान करती है उसे मैं जानता हूँ। इस चादर में जो स्नेह, श्रम और श्रद्धा के सूक्ष्म धागे बुने हुए हैं उनकी श्री, शोभा के आगे तुम्हारे हजारों कौशेय परिधान वारे जा सकते हैं।"

आचार्यवर के ये मार्मिक वचन सुनकर सम्राट का सिर लज्जा से नत हो गया। उनका अहम् विगलित हो गया। प्रजा की सम्पत्ति का सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह उसकी समझ में आ गया। उसने तत्काल घोषणा की—"राजकोष से प्रति वर्ष करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ ऐसे असहाय स्त्री-पुरुषों की सहायता में व्यय किये जायें जिनके पास आजीविका के समुचित साधन नहीं हैं।"

आचार्य हेमचन्द्र की यह किंचित कठोरता भी समाज का बहुत बड़ा हित कर गयी थी। अपने शिष्य के सम्राट होने का अहम् विदीर्ण करके उसके स्थान पर उन्होंने करुणा व कर्तव्य-पालन की सरिता बहायी थी जिसमें स्नान कर कितने ही दीन-दुःखियों की कष्ट कालिमा धुल गयी।

विक्रम सम्वत ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा के तत्कालीन कौमुदी-महोत्सव नामक पुण्य पर्व के शुभ दिन गुर्जर प्रदेश के धुन्धुआ ग्राम के वणिक चाचदेव के घर जन्म लेने वाला बालक चंगदेव अपनी प्रबल जिज्ञासा, महत्वाकांक्षा और प्रबल पुरुषार्थ के सहारे एक दिन दक्षिण-पश्चिम भारत की धर्म-नीति, राजनीति और संस्कृति का नक्षत्र—आचार्य हेमचन्द्र के नाम से विख्यात हो जाता है यह चमत्कार जैसी ही बात है।

किन्तु इसमे चमत्कार जैसी कोई बात नहीं । मनुष्य ईश्वर का राज पुत्र है उसके लिए कोई भी वस्तु पा लेना, कुछ भी बन जाना असम्भव नहीं है । आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी शक्तियो को पहचान ले, उन्हें विकसित करने के लिए कमरकस कर्मक्षेत्र में उतर पड़े ।

गुर्जर प्रदेश मे जन्मे आचार्य हेमचन्द्र अपने मुखर व्यक्तित्व और कृतित्व के बल पर उस प्रदेश मे ही नहीं समूचे आर्यावर्त में विख्यात हुए । साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में जो मौलिक अनुदान उन्होंने दिये, जिन अभिनव-कल्पनाओ को उन्होने साकार किया उनके कारण वे आज भी चिर-स्मरणीय बने हुए है । दर्शन, धर्म, संस्कृति-साहित्य, कला, राजनीति और लोक-नीति के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण उन्हें 'गुर्जर-सर्वज्ञ' की उपाधि से जन-जन ने विभूषित किया ।

उस समय ऐसे प्रखर व्यक्तित्व प्रायः राजाओं के मार्गदर्शक बना करते थे । ये राजनीति और लोकनीति को साथ जोड़कर जन-जीवन मे सुख-समृद्धि और जनमानस मे नवीन उल्लास और अभिनव चेतना उत्पन्न किया करते थे । आचार्यवर चाणक्य, आचार्यवर पतंजलि आदि ऐसे ही महामानव थे जिन्होंने अपने समय मे जो उद्योग किया उससे समस्त आर्यावर्त प्रभावित हुआ था ।

गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा, योग्यता से प्रभावित होकर उन्हे अपना मार्ग-दर्शक बनाया । उन्होंने अपनी उदार धर्म-नीति, कुशल राजनीति के द्वारा राजा से अधिकाधिक जनहित करवाया । 'प्रजा से लिये गये कर का पूरा लाभ' उसे ही मिले । राजा तो मात्र प्रबन्धक की हैसियत से उसका प्रबन्ध करता रहे । वह राज्य की बपौती नहीं समाज की एक व्यवस्था बना रहे । इस अभीष्ट की पूर्ति के लिए आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया ।

जयसिंह के पश्चात् गुर्जर-प्रदेश का अधिपति बना शैव कुमारपाल । प्रारम्भ मे वह प्रारम्भिक मान्यताओ मे विश्वास करता हुआ पशुबलि का समर्थन करता था । अपनी कुलदेवी के आगे वह प्रतिदिन कितने ही निरपराध पशुओं की बलि दे दिया करता था । आचार्य हेमचन्द्र के अहिंसा और करुणा के उपदेशों को सुनकर वह अत्यधिक प्रभावित हुआ और वे अपने गुरु बना लिये । यह भी एक चमत्कार ही कहा जायेगा । जो व्यक्ति धर्म के शाश्वत-सिद्धान्तों पर अटल विश्वासी होकर उन्हें अपने जीवन में उतार लेता है उसके लिए ऐसे चमत्कार दिखा सकना असम्भव नहीं होता ।

सम्राट कुमारपाल शैव थे और आचार्य हेमचन्द्र जैन । किन्तु उन्हें अपना शिष्य बना लेने पर भी आचार्यवर ने कभी उन्हें धर्मान्तरण के लिए नहीं कहा क्योंकि वे सब धर्मों के लक्ष्य को जानते थे । सब धर्म भिन्न-भिन्न मार्ग है, पर उनका लक्ष्य एक ही है । अतः कुमारपाल शैव ही रहे पर वे इस तथ्य को जान गये कि जो शिव है वे किसी का अनिष्ट कैसे कर सकते है तो शिव के उपासक पशु-बलि का समर्थन कैसे करेगे ।

आचार्य हेमचन्द्र का धर्म-ज्ञान ही नहीं व्यावहारिक ज्ञा भी अपूर्व था । जब सम्राट कुमारपाल ने कुलदेवी के मंदि मे पशु-बलि बन्द करवा दी तो पुजारियो ने भ्रम फैलाया कि कुलदेवी कुपित होकर राज्य पर संकट ला देगी । तब रा का धैर्य भी डगमगाने लगा । इस पर उन्होंने ऐसा समाधान प्रस्तुत किया कि एक रात्रि में ही उनकी शंका का समाधान भी हो गया, जनमत भी सन्तुष्ट हो गया और पुजारियों क स्वार्थ भी नग्न हो गया । आचार्य हेमचन्द्र ने सम्राट कुमारपाल को कहा—"देवी तो समर्थ है । उनके मन्दिर में बलि दिये जाने पशुओ को रात भर बन्द कर दिये जायें । यदि उन् बलि लेने की इच्छा होगी तो अपने आप लेंगी । पशु सवेरे मरे हुए मिलेंगे, यदि नहीं होगी तो जीवित ।"

वैसा ही किया गया । सवेरे जब मन्दिर के द्वार खोले गये तो पशु मजे से घास चरते हुए मिले । इस प्रकार राजा, प्रजा दोनो की शंका मिट गयी, भय दूर हो गया । वर्षों से चली आ रही परम्परा को उन्होंने जिस युक्ति से बन्द करवा दी थी वह उनकी सूझ-बूझ का ही सुपरिणाम था ।

इतना मान, सम्मान, प्रतिष्ठा और यश मिल जाने पर भी वे अहम् से सर्वथा दूर ही रहे । अपनी प्रतिभा और योग्यता को वे जनहित मे ही प्रयुक्त करते रहे । विनम्र तो वे इतने थे कि उनके उत्कर्ष से जलने वाले विरोधियो के अपशब्दो को सुनकर भी वे हँस दिया करते थे । एक बार एक व्यक्ति ने उन्हे 'हेमड सेवड:' कहकर अपमानित करना चाहा इस पर वे बोले—"भाई व्याकरण की दृष्टि से 'हेमड सेवड:' अशुद्ध है, 'सेवड हेमड: शुद्ध है ।' 'सेवड' विशेषण है । अतः उसका प्रयोग पहले होना चाहिए न ।" यह थी उनकी विनम्रता और सरलता ।

आचार्य हेमचन्द्र साहित्य के तो आचार्य थे ही । उन्होंने बड़े परिश्रम से संस्कृत के चार कोष रचे, कई व्याकरण-ग्रन्थों की रचना की । व्याकरण मे दण्डी, कोष रचना-स्थापना में धनंजय और साहित्य-सृजन मे उन्हे वागभट्ट के समकक्ष ही सम्मान मिला है । पण्डितो की भाषा-संस्कृत के ही नहीं लोक-भाषा के विकास मे भी उनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता । कई विद्वान उन्हे हिन्दी का जनक भी मानते है ।

जैन-धर्म-साहित्य का तो उन्हे व्यास माना जाता है । उन्होंने जैन-धर्म के सम्पूर्ण-इतिहास को क्रमबद्धता प्रदान की, परम्परा सुझायी और वह भी काव्यात्मक शैली मे । वैदिक-साहित्य मे महाभारतकार को जो स्थान मिला है वही जैन-साहित्य मे आचार्य हेमचन्द्र को दिया जाता है । उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का निखार उनके ग्रन्थ-रत्नो मे देखने को मिलता है । उन्होंने साहित्य की सच्ची-सेवा की थी ।

कार्तिक-पूर्णिमा के दिन उत्पन्न हुए आचार्यश्री का समूचा जीवन पूर्णिमा के चन्द्र की समग्र कलाओ की तरह प्रभायुक्त था । साहित्य, संस्कृति, धर्म, राजनीति, लोकनीति, कला आदि

सब विषयो के ज्ञाता होते हुए भी उनका उपयोग उन्होने अपने लिए नहीं किया । लोक-सेवा, लोकहित और लोक-मंगल के लिये ही अपनी प्रतिमा, योग्यता और विभूतियो का एक-एक कण लुटाकर वे अमर-कीर्ति को पा गये, स्वार्थ दृष्टि रखने वाला व्यक्ति जिसकी छाया भी नहीं छू सकता है । प्रतिभाएँ देने में तो कृपणता आज भी ईश्वर नहीं बरत रहा है, कृपणता और स्वार्थपरता तो मनुष्य ही बरत रहा है । आचार्य हेमचन्द्र के जीवन से उन प्रतिभाओं के सदुपयोग की सीख ले तो उनका भी जीवन धन्य हो जाय ।

अनूठे प्राकृत वास्तुशिल्पी—ओमस्तेद

प्राय: सामान्य व्यक्ति केवल वर्तमान मे जीता है। अपनी क्षुद्र-दृष्टि के कारण वह अपने दायित्व को भी बहुत कम समझता है किन्तु जो व्यक्ति भावी की, कुछ दूर की सोचते हैं, उन्हे अपने लिये वर्तमान में कुछ ऐसे कार्य दिखाई देते है जिनके परिणाम दूरगामी होते है । ऐसे ही व्यक्तियों मे से एक थे ओमस्तेद, जिन्हें भावी की चिंता थी ।

ओमस्तेद १८२२ मे हार्टफर्ड के निकट के एक समृद्ध परिवार मे जन्मे थे । बचपन में ही उन्हे अपने पिता के साथ गाँवो में घूमने जाने का अवसर प्राप्त हुआ । प्रकृति के इस नैसर्गिक-सौन्दर्य ने कल्पनाशील ओमस्तेद के बाल-मन को कुछ ऐसा मोहा कि वे उसी मे रम जाने को आतुर हो उठे । और जब नियमित पढ़ाई-लिखाई की बात शुरू हुई तो उसके लिये तैयार नहीं हुए ।

बच्चो के पालन-पोषण और विकास के समय अभिभावक प्राय: अपनी स्वेच्छाओ को बालक पर थोपना चाहते हैं । वे उनको ही अपना एक लघु-संस्करण मानने की भूल कर बैठते हैं । जबकि ऐसा नहीं होता । बालक बीज रूप मे पूरा वृक्ष होता है । अभिभावक का कर्तव्य तो उसकी सुप्त प्रतिभाओ को विकसित करना भर होता है । उसके सहज विकास पर बंधन लगाकर अपनी कल्पना के अनुरूप बनाने मे वे उसकी उन ईश्वरदत्त क्षमताओं का ही गला घोट देते हैं । ओमस्तेद भी अपने आप मे पूरे व्यक्ति थे । विकास भर होना शेष था । उनके माता-पिता ने उन्हे समझा और उनके विकास में सहायता दी ।

वे प्रकृति के अनूठे सौन्दर्यपाश में बँधे किशोरवय मे ही एक जहाज में 'केबिन-ब्वाय' की नौकरी करते हुए अमेरिका व इंग्लैण्ड की यात्राएँ करते रहे । प्रकृति की गोद मे अबाध-विचरण करने के बाद वह सिविल इन्जीनियरिंग की पढ़ाई मे जुटे और उसे पूरा किया ।

उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था । सिविल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा करने के बाद उन्होंने कृषि कार्य किया । फिर वे लेखक बने । लेखक के रूप में उन्हें प्रसिद्धि भी मिली । उन्होंने प्रकृति के सम्बन्ध मे पाँच पुस्तकें लिखीं जो काफी लोकप्रिय हुईं । इस दौरान वे उद्यानों व नगरों के निर्माण के सम्बन्ध मे भी शोध करते रहे । अब तक इस विषय पर किसी ने कुछ भी काम नहीं किया था । वे पहले सिद्धान्तकार, परीक्षणकार थे जिन्होंने भूदृश्य वास्तुकला पर कार्य किया था ।

१८५० के दिनो मे जब महानगरों के निर्माण की सरगर्मियाँ चल रही थीं, उन्होंने उस भयंकर स्थिति की कल्पना करली थी जो गगनचुम्बी इमारतो और महानगरों मे कैद होकर रह जाने वाले मानव की आत्मा को भोगनी होगी और वह पुन: प्रकृति से अपना संबन्ध जोड़ने के लिये बिलख उठेगा ।

वे देख रहे थे नगरो के बाहर दलदल से पटी इस बेकार पड़ी विकृत-सी धरती को और उस निकट पड़े कूड़े-कर्कट तथा व्यर्थ सामानो के ढेर को जो आधुनिक सभ्यता की देन थी । दिन-रात कमाओ और खाओ पीओ, मौज करो की नीति के कारण भौतिक प्रगति मे अमेरिका सब देशो मे आगे बढ़ जायगा, किन्तु इस दूसरे सिक्के का पक्ष इस उजलेपन जैसा ही काला था । फालतू को फेकने की समस्या और आसमान को छूने वाली गगनचुम्बी अट्टालिकाओ के साथ ही प्रकृति की निकटता खोते हुए माँ की गोद से भटके हुए शिशु से अतृप्त अशांत मानव की अनेकानेक समस्याएँ भी उसके साथ उठ खड़ी होंगी ? उनका क्या हल उन्होंने प्रस्तुत किया ।

वे अनूठे वास्तुशिल्पी थे । उनका केनवास वह खुली धरा थी—और धरा प्राय: वह दलदली क्षेत्र अथवा नगरो के आस-पास के वे कूड़े-करकट के ढेर, जिन्हें बेकार समझ कर छोड़ दिया था । इसी विकृत को उन्होंने सौन्दर्य व लालित्य प्रदान किया । महानगरों के मध्य उन्होंने सजे-सँवरे ग्रामीण सौन्दर्य की सृष्टि करके अपनी कला-प्रतिभा को उजागर कर दिया'।

३५ वर्ष की आयु में उन्होंने व्यवसाय व परामर्श दोनो समन्वित कर्म का आरम्भ किया । १८५० मे उन्होंने न्यूयार्क नगर के लिये उद्यान स्थापित करने को एक योजना प्रस्तुत की । नगरपालिका न्यूयार्क के चेयरमेन तथा सदस्य उनकी इस योजना और उनके दूरगामी चिंतन से अत्यधिक प्रभावित हुए । उन्होंने उस योजना को कार्यान्वित किया जो बहुत सफल रही ।

इसे ओमस्तेद का सौभाग्य कहे या और कुछ कि उनको किसी भी क्षेत्र में असफलता का मुँह नहीं देखना पड़ा । खेती, लेखन व वास्तु-कला तीनों मे ही वे सफल हुए । उसका कारण यही था कि सफलता-असफलता विषयक चिंतन कर लेने के पश्चात् ही पूरी तैयारी करके किसी काम को हाथ मे लेते थे ।

न्यूयार्क नगरोद्यान की सफलता के पश्चात् तो उनके पास कामो की कमी नहीं रही । स्वभाव से ही प्रकृति-प्रेमी मनुष्य उनकी इस नयी वास्तुकला से अत्यधिक प्रभावित हुआ था । वह जहाँ रहे वहाँ ईंट, पत्थर व चूने के शुष्क-नीरस मकान ही नहीं वरन् लहलहाती हरीतिमा भी हो और वह पत्थरों में सजीवता की छटा बिखेरे यह उनके मन की अतृप्त

कामना लगी, जिसे ओमस्तेद ने वाणी दी थी । फिर तो निर्माण का एक दौर ही चल पड़ा । उन्होंने सत्रह से भी अधिक नगरोद्यान, वृक्षों से सुसज्जित कई चौड़े जनपथ, कॉलेजो, भवनो और संस्थानो के सुन्दर प्लान बनाए—उन्हें कार्यान्वित किया ।

ओमस्तेद ने अपने बारे मे लिखा—"मैं पहले यह कल्पना भी नही करता था कि मैं एक भूदृश्य वास्तुशिल्पी बनूँगा । किन्तु यह मेरी आंतरिक क्षुधा थी जिसे मैं पहले समझ नहीं सका था ।" ऐसी आंतरिक क्षुधाएँ प्रत्येक मानव के अन्तःकरण मे सोयी रहती है । उनके संकेत सबको मिला करते है किन्तु बिरले ही ऐसे होते है जो उन संकेतो पर अमल करते हैं । वरन् अधिकांश तो बाह्य-जगत को ही सब कुछ समझ कर उसी मे रमे रह जाते है ।

सन् १९६२ मे सारे अमेरिका मे उस महान् भूदृश्य वास्तुकार की १५०वी वर्षगाँठ मनायी गयी जिसे अमेरिका का सर्वप्रथम और सर्वोत्तम भूदृश्य-वास्तुकार माना जाता है । फ्रेडरिक ला ओमस्तेद यही नाम है उस विख्यात वास्तुकार का जिन्होने आज से सौ वर्ष पूर्व भी आज की विभीषिकाओं को समझ लिया था, जो बढ़ते हुए यंत्रीकरण, औद्योगीकरण, उद्योगों और बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण मनुष्य के सामने उपस्थित होने वाली थी । उसका निराकरण भी उन्होने अपने जीवन मे किया था । उनकी महत्ता को समझकर ही १९७२ मे अमेरिका भर मे उनकी १५०वीं तिथि मनाई गयी । न्यूयार्क, वाशिंगटन, शिकागो आदि महानगरों में उनकी भूदृश्य वास्तुकला सम्बन्धी प्रदर्शनियाँ लगायी गयीं ।

४० वर्ष तक अपनी कला-जीवन-साधना करके शुष्क महानगरो मे रस संचार करने वाले क्रियाकलापो मे लगे रहकर सन् १९०३ मे ७९ वर्ष की आयु में वे चिर निद्रा मे सो गये । उनके जीवनपुष्प की सौरभ आज भी इस संसार मे फैली है जो विकृत को सुन्दर और अरस को सरस बनाने की प्रेरणा देती रहती है ।

मानवता जिनकी ऋणी है— कोहार पहरियाद

मनुष्य को ईश्वर ने अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक समर्थ शरीर यन्त्र, बुद्धि और भावनाएँ प्रदान की है । उन्हीं के बल पर आज वह ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य, धर्म, अध्यात्म, संस्कृति और तकनीकी ज्ञान में आकाश की सी ऊँचाइयों को छूता, प्राकृतिक दूरियों को मेटता चला जा रहा है जबकि अन्य प्राणी वहीं के वहीं है । मनुष्य की इस प्रगति के पीछे न तो एक व्यक्ति का श्रम, साधना, बुद्धि या चिन्तन लगा है और न यह प्रगति एक दिन, एक वर्ष, एक शताब्दी या एक युग की कालावधि में बाँधी जा सकती है । अन्य प्राणियों की तरह असहाय और अरक्षित नग्न तन आतप शीत सहते, गिरि कन्दराओं की शरण में रहने और प्रकृति के एक जरा से भ्रू संकोच पर काँप-काँप उठने वाला आदिम मानव आज ग्रहों-नक्षत्रो पर अपने चरण जमाने के सपने लेने की स्थिति में अनगिनत साधनों-अनुदानों की सम्पदाओं के बल पर मनुष्य-जाति की युगों-युगों की उपलब्धियों के बल पर पहुँचा है । ज्ञात-अज्ञात कितने ही महिमामण्डित मानव-रत्नों ने इसके ऐश्वर्य की श्री वृद्धि की है । आज के सन्दर्भ में उनका मानव जाति को दिया गया अनुदान छोटा भले ही लगे पर अपने काल के सन्दर्भ में वह बहुत बड़ी बात थी ।

ऐसे ही एक महामानव की २४०० वीं जयन्ती विगत वर्षों मे मनायी गयी है, जिन्होंने भाषा विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया था । ये व्यक्ति हैं कोहार पहरियाद । इन्होंने जिस अनुदान से मानव सन्तति को लाभान्वित किया है वे है विराम चिह्न जिनके बिना भाषा तब तक अधूरी थी । आज तो इनका प्रयोग सभी भाषाओ मे सहजता से हो जाता है । किन्तु जब कोहार पहरियाद जन्मे तब जैसा बोला जाता था वैसा लिखा नहीं जा सकता था । लिपि की पटरियों पर भाषा की रेलगाड़ियाँ इन बिना किन्हीं स्टेशनो के एक ही गति से दौड़ती रहती थीं । कल्पना कीजिये आप जो कुछ लिखें उसमें से पूर्ण विराम और अल्पविराम हटा दिये जायें तो आप जो कुछ लिख रहे है वैसा का वैसा कोई पाठक कैसे पढ़ सकेगा ।

कोहार पहरियाद के द्वारा किये गये विराम चिन्हों के आविष्कार के पूर्व कहीं कॉमा और फुलस्टाप का प्रयोग होता ही नहीं था और न कहीं पैराग्राफ ही रखे जाते थे । कितना दुष्कर होता था ऐसे लेखन का पाठन और अनुसन्धान ।

कोहार पहरियाद को जन्म देने का सौभाग्य उसी धरती को मिला जिसने सिकन्दर और अरस्तू जैसे महान् व्यक्तियों को उपजाया था । दक्षिणी यूनान के मकदूनियां राज्य मे ५२७ ई. पू. उनका जन्म एक सामन्त परिवार मे हुआ था । यूनान उन दिनों सभ्यता-संस्कृति का एक केन्द्र था । अभिजात कुलोत्पन्न प्रतिभा-पुत्र कोहार पहरियाद को विद्याध्ययन के वे सभी सुअवसर सुलभ हुए जो उस काल में एक सामन्त परिवार के व्यक्ति को हो सकते थे । कोहार पहरियाद की प्रतिभा-श्रम और लगन से संयुक्त होकर स्वर्ण में सुगन्ध उपजाने का-सा विधान रच चुकी थी । यौवनोन्मेश के साथ ही उनकी बुद्धिमत्ता की यश-सुरभि भी मकदूनियां में फैलने लगी । थोड़े ही दिनो मे उनकी गणना यूनान के धुरन्धर बुद्धिजीवियो में की जाने लगी । कला और साहित्य के क्षेत्र मे जहाँ इनकी कविता और नाटक साहित्यानुरागियों और साहित्य सेवियो का रसरञ्जन करते थे वहीं खगोल और भौतिकी विषयों में भी शास्त्रीय ग्रन्थ रचकर उन्होंने लोकप्रियता अर्जित कर ली थी । दुर्भाग्य से उनके द्वारा रचित-ग्रन्थों को सुरक्षित रखने वाले नहीं मिले, नहीं तो बहुत सम्भव था उनके अन्य अनुदानों के विषय में भी बहुत कुछ ज्ञात हो सकता था ।

१९७३ में डॉ. पूर्णेन्द्र 'विराम' द्वारा हिन्दी में रचित इस नवीनतम शोध निबन्ध के माध्यम से उनके बारे में कुछ

कुछ जानकारी मिली है । मानवता को ऐसा विशिष्ट अनुदान देने वाले महामानवों के जीवन के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जाने वाली जानकारियों का अपना एक महत्व है । आज कोई लेखक एक छोटा सा लेख या बड़ा सा ग्रन्थ लिखकर यह समझ बैठे कि यह सब मेरा रचा हुआ है तो यह उसकी भूल होगी, जाने कितने ही पूर्वजों के अनुदानों से सहारे उसका यह कृतित्व उजागर हो सका है । एक ओर तो ऐसे जीवन-वृत्त हमारे मिथ्या अहं को झाड़ते हैं दूसरी ओर यह प्रेरणा भी देते हैं कि हम उनके इस ऋण को स्वयं भी कुछ मौलिक अनुदान देकर चुकाएँ ।

वाचन और लेखन के दौरान कोह्मार पहरियाद ने इस अभाव को अनुभव किया कि वाक्य के पूर्ण होने पर पूर्ण विराम और बीच में उपयुक्त स्थान पर अल्प विराम होने से अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान की जा सकती है । अब तक इनके अभाव में लिखे हुए को ठीक से पढ़ना और समझना सम्भव नहीं था । तब उन्होंने बहुत चिन्तन, अनुसन्धान के पश्चात् पूर्ण विराम और अल्प-विराम के चिन्ह निर्धारित किये । अल्प-विराम के लिये कौमा और पूर्ण-विराम के लिये बिन्दु उन्हें उपयुक्त लगे ।

कोह्मार पहरियाद के ग्रन्थों में पहली बार इन विराम चिह्नों का प्रयोग हुआ । इसके पूर्व तो भाषा नदी के बहाव की तरह अखण्डाकार होकर बहती थी । उनकी यह खोज बहुत छोटी होते हुए भी बड़ी महत्वपूर्ण है । आज भी ये चिह्न प्रचलित हैं और जब तक यह मानव-सभ्यता जीवित रहेगी तब तक मनुष्य उनके इस अनुदान से लाभ उठाते रहेंगे । अपने इस मौलिक अनुदान के लिये वे तब तक अमर बने रहेंगे ।

उन दिनों आज की तरह सम्वाद, संचार व प्रचार के ऐसे साधन नहीं थे और न सामान्य मानव इतना जिज्ञासु ही था कि किसी नई खोज का लाभ उठा लेता । आज तो समाचार-पत्र, रेडियो व टेलीविजन घर-घर, गाँव-गाँव जाकर हर नयी खोज का ढिंढोरा पीट देते थे । उनके ये विराम-चिन्ह उनके अपने और परिचय क्षेत्र के थोड़े से विद्वानों के ग्रन्थों में ही प्रयुक्त हो सके थे । तब कोह्मार पहरियाद को इनके प्रचार के विषय में भी सोचना पड़ा । आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता विचार क्रान्ति के पुण्य कार्य में अपना स्वल्प योगदान देने के लिये भी कई सज्जनों को समय की कमी अनुभव होती है पर हमे यह जानकर आश्चर्य ही होता है कि कोह्मार पहरियाद ने अपने जीवन के बीस अनमोल वर्ष विराम चिन्हो के प्रचार के काम मे खपा दिये ।

उस समय का सबसे तेज वाहन घोड़ा ही था । वही उस समय की रेलगाड़ी थी, वायुयान था । उस युग में भी उन्होंने सम्पूर्ण यूनान, मिस्र, सीरिया व ईरान की यात्रा करके विराम चिन्हों का प्रचार किया । मार्ग मे अनेक कठिनाइयाँ सहीं, कष्ट झेले, वर्षा, शीत और विषम जलवायु के कोप भोगे पर उनकी प्रचार-साधना अनवरत चलती रही । कितना महान था उनका यह समयदान और श्रमदान ।

उन दिनों सुदूर पूर्व भारत देश में कोई मानव सभ्यता अपने चरमोत्कर्ष पर है, यह कोह्मार पहरियाद ने सुन रखा था । वे स्वयं भारत-दर्शन को आतुर थे । वे भारत तक आना भी चाहते थे किन्तु मार्ग में ही उन्हें अपनी पत्नी के प्रति दायित्व भाव जागने से उन्हें बीच राह में से ही लौट जाना पड़ा । यदि उनका भारत आना सम्भव हुआ होता और उन्हें महर्षि पाणिनी प्रभृति जैसे विद्वानों के भाषा सम्बन्धी कार्यों का परिचय पाया होता जो पश्चिम की भाषाओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ता । यह अब मात्र अनुमान लगाने की वस्तु भर रह जाती है ।

आरम्भ में मकदूनियां और उसके बाद सम्पूर्ण यूनान में विराम चिन्हों के प्रचार का कार्य सम्पादित करने के पश्चात् उन्होंने अन्य देशों की ओर रुख किया । एशिया माइनर के कुछ प्रगतिशील विद्वानों ने उनकी बात मानकर महाकवि होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' के ऐसे संस्करण निकाले जिनमें विराम-चिन्हों का प्रयोग किया था । यह उनके प्रचार का ही फल था । पूर्ण-विराम और अर्ध-विराम के प्रयोग का चमत्कारी प्रभाव यह हुआ कि ये संस्करण हाथों-हाथ बिक गये । स्पष्ट था कि इनके प्रयोग से पाठकों को रचनाकार की कल्पनाओं और विचारों को समझने में सुविधा उत्पन्न हो गयी थी ।

एशिया माइनर के बाद लेबनान और फिर अन्य देशों में जा-जाकर उन्होंने वहाँ के विद्वानों से भेंट की और उन्हें इन चिन्हों के प्रयोग के लाभ बताये । वे उनकी इस तथ्य पूर्ण बात से सहमत होकर उनका प्रयोग करने लगे । नयी पुस्तकें निकलीं उनमें विराम-चिन्हों का प्रयोग किया गया ।

बाद में कोह्मार पहरियाद ने बिन्दु से अल्प विराम और कौमा चिन्ह से पूर्ण विराम का काम लेना सुविधाजनक समझा पर जब उनके मनमें यह विचार आया तब तक तो ये चिन्ह इतने प्रचलित हो चुके थे कि उनमें परिवर्तन सम्भव नहीं था । वैसे यदि ऐसा हो सका होता तो और भी सुविधा रहती क्यों कि विराम के लिये 'कौमा' (,) चिन्ह अधिक उपयुक्त रहता ।

पहरियाद के द्वारा आविष्कृत विराम चिन्ह को उन्हीं के नाम से पुकारा जाने लगा । अँग्रेजी का पीरियड और उसका अशास्त्रीय नाम 'फुल स्टाप' उसी यूनानी पहरियाद का अँग्रेजी रूपान्तरण है । चीन में यह पी-येन, मलय में पी-यीद और अफ्रीकान्स में पी-लोड पुकारे जाने वाले ये शब्द पूर्ण विराम के समानार्थक शब्द उनके नाम के ही अपभ्रंश हैं ऐसा भाषाविदों का मत है । 'कौमा' की व्युत्पत्ति कोह्मार के पूर्वार्द्ध से हुई है । यह भी उन्हीं के नाम से लिया गया है ।

कोह्मार पहरियाद का पुत्र अपोस्ट्रापी पहरियाद भी अपने पिता की तरह ही भाषाविद् हुआ । मौलिक आविष्कार उसने भले ही नहीं किये हों पर अपने पिता के बचे हुए काम को उसने पूरा किया । 'कौमा' को उसने भिन्न-भिन्न स्थानों पर

प्रयोग करके लिपि के क्षेत्र मे और भी काम किया । अँग्रेजी मे जो 'अपोस्ट्राफी एस' लगाया जाता है यह उसी की याद दिलाता है ।

कोहार पहरियाद की मृत्यु ४७४ ईस्वी पूर्व हुई । मानवता को विशेष अनुदान दाता महामानव के रूप में वे तब तक अमर रहेगे जब तक ये विराम-चिन्ह प्रयुक्त होते रहेगे । ये हमें याद दिलाते है कि हम भी अपने पूर्व पुरुषों के अनुदानों से लाभ उठा रहे है तो पीछे वालों के लिये उनकी तरह कुछ अनुदान छोड़ जाएँ ।

अनाचार से निर्भीक विद्रोह करने वाले टामस पेन

सन् १७५३ की बात है । इंग्लैण्ड के एक बन्दरगाह से टेरियल नामक जहाज रवाना हुआ । उस समय बड़े-बड़े अँग्रेज व्यापारी देश-विदेशो मे जाया करते थे । इसी जहाज पर सबकी आँख बचाकर पेन नामक सोलह वर्षीय किशोर भी चढ़ गया । घर और परिवार वालो से नहीं पटने के कारण वह भाग निकला था । न पास मे पैसा और न तन पर कपड़े । जहाज मे रहने वाले लोग उसे टेरियल शिप का ही कोई नौकर, सफाई करने वाला समझ लेते थे और जहाज का स्टाफ यात्रियों के साथ आया हुआ कोई नौकर । जहाज का स्टाफ और यात्री परस्पर एक दूसरे का आदमी समझते, इस कारण उसे किसी ने छेड़ा भी नही ।

जहाज रास्ते मे कई स्थानो पर रुका, यात्री चढ़े और उतरे लेकिन पेन नही उतरा । समुद्र की यात्रा करने की इच्छा अभी बाकी थी । एक साल में जहाज विभिन्न देशो में होता हुआ इंग्लैण्ड वापस आया ।

माता-पिता भी तब तक पेन को भूल चुके थे । यो वे भी पेन के उच्छृंखल स्वभाव से त्रस्त थे परन्तु वात्सल्य तो वात्सल्य होता है । अपने बच्चे को घर से भाग निकलने पर कौन माता पिता चैन की नींद सो सकते हैं । जब काफी समय हो गया तो बेचारे रो पीटकर चुप बैठ गये । पेन जब इंग्लैण्ड की धरती पर उतरा तो घर वापस नहीं गया । एक शहर मे टेलर की दुकान पर काम मिल गया । वहाँ रहकर वह चोलियाँ सीने लगा । मालिक पारिश्रमिक के रूप में जो भी कुछ देता खा-पीकर मस्त रहता ।

पेन का किशोर मन अपने भविष्य की चिन्ता करने लगा । वापस घर लौट चलने की इच्छा नहीं होती थी । और भविष्य का कोई सुनिश्चित आधार दिखाई नहीं पड़ता था । पेन अब कुछ बनने की सोच रहा था । वर्तमान चाहे जैसा हो, भविष्य में ऊँचा उठने की लालसा तो सभी की होती है । उसके लिए प्रयत्न किये जाएँ तो सफल अवश्य हुआ जा सकता है ।

पेन ने समझा कि आगे बढ़ने के लिए ज्ञान और शिक्षा की आवश्यकता है । उसने पहले इस योग्यता को अर्जित करने की ठानी और अपने प्रिय विषय चुनकर खगोल शा और गणित का अध्ययन करने लगा । वह एकाकी औ निराश्रित था, अपने लिए जो कुछ भी चाहिए उसके लिए स्वयं ही उद्योग करना पड़ता था, फलस्वरूप उसमें कई गुण आत्म-विश्वास पैदा हो गया । आत्म-विश्वास ही तो वह शक्ति है जिसके बल पर दीन-हीन स्थिति में रहने वाले अकिन्चन व्यक्ति भी क्या से क्या बन जाते हैं ।

पेन ने अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लिया और उसकी प्राप्ति के लिए आत्म-विश्वास पूर्वक श्रम संलग्न हो गया था । इस कारण उसका विकास भी बड़ी तीव्रता के साथ होने लगा । कुछ ही दिनो बाद उसने टेलर की नौकरी छोड़ दी और आबकारी-विभाग में नौकरी करली । यहाँ पर उसका सम्पर्क अच्छे, सभ्य, सम्पन्न और प्रतिष्ठित लोगों से हुआ । वह शाम के समय क्लब जाने लगा और वहाँ आकर बैठने वाले बुद्धि-जीविदों से उसकी विभिन्न विषयो पर गम्भीर चर्चा होती थी । स्वभाव से तो वह निर्भीक और उन्मुक्त प्रकृति का था ही, इस कारण बुद्धि-जीवियो का ध्यान भी उसकी ओर शीघ्र आकृष्ट हुआ क्योंकि हर विषय में उसके विचार विद्रोह की भावना से भरे होते थे । बुद्धिजीवियों के सम्पर्क और गहन अध्ययन ने उसकी प्रतिभा को विकसित किया और लोग उससे प्रभावित होने लगे ।

इंग्लैण्ड के आबकारी कर्मचारियो पर उसका बड़ा प्रभाव हो गया । जिस श्रेणी के नौकरों मे वह काम करता था उन कर्मचारियो को बहुत कम वेतन मिलता था । जिसके कारण उन्हें कभी सुख चैन की जिन्दगी नसीब नहीं हुई । उन लोगों का दुःख-दर्द सरकार के कानों तक पहुँचाने के लिए पेन पार्लियामेण्ट मे मजदूरो का प्रतिनिधि बनकर जाने लगा । उसकी ओजस्वी वाणी और कुशाग्र तार्किकता ने सरकार को वस्तुस्थिति से अवगत कराया । तब मजदूरों की स्थिति का निरीक्षण किया गया और पता चला कि यह सब गड़बड़ी अधिकारियो के कारण उत्पन्न हुई है । उन अधिकारियों की खबर ली गयी परन्तु मामला जल्दी ही खत्म हो गया । सरकार ने विरोध पक्ष को दबाने के लिये ही थोड़ी-सी सक्रियता बर्ती थी । अधिकारियो का तो कुछ नहीं बिगड़ा लेकिन टामस पेन को नौकरी से हाथ धोना पड़ा ।

वह बेरोजगार हो गया । उसी स्थिति में जैसा कि नौकरी से पूर्व था वह लन्दन आया । यहाँ पेन की मुला बैंजामिन फ्रैंकलिन से हुई । कर्मचारी आन्दोलन के सिलसि मे पेन एक बार पहले भी फ्रैंकलिन से मिल चुका था । फ्रैंकलिन पेन के अच्छे मित्र साबित हुए और उन्होंने अमेरि जाकर एक नये जीवन की शुरूआत करने की राय दी । अपने दामाद के नाम पेन की सहायता करने के लिए उन्होंने एक पत्र भी लिख कर दिया ।

पेन अमेरिका पहुँचा । वहाँ पर काम की व्यवस्था हो गयी और उसने अपने अनुभव, दृष्टिकोण और समाज तथा देश की राजनीतिक समस्याओं पर अपने विचारों को लिपि

बद्ध करना आरम्भ कर दिया। पेन के जीवन में यह बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण मोड़ था। पेन ने अपने अन्तरंग की गहराइयों में पैठ कर लिखना आरम्भ किया, फलस्वरूप उसका साहित्य शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया। इसके आगे की कहानी भटकने वाले उच्छृंखल पेन की नहीं, आत्मानुशासित किन्तु अनाचार और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने वाले महान् साहित्यकार टामस पेन की कहानी है।

कुछ ही वर्षों मे टामस पेन की चार पुस्तकें बाजार में आ गयीं। जिनके लाख-लाख प्रतियों के संस्करण देखते ही देखते हाथों-हाथ बिक गये। पहली किताब 'कामनसेन्स' में उन्होंने स्वतन्त्र अमरीकनराज की घोषणा की थी। जनता ने इस पुस्तक को बेहद पसन्द किया। उनका साहित्य लोकप्रियता के सभी रिकार्ड तोड़ चुका था। टामसपेन अपने समय के सबसे ज्यादा पढ़े जाने वाले लेखक थे फिर भी निर्धनता ने उनका साथ नहीं छोड़ा। यदि वे पहले की भाँति ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे होते तो यही कहा जा सकता था कि शायद उन्होंने सारा पैसा शौक-मौज के कामों में खर्च कर दिया होगा परन्तु नहीं, टामसपेन ने अपनी आय का अधिकांश भाग गिरे हुए और अभावग्रस्त लोगों की सहायता में खर्च किया।

उच्चवर्गीय समाज के अत्याचार सह चुके होने के कारण टामसपेन इस वर्ग से खूब अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि अँग्रेज अमरीकी उपनिवेशों के साथ कभी समानता का व्यवहार नहीं करेंगे। इस अँग्रेजी उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंकने का साहस और मनोबल पैदा करने के लिए टामसपेन ने अपनी सशक्त लेखनी और ओजस्वी शैली से लिखकर जनमानस को संस्करित कर दिया।

तभी उनकी मुलाकात जार्ज वाशिंगटन से हुई। वाशिंगटन उनके व्यक्तित्व और विचारो से बड़े प्रभावित हुए। टामस पेन भी क्रान्तिकारी सेना मे भर्ती हो गये। लड़ाई के मोर्चे पर स्वयं भी लड़ते हुए उन्होंने क्रान्तिकारियों का मनोबल बनाये रखने मे अपूर्व योगदान दिया। अमरीकी फौजों के हृदय मे आग और बाहुओं में फौलाद भर देने के लिए उन्होंने 'क्रिसिस' नामक पुस्तक लिखी थी।

वे जल रहे थे। आत्माहुति से अपना दीप्तिमन्त दिव्य यज्ञ शिखा की भाँति और वह आग संस्पर्श में आने वाले हर व्यक्ति में एक ऐसी ही आग पैदा कर उठती और अमरीकी जनता के नस-नस मे बहने वाला खून खौल उठा। वाशिंगटन का साधारण से साधारण सिपाही तेज प्रदीप्त होकर त्याग और बलिदान की भाषा बोलने लगा।

सन् १७८७ मे टामस पेन फ्रान्स आ गये। वहाँ की राज्य क्रान्ति और मानवीय अधिकारो के समर्थन मे उन्होंने बहुत कुछ लिखा। उस समय फ्रान्स के कई साहित्यकार इस जन-जाग्रति को अनुचित और ज्यादती भरा बता रहे थे। उन लोगो को करारा जवाब देने वाला कोई विद्रोही लेखक था तो टामस पेन। पेन ने ऐसे साहित्यकारों को जवाब देने के लिए 'मानव अधिकार' नामक 'राइट आफ मैन' एक पुस्तक लिखी और क्रान्ति की विरोधी शक्तियों का मुँह बन्द कर दिया। सन् १७८७ में फ्रांस में भारी राजनीतिक उथल-पुथल हुई। वहाँ की जनता ने पराधीन और निरंकुश शासन का जुआ उतार फेंका। टामस पेन उस समय वहीं थे।

अमेरिका और फ्रान्स की जनता को राजनीतिक-स्वतन्त्रता प्राप्त कराने में अमूल्य सहयोग देने के बाद टामसपेन का ध्यान मनुष्य के सामाजिक अधिकारों, धार्मिक स्वतंत्रता की, न्याय और समानता की ओर आकृष्ट हुआ। उस समय ईसाई धर्म के महन्त अन्य मतों और सम्प्रदायों को हीन और वर्जना की दृष्टि से देखते थे। ईसा के अनुयायियों की धर्म निष्ठा अन्ध भक्ति में परिणत हो गयी। उस समय जहाँ भी ईसाइयो का जार होता, वे अपनी मनमानी चलाते। लोगों को बलात् धर्म परिवर्तन करवाते और यदि कोई उनके खिलाफ थोड़ी भी आवाज उठाता तो उसे कुचल देते। खिलाफ आवाज उठाने वाले के ही नहीं उदार विचारों वाले व्यक्तियों के भी वे दुश्मन बन गये। फ्रान्स में उस समय राजा लुई का शासन था। वे उदार धार्मिक विचारो के व्यक्ति थे इसलिए धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर कोई भेद-भाव नहीं वर्ता जाता। इधर जेकोबियन ईसाई शक्तिशाली हो रहे थे। वे राजा लुई की हत्या का षड्यन्त्र रचने मे लगे हुए थे।

उसी समय टामसपेन ने 'एज ऑफ रीजन' 'तर्क का युग' ग्रन्थ लिखा जिसमें सनातन प्रकृत मानव-धर्म की प्रतिष्ठा की गयी थी और बाइबिल की तथाकथित अक्षुण्णता पर प्रहार किया गया था। यह पुस्तक बड़ी लोकप्रिय हुई। ईसाई, महन्त और मठाधीश तिलमिला उठे। उनकी दृष्टि मे इसका सबसे कारण उदार शासक राजा लुई था। हत्या का षड्यन्त्र और मुस्तैदी से रचा जाने लगा। परन्तु टामसपेन को इसकी खबर लग गयी और भरे दरबार में उन्होंने जेकोबाइनो के षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ कर दिया। राजदरबार में छद्मवेष धारण कर घुसे कई लोग बेनकाब हो गये।

इस विफलता से जेकोबाइन बौखला गये और उन्होंने टामसपेन को धोखे से पकड़वा लिया। पेन को शारीरिक यातनाएँ दी गयीं। यहाँ तक कि उन्हें प्राण दण्ड भी दिया जाने वाला था। परन्तु एक अकस्मात संयोग ने उनकी रक्षा कर ली।

'एज आफ रीजन' ग्रन्थ वह महान् दर्शन है, जो निखिल मानवीय मनीषा की मुक्ति का मन्त्रदाता है। यही कारण है कि आज डेढ़सौ वर्ष बाद भी उसका तेज फीका नहीं पड़ गया है। पेन एकाग्रनिष्ठा और अटल निश्चय का व्यक्ति था। किसी भी परिणाम की परवाह किये बिना हर पाप अपराध पर उसने निर्भीकता से आक्रमण किया था। अमरीका में पहुँचते ही उसने हब्शियों को दासता से मुक्त करने की आवाज उठाई। उसी ने सबसे पहले अमरीका की स्वतन्त्रता का प्रस्ताव किया। उसकी कृतियाँ साक्षी हैं कि मानव-कल्याण का कोई आयोजन ऐसा नहीं है जिसका समर्थन

और उद्घोषणा उसने न की हो। उसका ज्वलन्तजीवन इस बात का साक्षी है कि उसका सिंहासन पीड़ित मानवता के हृदय के शूलों पर बिछा हुआ था। वह विचार-प्रभु था और विचार की शक्ति किस प्रकार अन्य सारी शक्तियों और सत्ताओं को पराजित कर मानव हृदय पर अखण्ड आरूढ होती है, इसको अपने जीवन में ही सिद्ध करके वह यह अमर मन्त्रमानवता को दे गया कि—"जहाँ सिपाहियों की फौजें नाकामयाब होंगी वहाँ सिद्धान्तों की सेनाएँ शत्रु के चक्रव्यूह को भेदती चली जायेंगी। जहाँ राजनैतिक कूट-चक्र विफल होंगे, वहाँ विचार के सूत्र का काम करेगा। दुनिया की कोई सत्ता विचार की अगाध गतिशीलता को रोक नहीं सकती। "विचार समस्त भूमण्डल के क्षितिज की परिक्रमा करता हुआ अन्ततः विजयी होगा।"

इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस जैसे तीन-तीन देशों में जन-क्रान्ति के जन्मदाता टामसपेन का जन्म १७३७ में इंग्लैण्ड में एक साधारण से कपड़ा व्यापारी के घर मे हुआ था। उनका कहना था कि जो स्वतन्त्रता के आनन्द की फसल चाहते हैं, उन्हें उसे बोने और उसकी रक्षा करने के लिए अथक परिश्रम और अतुल बलिदान देना होगा। अन्धविश्वास और रूढ़िवाद पर आधारित शासन जनहित का सुसम्पादन नहीं कर सकता और न ठगवादीशासन अपनी रक्षा कर सकता है।

टामसपेन के इन विचारों का प्रभाव न केवल इंग्लैण्ड और अमेरिका में ही पड़ा बल्कि फ्रांस मे भी उनका स्वागत किया गया। उनकी पुस्तकों का अनुवाद फ्रेंच व स्पेनिश आदि भाषाओं में होकर पूरे यूरोप मे फैल गया, जिससे अनेक देशों मे स्वतन्त्रता की लहर फैलने लगी।

यही कारण था कि उन्हें पहले इंग्लैण्ड से निष्कासित होना पड़ा, फिर अमेरिका और फ्रांस से भी। अन्त में अमेरिका में सामान्यतम नागरिक के रूप में गहरी गरीबी तथा खेत रखाने की नौकरी करते हुए १८०९ में स्वर्गवासी हुए। किन्तु श्री टामसपेन को आत्म-सन्तोष था कि अपने प्रयत्नों से इंग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रांस की जनता को स्वतन्त्र करा कर अपने मानव-जीवन को सफल एवं सार्थक बना सके और विश्व को ऐसा सन्देश दे सके जो शीघ्र ही फलीभूत होकर विश्व-मानव को दासता से मुक्त कर देगा।

भारतीय ज्ञानोदधि के गोताखोर—
फ्रेडरिक ईडन पार्जिटर

भारत मे अंग्रेजी-राज्य-काल के दौरान कई अंग्रेज इंडियन सिविल सर्विस में नियुक्त होकर आये, उनमें सभी भारत और भारतवासियों के प्रति दुर्भावना रखते रहे हों सो बात नहीं है। उनमें से कई लोगों ने शासक जाति के होते हुए भी भारतीय-सभ्यता, संस्कृति और यहाँ की ज्ञान सम्पदा के महत्व को खुले मन-मस्तिष्क से स्वीकार किया; यहाँ की भाषाएँ सीखीं तथा यहाँ के धर्म-ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद करके उनकी महत्ता को उजागर किया था। उन्हीं में से एक थे फ्रेडरिक ईडन पार्जिटर।

उनकी तरह कई अंग्रेज उच्च-पदाधिकारी बनकर भारत आये किन्तु आज उन्हें कोई स्मरण नहीं करता। वे काल के गाल मे जाने कहाँ लुप्त हो गये, कोई उन्हें जानता तक नहीं। क्योंकि उन्होंने केवल भारत में ब्रिटिश राज्य के पाँव जमाए रखने और अपना घर भरने तक ही अपने को सीमित रखा था। किन्तु फ्रेडरिक-ईडन-पार्जिटर अपने संस्कृत प्रेम, प्राच्य-विद्या और शिला-लेखों के संशोधन का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने के कारण आज भी याद किये जाते हैं।

१८५२ में इंग्लैण्ड के एक अभिजात्य कुल में उत्पन्न होने वाले फ्रेडरिक ईडन पार्जिटर को उनके पिता ने वह सब शिक्षा-दीक्षा दिलाई जो एक अभिजात्य कुलोत्पन्न अंग्रेज किशोर को प्राप्त हो सकती थी। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात वे इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा में बैठे और अच्छे अंकों से सफल हो, एक उच्चपदाधिकारी बन कर भारत आ गये।

भारत आने के पूर्व भारत और यहाँ के निवासियों के सम्बन्ध मे उनके विचार कुछ अच्छे नहीं थे। उन्होंने सुन रखा था भारत जंगलियों का देश है जिनकी न कोई अच्छी भाषा है न कोई सभ्यता व संस्कृति ही है। इसी के आधार पर वे भ्रान्त धारणा बना चुके थे। किन्तु भारत आने पर जब उन्हें भारतवासियों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। संस्कृत-भाषा और उसमे लिखे हुए हमारे आर्ष-ग्रन्थों का उन्हें परिचय मिला तो वे अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्हें बिना सोचे-समझे भारत और भारतवासियों के प्रति भ्रान्त-धारणा बना लेने का बड़ा दुःख हुआ।

फ्रेडरिक ईडर पार्जिटर भारत आये तो ब्रिटिश-राज्य के उच्च-पदाधिकारी बन कर किन्तु यहाँ आकर वे संस्कृत भाषा और हिन्दू-धर्म-ग्रंथो के परम भक्त बन गये। उनका अपना इंडियन सिविल सर्विस का काम उतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया जितना कि इन ग्रंथो की महत्ता को संसार के सामने रखने का।

इस कार्य के लिये उन्हें अपने जीवन के कई मूल्यवान वर्ष इस कार्य के लिये खर्च ही नहीं करने पड़े वरन् अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओ को भी त्यागना पड़ा। सिविल सर्विस में रहते हुए उन्होंने असैनिक कार्य ही पसंद किये ताकि उन्हें संस्कृत-भाषा और उसमें लिखे ग्रन्थों के अध्ययन के लिये पर्याप्त समय मिल सके। इसी प्रकार उनको मिलने वाले उच्च-पद प्राप्ति के अवसरों को उन्होंने जान बूझ कर इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये टाला। उनके साथ आये हुए, और उनके साथ इंडियन सिविल सर्विस पास किये हुए उनके जातीय बंधु प्रगति करते हुए उनसे कहीं ऊँचे पदों पर जा पहुँचे पर वे जहाँ थे वहीं रहना चाहते थे। वे कैसे इस प्रकार का आचरण कर सके इसके पीछे कारण है। भारत आने और यहाँ की आध्यात्मिक ज्ञान सम्पदा से परिचित होने

के बाद वे इस तथ्य को जान गये थे कि एक व्यक्ति के जीवन में उच्च पदों का उतना महत्व नहीं है जितना उच्च कार्यों का ।

उन्होंने अपनी तरफ से अपनी पद वृद्धि के कोई प्रयास नहीं किये । यथासम्भव ऐसे अवसरों को टाला ही कि वे ब्रिटिश-राज-तंत्र के एक छोटे से अफसर बने रहकर भारतीय प्राच्य-विद्या को विश्व के सामने रख सकने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित कर जाऐं । किन्तु व्यक्ति की अपनी योग्यता भी तो ऐसा साधन है । स्वयंमेव जो उसे उच्चतर पदों पर प्रतिष्ठापित किये जाती है । यही फ्रेडरिक ईडर पार्जिटर के साथ भी हुआ । वे आये थे मजिस्ट्रेट बनकर फिर जिला न्यायाधीश बना दिये गये और अंत में कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश । किन्तु इस पदोन्नति का उनके संस्कृत अध्ययन और पुराणों पर शोध करने के कार्य में कोई व्यवधान नहीं आया ।

उन्हीं की तरह पहले सर-विलियम-जोन्स नामक एक अँग्रेज न्यायाधीश ने भी भारतीय बौद्धिक-सम्पदा को कोषबद्ध करने का उद्योग किया था । सर विलियम जोन्स को भारतवासियों की ज्ञानदान की कृपणता के कारण संस्कृत भाषा सीखने के लिये बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़ी थीं । फ्रेडरिक ईडर पार्जिटर के सामने भी वे ही कठिनाइयाँ आयीं । उन्हें भी संस्कृत भाषा सिखाने के लिये कोई ब्राह्मण तैयार नहीं हुआ । किन्तु जहाँ चाह होती है वहाँ राह अपने आप निकल आती है । इसी सूत्र के अनुसार वे संस्कृत के पण्डित बन गये । यह विचारणीय तथ्य है कि हम भारतीय आर्य साहित्य तथा धर्म ग्रन्थो को उतना महत्व नहीं देते जितना पाश्चात्य-साहित्य को । यही बात हमारी अपनी भारतीय-सभ्यता संस्कृति के प्रति रखे जाने वाले उपेक्षात्मक दृष्टिकोण पर भी लागू होती है ।

कानून में कुशल, न्याय मे दक्ष और सहानुभूतिपूर्वक न्याय देने के मामले मे ख्याति प्राप्त न्यायाधीश फ्रेडरिक ईडर पार्जिटर न्यायालय मे ही न्यायाधीश बने रहते थे शेष समय मे तो वे संस्कृत के विद्यार्थी—अध्येता ही थे ।

वे अपने जिस महत्वपूर्ण कार्य के लिये आज भी याद किये जाते हैं, वह है उनके द्वारा किया गया पुराणों का भाषान्तर । भारत आने के कुछ ही वर्षों बाद उन्होंने पुराणों में उस समय उपलब्ध पाठावृत्तियो में सबसे अच्छे मार्कण्डेय-पुराण का अँग्रेजी मे अनुवाद करने का काम अपने हाथ में लिया । इस अनुवाद के साथ उनकी जोड़ी हुई टिप्पणियाँ अत्यंत बोध-गम्य और मूल्यवान हैं । उनकी प्रस्तावना को संशोधन के क्षेत्र मे अद्वितीय माना जाता है । किसी अँग्रेज द्वारा निष्पक्ष और आग्रह मुक्त ढंग से किया जाने वाला यह अनुवाद भाषान्तर की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् भारतीय प्राच्य-विद्या के महत्व का प्रतिपादन करने की दृष्टि से भी अनमोल है ।

उनका मस्तिष्क किसी प्रकार के आग्रह से ग्रस्त नहीं था । सही बात को स्वीकार करने में उन्होंने कभी आनाकानी नहीं की । मार्कण्डेय पुराण के 'चण्डी' नामक भाग के सम्बन्ध में उनका अनुमान यह था कि यह बारहवीं सदी में लिखा गया है । किन्तु जब एक भारतीय पण्डित ने उन्हें बाण-भट्ट का सातवीं सदी में रचे 'चण्डी-शतक' की एक प्रामाणिक पोथी दिखायी तो उन्होंने अपने काल निर्णय में तुरन्त संशोधन कर लिया ।

अब पाश्चात्य विद्वानों का झुकाव बारहवीं शताब्दी में ही इसकी रचना मानने की ओर था क्योंकि वे अभी तक उस दुराग्रह से मुक्त नहीं हो सके थे जो उन्हें उनकी अपनी जाति से विरासत में मिला था । फ्रेडरिक ईडन पार्जिटर पहले मानव थे उन्होंने भाषान्तर के मामले में पूर्ण निष्पक्षता का परिचय दिया ।

पुराणों में दी गयी राज वंशावलियो की सचाई पर भी पाश्चात्य विद्ब्जनों ने संदेह प्रगट किया है । किन्तु पार्जिटर ने उस संदेह को निर्मूल सिद्ध कर दिया । अपने ग्रन्थ 'डाइनेस्टीज ऑफ द कलि एज' में उन्होंने पुराणों के संस्कृत-उद्धरण संकलित करके उनका रोमन लिप्यंतर भी दिया है । इसी प्रकार 'एशेंट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन' नामक स्वरचित ग्रन्थ में उन्होंने पुराणों के ऐतिहासिक विवरणों की सच्चाई को प्रतिपादित किया है ।

उनके पूर्व पुराणों की गणना पौराणिक और गल्प शैली में लिखे गये दूसरी तीसरी श्रेणी के ग्रन्थों में होती थी । इससे वे उपेक्षित होते रहे थे । उनके शोध प्रयत्नों ने पुराणों के गम्भीरतापूर्वक अध्ययन का पथ प्रशस्त किया । इसका कारण यह भी था कि वे सब प्रकार के आग्रहों से मुक्त होकर अनुवाद का कार्य करते थे । वे ऐसे विद्वानों के लेखन के आधार पर ही अपनी उपपत्ति स्थापित करते थे जिनका वैदिक संशोधनों में निर्विवाद अधिकार हो ।

भारत में रहते हुए वे एशियाटिक सोसायटी के सदस्य, कार्यवाहक और उपाध्यक्ष रहे । इंडियन सिविल सर्विस से सेवामुक्त होकर वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रहे । वहाँ भी उनका संस्कृत-अध्ययन चलता रहा ।

धर्मों और जातियो के मध्य जो सहिष्णुता होनी चाहिए इसके वे एक अन्यतम उदाहरण हैं । ईसाई और अँग्रेज होते हुए भी उन्होंने भारतीय धर्म-ग्रन्थ, पुराणों का जिस निष्ठा और लगनपूर्वक भाषान्तर किया वह अपने ढंग का एक अनूठा उदाहरण है । और सबसे ऊपर तो यह बात है कि यह सब उन्होंने व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और दुराग्रहों से मुक्त होकर किया । उनके द्वारा चलायी गयी यह परम्परा आगे भी वृद्धिगत होनी चाहिए ।

१८९४ से १९२० के मध्य उन्होंने तीस से भी अधिक शोध-निबंध लिखे और ब्रिटेन की एशियाटिक सोसायटी के जर्नल्स में प्रकाशित करवाये जिसके वे सदस्य और उपाध्यक्ष रहे थे । ये निबंध—'ऋगवेद तथा उसके कतिपय सूक्त',

'प्राचीन भारत का इतिहास व भूगोल', प्राचीन ऋषिकुल और आख्यायिकाएँ,' 'भारतीय खेल और चित्रकला' आदि विविध विषयों पर थे । इनमे उन्होंने भारतीय-ज्ञान सम्पदा का अच्छा खासा परिचय दिया है ।

फ्रेडरिक ईडन पार्जिटर ने पुराण-साहित्य के विषय में जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये वे पूर्णतः आग्रह मुक्त होने के कारण पाश्चात्य विद्वानो के गले नहीं उतरे । उनके सहयोगियों और समकालीन प्राच्य-विद्या विशारदो ने उनके मतों के प्रति कोई विशेष श्रद्धा प्रकट भले ही न की हो पर भारतवासियों और प्राच्य विद्या के उन सभी अभिमानियों के मन में उनके प्रति, और उनके कार्यों के प्रति जो श्रद्धा उत्पन्न हुई है उसे देखते हुए यही कहा जाएगा कि हम उनके चिरऋणि हैं ।

उनका भारतीय-ज्ञान-सम्पदा के प्रति यह अनुरक्ति और अपने जीवन का एक बहुत बड़ा अंश इस विषय पर शोधन-अनुवाद मे व्यय करना इस बात का प्रतीक है कि हमारी बौद्धिक व आध्यात्मिक सम्पदा किसी भी प्रकार पाश्चात्य-ज्ञान व साहित्य से कम नहीं है । फिर भला भारतवासियो का आज पाश्चात्य अंधानुकरण का रवैया कैसे उचित कहा जा सकता है ।

१९२७ मे जब उनका देहावसान हुआ तो विद्यानुरागियों ने यह अनुभव किया कि आज एक सच्चा विद्वान इस जगत से उठ गया है । विद्वत्ता के सदुपयोग का जो आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किया वह स्तुत्य है । अनुकरणीय है ।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' के प्रतीक— डा. बुल्के

प्राचीन-सभ्यता व संस्कृतियो के विषय मे बहुत कुछ जानने की प्रबल आकांक्षा एक बेल्जियम वासी युवक को भारत खींच लायी । रोमनकेथोलिक मत के जेसुइट सम्प्रदाय का एक मिशनरी अध्यापक बनकर वह १९३५ मे भारत आया था । भारत आने पर तो उसने भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया और उन भाषाओ के सहारे उसने यहाँ के उस साहित्य का अवगाहन किया जो मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करता है, तो उसका मन वहीं रम गया और उसने सदा के लिये भारत को ही अपना निवास बना लिया । वह कहता था भारत मे आकर मेरा पुनर्जन्म हो गया । सच ही तो है मनुष्य-जीवन के चरम लक्ष्य का ज्ञान जब हो जाय तो उसे पुनर्जन्म ही कहा जायेगा । यही युवक आज हिन्दी व संस्कृत के उद्भट विद्वान व रामचरित मानस के रचयिता तुलसी के अनन्य भक्त रेवरेन्ड फादर डॉक्टर कामिल बुल्के के नाम से भारत के विद्वजनों के बीच चर्चा का विषय हो चला है ।

उनके शुद्ध उच्चारण युक्त धारा-प्रवाह हिन्दी व्यक्तव्यो को श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो सुनते थे । उनके भाषणों का प्रायः विषय होता था "रामचरित मानस की गरिमा" । हिन्दी के इस प्रकाण्ड पाश्चात्य पण्डित का भाषण सुनकर लोग चकित हो जाते थे । भक्ति रस में इतनी गहरी पै... भारतीय-चरित-नायकों के प्रति यह अनूठी श्रद्धा देखकर ... ही विश्वास नहीं होता कि यह गौरांग व्यक्ति भारत की ... पर खिला पुष्प नहीं है ।

१९०३ में बेल्जियम में उनका जन्म हुआ । कु... पूर्व-जन्म के संस्कार ही रहे होंगे कि वे वहाँ से खिंच... भारत आ गये नहीं तो उनके पूर्व जीवन को देखते हुए ... यह अनुमान नहीं होता कि यह भौतिक-विज्ञान का अध्ये... एकदम अध्यात्मवादी हो जायगा । उन्होंने स्वदेश में ... इंजीनियरिंग में बी. एस. सी. परीक्षा उत्तीर्ण की और उसके बाद आइन्स्टीन के सापेक्षवाद सिद्धान्त को समझने के लिये गणित का अध्ययन किया । बचपन और जवानी में जो गणित और यान्त्रिकी आँकड़ों में माथा खपाया करता था, वही युवक मन में उठी तरंग से भारत आ गया था । यह निश्चय है उनकी आत्म-चेतना की प्रेरणा ही थी कि वे भारत दर्शन के लिये चल पड़े ।

भारत आने पर दार्जिलिंग का कुर्सियांग में उन्होंने धर्म-विज्ञान का शिक्षण प्राप्त किया और पादरी बन गये । यहाँ आकर उनके मन मे सेवा की कामना जाग्रत हो उठी थी । भारतवासियो की सेवा करने के लिये उनकी भाषा जानना आवश्यक समझकर उन्होंने संस्कृत सीखना आरम्भ किया क्योंकि संस्कृत सभी भारतीय-भाषाओ की मूल है ।

१९४५ में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से संस्कृत मे बी. ए. किया । संस्कृत पढ़ते हुए वे वाल्मीकि-रामायण से प्रभावित हुए । भगवान राम के आदर्श चरित्र ने उनके मन पर अमिट छाप छोड़ी । उन्होंने वाल्मीकि-रामायण का गहन अध्ययन किया तो सागर मे गोता लगाने पर पाने वाले बहुमूल्य-मणि मुक्ताओ से उनकी झोली भर गयी और वे कह उठे—"रामायण एशिया महाद्वीप का महत्वपूर्ण महाकाव्य है । इस काव्य में रामचन्द्रजी के चरित्र के माध्यम से भारतीय जीवन का जो समग्र आदर्श उपस्थित हुआ है वैसा अन्य किसी रचना मे नहीं हुआ ।"

एक ईसाई पादरी को इस प्रकार रामायण पढ़ते देख एक संकीर्णमना मुसलमान ने उनसे प्रश्न किया—"आप रामायण क्यो पढ़ते है ?" उनका उत्तर था—"अच्छा मनुष्य बनने के लिये ।"

"आपके धर्म ग्रंथों में क्या अच्छे बनने की बाते नहीं है ।"

"रामायण मेरा ही धर्म ग्रन्थ है । मैं ईसाई हूँ तो क्या रामायण मेरा धर्म ग्रन्थ नहीं हो सकता ।" इस पर वह प्रश्नकर्ता अपना सा मुँह लेकर रह गया ।

संस्कृत पढ़ने के बाद उन्होंने हिन्दी पढ़ने के लिये प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया । यहीं उन्हें डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का सान्निध्य मिला । वर्माजी से जहाँ उन्होंने अपने साहित्यिक-क्षमता को विकसित करने के लिए समुचित मार्गदर्शन पाया वहीं उनके अनुशासित व मर्यादा युक्त जीवन

से वे बड़े प्रभावित हुए। १९४७ में उन्होंने वहीं से हिन्दी में एम. ए. किया। एम. ए. करने के बाद डा. माता प्रसाद गुप्त के निर्देशन में 'राम कथा की उत्पत्ति और विकास' विषय पर शोध प्रबन्ध पूरा करके डी. फिल की मानद-उपाधि प्राप्त की। उनका यह शोध प्रबन्ध हिन्दी-शोध-जगत में बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है।

उन्होंने भारतीय-संस्कृति को अपनी आत्मा की गहराइयों में उपजते देखा था। एम. ए. करते हुए वे तुलसी के साहित्य के सम्पर्क में आये। उनकी गूढ़ भक्ति की माधुरी को उन्होंने छक कर पिया और तृप्त हो उठे। वे कहते थे—"प्रयाग मेरा मातृ गृह है। यहाँ मेरा दो महानताओं से सम्पर्क हुआ। एक तो रामचरित्र की उदात्त गरिमा और दूसरा तुलसीदास का अनन्य भक्ति भाव। इष्ट और उपासक दोनों ही अप्रतिम-अनूठे।" भरत के चरित्र से भी उन्हें विशेष अनुराग था। भरत से उन्होंने यही सीखा कि—"साधना का अर्थ पलायन नहीं अपितु सेवा के प्रति समर्पण है।"

राँची के सेंट जेवियर कॉलेज के संस्कृत व हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर रहते हुए उन्होंने अपने विद्यार्थियों को जीवन के प्रति सार्थकदृष्टिकोण अपनाने की प्रबल प्रेरणायें अपने चरित्र और ज्ञानदान के माध्यम से दीं। फिर भी वे अपने आपको पहली कक्षा का विद्यार्थी ही मानकर चलते रहे। तुलसीदास की तरह ही वे विनम्र और निरहंकारी थे।

वे धर्म व संस्कृति प्रेमियों के आग्रह पर बाहर भी जाते थे। भारत में जहाँ से भी निमंत्रण आता था। वे वहाँ अवश्य जाते और रामचरित्र की उदात्तता को अपनी प्रांजल शैली और सुन्दर-भाषा मे प्रस्तुत करते तो लोग सुनते ही रह जाते थे। साथ ही साथ वे उन आदर्शों को जीवन में उतारने की प्रेरणा भी देते थे।

उनके व्यक्तित्व, चरित्र व व्यवहार को देखकर यह सिद्ध होता है कि यदि प्रयास किया जाय और मनुष्य अपनी संकीर्णता छोड़ दे तो सभी धर्म एक हो जाएँ। पृथक-पृथक सम्प्रदाय होते हुए भी धर्म एक ही रह जाय। श्रेष्ठ को सब मानें यही वृत्ति सर्वत्र पनप जाय। बहुत सम्भव है अगले दिनों ऐसा ही होता दिखाई दे जाय।

उनका सारा जीवन ज्ञान व कर्म की साधना में ही लगा रहा। उन्होंने 'थीईज्म ऑफ न्याय एण्ड वैशेषिक', 'राम कथा उत्पत्ति और विकास', 'टेक्नीकल इंगलिश, हिन्दी-ग्लासरी", सुसमाचार (बाइबिल का सरल सुन्दर हिन्दी रूपान्तर) तथा नील पंछी (नाट्य रूपान्तर) जैसे ग्रन्थों की रचना की है। उन्होने तुलसीदास जी पर भी बहुत कुछ लिखा है।

उनका अपना विशाल निजी पुस्तकालय था जो अब भी सभी के लिए खुला रहता है। अपने घर आने वाले का स्वागत-सत्कार वे 'अतिथि देवोभव' की भावना से करते थे। वे स्वयं उनके लिए चाय बनाते और आग्रहपूर्वक जलपान कराते थे। यूरोप में जन्म लेकर भी वे भारत में उत्पन्न होने वालों से अधिक भारतीय लगते थे।

वृद्धावस्था में भी उनके शरीर में तरुणों की सी ताजगी, तत्परता, उत्साह व क्रियाशीलता दिखाई पड़ती थी। 'भारतीय संस्कृति, विश्व-संस्कृति है' इस तथ्य के वे सजीव प्रमाण के रूप में विश्व-नागरिकों तथा हमें प्रेरणा प्रकाश देते रहेंगे।

नेपाली साहित्य साधक—

भीमनिधि तिवारी

दिन को काठमांडू स्थित केन्द्रीय सचिवालय सिंह दरबार की प्रशासकीय शृंखला में अपर-सचिव के रूप मे काम करते रहने वाले भीमनिधि तिवारी का एक और भी व्यक्तित्व साहित्यकार का था। वैयक्तिक और पारिवारिक आवश्यकताओं के लिये उपार्जन करना आवश्यक था अतः दिन को प्रशासकीय फाइल के फीते से जकड़े रहना एक प्रकार से सांसारिक धर्म भी था। किन्तु आत्मा की हूक इतने से ही तृप्त होने वाली नहीं थी। उसके लिये वे साहित्य-साधना, विशुद्ध जन सेवा के रूप में किया करते थे। वे जन सामान्य के लिये लिखते थे। इस कारण राजकीय स्तर पर उन्हें साहित्यकार के रूप मे कभी श्रेय व सम्मान नहीं मिला, पर जन-जन उनके साहित्य से लाभान्वित हुआ।

इक्सठ वर्ष की आयु-कालावधि में उनका सरकारी सेवाकाल तीस वर्ष का था और उसके समानान्तर चलने वाली साहित्य-साधना चालीस वर्ष की थी।

साहित्य-सृजन उनके लिए एक प्रकार से सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व निर्वाह का हेतु बन गया था। अपने लिये उन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा, साहित्यकार के रूप मे प्रतिष्ठा पाने के लिये या राजकीय सम्मान पाने के लिये। वे तो सामान्य नेपाली जन की पीड़ा का करुण चित्रण करते हुए उसे साहित्य की साधन-सामग्री बनाना चाहते थे, जो नेपाली-साहित्य मे एक क्रान्तिकारी कदम था। सामान्य जनोपयोगी साहित्य के पात्र भी तो सामान्य ही हो सकते थे।

भीमनिधि तिवारी का जन्म नेपाल के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार मे सन् १९१२ मे हुआ था। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् सरकारी सेवा में संलग्न हो गये। प्रारम्भ में वे नगरपालिका-विभाग के सामान्य अधिकारी थे। उससे प्रगति करते हुए केन्द्रीय सचिवालय के अवर सचिवपद तक पहुँचे।

सरकारी नौकरी में लगने के पूर्व ही उनके भीतर का साहित्यकार अभिव्यक्ति पाने के लिये छटपटाने लगा था। और वे तुकबन्दी किया करते थे। इस क्षेत्र मे भी वे क्रान्तिकारी मोड़ प्रस्तुत करना चाहते थे। जनसामान्य साहित्य से लाभान्वित हो सके इसके लिये उन्होंने पारम्परिक वर्णिक वृत्तों से हटकर भजन और गजलों को महत्त्व दिया। उनकी साफ-सुथरी और सरल नेपाली-भाषा में गजल का जो रूप निखरा उसे जनता में काफी लोकप्रियता मिली।

वे 'कला-कला के लिये' सिद्धान्त को नहीं मानते थे वरन् वे कला को जन-चेतना जाग्रत करने का माध्यम मानते थे अतः उनका साहित्य भी उसी प्रकार का था कि जिसमें जनता का सुख-दुःख और उसकी मानसिकता का सच्चा परिचय हो। राणा प्रशासन काल में उन्होंने माघ की सर्दी में ठिठुरते एक दीन अकिंचन भिखमंगे की करुण कहानी का काव्यमय चित्रण किया जिसमें बहुसंख्यक नेपाली जनता के शोषण को सच्ची अभिव्यक्ति मिली थी। उनकी यह मार्मिक कविता जन-जन की पीड़ा का साकार प्रतिनिधित्व करने में सक्षम थी। राणा-प्रशासन किस प्रकार जनता का शोषण कर रहा था उसका सजीव अंकन इसमें हुआ था।

वर्तमान पञ्चायती-पद्धति पर चल रहे प्रशासन के पीड़ामय पक्षों को भी उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से उजागर किया था। 'विस्फोट' और 'सिंह दरबार' नामक काव्य-संग्रहों में उन्होंने नेपाली जनता की वर्तमान यन्त्रणा, पीड़ा और भावना को अभिव्यक्ति दी है। ऐसी सच्ची बात कहने वाले को राज्य-स्तर पर सम्मान भला मिल भी कैसे सकता था किन्तु लक्षावधि नेपाली जनता ने उन्हें जो सम्मान दिया है वह उससे कई अधिक ऊँचा है और भीमनिधि की आहत-आत्मा पर शीतल-प्रलेप का काम करने वाला है।

वे सारस्वतकवि थे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह उनकी भी यह मान्यता थी कि साहित्यिक-प्रतिभा और कुछ नहीं, अध्यवसाय व आन्तरिक निष्ठा से सब कुछ सम्भव हो सकता है। 'उन्होंने' कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते' सिद्धान्त को झुठला दिया था। उनकी मार्मिक कविताओं में वह सब है जो एक प्रतिभा-सम्पन्न जन्म-जात-कवि में पाया जा सकता है। जन्म-जात-कवि तो बहुत सम्भव है प्रतिभा के सदुपयोग की अनिवार्यता को भूल जाय। किन्तु जो व्यक्ति किसी उद्देश्य को लेकर साहित्यकार बनता है उससे ऐसी भूल नहीं हो सकती तथा वह अपने द्वारा विकसित की गयी प्रतिभा का पूरा-पूरा उपयोग समाज के लिये करता है। आचार्य वर द्विवेदी जी ने हिन्दी की जितनी सेवा की वह जन्म-जात प्रतिभा-सम्पन्न-साहित्यकारों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अध्यवसाय के बल पर भीमनिधि तिवारी ने कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि सभी साहित्यिक-विधाओं पर अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया है। नाटककार के रूप में उन्हें सर्वाधिक ख्याति मिली है। नाटक-साहित्य ही नहीं लोकरञ्जन और लोक-जागरण का एक सशक्त माध्यम होता है। दृश्य होने के कारण उसका लाभ वे लोग भी उठा सकते हैं जो पढ़े-लिखे नहीं हैं। उनके नाटक इसी उद्देश्य से लिखे गये थे। उनका मञ्चन हो सके इसका भी तिवारी जी ने पूरा ध्यान रखा था। इनकी भाषा सरल और सुबोध रखी गयी ताकि सामान्य व्यक्ति को उनका लाभ मिल सके। नेपाल के मूर्धन्य नाटककार बालकृष्ण सम के नाटक शेक्सपीयरी मुक्त छन्द से प्रभावित अनुष्टुप-छन्द, वाग्वैभव की छटा दिखाने के कारण नेपाली-साहित्य की अनुपम-निधि तो बन गये थे पर उनका लाभ सामान्य जन नहीं उठा सकता था। उनके पात्र भी सामान्येतर थे। उनके विपरीत भीमनिधि तिवारी के नाटक सामान्य-जन के लिये ही लिखे गये हैं।

उनके नाटकों का विषय भी सामाजिक समस्याएँ होती थी। १९४२ में लिखा गया उनका 'पुतली' नामक नाटक चिरशोषिता नारी की व्यथा को, पीड़ा को, छटपटाहट को मुखरित करता है। 'किसान' नामक नाटक भी इसी कोटि का सामाजिक नाटक है। इसमें भी नेपाल के सामान्य कृषक की व्यथा, दशा का चित्रण किया गया है। नाट्य शिल्प के ज्ञाता होने के कारण उनके नाटक मञ्चन करने में सुगम हैं। अतः उनके एकांकी और नाटक कई बार मञ्चित हुए।

१९४८ में उन्होंने कहानी लेखन के क्षेत्र में भी अपना वर्चस्व सिद्ध कर दिखाया था। वे चाहते थे कि वे इतनी कहानियाँ लिखें जितनी कि कोई कहानीकार लिख सकता है। एक-एक करके जेठी (ज्येष्ठ), माहिलो (मंझला) आदि के नाम से उनके कई संग्रह प्रकाशित हुए। उनके इन कहानी संग्रहों की संख्या दस तक पहुँची। उनकी कहानियाँ, सामाजिक कहानियाँ हैं जो अपने समय का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं। उन्हें इस काल का सामाजिक-इतिहास-काल दर्पण कहा जा सकता है। उनके नाटकों में जहाँ नेपाल के सर्वहारा वर्ग की व्यथा का अंकन हुआ है वहीं उनकी कहानियों में तत्कालीन नेपाली-समाज की व्यथा का अंकन हुआ।

नेपाली गद्य के उन्नयन में भीमनिधितिवारी की भूमिका मुख्य रही है। वे सरल, स्पष्ट और अलंकार हीन गद्य लिखने में सिद्धहस्त थे। समाज के निम्न वर्ग के लोगों का सजीव चरित्र-चित्रण भी नेपाली साहित्य में उन्होंने सबसे पहली बार किया था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्य को अधिक समाजोपयोगी बनाने का उद्योग किया था और वे उसमें सफल भी हुए थे।

भले ही उन्हें सरकार द्वारा साहित्यकार के रूप में सम्मानित किया गया हो परन्तु, काठमांडू के सांस्कृतिक जीवन के वे चिरपरिचित व्यक्ति थे। उनकी विशुद्ध नेपाली वेशभूषा और सरल आत्मीय व्यवहार, सम्पर्क में आने वाले को अभिन्न बना देती थी। उनसे वे जितने मृदुभाषी और स्मितवदन थे उतने ही भीतर से करुण और वेदना-विदग्ध भी। उनकी यही वेदना उनके साहित्य में साकार होकर उभरी है। साहित्यकार के रूप में उन्होंने नेपाली-समाज की जो सेवा की उसे भुलाना असम्भव है। २९ मई, १९७३ को रक्तदोष से पीड़ित हो ६१ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। उनका जीवन साहित्यकारों को साहित्य साधक बनने की प्रेरणा देने को पर्याप्त है।

मार्कट्वेन—जो असामान्य से असाधारण बने

अजीव लड़का था वह। उसने कभी अपने पिता की बात नहीं मानी। पिता उसे कुछ बन जाने की सीख देते और वह उन्हें इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देता

जैसे उसे नहीं किसी और को कही जा रही हैं ये सब बातें। ज्यादा कुछ कहते तो घर से भाग जाता। मिस्सी सिप्पी नदी में कूदकर प्राण विसर्जन कर देने की धमकी देता। पिता बेचारा, स्नेह का मारा अपने इस असामान्य बालक को और कुछ कह नहीं सकता। चिंतित अवश्य रहता था कि इसका क्या होगा ? कैसे यह अपना जीवन व्यतीत करेगा। हम कोई जीवन भर तो उसे कमाकर खिलाने से रहे। आदमी की जान जाते क्या देर लगती है। दूसरी साँस आयी या न आयी।

सचमुच, एक दिन उसके पिता चल बसे। ढीठ और अड़ियल बेटे के लिये यह एक नया अनुभव था। कहाँ चले गये पिताजी ? अब लौटकर कभी नहीं आयेंगे। अब मुझे कौन मार्गदर्शन देगा? कौन सीख देगा ? मैं कैसा नालायक था कि उनकी किसी बात पर ध्यान नहीं देता था। मानव-स्वभाव की यह विडम्बना इस लड़के के साथ ही नहीं दुनिया के साथ भी जुड़ी है। इसका भला चाहने वाले आदमी की उपयोगिता और महत्ता को यह जीते जी स्वीकार नहीं करती है और उसके मरते ही उसे वैसा ही पश्चाताप होता है जैसा इस किशोर को हुआ था। महात्मा यीशू का मोल उनके मरने पर आँका गया। महात्मा गाँधी, स्वामी दयानन्द, लिंकन जैसे कितने ही महापुरुषों का मूल्य उनके मरने पर ही समझा गया।

लड़का फूट-फूटकर रोने लगा। उसे अपने पिता के वे वचन जो कभी कुनैन की तरह कड़ुवे लगते थे, अब समझ में आ रहे थे उसके लिये अतीव उपयोगी हैं। माता ने धीरज बँधाया—"बेटा रो नहीं! अब भी तूने भूल मान ली तो कुछ बिगड़ा नहीं। अपने पिताजी की उन सीखों को अब भी मान ले इस जीवन में ऐसा कुछ कर जो तुझे भी लाभ दे और दुनिया को भी।"

उसने रोते-रोते अपनी माँ को वचन दिया कि अब वह अपने पिता के उन सब आदेशों का पालन करेगा जो उसे वे दिया करते थे साथ ही अपनी माँ का कहना भी मानेगा। बस, एक बिनती अवश्य उसने की कि माँ उसे घर पर ही पढ़ायेगी वह स्कूल नहीं जायेगा। माँ ने यही सोचकर संतोष किया कि चलो इतनी बातें अपनी मानी तो एक उसकी भी मान ली जाय। यही निठल्ला और ढीठ लड़का आगे चलकर प्रसिद्ध साहित्यकार मार्कट्वेन के नाम से विश्व-विख्यात हुआ। पुस्तकें लिखकर उसने जितना धन कमाया उतना शायद ही किसी लेखक ने कमाया हो। उसे करोड़ो रुपये रॉयल्टी के मिले और अब उसके उत्तराधिकारियों को मिल रहे हैं।

मार्कट्वेन का वास्तविक नाम सैमुअल लैंगहॉर्न क्लीमेंस था। मार्कट्वेन उनका उपनाम है। साहित्य जगत में वे इसी नाम से जाने जाते हैं। मार्कट्वेन का बचपन घोर द्रारिद्य में बीता था। जिस मकान में उनका बचपन बीता था वह अस्तबल से भी गया-गुजरा था। पिता की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय थी। बचपन में वे प्रायः अस्वस्थ रहा करते थे। जिससे उनका स्वास्थ्य उनके माता-पिता के लिये चिन्ता का विषय बना रहता था। वे बारहवर्ष के थे तब तक तो स्कूल गये पर उसके बाद उन्होंने कभी स्कूल की ओर झाँका भी नहीं। फिर भी उन्होंने अपने अध्यवसाय के बल पर अपनी साहित्यिक-प्रतिभा को इस प्रकार निखारा और इतने लोकप्रिय हुए कि कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डाक्टर की डिग्रियों से सम्मानित किया।

जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि मैं क्या कर सकता हूँ। मुझमें तो यह कमी है, वह दोष है वे कुछ भी नहीं कर पाते किन्तु जो अपनी कमियों के साथ अपनी खूबियों को भी जानते हैं। अपनी उन प्रतिभाओं का चरम विकास करने के लिये भगीरथ प्रयत्न करते हैं वे सफलता के उच्चतम शिखरों पर अपने विजय-केतन फहराते हैं। मार्कट्वेन भी एक ऐसे ही व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी प्रतिभाओं और कमियों को भली प्रकार समझा था। प्रतिभाओं को विकास देने और कमियों को दूर करने में उन्होंने कभी सुस्ती और ढिलाई नहीं बर्ती।

हास्य-विनोद और प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की उनकी क्षमता विलक्षण थी। हास्य विनोद की यह प्रतिभा उन्हें अपनी ममतामयी माँ से विरासत में मिली थी। वे किसी भी हँसी की बात को स्वयं गम्भीर रहकर सुनाती थीं। जिसे सुनने वाले सुनकर हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते थे पर वे हँसी के उस प्रवाह से अलग-अलग अछूती ही रहती थीं। अपने हास्य-विनोद के बल पर उन्होंने साहित्य और भाषण के क्षेत्र में आशातीत धन और यश कमाया। उनके पाठकों और श्रोताओं की संख्या लाखों में नहीं करोड़ों में थी।

अपरिमित धन कमाने वाले मार्कट्वेन को कभी धन का उपयोग करना नहीं आता था। उन्होंने करोड़ों रुपये कमाये पर फिर भी वे वर्षों तक कर्ज में डूबे रहे और बड़ी कठिनाई से उस कर्ज से मुक्ति पा सके थे। कमाने के साथ-साथ पैसा खर्च करने और उसको बढ़ाने की कला का जानना भी बहुत आवश्यक है अन्यथा मार्क ट्वेन की तरह उन लोगों की समृद्धि का घट अपव्यय के छेद के कारण रीता ही रहता है जिन्हें धन खर्च करना व धन का सदुपयोग करना नहीं आता।

अपनी इस कमी को मार्क ट्वेन ने जिस बहादुरी से स्वीकारा था वह निश्चय ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि अपनी खूबियों का तो खूब ढिंढोरा पीटते हैं लेकिन अपनी कमियों को सहज रूप से स्वीकार कर उन्हें दूर करने का प्रयास नहीं करते। ऐसे दुराग्रही लोगों के व्यक्तित्व से वे कमियाँ जोंक की तरह चिपटी रह जाती हैं और उनके व्यक्तित्व को अप्रभावी बनाती हैं।

व्यवसाय बुद्धि उनमें तनिक भी नहीं थी। 'लक्ष्मी और सरस्वती एक साथ नहीं रह सकतीं' वे इसका बहुत अच्छा

उदाहरण थे । वे सफलतम लेखक और असफलतम व्यवसायी थे । पर थे दोनो मे चरम-बिन्दुओं पर । सर्वप्रथम उन्होने घड़ियाँ बनाने का एक कारखाना खोला । उसमें काफी धन लगाया पर साल भर मे ही वह कारखाना बन्द हो गया । उन्हे बहुत नुकसान उठाना पड़ा । फिर अपने कुछ साथियो की सलाह मानकर उन्होने प्रकाशन-व्यवसाय आरम्भ किया जिसमें उन्हे दस लाख का घाटा हुआ । इसी तरह उन्होने एक भाप से बिजली पैदा करने वाली मशीन बनाने के लिए एक इंजीनियर को धन दिया पर वह मशीन कभी बन ही नही सकी । एक टाइप कम्पोज कम्पनी में साझा करके उन्होने पन्द्रह लाख रुपये गँवाये । ऐसी कितनी ही असफलताओ की कहानियाँ इस सफल लेखक के जीवन के साथ जुड़ी हुई है ।

उनकी इन असफलताओं का कारण उनके व्यावहारिक ज्ञान की कमी और लोगो द्वारा उन्हे धोखा दिया जाना भी था । उन्हे लाखो रुपये अपनी पुस्तको की रॉयल्टी के रूप मे मिल जाते थे और यह सब उनकी कलम कमाती थी । उन्हे यह पता नहीं था कि दूसरे आदमी कैसे कमाते है । उनकी इस कमजोरी का लाभ उनके मित्रो, परिचितो ने भी उठाया ।

लोगो को हँसा-हँसाकर लोटपोट कर देने वाले साहित्य के सृजेता और वैसे ही भाषणकर्ता मार्क ट्वेन मे सहने और मुस्कुराने की गजब की क्षमता थी । इतने धक्के लगने, इतने नुकसान होने, कर्जदार हो जाने पर भी वे प्रसन्न रहे । उन्हें किसी ने कभी उदास नहीं देखा, यह मनुष्य की जीवटता का एक अनुपम उदाहरण है । ऐसी स्थिति कई कच्चे दिल वाले लोगो का तो हार्ट फेल हो जाता है । उनका जीवन हँसी और जीवनोल्लास का ऐसा नित्यवादी निर्झर था जो मार्ग मे आने वाले रोड़ो से हार मानकर अपनी सहज गति खोता नहीं टेलीफोन के आविष्कारक अलेक्जेण्डर ग्राहम बेल ने जब उन्हे अपनी कम्पनी मे धन लगाने के लिये कहा तब तक वे भिन्न-भिन्न व्यवसाय के गर्म दूध से अपने होठो को इतना जला चुके थे कि एक जानकार की तरह बोले—'मै मूर्ख अवश्य हूँ लेकिन उतना नहीं जितना आप समझते है ।'' और जीवन मे पहली बार व्यावसायिक सफलता द्वारा स्वयं उनके पास पहुँचने पर उनकी इस सहज स्वीकारोक्ति ने उसे ठुकरा दिया । यदि वे उस समय दस हजार रुपये के शेयर भी खरीद लेते तो आज उनका मूल्य दस करोड़ रुपये होता । लेकिन चंचला-लक्ष्मी को तो अपना जलवा दिखाना था । उसके कुछ ही समय पश्चात् उन्होने अपने एक मित्र को दस हजार रुपये उधार दिये जो उसने कभी नहीं लौटाये । मनुष्य के जीवन में व्यक्तियों को परखने की क्षमता का कितना मूल्य होता है यह मार्क ट्वेन के जीवन मे स्पष्ट देखने को मिलता है ।

उनके पास जिस सहजता से धन आता था उसी सहजता से चला भी जाता था । साठ वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते तो वे बुरी तरह कर्ज भार से दब गये । उनकी सुख-शान्ति समाप्त हो गयी इस कर्ज के कारण । जिस व्यक्ति के पास अनूठी प्रतिभा हो, लाखों रुपये रॉयल्टी के मिलते हों, कर्ज उसकी भी दुर्दशा करके रख देता है तो बेचारे सामान्य आय वाले व्यक्ति के लिए कितना दुखदायी होता है यह सहज ही समझा जा सकता है । उनके जीवन की यह विडम्बना कर्ज से सावधान रहने के लिए सचेत करती है ।

जब वे कर्ज भार में दबे थे तब विश्व-व्यापी मंदी का दौर चल रहा था । उस समय कितने ही लोगों ने अपने आपको दिवालिया घोषित करके कर्ज से मुक्ति पायी थी । पर साठवर्ष के जवान मार्कट्वेन ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे । उनकी अद्भुत नैतिक-निष्ठा और संकल्प शक्ति का परिचय हमें यहाँ मिलता है । उनका स्वास्थ्य जर्जर हो जा रहा था फिर भी उन्होंने ऋण उतारने के लिए पाँच वर्ष तक स्थान-स्थान पर भ्रमण करके भाषण दिये और जब ऋण उतर गया तब ही उन्होंने दम लिया ।

उनका जन्म सन् १८३४ में संयुक्त-राज्य-अमेरिका के मिस्सीसिप्पी नदी के एक तटवर्ती ग्राम मे हुआ था । यह वही वर्ष था जब 'हेली' नाम का का पुच्छल तारा उदित हुआ था । वे उसके उदित होने तक मरना नहीं चाहते थे । जर्जर स्वास्थ्य के बावजूद भी वे उस पुच्छल तारे के पुनः उदित होने तक जीवित रहे यह सम्भवतः उनकी उस प्रबल जीवनेच्छा, संकल्प बल का ही परिणाम था । यह पुच्छल तारा ७६ वर्ष बाद पुनः नजर आता है । १९१० मे उसके उदित होने के बाद ही उनका शरीरान्त हुआ । यह कुछ अंशों में वैसा ही संकल्प माना जा सकता है जैसा भीष्म-पितामह का रवि उत्तरायण होने पर प्राण-विसर्जन करने का था ।

विश्व की सबसे लम्बी नदी मिस्सीसिप्पी का तट उन्हें बचपन मे ही नहीं जीवन भर प्रिय रहा । उसके जल की तरह एक ही भाव से प्रवाहित होते रहने की गतिशीलता का प्रारम्भिक पाठ उन्होंने इसी से पढ़ा था । उन्होंने भी हास्य-विनोद की प्राणदायिनी शक्ति का अभिनव 'मिस्सीसिप्पी' अपने जीवन में बहायी थी, जिसने कितने ही सूखे अधरों पर हास और मुझाये हृदयों पर उल्लास का रससंचार किया था । जीवन सुख और उल्लास से परिपूर्ण है इस रत्नगर्भा, मनोरम शस्य श्यामला माँ धरित्री की गोदी में जो रोता-बिलखता है उसे हँसाने का काम उन्होंने बखूबी किया था । उनका वैवाहिक जीवन भी उनके इस जीवन दर्शन की तरह ही आत्म-स्फूर्ति और प्रेम-पूर्ण रहा । उनकी पत्नी ओलीविया और मार्क दो तन एक प्राण थे । इस असाधारण व्यक्तित्व की 'द एडेवंचर्स आव टाम सायर', 'द एड वेंचर्स आव हक लबेरी फिन' एवं 'लाइफ आन मिसी सिपी' जैसी हास्य कृतियाँ उनका नाम साहित्य-संसार में कीर्तिमान कर रही हैं ।

महान साहित्यकार—गोर्की

दिन भर तूफानी हवा चलती है जो नींद नहीं आने देती। रात को चौकीदारी करनी पड़ती है। भूख से पीड़ित लोग आटा चुराने आते हैं। 'डोबोरिका रेलवे स्टेशन का चौकीदार' युवक अलेक्सी परेशान है। वह सोये तो कब सोये? इन्हीं विचारो में खोया हुआ वह ऊँघने लगता है। तभी किसी की पदचाप सुनाई देती है। वह अपनी मिचलाती आँखे खोल देता है।

देखता है फटे-पुराने कपड़े पहनकर एक जवान स्त्री आती है और उसके-संयम को अपने देह की आँच पर पिघलाने का कुत्सित प्रयास करने लगती है। वह अपने अंगीय उभारों से उसे मोहने का प्रयास करती है। चौकीदार सिर नीचा कर लेता है। वह जानता है वह क्यों अपनी बहुमूल्य अस्मत को यों सस्ता बना रही है। वह पेट की आग से पीड़ित है। पेट की आग को देह बेचकर भरना चाहती है।

अलेक्सी उसे वहाँ से चले जाने को कहता है। पर वह नहीं जाती। उसे आश्चर्य होता है इस युवक के असामान्य व्यवहार पर। आज तक तो किसी रखवाले ने उसके इस कृत्य को बुरा नही माना वरन् रिश्वत के तौर पर उसकी देह का भोग लगा उसे आटे की चोरी करने दी थी। चौकीदार ने अपनी जेब टटोली और कुछ सिक्के उसके हाथ पर रख दिये—"इन्हे ले जाओ और अपनी जरूरत पूरी करो फिर इधर आने का प्रयास मत करना।"

उस स्त्री को अपने इस घृणित और कुत्सित व्यवहार पर बड़ी लज्जा आयी। वह इस युवक के चरित्र-बल की अभ्यर्थना करती हुई लौट पड़ी। यही युवक अलेक्सी आगे चलकर रूसी भाषा का प्रख्यात, विश्वविख्यात साहित्यकार मेक्सिम-गोर्की बना।

बालक अलेक्सी ने बाल्यकाल से ही मनुष्य का यह पतन देखा था। मन ही मन वह उसके इस पतन पर बहुत रोया था। वह चाहता था कि मनुष्य अपनी मानवीय गरिमा के साथ जीना सीखे पर वह इतना छोटा था कि संसार को कैसे सिखाये, यह सब। आगे चलकर उसने अपनी इस अभिलाषा को पूरी भी किया।

१४ मार्च सन् १८५८ को रूस के निजनी नोवा नामक नगर में उत्पन्न हुए अलेक्सी को बचपन में घोर गरीबी और विवशता का जीवन जीना पड़ा था।

उन दिनो रूस जारशाही की चक्की मे पिस रहा था। जनता भूखों मरती थी। भूख तथा गरीबी ने जनसाधारण को विवश पशु तुल्य बना दिया था। अलेक्सी ने आँखे खोलते ही इस नारकीय स्थिति को देखा-भुगता था।

इस सुकुमार बालक ने खाने के दिनो मे ही गरीबी और विवशता भोगी थी। बचपन मे ही उसने अपने दोनो मामाओं की मार खाकर अपने पिता को मरते देखा था। मनुष्य की दयामाया का यों दिवाला पिटता देख वह जोर-जोर से रोया था। अपने मामा की क्रूर स्वार्थी प्रवृत्ति के शिकार उसके रंगाई कारखाने के श्रमिको को कोल्हू के बैल की तरह काम करते और आधे पेट भूखे सोते भी उसने देखा था। नाना काशीरिन अपने कारखाने मे मजदूरो को कम से कम वेतन देता और अधिक से अधिक काम लेता था।

इसी कारखाने में एक मजदूर था, ग्रेगरी। ग्रेगरी कभी काशीरिन के रंगाई कारखाने का आधा मालिक था पर काशीरिन ने उसके साथ विश्वासघात करके उसका हिस्सा हड़प लिया था। काशीरिन उस बूढ़े ग्रेगरी पर मनमाना अत्याचार किया करता था। बालक अलेक्सी को उस बूढ़े से सहानुभूति थी। नाना की नजरो-से बचकर वह ग्रेगरी के आँसू पोंछने से नहीं चूकता था। उसकी शिक्षिका प्रकृति ने उसके लिये ऐसे प्राकृत शिक्षण की व्यवस्था की थी।

माँ ने पिता की मृत्यु के कुछ ही वर्ष बाद भूख और गरीबी से विवश होकर दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया। कृपण-निष्ठुर नाना ने नानी और नन्हे अलेक्सी को घर से बाहर निकाल दिया। इस प्रकार आठ वर्ष का अलेक्सी एक परिवार का कर्ता बन गया। वह मिल जाती तो मजदूरी करता था नहीं तो कूड़े-कचरे के ढेर मे से कोई काम की चीज ढूँढ़ खोजकर उसकी मरम्मत करके बाजार मे बेच आता। जो कुछ पैसे मिलते उसमे अपना व नानी का पेट भरता।

मन मे पढ़ने की बड़ी चाह थी पर उसके पास पाठशाला जाने के लिये न तो समय था और न साधन। किसी प्रकार स्कूल जाने भी लगा और पुस्तक पढ़ना भी सीख गया पर वहाँ भी अपने साथ पढ़ने वाले धनिको के बच्चो का गर्व और निर्धन परिवारो के बालकों की उच्छृंखलता से त्रस्त होकर उसे स्कूल छोड़ना पड़ा।

भूखे-नंगे निराश्रित अलेक्सी ने परिस्थितियों से जो लड़ाई लड़ी, साथ ही विकृतियों से जो संघर्ष किया यह तथ्य उन्हे मेक्सिम गोर्की बनाने में सहायक रहा था।

स्कूल मे पढ़ना नहीं हो सका न सही। पुस्तके पढ़कर स्वाध्याय करने मे तो कोई बाधा नहीं थी सो जो भी पुस्तक हाथ लग जाती उसे वह आद्योपांत पढ़ जाता। पुस्तक ही क्यो कोई कागज का टुकड़ा ही क्यों न हो उसमें कुछ काम की बात लिखी होती तो पढ़े बिना नहीं छोड़ता। अपनी मानसिक क्षुधा की तृप्ति के लिये उसे जिन लोगों के पास पुस्तके होती थीं उनकी बड़ी सेवा करनी पड़ी थी।

मानव का जो आदर्श रूप उसे साहित्य के दर्पण मे दिखायी दिया। वैसे ही अभिनव-समाज की रचना वह चाहता था। यह एकदम असम्भव सी बात थी। कहाँ एक साधारण बालक जिसके रहने को ठौर नहीं, खाने का ठिकाना नहीं और कहाँ यह विशाल जनसमुदाय। फिर भी वह निराश नहीं हुआ। उसे गिरे हुए मनुष्यो तथा गरीबो से घृणा नहीं

थी । वह जानता था कि मनुष्य सन्मार्ग पर चले तो वह देवता बन सकता है और कुमार्ग पर चले तो राक्षस ।

सत्साहित्य पढ़ना अलेक्सी का व्यसन था । इस स्वाध्याय ने ही अलेक्सी के अन्दर एक कल्पना जगायी । वह आदर्शों का एक संसार अपने आप में रचने लगा । मानस पटल पर स्वर्ग का चित्र लिये अलेक्सी नर्क के द्वार-द्वार घूमा । जहाँ वह स्वार्थ, लोभ, दैन्य, तृष्णा व वीभत्सता देखता वहीं प्रेम, आदर्श तथा सौन्दर्य का सृजन करने की इच्छा बलवती होती थी, संकल्प दृढ़ होते थे ।

अब वह युवा हो चला था । सपनों की ये तस्वीरें अब उसके मुँह से गीतों के रूप मे प्रकट होने लगी थीं । वह गीत, कहानी व लेख लिखने लगा था । अपने जीवन के उस काल में उसने दुःख-दर्द व अभावों से भरा जीवन जिया था । 'कोकेशस' नामक पत्र में जब उसकी पहली कहानी 'माक्खर-चंद्रा' प्रकाशित हुई तो उसने लेखक के रूप में अपना नाम दिया—'गोर्की' जिसका अर्थ होता है—तिक्त—तीखा ।

अलेक्सी अब गोर्की बन चुका था । इसके पहले वह जारशाही के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संगठन में रह चुका था । घुमक्कड़ तो आरम्भ से था ही । बेसहारा बालक अपनी जिज्ञासा वृत्ति और अभावों के वशीभूत ही घूमता रहा । उसने जन जीवन को निकट से देखा था । उसका यह बचपन का अनुभव उसके लेखन में सहायक हुआ । गोर्की के साहित्य मे जो विशेषताएँ हैं—सजीव और मार्मिक चित्रण की, वह विशेषता बहुत कुछ इस यायावर वृत्ति व बाल्यकाल के कडुवे अनुभवो का हाथ रहा था ।

साहित्य-जगत में आने पर पहले कई वर्षों तक तो गोर्की को कड़ा संघर्ष करना पड़ा । नये लेखक की रचनाएँ एकदम स्वीकृत नहीं होतीं । होती भी है तो पारिश्रमिक इतना स्वल्प होता है कि उससे निर्वाह नही होता । ये सब समस्याएँ गोर्की के सामने भी आयीं और भयंकर रूप से आयीं ।

गोर्की ने अभाव सहे पर लिखना नहीं छोड़ा । वह जिस मकान में रहते थे वह स्वास्थ्यकर नही था । सर्दी के लिये उनके पास पहनने-ओढ़ने को पूरे कपड़े भी नहीं थे । मकान ठण्डा व सीलन भरा था । भोजन मे वे अच्छी खुराक नहीं ले पाते थे । फिर भी किसी तरह वे गुजर कर रहे थे । वे जानते थे कि किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिये साधना के दौर से गुजरना पड़ता है । उनको भी लक्ष्य प्राप्ति के लिये इसी तप-साधना के दौर से गुजरना पड़ा था । उनका स्वास्थ्य इस प्रकार के अभावों को सहते-सहते क्षीण हो चला था । यह क्षीणता शरीर की थी मन और आत्मा की नहीं ।

वे लेखन के साथ-साथ पत्रकारिता के क्षेत्र में भी प्रविष्ट हुए । गोर्की युवावस्था से ही विप्लवी थे । उनके लेखों और रचनाओं में रूस की जनता की व्यथा-कथा रहती थी, जनता की आवाजें उनमें गूँजती थीं । ये जनता के प्रिय लेखक बन गये । नियति ने बचपन में उन्हें जिन परिस्थितियों में रखा था वह गोर्की जैसे लेखक के लिये आवश्यक है
अनिवार्य थी ।

प्रारम्भिक संघर्ष की अवस्था को पार करने के
सफलता गोर्की के चरण चूमने लगी । पर जैसा कि
में आता है सफलताजन्य अहंकार उनमें तनिक भी नहीं
था । वे रूस के जाने माने पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक थे ।
धन भी खूब आया उनके पास । धन के प्रति इनकी
न तो संग्रह की थी और न ही कृपणता की । जो कुछ
होती थी । ये उसका एक तिहाई अपने लिये रखते थे
सब जरूरतमंद देशवासी भाइयों को दे दिया करते थे ।
व्यक्ति ने बचपन में गरीबी को बहुत निकट से देखा
हो उसके लिये ऐसी निस्पृह-दृष्टि रखना प्राय: कठिन
है ।

गोर्की ने एक सफल लेखक तथा साहित्यकार के
में पीड़ित मानवता की सेवा की थी । उनके यशस्वी
का कारण भी यही था । उनकी रचनाओं में गिरे हुए
ऊपर उठने की प्रेरणाएँ भरी होती थीं । बचपन में उन्होंने
जो अभिनव समाज रचने का स्वप्न देखा था, साहित्य-सृजन
उसी दिशा में एक प्रयास था । वे मनुष्य की उस
कामना को जानते थे जो उसके अन्त:करण से स्फूर्त
है, वे उसे जगाने का प्रयास करते रहे थे ।

जारशाही के विरोध मे गोर्की खुलकर सामने आये ।
गोर्की के लिखे हुए सम्पादकीय व परिपत्र इतने प्रभावशाली
होते थे कि जनता जारशाही से मुक्ति पाने के लिये
होकर उसका प्रतिरोध करने के लिये उठ खड़ी होती थी ।

गोर्की ने बचपन में अपने सामान्य देशवासी को
गरीबी और दैन्य का जीवन जीते देखा था वह इस
और जनता मे जागरूकता की कमी होने के परिणामस्वरूप
था । बचपन में जिस प्रकार गयी-गुजरी स्थिति की दुर्वह वेदना
भोगी थी उसे देखते हुए उनकी यह प्रगति आश्चर्यजनक
लगती है । ऐसी स्थिति में पलने-बढ़ने वाले बालक
आगे चलकर अपराधी व शुष्क जीवन जीने वाले
व्यक्ति ही बन पाते हैं पर गोर्की ने कीचड़ मे रहते हुए
अपने को कमल की तरह विकसित करके यह प्रमाणित
कि व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में क्यो न रहे, यदि
आगे बढ़ने की भावना-शक्ति और कर्मणा-शक्ति है तो वह
प्रगति कर सकता है ।

गोर्की अपने देशवासियो को जारशाही के शोषण
से मुक्त कराने के ध्येय मे इतने मग्न रहते थे कि उनका
शरीर जर्जर होने लगा । उन्हें क्षय हो गया । लेनिन
बड़े-बड़े क्रान्तिकारी इनके जीवन को राष्ट्र की धरोहर मानते
थे । अत: वे उन्हे विदेश जाकर स्वास्थ्य लाभ पर
करने लगे । इस आग्रह को गोर्की कैसे टाल सकते थे ।
वैसे उनकी कामना तो यही थी कि वे देश की आजादी के
लिये अपनी आहुति दे दें ।

वे लेनिन के समाजतन्त्री साम्यवादी दल को पाँच हजार रूबल प्रतिवर्ष दिया करते थे। एक दीन-हीन बालक के रूप में दर-दर भटकने वाले गोर्की अपने संकल्प और क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण आज इतने समर्थ बन चुके थे। देश के बच्चे-बच्चे की जबान पर गोर्की का नाम था। ऐसे व्यक्ति के स्वास्थ्य के प्रति देश के नेता क्यों न चिंतित होते। उन्हें उनका आग्रह मानकर स्वास्थ्य-लाभ के लिये विदेश जाना ही पड़ा।

विदेश जाकर भी वे चुप नहीं बैठ सके। वहाँ भी वे रूस की स्वतन्त्रता के लिये जनमत जगाते रहे। राष्ट्रीय-आन्दोलन को गति देने के लिये उन्होंने वहाँ धन संग्रह भी किया। विदेशी अखबारों में उनके धुंआधार लेख प्रकाशित होते रहते थे, जिनमे जारशाही शोषण का कच्चा चिट्ठा होता था। उनके हृदय में अपने देश के जन-जन की पीड़ा ने जो स्थान बना लिया था। वह उन्हे चैन से बैठने भी कैसे दे सकती थी।

यद्यपि गोर्की का पारिवारिक जीवन सुखी व सफल नहीं रह सका क्योंकि उनकी पत्नी गुण-कर्म-स्वभाव में उनसे विपरीत थी। पर वे उनसे किसी प्रकार निभाते रहे थे। मानसिक स्थिति की इस भिन्नता के कारण उन्हें कई बार मानसिक क्लेशों का भी सामना करना पड़ा था। पर वे उसी में उलझ कर नहीं रह गये।

वे ईश्वर के प्रति आस्थावान थे। उन्होने जनसाधारण व दीन-दुःखियों के हृदय मे उसे उपस्थित देखा था और उसकी सेवा की थी। उनकी यह आस्तिकता ही उन्हे आदर्शों के लिये झूझते रहने की प्रेरणा देती थी। कठिनाइयो को हँसते-हँसते झेलने का बल भी यही प्रदान करती थी। अपनी इसी आस्था के कारण उन्हे अपने परमहितैषी लेनिन से भी असहमत होना पड़ा था। लेनिन नास्तिक थे और गोर्की आस्तिक। इस प्रश्न को लेकर उनमे कई बार मतभेद भी हो चुका था। क्योंकि यह युक्ति द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि ईश्वर है या नहीं है। यह तो विशुद्ध रूप से अनुभूति की वस्तु थी। लेनिन और गोर्की दोनो अपने-अपने स्थानों पर ही रहे। कोई किसी की आस्था, अनास्था को डिगा नहीं सका।

रूस मे जारशाही की समाप्ति के बाद करेन्स्की की सरकार बनी। उसके बाद बोल्शेविक क्रान्ति हुई। शासनतन्त्र बोल्शेविकों के हाथ मे आया। गोर्की का काम यहाँ आकर समाप्त नहीं हो गया वरन् वह अप्रत्याशित रूप से बढ गया था। गोर्की मात्र राजनैतिक दासता से मुक्ति ही नहीं चाहते थे वे सामाजिक प्रगति भी चाहते थे।

बोल्शेविक दल मजदूरों तथा सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि था। बुद्धिजीवी वर्ग के प्रति इस दल के लोगों की भावनाएँ कुछ अच्छी नहीं थीं। वे उन्हें बुर्जुआ संस्कृति के अवशेष ही मानते थे। उनका बुद्धिजीवी वर्ग के प्रति जो आक्रोश था वह उनके हाथ में शासन-तन्त्र के आते ही फूट पड़ा। चिन्तक, वैज्ञानिक, साहित्यकार तथा शिल्पियों को शारीरिक श्रम करने के लिये बोल्शेविक सरकार बाध्य करने लगी। शारीरिक श्रम का अभ्यास नहीं होने के कारण इस वर्ग के नागरिक तथा उनके परिवारी-जन भूखों मरने लगे। गोर्की से यह देखा नहीं गया। वे इन लोगो की दुर्दशा पर रो पड़े। क्या जारशाही से मुक्ति इस दिन के लिये थी? पर वे विवश थे। सत्ता जिनके हाथ में थी वे बुद्धिजीवियो के शत्रु बन चुके थे। गोर्की इस वर्ग की जितनी सहायता कर सकते थे उन्होने की।

दलगत राजनीति से दूर रहकर वे विशुद्ध अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर कार्य करते रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें बोल्शेविकों और बुर्जुआ वर्ग दोनों की ही उपेक्षा सहन करनी पड़ी। सदैव मानवीय दृष्टिकोण ही प्रखर होकर उनके व्यक्तित्व मे उभरा। प्रशंसा व निंदा को समभाव से स्वीकारते हुए, सहते हुए वे अपना मानवीय कर्तव्य करते रहे। रूस के अनेकानेक वैज्ञानिकों व साहित्कारों को बचाने का श्रेय गोर्की को है। उन्होंने इसके लिये अपने अन्तरंग मित्रो तथा पहले के साथियों का विरोध भी सहना पड़ा था।

गोर्की की मृत्यु कब हुई ? कैसे हुई ? इस रहस्य पर से अभी पर्दा नहीं उठा है, सम्भवत: उठेगा भी नहीं। कहते हैं कि एक संघर्ष मे वे मारे गये। गोर्की जैसे लगनशील, संकल्पवान, मानवीय आदर्शों के लिये जीवन नियोजित करने वाले जीवन्त व्यक्तित्व ही मानव को प्रकाश दे सकते हैं।

कूड़े के ढेर से जन्मा एक महामानव

कूड़े के ढेर को उसने कुछ उलटा-पलटा। ढोबारिका शहर के इस होटल के पीछे पड़ी इस जगह में होटल वाले अपनी बची जूठन, रोटियों के टुकड़े डाल आते थे। उसके सिवा यहाँ की छान-बीन करने कुछ कुत्तों के अलावा और कोई नहीं आता था। शायद किसी को आने की जरूरत भी नहीं थी। उसने आँखे ऊपर की ओर उठाई। सूर्य डूब रहा था। थोड़ी देर के लिए एक बादल ने आकर उसे ढक लिया फिर वह हट गया, ठीक सामने क्षितिज के किनारे सूर्य निकल आया और खाली पड़ी जमीन को ज्योति से भर दिया। कूड़े के ढेर मे अकस्मात सुवर्ण बरस पड़ा। इसके बाद सूर्य अस्त हो गया। उसने एक नजर अपनी ओर डाली। शरीर पर फटे चीथड़ों के अलावा और क्या था ?

शरीर को भेदती हुई उसकी नजर और गहरी चली गई। वर्तमान के परे का अतीत झलकने लगा। १४ मार्च १८५८ में रूस के निजनी नोवा स्थान में उसने पहली बार अपनी आँखें खोली थीं। गरीबी और विवशता यही उसकी मित्र बनी। क्या कुछ नहीं देखा उसने तब से आज तक दोनों मामाओं की मार खाकर पिता को मरते देखा था। मनुष्य की दयामाया का इस तरह दिवाला निकलते देख कितना रोया था वह। याद में उसकी आँखों से आँसू ढुलक पड़े। मामा की क्रूर स्वार्थी प्रवृति के शिकार उसके रँगाई

कारखाने के श्रमिको को कोल्हू के बैल की तरह काम करते और आधे पेट भूखे सोते भी उसने देखा था । मानव के दर्द की गहराइयों से अनुभव करता आया था । एक दिन वह भी आया जब कृपण-निष्ठुर नाना ने बूढ़ी नानी के साथ उसे निकाल दिया था । माँ पहले ही पता नहीं कहाँ चली गई थी । तब वह करीब आठ साल का होगा ।

तब से अब, अतीत से अतल सागर से उबरते हुए मुसकराया । मुसकान मे पीड़ा और कर्मठता का अजीब-सा मिश्रण छलछला रहा था । क्या कुछ उसने नहीं सहा-अपमान, तिरस्कार, फटकार, मार । कूड़े का यह ढेर उसका बहुत दिनों का साथी था । यहीं से फटे कागजो को उठाकर तुड़े-मुड़े सड़े-गले रहे अक्षरों को जोड़कर उसने पढ़ना सीखा था । यही उसका पाठशाला थी । पढ़ने का शौक इतना उभरा कि जब कभी किसी के पास अच्छी पुस्तक का पता चलता, उसके पास पहुँच जाता । उसकी मजदूरी करता, बदले में एक-आध दिन के लिए किताब माँगकर पढ़ लेता । देने वाले हँसते, तिरस्कार भरे स्वर मे कहते क्या करेगा पढ़कर यह सब तू! बदले मे वह चुप्पी साध लेता । इस चुप्पी के पीछे कितना कुछ छुपा है किसी को क्या पता ?

उसके हाथ तेजी से कूड़े के ढेर को उलटने-पलटने लगे । शाम का धुँधलका बढ़ता जा रहा था । निशा के सागर की बलवती लहरें-घहराती, बलखाती जैसे समूची धरती सारे आसमान को एक साथ अपने आगोश मे ले लेना चाहती हों । बाहर की तरह उसके भीतर भी कुछ घटित हो रहा था । यादें घुमड़-घुमड़ कर मन पर छा जातीं कुछ ढूँढ़ते हुए हाथों की गति मन्द पड़ने लगती । अब तो नानी को भी मरे बहुत दिन हो गये । रात्रि को रेल्वे स्टेशन में चौकीदारी करता । दिन भर अपनी कोठरी मे कुछ पढ़ता-लिखता रहता । उसका निवास जिसे कोठरी की अपेक्षा कालकोठरी कहना अधिक सही होगा । बदबू और सीलन भरी जगह और वस्त्र उनकी तो चर्चा भी बेकार । जब पहनने के लिये कपड़े नहीं जुट रहे तो ओढ़ने-बिछाने के लिये कहाँ से आए ।

कचरे के ढेर मे कुछ निकालते हुए बुदबुदाया-चलो कुछ तो मिला । सामने कोई आ रहा था । "कौन?" उसने सारी शक्ति को आँखो में केन्द्रीभूत करते हुए-घने होते जा रहे धुँधलके को भेदने की चेष्टा की । आने वाला धीरे-धीरे बढ़ रहा था । स्पष्ट न दीख पड़ने पर भी छाया जैसी हिलडुल रही एक आकृति बढ़ती हुई नजर आ रही थी । प्रश्न अभी यथावत् था । नजरें अभी भी उठी थीं । हाथों की हरकत शान्त थी । इतने में आने वाला पास आ चुका था । दोनों ने एक दूसरे को पहचाना । उल्लास की रेखाएँ चेहरों पर चमकीं और अँधेरे मे विलीन हो गईं । आने वाले ने स्नेहपूर्वक कहा । "भले आदमी अपने शरीर का ख्याल करो । रात भर जागकर चौकीदारी दिन भर किताबो में सिर खपाना । न ढंग से खाना, न ठीक से सोना । इस तरह कब तक चलेगा ।" यह था उसका मित्र मेगरी ।

बातों-बातों में आने वाले की नजर उसके हाथ व गई । उसमें रोटी का टुकड़ा थमा था । "तो क्या भी" । बोलने वाला हकला गया ।

दरअसल क्या ? उसने कुछ छिपाने की कोशिश हुए कहना चाहा । दरअसल क्या ? "सारी तनख्वाह कि में झोंक दी होगी । भूख लगी तो कूड़े के ढेर से बीनने आ गए ?

"मुझे समझने की कोशिश करो, मेगरी! मेरी एक साध है कि मैं मानव का दर्द साहित्य के माध्यम से को समझा सकूँ ।"

"तुम्हारी इस साध को मैं पागलपन कहता हूँ । कौन सुनेगा तुम्हारी । नक्कार खाने मे तूती की आवाज नहीं गूँज करती । सिर टकराने से कहीं दीवारें भी टूटी है ?"

"जबकि मेरा पूरा विश्वास है कि यदि श्रम और समय का नियोजन हो सके । उसमे पूरा मनोयोग जुट सके, म बरकरार रहे तो सभी कुछ सम्भव है ।" उसने मित्र आँखों मे झाँका "जानते हो सिर्फ श्रम बोझ होता है मनो के बिना । मनोयोग न सोने पर श्रम न हो तो व्यावह जगत मे कुछ नही बन पड़ता और यदि समय का नियोजन न हो तो दोनो इधर-उधर भटकते रहते है । ही तीनो मिले कि सभी कुछ सम्भव दिखने लगता है ।"

"फिर क्यो लौट आती है, तुम्हारी रचनाएँ" ।

"शायद मेरे मे अभी कुछ कमी होगी ।" कुछ सोचत हुआ बोला "जो दो-चार बार हारने पर ही हार मान बैठे वह भी कोई इन्सान है ।" वाणी आत्मविश्वास से सनी थी ।

"हाँ-हाँ जो तुम्हारी तरह बार-बार सिर टकराता है, वही इन्सान है, बाकी तो सब ।" आगे के शब्द गले में फँस गए ।

"कुछ भी कहो, जब तक मै मानव को कर्तव्य बो नही करा लेता रुक नहीं सकता, अवरोध मुझे झुका नहीं सकते ।"

"मत रुकना! मत झुकना ! चौकीदारी करने चलना है कि नही ।" उसे जैसे कुछ याद आया । एक साथ—दो कदम अँधेरे के सागर को चीरते बढ़ने लगे । दोनों मौन पर सतही ढग से भीतर कुछ घट रहा था किन्तु एक जैसा नहीं सर्वथा अलग-अलग । कारण मनोभूमि की भिन्नता थी । एक परिस्थितियो के अनुरूप ढल पाने, हर कदम पर समझौता कर बैठने को ही जीवन मानता था । आदर्श और सिद्धान्त उसके लिए बेवकूफी थे । दूसरे के लिए यही सब कुछ थे । इन्हीं के द्वारा उसे परिस्थितियो को मोड़ना था । इनमें से कौन श्रेष्ठ था, इसका मूल्यांकन समय के सिवा और कौन करे?

रेलवे स्टेशन पर टिमटिमा रही बत्तियो को देखकर दोनो चौंके । चौंकने के साथ ही दोनो के मुख पर से ये शब्द निकले 'आ गया' । पहुँचते ही अखबार बेचने वाले की आवाज कान में पड़ी वह कुछ कह रहा था । आज

को अनसुना करते हुए
काकेशस का विशेषांक
यह । मुख मण्डल पर से
वह जैसे प्रसन्नता के साग
भावो का यह परि
कंधा हिलाते हुए उसने
"आज मेरा जन्म हुआ है
"जन्म ।" "हाँ! स
है कूड़े का ढेर । जिसने
पर आज ।" कहते हुए
दिया । बड़े-बड़े अक्षरो
कहानी का लेखक था वा
अरे तुम गोर्की क
भी प्रसन्नता छलक पड़ी
"गोर्की अर्थात्—
विवशताओं के बन्धन क
बना" । दोनो किन्हीं सु
गोर्की और कोई नहीं
मैक्सिम गोर्की ही थे, जि
दिशा दी । समाज को
उन्हीं की तरह अपने
महाक्रान्ति के लिए कर
अभिनन्दन किए बिना न

उसने एक अखबार लिया । यह
ा । पेज पलटते ही उछल पड़ा
कड़ों आश्चर्य एक साथ तैर गए ।
र में समाने लगा हो ।
र्तन मित्र से छुपा न रह सका ।
पूछा "क्या हुआ अलेक्सी ?"
ग्रेगरी ।"
हित्यकार के रूप में और जन्मदाता
मेरा पोषण किया । उसी के बल
उसने अखबार ग्रेगरी के सामने कर
लिखा था—भाकार चन्दा । इस
स्वयं ।
से बन गए । मित्र के चेहरे पर
ज" "मैं तेजी से समाज की
टना चाहता हूँ न इसलिए गोर्की
द अनुभूतियो में खोने लगे । यह
श्व के सर्वश्रेष्ठ रूसी साहित्यकार
नके साहित्य ने रूस की क्रान्ति को
विवशता से उबारा । आज हर मानव
ाम, समय, मनोयोग का नियोजन
सके, तो भावी युग मानव-जाति का
रहे ।

मानवतावादी विचारक—रसेल

ब्रिटिश-दार्शनिक ज
अनुयायी लार्डएम्बरेल के
युग का एक महान चिं
साठ वर्षों में अपने चिंत
को वैज्ञानिक परिभाषाएँ
संघर्ष किया । यह दार्श
रसेल का नाम अ
है । वे नागरिक-स्वतन्त्रता
जीवन का एकमात्र ध्येय
विश्व-शांति की स्थापना
ऐसे मनीषी थे, जिन्होंने
वैज्ञानिक आधार पर यह
मार्ग है । अतिशयवादी
मार्ग पर नही ले जा स
भगवान बुद्ध ने अध्यात्म
मार्ग का दिग्दर्शन माना
राजनीति के क्षेत्र में उस
आग्रह बनाये रखा । उ
बुद्ध के साहित्य का अ
रसेल का चिंतन गाँधीजी
हुआ है और उन पर उ

ानस्टुअर्टमिल के घनिष्ट मित्र और
घर में १८ मई, १८७२ को इस
ारक पैदा हुआ था, जिसने पिछले
न और व्यवहार से मानवीय मूल्यों
दान की और उनके लिये अनवरत
नक था लार्ड बर्ट्रेंड रसेल ।
याय के प्रतिकार के साथ जुड़ गया
के सजग प्रहरी बने हुए थे । उनके
नागरिको के स्वतन्त्र विकास और
रना था । रसेल इस युग के एक
ढ़िवादी परम्परा पर चोट की और
सिद्ध किया कि मध्यम मार्ग ही श्रेष्ठ
ोग मानव-जाति को सुख-समृद्धि के
ते । रसेल राजनीतिक बुद्ध थे ।
के क्षेत्र में जिस सन्तुलित मध्यम
-जाति को कराया था, रसेल ने
सन्तुलित और सम्यक चिंतन का
ने अपने पिता के पुस्तकालय से
यन बचपन में ही कर लिया था ।
के चिन्तन के साथ-साथ विकसित
के असहयोग सम्बन्धी विचारों और

कार्यों का गहरा प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है । वे गाँधीजी की तरह दमन और साम्राज्यवाद आर्थिक-विषमता और राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीकरण के प्रबल विरोधी थे ।

रसेल ने साठ से अधिक ग्रन्थ लिखे । वे आरम्भ में एक वैज्ञानिक थे और उन्होंने विज्ञान पर महत्वपूर्ण शोधप्रबन्ध लिखकर आइंस्टीन जैसे वैज्ञानिकों का मार्ग प्रशस्त किया । परन्तु शीघ्र ही उन्हे अपने जीवन-ध्येय का बोध हो गया और उन्होंने सत्ता के स्रोत आधार तथा उसकी सीमा के बारे में चिंतन शुरू कर दिया । उन्होंने तर्कशास्त्र, विवाह, नैतिकता, शिक्षा, मनोविज्ञान, सामाजिक पुनर्निर्माण तथा धर्म से लेकर विश्व-शांति तक, जीवन के प्रत्येक पहलू पर चिंतन किया और अपनी पैनी बुद्धि तथा प्रखर लेखनी द्वारा मानव-समाज की बुनियादी समस्याओं के हल ढूँढ निकाले ।

रसेल अराजकतावादी नहीं थे, लेकिन उन्होंने राज्य को सर्वेसर्वा मानने से इन्कार कर दिया । उनका विचार था कि 'हमारा ध्येय राज्य की नहीं वरन् समाज की सेवा करना है । राज्य को अनावश्यक महत्व देने से अच्छे समाज का निर्माण नहीं होता । उसके लिए आवश्यक है कि व्यक्तियों का उन्मुक्त विकास हो । उनका दैनंदिन जीवन सुखी हो, उनमें से प्रत्येक के लिए उत्पादक-शक्ति अभिव्यक्ति का समुचित अवसर हो । उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध कुण्ठा, संकीर्णता और द्वेष पर आधारित न होकर स्वतन्त्ररूप से विकसित हों और वे जीवन के मूलगामी आनन्द का निरापद आनन्द अनुभव कर सके ।

रसेल कहते थे कि राजनीतिक प्रतिनिधि आमतौर पर पाखंडी हो जाते हैं और ऐसा मानने लगते हैं कि राजनीति में सज्जनता और नैतिकता की कोई गुंजाइश नहीं है । रसेल इस मामले मे सुकरात के अनुयायी थे । वे मानते थे कि अच्छा मनुष्य हुए बिना अच्छा नागरिक नहीं हुआ जा सकता और जब तक कोई व्यक्ति अच्छा नागरिक न हो तब तक वह अच्छा जन-प्रतिनिधि या अच्छा राजनीतिज्ञ कैसे हो सकता है ? रसेल ने लिखा है—

"संसद और विधान सभाओं के सदस्य आराम से रहते हैं, मोटी-मोटी दीवारें और असंख्य पुलिस जन उनको जनता की आवाज से बचाये रखते है । जैसे-जैसे समय बीतता जाता है उनके मन मे उन वचनो की धुँधली-सी स्मृति ही रह जाती है जो निर्वाचनों-के-समय जनता को दिये थे । दुर्भाग्य यह है कि समाज के व्यापक हित वास्तव में अमूर्त होते हैं और अन्ततोगत्वा विधायकों के निजी, संकीर्ण-हितों को ही जनता का हित मान लिया जाता है ।"

रसेल लोक-तंत्र और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए निरन्तर संगठित प्रतिरोध को अनिवार्य मानते थे । इससे समाज मे अव्यवस्था का खतरा पैदा हो सकता है । परन्तु सर्वग्राही तथा सर्वशक्तिमान केन्द्रीय राजसभा से उत्पन्न होने वाली जड़ता की तुलना में यह खतरा नगण्य है ।

रसेल जैसे बहुमुखी विचारक के लिये यह संभव न था कि वे राज्य की आर्थिक व्यवस्था पर कोई ध्यान न देते। उन्होने मार्क्सवादियो और राज्य-समाजवादियों की इस धारणा का खंडन किया कि नागरिक स्वतन्त्रता को सबसे बड़ा खतरा पूँजीवाद से है। यद्यपि रसेल स्वयं पूँजीवाद के समर्थक नही थे तथापि मार्क्सवाद को भी वे भ्रामक मानते थे। उन्होने लिखा है—

"सरकारी अधिकारी और कर्मचारी चाहे कितनी भी सावधानी से क्यों न भरती किये जाएँ उनमें से कुछ लोग स्वयं आतंकवाद और स्वेच्छचारिता की ओर उन्मुख हो जायेंगे। सत्ता के प्रति स्वाभाविक प्रेम के अलावा उनके मन में यह धारणा भी घर किये बैठी रहती है कि केवल हम ही समाज के हितों को पहिचानते हैं। प्रशासक सहज ही प्रशासन-व्यवस्था को सर्वोच्च मानने लगते है। यह ठीक है कि हर मामले में उनका ज्ञान आम जनता की अपेक्षा अधिक होता है लेकिन वे केवल एक चीज नहीं जानते और यह कि जूता कहाँ काटता है, यानी उनकी व्यवस्था सामान्य जनता को कहाँ कष्ट पहुँचाती है।"

जिस तरह मोची नहीं जानता कि जूता कहाँ काटता है, वह केवल पहनने वाला ही समझता है। उसी तरह प्रशासन भी शास्त्रीय ज्ञान के दंभ मे रहता है। लोकतन्त्र मे केवल ज्ञान के दम्भ की आवश्यकता नहीं वरन् उन लोगो की आवाज का अधिक महत्व है जो शासन और प्रशासन की नीतियो के परिणाम भोगते है।

रसेल, सहयोगी—समाजवाद के सिद्धांत को मानते थे। उनका कहना था कि उद्योगो की व्यवस्था तथा उत्पादन एव वितरण मे व्यवस्थापक और उपभोक्ता मिलकर यह निर्णय करे कि किन वस्तुओ का कितना उत्पादन करना होगा और वे किस दाम पर जनता को उपलब्ध होंगी। पूँजी का स्वामित्व भी उस समाज में रहे जिससे संचित श्रम से उस पूँजी का निर्माण हुआ है और उपभोक्ताओं तथा उत्पादको के प्रतिनिधि उसका सचालन और नियमन करे। यह धारणा बहुत कुछ सर्वोदय की उस कल्पना जैसी है जिसमे 'सब सम्पत्ति रघुपति कै आहीं' मानकर उस पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का विसर्जन श्रेयस्कर बताया है। और यह अपेक्षा रखी गयी है कि उत्पादकवर्ग उस पूँजी को समाज की धरोहर मानकर उसका ट्रस्टी मात्र बना रहेगा एवं उसका दुरुपयोग अपने ऐश्वर्य अथवा सत्ता-संग्रह के लिये नहीं करेगा। यह साम्यवादीहिंसा और विल्कप का एकमात्र विकल्प है तथा रसेल इस विचार से पूर्णतः सहमत थे।

रसेल ने अपनी आँखों से स्टालिन और हिटलर की तानाशाही को देखा था और वे उस तानाशाही के दोषो के बारे में दुनिया को आगाह करना चाहते थे। उन्होने लिखा है कि क्रांति के नाम पर परम्पराओं का निर्माण नहीं किया जा सकता। विचार के नाम पर विचार को नहीं दबाया जा सकता और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की आड मे नागरिक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं किया जा सकता। रसेल ने संसार को अभय का मन्त्र दिया। अपने ग्रंथ 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकन्स्ट्रक्शन' में ये कहते है कि जब तक लोग अपने मन से भय को नहीं निकालेंगे, तब तक वे स्वतन्त्र नहीं हो सकते। ठीक यही बात गाँधीजी ने कही है और हजारों साल पहले रणक्षेत्र में खड़े होकर अर्जुन को दैवी-संपदा के लक्षण समझाते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने 'अभय' का मंत्र दिया था। अभय पहला गुण है और सब गुणों का वह है। रसेल कहते है—किसी से मत डरो—धर्म से, सत्ताधारी से, शासक से, सैनिक से, किसी से भी मत डरो। चिन्तन और विचार के आधार पर निर्द्वन्द्व होकर अन्याय का डटकर मुकाबला करो। इस प्रतिरोध में ही सच्ची स्वतन्त्रता के बीज निहित हैं।

रसेल वास्तव में मानवतावादी विचारक थे। उनके मन में जीवन के प्रति गहरा प्रेम भरा हुआ था। इसीलिए रसेल विश्व-शांति के पहरेदार बन गये थे। उनकी सीख थी कि राष्ट्रों को अपने आपसी विवाद निपटाने के लिये युद्धों का सहारा नहीं लेना चाहिए। रसेल साम्राज्यवाद के भी कट्टर आलोचक थे। वे कहते थे कि केवल इतने से काम नहीं चलेगा कि शक्तिशाली राष्ट्र आपसी संबन्धों में शक्ति का प्रयोग बन्द करके संगठित हो जाएँ। इससे यह खतरा पैदा हो सकता है शक्ति-सम्पन्न-राष्ट्र कमजोर राष्ट्रों को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में बाँट लें और उनका शोषण करते रहे।"

विश्वशान्ति के लिए यह आवश्यक है कि शक्तिशाली राष्ट्रो को कमजोर राष्ट्रो के शोषण से रोका जाय।

रसेल एक प्रतिभाशाली छात्र थे। इसका परिचय इस बात से मिलता है कि ११ वर्ष की आयु, जब अनेक बच्चे खेलने में बिताते है उस समय बर्टेण्ड रसेल ने यूक्लिड की ज्यामिति का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था। इस उम्र में ही वह अनुभव करने लगे थे कि भगवान का सबसे महत्वपूर्ण वरदान मानव के लिये बुद्धि है जो मुझे भी प्राप्त है और इसी के सदुपयोग से बड़े से. बड़े कार्य सम्पन्न किये जा सकते है।

तीसवर्ष की आयु में उन्होने गणित में एक महत्वपूर्ण शाखा की स्थापना की। अध्ययनकाल मे सबसे अधिक रुचि रही गणित में और इसी मे उन्हे आनन्द का अनुभव होता रहा। आज जब अनेक छात्र गणित के अध्ययन से कतरा रहे हैं और उत्तीर्ण होने के लिये न्यूनतम अंक भी प्राप्त करने मे असमर्थ हो रहे है तब रसेल ने अपने जीवन के महत्वपूर्ण वर्षों को गणित के अध्ययन में लगाकर उपलब्धियाँ प्राप्त कीं।

२७ वर्षों के निरन्तर अभ्यास के बाद उन्होने व्हाइटहैड के साथ मिलकर 'प्रिंसिपिया मैथेमेटिका' पूर्ण किया और उस ग्रंथ ने उन्हे विश्व के गणितशास्त्रियो के समकक्ष स्थान दिलवाया।

इंग्लैण्ड में हुआ था । मानवतावादी
. के रूप में अपने माता-पिता
माता इटली के महान दार्शनिक जिन
र पिता एम्बरले अपने युग के माने
ज सुधारक थे ।
को एक कुटुम्ब के रूप में देखना
के बीच धर्म, जाति, सम्प्रदाय और
दीवारें खड़ी है उन्हे वे तोड़ने के
उनका विश्वास था कि यदि मनुष्य
. रहना चाहता है तो उसे भेद की
होगा ।
एण्ड फौर गेट दि रेस्ट' नामक
हुए उन्होंने यही अपील की थी
, जाना चाहिए कि वे हिन्दू के यहाँ
के यहाँ, यहूदी के यहाँ या ईसाई के
धरातल के किसी भाग में जन्म लें
-बिगड़ता नहीं । भारत, पाकिस्तान,
भी भूमि आपको जन्म दे सकती है ।
। याद रखने की है तो वह यह कि

प्रथम महायुद्ध छिड़ा तो उन्हें बड़ा
शांति मे आस्था रखने वाला व्यक्ति
कैसे प्रकट कर सकता था ।
युद्ध का विरोध करने वाले लोगो में
इसका समर्थन करने लगें हैं ।
माता-पिता से भरपूर प्यार मिला था
प्रत्येक माता-पिता के हृदयों में बच्चों
। पर युद्ध की विकराल लपटों के
धारणा बदलने के लिये बाध्य होना
की भावना जाग्रत हो गई । सोचने
, जो देश की रचनात्मक गतिविधियों
दे सकते हैं, । युद्ध की अग्नि
। एक ओर वर्तमान पीढ़ी के प्रति
यौरेप के राजनीतिज्ञों के प्रति रोष,
उत्पन्न करने के लिये उत्तरदायी थे ।
दार्शनिक के रूप मे जाने जाते थे पर
. गये । क्योंकि युद्ध के विरोध द्वारा
क समस्याओं में पदार्पण किया । सन्
न फाइट' नामक पुस्तक लिखकर
.. रसेल की विचारधाराओं के
। उनकी पुस्तक प्रत्येक युवक के हाथ
। अनिवार्य भरती का जो कानून बनाया
में स्वर फूटने लगे । शान्ति मे जिनकी
, में भर्ती होने से इन्कार कर दिया ।
अपने प्रयत्नो को सीमित करने वाले
। से उच्च-राजनीतिज्ञों को भी परिचित

करना चाहते थे । वह प्रधानमंत्री स्क्विथ तथा लायड जार्ज से मिले । 'अनिवार्य भरती विरोध समिति' के सभी सदस्य बन्दी बना लिये गये तो उसका नेतृत्व रसेल ने अपने हाथों में लिया । अपनी विचारधारा को जबरन थोपने वाले राजनीतिज्ञ भला दूसरे की बातों को सुनने के लिये क्यो तैयार होते ?

मई, १९१८ में रसेल बन्दी बना लिये गये । रिहा होने पर उन्होंने सरकारीनीति के विरोध में एक लेख लिखा और छह मास के लिये पुनः उन्हे जेल की हवा खानी पड़ी थी ।

द्वितीय विश्व-युद्ध से समय वह पदार्थ और मानव ज्ञान के विश्लेषण करने में व्यस्त थे फिर भी उनकी राजनीतिक विषयों में रुचि देखी जा सकती थी । उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय हो गई थी । अतः उन्होंने साहित्य की साधना करके ही अपनी इस समस्या को सुलझाया । उनकी एक पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास' प्रकाशित हुई । जिसने उनकी लोकप्रियता को तो बढ़ाया ही साथ ही आर्थिक स्थिति को भी सुदृढ किया ।

सन् १९४५ में हिरोशिमा और नागसाकी पर परमाणु बम के विस्फोट ने उनकी आत्मा को झकझोर दिया । मानवता पर दानवता के इस आक्रमण से वह एक बार फिर रो पड़े । उन्होंने अपने सम्पूर्ण प्रयत्न, युद्ध के विरुद्ध मानव जाति को संगठित करने के लिये प्रारम्भ कर दिये । परमाणुयुद्ध के विरुद्ध वह जनमत जाग्रत करना चाहते थे । वह हर मानव को युद्ध की पीड़ा से परिचित कराना चाहते थे । इसके लिये उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का गाँधीवादी मार्ग अपनाया । अहिंसावादी व्यक्ति अहिंसा की राह पर स्वयं चलता है और दूसरों को भी उसके लिये प्रेरित करता है ।

१८ फरवरी, १९६१ को ५०० शांति-यात्रियों का जुलूस प्रधानमंत्री के सरकारी कार्यालय पर पहुँचा और युद्ध-विरुद्ध विशाल-प्रदर्शन किया । दो घन्टे तक लार्ड रसेल बाहर ही बैठे रहे । ६ अगस्त को हिरोशिमा दिवस मनाया गया । हाइड पार्क में जनसमूह अपने मार्गदर्शक रसेल की वाणी को सुनने के लिये एकत्र हुआ । नियमों को तोड़कर रसेल ने ध्वनि-विस्तारक-यंत्र का प्रयोग किया, । रसेल पर सरकार द्वारा मुकदमा चलाया गया और फिर दो मास की जेल यात्रा करनी पड़ी ।

मानव-जाति से सम्बन्धित प्रत्येक समस्या के प्रति रसेल की गहरी रुचि थी । सन् १९६२ मे चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो वह व्याकुल हो उठे । उन्होंने युद्ध के भयंकर विनाश से बचाने के लिये दोनों देशों से अपील की ।

ब्रिटेन की धरती पर जन्म लेकर भी वह किसी एक देश के होकर न रहे । समग्र मानवता की पीड़ा को हरना उनका उद्देश्य था और इसी प्रयत्न में वे अंत तक लगे रहे । उनके इन शान्ति-प्रयत्नों का सब जगह स्वागत किया गया और विभिन्न पुरस्कारों से उन्हे विभूषित किया गया ।

सन् १९५० में नोबल शान्ति पुरस्कार, १९५८ में भारत ने कलिंग पुरस्कार, १९६० में हालैण्ड ने सोनिंग पुरस्कार तथा १९६३ में अमरीका ने टामस पेन पुरस्कार प्रदान कर उनकी भावनाओं को यथोचित सम्मान प्रदान किया ।

३ फरवरी, १९७० को ९८ वर्ष की दीर्घआयु में खंड-खंड मानवता को अखंड बनाने के प्रयास में लार्ड रसेल ने इस संसार से विदा ली । चंद्रतल को अपने पैरों से रौंदने वाले मानव को वह अंत तक यही सन्देश देते रहे कि भूतल पर हाथ में हाथ मिला कर प्रेम से चलने का भी अब प्रत्येक व्यक्ति को प्रयत्न करना ही चाहिए । भेद-भाव की जो रेखाएँ जमीन पर कहीं अंकित दिखाई नहीं देतीं उन्हें वह व्यक्ति के मन से भी मिटाना चाहते थे और यही प्रयत्न वह अंत तक करते रहे ।

प्रो. एच. विल्सन—मैक्समूलर जिनके उत्तराधिकारी बने

सन् १९०८ में एक अँग्रेज युवक इंग्लैण्ड से भारतीय-चिकित्सा-सेवा-विभाग का अधिकारी बन कर आया । इस अँग्रेज युवक का रसायन-शास्त्र तथा रासायनिक-परख-विज्ञान पर भी अच्छा अधिकार और अनुभव था । इस कारण उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कलकत्ता की टकसाल मे परख अधिकारी बना दिया । इस पद पर काम कम था और जिम्मेदारियाँ अधिक । इसलिए अधिकांश समय फालतू ही रहता ।

अपने विभाग के अन्य अधिकारियों ने युवक को खाली समय मौज-मजे उड़ाने में लगाने की प्रेरणा दी । परन्तु युवक को यह अच्छा नहीं लगा । वह कोई ऐसा काम तलाशने लगा जिसमें खाली समय गुजारा नहीं उपयोग में लाया जा सके । समय ही जीवन है । यह बात अच्छी तरह समझ कर उसके उपयोग के अवसर ढूँढे जाएँ तो व्यक्ति शीघ्र ही समय काटने वालों की अपेक्षा कई गुना अधिक प्रगति कर दिखा देता है ।

परख अधिकारी युवक जो बाद मे प्रो. एच. एच. विल्सन के नाम से पाश्चात्य देशों तथा भारत के सांस्कृतिक जगत में विख्यात हुए ने समय की कीमत को ही ठीक प्रकार से समझा तथा उसका उपयोग इतनी कुशलता के साथ किया कि भारत से विदा होते समय वे वेदो के आद्य आंग्ल अनुवादक के रूप में माने जाने लगे ।

एच. विल्सन ने परख-अधिकारी के पद पर रहते हुए शेष समय भारतीय जन-जीवन का अध्ययन करने में लगाया । इस देश की सामान्य जनता से लेकर विशिष्ट और विद्वान व्यक्तियों तक में उन्हें कई विशेषताएँ दिखाई दीं । किसी भी देश और समाज की सभ्यता-संस्कृति की परख वहाँ के सामान्य वर्ग से ही की जा सकती है । विल्सन ने देखा कि यहाँ का साधारण आदमी अद्‌भुत परिश्रमी, संतोषी, अध्यवसायी, सहृदय तथा शिष्ट, विनम्र है । ये जातीय विशेषताएँ इस देश की संस्कृति और धर्म की ही देन है सकती है, बाहर से आयातित नहीं । यद्यपि उस समय दं दम्भी, मिथ्याभिमानी और शान-शौकत पसन्द करने वाले लो की कमी नहीं थी । परन्तु विल्सन ने इसका कारण दूसरा माना है । अपनी एक पुस्तक में वे इन कारणों का उल्ले करते हुए कहते हैं—जहाँ कहीं भी मुझे सादगी, सज्जन और नम्रता का अभाव दीखा वहीं के वातावरण का अध्यय करने पर पता चला कि ये गुण यूरोपियनों के संसर्ग से ही पैदा हुए है अन्यथा भारत की आत्मा तो महान् है ।

भारतीय-समाज की इन विशेषताओं का परिचय अपनी टकसाल में ही देखने को मिला । वहाँ के कर्मचारि को वे भारतीय संस्कृति का प्रेरणा स्रोत मानते हुए लिख है—मैंने जब भी टकसाल के कर्मचारियों, मिस्त्रियों तथ श्रमिकों को देखा तो वे प्रायः हँसमुख और कार्यरत ही दीखे । उनके अथक परिश्रम, अनवरत अध्यवसाय और प्रसन्न चेहरे को मैं कभी नहीं भुला सकूँगा । वे अनुशासित और व्यवस्थ प्रेमी है । ईमानदार है । दूसरे देशों की टकसाल में जि प्रकार का सुरक्षा, प्रबंध और अपराध निरोधक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है, वह यहाँ अनावश्यक समझी गयी है ।

यह चित्रण उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों वाले जन-समाज का है । जो लोग भारत की चरित्रहीनता, आलस्य और अय्याशी को यहाँ की संस्कृति की देन मानते है, वे भूल करते है । वस्तुतः इन दुर्गुणों का आविर्भाव तो शारीरिक, मानसिक और राजनीतिक सर्वांगीण दासता के यु में ही हुआ । उस समय, जबकि यह चित्र है, ईस्टइण्डिया कम्पनी का शासन अपने प्रारम्भिक दौर में था ।

भारतीय-जनता के प्रति इतना प्रशंसा-भाव तथा परिष्कृत-दृष्टिकोण रखने वाले प्रो. एच. एच. विल्सन का जन २६ सितम्बर, १७८६ ई. को लन्दन के एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था । सोहो स्क्वायर तथा सेंट टामस अस्पताल में उन्होंने शिक्षा तथा चिकित्सा शास्त्र की डिग्री प्राप्त की । विद्यार्थी जीवन में भी वे साथियों की दृष्टि में एक रूखे स्वभाव के किताबी कीड़े माने जाते थे । परन्तु विल्सन मनोरंजन के लिये जीवन शक्ति का अपव्यय करने वाली पार्टियों और मौज-मजों से अपना समय बचाकर प्रकृति की गोद मे जाते । समय सम्पदा का नाश करने वाला मनोरंजन जहाँ व्यक्ति की मानसिक शक्तियों को क्षीण और पंगु बनाता है, वहीं स्वस्थ मनो-विनोद और प्रकृति-प्रेम मस्तिष्क को नयी ताजगी और बुद्धि को शक्ति प्रदान करता है ।

भारत आने तक उन्हें यह पता नहीं था कि संस्कृत नाम की कोई भाषा है भी । यहाँ के जनजीवन को इतना निकट से देखने के बाद उन्हें भारतीय-संस्कृति के प्रति जिज्ञासा हुई और वे यहाँ की संस्कृति के प्रति आकृष्ट हुए । कई भारतीय विद्वानों से उन्होंने सम्पर्क साधा ।

आरम्भ में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कई वैदिक विद्वान अपने धर्मग्रन्थों को विदेशी तथा विधर्मियों के हाथ से स्पर्श भी होने देना नहीं चाहते थे। इस सम्बन्ध में उन लोगों की धारणा थी कि ऐसा होने से धर्मग्रन्थ अपवित्र हो जाते हैं। इस परम्परा का निर्माण धर्मान्ध मुगल बादशाहों से धर्मग्रन्थों की रक्षा के लिए किया गया। हम तो इस ज्ञान को संसार के कोने-कोने में पहुँचाना चाहते हैं ताकि दुनिया के लोग भारतीय संस्कृति और धर्म की महानता को भली-भाँति समझ लें।-प्रो. विल्सन ने समझाया। विचार और विवेक का वरण करने के लिए सतत तैयार रहने वाले पण्डितों ने अब विल्सन को सभी प्रकार की सहायता देने का निश्चय किया।

समाज का बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो किसी समय में बनायी गयी उपयोगी परम्पराओं को, जो अब व्यर्थ सिद्ध हो चुकी है, भी पालन करता चलता है। इनमें से कई तो समझदार और विचारशील भी होते हैं परन्तु प्राय: उनका ध्यान परम्परा की उपयोगिता के विषय पर नहीं जाता। कारण वे विचारशील होने से पहले कहीं परम्परावादी होते हैं। उन व्यक्तियों को समझाने का प्रयास किया जाय तो वे आसानी से व्यर्थ परिपाटियों और हानिकारक प्रथाओं का त्याग कर सकते हैं। समाज के बहुत बड़े भाग को इस प्रकार रूढ़िमुक्त किया जा सकता है।

विद्वानों की सहायता से संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर विल्सन भारतीय तत्वज्ञान की दिशा में क्रमशः प्रगति करते गये। हिन्दू धर्म और संस्कृति के अध्ययन हेतु बनायी गयी एशियाटिक सोसायटी के वे सदस्य भी बने। कई वर्षों तक वे इस संस्था के सेक्रेट्री पद पर रहे।

सर्वप्रथम उन्होंने मेघदूत और विष्णुपुराण का अँग्रेजी में अनुवाद किया। संसार संस्कृत साहित्य के रत्नकोषों को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। संस्कृत भाषा के अध्ययन को सुलभ बनाने के लिये उन्होंने एक शब्दकोष तैयार किया और संसार की सभी भाषाओं से अधिक इस भाषा को समृद्ध साबित किया।

सन् १८३३ में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रोफेसर बन कर यहाँ से वापस चले गये। जाते समय वे अपने साथ वेदों की संहिताएँ और आर्य साहित्य भी लेते गये। उन्होंने सर्वप्रथम ऋगवेद का अँग्रेजी अनुवाद किया। जो आज भी यूरोप के वेद विद्यार्थियों को पाठ्य ग्रन्थ के रूप में पढ़ाया जाता है। सायण भाष्य पर आधारित उनका अनुदित ऋग्वेद प्रकाशित होते ही यूरोपीय देशों में तहलका मच गया। संसार के लोग आश्चर्यचकित रह गये कि इतना सम्पन्न और समर्थ संस्कृति वाला देश एक व्यापारी कम्पनी का गुलाम कैसे बना हुआ है। प्रो. विल्सन ने भारत का ऐतिहासिक अध्ययन कर उन कारणों को भी उद्घाटित किया।

१८६० में जब विल्सन की मृत्यु के कारण आक्सफोर्ड के संस्कृत प्रोफेसर का पदरिक्त हुआ तो उनका प्रधान शिष्य और मेधावी अनुयायी होने के कारण ही मैक्समूलर को इस पद पर नियुक्त किया गया। आंग्ल भाषा में वैदिक साहित्य के अनुवाद का श्रेय भी मैक्समूलर को प्रो. विल्सन के कारण ही प्राप्त है। अवकाश के समय का उपयोग कर संसार को एक महान संस्कृति के तत्वज्ञान से अवगत करा देने वाले प्रो. विल्सन का भारतीय समाज बारम्बार आभारी है।

भारतीय संस्कृति के अनन्य श्रद्धालु—मैक्समूलर

संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित मैक्समूलर का जन्म जर्मनी की डेवी जागीर में सन् १८२३ में हुआ था। इनके नाना डेवी जागीर के प्रधानामात्य थे। पिता विलियम मूलर भी विख्यात् कवि थे। पितृकुल काव्य संगीतादि ललित कलाओं के प्रति अनुराग तथा मातुल वंश से अभिजात्य वृत्ति उन्हें प्राप्त हुई थी। शैशव में चार वर्ष की अवस्था में ही पिता के दिवंगत हो जाने के कारण माता की ममतामयी निगरानी में उन्हें अध्ययन करना पड़ा। मैक्समूलर जन्म से तो जर्मन थे किन्तु मन-वचन-कर्म से जिन्होंने भारतीय ग्रन्थों और संस्कृति का पुनरुद्धार किया।

वह स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए बर्लिन विश्व-विद्यालय में गये। वहाँ भाषा विज्ञान के विद्वान श्री वौप तथा दार्शनिक श्री शेलिंग के व्याख्यानों से वह बहुत प्रभावित हुए और अपना अध्ययन पूर्ण कर वे पेरिस पहुँचे। व्याख्यान प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति के निरूपण और उनसे उत्पन्न धर्म के वास्तविक स्वरूप के विषय में थे। इस विषय में प्रो. वरनाफ के व्याख्यान को सुनकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बिना संस्कृति साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों-वेदों के अध्ययन से उनका अध्ययन अपूर्ण है। वे इस बात को भली-भाँति जान गये थे कि संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ ही ऐसे साधन है जो मानव के हृदय में धर्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कर सकते हैं व सारी मानव जाति को एक सूत्र में कटिबद्ध कर सकते हैं। उन्होंने निश्चय किया कि समस्त मानव जाति को वेदों में सन्निहित महान ज्ञान से परिचित करायेंगे। स्वयं वेद देंगे और उन्हें प्रकाशित करके प्रबुद्ध जनता को उससे लाभान्वित करेंगे।

यह कार्य उतना आसान नहीं था। क्योंकि वेदों के समग्र अध्ययन के लिए भारत आना पड़ता फिर उनका गहन अध्ययन करने के बाद उनका अनुवाद करना पड़ता, मैक्समूलर अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सभी कठिनाइयों को पार करके भारत आये और वेदों का आद्योपान्त अध्ययन करने के बाद उन्होंने उनका अनुवाद करने का निर्णय किया।

वेदों के गहन अध्ययन से उन्हें विश्वास हो गया कि वेद तथा अन्य भारतीय धर्म-ग्रन्थ देवी संकेतों, उपयोगीज्ञान, सदुपदेश, मन्त्र, स्वर्ण सूत्रों से भरे पड़े हैं। उनके अध्ययन और आचरण से हम दूरदर्शी और सद्‌गुणी बनते हैं। वेद

जीवन लक्ष्य प्राप्त करने की दशा में सही मार्गदर्शन करते हैं ।

भौतिक जगत की जड़ता, नीरसता और बहिरंगता एवं कर्कशता से छुड़ाने की प्रेरणा भारतीय धर्म ग्रन्थों में भरी पड़ी है । उनमें जीवन का वह रस भरा हुआ है, जिसे दान करके तुच्छ जीवन से उठकर हम महामानव बनते हैं ।

मैक्समूलर को इन्हीं विशेषताओं ने अपनी ओर आकृष्ट करके उनका अनुवाद करने के लिए प्रेरित किया । उन्होंने देखा कि आज भी भारतीयों में वेदों की आत्मा निवास करती है । लम्बी दासता की जंजीरो में जकड़ने से आज भारत की परिस्थितियाँ विपन्न हो गई हैं तो क्या! उनके अन्तरंग में वे प्राचीन संस्कार बीज रूप में अभी भी जमे हुए हैं । उनमें यह विशेषता वेद विदित आस्थाओं के कारण बनी रही है ।

उस समय वेदों की हस्तलिखित अथवा मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध नहीं थीं, किन्तु उनकी ज्ञानेषणा इतनी प्रबल थी कि वे ऋग्वेद की हस्तलिखित पांडुलिपियाँ प्राप्त करने के लिए 'इण्डिया हाउस लायब्रेरी' के पुस्तकालयाध्यक्ष से लन्दन जाकर मिले । ग्रन्थ तो उपलब्ध हो गये किन्तु उनका मुद्रण एवं प्रकाशन सरल कार्य नहीं था, उनके लिए पर्याप्त धन राशि की आवश्यकता थी अतः वे 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के संचालकों से मिले ।

जब उन्होंने ईस्ट इण्डिया-कम्पनी के संचालकों से ऋग्वेद के प्रकाशन की बात कही तो उन्होंने कहा—'हमने तो धर्म के उत्थान के लिये एक चर्च में धन राशि लगाने का निश्चय किया है । इस पर उन्होंने कहा देवालयों से अधिक महत्ता सद्ज्ञान की है और ज्ञान किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित नहीं है । वह जहाँ भी हो वहीं से उसे लिया जाना चाहिए । यह बिना किसी पक्षपात के महत्वपूर्ण ज्ञान को प्रकाश में लाया जाना चाहिए । संचालक उनके तर्कों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने ऋग्वेद के प्रकाशन का व्यय-भार स्वीकार कर लिया ।

ऋग्वेद के प्रकाशन के समय एक घटना घटी । मैक्समूलर की विद्वता और अध्यवसाय की अवहेलना कर उनके स्थान पर एक कनिष्ट आंग्ल विद्वान को नियुक्त कर दिया गया । पद से च्युत किये जाने पर भी उनके मन में किसी भी प्रकार की प्रतिकार या द्वेष की भावना नहीं आयी वरन् उन्होंने विचारा कि पद ही व्यक्ति के लिए सब कुछ नहीं वह तो एक बन्धन मात्र है । पद का मोह तो इस बन्धन को, संकीर्णता को जन्म देता है । उससे व्यक्ति की स्वतन्त्र विचारधारा परतन्त्रता के बन्धन में बँध जाती है । अतः इस बन्धन से ही मुक्त रहकर भी मैं कार्य सफलता से सम्पादित कर सकता हूँ । यह विचार मस्तिष्क में आते ही वे उत्साह और निष्ठा से अपने प्रिय कार्य संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अन्वेषण में लग गये । उनका सच्चा साहित्य प्रेम विकसित हुआ और एक दिन रंग लाया, सर्वत्र उनकी लगन सराही गई । शिक्षाशास्त्रियों ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें बोडालिन के पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त कराया । उसी वर्ष उन्हें एम. ए. की सम्मानित पदवी से विभूषित किया गया और अनेक विश्वविद्यालयों में उन्हें प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं साहित्य तथा आर्ष वैदिक वाङ्मय पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया गया ।

श्री मैक्समूलर को उपनिषद्-वाङ्मय के गहन अध्ययन के कारण उसका इतना ज्ञान था कि सम्पूर्ण वेदों का तत्व और महत्व अल्प शब्दों में व्यक्त कर दिया है ।

"उपनिषद् वेदान्त-दर्शन के स्रोत हैं, जो मेरी दृष्टि में मानवीय चिन्तन की चरम सीमा है । मैं आनन्द के प्रत्येक क्षण उनके अध्ययन में व्यतीत करता हूँ । मेरे लिए वे प्रभात की ज्योति, पर्वतों की स्वच्छ वायु के समान हैं, समझने में पर अत्यन्त सरल और सत्य हैं ।"

उपनिषदों के तत्व ज्ञान से प्रेरित होकर उन्होंने आक्सफोर्ड एवं केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में अनेक भाषण दिये ।

मैक्समूलर केवल वेद-दर्शन के केवल ज्ञाता मात्र ही हों यही नहीं वरन् जो भी कुछ उन्होंने वेद उपनिषदों से ज्ञान पाया उसे व्यवहार में लाने की चेष्टा भी की । जब उन्हें यह पता लगा कि लोकमान्य तिलक के साथ बन्दीग्रह में सामान्य कैदियों की भाँति व्यवहार किया जा रहा है तो उनका हृदय जेल में दी जाने वाली यातनाओं की कल्पना करके ही द्रवित हो उठा । उन्हे इस बात का बहुत दुःख हुआ कि एक सच्चे देशभक्त के साथ इस तरह का व्यवहार किया जा रहा है । यद्यपि वे शारीरिक रूप से उन यातनाओं के दुःख को बाँट नहीं सकते थे किन्तु फिर भी उन्होंने अपने सद्प्रयत्नों के द्वारा उनके कष्टों को मानसिक रूप से बाँट लिया । व्यक्ति का सद्व्यवहार और सहानुभूति एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार दूसरों के दुःखों का निवारण करने की बहुत बड़ी सामर्थ्य रखता है । उन्होंने लोकमान्य तिलक से जेल मे पत्र सम्पर्क रखा और बौद्धिक तथा कई तरह की सुविधाएँ पहुँचाई ।

असाधारण प्रतिभा के धनी श्री मैक्समूलर के विशाल हृदय मे सामान्यजन के लिये सहानुभूति की स्निग्ध धारा निरन्तर रूप से प्रवाहमान थी । भारतीय संस्कृति के लिये ही नहीं उन्हें भारतीयो के प्रति भी सहज स्नेह था । कोई साधारण भारतीय भी उनसे मिलता तो वह हार्दिकता से स्वागत करते थे ।

"छोटा सा सुन्दर मकान, उसके इर्द-गिर्द सुन्दर बगीचा, शान्त सौम्य मुखड़े वाले, श्वेत केश मनीषी, जिनका माथा सत्तर हेमन्त झेलकर भी बालक की तरह चिकना है । उनके मुखड़े की प्रत्येक लकीर अपने पीछे गहराई में छिपी आध्यात्मिक खान का परिचय देती है, उनकी साध्वी पत्नी जो उद्वेजक दिलचस्पी से भरे लम्बे श्रमसाध्य कार्य में, घोर विरोध व अपमान मे और अंततः प्राचीन भारत के मनीषियों के जीवन चिन्तन के प्रति आदर उत्पन्न करने में उनकी जीवन सहयोगिनी रही है—इन सब चीजों ने मेरे को प्राचीन भारत

के स्वर्णिम दिनों में, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के, वशिष्ठों और अरुन्धतियों के दिनों में पहुँचा दिया।"

विदेश-प्रवास काल में ऑक्सफोर्ड से अपने एक देशवासी भाई को लिखे इस पत्र में स्वामी विवेकानन्द ने उपरोक्त जिस व्यक्तित्व और उसके द्वारा सम्पादित महान कर्तृत्व की अभ्यर्थना की है—वह थे वेदज्ञ पाश्चात्य-विद्वान मैक्समूलर, जिन्होंने सर्वप्रथम विश्व को ऋग्वेद का मुद्रित संस्करण दिया था। इसके लिये उन्हें वर्षों तक अहोरात्र मानसिक श्रम ही नहीं करना पड़ा था वरन् कई संकट, कई कठिनाइयों व व्यंग्य बाणों का धैर्य व दृढ़तापूर्वक सामना करना पड़ा था। इसी कारण स्वामी विवेकानन्द जैसे महान व्यक्ति की दृष्टि में वे इतने सम्माननीय बन सके थे।

देवोपम संस्कृति का प्रथम और उच्चतम विकास जिस भूमि पर हुआ था उस भारत भूमि और उसके निवासियों के प्रति मैक्समूलर महोदय के हृदय में अनूठा प्रेम था। स्वामी विवेकानन्द ने जब उनसे यह प्रश्न पूछा कि आप भारत कब पधार रहे हैं तो उनके नयन नम हो गये। उन्होंने अवरुद्ध कण्ठ से कहा था—"तब फिर मैं लौटूँगा नहीं, आपको मेरा अग्निदाह वहीं करना पड़ेगा।" उनके इन शब्दों से स्पष्ट पता चल जाता है कि वे भारत के कितने भक्त थे। कोई व्यक्ति कितना किसी संस्कृति से प्रभावित हो सकता है यह उनके इस कथन से स्पष्ट है। यदि वे भारत आते तो क्या निश्चय ही वे प्रसन्न होते? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। हम भारतवासी जिस प्रकार अपनी संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं और पाश्चात्य सभ्यता संस्कृति का अन्धानुकरण कर रहे हैं उसे देखकर उन्हें कितनी मर्मान्तक पीड़ा होती यह कल्पना ही त्रासदायी है।

स्वामी विवेकानन्द ने जब उन्हें इस कष्ट के लिये धन्यवाद दिया कि उन्हें स्वयं स्वामी जी को ऑक्सफोर्ड के विभिन्न कालेज दिखाने पड़े थे इस पर वे जिस सहजता से कह सके थे—"रामकृष्ण परमहंस के शिष्यों से रोज थोड़े ही मुलाकात होती है।" इन शब्दों में उन्होंने अध्यात्मवादी भारत की जो अभ्यर्थना की थी वह हमारे लिये गौरव की बात भी है कि यहाँ ऐसे अध्यात्मवादी पैदा हुए पर शर्म की बात भी है कि आज इस देश में अध्यात्म के नाम पर अकर्मण्यता, पलायनवाद, पोंगापन्थी और अन्धविश्वास का ही जाल फैला हुआ है। इस जाल को तोड़ना अति आवश्यक है।

जर्मनी में जन्मे और पचास वर्ष तक इंग्लैण्ड में रहे मैक्समूलर भावनाओं, विचारणाओं और कर्तृत्वों से पूरे भारतीय मनीषी थे। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व राष्ट्र की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठ चुका था। वे एक प्रकार से विश्व नागरिक थे। जर्मन के प्रख्यात कवि विल्हेम मूलर के घर १८२३ में उनका जन्म हुआ। जन्म के चार वर्ष बाद ही उन्हें पितृशोक सहना पड़ा। बचपन में ही उनका परिचय महान संगीतकार मेंडलहासन से हुआ। संगीत में उनकी रुचि बढ़ रही थी कि स्वयं मेंडलहासन ने उन्हें इस क्षेत्र से विरत किया।

वे लिपजिंग विश्वविद्यालय में पढ़े। वहाँ संस्कृत भाषा के आचार्य-प्राचार्य ब्राक हाउस ने उन्हें क्लासिक साहित्य पढ़ने की राय दी। उन्होंने संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया तो अठारह महीनों में ही संस्कृत ज्ञान में इतनी दक्षता प्राप्त करली कि हितोपदेश का अनुवाद भी कर डाला। हितोपदेश का यह अनुवाद जब तीन वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तो विद्वजनों में बड़ा लोकप्रिय हुआ और इक्कीस वर्षीय मैक्समूलर को काफी सम्मान मिला जो उनकी वय को देखते हुए बहुत अधिक था। इसका श्रेय मैक्समूलर के उस स्वभाव को है जो किसी भी कार्य को आधे अधूरे मन से सम्पादित करना नहीं चाहता।

वे आरम्भ में संगीतकार बनना चाहते थे। कहना न होगा कि वे उस क्षेत्र में भी प्रयास करते तो थोड़े ही दिनों में विख्यात संगीतकारों की पंक्ति में जा विराजते। स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति उनकी तरह किसी भी काम को पूरे मन से करता है तो उसे उसमें ख्याति और सफलता मिलते देर नहीं लगती। कोई व्यक्ति अपने कार्य में असफल होता है उसे अपने आपको टटोलना चाहिए कि क्या उसने कार्य को पूरे मन और पूरी निष्ठा के साथ किया। जिस प्रकार मैक्स-मूलर किया करते थे।

लिपजिंग विश्वविद्यालय से स्नातक बनकर वे बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ उन्हें बाप और यूजीन बर्नूज प्रभृति भाषाशास्त्रियों का सहयोग-सान्निध्य प्राप्त हुआ। यहीं उनके मन में ऋग्वेद का संस्करण तैयार करने की कामना जाग्रत हुई।

कार्य बड़ा कठिन था। यह एक व्यक्ति का नहीं पूरी एक संस्था का कार्य था। किन्तु वहाँ न तो ऐसी कोई संस्था ही थी और न वैसी संस्था का निर्माण ही सम्भव था। इस श्रमसाध्य और आर्थिक लाभ से शून्य कार्य के लिये सहयोगियों का मिलना भी अति कठिन था। किन्तु भारतीय धर्म और संस्कृति के उच्चतम स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाले इस प्राचीनतम आर्ष ग्रन्थ से विश्व को परिचित कराने की उपयोगिता और आवश्यकता को वह बखूबी समझते थे। वे स्वयं इस ज्ञान सम्पदा से एक हो चुके थे। संस्कृत के अध्ययन ने उनके सामने एक नई दुनिया के द्वार खोल दिये थे। वे उसका लाभ अपने तक ही सीमित न रखकर समस्त विश्व को बाँटना चाहते थे। अतः उन्होंने अकेले ही इस कार्य को हाथ में लिया।

कार्य कितना ही कठिन और दायित्व कितना ही सुदुर्वल क्यों न हो जब कोई उसे पूरे मन से स्वीकार कर संकल्प बद्ध हो जुट जाता है तो फिर वह पूरा हुए बिना नहीं रहता।

मैक्समूलर ने भी ऋग्वेद का संस्करण प्रकाशित करने का संकल्प लिया तो वे तुरन्त ही उसे पूरा करने की साधना में जुट गये। उन्होंने प्राचीन पाण्डुलिपि अपने हाथों से तैयार की, मिलान किया और सन्दर्भों की जाँच की उस समय आर्ष

लनकर्ता भी थे अतः जब संस्कृत-अध्यापक का बोडेन-पीठ ख़ाली हुआ तो उन्हें आशा के विपरीत उस स्थान पर नियुक्त हीं किया गया । इतना होते हुए भी संस्कृत भाषा और ारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा कम नहीं हुई ।

ऋग्वेद के प्रथम संस्करण के बाद उन्होंने 'सेक्रेट बुक्स ऑफ ईस्ट' नामक एक पुस्तक माला आरम्भ की और कोई चास के लगभग पुस्तकों की रचना की । उन्होंने तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, तुलनात्मक धर्म, तुलनात्मक पुराण शास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर भी पुस्तके लिखीं । इसके साथ यूरोप के अनेक विश्वविद्यालयो के आमन्त्रण पर उन्होंने कई तथ्यपूर्ण भाषण भी दिये । आई. सी. एस. के प्रत्याशियो के सामने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में दिये गये उनके भाषण 'इण्डिया, इस्ट केन टीचर्स' मे भारतीय संस्कृति का एक गौरवमय चित्र प्रस्तुत करने का सफल, सुन्दर व सार्थक प्रयास किया गया है ।

साहित्यिक पत्रिकाओ और विद्यालयो की पत्रिकाओ के लिये भी वे प्रेरक लेख लिखकर दिया करते थे ।

एक व्यक्ति कितना कार्य कर सकता है अपने जीवन मे, वे इस तथ्य को उजागर करते हैं । उनके इस कार्य को देखते हैं तो लगता है यह एक व्यक्ति क्या एक संस्था से भी न हो सकने वाला कार्य है । इसके लिये उन्हे कितना श्रम करना पड़ा होगा यह विचारणीय है । वे सन् १९०० में अपनी मृत्यु के दस दिन पूर्व तक उसी तत्परता से श्रमपूर्वक कार्य करते रहे थे । उन्हे इस युग का ऋषि कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी ।

वे भारतवर्ष आये भले ही न हो भारत के प्रति और भारतवासियो के प्रति उनका अनुराग अपूर्व था । भारत में उनके सैकड़ो मित्र थे, परिचित थे । राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन और स्वामी विवेकानन्द जब इंग्लैण्ड गये थे तो मैक्समूलर अपने व्यस्त कार्यों में से समय निकाल कर उनके भाषण सुनने ही नहीं गये थे वरन् उनका आतिथ्य भी किया था । स्वामी विवेकानन्द को उन्होंने ऑक्सफोर्ड का एक-एक कॉलेज दिखाया था ।

लोकमान्य तिलक से वे उनकी पुस्तकों के द्वारा परिचित थे । 'केसरी' के एक लेख के कारण जब उन्हे कठोर कारावास दिया गया था तो मैक्समूलर महाशय ने अपने निजी प्रभाव से उन्हे जेल मुक्त करवाया था । तिलक महाराज ने अपनी 'आर्कटिक होम ऑफ वेदाज' में इसका उल्लेख किया है ।

उनका छोटा पर सुन्दर कुटीर सदा आतिथ्य के लिये विख्यात रहा । महारानी विक्टोरिया से लगाकर सामान्य प्रजाजन तक के लिये इस घर के द्वार खुले हुए थे । उनकी व्यस्त दिनचर्या और कठोर मानसिक श्रमसाध्य कार्य के प्रतिकूल होते हुए भी वे अतिथि सत्कार की पुण्य परम्परा का निर्वाह आजीवन करते रहे थे । इंग्लैण्ड जाने वाले भारतीयों के लिये उनका कुटीर किसी देवालय से कम श्रद्धास्पद नहीं था । अभाव ग्रस्त विद्यार्थी और लोकसेवी संस्थाओं की आर्थिक सहायता करने में भी उन्होंने अपनी स्थिति और सामर्थ्य से अधिक ही साहस दिखाया था ।

ऐसे महान मानवतावादी विचारक के ३ फरवरी, १९७० को निधन से संसार की अभाव पीड़ित जनता का एक मसीहा तिरोहित हो गया ।

भारतीय संस्कृति को समर्पित एक पाश्चात्य विद्वान—सर विलियम जोन्स

सन् १७८३ ई. ईस्ट इण्डिया कम्पनी में भरती होकर एक विधिवेत्ता भारत आये । नाम था उनका सर विलियम जोन्स । उनके जीवन की यह उत्कृष्ट अभिलाषा थी कि वे देवभाषा संस्कृत का ज्ञान अर्जित करें और नूतन पुरातन ज्ञानामृत का पान करें । पर उस समय हमारा भारतीय समाज तरह-तरह की मूढ़मान्यताओं से ग्रसित था । एक ओर जहाँ प्राचीनकाल मे भारतीय मनीषियो ने सागर और पर्वतो की बाधाएँ पार कर भारतीय ज्ञान-विज्ञान को विश्व के कोने-कोने मे पहुँचाया था वहीं अब यह समझा जाने लगा था कि देवभाषा के अक्षरों की ध्वनि भी विदेशियो के तो क्या स्त्रियो तथा वैश्यों के कानों मे न पड़े । हम लोगो ने अपने बहु-संख्यक समाज को ही इस ज्ञान के अधिकार से वंचित कर रखा तो यह कैसे सहन कर सकते थे कि एक पाश्चात्य म्लेच्छ को संस्कृत सिखाते ।

सर विलियम जोन्स न तो भारतीय समाज की इस मान्यता से घबड़ाये और न ही उन्होंने अपनी ज्ञान साधना को बीच मे ही रोका । उस समय सरजोन्स बंगाल मे थे और बंगाल मे कोई भी संस्कृत पण्डित उन्हे संस्कृत सिखाने को तैयार नहीं था । पर सर जोन्स भी चुप बैठने वाले नहीं थे । उन्होंने शिक्षक की खोज जारी रखी । अन्ततः पं. रामलोचन नामक एक संस्कृत विद्वान उन्हें संस्कृत पढ़ाने के लिए राजी हुए । लेकिन शर्त यह थी कि सर जोन्स संस्कृत सीखने के लिए अपने बँगले मे एक कमरा पृथक रखे । वह कमरा केवल संस्कृत सीखने के उपयोग मे ही लिया जाय, अन्य कोई और कार्य उसमें न हो तथा यह भी कि कमरे की सफाई भी हिन्दू नौकर ही करे और पाठ आरम्भ होने से पहले कमरे को गंगाजल से शुद्ध किया जाय ।

सर जोन्स को अपने अध्ययन काल में आवश्यक शौचाचार का पालन करने के लिए भी वचनबद्ध किया गया । उन्हे उस पूरी अवधि में माँसाहार छोड़ कर शुद्ध निरामिष भोजी बनना पड़ा । पढ़ते समय वे बिना आसन के फर्श पर बैठते और उनका मुँह दीवार की ओर रहता था कहीं यवन म्लेच्छ की दृष्टि संस्कृत पण्डित को मलीन कर दे तो । जब सरजोन्स अपना पाठ पूरा कर लेते तो उस स्थान को पानी से धोकर शुद्ध किया जाता तथा फिर आचार्य महोदय वहाँ से विदा होते ।

यह क्रम आद्यान्त चलता रहा । आरण्यक युग की ज्ञानतपस्या इस युग में किसी को सर्वप्रथम करनी पड़ी तो वह थे सर जोन्स । उन्होंने बड़ी लगन से संस्कृत सीखी । केवल जिज्ञासा और भारतीय ज्ञान विज्ञान को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से । इस ज्ञान साधना में उनका कोई निजी स्वार्थ निहित नहीं था । इस प्रकार के अद्भुत ज्ञान पिपासु और भारतीय संस्कृति के प्रति अनन्य समर्पित विलियम जोन्स का जन्म बीस सितम्बर, १७४६ ई. को लन्दन में हुआ । उनका पूरा परिवार कुलीन, विद्वान और विद्याव्यसनी था । पिता अपने समय के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे और विख्यात वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन के निकट मित्रों में से थे । माँ एक उद्योगपति की लड़की थी और सुशिक्षिता थी । माता-पिता दोनों ने ही मिल कर अपने पुत्र के व्यक्तित्व में यह आदर्श नस-नस में प्रवाहित कर दिया था कि विद्या ही संसार की सर्वश्रेष्ठ विभूति है और विद्यावान बनोगे तो ही अन्य उपलब्धियाँ मिल सकेगी ।

कहना नहीं होगा कि विद्याव्यसनी सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित ध्यान रखा गया । विद्याप्रेम उन्हे माता-पिता से विरासत के रूप में मिला और अच्छी से अच्छी शिक्षा सुलभ हो सकी । प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने हैरो और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी मे शिक्षा प्राप्त की तथा सन् १७६८ मे स्नातक हुए ।

शिक्षा समाप्त करने के बाद वे एक युवा सामन्त के निजी शिक्षक बने । लेकिन इस काम मे वे अधिक समय तक लगे नही रह सके , क्योंकि उनका जिज्ञासु मन उन्हें ज्ञानप्राप्ति के लिए सुदूर यात्राएँ करने की प्रेरणा दे रहा था । ताकि वे जहाँ से भी सुलभ हो सके विद्यारत्नों को बटोर कर अपनी ज्ञानराशि मे अभिवृद्धि कर सके । इसी कारण उन्होंने कुछ समय बाद ही अध्यापन कार्य छोड़ दिया । इससे पूर्व उन्होंने अपने छात्र के साथ जर्मनी, फ्रांस तथा इटली आदि देशो का भ्रमण किया ।

विदेश यात्रा से लौट कर वे पुन: शिक्षा प्राप्ति मे लगे और १७७३ ई. मे उन्होंने एम. ए. की परीक्षाएँ पास कीं तथा लैटिन और यूनानी भाषाओं का विशेष अध्ययन किया । सरजोन्स की बुद्धि इतनी पैनी और कुशाग्र थी कि उन्होंने शीघ्र ही इन भाषाओ पर विशेष अधिकार प्राप्त कर लिया तथा वे विज्ञजनों में इन दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में माने जाने लगे । इसके बाद उन्होंने लैटिन में कई सुन्दर-सुन्दर कविताएँ लिखीं तथा साथ ही अपनी ज्ञान साधना भी जारी रखते रहे ।

इससे पूर्व ही सरजोन्स ने कई पूर्वी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था । आक्सफोर्ड में रहते समय ही उन्होंने हिब्रू, अरबी तथा फारसी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था । एक अँग्रेजी भाषी के लिए अरबी का शुद्ध उच्चारण बहुत ही कठिन है । पर सर जोन्स ने इस कठिनाई को आसान करने के लिए एक अरबी विद्वान को वेतन दे[कर] अरबी सिखाने के लिए अपना शिक्षक नियुक्त किया [और] अरबी का शुद्ध उच्चारण सीखा ।

पूर्वी भाषाओं का विलियम जोन्स ने इस अवधि [में] इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि वे आसानी से उन भाषाओं में लिखे पत्रों तथा पुस्तकों का अँग्रेजी में बहुत अच्छा अनुवाद कर लेते थे । डेनमार्क के शासक लॉर्ड [...] सहाम ने उसे नादिरशाह के आत्मचरित का मूल फारसी से फ्रान्सीसी में अनुवाद कराया था । इससे पूर्व अरबी, फारसी और तुर्की भाषा की साहित्य सम्पदा का परिचय देने वाला एक बड़ा ग्रन्थ उन्होंने लैटिन में लिख डाला था तथा सन् १७७१ में उन्होंने एक फारसी व्याकरण भी लिखा । विलियम जोन्स की इस विद्वता का जनता और सरकार द्वारा अच्छा आदर भी किया गया । सरकार ने १७७२ में उन्हें रायल सोसायटी का फैलो भी मनोनीत किया । डॉ. सेमुअल जान्सन, बर्क व गिबन जैसे विद्वान इस सोसाइटी के [सदस्य] थे पर सब जोन्स की आयु से कहीं अधिक थे । उस समय जोन्स की आयु केवल २६ वर्ष ही थी ।

जोन्स की ज्ञान साधना का यह एक पक्ष हुआ । उन्होंने जीविका के लिए कानून का अध्ययन किया और २८ वर्ष की आयु में बैरिस्टर बन गये । उनकी कुशाग्र प्रतिभा ने यहाँ भी अपना प्रभाव दिखाया और शीघ्र ही उनकी ख्याति के साथ एक सफल बैरिस्टर का विशेषण और जुड़ गया । १७७६ में उनकी नियुक्ति दिवालियेपन की जाँच कर रहे [आयोग] आयोग मे हुई जिसमें देश के ख्यातिप्राप्त और चोटी के विधिवेत्ता नियुक्त थे ।

इसके चार वर्ष बाद उन्होंने जमीन के मुचलकों तथा तत्सम्बन्धी निर्णयों पर एक प्रबन्ध लिखा तथा प्रकाशित कराया । स्मरणीय है इस प्रबन्ध को आज तक भी इस [...] को इंग्लैण्ड और अमेरिका में प्रामाणिक आधार ग्रन्थ समझा जाता है । शिक्षा के बाद विधि जगत में उन्होंने इस प्रकार अपनी प्रतिभा को प्रवेश दिया तो वहाँ भी वे अमूल्य रत्न खोज कर लाये और उनकी प्रसिद्धि देशभर मे फैल गयी । लोग अपने जटिल से जटिल मुकदमे की पैरवी सरजोन्स को सौंप कर निश्चिन्त से हो जाते । अब उनके पास बड़े-बड़े मुकदमे आने लगे थे । यहाँ तक कि वे अपने मुवक्किलों की पैरवी के लिये विदेशो तक मे जाते थे ।

एक बार वे अपने अमेरिकन मुवक्किल की पैरवी करने के लिए अमेरिका जाने की तैयारी कर रहे थे । फ्रान्स होते हुए अमेरिका जाने का विचार था । अभी वे तैयारियाँ ही कर रहे थे कि ब्रिटिश सरकार का उन्हे न्यायाधीश के रूप में कलकत्ता जाने का आदेश आया । विलियम जोन्स के हृदय में भारत के प्रति बड़ा सम्मान था । आरम्भ से वे सुनते आये थे कि यद्यपि भारतीय सभ्यता और संस्कृति इस समय सुषुप्तावस्था में है, वहाँ अँग्रेजो का राज है पर भारत के पास ज्ञान-विज्ञान का अगाध भण्डार है । उसकी स्थिति

ऐसी है जैसे कोई व्यक्ति खजाने के ऊपर बैठकर दो-दो पैसे के लिए तरसता रहे। यदि भारत अपनी सम्पदा का उपयोग करे तो एक ब्रिटेन क्या सौ ब्रिटेन की सम्मिलित शक्ति उसकी बराबरी नहीं कर सकती।

विलियम जोन्स के मन में भारत के प्रति पहले से ही एक आकर्षण खींच रहा था। उन्हें लग रहा था कि भारत भूमि उन्हें पुकार रही है। जैसे पूर्व जन्मों में इस महानभूमि से उनका कोई सम्बन्ध रहा हो। वह सम्बन्ध अब पुनः स्थापित होने जा रहा था। यह उनकी इच्छा पर निर्भर था कि प्रस्तावित न्यायाधीश का पद वे स्वीकार करें अथवा नहीं। बहुत सम्भावना तो यह थी कि आर्थिक लाभ की दृष्टि से वे इस प्रस्ताव को अस्वीकार ही कर दें। पर उन्हें लगा कि यह अवसर न केवल इसी समय का है वरन् इस पूरे जीवन का है और उन्होंने अपने सभी मुवक्किलों को उनके सारे केस क्षमाप्रार्थना करते हुए वापस कर दिये और सितम्बर, १८७३ में वे 'सर' की उपाधि के साथ भारत आये।

उन्हे यह किसी प्रकार समझ नहीं आ रहा था कि जो भारत सभ्यता के उच्च शिखर को छू चुका है और जिस समय संसार की सभ्य कही जाने वाली जातियाँ सभ्यता का पहला पाठ भी सीख नहीं पायी थीं उस समय भारत की संस्कृति अपने विकास के चरम पर थी—वह भारत दीन-दलित कैसे हो गया। भारत आने के बाद संस्कृत सीखने की उन्होंने जो चेष्टा की उस समय हिन्दू पण्डितो ने उनसे जैसा व्यवहार किया, उस व्यवहार ने उनके सामने सभी गुत्थियों को सुलझाकर रख दिया।

भारत आने के बाद सर विलियम जोन्स के सम्मुख पूर्वी देशों के इतिहास, सस्कृति और साहित्य का विशाल क्षेत्र खुला पड़ा था। दिसम्बर १७८३ में मुख्य न्यायाधीश का पद ग्रहण करने के कुछ ही महीनो मे सरजोन्स ने प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान विल्किन के सहयोग से 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की स्थापना की। इस सोसायटी का उद्देश्य था—संस्कृत भाषा और प्राच्य विद्या का संशोधन कार्य, समीक्षात्मक शास्त्रीय अध्ययन तथा ग्रन्थो का प्रकाशन। बाद मे इसकी शाखाएँ बम्बई तथा लन्दन और कुछ अन्य नगरों में भी खुलीं।

इस सोसायटी की स्थापना के साथ ही सर विलियम जोन्स को संस्कृत सीखने के लिये उक्त कष्टसाध्य ज्ञान साधना से गुजरना पड़ा। उपनिषद युग के गुरुकुलों में प्रचलित नियमो और आचारो का पालन करते हुए सर जोन्स ने हिन्दू पण्डित से संस्कृत भाषा का अच्छा अध्ययन किया। संस्कृत का उन्होंने कुछ ही समय में अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और सन् १७८९ ई. में कालीदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् तथा सन् १७९४ ई. मे हितोपदेश का अनुवाद किया। इन ग्रन्थो के लालित्य और साहित्य से जब अँग्रेजो का परिचय हुआ तो उन लोगों की भ्रान्तियाँ टूट गयीं जो केवल पराधीन होने के कारण भारतीय समाज तथा संस्कृति को हीन दृष्टि से देखते थे।

सर विलियम जोन्स ने संस्कृत में कई मौलिक कविताएँ भी लिखीं। वे कविताएँ पौराणिक कथानकों के आधार पर लिखी गयी हैं। बताया जाता है वे एक महाकाव्य भी लिखने वाले थे जिसमें हिन्दू पुराणों की घटनाओं और चरित्रों को ही आधार बनाने का विचार किया था। सरजोन्स की यह आकांक्षा पूरी न हो सकी और ४८ वर्ष की आयु में सन् १७९४ ई. में उनका देहावसान हो गया।

डॉ. सैम्युएल जानसन—जिनने कठिनाइयों से लड़ना सीखा

जो भी आश्रयहीन, अपंग अथवा दीन-हीन व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता था उसकी सेवा तथा सहायता करना डॉ. सैम्युएल का सबसे बड़ा धर्म था। कहने वाले कहते रहते कि 'घर को तो इन्होंने अनाथालय बना रखा है।' वे सुनते और मुसकरा भर देते बस।

इंग्लैण्ड के इस महान साहित्यकार का जन्म लिचफील्ड नामक कस्बे में १८ सितम्बर, १७०९ को हुआ था। पिता एक पुस्तक विक्रेता थे। माइकेल जानसन उनका नाम था। घर की आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त साधारण थी। ढाई वर्ष की अवस्था मे ही इन्हें गण्ड माला की बीमारी हो गई। प्रयत्न अनेक किये गये। पर वह ठीक न हो सकी। उस समय के लोगों की धारणा के अनुसार व्यक्ति को इंगलैण्ड की महारानी छू देती थी, उसकी बीमारी सदैव के लिये अच्छी हो जाती थी। उनकी माता ने यह भी किया। किन्तु इस अन्ध-विश्वास से कोई समस्या हल न हुई और वे सदा के लिये कुरूप तथा काले हो गये। यों प्रारम्भ से ही प्रकृति गम्भीर तथा शांत रहने की थी। अब प्रवृत्तियाँ और भी आत्मोन्मुखी हो गई और साथ समय, सारी शक्तियाँ अध्ययन की ओर ही लग गईं। पिता की पुस्तकों की दूकान थी ही सो सामग्री भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध थी। स्मरण शक्ति भी इतनी तीव्र थी कि एकबार जिस बात पर से दृष्टि गुजर जाती थी वह तत्काल कण्ठाग्र हो जाती।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय ग्रामर स्कूल मे हुई। १९ वर्ष की अवस्था में इन्हें आक्सफोर्ड पढ़ने के लिये भेजा गया। किन्तु गरीबी के कारण हालत ये रहती थी कि कभी कभी तो पैरों में जूते न होने के कारण लज्जावश कालेज ही न जाते थे और पढ़ाई संगी-साथियों की सहायता से पूरी करते थे। एक व्यक्ति ने एक दिन एक जोड़ी जूते उनके निवास स्थान पर चुपके से रख भी दिये, लेकिन स्वाभिमान के इतने पक्के थे कि उन्होंने स्वीकार नहीं किये। आर्थिक दशा और भी बिगड़ी और पढ़ाई छोड़कर घर चले आना पड़ा। अब उन्हे धनोपार्जन की चिन्ता ने आ घेरा। एक स्थान पर अध्यापक बनने के लिये प्रार्थना पत्र भी भेजा किन्तु

उसे इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि "आप कुरूप है । आपको देखकर बच्चे हँसेगे ।"

यह कुरूपता उनके विवाह में भी बाधक हुई और किसी समवयस्क सुन्दरी से उनका विवाह न हो सका तब २६ वर्ष की अवस्था मे एलिजावेथ पोर्टर नामक एक ४६ वर्षीया विधवा से उन्हे विवाह करना पड़ा । लेकिन उनका दाम्पत्यजीवन बड़ा ही सुखमय एवं सन्तोषपूर्ण था । दोनों एक दूसरे को भरपूर प्यार तथा आदर करते थे ।

आर्थिक संघर्ष अभी भी सामने था । एक स्कूल खोला । वह भी न चला तो डेढ़ वर्ष पश्चात् बन्द कर देना पड़ा । अब उन्होने नौकरी की आशा छोड़कर अपने गहन अध्ययन को ही जीविका का माध्यम बनाया । तीव्र तथा प्रतिभाशालिनी बुद्धि तो थी ही । थोड़ा और अध्ययन बढ़ा दिया और लेखनी चल पड़ी ।

सन् १७५२ में उनकी पत्नी का देहावसान हो गया अब एकाकीपन को भी उन्होने निरन्तर के अध्ययन-मनन में ही डुबो दिया ।

सन् १७५५ मे डॉ. जानसन का प्रसिद्ध अँग्रेजी शब्द कोष प्रकाशित हुआ । इसको उन्होने केवल पाँच वर्षों मे तैयार किया था । इसमे डॉ. साहब ने प्रत्येक शब्द की परिभाषा अपने अनोखे ही ढंग से दी है । परिभाषा के साथ यह भी बताया है कि अमुक शब्द का प्रयोग अमुक साहित्यकार ने कहाँ और कैसे किया है । इतना गहरा अध्ययन था उनका । इस ग्रन्थ के ऊपर ही उन्हे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने 'डाक्टर' की उपाधि से विभूषित किया ।

डॉ. जानसन की गुरुता का प्रतीक यह शब्दकोष आज भी अँग्रेजी साहित्य की अमूल्य निधि है । आर्थिक तंगी तथा एक आँख का बिल्कुल ज्योतिहीन होना भी उनके मनन-चिन्तन मे कभी बाधक न बन सका । इन सब कठिनाइयो के होते हुए भी केवल पाँच वर्ष मे ग्रन्थ का प्रणयन कर लेना निश्चय ही प्रशंसनीय है । जबकि फ्रांसीसी एकाडेमी ने अपना शब्दकोष तैयार करने के लिये ४० व्यक्तियो को लगाया था और वे सब मिलकर ४० वर्ष मे ही इस कार्य को पूरा कर सके थे । एकबार यही संदर्भ देते हुये किसी व्यक्ति ने उनकी प्रशंसा की तो उनका उत्तर था कि 'एक अँग्रेज पाँच सौ फ्रांसीसियो के बराबर होता है ।'

डॉ. जानसन के सम्पर्क मे सन् १७६३ मे जैम्स वास्वेल नामक युवक आया । वह इनकी विद्वता तथा योग्यता से इतना प्रभावित हुआ कि इनकी जीवनी लिखने का निश्चय किया उसने । इसी समय से वह सामग्री जुटाने मे व्यस्त हो गया और कालांतर में उसने डॉ. जानसन का जीवन वृत्त लिखा । वह 'द लाइफ आफ सैम्युएल जानसन' के नाम से प्रकाशित हुआ है । उसमें सैम्युएल जानसन के जीवन की भी महत्वपूर्ण घटनाओं तथा भावचक्रो का चित्रण है ।

सन् १७६३ में जानसन साहब ने अपने साहित्यिक लब की स्थापना की थी । अनेक बड़े साहित्यकार, राजनीतिज्ञ तथा कुशल कलाकार इस संस्था के सदस्य थे। उनमें सर जोशुआ—रेनाल्ड्स—एडमंड बर्क ओलिव गोल्डस्मिथ—डैविड गैरिक—एडवर्ड गिबन—टि विन्सले—शेरिडन—आदम स्मिथ आदि विख्यात है ।

क्लब में आकर ही आपके जीवन का गाम्भीर्य मुख होता था । आपकी यह विशेषता थी कि किसी भी विष पर बोल सकते थे । एक साहित्यकार तथा कलाकार के रूप में आपका व्यक्तित्व अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था । प वक्तृत्व कला में भी किसी से पीछे नहीं थे । इनके ज्ञ की गहराई की तुलना लोग मुक्तकंठ से करते है । क्लब में आकर उनका जीवन एकदम विनोदी, मनोरंजक और हल्की-फुल्की भावनाओं से भर उठता था । हाजिर जवा से लोग बहुत प्रभावित होते थे । आप दिल के भी बहु साफ थे । जो कुछ अन्दर होता वही बाहर । उनके साम कभी कोई व्यक्ति सिद्धान्त या आदर्श की बात करता—तो सर्वप्रथम वे यही देखते कि उस सिद्धान्त अथवा आदर्श का पालन वह व्यक्ति स्वयं भी करता है या नहीं ।

अक्सर गरीबी मनुष्य को जीवन के प्रति अनासक्त बन देती है । किन्तु आपको उसने विशाल हृदय का तथा प्राणी मात्र के प्रति ममतामय, दयावान तथा करुणाशील बना दिया, कोई भी असहाय व्यक्ति बिना उनकी सहायता पाये कभी उनकी दृष्टि से नही गया ।

सन् १७७० मे सम्राट् जार्ज तृतीय ने आपकी प्रतिभ का मूल्याकन किया और तीन सौ पौण्ड वार्षिक पेंशन देन आरम्भ किया पर इसमें से भी अधिकांश राशि वे दीन-दुखियों की सहायता मे ही लगाते थे । उनकी प्रमुख रचनाओं में 'लन्दन' 'द वेनिटी ऑफ ह्यूमन विशेज' 'द लाइव्ज आफ द पोयर्ट्स' 'इरेन' तथा 'शेक्सपियर' बहुत ही लोकप्रिय है ।

सन् १७८४ मे आपका देहावसान हुआ । आपका जीवन प्रबल प्रेरणा देने वाला तथा साहित्य बुद्धि को चकाचौंध कर देने वाला है, मन की उदारता का तो कहना ही क्या ?

नोवल पुरस्कार विजेता साहित्यकार
सेमुअल बैकेट

फ्रांस के एक नये-नये पुस्तक प्रकाशक जेरोमलिंडन के पास एक लेखक की पत्नी अपने पति की लिखी हुई एक कृति की पाण्डुलिपि लेकर पहुँची । उसे पढ़कर प्रकाशक ने उसे प्रकाशित करने का निश्चय कर लिया । अपने इस निश्चय की सूचना जब उसने लेखक महाशय की पत्नी को दी तो वह बड़ी प्रसन्न हुई, पर पति उसकी इस प्रसन्नता से निरपेक्ष ही रहा, उसे कोई प्रसन्नता नहीं हुई ।

रचना प्रकाशित होने के मात्र एक सप्ताह पहले उक्त लेखक अपने प्रकाशक से मिल कर घर लौटा तो उसका मुँह लटका हुआ था । प्रकाशक ने कोई ऐसी वैसी बात

तो नहीं कह दी, यह जानने के लिये पत्नी ने पूछा—"क्या लिण्डन ने आपसे अच्छा व्यवहार नहीं किया ?"

"नहीं, ऐसी बात नहीं है ।

"तो फिर आप उदास क्यों हैं ?"

"मैं उदास इसलिए हूँ कि वह बेचारा मेरी पुस्तक प्रकाशित तो कर रहा है पर मुझे डर है कि कहीं मेरी पुस्तक प्रकाशित करके वह दिवालिया न हो जाय या उसे भारी घाटा न उठाना पड़ जाय ।"

पति के इस उत्तर पर पत्नी उसका मुँह देखती रह गयी । भला कोई आदमी इतना सरल और उदार हो सकता है, इस जमाने में भी । अपने काम के लिये कोई दूसरा स्वेच्छा से ही अनजाने घाटा क्यों उठाये । यह लेखक और कोई नहीं १९६९ नोबल साहित्य पुरस्कार जीतने वाले प्रसिद्ध साहित्यकार सैमुअल बैकेट थे, जिन्हें अपनी प्रसिद्धि से अधिक अपने प्रकाशक के दिवालिये हो जाने या घाटा उठाने की चिन्ता रहा करती थी ।

विश्वविख्यात साहित्यकार होते हुए भी उनकी सादगी और सरलता का यह हाल है कि जब उन्हें नोबल पुरस्कार मिला तो देश-विदेश के कितने ही पत्रकार उनसे भेंट करने को पहुँचे, पर उनका कहीं पता ही न चला । यह तो सभी जानते थे कि सैमुअल बैकेट नाम का कोई प्रसिद्ध साहित्यकार है पर वह है कौन ? कैसा है ? क्या करता है ? कहाँ रहता है ? यह कोई नहीं जानता था । वे उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये । अंत में उन्होंने उनके प्रकाशक जेरोम लिण्डन से अता-पता पूछा तब कहीं जाकर वे उनसे मिल सके । इतने प्रसिद्ध आदमी का इतना अप्रसिद्ध होना भी एक आश्चर्य की ही बात है । पर उनकी सादगी और सरलता तो कुछ इसी प्रकार की थी । प्रसिद्धि से वे सदा दूर ही रहना चाहते थे । 'प्रगति के आकांक्षियों को प्रसिद्धि से दूर ही रहना चाहिए' यह बड़ा ही सुन्दर और तथ्यपूर्ण सूत्र है मनुष्य के लिये । लघुता प्रभुता मिलने की बात को रहीम ने भी खुलकर स्वीकारी है । उस तथ्य को स्वीकारने वाला व्यक्ति प्रगति करेगा इसमें दो राय नहीं ।

बैकेट मात्र साहित्यकार हों, सो बात नहीं है वे सफल शिल्पी और कुशल खिलाड़ी भी हैं । क्रिकेट के फील्ड में भी वे अपना कमाल दिखाते हैं । मजे की बात यह भी है कि वे दोनों हाथों से खेल लेते हैं दायें से भी और बायें से भी । मनुष्य कितना कुछ बन सकता है यदि चाह हो और साधना करे तो बैकेट इसके जीते जागते उदाहरण हैं ।

फील्ड में खेल खेलना तो एक प्रकार से खेल का स्थूल रूप है । खेल मात्र खेल नहीं है कि एक भावना है जीवन किस प्रकार जीया जाय, इसका मार्गदर्शन करने की क्षमताएँ हैं खेल की भावनाओं में । सैमुअल ने स्थूल खेल तो खेले ही हैं उसके सूक्ष्म पक्ष को भी समझे हैं और उन्होंने जीवन को खिलाड़ी की तरह जिया है । जीवन के हर क्षेत्र में उनका वह खिलाड़ी सदा उनके साथ रहा है यहाँ तक कि साहित्य सृजन में भी ।

वे मानते हैं कि यह जीवन एक खेल ही है । खेल से अधिक इस जीवन की इस संसार की किसी अन्य कर्म से क्षमता नहीं है । उन्होंने अपनी रचना में एक पात्र से कहलवाया है—"यह सब कुछ नहीं है । कहीं कुछ नहीं हो रहा है । कोई नहीं आ रहा है । कोई नहीं जा रहा है । उनकी इस बात में और भारतीय संत कवि कबीर के—पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात, होते ही छिप जायेंगे ज्यों तारा परभात ।" में कितना साम्य है! अध्यात्मवादी देश के एक संत कवि ने मनुष्य और संसार के बारे में भिन्न-भिन्न शब्दों और स्वरों की एक ही बात कही है ।

एक दिन की बात है कि किसी पत्रिका के एक सम्पादक श्री बैकेट से मिलने आये । बैकेट प्रसिद्धि से दूर रहते थे । पत्र-पत्रिकाओं में रचना के साथ वे अपने फोटो छपवाना भी पसंद नहीं करते थे । सम्पादक उनसे पूर्व परिचित भी नहीं था । अतः वह उन्हीं से पूछ बैठा "श्री बैकेट कहाँ हैं ?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"मुझे नहीं मालुम ।" व्यावहारिकता और सभ्यता के नाते तो उनकी इस प्रकार उत्तर देने को ठीक नहीं कहा जा सकता, पर जहाँ तक सत्य का प्रश्न है, उनका यह कथन गलत नहीं कहा जा सकता ।

मनुष्य अपने आप से अपरिचित है, अपनी वास्तविक सत्ता को वह नहीं जानता, फिर सैमुअल बैकेट ने कह दिया कि मुझे मालुम नहीं तो कोई गलत बात नहीं कही । अपनी वास्तविक सत्ता को जानने की उत्कृष्ट जिज्ञासा जो बैकेट के मन में थी उसकी छाप उनके साहित्य पर देखी जा सकती है । व्यक्ति बाहर अपने को खोजता रहे तो उसे अपनी सत्ता का परिचय मिलने से रहा, उसे अपने भीतर झाँकना पड़ेगा । उन्होंने अपने भीतर अपने ही ढंग से झाँकने का प्रयास किया था ।

सैमुअल बैकेट ने इस यांत्रिक सभ्यता के दुष्परिणामों से संत्रस्त व्यक्ति की वेदना को अपने हृदय में अनुभूत किया है । उन्हें सदा इस बात की चिन्ता रही है कि वे इस वेदना को कैसे व्यक्त करें । अपने आप से अपरिचय, समग्र मानव समाज की वेदना को अनुभव करना अपने हृदय में और निखिल ब्रह्माण्ड में मनुष्य की नियति का अर्थ पाने की जो अभिलाषा सैमुअल बैकेट के मन में रही है । वस्तुतः पाश्चात्य भौतिकवाद के सामने एक प्रश्न चिन्ह है । उनके साहित्य में मनुष्य की वह व्यग्रता उजागर हुई है कि वह अपने आपको तो जान ले पहले । इसका उत्तर कहीं मिल सकता है तो अध्यात्मवाद में ही ।

जीवन को खेल की तरह जीते हुए श्री बैकेट उस चरम सत्य को खोजना चाहते से लगते हैं जिसके बिना मनुष्य को यह जीवन जीना अनजानी राह पर भटकने जैसा ही होता है । २५ वर्ष की आयु में उन्होंने ट्रिनिटी कालेज के फ्रेंच भाषा के प्राध्यापक पद से स्तीफा देकर संघर्षों की राह चुनी ।

उन्होने कितने ही अनुभव पाये इस संघर्ष यात्रा में। बहुत कुछ पाया तो खोया भी सही। फ्रांस, जर्मनी तथा अन्य कई योरोपीय देशों में घूमे और अन्त में फ्रांस में ही बस गये स्थायी रूप से।

दूसरे महायुद्ध के दिनों में वे दिन में तो एक खेत पर काम करते थे और रात मे अपना उपन्यास लिखा करते थे। इस शरीर, मन और मस्तिष्क और संसार से वे एक प्रयोगशाला का काम लिया करते थे। उनकी खोज का अन्तिम लक्ष्य था अपने आप से परिचय पा लेना। सेमुअल अपने आपको अपने ढंग से जान पाए या नहीं या इस जीवन मे जान भी सकेगे या नहीं यह तो वे ही जाने पर उनके इस प्रयत्न का अर्थ अवश्य है। यह सच्चे और शाश्वत सुख और चरम सत्य की खोज है। भारतीय चिंतक मनीषी सदियो पूर्व इस दौर से गुजरे थे और वे उस सत्य को पा भी चुके थे। वह सत्य हमारे वेद, उपनिषद् आदि आर्षग्रंथो मे अभिव्यक्त हुआ है।

संघर्षमय जीवन को तो उन्होने स्वेच्छा से स्वीकारा था सो अन्तहीन संघर्ष तो उनके साथ जुड़ ही गया है। साहित्य के क्षेत्र मे भी उन्हें कम संघर्ष नहीं करना पड़ा। उनकी 'मर्फी' 'मोलोय' तथा 'मालोन की मृत्यु' नामक रचनाऐं योरोप में ही नही पाश्चात्य साहित्य मे चर्चा की विषय बनी रहीं। उनकी 'गोदी की प्रतीक्षा में' कृति ने उन्हे विश्व विख्यात बना दिया साहित्य जगत मे। इसी पर उन्हे नोबल पुरस्कार भी मिला।

वे आयरिश होते हुए भी फ्रेंच मे लिखते है। उनकी अधिकांश रचनाएँ फ्रेंच मे लिखी गयी है। उन्होने स्वयं फिर कई का इंगलिश मे अनुवाद किया है। एक विदेशी भाषा पर इतना अधिकार रखना आश्चर्य का विषय ही है।

पाश्चात्य जगत आज मात्र भौतिक उपलब्धियों और यांत्रिक सफलताओ को ही चरम लक्ष्य मान कर जीवन को एकांगी बना बैठा है। वह सैमुअल बैकेट के लिये बहुत वेदना और पीड़ा की बात थी। इन दोनो अतिवाद ने उसके जीवन को भी यान्त्रिक, शुष्क और नीरस बनाकर रख दिया है। पाश्चात्य जगत का एक-एक व्यक्ति अपनी भूल का दुष्परिणाम भोग रहा है, वह कितना व्यथित, चिंतित और त्रस्त है इसकी अनुभूति उन्होने अपनी संवेदना द्वारा निज हृदय मे अनुमान की। लेखक वस्तुतः अपने नही पराये दर्द से दुखी रहा करता है। बैकेट भी सारी पाश्चात्य सभ्यता के दुख-दर्द को सहते और अभिव्यक्ति देते रहे है।

इस पीड़ा ने उन्हे बहुत कुछ विद्रोही भी बना दिया है, जो उनके अपने बहुचर्चित उपन्यास से प्रकट होता है। वस्तुतः यह अनास्था धर्म के प्रति नहीं धर्म के उस विकृत स्वरूप के प्रति है, जिसे आज के बहुत से धर्माधिकारी सब कुछ समझ बैठे है। धर्म के नाम पर अधर्म को पूज रहे है। उनके उस विकृत स्वार्थ के प्रति अनास्था रही है बैकेट की।

आज के दोहरे और मुखौटे लगा कर जीते जीवन, मनुष्य की आर्थिक सम्पन्नता के साथ बढ़ते भावनात्मक दिवालियेपन को उन्होने देखा। वह उनके संवेदनशील मस्तिष्क को बहुत खटका, जो उनके नाटकों एंड, अन्त, इन्नोमानल (अनाम) और 'ओह वह सुन्दर दिन'। मानव की उस दरिद्रता का अच्छा चित्रण हुआ है।

बैकेट विद्रोही साहित्यकार थे। वे बंधनों को स्वी... नहीं करते थे। यहाँ तक कि उन्होने अपनी कृतियों में कई कॉमा और विराम के चिन्हों का प्रयोग भी नहीं किया। उन्होने कथानक के विस्तार और संकोच की ओर ध्यान दिया। उनका यह विद्रोह उचित है या अनुचित इस विषय पर तटस्थ रहते हुए मात्र उनकी अभिव्यक्ति की प्रखरता पर ध्यान दे तो उनकी लेखनी का लोहा मानना ही पड़ेगा। पश्चिम का हर व्यक्ति आज जिस संवेदना और अनात्मीयता का शिकार हो रहा है, वह व्यक्ति को और कुछ नहीं पर विद्रोही तो बनाती ही है। वहाँ का युवा वर्ग विद्रोही इसी कारण है कि उनके जीवन दर्शन मे कहीं न कहीं बहुत बड़ी कमी है।

बैकेट ने भी पारस्परिक साहित्यिक मर्यादाओं के प्रति विद्रोह किया है। उनके साहित्य की उपादेयता के विषय में इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह पाश्चात्य जगत की वेदनाओं का कच्चा चिट्ठा है। उन वेदनाओं का अंकन ही लेखक का उद्देश्य रहा है, शायद उससे कुछ अधिक नहीं तो इसमें मात्र उन्हीं को दोषी कैसे कहा जा सकता है। ऐसा तो सारा पाश्चात्य जगत ही कर रहा है।

इतनी वेदनाओ को सहते हुए, अनुभूत करते हुए भी खिलाड़ी भाव से उन्होने जिस तरह का जीवन जिया है वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रेरणा का विषय है। इतना सरल सहज अकृत्रिम जीवन जीते हुए, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि से दूर रहते हुए, वे कृतित्व के बल पर जगत विख्यात हुए यह भी कम प्रेरक नहीं है किसी महत्वाकांक्षी के लिये।

शोपेन हॉवर—जर्मनी का ब्रह्मवेत्ता

अहंकार उन दिनो आसमान छू रहा था। नाम तो उसे स्वाभिमान का दिया जाता है पर था वह औद्धत्य। नम्रता और शालीनता की सभी परिधियो को तोड़कर अपने को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए इस बात की होड़ लगी हुई थी कि किसने कितनो को पीछे धकेला और पछाड़ा। शासन के क्षेत्र में सामन्त इसी दर्प की प्रतिमा बने बैठे थे। उनके संरक्षण में काम करने वाले सैनिक भी बड़े अफसरों का रौब दिखाने के लिए बढ़-चढ़ कर क्रूरता का परिचय देते थे। मालिकों का स्वार्थ साधने के अतिरिक्त अपनी भी जेब बटोरते थे। शासन का पर्याय-वाचक ही अत्याचार बन रहा था।

शासन के सम्पर्क मे आने वाले वरिष्ठ प्रजाजनों ने भी सत्ताधारियों का ही अनुसरण आरम्भ कर दिया था। वे

व्यापारी अपने ग्राहकों, श्रमिकों का शोषण करते—मनमाना मुनाफा कमाते और भारी ब्याज लेते। उनके यहाँ जेवर, बर्तन ही गिरवी नहीं रखे जाते थे वरन् युवा नर-नारियों को भी इच्छानुसार बरतने के लिये पैसे के बदले गिरवी रख दिया जाता था।

सामान्यजनों में भी यही प्रवृत्ति पनप रही थी कि वे अपनी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ायें और अधिक सफल सम्पन्न बनने के लिये जो चाहें सो रास्ता अपनाएँ, चाहे वह अनीति का ही क्यों न हो ?

समय का दर्शन ही ऐसा कुछ बन गया था कि साथियों की तुलना में अपने को विशिष्ट सिद्ध करने के लिए ऐसा कुछ कर दिखाया जाय जिससे उनकी बलिष्ठता, प्रतिभा और महत्ता सिद्ध होती हो। यह विचार दर्शन प्रचलन बन गया था। इसमें दया, करुणा, सेवा, सहानुभूति के लिये स्थान न था। उपभोग और संचय ही प्रतिभा और सफलता के प्रमाण माने जाते थे। इस कुचक्र में दुर्बलों, पिछड़ों को बुरी तरह पिसना पड़ रहा था। विचारशील कहे जाने वाले दार्शनिकों, पुरोहितों ने भी हवा का रुख देखकर उसी के साथ चलने में अपनी भलाई और कमाई देखी। वे भी समर्थों का समर्थन करने लगे।

ऐसे समय में यूरोप के क्षेत्र में एक नया सितारा उदय हुआ-जर्मनी का शोपेन हॉवर। वह अठारहवीं सदी के अन्त में जन्मा। निर्धन वर्ग में जन्मने कारण उसे बचपन से ही समर्थों के शोषण, उत्पीड़न का शिकार बनना पड़ा। किशोरावस्था पार करते-करते उसने अपनी पैनी दृष्टि दूर-दूर तक फेंकी और देखा कि संव्याप्त अनाचार के पीछे भ्रष्ट दर्शन की प्रेरणा किस प्रकार अपना प्रभाव छोड़ रही है। उसने विष वृक्ष की टहनियाँ तोड़ने पर श्रम नहीं किया वरन् जड़ों पर कुल्हाड़ा चलाया।

उसने अधिक पढ़ने और अधिक कमाने का विचार मन में से पूरी तरह निकाल दिया। विश्व दर्शन के सभी पक्षों के अध्ययन को उसने अपना प्रिय विषय बनाया। इस समुद्र मंथन से उसने पाया कि भारतीय धर्मदर्शन ही मात्र ऐसा है जो मनुष्य को संयम बरतने-नम्रता अपनाने, सज्जनोचित निर्वाह करने और सेवा-साधना में संलिप्त रहने की शिक्षा देता है। अधिक रुचि बढ़ी तो अधिक गहरा अध्ययन किया। उपनिषद उसे अधिक प्रिय लगे। उनमें वह तत्व पाया जो मनुष्य की लिप्सा, अहंता, विलासिता एवं तृष्णा पर कुठाराघात करता है। उसकी सर्जना और शिक्षा में वे तत्व थे जो मानवी गरिमा के सूक्ष्म संकेतों को मुखर एवं कार्यान्वित करने में कारगर रूप से अपना पक्ष प्रतिपादित करते थे।

शोपेन हॉवर ने भारतीय उपनिषदों का गहरा अध्ययन किया और उसके सारतत्व को, विभिन्न वर्गों को गले उतारने योग्य इस प्रकार निरूपित किया कि समाज का प्रत्येक वर्ग अपनी विचारसारिणी और कार्यपद्धति की यथार्थवादी समीक्षा कर सके। उसमें आवश्यक हेर-फेर सुधार कर सके। पुरातन के स्थान पर नवीन की स्थापना कर सके। उसने अपने प्रतिपादन को वाणी से प्रसारित करने में कोई कमी नहीं रहने दी और इतना लिखा जिससे जनसमुदाय के व्यापक अविचारों को नये सिरे से समीक्षा करने का अवसर मिल सके। उसने अपने जीवन को पूरी तरह इसी मिशन के लिये समर्पित कर दिया।

शोपेन हॉवर अपनी विधवा माता का इकलौता पुत्र था। वह सम्पन्न भी थी और विलासपूर्ण जीवन की पक्षपाती भी। उसकी कार्यपद्धति समय के साथ चलती थी। बेटे को भी अपने साथ चलने और वही रीति-नीति अपनाने के लिए समझाया। पर उस पर भारतीय निवृत्ति मार्ग का रंग चढ़ चुका था। निजी जीवन में आदर्शों का समावेश किये बिना कोई लोकमानस के आदर्शों की ओर मोड़ नहीं सकता। यह तथ्य उसकी स्वीकृत मान्यता का अंग बन चुका था। वह अपनी माता से अलग हो गया। एक सस्ते होटल में छोटी कोठरी किराये पर लेकर उसमें रहने और गुजारा करने लगा। जन-सम्पर्क के लिए जितना समय आवश्यक था उतने समय बाहर रहता और लौटकर फिर कोठरी में बैठ जाता। रात्रि का आधा भाग उसने सोने के लिए और आधा पढ़ने-लिखने के लिए सुरक्षित कर लिया। जिस समय होटल में तरह-तरह की रंगरेलियाँ चलती रहतीं उस समय वह विचारों में डूबा रहता और सोचता रहता कि प्रचलित अहंमन्यता को किस प्रकार सज्जनता की राह पर मोड़ा जाय ? जो उसे सूझता उसे निर्भीकतापूर्वक व्यक्त और अंकित करता।

शोपेन हॉवर के विचार चौंकाने वाले थे, प्रचलन प्रवाह के विपरीत भी। उसने समर्थों की गतिविधियों की धज्जियाँ उड़ाईं। इस प्रतिपादन को सुनने और छपने में सहयोग देने के लिए कोई तैयार न होता था। इसलिए उसकी आजीविका भी स्वल्प थी। इतने में ही उसे गुजारा चलाना पड़ता था। पर पीछे खरी सुनने वालों का भी एक वर्ग उभरा। उसने इस सुधारवादी संघर्ष मूलक विचारधारा को प्रश्रय देने और दिलाने का प्रयत्न किया। फलतः उस प्रकार का भी एक वर्ग विकसित हुआ जो उस विचारधारा का समर्थन ही नहीं सहयोग भी करता था। उसके ग्रन्थ प्रकाशित ही नहीं हुए—बड़ी मात्रा में लोकप्रिय भी हुए। उत्साह बढ़ा तो उसने एक के बाद दूसरा ग्रन्थ लिखा और समय का प्रवाह उलटने के लिए दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भरसक प्रयत्न किया, जिसमें लगे हाथों सफलता भी मिलने लगी। शोपेन हॉवर के जीवन में ही योरोप का एक वर्ग ऐसा उत्पन्न हो गया था जो शासन और समाज में संव्याप्त सामन्तवाद का खुलेआम विरोध करने लगा। इतना ही नहीं इन अनुयाइयों ने अपने निज के जीवन में भी इस प्रकार के आदर्शवादी परिवर्तन किये जिससे सिद्ध हो सके कि उनकी मान्यता मात्र बौद्धिक ही नहीं है वरन् गहराई तक उतरकर जीवन विधा में भी प्रवेश करने लगी है।

शोपेन हॉवर का प्रख्यात ग्रन्थ 'द वर्ल्ड एज विल एण्ड आयडिया' जब प्रकाशित हुआ तो सुधारवादी

भावनाशील क्षेत्र मे उसकी धूम मच गई । उसका अनेक भाषाओं मे अनुवाद हुआ और कोटि-कोटि लोगो ने उसे चावपूर्वक पढ़ा । जिन्होने उन विचारों पर गौर किया उन्हे समय की प्रवंचना पर आक्रोश भी उपजा और सुधार परिवर्तन के लिए कुछ कर गुजरने का उत्साह उभरा । छुटपुट स्थानीय संघर्ष उन्ही दिनो उभरने लगे थे । शोसको और शोषितो के बीच विरोध उभरा और उसने संघर्ष का रूप धारण करना आरम्भ किया । समीक्षक कहते है कि एक समर्थ प्रवाह को मोड़ने और उसके विरुद्ध जनमानस को संघर्ष के लिए अड़ा देने का कार्य शोपेन हॉवर के प्रयासो से ही अपनी नीव मजबूत कर गका । जिनके कारण बाद मे कई बड़ी राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियाँ सम्भव हुई ।

शोपेन हॉवर ने पूरी जिन्दगी उसी छोटी कोठरी मे सच्चे सन्त की तरह व्यतीत की । वह आजीवन अविवाहित रहा । समय और चिन्तन का एक-एक कण वह अपने मिशन के लिए विसर्जित करता रहा । मरा तब उसके हाथ मे लेखनी और सिरहाने पुस्तको का बड़ा-सा ढेर था । यही थी उसकी सम्पदा, जिसे मरते समय मित्रो के लिए सौगात रूप मे छोड़ा ।

विलास के स्थान पर संयम की, अधिकार के स्थान पर कर्त्तव्य की, प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति की शिक्षा का प्रतीक शोपेन हॉवर का चिन्तन और जीवन । उसने अपने समय के समाज को पूरी तरह झकझोरा । कारण उन दिनो उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जर्मनी के आदर्शवादी दार्शनिक हीगेल की दीवाली थी—समूची जर्मनी जनता उस समय हीगेल ने जर्मनी शासन तंत्र और समाज व्यवस्था की तारीफ में जो प्रशसा के पुल बाँधे थे, उसके कारण चाहे जो भी रहे हों, तत्कालीन सरकार उनसे बड़ी प्रसन्न थी । कुछ लोग जो उनके विरोधी थे—नौकरशाही के हाथो की कठपुतली दार्शनिक भी कहा करते थे । परन्तु इन सम्बोधनों का वैसा ही प्रभाव हुआ जैसा कि चन्द्रमा को चुनौती देने वाले जुगनूओ का ।

हीगेल के विचार जन सामान्य की पहुँच से परे थे । लोग उन्हे भले ही न समझ सके—फिर भी बुद्धिमान और प्रतिष्ठित तबका उनका प्रशंसक था तो सर्वसामान्य भी उनका ही अनुसरण करता । वे अपने समय मे अपनी विचारधारा के लिये विवादास्पद रहे है । कहा जाता है कि उनके विचारो को केवल एक ही व्यक्ति ने थोड़ा बहुत समझा और ग्रहण किया—परन्तु वह भी गलत अर्थों मे । इसलिए उनकी आदर्शवादी धारणाओं से साम्यवाद जैसी वस्तुनिष्ठ भौतिकवादी विचारसरणी का निरसन हुआ । उनके विचारों को समझने या न समझ पाने वालों की संख्या चाहे जो रही हो फिर भी उनके सम्पर्क में जो भी आया वह उनसे निरपेक्ष नहो रह सका—फिर चाहे वह समर्थक बन गया हो या विरोधी । विरोधियो की संख्या का ही पलड़ा भारी था । विरोधी थे भी गिने-चुने और वे भी विचारों की निष्पक्ष समीक्षा नहीं करते वरन् आलोचना ही अधिक करते थे वह । और इस कारण वे टिक भी नहीं पाते थे । ऐसी स्थिति में नये ही नियुक्त होकर आये बर्लिन विश्वविद्यालय के एक युवा दार्शनिक ने उनके विचारो का गठन, विश्लेषण किया और उन्हें निरुपर, निरी कल्पना कहा तो अन्धसमर्थकों मे रोष फूट पड़ा । हीगेल की एक मान्यता यह थी कि—विचार तत्व ही वास्तविक जगत का निर्माण करता है । जबकि इस युवादार्शनिक का कहना था कि वस्तु जगत का निर्माण विचारो के साथ-साथ सर्ग पर निर्भर करता है । अपने इस विचार की व्याख्या में उसने कहा भी है कि—मस्तिष्क को उन्नत बनाने और नया सृजन करने के लिए असफलताएँ तथा संघर्ष नितान्त आवश्यक है। उनके अभाव में आदमी अस्थिर ही रहता है । इसलिए कुछ भी बनने के लिये आवश्यक है कष्ट उठाना और पीड़ाएँ झेलना ।

यह मतभेद तो उक्त दार्शनिक तथा हीगेल के अन्तर्विरोध का अंश मात्र है । उन दोनो की विचारधाराएं परस्पर एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी ही रहीं और इसलिए युवा-दार्शनिक को हीगेल का विरोधी होने के कारण बर्लिन विश्वविद्यालय से उखड़ जाना पड़ा । वे विश्वविद्यालय की नौकरी से हटा दिये गये । इससे पूर्व उनके पास हीगेल का समर्थन करने के लिए भी प्रस्ताव आये थे—परन्तु उन्हे अपने विवेक पर इतना विश्वास था कि, वे यह समझौता करने के लिए तैयार न हुए । इसे आत्मविश्वास की पराकाष्ठा और स्वविवेक की दृढ़ता का प्रतीक ही कहना चाहिए । अपने सिद्धान्तो के लिये अपनी सुविधाओ को गौण महत्व देने वाले उस युवा दार्शनिक का नाम था शोपिन हावर । जर्मनी जनता ने शोपिनहावर को उस समय भले ही अपने हृदय मे प्रतिष्ठा नही दी हो परन्तु आगे चल कर उनकी ख्याति देश-काल की सीमाओ को लाँघकर विश्वव्यापी और चिरन्तन हो गयी ।

विवेक के प्रति आस्था और निज के पुरुषार्थ से ख्याति तथा सम्मान को प्राप्त करने वाले इस दार्शनिक महापुरुष को अपने जीवनकाल मे निन्तर संघर्ष झेलना पड़े । उनका जीवन—उनके सिद्धान्तो की प्रयोगशाला बन गया और उस प्रयोगशाला मे उन्होने सिद्ध कर दिखाया कि संघर्ष, पुरुषार्थ और तप त्याग के बिना इस जगत मे कोई भी स्थायी उपलब्धि अर्जित नही की जा सकती । जीते जी शायद ही किसी महापुरुष को सम्मान मिला हो ? जीवन काल मे तो महामानवो को सदैव उपेक्षा, तिरस्कार और प्रताड़नाएँ ही मिली है । उनका मूल्याकन तो तब होता है जब उनकी स्मृति ही शेष रह जाती है ।

जरमनी के डैनजिंग शहर मे शोपिन हॉवर के पिता एक प्रसिद्ध व्यापारी थे । व्यापार जैसे व्यवसाय में रहते हुए भी उनके पिता के व्यक्तित्व मे कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिन्हे आज के चालाक व्यवसायी कमियाँ ही बतायेंगे । लोग समझते है कि व्यापारी का पहला गुण होता है—झूठ और फरेब । घटिया वस्तु को बढ़िया बताना और पाँच के दस वसूल करना, व्यापारी पिताओं का एक ऐसा सूत्र है जिसे मरते समय भी वे अपने पुत्रों को गाँठ से बाँध लेने के लिए

कह जाना चाहते है। स्वस्थ दृष्टिकोण से तो यह एक अवगुण और दोषपूर्ण नीति है, परन्तु न जाने किस लाभ के प्रलोभन से व्यापार जगत में इसे स्वर्ण सूत्र समझा जाने लगा। शॉपिन हॉवर के पिता मे यह अवगुण अथवा होशियारी रंचमात्र को भी न.ही थी और वे सत्य निष्ठा को ही सर्वश्रेष्ठ जीवन नीति मानते थे। दूसरी विशेषता उनमें यह थी कि वे किसी की पीठ पीछे निन्दा करने के अपेक्षा मुँह पर ही कुछ कह लेना अच्छा समझते थे। इस कारण उनसे शत्रुता रखने वाले भी मुँहदेखी बात करने वालों की अपेक्षा कुछ अधिक थे। जो लोग उनकी इस विशेषता को समझ जाते वे शीघ्र ही उनके मित्र भी बन जाते।

सत्यनिष्ठा और स्पष्टवादिता—ये दो गुण शॉपिनहॉवर को अपने पिता से विरासत में मिले थे। उनकी माता एक लेखिका थी। दिन रात अध्ययन करना और लिखना ही उनकी प्रमुख चर्या थी। प्रगति और विकास की दिशा में यह मनोयोग प्रशंसनीय तो है परन्तु जब यह अपने निकटस्थ और परिवार के लोगों की उपेक्षा तक बढ़ जाता है तो निन्द्य स्वार्थ ही बन जाता है। माँ की लेखन रुचि निन्द्य स्वार्थ की सीमा को भी लाँघ चुकी थी। शॉपिन हावर उनके अपने बेटे थे और जब उन्होंने लेखन की ओर रुचि लेना आरम्भ किया तो माँ ने प्रोत्साहन देने की अपेक्षा उन्हें निरुत्साहित ही किया। महत्वाकांक्षा-विकृत हो कर कभी-कभी तो घृणित रूप धारण कर जाती है। माँ होते हुए भी उन्होंने अपने बेटे को निरुत्साहित किया जो यह सिद्ध करता है कि उनका लेखन साधना नहीं स्वार्थ का साधन बन गया था और उस क्षेत्र में वे अपने किसी भी निकटतम को प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे देखना पसन्द नहीं करती थीं।

जिस समय उनका प्रथम ग्रन्थ 'ऑन द फोर फोल्ड रूट ऑफ द सफिशियेण्ट रीजन' प्रकाशित हुआ, उस समय वे साहित्य जगत के नये ही प्रवेशार्थी थे। फिर भी परिश्रम और मनोयोग द्वारा यह ग्रन्थ तैयार करने के कारण उन्हें येना यूनिवर्सिटी ने डॉक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया। इस पहली सफलता से शॉपिन हॉवर का आत्मविश्वास खूब बढ़ा और उन्होंने सोचा कि माँ यह जान कर प्रसन्न होगी। हालांकि मन मे संदेह का अंकुर भी सिर उठा रहा था फिर भी उसकी एक प्रति लेकर अपनी माँ के पास पहुँचे और ग्रन्थ उन्हे दिखाते हुए बोले—"माँ देखो इस ग्रन्थ पर मुझे डॉक्टरेट की उपाधि मिली है। आप इसे जरा देखना और अपनी प्रतिक्रिया बताना।"

कुछ दिनों बाद शापेन हॉवर प्रतिक्रिया जानने के उद्देश्य से माँ के पास पहुँचे तो देखा कि ग्रन्थ जहाँ का तहाँ रखा था। शायद उसका मुख पृष्ठ भी नहीं खोला गया था। शापेन हॉवर को देखते ही माँ ने कहा—"मैने तुम्हारी दी हुई पुस्तक पढ़ ली है। किस सिरफिरे ने तुम्हे इस पर डाक्टरेट दिया है। मेरी समझ से तो यह किताब दवा बेचने वालों के लिये पुड़ियाएँ बाँधने के काम में ही आयेगी।" उल्टी प्रतिक्रिया का सदेह तो था, परन्तु वह इतनी तीखी होगी—इसकी आशा भी नहीं थी वे उबल पड़े और बोले—माँ तुम अपने आपको समझती क्या हो। इसे लोग उस समय भी अपने पास रखेगे जब तुम्हारी किताबों को कबाड़ी की दुकान में रखने के लिए भी जगह नहीं रहेगी।

माँ की ओर से ऐसा हतोत्साहन मिलने पर शापेन हॉवर का झुँझला उठना अनुचित भी नहीं था। उनकी माता अहंकारी स्वभाव की थी, इस कारण उसकी अपने पति से भी नहीं बनती थी। दोनों पिता पुत्र में अच्छी बनती और पिता शापेन हॉवर को प्राय: ही हर समय अपने साथ रखते। पिता को लम्बे समय तक व्यापारी काम-काज के सिल-सिले में बाहर और विदेशों में भी रहना पड़ता। शापेन हॉवर भी उनके साथ रहते और किशोरावस्था में ही उन्होंने कई देशों को घूम डाला। इन यात्राओं में उन्हें कई बुद्धिजीवियों का संपर्क मिला। पिता ने जर्मनी में शिक्षा दिलाने की अपेक्षा बाहर देशों में पढ़ाना अधिक उचित समझा और शॉपिन हावर ने जर्मनी के साथ-साथ फ्रान्स तथा इंगलैण्ड में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी की।

सन् १८०३ में उन पर एक भीषण वज्रपात हुआ। उस समय वे कैशोर्य की वय: सन्धि पार कर रहे थे कि उसके पिता ने अपने तनावग्रस्त जीवन से मुक्ति पाने के लिए आत्महत्या कर ली। एक सहारा था—वह भी टूट गया। माँ से तो कोई आशा की नहीं जा सकती थी फिर भी आशा की एक क्षीण ही सही रश्मि तो दिखायी दे रही थी वह थी मातृत्व का वत्सल हृदय। उसी रश्मि के विश्वास पर शापेन हॉवर अपनी माँ के पास पहुँचे परन्तु वहाँ से दो टूक जवाब मिला—मैं तुम्हें अपने साथ नहीं रख सकती। लगता था महत्वाकांक्षा के उन्माद ने मातृत्व को भी रौंद डाला था। शापेन हॉवर अपना-सा मुँह लेकर रह गये।

ऐसे समय में उनका एक मित्र बहुत काम आया। उसने शापेन हॉवर को अपने साथ रखा और विश्वास बँधाया। वे निर्वाह तो मेहनत-मजदूरी द्वारा चलाने लगे—परन्तु इस वय की संवेदनशीलता को कटु स्मृति दंशों ने गहरा आघात पहुँचाया। आत्मविस्मरण के लिये वे पुस्तकों में डूबने लगे और अध्ययन द्वारा आत्मोन्मुख हुए। इन्हीं परिस्थितियों ने उनके मन मे दर्शन शास्त्र के प्रति गहन अभिरुचि जाग्रत कर दी। पाँच-छह वर्षों तक अन्धकारपूर्ण भविष्य के थपेड़ों में भटकते हुए वे वर्तमान के प्रति आश्वस्त हो सके और १८०९ में कार्टिंजन विश्वविद्यालय मे भर्ती हो गये। वहाँ उन्होंने दर्शन शास्त्र की विभिन्न विचारधाराओ का अध्ययन किया। प्लेटो, कांट, अरस्तू, स्पिनोजा आदि दार्शनिकों के विचारों ने उस पर गहरा प्रभाव डाला।

जिन दिनों वे अध्ययन कर रहे थे, उनका व्यक्तित्व एकाकी होता जा रहा था। माँ की ओर से निराशा, परिस्थितियों के थपेड़े और यथार्थ की कटुताओं—कुल मिलाकर इन सब बातों से उनका जीवन दर्शन की एक प्रयोग-शाला बन गया। दर्शन के सम्बन्ध में पाश्चात्य और

पौर्वात्य—भारतीय धारणाओं मे बड़ा अन्तर है । पश्चिमी परिभाषा के अनुसार दर्शन का अर्थ जीवन का दृष्टिकोण होता है । जीवन के दृष्टिकोण से तात्पर्य निश्चित और पूर्व निर्धारित स्थूल मान्यताओं का अध्ययन । जबकि भारतीय धारणा दर्शन को तत्व चिन्तन, परम सत्य की खोज और मूलतत्व की शोध के अर्थों में ग्रहण करती है । इस प्रकार भारतीय धारणा, पश्चिमी मान्यता की अपेक्षा अधिकतर गम्भीर और चिन्तन परक है ।

शापेन हॉवर अध्ययन के साथ-साथ चिन्तन तथा शोध की ओर भी उन्मुख होते जा रहे थे । अतः उनका झुकाव अनजाने ही भारतीय दर्शन की ओर बढ़ता गया । उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई उनकी प्रथम पुस्तक 'ऑन द फोर फोल्ड रूट ऑव द सफीशियेण्ट रीजन' । यह पुस्तक प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक गेटे के हाथो मे भी पहुँची । गेटे भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन कर चुके थे । एक ही दृष्टि में उन्होने इस युवक की प्रतिभा को तौल लिया । अनुमान लगाया कि थोड़ा प्रयत्न किया जाय तो यह प्रतिभाशाली दार्शनिक पाश्चात्य दर्शन को गम्भीर उपलब्धियाँ भेट कर सकता है ।

गेटे ने शापेन हॉवर से सम्पर्क साधा और उन्हे भारतीय दर्शन शास्त्रो, मूलत. वेदान्त तथा उपनिषदो का अध्ययन करने की सलाह दी । स्वयं के अनुभवों का उल्लेख करते हुए उन्हे गेटे ने प्रेरित व प्रोत्साहित भी किया । शापेन हॉवर ने सर्वप्रथम उपनिषदों का अध्ययन किया । सचमुच उन्हें रत्न मिले जो उनकी आशा से कई गुना अधिक मूल्यवान थे । अब तो उनकी अभिरुचि और भी बढ़ी तथा उन्होने वेदान्त पर भी उपलब्ध ग्रन्थो का अध्ययन कर डाला ।

उनकी मृत्यु बड़े आकस्मिक ढंग से हुई । एक दिन वे प्रातः काल उठे, नित्यक्रिया से निवृत्त होने के बाद चाय पी और उसके कुछ देर बाद ही प्रयाण कर गये लेकिन अपनी स्मृति के रूप मे उन्होने जो प्रतिमान छोड़े है वे उनकी उपस्थिति का आभास आज भी कराते है ।

कला को जीवन्त व व्यापक रूप देने वाले-विलियम शेक्सपीयर

एक बद लकड़ी के तम्बूनुमा कमरे में थियेटर कम्पनी का मालिक बैठा सिक्के गिन रहा था और कुछ बड़बड़ाता भी जाता । आज का शो एकदम डल गया है—पिछले कुछ दिनों से लोगो का थियेटर मे नाटक देखने आना कम हो गया । यह तो स्वाभाविक ही है । कभी थियेटर हाउसफुल जाये तो कभी कलाकारो का खर्च निकलना भी मुश्किल हो जाय । परन्तु पिछले कुछ दिनो से ऐसा चल रहा था कि थियेटर को जीवित बनाये रखना भी असंभव सा लग रहा था । मालिक को भय था कहीं थियेटर बन्द न कर देना पड़े ।

तभी किसी कर्मचारी ने उस तम्बूनुमा लकड़ी से बने कमरे में प्रवेश किया । मालिक ने उसकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा और कर्मचारी ने कहा—साहब आपसे कोई लड़का मिलना चाहता है । कहें तो अन्दर आने दूँ ।

कौन है वह ? कहाँ से आया है ? क्या चाहता है । तुमने कुछ पूछा उससे ? क्या बता रहा है ? उसका क्या नाम है ?—एक ही बार में थियेटर के मालिक ने ढेरों प्रश्न पूछ डाले ।

पास ही के स्ट्रैटफर्ड गाँव से आया है । पता नहीं उसका क्या नाम है । वह तो बस आप से ही मिलना चाहता है । कर्मचारी बोला ।

मालिक को बड़ी झुंझलाहट हुई । फिर भी उसने आगन्तुक युवक से मिल लेने में कोई परेशानी अनुभव नहीं की । पता नहीं वह काम का आदमी निकले और बड़े ही ढीले स्वरों में उसने कहा कर्मचारी से ठीक है उसे भेज दो, अन्दर । वह कर्मचारी चला गया वहाँ से ।

थोड़ी देर बाद इक्कीस वर्ष के एक किशोर युवक ने उस ऑफिस जैसे कमरे में प्रवेश किया । मालिक जो फिर से अपने काम में लग गया था—ने सिर उठाया और एक नजर से आगन्तुक को देखा । अनायास ही उसके मुँह से हँसी फूट पड़ी । आने वला युवक उसे हँसने जैसा ही लगा था । ढीले-ढाले कपड़े, सिर पर एक टोप, बेडौल शरीर और भोण्डा चेहरा । आज तक उस मालिक ने भगवान की सृष्टि में ऐसी रचना नहीं देखी थी । अचानक ही ऐसा व्यक्ति सामने आ जाने पर उससे हँसे बगैर नहीं रह गया । जब उसकी हँसी रुकी तो पूछा उसने क्या चाहते हो भाई ।

ठेठ ग्रामीण से लगने वाले उस युवक ने इत्मीनान से कहा—'काम' अपनी हँसी होते देखकर भी वह जरा भी नहीं घबराया था । शायद उसे लोगो के इस व्यवहार का अच्छा अभ्यास रहा था । लंदन जैसे शहर मे ठेठ देहाती वेशभूषा पहने उसे देखकर हर कोई हँस देता था । वैसे गाँव में भी हम उम्र लड़के उसका शरीर आकृति और प्रकृति देख कर मजाक उड़ाया करते थे ।

क्या काम करोगे तुम, मालिक ने कहा । जी तो चाहने लगा था इस युवक को थियेटर में विदूषक का अभिनय करने के लिये रखले । परन्तु युवक की पसंद जानना भी आवश्यक था पता नहीं वह किस तरह का काम करना चाहता है ।

मै आपके थियेटर मे खेले जाने वाले नाटकों मे कोई भूमिका निभाने की नौकरी चाहता हूँ ।

और तत्क्षण ही मालिक ने अपने मन की बात उगल दी । —देखो भाई । तुम नाटको के लिए मेरी दृष्टि मे किसी अच्छी भूमिका के योग्य तो जँचते नहीं हो । अगर चाहो तो तुम विदूषक का पार्ट खुशी से निभा सकते हो ।

ठीक है साहब—युवक जैसे पहले से ही यह सुनने और स्वीकार करने के लिए स्वय को तैयार कर चुका था—वेतन क्या मिलेगा ।

अभी तो तुम्हे बतौर परीक्षण के रखा जा रहा है । जीने की आवश्यकताएँ आराम से पूरी होती रहेंगी, इतना ही

पौर्वात्य—भारतीय धारणाओं में बड़ा अन्तर है । पश्चिमी परिभाषा के अनुसार दर्शन का अर्थ जीवन का दृष्टिकोण होता है । जीवन के दृष्टिकोण से तात्पर्य निश्चित और पूर्व निर्धारित स्थूल मान्यताओ का अध्ययन । जबकि भारतीय धारणा दर्शन को तत्व चिन्तन, परम सत्य की खोज और मूलतत्व की शोध के अर्थों में ग्रहण करती है । इस प्रकार भारतीय धारणा, पश्चिमी मान्यता की अपेक्षा अधिकतर गम्भीर और चिन्तन परक है ।

शापेन हॉवर अध्ययन के साथ-साथ चिन्तन तथा शोध की ओर भी उन्मुख होते जा रहे थे । अतः उनका झुकाव अनजाने ही भारतीय दर्शन की ओर बढ़ता गया । उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई उनकी प्रथम पुस्तक 'ऑन द फोर फोल्ड रूट ऑव द सफीशियेण्ट रीजन' । यह पुस्तक प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक गेटे के हाथों मे भी पहुँची । गेटे भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन कर चुके थे । एक ही दृष्टि में उन्होने इस युवक की प्रतिभा को तौल लिया । अनुमान लगाया कि थोड़ा प्रयत्न किया जाय तो यह प्रतिभाशाली दार्शनिक पाश्चात्य दर्शन को गम्भीर उपलब्धियाँ भेंट कर सकता है ।

गेटे ने शापेन हॉवर से सम्पर्क साधा और उन्हें भारतीय दर्शन शास्त्रो, मूलत. वेदान्त तथा उपनिषदों का अध्ययन करने की सलाह दी । स्वयं के अनुभवों का उल्लेख करते हुए उन्हे गेटे ने प्रेरित व प्रोत्साहित भी किया । शापेन हॉवर ने सर्वप्रथम उपनिषदों का अध्ययन किया । सचमुच उन्हें रत्न मिले जो उनकी आशा से कई गुना अधिक मूल्यवान थे । अब तो उनकी अभिरुचि और भी बढ़ी तथा उन्होने वेदान्त पर भी उपलब्ध ग्रन्थो का अध्ययन कर डाला ।

उनकी मृत्यु बड़े आकस्मिक ढंग से हुई । एक दिन वे प्रातः काल उठे, नित्यक्रिया से निवृत्त होने के बाद चाय पी और उसके कुछ देर बाद ही प्रयाण कर गये लेकिन अपनी स्मृति के रूप मे उन्होने जो प्रतिमान छोड़े है वे उनकी उपस्थिति का आभास आज भी कराते है ।

कला को जीवन्त व व्यापक रूप देने वाले-विलियम शेक्सपीयर

एक बंद लकड़ी के तम्बूनुमा कमरे में थियेटर कम्पनी का मालिक बैठा सिक्के गिन रहा था और कुछ बड़बड़ाता भी जाता । आज का शो एकदम ढल गया है—पिछले कुछ दिनो से लोगो का थियेटर में नाटक देखने आना कम हो गया । यह तो स्वाभाविक ही है । कभी थियेटर हाउसफुल जाये तो कभी कलाकारो का खर्च निकलना भी मुश्किल हो जाय । परन्तु पिछले कुछ दिनो से ऐसा चल रहा था कि थियेटर को जीवित बनाये रखना भी असंभव सा लग रहा था । मालिक को भय था कही थियेटर बन्द न कर देना पड़े ।

तभी किसी कर्मचारी ने उस तम्बूनुमा लकड़ी से बने कमरे में प्रवेश किया । मालिक ने उसकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा और कर्मचारी ने कहा—साहब आपसे कोई लड़का मिलना चाहता है । कहें तो अन्दर आने दूँ ।

कौन है वह ? कहाँ से आया है ? क्या चाहता है । तुमने कुछ पूछा उससे ? क्या बता रहा है ? उसका क्या नाम है ?—एक ही बार में थियेटर के मालिक ने ढेरों प्रश्न पूछ डाले ।

पास ही के स्ट्रैटफर्ड गाँव से आया है । पता नहीं उसका क्या नाम है । वह तो बस आप से ही मिलना चाहता है । कर्मचारी बोला ।

मालिक को बड़ी झुंझलाहट हुई । फिर भी उसने आगन्तुक युवक से मिल लेने में कोई परेशानी अनुभव नहीं की । पता नहीं वह काम का आदमी निकले और बड़े ही ढीले स्वरों में उसने कहा कर्मचारी से ठीक है उसे भेज दो, अन्दर । वह कर्मचारी चला गया वहाँ से ।

थोड़ी देर बाद इक्कीस वर्ष के एक किशोर युवक ने उस ऑफिस जैसे कमरे में प्रवेश किया । मालिक जो फिर से अपने काम में लग गया था—ने सिर उठाया और एक नजर से आगन्तुक को देखा । अनायास ही उसके मुँह से हँसी फूट पड़ी । आने वला युवक उसे हँसने जैसा ही लगा था । ढीले-ढाले कपड़े, सिर पर एक टोप, बेडौल शरीर और भौण्डा चेहरा । आज तक उस मालिक ने भगवान की सृष्टि में ऐसी रचना नहीं देखी थी । अचानक ही ऐसा व्यक्ति सामने आ जाने पर उससे हँसे बगैर नहीं रह गया । जब उसकी हँसी रुकी तो पूछा उसने क्या चाहते हो भाई ।

ठेठ ग्रामीण से लगने वाले उस युवक ने इत्मीनान से कहा—'काम' अपनी हँसी होते देखकर भी वह जरा भी नहीं घबराया था । शायद उसे लोगों के इस व्यवहार का अच्छा अभ्यास रहा था । लंदन जैसे शहर मे ठेठ देहाती वेशभूषा पहने उसे देखकर हर कोई हँस देता था । वैसे गाँव में भी हम उम्र लड़के उसका शरीर आकृति और प्रकृति देख कर मजाक उड़ाया करते थे ।

क्या काम करोगे तुम, मालिक ने कहा । जी तो चाहने लगा था इस युवक को थियेटर में विदूषक का अभिनय करने के लिये रखले । परन्तु युवक की पसंद जानना भी आवश्यक था पता नहीं वह किस तरह का काम करना चाहता है ।

मैं आपके थियेटर मे खेले जाने वाले नाटकों मे कोई भूमिका निभाने की नौकरी चाहता हूँ ।

और तत्क्षण ही मालिक ने अपने मन की बात उगल दी । —देखो भाई । तुम नाटको के लिए मेरी दृष्टि मे किसी अच्छी भूमिका के योग्य तो जँचते नहीं हो । अगर चाहो तो तुम विदूषक का पार्ट खुशी से निभा सकते हो ।

ठीक है साहब—युवक जैसे पहले से ही यह सुनने और स्वीकार करने के लिए स्वयं को तैयार कर चुका था—वेतन क्या मिलेगा ।

अभी तो तुम्हे बतौर परीक्षण के रखा जा रहा है । जीने की आवश्यकताएँ आराम से पूरी होती रहेंगी, इतना ही

फिलहाल वेतन समझो। बाद में काम देखकर और बढ़ा भी देंगे।

और उस युवक ने उसी शाम से थियेटर में विदूषक की भूमिकाएँ निभाना आरम्भ कर दिया। मसखरेपन के अभिनय में वह इतना सफल हुआ कि चरमराती थियेटर कम्पनी सम्हल गयी। यही नहीं अच्छी आमदनी भी होने लगी। लन्दन की जनता मे यह नया अभिनेता अपनी अभिनय दक्षता के कारण बड़ा लोकप्रिय हुआ। जैसे-जैसे उसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी—वेतन और पारिश्रमिक भी अच्छा मिलने लगा। होते-होते पारिश्रमिक का स्तर इतना ऊँचा बढ़ गया कि उसके पास अच्छा पैसा इकट्ठा हो गया। कई नाटक कम्पनियों के निमंत्रण आने लगे—उसके पास। सबमे जैसे प्रतिस्पर्द्धा चल पड़ी हो कि कौन इस नवोदित अभिनेता को अपनी ओर मिलाने में सफल हो जाये।

उस अभिनेता ने जिसका नाम विलियम शेक्सपीयर था—ने थियेटरों की इस प्रतिस्पर्द्धा का अच्छा लाभ उठाया और काफी पैसा इकट्ठा कर लिया। बाद में वह लॉर्ड चेम्बरलेन की ब्लैक फ्रायर कम्पनी का हिस्सेदार भी बन गया। शेक्सपीयर को उस समय नाटकों मे काम करने के कारण बड़ी ख्याति मिली थी परन्तु वे अमर हुए दूसरे ही कारण से। साहित्य के माध्यम से। उन्होंने विश्व को जो अमूल्य निधि भेंट की-माना जाता है कि वेद व्यास, कालिदास, वाल्मीकि आदि आर्य कवियो के बाद उनके सिवा और किसी ने भी नहीं दी। शेक्सपीयर का नाम कालिदास के समकक्ष है—क्योकि उन्होने अपनी कला मे उसी प्रकार का अनूठापन कायम रखा।

उनका जन्म स्ट्रैटफर्ड नामक गाँव में इंग्लैण्ड में २३ अप्रैल, १५६४ ई. को हुआ। उनके पिता चमड़े और ऊन का व्यवसाय करते थे। परिवार मध्यम वर्गीय स्थिति का ही था—इसलिए उनकी शिक्षा-दीक्षा गाँव की पाठशाला से आगे न बढ़ सकी। अठारह वर्ष की आयु मे ही उनका विवाह छब्बीस वर्ष की आयु वाली ऐन हैथेवे से हो गया। वह उम्र मे उनसे काफी बड़ी थी। फिर भी दाम्पत्य जीवन बड़ा प्रेमपूर्ण और मधुर रहा। कई आलोचक तो यह मानते हैं कि उनका विवाहित जीवन दुखी रहा था। परन्तु इस सम्बन्ध मे कोई प्रमाण नहीं मिल सके हैं। उनकी रचनाओ मे जहाँ कहीं भी आत्मप्रकाशन हुआ है उससे तो यही लगता है कि पति-पत्नी बड़े प्रेम से रहते थे।

विवाह के एक वर्ष बाद ही उनकी पत्नी ने एक कन्या को जन्म दिया। बाद में दो जुड़वाँ बच्चे और भी हुए। इस प्रकार तीन सन्तानों के पिता हो जाने के बाद पिता ने कह दिया कि वे अपने लिए रोजगार की व्यवस्था करें। पत्नी बच्चों सहित उनका आर्थिक भार वे नहीं उठा सकते और इसीलिए रोजगार की तलाश में उन्हे लन्दन आ जाना पड़ा। लन्दन मे वे यत्र-तत्र बहुत भटके परन्तु काम की कोई व्यवस्था न हो सकी।

उन दिनो लंदन मे नाटक—मनोरंजन का प्रमुख साधन था। लोग इन्हें पसन्द भी करते थे और थियेटरों मे बड़ी भीड़ हुआ करती थी दर्शकों की। इधर-उधर भटकते देखकर किसी ने कह दिया कि नाटक कम्पनी मे भर्ती हो जाओ। कोई भी तुम जैसे कॉमेडियन को अभिनय के लिए रखने से इन्कार नहीं करेगा और सचमुच कहने वाले की बात सत्य सिद्ध हुई। फिर तो शेक्सपीयर का सितारा ऐसा चमका कि चारो ओर उनके नाम की धूम मच गयी।

जब भाग्य ने साथ दिया तो उन्होने नाटक लिखने का भी विचार किया। लंदन में तब रंगमंच की वैसी स्थिति थी जैसी कि अब अखबारों, रेडियो और टेलीविजनो की है। उस समय तमाम राजनैतिक और धार्मिक विचारधाराओ के प्रचार-प्रसार तथा गतिविधियो के विश्लेषण का एकमात्र साधन रंगमंच ही था। उस समय ब्रिटेन में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी। हेनरी अष्टम की मृत्यु के बाद राजनीति दाव-पेचो भरी अखाड़ा बनी हुई थी। इधर औद्योगिक क्रान्ति के कारण पूँजीवाद का भी उदय हो रहा था। इन परिवर्तनों का सारा भार वहाँ की जनता पर पड़ रहा था। फलस्वरूप सर्वसाधारण राजनीति मे गहरी दिलचस्पी लेने लगी थी और यह रुचि रंगमंच के माध्यम से जितनी तृप्त हो सकती थी उतनी किसी अन्य साधन से नहीं।

शेक्सपीयर ने तत्कालीन परिस्थितियो का निरपेक्ष विश्लेषण किया। यह स्वाभाविक ही था कि रंगमंच के माध्यम से वे अपना दृष्टिकोण जनता के सम्मुख रखते। चूँकि वे आम जनता मे से आये थे इसलिए उनका दृष्टिकोण सर्वसाधारण को आसानी से गले भी उतर जाता। उन दिनो अधिकांश नाटक कम्पनियो पर रईसो और सामन्तों का नियंत्रण था। क्योंकि राजनैतिक हलचलों और सामाजिक गतिविधियो के संचालन व उत्प्रेरणा का यही तो एक माध्यम था। ये रईस और सामत इस प्रकार जनता को अपने पक्ष मे बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते।

नाटक लोकप्रिय थे भी और जनता पर प्रभाव डालने वाले भी। इसलिए शासन को सदैव यह भय बना रहता था कि उनके द्वारा जनता को भड़काकर कहीं सत्ता छीन न ली जाये। इसलिए थियेटर कम्पनियो को प्रत्येक नाटक खेलने पर लाइसेन्स लेना पड़ता था। तब नाटकों पर सेन्सर प्रणाली लागू थी। रानी एलिजाबेथ ने एक थियेटर कम्पनी के मालिक को तो उस समय मृत्युदण्ड ही दे डाला था जब उन्हे प्रदर्शित नाटक के कुछ अंश आपत्तिजनक लगे थे।

ऐसे वातावरण में अपनी बात को स्पष्ट ढंग से कहने के लिए शेक्सपीयर ने एक अनोखी पद्धति निकाल ली थी। उस पद्धति को समीक्षकों ने अन्योक्ति शैली का नाम दिया है। महाभारत और रामायण के पौराणिक आख्यानो तथा पंचतंत्र और बाइबिल की भाव कथाओं का उन्होने अद्भुत सम्मिश्रण किया और अपनी बात कह डाली। एक तो उनके नाटकों मे अनूठापन व विचारों की प्रखर अभिव्यक्ति थी ही

दूसरे उनकी भाषा इतनी सरल होती थी कि सीधे दर्शकों का हृदय छू जाती । उनकी लोकप्रियता के ये दो बड़े कारण रहे है ।

साहित्य के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन जनसमाज को एक नयी दिशा दी । वे वर्ष भर में तीन चार ही नाटक तैयार करते । इस प्रकार उन्होंने पूरे जीवनकाल में कुल ३५ नाटक और १५४ सीनेट लिखे । अपने नाटको में उन्होंने स्थान-स्थान पर संगीत, गीत और और अन्य कलाओं का भी समावेश किया । कुल मिलाकर उनके नाटक एक साथ रोचक और प्रेरणाप्रद हुआ करते ।

उनकी लोकप्रियता दिनों दिन बढ़ने लगी और यह कुछ मठाधीश नाटककारो को अखरने लगा । गाँव का एक अनपढ़ आदमी आकर बड़े-बड़े प्रतिष्ठाभिमानियो को पीछे छोड़ जाये यह उन्हे कैसे सहन होता फलस्वरूप वे शेक्सपीयर को नीचे गिराने के लिए तरह तरह के षड्यन्त्र रचा करते । शेक्सपीयर ने उसकी कभी परवाह नहीं की, सदा विरोधियो की उपेक्षा ही करते रहे थे ।

सन् १६१० मे वे लंदन छोड़कर अपने गाँव वापस लौट आये । उन दिनो लंदन मे प्राय: प्लेग फैल जाया करती थी इसलिए पत्नी बच्चो को उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से वही छोड़ रखा था । लगभग पच्चीस वर्ष बाद उन्होंने जब अपने गाँव मे प्रवेश किया तो घर की स्थिति काफी बदल चुकी थी । जिन बच्चो को वे वर्ष दो वर्ष को छोड़ गये थे वे भी जवान और शादीशुदा हो चुके थे ।

अचानक अपने पिता को वापस लौटा हुआ देखकर बच्चो का—हाँ वे तो अभी भी उनके लिए बच्चे ही थे । हृदय भर आया । शेक्सपीयर ने साथ लाये धन से काफी जायदाद खरीदी और सपरिवार सुखपूर्वक रहने लगे । यह उनके जीवन की सान्ध्य बेला थी । उनका स्वास्थ्य अब खराब रहने लगा । पूर्व परिचितो के निमंत्रण अभी भी आते परन्तु उन्होंने अब गाँव छोड़कर कहीं जाना ठीक न समझा । उनके कुछ मित्र स्ट्रेटफर्ड उनसे मिलने के लिए लंदन से आया करते थे ।

गाँव लौटने के छह वर्ष बाद १६१६ में उनका देहान्त हो गया । मृत्यु के बाद उनका शव गाँव के पास ही गिरजे के कब्रिस्तान मे दफनाया गया । उस समय प्रचलित परम्परा के अनुसार लन्दन के सभी कलाकारो को वेस्ट मिनिस्टर के कब्रिस्तान में दफनाया जाता था परन्तु उनके समकालीन कलाकारों ने शेक्सपीयर को कलाकार माना ही नहीं और वेस्टमिनिस्टर मे दफनाने नहीं दिया । उस समय तो स्ट्रेटफर्ड वासी भी शेक्सपीयर की वास्तविकता से अनभिज्ञ नहीं थे ।

वे लोग जिन्होंने शेक्सपीयर के शव को वेस्ट मिनिस्टर के कब्रिस्तान में दफनाने से रोका था और स्वयं कलाकार होने का गर्व करते थे वे अब किसी को याद भी नहीं है । उनका नाम किसी को नहीं मालूम, परन्तु शेक्सपीयर सदा के लिए अमर हो गये है ।

तीन सौ भाषाओं के जानकार—डा. हेराल्ड सुज

संसार के आश्चर्यजनक विद्वानों में से है । वे आश्चर्यजनक इन मानों में नहीं है कि उन्होंने कोई आश्चर्य चकित कर देने वाला चमत्कार दिखाया हो । न तो वे कोई चमत्कारी व्यक्ति है और न कोई सिद्ध योगी । हाँ, एक अबाध अध्ययवसायी एवं अध्ययनशील व्यक्ति अवश्य है और अपनी परिश्रमपूर्ण अध्यवसायता से जो काम कर दिखाया है वह नि.सन्देह एक चमत्कार जैसा ही है । वे बर्लिन के फ्रांकफर्ट मुहल्ले की एक गली मे बने अपने मकान में किसी समय भी मिल सकते है, किन्तु अपनी पद्रह हजार विविध भाषाओ की पुस्तको की लायब्रेरी के बीच पढ़ते अथवा लिखते हुए ।

डॉ. सुज ने संसार की लगभग तीन-सौ भाषाओ का ज्ञान प्राप्त किया है और अभी भी लगभग दो सौ भाषाओ का परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे है । इस समय उनकी आयु लगभग सत्तर वर्ष की है । वे शरीर से पूर्ण स्वस्थ है तथा काम में पूरी तरह तत्पर रहते है ।

उन्होंने इतनी बड़ी सख्या मे विभिन्न भाषाएँ सीखने का रहस्य बतलाते हुये विश्वासपूर्वक कहा कि मनुष्य मे शक्ति का अनन्त भंडार भरा हुआ है और यदि किसी की किसी कार्य में सच्ची लगन है और वह उसे करने के लिये सच्चे मन और श्रम से काम करता है तो कोई कारण नहीं कि वह उसमे पूर्णरूपेण कृतकृत्य न हो सके ।

मैंने सदैव ही मानव की अमोघ शक्तियो और उनका उपयोग करने में विश्वास रखा है । यह मेरे उसी विश्वास का पुरस्कार है कि मै संसार की विभिन्न तीन सौ भाषाओ का ज्ञान प्राप्त कर सका हूँ ।

डॉ. सुज ने अपने जीवन मे तीन मूल सिद्धान्त बनाये, जिन्हे उन्होंने अपनी अध्ययनशाला मे लिखकर टाँग रखा है और शुरू से अब तक उन्हीं सिद्धान्तो के अनुसार काम करते आये है । उनके वे तीन सिद्धान्त है—(१) अध्ययन, (२) ज्ञान की नित नूतन जिज्ञासा, (३) अनवरत लगन तथा श्रम । डॉ. सुज अपने इन्हीं सिद्धान्तों का ईमानदारी से पालन करते हुए आज इस विशाल सफलता के स्वर्ण शिखर पर पहुँच सके है ।

डॉ. सुज के पूर्वजों मे से अनेक, अनेक भाषाओ के ज्ञाता रहे है । बहुभाषा विज्ञ बनने की मूल प्रवृति उन्होंने अपने पूर्वजो से ही पाई थी । अन्तर केवल इतना रहा है कि उनके पूर्वज केवल व्यक्तिगत लाभ एव मनोरंजन के लिये अनेक भाषाएँ सीखते रहे है जबकि डॉ. सुज ने इस उपलब्धि में मानव समाज का हित सन्निहित कर रखा है ।

डॉ. सुज ने कोई भाषा व्यवसाय अथवा कीर्ति उपार्जन के लिये नहीं सीखी । बल्कि उसको नि.स्वार्थ भाव से मानव-ज्ञान गरिमा को बढ़ाने के लिये ही सीखा है । डॉ. सुज

ने अपने अध्ययन काल मे ही लैटिन, ग्रीक, हिब्रू आदि अनेक प्राचीन भाषाएँ सीख ली थीं । इसके साथ फ्रेंच तथा अँग्रेजी भाषा उन्होने खेलकूद में अपने विदेशी साथियो से ग्रहण की ।

इन पाँच ज्ञात विभिन्न भाषाओं के साथ विश्व-विद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होने अनेक वर्षों तक गणित, दर्शन एवं प्राकृत-विज्ञान के विषयों में अध्यापन कार्य किया । गणित, दर्शन तथा प्राकृत-विज्ञान जैसे जटिल विषयों का अध्ययन-अध्यापन करते हुये भी डॉ. सुज ने विभिन्न भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने की अपनी लगन को शिथिल न होने दिया । वे अध्यापन के व्यस्त कार्यक्रम मे से थोड़ा बहुत समय निकाल कर भाषाओं पर व्यय करते रहे । इसका परिणाम यह हुआ कि एक लम्बी अवधि के बाद पेशन पाने तक उनका यह भाषा-प्रेम अक्षुण्ण बना रहा ।

सेवा से निवृत्त होने के बाद उनके अनेक मित्र उनके पास यह मालूम करने आये कि डॉ. सुज अपना शेष जीवन किस प्रकार व्यतीत करेगे ? उनके एक मित्र ने उनकी श्रमशीलता की प्रशंसा करते हुए कहा कि आपने अपने सेवा काल में जी तोड़ परिश्रम किया है, अब तो शायद आप अपने शेष जीवन मे जीभर विश्राम ही करेंगे ? डॉ. सुज ने हँसते हुये उत्तर दिया "मेरे भले मित्र! परिश्रम करने का समय तो अब आया था । अध्यापन काल का श्रम तो पैसे की सेवा थी जो कि मजबूरन मुझे करनी पड़ी है । अब मैं अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो चुका हूँ । वास्तविक सेवा तो अब कर सकूँगा । अपने इस अवकाश काल में मैं जो कुछ कर सकूँगा उसे ही वास्तविक करना समझूँगा और उसे ही अपने जीवन की सच्ची सम्पत्ति मानकर ससार से विदा होते समय संतोष कर सकूँगा ।"

डॉ. सुज अपने उद्देश्य में जुट ही नहीं गये बल्कि डूबकर खो गये है । जिसके फलस्वरूप अब तक उन्होंने चीनी, अरबी, जापानी, सस्कृत, इटैलियन, तमिल तेलगू, कन्नड़, फारसी आदि प्रगतिशील भाषाओ के अतिरिक्त उत्तर, मध्य दक्षिण अमेरिका के आदिमवासियो, पूर्वीय देशो की विभिन्न प्राचीन भाषाओ, नीग्रो एवं एस्कीमो जाति के लोगों की भाषाओ का ज्ञान प्राप्त कर लिया है । रशियन, तुर्की, वर्मी, जापानी, डच, फिनिश, हिब्रू, अरबी, अँग्रेजी, फ्रेन्च, हगेरियन, असीरियन, संस्कृत, हिन्दी, तामिल, बंगला, मराठी तथा भारत की पर्वतीय एव दक्षिणी भाषाओं पर तो उन्होंने पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है । इस प्रकार वे संसार की लगभग तीन सौ पुरानी-नई भाषाओ के ज्ञाता हो चुके हैं ।

डॉ. सुज ने केवल भाषाओ का ज्ञान ही प्राप्त नही किया बल्कि उनमें साहित्य भी लिखा है । अँग्रेजी, फ्रेन्च, इटालियन एवं स्पेनिश भाषा मे अनेक पुस्तके लिखने के साथ उन्होंने चीनी भाषा का बहुत सा साहित्य विभिन्न भाषाओं में अनूदित किया है । स्पेनिश भाषा मे लिखी हुई उनकी कविताएँ संसार के काव्य साहित्य मे अपना विशेष स्थान रखती हैं । अरबी भाषा में जिन कविताओ का सृजन डॉ. सुज ने किया है उसके कारण वे अरबी भाषी लोगों मे काफी लोकप्रिय हो चुके हैं । चीनी जैसी कठिन भाषा की कवितायें तो चीन मे बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं । इसके अतिरिक्त वे पचास भाषाओं के प्रेम गीतों का एक संग्रह विभिन्न भाषाओ में अनुवाद करके प्रकाशित कर चुके हैं ।

इस सब साहित्य सृजन के अतिरिक्त उनका जो सबसे बड़ा और उपयोगी कार्य है वह है संसार भर की भाषाओ का सूची पत्र, जिसे उन्होने अकारान्त विधि से तैयार किया हैं । उसमे संसार की तीन सौ भाषाओ के केवल नाम ही नहीं है बल्कि डॉ. सुज ने उनका सक्षिप्त इतिहास भी लिखा है । डॉ. सुज का भाषा सम्बन्धी अनुसंधान कार्य अभी चल रहा है और उन्होंने विश्वास प्रकट किया है कि वे अपने अन्तिम समय तक इस भाषा सूची मे कम से कम दो सौ भाषायें और जोड़ सकेगे ।

डॉ. सुज से जब भी कोई मिलने गया उसने यही देखा कि या तो वे किसी फ्रांसीसी उपन्यास का अनुवाद कर रहे हैं अथवा किसी विदेशी भाषा की पुस्तक का अध्ययन कर रहे है । अभी यदि किसी ताम्र पत्र को पढ़ कर रखा है तो ताड़ पत्र उठा लिया है । आशय यह कि उनके जीवन की प्रत्येक श्वास अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूरी तरह से लगी रहती है । यद्यपि डॉ. सुज ने किसी से मिलने का निषेध नहीं कर रखा है तथापि लोग उनका काम और व्यस्तता देखते हुए उनका बहुत ही कम समय खराब करते है ।

कहना न होगा यदि यह मानव अपने उद्देश्य मे सफल हो गया और उसकी एक मानव-सभ्यता के लिये रखी हुई नींव पर आगे आने वाली पीढ़ियो ने पत्थर चढ़ाये तो एक दिन अवश्य ही ससार से द्वेष तथा वैमनस्य का विष दूर हो जायेगा और संसार की पूरी मानव जाति एक मानव समाज में बदल जायेगी, जिसकी एक सभ्यता, एक संस्कृति तथा एक भाषा हो सकती है । अभी तो यह बात दूर का स्वप्न दिखाई देती है पर पुरुषार्थ से कुछ भी असम्भव नहीं । कौन कह सकता है कि जिस दिन डॉ. सुज का उद्देश्य साकार होगा मनुष्यो की यह धरती स्वर्ग नहीं बन जायेगी । हम सब को ऐसे सदाशयी व्यक्ति की दीर्घ आयु के लिये मंगल कामना करनी चाहिए ।

नियमबद्धता चरित्र की पहली कसौटी
पियर्सन

अँग्रेज होकर भी हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध विद्वान पियर्सन को आज भी साहित्यकार बड़े सम्मान के साथ स्मरण करते हैं । उन्होंने उत्कृष्ट भारतीय साहित्य का अनुवाद अँग्रेजी मे कर भारतीय तत्व-ज्ञान अँग्रेजी-भाषियों के लिये भी सुलभ कर दिया ।

सरकारी पदाधिकारी होते हुये उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत अधिक काम किया है । इस सम्बन्ध मे उनसे एक बार अँग्रेज मित्र ने पूछा—आपने इतना अधिक सरकारी काम-काज होते

हुए भी इतना साहित्य सृजन कर सचमुच जादू कर दिखाया है । जरा बताइये तो यह कैसे सम्भव हुआ ?

पियर्सन ने कहा—मित्र! मनुष्य की जिन्दगी बहुत बड़ी है । यदि लोग जिन्दगी के एक-एक क्षण का सदुपयोग करे और उन्हें व्यर्थ के कामों में नष्ट न होने दें तो कोई भी व्यक्ति उतनी सफलता प्राप्त कर सकता है जिसे देखकर लोगों को आश्चर्य ही हो सकता है । "समय धन है" क्या आप यह भी नहीं जानते ?

और सचमुच पियर्सन ने अपने जीवनक्रम को इतना सुव्यस्थित और नियमबद्ध बनाया था कि घड़ी की सुइयों की तरह ठीक समय पर हर काम पूरा हो जाता था । सर्दी हो या गर्मी, जाड़ा हो या पाला, आँधी-तूफान-अंधड़ हो या बरसात जिस काम के लिये जो समय नियत था पियर्सन उसे बिना किसी हील-हुज्जत के पूरा करते थे, टालने और आलस्य दिखाने का नाम भी न लेते थे ।

लगभग १९२० की बात है । पियर्सन गया (बिहार) के कलक्टर थे । उन दिनो वे तुलसीकृत रामायण का अँग्रेजी अनुवाद कर रहे थे । एक दिन वे बैठे हुए नोट बुक में अनुवाद कर रहे थे । कोई दोहा आ गया, वह कुछ कठिन था । पियर्सन उसी मे उलझ गये ।

ठीक इसी समय एक डिप्टी साहब जो जन्म और जाति से हिन्दुस्तानी थे उनसे मिलने गये । पियर्सन ने उन्हें आदर के साथ बैठाया और उस कठिन दोहे के अनुवाद मे सहायता करने को कहा ।

डिप्टी साहब ने मदद तो कर दी पर उन्हे यह समझते देर न लगी कि कलक्टर साहब की साँस तेज चल रही है, चेहरा उतरा और गला भर्राया हुआ है । हाथ पकड़ कर देखा तो तीव्र ज्वर था । डिप्टी साहब ने कहा—साहब ! आपको तेज बुखार है, फिर भी आप इतने कठिन कार्य करने में लगे हुए हैं ?

पियर्सन हँसे—हँस कर जवाब दिया—डिप्टी साहब यह समय अनुवाद का था और मैं समय का पक्का पाबन्द हूँ जो काम करना है, जिस कार्य के लिए जो समय नियत है उसमें ढील देना क्या अपने स्वभाव के साथ गुस्ताखी न होगी ।

पियर्सन को तेज ज्वर था ही मस्तिष्कीय कार्य से गर्मी और बढ़ गई इसलिये आखिरी दोहे का अनुवाद कर उन्होंने संतोष की साँस ली और लेट गये । डाक्टर को बुलाया गया । उसने देखा १०४ डिग्री के लगभग बुखार है तुरन्त उपचार किये गये इसके बाद कई दिन में वे पूर्ण स्वस्थ हुए पर अपने नियमित कार्य वे उसी तरह पूरा करते रहे ।

पियर्सन का कहना था—जो समय का अपव्यय करते है वही असफलता और निराशा में भटकते है । संसार में अपने और औरों के लिये जिन्हें कुछ काम करना हो उन्हे अपने जीवन का कण-कण उपयोग में लाना चाहिए । नियमबद्ध जीवन बिताना चाहिए । नियमबद्धता ही चरित्र की पहली कसौटी है । अनियमित व्यक्ति कभी सफल न हुए न आगे होंगे । मैंने यह अपराध कभी नहीं किया ।

साहित्यकार केवल दृष्टा ही नहीं स्रष्टा भी—सॉलबेलो

मनुष्य के चारो ओर सुख-सुविधाओं का अम्बार लगा हो और उसमें अपनी पहचान कहीं खो गई हो तो सृजन का देवता होते हुए भी वह विध्वंस का शैतान बन जाता है । आधुनिक यथार्थवादी संस्कृति में जीते हुए मनुष्य के साथ यही गुजरा है । विज्ञान ने उसके आगे सुख-सुविधाओ की झड़ी लगा दी है और चेतना के स्तर पर वह वही है, जहाँ कि आदिम युग में था अथवा उसके बाद के उस युग मे जबकि मनुष्य रोटी के एक टुकड़े के लिए अपने भाई का कत्ल कर देता था और इंच भर जमीन के लिए अपने से कमजोर व्यक्तियों को गाजर मूली की तरह काट देता था ।

उन्नीसवीं, बीसवीं शताब्दी मे हुई विज्ञान की प्रगति ने मनुष्य के हाथो मे समृद्धि और सम्पन्नता का अक्षयकोष सौंपा तो उसके साथ एक से एक बढ़े-चढ़े मारकशस्त्र भी सौंपे शस्त्रास्त्र व्यर्थ नहीं है और न ही आवश्यक भी । आततायी, सुधार की सभी सम्भावनाओ को चुक जाने वाले नरपिशाचो को ठिकाने लगाने के लिए उनकी आवश्यकता हो भी सकती है । परन्तु वही शक्ति जब उद्धत, उन्मत्त व्यक्तियो के हाथो चली जाती है तो हजारों-लाखो निर्दोष व्यक्ति कीड़े-मकोड़ो की तरह मसल दिये जाते हैं । यह स्थिति कितनी हृदयद्रावक है ? प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध मे मनुष्य ने इस स्थिति को पूरी यंत्रणा के साथ भोगा और इसकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए हर सम्भव प्रयास करने की आवश्यकता अनुभव की ।

परन्तु क्या युद्ध बन्द हुए ? शान्ति स्थापना के लिये नरसंहार रुका ? एक ही उत्तर है, नहीं । इस "नहीं" को "हाँ" मे बदलने के लिए प्रसिद्ध अँग्रेजी साहित्यकार सॉलबेलो ने एक नई दिशा में संकेत किया । वह दिशा है मनुष्य की चेतना को परिष्कृत और सस्कारित करने तथा उसमे देवत्व के उदय का प्रयास करने की प्रेरणा । सॉलबेलो का जन्म ही ऐसे समय मे हुआ था जब सारा संसार प्रथम महायुद्ध के दौरे से गुजर रहा था । जब वे बड़े हुए तो उन्होंने पश्चिमी समाज को औद्योगिक सस्कृति में इस प्रकार उलझते देखा कि भय होने लगा कहीं आदमी अपनी आदमियत की ही तो हत्या नहीं कर डालेगा । औद्योगिक विकास के क्षेत्र में सफल होने के बाद मनुष्य को यह भ्रम होने लगा कि वह सर्वशक्तिमान है, संसार के सभी प्राणियों में सर्वोच्च है और मत्स्य न्याय के अनुसार उसे अपने से कमजोर लोगों को चट कर डालने का पूरा-पूरा अधिकार है ।

इससे पूर्व विश्वभर के प्रबुद्ध व्यक्ति मनुष्य को नैतिक, अनुशासित तथा मर्यादित रहने के लिए ईश्वर के प्रति आस्था को आवश्यक समझते थे । वह मानते थे कि ईश्वर बुरे

कर्मों का दण्ड देता है और अच्छे कर्मों का पुरस्कार प्रदान करता है। मान्यता का खरा-खोटापन परखना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। बताया यही जा रहा है कि मनुष्य को अपने से ऊँची किसी ऐसी सत्ता के प्रति आस्था थी जो केवल उसका ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जड़-चेतन का नियमन करती है। परन्तु शक्ति और साधन के अहंकार ने उसकी आस्था को चोट पहुँचाई और धर्म, जो मनुष्य को नैतिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करता था वही विद्वेष और विध्वंस का कारण बन गया। सॉलबेलो ने दूसरा महायुद्ध देखा विशेषतः उसमे निहित धार्मिक विद्वेष की वह ज्वाला जिसने लाखों यहूदियों के प्राण लिये और विज्ञान का वह विध्वंश जिसने लाखों व्यक्तियों को असमय और अत्यन्त ही निर्ममता के साथ काल के गाल मे फेंक दिया और साहित्यकार सॉलबेलो का हृदय बुरी तरह मसोस उठा। सर्वसाधारण जिसने नागासाकी और हिरोशिमा की विध्वंश लीलाओं के विवरण समाचार पत्रों के माध्यम से जाने-भी बुरी तरह भयभीत हो उठा था तो साहित्यकार का हृदय, संवेदना ही जिसकी सम्पत्ति है, आकुल, व्याकुल और उद्विग्न, उत्तप्त होना तो स्वाभाविक ही है।

इसके बाद सॉलबेलो ने मनुष्य मे आस्था के बुझे हुए दीपों को फिर से जलाने की गुहार जिस ढंग से मचाई उससे संसार भर के बुद्धिजीवियों के मनमस्तिष्क में एक मन्थन-सा मचने लगा। आधुनिक सभ्यता के दुष्परिणामों को व्यक्त करते हुए सॉलबेलो ने कहा—यथार्थवादी संस्कृति के प्रवाह में मनुष्य के हाथों से उसके शाश्वत, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य लुप्त हो गये हैं। लेकिन इस कारण निराश होना अथवा गुस्से से भरकर ध्वंसात्मक दृष्टिकोण अपनाना जरा भी आवश्यक नहीं है। आवश्यकता तो इस बात की है कि साहित्यकार सूक्ष्म और परोक्ष रीति से इस प्रकार की स्थापनाओं का निरूपण करें जिनसे कोई तर्कवादी बौद्धिकता की व्यर्थता सिद्ध हो और मनुष्य अपने सामने धार्मिक नैतिकता को ही विकल्प के रूप में देखे।

अपने समाज और मानवता के प्रति साहित्यकार का विशेष दायित्व होता है। वह केवल दृष्टा ही नहीं सृष्टा भी होता है जो समाज की मानसिकता को नये संस्कार देकर उन्नत बनाता है, उसके नये स्वरूप की सृष्टि करता है। इसके साथ ही अपने समाज का वैचारिक नेतृत्व करने की जिम्मेदारी भी उस पर है। लेकिन साहित्यकार अपने दायित्व को पहचानने और उसे पूरा करने की अपेक्षा अपने अहं को ही तुष्ट-पुष्ट करने मे लगा रहता है। सम्मान और ख्याति, पुरस्कार और धन तथा अधिकार और प्रभुता ही उसका प्राप्य बनता जा रहा है।

सॉलबेलो ने इसलिए कहा कि सम्मान और पुरस्कार की आशा में जो लोग अपने कागजों की सड़क पर कलम की सवारी कर दौड़ते है, वे साहित्यकार नहीं हैं क्योंकि उन्होंने कहीं न कहीं अपने मूल्यों से समझौता कर लिया है और जनमानस को दिशा देने की अपेक्षा उसे गुदगुदाना, बहलाना सीख लिया है। लोग आखिर तो उसी को चाहेंगे जो उनकी रुचि का हो, उन्हें पसंद आता हो और जो लोकरुचि को देखकर लिखा या कहा जायेगा वह कभी भी उत्कृष्ट नहीं हो सकता। सॉलबेलो ने कहा—"सार्वजनिक तौर पर किसी लेखक की रचनाओं को असाधारण सम्मान और ख्याति मिलने लग जाये तो समझना चाहिए कि उसके अन्तःकरण का प्रहरी कहीं न कहीं खो गया है या सो गया है या धोखा खा गया है।"

इस बात को उन्होंने बार-बार दुहराया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सम्मान और ख्याति अपने आप में कोई बुरी बात है। वह दायें-बायें की उपलब्धियाँ हो सकती है—जैसे किसी मंजिल के लिए कोई प्रयाण करे और रास्ते में दोनों ओर लगे फूलों की सुगन्ध भी उसे मिलती जाय। वह सुगन्ध तो अतिरिक्त उपलब्धि है—जिसे सर्वप्रमुख समझकर रुक नहीं जाना है। चलते ही जाना है, बढ़ते ही चलना है अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए। कहावत है कि "प्रसिद्धि और सम्पत्ति तो छाया की तरह है। जिन्हें पकड़ने के लिए छेड़ा जाय तो वे दूर-दूर तक भागती हैं और जिनकी परवाह न की जाय तो वे पीछे-पीछे चली आती हैं।"

सॉलबेलो ने कहा—"हमारा (साहित्यकार का) काम होना चाहिए कि हम एक प्रहरी की तरह निरन्तर चलते ही रहें। फूल चुनने के लिए रास्ते में रुको मत, हमें अपने रास्ते में फूल मिलें तो भी ठीक और नहीं मिले तो भी ठीक।" सॉलबेलो के स्वयं के जीवन में उनका यही कथन चरितार्थ हुआ। सन् १९६४ मे उनका पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ तो प्रकाशित होते ही वह हाथों हाथ बिक गया। सन् १९७५ में उन्हें पुलत्जर पुरस्कार मिला और १९७६ में श्रेष्ठतम साहित्य के लिए नोबुल पुरस्कार।

ख्याति और सम्मान की एकदम उपेक्षा करने वाले सॉलबेलो को इतना बेतहाशा यश मिला यह इस बात का प्रतीक है कि रचनात्मक दृष्टि से सम्पन्न हुआ कृतित्व न केवल रचयिता को आत्मसंतोष और सम्मान प्रदान करता है वरन् उसके गौरव को भी ऊँचा उठाता है। उनका जन्म सन् १९१५ में कनाडा के एक यहूदी परिवार में हुआ था। जब वे ९ वर्ष के थे तभी उनके पिता आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद स्थिति की सम्भावना देखकर शिकागो चले गये और फिर स्थाई रूप से वहीं बस गये। उनका परिवार परम्परागत रूप से धर्मनिष्ठ था। परिवार में सभी धार्मिक क्रियाकाण्डों और अनुष्ठानों को विधिवत् सम्पन्न किया जाता।

सॉलबेलो बचपन से ही जिज्ञासु प्रकृति के थे। परिवार में जब भी कोई धार्मिक कर्मकाण्ड या अनुष्ठान होता था तो वे उसे बड़ी गम्भीरतापूर्वक बैठे देखते रहते और कभी-कभी पूछ भी लेते कि "यह क्या—ऐसा क्यो?" पिता उनकी बालसुलभ जिज्ञासा को उसी ढंग से पूरा करते। बिना इस बात का ख्याल किये कि सॉलबेलो को इससे सन्तोष हो रहा है अथवा नहीं और सालबेलों को इन बातों से सन्तोष हुआ

हो अथवा नहीं हुआ हो पर परिवार के इस धार्मिक वातावरण ने उन्हें संस्कारित अवश्य किया । यही संस्कार आगे चलकर उन्हें धर्म को नैतिक जीवन की आधार-शिला प्रतिपादित करने वाली दृष्टि दे सके ।

सॉलबेलो ने नार्थवेस्टर्न और विस्कासिन विश्व-विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की तथा नृतत्व शास्त्र और समाज शास्त्र की डिग्रियाँ लीं । शिक्षा पूरी करने के बाद वे मिनीसोटा विश्वविद्यालय में लेक्चर तथा प्रिंसटन और न्यूयार्क विश्व विद्यालय में प्राध्यापक रहे । इन्हीं दिनों उन्हें साहित्य सेवा द्वारा सम्पूर्ण मानवता की सेवा करने तथा मनुष्य का आंतरिक स्तर ऊँचा उठाने की प्रेरणा प्राप्त हुई और वे प्राध्यापकी के साथ-साथ साहित्य सेवा भी करने लगे ।

"एनसायक्लोपीडिया ब्रिटानिका"—के सम्पादकीय सहयोगी के रूप में काम करने के बाद सन् १९६७ में उन्होंने अरब इजरायल युद्ध में समाचार संवाददाता का काम भी किया । १९४४ में उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया और इसके बाद अनवरत लिखते रहे । आधुनिक सभ्यता के अभिशापो से ग्रस्त मानवता को विकास और उत्थान की दिशा में अग्रसर करने के लिए ही जैसे उन्होंने लेखनी उठाई थी । इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने पहले उपन्यास 'डैंगलिंग मैन' में आम आदमी के अन्दर पनपती जा रही गैर जिम्मेवारी या असामाजिकता का पैना चित्रण किया है ।

अपनी कृतियो के माध्यम से उन्होंने पाठकों को प्रेरणा दी कि मनुष्य को अपने मनुष्य होने के कार्य को प्राथमिकता देनी चाहिए । उनके एक उपन्यास 'द विक्टिम' का एकमात्र मनुष्य के मानव होने पर जोर देता है और कहता है कि व्यक्तित्व को मानव से अधिक और मानव से कम कुछ नहीं होना चाहिए—मात्र मानव होकर जीने का प्रयास करना चाहिए । उन्होंने अपने साहित्य मे मनुष्य को एक संतुलित और सुनिश्चित दिशा देने का प्रयास किया है । आधुनिक सभ्यता को एकदम नकारने वाले स्वर भी उनकी रचनाओ मे नहीं है कि उससे प्रभावित होकर विध्वंसात्मक दृष्टिकोण ही अपनाले । साहित्यकार के बारे मे उनकी मान्यता रही है कि—साहित्यकार को केवल बुद्धि के आधार पर ही कलम नही उठानी चाहिए वरन् आत्मा के नैसर्गिक ज्ञान के आधार पर साहित्य सृजन करना चाहिए ।

उनके साहित्य की पंक्ति-दर-पंक्ति यह विश्वास झलकता है कि समस्त निषेधात्मक और ध्वंसकारी प्रवृत्तियों के बावजूद भी मानवजाति अन्ततः आत्मा की शक्ति के बल पर विजयी होगी न केवल जीवित रहेगी वरन् पुनः समर्थ और सशक्त बनेगी ।

प्रगति पथ के सफल पथिक—सिंक्लेयर लुईस

अमेरिका में सॉक सेन्टर स्थान के आसपास का क्षेत्र बड़ा ही सुन्दर है । कस्बे के चारों ओर दस मील के अन्दर-अन्दर तीस झीलें है । सर्दियों में उन झीलों पर बर्फ जम जाती । सर्दियाँ समाप्त होते ही वसन्त के आगमन पर बर्फ पिघलने लगती । बसन्त ऋतु में उदय और अस्त होता सूर्य बड़ा सुन्दर लगता था । मनुष्य तो क्या प्रकृति की दूसरी सन्तानें पशु-पक्षी भी अपने निवासों से निकलकर बाहर आ जाते । मैदान और झीलों के ऊपर रंगबिरंगी चिड़ियाँ झुण्ड बना-बनाकर उड़ा करते हैं । झील में भी मछलियाँ ही मछलियाँ हो जाती है । सॉक सेण्टर के बच्चे दिन भर इन प्राकृतिक उपादानो का आनन्द लेते रहते है ।

ऐसे ही वसन्त के आनन्द-विभोर कर देने वाले दिनों में एक झील के पास कुछ बच्चे जमा हुए थे उनसे दूर खड़ा था पन्द्रह-सोलह वर्ष का एक बदसूरत लड़का—हैरी । झुण्ड में बैठे बच्चों ने आपस में कोई सलाह की और दो लड़के चुपचाप उसके पास पहुँच गये । एकदम उन्होंने चीख मारी और हड़बड़ा कर हैरी झील मे जा गिरा । सब लड़के किलकारी मारकर तालियाँ बजाते हुए जोर-जोर से हँसने लगे ।

हैरी को तैरना तो आता नहीं था । फिर भी वह हाथ पैर मारने लगा । इतने पर भी झील के गहरे पानी में वह बहकर चला गया । हारकर पैर टिकाने की कोशिश की तो तलहटी में । काफी देर तक हैरी बाहर नहीं आया । बच्चो ने यह देखकर शोर किया । आसपास के लोगो ने इकट्ठे होकर हैरी को पानी मे से निकाला । यह कोई अचानक या एकमात्र घटना नहीं थी । हैरी को कई बार अपने साथियो तथा सहपाठियो के मनोरंजन का साधन बनने के लिए इस प्रकार के खतरे उठाने पड़े थे ।

उनके साथी छह पुष्ट दुबले-पतले और कुरूप हैरी को देखकर हमेशा मजा लिया करते थे । इस उपहास का परिणाम यह हुआ कि किशोरावस्था मे ही हैरी कुण्ठित होने लगा । आसपास के वातावरण और तिरस्कार, अपमान की प्रतिक्रिया व प्रभाव, किशोर मन बहुत जल्दी ग्रहण करता है । बचपन से ही उन्हे अपने साथियो का और माता-पिता व परिजनो का विनोद बनना पड़ा तो स्वाभाविक ही था कि उनका मानसिक-विकास अवरुद्ध हो गया ।

परन्तु यही हैरी जब आगे चलकर सिंक्लेयर लुईस के नाम से संसार का श्रेष्ठ साहित्यकार तथा प्रथम नोबुल पुरस्कार विजेता बना तो उनके अतीत पर किसी को विश्वास नहीं हुआ । विश्वास तो स्वयं सिक्लेयर को भी नहीं हुआ था भविष्य पर नहीं वर्तमान सफलता पर । पुरस्कार की सूचना देने वाले मित्र से उन्होंने कहा था कि—"लोग जिन्दगी भर मुझसे मजाक करते रहे है । इसलिए मुझे तुम्हारे इस समाचार पर कोई आश्चर्य नहीं है और नोबुल पुरस्कार लुईस को

दिये जाने के स्वागत में समाचार पत्रों ने परिशिष्ट अंक निकाले । उनका विगत और वर्तमान जीवन सर्वसाधारण के सामने रखा । लोगों को पढ़कर विश्वास नहीं हुआ कि सिंक्लेयर लुईस—संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कर्ता—बचपन में इतने मूर्ख, दब्बू और बुद्धू रहे होंगे । लेकिन यह असम्भव नहीं है । कट रही पेड़ की डाली पर ही खड़े होकर कुल्हाड़ी चलाने वाले कालिदास संसार के अद्वितीय नाटककार और विद्वान बन सकते हैं तो यह क्यों असम्भव है कि मूर्ख हैरी सिंक्लेयर लुईस बन जाये ।

पुरुषार्थ और साधना के बल पर इस दुनिया में सब कुछ साध्य है । भगवान की इस सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु या विशेषता नहीं है जो अलभ्य हो—दुर्लभ भले ही हो । दुर्लभ भी इसलिए कि पसीना बहाकर प्राप्त करने वाले ही उसका मूल्य समझते हैं । हीरा यदि आसानी से यत्र-तत्र मिलने लगे तो उसका मूल्य ही समाप्त हो जायेगा । उसे पाने के लिए पत्थर और चट्टानें तोड़कर प्रयत्न किया जाता है तभी तो उसका महत्व समझ में आता है । फिर भी यह महत्व और मूल्य उस वस्तु का नहीं परिश्रम और पसीने का ही है । जिसे पहचानकर हैरी सिंक्लेयर लुईस बन गये ।

सिंक्लेयर लुईस का जन्म ७ फरवरी, १८८५ ई. को एक चिकित्सक परिवार में हुआ था । उसके पिता एडविन ल्यूईस को शादी के बाद ही घर छोड़ देना पड़ा था । उस समय वे पढ़ रहे थे परन्तु घर वालो से अनबन हो जाने का कारण एडविन को अपना, अपनी पत्नी का तथा शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं के कन्धों पर ही लेना पड़ा । माता-पिता का घर छोड़कर वे शिकागो चले आये । वहीं पर काम-धन्धा करने लगे तथा पढ़ने भी लगे । इसी दौरान उनके यहाँ दो बच्चों ने जन्म लिया जिनमें से एक थे—सिंक्लेयर । प्यार से घर के लोग सिंक्लेयर को हैरी कहा करते थे । उनके जन्म के दो वर्ष बाद ही एडविन डाक्टर बने ।

चूँकि डॉ. एडविन का स्वयं का जीवन कठिन संघर्षों और कठिनाइयो मे बीता था । अपने परिश्रम और उत्साह के बल पर उन्होने परिस्थितियो पर विजय प्राप्त की थी । इसलिए वे चाहते थे कि मेरी सन्तान भी मेहनती और चुस्त हो । यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पिता अपने पुत्र को भी अपनी ही भाँति, अपनी प्रतिकृति के रूप मे देखने की आकाक्षा करता है । सिंक्लेयर को जब उन्होने आशा के विपरीत सुस्त पाया तो वे बड़े निराश हुए और प्रेम क्रोध में बदलने लगा ।

सिंक्लेयर की सुस्ती का कारण मित्रों में उपहास और परिवार मे उपेक्षा था । आरम्भ में उनकी मनःस्थिति को समझकर सम्हालने का प्रयास किया जाता तो शायद वे बचपन मे ही कुशाग्र बुद्धि और मेधावी सिद्ध हो सकते थे । सिक्लेयर को एडविन हमेशा निकम्मा और कामचोर कहकर दुत्कारा करते थे । हैरी को इस उपेक्षा से वेदना और मानसिक पीड़ा के दौर से गुजरना पड़ा ।

एक बार उन्होने इस उपेक्षा से घबड़ाकर घर भी छोड़ दिया । सन् १८९५ मे वे घर छोड़कर भाग निकले । उस समय उनकी आयु १० वर्ष की थी । इस उम्र मे व्यक्ति का कोमल मन तीव्र प्रतिक्रियावादी भी होता है । वे घर पर एक चिट्ठी लिखकर छोड़ गये और रेल्वे स्टेशन पर पहुँचे । संयोग से चिट्ठी तुरन्त ही उनके पिता के हाथो पड़ गयी । घर छोड़ने के लिए स्वयं के दुर्व्यवहार को जिम्मेदार पाकर उन्हें अपनी गलती का भान हुआ और ममता भी जागी । सामान्यतः कोई भी माता-पिता अपने रक्त को पसीना बहाकर पाली पोसी सन्तान से नफरत नहीं करता है । सन्तान के मन मे नफरत की अनुभूति तो माता-पिता का रोष-जन्य-व्यवहार ही करवाता है । एडविन तुरत स्टेशन की ओर दौड़े, सिंक्लेयर ने उस समय टिकट खरीद लिया था और गाड़ी मे चढ़ने की तैयारी कर ही रहे थे कि पिता उनसे लिपट कर खूब रोये ।

एडविन ने पूछा—"मेरे बच्चे तुम हमे छोड़कर कहाँ जाओगे ।"

"आप लोगों के व्यवहार से मैं तंग आ गया हूँ । अब मैं सेना मे भर्ती होकर इस भार रूप जीवन को समाप्त ही कर दूँगा ।"

"चलो बेटा घर चलो"—एडविन ने कहा—"अब हम तुम्हे तंग नहीं करेंगे ।"

विश्वास और परिवर्तन पाकर सिंक्लेयर पुनः घर आ गये । यह घटना कोई दबाव या विद्रोह की नहीं पिता पुत्र के सम्बन्धो में परिस्थिति और भूल से आये तनावो की परिचायक है । सिंक्लेयर तो अपने घर से उपेक्षा, अपमान और भर्त्सना के कारण भागे ही थे । आज भी घर छोड़कर निकल भागने वाली सन्तानों के पलायन का एक कारण यही है ।

सिंक्लेयर की माता उन्हे छह वर्ष का छोड़कर ही मर गयी थी । एडविन ने दूसरा विवाह कर लिया था । परन्तु सिंक्लेयर को कभी अपनी सौतेली माँ से कोई शिकायत नहीं रही । उनके भावी-जीवन को भी सौतेली माँ ने ही सर्वाधिक प्रभावित किया है, घर का और पिता का रवैया तो सुधर गया परन्तु बाहरी वातावरण ज्यों का त्यो ही रहा ।

पूर्व स्थिति की स्थायी प्रतिक्रिया और समसामयिक सहपाठियों के व्यवहार ने सिंक्लेयर को आत्मकेन्द्रित बना दिया । वे घण्टो अकेले बैठे स्वयं से बाते करते रहते थे । उनकी माता इजाबेला ने बदलते जा रहे अपने सौतेले बेटे को रचनात्मक दिशा दी और पुस्तकें पढ़ने के लिए कहा । सिंक्लेयर अपनी माँ का बहुत सम्मान करते थे । यह परामर्श कठिनता से गले उतारा परन्तु धीरे-धीरे असुविधा दूर हो गयी । किताबो मे उन्हे मजा आने लगा ।

सिंक्लेयर को पुस्तके पढ़ने का अभ्यास हो गया । तत्काल आनन्द न देने वाला कोई भी काम तुरन्त अभ्यास में नहीं आता । फिर भी यदि उसके लिए निरन्तर प्रयास

किया जाय तो वही अभ्यास सबसे प्रिय कृत्य बन जाता है। अब सिंक्लेयर को भी किताबें इतनी अच्छी लगने लगी कि उन्होंने घर में एक छोटा-सा पुस्तकालय बना लिया।

पढ़ने में भी उनका मन लगने लगा। पिता का सद्व्यवहार और माँ का ममत्व सिंक्लेयर को महत्वाकांक्षा और उसकी पूर्ति के पथ पर ढकेलता गया। युवावस्था में ही उन्होंने अपना शैक्षणिक पिछड़ापन दूर किया तथा जर्मन और हीब्रू भाषाएँ सीख लीं।

वे अब स्कूल की साहित्यिक और सांस्कृतिक गति-विधियों में भी भाग लेने लगे। रात को इस कारण घर आने में देर भी हो जाती थी। स्वभाव से विवश उनके पिता नाराज होते थे परन्तु सिंक्लेयर को अब तनिक भी बुरा नहीं लगता। तुरन्त माँ आकर उनके पिता को समझा-बुझा देती बीच-बचाव करती।

वयस्क हो जाने के बाद उन्होंने अपने खर्च का स्वयं प्रबन्ध करने के लिये काम तलाशने का निश्चय किया। यह निश्चय सुनकर पिता बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने काम में किसी भी प्रकार की शर्म न करने की सलाह दी। सिंक्लेयर ने सबसे पहला काम किया लकड़ी चीरने का, फिर घास भी काटी। इस प्रकार मेहनत-मजदूरी कर वे आत्म-निर्भरता की राह पर बढ़ने लगे। पिता यद्यपि अच्छे धनवान और वैभव सम्पन्न थे परन्तु आनन्द तो अपनी खुद की कमाई का है। कुछ दिन के लिए वे सॉक सेन्टर कस्बे के एक होटल में क्लर्क भी रहे। थोड़े समय के लिए उन्होंने अपने एक परिचित व्यक्ति की देखरेख में समाचार-पत्र के प्रेस में भी काम किया। यहीं से उनका साहित्यिक-जीवन आरम्भ होता है।

सिंक्लेयर ने कविताएँ लिखकर पत्र-पत्रिकाओं में भेजना आरम्भ किया। शुरू में कई वर्षों तक उनकी रचनाएँ लौटकर आती रहीं परन्तु वे इससे निराश नहीं हुए। न ही उन्हें दुःख हुआ—अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने डायरी में लिखा है—"यदि मैं हार मान लेता हूँ तो कुछ नहीं कर सकूँगा। निष्ठापूर्वक प्रयत्न करते रहना ही तो सफलता का राज है।" इन शब्दों में उन्होंने एक ऐसा मन्त्र ढूँढ निकाला कि जिसके बल पर समस्त विभूतियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती है।

चारछह वर्षों तक अनवरत प्रयास करने के बाद उनकी पहली रचना स्वीकृत हुई और सिंक्लेयर को इसके बाद लगातार सफलताएँ मिलने लगीं। लौटकर आयी प्रत्येक रचना ने उन्हें एक नया कोण दिया। जहाँ खड़े रहकर सिंक्लेयर ने अपनी कलम को माँजा और शैली को साफ किया।

उनकी पहली कहानी का पारिश्रमिक पचहत्तर डालर मिला। यह कहानी अमेरिका के एक विख्यात पत्र में छपी थी। प्रकाशित होने के बाद पाठकों ने भी उसे खूब पसन्द किया। सिंक्लेयर एक कहानी में ही लोकप्रिय कथाकार बन गये। उनकी ख्याति से परिचित होकर श्रीमती येकूगावनकुक ने उन्हें लेखकों की बस्ती कार्मेल में रहने के लिए बुलाया। कार्मेल—कैलिफोर्निया प्रान्त का एक गाँव है। जहाँ अँग्रेजी की प्रख्यात लेखिका ने लेखकों के एक साथ रहने का प्रयोग किया था। यह प्रयोग काफी सफल भी हुआ था। आमन्त्रण पाकर सिंक्लेयर कार्मेल चले आये और वहीं रहने लगे। कुछ दिनों वहाँ रहकर वे न्यूयार्क आ गये। यहीं उनका विवाह भी हो गया।

न्यूयार्क में उन्होंने कई रचनाएँ कहानियाँ तथा उपन्यास लिखे जो काफी प्रसिद्ध हुए। वे अपने पात्रों का चुनाव स्वयं के आसपास से ही करते थे। देखी और अनुभव की हुई बातों को कल्पना का रंग देकर यथार्थ में चित्रित करने की कला उनके हाथ में आ गयी थी।

सन् १९५० में वे अमेरिका लौट आये। यहीं पर जीवन के अन्तिम दिन गुजार कर १ जनवरी, १९५१ को उनका देहान्त हो गया। अपने प्रारम्भिक जीवन में वर्षों तक उपेक्षित रहने वाले सिंक्लेयर लुईस सर्वोच्च सफलता के शिखर पर पहुँच कर, जगत् से एकदम गायब हो गये।

सच्चे सुख का खोजी—
हेनरी डेविड थोरो

महात्मा गान्धी से एक अमेरिकन लेखक ब्रूस ब्लियेन ने पूछा—"आपको यह असहयोग-आन्दोलन का विचार-अस्त्र कहाँ से प्राप्त हुआ?"

गाँधीजी उस अमेरिकन की ओर आश्चर्य से देखते हुए कहा—"यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है—हेनरी डेविड थोरो से।"

हेनरी डेविड थोरो अमेरिका का वह प्रसिद्ध प्रकृतिवादी दार्शनिक था जिसने स्वयं आजीवन भौतिकवाद से संघर्ष करके नवीन चिन्तन-धारा खोजी थी। जिससे पिछली पीढ़ियाँ अत्यधिक लाभान्वित हुईं। यह दूसरी बात है कि जब तक वह जीवित रहा लोगों की दृष्टि में वह सनकी तथा असफल ही सिद्ध हुआ। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसकी महानता को सारे जगत ने स्वीकार किया।

हेनरी का जन्म अमेरिका के स्पार्टन प्रान्त के एक गाँव में सन् १८१७ में हुआ था। उसके पिता एक दुकानदार थे जिन्होंने अपने इस व्यवसाय में असफल होकर पेंसिल बनाने का काम अपना लिया था। हेनरी डेविड थोरो का जीवन जहाँ वह पैदा हुआ था उसके आसपास के थोड़े से क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ किन्तु उसके द्वारा जो कार्य किया गया वह सारी दुनिया को मानना पड़ा।

पिता उसे पढ़ाने में असमर्थ थे। हेनरी अपनी लगन तथा परिश्रम के कारण अपनी प्रारम्भिक-शिक्षा किसी प्रकार चला सका था। उसे अतिरिक्त समय में कठिन परिश्रम करके अपनी पढ़ाई का खर्च जुटाना पड़ता था। वह कक्षा में सदा

प्रथम आता था । इस कारण उसे छात्रवृत्ति मिली तथा उसके सहारे उसने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की ।

आरम्भ से ही उसने अपना स्वतन्त्र-चिन्तन आरम्भ कर दिया था । कोई प्रथा, परम्परा प्रचलित है इसीलिये वह उसको स्वीकार नहीं करता, जब तक कि उसका विवेक उसे स्वीकार नहीं कर लेता था ।

उसने प्रथम श्रेणी मे बी. ए. पास किया था किन्तु उसने पाँच डालर देकर डिग्री लेनी नही चाही । वह पाँच डालर अपने प्रमाण-पत्र को पाने के लिये खर्च करने की अपेक्षा उस धन को किसी जनोपयोगी कार्य मे लगाना बेहतर समझता था । उसने पाँच डालर की राशि गरीब विद्यार्थियों को मुफ्त पुस्तकें देने वाले कोष में जमा करा दी ।

वह स्नातक-परीक्षा उत्तीर्ण करके अपने घर कॉनकर्ड आ गया तथा वहाँ की एक पाठशाला मे अध्यापक का कार्य करने लगा । वह व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का पक्का समर्थक था। पढ़ने वाले बच्चों को पीटना वह एक क्रूर कार्य समझता था । पीटने से उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है तथा उनके विकास मे बाधक होती है ।

उस समय लोगो की यह मान्यता थी कि बिना डण्डे का प्रयोग किये बच्चो पढ़ाना कठिन ही नहीं असम्भव है । उसके साथी अध्यापको ने उसे सलाह दी— "यदि तुम डण्डे का प्रयोग नहीं करोगे तो तुम सफल अध्यापक नहीं बन सकते ।"

हेनरी सिद्धान्तो को अधिक महत्व देता था—सफलता और असफलता को कम । सफलता के लिये सिद्धान्तो का हनन उसे स्वीकार नही था । उसने छात्रो को अपने ढंग से ही पढ़ाया । उसका परिणाम यह हुआ कि विद्यालय के संचालकगण उससे असन्तुष्ट हो गये तथा उसे नौकरी से त्याग पत्र देना पड़ा ।

यह थोरो की प्रथम तथा अन्तिम नौकरी थी । इससे त्याग पत्र देकर उसने अपना प्रथक स्कूल खोल लिया । यह स्कूल एक ही कमरे मे चलता था तथा उसमे आरम्भ मे केवल छह विद्यार्थी पढ़ते थे । थोरो उन्हे निशुल्क शिक्षा देता था ।

उसे अपने जीवन निर्वाह के लिये पेंसिले बनानी पड़ीं, बेरी के फल तोड़ने तथा बाजार मे बेचने पड़े, फसल की कटाई का काम करना पड़ा था । उसने भाषण देने से लेकर जूते साफ करने तक के सब काम अपने जीवन में किये किन्तु अपने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को आँच नही आने दी ।

जीवन भर वह अपने आदर्शों के लिये संघर्ष करता रहा । वह अपने देशवासियो को यह सिखाना चाहता था कि पैसे के पीछे भागना ही जीवन नहीं है । इस संसार मे ऐसे भी कई सुख है कि जो पैसा कमाकर भोग- ऐश्वर्य के अधिकाधिक साधन जुटाने की अपेक्षा अधिक सहजता से मिल जाते है । उनकी ओर से आँख मूँद कर सिद्धान्तहीन जीवन जीना किसी भी मनुष्य के लिये गर्व की बात नहीं है ।

थोरो ने अपने मौलिक चिन्तन से अमेरिकावासियो को अवगत कराने के लिये 'कन्कर्ड की मेरी मेक नदी पर एक सप्ताह' नामक पुस्तक लिखी तथा प्रकाशित करवायी ।

सर्वप्रथम उसने उक्त पुस्तक की एक हजार प्रतियाँ छपवायी थीं । उन एक हजार प्रतियो में से केवल २१९ प्रतियाँ ही बिकी तथा शेष उसके पास पड़ी रहीं । किन्तु, इससे वह निराश नहीं हुआ । उसका लेखन क्रम चलता ही रहा । बाद मे उसने अपना एक पत्र निकाला । एक बार उसने अपने बारे में इस पत्र मे यह तथ्य प्रकाशित किया 'मेरे पुस्तकालय मे ९०० पुस्तके हैं उनमे से ७०० मेरी लिखी हुई हैं ।' उसके इन शब्दो में उसका आत्म-विश्वास झलकता था ।

थोरो ने गलत नही सोचा था । दुनिया ने उसके विचारो को उस समय भले ही न समझा हो बाद मे उसकी पुस्तके विश्व भर मे लोकप्रिय हुईं । उस समय जिस पुस्तक का मूल्य एक डालर था उसी का मूल्य आज ६०० डालर है ।

उसकी दूसरी पुस्तक 'वेल्डन' प्रकाशित हुई । उसके जीवन मे वेल्डन की दो हजार प्रतियाँ ही बिक सकी थी । आज उस पुस्तक का अनुवाद कई भाषाओ मे हो चुका है तथा वह अत्यन्त लोकप्रिय पुस्तको मे से एक गिनी जाती है ।

इन पुस्तको को लिखने के पीछे थोरो का यही उद्देश्य था कि मनुष्य के पास धन हो या न हो वह असन्तुष्ट ही रहता है क्योंकि वह इस सच्चाई से परिचित नहीं होता कि इस धरती पर किसी भी मनुष्य के लिये सुख व संतोष का जीवन जी पाना कठिन नही है । यदि अपनी वासना-तृष्णाओ को आकाश जितना ऊँचा नहीं उठाए । अपना जीवनयापन करना तो सहज बात है वह चाहे तो भरपूर परमार्थ भी कर सकता है ।

तत्कालीन अमेरिकन जनता इसी प्रकार के जाल-जंजाल मे फँसी हुई थी । थोरो का यह चिन्तन भारतीय जीवन दर्शन "सादा जीवन उच्च विचार" का समर्थक था । थोरो वस्तुत: प्रकृतिवादी दार्शनिक था । उसने प्रकृति को बहुत निकट से देखा था । उसके साहित्य मे उसका यह सूक्ष्म निरीक्षण यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है ।

उसने अपना अधिकांश समय वेल्डन पोण्ड नामक सुरम्य प्राकृतिक झील के निकट बिताया था । थोरो ने राल्फ वाल्डो इमर्सन नामक दार्शनिक से उस झील के निकट की भूमि खरीद ली थी तथा अपने हाथो से इसके निकट एक साधारण सी झोपड़ी बना ली थी । इस झोपड़ी मे उसके अपने श्रम के अतिरिक्त केवल २८ डालर की पूँजी लगी थी ।

थोरो का पत्र अपने ढंग का अनोखा पत्र था । उसमें मनुष्य तथा प्रकृति के सामञ्जस्य का प्रतिपादन उसने

प्रभावशाली ढग से किया था। वह थोरो के अन्त:करण की आवाज थी जिसे वह सहज जीवन से भागते हुए मनुष्यों को सुनाना चाहता था।

ज्ञान की उसके मन मे अदम्य भूख थी। वह इमर्सन नामक दार्शनिक का प्रवचन सुनने के लिये अठारह मील पैदल चलकर पहुँचा था। इमर्सन को जब यह बात ज्ञात हुई तो वह सदा के लिये उसका मित्र बन गया। इमर्सन को थोरो का चिन्तन सर्वथा मौलिक लगा था। वह जीवन भर इमर्सन के घनिष्ट मित्रो में से गिना गया।

थोरो नई बाते कहता था। इस कारण वयस्क तो उसे सनकी समझते थे किन्तु बच्चे उसे बहुत चाहते थे। वह भी बच्चो को बहुत प्यार करता था क्योकि बच्चो का जीवन सरल तथा आडम्बरहीन होता है। वह उन्हे कहानियाँ सुनाता था। उन्हे खिलौने तथा बाँसुरियाँ देता था।

वह दास प्रथा के सर्वथा विरुद्ध था तथा उसने दास प्रथा के विरुद्ध काफी लिखा तथा प्रवचन दिये, जिसके परिणामस्वरूप उसे जेल भी जाना पड़ा। जेल में ही उसने 'असहयोग' नामक लेख लिखा जिसमे उसने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी अन्यायपूर्ण नियम के विरुद्ध शान्तिपूर्वक विरोध करने का अधिकार है। यही असहयोग महात्मागाँधी का ब्रह्मास्त्र बना था।

थोरो का आशावाद तथा उसकी आन्तरिक प्रसन्नता उसकी सबसे बड़ी विजय थी। यद्यपि उसका स्वास्थ्य बहुत कमजोर था, वह बार-बार अस्वस्थ हो जाता था, उसके फेफड़े भी कमजोर थे। वह ४४ वर्ष की अल्पायु मे ही अत्यधिक ठण्ड के कारण मृत्यु का ग्रास बन गया था फिर भी वह अपने जीवन मे कभी दु:खी तथा खिन्न नही हुआ।

जीवन भर संघर्ष करते रहने पर भी थोरो ने जो सुख भोगा था वह अन्य व्यक्ति नहीं भोग सकते। उसका समय जीवन यह बताता है कि सुख एक मन की धारणा है व्यक्ति यदि सुखी रहना चाहे तो किसी भी परिस्थिति मे वह सुखी रह सकता है।

थोरो ने अपने सुख को इन शब्दो मे प्रकट किया है—"मैं वर्षों तक अपने आप द्वारा नियुक्त किया हुआ बर्फ तथा पानी के तूफानो का निरीक्षक रहा हूँ तथा पूरी ईमानदारी से मैने अपने इस कर्तव्य को निभाया है। वर्षो तक मैने पुष्पो का सान्निध्य सुख पाया है।"

थोरो का जीवन दूसरो की नजरो में कुछ भी रहा हो। उसकी आत्मा की निगाह मे उसने सच्चा-जीवन जीया था। वह दुनिया को एक नया जीवन-दर्शन देना चाहता था सो उसने दिया। उसने उन नई राहों को प्रशस्त किया जो उसके समय मे अजानी रही हो किन्तु भावी मानव-समाज के लिये अतीव हितकारी सिद्ध हुई है।

ऐसे तत्वदर्शी दार्शनिको का जीवन हमे सदा सत्यान्वेषण की दिशा मे धैर्य और साहस बँधाता रहेगा।

सत्साहित्य प्रसार ही जिनका जीवनोद्देश्य था—हैक्सन वान

एक सप्ताह बाद पुत्री हेलिना का जन्म-दिन मनाया जाना था, उसे कुछ न कुछ उपहार तो भेट करना ही था। उसके दूसरे दिन सोमवार को पुत्र इलियट की कालेज की फीस देनी थी इसलिये पिता ने कुछ अधिक दौड़-धूप की। एक सप्ताह तक कई स्थानों में दौड़े पर मुश्किल से उतने पैसे मिल पाये जितने से चाहे तो लड़की का जन्म-दिन मना लेते अथवा धर्मपत्नी के पास रखे कुछ शिलिंग मिलाकर बच्चे की फीस का प्रबन्ध कर देते।

रविवार के दिन हेलिना का जन्म दिन मनाया गया। यह पहला अवसर था जब उनके घर मे एक भी मेहमान उपस्थित नहीं था। एक भी मिठाई नहीं थी, गुब्बारों से घर नहीं सजाया गया था। छोटे बच्चे सहित ५ व्यक्तियो के लिये ५ कप चाय ५ केक और एक मोमबत्ती का दीपक जलाकर ही उन लोगों ने पुत्री का जन्म दिन मनाया और पैसे बच्चे की अत्यावश्यक फीस के लिये बचा लिये गये।

हेलिना ने कहा—पापा इस बार आपने मुझे लाकेट लाने को कहा था, तो उनकी आँखो मे आँसू भर आये। उन्होंने आश्वस्त होकर कहा—बेटी लाकेट तो नहीं ला सके पर जो कुछ दे रहा हूँ वह लाकेट से भी मूल्यवान है। यह कहकर उन्होंने एक पुस्तक "महापुरुष कैसे बना जा सकता है" (हाउ कैन बिकम दि ग्रेट मैन) पुत्री के हाथ मे रखकर उसका स्नेहालिंगन किया और आशीर्वाद दिया। पाँच कप चाय पीकर ही वह जन्म-दिन सम्पन्न हुआ।

जिस व्यक्ति के जीवन मे इतने अभाव थे वे कोई अनपढ, अकर्मण्य, आलसी अथवा गँवार आदमी नहीं थे। वे थे गुण और विद्या भूषण हैक्सन वान जिन्हे कोई सरकारी खिताब हासिल न था पर उनके गुणों से प्रेरित सारे मुहल्ले वाले और परिचित लोग उन्हे सर हैक्सनवान कहा करते थे। हैक्सन का जन्म एडेन के इल्फियानगर के एक सम्पन्न घर मे हुआ, किन्तु उस सम्पन्नता का सुख उन्होंने तब तक ही पाया जब तक माँ बाप जीवित रहे और पढ़ते-लिखते रहे।

जिस दिन एम. ए. की डिग्री मिली और प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होने के कारण कई जगहो से सर्विस के निमत्रण मिले हैक्सनवान दिनभर विचार करते रहे मुझे कौन-सा व्यवसाय करना चाहिए। पिता का लगा लगाया कारोबार था हजारो रुपयो की आमदनी थी, नौकरियाँ भी अच्छी मिल रही थीं पर उन्होंने कहा—मैं कोई ऐसा काम करूँगा जिससे संसार की, अभागो की, दीन दु:खी और निराश व्यक्तियो की कुछ सेवा बन पड़े, उन्हे संसार मे सुखपूर्वक जीवन जीने का कुछ प्रकाश मिल सके।

और उसके बाद उन्होंने सत्साहित्य के प्रसार का काम शुरू किया और आजीवन वही काम करते रहे। वे कोई उपन्यास, नाटक कथाएँ और स्कूलों की पाठ्य पुस्तके न

बेचते थे उनके पास उन पुस्तकों का खजाना रहता था जो लोगों में साहस, हिम्मत, सदाचार, शौर्य, उत्साह, उल्लास पुलक, प्रसन्नता, आशा, करुणा, दया, धैर्य, मैत्री भावनाओ का संचार करती थीं । अरस्तू, स्वेट मार्डन, जेम्स ऐलेन, सोक्रेटीज़ आदि उन लेखकों की पुस्तके ही उनके पास रहती थीं जिन्होने केवल मनुष्य के कल्याण के लिये, उत्थान के लिये साहित्य निर्माण किया था । इनके अतिरिक्त विश्व के प्रसिद्ध नोबुल पुरस्कार विजेताओं की कृतियाँ, अच्छी पत्रिकाएँ भी उनके पास होती थीं जिन्हे वे अधिक से अधिक रियायत देकर और कम से कम दाम लेकर बेचते थे । रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीताञ्जलि के अँग्रेजी अनुवाद की कई सौ प्रतियाँ उन्होंने बेची ।

यद्यपि और सब जगहो की तरह डल्फिया मे भी चटपटी, रोमान्स भरी पुस्तको की खपत अधिक थी । ऐसा साहित्य जो लोगों को रचनात्मक दिशाएँ देता है उसकी बिक्री बहुत कम थी । तिस पर आजीविका भली प्रकार चला ले जाना तो और भी कठिन था । हैक्सन के पास पिता की जो पूँजी थी वह उसने पुस्तको की खरीद मे लगा चुके थे इसलिये अब बिक्री से जो कुछ मिलता था उसी से गुजर होती थी ।

सामान्य पुस्तक विक्रेताओं की तरह दूकान खोल कर बैठते तो सम्भवतः उन्हे अपनी तरह की पुस्तकों की बिक्री में भोजन व्यवस्था के लिये चार पैसे जुटाना भी कठिन हो जाता और फिर उन दिनो डल्फिया फैशनपरस्ती और रोमान्स की ओर बढ़ रहा था इसलिए प्रबुद्ध विचार देने की बरबस आवश्यकता थी । इसलिये पुस्तको की बिक्री का उन्होंने एक अनोखा रास्ता अपनाया था उसी ढंग से वे आजीवन काम करते रहे तभी उन्होंने डल्फिया और अनेक अन्य स्थानो में लोगो को नैतिक, चारित्रिक और उत्थान की श्रेणी प्रेरणाएँ देने की सफलता प्राप्त की ।

हैक्सन लोगो के घरो मे जाते थे । कार्यालयो मे मिलते थे । स्कूलो और कालेजो मे पहुँचते थे । निमन्त्रण तो कम ही मिलते थे पर सार्वजनिक सभाओ, मेलो और विवाह त्यौहार के आयोजनो आदि मे अपनी ओर से बिना हिचक पहुँच जाने की हिम्मत हैक्सन मे थी । ऐसे स्थानो मे जाकर वह जिससे मिलते उसे सद्विचारो और सद्साहित्य की महत्ता समझाते और उन पुस्तको से लाभ उठाने की प्रेरणा भी देते । उसका चुना हुआ पैराग्राफ था—"जब संसार मे आपके सब सम्बन्ध खराब हो गये हो, कोई साथ देने वाला न हो, कोई राह दिखाने वाला न रहे, सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार फैला हो, आप निराश हो चुके हो, आपको आजीविका का कष्ट हो आप दरिद्रावस्था से उठना चाहते हो, सुखी, सयत सुव्यवस्थित जीवन जीना चाहे, तब किसी आदमी के पास मत जाना । भगवान से भी भीख माँगने पर जो चीज न मिलेगी वह अपने घर की अलमारी के किसी कोने से पड़ी अच्छे विचारो वाली कोई पुस्तक में ढूँढकर निकाल लेना, समझना कि वही आपकी मित्र, आपकी माता, सहचरी, आपका गुरु, शिक्षक और प्रकाश देने वाली परमात्म-शक्ति है इसे पढ लोगे तो तुम्हें अपना निर्दिष्ट मिल जायेगा । तुम्हारा जीवन सुधर जायेगा । विचार पूर्ण पुस्तके देवता होती हैं उनकी प्रतिष्ठा घर मे रखोगे तो वह एक न एक दिन अपनी उपयोगिता सिद्ध करके ही रहेगी ।"

उनके विचारो का हर समझदार व्यक्ति स्वागत करता और लोग खरीदते भी थे । उन्होने कितने ही भूलेभटको की इस तरह सेवा की, उसके कुछ संसमरण बाद मे प्रकाशित हुए, उनमे से एकाध इस प्रकार है—

हेलिना के जन्म दिन पर जब वे लाकेट न ला सके तो बच्ची ने कहा, 'पिताजी ऐसा व्यवसाय आप क्यो करते हैं जिसमें कठिनाइयाँ तो निरी हैं पर परिवार के पालने भर के लिये आजीविका नहीं मिल पाती । आप तो कोई ऐसा काम कीजिये जिससे खूब रुपये मिलें । बच्चे ने भी बहिन की बात का अनुमोदन किया । केवल उनकी धर्मपत्नी तटस्थ रही ।

हैक्सन हँसकर कहने लगे—"बेटी रुपयो का कमा लेना ही सुखी होने के लिए काफी नहीं है । हर मनुष्य की एक आत्मा होती है जो दूसरों को सुखी बनाने, सेवा करने, सहायता देने, सही राह बताने में अधिक सुख, शान्ति और सन्तोष अनुभव करती है । विचार सेवा संसार की सबसे बड़ी सेवा है जो सुख रुपये पैसे नहीं दे सकते वह सद्-विचारो से मिल जाता है । सद्साहित्य का प्रसार हम इसीलिए करते है कि आत्मा का परिष्कार हो और जो भूले भटके लोग है उन्हे जीवन की सही दिशा का मार्गदर्शन मिले ।"

उस दिन तो पुत्री की समझ मे पूरी बात नहीं उतर पाई पर दूसरे ही दिन हैक्सन को एक पत्र मिला—गुप्त लिफाफा था उसमे लिखा था—'सर वान साहब! कल मैं लगभग आत्मघात कर लेने को था, जीवन से बिलकुल निराश हो चुका था, मेरी प्रेमिका ने मुझे धोखा दिया था, संसार नीरस दिखाई देता था । सोचा अब जीने से भी क्या फायदा पर आपकी दी हुई किताब का एक लेख "उठिये, निराशा को दूर भगाइये ।" पढ़ा तो मेरी सारी उद्विग्नता और निराशा दूर हो गई, फिर से आशा का सचार हुआ । मुझे नवजीवन मिला उसका श्रेय आपको देना चाहता हूँ । मेरा प्रणाम स्वीकार करें ।"

वह पत्र पढकर घर के सब लोग हैक्सन की सेवा भावना और उसकी असलियत के प्रति श्रद्धानत हो गये । उनकी धर्मपत्नी ग्रिप्सा ने भी उन्हे इस कार्य में सहयोग दिया । कई स्थानों पर वह हैक्सन के साथ जाती थीं और पुस्तके बिकवाने मे उनकी मदद करती थीं ।

उसके थोड़े दिन बाद ही हैक्सन के नाम एक बीमा आया । उसमें १००० पौण्ड का चैक था । साथ में एक पत्र भी लिखा था । आपकी दी हुई पुस्तक ने मुझे मेहनत, ईमानदारी और लगन के साथ औद्योगिक प्रगति करने की प्रेरणा दी थी । पहले मैं आवारा, आलसी और पलायनवादी

इन्सान था पर इस पुस्तक ने मुझे विचार उत्तेजना दी तो एक साबुन की छोटी-सी दुकान खोल दी। उसी से बढ़ते-बढ़ते ७-८ वर्ष मे इस स्थिति मे पहुँचा हूँ कि अब मेरी आय १० हजार पौण्ड मासिक से भी अधिक है। यह चैक आपके उस उपकार की एक तुच्छ भेट है। स्वीकार करे।"

हैक्सन का हृदय भर गया उन्होने कहा, मुझे जो कुछ मिलना चाहिए वह सुख इस सेवा से ही मिल रहा है उसे बदनाम न करूँगा। हैक्सन की सेवा का मूल्य अन्तःकरण की शान्ति है यह कह कर उन्होने वह चैक अन्धे, बहरो के स्कूल को दान दे दिया।

डल्फिया से ही आये ऐसे सैकड़ो पत्र हैक्सन के पास सुरक्षित थे जिसमे उन लोगों ने लिखा था कि उनकी पुस्तको की प्रेरणा से ही उन्होंने कठिनाई मे ही उच्च शिक्षाए पाईं। एक बार हैक्सन की जन्म तिथि पर एक अधिकारी ने संस्मरण लिखा था—चारित्रिक दुर्बलता के कारण न मेरा मस्तिष्क ठीक काम करता था न शरीर। सोचने और विचार करने की भी मुझमे शक्ति न रही थी कि एकाएक एक दिन हैक्सन साहब से भेट हुई। उन्होने मुझे किसी पूर्वी लेखक की पुस्तक दी, उसे पढ़कर मुझे चरित्र की महत्ता मालूम हुई। उसी से स्वास्थ्य और शिक्षा की उपयोगिता भी जानी। उस दिन से मै जीवन निर्माण मे लग गया। उसी का फल है कि आज मै यहाँ का सोशल वेलफेयर कमिश्नर हूँ।

हैक्सन ने ऐसे सैकड़ों हजारो लोगों को प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार का सद्साहित्य देकर उनका उपकार किया था। इससे प्यार से सब लोग उन्हे "सर हैक्सन" कहने लगे। वे साहित्य की बिक्री से पेट पालते थे पर जिनके पास पुस्तक पढ़ने के लिये पैसे न होते थे, उनके लिये वह अलग कुछ पुस्तके रखते थे जिन्हे पढ़ने के लिये बिना मूल्य देते और निर्धारित समय मे लौटा लेते थे। उनकी इन सेवाओं का डल्फिया ने खूब लाभ उठाया। डल्फिया के निर्माताओं मे हैक्सन वान का नाम शीर्षस्थ व्यक्तियो मे गिना जाता है। उन्होने बिना किसी लाभ, लोभ और लालच के केवल सत्साहित्य के प्रसार द्वारा जनता की सेवा की, उसका मूल्य और महत्व सर्वाधिक माना जाता है।

मानव मुक्ति के संदेशवाहक—गैरिसन

बोस्टन नगर की सड़कों पर तब एक अल्पवयस्क और शिक्षित किशोर रोजगार की तलाश मे चक्कर काटा करता था। एक दिन इस किशोर ने देखा कि बोस्टन के घने चौराहों पर कुछ धनवान और समृद्ध से दिखने वाले गोरी चमड़ी के लोग काले हब्शियों की नीलामी लगा रहे है। नीलामी-जैसे किसी जड़ वस्तु या जमीन-मकान आदि की लगायी जाती है। इन हब्शियों को गुलाम बनाकर रखा जाता था। उस बाजार में जहाँ उन लोगों की नीलामी लगायी जाती थी, हब्शियों के पाँवों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं और उनसे पशुवत् व्यवहार किया जाता था। मालिकों के हाथ में बड़े-बड़े हंटर थे जो गुलामो की पीठ पर पड़ते, जब भी थोड़ा-बहुत हिलते-डुलते।

उस किशोर ने अपने जैसे ही इन मनुष्यो की यह दुर्दशा देखकर खून का घूँट पी लिया। सुना तो बहुत था कि आदमी को गुलाम बनाकर रखा जाता है। परंतु इतना निकट से देखने का अवसर आज ही आया था। किशोर ने संकल्प लिया कि मैं इस अमानवीय प्रथा को बंद करके ही रहूँगा। इस संकल्प की पूर्ति से प्रथम उसे अपनी चिंता थी। वह भूला नहीं था कि इस नगर में मैं रोजगार की तलाश करने आया हूँ।

यही किशोर आगे चलकर महामानव गैरिसन के नाम से मानवीय मुक्ति के संदेशवाहक बने और सन् १८६३ में उनके तथा उन जैसे ही अन्य संकल्पवान राष्ट्रीय नेताओ के प्रयत्नो के फलस्वरूप अमेरिका मे गुलामी की प्रथा सम[illegible] हुई। इस प्रथा का अंत करने के लिए मानवता के स[illegible] पोषक इन कर्मठ महापुरुषो ने अगणित कठिनाइयाँ झेलीं तथ[illegible] बहुत कष्ट सहे थे। यहाँ तक कि उन लोगों को मारने के भी प्रयत्न किए गए और कई बार तो वे मरते-मरते भी बचे। इसी संग्राम के सफल योद्धा अब्राहम लिंकन के करुण अंत से तो पाठक भली-भाँति परिचित ही हैं।

गैरिसन एक अति साधारण और निर्धन परिवार के सदस्य थे। उनके पिता मछुआरे थे। नाव चलाकर और मछलियाँ पकड़ कर ही परिवार का भरण-पोषण होता था। जब वे बहुत छोटे थे तभी मछली पकड़ते समय नाव उलट जाने से उनके पिता डूबकर मर गए। मछुआरा होते हुए भी यह घटना इतने आकस्मिक ढंग से घटी कि उनके पिता को कुछ उपाय ही नहीं सूझा अपने आपको बचाने का। माँ को जब इस दुर्घटना का पता चला तो बेचारी छाती पीटकर रह गयी। परिवार के भरण-पोषण का एकमात्र आधार ही टूट गया था। पास मे कोई सम्पत्ति भी नहीं थी कि उससे आगे चलकर गुजारा किया जा सके।

लेकिन इस आपात-स्थिति के बाद दोनो का सामान्य जीवन सहज होता चला गया। माँ मेहनत-मजदूरी कर अपने पुत्र का पालन करने लगी। किसी प्रकार गैरिसन को जीवित तो रख लिया परंतु शिक्षा-दीक्षा कुछ भी न दिला सकी। गैरिसन की माता दायी का काम जानती थी। पड़ौस-मुहल्ले में प्रसूता-स्त्रियों के प्रसव-समय मे अपनी समझ और योग्यता के अनुसार जैसा व जितना बन पड़ता उतना काम करती और उससे जो कुछ भी मिलता उसी मे अपना गुजारा चलाती। दाई के काम मे बड़ी मुश्किल से आधा-पूरा पेट, रूखा भोजन जुटा पाने भर को ही आय हो पाती थी।

गैरिसन जब आठ-नौ वर्ष के हुए तो उन्हे अपने परिस्थितियों से विवश होकर इसी उम्र में संसार के कठोर धरातल पर उतरना पड़ा। माँ की अत्यल्प आमदनी में उन लोगो का गुजारा चलना मुश्किल हो गया और घर की परिस्थितियो का तकाजा यह था कि गैरिसन का अबोध बचपन

कर्मठ प्रौढ़ता में बदले । वे अपनी माँ से अनुमति लेकर परिस्थितियों के इस तकाजे को पूरा करने के लिए निकले । माँ ने आधे मन से स्वीकृति दे दी ।

गैरिसन जब अपना निवास स्थान छोड़कर काम-काज की तलाश मे भटकने लगे तो उनकी उम्र और शरीर की स्थिति देखकर किसी ने भी उन्हें काम पर नहीं रखा । जहाँ भी वे जाते और निवेदन करते नौकरी पर रखने के लिए तो एक ही उत्तर मिलता—"बेटा! अभी तुम्हारे खाने और खेलने के दिन हैं । अभी से तुम काम पर लगने की बात क्यों सोचते हो ? अभी तुम्हें कौन काम पर रखेगा ?"

"जी मुझे इस उमर में भी अपनी बूढ़ी माँ और अपने निर्वाह के लिए रोजगार की आवश्यकता है । इसीलिए मैं काम तलाश रहा हूँ । जब पेट ही खाली हो तो खेलना-कूदना कहाँ से होगा ।"

स्पष्ट ही उत्तरदाता का भाव गैरिसन को टालने का होता था । जब वे यह जवाब देकर निवेदन करते तो उत्तरदाता चुप रह जाते और फिर पैंतरा बदलते—"तुम क्या काम जानते हो ?"

"जी, मैं काम तो कुछ नहीं जानता । हाँ सीखना अवश्य चाहता हूँ जिस काम में भी आप मुझे लगायेंगे उसे बहुत थोड़े समय में ही सीख लूँगा ।"

"यहाँ सीखने की सुविधा नहीं है"—और गैरिसन को निराश हो लौट जाना पड़ता । निराशा और असफलता तरह-तरह से उनको मुँह चिढ़ाती । लेकिन पेट की आग ही ऐसी होती है कि कुछ न कुछ तो करना ही था । निरंतर असफल रहने से वे निराश हो गए । इसलिए उन्होंने कोई भी काम करने के लिए स्वयं को तैयार किया । छोटे-छोटे कामगरों के पास भी वे गए पर उन्हें प्रायः निराशा ही मिली क्योंकि कोई भी व्यक्ति ऐसे नए और सीखने वाले लड़के को क्यों काम देने लगा । एक दिन काम की तलाश में ही उन्होंने किसी जूता गाँठने वाले मोची से पूछा । मोची जरा सदय और उदार व्यक्ति था । उसने गैरिसन के परिवार की स्थिति से अवगत होकर उन्हें अपने यहाँ काम पर रख लिया ।

इस साधारण से काम को ही गैरिसन ने महत्त्वपूर्ण सफलता माना और वे जी लगाकर इस काम में लग गए । भूख और गरीबी व्यक्ति में कैसी लगन और तन्मयता पैदा कर देती है, यह कोई जानना चाहे तो उस स्थिति की कल्पना करे जब बहुत खोज-बीन और जाँच-तलाश के बाद कहीं काम की व्यवस्था बने । जिस मोची ने गैरिसन को काम दिया था वह बालक की मेहनत, निष्ठा और श्रमशीलता को देख-देखकर उस पर तरस खाया करता था । क्योंकि वह भी साधारण या श्रमजीवी था और आमदनी कोई खास नहीं थी, फिर भी जो कुछ बनता वह सहृदयतापूर्वक देता । यह राशि इतनी अत्यल्प मात्रा मे होती थी कि उससे गैरिसन का ही पेट नहीं भरता था । फिर भी वे संतुष्ट थे ।

एक दिन मोची मालिक ने उनसे कहा—"गैरिसन, यह तुम्हारी क्या आमदनी होती है । इससे तो तुम्हारा पेट भी मुश्किल से भरता होगा । तुम कहो तो मैं अपने एक बढ़ई मित्र से बात करूँ, वह तुम्हारे लिए अच्छी आमदनी का काम दे देगा ।"

"जैसी आपकी मर्जी"—गैरिसन ने स्वीकृति दे दी और मोची ने बात-चीत चलाकर उन्हें बढ़ई के पास रखने में सफलता प्राप्त कर ली । इन्हीं दिनों आरंभ में वर्णित घटना घटी । यद्यपि उनके जीवन मे अभी स्थायित्व भी नहीं आया था, वे चाहते थे कि कोई ऐसी जीविका तलाश की जाये जिससे जीवन निर्विघ्न चल सके, लेकिन उक्त घटना ने उनकी विचारणा को बदल दिया और वे सोचने लगे जैसे भी बने इस कुप्रथा का अंत ही करना है ।

बढ़ई के पास से काम छोड़कर उन्होंने एक प्रेस में नौकरी कर ली । छापाखाने में उन्हें झाड़ू लगाने और कागज ठीक करने का काम मिला । न जाने क्यों गैरिसन को इस साधारण-सी उपलब्धि में संतोष मिला । उन्होंने निश्चित कर लिया कि अपने व्यवहार और उद्योगशीलता से इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति कर लेंगे जो आगे चलकर उनके उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगी । नियत कार्यों से निवृत्त हो जाने के बाद जो भी समय मिलता उसे कंपोजिंग सीखने में लगाने की सोची । लेकिन गैरिसन शिक्षित तो थे नहीं । कंपोजिंग सीखें तो कैसे ? जहाँ चाह है वहाँ राह के हिसाब से उन्होंने अन्य लोगों से पूछ-पूछकर अक्षर जोड़ना सीखा । अक्षरों को पहचानना भी उन्हें इसी प्रकार आया । लगनपूर्वक यह काम करते-करते वे एक अच्छे कंपोजीटर बन गए और आमदनी भी पहले की अपेक्षा बढ़िया होने लगी ।

अब उनकी जिंदगी की गाड़ी ठीक गति से चलने लगी और वे अपनी शैक्षणिक योग्यता भी बढ़ाने लगे । उन्होंने आठ-दस वर्ष तक यह काम किया और थोड़ा-बहुत पैसा भी इकट्ठा किया । शिक्षा की दृष्टि से भी उन्होंने संतोषजनक प्रगति कर ली । उस समय उनकी आयु लगभग सोलह-सत्रह वर्ष की रही होगी । प्रेस मे पुस्तकें छपवाने के लिए व्यवसायी, एजेंट, लेखक और साहित्यकार लोग आया करते थे । गैरिसन ने जो निश्चय किया था-दास प्रथा का अंत करने का उस संकल्प को पूरा करने के लिए उन्हें एक उपयुक्त मार्ग दिखा-लेखनी द्वारा लोगों की विचारणाओं में परिवर्तन लाने का । उनके हृदय में दासप्रथा के प्रति बड़ी घृणा थी और गुलामों के प्रति गहरी संवेदना ।

इसी घृणा और संवेदना को जीवन का लक्ष्य बनाकर उन्होंने प्रेस में आने वाले लेखकों से संपर्क किया और उनके सहयोग से लेख लिखना सीखा । गैरिसन के हृदय में इस अत्याचार के विरुद्ध क्रांति की जो ज्वाला धधक रही थी वह इस प्रकार संतुलित ढंग से व्यक्त होने लगी । बड़े परिश्रम, अभ्यास, अध्ययन और मनन से उन्होंने लेख लिखना आरंभ किया और अखबारों में भेजने लगे । आरम्भ में तो उनके

लेख वापस आने लगे परंतु वे निराश नहीं हुए। उन्होंने प्रयत्न जारी रखे और इस अनवरत-साधना से उनके लेख अखबारों में छपने लगे।

कुछ दिनों में ही उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अपने लेख छपवाने में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली। बाद में थोड़ा पैसा इकट्ठा हुआ तो 'फ्री-प्रैस' नाम से एक अखबार भी निकाला, जिसका उद्देश्य था इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध जनमत जाग्रत करना। किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह अखबार चल न सका। गैरिसन हतोत्साहित नहीं हुए। उन्होंने बेंजामिन लुंडी नामक अपना एक सहयोगी ढूंढ निकाला और 'फ्री प्रैस' बंद होने के बाद दूसरा पत्र प्रकाशित करना शुरू किया।

इस अखबार का भी यही उद्देश्य था कि दास प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करना। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा इस कुप्रथा पर घातक प्रहार किए। लोगों के विचार बदलने और दिमाग उलटने लगे। विचार क्रांति का यह अभियान इतना अधिक सफल रहा कि उससे गुलामों का व्यापार करने वाले उस प्रथा का लाभ उठाने वाले लोगों के अस्तित्व में भूकंप सा आ गया। समाज द्रोही स्वार्थियों ने इसे अपने हित के लिए हानिकारक समझा और इन सुधारकों का अंत कर देने के लिए प्रयत्न करने लगे।

इधर गैरिसन के विचारों को मानने वाले व्यक्तियों का एक बड़ा समूह तैयार हो गया। उनका अखबार भी निरंतर प्रगति करता रहा। यह आशा थी कि उत्तरी अमेरिका के अधिकांश नागरिक उनके पक्ष में हैं किन्तु वहाँ उनके विरोधी भी कम नहीं थे। दक्षिण अमेरिका के दास व्यापारियों के लिए भी गैरिसन घातक शत्रु थे। इसलिए दोनों ओर से गैरिसन को पकड़ने और उन्हें बरबाद कर देने का षड्यंत्र रचा गया। उनके प्राण खतरे में पड़ गए। दास प्रथा से गहरा संबंध रखने वाले कुछ प्रभावशाली स्वार्थी व्यक्तियों ने गैरिसन को पकड़ने के लिए छह हजार रुपये का इनाम घोषित किया, फिर उत्तर कार्डिना ने २० हजार का इनाम निकाला।

उनके विरोधियों ने गैरिसन को पकड़ने के लिए बड़ा गहरा जाल बुना और वे उस जाल में उस समय फँस गए जब बोस्टन में उनके शत्रुओं ने उन्हें चारों तरफ से घेर लिया। विप्लव की सी स्थिति आ गयी। उनके समर्थकों तथा विरोधियों मे दंगा-फसाद होने का डर पैदा हो गया। सरकारी अधिकारियों ने इस अवसर पर हस्तक्षेप कर स्थिति को काबू में लिया तब जाकर कहीं हालत में सुधार आया। गैरिसन को पुलिस ने अपनी देख-रेख में रखा। बाद में दुष्ट स्वार्थियों के प्रभाव में आकर उन पर मुकदमा चलाया गया।

संयोग से इस घटनाक्रम की जानकारी तत्कालीन राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को मिली। वे स्वयं भी इस प्रथा को समाप्त कर देने की मंशा रखते थे। इसलिए और मानवीय दृष्टिकोण से भी विचार कर उन्होंने गैरिसन को निर्दोष और निरपराध घोषित कर मुक्त कर दिया। गैरिसन अब और अधिक उत्साहपूर्वक अन्याय से लड़ने लगे और अंततः सफल हुए। गैरिसन ने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के माध्यम से जनसाधारण के सम्मुख एक ऐसा दीप जलाया जो सदा उसके पथ को आलोकित करता रहेगा।

प्रजातन्त्र का प्रणेता—रूसो

इस महानदार्शनिक का जन्म आज से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व २८ जून, १७१२ को स्विटजरलैण्ड की राजधानी जेनेवा नगर के एक सम्मानित परिवार में हुआ था। आज उन्हें सारा संसार केवल दार्शनिक ही नहीं, आधुनिक प्रजातन्त्र का प्रणेता एवम् फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का पिता मानता है।

रूसो का पालन-पोषण उनके पिता ने किया। वे बालक रूसो को सारी-सारी रात जगाकर उससे कहानियाँ पढ़वाकर सुनते थे। महान दार्शनिक का यह आरम्भिक शिक्षण था। जब वे केवल दस वर्ष के थे उसी समय उनके पिता किसी अन्य नागरिक से सड़क पर लड़ पड़े और उसे घायल करने के दण्ड के भय से जेनेवा छोड़कर भाग गये। अब रूसो पूर्णतया निराश्रित हो गये और उन्हे उनके नाना के परिवार में ले जाया गया। जहाँ उन्हे बायसी के एक पादरी के संरक्षण में पढ़ने भेजा। दो साल पश्चात् उन्हें वापिस जेनेवा लाया गया और वहाँ एक नोटरी के कार्यालय में काम सीखने के लिए इन्हे रखा गया।

एक दिन अचानक जेनेवा से भागकर वे सेवाय में एक रोमन कैथोलिक पादरी के पास शरण माँगने जा निकले। पादरी ने रूसो को केवल आश्रय ही नहीं उनकी भरपूर आवभगत की और उन्हें कैथोलिक धर्म की दीक्षा दी। बाद में पादरी ने उन्हें एनीसी की एक तरुण विधवा मदाम देबोरस के पास भेज दिया। आरम्भ में तो मदाम देबोरस ने रूसो से पीछा छुड़ाने की बहुत चेष्टा की परन्तु शीघ्र ही वे अपने से तेरह वर्ष छोटे रूसो के सम्मोहन के आगे विवश हो गयीं और उनसे विवाह कर लिया। १७३७ तक रूसो किसी न किसी प्रकार बोरस के स्वामी और उनकी अतुल सम्पत्ति के अधिकारी बने रहे। १७३७ में वे अपनी माता की सम्पत्ति में से भाग लेने जेनेवा गये। अनुपस्थिति में बोरस ने रूसो के स्थान पर एक अन्य प्रेमी को अपने पास रख लिया। लौटने पर रूसो ने जब यह देखा तो वे महान् दुःखी हुए।

बाद में दो वर्षों तक के दर्शन-शास्त्र का गहन अध्ययन करते रहे। अब वे स्वतन्त्रकाम की खोज में निकले और लायन्स में एक शिक्षक के पद पर काम करने लगे। परन्तु एक साल में ही वे वहाँ से ऊब गये और भ्रमण के लिए निकल पड़े। वे पेरिस गये और मित्रों के सहारे दिन बिताने लगे। कुछ समय बाद उन पर एक प्रभावशाली महिला मदाम देबोगली की निगाह पड़ी। उन्होंने रूसो को राजनीति का पण्डित समझ कर उन्हें वेनिस में फ्रांसीसी राजदूत का सचिव नियुक्त करा दिया। अगस्त १७४४ में उन्हें वहाँ से निकाल दिया गया।

१७४५ में रूसो ने एक संगीत-नाटक-मण्डली स्थापित की और उसके द्वारा केवल धन ही नहीं, यश भी अर्जित किया। १७५० मे उनके जीवन की वह महान् घटना हुई जिसने उनके जीवन को सर्वथा नया मोड़ प्रदान किया। १७४८ में रूसो ने पेरिस के एक समाचार पत्र मे एक विज्ञापन देखा, जिसमें घोषणा की गई थी कि जो व्यक्ति मनुष्य स्वभावतः श्रेष्ठ है परन्तु हमारी सामाजिक संस्थाओं ने उसे कनिष्ठ बना दिया है। इस विषय पर सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लिखेगा, उसे डिजान अकादमी की ओर से भारी पुरस्कार दिया जायेगा।

रूसो ने आत्म-विभोर होकर वह निबन्ध लिखा और पुरस्कार प्राप्त किया। उनके मित्रों ने इस खुशी में उन्हें रिसीवर जनरल के कार्यालय में एक अच्छा पद दिला दिया। वे शीघ्र ही उसे छोड़ पेरिस से जेनेवा लौट गये। जेनेवा रूसो को ज्यादा दिनों तक अपने कलेजे से चिपकाये नहीं रख सका। वे फिर फ्रांस लौट गये तथा वहाँ प्रसिद्ध विदुषी मदास ऐपेनी के आश्रय में रहे। यही वह काल है, जब उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थो की रचना की। रूसो की सशक्त लेखनी से प्रजातन्त्र की वह ओजस्वी वाणी प्रसूत हुई कि उसने फ्रांस और जेनेवा के सिंहासनों को हिला दिया। दोनों देशों के शासक उनके क्रान्तिकारी-विचारों से क्षुब्ध हो उठे परिणामस्वरूप १७६२ में उनके ग्रन्थों के प्रकाशन और बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। आदेश जारी कर दिये गये कि यदि वे जेनेवा की सीमाओं में घुसें तो उन्हें पकड़कर बन्दी बना लिया जाये। फिर भी उनके लिए आश्रय की कमी न थी परन्तु उन्होंने बर्न के निकट एक झोपड़े में रहना ही पसन्द किया।

वहाँ वे कष्टमय जीवन बिता रहे थे। अतः अँग्रेज मित्रों के आग्रह पर लन्दन जा बसे। रूसो को प्यार तो फ्रांस की भूमि से था अतः वे अपने मित्रों को बिना बताये १७६७ में इंग्लैण्ड से फ्रांस भाग गये।

शब्द-शिल्प के महान् कलाकार और वाणी के अपूर्व साधक रूसो का साहित्य मानवीय भावुकता की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति माना जाता है। वह एक गम्भीर दर्शन और प्रबुद्ध तर्क से परिपूर्ण है। उन्होंने दो प्रकार के साहित्य की रचनाएँ की थीं राजनैतिक-साहित्य और जीवन-साहित्य, जीवन-साहित्य में उनकी सबसे प्रसिद्ध रचना दी सोशल कान्ट्रेक्ट है। यद्यपि सामाजिक-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वे प्रकृति की ओर लौट चलो का नारा लगाते हैं, तथापि अपने ग्रन्थ 'दी सोशल कान्ट्रेक्ट' मे वे आदर्श राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना पर जोर देते है तथा राज्य को एक नैतिक-संस्था मानते हैं।

रूसो के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि मनुष्य को अधिकतम स्वतन्त्रता कैसे मिल सकती है। उन्होंने इस समस्या को हल करने के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता का रूपान्तर कर डाला। वे मानते हैं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सामाजिक स्वरूप होना चाहिए। इसके लिये वे स्वतन्त्रता का समाजीकरण कर देते हैं तथा व्यक्ति को सामाजिक-आत्मा प्रदान करते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थो में सामान्य इच्छा के उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो आज लोकतन्त्र का प्रधान आधार बन गया है कि जनता को स्वयं शासित—अपनी इच्छा से समाज-कल्याणकारी बनना चाहिए।

रूसो को चाहे फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति में होने वाले समूचे रक्तपात के लिये दोषी ठहराया जावे चाहे उन्हें मानव-जाति का महान् मुक्ति-दूत कहकर उनकी प्रशंसा की जाय, पर इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती कि उन्होंने जगत के सामने लोक-प्रभुता का विचार व्यवस्थित रीति से प्रस्तुत किया। इसी कारण वे एक युग प्रवर्तक विचारक हैं। उनके इस सिद्धांत ने जगत की राजनीतिक मान्यताओं में एक बुनियादी क्रांति ला दी और यदि उन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिपादन न किया होता तो आज गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का कोई चिन्ह ही नजर नहीं आता।

रूसो एक ओर व्यक्ति के अधिकारों और उसकी स्वतंत्रता के प्रहरी हैं तो दूसरी ओर वे सामाजिक प्रभुता के विचार के भी जन्मदाता हैं। देखने में यह असंगत-सा लगता है परन्तु रूसो ने व्यक्ति और समाज के बीच एक अद्वैत की स्थापना की है—एक ऐसे तादात्म्य की, जिसमें दोनों एक दूसरे से अभिन्न हो गये हैं। वे 'आन माय कम्यून' के विचारक हैं, यानी वे कहते हैं कि मैं एक 'सामाजिक मैं हूँ' यूनानी दार्शनिकों के स्वर में स्वर मिलाकर वे कहते हैं कि राज्य या समाज व्यक्ति का ही आत्म-विस्तार है।

मैक्सी की राय है कि वे एक नव-प्रकृति के संस्थापक थे। यह संस्कृति मानव-संस्कृति है, जिसका मूल-मन्त्र है—स्वतंत्रता। स्वतंत्रता स्वेच्छाचारिता नहीं, वरन् अपने ही सद् या श्रेष्ठ 'स्व' या इच्छा के शासन में रहता है।

रूसो के जीवन का अन्त १७७८ में मिरगी के दौरे से हुआ। पेरिस की सामन्तशाही यह नहीं जानती थी कि जिस रूसो का उसने इतना अधिक निरादर किया, अपनी मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद वही व्यक्ति संसार की ऐतिहासिक क्रांति अर्थात् फ्रांसीसी राज्य-क्रांति का पिता बन जायेगा, उसको देश-निकाला देने वाला राजा पेरिस के चौराहे पर कत्ल किया जायेगा एवम् जिस समय राजा का कत्ल होगा, उस समय जनता रूसो का जय-जयकार करेगी।

रूस के विचारोद्धारक—

महात्मा टालस्टाय

जिनकी गणना आज संसार के महानतम महात्माओं, दार्शनिकों तथा साहित्य-सृष्टाओं में होती है वे २८ अगस्त, १८८८ को रूस देश में टूला के निकट भासनाया पोलयाना नामक ग्राम में जन्म लेने वाले टालस्टाय जन्मजात महात्मा ही नहीं थे, उन्होंने संसार तथा उसमें घटित होने वाली

घटनाओ से शिक्षा लेकर अपने को पूर्ण मानव के रूप में निर्माण किया था ।

महात्मा टालस्टाय ने संसार को बहुत कुछ देने के साथ-साथ जो सबसे मूल्यवान निधि दी है, वह अपने महान् जीवन के परिवर्तन तथा निर्माण का उदाहरण है । महात्मा टालस्टाय रूस के एक सामन्त-वंशी राजकुमार थे, वीरता, साहस तथा युद्ध उनके स्वाभाविक गुण थे । अपने पूर्वजों की भाँति वे भी अनेक वर्षों तक रूसी सेना में सेना-नायक के पद पर कार्य करते रहे । सामन्त सेनापतियों की सारी बुराइयाँ उनमें भरी पड़ी थीं । उनके जीवन के दो ही काम थे । या तो किसी युद्ध में शामिल होकर लड़ा करते थे अथवा विलासिता में डूबे रहते थे ।

महात्मा टालस्टाय जिस समय लगभग एक वर्ष थे, उनकी माता का देहान्त हो गया और नौ वर्ष की अवस्था में पिता चल बसे । निदान उनका पालन-पोषण टटियाना भरगोल्सकी नामक भद्र महिला ने उनकी बुआ की देखरेख में किया । टालस्टाय के कई भाई-बहिन थे, किन्तु उनको सबसे अधिक प्रेम करने वाले सबसे बड़े भाई निकोलस ही थे ।

जिन टटियाना भरगोल्सकी नामक भद्रमहिला ने उनका पालन किया था, वह उनके पिता काउन्ट निकोलस टालस्टाय को हृदय से प्रेम करती थी किन्तु उसने अपने इस प्रेम को कभी प्रकट नहीं किया । उसे टालस्टाय से, अत्यधिक प्रेम था । वह उन्हें प्राणो से भी ज्यादा प्यार करती थी और उनके हृदय मे भी प्रेम की भावना उत्पन्न करना चाहती थी । अपनी इस धाय के व्यवहार, चरित्र तथा प्रेम का प्रभाव टालस्टाय के बाल-हृदय पर इतना पड़ा कि उनका हृदय मानव-मात्र के लिए प्रेम से भर गया । जिसके फलस्वरूप उन्होंने बचपन में ही अपने भाई की सहायता से 'आट बदर्स' नामक एक ऐसी संस्था की स्थापना की, जिसका उद्देश्य संसार भर के मानवो में भ्रातृ-प्रेम की भावना पैदा करना था और जिनके प्रतीक रूप उन्होंने एक पहाड़ी पर पेड़ की एक हरी डाल भी आरोपित की थी ।

जिस समय के कजान विश्व-विद्यालय मे अध्ययन कर रहे थे उनका विचार राजदूत बनने का था और जिसकी तैयारी में उन्होंने पूर्वीय भाषाओ को सीखना प्रारम्भ किया । किन्तु मानसिक सन्तुलन के अभाव मे भाषाओं को छोड़कर वकालत पढ़ने लगे, किन्तु कुछ समय बाद ही उन्होंने कानून का अध्ययन भी छोड़ दिया । इसी समय उनके हृदय में विचारों का भयंकर द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया । क्या सत्य है और क्या असत्य ? इस विचार में पड़ कर, इतने परेशान हो गये कि कालिज ही छोड़ बैठे ।

विचारों के असन्तुलन तथा कालिज छोड़ देने से जब महात्मा टालस्टाय के पास कोई विशेष काम न रहा वे दिन भर बेकार तथा निठल्ले बैठे रहने लगे । धीरे-धीरे दुर्व्यसनों ने उन्हें घेरना प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप वे मद्यपी बन कर विषय-भोगों में डूब गये । उनकी नैतिकता का पूरी तरह पतन हो गया ।

किन्तु महात्मा टालस्टाय के जीवन की यह असत्य स्थिति बहुत समय तक न चल सकी । उन्होंने महात्माओ, सन्तों तथा सज्जनों के जीवन से अपनी तुलना की तो ऐसा अनुभव किया कि मानो वे मनुष्य है ही नहीं । चारित्रिक तथा पतित-जीवन के दृष्टिकोण से वे एक पशु है । कहाँ कई और सज्जन संत तथा आचरणशील व्यक्ति प्रसन्न मुद्रा में मानवमात्र की सेवा करते हुए स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते हुए आनन्द ले रहे हैं और कहाँ मैं व्यसनों तथा विलासो का दास बना हुआ एक मृत मनुष्य की तरह सीमित, विषैली परिस्थितियो में बन्दी बना विविध रोगों तथा विकारों को भोग भोग रहा हूँ ।

वे व्यसनमुक्त महात्मा भी मनुष्य है और मै भी मनुष्य हूँ, किन्तु आचरण के अन्तर से हम दोनो में आकाश-पाताल का अन्तर है । वे स्वर्ग में निवास कर रहे है और मैं घोर नरक में । इन विचारों के आते ही टालस्टाय को अपने जीवन पर बड़ी आत्म-ग्लानि हुई और उनको विलासितापूर्ण निकम्मे जीवन से विरक्ति हो गई ।

महात्मा टालस्टाय आखिर एक मनुष्य ही थे । सत्य का प्रकाश आते ही उन्होंने अपने जीवन की धारा बदल दी और सोचने लगे कि मेरी तरह संसार में न जाने कितने मनुष्य विषय-वासना का नारकीय जीवन काट रहे होंगे । उन्हें मानव-जाति की इस दुर्दशा की कल्पना से बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने आगे से अपना सारा जीवन उनके उद्धार में लगा देने का संकल्प कर लिया । जो मनुष्य ज्ञान पाकर उसका प्रकाश दूसरों को देने का विचार बना लेता है, उसका ज्ञान न केवल स्थायी हो जाता है, अपितु दिनों-दिन बढ़ने भी लगता है, जिससे एक दिन उसका जीवन देव-तुल्य बन कर धन्य हो जाता है ।

विचारों में परिवर्तन तथा परिमार्जन होते ही जीवन के दस वर्ष लुटाकर, मद्यपान, क्रूरता, हत्या तथा विषयो में बिताने वाले टालस्टाय का पूरा जीवन ही बदल गया । अब वह बुरे से अच्छे बनकर प्रेम, करुणा, सहृदयता, सहानुभूति तथा त्याग-तपस्या की मूर्ति बन गये । वे जब तब बैठे-बैठे रो उठते, उन्हें अपने वे दिन याद आ जाते, जब वे रूसी तोपखाने में थे और युद्ध में जाकर हजारों मनुष्यों का वध किया करते थे । गाँव के गाँव और नगर के नगर वीरान किया करते थे । उस समय अनाथ हुए बच्चों, विधवा हुई वधुओं तथा पुत्रहीन माताओं के क्रन्दन के साथ आहतों की कराह का स्वर बड़ा सुखद लगता था । खेत-खलिहानों को जलाती हुई आग की लपटें बड़ी सुहावनी लगती थीं, किन्तु आज जब उन्होंने अपना जीवन बदल डाला है, तब उन्होंने जो कुछ किया और देखा-सुना उसकी वास्तविकता ठीक-ठीक समझ में आने लगी । अपने विचारों की तीव्रता तथा आत्म-ग्लानि के आघात की वेदना कम करने के लिये उन्होंने

लम का सहारा लिया और 'बचपन' नाम का उपन्यास जनता के लिए दिया, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इस हृदय से निकले प्रथम उपन्यास ने ही उनको काफी लोक-प्रिय बना दिया और जिस समय 'सेवस्टोपोल' नामक कहानी का संग्रह प्रकाशित होकर जन-साधारण में आया, तब तो रूस के शासक 'जार' का ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित हो उठा।

इसी बीच १८६० में उनके बड़े भाई का स्वर्गवास हो गया। इसका प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि उनके हृदय पर विलासी जीवन, युद्ध की भयानकता तथा विकृत आचरण के दुष्परिणाम अंकित हो गये और उन्होंने बिलखती हुई मानवता के दुःख दूर करने के अपने संकल्प को पुनः दोहराया।

जीवन की दिशा निश्चित होते ही महात्मा-टाल्स्टाय कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। सबसे पहले उन्होंने अशिक्षा एवं अज्ञान मिटाने के लिए रूस के किसानों के लिये अनेक स्कूल खोल दिये। जिनमें अन्य अध्यापकों के साथ टालस्टाय स्वयं भी शिक्षा देते थे। किसानों तथा सामन्त सरदारों के बीच जमीन के बँटवारे में उन्होंने किसानों का ही पक्ष लिया और उनके पक्ष में जनमत बनाने के लिए नगर-नगर तथा गाँव-गाँव घूमकर प्रचार किया। उनके इस कार्य को रोकने के लिए पहले तो उनके सम्बन्धी जमींदारों ने यह कहकर समझाना चाहा कि 'लियो टालस्टाय! तुम स्वयं एक काउन्ट (सामन्त) होते हुए भी इन जलील किसानों का पक्ष करते हो। यह कार्य तुम्हारे टालस्टाय वंश के अनुरूप नहीं है, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।' इस पर टालस्टाय ने यही उत्तर दिया कि मेरा वंश केवल एक मानवता है, मेरा कार्य उनकी सेवा करना है। इसके अतिरिक्त मेरा अन्य कोई वंश नहीं है और न इसके विरुद्ध कोई काम ही है।

टालस्टाय के इस मानवोचित उत्तर से अहंकार के मद में चूर रूसी सामन्त सरदार तथा अधिकारी उनके बुरी तरह विरुद्ध हो गये और उनका विरोध ही नहीं बल्कि तरह-तरह से त्रास देने का प्रयास करने लगे, किन्तु जिसने सारा भोग-विलास छोड़कर धन-दौलत का त्याग करके अपना समस्त जीवन किसी ज्वलन्त-सत्य के लिए समर्पित कर दिया हो, वह व्यक्ति भला विरोधियों तथा विपत्तियों से क्यों डरे।

रूस के निरंकुश तथा अत्याचारी शासन की गोली बन्दूक का मुकाबला उन्होंने लेखनी के सहारे विचार-क्रांति का आह्वान करके करना शुरू किया। उन्होंने निराश जनता का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए 'क्या करें?' नामक एक ऐसी पुस्तक लिखी जिसने जार के निरंकुश शासन के विरुद्ध एक क्रांति उपस्थित करदी। यद्यपि रूस की सशस्त्र-क्रांति उनके जीवन-काल मे न हो सकी थी फिर भी उन्होंने अपने जीवन काल में जो विचार बीज बोये थे, वे ही कुछ समय आगे चलकर जार के विरुद्ध सशस्त्र-क्रांति में अंकुरित हुए और जिसका फल स्वतन्त्रता के रूप में गरीब रूसी जनता को मिला।

इसके अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा जड़तापूर्ण धार्मिक रूढ़ियों पर इतने गहरे आघात किये कि कट्टर-पन्थी उन्हें नास्तिक समझने लगे और उनके चर्च जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

शहर के जड़बुद्धि नागरिकों से ऊबकर वे देहातों की ओर चले गये और एकान्त, शान्त स्थान में बैठ कर छोटी-छोटी पुस्तिकाओं द्वारा जन-जीवन मे प्राणपूर्ण नवीन चेतना फूँकने लगे। उनकी पुस्तिकाएँ इतनी पसन्द की गईं कि करोड़ो की तादाद में उनकी प्रतियों का प्रकाशन तथा विक्रय हुआ करता था।

महात्मा टालस्टाय अपने जीवन के महानतम राजनीतिक तथा धार्मिक नेता थे। वे जनता को सत्य-धर्म का उपदेश दिया करते थे। उनका कहना था कि बिना सत्य-धर्म के जीवन नहीं और बिना त्याग के कोई अस्तित्व नहीं। त्याग का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों की गुलामी से मुक्त होकर अपनी मानसिक वासनाओं को बुद्धि के अधीन कर देना। जो मनुष्य काम वासना के अधीन रहता है, उसका जीवन सर्वथा असफल ही रहता है। अत्याचार तथा आलस्य, काम वासना को जन्म देने वाले हैं। जो अधिक खाने वाला है, आलसी है, वह काम वासना पर कदापि विजय नहीं पा सकता। प्रत्येक धर्म के अनुसार त्याग का प्रथम सोपान जिह्वा को वश में करना है।

महात्मा टालस्टाय अपने इस विद्या-प्रसार के कार्य मे इतने तल्लीन हो गये कि दीन-दुनिया को भूल बैठे। बहुत समय तक अपने एक घनिष्ट मित्र को पत्र न लिख सकने के कारण उसका शिकायत भरा पत्र आया। टालस्टाय ने जो उत्तर दिया, वह उनकी तन्मयता को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। उन्होंने लिखा—"बात दरअसल यह है कि इस समय अपने गाँव में तथा आसपास के बच्चो के लिए एक स्कूल चलाने में जुटा हुआ हूँ। मैंने देश में शिक्षाप्रसार करने का निश्चय कर लिया है।"

टालस्टाय ने जहाँ अपने गाँव मे स्कूल खोला था, उसके आस-पास बड़ी-बड़ी दूर तक कोई पाठशाला नहीं थी। इस कारण दूर-दूर से लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजने आया करते थे, जिनमें से अधिकांश तो स्कूल के समय तक रुके रहते थे और बालकों को साथ ले जाया करते थे। बुद्धिमान टालस्टाय ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया और बेकार अभिभावकों को पढ़ने के लिए प्रेरित कर एक प्रौढ़ पाठशाला भी खोल दी। बहुत से प्रौढ़ो में तो उन्होंने स्वयं ही अपनी कहानियाँ सुनाकर और यह कहकर पढ़ने का चाव पैदा किया कि यदि वे स्वयं थोड़ा-सा पढ़ लें तो बिना किसी पर निर्भर रहे साहित्य का आनन्द तथा लाभ सकते हैं। टालस्टाय के इस सत्प्रयास से प्रौढ़ों का स्कूल बच्चों के स्कूल की भाँति तेजी से चल निकला, जिससे उन्हें अध्यापकों की आवश्यकता पड़ने लगी।

महात्मा टालस्टाय ने राष्ट्रीय-निर्माण के आधार पर ऐसे लोगों के लिए एक अपील निकाली जिनके पास समय हो अथवा जो ज्ञान-दान के यज्ञ में योगदान करने के लिए समय निकाल सकें। टालस्टाय की अपील ने देशभक्त जनता पर गहरा प्रभाव डाला और दूर दूर से समाज-सेवा की भावना लेकर अनेक सम्पन्न तथा सावकाश प्राप्त शिक्षित व्यक्ति पढ़ाने के लिये आने लगे और शिक्षा-प्रसार का कार्य तेजी से चल निकला।

महात्मा टालस्टाय उस समय शिक्षा प्रसार के कार्य में इतनी तत्परता से जुटे हुए थे कि उस समय उनका सारा पत्र-व्यवहार ही शिक्षा सम्बन्धी कार्यों की डायरी बन गया था। उनके उस समय के लिखे हुये कतिपय पत्रों का सारांश इस प्रकार है—

'इस समय मेरे पास ५० विद्यार्थी हैं और उनकी संख्या तेजी से बढ़ रही है। पत्र में सब कुछ लिख सकना कठिन है'—

'आज हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता जन-शिक्षा है। किन्तु हमारे पास इसकी कोई सुविधा नहीं है। शिक्षा का प्रसार जब तक सरकार के हाथ में रहेगा, इस प्रकार की कोई सुविधा प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये जनता को शिक्षित करने का काम समाज के लोगों को हाथ में लेना चाहिए। इस विषय में सरकार पर निर्भर रहना अकर्मण्यता है।'

अब टालस्टाय का स्कूल अच्छी तरह से चल निकला था। उसके लिये प्रबन्धक और अध्यापक भी मिल गये थे। अब उन्हें निश्चय हो गया कि उनकी अनुपस्थिति में उनका स्कूल सुचारु रूप से चलता रहेगा तो उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं एवं प्रणियों के अध्ययन के लिए विश्व-भ्रमण के लिए पाँव निकाला।

उन्होंने अपने विदेश भ्रमण में जर्मनी, फ्रांस, स्विटजरलैंड, बेल्जियम, ग्रेट ब्रिटेन, स्पेन तथा इटली आदि में जाकर न केवल शहरी स्कूलों का ही निरीक्षण किया बल्कि ग्राम पाठशालाओं को देखा। अपना निरीक्षण, अन्वेषण तथा अनुभव लेकर कुछ दिन बाद वे रूस लौटे।

अपने निरीक्षण तथा अनुभव के आधार पर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि अधिकतर देशों में शिक्षा का कोई उद्देश्य नहीं है। बच्चों के स्वाभाविक मानसिक विकास पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

टालस्टाय द्वारा स्थापित स्कूल में विद्यार्थियों को रटन्त विद्या से दूर रखा जाता था। उनको वही विषय मुख्यतः पढ़ाये जाते थे जिनमें उनकी विशेष रुचि होती थी। स्कूल के अध्यापक छात्रों के साथ उनकी तरह ही रहा करते थे। इससे हर समय एक अनुशासन का वातावरण रहता था। मित्रवत् व्यवहार होते रहने के कारण विद्यार्थियों में कोई भय की भावना नहीं रहती और उनका मनोविकास स्वच्छन्द रूप से होता रहता था।

इस स्कूल में भाषा, व्याकरण, धर्मशास्त्र, इतिहास, गणित, चित्रकला व संगीत आदि १२ विषयों की शिक्षा दी जाने के साथ व्यायाम का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा था। व्यायाम के प्रशिक्षण के लिये स्कूल के एक भाग में सर्व साधन-सम्पन्न एक व्यायामशाला भी रखी गई थी। इस प्रकार महात्मा-टालस्टाय का यह विद्यालय केवल विद्यालय ही नहीं, मानव-निर्माणालय भी था।

'भास्नाया पोल्याना' में इस तरह एक स्कूल खोलने के बाद टालस्टाय पुनः शिक्षा प्रणालियों के अध्ययन हेतु विदेश-भ्रमण पर गये और लौटकर उन्होंने इसी स्कूल के आस-पास और अधिक उत्तम प्रौढ़ व बाल-पाठशालाएँ खोलीं।

उनके इस शिक्षा-प्रसार के फलस्वरूप रूस के गाँवों में नई पाठशालाएँ खुलने का क्रम-सा बन गया और जनता में शिक्षा-हेतु रुचि और उसके प्रसार का देशव्यापी आन्दोलन चल पड़ा। गुरुदेव रवीन्द्र के 'शान्ति निकेतन' के विकसित रूप विश्व-भारती की तरह ही महात्मा-टालस्टाय का 'भास्यानाया पोल्याना' स्कूल ने केवल रूस के लिये बल्कि समस्त विश्व के लिए आदर्श शिक्षा-संस्था बना हुआ है।

वयोवृद्ध—नवयुवक बेंजमिन फ्रेंकलिन

सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न बेंजमिन फ्रेंकलिन को अमेरिका में ही नहीं सारे विश्व में एक जिन्दा-दिल व्यक्ति के रूप में स्मरण किया जाता है। वह बड़ा हँसोड़, अलमस्त, परिश्रमी और हर काम को पूरी दिलचस्पी से करने वाला मनुष्य था। जीवन की कला को उसने समझा और अपने व्यवहार में उतारा। जेब में एक रुपया भी शेष न हो तो भी वह अपनी तबियत को अमीरों की अपेक्षा गिरी हुई न होने देता था। यद्यपि अन्य व्यक्तियों की तरह अगणित बाधाएँ उसे घेरे रहीं और आये दिन विचलित करने वाली समस्याओं का सामना करना पड़ा, उसने उन्हें खूबी के साथ सुलझाया भी, पर चेहरे पर नाचने वाली अलमस्ती, बेफिक्री और जिन्दादिली में कभी कुछ कमी न आने दी। निराश या खिन्न उसे कभी किसी ने नहीं देखा।

अमेरिका के स्वतन्त्रता-युद्ध में जार्ज-वाशिंगटन का वह दाहिना हाथ माना जाता था। युद्धस्थल में कुशल सेनानी की तरह वह जूझा और जब सन्धि का अवसर आया तो उसने एक विलक्षण कूटनीतिज्ञ की तरह उन कार्यों को भी बड़ी बुद्धिमता के साथ पूरा किया।

छोटी स्थिति में वह जन्मा, गरीबी में पला था। आगे बढ़ने और ऊपर उठने के लिए उसने पग-पग पर संघर्ष किया, उन्नति के अवसर पाये पर उनका पूरा-पूरा मूल्य चुका कर ही आगे बढ़ सका। लुहार, ठठेरा, बढ़ई, मोची, राज जैसे कठिन परिश्रम के कामों को करते हुए अपनी गुजर का साधन जुटाया। साबुन और मोमबत्ती बनाने का गृह उद्योग अपनाया, तब कहीं जीवन की गाड़ी का पहिया लुढ़क सका।

ऐसी स्थिति में दिन काटने वाले व्यक्ति से कौन आशा कर सकता था कि वह किसी दिन अमेरिका के भाग्य निर्माण में बढ़-चढ़ कर योगदान देने वाला बनेगा और सफल जन-नेता बनने का गौरव प्राप्त करेगा ।

फ्रेंकलिन की सबसे बड़ी विशेषता थी जीवन-काल की अभिज्ञता। वे जिन दिनों अमेरिका के भाग्य-आकाश में प्रकाशवान नक्षत्र की तरह चमक रहे थे तब उनके मित्र पूछा करते कि इतनी गई-गुजरी स्थिति से उठते हुए इतने आगे बढ़ सकने में किस प्रकार समर्थ हुए? तो वह एक ही उत्तर देते मेरे छह दैवी सहायक हैं और वे इतने सामर्थ्यवान हैं कि उनकी कृपा प्राप्त करके कोई भी साधारण-सा व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में प्रगति कर सकता है । मित्रगण उन दैवी सहायकों के नाम पूछते तो वह गिनाते—(१) आशा, (२) उत्साह, (३) साहस, (४) व्यवस्था, (५) मनोयोग और (६) प्रसन्नता ।

बेंजामिन इन्हीं सद्गुणों के सहारे अभाव और विफलताओं को चीरते हुए आगे बढ़े थे । जो काम भी उनके सामने आता उससे वे प्राणप्रिय-मित्र की तरह लिपट जाते । पूरे मनोयोग से उसे करते और यह सोचते कि उसे अधिक सुन्दर, अधिक उत्कृष्ट किस प्रकार बनाया जा सकता है । बारीकी से उसके हर पहलू को समझने की कोशिश करते और ऐसी तरकीब सोचते कि उसमें अपनी कला और कुशलता का समावेश कैसे कर डालें, जिससे उनकी वह प्रतिकृति एक आदर्श के रूप में प्रशंसित हो । उनकी एक ही आकांक्षा रहती कि उनके कार्य उनकी उत्कृष्टता के प्रमाण बन कर प्रशंसा और प्रतिष्ठा प्राप्त करें । यह आकांक्षा उनकी कृतियों को सर्वांग सुन्दर बनाने में बड़ा काम करती और उन्हें देख-देखकर अपने श्रम की सार्थकता अनुभव करते । यह क्रम निर्बाध गति से चलता रहा और वे अन्ततः संसार के अग्रिणी व्यक्तियों की श्रेणी में गिने जाने लगे ।

एक ही व्यक्ति कृषक, श्रमिक, लेखक, वक्ता, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, सेनानी, प्रशासक, संगीतज्ञ और खिलाड़ी कैसे हो सकता है, इस बात पर लोग आश्चर्य करते थे । पर वे कहा करते—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । समय का निर्धारण और नियत समय पर नियत कार्य में पूरे मनोयोग के साथ लग जाने की आदत जिसे भी होगी वह समयानुसार अपने प्रिय विषयों में निष्ठावान बन सकेगा । अधूरे मन, अधूरे श्रम और अनियमित ढंग से काम करना ही असफलताओं का कारण होता है । जो थोड़े से कार्य में भी प्रगति नहीं कर पाते उसका कारण केवल उनका आलस और अन्यमनस्क ढंग की मानसिक स्थिति ही होती है । फ्रेंकलिन इन दुर्गुणों से लड़कर अपने जीवनक्रम को सुव्यवस्थित बनाने में सफल हुए तो अनेक दिशाओं में उनको सफलता भी मिल पड़ी ।

अमेरिका के उपनिवेशों का उन्हें पोस्ट-मास्टर-जनरल बनाया गया तो उनने उस पद्धति में भी क्रान्तिकारी सुधार उपस्थित कर दिये । पत्रों पर टिकट चिपकाने की वर्तमानपद्धति उन्होंने चलाई । पुरानी हर कार्य प्रथा के स्थान पर आधुनिक डाक-वितरण का क्रम उन्होंने चलाया । इस पद पर रहते हुए उन्होंने पत्रकारों से सम्पर्क बनाये रखा, उनमें लेख लिखे और विज्ञापन छापने का नया तरीका ढूँढ निकाला जिससे समाचार-पत्र और विज्ञापन-दाता दोनों ही लाभान्वित होने लगे । उनकी सूझ-बूझ बड़े काम की होती थी । जीवन में जितने भी काम उन्होंने किये, उनमें कोई न कोई क्रान्तिकारी सुधार प्रस्तुत किये बिना उनसे रहा ही न जा सका । लोग उनमें यह प्रतिभा असाधारण जन्म-जात या दैवी होने की बात कहते तो वे उसे अस्वीकार करते और यही कहते मनुष्य शक्तियों का भण्डार है । यदि वह उन्हें काम में लाने की पद्धति जान ले तो हर साधारण समझा जाने वाला व्यक्ति असाधारण बन सकता है । जन्मजात कुछ विशेषताएँ हो सकती हैं पर उन्हें विकसित या कुण्ठित करना हर व्यक्ति के अपने हाथ की बात है ।

८४ वर्ष की आयु में वे १७ अप्रैल, १७९० को परलोक सिधारे पर जीवन के अन्तिम दिनों तक बुढ़ापा उन्हें छू भी न पाया था । जवानों की तरह सोचते और जवानी की उमंगों को लेकर काम करते । प्रकृति के नियमों के अनुसार बुढ़ापे ने उनके शरीर को जराजीर्ण कर दिया था इन्द्रियाँ साथ छोड़ने लगी थीं, स्वास्थ्य ठीक काम न करता था और जल्दी थकान भी आती थी पर इससे क्या ? फ्रेंकलिन कहते—बूढ़ा वह है जो निराश हो गया, बूढ़ा वह है जिसने पुरुषार्थ छोड़ दिया, बूढ़ा वह है जिसकी आकांक्षाएँ मर गई । मैं बूढ़ा न कभी हुआ और न बुढ़ापा मेरे पास भटक सकेगा । वयोवृद्ध नवयुवक के नाम से वे विख्यात थे । उनके मित्र उसी उपाधि से उन्हें विभूषित करके सम्बोधन करते थे । वे वस्तुतः युवक थे और ८४ वर्ष की भरी जवानी में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करके चले गये ।

लोग जिन्दगी जीते तो हैं पर जीना उन्हें आता नहीं । बेंजामिन फ्रेंकलिन ने मस्ती, फुर्ती, तत्परता के साथ व्यवस्थापूर्वक जिन्दगी को जिया और हर स्थिति में हँसते रहने की आदत को अपने अनुयायियों एवं प्रशंसकों के लिए एक बहुमूल्य वसीयत के रूप में छोड़ गये ।



महात्मा टालस्टाय ने राष्ट्रीय-निर्माण के आधार पर ऐसे लोगों के लिए एक अपील निकाली जिनके पास समय हो अथवा जो ज्ञान-दान के यज्ञ में योगदान करने के लिए समय निकाल सकें। टालस्टाय की अपील ने देशभक्त जनता पर गहरा प्रभाव डाला और दूर दूर से समाज-सेवा की भावना लेकर अनेक सम्पन्न तथा सावकाश प्राप्त शिक्षित व्यक्ति पढ़ाने के लिये आने लगे और शिक्षा-प्रसार का कार्य तेजी से चल निकला।

महात्मा टालस्टाय उस समय शिक्षा प्रसार के कार्य में इतनी तत्परता से जुटे हुए थे कि उस समय उनका सारा पत्र-व्यवहार ही शिक्षा सम्बन्धी कार्यों की डायरी बन गया था। उनके उस समय के लिखे हुये कतिपय पत्रों का सारांश इस प्रकार है—

'इस समय मेरे पास ५० विद्यार्थी हैं और उनकी संख्या तेजी से बढ़ रही है। पत्र मे सब कुछ लिख सकना कठिन है'—

'आज हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता जन-शिक्षा है। किन्तु हमारे पास इसकी कोई सुविधा नहीं है। शिक्षा का प्रसार जब तक सरकार के हाथ में रहेगा, इस प्रकार की कोई सुविधा प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये जनता को शिक्षित करने का काम समाज के लोगों को हाथ में लेना चाहिए। इस विषय में सरकार पर निर्भर रहना अकर्मण्यता है।'

अब टालस्टाय का स्कूल अच्छी तरह से चल निकला था। उसके लिये प्रबन्धक और अध्यापक भी मिल गये थे। अब उन्हे निश्चय हो गया कि उनकी अनुपस्थिति में उनका स्कूल सुचारु रूप से चलता रहेगा तो उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं एवं प्राणियों के अध्ययन के लिए विश्व-भ्रमण के लिए पाँव निकाला।

उन्होंने अपने विदेश भ्रमण में जर्मनी, फ्रांस, स्विटजरलैंड, बेल्जियम, ग्रेट ब्रिटेन, स्पेन तथा इटली आदि में जाकर न केवल शहरी स्कूलों का ही निरीक्षण किया बल्कि ग्राम पाठशालाओं को देखा। अपना निरीक्षण, अन्वेषण तथा अनुभव लेकर कुछ दिन बाद वे रूस लौटे।

अपने निरीक्षण तथा अनुभव के आधार पर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि अधिकतर देशों में शिक्षा का कोई उद्देश्य नहीं है। बच्चों के स्वाभाविक मानसिक विकास पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

टालस्टाय द्वारा स्थापित स्कूल में विद्यार्थियों की रटन्त विद्या से दूर रखा जाता था। उनको वही विषय मुख्यत: पढ़ाये जाते थे जिनमें उनकी विशेष रुचि होती थी। स्कूल के अध्यापक छात्रों के साथ उनकी तरह ही रहा करते थे। इससे हर समय एक अनुशासन का वातावरण रहता था। मित्रवत् व्यवहार होते रहने के कारण विद्यार्थियों में कोई भय की भावना नहीं रहती और उनका मनोविकास स्वच्छन्द रूप से होता रहता था।

इस स्कूल में भाषा, व्याकरण, धर्मशास्त्र, इतिहास, गणित, चित्रकला व संगीत आदि १२ विषयों की शिक्षा दी जाने के साथ व्यायाम का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा था। व्यायाम के प्रशिक्षण के लिये स्कूल के एक भाग में सर्व साधन-सम्पन्न एक व्यायामशाला भी रखी गई थी। इस प्रकार महात्मा-टालस्टाय का यह विद्यालय केवल विद्यालय ही नहीं, मानव-निर्माणालय भी था।

'यास्नाया पोल्याना' में इस तरह एक स्कूल खोलने के बाद टालस्टाय पुन: शिक्षा प्रणालियों के अध्ययन हेतु विदेश-भ्रमण पर गये और लौटकर उन्होंने इसी स्कूल के आस-पास और अधिक उत्तम प्रौढ़ व बाल-पाठशालाएँ खोलीं।

उनके इस शिक्षा-प्रसार के फलस्वरूप रूस के गाँवो में नई पाठशालाएँ खुलने का क्रम-सा बन गया और जनता में शिक्षा-हेतु रुचि और उसके प्रसार का देशव्यापी आन्दोलन चल पड़ा। गुरुदेव रवीन्द्र के 'शान्ति निकेतन' के विकसित रूप विश्व-भारती की तरह ही महात्मा-टालस्टाय का 'यास्नाया पोल्याना' स्कूल ने केवल रूस के लिये बल्कि समस्त विश्व के लिए आदर्श शिक्षा-संस्था बना हुआ है।

वयोवृद्ध—नवयुवक बेंजमिन फ्रेंकलिन

सर्वतोमुखी प्रतिभा सम्पन्न बेंजमिन फ्रेंकलिन को अमेरिका में ही नहीं सारे विश्व मे एक जिन्दा-दिल व्यक्ति के रूप मे स्मरण किया जाता है। वह बड़ा हँसोड़, अलमस्त, परिश्रमी और हर काम को पूरी दिलचस्पी से करने वाला मनुष्य था। जीवन की कला को उसने समझा और अपने व्यवहार में उतारा। जेब में एक रुपया भी शेष न हो तो भी वह अपनी तबियत को अमीरों की अपेक्षा गिरी हुई न होने देता था। यद्यपि अन्य व्यक्तियों की तरह अगणित बाधाएँ उसे घेरे रहीं और आये दिन विचलित करने वाली समस्याओं का सामना करना पड़ा, उसने उन्हें खूबी के साथ सुलझाया भी, पर चेहरे पर नाचने वाली अलमस्ती, बेफिक्री और जिन्दादिली में कभी कुछ कमी न आने दी। निराश या खिन्न उसे कभी किसी ने नहीं देखा।

अमेरिका के स्वतन्त्रता-युद्ध में जार्ज-वाशिंगटन का वह दाहिना हाथ माना जाता था। युद्धस्थल में कुशल सेनानी की तरह वह जूझा और जब सन्धि का अवसर आया तो उसने एक विलक्षण कूटनीतिज्ञ की तरह उन कार्यों को भी बड़ी बुद्धिमता के साथ पूरा किया।

छोटी स्थिति में वह जन्मा, गरीबी में पला था। आगे बढ़ने और ऊपर उठने के लिए उसने पग-पग पर संघर्ष किया, उन्नति के अवसर पाये पर उनका पूरा-पूरा मूल्य चुका कर ही आगे बढ़ सका। लुहार, ठठेरा, बढ़ई, मोची, राज जैसे कठिन परिश्रमों के कामों को करते हुए अपनी गुजर का साधन जुटाया। साबुन और मोमबत्ती बनाने का गृह उद्योग अपनाया, तब कहीं जीवन की गाड़ी का पहिया लुढ़क सका।

ऐसी स्थिति में दिन काटने वाले व्यक्ति से कौन आशा कर सकता था कि यह किसी दिन अमेरिका के भाग्य निर्माण में बढ़-चढ़ कर योगदान देने वाला बनेगा और सफल जन-नेता बनने का गौरव प्राप्त करेगा ।

फ्रेंकलिन की सबसे बड़ी विशेषता थी जीवन-काल की अभिज्ञता। वे जिन दिनों अमेरिका के भाग्य-आकाश में प्रकाशवान नक्षत्र की तरह चमक रहे थे तब उनके मित्र पूछा करते कि इतनी गई-गुजरी स्थिति से उठते हुए इतने आगे बढ़ सकने में किस प्रकार समर्थ हुए? तो वह एक ही उत्तर देते मेरे छह दैवी सहायक हैं और वे इतने सामर्थ्यवान हैं कि उनकी कृपा प्राप्त करके कोई भी साधारण-सा व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में प्रगति कर सकता है । मित्रगण उन दैवी सहायकों के नाम पूछते तो वह गिनाते—(१) आशा, (२) उत्साह, (३) साहस, (४) व्यवस्था, (५) मनोयोग और (६) प्रसन्नता ।

बेंजामिन इन्हीं सद्‌गुणों के सहारे अभाव और विफलताओं को चीरते हुए आगे बढ़े थे । जो काम भी उनके सामने आता उससे वे प्राणप्रिय-मित्र की तरह लिपट जाते । पूरे मनोयोग से उसे करते और यह सोचते कि उसे अधिक सुन्दर, अधिक उत्कृष्ट किस प्रकार बनाया जा सकता है । बारीकी से उसके हर पहलू को समझने की कोशिश करते और ऐसी तरकीब सोचते कि उसमें अपनी कला और कुशलता का समावेश कैसे कर डालें, जिससे उनकी वह प्रतिकृति एक आदर्श के रूप में प्रशंसित हो । उनकी एक ही आकांक्षा रहती कि उनके कार्य उनकी उत्कृष्टता के प्रमाण बन कर प्रशंसा और प्रतिष्ठा प्राप्त करें । यह आकांक्षा उनकी कृतियों को सर्वांग सुन्दर बनाने में बड़ा काम करती और उन्हें देख-देखकर अपने श्रम की सार्थकता अनुभव करते । यह क्रम निर्बाध गति से चलता रहा और वे अन्ततः संसार के अग्रिणी व्यक्तियों की श्रेणी में गिने जाने लगे ।

एक ही व्यक्ति कृषक, श्रमिक, लेखक, वक्ता, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, सेनानी, प्रशासक, संगीतज्ञ और खिलाड़ी कैसे हो सकता है, इस बात पर लोग आश्चर्य करते थे । पर वे कहा करते—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । समय का निर्धारण और नियत समय पर नियत कार्य में पूरे मनोयोग के साथ लग जाने की आदत जिसे भी होगी वह समयानुसार अपने प्रिय विषयों में निष्ठावान बन सकेगा । अधूरे मन, अधूरे श्रम और अनियमित ढंग से काम करना ही असफलताओं का कारण होता है । जो थोड़े से कार्य में भी प्रगति नहीं कर पाते उसका कारण केवल उनका आलस और अन्यमनस्क ढंग की मानसिक स्थिति ही होती है । फ्रेंकलिन इन दुर्गुणों से लड़कर अपने जीवनक्रम को सुव्यवस्थित बनाने में सफल हुए तो अनेक दिशाओं में उनकी सफलता भी मिल पड़ी ।

अमेरिका के उपनिवेशों का उन्हें पोस्ट-मास्टर-जनरल बनाया गया तो उनने उस पद्धति में भी क्रान्तिकारी सुधार उपस्थित कर दिये । पत्रों पर टिकट चिपकाने की वर्तमानपद्धति उन्होंने चलाई । पुरानी हर कार्य प्रथा के स्थान पर आधुनिक डाक-वितरण का क्रम उन्होंने चलाया । इस पद पर रहते हुए उन्होंने पत्रकारों से सम्पर्क बनाये रखा, उनमें लेख लिखे और विज्ञापन छापने का नया तरीका ढूँढ निकाला जिससे समाचार-पत्र और विज्ञापन-दाता दोनों ही लाभान्वित होने लगे । उनकी सूझ-बूझ बड़े काम की होती थी । जीवन में जितने भी काम उन्होंने किये, उनमें कोई न कोई क्रान्तिकारी सुधार प्रस्तुत किये बिना उनसे रहा ही न जा सका । लोग उनमें यह प्रतिभा असाधारण जन्म-जात या दैवी होने की बात कहते तो वे उसे अस्वीकार करते और यही कहते मनुष्य शक्तियों का भण्डार है । यदि वह उन्हें काम में लाने की पद्धति जान ले तो हर साधारण समझा जाने वाला व्यक्ति असाधारण बन सकता है । जन्मजात कुछ विशेषताएँ हो सकती हैं पर उन्हें विकसित या कुण्ठित करना हर व्यक्ति के अपने हाथ की बात है ।

८४ वर्ष की आयु में वे १७ अप्रैल, १७९० को परलोक सिधारे पर जीवन के अन्तिम दिनों तक बुढ़ापा उन्हें छू भी न पाया था । जवानों की तरह सोचते और जवानी की उमंगों को लेकर काम करते । प्रकृति के नियमों के अनुसार बुढ़ापे ने उनके शरीर को जराजीर्ण कर दिया था इन्द्रियाँ साथ छोड़ने लगी थीं, स्वास्थ्य ठीक काम न करता था और जल्दी थकान भी आती थी पर इससे क्या ? फ्रेंकलिन कहते—बूढ़ा वह है जो निराश हो गया, बूढ़ा वह है जिसने पुरुषार्थ छोड़ दिया, बूढ़ा वह है जिसकी आकांक्षाएँ मर गई । मैं बूढ़ा न कभी हुआ और न बुढ़ापा मेरे पास भटक सकेगा । वयोवृद्ध नवयुवक के नाम से वे विख्यात थे । उनके मित्र उसी उपाधि से उन्हें विभूषित करके सम्बोधन करते थे । वे वस्तुतः युवक थे और ८४ वर्ष की भरी जवानी में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त करके चले गये ।

लोग जिन्दगी जीते तो हैं पर जीना उन्हें आता नहीं । बेंजामिन फ्रेंकलिन ने मस्ती, फुर्ती, तत्परता के साथ व्यवस्थापूर्वक जिन्दगी को जिया और हर स्थिति में हँसते रहने की आदत को अपने अनुयायियों एवं प्रशंसकों के लिए एक बहुमूल्य वसीयत के रूप में छोड़ गये ।



कविता कानन के पारिजात पुष्प

महाकवि कालिदास

महाकवि कालिदास द्वारा रचित संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन करने के बाद महायोगी अरविंद ने लिखा है—कालिदास संस्कृत कवितारूपी आकाश के पूर्ण चन्द्र हैं। संस्कृत भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था। उन्होंने अपनी कविता में सरल, सरस और प्रसंगानुकूल शब्दों का चयन कर ऐसी शब्द योजना की है जैसी आज तक किसी भी भाषा के साहित्य मे देखने मे नहीं आती। उनकी प्रतिभा विश्वतोन्मुखी थी और कल्पनाओ की पहुँच पृथ्वी, आकाश और पाताल को भी भेदकर उनके पार जाने में सक्षम। उनकी कविता मे संक्षिप्तता, गम्भीरता और गौरव—ये तीनों विशेषताएँ इतनी प्रचुरता के साथ पायी जाती हैं कि उसकी प्रतिध्वनि पिछले हजार वर्ष से सुनने में नहीं आती।"

यह ठीक भी है अन्तर्जगत के साथ बाह्य-जगत का भी अध्ययन कर कवि ने संसार की एक-एक वस्तु में जिस सौन्दर्य के दर्शन किये वह हर किसी के वश की बात नहीं है। उनके कविता-कानन मे सब कुछ सुन्दर है। वृक्षपंक्ति, लता, कुंज, वनराज, मृग और पत्र हर कहीं उन्हे प्रकृति खिलखिलाती दीख पड़ती है और वे इस दर्शन को इतना आत्म-विभोर होकर देखने मे लीन हो गये कि अपनी सुधि भी भूल गये थे।

इस उच्चस्तरीय भावस्थिति में अवस्थित रहने के कारण ही वे अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं कह पाये हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। प्रकृति के सजीव सान्निध्य और ईश्वरीय-चेतना से सचेतन संपर्क-सूत्र व्यक्ति के अपने अहं को क्षुद्र कर दे जो यथार्थत: है भी तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यही कारण है कि उनके जीवनवृत्त का कोई क्रमबद्ध विवरण नहीं मिल पाता है। उन्हे गुप्तकाल के समकालीन माना जाता है। जितना कुछ उनके सम्बन्ध मे पता चल सका है कि वह इतना ही है कि वे अनाथ, बेसहारा और निरक्षर भट्टाचार्य साथ ही वज्रमूर्ख भी थे।

किंवदन्ती है कि राजकुमारी विद्योत्तमा जो अपने समय की प्रकाण्ड विदुषी और शास्त्रों का ज्ञान रखने वाली प्रतिभाशाली महिला थी। साथ ही वह रूपवती, गुणवती और शीलवती भी थी। ऐसी राजकन्या से विवाह के लिए कई एक राजकुमार उत्सुक थे। परन्तु, विद्योत्तमा की शर्त यह थी कि जो उसे शास्त्रार्थ मे हरा देगा उसी से वह शादी करेगी। संयोग-वश विद्योत्तमा के मुकाबले में कोई टिक नहीं पाया और शास्त्रार्थियों को अपमानित होकर लौट जाना पड़ा था।

ऐसे ही किसी अपमानित विद्वान ने प्रतिशोध लेने के लिए राजकुमारी को नीचा दिखाना चाहा। उन्होने एक षड्यन्त्र रचा जिसके अनुसार किसी वज्रमूर्ख से राजकुमारी का पल्ला बाँधा जाना था। षड्यन्त्र का प्रबन्ध इतनी चालाकी और सावधानी से किया गया कि उसकी असफलता की सम्भावना ही न रह जाये। षड्यन्त्र योजना तैयार हो जाने के बाद उक्त विद्वान किसी वज्रमूर्ख की तलाश में निकला और उन्हे मिल गये कालिदास। कालिदास के व्यवहार, आचरण और काम करने के ढंग से वज्रमूर्खता स्पष्ट झलक रही थी। जिस समय उन विद्वान ने कालिदास को देखा था तब कालिदास लकड़ी काट रहे थे। लकड़ी भी ऐसे कि जिस डाली को काटना है उसके ही कटने वाले भाग की ओर बैठे हुए थे। उन्हें ही पकड़ लिया और षड्यन्त्र की शतरंज का मुख्य मोहरा बनाकर राजकुमारी से कालिदास का विवाह करा दिया।

लेकिन जब इसका राज खुला कि कालिदास में तो बुद्धि नाम मात्र की विकसित नहीं हुई है और पण्डितों ने शास्त्रार्थ में हार जाने का प्रतिशोध इस प्रकार लिया है, तो बेचारी ने अपना माथा ठोक लिया। राजपरिवार के सभी सदस्यो को इस तथ्य का पता चला तो उन्होने अपना सारा रोष कालिदास पर उतार दिया और राजमहल से भगा दिया। इस घटना का न जाने कौन-सा प्रसंग कालिदास की अन्तरात्मा को छू गया और उन्होंने शिक्षा तथा ज्ञान के महत्व को समझ कर उसे अर्जित करने मे अपने आपको खपा-सा दिया।

कहा जा चुका है कि विद्योत्तमा अपने समय की असाधारण विदुषी थीं। उन्होंने अपने से अधिक विद्वान के साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। अनेक विद्वान आते और शास्त्रार्थ में परास्त होकर लौट जाते थे। इन असफल विद्वानों ने ईर्षावश विद्योत्तमा को नीचा दिखाने के लिए एक षड्यंत्र किया था। एक मूर्ख को मौनव्रतधारी कहकर साथ ले आये और संकेतो से शास्त्रार्थ करने की बात पर दोनों की सहमति प्राप्त कर ली। मूर्ख के समर्थक सभी पंडित बन गये थे। संकेतो का ऐसा अर्थ निकालते जिसका तात्पर्य ऐसा निकलता जिसमें विद्योत्तमा परास्त हो जाती।

अत: उस अशिक्षित से विद्योत्तमा का विवाह हो गया। जब वे बोलने लगे तो पता चला कि उन्हें धोखा हुआ। संकेतों के बहाने उसे छला गया था। विवाह तो उसने स्वीकार कर लिया पर विवाह के उत्तरदायित्व तब तक न निभाने की बात स्पष्ट कर दी और कहा जब आप मुझसे बढ़कर विद्वान होंगे तभी दाम्पत्य-जीवन की शुरूआत होगी।

उस पुरुष का नाम कालिदास था। उन्हे लाज लगी, तिलमिला गये और उस चुनौती को स्वीकार करके विद्याध्यन में पूरे परिश्रम और मनोयोग के साथ लग गये। काली को इष्ट बनाया। उसकी आराधना की। तपश्चर्या और स्वाध्याय से अपनी आत्मा व बुद्धि को शान पर चढ़ाया। इस

[स]ाधना और ज्ञान-आराधना का परिणाम यह निकला कि [म]ूर्ख कालिदास महाकवि कालिदास बन गये । तपसाधना [औ]र ज्ञान-आराधना दो ऐसे आधार है जिसके आधार पर ही [अ]तीत-काल में मनुष्य बालक के व्यक्तित्व का महल खड़ा [कि]या जाता था । गुरुकुल और आश्रम-शिक्षा-पद्धति का गठन [भी] इस आधार पर किया गया था जिसके साँचे में समाज की [उ]क्त शिक्षण संस्थाओ ने एक से एक बढ़कर व्यक्तित्व ढाले [औ]र भारतीय समाज को उन्नति व प्रगति के उच्च शिखर पर [प]हुँचाया । कालिदास जिन्हें इस वातावरण मे पहले रह जाना [च]ाहिए था परन्तु परिस्थितियों के आगे विवश होकर वे ऐसा [न]हीं कर सके थे । लेकिन इस अभाव का भान होते ही इसे [प]ूरा करने के लिए निष्ठापूर्वक जुट गये । इससे कुछ हानि न हो पायी प्रत्युत दूना लाभ ही हुआ, जिसके बल पर उन्होंने महाकवि की ऐसी उच्च उपलब्धि अर्जित की कि उसकी सानी पूरे विश्व के इतिहास मे नहीं मिलती ।

कहते हैं विद्वत्ता अर्जित कर लेने पर उनमें स्वाभिमान भी विकसित हुआ और वे पुनः अपनी पत्नी के पास स्वतः नहीं गये । जबकि कुछ लोगों का कहना है कि विद्याध्ययन के बाद कालिदास सर्वप्रथम अपनी पत्नी विद्योत्तमा के पास पहुँचे थे । उनकी वर्तमान प्रतिभा के सम्बन्ध में विद्योत्तमा को कुछ पता तो था नहीं सो राजकुमारी ने पूछा—"अस्ति **कश्चिद्वागविशेष** ?" आपकी वाणी में कोई विशेषता आयी । इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होंने एक-एक शब्द को लेकर तीन महान रचनाएँ की हैं । कुमार-सम्भव, मेघदूत तथा रघुवंश की रचना कर डाली थीं । इन तीनो ग्रन्थों का आरम्भ क्रमशः अस्ति-कश्चित और वाग शब्द को लेकर हुआ है । इस किंवदन्ती का आधार हो या न हो परन्तु इतना निश्चित है कि कालिदास की प्रतिभा छुपी न रह सकी और सभी लोग उनके महत्व को समझने लगे थे । विद्या-विभूति और ज्ञान-सम्पदा से सम्पन्न व्यक्तियो का आदर हर कहीं होता है यह तो निश्चित ही है ।

विद्योत्तमा अपने पति की श्रमशीलता और पुरुषार्थ शक्ति को देखकर हत-प्रभ ही रह गयी साथ ही उसके हर्ष का पारावार भी न रहा था । कालिदास का वर्ण्य विषय प्रायः प्रकृति ही रहा है और प्रकृति की नित-नूतनता का गुण उनकी रचनाओं मे भी नि.सृत हो उठा था । आज भी उनकी रचनाएँ उतनी ही नयी है । कवि की सर्वाधिक लोकप्रिय कृति अभिज्ञान-शाकुन्तल रही है । इस कृति मे कथावस्तु की अपेक्षा कवि की प्रखर और पैनी कल्पना शक्ति का ही अधिक चमत्कार हुआ है । मानवीय भावनाओ और संवेदनाओ को सफलतापूर्वक चित्रित करते हुए एक प्रसंग जिसमे शकुन्तला कण्वऋषि के आश्रम से विदा होती है उस समय आश्रम के वातावरण की शोकविह्वलता का चित्रण किया गया है—इतना मार्मिक बन पड़ा है कि पढ़ते-पढ़ते सहृदय पाठकों की आँखों से आँसू भी आते देखे गये हैं ।

पाण्डित्य और ज्ञान, गरिमा से परिपूरित होने के बावजूद भी महाकवि कालिदास पद-पद पर अपनी लघुता और विनम्रता व्यक्त करते रहे हैं । रघुवंश का आरम्भ करते वे स्वयं अपने सम्बन्ध में कह उठे है "कहाँ तो सूर्यवंशी राजा और कहाँ मेरी छोटी बुद्धि । मेरा यह प्रयत्न ऐसा ही है जैसे कोई छोटी सी डोंगी लेकर समुद्र पार कर जाना चाहता हो । मंद बुद्धि होने पर भी मेरी आकांक्षा काव्ययश प्राप्त करने की है तो लोग यह सुनकर शायद हँसे ।" मेरी यह इच्छा ऐसी ही है जैसे लम्बे कद वाले मनुष्यों द्वारा ही तोड़े जाने वाले फलो को कोई बौना आदमी तोड़ना चाहे ।" यह आत्मकथ्य महाकवि ने भले ही कितनी भी विनम्रतापूर्वक क्यों न कहे हों परन्तु प्रतिभा और मानवता की पारखी आँखे तो उनकी प्रामाणिकता का एक और संकेत पाकर उन्हे श्रद्धा से नमन करेगी ही ।

उनकी विद्वत्ता और प्रतिभा से प्रभावित होकर उज्जयिनी के सम्राट-विक्रमादित्य ने उन्हे राजकवि की मान्यता दी थी और अपने दरबार में लगभग अपने ही समकक्ष उनका आसन भी लगवाया था । उनकी अधिकांश रचनाओं का प्रथम प्रस्तुतीकरण बताया जाता है यहीं हुआ था । जो भी हो, आज न तो विक्रमादित्य है और न कालिदास परन्तु उस मार्ग की शाश्वतता आज भी उसी तरह प्रामाणिक है ।

पत्नी गुरु—पति शिष्य

द्वार के सामने से निकलती पशुओ की कतार को देखकर वह चिल्लाया "उट्र उट्र" । भीतर से पति की वाणी सुनकर गृहिणी निकली उसके कानो मे अन्तिम शब्द पड़े । व्याकरण की महापण्डिता, दर्शन की मर्मज्ञ नागरी और देव-भाषा की यह विचित्र खिचड़ी देखकर सन्न रह गई । आज विवाह हुए आठवाँ दिन था । यद्यपि इस एक सप्ताह मे बहुत कुछ उजागर हो चुका था । मालूम पड़ने लगा था जिसे परम विद्वान बताकर दाम्पत्य बंधन में बाँधा गया था वह परम मूर्ख है और ऊँट को संस्कृत मे बोलने के दम्भिक प्रयास ने अनुमान पर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी ।

उफ ! इतना बड़ा छल ! ऐसा धोखा ! वह व्यथित हो गई । व्यथा को पीने के प्रयास में उसने निचले होठ के दाहिने सिरे को होठों से दबाया । सदियों से इसी प्रकार पुरुष ने नारी को ठगा है । कभी समर्पण की महत्ता बताकर, कभी पतिव्रता के कानून बनाकर स्वयं पत्नीव्रत से च्युत होकर पर्दा प्रथा की दीवारें खड़ी कर । धोखेबाजी यहीं तक सीमित रहती तो भी खैर थी । देखें स्वाँग रचकर दहेज की लूट । लूटने के बाद भी त्रास-यहाँ तक हत्या की नृशंसता भी । ओह ! नारी कितना सहेगी तू ? कितनी घुटन है तेरे भाग्य में, कब तक गीला होता रहेगा आँचल आँसुओं की निर्झरिणी से । सोचते-सोचते उसे ख्याल आया कि वह उन्हें भोजन हेतु बुलाने आयी थी । चिन्तन को एक ओर झटककर पति के कन्धे पर हाथ रखा "आर्य ! भोजन तैयार है ।" अच्छा कहकर वह चल पड़ा ।

भोजन करते समय तक दोनो निःशब्द रहे हाथ धुलवाने के पश्चात्-गृहिणी ने ही पहल की "स्वामी"! "कहो" स्वर में अधिकार था । यदि आप आज्ञा दे तो मैं आपकी "ज्ञान वृद्धि में सहायक बन सकती हूँ ।" "तुम ज्ञान वृद्धि मे" आश्चर्य से पुरुष ने आँखें उसकी ओर उठाईं ।

"हाँ" स्वर को अत्याधिक विनम्र बनाते हुए उसने कहा अज्ञान अपने सहज रूप में उतना अधिक खतरनाक नहीं होता जितना कि तब जबकि वह ज्ञान का छद्म आवरण ओढ लेता है, एक झूठी कलई अपने ऊपर पोत लेता है । "तो मैं अज्ञानी हूँ" अटकते हुए शब्दों मे भेद खुल जाने की सकपकाहट नर्तन कर रही थी ।

"नहीं" नहीं आप अज्ञानी नहीं है" स्वर को सम्मान सूचक बनाते हुए वह "बोली पर ज्ञान अनन्त है और मैं चाहती हूँ कि आप मे ज्ञान के प्रति अभीप्सा जगे । फिर आयु से इसका कोई बन्धन भी नहीं । अपने यहाँ आर्य परम्परा मे तो वानप्रस्थ और सन्यास में भी विद्या प्राप्ति का विधान है । कितने ही ऋषियो ने, आप्तपुरुषो ने जीवन का एक दीर्घ-खण्ड व्यतीत हो जाने के बाद पारंगता प्राप्त की ।"

सो तो ठीक है पर पति की मानसिकता मे परिवर्तन को लक्ष्य कर उसका उल्लासपूर्ण स्वर फूट्य "मैं आपकी सहायिका बनूँगी ।" "तुम मेरी शिक्षिका बनोगी पत्नी और गुरु ।" कहकर वह ही ही ही करके हँस पड़ा । हँसी में मूर्खता और दम्भ के सिवा और क्या था ?

पति के इस कथन को सुनकर उसके मन में उत्साह का ज्वार जैसे चन्द्र पर लगते ग्रहण को देख थम सा गया । वह सोचने लगी आह ! पुरुष का दंभ नारी नीची है जो जन्म देती है, वह नीची, जो पालती है वह नीची है, जिसने पुरुष को बोलना-चलना, तौर-तरीके सिखाए वह नीची है । और पुरुष क्यो ऊँचा है ? क्यों करता है—सृष्टि के इस आदि गुरु की अवहेलना क्योंकि उसे भोगी होने का अहंकार है । वह नारी की सृजन-शक्ति की महानता और गरिमा से अनभिज्ञ है ।

"क्या सोचने लगी"? पति ने पूछा ।

अपने को सम्हालते हुए उसने कहा "कुछ खास नहीं । फिर कहने से लाभ भी क्या" ? "नहीं कहो तो" ? स्वर में आग्रह था ।

सुनकर एक बार फिर समझाने का प्रयास करते हुए कहा हम लोग विवाहित है । दाम्पत्य की गरिमा परस्पर के दुःख-सुख, हानि-लाभ, वैभव-सुविधाएँ, धन-यश का मिल कर उपभोग करने मे है । पति-पत्नी में से कोई अकेला-सुख लूटे दूसरा व्यथा की धारा में पड़ा सिसकता रहे क्या यह उचित है ।

नहीं तो, पति कुछ समझने का प्रयास करते हुए बोला ।

"तो आप इससे सहमत है कि दाम्पत्य की सफलता य रहस्य स्नेह की उस संवहन प्रक्रिया में है जिसके द्वारा एक के गुणो की ऊर्जस्विता दूसरे को प्राप्त होती है । दूसरे का विवेक पहले के दोषों का निष्कासन-परिमार्जन करता रहता है" ।

"ठीक कहती हो"—नारी की उन्नत-गरिमा के सामने दंभ नतजानु हो रहा था ।

"तो फिर विद्या भी धन है, शक्ति है, ऊर्जा है, जीवन का सौन्दर्य है । क्यों न हम इसका उपयोग मिल बाँटकर करे ।"

"हाँ यह सही है" । तब आपको मेरे सहायिका बनने में क्या आपत्ति है ?

कुछ नहीं स्वर ढीला था शायद नारी की सृजन शक्ति के सामने पुरुष का अहं पराजित हो उठा था । तो "शुभस्य शीघ्र"— और वह पढ़ाने लगी अपने पति को । पहला पाठ अक्षर ज्ञान से शुरू हुआ । प्रारम्भ मे कुछ अरुचि थी पर प्रेम के माधुर्य के सामने इसकी कड़ुवाहट नहीं ठहरी । क्रमशः व्याकरण, छन्द शास्त्र, निरुक्त, ज्योतिष आदि छहो वेदांग, षटदर्शन ज्ञान की सरिता उमड़ती जा रही थी दूसरे के अन्तर की अभीप्सा का महासागर उसे निःसंकोच धारण कर रहा था ।

वर्षों के अनवरत प्रयास के पश्चात् पति भी अब विद्वान हो गया था । ज्ञान की गरिमा के साथ मन ही मन वह नत मस्तक था उस सृजन-शिल्पी के सामने जो नारी रूप में उसके सामने खड़ी थी ।

सरस्वती की अनवरत उपासना—उसके अन्तराल में कवित्व की अनुपमेय शक्ति के रूप मे प्रस्फुटित हो उठी थी और एक दिन वह कभी का मूढ़ अब महाकवि हो गया । देश-देशान्तर सभी उसे आश्चर्य से देखते, सराहते और शिक्षण लेने का प्रयास करते थे । वह सभी से एक ही स्वानुभूत तथ्य कहता—पहचानो नारी की गरिमा उस कुशल शिल्पी की सृजन-शक्ति को जो आदि से अब तक मनुष्य को पशुता से मुक्त कर सुसंस्कारो की निधि सौपती आयी है । महाराज-भोज ने उन्हे अपने दरबार में रखा अब वह विद्वतकुलरत्न थे । दाम्पत्य का रहस्य-सूत्र उन्हे वह सब कुछ दे रहा था जो एक सच्चे इन्सान को प्राप्त है । स्वयं के जीवन से लोक-जीवन को दिशा देते ये दम्पति थे महाविदुषी विद्योत्तमा और कविकुल चूड़ामणि कालिदास । जिनका जीवन-दीप अभी भी हमारे अधूरे पड़े परिवार निर्माण के कार्य को पूरा करने के लिए मार्ग-दर्शन कर रहा है । दिव्यसत्ता के सृजन-संकेत भी इसी दिशा में चल पड़ने का निर्देश रहे है ।

लोक-मानस के परिष्कारक—तुलसीदास

पति की बिना अनुमति लिये पत्नी अपने भाई के साथ मायके चली गई थी । यह तो उसे ज्ञात था कि पतिदेव उस

पर अत्यधिक अनुरक्त है किन्तु इस बात की उसने स्वप्न मे भी कल्पना नहीं की थी कि उसका वियोग वे सहन नहीं कर पायेंगे। उस समय पतिदेव वहाँ थे नहीं किसी कार्यवश बाहर गये हुए थे। स्नेहशीला पत्नी का सान्निध्य सुख पाने की कल्पना में डूबे घर लौटे तो द्वार पर ताला लटका पाया। पड़ोसियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह दो दिन के लिये अपने पिता के घर गई है। चाभी उनके पास दे गई थीं।

वर्षा अपने पूरे वेग से हो रही थी। एक प्रहर रात्रि बीत चुकी थी। पतिदेव अपनी प्रिया से मिलने के लिये आतुर थे। उन्होंने समय देखा न स्थिति और बिना कुछ सोचे निकल पड़े रत्ना से मिलने।

"अभुक्त मूल में उत्पन्न होने वाला बालक परिवार में नहीं पलना चाहिए अन्यथा अनर्थ हो जाता है।" इस मूढ़ मान्यता को मानने वाले माता-पिता ने जिसे बचपन में ही त्याग दिया था। इस मान्यता के राहु ने न जाने कितने नवीन-ग्रहों को ग्रस लिया था। बालक को घर-घर द्वार-द्वार भीख माँगकर उदर की ज्वाला शान्त करनी पड़ी थी और स्नेह भी किसी का नहीं मिला था। स्नेह के भूखे-प्यासे बालक को अब यौवन-काल मे सुशीला, स्नेहशीला पत्नी का सामीप्य सुख मिला तो उसे जैसे तपती दुपहरी मे वट-वृक्ष की शीतल छाँह मिल गई हो। इस वियोग को भला वह कैसे सह पाता?

यह मोह आखिर एक दिन टूटना ही था सो टूट गया और उसकी जीवन दिशा ही परिवर्तित हो गई थी। अर्द्धरात्रि को भीगे कपड़ों और स्नेह भरे नयनों सहित अपने पति को सामने खड़ा देखा तो उसने उसे उलाहना दिया—"इस प्रकार दौड़कर आने में आपको तनिक भी लज्जा नहीं आई। इतना प्रेम यदि ईश्वर के चरणों से होता तो आज तक आप न जाने क्या बन गये होते।"

इस मीठे उलाहने ने पति की जीवन-दिशा ही बदल दी। इसी उलाहने का पुण्य-प्रताप हुआ कि वही युवक सन्त शिरोमणि तुलसीदास के नाम से विख्यात हो गया।

पत्नी के आदेशानुसार तुलसी ईश्वर की खोज मे निकल पड़े। बचपन मे उन्होंने अपने गुरु नरहरिदास जी से रामायण की कथा सुनी थी। उस कथा के राम ही अब उनके सर्वस्व हो गये थे। उनके राम दीनबन्धु थे—गरीबों तथा पीड़ितो के हृदय में निवास करने वाले थे। उनके राम की सच्ची भक्ति दीन-दुखियो की सेवा ही हो सकती थी। तुलसीदास जी ने इनकी सेवा का जो मार्ग अपनाया था वह था—विचारों का परिष्कार तथा आदर्शवादिता का प्रचार। दुख का कोई एक कारण नहीं होता है। उसके अनेक कारण होते हैं—कोई धन के अभाव में दुःखी है, कोई पुत्र के अभाव में, कोई अत्यधिक कन्याओं के जन्म हो जाने से, कोई स्वास्थ्य के अभाव मे दुःखी है। तो कोई शिक्षा के अभाव को लेकर रो रहा है। इन सब विचारो के मूल मे जो कारण होता है वह है विचारो का अशुद्ध होना है।

तुलसीदास जी ने मूल कारण को ही मिटाना चाहा। उन्होंने इसका माध्यम चुना साहित्य और उसके द्वारा जन-मानस के विचारों को परिष्कृत करना प्रारम्भ कर दिया। भारतीय जनता की धर्म में गहन-आस्था को देख उन्होंने धार्मिक-साहित्य के द्वारा लोगों को आदर्श जीवन जीने का राज-मार्ग बताया था।

साहित्य-रचना उस समय संस्कृत मे की जाती थी जिसे समझ पाना जन-सामान्य की बुद्धि से परे की बात थी। वह साहित्य केवल पण्डितों, विद्वानों तक ही सीमित रह जाता था। संस्कृत मे रचे काव्यों का महत्व जनसामान्य के लिये कुछ भी नहीं था। गद्य रचना का प्रायः अभाव ही था। संस्कृत काव्य—एक सीमित क्षेत्र की वस्तु थी जिसका लाभ चन्द व्यक्ति ही उठा रहे थे।

तुलसीदास जी ने साहित्य का समाज के लिये उपयोग करने का कार्य प्रारम्भ किया। अपने महाकाव्य राम-चरित-मानस की रचना उन्होंने अवधी-भाषा में करनी प्रारम्भ कर दी। विद्वानों के कानों मे जब इनकी भनक पड़ी तो उनमे खलबली मच गई। उन्हे अपनी विद्वत्ता पर आँच आती दिखाई देने लगी। उन्होंने रामचरित मानस को भी संस्कृत में रचने के लिये तुलसीदास जी पर दबाव डाला। तुलसी ने उनका मुँह बन्द कर दिया यह कह कर कि वे इसकी रचना किसी व्यक्ति विशेष को रिझाने के लिये नहीं अपने आराध्यदेव भगवान राम के लिये कर रहे है। उनका यह उत्तर युक्तिपूर्ण था। उन्होने पण्डितो को चुप कराने के लिये यह भले ही कह दिया था किन्तु उनके आराध्यदेव विश्वमानव परमात्मा के रूप में ही अभिव्यक्त हो रहे थे। उसी की सेवा के लिये उन्होंने मानस की रचना की थी।

इस नररत्न का जन्म उत्तरप्रदेश के बाँदा जिले के राजापुर गाँव में सम्वत् १५८९ वि. में हुआ था। इनके पिता आत्माराम तथा माता हुलसी थी। जिन्होंने बचपन में ही इन्हें माता-पिता के प्यार से वंचित कर दिया था। घोर कठिनाइयो और अभावो को सहते हुए वे बड़े हुए। एकमात्र ईश्वर ही इनका सहारा था।

तुलसीदास जी ने अपने माता-पिता द्वारा त्याग दिये जाने तथा समाज द्वारा उपेक्षित किये जाने पर उन्होंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। उन्होने समाज से शिकायत नहीं की। जो भी थोड़ा बहुत उन्हे समाज से मिला उसे उन्होंने कर्ज मानकर ग्रहण किया। वे तो यह मानते थे कि यदि इतना भी समाज से नहीं मिला होता तो वे इस स्थिति तक भी नहीं पहुँच सकते थे। समाज के इस ऋण को वे जिन्दगी भर चुकाते रहे।

पत्नी से शाश्वत प्रेम का उपदेश पाकर वे ज्ञान वृद्धि के लिये देशाटन को निकल पड़े थे। इस अवधि में उन्होंने स्वाध्याय तथा सत्संग द्वारा अपने ज्ञान तथा चिन्तन को परिपुष्ट किया था। तदनन्तर वे साहित्य साधना के क्षेत्र में उतर पड़े। काशी को उन्होंने अपना स्थायी-निवास बनाया था।

२.५ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

हिन्दी के शीर्षस्थ कवियों में से तुलसीदास जी भी एक है । उनके लिये आलोचको ने यही कहा है—"कविता कर तुलसी ना लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला" यह तुलसीदास जी का सच्चा मूल्यांकन है । जन-मानस के निर्माण, परिष्कार, उत्थान, पतन में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । साहित्य वस्तुत: एक साधन भर है । यह मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर भी कर सकता है तथा पशुत्व की ओर भी ढकेल सकता है । मनुष्य देवता बने—इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर उन्होने साहित्य का सृजन किया है ।

तुलसीदास जी ने अनेक ग्रन्थ रचे है किन्तु उनमें से रामचरित-मानस, कवितावली, दोहावली, बरवै रामायण, हनुमान-बाहुक, हनुमान-चालीसा, विनय पत्रिका आदि उनमें प्रमुख हैं । इनमे से केवल रामचरित-मानस ही उन्हें उजागर करने को पर्याप्त है । इसकी लोकप्रियता भारत में ही नहीं विश्व भर मे असंदिग्ध है ।

रामचरित-मानस के जरिये उन्होने विश्व-मानव को जो देन दी है उसे हम भुला नहीं सकते । आदर्श-समाज का जो स्वरूप उन्होने प्रस्तुत किया उसी समाज को—उसी रामराज्य को—भारतवर्ष मे पुनः स्थापित करने की प्रेरणा गान्धी जी ने भी ग्रहण की थी ।

तुलसीदास जी की ख्याति सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल चुकी थी । तत्कालीन सम्राट अकबर ने उन्हे अपने दरबार में स्थान देने का अनुरोध किया । किन्तु वे तो मान-सम्मान की स्थिति से ऊपर उठ चुके थे । उन्होने इस अनुरोध के उत्तर में यही कहा—"सन्तन को कहा सीकरी...आवत जात पन्हैया टूटी... ।" सन्त लोगों को राजधानी से क्या लाभ मिलेगा, उल्टे आते-जाते जूतियाँ टूट जायेंगी ।

तुलसीदास जी सच्चे सन्त थे । वे गंगा तट पर कुटी बनाकर रहते थे । विद्वान् तथा कवि होने का उन्हें गर्व नहीं था । उन्होने अपने काव्य में सर्वत्र अपने को दीनहीन-साधारण ही बताया । जिस प्रकार वृक्ष फलो के बोझ से झुक जाते है उसी प्रकार तुलसी और भी विनम्र हो गये थे ।

उन दिनो मुगल उत्कर्ष पर थे । वे हिन्दुओ की आपसी फूट का लाभ उठाकर सारे भारतवर्ष पर छा गये थे । हिन्दू-जनता निराश हो चली थी । इस समय उन्हे अपने धर्म पर आरूढ रहने तथा अपने चरित्र-निर्माण के लिये जिस बल की आवश्यकता थी उसे तुलसीदास जी ने जुटाया था । अनीति से संघर्ष करने के लिये रामचन्द्र जी ने रीछ-वानरों की सहायता ली थी । उस पर विजय पाई तो क्यो नहीं हम इन विदेशियो पर विजय पा सकते है ।

तुलसीदासजी की अपनी निजी आवश्यकताएँ नहीं के बराबर थीं । उदर-पोषण को दो रोटी तथा तन ढकने दो अधोवस्त्र भर पाकर वे सन्तुष्ट रहे तथा अपना पूर्ण मनोयोग समाज को देने मे ही जुटाया । आज जिस प्रकार लेखकगण अपने साहित्य की रायल्टी लेते है । उन दिनों यह रायल्टी कम नहीं अधिक ही थी । उसका अनुरूप राजाश्रय का था । आज का लेखक प्रकाशक की इच्छा के अनुरूप साहित्य रचता है, उन दिनों के राजा की इच्छानुसार साहित्य रचना पड़ता था । उन्होंने किसी का आश्रय स्वीकार नहीं किया तथा शाश्वत-साहित्य की रचना कर गये जो आज भी पीड़ित मानव को नई राह बता रहा है, भविष्य में भी बताता रहेगा ।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने बहुत शारीरिक कष्ट सहे । उनकी बायीं बगल में एक फोड़ा निकला था । जिसे बाल तोड़ कहा जाता है । इसके विष के कारण पूरे शरीर में फोड़े फूट निकले । शरीर के जर्जर होने से अन्य व्याधियों ने भी आ घेरा । इस लम्बी बीमारी को उन्होंने अपने पापों के प्रायश्चित के रूप में सहर्ष स्वीकार किया था ।

पहले तो वृद्धावस्था, ऊपर से जर्जर शरीर, फिर भी तुलसी के क्रियाकलापों में कोई अन्तर नहीं आया । वे इन दिनों भी साहित्य रचने में रत थे । इस रोगग्रस्त अवस्था में भी वे अपने आराध्य देव का सम्बल लिये जीवन पथ पर अग्रसर होते ही जा रहे थे । आयु ८५ से ऊपर की हो चली थी । सामान्य व्यक्ति स्वस्थ रहते हुए भी ४० वर्ष की आयु के बाद स्वयं को बेकार समझ कर मृत्यु की बाट जोहने लगते है उनके लिये तुलसीदास जी की यह कर्म साधना एक नवीन सन्देश देती है ।

समाज ने उन्हे क्या दिया । माता-पिता ने जन्म देते ही त्याग दिया । उदर पोषण के लिये उन्हे दर-दर भटकना पड़ा था । कभी मुनियादासी की शरण ली तो कभी गृहत्यागी-सन्त-नरहरिदास की । उस बालक ने बड़े होकर समाज द्वारा दी गई उपेक्षा पर ध्यान नहीं दिया वरन् उसके अनुदानो को ही याद रखा । समाज के उन ऋणो को विस्मृत नहीं किया था । अपने जीवन के एक एक क्षण तथा सामर्थ्य के एक-एक कण को इस ऋण को चुकाने मे ही लगाया था । समाज की यह उपेक्षा तुलसी के लिये अभिशाप न होकर वरदान ही सिद्ध हुई थी । जीवन के जो अनुभव इन दिनो उन्हे प्राप्त हुए एक निर्झर के रूप मे उनकी रचनाओ मे बहा है । रामचरित-मानस एक भक्ति काव्य, आदर्शवादी काव्य ही नही सांसारिक अनुभवो का एक विश्व कोष भी है ।

बालतोड़ के रूप मे जन्मा तथा बाद मे अपने मित्र अन्य रोगो को साथ लाने वाला यह रोग तुलसी के शरीर के साथ ही समाप्त हुआ । इनकी साहित्य-साधना तथा आदर्श-जीवन युगों-युगो तक साहित्य साधकों को स्मरण दिलाता रहेगा कि इस ईश्वरीय अनुदान को समाज के हित मे व्यक्ति उत्थान मे ही लगाना चाहिए न कि पाशविक-वृत्तियों को बढ़ाने तथा वासनात्मक भावो को गुद-गुदाने मे ।

दिव्य जीवन के पथ प्रदर्शक महाकवि दांते

१९६५ मे उनका ७०० वाँ जन्म दिवस मनाया गया। इस अवसर पर सारे इटली में उन्हे पुष्पांजलियां श्रद्धांजलियां समर्पित की गयीं थी। उनके व्यक्तित्व व कृतित्व से जन-जन को परिचित कराने के लिये जन सभाएं आयोजित की गयीं—टेलिविजन कार्यक्रम रखे गये थे। किन्तु जिस व्यक्ति को आज सात सौ वर्ष बाद भी उसके देश वाली भूले नहीं थे, अपने जीवन मे सत्य व न्याय का पक्ष लेने के कारण लम्बी अवधि तक कारावास की यंत्रणाएं भोगनी पड़ीं थी। फ्लोरेस वासियो ने उसके साथ कैसा व्यवहार किया उसकी स्मृति को स्थायी बनाने के लिये रेवेना वासियो ने उसके शव को फ्लोरेस के होली क्रॉस चर्च से निकालकर अपने नगर में दफनाया।

ये व्यक्ति थे महाकवि दाँते जो फ्लोरेस वासियो द्वारा दी गयी उन यंत्रणाओ को निर्लिप्त भाव से सहन कर गये थे। उन्होने आने वाली पीढ़ियो के सामने यह आदर्श रखा कि लोक-मगल के पथ पर चलने वालो को जीते जी ही सम्मान मिल जाय, उन्हे अभिनन्दनीय मान लिया जाय, यह आवश्यक नही है। यह सब व्यक्तित्व की धार को कुण्ठित कर देने वाले ही होते हैं अतः नियति उनको ऐसी परिस्थितियों में डालती है। सच्चे लोक-सेवी को सम्मान की चाह और असम्मान की परवाह नहीं करनी चाहिए।

दान्ते को इतालवी-भाषा का जनक, इतालवी साहित्य का नूतन दिशा निर्देशक तथा महान साहित्यकार का ऐतिहासिक गौरव प्राप्त है। यद्यपि वे मध्य-युगीन साहित्यकार थे। किन्तु आदर्शोन्मुख साहित्य का सृजन करने के कारण वे वर्तमान साहित्यकारो से बहुत ऊँचे लगते है। अपने महाकाव्य 'डिवाइन कॉमेडी' के कारण वे इटली में ही नहीं सारे विश्व में सम्मान के पात्र बन गये है। इस ग्रन्थ का पचास से भी अधिक भाषाओ में अनुवाद हो चुका है। सुखान्त होने के कारण उन्होने इसका नाम 'कामेडी' रखा था। बाद मे एक प्रकाशक ने इसे दैवी सम्पदाओ से परिपूर्ण देख उसके आगे डिवाइन और जोड़ दिया था। वस्तुतः यह रचना मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करने की महान शक्ति के कारण ही लोकप्रिय हुई है।

अपनी इस कृति के कारण दांते अमर हो गये हैं। उनके अमर-महाकाव्य 'डिवाइन कॉमेडी' की एक भी प्रति जब तक इस विश्व मे रहेगी तब तक इस महान कवि का विस्मरण सम्भव नहीं होगा।

महाकवि दाते की जन्मतिथि के बारे मे कोई विशिष्ट सूत्र उपलब्ध नहीं है फिर भी प्रतिवर्ष इटली के सभी शिक्षण सस्थान २२ मई को 'दाते दिवस' के रूप मे मनाते हैं। इटली के फ्लोरेस नगर को इस युग गायक को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त हुआ, उसकी कीर्ति बढी थी। दाते का जीवन फ्लोरेंस वेरोना बारवेना नगरों के अंचल मे व्यतीत हुआ था। उनके जीवन की सरिता कष्टो व संघर्षों के बीहड़ दुर्गम-गिरि-गह्वरों तथा सुख-शान्ति के उर्वर, शस्य-श्यामल समतलों मे समान गति से बही थी। उनकी कविता भी इन सांसारिक असमानताओं से ऊपर उसका एक दैवी संदेश देती है। वह मानवीय उच्चादर्श के धरातल से नीचे नहीं उतरती, जीवन के कड़वे मीठे अनुभवों का असर उसे छू नहीं सकता है।

'डिवाइन कॉमेडी' नामक महाकाव्य मे महाकवि ने स्पष्ट संकेत किया है कि मनुष्य बाह्य-जगत की भूल-भुलैया मे ही फँस कर न रह जाय। उसे अपने भीतर की ओर भी देखना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो यह जीवन निरर्थक ही चला जाएगा। अपने अन्तःकरण मे निवास करने वाली दैवी-चेतना के निर्देशों को सुनता हुआ वह पापो से विमुख हो और पुण्य लाभ करता चले। विश्व-बंधुत्व व शान्ति जैसी उच्च कल्पनाओं का समावेश योरोपीय-साहित्य मे प्रथम बार किया था, महाकवि ने। कई आलोचक उन्हे 'प्रथम योरोपीय' की संज्ञा इसी कारण देते है।

दांते के माता पिता समृद्ध थे। अभिजात्य कुलोत्पन्न दांते अभिजात्य वर्ग के उन सब दोषों से मुक्त थे जो कुलीनता व सम्पन्नता के मिथ्याभिमान के कारण प्रायः पैदा हो जाते हैं, वे धन तथा प्रतिभाओ को दैवी-सम्पदाएँ मानते थे। उनके इस दृष्टिकोण की जननी उनकी अन्तः करण प्रसूत दिव्य-भावनाएँ ही थीं। उन्होंने अपने जीवन के आरम्भ मे ही इस सत्य को जान लिया कि मनुष्य जन्म ही वह सुअवसर होता है जिसमे अधिक से अधिक लोक-हित सम्पादित करके अधिकाधिक सुख अर्जित किये जा सकते हैं। अतः इस शुभकारी मे जितना शीघ्र प्रवृत्त हुआ जा सके उतना ही श्रेयस्कर है। यह सोचकर उन्होने युवावस्था मे ही अपनी उस कवित्व शक्ति का जिसे वे ईश्वरीय वरदान मानते थे, लोक-हित मे सदुपयोग करना आरम्भ कर दिया।

यौवन-काल मे जबकि सामान्य युवक पारिवारिक सुख, हास, विलास व अधिकाधिक धनोपार्जन की कामनाएं संजोया करते हैं, उन्हे अपने इन स्वप्नों से फुर्सत ही नहीं होती, दाते ने एक ऐसे महाकाव्य की रचना का स्वप्न देखा जो युगो-युगो तक मनुष्य को सत्मार्ग पर चलने की प्रेरणा-प्रकाश देता रह सके।

वे अपने इस स्वप्न की बात अपने युवा-साथियो से करते तो वे लोग उनका मजाक उड़ाया करते—"कैसा पागल है यह दांते भी। जवानी बार-बार तो नही आती इसका रस लूटने की बजाय वह साधु-सन्यासियो की सी दार्शनिकता मे फँसा है।"

'तुम ठीक कहते हो मित्रो। जवानी बार-बार नही आती। शरीर, मन और आत्मा से फूटता यह बसत—यह यौवन क्षणिक सांसारिक सुखो के पीछे भागते रहने मे ही गँवाना समझदारी नहीं उसे तो किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को

पूरा करने में ही लगाना चाहिए ।' दांते अपने समवयस्क मित्रो के कथन का उत्तर इन शब्दों में देते थे । उनका यह कथन उन्हें कितनी प्रेरणा दे सका । इस विषय में तो जानकारी उपलब्ध नही पर इतना तो जग जाहिर है कि अपनी इस दृष्टि के कारण दांते की जवानी तो सफल हो गयी ।

युवावस्था मे ही उन्होने अपने इस अपेक्षित महाकाव्य की रचना आरम्भ कर दी । श्रम, मनोयोग व प्रतिभा की त्रिवेणी ने बीस वर्ष तक अजस्र रूप से प्रवाहित होकर जिस अमृतत्व का सृजन किया वह था 'डिवाइन कॉमेडी' महाकाव्य ।

दांते केवल विचारो व भावनाओ के ही धनी नहीं थे । वे कर्म के धनी भी थे । उनकी भावनाओ और विचारो के साथ उनकी कर्मण्यता का संयोग होने पर ही इस अमर-कृति का सृजन सम्भव हो सका, कोई लोग स्वप्न तो लम्बे-चौड़े देखा करते है । असफलताओ के भय से उन्हे कार्य रूप में परिणित करने का साहस नहीं कर पाते । कुछ लोग आवेश-आवेश मे कार्य तो बड़े जोश-खरोश से आरम्भ करते है पर मार्ग मे थोड़ी सी बाधा आयी या कठोर श्रम करना पड़ा तो उनका उत्साह ढीला पड़ जाता है और वे उस कार्य को छोड़ बैठते हैं । इन दोनो प्रकार के लोगो की कामनाएं दिवास्वप्न बन कर रह जाती है । दांते जैसे थोड़े से ध्येयनिष्ठ अपनी कर्मनिष्ठा के सहारे अपने महानतम ध्येय को पूरा कर जाते थे ।

सद्विचार और सत्कर्मों का जोड़ होना बहुत आवश्यक है । विचारो की शक्ति जब तक कर्म मे अभिव्यक्त नही होती उसका पूरा लाभ नही होता । दाते ने विचार और कर्म दोनो मे ही अपनी गति प्रमाणित की । इसी कारण वे अपने अमर-महाकाव्य की रचना मे सफल हुए । यह उनके बीस वर्षों की तप-साधना का सुपरिणाम था । प्रत्येक संकल्पवान के लिये यही एक मार्ग है सफलता पाने का, जिन्होने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया, सफलता उनके करतलगत हो जाती है ।

तप का अर्थ लोग बहुत सकुचित अर्थ मे लिया करते है । तप-साधना से अभिप्राय साधु-सन्यासियो के 'तप' नामक क्रिया कलापो से ही लिया जाता है । यह नितात एकांगी है । किसी भी संकल्प की पूर्ति के लिये जो साधना की जाती है उसका नाम है, तप । इस पर जितना अधिकार साधु-सन्यासियो का है इससे कई गुना गृहस्थों का है । तप के बिना कार्य सिद्धि सम्भव नही होती । तपोबल मनुष्य की उच्च शक्तियों मे से एक होता है । इस बल को अभीष्ट योजन मे लगाकर दांते ने अपनी रचना को अनुपम बना या था ।

महाकाव्य की स्याही भी सूखने नहीं पायी थी कि उन्हे काशक भी मिल गया । अपनी उदात्तता, गेयता और यथार्थ न के कारण यह महाकाव्य इतना सुन्दर बन गया कि पाठको के लिये यह एक प्रबन्ध-काव्य न होकर इतिहास बन गया । उन्हें इसकी घटनाएं कल्पित नहीं सत्य लगीं ।

पहले पहल 'डिवाइन कॉमेडी' की पाँच सौ हस्तलिखित प्रतियां प्रकाशित की गयीं । उन्हें जिस किसी ने पढ़ा उसके मुँह से यही निकला—यह अपूर्व है, अनुपम है । आज तक ऐसी रचना नहीं रची गयी ।

यह हृदय की गहराइयों से निकली कविता थी, जो जन-मन को आन्दोलित करने की क्षमता रखती थी । उसमे यत्र-तत्र आत्म चेतना के अपूर्व निवेदन भरे पड़े थे, जो मानवीय गौरव-गरिमा को पाकर धन्य हो जाने की ललक पाठक के मन मे उत्पन्न कर देते थे ।

महाकाव्य की लोकप्रियता बढ़ती ही गयी । पहला संस्करण हाथो-हाथ बिक गया । प्रकाशक को दूसरी बार दुगुनी संख्या में प्रकाशन करना पड़ा । उन दिनो किसी पुस्तक का प्रकाशन और वितरण जितना अविकसित था उसे देखते हुए इतनी बड़ी संख्या में 'डिवाइन कॉमेडी' का प्रकाशन दान्ते की बहुत बड़ी सफलता थी ।

उनके इस महान कृतित्व के कारण आज सात सौ व बाद भी इटली निवासी दांते की पूजा करते हैं । जन-जन के हृदय मे महाकवि के प्रति जो श्रद्धा है उसे लेखनी के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता । आज भी 'डिवाइन कॉमेडी' के बीसियों संस्करण इटली मे उपलब्ध है । इस पुस्तक की आज भी कोई १०,००० प्रतियां प्रति वर्ष वहां बिक जाती है । कैसी चिरंतन ख्याति है दाते की, कैसी है उनकी लोकप्रियता ।

फ्लोरेंस नगर की जिन सड़को पर कभी दांते गुजरता था अब वहाँ संगमरमर के स्तम्भो पर उसकी कविताएं अंकित की गयी है । दांते यदि अपना जीवन अपने समवयस्क युवकों की तरह हास, विलास के पारस्परिक ढर्रे से ही बिता देता तो क्या उसे यह सम्मान मिल सकता था ? कदापि नहीं । उसे पागल और ना समझ समझने वाले और उसकी हँसी और उन युवकों के बारे मे कोई कुछ भी नहीं जानता । भीड़ मे मिल कर विस्मृति के गर्त मे खो गये जबकि दाते चिरस्मरणीय बन गया ।

उन्होने 'डिवाइन कॉमेडी' के अतिरिक्त भी अन्य कई ग्रन्थ रचे पर उनका यह एक अकेला महाकाव्य ही उनके नाम को अमर करने के लिये पर्याप्त था ।

महाकवि दाते भारत के भक्त कवि संत तुलसीदास की तरह जन सामान्य के कवि थे । तुलसी का 'रामचरित मानस' आज भारत मे ही नहीं समूचे विश्व मे लोकप्रिय हुआ है । उन्होने जिस प्रकार मानस की रचना पण्डितो की संस्कृत-भाषा मे न करके जनता की भाषा 'अवधी' मे की उस प्रकार दाते ने भी इटली के पण्डितो की भाषा लैटिन को अपने साहित्य की भाषा नहीं बनाया वरन उन्होने बोलचाल की भाषा मे ही कविता की । लैटिन, धनवानों, पण्डितों व साहित्यकारो की भाषा थी अतः पारम्परिक-साहित्य रचना लैटिन में ही होती

थी, जिसे जनता का बहुत बड़ा अंश समझ नहीं पाता था जिससे साहित्य थोड़े से लोगों के सुनने-समझने व पढ़ने की वस्तु बन गया था। वह भाषा जो जन सामान्य की भाषा न हो उसे अपने सृजन का माध्यम बनाने से दांते का प्रयोजन पूरा नहीं होता था। अतः उन्होंने सामान्य जन की भाषा को ही अपनी कविता के लिये चुना, । यह उन दिनों एक प्रकार से परम्पराओं से विद्रोह था जिसे रुढ़िवादी लोग कभी सहन नहीं कर सकते थे।

विचारों से सुधारवादी व क्रियाकलापों से क्रान्तिधर्मी दान्ते स्वयं अभिजात्य-कुल में जन्मे होने पर भी मध्यम वर्ग और गरीबों के हितों के पक्षधर थे। अपनी इसी क्रान्तिकारी-विचारधारा के कारण उन्हें फ्लोरेंस छोड़ना पड़ा था। उन दिनों फ्लोरेंस अभिजात्य-वर्ग और मध्यम वर्ग के बीच चलने वाले वैचारिक संघर्ष का कुरुक्षेत्र बना हुआ था। अपनी मध्यम वर्ग की समर्थक नीति के कारण उन्हें सत्ताधीशों का कोप भाजन बनकर फ्लोरेंस निर्वासित होना पड़ा था। सच्चा समर्थन वही होता है जो पिछड़े हुओं का समर्थन करे। इस बहुजन हिताय दृष्टि के कारण उन्होंने आगत सभी आपदाओं को हँसते-हँसते सहा।

दांते कलम के ही नहीं तलवार के भी धनी थे। फ्लोरेंस पर जब दूसरे नगर के निवासियों ने आक्रमण किया तो उन्होंने कलम छोड़ कर तलवार थामी और मातृभूमि को परतन्त्र बनाने वालों से जमकर दो-दो हाथ किये।

नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा ही पवित्र तथा उदात्त था। वे उसे पूज्य मानते थे, वंदनीय, अभिनन्दनीय मानते थे। नारी का जहाँ सम्मान नहीं होता वह समाज पतन की ओर जाता है ! इस विचार-धारा का पोषण उन्होंने अपने साहित्य में यत्र-तत्र किया है। अपने काव्य में उन्होंने नारी को मातृशक्ति के रूप में ही चित्रित किया है। उनके पूर्ववर्ती कवियों ने नारी की मांसलता को कविता की वर्ण्य वस्तु बना दिया था, इसका दान्ते ने डटकर विरोध किया। नारी भोग्या नहीं पूजनीया है ! यह दिखाने के लिये उन्होंने अपने महाकाव्य में स्वर्ग की पथ-प्रदर्शिका के रूप में नारी पात्र को ही चुना है।

अपनी क्रान्तिकारी विचार-धारा के कारण उन्हें अपने जीवन का बहुत बड़ा अश निर्वासन में व्यतीत करना पड़ा। फ्लोरेंस मे अभिजात्य वर्ग की प्रभुसत्ता होने के कारण उन्हें सहनी पड़ी थीं। उनका घर जला दिया गया था। उन्हे जुर्माने के रूप मे एक मोटी रकम देनी पड़ी थी। निर्वासन काल में ही उनके 'डिवाइन कॉमेडी' महाकाव्य का प्रणयन हुआ था। यद्यपि वे फ्लोरेंस वासियों के इस व्यवहार पर खिन्न थे तथापि वे इस कारण अपने उद्देश्यो से उन्मुख नहीं हुए थे।

कहा जाता है कवि लोग दायित्व वहन में कच्चे होते हैं पर उनके साथ यह बात लागू नहीं होती थी। उनका पारिवारिक जीवन सुखी व सम्पन्न व्यतीत हुआ था। निर्वासन काल में भी वे अपने पत्नी-बच्चों को बराबर निर्वाह-व्यय देते रहे थे।

५६ वर्ष आयु में उनका देहावसान हो गया। यह उनकी पार्थिव मृत्यु है, अपार्थिव रूप से तो वे अपनी अमर-कृतियों के रूप में जीवित हैं और कवियों के आदर्श तथा सामान्य-जन के पथ प्रदर्शक बने हुए हैं।

महान साहित्य साधक—
मुन्शी प्रेमचन्द

कुछ शताब्दियों पूर्व की बात है तब भारतीय-जनता राजनैतिक रूप से गुलाम होने के साथ-साथ मानसिक रूप से चन्द अंधविश्वासों तथा स्वार्थी कठमुल्लाओं की भी दास थी। अन्धविश्वास, रूढ़िवाद और मूढ़ परम्पराओं का शिकार होकर कितने ही जन, प्रभु की इस सुन्दर और रमणीक सृष्टि का आनन्द नहीं उठा पा रहे थे और स्त्रियों की दशा तो और भी खराब थी। तरह-तरह के बन्धन, अनुचित वर्जनाओं और अवांछनीय प्रतिबन्धों ने उन्हें न घर का छोड़ा था और न बाहर का। विवाहित हो या अविवाहित, सुहागन हो या विधवा, बालिका हो या वृद्धा—नारी किसी भी दशा में, किसी भी वय में किसी भी अवस्था में सुख चैन से है, स्वतंत्र है-नहीं कहा जा सकता था।

ऐसी ही एक वर्जना थी विधवा विवाह का निषेध। एक तो लड़कियों का विवाह बहुत छोटी उम्र मे कर दिया जाता, वर की आयु कुछ भी हो। जोड़ी का मेल बैठता हो या न बैठता हो। पैसा, प्रतिष्ठा और सामाजिक स्थिति देख कर ही वर का चुनाव किया जाता था। ऐसे वृद्ध व्यक्तियों के साथ अवयस्क लड़कियाँ ब्याह दी जातीं जिनकी सन्तानो की भी उस उम्र की बेटियाँ हो सकती थीं। किसी को अपनी बेटी तुल्य लड़की से माँ का और नातिन जैसी बालिका से पत्नी का रिश्ता जोड़ते हुए आश्चर्य न होता था। बूढ़े पतिदेव तो अपनी उमर पूरी कर चले जाते और वह अबोध, अवयस्क लड़की असमय में ही वैधव्य का नर्क भोगने के लिए विवश हो जाती।

विवाह कुरीतियाँ यद्यपि अब भी कम नहीं हैं परन्तु इस समय यह तो विश्वास कर सतोष किया जा सकता है कि चिन्तनशील और जागरूक व्यक्ति उनकी निरर्थकता ही नहीं हानिकारता को भी स्वीकार करने लगे हैं। उस समय तो ऐसे लोग ढूँढे भी नहीं मिलते थे। सन् १९३०-३१ की बात है। स्वर्गीय मुंशीजी के निकट सम्बन्ध में ऐसी ही एक लड़की विधवा हुई। परिजन-स्वजन अपनी गल्ती और भूल का एहसास करना तो दूर उसके भाग्य को कोसने लगे और दोष देने लगे। उस बेचारी निर्दोष को पता नहीं किस जन्म के पाप की वजह से सब लोगों को यह दुर्दिन देखने पड़ रहे हैं।

उन दिनो समाज सुधार आन्दोलन की हवा भी बह रही थी। प्रबुद्ध और विचारशील व्यक्ति समाज को इन मूढ़

परम्पराओं का मोह छोड़ने के लिए तैयार करने में लगे हुए थे । मुंशी प्रेमचन्द्र जी भी ऐसे ही समाज रूपी परमात्मा के उपासक थे । उन्हें जब यह पता चला तो वे लखनऊ आये । लड़की की माता से सम्पर्क किया और उन्हें इस बात के लिए तैयार किया कि वे लड़की का पुनर्विवाह करवायें । आरम्भ में तो उन लोगो ने स्पष्ट इकार कर दिया परन्तु कई प्रकार से समझाने-बुझाने के बाद वे तैयार हो गये । इस प्रकार उस विधवा लड़की के जीवन मे जो भयंकर नर्क बनता जा रहा था पुन: बहार आ गयी ।

मुंशीजी के प्रयासो से सम्पन्न हुआ वह पहला विवाह नही था । उन्होने जीवन मे कई विधवाओं को सुखी-दाम्पत्य और गृहस्थ की ओर अग्रसर किया था । हाँ, यह प्रयत्न इस दिशा मे पहली सफलता अवश्य रही । इस विवाह-आयोजन को सम्पन्न करवाने मे भी मुंशीजी ने बड़ा योगदान दिया । समाज को नयी दिशा और नया स्वरूप देने वाले मुंशीजी का व्यक्तित्व अत्यन्त सादा, सरल और स्पष्ट था । उन्हें देखकर कदापि कोई यह नहीं कह सकता था कि यही व्यक्ति हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय प्रतिभा पुंज और अद्भुत कलाकार है । समाज सुधारक का एक दूसरा पहलू भी है उसके व्यक्तित्व का ।

वस्तुत: समाज निर्माण और साहित्य-सृजन दो अलग अलग बाते नही है । साहित्य समाज स्रष्टा है तो समाज साहित्य का ही एक प्रतिबिम्ब है । समाज और साहित्य एक दूसरे से इतने बँधे या कहना चाहिए एकाकार हैं कि दोनो की साधना को अलग-अलग विभक्त किया ही नहीं जा सकता । समाज और साहित्य दोनों के समान रूप से साधक मुंशीप्रेमचन्द्र का जन्म सन् १८८० ई. मे हुआ था । उनके पिता डाकखाने में क्लर्क थे और माता सदा रोग-शय्या पर पड़ी रहने वाली एक रोगिणी थी । इस रोगिणी की संतान आगे चलकर पूरे समाज का स्वास्थ्य संशोधन करेगी उस समय यह कौन जानता था । न तो माता को ही इसकी कल्पना थी और न ही पिता को यह सम्भावना थी । वे तो चाहते थे कि उनका बेटा किसी तरह थोड़ा बहुत पढ़-लिख जाये और रोजी-रोटी आसानी से पैदा कर ले इस योग्य हो जाय ।

अधिक पढ़ा सकने की सामर्थ्य उनमे थी नही । डाक खाने से वेतन के रूप मे जो मिलता था वह इतना कम था कि परिवार का भरण-पोषण ही मुश्किल से चलता था । मुंशीप्रेमचन्द्र ने अपने पिता के सम्बन्ध मे लिखा है कि वे बड़े विचारशील और जीवन-पथ पर आँखे खोलकर चलने वाले आदमी थे लेकिन आखिरी दिनो मे वे ठोकर खा ही गये । खुद तो गिरे ही उस धक्के मे मुझे भी गिरा दिया । पन्द्रह साल की अवस्था में ही उन्होंने मेरा विवाह कर दिया । उस समय मै नवे दरजे मे पढ़ रहा था । परिवार की दयनीय आर्थिक-दशा देखकर शायद उनके पिता की दृष्टि मे पुत्र का विवाह आवश्यक हो गया था परन्तु शिक्षित से अधिक जागरूक और विचारशील मुशी जी को यह अनुचित और असामयिक लगा था ।

विवाह के साल भर बाद ही उनके पिता का देहान्त हो गया । विवाह के छह मास बाद ही पिताजी ने बिस्तर पकड़ लिया था । नौकरी पर भी वे न जा सकते थे । सम्पत्ति भी कोई खास नहीं थी और जो कुछ थोड़ी बहुत थी भी सबो वह पिता के इलाज और अन्तिम क्रिया-कर्म में स्वाहा हो गयी । परिवार में सबसे बड़े और जिम्मेदार सदस्य थे प्रेमचन्द्र । घर में पत्नी थी माता और अन्य बच्चे भी थे इन सबके निर्वाह का दायित्व उन्हीं पर आ पड़ा । निदान उन्हें नौकरी तलाशनी पड़ी, सोचा था किसी प्रकार पढ़-लिखकर एम.ए. पास करेगे और वकील बनेगे । परन्तु नियति को स्वीकार हो तब न । उन दिनो उन्हे किन परिस्थितियों में रहना पड़ा इसका चित्रण उन्हीं के शब्दों में संगत है "नौकरी दुष्प्राप्य थी । दौड़-धूप करके शायद बाहर कोई पा जाता । पर यहाँ तो आगे बढ़ने की धुन थी और पाँवो में लोहे की नहीं अष्ट धातु की बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं किन्तु मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ के ऊपर । पाँव में जूते भी नहीं थे और न ही देह पर कपड़े । महँगाई अलग कमर तोड़े दे रही थी ।

नौकरी के लिए लाख कोशिशे करने के बावजूद भी जब नहीं मिली तो उन्होने अपने से निचली कक्षाओं के विद्यार्थियो को ट्यूशन पर पढ़ाना आरम्भ कर दिया था । वे पाँच छह-छह मील दूरी पर ट्यूशन पढ़ाने जाते थे । स्वयं भी पढ़ते और घर की भी देखभाल करते । इस अनवरत साधना ने उनको बड़ा थकाया । वे रात को देर तक कुप्पी के सामने तेल के प्रकाश मे पढ़ा करते थे । स्वयं अपना भी पाठ्यक्रम पूरा करना तथा शिक्षार्थी छात्रो के लिए भी तैयारी करनी होती थी ।

किंग्स कालेज से उन्होने सन् १८९७ ई. में मैट्रिक की परीक्षा पास की । वे द्वितीय श्रेणी में आये । चाहा था कि आगे पढ़ने के लिए फीस माफ करवा लेंगे । परन्तु फीस केवल प्रथम श्रेणी मे पास होने वालो की ही माफ होती थी । फीस देकर पढ़ सके-ऐसी स्थिति नही थी मुंशी जी मन मार कर रह गये थे । परन्तु लगता था भाग्य अब साथ देने लगा है । उन्ही दिनो हिन्दू-कालेज स्थापित हुआ । मुंशी जी बड़ी भाग-दौड़ के बाद उसमे प्रवेश पाकर फीस माफ करवा सके और शिक्षा का क्रम आगे बढ़ा ।

पढ़-लिख कर जब यह लगने लगा कि अब तो नौकरी किये बिना काम ही नहीं चलेगा तो उन्होंने एक प्राथमिक पाठशाला मे सहायक-शिक्षक की नौकरी कर ली । वेतन के रूप मे १८ रुपया प्रतिमास मिलता था । इस वेतन से ही वे जैसे-तैसे काम चलाने लगे थे ।

जीवन मे कुछ बनने की, कुछ कर दिखाने की महत्वाकांक्षा थी । उन्ही दिनो दिशा भी मिली और उन्होंने कहानियाँ लिखना शुरू किया था । अध्यापकी से जीवन-क्रम

सामान्य ढर्रे पर चल पड़ा था । थोड़ा बहुत जो कुछ मिलता था, उसी मे मुंशी जी सन्तुष्ट थे । समय जो शेष बचता उसे अपनी योग्यता, प्रतिभा और ज्ञान के विकास में लगाने लगे ।

उन्होने कहानी-लेखन की शुरूआत अनुवाद से की थी । अपने विद्यार्थी-जीवन में उन्होने रवीन्द्रनाथटैगोर की कहानियाँ अंग्रेजी में पढ़ी थीं । उन्हें वे कहानियाँ बहुत पसन्द आयी थीं । इन कहानियों का उन्होंने उर्दू में अनुवाद किया और उर्दू पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाया था । इसके बाद उन्होंने कहानियाँ तथा उपन्यास लिखे थे । संपादकों ने खेद सहित कई बार उनकी रचनाएँ लौटायीं परन्तु वे निराश नहीं हुए । उनकी पहली कहानी—संसार का सबसे अनमोल रत्न सन् १९०७ मे जमाना में छपी तो उन्हे बड़ी खुशी हुई थी । कथावस्तु तथा कहानी के गठन ने पाठकों को भी प्रशंसा के लिए बाध्य किया ।

व्याध के बाण ने क्रोंच पक्षी के प्राण हरण कर लिये । मादा क्रोंच-पक्षी के करुण-विलाप को सुनकर आदि कवि वाल्मीकि का हृदय कराह उठा और उनके मुख से कविता फूट पड़ी । इस दृश्य से भी करुण स्थिति उस समय सामान्य जनता की थी । पहले तो वह अपनी गरीबी, अशिक्षा, अंध-विश्वास और परम्पराओ से जर्जर हो चुकी थी ऊपर से जमींदारों और विदेशी शासकों के अत्याचार के दो पाटों के बीच यह भारत की अस्सी प्रतिशत जनता पिस रही थी । करोड़ों लोगो को इस प्रकार बिलखते, कलपते देखा तो युवक धनपतराय के अन्तःकरण में एक ऐसी पीड़ा घर कर बैठी कि वह जन-जन की करुण-कहानियो का एक संग्रह लिख बैठा ।

यह 'सोजे वतन' नामक कहानी संग्रह उसने प्रेमचन्द नाम से प्रकाशित कराया । इसकी प्रत्येक कहानी पिसी हुई जनता की घुटी-घुटी साँसों की व्यथा अपने में समेटे थी । उसमें विदेशी शासन का जुआ अपने कंधे से उतार फेंकने की प्रेरणा भी भरी थी । साथ ही देश-प्रेमियो से अपील भी अलग से की गई थी कि वे देश व जनता लिये प्राणोत्सर्ग करे ।

ब्रिटिश-शासन के कर्ताओ को जब इस प्रकाशन की खबर मिली तो उन्होंने इसकी सारी प्रतियाँ जब्त कर लीं तथा इसे 'राजद्रोहात्मक' घोषित किया । प्रेमचन्द नामक इस युवक को कठोर दंड देने की धमकी दी गई । इस धमकी और पुस्तक जलाने के अनाचार ने उसे अपने आदर्शों से डिगाया नहीं, न भयभीत ही किया । यही युवक 'जनता का अपना लेखक' तथा उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

प्रेमचन्द जी का जन्म काशी के पास एक गाँव मे कायस्थ परिवार में सन् १८८० मे हुआ था । इनके पिता पटवारी थे । घर की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी । पढ़ाने की स्थिति में इनके पिता नही थे ।

साधन और सुविधाएँ होने पर तो कोई भी पढ़ सकता है । इसमें उसकी क्या महत्ता रहती है वह तो सब साधनों का परिणाम होता है । पुरुषार्थी तो वे कहलाते हैं जो अपने बलबूते पर कुछ करते हैं । प्रेमचन्द्र जी ने अपने ही बल बूते पर, अपने पाँवो पर खड़े होकर विद्याध्ययन किया । कुछ पढ़-लिख गये तो अध्यापक की नौकरी कर ली तथा धीरे-धीरे इन्होंने स्वाध्यायी-छात्र के रूप मे बी.ए.पास कर लिया था । इस पुरुषार्थ से उन्हें केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं मिला जीवन का अनुभव भी हुआ । यही अनुभव आगे चलकर उनके सहित्य का प्राण बना ।

सरकारी सर्विस करते हुए इन्होंने उर्दू में लिखना आरम्भ किया । ये उर्दू में नवाब राय के नाम से लिखते थे । कुछ वर्षों के बाद इन्होंने अनुभव किया कि भारतीय भाषाओं मे हिन्दी ही प्रमुख है, उर्दू विदेशी-भाषा है । उन्होंने हिन्दी-भाषा मे लिखना आरम्भ किया । प्रथम संग्रह 'सोजे वतन' के प्रकाशन के कारण अँग्रेजी-शासन का कोप भाजन बन गए । इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़कर साहित्य और पत्रकारिता को ही अपने जीवन के ध्येय के रूप में अपना लिया था ।

साहित्य-सृजन और पत्रकारिता को उन्होने शौक के लिये नहीं अपनाया था, न अर्थोपार्जन के लिये । पत्रकारिता तो उन दिनों एक प्रकार से घाटे का सौदा ही था । यह व्यवसाय न होकर एक प्रकार का तप था जिसे कोई तपस्वी ही अपना सकता था । उन दिनो प्रगतिशीलपत्रों का लगभग अभाव था । जन-साधारण को जगा सके ऐसे पत्रो की सख्या बहुत कम थी । वे घाटे में चलते थे, उनके संचालक लोगों को अपने खर्च के लिये ग्राहकों के मनीआर्डरों की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी । यह पथ तो बिल्कुल जानबूझ कर गरीबी और अभाववरण करने का था । प्रेमचन्द्र जी ने भी अपनी सभी महत्वाकांक्षाओं को त्याग कर इस पथ को अपना लिया था । इनके पत्रो ने जनता मे एक जाग्रति की लहर उत्पन्न तो की पर उस लहर ने इनके व्यक्तिगत जीवन मे घाटे की बाढ़ ला दी और पुस्तको की जो थोड़ी बहुत आय होती थी उसका अधिकांश 'हंस' और 'जागरण' के घाटे की भेट हो गया ।

साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे प्रेमचन्द्र जी अपने समय के लोकप्रिय-लेखक सिद्ध हुए । इनकी रचनाओ के पात्र काल्पनिक न लगकर यथार्थ लगते थे । गाँव तथा नगर के मध्य तथा गरीबवर्ग का जो चित्रण इनके साहित्य में हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है । इन्होंने साहित्य नहीं लिखा, साहित्य के माध्यम से विश्व-मानव की, दरिद्र और पीड़ित मानव की सेवा की है ।

गरीबी और जमींदार के पंजो मे जकड़ा हुआ गाँव का किसान, सामाजिक रूढ़ियो में दबी-पिसी नारी, अँग्रेजो के दमन और शोषण से पीड़ित आम भारतीय नागरिक तथा अपनी कुंठाओं, अभावो मे गलता शहर का मध्यम-वर्गीय व्यक्ति इनकी रचनाओ मे आये थे ।

ये पात्र इतने पीड़ित होते हुए भी शुद्ध हृदय होते थे। सत्य की असत्य पर विजय, आदर्शों की उच्छृंखलता पर विजय के ठोस सत्य का प्रतिपादन करने के साथ-साथ मानवीय आदर्शों और देशभक्ति से परिपूर्ण साहित्य-प्रेमचन्द जी ने दिया, जो कोई साधक ही दे सकता था।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जो देश के लिये प्राणोत्सर्ग करते हैं और कुछ ऐसे होते है, जो देशभक्तों का निर्माण करते है। प्रेमचन्द जी दूसरी श्रेणी के व्यक्ति थे। उन्होने समय की आवश्यकता के अनुरूप प्रेरक-साहित्य रच कर ज्ञान देवता की आराधना मे अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया और अपनी सभी इच्छाओ, तृष्णाओं को गला दिया। इनके साहित्य से प्रेरणा पाकर हजारो नवयुवक देश के लिये सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर हो गए।

एक बार गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार के वार्षिकोत्सव में आर्य-भाषा सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिये इन्हे आमंत्रित किया गया। प्रेमचन्द्र जी दीखने में सीधे-सादे लगते थे। चेहरे पर कोई आकर्षण नहीं, धोती और बंद गले का कोट पहने इन्हे कोई भी व्यक्ति साधारण देहाती समझ लेता था। कोई सोच भी न सकता था कि ये इतने बड़े लेखक हैं। इनके स्वागतार्थ अधिकारी तथा विद्यार्थी स्टेशन पर पहुँचे। ये गाड़ी से उतरे। फूल माला लिये स्वागतार्थियो को देखा तो समझे किसी बड़े आदमी के लिये खड़े होगे। स्वागतदल निराश होकर लौटा और ये एक मजदूर के सिर पर बिस्तर रखवाकर तीन मील पैदल चलकर पहुँच गए। ऐसे थे, सीधे-सादे महान लेखक जो अपने को छोटा आदमी ही मानते रहे व बड़ा काम करते रहे।

मान-सम्मान से कोसो दूर रहने वाले प्रेमचन्द जी कहीं सभाओ मे भाग नहीं लेते थे। इनके पाठक तक इनसे परिचित नहीं थे कि यही साधारण सा दीखने वाला आदमी बड़ा लेखक है। सादगी की सजीव-प्रतिमा भारतीयता के सच्चे उदाहरण थे, प्रेमचन्द जी।

प्रेमचन्द जी सच्चे अर्थों में देशभक्त, समाज-सुधारक, मानवतावादी व आदर्शों के प्रतिपादक थे। उनका माध्यम था साहित्य। आज के तथाकथित साहित्यकारो की तरह उन्होंने धन और नाम बटोरने के उद्देश्य से नहीं लिखा। उन्होने छुआछूत, स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, बेमेल-विवाह, दहेज-प्रथा, गुलामी, सत्याग्रह, असहयोग-आंदोलन, जमींदारों के अत्याचार, किसानो की दरिद्रता आदि तात्कालिक विषयो पर अपनी सशक्त लेखनी चलाई व जन-मानस को झकझोर कर रख देने वाला साहित्य रचा। गई गुजरी स्थिति से ऊपर उठने, पीड़ितों, शोषितों को ऊपर उठाने, देश के लिये कुछ कर गुजरने का एक ऐसा आग्रह इनकी रचनाओ मे था कि वे पाठक के विचारो को उत्तेजित करती थीं और वह कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ता था।

आदर्शोन्मुख यथार्थ-साहित्य का सृजन मात्र ही नहीं प्रेमचन्दजी ने स्वयं के जीवन को भी एक आदर्श के रूप मे ही प्रस्तुत किया था। एक साधारण हैसियत के परिवार मे पैदा होकर भी परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर बी.ए. तक शिक्षा ग्रहण करना, सरकारी नौकरी करते हुए देशप्रेम की कहानियाँ प्रकाशित करना, समय की पुकार सुनकर सरकारी नौकरी छोड़कर पत्रकारिता जैसा घाटे का सौदा अपनाना ये कार्य एक आदर्शवादी-व्यक्ति ही कर सकता था।

पत्रकार के रूप में उन्होंने अभावो का जीवन ही जीया। उनके पास कभी तो इतने भी पैसे नहीं होते थे कि वे अपनी पत्नी के आग्रह पर सुहाग की निशानी सिन्दूर ला सके। अतः वे उन्हे लाल स्याही का प्रयोग करने को कह देते थे। उन दिनो आज की तरह न तो विज्ञापनों के द्वारा कमाई होती थी, न किसी प्रकार की आर्थिक सहायता किसी से मिलती थी। सरकार तो ऐसे पत्रकारो की दुश्मन थी ही जो भारतीय जनता को जगाते थे। प्रेमचन्द जी को भी इनका कोप-भाजन बनना पड़ा। कई बार तो जेल जाने तक की स्थिति आ चुकी थी।

प्रेमचन्द जी ने लगभग दो दर्जन उपन्यास तथा ३०० से भी अधिक कहानियाँ लिखीं, जो इतनी लोकप्रिय हुई कि उनके कई-कई संस्करण निकले। ऐसी स्थिति मे प्रेमचन्द जी के साथ धन की कमी तो न रहनी चाहिए थी, पर प्रकाशको ने इन्हे कभी पूरी रॉयल्टी नहीं दी। प्रेमचन्द जी को रॉयल्टी मिलती थी उनमे से बड़ा हिस्सा तो पत्रो के घाटे को पूरा करने मे चला जाता था। बाकी बचने वाली राशि इनके पारिवारिक खर्च को पूरा करने के लिये भी पर्याप्त नहीं होती थी।

हिन्दी मे मौलिक-रचनाओ का उस समय अभाव था। एक भाषा जो कल सारे देश की राष्ट्र-भाषा बनेगी उसका कोष इस प्रकार खाली-खाली हो यह प्रेमचन्द जी को स्वीकार नहीं था। इसलिये अपनी सशक्त लेखनी से अनवरत इस कमी को पूरा करने मे लगे रहे। १९३३ मे ५३ वर्ष की आयु मे इनका देहावसान हुआ तब तक इन्होंने इसके भंडार को काफी समृद्ध कर दिया था।

प्रेमचन्द जी की पीड़ा उनकी एक-एक रचना मे व्याप्त है। परिश्रम और पुरुषार्थ से उपार्जित अपनी योग्यता, प्रतिभा को लोकहित में लगाने तथा तिल-तिल करके जलते हुए जनजागरण का प्रकाश फैलाने मे प्रेमचन्दजी ने अपने जीवन का एक-एक क्षण अर्पित किया था। इनका साहित्य आज भी उतना ही लोकप्रिय है। आज भी वे अपने आदर्शोन्मुख व्यक्तित्व एवं कृतित्व से भावनाशील लोगो को प्रेरणा दे रहे हैं कि व्यक्ति समय की पुकार पर अपनी सुख-सुविधा को छोड़ कर छोटा आदमी होते हुए भी महान कार्य कर सकता है।

साहचर्य का स्वरूप

हिन्दी साहित्य जगत के दीप्तिमान नक्षत्र प्रेमचन्द्र जी की धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने अपने संस्मरणों में बताया है। 'उन्हें आज देश का महान लेखक होने का गौरव

प्राप्त हुआ है। दरअसल हर चीज लगन पर निर्भर है। वह इतने ज्यादा लगनशील थे कि लिखने बैठते तो समय की सुधि ही नहीं रहती थी। हँसमुख ऐसे थे कि हँसते थे, तो हँसते ही रह जाते थे। अपनी मित्र-मंडली में इसी वजह से लोग उन्हें 'बम्बूक' कहा करते थे।

यहाँ इस बात का जिक्र करना बहुत जरूरी है कि मेरी सास कैसी थी। बहुत प्रखर बुद्धि और कई भाषाओं की शिक्षा थी मेरी सास। सिफत यह थी कि पढ़ तो सब लेती लेकिन एक भी अक्षर नहीं लिख सकती थी। उनके किस्से-उनकी कहानियाँ इतनी लम्बी होती थीं कि सुनाते-सुनाते खत्म ही नहीं होने को आती और यह क्रम लगभग पन्द्रह दिन तक जारी रहता था। श्रोता सहज में जिज्ञासु हो चुपचाप सुना करता था। उनका लिखने का शौक भी दरअसल यहीं से पैदा हुआ था। अपनी माँ से प्रेरणा लेकर ही उन्हें आज उपन्यास-सम्राट होने का गौरव प्राप्त हुआ।

विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके निर्माण और उत्थान में उनकी माता का प्रथम हाथ रहा है। बालक का प्रथम क्रीड़ास्थल माता की गोद ही है। जननी के स्नेह, ममत्व एवं सौहार्द्र से अनुप्राणित बालक उसके आदेश को बड़ी तत्परता से मानता है। माता के आदेश-पालन और अनुकरण में उसे सुख मिलता है। यों तो बच्चा परिवार के अन्य लोगों से भी घुलता-मिलता है परन्तु आरम्भ में माता जैसी घनिष्ठता किसी से भी स्थापित नहीं हो पाती। माता ही उसका प्रथम मित्र है, माता ही प्रथम गुरु है और माता की गोद ही प्रथम पाठशाला है।

शास्त्रों में माता को बालक का प्रथम गुरु कहा गया है। उसके पीछे भी यही तथ्य अन्तर्निहित है कि माता ही सर्वप्रथम उसे आचार-व्यवहार की शिक्षा देती है तथा संसार की विविध वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कराती है। इसके लिये उसके पास एक ही साधन होता है—बालक की जिज्ञासाओं की परितृप्ति। बच्चों को कुछ भी पता नहीं होता है कि संसार में क्या हो रहा है। माता द्वारा ही वह उस ज्ञान का बहुत बड़ा अंश पाता है।

माता के व्यक्तित्व का प्रभाव बालक पर पड़ना, स्वाभाविक ही है। यदि माता का व्यक्तित्व ही कमजोर हुआ तो बच्चे के व्यक्तित्व निर्माण की कल्पना निराधार ही होगी। प्रेमचन्द्र जी को साहित्य-सम्राट बनाने का श्रेय उनकी माँ को ही जाता है।

यह प्रेमचन्द्र जी की बात नहीं है ऐसे कई उदाहरणों से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। छत्रपति शिवाजी को बनाने में उनकी माता जीजाबाई का ही हाथ था। महाराणाप्रताप को बनाने वाली उनकी माँ ही थी। विज्ञान के प्रसिद्ध आविष्कारक एडीसन की प्रतिभा को पहचानने वाली उसकी माता ही थी।

प्रेमचन्द्र हिन्दी-साहित्य-जगत के उपन्यास-सम्राट के रूप मे भारत में ही नहीं अन्य देशों मे भी विख्यात हैं। उनके उपन्यासों में, कहानियों में जो सहज पात्र, जो स्वाभाविक घटनाक्रम, जो आदर्शोन्मुख-यथार्थ और भारतीय जन-जीवन का सजीव चित्रांकन हुआ है वह बहुत कुछ उनकी माता की ही देन था। जिस प्रकार वे अपनी लम्बी-लम्बी कहानियों में भी श्रोता को बाँधे रखती थीं कि वे लम्बे समय तक उनमें तन्मय रह जाते थे। उनके कथाकौशल ने प्रेमचन्द्र को बहुत कुछ दिया था। ऐसी ही बौद्धिक और सद्ज्ञान की सम्पदा से भरीपूरी माताएँ ही अपने बालकों को ऐसा कुछ दे सकती हैं कि वे आगे चलकर विशिष्ट व्यक्ति कहला सकें। हमारी नारी-जाति में ऐसी सामर्थ्य उपजाने के लिये अभी बहुत कुछ प्रयास करने होंगे। उनकी मानसिक, बौद्धिक, शैक्षणिक और आध्यात्मिक प्रगति के सदियों से अवरुद्ध द्वारों को खोलना होगा, योग्य माताएँ होंगी तभी हमारे देश को योग्य नागरिक प्राप्त होंगे।

व्यक्ति, जो प्रलोभनों के समक्ष झुके नहीं

मनुष्य की उच्चस्तरीय आदर्शों एवं सिद्धान्तों पर निष्ठा की परख ऐसे अवसरों पर होती है जब स्वार्थ, लोभ और मोह की परिस्थितियाँ प्रस्तुत होती हैं। सिद्धान्तों एवं आदर्शों की कोरी बातें करना एक बात है पर उनका पालन करना उतना ही कठिन और एक सर्वथा भिन्न बात है। समाज मे आदर्शों एवं सिद्धान्तों की चर्चा करने वालों की कमी नहीं जो इन्हें भी वाक्-विलास का साधन और प्रतिष्ठा अर्जित करने का एक सरल माध्यम मात्र मानते हैं। पर ऐसे व्यक्ति स्वार्थ, मोह एवं लोभ का आकर्षण प्रस्तुत होते ही फिसलते-गिरते अपनी गरिमा गँवाते देखे जाते हैं। जिन्हें आदर्शों के प्रति आस्था होती है वे इन क्षणिक आकर्षणों से प्रभावित नहीं होते और अपनी न्याय-प्रियता, कर्तव्य-निष्ठा का परिचय देते हैं। ऐसे व्यक्तियों से ही समाज और देश गौरवान्वित होता है। पतन, पराभव के प्रवाह में बहती भीड़ से अलग हटकर वे उल्टी दिशा मे अपनी राह बनाते हैं। मणि-मुक्तकों की भाँति चमकते तथा असंख्य को प्रेरणा प्रकाश देते हैं। बड़े से बड़े प्रलोभन भी उन्हें डिगा नहीं पाते। समाज और राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पदा ऐसे ही व्यक्तित्व होते हैं, जो कर्तव्यों का निर्वाह हर कीमत पर करते हैं।

जयपुर के एक परीक्षा-केन्द्र पर विजय कुमार नामक एक लड़का हाईस्कूल बोर्ड की परीक्षा दे रहा था। उसके पिता उसी स्कूल में अध्यापक हैं। संयोगवश पिता की ड्यूटी लड़के के कक्ष में पड़ी। यह जानकर कि इन्विजिलेटर के रूप में पिता जी नियुक्त हैं, विजय कुमार ने अवसर का लाभ उठाना चाहा। बिना किसी भय के उसने पुस्तक निकाली और उसे देखकर कापी पर प्रश्नों का हल लिखने लगा। पिता की दृष्टि अचानक अपने लड़के पर पड़ी उन्होंने तुरन्त लड़के से कापी ले ली और नकल करने के आरोप का नोट लगा दिया। ड्यूटी पर नियुक्त साथ के एक अन्य मित्र ने

लड़के का पक्ष लेना चाहा पर उन्होंने कापी नहीं लौटायी और यह कहते हुए कापी जमा कर ली कि मुझे कर्तव्य पालन पुत्र से भी अधिक प्रिय है । बोर्ड ने उस विद्यार्थी को दो वर्षों के लिए परीक्षा में सम्मिलित होने से वंचित कर दिया ।

रतलाम रियासत मे एक बार श्रीनिवास नामक व्यक्ति को अपने पुत्र न्यायाधीश की अदालत मे पेश होना पड़ा । अभियोग था गबन करने का । पुत्र की अदालत मे पिता के केस का फैसला सुनने के लिए भारी भीड़ एकत्रित हुई । अधिकांश का अनुमान था कि इस केस में पक्षपात अवश्य होगा । पर न्यायप्रिय न्यायाधीश ने अपने पद एवं गरिमा का पूरा-पूरा निर्वाह किया । विरुद्ध साक्ष्य एवं प्रमाणो के आधार पर अभियोग यथार्थ सिद्ध हुआ । न्यायाधीश ने पिता को छः माह की सजा और पाँच सौ रुपये अर्थ दण्ड का फैसला सुनाया । इस निष्पक्ष निर्णय को सुनकर उपस्थित वकील समुदाय तथा दर्शक हतप्रभ थे । फैसला सुनाने के बाद माननीय न्यायाधीश अपनी कुर्सी से नीचे उतरे और पिता के चरणो मे झुककर श्रद्धापूर्वक नतमस्तक होकर बोले पिता जी मुझे क्षमा करना । मैंने पिता को नही एक अपराधी को सजा दी है । अपने कर्तव्य का पालन किया है । कानून की दृष्टि मे रिश्तों की तुलना मे न्याय का महत्व 'अधिक है ।

'कौडागिल' (मद्रास) के तत्कालीन सत्र न्यायाधीश श्री के.एम. संजिवैया की अदालत मे एक चोरी का मुकदमा प्रस्तुत हुआ । सरकारी वकील ने न्यायालय मे आवेदन-पत्र प्रस्तुत करते हुए आपत्ति की कि मुकदमा दूसरे न्यायालय मे ट्रान्सफर किया जाना चाहिए । आपत्ति का आधार था कि अभियुक्त माननीय न्यायाधीश महोदय का पुत्र है । इसलिए न्याय में पक्षपात की सम्भावना है । न्यायाधीश के. एम. संजिवैया ने तर्क प्रस्तुत किया कि यदि निर्णय संतोषजनक व निष्पक्ष न हो तभी ऐसा किया जाना उचित है । जज महोदय के लिए यह परीक्षा की अवधि थी । एक ओर पुत्र का मोह, दूसरी ओर न्याय की रक्षा का गुरुतर दायित्व । पत्नी एवं सगे सम्बन्धियो का दबाव अतिरिक्त रूप से न्याय से विचलित होने के लिए पड़ रहा था । पर दबाव और पुत्र के मोह पर उन्होने विजय पायी । सभी साक्ष्यों, प्रमाणों एवं गवाहियों से यह स्पष्ट हो गया था कि पुत्र ने चोरी की है । श्री के. एम. संजिवैया ने अपराधी पुत्र को दो वर्ष का सश्रम कारावास का फैसला सुनाया । कुटुम्बियो ने जब उलाहना दिया तो उन्होने यह कहा कि—"पिता के रूप मे मेरी अभियुक्त से गहरी सहानुभूति है । पर न्याय की रक्षा पुत्र प्रेम की तुलना मे अधिक महत्वपूर्ण है । कानून की नजर में अपने पराये के बीच कोई भेदभाव नहीं होता ।"

पद-प्रतिष्ठा, धन-वैभव पाने का लोभ प्रस्तुत होने पर भी अधिकांशतः व्यक्ति फिसल जाते हैं जबकि आदर्शों एवं सिद्धान्तों के धनी व्यक्तित्व इन अवसरो पर भी चट्टान की तरह दृढ़ रहते देखे जाते है और क्षणिक भौतिक लाभो की तुलना में कर्तव्य-निष्ठा नीतिमत्ता को अधिक महत्व देते हैं । प्रलोभन उन्हें डिगा नहीं पाते । ऐसे व्यक्तियों मे स्वर्गीय चिम्मनलाल शीतलवाड़ का नाम उल्लेखनीय है । उन दिनों वे बम्बई विश्वविद्यालय में किसी प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त थे । किसी मामले में अपने अनुचित स्वार्थ के लिए एक सम्पन्न व्यक्ति उनके पास पहुँचा । कार्य, श्री चिम्मनलाल जी से सम्बद्ध था । उसने शीतलवाड़ को रिश्वत देना चाही पर उन्होंने इसके लिए स्पष्ट इन्कार कर दिया शायद और अधिक धन राशि पर वे कार्य करने के लिए सहमत हो जायें, यह सोचकर वह प्रलोभन की राशि बढ़ाता गया ।

एक लाख रुपये की राशि तक बढ़ाते हुए पहुँचने पर उस व्यक्ति ने शीतलवाड़ से कहा "देखिए श्रीमान आपको इतनी बड़ी राशि देने वाला कोई नहीं मिलेगा ।" शीतलवाड़ ने आक्रोश भरे दृढ़ शब्दों में उसे अस्वीकार करते हुए उत्तर दिया "तुम्हें भी इतनी बड़ी रकम मुफ्त में लेने से इन्कार करने वाले कम ही मिलेंगे । उनकी अविचल ईमानदारी और दृढ़ता को देखकर आगन्तुक सन्न रह गये और जैसे आया था उल्टे पैर उसी प्रकार लौट गया ।"

मुंशीप्रेमचन्द अँग्रेजी-शासन-काल मे ही एक प्रसिद्ध उपन्यासकार के रूप में प्रख्यात हो चुके थे । अपनी लेखनी द्वारा वे देशभक्ति की भावना जगाने के लिए प्रयास कर रहे थे । अँग्रेजी सरकार की यह नीति थी कि जैसे भी बने विद्वानो, प्रतिभावानो को सरकार का समर्थक बना लिया जाय । इसके लिए नौकरी, पद, प्रतिष्ठा, प्रलोभन देने के अनेकानेक जाल जंजाल बुने जाते थे । डर था कि प्रेमचन्द्र की लेखनी भी भारतीयो मे विद्रोह भड़काने का कारण न बन जाय । तत्कालीन उत्तर प्रदेश के गवर्नर सरमालकम हेली ने मुंशीप्रेमचन्द्र को अपनी ओर मिलाने के लिए एक चाल चली । 'राय साहब' का खिताब उन दिनो सर्वोच्च राजकीय सम्मान का विषय माना जाता था । कितने ही विद्वान, प्रतिभावान किन्तु मनोबल के कमजोर व्यक्ति इस खिताब को अपना सम्मान समझते थे । खिताब क्यों दिया जा रहा है, मुंशी जी को समझते देर न लगी । तब तक बड़ी रकम के साथ खिताब श्री प्रेमचन्द्र के घर पर एक अंग्रेज अधिकारी द्वारा यह कहकर पहुँचाया जा चुका था कि माननीय गवर्नर ने उनकी रचनाओ से प्रभावित होकर यह उपहार भेजा है ।

घर पहुँचने पर मुन्शी जी को खिताब एवं मोटी रकम की बात मालूम हुई । पत्नी ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की इस बात के लिए कि आर्थिक विपन्नता की स्थितियों में एक सहारा मिल गया । पर प्रेमचन्द ने दु:ख व्यक्त करते हुए कहा "एक देशभक्त की पत्नी होते हुए तुमने यह प्रलोभन स्वीकार कर लिया यह मेरे लिए शर्म की बात है ।" तुरन्त रकम और खिताब को लेकर गवर्नर महोदय के पास पहुँचे । दोनो को वापस लौटाते हुए बोले "सहानुभूति के लिए धन्यवाद । आपकी भेट मुझे स्वीकार नहीं । धन और प्रतिष्ठा की अपेक्षा मुझे देशभक्ति अधिक प्यारी है । आपका उपहार लेकर मैं देशद्रोही नहीं कहलाना चाहता ।"

सचमुच ऐसे व्यक्तित्व ही देश और समाज की सबसे बड़ी सम्पदा है। ये ऐसे रत्न हैं जो जहाँ रहते है अपने प्रकाश से असंख्य को प्रेरणा देते है। धन्य है, वह देश और धन्य है वह समाज जहाँ समाज एवं देश के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा एवं न्यायप्रियता को सर्वोपरि महत्व मिलता है और धन्य है वे व्यक्ति जो कर्त्तव्यो के परिपालन के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की बलि देने में नहीं हिचकते। समाज, धर्म और संस्कृति ऐसे आदर्शनिष्ठ व्यक्तियो से ही महान बनते तथा प्रतिष्ठा पाते हैं।

जिनके उपन्यास पढ़ने के लिए लोगों ने हिन्दी सीखी—देवकीनन्दन खत्री

बिहार के गया जिले में एक रियासत थी टिकारी। वहाँ काशी के प्रसिद्ध व्यापारी ईश्वरीदासजी व्यापारिक मामलों के लिए आया-जाया करते थे। इस रियासत से उनका कारोबार खूब चलता था अतः बार-बार आने-जाने का काम पड़ता था। हर बार किसके यहाँ ठहरा जाये, ईश्वरीदास जी ने गया मे ही अपनी एक कोठी बनवा ली और जब भी किसी सिलसिले में टिकारी आना पड़ता वे इस कोठी पर ही ठहरते थे।

ईश्वरीप्रसादजी के पूर्वज मुगल-सल्तनत के समय मुलतान में सूबेदार थे। सूबेदारी से उन लोगों ने खूब पैसा कमाया और लाहौर आकर रहने लगे, तब पंजाब में रणजीतसिंह का राज्य था। महाराजा रणजीतसिंह जितने कुशल प्रशासक और दक्ष-राजनीतिज्ञ थे उतने योग्य उनके उत्तराधिकारी नहीं थे। अतः रणजीतसिंह ने जिस राज्य को अपने खून पसीने से सीचा था वह उत्तराधिकारियों के समय में उजड़ने लगा। ऐसी दशा-स्थिति देखकर ईश्वरीप्रसाद जी के पूर्वज अपनी समस्त-सम्पत्ति लेकर काशी आ बसे और वहीं अपना व्यापारी कारोबार जमा लिया था।

यह कारोबार उत्तरोत्तर फैलता गया और ईश्वरीप्रसाद जी के जमाने में तो स्थानीय क्षेत्रीय सीमाओं को लाँघकर दूर देशान्तरो में भी फैल गया था। आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि ईश्वरीप्रसादजी ने अपने व्यापारिक कारोबार में आने जाने और ठहरने के लिए गया मे एक स्वतन्त्र कोठी बनवा ली थी। जब भी कभी उनका टिकारी आना होता तो वे वहीं ठहरते थे। बाकी कोठी को खाली तो छोड़ा नहीं जा सकता, अतः ईश्वरीप्रसाद जी ने कोठी की देखभाल और प्रबन्ध-व्यवस्था का कार्य अपने युवा पुत्र देवकीनन्दन खत्री को सौंप दिया था। खत्री जी ने उस समय लिखना तो आरम्भ नहीं किया था पर भरपूर दौलत और उन्मुक्त परिस्थितियो ने उन्हें मनमौजी किस्म का जीव बना दिया था। लेकिन उन्हीं दिनों टिकारी-राज्य कोर्ट-ऑफ-वार्डस में चला गया और खत्री जी को काशी आ जाना पड़ा।

बनारस के शासक ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह की बहिन टिकारी मे ब्याही थी। जिस परिवार मे बनारस की राजकन्या ब्याही थी उससे खत्री जी के बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। वे चाहते तो इन सम्बन्धों से फायदा उठाकर बनारस राजदरबार में अच्छा स्थान प्राप्त कर सकते थे, पर इसकी उन्हें कोई कामना ही नहीं हुई, आवश्यकता भी नहीं थी। लेकिन अपनी ओर से प्रयत्न नहीं किया तो क्या हुआ ? बनारस के राजा ने तो बुलावा भिजवा ही दिया कि खत्री जी राजदरबार की शोभा बढ़ायें। काम इतना भर था कि राजा जब तक दरबार में हाजिर रहे खत्री जी भी उनके साथ अन्य मन्त्रियों और सभासदों की तरह बैठें। लेकिन खत्रीजी ने यह प्रस्ताव मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि उनके लिए राजदरबार में किसी का गुलाम बनकर रहना प्रकृति के विरुद्ध था और न ही उन्हे राजदरबारों से कोई आकर्षण था।

इसे पूर्वजों के कटु अनुभवों के संस्कार ही कहना चाहिए कि खत्री जी ने अपने आत्माभिमान को सुरक्षित रखते हुए चकिया और नौगढ़ के जंगलों का ठेका लिया और उनमें होने वाली लाख, लकड़ी, शहद, गोंद तथा अन्य जिन्सो से आमदनी बढ़ाने लगे। भले ही यह आमदनी राजदरबार में मिलने वाली धन राशि से कम हो परन्तु उनके स्वाभिमानी व्यक्तित्व के लिए पर्याप्त और सन्तोषपूर्ण थी। खत्री जी को पैतृक रूप से काफी धन-दौलत का उत्तराधिकार मिला था। वे चाहते तो जीवन भर आराम से बैठे-बैठे खा सकते थे—पर आराम उनके स्वभाव में था ही नहीं। गद्दी और मसनदो की शोभा बढ़ाकर वे अपने शरीर को विलासी और नाजुक नहीं बनाना चाहते थे। यही कारण था कि अपने ठेके के जंगलों में उन्मुक्तभाव से घूमते, अपने व्यवसाय का प्रबन्ध सम्हालते, वनों में पैदावार की देखरेख करते तथा साथ ही प्रकृति की गोदी में डोलने का आनन्द और मस्ती तो अलग थी, जो अन्यत्र और कहाँ मिलती।

चकिया और नौगढ़ के जंगलों में बीहड़ वन-प्रदेश भी थे और मैदानी इलाके भी, पर्वतीय क्षेत्रों के साथ गुफाएँ और पुराने खंडहर भी थे। इन सबको देखने के लिए विचरण करने में उन्हें अद्भुत आनन्द मिलता था। इन्हीं दिनों खत्री जी को एक नयी धुन सवार हुई। जंगल के खंडहरो और गुफाओ में उन्होंने जो देखा और अनुभव किया उसने खत्री जी को कलम उठाने के लिए प्रेरित किया और उन्होंने तिलस्मी (ऐन्द्रजालिक) उपन्यास लिखने का निश्चय किया। इस नये विचार ने उन्हें इतना अभिभूत कर डाला कि वे ठेकेदारी का काम भी छोड़ बैठे और एकजुट होकर तिलस्मी-उपन्यास लिखने लगे। सन् १८८८ ई. मे 'चन्द्रकान्ता' का पहला भाग प्रकाशित हुआ। उस समय उनकी आयु कुल तीस वर्ष के लगभग थी और यह उपन्यास काफी लोकप्रिय हुआ। उस समय हिन्दी ने तरुणाई मे प्रवेश किया था और लोगो मे पढ़ने का शौक पैदा होने लगा था। स्वयं खत्रीजी ने उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है— "जिस समय हमने चन्द्रकान्ता लिखनी आरम्भ की थी, उस समय कविवर प्रतापनारायणमिश्र तथा पंडितवरअम्बिकादत्त व्यास जैसे महान सुकवि और सुलेखक

विद्यमान थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, राजालक्ष्मणसिंह जैसे सत्पुरुष हिन्दी की सेवा करने में अपना गौरव समझते थे। परन्तु अब न तो वैसे मार्मिक कवि हैं और न वैसे लेखक। उस समय हिन्दी के लेखक तो थे पर ग्राहक नहीं थे, लेकिन अब हिन्दी के ग्राहक हैं पर लेखक नहीं हैं।" प्रस्तुत स्थिति का चित्रण उन्होंने चन्द्रकान्ता-सन्तति का चौबीसवाँ भाग लिखते हुए किया था। इससे पूर्व चन्द्रकान्ता के चार भाग प्रकाशित हो चुके थे। चन्द्रकान्ता के चार भाग ही इतने लोकप्रिय हुए कि उसे चौबीस भागों में लिखना पड़ा और इस प्रकार चन्द्रकान्ता-सन्तति के चौबीस भाग प्रकाशित हुए और फिर भूतनाथ के भी। चन्द्रकान्ता की सफलता ने एक ऐसी उपन्यास शृंखला का सूत्रपात किया जिसके सम्बन्ध में प्रत्येक समीक्षक इस आशय का वक्तव्य देता है— 'जिनके उपन्यासों की सर्व साधारण जनता में सर्वप्रथम धूम हुई वे थे काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री। चन्द्रकान्ता-सन्तति नामक इनके ऐयारी के उपन्यासों को लोगों ने इतना पसन्द किया और उनकी इतनी चर्चा हुई कि जो लोग हिन्दी नहीं जानते थे उन्होंने खत्री जी के उपन्यास पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी।'

यह एक विस्मयजनक तथ्य तो है कि किसी पुस्तक और वह भी उपन्यास को पढ़ने के लिए कोई व्यक्ति उस भाषा को ही सीखने के लिए तैयार हो जाये। परन्तु, यह एक तथ्य भी है। क्योंकि आज सौ वर्ष बाद भी उनके उपन्यास इतने रोचक और ताजे हैं जैसे—कल ही लिखे गये हों और जिस साहित्यकार की कलम में इतनी क्षमता हो वह यदि अपनी भाषा की ओर हजारों लोगों का ध्यान खींच ले और उसे सीखने के लिए बाध्य कर दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या? इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-साहित्य की सेवा के साथ हिन्दी के प्रचार-प्रसार में, उसे लोकप्रिय बनाने में भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी।

उनके उपन्यासों की सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेषता है उनकी सरस-बोध-गम्यता। जिस भाषा का उपयोग उन्होंने उपन्यास-लेखन के लिए किया वह भाषा पहली दूसरी पढ़े छात्रों को भी समझ में आ जाती थी और पढ़े-लिखे लोगों को भी यह अहसास नहीं होने देती थी कि वे कोई गँवारू किताब पढ़ रहे हैं। इस सावधानी का उल्लेख करते हुए उन्होंने आने वाली पीढ़ी के लेखकों हेतु यह निर्देश चिन्ह भी छोड़ा है कि—"मैंने लिखते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा है कि पाठक को समझने के लिए शब्दकोश न खोलना पड़े।"

अपने तिलस्मी उपन्यासों के लिए उन्होंने ऐसे पात्रों का चयन किया जो जन-सामान्य-वर्ग में से आये थे। ऐसा कोई पात्र उनके उपन्यासों में नहीं है जो अस्वाभाविक सा जान पड़े। इस प्रकार शुद्ध मनोरंजक तिलस्मी-दुनिया मे खत्री जी ने अपना विशिष्ट स्थान बनाया और हजारों अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी सिखायी थी। बावनवर्ष की आयु में सन् १९१० के लगभग उनका देहान्त हुआ।

समन्वय और सामंजस्य के गायक— अमीर खुसरो

जहाँगीर अपने पिता अकबर की तरह ही कला, संगीत और साहित्य का प्रेमी था। उसके दरबार में गायकों, कलाकारों और कवियों को भरपूर सम्मान और संपूर्ण आश्रय मिलता रहता था। कहते हैं एक बार उसके दरबार में कुछ कव्वाल आये और उन्होंने कव्वाली गायी थी। कव्वाली, ईश-प्रेम से सम्बन्धित थी और उसका एक शेर ईश्वरीय-प्रेम के भावों से भरा था। बादशाह उस कव्वाली के एक शेर से बहुत प्रभावित हुआ और उसे बार-बार सुनाने के लिए कहा। यही नहीं उसने अपने दरबारियों से उसकी व्याख्या करने के लिए भी कहा।

बादशाह के मुहरकन-मुल्ला-अली ने बताया कि यह कव्वाली अमीर खुसरो की है और उसने बादशाह को उस शेर का अर्थ विस्तार से बताया। उसका अर्थ समझाते-समझाते मुल्ला अली इतना भाव विह्वल हो उठा कि उसके प्राण पखेरू अर्थ बताते-बताते ही उड़ गये। बहुत सम्भव है कि यह कहानी खुसरो के प्रशंसकों ने ही गढ़ी हो परन्तु, इसमें कोई संदेह नहीं है कि अमीर खुसरो की गजल और उसकी कविता में ऐसी गहरी अन्तर्दृष्टि, इतना अनोखा चरित्रांकन और इतनी गजब की कशिश है कि खुसरो के बिना फारसी-साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी।

अमीर खुसरो ने केवल फारसी-भाषा मे ही काव्य रचना की हो, ऐसा भी नहीं है। उन्होंने जन-भाषा-हिन्दी में भी इतना ही सशक्त-साहित्य लिखा और अपने व्यक्तित्व में सूफीसंत, भाषा-विद-कलाकार, गायक, संगीतज्ञ और देशभक्ति की सभी विशेषताओं का समावेश किया और इन सब विशेषताओं से विलक्षण विशेषता उनके व्यक्तित्व मे खोजें तो कहना पड़ेगा कि भारतीय-संस्कृति के समन्वय और सामंजस्य का प्रतिनिधित्व उनमे आ सिमटा था। उन्होंने अपनी कविता में कई स्थानों पर शान से कहा है कि मैंने हिन्द की खाक को अपनी आँख का सुरमा बना लिया है। शरीर से वे तुर्क घराने मे जन्मे थे, तो संस्कारों से उनकी आत्मा भारतीय थी और उन्होंने फारसी-काव्य में भारतीय वातावरण से लेकर भारत की हर सुन्दर और लुभावनी चीज के कलाम गाये हैं, विशेषतः भारतीय-दर्शन और आध्यात्मिकता के। इस्लाम का सूफीवाद भारतीय-वेदान्त से पूर्णतः सामंजस्य रखता है और खुसरो के काव्य में उसी सूफीवाद की आत्मा व्यक्त हुई है।

अमीर खुसरो का जन्म सन् १२५६ ई. में पटियाली में हुआ था। उनके पिता सैफुद्दीन तुर्क थे जो बल्ख से आकर भारत मे बस गये थे। सैफुद्दीन एकदम निरक्षर और अरसिक तबियत के आदमी थे। पढ़ना-लिखना तो उन्हें आता

नही था काव्य-शायरी मे उनको लेशमात्र रस नही आता था। उनके व्यक्तित्व मे कोई विशेषता थी तो केवल बहादुरी की सो भारत आने के बाद वे शाहीसेना मे भर्ती हो गये। जब भी कहीं उन्हे आक्रमण पर जाना पड़ा तो उन्होंने वीरता का अच्छा प्रदर्शन किया और इसी वीरता के दम पर वे साधारण सिपाही से सरदार और सामन्त बनते चले गये। सैफुद्दीन का विवाह भी ऊँचे खानदान मे हुआ और वे सामन्ती ढंग से रहने लगे थे। इसी वातावरण मे अमीर खुसरो का जन्म हुआ और वे ऐश आराम मे पलने लगे।

परन्तु अभी वे आठ वर्ष के ही हुए थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया। आठ साल की उम्र कोई बहुत बड़ी उम्र नहीं होती है। बचपन मे ही उनका इस कदर अनाथ हो जाना उनके बालमन पर एक असह्य आघात पहुँचा गया। सैफुद्दीन के पिता खुसरो के दादा ने अपने पोते की परवरिस का जिम्मा लिया। हालांकि दादा की छत्र-छाया में खुसरो को पिता की कमी महसूस नहीं हो पाई किन्तु उनका साथ कब तक चलता। शरीर से वृद्ध और आयु से पूर्ण अमीर खुसरो के दादा कुछ दिनों बाद चल बसे। अपने दादा से खुसरो को इतना लगाव हो गया था कि उनके बिना उन्हे चैन नही पड़ता था। पर मौत ने ही जब यह साया छीन लिया हो तो क्या किया जा सकता है? इस दूसरे संवेदनात्मक आघात ने खुसरो को और भी भावुक बना दिया था। खुसरो अब लगभग पूरी तरह अनाथ हो चुके थे। उन्हें अपने दादा की मौत का जबर्दस्त धक्का पहुँचा था। और उन्होंने अपनी पीड़ा का एक 'मर्सिया' लिख कर अभिव्यक्त किया था, जिसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि खुसरो को अपने दादा से कितना लगाव था और वे उनका कितना सम्मान करते थे।

उनके भावुक और टूटे हुए मन ने अपनी तृप्ति का सहारा खोज लिया। खुसरो की माँ जीवित थीं। वे अपनी माँ पर दादा और पिता की सारी श्रद्धा तथा सारा सम्मान चढ़ाने लगे और हर सुन्दर वस्तु से प्रेम करने लगे। सैफुद्दीन ने एक समझदारी पहले ही की थी, वह जानता था कि अनपढ़ होने के कारण उसे वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के लिए कितने पापड़ बेलने पड़े थे। यदि उसकी सन्तान भी उसी की तरह निरक्षर और अनपढ़ रही तो उसके वंश का कोई भविष्य नहीं है। इसलिए उसने खुसरो की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया और खुसरो ने भी बुद्धि का परिचय दिया था। उन्हे भी पढ़ने-लिखने से लगाव हो गया था। मदरसे की शिक्षा के अलावा वे स्वतन्त्ररूप से भी पढ़ते। उन्होंने फारसी के तत्कालीन काव्य का नियमानुसार अनुशीलन किया। कहा जाता है कि उस समय फारसी के जो भी दिवान (काव्य संग्रह) उपलब्ध थे वे सभी पढ़ डाले थे।

काव्य-अनुशीलन ने खुसरो के भावुक और संवेदनशील हृदय में काव्य-धारा का स्रोत बहा दिया और खुसरो बचपन से ही कविताएँ करने लगे। उनके चारों ओर सामन्ती वातावरण था। राजघराने और सामन्त परिवार से सम्बन्ध होने के कारण खुसरो को सदैव कवियों, संगीतज्ञो और विद्वानों का निकट सान्निध्य मिलता रहा। यह वातावरण भी खुसरो के व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा को निखारने मे सहायक सिद्ध हुआ। फिर परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार बनती-बिगड़ती रही कि खुसरो को महत्वपूर्ण ऐतहासिक घटनाओं को निकट से देखने का अवसर मिलता रहा। उन्होंने अपने जीवन-काल मे सात बादशाहों को शाही सिंहासन पर चढ़ते और उतरते देखा अपनी मिलनसारिता और सरल स्वभाव के कारण खुसरो किसी भी वर्ग मे आसानी से घुल मिल जाते थे। इस विशेषता के कारण उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग की जिन्दगी को निकट से देखा और जीवन तथा समाज के विभिन्न रंगो का चित्रण करने मे सफल हुए।

सन् १२७३ में उनकी दिशा ने एक नया मोड़ लिया, उस वर्ष खुसरो हजरत-निजामुद्दीन-औलिया के सम्पर्क में आये। हजरत-निजामुद्दीन सूफी विचार-धारा के प्रतिनिधि संत थे। उनका दर्शन भारतीय वेदान्त के बहुत निकट था। वे आत्मा को प्रिय और विश्वात्मा को प्रियतमा मानकर इश्कहकीकी तथा अनलहक के आध्यात्मिक आदर्श का प्रचार करते थे। खुसरो पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा और कहते हैं कि उनके संपर्क मे आने पर खुसरो का जीवन एकदम ही बदल गया।

कहना नही होगा कि सामन्ती वातावरण मे पलने और रहने के कारण खुसरो का जीवन भी अन्य सामन्तो और राजदरबारियो जैसे राग-रंग में सराबोर और विलास भोग मे लिप्त रहता था। परन्तु सूफी-सन्त की मस्ती और सूफी-सन्त का आनन्द जब उन्होंने देखा तो उस मस्ती और उस आनन्द के सामने तमाम सामन्ती सुख फीके लगने लगे। तभी तो खुसरो ने गाया है—

मने दरवेश रा कुश्ती बगमजा,
करम कर दी इलाही जिन्दाबशी।

अर्थात्—तुमने अपने कटाक्ष से मुझे भी फकीर बना कर मार डाला। बड़ी मेहरबानी की और जुग-जुग जियो।

आगे एक स्थान पर अपने गुरु को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं—

तुशाविनह मीनू भाई बबरे कि बुदि इम शव,
कि हनोज चश्मे मस्तत असरे खुमार दारद।

—तुम रात भर किसके पहलू में रहे हो मैं जानता हूँ और तुम्हारी आँखों की पलके उस मस्ती और खुमारी से अभी भी झुकी जा रही हैं।

सामान्य व्यक्ति इस शेर को पढ़कर लौकिक स्थिति की कल्पना करेगा किन्तु जिन्हे सूफीमत की थोड़ी भी जानकारी है वे समझ सकते हैं इस शेर में ईश्वरीय आनन्द का कैसा सुन्दर चित्रण किया गया है? इश्क हकीकी और इश्क-इलाही के प्रभाव को देखकर खुसरो के लिए अपने वर्तमान जीवन-क्रम से असन्तुष्ट हो उठना स्वाभाविक था। इसीलिए उन्होंने हजरत-निजामुद्दीन का शिष्यत्व ग्रहण किया और

सूफियों के अध्यात्म को अपनी काव्य-धारा का नीर बनाया, उसे अपनी भाव-सम्पदा से ओतप्रोत कर दिया।

सूफी अध्यात्म से अपनी काव्य-कला का शृंगार करने के बाद खुसरो का रुझान उस चेतना को जन-जन में जगाने की ओर भी हुआ था। विदित है कि काव्य के एकांतिक आस्वाद का उतना प्रभाव नहीं होता जितना कि संगीत के साथ वह हृदय को स्पर्श करता है। इसी तथ्य को समझकर खुसरो संगीत के माध्यम से लोगों को दुनिया की असलियत बताने के लिए निकल पड़े थे। कहा जाता है कि—सितार का आविष्कार उन्होंने ही किया था और सामूहिक गान की कव्वाली शैली भी उन्हीं के द्वारा प्रणीत है। संगीत शरीर में कविता के द्वारा नयी प्राण चेतना भरकर खुसरो ने कई अंतःकरणों को जगाया और राजमहलों से लेकर झोंपड़ी तक नयी जीवन दृष्टि पहुँचायी थी।

उन्होंने हजरतनिजामुद्दीनऔलिया का संदेश जगह-जगह पहुँचाने के लिए घुमक्कड़ जीवन भी अपना लिया। राज दरबार में हाजरी बजाना छोड़ कर वे देश के कोने-कोने में पहुँचे और भिन्न-भिन्न लोक-संस्कृति के अनुयायियों को एक ईश्वर, एक आत्मा, एक पिता का संदेश सुनाया। विभिन्न क्षेत्रों में घूमने के कारण उनकी कविता ने जहाँ जैसी स्थिति देखी वहाँ वैसा रूप धारण कर लिया। नदी, पहाड़ों में सँकरी होकर तेजी से बहती है तो मैदानों में फैल जाती है। गंगोत्री की गंगा और कलकत्ता की गंगा देख कर किसी अनजान व्यक्ति का विश्वास करना मुश्किल होता है कि यह एक ही गंगा है उसी प्रकार खुसरो की कविता में विविधता और स्वरूप वैचित्र्य हर जगह मिलता है। कहीं उस कविता के उद्‌बोधन स्वरों मे एकरूपता है।

१२७३ में मात्र २० वर्ष की आयु में खुसरो की जीवन-दिशा ने नया मोड़ लिया था और वे राज्याश्रय छोड़कर लोक-संवाद के लिए निकल पड़े थे। और तीस वर्षों तक निरन्तर संगीत तथा काव्य के माध्यम से एकात्मवाद का, समन्वय, सामंजस्य का संदेश लोगों को सुनाते रहे। रास्ते में उन्हें समाचार मिला कि हजरत-निजामुद्दीन-औलिया विराट् से जा मिले हैं तो वे उल्टे पाँवों लौट आये और अपनी सारी सम्पत्ति लोक-हित के लिए लुटाकर सांसारिकता से ही विरक्त हो गये। इस प्रकार सामन्त से सूफी हुए खुसरो जीवन के अन्त तक प्रेम, शान्ति और समन्वय का पथ दर्शाते रहे तथा १३२५ मे संसार छोड़कर चले गये।

संस्कृति और साहित्य के मर्मज्ञ— हरिऔध जी

नागरी-प्रचारिणी-सभा के नये कार्यालय भवन का उद्‌घाटन-समारोह किया जा रहा था। इस समारोह में हिन्दी-साहित्य का भण्डार भरने वालों से लेकर प्रचारकों और कार्यकर्ताओं तक का अच्छा-खासा जमघट एकत्रित हुआ था। समारोह-गोष्ठियाँ, सभा और अन्य कई कार्यक्रमों से आरम्भ हुआ। वक्ताओं ने नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्यों, गतिविधियों और उपलब्धियों की चर्चा में प्रशंसा के पुल बाँध दिये। प्रायः सभी भाषणकर्ताओं ने इस अंदाज से भाषण दिये थे कि अब हिन्दी प्रचार का काम लगभग पूरा ही हो गया है।

मंच पर इस बीच अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध जी भी आये। हिन्दी-भाषा के प्रचार-प्रसार से लेकर उसका मौलिक स्वरूप निखारने तक में उनका बड़ा योगदान रहा था। मंच पर आकर हरिऔधजी जैसे ही काव्य-पाठ के लिए खड़े हुए—श्रोताओं ने करतल ध्वनि और जोरों से नारे लगाकर उनका स्वागत किया। इस अवसर पर हरिऔध जी ने जो कविता पढ़ी वह सम्मेलन के लिए ही नहीं, देश के कोने-कोने में फैले हुए हिन्दी प्रचारकों और साहित्य के क्षेत्र में भी अनूठी, अपूर्व सिद्ध हुई।

अभी तक इस क्षेत्र में जो भी प्रगति हुई थी वह बेशक सराहनीय थी परन्तु हरिऔध जी ने मात्र इतने से ही संतोष व्यक्त करने वालों को आड़े हाथों लिया। उनकी पूरी कविता के पदों की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी॥

पूरी रचना में एक आत्मीयता भरी; किन्तु चुभने वाली ललकार थी। वस्तुतः उन दिनों कई कार्यकर्ताओं में बड़ी शिथिलता आयी हुई थी। हरिऔध जी ने ऐसी प्रवृत्तियों को दूर कर आगे की मंजिल, कोसो पड़े मैदान को तय करने के लिए अपनी ओजस्वी वाणी से सशक्त भावों को आन्दोलित किया था।

मूलतः हरिऔधजी को हिन्दी-भाषा के उत्थान और विकास का अग्रदूत ही कहा जाता है। परन्तु उनके जीवन और साहित्य के अन्यपक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपनी प्रतिभा और कला के माध्यम से बहुविध दिशाओं में मार्गदर्शन करने का साहित्य-धर्म उन्होंने जिस कुशलता के साथ निवाहा उसने साहित्य और संस्कृति के इतिहास में हरिऔध जी को अमर बना दिया। उनका जन्म सन् १८६५ में निजामाबाद (उ.प्र.) के एक जमींदार परिवार में हुआ था। घर विपुल सम्पदा और सुख सुविधा की सामग्रियो से भरपूर था। जमींदारी और पण्डिताई उनका पैतृक धन्धा था।

थोड़ा बहुत पढ़ाने-लिखाने के उद्देश्य से उन्हे स्कूल मे भर्ती करवाया गया ताकि वे पैतृक व्यवसाय को ठीक प्रकार से समझ सके और उसे अपनी जीविका का साधन बनाये रहें। स्कूल में अध्यापकों का कठोर अनुशासन तथा अकारण पड़ने वाली डाँट-फटकार उन्हें उद्विग्न भी रखने लगी और भयभीत भी। पढ़ना बहुत अच्छी बात है यह तो उनका बाल मन अच्छी तरह समझता था। गल्ती होने पर वे डाँट डपट और मार-पीट भी सहन कर लेते थे। हालांकि यह उन्हें सुहाता तो नहीं था। विवशता ही थी जो उनसे सब कुछ सहन करवा लेती थी।

स्कूलों की स्थिति उन दिनों जिस प्रकार की थी उसे देखकर कदापि नहीं कहा जा सकता था कि विद्यामन्दिर में अध्यापक ज्ञानदान करने के लिए आते हैं। दिन भर बैठे-बैठे ऊँघते, गपशप करते मास्टरों की ये प्रवृत्तियाँ छात्रों में आती तो अध्यापक आगबबूला होकर बुरी तरह बरस उठते। बच्चे तो यही समझते हैं कि जो बड़े करते हैं, वही हमें भी करना चाहिए। दो चार बार उन्होंने अपने माता-पिता से भी शिकायत की तो पता चला कि इस जमाने में सब कुछ चलता है।

जैसे-तैसे उन्होंने १८७१ में मिडिल-स्कूल की परीक्षा पास की। उनके मन में पिता का यह उत्तर निरन्तर घुमड़ता रहता कि इस जमाने में सब कुछ चलता है। इस उत्तर का अर्थ तो उन्हें समझ में नहीं आया था फिर भी इसी विषय मे सोचते रहते। कुछ दिनों बाद उन्होंने अपने जमींदार पिता से किसी किसान को पिटते देखा। उस समय तो वे कुछ नहीं बोले। समय मिलने पर पूछा—क्या पिताजी इस दुनिया में यह भी चलता है।

प्रश्नवाचक दृष्टि से पिता ने पुत्र की ओर देखा तो बोले—आप तो कथाओं में लोगों से कहा करते हैं कि किसी निरपराध प्राणी को कष्ट नहीं देना चाहिए।

अपने किये पर पुत्र को टीका-टिप्पणी करते देख पिता को क्रोध आया। वे बोले—"तू जानता है कि उसने कोई अपराध किया है या नहीं किया है।"

'मेरी जानकारी में तो नहीं है। क्या आप बताने का कष्ट करेंगे।"

जमींदारी सिखाने के प्रलोभन ने पिता को यह अच्छा अवसर सुझाया। कुछ शान्त होकर वे बोले—सारी फसल तो बेचकर खा गया और लगान के नाम पर वह कह रहा था कि कुछ हुआ ही नहीं।

"इस साल पानी नहीं बरसा। यह बात तो हम लोग भी जानते हैं। फसल कहाँ से पैदा हुई होगी।"-अयोध्या सिंह जी बोले।

"मिडिल पास करली तो खुद को मुझसे ज्यादा समझदार मानने लगा है। मैं जो कह रहा हूँ क्या वह तेरे लिए झूठ है।"—पिता अपने बेटे की ओर लपके।

इस घटना ने उन्हें धर्मक्षेत्र में फैले हुए आडम्बर और पाखण्ड का बोध कराया। लोगों को दया, प्रेम का उपदेश देकर अपने स्वार्थ के लिए स्वयं उनके साथ मारपीट करना तो गलत है। जो हम कहते हैं वह अमल में भी होना चाहिए। हरिऔध जी कथनी और करनी की एकता का सिद्धान्त अच्छी तरह समझने लगे थे। इन्हीं अन्तर्द्वन्द्वों में जूझते हुए उन्होंने नार्मल परीक्षा पास की। इसके बाद उनके सम्मुख अपने भावी-जीवन का निर्णायक प्रश्न खड़ा हुआ।

जमींदारी का धन्धा या धर्म-शिक्षण ये दोनों काम नहीं बन सकते। कृषकों की विवशता को समझकर भी उसे उपेक्षित करते हुए सरकार का कर भरने के लिए अमानवीय व्यवहार उन्हें पण्डित पद के गौरवानुकूल नहीं लगा। पण्डिताई करते हुए जमींदारी मुश्किल और जमींदारी करते हुए पण्डिताई दूभर थी।

असमंजस की स्थिति से स्वयं को उबारने के लिए उन्होंने बीच का रास्ता अपनाया। वे स्वतंत्र-रूप से अपनी जीविका चलाने लगे थे। जो प्रवृत्तियाँ अपने घर में पल रही हैं वे समाज मे भी अवश्य बढ़ रही होंगी। यह है तो अवांछनीय परन्तु समझदार व्यक्ति को इन्हें बढ़ने से रोकना चाहिए। स्वयं को उन विडम्बनाओं से बचाये रखकर हरिऔधजी ने जन-जीवन का अध्ययन व परिष्कार आवश्यक समझा।

देश उस समय दासता के बन्धनों से जकड़ा हुआ था। समाज का विकृत और पतित नेतृत्व ही उसके पाँवों मे गुलामी की बेड़ियाँ पहनाने का कारण बनता है, व्यापक-पर्यटन और अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे। यात्राओं के दौरान ही वे भारतेन्दुहरिश्चन्द्र जी के सम्पर्क में भी आये। भारतेन्दु जी ने उन्हें सार्थक साहित्य के सृजन की प्रेरणा दी थी। हरिऔधजी को बचपन से ही तुकबन्दी और पद-रचनाओं का अच्छा अभ्यास हो गया था। भारतेन्दु के सम्पर्क ने उनमे भावशक्ति भर दी। हरिऔध जी सर्वप्रथम सामाजिक चेतना की ओर उन्मुख हुए। समाज में व्याप्त कुरीतियों, मर्यादाहीन, ब्राह्मण-पण्डितों, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह जैसे विषयों पर उनकी चुनी हुई कविताओं का एक संकलन १९०१ मे प्रकाशित हुआ।

'काव्योपवन' नामक इस अकेले संकलन ने उन्हें महाकवि के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। हरिऔध जी ने सोये हुए देश को अपनी तंद्रा तोड़कर जाग उठने के लिए आह्वान किया। कविताएँ तो कई लिखी जाती हैं। समाज के, व्यक्ति के, मर्म और हृदय को जो स्पर्श कर ले, प्रभावित कर दे उसी रचना को युग-साहित्य की संज्ञा मिलती है। साहित्य मे यह प्रभाव रचनाकार के हृदय में रहने वाली व्यथा और कसक से आता है। हरिऔध जी तो बचपन से ही इस अन्तर्व्यथा को भोगते आये थे। अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने इसी कसक को पाठकों के हृदय में उड़ेला था।

जिन दिनों हरिऔध जी की कृतियाँ पाठकों के सामने आना आरम्भ हुई थी यह हिन्दी के विकास का आरम्भिक काल था। हिन्दी-पाठकों की संख्या नगण्य ही थी। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण तक अपनी आवाज पहुँचाना कितना दुष्कर और उबा देने वाला काम रहा होगा ? लेकिन हरिऔध जी धैर्यपूर्वक साहित्य-साधना में लगे रहे। एक के बाद एक कृतियाँ पाठकों तक पहुँचीं और उन कृतियों ने प्रबुद्ध व्यक्तियों मे प्राण प्रवाहित कर दिया। हिन्दी-भाषा के प्रचार और सामाजिक-चेतना के जागरण—इन दो कार्यों को उन्होंने एक ही प्रकार के प्रयास से बड़े अद्भुत ढंग से साधा था

भाषा के प्रयोग की दिशा में उन्होंने विषयानुवर्ती शैली का अवलम्बन लिया । फलस्वरूप उनकी सभी कृतियां अपने उद्देश्य में सफल रहीं । सन् १९१४ में उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति प्रकाशित हुई-'प्रिय प्रवास' । हिन्दी-साहित्य में इसकी प्रतिष्ठा भी भागवत के समकक्ष की गयी है । सभी समस्याओं, कष्ट कठिनाइयों का एक अचूक-निदान भगवद्प्रेम बताकर उन्होंने सर्वसाधारण के सामने एक अपूर्व सुझाव रखा था ।

उनका भगवत्प्रेम, निराशा, पलायन और अवसाद का नहीं आशा, उत्साह तथा प्राण स्फूर्ति का संदेश देता है । इस ग्रन्थ के नायक श्रीकृष्ण सर्वप्रथम ब्रज में गायें चराते हुए आते हैं । ब्रज-मण्डल आनन्द निमग्न है और इसी बीच मथुरा से कंस का बुलावा आता है और कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं । गोप-गोपियों का प्रेम उन्हें स्मरण तो आता है । ब्रज की उन्मुक्त-लीला भी उनके स्मृति पटल पर अंकित है परन्तु अपने जीवन-प्रवाह को उन्होंने मथुरा में कितना कर्त्तव्यबद्ध कर दिया है इसका सरस-वर्णन बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से किया है । कर्त्तव्य पालन में कहीं व्यतिक्रम न आये इसलिए मथुरा रुक जाने के निर्णय का संदेश भी उद्धव के हाथों भेजते हैं । वे अनुभव तो करते हैं कि सारा ब्रज-मण्डल उनके विछोह से पीड़ित होगा परन्तु वे चाहकर भी नहीं जाते । कारण, ब्रजवासियों का प्रेम उन्हें कर्त्तव्य से विमुख न कर देने की आशंका ।

इस प्रसंग को हरिऔध जी ने स्वाभाविक ढंग से कर्त्तव्य-निष्ठा का रंग देकर उल्लिखित किया है । बाद की कहानी प्रेम और भक्ति का विवेचन करती है । प्रतिपादित प्रेम-पंथ को अंगीकार करने वाले मनुष्य की व्यथा भी कितनी विभोर और मधुर होती है, हरिऔध जी ने बड़ी अच्छी तरह यह समझाया है ।

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद वह संस्था बड़ी आर्थिक तंगियों से गुजर रही थी । ऐसी स्थिति में प्राध्यापकों का प्रबंध भी कैसे किया जाय । हरिऔध जी ने हिन्दी-विभाग के लिए स्वयं को सेवाभाव से प्रस्तुत कर अनुकरणीय उदाहरण रखा था । वे सन् १९२९ से ४१ तक विश्वविद्यालय के अवैतनिक प्राध्यापक रहे थे । इसी बीच सन् ३३-३४ में वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भी सभापति रहे । तदुपरान्त उन्हें प्रिय-प्रवास पर सम्मेलन का सर्वोच्च सम्मानित मंगला प्रसाद, पारितोषिक भी दिया गया था ।

हिन्दी और अन्य भाषाओं के माध्यम से हिन्दू-संस्कृति और धर्म के उन तथ्यों को उद्घाटित करने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जो विश्वमानव के लिए कल्याणकारी सिद्ध होते हैं । हरिऔध जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं को सँवारा और सज्जित, समृद्ध किया । प्रिय-प्रवास के अतिरिक्त वैदेही वनवास, चुभते चौपदे, पुष्पोपहार आदि प्रधान कृतियाँ हैं ।

६ मार्च, १९४७ को उनका देहान्त हो गया । उसके छह मास बाद ही देश आजाद हुआ । हरिऔध जी ने स्वतंत्र-भारत को समृद्ध, सम्पन्न और शक्तिशाली बनाने का पथ आलोकित कर दिया था । इस महत्साधना और सफलता के लिए भारतीय-समाज सदैव उनका ऋणी रहेगा ।

कविता ही नहीं-उदारता भी

श्री अयोध्यासिंह जी 'हरिऔध' हिन्दू विश्व-विद्यालय के महिला कालेज में अध्यापक थे और चन्द्रशेखर पाण्डेय बी.ए. के विद्यार्थी थे । बाबू श्यामसुन्दर के द्वारा पाण्डेय जी का हरिऔध से अच्छा परिचय हो गया था । जब कभी अवकाश मिलता पाण्डेय जी हरिऔध के घर भी चले जाते थे ।

एक दिन उन्होंने कहा—'चन्द्रशेखर'! मेरे 'चोखे चौपदे' काफी तैयार हो गये हैं थोड़ा-सा समय निकाल कर उनकी प्रतिलिपि कर सको तो मुझे प्रकाशन हेतु प्रेस में देने में बड़ी सुविधा होगी । तुम जो पारिश्रमिक चाहोगे दे दिया करूँगा ।'

बात पारिश्रमिक की थी अतः बड़े संकोच के साथ हरिऔध की बात उन्होंने स्वीकार कर ली और प्रतिदिन घण्टे दो घण्टे का समय लिखने में लगाने लगे । पाण्डेय जी का पूरा परिवार भी काशी में ही रहता था जिसके पालन-पोषण का भी पूरा भार इन्हीं के कन्धों पर था । एक दिन उनकी आर्थिक स्थिति ऐसी बिगड़ी कि खर्च के लिए पास में एक भी पैसा न रहा । हरिऔध जी को वह नित्य आने का आश्वासन दे आये थे अतः गये तो समय पर ही, पर बड़े उदास मन से । हरिऔध जी के सम्मुख वे उदासी का भाव छिपा न सके । आखिर बहुत पूछने पर उन्हें अपनी सारी स्थिति बतानी ही पड़ी ।

हरिऔध जी ने अपनी जेब से २५ रुपये के नोट निकालते हुए उनकी ओर बढ़ा दिये और कहा—"चन्द्रशेखर ! पहले घर की व्यवस्था कर आओ फिर यहाँ के काम में हाथ लगाना । अरे भाई यदि मेरे चौपदे किसी दो पदे (मनुष्य) की थोड़ी-सी कठिनाई भी दूर नहीं कर सकते, तो मैं इन्हें 'चोखे' किस बल पर कह सकूँगा ।"

और चन्द्रशेखर को बिना इच्छा के रुपये लेकर घर जाना ही पड़ा ।

ऐसी थी महाकवि हरिऔध की उदारता, जिसके स्मरण-मात्र से मस्तक नत हो जाता है ।

मुस्लिम संत-कवि— ऐन-शाह

मुगलवंश के पतन का दौर आरम्भ हो चुका था । मुगलसाम्राज्य धीरे-धीरे सकुचित होता जा रहा था । उन्हीं दिनों की बात है । दिल्ली के विख्यात मुस्लिम-संत हजरतफिदाहुसेन के एक 'मुरीद' अपने गुरु से अरबी, फारसी भाषाएँ तथा मुस्लिम-दर्शन का शिक्षण प्राप्त कर चुके तो उन्हें भारतीय-धर्म व दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल जिज्ञासा

पन्न हुई । उन्होंने अपने गुरु से इस सम्बन्ध में आज्ञा ाही— "हजरत ! मैं भारतीय-धर्म व दर्शन के अध्ययन की च्छा रखता हूँ । क्या आप इसकी आज्ञा देंगे ।" "क्यों हीं बेटा । यह तो तुमने बड़ी अच्छी बात कही है । ज्ञानार्जन मनुष्य की स्वाभाविक भूख होती है । इसकी तृप्ति में मैं यो बाधक बनूँ ।"

हजरत फिदाहुसेन का यह ऐनशाह नामी शिष्य उसी दिन भारतीय-धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन, चिन्तन में प्रवृत्त हुआ तो ह विशुद्ध रूप से भारतीय ही बनकर रह गया । हिन्दू-धर्म संस्कृति का जो उदात्त-स्वरूप उन्होंने देखा वह अद्भुत व अपूर्व था । उन्हें यह धर्म व संस्कृति एकदेशीय नहीं सार्वभौमिक व चिरन्तन लगी । उन्होंने उसे पूरी तरह आत्म-सात कर लिया ।

ऐनशाह ऐसे पहले व्यक्ति नहीं थे जो भारतीय-धर्म व दर्शन से इस प्रकार प्रभावित हुए हों । रहीम, रसखान, जायसी तथा अन्य कई सूफी संतों पर भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति व अध्यात्म का गहरा प्रभाव पड़ा था ।

ऐनशाह इस परम्परा में प्रथम भले ही न रहे हों किन्तु अपने कर्तृत्व के बल पर वे उन सबसे अग्रणी ही ठहरते हैं जो भारतीय-धर्म, अध्यात्म से प्रभावित हुए थे । उन्होंने हिन्दू-धर्म, दर्शन व अध्यात्म को अपनी साहित्यिक-क्षमता से समन्वित कर तत्कालीन समाज को दिशा देने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया था ।

इस प्रकार साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर विश्व-मानव-परमात्मा की सेवा के लिए अपने जीवन को समर्पित करने वाले इस नर-रत्न की जन्म व मृत्यु की तिथियों के सम्बन्ध में अभी तक कोई पता नहीं चल सका है । उनका हिन्दी-काव्य भी मैले कुचले, फफूँद लगे ढाइ सौ वर्ष पुराने कागजों के रूप में किसी साहित्यान्वेषी के हाथ लगा जिससे उनका यह कर्तृत्व हमारे सम्मुख उजागर हो सका है । जाने ऐसे कितने ही नरपुङ्गवों का जीवन-वृत्त काल के गाल में छिपा पड़ा होगा जिन्होंने धार्मिक-सहिष्णुता व उदार-दृष्टिकोण का परिचय देते हुए यह सिद्ध किया है कि धर्म मनुष्य को संकीर्ण, धर्मांध व रक्त पिपासु नहीं, महान बनाता है ।

ऐनशाह ने कालान्तर मे अपने नाम के साथ शाह नहीं 'आनन्द' लगाना आरम्भ कर दिया था । अपने एक काव्य ग्रन्थ का नाम भी उन्होंने 'ऐनानन्द-सागर' रखा । यह नामकरण उनके भारतीय-धर्म व संस्कृति के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का ही परिचय देता है ।

उनके जीवन का अधिकांश भाग जन-जीवन में धार्मिक व सामाजिक चेतना जगाने वाला साहित्य रचने व घर-घर जाकर उसका प्रचार करने में ही व्यतीत हुआ । ग्वालियर के संतों में उनका प्रमुख स्थान माना गया है । वे दतिया, जयपुर, जोधपुर, अलवर आदि क्षेत्र में भ्रमण करके लोक-शिक्षण व जन-जागरण का महत्त्वपूर्ण दायित्व पूरा करते रहे ।

ऐनशाह ने जिस प्रकार उदारहृदय का परिचय देकर भारतीय-अध्यात्मवाद के अनुरूप अपने आपको ढाल लिया था, उसके अनुरूप ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया था । उसे देखते हुए भारतीय-जन-मानस ने भी उन्हें उसी उदारता व श्रद्धा के साथ अपने मार्गदर्शक मान लिए थे । उनकी ग्वालियर स्थित कुटिया पर हिन्दू व मुस्लिम श्रद्धालुजनों की भीड़ लगी रहती थी । राजा व रंक सबका इस साधु की कुटी पर समभाव से आदर होता था । तत्कालीन काशीनरेश चेतसिंह के सुपुत्र राजा बालचन्द्र उनके शिष्यों में से एक थे । वे जहाँ भी जाते मनुष्यों को सद्मार्ग पर चलने का उपदेश दिया करते थे ।

काल गणना के अनुसार वे हिन्दी-साहित्य के रीति-काल के अन्तर्गत आते हैं । इस काल की कविता को लोलुप कवियों ने रूप के हाट की वैश्या बना कोठे पर बिठा दिया था । वह मात्र नारी के माँसल सौन्दर्य, नायिका भेद व नख-शिख वर्णन की कुत्सित गलियों में भटककर रह गये थे । यह साहित्य जन-जीवन को पतन के गर्त में गिराने के अतिरिक्त कोई प्रयोजन पूरा नहीं करता था । कविता सामान्य जन से हटकर चन्द राजा-रईसों व उनके चाटुकार कवियों तक ही सीमित रह गई थी । कला रूपी ईश्वरीय-प्रसाद से सामान्य-जन वंचित ही रह गया था ।

कविता को इस कारा से मुक्त कर लोकोपयोगी, आदर्शोन्मुख काव्य की सुर-सरिता जन-जन के आँगन मे बहाने में उन्होंने भगीरथ की भूमिका निबाही थी । मनुष्य की पाशविक वृतियों का ही अंकन करने वाले रीतिकालीन शृंगारिक-काव्य के जन-मानव पर पड़ने वाले दूषित प्रभावों को रोकने के लिये सुरुचिपूर्ण व विचारोत्तेजक धार्मिक-साहित्य इतनी अधिक मात्रा में रचा कि वह उनका स्थानापन्न बन सके । आश्चर्य की बात यह है कि इतना अधिक साहित्य-सृजन करने पर भी उनकी कविता का स्तर उच्चकोटि का ही रहा ।

यों तो अभी उनके द्वारा रचित सम्पूर्ण-साहित्य प्रकाश में नहीं आया है । फिर भी जितना कुछ साहित्य उपलब्ध है उसी से यह अनुमान लगाना असहज नहीं होता कि वे शृंगारिक-साहित्य के विरुद्ध किस प्रकार मोर्चा सम्हाले हुए थे ।

उन्होंने सर्वप्रथम 'सिद्धान्त-सारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की । यह दतिया मे रचा गया था । इसमे उन्होंने धर्म के शाश्वत सिद्धान्तो का निरूपण कविता के रूप मे किया था ।

सम्वत् १८०० में उन्होंने जयपुर में 'श्री भगवद् प्रसाद' नामक काव्य-ग्रन्थ का समापन किया । इसमें ९ इंच x ७ इंच के छह सौ पृष्ठ हैं । इसमें इक्कीस अध्याय हैं । इनकी रचना 'कुण्डलियाँ' नामक छन्द में हुई है । प्रत्येक अध्याय में ५०० से अधिक कुण्डलियाँ हैं । इनमें वेद, पुराण, शास्त्र आदि के मूल उद्देश्य, भगवद्धर्म, सृष्टि रचना, अवतार कथा,

वह उन्हे निर्देशित कर रहा था कि यदि उन्हे अपनी गयी-गुजरी स्थिति से त्राण पाकर सम्मानित, सुखी और समाज के सक्रिय घटक के रूप मे जीवन-यापन करना है, तो उन्हें अपनी शैक्षणिक-योग्यता बढ़ानी ही चाहिए।

स्व. महेन्द्रजी से उन्हे अपने इस कार्य में सहयोग ही नहीं प्रोत्साहन भी मिला था। वे सबके लिये यही चाहते थे कि हर कोई प्रगति करे। पद्मसिंह जी की लगन को देखकर तो वे और भी प्रभावित हुए थे। इस प्रकार उनका अध्ययन क्रम चल पड़ा सो आयु की बाधा तोड़ कर डाक्टरेट-करने तक चलता ही रहा।

दिन भर घर-घर, द्वार-द्वार अखबार बाँटना, फेरी लगाना और अतिरिक्त समय में पढ़ना। हाईस्कूल मे प्रथम श्रेणी ही नहीं विशेष-योग्यता पाना उन जैसे ही अध्यवसायी विद्यार्थी का ही काम हो सकता है। कहाँ थे। उनके पास साधन, समय भी कहाँ मिलता था, पर जो कुछ करना चाहते हैं वे साधनो के अभावो का रोना नहीं रोते और न ही समय की कमी ही उन्हे महसूस होती है। पद्मसिंह जी ऐसे ही कर्मवीरो मे से थे।

बी. टी. सी. करने के बाद वे आगरा के म्युनिसिपल प्राइमरी स्कूल मे अध्यापक हो गये। अब उनके लिये एक कार्यक्षेत्र और खुल गया था, वह था राष्ट्रभाषा-हिन्दी की सेवा। अध्यापक के गुरुदायित्व को निभाने और अपनी शैक्षणिक-प्रगति के साथ-साथ उन्होने इस कार्य को भी अपने हाथ मे ले लिया।

कुछ ही समय बाद उन्होने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की 'साहित्य-रत्न' परीक्षा उत्तीर्ण की। इस परीक्षा मे भी उन्हे प्रथम श्रेणी के साथ विशेष सम्मान मिला था।

साहित्य-रत्न-परीक्षा मे ससम्मान उत्तीर्ण होने पर उन्हे राष्ट्रभाषा-प्रचारक-मण्डल, सूरत की ओर से वहाँ हिन्दी का अध्यापन कार्य करने के लिये आमत्रण मिला जिसे उन्होने स्वीकार कर लिया। कुछ वर्ष वहाँ पढ़ाने के बाद थोड़े समय के लिये वे बम्बई-विद्यापीठ मे शिक्षक भी रहे।

१९४२ मे वे पुनः अपने पुराने क्षेत्र मे, आगरा आ गये। बाहर रहते हुए उन्होने न केवल गुजराती सीख ली थी वरन् उसका गहन अध्यन भी कर लिया था। तदनन्तर उन्होंने पंजाब-विश्वविद्यालय से बी. ए. और आगरा विश्वविद्यालय से एम. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी।

इनकी इस अद्भुत सफलता से प्रसन्न होकर कॉलेज के अधिकारियों ने उन्हे हिन्दी-प्राध्यापक का कार्य सौपा। अध्ययन-काल मे उन्होंने आगरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से सचालित होने वाले 'हिन्दी-विद्यालय' के प्रधानाचार्य का पद भी सम्हाला था।

कहना न होगा कि वे एक स्व-निर्मित व्यक्ति थे। अपनी प्रतिभाओ और शैक्षणिक योग्यताओ की अभिवृद्धि के साथ ही उन्होने हिन्दी-साहित्य की भी बहुत सेवा की। निरन्तर स्वाध्याय करने और साहित्य-सृजन में तल्लीन रहते हुए भी उन्होने सन् १९५४ मे आगरा विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त कर ली।

अपनी अथक साधना व संघर्ष की वृत्ति के कारण उन्होने बहुत शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य मे उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर लिया। हिन्दी में 'इन्टरव्यू' लेखन की विधा का सर्वप्रथम श्रीगणेश श्री कमलेशजी ने ही किया। एक संवेदनशील कवि के रूप में भी उनका नाम विशेष महत्व रखता है। उनकी ऐसी काव्यकृतियो में 'तू युवक है' धरती पर उतरो तथा 'दूब के आँसू' आदि स्मरणीय हैं। समीक्षा के क्षेत्र में भी उनकी देय अनन्य कही जा सकती है। उन्होंने प्रेमचन्द्र, वृन्दावनलाल वर्मा और राधिका रमणप्रसाद सिंह की उपन्यास कला से सम्बन्धित उनकी समीक्षात्मक पुस्तके पाठक वर्ग द्वारा बहुत समादृत हुई हैं। 'गुजराती और उनका साहित्य' नामक पुस्तक गुजराती-भाषा के सम्बन्ध मे हिन्दी के पाठको को एक ओर जहाँ गुजराती-भाषा और साहित्य के विषय मे भरपूर जानकारी उपलब्ध कराती है वहीं उनके विशद गुजराती ज्ञान का परिचय भी देती है। उन्होने क. मा. मुंशी के गुजराती उपन्यासो का सुन्दर अनुवाद भी हिन्दी के पाठको के लिये उपलब्ध कराया है। निरालाजी के सम्बन्ध में लिखी उनकी दो पुस्तके भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

'कमलेश' जी का यह प्रयास भारतीय-भाषाओ के समन्वय स्थापना, पारस्परिक समझ उत्पन्न करने के लिये महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करता है। यो उनकी प्रतिभा को देखते हुए उनके लिये किसी मौलिक-साहित्य का सृजन करना कोई कठिन कार्य नहीं था। किन्तु उन्होने अपने नाम का मोह त्याग कर अनुवाद व आलोचना सम्बन्धी जो कार्य हाथ मे लिया वह उनकी राष्ट्रीयता की भावना का परिचायक है।

डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने अपने आप को जिस कठिन तप साधना के दौर से गुजरकर बनाया उसके संदर्भ मे उनके द्वारा किया गया कार्य और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। उन्होने अपने स्व को लोक-हित में विसर्जित करके हिन्दी-भाषा के प्रचार कार्य को हाथ में लिया और हजार कष्ट, अवरोध और संघर्ष का सामना करते हुए भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। सन् १९६२ से वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग मे रीडर थे। उन्हे वहाँ प्रोफेसर बनाया गया था।

५ जनवरी, १९७४ के दिन उनका देहावसान हो गया। यह हिन्दी-जगत की बहुत बड़ी हानि थी। उनके जीवन की यह कहानी एक कर्ममय-जीवन की कहानी है। कैसे कोई व्यक्ति अपनी निम्नतम आर्थिक स्थिति मे भी ऊपर उठकर स्वयं अपने सुदृढ़ चरणों पर खड़ा होता है और एक सम्मानजनक स्थिति को ही नहीं पाता देश व समाज को भी बहुत कुछ दे जाता है। डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' इस सच्चाई के सटीक उदाहरण हैं। उनके इस प्रगतिमय,

आत्म विद्या, ब्रह्म योग, वर्णाश्रम, सिद्धि योग, विज्ञान, तत्व, गुण, वृत्तियाँ, परम ज्ञान आदि गूढ़ विषयों का सरल ज्ञान प्रस्तुत किया गया है।

इसके बाद 'उपदेश-हुलास' नामक ग्रन्थ की रचना हुई। इसके कई पृष्ठ अप्राप्य हैं फिर भी यह पौने सात सौ पृष्ठों का है। इसमें प्रत्येक कुण्डली के बाद उसकी टीका भी की गयी है। इसका मुख्य विषय गीता के उपदेश हैं।

समाधान-ज्ञान, गीता-ज्ञान, अनुभव-ज्ञान, कार्य-कारण ज्ञान, अध्यात्म-ज्ञान, विद्या-निर्णय-ज्ञान, मीमांसा-ज्ञान, शास्त्र-ज्ञान आदि सैकड़ों आध्यात्मिक विषयों की तथ्यपूर्ण विवेचना उनके 'स्वयं प्रकाश' नामक काव्य ग्रन्थ में की गयी है। यह पौने छः सौ पृष्ठों का है। इसमें २१५० चौपाई, १४० दोहे तथा १४० सोरठे हैं।

ईश्वर-महिमा व विनय विषयक भक्ति-योग का 'सिद्धान्त सार' नामक ग्रन्थ भी उन्होंने रचा था जिसके लगभग ५० पृष्ठ ही प्राप्त हो सके हैं। यह उच्चकोटि की भक्ति भावनाओं का काव्य-संग्रह है यह इन प्राप्त पृष्ठों से ही ज्ञात हो जाता है। 'श्री ऐनानन्द सागर' नामक-ग्रन्थ के भी अभी थोड़े से पृष्ठ ही प्राप्त हैं। इस सम्बन्ध में अभी शोध जारी है। अनुमान किया जाता है कि उन्होंने तीन-चार और वृहद-काव्य-ग्रन्थों की रचना की है।

इन सभी ग्रन्थों की भाषा-हिन्दी है। अरबी व फारसी के प्रकाण्ड पण्डित की हिन्दी में काव्य-रचना करना और वह भी उच्चकोटि की, वस्तुतः, यह उनकी श्रम निष्ठा व लोक हितकारी दृष्टिकोण का ही परिणाम था। उन्होंने संस्कृत व हिन्दी सीखी थी। उनमें अच्छा अधिकार भी पाया था।

अपनी आध्यात्मिक-रचनाओं के कारण वे भक्ति-कालीन-कवियों से भी अधिक गहरे उतरे थे। भक्ति-कालीन-कवि जहाँ सगुणोपासना व राधा कृष्ण के आलौकिकप्रेम तक ही सीमित रहे वहीं उन्होंने क्रान्तिकारी कदम उठाये। वे मनुष्य के जीवन को अध्यात्म से समन्वित कर देवोपमजीवन जीने की प्रबल प्रेरणाओं से युक्त साहित्य भी प्रदान करते रहे।

रीतिकाल में ख्याति प्राप्त कवियों के काव्यों से भी उनकी कविता ऊँची ही बैठती है। कहने का अर्थ यह कि वे समय के प्रवाह के साथ बहने वाले निर्जीव काष्ठ मात्र नहीं थे वरन उन्होंने धारा से विपरीत दिशा में भी चल सकने की मछली जैसी सामर्थ्य स्वयं में उत्पन्न की थी।

ऐनशाह भारतीय-धर्म-शास्त्रों व अध्यात्म के पंडित थे। उन्होंने कथाओं व प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा बौद्धिक व व्यावहारिक स्तर पर प्रत्येक विषय को उठाया था। उसके पीछे न उनके अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन का भाव था, न काव्य का चमत्कार दिखाने का लक्ष्य ही। वे तो जनसामान्य को धर्म से विमुख जाते देख, शृंगार का हलाहल पीते देखकर उसे धर्म व अध्यात्म का अमृत पिलाने के लिए एक सामान्य जन की भाँति आगे आ खड़े हुए थे। आश्चर्य का विषय है कि यह लोक-शिक्षण का कार्य भिन्न मतावलम्बी द्वा हुआ।

उनके साहित्य को उस युग की प्रसुप्त चेतना को जगा वाला सचेतक कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उन्हों उपासना-पद्धतियों, भक्ति व ज्ञान के भ्रमजाल में जनता क नहीं भटकाया वरन वे शुद्ध भावना, शुभकर्म व सद्व्यवहा सत्-चिन्तन से समन्वित किसी भी उपासना-पद्धति व मार्ग क हितकर मानते थे।

ऐसे युग में जहाँ सामंतवाद का बोलबाला च 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला कानून चल रहा था। ज महात्मा, त्यागी, विरागी जन-जीवन से पलायन करने की प्रवृ अपना रहे थे। कवि व कलाकार राजाओं, रईसों व साम की कुत्सित भावनाओं के परिपोषण में ही जमीन आसमा एक करते थे। प्रजा उपेक्षित आरक्षित व दिशाहीन हो र थी। ऐसे समय में उनके व्यक्तित्व व कर्तृत्व का नियोज जिस प्रकार हुआ था वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रस्तु युग-चेतना को जगाने का उनका यह प्रयास सराहनीय व अनुकरणीय है।

प्रगति और संघर्ष के पथगामी

डॉ. कमलेश

डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' मथुरा जनपद के 'बड़ का नगला' नाम के एक छोटे गाँव में अति-निर्धन परिवार में सन् १९१५ में जन्मे। इस बालक, के पिता उसके जन्म लेने के एक वर्ष बाद ही उसको सदा के लिये निराश्रित कर गये थे।

ऐसे बालक का भविष्य किसी दूसरे के हाथ नहीं अपने स्वयं के हाथों सँवरा था। पिता की मृत्यु हो जाने पर उनकी माता ने दूसरों के लिये चक्की पीसकर और इधर-उधर मजदूरी करके उनका पालन-पोषण किया। खेत काटने, सिला बीनने और दूसरे परिवारों में रसोई का काम करने जैसे कामों के सिलसिले में उनकी विधवा माँ आगरा चली गयी थी।

पद्मसिंह जी जिस आर्थिक स्थिति के कर्ता-विहीन परिवार में पल रहे थे वहाँ पढ़ाई-लिखाई का सिलसिला जमता भी तो कैसे? उन्हें माँ कामों में हाथ बँटाना पड़ता था। सत्रहवें की आयु में उन्होंने वहाँ के साहित्य-रत्न-भण्डार में आठ रुपये मासिक पर नौकरी की। तब तक इधर-उधर से, अपने समवयस्क साथियों से जिज्ञासु पद्मसिंह ने थोड़ा अक्षरज्ञान प्राप्त कर लिया था।

'साहित्य-रत्न-भण्डार' के संचालक थे, स्व. महेन्द्रजी। जो नररत्नों के कुशल जौहरी थे तथा उन्होंने हिन्दी जगत को कई रत्न दिये थे। शर्मा जी को काम मिला था अखबार बेचने का। अखबार बेचने के साथ ही साथ उन्होंने समय निकाल कर अपना शिक्षा-क्रम भी जारी रखा। क्योंकि अब तक की ठोकरें खाकर उन्होंने जो अनुभव अर्जित किया था

वह उन्हे निर्देशित कर रहा था कि यदि उन्हें अपनी गयी-गुजरी स्थिति से त्राण पाकर सम्मानित, सुखी और समाज के सक्रिय घटक के रूप में जीवन-यापन करना है, तो उन्हें अपनी शैक्षणिक-योग्यता बढ़ानी ही चाहिए।

स्व. महेन्द्रजी से उन्हें अपने इस कार्य में सहयोग ही नहीं प्रोत्साहन भी मिला था। वे सबके लिये यही चाहते थे कि हर कोई प्रगति करे। पद्मसिंह जी की लगन को देखकर तो वे और भी प्रभावित हुए थे। इस प्रकार उनका अध्ययन क्रम चल पड़ा सो आयु की बाधा तोड़ कर डाक्टरेट-करने तक चलता ही रहा।

दिन भर घर-घर, द्वार-द्वार अखबार बाँटना, फेरी लगाना और अतिरिक्त समय में पढ़ना। हाईस्कूल में प्रथम श्रेणी ही नहीं विशेष-योग्यता पाना उन जैसे ही अध्यवसायी विद्यार्थी का ही काम हो सकता है। कहाँ थे। उनके पास साधन, समय भी कहाँ मिलता था, पर जो कुछ करना चाहते हैं वे साधनों के अभावों का रोना नहीं रोते और न ही समय की कमी ही उन्हे महसूस होती है। पद्मसिंह जी ऐसे ही कर्मवीरों मे से थे।

बी. टी. सी. करने के बाद वे आगरा के म्युनिसिपल प्राइमरी स्कूल में अध्यापक हो गये। अब उनके लिये एक कार्यक्षेत्र और खुल गया था, वह था राष्ट्रभाषा-हिन्दी की सेवा। अध्यापक के गुरुदायित्व को निभाने और अपनी शैक्षणिक-प्रगति के साथ-साथ उन्होंने इस कार्य को भी अपने हाथ में ले लिया।

कुछ ही समय बाद उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की 'साहित्य-रत्न' परीक्षा उत्तीर्ण की। इस परीक्षा में भी उन्हें प्रथम श्रेणी के साथ विशेष सम्मान मिला था।

साहित्य-रत्न-परीक्षा में ससम्मान उत्तीर्ण होने पर उन्हें राष्ट्रभाषा-प्रचारक-मण्डल, सूरत की ओर से वहाँ हिन्दी का अध्यापन कार्य करने के लिये आमंत्रण मिला जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। कुछ वर्ष वहाँ पढ़ाने के बाद थोड़े समय के लिये वे बम्बई-विद्यापीठ में शिक्षक भी रहे।

१९४२ में वे पुन: अपने पुराने क्षेत्र मे, आगरा आ गये। बाहर रहते हुए उन्होंने न केवल गुजराती सीख ली थी वरन् उसका गहन अध्यन भी कर लिया था। तदनन्तर उन्होंने पंजाब-विश्वविद्यालय से बी. ए. और आगरा विश्वविद्यालय से एम. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थी।

इनकी इस अद्भुत सफलता से प्रसन्न होकर कॉलेज के अधिकारियो ने उन्हें हिन्दी-प्राध्यापक का कार्य सौंपा। अध्ययन-काल मे उन्होंने आगरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से संचालित होने वाले 'हिन्दी-विद्यालय' के प्रधानाचार्य का पद भी सम्हाला था।

कहना न होगा कि वे एक स्व-निर्मित व्यक्ति थे। अपनी प्रतिभाओं और शैक्षणिक *योग्यताओं की अभिवृद्धि* के साथ ही उन्होंने हिन्दी-साहित्य की भी बहुत सेवा की। निरन्तर स्वाध्याय करने और साहित्य-सृजन में तल्लीन रहते हुए भी उन्होने सन् १९५४ में आगरा विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त कर ली।

अपनी अथक साधना व संघर्ष की वृत्ति के कारण उन्होंने बहुत शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य में उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर लिया। हिन्दी में 'इन्टरव्यू' लेखन की विधा का सर्वप्रथम श्रीगणेश श्री कमलेशजी ने ही किया। एक संवेदनशील कवि के रूप मे भी उनका नाम विशेष महत्व रखता है। उनकी ऐसी काव्यकृतियों में 'तू युवक है' धरती पर उतरो तथा 'दूब के आँसू' आदि स्मरणीय हैं। समीक्षा के क्षेत्र में भी उनकी देय अनन्य कही जा सकती है। उन्होने प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा और राधिका रमणप्रसाद सिंह की उपन्यास कला से सम्बन्धित उनकी समीक्षात्मक पुस्तके पाठक वर्ग द्वारा बहुत समादृत हुई है। 'गुजराती और उनका साहित्य' नामक पुस्तक गुजराती-भाषा के सम्बन्ध मे हिन्दी के पाठकों को एक ओर जहाँ गुजराती-भाषा और साहित्य के विषय में भरपूर जानकारी उपलब्ध कराती है वहीं उनके विशद गुजराती ज्ञान का परिचय भी देती है। उन्होने क. मा. मुंशी के गुजराती उपन्यासो का सुन्दर अनुवाद भी हिन्दी के पाठकों के लिये उपलब्ध कराया है। निरालाजी के सम्बन्ध में लिखी उनकी दो पुस्तके भी प्रकाशित हो चुकी है।

'कमलेश' जी का यह प्रयास भारतीय-भाषाओ के समन्वय स्थापना, पारस्परिक समझ उत्पन्न करने के लिये महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करता है। यों उनकी प्रतिभा को देखते हुए उनके लिये किसी मौलिक-साहित्य का सृजन करना कोई कठिन कार्य नहीं था। किन्तु उन्होंने अपने नाम का मोह त्याग कर अनुवाद व आलोचना सम्बन्धी जो कार्य हाथ में लिया वह उनकी राष्ट्रीयता की भावना का परिचायक है।

डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने अपने आप को जिस कठिन तप साधना के दौर से गुजरकर बनाया उसके संदर्भ में उनके द्वारा किया गया कार्य और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। उन्होंने अपने स्व को लोक-हित मे विसर्जित करके हिन्दी-भाषा के प्रचार कार्य को हाथ मे लिया और हजार कष्ट, अवरोध और संघर्ष का सामना करते हुए भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए। सन् १९६२ से वे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग मे रीडर थे। उन्हे वहाँ प्रोफेसर बनाया गया था।

५ जनवरी, १९७४ के दिन उनका देहावसान हो गया। यह हिन्दी-जगत की बहुत बड़ी हानि थी। उनके जीवन की यह कहानी एक कर्ममय-जीवन की कहानी है। कैसे कोई व्यक्ति अपनी निम्नतम आर्थिक स्थिति में भी ऊपर उठकर स्वयं अपने सुदृढ़ चरणों पर खड़ा होता है और एक सम्मानजनक स्थिति को ही नहीं पाता देश व समाज को भी *बहुत कुछ दे जाता है। डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'* इस सच्चाई के सटीक उदाहरण हैं। उनके इस प्रगतिमय,

सृजनशील और संघर्षशील-जीवन से हमारा युवक वर्ग बहुत कुछ सीख ले सकता है।

अनावश्यक वस्तुओं का क्या करूँ
कुंभनदास

वल्लभाचार्य के समय में अनेक वैष्णव-भक्त हुए पर उनमे कुंभनदास का नाम आज भी बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। यद्यपि वह परिवार में रहते थे पर परिवार उनमें न रहता था। कृषि-कार्य करने के बाद भी वह इतना समय बचा लेते थे कि जिसमे भक्ति के अनेक सुन्दर-सुन्दर गीतों की रचना कर सके।

जब वह अपने भक्ति रस से परिपूर्ण गीतो को मधुर कण्ठ से गाते थे तो राह चलते लोग खड़े होकर सुनने लगते थे। भगवान के भक्त निर्धनता को वरदान समझते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि अभाव का जीवन जीने वाले भक्तो को ईश्वर की याद सदैव आती रहती है।

हाँ ! कुंभनदास भी भौतिक-सम्पदाओ से वंचित थे। वह इतने निर्धन थे कि "मुख देखने के लिए एक दर्पण तक न खरीद सकते थे।" स्नान के बाद जब कभी चन्दन लगाने की आवश्यकता होती तो किसी पात्र मे जल भरकर अपना चेहरा देखते थे।

जल से भरे पात्र को सामने रखे कुंभनदास तिलक लगा रहे थे कि तब तक महाराजा मानसिंह उनके दर्शन हेतु पधार गये। महाराजा ने आकर अभिवादन में 'जय श्री कृष्ण' कहा—उत्तर मे भक्त ने भी उन्हे पास बैठने का संकेत देते हुए 'जय श्रीकृष्ण' कहा। पर जल्दी मे उस पात्र का जल फैल गया। अतः कुंभनदास ने अपनी पुत्री से पुनः जल भरकर लाने को कहा। राजा को वस्तुस्थिति समझते देर न लगी। उन्हे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि भगवान का भक्त एक छोटी-सी वस्तु दर्पण के अभाव में कैसा कष्ट उठा रहा है। राजा मानसिंह ने अपने महल मे एक सेवक भेजकर स्वर्ण जटित दर्पण मँगवाया और भक्त के चरणो मे अर्पित कर क्षमा माँगी।

कुंभनदास बोले—'राजन्'! हम जैसे निर्धन व्यक्ति के घर मे इतनी मूल्यवान वस्तु क्या शोभा दे सकती है ?

यह तुच्छ भेट तो आपको स्वीकार ही करनी पड़ेगी। आपको जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उनकी सूची दे दीजिये। घर जाकर मैं आपकी सुख-सुविधा का पूर्ण ध्यान रखकर समस्त वस्तुओं की व्यवस्था करवा दूँगा।" राजा मानसिंह ने आग्रह के स्वर मे अपनी बात कही।

राजन् ! आप निश्चिंत रहिये और अपनी जनता के प्रति उदार तथा कर्त्तव्य की भावना बनाये रखिये। मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं। भगवान की कृपा से सब प्रकार के आनन्द है। आप देखते नहीं भगवान का नाम स्मरण करने हेतु माला, आचमन और पूजन के लिए पंचपात्र, बैठने के लिए आसन आदि सभी उपयोगी वस्तुएँ तो है। कृपया आप यह दर्पण वापिस ले जाइये। जिस दिन भक्त भी इस प्रकार का भोग विलासमय जीवन व्यतीत करने लगेंगे उस दिन उनकी भक्ति समाप्त हो जायेगी।

मलयालम के क्रान्ति दूत—
कुमारन आशान

परम्पराएँ जब रूढ़ियाँ बन जाती है तो उन्हे तोड़ना ही पड़ता है। समय-समय पर ऐसे क्रान्तिकारी इस धरती की उर्वर-कोख से जन्म लेते हैं और उन रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। मलयालम के महाकवि एन. कुमारन आशान का नाम भी ऐसे ही क्रान्ति दूतो में गिना जाता है।

संस्कृत-कवियो की परम्परा के अनुसार कोई अठारह सर्गों का महाकाव्य रचने के बाद ही कवि कहलाने का अधिकारी होता है किन्तु उन्होंने बिना एक भी महाकाव्य रचे मलयालम के महाकवि होने का सौभाग्य पाया। जो प्रेरणाएँ एक महाकाव्य में भरी जा सकती थीं वे ही उन्होंने अपने ४१ छन्दों के 'वीण पुवु' (पतित कुसुम) काव्य में भरकर दिखा दी थी। अपने औपनिषदिक दर्शन सौन्दर्य तथा मानववाद की मोहक श्रीसुषमा के कारण उनका यह काव्य मलयालम साहित्य मे अमर हो गया था।

महाकवि एन. कुमारन आशान का जन्म १२ अप्रैल, १८७३ के दिन केरल के एक सम्पन्न, कुलीन परिवार में हुआ। बैगलोर तथा कलकत्ता के विद्यालयो मे अपनी शिक्षा पूरी करके वे समाज सेवा के क्षेत्र मे काम करने लगे। चाहते तो वे कोई उच्च सरकारी पद पा सकते थे क्योंकि उन दिनों पढ़े-लिखे लोगों की कमी थी। किन्तु उन्होंने अपने समाज को ऊपर उठाने के लिये ही अपना जीवन नियोजित किया था।

समाज-सेवा के दौरान उन्होंने यह देखा कि भारतीय समाज मे महिलाएँ व अछूत ये दो वर्ग ऐसे हैं जिन्हे समानता के अधिकार प्राप्त नही है। पचास प्रतिशत महिलाएँ व तीस प्रतिशत अछूतो को निकाल दिया जाय तो समाज मे रह ही क्या जाएगा। अतः इनको समानता का अधिकार दिलाने के लिये कुछ करना चाहिए।

वे जानते थे कि साहित्य की शक्ति अपरिमित होती है। साहित्य जन-जन के पास जाकर उनके मन-मन्दिर के द्वार खटखटाने मे जितना सक्षम व स्थायी साधन हो सकता है उतना कोई दूसरा साधन नहीं।

उनमे स्वयं में भी काव्य व साहित्य-सृजन की क्षमताएं थीं किन्तु अब तक वे कि कहीं ये मेरी आत्मप्रशंसा के हेतु बनकर मुझे ही पतित न कर दे इस विचार से प्रयोग मे नहीं ला रहे थे किन्तु अब उन्होंने उन क्षमताओं का जन-हित में प्रयोग करने का निश्चय कर लिया।

३५ वर्ष की आयु में उन्होंने साहित्य-साधना आरम्भ की। यों उन्होंने मानव के महान-लक्ष्य को बताने वाले अन्य

काव्य-संग्रह भी रचे किन्तु उनके दो काव्य बहुत ही प्रभावशाली हुये । उनमें एक तो है *'विचार मग्न सीता'* तथा दूसरा 'चाण्डाल भिक्षुकि' ।

'विचार मग्न सीता' की नायिका सीता रामचरित मानस, बाल्मीकि रामायण तथा भवभूति के महाकाव्य की सीता से कुछ अर्थों मे भिन्न है । आशानजी के काव्य की सीता स्वतन्त्रता के अधिकारो के लिये संघर्ष करने वाली और परम्पराओं को तोड़ने वाली सीता है । राम द्वारा वनवास दिये जाने पर वह विद्रोह करना चाहती है । राम को मर्यादा पुरुषोत्तम मानते हुए भी वह एक आदर्श पति मानने को तैयारी नहीं ।

'चाण्डाल भिक्षुकी' मे उन्होने एक कथा द्वारा यह बताया है कि मानवीय सम्बन्ध सर्वोच्च संबंध है । जाति-पाँति के भेद मनुष्य के बनाए हुये हैं । उन्हे तोड़ा जा सकता है । अपने इस काव्य में उन्होंने विप्लव के समय माता-पिता द्वारा अरक्षित छोड़ी गयी ब्राह्मण कन्या सावित्री का हरिजन युवक चातन से विवाह कराया है जिसने अपने का मोह त्याग कर निस्वार्थ-भाव से उसकी सेवा की थी ।

इन काव्य की व्यापक प्रतिक्रिया केरल में हुई । १९३९ मे वहाँ के मन्दिरो के द्वार हरिजनो के लिए खोल दिये गये । महात्मा जी के अछूतोद्धार आन्दोलन की पृष्ठभूमि का काम भी इस प्रतिक्रिया ने किया । ५१ वर्ष की आयु मे उनका देहान्त हो गया । अपने सौद्देश्य काव्य-सृजन के कारण वे अविस्मरणीय बन गये हैं ।

समाजसेवी और राष्ट्रसेवी महाकवि—
झवेरचन्द मेघाणी

सौराष्ट्र-प्रदेश के *अमर-कवि* झवेरचन्द-मेघाणी का दरवाजा जब पुलिस वालो ने खटखटाया तो मेघाणी जी सहित उनके परिजन और पास-पड़ोसी भी दंग रह गये । जीवन में जिसे कभी किसी का अनिष्ट करते नही देखा उसे किस अपराध मे पुलिस वाले तंग करने आ पहुँचे है, यह किसी की समझ में ही नहीं आ रहा था । स्वागत की मुद्रा मे मेघाणी जी ने पुलिस अधिकारियो के हाथ जोड़े और अन्दर आने दिया । फिर पूछा—"मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ।"

इतनी शिष्टता देखकर अभद्रता बरतने मे मशहूर उस समय के पुलिस अधिकारियो को भी सभ्य लहजे मे ही बातचीत करना पड़ा । कहा—"दरअसल बात यह है कि हम आपकी गिरफ्तारी का वारट लेकर आये हैं और आप इस समय स्वयं को हमारी हिरासत मे समझे ।"

"परन्तु मेरा—अपराध ।"

"अपराध क्या है ? यह हम नही जानते लेकिन हमे जो आदेश मिला है उसे ही पूरा करना है"— और पुलिस वाले उन्हे गिरफ्तार कर पुलिस स्टेशन ले गये । उन पर अभियोग था कि मेघाणी महात्मा गाँधी के चेले हैं और उन्होंने एक जनसभा मे उत्तेजनात्मकभाषण देते हुए कहा था कि—"मैं गान्धी जी का यह सन्देश लेकर आया हूँ कि हमे अँग्रेज-सरकार के कान पकड़ कर उनका खून पीना है ।"

इस आरोप मे कोई दम नहीं [redacted] । जिस दिन भाषण दिया गया बताया था—२५ अप्रैल, १९३० को, उस समय मेघाणी जी सभा मे उपस्थित होना तो दूर रहा उस गाँव से भी मीलो दूर थे और उस समय अपने घर रणपुर मे सो रहे थे । पास-पड़ोसियों ने भी इस बात की पुष्टि कर दी । लेकिन पुलिस को इन सबसे क्या लेना-देना, मामला अदालत मे पहुँचा वहाँ भी मेघाणी जी ने प्रतिवाद किया । यहाँ तक कि महात्मा गाँधी ने भी लॉर्ड इरविन को पत्र लिखकर यह सूचित किया कि मेघाणी से उनका कोई सम्बन्ध नही है परन्तु किसी के कान पर जूँ तक नही रेंगी ।

दरअसल बात यह हुई थी कि उक्त वक्तव्य देने वाला एक अलग ही व्यक्ति था जिसका नाम था जोघाणी और उसने ही वरवाला मे यह बात कही थी । जासूसो ने ये अंश उच्चाधिकारियो तक पहुँचा दिये और उन लोगो ने अपने मातहतों से जोघाणी को गिरफ्तार करने के लिए आदेश दे दिया । लेकिन नाम पढ़ा गया मेघाणी और इसी कारण वे गिरफ्तार भी कर लिये । अधिकारियो के सामने यह तथ्य आ चुके थे । परन्तु देर हो गयी और उस समय अपनी भूल को स्वीकार करना प्रतिष्ठा का प्रश्न था । मामला अदालत मे चला और न्यायाधीश ने निर्णय दिया तथा उन्हे सजा हुई ।

बात यह नही थी कि मेघाणी जी का स्वतन्त्रता आन्दोलन से कोई सम्बन्ध न रहा हो । वे अपने समय के प्रख्यात स्वातन्त्र-प्रेमी और जन-चेतना जाग्रत करने मे लगे हुए जन-कवि थे । परोक्षरूप से वे जनता को स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने के लिये काम कर रहे थे और अधिकारियो की उन पर दृष्टि भी थी । परन्तु मेघाणी जिस प्रकार अपने को बचाकर इस काम मे लगे थे—उसे देखते हुए कोई कारण तो चाहिए था जिसके आधार पर उन पर हाथ डाला जा सके । स्वयं मेघाणी को भी यह आशा नहीं थी कि वे इस प्रकार झूठे अभियोग मे फँसा लिये जायेंगे और न ही पुलिस अधिकारी ऐसा सोचते थे कि मेघाणी को इतनी आसानी से गिरफ्त मे लिया जा सकेगा । लेकिन इसे संयोग ही कहना चाहिए कि अधिकारियो को गलतफहमी से यह बहाना मिल गया और इस गलतफहमी को ही उन्होंने अपना प्रतिष्ठा प्रश्न बनाकर उन्हें जेल मे ठूँस दिया ।

मेघाणी को इस घटनाक्रम से बड़ा धक्का लगा—"मुझ जैसे विख्यात और प्रतिष्ठित व्यक्ति को जब इस प्रकार झूठे अभियोग में तंग किया जा सकता है तो जन-साधारण इस अन्धी-शासन-व्यवस्था से कितनी त्रस्त होगी ।" अँग्रेजी-शासन-व्यवस्था की अन्धेरगर्दी उन पर खुलकर प्रकट और अनुभव मे आ चुकी थी और आक्रोश भी भड़क उठा । यही कारण है कि उसी वर्ष जेल से छूटने

के बाद गुजराती जनता उनके सिन्धु गीत की ये पंक्तियाँ गा गाकर सत्याग्रह आन्दोलन में कूदने लगी ।

नथी जाव्यु अझारे पन्थ शी आफत पड़ी छे ।
खबर छी एट्ली के मातनी हाकल पड़ी छे ॥

—हमारा रास्ता क्या है यह नहीं मालूम और क्या मुश्किल आ गयी है यह भी नही पता लेकिन मैं केवल इतना जानता हूँ कि भारत-माता की पुकार सुनाई दे रही है ।

इस कविता के बाद उनकी एक और कविता बड़ी लोकप्रिय हुई जिसका शीर्षक था—कोई का लाड़ला (कोईनों लाड़क वायो) यह कविता श्रीमती लाकोस्ट की एक रचना पर आधारित है । जिसमे कवियत्री ने एक कथाक्रम का सहारा लिया है । मेघाणी ने उसे भाव देकर जीवन्त बनाया था । स्वतन्त्रता के लिए कोई देशभक्त युद्धभूमि मे विदेशी गुर्गों से लड़ने जाता है और आत्माहुति दे देता है । कवि, देश की माँ बहिनो को आह्वान करता है कि वे शहीद की लाश को अपने प्रेमाश्रुओ से सींचित कर उसे गौरवान्वित करे । इस गीत को उन्होने स्वयं ने हजारो नागरिको के बीच पढ़ा । अभिनय, मुद्रा और सुरताल के साथ जब वे इस गीत को पढ़ते थे तो श्रोताओ के आँसू बहने लगते और स्वयं उनका भी गला रुँध जाता ।

उनकी वाणी गुजरात के घर-घर मे आज भी गूँजती है और जन-जन के मन-मस्तिष्क पर राज्य करने वाला वह कवि जीवन भर इसी प्रकार जनमानस मे अंगार भरता रहा । उनका जन्म १८९६ ई. मे सौराष्ट्र के चोटीला गाँव मे हुआ था । उनके पिता साधारण हवलदार थे । वेतन मिलता था कुल पन्द्रह रुपये और घर मे दस सदस्यो का परिवार, रहने को कुल दो कमरे । सोने-बैठने की भी समस्या । ऐसी स्थिति में मेघाणी का पालन-पोषण और विकास हुआ जो इस सिद्धान्त के अपवाद ही कहे जाना चाहिए कि विभूतिवान् निश्चित रूप से प्रतिभासम्पन्न ही होते है । अपवाद नहीं वे पुरुषार्थ और परिश्रम और लगन से प्रतिभा विकास के मन्त्र द्रष्टा थे और इसी मन्त्र को सिद्ध कर दुनिया मे कितने ही व्यक्ति उक्त मान्यता को झुठला चुके है ।

चूँकि घर मे उठने-बैठने की भी समस्या थी इसलिए झवेरचन्द घर से बाहर अपने साथियो के बीच रहा करते । धीरे-धीरे प्रकृति ने अपनी नैसर्गिक सुषमा द्वारा उन्हे अपनी ओर आकृष्ट किया तथा गोद मे खिलाना भी आरम्भ किया । चोटीला-एक पर्वतीय स्थली है । वैसे भी उसका शाब्दिक अर्थ—पहाड़ की चोटी पर बसा गाँव है । चोटीला का समीपवर्ती क्षेत्र कल-कल करती नदी, झरनो, पहाड़ की आकाश छूती चोटियो और रम्य उपवनो से नन्दन वन की तरह बसा है और ऐसे वातावरण मे झवेरचन्द का सम्वेदनशील, कोमलमन खूब लगने लगा ।

परिवार का निर्वाह कैसे भी चलता हो फिर भी माता-पिता उनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में उदासीन नहीं थे । सन् १९१६ में उन्होंने मैट्रिक और बाद में जैसे-तैसे बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की की । बी.ए. कर वे भावनगर के सनातन धर्म स्कूल में शिक्षक हुए । इन्हीं दिनों समय चक्र ने कुछ ऐसी करवट बदली कि उन्हे कलकत्ता जाकर एक अल्युमिनयम कारखाने में नौकरी करनी पड़ी । हालाकि उन्हें यहाँ अपनी प्रतिभा और क्षमताओं का विकास करने का अच्छा अवसर मिला । बंगला-भाषा सिखाने के साथ-साथ उन्होने बंगला-भाषा के साहित्य का अध्ययन भी किया । प्रकृति के दीर्घ सान्निध्य और सामीप्य ने उन्हे साहित्य-रसिक तो बना ही दिया था । बंगला मे गुरुदेव-रवीन्द्रनाथ-टैगोर के साहित्य ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया और साहित्य-सृजन की प्रेरणा भी उन्हीं से मिली । इस क्षेत्र मे अनुवादक के रूप मे उन्होने प्रथम पदार्पण किया था । टैगोर के 'कथाओ' नामक कथा संकलन का कुरबानी की कथाओ के नाम से अनुवाद कर उन्होने गुजराती भाषियो को भी टैगोर के साहित्य-अमृत के रसास्वाद का अवसर दिया ।

चूँकि प्रकृति-माता की गोद मे वे लम्बे समय तक खेले थे इसलिए स्वाभाविक ही है कि मातृ-वत्सलता की मीठी स्मृतियाँ स्फुरणाएँ बन जायें । और वे जगीं तो मेघाणी के कण्ठ से कविता बनकर फूट पड़ी । कलकत्ता में वे अधिक समय तक स्थायी रूप से नही रह सके । साहित्य-साधना को निखार और प्रखर बनाकर वे कलकत्ता छोड़कर चले आये । यद्यपि उनका परिचय रवीन्द्रनाथटैगोर और उच्च शीर्षस्थ-साहित्यकारो से लेकर विख्यात राजनेताओ और सरोजिनीनायडू जैसी विदुषी महिलाओं तक से था और वे सब उनके गीतो को लयभाव से सुनते थे । यहाँ तक कि एक बार तो टैगोर ने मेघाणी जी से आधा घण्टा समय देने के लिये निवेदन किया और श्रीमती सरोजिनी नायडू के आग्रह पर उस समय को बढ़ाकर दो घंटा कर देना पड़ा था ।

मेघाणी जी ने सरस, प्रेमपूर्ण और बाल-गीतो का संग्रह, संकलन और सर्जन तो किया परन्तु समय की माँग को भी समझा और उसे भी अनुपेक्षणीय माना था । एक ओर जहाँ उनकी सौराष्ट्री रसधार, चून्दड़ी, दूध सी भरी आदि रचनाएँ रचीं वहीं शिवाजीनु हालरडु हुँ. आव्योछा वहार वटु, शीखाववा (मैं डकैती सिखाने आया हूँ) माणसाइना द्रीवा (मानवता के दीप) आदि रचनाएँ जिनमे राष्ट्रीयता और नवसृजन के स्वर मुखरित हुए है भी बड़ी लोकप्रिय हुई हैं । 'मैं डकैती सिखाने आया हूँ' मे अँग्रेज सरकार के कुटिल इरादो और शोषण चक्रो का पर्दाफाश कर जन साधारण को स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने का आह्वान है । एक स्थान पर कहा गया है—"मैं यह कहने आया हूँ कि गान्धी जी ने अँग्रेज सरकार के विरुद्ध जो विद्रोह शुरू किया है उसका मूल कारण यह है कि हम उसकी वजह से दुःखी है । सच्ची डकैती तो उन पर डाली जानी चाहिए ।" यह रचना उस वर्ग को दृष्टि मे रखते हुए लिखी गयी जो बटमार और राहजनी करने वाली जातियों के रूप में सौराष्ट्र और गुजरात में कुख्यात थी । उन्हें ही सम्बोधित कर आगे कहा गया कि—तुम्हारी छोटी-मोटी डकैतियों से कुछ नहीं होना जाना ।

यदि डकैती डालनी हो तो चलो मैं ले चलता हूँ बारडोली वहाँ अँग्रेज सरकार बारडोली पर गोलियाँ बरसायेगी । तुम्हें डकैती ही डालनी है तो चलो गाँधी के पास । जिससे लोगो का भला हो ।

मानवता के दीप में उन्होंने रविशंकर महाराज के प्रेरक संस्मरणो का संकलन किया है । स्मरणीय है कि महाराज श्री रविशंकर ने सौराष्ट्र और गुजरात की जरायम पेशा तथा पिछड़ी जातियो के उत्थान हेतु काफी श्रम किया था । उनसे सम्बन्धित संस्मरणो को ही कवि ने अपनी लेखनी से कागज पर उतारा है । यह कृति पुरस्कृत भी हुई । इनके अतिरिक्त उन्होंने सरकारी-शासन व्यवस्था पर तीव्र आघात करने वाली रचनाएँ भी लिखी हैं ।

साहित्य-साधना के साथ-साथ उन्हे पुरातत्व-विज्ञान से भी गहन रुचि थी । इस विज्ञान का उन्होंने गम्भीरता से अध्ययन किया था तथा पत्रकारिता मे भी काफी उन्नत हुए । फूल छाप, सौराष्ट्र और जन्म-भूमि आदि समाचार पत्रों के सम्पादकीय कार्यालयों में रहते हुए उन्होंने पत्रकारिता को नयी दिशाएँ दीं । विभिन्न क्षेत्रों मे कार्य करने की प्रेरणा उनकी इस निष्ठा से उठती थी जिसे व्यक्त करते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—'जिस दिन सारे विश्व की क्षुधा तृप्त होगी, भूखे बालको को पेटभर भोजन मिलेगा, हर आदमी को पूरा खाना नसीब होगा हे कवि ! उसी दिनों नीला, आकाश तारो का सौंदर्य सार्थक होगा ।' किन्तु खेद है कि आजाद-भारत मे वे एक साँस भी नहीं ले सके जिसके सपने उन्होंने जीवन भर देखे थे । ९ मार्च, १९४७ को भयानक हृदय गति रुक जाने से उनका देहान्त हो गया लेकिन कवि कभी मरता नहीं उसकी पहुँच तो रवि की पहुँच से भी दूर तक है और आयु भी । आज भी 'किसी का प्रिय' और अन्यान्य कविताओं के रूप में वे हर समय सौराष्ट्र के घरों में बोलते हैं ।

माघ की आतुरता

"वत्स !"-कवि माघ के पिता कह रहे थे—"अभी तुममे वह निखार नहीं आया है कि तुम्हारी गणना श्रेष्ठ कवियो में की जा सके । छन्दों और श्लोको मे न तो वह लालित्य है और न सौष्ठव ही, जबकि एक श्रेष्ठ कवि की पहचान उसकी उस कला से होती है, जिसमे पाठक के हृदय को छूने की क्षमता हो, मर्म को बेधने की सामर्थ्य हो और पढ़ने वालों में तड़फन की अभिव्यजना करने वाला बल हो । इनमे से कोई भी विशेषता तुम्हारे छन्दो मे अभी पैदा नही हो सकी है । अभी और श्रम करो । मैं तुम्हे कालिदास की भाँति उदात्त और संस्कृत-साहित्य मे एक दैदीप्यमान नक्षत्र के रूप में देखना चाहता हूँ, ताकि आने वाली पीढ़ी मुझे धिक्कार न सके कि एक विद्वान् पिता अपनी संतान को वैसा विभूतिवान न बना सका, जैसा वह स्वय था । क्या तुम मेरी इच्छा पूरी कर सकोगे ?"—पिता कह रहे थे ।

स्वीकृति में माघ का सिर हिल गया । अब वे दूनी लगन और निष्ठा से अध्ययन करने में जुट गये । दिन, मास एवं वर्ष बीतने लगे, किन्तु उनके अध्यवसाय व अध्ययन में किसी प्रकार की कमी या ढील न आयी । दिन बीतने के साथ-साथ कठोर श्रम का असर शरीर पर भी परिलक्षित होने लगा । माघ दिन-दिन जर्जरित होने लगे ।

पुत्र के बिगड़ते स्वास्थ्य को देखकर माँ का हृदय व्याकुल हो उठा । उसने चिन्तित व व्यथित मन से कहा—"पुत्र! तनिक शरीर-स्वास्थ्य का भी तो ध्यान रख । देख शरीर कैसा दुर्बल होता जा रहा है । मैं तुम्हारे अध्ययन-पठन की तनिक भी विरोधी नहीं हूँ, पर जब काया ही असक्त-असमर्थ हो जाय, तो भला वैसी विद्वत्ता प्राप्ति से क्या लाभ ? वह विद्या किस काम की जो दूसरों को असमर्थता की स्थिति मे कुछ दे ही न सके ।"

माघ के होठों पर हल्की मुस्कान खिल उठी । अल्हड़ता में उनने कह दिया- "माँ ! जिस स्वास्थ्य की चिन्ता तुम कर रही हो, उसे तो बाद में भी प्राप्त किया जा सकता है, पर थोड़ा सोचो तो सही, यदि समय निकल गया, तो उसे पुनः प्राप्त कैसे किया जा सकेगा ?"

पुत्र के तर्क के आगे माँ निरुत्तर हो गयी । दो वर्ष बीत गये । प्रगति की समीक्षा की गई, किन्तु पिता अभी पूरी तरह संतुष्ट न हो सके थे । कुछ त्रुटियाँ अब भी शेष थीं । पुत्र का उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया गया एवं और अधिक मेहनत की सलाह दी गयी थी ।

माघ उन कमियो के निवारण में निरत हो गये । पिंगल-शास्त्र का और सूक्ष्मता से अध्ययन आरंभ कर दिया । फलतः शनैः-शनैः उन त्रुटियों में कमी भी आने लगी और कुछ समय पश्चात् ही पिता द्वारा बतायी अशुद्धियो पर मुक्ति प्राप्त कर ली ।

पूर्ण आश्वस्त होने के उपरान्त माघ एक बार पुनः पिता के समक्ष उपस्थित हुए । पिता-पुत्र की प्रगति से मन ही मन पुलकित हो रहे थे । सोच रहे थे कि यदि प्रगति ऐसी ही रही, तो एक दिन माघ अवश्य कालिदास के समकक्ष अपनी प्रतिभा को सिद्ध करने मे सफल रहेगा, किन्तु पिता इस बात से भी भलीभाँति अवगत थे कि यदि पुत्र की प्रशंसा शुरू कर दी जाय, तो कदाचित् उसकी प्रगति-यात्रा कहीं अवरुद्ध न हो जाय और मेहनत करना बन्द न कर दे । यदि ऐसा हुआ, तो फिर उनका सपना कल्पना-जल्पना बन कर रह जायेगा । इसी भय से जब भी माघ पिता के पास अध्ययन हेतु पहुँचते, तो पिता कोई न कोई त्रुटि निकाल कर उन्हे और अधिक परिश्रम करने के लिये प्रेरित करते थे । माघ भी पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर अध्ययन मे जुट पड़ते थे ।

किन्तु हर वस्तु की एक सीमा होती है । जब वह उसका अतिक्रमण करती है, तो संकट खड़े करती है । बार-बार गलती निकाले जाने के कारण कवि का धैर्य टूट

गया। उसके मन मे पिता के प्रति विद्वेष का बीजांकुरण होने लगा। आरंभ मे कुछ दिनों तक तो यह बीज के अन्दर छिपा रहा, परन्तु जब जनक के आचरण में कोई परिवर्तन आता दिखाई नही पड़ा तो माघ का यह संशय पक्का हो गया कि पिता उनकी विद्वत्ता से चिढ़कर ही उनमे तरह-तरह के मीन-मेख निकालते रहते है। जैसे ही उनकी यह शंका परिपक्व हुई, बीजांकुर के रूप मे दबी घृणा ने जमीन फोड़ कर पौध का रूप धारण कर लिया।

अब माघ प्रतिशोध की अग्नि में जलने और प्रतिकार का अवसर तलाशने लगे। उन्हें रह-रह कर यही बात खाये जा रही थी कि पिता होकर भी पुत्र की प्रगति से क्यों जलने लगे हैं। आखिर मेरी कीर्ति उन्हे क्या बाधा पहुँचा रही है। इससे तो उनका भी यश फैल रहा है कि माघ योग्य पिता की योग्य संतान है, किन्तु गुत्थी सुलझने के बजाय उलझती ही चली जा रही थी। आखिर मन शंकालु जो ठहरा। इस संबंध मे वे जितना सोचते ऊहापोह व असमंजस उतना ही बढ़ता जाता था। उन्हें पिता के इस आचरण का कोई स्पष्ट और उपयुक्त कारण दीख नहीं रहा था, किन्तु प्रत्यक्षवाद को झुठलाया भी कैसे जाय ? आँखें जो कुछ देख रही और बुद्धि अनुभव कर रही थी, उससे इन्कार कैसे किया जाय ? यही उनकी सबसे बड़ी दुविधा थी। मन को बहुत समझाया, पर दुराग्रही मन मानने-समझने का नाम न लेता। अब उनकी उद्विग्नता बढ़ने लगी और सान्निपात की भाँति बढ़ती ही चली गयी।

आज वे अत्यन्त परेशान थे। उद्विग्नता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। चित्त-समुद्र मे आये तूफान की तरह अस्थिर था। अशान्ति की रेखाएँ उनके चेहरे पर सिलवटों की भाँति स्पष्ट उभर आयी थीं। हाथ में कुल्हाड़ा लिये अपने अध्ययन कक्ष में इधर-उधर व्यग्रतापूर्वक घूम रहे थे। सोच रहे थे कि आज पिता की कपाल क्रिया करके ही दम लूँगा। बस, शाम का इन्तजार है। आज एक-एक पल गुजारना उन्हे एक-एक वर्ष की भाँति प्रतीत हो रहा था, पर इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प भी तो नहीं था, सिवाय प्रतीक्षा के। सुबह को शाम में परिवर्तित करने की उनमे सामर्थ्य रही होती तो शायद आज वह इससे भी नहीं चूकते, पर नियन्ता की इस धीमी चाल को क्या कहा जाय ! वे सोचते जा रहे थे और कोसते भी।

किसी प्रकार प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई। शाम घिर आयी। धीरे-धीरे धुँधलका छाने लगा। उपयुक्त अवसर तलाश कर माघ पिता के कमरे में दबे-पाँव घुस आये और चारपाई के नीचे छिपकर उनका इन्तजार करने लगे। चारपाई पर बिस्तर बिछा हुआ था और चादर लगभग जमीन को छूती हुई लटक रही थी, अतः उनके वहाँ मौजूद होने का किसी को आभास तक नहीं मिल सकता था, इसलिये उन्होंने छिपने के लिये वही स्थान उपयुक्त समझा।

कुछ समय पश्चात् उस ओर पदचाप आती सुनाई पड़ी। शनैःशनैः वह निकट आती हुई कमरे के पास समाप्त हो गयी। वे सतर्क हो गये। चादर को हल्के से उठाकर देखा, तो माँ फर्श पर बैठकर दीपक के मद्धिम प्रकाश में कुछ करती दिखाई पड़ी। माँ की उपस्थिति के कारण वे अपने भाग्य को कोसने लगे, तभी तनिक तीक्ष्ण खट-खट की पग-ध्वनि कमरे की ओर आती सुनाई पड़ी। माघ समझ गये कि खड़ाऊँ पहने पिताजी आ रहे हैं इस बार। उनका मन घोर विपन्नता से भर गया। भौंहें तन गयीं। कुल्हाड़े की धार देखी। सब कुछ ठीक था।

आते ही उनने पत्नी से पूछा—"प्रिये ! माघ कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा है ? कहाँ गया है ?"

"मुझे पता नहीं आर्य ! शायद जंगल की ओर टहलने निकल गया हो। बस आता ही होगा।"

"मुझको उसकी प्रतिभा पर गर्व है, भद्रे ! उसकी विद्वता और कीर्ति दिनमान की प्रचण्डता की तरह दिग्-दिगन्त मे फैलती चली जा रही है।" पिता कह रहे थे-"अब मेरा सपना अधूरा नही रहेगा। थोड़ी कमी है, सो जल्द ही दूर हो जायेगी। इसके बाद उसकी तुलना कालिदास से करने मे मुझे तनिक भी संकोच न होगा।"

"अच्छा !" माँ का हृदय पुलकन से भर उठा। गद्‌गद् कण्ठ से उसने कहा-"मेरा बेटा इस स्तर तक पहुँच गया है।" खुशी के मारे उसकी आँखो मे आँसू छलछला आये।

"पर देव ! उसकी इस विकसित प्रतिभा का अहसास उसे तो है नही, तनिक इसका ज्ञान करा देने मे कोई हर्ज भी तो नही है। अपनी प्रशंसा से वह भी खुश होगा। क्या विचार है आपका ?"- पत्नी कह रही थी।

आचार्य गंभीर हो उठे, बोले-"देवि ! किस पिता को पुत्र की प्रशंसा अच्छी नहीं लगती। औरो के सामने तो मैं उसकी खुलकर विरुदावली करता हूँ, किन्तु माघ के सामने उसकी स्वयं प्रशंसा करने मे भय यह लगता है कि कहीं इससे उसकी प्रतिभा का विकास अवरुद्ध न हो जाय, वह प्रगति की पूर्णता जानकर कहीं परिश्रम करना बन्द न कर दे। बस इसीलिये मै उसके सम्मुख उसकी प्रशंसा न कर छोटी-मोटी त्रुटियाँ निकालता रहता हूँ, ताकि उसमें प्रगल्भता और प्रखरता बढ़ती चली जाय।"

माघ चारपाई के नीचे छिपे जनक-जननी का वार्तालाप सुन रहे थे। सच्चाई जब उन्हें ज्ञात हुई, तो अविरल अश्रु-प्रवाह से उनका उत्तरीय और शरीर में अर्धलिपटी धोती तर-बतर हो रहे थे। भरे कण्ठ और लड़खड़ाते कदमों से वह बाहर निकले, कुल्हाड़े को बगल में पटका एवं पिता के चरणों पर गिर कर फफक-फफक कर रोने लगे। विद्वेष के आँसुओ से उनके चरण धुल चुके थे। माँ-बाप इस आकस्मिक घटना से अचम्भे में पड़ गये। उनकी समझ में

कुछ न आया, किन्तु जब पुत्र ने सारा हाल बता दिया, तो क्षमाशील पिता ने उसे उठाकर गले से लगा लिया।

अब माध की आँखों से प्रेम के अश्रु बह चले। विषण्णता विगलित होकर प्रेम के रूप मे नेत्रो से झर-झर निर्झरणी की तरह झरने लगी। आचार्य भी इससे सर्वथा अछूते न रह सके। उनके नेत्र भी जल-वृष्टि करने लगे। दृश्य बड़ा कारुणिक था। दोनों भाव के अतिरेक में न जाने कब तक आलिंगनबद्ध रहे, कुछ पता न चला। जब होश आया, तो बेटे ने गुरु से अपने अक्षम्य अपराध के लिये क्षमा माँगी। पिता ने रुँधे कण्ठ से उसे आशीर्वाद दिया, किन्तु माध का मन घोर आत्म-ग्लानि से भर चुका था, गलतफहमी मे उठने वाले इस क्रूर कदम से स्वयं को माफ नहीं कर पा रहे थे। पिता से प्रायश्चित का उपाय पूछा, परन्तु उनने कह दिया इसमें तुम्हारी कोई गलती नहीं। यह सब कुछ अज्ञानतावश हुआ। इसके प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं, पर माध के अपराध-बोध से उत्पन्न तपन और छटपटाहट को पिता के मुख से निःसृत अमृत तुल्य सावन की बूँदें शान्त न कर सकीं। बार-बार के आग्रह से पिता को कहना पड़ा-"वत्स! आज से इस बात का ध्यान रहे कि कोई भी कदम जल्दबाजी मे बिना सोचे-समझे न उठे! सच्चाई क्या है? इसे पता लगाने के उपरान्त ही उपयुक्त पहल हो, तो ही व्यक्ति विवेकी कहलाता है अन्यथा अविवेकी और उसमे कोई अन्तर रह नहीं जाता। इसके परिपालन का वचन दो और आजीवन इसका निर्वाह करो-यही तुम्हारे पाप का समुचित प्रायश्चित होगा।"

उत्तर में बेटे ने सिर झुका कर अपनी मौन-स्वीकृति प्रकट कर दी।

कलम और तलवार के धनी–
कवि चन्द वरदायी

राजकवि चन्द सरस्वती की साधना मे तल्लीन थे। उनकी इस तल्लीनता को गुरु राम के इन वचनो ने भंग किया–

"कवि क्या छन्दो के बन्धो मे ही उलझे रहोगे या लेखनी छोड़कर असिधारो की बात भी करोगे।"

"क्या हुआ गुरुदेव! कुछ खोल कर भी तो कहिये।"

"तुम्हे पता नहीं गजनी का सुल्तान फिर भारत विजय के स्वप्न देखने लगा है। वह अपनी विशाल वाहिनी लेकर प्रस्थान भी कर चुका है?"

"पता है। उस आँधी को रोकने का प्रबन्ध भी हो रहा है। आप चिंता न करे राय पिथौरा से चार-चार बार पराजित होने वाले शाहबुदीन को इस बार भी मुँह की खानी पड़ेगी।"

"लेकिन अबकी बार राय पिथौरा का सैन्य बल पहले का सा नहीं रहा है। परमारों से युद्ध करने में हमारे बहुत से सैनिक काम आ चुके है। रही-सही शक्ति महारानी संयुक्ता के हरण में चली गयी। इस विवाह के पश्चात् सम्राट पृथ्वीराज ने अपनी सैन्य व्यवस्था को सुदृढ़ करने की ओर भी ध्यान नहीं दिया है। वे तो नव-वधू के मोह पाश में बँधकर ही रह गये हैं।"

"आप ठीक कहते हैं गुरुदेव! सम्राट् को अपनी वीरता पर आवश्यकता से अधिक ही गर्व हो चला है। पिछली विजयों ने तो उसे और भी बढ़ा दिया है। किन्तु, यह आक्रमण केवल दिल्ली पर ही तो नहीं हो रहा है। यह तो सारे आर्यावर्त पर हो रहा है। हमारी सभ्यता व संस्कृति पर हो रहा है। गौरी से अकेले राय पिथौरा ही लड़ने वाले नहीं हैं वरन् सारे उत्तरीभारत के राजागण इस युद्ध में भाग लेने वाले है।"

"इन सबको एक सूत्र मे बाँधेगा कौन?"

"हम फिर किसलिए हैं। मैने इस आशय के पत्र विश्वस्त दूतों के साथ सभी राजाओ के पास भिजवा दिये हैं कि यह समय आपसी वैरभाव भुलाकर एकजुट होकर हमारे धर्म और संस्कृति पर आने वाली आँधी को रोकने में जुट जाना चाहिए नहीं तो ये बर्बर म्लेच्छ हमारे देवमन्दिरों को भग्न करके रहेगे, हमारी शस्य श्यामल धरती को घोड़ों की टापों तले रौंद कर रख देगे। हमारी माँ-बहिनों की लज्जा लूटेंगे। अतः समय रहते चेत जाना चाहिए।"

"यह तो तुमने बहुत अच्छा किया है कवि राजा।"

"यही नहीं कई राजाओं से तो उत्साहवर्द्धक समाचार भी प्राप्त हो गये हैं। ठेठ बंगाल के कई राजा अपनी सैन्यशक्ति के साथ इस युद्ध में भाग लेने के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। मेवाड़ के रावल-सार-विक्रम अपने दसहजार रणबांकुरे राजपूतों के साथ चित्तौड़गढ़ से दिल्ली के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। ऐसे ही उत्साहवर्द्धक समाचार प्रतिदिन आ रहे हैं। गौरी के आर्यावर्त की सीमा में पाँव रखने के पूर्व ही हम उसके आगे सुदृढ़ दीवार खड़ी कर देगे, देश पर मर मिटने वाले देशभक्तो की।"

"धन्य हो कवि! तुम निश्चय ही इस रत्न-गर्भा धारित्री के लाड़ले सपूत रत्न हो।"

"ऐसा न कहे गुरुदेव! यह तो हमारा कर्तव्य है। यों दुर्भाग्य का रोना रोएँ तो हजार विषय पड़े हैं। आज कैमास सुयोग्य मन्त्री की कमी क्या नहीं खलती, जिसका महाराज ने जरा सी बात पर वध करवा दिया। कांगड़ा का सूबेदार हाहुली राय भी अपने अपमान को लेकर भरा बैठा है। सेनापति चामण्ड दाहिया अपने प्रिय सम्राट् की आज्ञा शिरोधार्य कर लोह-शृंखलाओं में जकड़ा बैठा है। वीरवर काकाकन्ह की आँखो पर पट्टियाँ बँधी हैं। किन्तु हमे निराशावादी नहीं बनना है। हम प्रयत्न करेगे सब ठीक हो जाएगा। मै कल ही हाहुली राय के पास स्वयं जाने वाला

गया । उसके मन में पिता के प्रति विद्वेष का बीजांकुरण होने लगा । आरम्भ में कुछ दिनों तक तो यह बीज के अन्दर छिपा रहा, परन्तु जब जनक के आचरण में कोई परिवर्तन आता दिखाई नहीं पड़ा तो माघ का यह संशय पक्का हो गया कि पिता उनकी विद्वत्ता से चिढ़कर ही उनमें तरह-तरह के मीन-मेख निकालते रहते हैं । जैसे ही उनकी यह शंका परिपक्व हुई, बीजांकुर के रूप में दबी घृणा ने जमीन फोड़ कर पौध का रूप धारण कर लिया ।

अब माघ प्रतिशोध की अग्नि में जलने और प्रतिकार का अवसर तलाशने लगे । उन्हें रह-रह कर यही बात खाये जा रही थी कि पिता होकर भी पुत्र की प्रगति से क्यों जलने लगे हैं । आखिर मेरी कीर्ति उन्हें क्या बाधा पहुँचा रही है । इससे तो उनका भी यश फैल रहा है कि माघ योग्य पिता की योग्य संतान है, किन्तु गुत्थी सुलझने के बजाय उलझती ही चली जा रही थी । आखिर मन शंकालु जो ठहरा । इस संबंध मे वे जितना सोचते ऊहापोह व असमंजस उतना ही बढ़ता जाता था । उन्हे पिता के इस आचरण का कोई स्पष्ट और उपयुक्त कारण दीख नहीं रहा था, किन्तु प्रत्यक्षवाद को झुठलाया भी कैसे जाय ? आँखे जो कुछ देख रहीं और बुद्धि अनुभव कर रही थी, उससे इन्कार कैसे किया जाय ? यही उनकी सबसे बड़ी दुविधा थी । मन को बहुत समझाया, पर दुराग्रही मन मानने-समझने का नाम न लेता । अब उनकी उद्विग्नता बढ़ने लगी और सन्निपात की भाँति बढ़ती ही चली गयी ।

आज वे अत्यन्त परेशान थे । उद्विग्नता पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी । चित्त-समुद्र मे आये तूफान की तरह अस्थिर था । अशान्ति की रेखाएँ उनके चेहरे पर सिलवटो की भाँति स्पष्ट उभर आयी थीं । हाथ मे कुल्हाड़ा लिये अपने अध्ययन कक्ष मे इधर-उधर व्यग्रतापूर्वक घूम रहे थे । सोच रहे थे कि आज पिता की कपाल क्रिया करके ही दम लूँगा । बस, शाम का इन्तजार है । आज एक-एक पल गुजारना उन्हे एक-एक वर्ष की भाँति प्रतीत हो रहा था, पर इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प भी तो नही था, सिवाय प्रतीक्षा के । सुबह को शाम मे परिवर्तित करने की उनमे सामर्थ्य रही होती तो शायद आज वह इससे भी नहीं चूकते, पर नियन्ता की इस धीमी चाल को क्या कहा जाय ! वे सोचते जा रहे थे और कोसते भी ।

किसी प्रकार प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई । शाम घिर आयी । धीरे-धीरे धुँधलका छाने लगा । उपयुक्त अवसर तलाश कर माघ पिता के कमरे मे दबे-पाँव घुस आये और चारपाई के नीचे छिपकर उनका इन्तजार करने लगे । चारपाई पर बिस्तर बिछा हुआ था और चादर लगभग जमीन को छूती हुई लटक रही थी, अत: उनके वहाँ मौजूद होने का किसी को आभास तक नहीं मिल सकता था, इसलिये उन्होने छिपने के लिये वही स्थान उपयुक्त समझा ।

कुछ समय पश्चात् उस ओर पदचाप आती सुनाई पड़ी । शनैः शनैः वह निकट आती हुई कमरे के पास स्था हो गयी । वे सतर्क हो गये । चादर को हल्के से उठा देखा, तो माँ फर्श पर बैठकर दीपक के मद्धिम प्रकाश मे कुछ करती दिखाई पड़ी । माँ की उपस्थिति के कारण वे अपने भाग्य को कोसने लगे, तभी तनिक तीक्ष्ण खट-खट की पग-ध्वनि कमरे की ओर आती सुनाई पड़ी । माघ समझ ग कि खड़ाऊँ पहने पिताजी आ रहे हैं इस बार । उनका म घोर विपन्नता से भर गया । भौंहें तन गयीं । कुल्हाड़े की धार देखी । सब कुछ ठीक था ।

आते ही उनने पत्नी से पूछा—"प्रिये ! माघ कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा है ? कहाँ गया है ?"

"मुझे पता नहीं आर्य ! शायद जंगल की ओर टहलने निकल गया हो । बस आता ही होगा ।"

"मुझको उसकी प्रतिभा पर गर्व है, भद्रे ! उसकी विद्वता और कीर्ति दिनमान की प्रचण्डता की तरह दिग्-दिगन्त में फैलती चली जा रही है ।" पिता कह रहे थे-"अब मेरा सपना अधूरा नहीं रहेगा । थोड़ी कमी है, सो जल्द ही दूर हो जायेगी । इसके बाद उसकी तुलना कालिदास से करने में मुझे तनिक भी संकोच न होगा ।"

"अच्छा !" माँ का हृदय पुलकन से भर उठा । गद्‌गद् कण्ठ से उसने कहा-"मेरा बेटा इस स्तर तक पहुँच गया है ।" खुशी के मारे उसकी आँखो मे आँसू छलछला आये ।

"पर देव ! उसकी इस विकसित प्रतिभा का अहसास उसे तो है नहीं, तनिक इसका ज्ञान करा देने मे कोई हर्ज भी तो नहीं है । अपनी प्रशंसा से वह भी खुश होगा । क्या विचार है आपका ?"- पत्नी कह रही थी ।

आचार्य गंभीर हो उठे, बोले-"देवि ! किस पिता को पुत्र की प्रशंसा अच्छी नहीं लगती । औरो के सामने तो मैं उसकी खुलकर विरुदावली करता हूँ, किन्तु माघ के सामने उसकी स्वयं प्रशसा करने मे भय यह लगता है कि कहीं इससे उसकी प्रतिभा का विकास अवरुद्ध न हो जाय, वह प्रगति की पूर्णता जानकर कहीं परिश्रम करना बन्द न कर दे । बस इसीलिये मैं उसके सम्मुख उसकी प्रशंसा न कर छोटी-मोटी त्रुटियाँ निकालता रहता हूँ, ताकि उसमे प्रगल्भता और प्रखरता बढ़ती चली जाय ।"

माघ चारपाई के नीचे छिपे जनक-जननी का वार्तालाप सुन रहे थे । सच्चाई जब उन्हे ज्ञात हुई, तो अविरल अश्रु-प्रवाह से उनका उत्तरीय और शरीर मे अधलिपटी धोती तर-बतर हो रहे थे । भरे कण्ठ और लड़खड़ाते कदमों से वह बाहर निकले, कुल्हाड़े को बगल मे पटका एवं पिता के चरणो पर गिर कर फफक-फफक कर रोने लगे । विद्वेष के आँसुओ से उनके चरण धुल चुके थे । माँ-बाप इस आकस्मिक घटना से अचम्भे में पड़ गये । उनकी समझ में

कुछ न आया, किन्तु जब पुत्र ने सारा हाल बता दिया, तो क्षमाशील पिता ने उसे उठाकर गले से लगा लिया।

अब माघ की आँखो से प्रेम के अश्रु बह चले। विषण्णता विगलित होकर प्रेम के रूप मे नेत्रों से झर-झर निर्झरणी की तरह झरने लगी। आचार्य भी इससे सर्वथा अछूते न रह सके। उनके नेत्र भी जल-वृष्टि करने लगे। दृश्य बड़ा कारुणिक था। दोनों भाव के अतिरेक में न जाने कब तक आलिंगनबद्ध रहे, कुछ पता न चला। जब होश आया, तो बेटे ने गुरु से अपने अक्षम्य अपराध के लिये क्षमा माँगी। पिता ने रुँधे कण्ठ से उसे आशीर्वाद दिया, किन्तु माघ का मन घोर आत्म-ग्लानि से भर चुका था, गलतफहमी में उठने वाले इस क्रूर कदम से स्वयं को माफ नहीं कर पा रहे थे। पिता से प्रायश्चित का उपाय पूछा, परन्तु उनने कह दिया इसमें तुम्हारी कोई गलती नहीं। यह सब कुछ अज्ञानतावश हुआ। इसके प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं, पर माघ के अपराध-बोध से उत्पन्न तपन और छटपटाहट को पिता के मुख से निःसृत अमृत तुल्य सावन की बूँदे शान्त न कर सकीं। बार-बार के आग्रह से पिता को कहना पड़ा-"वत्स! आज से इस बात का ध्यान रहे कि कोई भी कदम जल्दबाजी मे बिना सोचे-समझे न उठे! सच्चाई क्या है? इसे पता लगाने के उपरान्त ही उपयुक्त पहल हो, तो ही व्यक्ति विवेकी कहलाता है अन्यथा अविवेकी और उसमे कोई अन्तर रह नहीं जाता। इसके परिपालन का वचन दो और आजीवन इसका निर्वाह करो-यही तुम्हारे पाप का समुचित प्रायश्चित होगा।"

उत्तर में बेटे ने सिर झुका कर अपनी मौन-स्वीकृति प्रकट कर दी।

कलम और तलवार के धनी– कवि चन्द वरदायी

राजकवि चन्द सरस्वती की साधना मे तल्लीन थे। उनकी इस तल्लीनता को गुरु राम के इन वचनो ने भंग किया—

"कवि क्या छन्दो के बन्धो में ही उलझे रहोगे या लेखनी छोड़कर असिधारों की बात भी करोगे।"

"क्या हुआ गुरुदेव! कुछ खोल कर भी तो कहिये।"

"तुम्हे पता नही गजनी का सुल्तान फिर भारत विजय के स्वप्न देखने लगा है। वह अपनी विशाल वाहिनी लेकर प्रस्थान भी कर चुका है?"

"पता है। उस आँधी को रोकने का प्रबन्ध भी हो रहा है। आप चिंता न करें राय पिथौरा से चार-चार बार पराजित होने वाले शाहबुद्दीन को इस बार भी मुँह की खानी पड़ेगी।"

"लेकिन अबकी बार राय पिथौरा का सैन्य बल पहले का सा नहीं रहा है। परमारों से युद्ध करने में हमारे बहुत से सैनिक काम आ चुके हैं। रही-सही शक्ति महारानी संयुक्ता के हरण में चली गयी। इस विवाह के पश्चात् सम्राट पृथ्वीराज ने अपनी सैन्य व्यवस्था को सुदृढ़ करने की ओर भी ध्यान नहीं दिया है। वे तो नव-वधू के मोह पाश में बँधकर ही रह गये हैं।"

"आप ठीक कहते हैं गुरुदेव! सम्राट् को अपनी वीरता पर आवश्यकता से अधिक ही गर्व हो चला है। पिछली विजयों ने तो उसे और भी बढ़ा दिया है। किन्तु, यह आक्रमण केवल दिल्ली पर ही तो नहीं हो रहा है। यह तो सारे आर्यावर्त पर हो रहा है। हमारी सभ्यता व संस्कृति पर हो रहा है। गौरी से अकेले राय पिथौरा ही लड़ने वाले नहीं हैं वरन् सारे उत्तरीभारत के राजागण इस युद्ध में भाग लेने वाले है।"

"इन सबको एक सूत्र में बाँधेगा कौन?"

"हम फिर किसलिए हैं। मैंने इस आशय के पत्र विश्वस्त दूतो के साथ सभी राजाओ के पास भिजवा दिये हैं कि यह समय आपसी वैरभाव भुलाकर एकजुट होकर हमारे धर्म और संस्कृति पर आने वाली आँधी को रोकने में जुट जाना चाहिए नहीं तो ये बर्बर म्लेच्छ हमारे देवमन्दिरों को भग्न करके रहेंगे, हमारी शस्य श्यामल धरती को घोड़ों की टापो तले रौंद कर रख देंगे। हमारी माँ-बहिनो की लज्जा लूटेंगे। अतः समय रहते चेत जाना चाहिए।"

"यह तो तुमने बहुत अच्छा किया है कवि राजा।"

"यही नहीं कई राजाओ से तो उत्साहवर्द्धक समाचार भी प्राप्त हो गये हैं। ठेठ बंगाल के कई राजा अपनी सैन्यशक्ति के साथ इस युद्ध मे भाग लेने के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। मेवाड़ के रावल-सार-विक्रम अपने दसहजार रणबांकुरे राजपूतों के साथ चित्तौड़गढ़ से दिल्ली के लिए प्रस्थान कर चुके है। ऐसे ही उत्साहवर्द्धक समाचार प्रतिदिन आ रहे हैं। गौरी के आर्यावर्त की सीमा में पाँव रखने के पूर्व ही हम उसके आगे सुदृढ़ दीवार खड़ी कर देंगे, देश पर मर मिटने वाले देशभक्तों की।"

"धन्य हो कवि! तुम निश्चय ही इस रत्न-गर्भा धारित्री के लाड़ले सपूत रत्न हो।"

"ऐसा न कहे गुरुदेव! यह तो हमारा कर्तव्य है। यों दुर्भाग्य का रोना रोएँ तो हजार विषय पड़े हैं। आज कैमास सुयोग्य मन्त्री की कमी क्या नहीं खलती, जिसका महाराज ने जरा सी बात पर वध करवा दिया। कांगड़ा का सूबेदार हाहुली राय भी अपने अपमान को लेकर भरा बैठा है। सेनापति चामण्ड दाहिया अपने प्रिय सम्राट् की आज्ञा शिरोधार्य कर लोह-शृंखलाओं मे जकड़ा बैठा है। वीरवर काकाकन्ह की आँखो पर पट्टियाँ बँधी हैं। किन्तु हमें निराशावादी नहीं बनना है। हम प्रयत्न करेंगे सब ठीक हो जाएगा। मैं कल ही हाहुली राय के पास स्वयं जाने वाला

हूँ। दलपंगुर जयचन्द के पास भी उसे समझाने मुझे ही जाना पड़ेगा।"

कॉगड़ा के उपरिक हाहुली राय से मिलकर राजकवि चन्द्रवरदायी को निराशा ही हाथ लगी थी। वह पहले से ही गौरी से मिल चुका था। यद्यपि उसने स्वयं अपने मुँह से ऐसी बात नहीं कही थी किन्तु अपने विश्वस्त सामंतो से उन्हे इस बात का पता चल गया था। उसने तो कवि को बन्दी ही बना लिया था ताकि वह उसके इस देश-द्रोह की सूचना अन्य नरेशों तक पहुँचा ही न सके किन्तु वे किसी प्रकार उसके जाल से निकलने में सफल हो गये थे।

पृथ्वीराज अपूर्व योद्धा व धनुर्धर होते हुए भी आवश्यकता से अधिक अभिमानी था। उसके इस अभिमान के कारण वह अपने सामन्तो व सहयोगियो के महत्व को भुलाता जा रहा था। अपने को ही सब कुछ मान लेने के कारण वह कई भयंकर भूले करता जा रहा था। कोई सहयोगी उसे इस सम्बन्ध मे कुछ कहता तो वह उसके प्राणों का ग्राहक तक बन जाता था।

गौरी उसके राज्य पर आक्रमण करने के लिये चल पड़ा था फिर भी वह अपने मद मे चूर राज्य-कार्य की सुध भुलाकर संयोगिता के विलास कक्ष मे बन्दी बना पड़ा था। किसी से मिलने की उसे कोई चिन्ता नही थी। जो कोई मिलने आता उसके लिए बस यही एक आदेश था—"नहीं मिल सकते।"

यह तो उसका सौभाग्य था कि उसे चन्द्रवरदायी जैसा सुयोग्य राज-कवि, सखा तथा मित्र मिला था, कैमास जैसा सुयोग्य व दूरदर्शी मन्त्री मिला था, गुरु-राम जैसा शुभ-चिन्तक, मार्गदर्शक तथा चामुण्डाराय व काकाकन्ह जैसे स्वामिभक्त योद्धा मिले थे। जिनके बल पर रायपिथौरा की सारे भारत मे धाक थी। गजनी का सुल्तान उसके नाम से काँपता था।

कविचन्द्र, कैमास की मृत्यु के उपरान्त राज्य की सभी गतिविधियो का सूत्र संचालन कर रहे थे। वह परम उद्योगी देशभक्त पुरुष थे। सब कुछ वह निष्काम-भाव से अपना कर्तव्य समझकर कर रहे थे। पृथ्वीराज से मिलने व गौरी के आक्रमण की सूचना देने के लिए वह तीन बार उसके पास गये किन्तु तीनो बार उसने अपने विलास-कक्ष से बाहर निकलने का कष्ट भी नहीं किया। सेविका के हाथ कहला दिया—"नहीं मिल सकते।"

कॉगड़ा से लौट कर भी चन्द ने उनसे मिलने का प्रयास किया पर वह सफल न हो सके। समय का मूल्य समझते हुए उन्होने पृथ्वीराज तक अपनी बात पहुँचाने की अपेक्षा अपना दायित्व पूरा कर लेना ही उचित समझा। वह कन्नौज नरेश जयचन्द्र के पास सहायता की भीख माँगने के लिये जा पहुँचे।

जयचन्द तो पृथ्वीराज के नाम से ही चिढ़ा बैठा था। भाई होते हुए भी वह अपने मामा अनंगपाल के राज्य का उत्तराधिकारी स्वयं को मानते हुए पृथ्वीराज का वैरी बना हुआ था। अपनी पुत्री संयोगिता के स्वयम्वर में पृथ्वीराज का अपमान करने के लिये उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को द्वार पाल के स्थान पर प्रतिष्ठित किया था। किन्तु छद्म वेश में पृथ्वीराज स्वयं वहाँ उपस्थित था। संयोगिता ने उसके गले में जयमाल डाल दी और वह उसका हरण कर ले गया। इसी अपमान का बदला लेने के लिए उसने गौरी को निमन्त्रण देकर बुलाया था।

इस दुर्बुद्धि को क्या कहा जाय? व्यक्तिगत अपमान के क्रोध मे अन्धा होकर उसने सारे देश पर संकट ला दिया था। अपने इस अविवेक के कारण आज भी उसका नाम घृणा के साथ लिया जाता है।

कविचन्द उससे व्यक्तिगत रूप से मिला, पृथ्वीराज के दूत के रूप में नहीं उन्होने उसे बहुतेरा समझाया कि दिल्ली की देहरी टूट जाने पर फिर मुस्लिम-आक्रमण की आँधी को रोकना किसी के बस मे नही होगा। यह पृथ्वीराज पर नहीं सारे भारत पर आक्रमण हो रहा है। राज्यो पर नहीं हमारे धर्म व संस्कृति पर आक्रमण हो रहा है। जिस प्रकार बंगाल और विन्ध्याचल प्रदेश तक के राजा अपने धर्म व संस्कृति की रक्षा के लिए एक होकर उसे म्लेच्छ से लड़ने के लिए कटिबद्ध हो गये हैं वैसे ही वह भी तैयार हो जाय।

कविचन्द्र की बातो का उस पर प्रभाव तो पड़ा किन्तु उसे भी पृथ्वीराज की तरह ही अपने सैन्यबल पर गर्व था। वह अकेला ही गौरी को दस बार हराने मे अपने को सक्षम समझता था। अतः उसने युद्ध मे पृथ्वीराज के साथ रहकर युद्ध करने से इन्कार कर दिया।

समस्त उत्तरीभारत के राजाओ की अस्सीहजार से भी ऊपर सेना योगिनीपुर के पास शहाबुद्दीन का मुकाबला करने के लिए आ जुटी थी। उनके प्रतिनिधि के रूप मे चित्तौड़ के रावलसमरविक्रम पृथ्वीराज के पास उसका सेनापतित्व ग्रहण करने का अनुरोध करने आ उपस्थित हुए। कवि चन्द्रवरदायी ने उनका स्वागत किया। उन्होने कवि से कहा—

"सम्राट पृथ्वीराज के पास संदेश पहुँचा दीजिये कि योगिनीपुर के निकट अस्सी हजार सैनिको की विशाल वाहिनी उनके नेतृत्व की प्रतीक्षा कर रही है।"

"यह सन्देश हम दोनो को स्वयं उन तक पहुँचाना होगा।"

वे समरविक्रम जी को साथ लेकर अन्तःपुर की ड्योढ़ी पर पहुँचे। भीतर खबर पहुँचायी। उत्तर मिला—"अभी नही।"

"अभी नही तो कभी नहीं।" कवि ने यह कहते हुए एक दोहा उसके लिए लिख भेजा—

"कग्गर अप्यह राज कर, मुँह जप्पह इह वत्त।
"गौरी रत्तो तुअ धरनी, तू गौरी रस रत्त।"

(इस हास विलास के लिये पूरा जीवन पड़ा है। गौरी की लोलुप दृष्टि तेरी मातृभूमि पर गड़ी है और तू नारी के

स्थूल सौंदर्य में मुग्ध हो अपने कर्तव्य से विमुख हो रहा है ।)

पृथ्वीराज ने पत्र को पढ़ा तो लज्जा से उसका मुँह उतर गया । वह लपक कर बाहर आया । उसने दोनों से अपनी भूल की क्षमा माँगी और युद्ध की तैयारी में लग गया । चामण्ड की बेड़ियाँ कटवाने व काका-कन्ह की आँखों की पट्टी खोल देने के आदेश देकर वह कवि चन्द्र की ओर उन्मुख हुआ—

"कवि राजा ! तुमने निश्चय ही मुझे उबार लिया । मेरी इतनी उपेक्षा के बाद भी तुमने अपना उद्योग बन्द नहीं किया । रावल ठेठ चित्तौड़ से आये हैं अपने देश की रक्षा के लिए और मैं अभागा ।"

"मैं ही नहीं उत्तरी भारत के कितने ही राजा अपनी सेनाओं सहित योगिनीपुर के निकट आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । अस्सी हजार के लगभग भारतीय वीर गौरी के दाँत खट्टे करने के लिए वहाँ सन्नद्ध हैं । यह सब इन्हीं के प्रयासों का फल है ।"

"अब तुम अपनी साहित्य-साधना करो मित्र ।"

"नहीं मैं भी अपनी मातृभूमि का ऋण चुकाने आपके साथ युद्धक्षेत्र में चल रहा हूँ । "

सम्राट पृथ्वीराज तथा महारावल समर विक्रम इस नर पुंगव को देखते ही रह गये जो इस नवजागरण का अकेला सूत्र संचालक था, जिसने निराशा में आशा के दीप जलाये थे ।

हर मोर्चे पर लड़ने वाले योद्धा—
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

नवीन जी सभापति के आसन से उछले, लपककर माइक पर खड़े वक्ता महोदय की पीठ जोर से थपथपाते हुए बोले "वाह मित्र, चतुराई इसे कहते हैं । हवालात की हवा खाते-खाते हम बेहाल हुए और अधिकार झपटने की कला तुम ले उड़े ? " उक्त शब्दों को सुनकर भरी सभा हँसी के मारे लोट-पोट हो गयी ।

घटना बृज-साहित्य-मंडल के छठे अधिवेशन की है । उक्त अधिवेशन श्रीनवीनजी की अध्यक्षता में सहारनपुर में हो रहा था । भव्यमंच पर स्वागताध्यक्ष श्रीओमप्रकाशजीमित्तल ने मनोरंजक ढंग से अपना भाषण आरम्भ किया । प्रथम ही उन्होंने कहा कि किस प्रकार स्वयं अपना नाम स्वागताध्यक्ष के लिए प्रस्तावित करके उन्होंने इस स्थान पर अधिकार प्राप्त किया । वैसे स्वागताध्यक्ष के लिए वह सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति थे—किन्तु केवल सरसता लाने के लिए उन्होंने इस ढंग से बात कही थी । उनकी बात पर अध्यक्ष रूप में बैठे हुए नवीन जी ने जब उक्त टिप्पड़ी जड़ दी तो वह रस अनेक गुना होकर बिखर पड़ा । लोगों को लगा कि वास्तव में बृजसाहित्यमंडल का अधिवेशन एक मस्त तबियत के निष्कपट व्यक्ति की अध्यक्षता में हो रहा है । सरसता नवीनजी के जीवन की एक विशेषता थी । उनके साथ रहने वाला हर व्यक्ति उससे अनायास लाभान्वित होता था ।

किन्तु नवीनजी का एक और भी पक्ष उसी अधिवेशन में सामने तब आया, जब वह अध्यक्षीय भाषण के लिये खड़े हुए । टाइप किया हुआ लम्बा भाषण, गम्भीर विषय, मध्यम गति से पढ़ना । लोग थोड़े कुलबुलाये, बस नवीन जी की मुद्रा बदली, भाषण रोक कर गम्भीर स्वर में बोले "आप सब बृज-साहित्य-मंडल के अधिवेशन में बैठे हैं, किसी 'नौटंकी' के मंच के सामने नहीं । यदि आप सुनना चाहें तो वैसा कहें, अन्यथा मैं इसे फाड़कर फेंक दूँ ।" मस्ती में अग्रणी नवीन जी अनुशासन के भी पक्के थे । लोग स्तब्ध हो गये । सबने भाषण पढ़ने का आग्रह किया तथा व्यवस्थित ढंग से शान्तिपूर्वक सारी कार्यवाही पूरी हुई ।

इसी प्रकार के विभिन्न मानवीय गुणों के धनी श्री बालकृष्ण जी 'नवीन' को उनसे परिचित व्यक्ति बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे । यदि वे एक सहृदय मित्र थे तो कुशल राजनीतिज्ञ भी । उनकी लेखनी में प्रखरता थी तो वाणी में भी ओजस्विता भी थी । समाज सेवा, देश-भक्ति आदि तो उनके मूल गुण थे ही । उन्हीं के लिये उन्होंने जानकर कभी अपनी साहित्यिक-प्रतिभा का भी बलिदान न होने दिया ।

सन् १९१६ में पं. लोकमान्य तिलक के उद्बोधन से प्रभावित होकर मध्य-प्रदेश से अपने ग्रामीण स्वरूप में ही लखनऊ के काँग्रेस-अधिवेशन में वे पहुँचे थे । विशेष व्यक्ति के लिए विशेष संयोग भी बन पड़ते हैं । मार्ग में ही श्री माखनलाल जी से भेंट हो गयी जिससे उन्हें और भी प्रेरणा मिली थी । लखनऊ में उस धूल भरे हीरे को, पारखी श्री गणेश शंकरजी विद्यार्थी ने पहचान लिया तथा उनकी मित्रता हो गयी थी । उक्त भेंट के बाद ही मैट्रिक की परीक्षा देकर वे सीधे कानपुर पहुँच गये थे । उसके बाद वे कानपुर तथा श्री विद्यार्थी जी के साथ एकरूप ही हो गये थे ।

वे हृदय से एक कलाकार, साहित्यकार थे । उनकी निष्कपट-आत्मीय-भावना अथवा कट्टर-सिद्धान्त प्रेम, दोनों की ठीक संगति राजनैतिक कलाबाजियों के साथ नहीं बैठ पाती थी । किन्तु युगीन आवश्यकता समझकर वह स्वतन्त्रता-संग्राम मे प्रविष्ट हुए । परिस्थितियों ने उन्हे राजनीति से बाँध दिया । सन् १९३१ मे कानपुर के साम्प्रदायिक दंगों मे श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी के देहान्त के बाद उन्हें उनके उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने पड़े । उनका निर्वाह भी उन्होंने पूरी शक्ति एवं पटुता से किया । अपना अधिकांश जीवन जेल की चहारदीवारी के अन्दर अथवा 'प्रताप' प्रेस की सँकरी सी कोठरी मे काट दिया । उनके अन्दर प्रखर क्रियाशीलता, प्रबल त्याग तथा बलिदान की भावना उनके जीवन को उज्ज्वल बनाये रही ।

२.३१ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

राजनैतिक-क्षेत्र में उनका बहुत मान था। लोगों का विचार है कि सिद्धान्त-प्रेमी के नाते उन्होंने परिस्थितियों से समझौता करने की वृत्ति की उपेक्षा न की होती तो वे शीर्षस्थ नेताओं में स्थान बना सकते थे। किन्तु, यदि वह वैसा करते तो अपने अन्तःकरण के साथ भारी अन्याय करते। फिर वह अनोखा व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता जिसके स्मरण से समाज-सेवी से लेकर साहित्यकार तक श्रद्धा से नत हो उठता है। सन् १९४२ में महात्मागाँधी के विचारों से सहमत न हो सके तो बम्बई-कॉंग्रेस अधिवेशन में उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने विचार व्यक्त किये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'हिन्दी' के प्रश्न पर उन्होंने पं. जवाहरलाल जी जैसे प्रभावशाली व्यक्ति से भी भिड़ जाने में भय नहीं खाया।

उनके इस प्रकार के गुणों के कारण उन्हे लौकिक-उपलब्धियाँ न हो सकी, किन्तु उन्हे उनकी कामना भी नहीं थी। सन् १९३५ में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा शान्ति-निकेतन आने के आमन्त्रण पर उन्होंने अपनी आर्थिक असमर्थता प्रकट करते हुए मस्तानेपन के साथ लिखा था "हम तो ऐसे जीवन पर विश्वास करने वालों मे है कि- कटी उम्र होटलों मे और मरे अस्पताल जाकर।" ऐसे ही निस्पृह-भाव के व्यक्तियों से राष्ट्रहित एवं जनहित की अधिक आशा की जा सकती है।

किन्तु उनके जीवन में इन्हीं कारणों से निरन्तर नये संघर्ष खड़े होते रहे। इसके फलस्वरूप उनके अन्दर का मौलिक साहित्यकार ठीक प्रकार पनप न सका। उन्होंने बहुत कुछ जेलो मे ही लिखा था। सामने के कर्तव्यों के आगे लेखन की उपेक्षा होती रही। उससे भी अधिक वह प्रकाशन की ओर से उदासीन रहे। 'उर्मिला' महाकाव्य उन्होंने १९२२ मे पूरा कर लिया था किन्तु वह १९५७ मे प्रकाशित हो सका था।

नवीनजी की चिन्तन की दिशा उत्कृष्टता की ओर ही थी। उनकी रचनाओं में वही भाव फूट पड़ते थे। उन्होंने यशप्राप्ति अथवा बुद्धि-विलास के लिए नहीं लिखा था। उनके लिखने का उद्देश्य जहाँ-तहाँ प्रकट भी होता है। अपनी रचना 'रश्मिरेखा' की भूमिका मे उन्होंने यह स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है, उन्होंने "सत्य शोध" तथा श्रेयपथ के पथिकों की उत्कंठा जाग्रत करने के लिए गीत लिखे है। उनके वाक्य, "यदि सन्तुलित रखने से अनित्य इन्द्रियाँ मानवता को गाँधीत्व तथा बुद्धत्व प्रदान करा सकती हैं, तो मेरे गीत—क्यो न करुणा, प्रेम, सर्वभूतहित-रति और स्वार्थ-समर्पण की भावना जाग्रत कर सकेंगे," उल्लेखनीय है। साधनो को निष्ठा एवं साहित्यकारों को अपनी प्रतिभा के नियोजन एवं दिशा निर्धारण के लिए वह प्रेरणाप्रद सिद्ध हो सकते है। करुणा, प्रेम, स्वार्थ-त्याग, जनकल्याण की भावनाओं को प्राथमिकता देने वाले कवियों के रोचक गीत यदि जन-जन के कण्ठ पर आरूढ हो सके तो समाज के विकृत, संतप्त वातावरण मे शीतलता का संचार हो उठे।

'प्रताप' के सम्पादक के रूप में वह गद्य लेखक के रूप में भी सशक्त सिद्ध हुए। उन्होंने 'प्रताप' को मात्र कौतूहल पूर्ण समाचार पत्र न रहने देकर उसे जन-भावना का द्योतक एवं मार्ग-दर्शक स्वरूप देने का पूरा प्रयास किया था। वास्तव में समाचार पत्रों की उपयोगिता भी इसी दृष्टि से अधिक है। पत्रकार में निर्भीकता पूर्वक अपनी निष्पक्ष बात कहने का साहस होना ही चाहिए। श्रीनवीनजी ने उक्त साहस का उत्कृष्ट उदाहरण सदैव प्रस्तुत किया। संयुक्तप्रान्त (अब उ.प्र.) के तत्कालीन कॉंग्रेस शासन द्वारा गुण्डागर्दी रोक सकने की असफलता पर उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था "अशक्त, असमर्थ व्यक्ति शासन छोड़ दें, समाज अन्यव्यवस्था कर लेगा।" ऐसा आत्म-विश्वास पूर्ण आग्रह जनतांत्रिक परम्परा के सर्वथा उपयुक्त है।

इस दृष्टि से भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उन्हें अधिक संघर्ष करना पड़ा। बाहर वालों से निपट लेने के बाद अधिकांश लोग यह भूल गये कि आन्तरिक दोषों, दुष्प्रवृतियों से संघर्ष करना अधिक कठिन तथा आवश्यक है। अस्तु, जिन थोड़े से व्यक्तियों ने यह प्रयास किया उन्हें अधिक चोटें खानी ही पड़ी थी। नवीन जी का अन्तःकरण भी उन चोटों से क्षत-विक्षत हुआ। किन्तु उन्होंने 'विषपान-अमृत दान' की श्रेष्ठ पुरुषों की परम्परा को यत्नपूर्वक बनाये रखा। यही उनके जीवन की सर्वश्रेष्ठ सफलता कही जा सकती थी। वैसे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यदि वे राजनीति के चंगुल से अपने आपको छुड़ाकर, किसी अन्य मंच से जनहित के लिए प्रयास करते तो उन्हें भी कुण्ठाओं का सामना कम करना पड़ता तथा समाज को भी उनकी प्रतिभा एवम् सेवा-वृत्ति का अधिक लाभ मिल सकता था।

बहुधा सिद्धान्तो के लिए संघर्ष करते-करते व्यक्ति अधिक बुद्धि प्रधान तथा कुछ रूखे से हो जाते है। किन्तु, नवीनजी का कविहृदय, मानव-भक्त अन्तःकरण राजनैतिक प्रपंचों से अछूता रह सका। वे उदारता की मूर्ति थे ऐसा उनके मित्रो का कथन है स्नेह उनमे कितना प्रगाढ़ था—उस मानवीय अन्तःकरण की झाँकी एक घटना से मिल सकती है।

श्री भगवतीचरणजी वर्मा उनके जन्म-मित्र थे। मित्र के नगर मे जाकर मित्र के पास ठहरना स्वाभाविक है। ऐसा ही सदैव होता भी था। किन्तु एक बार जब नवीनजी को पक्षाघात लगा तब वर्मा जी संकोच कर गये। परिवार वालो को कोई असुविधा न हो इस विचार से अपना सामान कहीं अन्यत्र रखकर वे नवीनजी के पास पहुँचे। नवीन जी अभी ठीक ही हो रहे थे। हाथ-पैर चलने लगे थे पर वाणी ठीक से न खुल सकी थी। कुछ शब्द, कुछ इशारों से उन्होंने तुरन्त सामान के बारे में पूछा। उत्तर सुनकर उनकी आँखें भर आईं। अपना दुःख कुछ भी हो सह्य है, किन्तु मित्रों को अपनी दयनीय स्थिति के कारण संकोच करना पड़े! विधि की विडम्बना तथा असमर्थता के आँसू फूट पड़े। नेत्र जैसे कह रहे थे—हमारा शरीर ही तो अशक्त था—क्या

दिल भी रुग्ण समझ लिया ? उनकी मूक भाषा के सामने वर्मा जी गड़ से गये । बहुत समझाया, आश्वासन दिया, किन्तु उसी अवस्था में नवीन जी स्वयं टैक्सी में उनके साथ गये तथा सामान उठवाकर लाये । विशुद्ध सहृदयता एवं आत्मीयता के ऐसे प्रसंग क्या कोई हृदयहीन भी भुला सकेगा ?

समाज के लिए समर्पित प्राण

सन् १९१६ की बात है । लखनऊ में काँग्रेस का वार्षिक-अधिवेशन होने जा रहा था । इस अधिवेशन में देश के कोने-कोने से जन-प्रतिनिधि आये हुए थे । बुद्धि-जीवियो से लेकर ठेठ देहातियो तक । उस समय की इस राष्ट्रीय-संस्था मे जनता का अटूट विश्वास था । मध्यप्रदेश के एक गाँव के निवासी 'पं. बालकृष्णशर्मा' भी जो उस समय युवावस्था में ही थे, इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे । वेषभूषा और रहन-सहन से वे एकदम ग्रामीण ही लग रहे थे । परन्तु उनके मुखमण्डल पर ज्ञान और देशभक्ति के अभिमान की आभा चमक रही थी ।

इसी अधिवेशन मे श्रीगणेशशंकरजी विद्यार्थी भी आये हुए थे । उन्होने इस नवयुवक को देखा और परिचय प्राप्त किया । नवीनजी ने अपने परिवार की स्थिति से लेकर स्वयं की भावनाओ और निष्ठाओं तक की बात कह दी । बात चीत के दौरान विद्यार्थी जी ने उन्हे एक निष्ठावान युवक, साहसी और उत्साही हृदय के स्वामी के रूप मे पाया । इनका उपयोग राष्ट्रीय कार्य मे करने के लिए विद्यार्थी जी ने पूछा—"क्या ! तुम मेरे साथ रहकर अपने देश के लिए काम करने को तैयार हो ।"

"हाँ ! मैं तैयार हूँ परन्तु मुझे करना क्या होगा ।"

यह सब समय आने पर बता देंगे—विद्यार्थीजी ने नवीनजी को आश्वस्त किया । नवीनजी उस समय तो अपने गाँव लौट आये । वे मैट्रिक मे पढ़ रहे थे, वार्षिक परीक्षा देकर वे विद्यार्थीजी के पास कानपुर चले आये । यह आगमन ही उनका देश और समाज के प्रति समर्पण बन गया । विद्यार्थीजी के सान्निध्य में रहकर उन्होंने अपनी योग्यता और प्रतिभा का जो उच्चतम विकास किया वह उनकी निष्ठा और भावना का ही परिणाम कहा जाना चाहिए ।

पाँच वर्षों तक वे लगातार विद्यार्थीजी के साथ रहे और उनसे जो कुछ भी सीख सकते थे सीखा और उन शक्तियो को जाग्रत किया जिनके बलपर वे स्वय तो उन्नति के पथ पर अग्रसर हुए ही औरों को भी आगे बढ़ाने मे सहायक बन सके । १९३१ में कानपुर के साम्प्रदायिक दंगों मे विद्यार्थीजी चल बसे । उन दिनो 'प्रताप' जो विद्यार्थीजी के देखरेख मे निकलता था राष्ट्रीय-जागरण का अग्रदूत समझा जाता था । उनका देहान्त स्वाधीनता-आन्दोलन की अपूरणीयक्षति थी । फिर भी कोई भी जन-आन्दोलन कई वीरों के बलिदान से मन्द नहीं पड़ता । जागरण की मशाल थामने के लिए दूसरे हाथ तुरन्त बढ़ जाते हैं ।' 'प्रताप' का उत्तरदायित्व भी उसी प्रकार नवीनजी ने सम्हाल लिया था । हालांकि यह एक गुरुतर जिम्मेदारी थी परन्तु नवीनजी तो आत्म-विश्वासपूर्वक उसे निभाने के लिए आगे गये थे । उन्होंने विद्यार्थीजी जैसी महान विभूति के साथ रहने के अवसर का पूरा लाभ उठाया ।

अब उनका घर 'प्रताप' प्रेस की एक सँकरी सी कोठरी बन गया था । उनका एक और भी घर बना वह था—'कारावास' जेल और 'प्रताप' प्रेस की कोठरी ही उनका निवास रही ।

नवीनजी ने तत्कालीन राष्ट्रीय-चेतना के स्वर को वाणी दी थी । वे निश्चित ही अभूतपूर्व प्रयास करते रहे जो देश के हित में थे फिर भी उन्हें शीर्षस्थ नेताओ मे वे स्थान नहीं मिल सका जिसके कि वह अधिकारी थे । इसका एकमात्र कारण था उनकी अटूट सिद्धान्तनिष्ठा । उन्होंने किसी भी व्यक्ति अधिकारी या नेता को खुश करने के लिए उन सिद्धान्तो से कभी भी समझौता नहीं किया जिन्हे वे देशहित में बाधक समझते थे । यदि वे परिस्थितियों से तथा अन्य व्यक्तियों से समझौता कर लेते तो शायद वे भी राजनीति के क्षेत्र मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना सकते थे । किन्तु यह कार्य उन्हें अपनी अन्तरात्मा के सर्वथा विरुद्ध लगा । स्मरणीय है कोई भी महामानव अपने अन्त.करण मे बैठे परमात्मा की आवाज अनसुनी नहीं करता ।

अपने साथियो से किसी बात पर मतभेद होने पर वे स्पष्टरूप से कह दिया करते थे । सन् १९४२ में महात्मागाँधी तक से उनका कुछ विषयों पर मतभेद हो गया था । जो खुलकर सामने आया था । ४७ के बाद हिन्दी को लेकर नेहरूजी से भी टकरा जाने मे उन्हें बिल्कुल भी संकोच नहीं हुआ । इस कारण कई लोग उनके विरोधी बन गये थे, समाज देश और संस्कृति के प्रश्न पर उन्होंने सौदेबाजी की नीति का सदैव ही विरोध किया । इन विरोधों और मतभेदों ने भले ही उन्हें सामाजिक रूप से इतना प्रतिष्ठित न बनाया हो जिसकी उन्हें इच्छा भी नहीं थी, परन्तु आत्म-सन्तोष के रूप में ईश्वरीय कृपा का जो लाभ उन्हे प्राप्त हुआ वह हजारों लोकसिद्धियों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है ।

नवीनजी का जीवन अभावों में ही बीता था । फिर भी वे गरीबी से निस्पृह होकर जिये । जब भी कभी इस विषय मे कोई चर्चा चलती तो वे कहते—"भई हम तो उन लोगों में से हैं जिन्होंने अपनी जिन्दगी सड़कों पर काट दी और मरने के समय अस्पताल में पहुँच गये । यह उत्तर किसी भी समस्या को सहज ढंग से लेने की प्रवृत्ति का परिचायक था । मूलतः उनकी मान्यता थी कि जनसेवा का व्रत लेने वाले किसी भी व्यक्ति को सम्पन्न साधनों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए अन्यथा वह समय जो अभीष्ट-लक्ष्य को प्राप्त करने में लगाया जाना चाहिए था वह व्यर्थ के कार्यों में खर्च हो जाएगा ।

जो समाज-सेवक प्राप्त स्थिति में ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते हैं उनके लिये तो सेवा एक व्यवसाय है, जो अन्य दूसरे व्यवसायों से अधिक और सरलतापूर्वक लाभ देता है। सेवा को व्यवसाय बना लेने से इस महिमामय मार्ग का तो कुछ नहीं बिगड़ता, उसका अवमूल्यन करने वाला अवश्य ही अन्तरात्मा की दृष्टि में पतित हो जाता है। नवीनजी ने इन विचारों को अपने जीवन में उतारकर दिखाया कि एक समाज-सेवी को जीवन-निर्वाह के लिए किन वस्तुओं की कितने परिमाण में आवश्यकता होती है।

उनके व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता थी उनका सरस स्वभाव और उतना ही कठोर अनुशासन। उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति कुछ ही देर में जान जाता था कि नवीनजी जितने विनोद प्रिय हैं उतने ही अनुशासन की उपेक्षा के लिए रुद्रावतार भी। यही कारण है कि उन्हें अव्यवस्था या अनियमितता तनिक भी सहन नहीं होती थी। बड़ी-बड़ी सभाओं में विशालजन-समूह को उनकी लताड़ सुननी पड़ी है और जनता अपने किसी अग्रज की फटकार के समान सुनकर अपनी गलतियों को सुधार लेती थी। सभा-सम्मेलनों में शायद ही कोई व्यक्ति इतना हावी हुआ।

उनके जीवन की सभी गतिविधियाँ सत्य एवं न्याय की प्रतिष्ठापना के इर्द-गिर्द घूमती रही हैं। इसी आदर्श के लिए वे विप्लवी पत्रकारों की पंक्ति में आ बैठे। पत्रकार के उत्तरदायित्वों को उन्होंने बड़ी अच्छी तरह निबाहा। उन्होंने प्रताप को एक पत्र के रूप में विकसित किया। स्वतन्त्र-पत्रकारिता आज के युग में तो बड़ी आसान बात है। अपने देश में, अपने ही राज में समाचार-पत्र किसी भी नेता, अधिकारी या दल की आलोचना कर सकते हैं। परन्तु पराधीनभारत में ऐसी बात नहीं थी। उस समय सरकार के खिलाफ कुछ लिखना या छापना तो दूर दो शब्द भी मुँह से निकलना बहुत बड़ा दण्डनीय अपराध था। परन्तु नवीनजी सदैव निर्भयतापूर्वक सरकार की आलोचना करते रहे, इस लिए उन्हें कई बार जेल यात्रायें करनी पड़ी फिर भी उन्होंने निष्पक्षता को तिलाञ्जलि नहीं दी।

इस टिप्पणी पर बड़ी प्रतिक्रिया हुई थी। उस समय उत्तर-प्रदेश में काँग्रेस की सरकार थी। स्पष्टरूप से यह टिप्पणी काँग्रेसी शासन पर प्रहार था। जिसके कारण कई लोगों को बुरा लगा। इस पर नवीनजी ने कहा—"कोई भी संस्था, दल या सरकार क्यों न हो यदि वह जनता के कष्टों को दूर करने में असमर्थ है तो बेशक उसे हटाया जाना चाहिए।"

लोकहित को महत्व देने वाले नवीनजी को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद और भी अधिक संघर्ष करना पड़ा। विदेशी शासकों को भगा देने के बाद अधिकांश शासकों ने यह समझ लिया कि अब देश में निर्विघ्न रामराज्य की स्थापना हो जायगी। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो इस दृष्टि-भ्रम से अच्छी तरह परिचित थे और यह जानते थे कि अब और भी खतरनाक शत्रु देश के भीतर भरे पड़े हैं जिनका सफाया करना बाकी है। नवीनजी भी ऐसे ही युग-दृष्टा पुरुष थे। वे जानते थे कि और भी ज्यादा विषैलेतत्त्व हमारे समाज के भीतर भरे पड़े हैं जिन्हें निकालना बहुत जरूरी है। कुछ थोड़े से अन्य व्यक्तियों ने इस प्रकार का प्रयास किया। नवीनजी इन्हीं व्यक्तियों में से थे। उन्होंने उच्च नेतृत्व का ध्यान देश के आन्तरिक शत्रुओं और विषधरों की ओर आकृष्ट किया। फलस्वरूप उन्हें स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी संघर्ष का सामना करना पड़ा था।

नवीनजी का साहित्य पाठक को उत्कृष्टता, त्याग और बलिदान की प्रेरणा देता है। उन्होंने मात्र बुद्धि विलास के लिए नहीं लिखा वरन् जो कुछ लिखा वह पढ़ने वालों में आक्रोश पैदा करने के लिए लिखा था। एक ऐसा आक्रोश जो समाज की तमाम विकृतियों को दूर फेंक कर सतप्त वातावरण में शीतल-सुखद-लहरों का संचार कर सके। उनके साहित्य में यह विशेषता उनकी गहन अनुभूति और तीव्र संवेदना के कारण ही आ पायी है।

मौलिक चिन्तक और लेखक के रूप में उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप अवश्यमेव दिखायी देती है। नवीनजी आजीवन योद्धा के रूप में संघर्ष करते रहे, उन्होंने एक योद्धा के रूप में समाज के प्रति अपना कर्तव्य निभाया था। अतएव यह भी निश्चित है कि उनका साहित्य भी उसी ऊष्ण यौवन का प्रतिनिधित्व करने वाला बना।

२९ अप्रैल, १९६० को उनका देहान्त दिल्ली में हुआ। वे शब्द जो उन्होंने कभी मजाक के रूप में कहे थे अक्षरशः सत्य सिद्ध हुए। कई स्थानों से सम्बन्ध जोड़-तोड़ कर उन्होंने दिल्ली के विलिंगडन-नर्सिंग-होम में अपनी इह लीला समाप्त की।

भावनाओं का सौन्दर्य—महादेवी वर्मा

कमरे में लगे आदमकद शीशे के सामने बैठे उसे देर हो गई। पता नहीं दर्पण उसे क्या बता रहा है, अथवा वह स्वयं इस काँच के टुकड़े में कुछ ढूँढ रही है। जरीदार लाल साड़ी, हाथों में भरी-भरी काली चूड़ियाँ, अंग-प्रत्यंगों में अपनी आभा-विकीर्णित करते सुवर्ण आभूषण, सिर में लाल रंग की रेखा बनाता सिन्दूर—उसके नववधू होने की पहचान दे रहे थे। कीमती साजो-सामान से भरापूरा कमरा ऐश्वर्यवान होने की गवाही देने के लिए काफी था। उसकी निजी आलमारी पुस्तकें यह बता रही हैं कि विद्या का भी वास है।

धन-ऐश्वर्य-विद्या अभिरुचि के बावजूद वह उदास थी। पलकें व्यथा के भार से बोझिल थीं। मुख पर उभरने वाली आड़ी-तिरछी रेखाओं ने उदासी का स्पष्ट रेखांकन कर रखा था। मुख मनुष्य का भाव-दर्पण है। किन्हीं गहन आयामों में होने वाली हलचलें, भावों का आलोड़न-विलोड़न इसमें उभरे बिना नहीं रहते। अनायास उसने होंठ सिकोड़े, माथे की लकीरें बिखरी और कुछ शब्द फिसले 'सौन्दर्य' किन्हें

कहते हैं सुन्दरता ?' शब्द अस्फुट होने बावजूद स्पष्ट थे। पता नहीं किससे पूछा था यह सवाल।

वैसे दिखने में यदि उसके नाक-नक्श तराशे हुए नहीं हैं—तो कुरूप भी नहीं कहा जा सकता। अंधी-कानी, लँगड़ी-लूली, बहरी तो वह है नहीं। सुन्दरता की पहचान क्या महज चमड़ी की सफेदी है ? मोहक चाल, इठलाती मदभरी आँखें, तराशी हुई संगमरमरी देह-यष्टि जो अपनी रूपज्वाला में अनेक को झुलसा दे अथवा व्यक्तित्व के गुणों का समुच्चय चरित्र उच्च मानवीय गुणों से युक्त हो और कर्तृत्व सत्प्रवृत्तियों का निर्झर हो जिसकी विशालता के कारण अनेक जिन्दगियाँ विकसित हों। उसके पूछे गए प्रश्न के यही दो उत्तर हैं—जो आदि काल से वातावरण में गूँज रहे हैं—"किसी एक को चुनना है।"

वे उठ खड़ी हुईं। विषाद की लकीरें गहरी पड़ीं। सोचने लगी, विवाह हुए अभी ज्यादा दिन नहीं हुए। पति का उसके प्रति यह व्यवहार—ताने, व्यंग्य, कटूक्तियों की मर्म पीड़क बौछार सुनते-सहते उसका अस्तित्व छलनी हो गया है। यदि उसके पास वासनाओं की उद्दमता भड़काने वाली रूप-राशि नहीं है, तो इसमें किसका दोष है ? गुणों के अभिवर्द्धन में तो वह बचपन से प्रयत्नशील रही है। बेचैनी से उसके कदम कमरे की दीवारों का फासला तय करने लगे। विचारों की धारा प्रवाहमान हुई। रूपराशि भले—दो जीवनों में क्षणिक आकर्षण पैदा करे—पर सम्बन्धों की डोर मृदुल व्यवहार के बिना कहाँ जुड़ पाती है ? चरित्र की उज्ज्वलता के बिना भी कभी-आपस में विश्वसनीयता पनपी है। रूपराशि क्या क्लयोपेट्रा के पास कम थी, जिसकी रूप ज्वाला के अंगारों में मिस्र और रोम तबाह हो गया। विश्व-विजयी कहलाने वाला सीजर पतंगे की तरह भुन गया है।

आज निर्णय की घड़ी है। निर्णय की घड़ी क्या-निर्णय हो चुका। पति-साफ कह चुके "मैं तुमको साथ नहीं रख सकता।" उनकी दृष्टि ने शरीर के अलावा और कुछ कहाँ देखा था ? यदि देख पाते तो—काश ! बेचैनीपूर्वक टहलते-टहलते पलँग पर बैठ गईं। अचानक उसने घड़ी की ओर देखा, शाम के ५.१५ हो चुके। अब तो आने वाले होंगे। नारी रूढ़ियों से एक वस्तु रही है—पुरुष के परुष हाथों का खिलौना। याद आने लगा इतिहास की अध्यापिका का वह कथन—यूनान के भारत प्रवेश के बाद मगध में नारियों की हाट लगने लगी थी। रूप-विक्रेता लज्जा वसन तक तार-तार कर फेंक देते थे। खरीदार आकर उन्हें इस तरह टटोलते जैसे कोई कसाई देख रहा हो कि पशु में कितना माँस है। महामति चाणक्य ने इस का अन्त कराया। अब कहाँ है चाणक्य ? कहाँ सुप्त है वह ब्राह्मणत्व ? आज क्या नारी नहीं बिकती ? सोचते-सोचते उसका मन विकल हो उठा था।

तभी दरवाजे पर बूटों की खड़खड़ाहट सुनाई दी। शायद मन में कुछ कौंधा। अपने को स्वस्थ सामान्य दिखने की कोशिश करने लगी। थोड़ी देर में सूटेड-बूटेड ऊँचे गठीले शरीर के एक नवयुवक ने कमरे में प्रवेश किया, जिसके मुख मण्डल पर पुरुष होने का गर्व था। एक उचटती सी नजर उस पर डालकर वह कुर्सी पर बैठा व प्रश्न दाग बैठा-"हाँ तो क्या फैसला किया तुमने ?"

घुटन या संघर्ष में से वह पहले ही संघर्ष चुन चुकी थी। पति का निर्णय अटल था अतः उसने बंधनों से मुक्ति पाली। अधूरी पढ़ाई फिर चली, समय के सोपानों के साथ उसने कदम बढ़ाए। बढ़ते कदमों ने उसे स्वातन्त्र्य-यज्ञ का होता बनाया। संवेदना, शक्ति बनी व गुणों के वृक्ष पर कविता के प्रसून खिले और यह कविता बन गयी नारी की अनकही संवेदनाओं की। साहित्य के क्षितिज पर एक नीहारिका का अवतरण हुआ, जिसमें भावों के ब्रह्माण्ड सँजोए थे। कविता के भवन में उसका सौंदर्य दीप शिखा बन चमका। भावना के सौंदर्य से भरी इस महीयसी को भारत ने 'महादेवी' के रूप में जाना।

उनकी जीवन-गाथा एक सवाल दुहराती है यदि संवेदनशील, गुणवान, व्यक्तित्व, सौंदर्यशाली नहीं है तो फिर सौंदर्य की परिभाषा क्या है ?

यह जीवन प्रभुमय कैसे बने ?

प्रयाग निवासी और दूर से आने वाले त्रिवेणी-संगम की ओर जा रहे थे, कुछ उधर से लौट रहे थे। माघमास की कड़कड़ाती सर्दी बिना किसी भेद-भाव से सभी को अपनी ठिठुरन भरी धमकी सुनाकर काँपने के लिए विवश कर रही थी। ऐसे में कुत्ते का छोटा-सा पिल्ला-जो थोड़ी देर बाद कूँ-कूँ कर देता—उसकी खबर किसे होती है। सड़क के किनारे पड़ा वह बस आने-जाने वालों को एक नजर उठा कर देख लेता। मानो पूछ रहा हो—"हे धर्मधुरन्धरो ! तुम्हारे धर्म में सेवा, सहिष्णुता, परदुःख कातरतायुक्त सम्वेदनाओं का स्थान है कि नहीं ?" पर अपनी प्यास को रोक कर यक्ष के सवालों को सुनने, जवाब देने वाले युधिष्ठिर का-सा धैर्य भला किसी में कहाँ था ? उलटे उसे पैरों की ठोकर और लगा देते।

इसी बीच एक प्रौढ़ वय का व्यक्ति निकला उसने पिल्ले को देखा, उठाया और अपनी छाती से चिपटा लिया और चल पड़ा। त्रिवेणी-संगम की ओर नहीं, बल्कि वापस टूटे-फूटे अपने आवास की ओर। द्वार खोलकर एकमात्र शीत-कालीन वस्त्र फटा कम्बल उठाया और उसमें पिल्ले को लपेट लिया। हल्के से गर्म दूध को सकोरे में भरकर पिलाना शुरू किया था, कि एक महिला उन्हें खोजती हुई आ गई। क्या कर रहे हो भाई ? बैठो-बहिन कहकर उन्हें आत्मीयतापूर्वक चटाई पर बिठाया। बहिन ने अपने भाई से, थोड़ी देर अपने साथ घूम आने का आग्रह किया। इस पर वह बोले "बहिन अभी इस पिल्ले की देख-रेख मेरे जिम्मे है। इसकी माँ आ जाय तो मैं चलूँ।"

पता नहीं आप इसे कहाँ से उठा लाये ? कैसे ढूँढ सकेगी इसकी माँ ?-भाई ने जवाब दिया -पशु कहे जाने वाले इन प्राणियों में हम मनुष्यों से अधिक भाव सम्वेदना है । एक के प्राण दूसरों को पुकार ही लेते है । चाह राह बना ही देती है । राह भूलकर भटका है तो सिर्फ मनुष्य क्योंकि वह भावनाओं और विवेक की कम्पास खो बैठा है । फिर दिशा कौन सुझाए ? पिल्ला दूध पी चुका था, उसने सन्तुष्ट हो कूँ-कूँ की । लगा जैसे उनके कंपन से हामी भर प्रामाणिक ठहरा रहा हो । क्या कभी मूर्छित और जर्जर ढाँचा ढोने वाले धर्मोपदेशक, समाजसेवी सच्चाई को जानने की कोशिश करेंगे? ईंट-पत्थर जुटानें जरा-जरा सी बात पर दंगा फसाद करने में सारी शक्ति कचड़े में फेंक देने वालों को कभी यह पता चलेगा कि उनका भगवान-हाथी, गीध, गिलहरी तक की सेवा के लिए सब कुछ भुलाकर नगे पाँवों दौड़ा है । गोद में उठाकर छाती से चिपटाकर असीम प्यार दिया है । कहते-कहते गला रुँध गया हिचकियाँ शुरू हो गई, आँखों से आँसुओं का झरना बह निकला ।

आगन्तुक महिला की आँखों में भी आँसू डबडबा आए । जिस किसी तरह अपने को रोककर-सम्हालते हुए कहा—होगा भाई-जरूर होगा । कब ? भर्राये गले से एक शब्द निकला। उत्तर था—जब आज की पीढ़ी मानव के सूखे-बंजर अन्तराल भावनाओं की भागीरथी प्रवाहित करने के लिए भगीरथ बन जाएगी । जब ये अनेक भगीरथ इस गंगावतरण हेतु अपने अस्तित्व को भोगने के लिए तैयार होगे जब भक्त-भगवान की पीड़ा को समझेगे और निवारण के लिए सर्वस्व त्याग को एक उपलब्धि मानेगे । हाँ—तब तो होगा-बहिन । तब अवश्य होगा । विश्वास जगा, आशा उभरी । 'पर । आप इस जीर्ण-शीर्ण करते और फटे कंबल में इतनी भयंकर ठण्ड मे गुजर करते है ।'' "सब हो जाता है ।'' नहीं इस बार—तो नया कोट बनवाना ही पड़ेगा । बहिन का आग्रह पहले तो टालते रहे,पर जब वे नहीं मानी तो उन्होंने स्वीकृति दे दी । इसी बीच बातो के सिलसिले मे कुतिया सूँघती-सूँघती आ पहुँची और पिल्ले को ले जाने लगी । दोनों मूक प्राणियो मे कृतज्ञता के भाव थे ।

इस दृश्य को निहारते हुए दोनो बाजार गए एक सौ आठ रुपए का बढ़िया कोट बना । उसे पहनकर उन्होंने दर्पण मे अपने को देखा तो कहने लगे-बहिन तुम्हारा हर काम बड़ा सुन्दर होता है, साहित्य की तो छोड़ो यह कोट भी बड़ा सुन्दर बना है । मुझे बड़ा पसन्द आया । "बहिन के हर्ष का पारावार न रहा चलो उसके औघड़ भाई ने सलीके से कोट पहिनना तो स्वीकार किया ।''

तीसरे ही दिन जब वह उनके पास मिलने पहुँचे तो शरीर पर वही तार-तार हुआ पुराना कुर्ता और ऊपर से वही फटा कंबल था । बहिन ने जब उन्हे डाँट पिलाई तो सकुचाते हुए बोले क्षमा करना बहिन वह कोट तो मैने कल रात ही रिक्शे वाले को दे दिया जो रात्रि की शीत से बुरी तरह ठिठुर रहा था । पर दुःखकातरता की इस पराकाष्ठा ने उनका अन्तर भिगो दिया । रुँधे गले से बोली सच है भाई सभी प्रकार के विकास का मूल तो आत्मविस्तार में सन्निहित है । उसका एक कण भी हम अपने में ला सके तो उस सच्चे सुख को हम भी पा सकेंगे जो दूसरों के दु:ख दूर करने पर मिलता है । तुमने ऐसा ही सुख पाया है । तुम्हारे जैसे, पर-पीड़ा के लिए हँसते-हँसते सर्वस्व लुटाने वाले महामानवों से वर्तमान पीढ़ी, मानवीय भाव सम्वेदनाओं की सुरसरि प्रवाहित करने, नए समाज को गढ़ने के लिए-अपना सब कुछ लुटाने की प्रेरणा प्राप्त कर सकेगी ।

परपीड़ा निवारण के लिए—अपने को भूलने वाले, विप्लवी साहित्यकार, सर्वथा अकृत्रिम जीवन के स्वामी पं. सूर्यकान्तत्रिपाठी 'निराला' और उनकी मुँह बोली बहिन थी पीड़ा की अमरगायिका महादेवी वर्मा । एक माँ की कोख से न पैदा होने पर भी भावनाओं को विचारों के एक ही स्तर से दोनों का व्यक्तित्व उपजा था ।

अपना स्वयं का भी व्यक्तित्व उसी उच्चस्तरीय, भावनाओं एवम् विचारों को लेकर गढ़ना नवयुग की एक सबसे बड़ी माँग है । सामाजिक कायाकल्प के लिए श्रम, समय, मनोयोग की समूची पूँजी भावनाओं का सपुट लगाकर नवयुग के सृजन में समर्पित करना ही महामानवो को अभीष्ट है ।

सुन्दरम् के संत कवि—मलिक मुहम्मद जायसी

एक तो चेचक के दागों से भरा हुआ चेहरा ऊपर से कालारंग और शरीर को मात्र आत्मा का वाहन मानने के कारण उसे सजाने, सँवारने के प्रति-आकर्षक बनाने के प्रति उदासीनता—सीधी-सादी आडम्बरहीन वेशभूषा शरीर के सौन्दर्य को देखने वाले के लिये तो मात्र हँसने की वस्तु थी । सो एक राजा एक संत को देखकर हँस पड़ा । सत को राजा की हँसी पर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा-"मोहि का हँससि की कोहरे ।'' (तुम मुझे देखकर हँसते हो या ईश्वर की बनाई हुई वस्तु पर)

प्रभु-प्रेम-रस छककर पीने वाले इस संत के इन वचनो में जो गूढ़सत्य छिपा है उसकी प्रतीति यदि प्रत्येक मनुष्य को हो जाय तो फिर क्या कहने उसे यह सम्पूर्ण सृष्टि ही सौन्दर्यमय दिखायी देने लगे । उसे कोई भी वस्तु असुन्दर न लगे । संत के ये वचन सुनकर राजा विचार मे पड़ गया । जब इन शब्दो का अर्थ उसे समझ में आया तो वह सत से क्षमा माँगने लगा । पर वे तो मानापमान से ऊपर उठ चुके थे । उन्हे तो बोध भर कराना था राजा को कि ईश्वर की बनाई वस्तु असुन्दर नहीं होती हमारे मन का कलुष, हृदय का अज्ञान ही उसे ऐसा देखता है । ये सत थे मलिक मुहम्मद जायसी जिन्होंने धर्म के बाह्य स्वरूप को त्याग कर उसके गूढ़ तत्व अध्यात्म को अपनाया था और आत्म-प्रतीति के द्वारा परमात्म-प्रतीति तक पहुँचे थे ।

हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई आदि धर्म सम्प्रदाय की नाके-बंदियाँ है। अध्यात्म के मार्ग मे ऐसा कुछ नहीं, वहाँ तो मैं और मेरा ईश्वर बस ये दो ही एक सिक्के के दो पहलू बनकर रहते हैं। व्यक्ति, धर्म के क्षेत्र में हिन्दू, मुसलमान, सिख पारसी बौद्ध और जैनी है पर अध्यात्म के क्षेत्र मे तो बस आत्मा है, परमात्मा के विरह में विदग्ध व्याकुल। मलिक मुहम्मद जायसी भी धर्म के ऊपर उठकर अध्यात्म के उस ईश्वरीय साम्राज्य में पहुँच गये थे।

मलिक मुहम्मद जायसी शेरशाह के समकालीन थे। उनके जन्मस्थान और संवत के बारे मे कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि वे शेरशाह के समकालीन है। अनुमानतः उनका जन्म सम्वत १५५७ मे गाजीपुर के एक निर्धन मुस्लिम परिवार मे हुआ था। जायस (राय बरेली जिले का एक ग्राम) मे ये बाद मे आकर रहने लगे थे। यहीं उन्होंने अधिकांश काव्य-ग्रन्थ रचे थे।

बचपन मे ही इन्हे चेचक निकली थी जिससे उनका चेहरा ही कुरूप नहीं हुआ था अपनी एक आँख भी खो बैठे थे। एक तो निर्धनता उसके ऊपर से कुरूपता इन दोनों के कारण वे मनुष्यो के प्रेम से प्रायः वंचित ही रहे। पर उन्होंने अपनी जिज्ञासा और साधना के बल पर उस प्रेम के दर्शन कर लिये, उसे पा लिया था जिसके बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

महात्मा तुलसी और सूर की तरह उन्हे भी बचपन और यौवनकाल में बहुत कष्ट सहने पड़े थे। वे किशोर ही थे कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया और निराश्रित जायसी को जीविकोपार्जन के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकना पड़ा। जायसी बहुत जिज्ञासु थे। उनकी यह जिज्ञासा बाहर की ओर नही भीतर की ओर थी। उनके सामने मात्र जीविकोपार्जन की समस्या ही नहीं थी, उनके सामने कई गूढ़ प्रश्न भी थे कि मनुष्य खाने, पीने, सोने बैठने, मौज-मजा करने और बच्चे-बच्ची पैदा करने मे ही लगा रहे। क्या यही जीवन का चरम सत्य है ? यह सब तो पशु भी कर लेते हैं। सुख-दुख क्या है ? क्या मनुष्य इन सबसे ऊपर उठ सकता है ? मनुष्य मरता क्यो है ? आदि ऐसे कई प्रश्न थे जिनके उत्तर खोजने के लिये वे व्यग्र रहा करते थे।

आजीविका के लिये वे स्थान-स्थान पर भटके। वहीं इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिये भी प्रयास करते रहे। ऐसी बात नहीं कि ये प्रश्न केवल जायसी के मन में ही उठे हो अन्य मनुष्यो के मन मे नही। ये प्रश्न हर जिज्ञासु व्यक्ति के मन में उठते हैं पर वह उनके उत्तर खोजने का प्रयास नहीं करता। वरन् संसार के क्रिया-कलापों में ही लिप्त होकर रह जाता है। किन्तु, इन प्रश्नो के खोजे बिना सम्यक दृष्टि का विकास हो पाना सम्भव नहीं होता। आहार, निद्रा, भय आदि की सामान्य वृत्तियों से ऊपर उठ पाना सम्भव नहीं होता।

जायसी के समय में अध्यात्म के इन गूढ़ प्रश्नों के उत्तर, मात्र सत्संग के द्वारा खोजे जा सकते थे। वे जहाँ भी गये शारीरिक आवश्यकताओं के लिये तो जीविकोपार्जन करते रहे साथ ही आत्मिक-क्षुधा की तृप्ति के लये सत्संग भी करते रहे। दुराग्रह त्यागकर उन्होने हिन्दू और मुसलमान दोनों संत, महात्माओ, साधुओं का सत्संग किया। संसार में इतस्ततः बिखरे पड़े ज्ञान को उन्होने अपनी झोली में समेटा था। मुसलमानों का प्रभुत्व उन दिनों बढ़ा हुआ था। राजनैतिक क्षेत्र में वे विजेता थे अतः चाहते थे कि धार्मिक क्षेत्र में भी उनकी जय हो। किसी मुसलमान के लिये हिन्दू 'काफिर' और 'हिन्दू' के लिए मुसलमान 'म्लेच्छ' हो सकता था पर जायसी तो इन कृत्रिम दीवारों से मनुष्य को बाँटने के पक्ष में नहीं थे। उनके इस विवेक की जितनी सराहना की जाय थोड़ी है, यदि उनकी तरह अपने आपको जानने के लिये धार्मिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सभी धर्मों का अध्ययन करने की प्रवृत्ति हर मनुष्य में उत्पन्न हो जाती तो धर्म के नाम पर इतनी असहिष्णुता नहीं बर्ती जाती जितनी बर्ती गयी है और बर्ती जा रही है।

कई मुसलमानों ने उनसे टोका भी सही "मियाँ तुम भी इस्लाम के अनुयायी होकर क्या काफिरो के संतों के द्वार-द्वार भटकते फिरते हो।" इस पर जायसी उन्हें कहा करते थे—'मै यही तो जान लेना चाहता हूँ कि कौन काफिर है और कौन मुसलमां है।' उनका मन-मस्तिष्क उस सूप की तरह था जो सार-सार को अपने पास रख लेता है और बेकार के कूड़े-कर्कट को फेंक देता है। धीरे-धीरे सत्संग के द्वारा उनके पास काफी ज्ञान सम्पदा हो गयी। वे ज्ञान प्राप्ति तक ही सीमित नहीं रहे। उसके अनन्तर उन्होंने साधना भी आरम्भ की अपने बाह्य स्वरूप को कम महत्व देते हुए उन्होंने अपने को आत्मा मानकर तद्नुरूप सोचने, समझने और व्यवहार करने का अभ्यास किया तभी तो वे किसी राजा द्वारा उनकी कुरूपता पर हँस देने के कारण पूछ बैठे थे कि वह किस पर हँस रहा है, उनकी कुरूपता पर या ईश्वर की बनायी हुई वस्तु पर। शरीर की सुन्दरता का स्थायित्व क्या यह तो अस्थायी वस्तु है, जरा, मरण और रोगादि के कारण कभी भी उसमे परिवर्तन आ सकता है।

कई लोग अपनी शारीरिक सुन्दरता के अभाव में दु.खी और खिन्न रहा करते हैं। उन्हें जायसी की तरह उस सौन्दर्य का बोध पाना चाहिए जो नश्वर नहीं है, जरा और रोग उस पर प्रभाव नहीं डाल पाते। जायसी अपनी कुरूपता और निर्धनता को लेकर कभी दुःखी नही हुए। उन्होंने ईश्वर की उस इच्छा को समझा कि उन्हे क्यों कुरूपता और निर्धनता से विभूषित किया गया है और उनकी यह निर्धनता और कुरूपता उनके लिये वरदान बन गयी। उन्होने उस सौन्दर्य को पा लिया जो सत्य है।

'प्राणी' ईश्वर का राजकुमार अविनाशी आत्मा है। इस सत्य के साक्षात्कार कर लेने और उसे साधना द्वारा परिपुष्ट कर लेने के कारण जायसी के व्यक्तित्व मे अलौकिकता आ

गयी थी । उनका संत स्वभाव और सब मनुष्यों के प्रति एकसा प्रेम, तप-त्यागमय जीवन मिलकर उन्हें असाधारण बनाते जा रहे थे । उनके पास लोग अपनी शकाएं, समस्याएँ और कष्ट-कठिनाइयाँ लेकर आने लगे । जायसी उनका मार्गदर्शन करते रहे । सत्य की साधना और इन्द्रिय-वासनाओं के अध्यात्मीकरण के कारण उनके वचनों में कुछ ऐसी शक्ति उत्पन्न हो गयी थी कि उनके आशीर्वाद से कई लोगों की कामनाएँ पूर्ण होने लगी थी । वस्तुतः यह उनकी साधना का ही अंश था जिसे वे लोक-हित के लिये दिया करते थे । अमेठी के तत्कालीन राजा को उनके आशीर्वाद से पुत्र लाभ हुआ । राजा ने उनका बहुत सम्मान किया और उन्हें अपने यहीं रहने का अनुरोध किया । कुछ दिन तो वे वहाँ रहे भी पर उनके लिये तो सुख सुविधा और कष्ट, राजा और रंक में कोई भेद नहीं था, सो वे अधिक दिनों वहाँ नहीं रह सके । उनकी मृत्यु अमेठी मे ही हुई । अमेठी नरेश ने अपने महल से थोड़ी दूर पर उनकी समाधि बनवायी थी जो आज भी है ।

जायसी हिन्दी के प्रसिद्ध संत-कवियो में से-एक माने जाते हैं । वे कबीरदास जी की तरह खण्डन मण्डन में विश्वास नहीं करते थे । वरन् वे समन्वयवादी थे, सभी धर्मों की अच्छाइयों को स्वीकार कर लेने वाले थे अतः वे धर्म की अपेक्षा अध्यात्म की ओर ही अधिक झुके । अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने खण्डन-मण्डन का सहारा लेकर लोगों के धार्मिक-विश्वास को ठेस लगाये बिना अध्यात्म की सत्यता का प्रतिपादन करने का प्रयास किया था ।

वे सादगी, सरलता, सज्जनता व निस्पृहता की प्रतिमूर्ति थे । वैसी ही सादगी और सरलता उनके काव्य मे भी दिखायी पड़ती है । जन-सामान्य मे प्रचलित लोक-कथाओं के ताने-बाने मे उन्होंने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों जैसे गूढ़ रहस्य का निरूपण किया है । 'पदमावत' उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है । इसमें लौकिक कहानियो के माध्यम से अध्यात्म की अन्तर्धारा प्रवाहित की है । जायसी स्वयं सुन्दर नहीं थे अतः उन्होंने अपने इष्ट उपास्य को सौन्दर्य के रूप में ही पूजा है । कबीर की तरह इन्होंने परमात्मा को आत्मा का प्रियतम नहीं प्रियतमा माना है, समग्र-सौन्दर्य की मूर्तिमती सत्ता । उसके विछोह मे आत्मा को तड़पते हुए दिखाया है पद्मावत मे राजा रतन-सेन को । जायसी को सूफी संत माना गया है । परमात्मा को प्रियतम-भाव से भजने की परम्परा सभी सूफी कवियो में रही है ।

वास्तव में जायसी वेदान्त से अत्यधिक प्रभावित थे । किन्तु, वेदान्त के गूढ़, ज्ञानतत्व को समझ पाना प्रत्येक साधारण व्यक्ति के लिये कठिन था । वेदान्त जैसा ही दर्शन सूफियो का भी था । ईश्वर के प्रति उनके आत्यन्तिक प्रेम को समझ पाना भी हरेक व्यक्ति के वश की बात नहीं थी । 'अखरावट' नामक ग्रन्थ मे जायसी ने नागरी वर्णमाला के अनुसार छंद आरम्भ कर एक ओर वेदान्त और दूसरी ओर सूफी सिद्धान्त का वर्णन किया है । जायसी की इस रचना का उद्देश्य निश्चय ही सूफीमत और वेदान्त की समरूपता दर्शा कर हिन्दू और इस्लाम-मत के मध्य समन्वय स्थापित करने का रहा होगा ।

जायसी ईश्वर के सुन्दरम् स्वरूप पर रीझे थे । उन्हें सारी सृष्टि में उसी के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता था । उसकी शक्ति और प्रभा से सचराचर जगत ज्योतित लगता था । उनके इस इष्ट का स्वरूप पद्मावत के इस दोहे में स्पष्ट होता है ।

नयन जो देखा कमल भा निरमल नीर शरीर ।
हँसत जो देखा हँस भा दसन जोति नगहीर ॥

जायसी ने अपनी कविता के लिये अवधी-भाषा के प्राकृत स्वरूप को चुना है । उनकी भाषा में जो सरलता, सहजता और सौन्दर्य है वह अपने ढंग का अनूठा है । तुलसीदास जी के रामचरित-मानस में अवधी का साहित्यिक स्वरूप देखने को मिलता है तो जायसी के काव्यों में प्राकृत मधुर । यह जनता के लिये समझना और भी आसान है । उन्होंने दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है । इस प्रकार से तुलसीदास जी के मार्ग को सरल बना देने का श्रेय पाने के अधिकारी बने हैं ।

जायसी का सन्त और कवि रूप मिलकर हिन्दी साहित्य और भारतीय जन-जीवन को जो कुछ दे गया है वह हमारी अमूल्य निधियों में गिनी जाती है । धर्म के बाह्यस्वरूप को ही महत्ता देने के कारण भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों के बीच उठ खड़ी हुई असहिष्णुता की दीवारों को गिराने का प्रयास उस समय भी जायसी ने किया जब सत्ता पाकर मुसलमान लोग हिन्दुओं पर घोर अत्याचार कर रहे थे । भला इससे बड़ा आशावाद मनुष्य के लिये और क्या होगा और क्या होगी महान कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा ।

युग के अमरकवि—
पं. माखनलाल चतुर्वेदी

'द्विवेदी' युग की इतिवृत्तात्मकता से ऊबकर व हिन्दी का कवि छायावादी कल्पनालोक में रमने लगा था । राष्ट्रीय व सामाजिक दायित्वो से पलायन करने के कारण छायावादी युग मे कविता जन जीवन के सामयिक जीवन मरण के प्रश्नों से मुख मोड़ चली थी । ऐसे ही समय तक स्वर ऐसा गूंज रहा था जिसमे नैराश्य का नाम निशान नहीं था । समस्याओं से जूझने व राष्ट्रहित मे बलिदान दे देने की प्रबल उमंगों भरा यह स्वर, पं. माखन लाल चतुर्वेदी का था ।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक राष्ट्रीयता मन की गहराइयों को स्पर्श नहीं कर पाती थी ? किन्तु चतुर्वेदी जी के हृदय-हिमालय से निःसृत राष्ट्रीय भावनाओं की सरिता जन-जन के अन्तस्थल को गहरा स्पर्श करती थी । आज भी 'मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक, मातृ-भूमि

हित शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।" काव्यांश अपने चिर नूतन रूप में हमें प्रेरित करता रहता है—राष्ट्र समर्पित जीवन जीने के लिए। यही कारण है कि उन्हें 'भारतीय-आत्मा' के विशेषण से विभूषित किया जाता है।

युग की पुकार को सुनकर युग-गीत रचने वाले इस महानभारतीयकवि का जन्म सम्वत् १९४५ में मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के बावई ग्राम में हुआ था। आपके पिता, पं. नन्द लाल चतुर्वेदी ज्ञान देवता के अनन्य आराधक थे। उन्होंने अपने पुत्र को स्वयं भी बहुत ज्ञान-दान दिया साथ ही साथ पाठशाला में भी पढ़ने के लिए भेजा। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके आपने मिडिल पास किया। १९०३ में नॉर्मल परीक्षा पास करके वे खण्डवा के मिडिल स्कूल मे नियुक्त हो गये।

ज्ञानार्जन की जो क्षुधा उनके पिताजी ने बाल्यावस्था में ही प्रदीप्त कर दी थी वह अध्यापन काल मे भी अपना भोजन माँगती रही। उन्होंने संस्कृत, मराठी तथा अंग्रेजी आदि भाषाओ का पर्याप्त अध्ययन अपने अध्यापन काल में किया। साहित्य-सृजन की प्रकृति छात्रावस्था में ही जाग पड़ी थी। अध्यापन काल में स्वाध्याय, चिंतन, मनन द्वारा वह और भी विकास पा गयी और भरे घट से छलकने वाले नीर की तरह उनके भीतर से कविता फूट निकली थी। वहीं से प्रकाशित होने वाली 'प्रभा' नामक पत्रिका मे उनकी ये कविताएँ प्रकाशित हुई तो उन्हे पाठको ने बहुत पसंद किया।

उन्होंने देखा कि भारतीय जन-मानस पराधीनता, अज्ञान व रूढ़परम्पराओं से कुण्ठित हो चला है, तो उसमें चेतना जगाने की प्रबल कामनाएँ उनके युवा हृदय मे उठने लगी। यों तो बाल्यावस्था मे ही वे अपने समाज की इस दुर्दशा से परिचित हो चुके थे। ज्यों-ज्यों उनका बौद्धिक व मानसिक विकास होता गया त्यों-त्यों वे उनकी इस दुर्दशा से और अधिक प्रभावित होने लगे। अन्ततः वे अपनी कविता के माध्यम से उसे मिटाने का प्रयास करने लगे।

वे साहित्य की ओर उन्मुख हुए तो अध्यापन कार्य उपेक्षित रहने लगा। यह नौकरी उन्हे अपने ऊपर एक बंधन लगने लगी। वे नौकरी से त्यागपत्र देकर पत्रकारिता व साहित्य के क्षेत्र में आने की सोचने लगे। ऐसे ही समय उन्हे एक सहयोगी मिल गये—मध्यप्रान्त के तत्कालीन प्रतिष्ठित नेता पं. माधवरावसप्रे। सप्रेजी इस तरुणकवि से पहले ही प्रभावित थे। वे स्वयं राष्ट्रीय भावनाओ का एक पत्र निकालना चाह रहे थे। उन्हे योग्य सम्पादक की खोज थी। चतुर्वेदी जी उन्हें उपयुक्त लगे। फलतः उन्होंने अध्यापकी त्यागकर पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया।

सप्रेजी ने 'कर्मवीर' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। चतुर्वेदी जी उसके सम्पादक बने। फिर तो इस कर्मवीर को अपना कर्मक्षेत्र मिल गया। लेखनी व कर्म दोनों ही से वे भारतीय जनता की सेवार्थ समर्पित हो गये। 'कर्मवीर' का सम्पादन उन्होंने बड़ी लगन, परिश्रम व निष्ठा से किया। परिणामस्वरूप उनकी वाणी व लेखनी का परिमार्जन ही नहीं हुआ वरन उनकी लेखनी का लोहा पत्रकारिता के दिग्गजों को भी मानना पड़ा था।

उस समय भारतीय-जनता में राष्ट्रीयता की भावना जगाना युग की अनिवार्य आवश्यकता थी। उसके बिना पराधीनता से मुक्ति सम्भव नहीं थी और स्वाधीनता पाये बिना प्रगति के स्वप्न देखना ही व्यर्थ था। मातृभूमि को विदेशी शासकों के पंजों से मुक्त करने के लिए राष्ट्रभक्तों की ऐसी सेना चाहिए थी जो अपने लोभ, मोह से ऊपर उठकर स्वतन्त्रता को अपना चरम उद्देश्य मानकर उसी के लिये अपना सारा जीवन नियोजित कर दे। ऐसे सैनिक उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अपनी प्राणवान लेखनी का प्रयोग किया। साहित्यकार जो युग के इस दुर्वह दायित्व से कन्नी काट रहा था उसे धर्म-बोध कराया।

उनकी प्रारम्भिक कविताएँ जो 'प्रभा' में प्रकाशित हुई थीं, देशप्रेम, ओज, उत्कर्ष व बलिदान की भावनाओ से ओत-प्रोत थीं उन्होंने जनता के हृदय में राष्ट्रीयता की प्रसुप्त भावनाएँ जगाने के लिए उत्प्रेरक का कार्य किया। 'कर्मवीर' के सम्पादन-काल में तो वह और भी प्रखर होकर जनता के निकट सम्पर्क में आये। उनके इस भाव सम्पर्क से देश-भक्तों के दल गठित होने लगे।

१९२१ में उन्होंने असहयोग-आन्दोलन मे सक्रिय सहयोग दिया। जो कुछ वे लिखते थे उसे कार्यरूप मे कर दिखाने के लिए भी वे तत्पर थे। अँग्रेजसरकार के पदाधिकारी तो पहले ही उनकी लौह-लेखनी के प्रभाव को देखते हुए उन्हे पकड़ने के लिए ताक लगाये बैठे थे। आन्दोलन मे कूदते ही उन्हें बंदी बनाकर जेल भेज दिया गया।

शरीर को जेल मे बंद किया जा सकता है किन्तु मनुष्य की भावनाओं व विचारों पर तो पहरे बिठाये नहीं जा सकते। वह तो वहाँ भी कार्यरत रहती है। पं. माखनलाल चतुर्वेदी जेल में भी काव्य-रचना करते रहे। उनके विख्यात काव्य-संग्रह 'हिम किरीटिनी' की अधिकाश कवितायें जेल की चहार-दीवारियों में ही लिखी गयी थीं। ये कविताएँ आजादी के दीवानों के लिए रणभेरी बनकर अवतरित हुई थीं।

कारावास से छूटने पर उन्होंने 'प्रभा' व कानपुर से प्रकाशित 'प्रताप' का सम्पादन किया। 'कर्मवीर' का प्रकाशन आपके बन्दी हो जाने के कारण बन्द ही हो गया था। आपको उससे असीम स्नेह था अतः उन्होंने पुनः उसका प्रकाशन आरम्भ किया। कर्मवीर मे वे अँग्रेज सरकार के विरुद्ध आग उगलने वाले लेख व सम्पादकीय लिखते थे। कर्म और भावना दोनों से ही वे पूरे कर्मवीर थे। उसी का प्रतीक कर्मवीर-साप्ताहिक अपने नाम के अनुरूप ही जन जागरण के कार्य को सम्पादित कर रहा था।

उनके सम्बन्ध मे उर्दू के ख्याति प्राप्त शायर रघुपति सहाय 'फिराक' ने लिखा है—"मुझे याद आता है अब से कोई तीस-चालीस बरस पहले देश गुलाम था तो (कर्मवीर में)

२.३१ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

पण्डित माखन लाल चतुर्वेदी के लेख मेरे जैसे लाखो देश वासियो के दिलो मे, गुलामी के खिलाफ जोश पैदा कर देते थे, जिसे भुलाया नहीं जा सकता। कम से कम मैं तो उन्हे अब तक भुला नही सका हूँ। जब से देश गुलाम हुआ तब से सत्तर अस्सी बरसों तक अँग्रेजी भाषाओ में देश प्रेम के समर्थन व गुलामी के विरोध मे कई करोड़ो शब्द वाले लेख लिखे गये, लेकिन वे सब हवा मे विलीन होकर रह गये और वे आज किसी के दिल व कान मे गूँज नहीं रहे है। 'कर्मवीर' मे निकले माखनलालजी के लेख अब भी कानो व दिलो में गूँज रहे है। माखनलालजी ने लाखो दिलो मे देश-प्रेम व भारतीय-संस्कृति का चिराग जलाया। उनकी वाणी युग-युगांतर तक अमर रहेगी। शक्तिपूर्ण शब्दमन्त्र होते है और मन्त्र अमिट-अमर होते हैं। वैसे ही थे उनके वे लेख।''

'फिराक' गोरखपुरी का यह मत निर्विवाद रूप से सत्य है। चतुर्वेदी जी आत्मा की गहराइयो मे उस पीड़ा को अनुभूत करते थे जो परतन्त्र-भारतवासियो मे व्याप्त थी। उस पर रोते-बिलखते नही थे वरन् पुरुषार्थ, साहस व कर्मनिष्ठा के बल पर दुर्भाग्य को सौभाग्य मे बदलने की प्रबल प्रेरणाएँ उपजाते थे। यही कारण है कि उनका स्वर आज भी सबसे ऊपर हो अमर-मन्त्र की तरह गूँजता है ''चाह नही है सुर बाला के।

स्वतन्त्रता-संग्राम मे उनका अविस्मरणीय योगदान रहा। वे जबलपुर-प्रान्तीय काँग्रेस की कार्यकारिणी-सभा के सदस्य थे। तत्कालीन जिला काँग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पण्डित सुन्दरलालजी उनके बारे मे कहते है—''विस्तृत घटनाएँ तो कैसे लिखूँ, स्मरण-शक्ति अब वैसी नही रही। किन्तु यह बात सदा के लिए दिल पर जमी हुई है कि उतने चमकते दिनों मे भी, इतने सच्चे, इतने नि स्वार्थ, इतने निष्पक्ष, इतने जागरूक, इतने त्यागी, देश-भक्त देश भर मे ढूँढ़ने व याद करने से थोड़े से ही मिलेगे।

वे कलम की धनी थे—सरस्वती के वरद पुत्र थे। अपनी लेखनी के द्वारा नि.सृत एक-एक शब्द को पूरी ईमानदारी से देश व समाज के चरणो पर समर्पित कर देते थे—आराध्य की अर्चन-वदन करने की तरह। स्वार्थ व लोकेषणा की गध भी उनको छू नही सकी थी। चाहते तो ये सब हस्तगत हो सकते थे किन्तु वे स्वयं खाली हाथ ही रहे। आवश्यकता से अधिक पैसा हाथ में आता भी था तो जरूरतमन्दो के हाथो मे दिव्य धरोहर की तरह पहुँचा दिया जाता था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भी वे कलम के मजदूर थे बाद में भी वही रहे। अपनी देश-भक्ति को उन्होने लालची बनकर हुण्डी की तरह भुनाया नहीं। बड़ी साध थी घर का मकान हो। किन्तु जीवन-पर्यन्त वह हो नहीं सका दूसरा दु.खी रहे व वे अपना मकान बनाने के लिए धन सग्रह करे यह हृदय-हीनता भला उनसे कैसे हो सकती थी। 'हिम किरीटिनी' पर देव पुरस्कार मिला। मध्य-प्रदेश व उत्तरप्रदेश सरकार ने भी उन्हे पुरस्कृत किया। मध्यप्रदेश सरकार प्रतिमाह अनुवेतन भी देती रही पर हजार रास्तों से आया हुआ वह धन दूसरो के उपकार में ही गया।

'हिम किरीटिनी,' हिम-तरगिणी, युग-चरण, 'समर्पण', बिजुरी आँच रही काजल' 'मरण-ज्वार', वेणु लो गूँजे धरा आदि उनके अमर-काव्य-संग्रह कवियो व साहित्यकारों को दिशा-बोध देने के लिए पर्याप्त है। साहित्यकार अपनी ईश्वर प्रदत्त विभूतियों का सदुपयोग कैसे करें? उसका समुचित मार्गदर्शन युगो-युगों तक देती रहेगी। उनसे भी अधिक उनका वह 'महान भारतीय आत्मा' कहलाने का गौरव पाने वाला व्यक्तित्व और उनका कर्तृत्व हमे युग-धर्म पालने के लिए प्रेरणा प्रकाश देता रहेगा। जिस प्रकार आयु उन्हे वृद्ध नहीं बना सकी थी वैसे ही मृत्यु उनके अस्तित्व का लोप नहीं कर सकती। ३० जनवरी, १९६८ को वे दिवंगत हुए किन्तु उनकी दिव्य भावनाएँ, प्रेरणाये अमर है, शाश्वत है।

श्रद्धा, विश्वास की साकार प्रतिमा—मीरा

मीरा की गणना ऐसी महान व्यक्तियो मे की जाती है जिन्होने सत्य का सन्देश जाग्रत जीवन के रूप मे जन-मानस के समक्ष रखा था। उस समय मर्यादा के नाम पर स्त्रीजाति को लगभग निष्क्रिय तथा घर की चहारदिवारी मे बन्द करके ही रखा जाने लगा था। समाज के लिये उसका कोई उपयोग नही रहा, केवल खाना पकाने और बच्चे जनने तक ही सीमित रह गया। अन्य क्षेत्रो मे थोड़ी बहुत उनकी पूछ भी थी किन्तु धर्म तथा उपासना के क्षेत्र मे तो उसे बिल्कुल अयोग्य ठहरा दिया गया। उसे न शास्त्र पढ़ने का अधिकार दिया गया था, न किसी उपासना या धर्म-कृत्य मे स्थान दिया जाता था। स्त्रियाँ बचपन मे पिता, जवानी मे पति तथा वृद्धावस्था मे पुत्र के आधीन रहे यही धर्म या मर्म बताया जाने लगा।

ऐसे ही समय सम्वत् १५७३ मे राजस्थान के मारवाड़ की मेड़ता जागीर के रावदूदाजी के सुपुत्र रतनसिंह के घर चौकड़ी ग्राम मे मीराबाई का जन्म हुआ था। बचपन मे ही भगवानकृष्ण के प्रति इस बालिका का अगाध अनुराग था। कृष्ण की मूर्ति को यह दिन रात अपने पास रखती थीं।

इनके पिता का घराना राजपूतो की उच्च-श्रेणी मे था इनके दादा मेड़ता क्षेत्र के राव थे। इनका विवाह मेवाड़ (चित्तौड़) नरेशमहाराणासाँगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। विवाह हुए एक वर्ष भी पूरा न हुआ था कि कुमार भोजराज का देहावसान हो गया। मीरा को इस नश्वरदेह की अनित्यता का यह अनुभव एक नई राह पर चलने के लिये तड़पाने लगा—लोकजीवन मे एक क्रान्ति लाने की सोचने लगा था।

कृष्ण-भक्ति का रग जो बचपन मे चढ़ा था अब और भी गहरा होने लगा था। पति के बिना नारी का पहाड़ जैसा

जीवन यदि उसके पास कोई काम नहीं तो कैसे कटे, उसके लिये उन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाना चाहा । भगवान कृष्ण के चरणों में जीवन समर्पित कर देना था किन्तु तत्कालीन मेवाड़ नरेश विक्रमादित्य को यह स्वीकार न था कि वे इस प्रकार का आचरण करें । मीरा ने देखा कि जब एक रानी होते हुए भी मैं कितनी परवश हूँ तो साधारण नारी की क्या दशा होगी ? उन्होंने इसका विरोध करने की ठान ली तथा नारी को भी मानवोचित अधिकार है यह प्रतिपादित करने के लिए उठ खड़ी हुई । इस संघर्ष के लिये महान आत्म-बल चाहिए । आत्म-बल प्राप्ति के लिये उन्होंने भगवान कृष्ण की भक्ति मार्ग से उपासना की । उन्हें उपासना की उच्च भूमिका पर पहुँचने में अधिक समय न लगा । वे अपने आराध्य का अपने आपसे एकात्म स्थापित करने में सफल हुई । इस आत्म-चेतना को पाकर उनका कार्यक्षेत्र अब और भी विस्तृत हो गया था ।

भक्ति-मार्ग उस समय का सबसे प्रचलित मार्ग था । उसी के आधार पर उन्होंने नया पथ प्रशस्त करने का दृढ़ निश्चय किया था । उस समय जाति-पाँति का भेदभाव चरम सीमा पर था । व्यक्ति की महानता को लोग चरित्र से नहीं जाति से आँकते थे । इस मान्यता का विरोध करने के लिये उन्होंने गुरु वरण किये 'सन्त रैदास' जो कि जाति से चमार थे तथा नित्य चमड़े की जूतियाँ बनाकर निर्वाह किया करते थे । इसके साथ ही उनकी भक्ति-साधना चलती थी । इस महान कर्मयोगी को मीरा ने राजरानी होते हुए भी अपना गुरु चुनकर समाज को बताया कि व्यक्ति को जाति की तराजू से नहीं चरित्र की व गुणों की तराजू से तोलना चाहिए ।

अब मीरा खुले रूप मे विद्रोह करने को प्रस्तुत हो चुकी थीं मर्यादा की जो एक दीवार नारी के उत्थान की राह में स्वार्थी पुरुष-वर्ग ने खींच दी थी उसे तोड़ने के लिये वे कटिबद्ध हो गई थीं । नारी को, उपासना के क्षेत्र में पुरुष वर्ग से, अपने समान मनवाने के लिये वे मन्दिरों में जाने लगीं, वहाँ विह्वल हो नृत्य करने लगीं । यह इनके देवर विक्रमादित्य को बहुत अखरा इन्होंने मीरा को रोका । इस पर मीरा ने वास्तविक स्थिति बता दी कि प्रत्येक आत्मा का नित्य सम्बन्ध परमात्मा से है वही उसका सच्चा पति है । मीरा के पदों मे उसे इस भाषा में लिखा गया है कि जनसाधारण समझ सके । जैसा कि हमारे धर्म ग्रन्थो में प्रायः कवित्वमय शैली मे वर्णन आता है । "मीरा तो अब प्रेम दिवाणी साँवलिया वर पाणा ।" इसके पीछे भाव यही है कि अब मुझे उस परमात्म-तत्व को ही सर्वस्व मानकर उसी का कार्य करना है ।

समझाने से जब मीरा न मानी तो उनको मारने का प्रयास किया गया । राजा ने उनके लिए विष का कटोरा भेजा । उसे मीरा ने भगवान के चरणामृत की तरह ही पान कर लिया । मीरा साधना की उस स्थिति पर पहुँच गई थी कि भावना की प्रबलता के कारण विष का उनके शरीर पर कोई प्रभाव नहीं हुआ । इसी प्रकार उनके लिये साँपों की टोकरी भेजी गई तो वह भी इसी प्रकार शिवलिंग में परिवर्तित हो गए ।

मीरा का नाम हिन्दी-साहित्य के शीर्षस्थ कवियों में गिना जाता है । मीरा के पदों में जो भाव विह्वलता तथा प्रेम की पीड़ा है, गेयता है उसके कारण आज भी मीरा के पदों की लोकप्रियता व महत्ता वैसी ही है । मीरा के पद काव्य-कौशल नहीं है । हृदय के हिमालय से निकलने वाली सुर-सरिता है जिसकी पावनता आज भी असंदिग्ध है । यह पीड़ा और प्रेम और किसी के प्रति नहीं है । यह विश्व-मानवात्मा की पीड़ा ही है, यह विश्व-मानवात्मा के प्रति अनुराग है जो मीरा के पदों में कल-कल करती पुण्य-सलिला की तरह बहा है ।

उपासना से व्यक्ति कितना कुछ पा सकता है । इसका अनुपम उदाहरण मीरा का जीवन है । मीरा उस काल में जन्मी थी जब नारी एक प्रकार से घर के कामकाजों में ही सिमट गई थी । उस गई-गुजरी स्थिति से ऊपर उठकर समाज को गति देने के लिये सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया और वे पुरुष की ही तरह विशेष रूप से ज्ञान और भक्ति का प्रसार करने के लिए द्वार-द्वार घूमी थी ।

मीरा ने जन-जागरण के लिये सरस-सुन्दर पदों की रचना की थी । ये पद भाव सौन्दर्य के साथ-साथ गेय भी हैं इस कारण आज भी उनको साहित्य-जगत मे उच्च स्थान दिया जाता है । इन पदों के माध्यम से मीरा ने लोगों को अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठावान बने रहने की प्रेरणा दी है । मीरा के पद शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों में समान रूप से समादृत होते हैं ।

मीरा का ऊपरी रूप एक सन्त नारी जैसा भले ही लगे किन्तु मीरा का व्यक्तित्व समाज सुधारक तथा क्रांतिकारी का था । अध्यात्म का आधार पूजा, उपासना, नृत्य, कीर्तन आदि साधन भले ही थे किन्तु यही सब कुछ था, यह समझ लेना हमारी भूल होगी ।

लोक-मंगल के लिये किस प्रकार मर्यादाएँ तोड़ी भी जा सकती हैं अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण की तरह उनकी सच्ची भक्त मीराबाई ने तोड़ कर दिखाई है । मीरा के इस क्रान्तिकारी पक्ष को आज भी नारी उजागर करे यह समय आ गया है मीरा ने 'राजरानी' की झूठी शान को युग-धर्म समझकर तिनके की तरह छोड़ दी तथा 'दासी मीरा' का पद समय की आवश्यकता समझकर अंगीकार किया । वैसे ही साहस को आज फिर दोहराने का समय आ चुका है ।

भारतीय संस्कृति के आख्याता
मैथिलीशरण गुप्त

भारतीय जनता की नसो में उस समय एक नया रक्त उबल रहा था । हर कोई कृत-संकल्प था इस बात के लिए कि किसी न किसी प्रकार अंग्रेजो को भारत से खदेड़ दिया

जाय । उधर अँग्रेजी सत्ता संगीने ताने खड़ी थी । गिरफ्तारियो पर गिरफ्तारियाँ हो रही थीं । कहा नहीं जा सकता था कि कौन कब पुलिस का मेहमान बन जाये । ऐसे वातावरण में लोग एक स्वर से गाने लगे—भगवान भारतवर्ष मे गूँज हमारी भारती । अँग्रेज अधिकारियो ने अनुभव किया कि यह मन्त्र सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है । लोगगीत गा रहे हैं—

मानस भवन में आर्यजन, जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती ।।

इस मन्त्र के दृष्टा की खोजबीन हुई तो पता चला कि इसका प्रथम गान करने वाले हैं—मैथिलीशरण गुप्त । गुप्तजी तब राष्ट्रीय-आन्दोलनो मे भी खुलकर भाग लिया करते थे । उक्त पद मे निहित भावनाओं को उन्होंने और भी मुखरित स्वर दिया था । अपनी प्रमुख कृति 'भारत-भारती' मे तब भारत-भारती ने देश के आबाल-वृद्ध नागरिको मे राष्ट्र-प्रेम की भावनाएँ जगाने का महत्वपूर्ण कार्य किया था । कहा जाता है कि १९२१ से १९४० तक भारत-भारती ने जो काम किया, जन-मानस पर जितना प्रभाव छोड़ा उसकी गुरुता को इससे पूर्व महाकवि भूषण ही छू पाये थे ।

अँग्रेजी सरकार को जब यह पता चला कि इस पद्य के गायक और उस भाव-प्रधान-कृति के रचयिता है मैथिलीशरण गुप्त तो उन्होने गुप्त जी को तुरन्त बन्दी बना लेने का निश्चय किया था । अत्याचार और अन्याय के पास स्वय को जीवित रखने का एक ही उपाय रहा है सदा दमन । जो यदि राजसत्ता हो तो गिरफ्तारी तथा कानून से और दूसरा हो तो हिंसा के माध्यम से अपना काम करता है ।

एक दिन ब्रिटिश-पुलिस ने मैथिलीशरण गुप्त को उनके अग्रज रामकिशोर जी सहित बन्दी बना लिया । तब तक गुप्त जी को राष्ट्र-कवि के रूप मे जाना जाने लगा था । सर्वप्रथम भारत-भारती पढ़कर महात्मागाँधी ने उन्हें इस विशेषण से सम्बोधित किया था । डा. राजेन्द्र प्रसाद ने भी जनजागरण में भारत भारती को अभूतपूर्व योगदान देने वाली कृति कहा था । राष्ट्रीय पुनर्जागरण मे भारत-भारती महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थी और जन-जन के हृदय मे प्रवेश कर चुके थे राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त और इधर ब्रिटिश-शासन ने उनके वर्चस्व और प्रभाव से परिचित होते हुए भी उनसे अमानुषी व्यवहार किया था । गुप्त जी गिरफ्तार होने से कुछ दिनों पूर्व ही ज्वरक्रान्त हुए थे । परिणामस्वरूप उनका शरीर काफी दुर्बल भी था ।

वैशाख का महीना था और सन्ध्या का समय । झाँसी से आगरा लाकर उन्हे जेल की अंधेरी कोठरी में ठूँस दिया गया । दोपहर की लपटें तो शान्त हो चुकी थीं परन्तु उन्हें बड़ी तेज प्यास लग रही थी । जेलर से पानी माँगा तो कोई उत्तर नहीं मिला । जैसे ही गुप्त जी ने अंधेरी कोठरी में प्रवेश किया द्वार बन्द हो गये और दोनों भाई उस काल कोठरी में जमीन पर बैठ गये । बहुत देर जेल का ही कोई कर्मचारी टोंटीदार जलपात्र लेकर आया । उसने न तो कोठरी का दरवाजा खोला और न ही कुछ कहा । सीधा आकर सींखचों के बाहर खड़ा हो गया । गुप्त जी समझ गये और उस व्यक्ति के पास जाकर अंजलि से पानी पीने लगे । वह सींखचो के बाहर से ही पानी पिलाता रहा ।

इस प्रकार सात माह तक गुप्त जी अकल्पित घोर यातनाएँ सहते रहे । इन यातनाओ को सहने के लिए जैसे वे पहले से ही तैयार होकर आये थे । इसीलिए उन्हे न तो किसी प्रकार का क्षोभ हुआ और न ही किसी प्रकार की वेदना का अनुभव । यही तो कारण था कि वे उस अंधेरी कोठरी में भी साहित्य-साधना करते रहे । उनका एक प्रधान कृति कुणालगीत का आरम्भ यही हुआ और उसका अधिकाश भाग जेल मे ही लिखा गया । महात्मागाँधी के विचारो से प्रभावित होकर और स्वराज्य को उनकी सुराज्य योजना मे ही भारत का कल्याण होता देखकर व सूत्रयज्ञ के लिए भी समय निकालते रहते ।

सात माह बीत जाने के बाद उनके कुछ सरकारी मित्रों ने उत्तर प्रदेश के गवर्नर से अनुरोध किया । परिणामस्वरूप वे कारामुक्त कर दिये गये । जेल मे उन्होने प्रवेश किया था बुन्देलखण्डी पगड़ी और अंगरखा । पहनकर परन्तु वहाँ से लौटे तो कुरता, बण्डी, धोती और टोपी पहनकर । पहले उन्होंने बुन्देलखण्डी जीवन को उतारा था अपने व्यक्तित्व में परन्तु जब वे कारावास से बाहर आये तो उन्होंने अपने आपको अखण्ड भारतीयता के रंग मे रंग लिया था । एक साथी ने उनसे हँसी मे कहा भी था, गुप्त जी को पहले बच्चे देखते तो डर जाया करते थे (दाढ़ी के कारण) परन्तु अब वे आपको प्यार करेगे आपके पास आयेगे ।'

'क्यो नहीं'—गुप्त जी ने भी इसका उत्तर विनोदपूर्वक देते हुए कहा था—"मैंने अब भारत की आत्मा से तादात्म्य जोड़ लिया है ।" सचमुच कारी तपिश ने गुप्त जी के कवि-हृदय को तपाकर कुन्दन बना दिया था । वे एक नयी उमंग के साथ नये राष्ट्र की नयी सस्कृति के निर्माण में संलग्न हुए थे । इस प्रकार कविता के माध्यम से देश काल पर छा जाने वाले मैथिलीशरण गुप्त का मूल व्यक्तित्व निर्माण की ओर अग्रसर हुआ था १९०४ में । तब उनकी सर्वप्रथम रचना सरस्वती मे प्रकाशित हुई थी ।

तब सरस्वती के सम्पादक थे पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी । गुप्त जी उस समय केवल १८ वर्ष के थे । द्विवेदी जी की पारखी आँखो से गुप्त जी की प्रतिभा छुपी न रही । उन्होंने गुप्त जी को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया और गुप्त जी अपने साहित्यिक गुरु के मार्ग-दर्शन मे काव्य-साधना के पथ पर अग्रसर होते गये ।

एक धर्मनिष्ठ परिवार में जन्म लेने तद राष्ट्रीय-वातावरण में पलने के कारण गुप्त जी का झुकाव सहज ही भारतीय-सस्कृति की ओर हुआ । उनके पिताजी भगवान राम के निष्ठावान भक्त थे और रामचरित-मानस उनका परम प्रिय धर्म ग्रन्थ था । पिता के संस्कार पुत्र में भी जन्मे और

राम तथा राम कथा गुप्त जी का प्रिय विषय ही बन गया। यों वे नियमपूर्वक राम की उपासना तथा उनका भजन-पूजन भी करते रहते थे। परन्तु उन्होंने रामकथा को सर्वथा एक नयी दृष्टि से देखा। इसी कारण रामचरित्र पर आधारित उनका महाकाव्य 'साकेत' तुलसीदास के रामचरित-मानस से कई अर्थों में भिन्न है, साकेत में उन्होंने उन नारी पात्रों को विशेष रूप से उभारा है जिन पर तुलसी का अधिक ध्यान नहीं जा पाया था। इसके कई कारण हो सकते थे। तुलसी की दृष्टि में राम पूर्ण ब्रह्म परात्पर ईश्वरीय सत्ता हैं, वे उनके परम उपास्य भी हैं। उपास्यदेव तो गुप्त जी के भी राम ही हैं परन्तु उन्होंने रामकथा के पात्रों का मानवीय पक्ष भी कुशलतापूर्वक उभारा है। तुलसी की कुटिल कैकेयी गुप्त जी की भोली और सीधी सादी मातृ-हृदय-वत्सला-नारी है। राम पर उसका स्नेह भरत से कहीं अधिक ही है। परन्तु मंथरा ने अपना प्रयोजन कैकेयी के अन्तःकरण को जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से छुआ वह सीधे हृदय को छू जाता है और विश्वसनीय लगता है।

राम के प्रति कैकेयी की सब धारणाएँ उस समय चरमरा कर टूट जाती हैं जब उसके हृदय में मंथरा की यह वाणी गूँजने लगती है।

> भरत से सुत पर भी सन्देह।
> बुलाया तक न उसे जो गेह॥

तुलसी और गुप्त जी की कैकेयी का तुलनात्मक-अध्ययन करने पर यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसी का दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण रहा है। इतना अवश्य मानना पड़ता है कि कोई भी सजीव-साहित्यिककृति देशकाल की परिस्थितियों से अछूती नहीं रह सकती। रामचरित-मानस और साकेत के गठन में अन्तर का यही कारण है। गुप्तजी ने अपनी काव्य-कृतियों के माध्यम से राष्ट्रीयता, संस्कृति-प्रेम और उदारतावादी-धर्मनिष्ठा का जो पोषण किया उसे देखकर वे अपने समय के अद्वितीय कवि और युगीन-साहित्यकार ही कहे जा सकते हैं।

भारतीय-साहित्य-वांगमय में भारतीय-जीवन-दर्शन को नया-कोण और नयी दृष्टि देने में भी गुप्त जी समर्थ हुए हैं। तत्कालीन भारतीय-नारी की दुःस्थिति को उन्होंने जिस मार्मिकता से चित्रित किया है। नारी-समाज की दीन-दुर्दशा को जिन सशक्तस्वरों में व्यक्त किया है वह उनके युग दृष्टा व्यक्तित्व का सहज ही परिचय देती है। उर्मिला, यशोधरा आदि ऐतिहासिक नारी पात्र अभी तक लगभग उपेक्षित से ही रहे हैं। परन्तु उन्होंने इन पर स्वतन्त्र कृतियाँ लिखकर भारतीय नारी की पीड़ा को वाणी दी-इन शब्दों में—

> अबला जीवन हाय, यही तुम्हारी कहानी।
> आँचल में है दूध और आँखों में है पानी॥

भारत-भारती, साकेत, यशोधरा और उर्मिला मे जहाँ उन्होंने अतीत के गीत गाये हैं वहीं नव-जागरण का मन्त्र भी साधा है। उन्होंने एक कर्मयोगी की भाँति भव्य समाज के नव-सृजन का सन्देश दिया। 'पृथ्वी-पुत्र' में उन्होंने संकेत दिया है कि ऊपर शून्य आकाश को निहारने का बादलों के भरोसे बैठे रहने का समय अब गया। आज मनुष्य चातक बनकर चोंच खोलकर बैठा रहे प्रतीक्षा करता हुआ तो उसका जीवित रहना सम्भव नहीं है। उसे तो धरती पर फैले हुए जल-प्रवाहों को खेतों में उड़ेलना होगा। तब कहीं उसकी भाग्य-लक्ष्मी प्रसन्न होगी और धरा फल फूलों से लद जायगी। अब समय ऐसा है कि इन्द्र का भरोसा छोड़ दिया जाय और स्वयं के ही प्रयत्नों द्वारा गंगा को धरती पर लाना पड़ेगा।

नव-निर्माण और सृजन की प्रेरणा को गुप्त जी ने जीवन का एक उत्सव माना है। एक ऐसा उत्सव जो अपनी धरती पर मनाया जा रहा है। अपने ढंग से मनाया जाय। तभी उसका आनन्द उठाया जा सकता है। क्योंकि अपनी धरती और अपनी धरा के साथ जो अपनत्व जुड़ा हुआ है—वह निश्चय ही आत्म-गौरव के साथ-साथ आत्मिक आनन्द भी उपलब्ध कराता है। जीवन के अन्तिम दिनों में वे स्वतन्त्र-भारत के संसद-सदस्य रहे। भारत-सरकार ने उनका सम्मान और मार्ग-दर्शन प्राप्त करने के लिए उन्हे राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया था। उन्होंने कई उतार-चढ़ाव देखे जीवन में समृद्धि, सम्पन्नता, यश, कीर्ति और प्रतिष्ठा से लेकर निन्दा, उपेक्षा, अपमान और विपन्नता तक। परन्तु वे जीवन की प्रत्येक स्थिति में अविचलित, निर्भय और निर्द्वन्द्व बने रहे। उनकी स्थिति-प्रज्ञता को देखकर यह सहज ही जाना जा सकता है कि उनका जीवन तो उत्सव ही था। और किसी ने उनकी बात सुनी न सुनी हो उन्होंने तो आत्मसात् कर ही ली थी।

और एक कवि की सबसे बड़ी यही विशेषता रहती है वह किसी को खुश करने के लिए नहीं अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए लिखता है। दूसरों की प्रसन्नता या नाराजगी उसे प्रभावित नहीं करती है। उसका लक्ष्य तो रहता है आत्म-परितोष। इसीलिए बाल्मीकि से लेकर व्यास, तुलसी और कबीर तक जितने भी महाकवि हुए हैं वे स्वांतः सुखाय लिखते रहे हैं। स्वयं उन्होंने भी लिखा है—कला के लिए तो मुझे स्वांतः सुखाय वाली बात ही उपयुक्त जान पड़ती है।

गुप्तजी बचपन से ही स्वाध्यायशील एवं अध्यावसायी थे। एकबार एक अतिथि ने दस वर्ष के इस बालक से पूछा—"किस कक्षा में पढ़ते हो बेटे।" बालक ने उत्तर दिया—"कक्षा मे नहीं मैं घर पर ही पढ़ता हूँ। रामायण तथा महाभारत पूरी पढ़ ली है।" अतिथि पिता के अभिन्न मित्र थे। उन्होंने सेठरामचरण से कहा—"क्या बच्चे को स्कूल नहीं भेजेंगे! हमारे इन धर्मग्रन्थों के पढ़ने से ही क्या शिक्षा पूरी हो जायेगी?" पिता ने बालक की पीठ थपथपा कर हँसते हुए कहा—"हमारे लल्लू को बड़ा होकर अँग्रेजों की

नौकरी थोड़े ही करनी है। इसे तो हमारे पूर्वजों की तरह चरित्रवान, वीर, साहसी बनना है।''

यह बालक जब सोलहवर्ष का हुआ तो इसने भारतीय-संस्कृति-धर्म, साहित्य तथा इतिहास का ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्राचीनभारत तथा वर्तमान-भारत की उसने मन ही मन तुलना की तो उसे आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई दिया। कहाँ वह स्वर्गोपम भारत और उसके देवतुल्य निवासी और कहाँ आज का पराधीन-भारत और उसके दीन-हीन निवासी। भारत के प्राचीन गौरव की प्रतिस्थापना के लिए उसका अन्त:करण मचल उठा था।

सोये हुए देशवासियों को जगाने के लिए उसने कविता का सहारा लिया। काव्य-प्रतिभा उसकी पैतृक-सम्पदा थी। उसके पिता सेठरामचरण स्वयं कवि थे। देशवासियों की दुर्दशा से उसका अन्तर रो पड़ा। उस रुदन से जो काव्य निर्झरिणी बही तो जन-जन का अन्तर झकझोर गई। कविता क्या थी एक आग थी जो पाठकों के सिर से पाँव तक जलाकर रख गई। सोयी हुई आत्मा तड़प कर जाग पड़ी। भारत-माता को विदेशी दासता की लोह-शृंखलाओं से मुक्त कराने के लिए भारतवासी तड़प उठे। पुराने आदर्शों की प्रतिस्थापना तथा गौरवमय जीवन के स्वप्न उनके हृदयों में मचलने लगे।

सन् १९१४ में 'भारत भारती' के नाम से उनका काव्य प्रकाशित हुआ। युग-धर्म पालन के लिए जो पार्थ अपना गांडीव छोड़कर म्लान मुख बैठ गया था। इस युग की गीता को सुनकर कर्म मे प्रवृत्त होने के लिए हुंकार कर उठा। अँग्रेजी-शिक्षा तथा उसकी नौकरी की चाह मे अपने गौरव को भुलाए बैठे भारतीय युवकों पर उसकी लताड़ पड़ी—''लिखते रहो तुम सिर झुका, सुन अफसरो की गालियाँ। तो दे सकेगी शाम को दो रोटियाँ घरवालियाँ।'' उन्हे अपनी भूल ज्ञात हुई। मनुष्य की महानता को उन्होंने पहचाना। देशभक्ति का एक ज्वालामुखी फूट पड़ा था। इसके गर्म लावे में भारत के भावनाशील नागरिकों के व्यक्तिगत स्वार्थ दब गये और वे देश के लिये मर-मिटने को तैयार हो गये। यह आग उगलने वाले युवक थे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त।

गुप्त जी का जन्म चिरगाँव जिला झाँसी में सम्वत् १९४३ में हुआ। आदर्शवादी पिता रामचरण गुप्त काव्यानुरागी थे। स्वयं भी कविता कर लेते थे। बचपन से ही इनके पिता के द्वारा इन्हे आदर्शोन्मुख जीवन जीने की प्रेरणा मिली थी।

ज्ञान पा लेना एक बात है उससे लाभ उठाना दूसरी बात। ज्ञान केवल ज्ञान ही रह जाय, कहने-सुनने की सामग्री भर रहे तो उसकी सार्थकता ही क्या ? इसे गुप्त जी ने समझा। ज्ञान से शुभ कर्म करने की प्रेरणा न ग्रहण की जाय तो वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। इन्होंने भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य तथा इतिहास का ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, उस पर गहन चिंतन किया था। चिंतन के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रतिभा सद्‌मार्गगामी होकर स्वयं क तथा समाज का हित कर सकती है तथा कुमार्गगामी होकर स्वयं का तथा विश्व का अहित कर बैठती है।

प्रतिभा के अंकुररूप में उन्हें काव्य की प्रतिभा मिली थी। उसका विकास भी उन्होंने समुचित रूप से किया। सुमार्गगामिता की शर्त को भी उन्होंने भुलाया नहीं। कवि होना कोई बड़ी बात नहीं। कवि तो तुलसी भी हुए है अ रीति कालीन, शृंगारी कवि भी। तुलसी ने ज 'रामचरित-मानस' जैसी आदर्श पारिवारिक, सामाजिक-व्यवस्था का राज-मार्ग जन-साधारण के लिए प्रस्तुत किया, उसके विपरीत रीतिकालीनकवियों ने नारी महाशक्ति के नख-शिख वर्णन के छलछन्दों की रचना करके मनुष्य की पशु प्रवृत्तियों को भड़काया है। अत: गुप्त जी ने अपने काव्यों के द्वारा मनुष्य को आदर्शोन्मुख होकर महामानव बनने की प्रेरणा दी थी।

यही कारण है कि गुप्त जी की कविता को कई तथाकथित कविजन उच्च-कोटि की तथा माधुर्यगुण से हीन मानते हैं। उनकी इस मान्यता के पीछे कोई सत्यता रही है तो यही कि उन्होंने लोकरंजन नहीं किया। वे मनुष्य की ओछी वृत्तियो को गुदगुदाने मे प्रवृत्त नहीं हुए। उनका काम मोह निद्रा से जगाना था, कल्पना और शृंगार की मदिरा से जन-मानस की मूर्छा बढ़ाना नहीं था।

डा. हरिवंश राय बच्चन ने कहा है कि गोस्वामी जी के बाद गुप्तजी हिन्दी के महान हितैषी कवि हैं। गाँधी जी ने इन्हे सर्वप्रथम 'राष्ट्रकवि' कहा था। नेहरूजी भी यही कहते थे। जिनके हितों पर चोट पड़ती है वे भले ही उन्हें कुछ भी कह सकते हैं।

गुप्तजी ने जब कविता लिखना आरम्भ किया था तब हिन्दी, खड़ीबोली गद्य की भाषा तो बन चुकी थी पर पद्य के लिये उसे अभी उपयुक्त नहीं माना जाता था। जिस प्रकार तुलसीदासजी ने लोकमंगल को ध्यान मे रखकर 'रामचरित-मानस' की रचना जन-भाषा अवधी में की थी उसी प्रकार मैथिलीशरणगुप्त ने अपनी रचनाओ का माध्यम खड़ी बोली को अपनाया था। खड़ी बोली मे सफल महाकाव्य की रचना का श्रेय इन्हीं को दिया जा सकता है।

'भारत-भारती' का पाञ्चजन्य बजा तो अँग्रेजो के कान खड़े हो गये। किसने यह राग गा दिया कि भारतवासियों की रगो मे जमा रक्त उबलने लगा। यह गुस्ताखी उन्हे कैसे पसंद हो सकती थी। भारत-भारती जनता का काव्य बन गई यह राजद्रोह से किसी प्रकार कम अपराध न था।

इस अपराध का दंड सात मास के कारावास के रूप में इन्हे भुगतना पड़ा। इस कारावास के कारण जनता में जाग्रति हो आई। पत्र-पत्रिकाओं ने एक स्वर मे इनकी सजा का विरोध किया। जो लोग राजनीति मे नहीं थे वे भी आंदोलन मे आ कूदे। अपने प्रिय कवि, जाग्रति-मंत्रदाता को सींखचों में बन्द देखकर जनता की प्रतिक्रिया उग्र हो उठी।

इसी का परिणाम था कि अँग्रेज सरकार को उन्हे सात माह में ही छोड़ देना पड़ा ।

कारावास में भी इनका जीवन-क्रम यथावत् चला । साहित्य-सृजन नियमित चला । 'कुणाल-गीत' की रचना यहीं हुई थी । यही नहीं अपनी ५६वीं वर्षगाँठ इन्होने कारावास में बड़े उत्साह से मनाई थी । मित्रों ने उन्हे अभिनन्दन-पत्र भेंट किये । उन्हे जेल ले जाने के लिये सिपाही आया । दद्दा (लेखक समुदाय का गुप्त जी के प्रति प्रिय सम्बोधन) पहले ही काया से दुर्बल थे ऊपर से कुछ दिनों ज्वर भी हो आया था । इन्होंने पूछा—"ब्यालू (भोजन) कर लूँ ?" सिपाही ने कहा—"वहीं कर लेना ।" गुप्त जी उससे सहमत हो गये । उसने सोचा मेरा रोब चल गया । पर ज्यों ही उसने चश्मा उतारने को कहा कि वे भड़क उठे—"मैं तो चश्मा लगाकर ही चलूँगा । तुम चाहो तो उतार लेना ।"ऐसे थे दद्दा सीधे पर अन्याय के सामने कभी न झुकने वाले ।

गुप्तजी ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी-साहित्य को समृद्ध ही नहीं किया वरन् मानवीय आदर्शों की प्रतिस्थापना करने का भगीरथ प्रयास किया था । साकेत, यशोधरा, पचवटी, जयद्रथ-बध, द्वापर आदि में उन्होंने आदर्श-पात्रों का निर्माण-युग के अनुरूप किया था ।

स्वतंत्र-भारत में इन्हें राष्ट्र-कवि का सम्मान प्रदान किया गया । इन्हें संसद-सदस्य बनाया गया । इतना सम्मान पाकर भी वे सदा सम्मान तथा प्रदर्शन से दूर रहे । किसी उत्सव मे बुलाया जाता तो वे टाल जाया करते क्योकि वे जानते थे कि वहाँ उन्हें सम्मानित किया जायेगा । भीड़-भाड़ से सदा दूर रहकर वे अपने कर्म मे जुटे रहते थे ।

हिन्दी के भण्डार को भरने वाले गुप्त जी ने कई नये कवियों को प्रोत्साहन तथा मार्ग-दर्शन दिया था । गुप्तजी ने काव्य-रचना की लोगो में मानवीय गुणों के वर्द्धन तथा धर्म परायण, सद्बुद्धि समन्वित जीवन जीने की प्रेरणा देने के लिये । तद्नुरूप उन्होने न तो कल्पना की ऊँची उड़ाने भरी, न भाषा के भ्रम जाल खड़े किये । सीधी, सरल, सरस प्रवाहमय भाषा की भागीरथी उनके काव्यो मे प्रवाहित रही ।

काव्य-सृजन अपने को कवि सिद्ध करने के लिए नहीं किया वरन् उन्होंने एक सेवक की तरह काव्य-साधना द्वारा देश की तथा विश्व-मानव की सेवा की थी । उपासना, साधना की तरह वे इस सेवा में निष्ठावान तथा ईमानदार रहे । इसी के माध्यम से, राष्ट्र की, समाज की, विश्व की तथा राष्ट्र भाषा की सेवा की । ऊपर से वे कवि जैसे ही दिखाई देते रहे पर उनके कितने ही व्यक्तित्व उनके काव्यो मे यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं । 'साकेत'की उर्मिला , 'यशोधरा' की यशोधरा तथा 'पचवटी' की सीता नारी की महाशक्ति का परिचय देती है । रीति-कालीन कुत्सित कविताओ से उबारकर उसे अपने वास्तविक रूप में चित्रित करके उन्होंने पतनोन्मुख पुरुष-वर्ग को शक्ति उपासना का महत्व बताया । संयम की साकार प्रतिमा लक्ष्मण के रूप मे पौरुष की महत्ता बताई थी ।

कवि, विशेषण सुनकर मानस-पट पर एक धारणा-सी बन जाती है कि कवि में जन-सामान्य से कुछ विशेषता होगी । शारीरिक बनावट से न सही वेषभूषा तथा चाल-ढाल, केश विन्यास में कुछ विशिष्टता अवश्य होगी । गुप्त जी में ऐसा कुछ भी नहीं था । वे पहले सिर पर पगड़ी तथा बुन्देलखंडी लिबास पहनते थे, दाढ़ी रखते थे । जेल से लौटने के बाद उनका पहनावा खादी का कुर्ता, धोती तथा टोपी रह गया था । उनमें 'कवि' जैसी कोई विशेषता नहीं झलकती थी ।

गुप्तजी किसी दूसरे की इच्छा पर चलने वाले जीव नहीं थे, प्रकाशको के सहारे रहना उन्हें नहीं भाया था । वे बात—जनता के भले की बात कहने में तीसरे आदमी का दखल स्वीकार नहीं करते थे । अपने पाँवों पर खड़े होने तथा अपनी व्यवस्था स्वयं करने में ही वे भला समझते थे । वे स्वतंत्र-साहित्यकार थे । स्वतन्त्र-लेखन, स्वयं प्रकाशन, स्वयं-मुद्रण का काम उनकी अपनी निराली व्यवस्था थी । चिरगाँव में बैठे-बैठे ही उन्होंने सारे भारत में अपनी बंशी की तान सुना दी । देशव्यापी यश अर्जित किया तथा अपने इस नर तन से महान प्रयोजन पूरा कर गये ।

गुप्तजी का पार्थिव शरीर भले ही नहीं रहा हो पर साहित्य सदन चिरगाँव, झाँसी का प्रकाशन-स्थल उस कर्मयोगी की कहानी युगों-युगों तक कहता रहेगा कि आदर्श के पथ पर चलने वाले अपना काम पूरी ईमानदारी से कर । यदि कोई तेरी सहायता नहीं करता तो अपनी सहायता स्वयं कर तथा अपनी व्यवस्था अलग खड़ी कर, पर आदर्शों से गिर कर दूसरे की बात अपने मुँह से मत कह ।

अपना मिशन अलग खड़ा कर लेने वाले गुप्त जी स्वभाव से मितभाषी, लज्जाशील के प्रति कोमल, अपरिचित के प्रति शिष्ट तथा अशिष्ट के प्रति क्षमाशील थे । दूसरे की सुनने में सदा तत्पर रहते थे तथा अपनी मुखरता को कभी प्रकट नही होने देते थे । समय को प्रदर्शन, प्रशंसा पाने में गँवाकर वे कर्म में लगाते रहते थे ।

पारिवारिक शिष्टता के प्रतिपादक गुप्त जी परिवार के छोटे से छोटे सदस्य को भी 'आप' कहकर पुकारते थे । पारस्परिक आदर व स्नेह का ऐसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है ।

११ दिसम्बर, १९६४ ई. को गुप्त जी का देहावसान हो गया । अठारहवर्ष की आयु से लेकर अठहत्तर वर्ष की आयु तक साठवर्ष वे अनवरत सरस, सरल, प्राञ्जल और प्रेरणाप्रद लिखते रहे । गुप्तजी के समग्र काव्य का अध्ययन करने के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उनका कवि एकता, ममता और समता में विश्वास रखते हुए एक आदर्श-समाज की सरचना के लिए प्रयत्नशील है ।

जिनकी सदा ऋणी रहेगी

क्रान्तिकारी दार्शनिक शायर—मोहम्मद इकबाल

इस्लाम के अधिकांश अनुयायी तो यह मानते है कि अल्लाह ही केवल पूज्य है और मोहम्मद उसका एक मात्र पैगम्बर संदेशवाहक है। यह मुसलमानों की आधारभूत मान्यता है। हिन्दू-धर्म में जिस प्रकार गायत्री को सब शास्त्रों का निचोड़ तथा हिन्दू-जीवन-दृष्टि का प्रमुख आधार कहा जाता है उसी प्रकार उक्त आशय के कलमा को कहा जाता है। इस्लाम के आविर्भावकाल में सभी मुस्लिम मतानुयायियों की मान्यताएँ इस प्रकार की रहीं परन्तु आगे चलकर कुछ ऐसे सन्त भी पैदा हुए जिन्होने इस्लाम को उदारतावादी दृष्टि दी थी।

उन विभूतियों को सूफी कहा जाता है। सूफियों की मान्यता है कि अल्लाह ही केवल पूज्य है और वह एक है। यह तो अक्षरश: सत्य है, परन्तु मोहम्मद-साहब के अतिरिक्त भी और पैगम्बर है—ईश्वर के संदेशवाहक है, हुए है और आगे भी होते रहेगे। इस मान्यता के प्रचारक सूफी सन्तों को मतान्ध अनुयायियों ने सहन नहीं किया। परन्तु सत्य के प्रचारक जनमत या भीड़ की मान्यता को उतना महत्व नहीं देते जितने कि सत्य के तथ्य को। सूफीवाद वस्तुत: भारतीय-वेदान्त और अद्वैत दर्शन की मान्यताओं से प्रभावित रहा है। इस विचारधारा को मध्ययुग में राबिया, शिबली, बशार हाफी, अबुल हसन आदि सूफी सन्तों ने प्रचारित किया। उनकी दृष्टि में ईश्वर सर्वव्यापी है, एक है, उसे पाया जा सकता है और पाकर स्वयं भी ईश्वर हुआ जा सकता है।

कहने का अर्थ यह है कि इस्लाम के अनुयायियों का एक वर्ग अपने दृष्टिकोण को और भी परिष्कृत करने तथा मानने के लिए जिस समय तैयार हुआ वह सूफीवाद का उदयकाल कहलाया। वर्तमानसमय में सूफीवाद इस्लाम की प्रगतिशील-विचारधारा ने नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की तत्परता दिखाई। जिन व्यक्तियों ने इस आवश्यकता को अनुभव किया तथा कराया उनमें से ही एक थे—सर-मोहम्मद-इकबाल, जिन्होने बाहरी प्रतीकों में ही उलझे अपने सजातीय बन्धुओं से यह कहा—

मसजिद तो बना दी शबभर में ईमाँ की हरारत वालों ने,
मन अपना पुराना पापी था, बरसों में नमाजी न हो सका।

दार्शनिक दृष्टि से उनका झुकाव सूफीवाद की ओर था जो अद्वैत-सिद्धान्तों की तरह 'अयमात्माब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मास्मि' मे विश्वास करता है। उसी सूफी विचार को व्यक्त करते हुए उन्होंने एक शेर में लिखा है—

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या।

इस प्रकार इकबाल की शायरी से हर जगह अद्वैत-सिद्धान्त और सूफी-दर्शन का मधु टपकता है। दार्शनिक-शायरों की श्रेणी में रखा गया है। दार्शनिक-विचारधारा में आध्यात्मिकता के सनातन सिद्धान्त की विज्ञान के नवीनतम निष्कर्षों का अभूतपूर्व समन्वय मिलता है।

अपने प्रकार के अभूतपूर्व और महान दार्शनिक मोहम्मद इकबाल का जन्म सन् १८७५ ई. में पजाबप्रान्त के स्यालकोट क्षेत्र में हुआ था। आरम्भ से ही उनकी रुचि अन्य विषयों की अपेक्षा दर्शन-शास्त्र की ओर अधिक थी। स्वभावत: ही वे अध्ययनशील और जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे। प्रयत्न और अध्यवसाय द्वारा उन्होने अपनी इस प्रवृत्ति को निखारा और दर्शन में निष्णात हुए। उन्हे जर्मनी में उच्च भी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला और वे डॉक्टर होकर लौटे।

जर्मनी के छात्र जीवन में उन्होने अपनी अध्ययनशीलता और प्रखर-प्रतिभा की अच्छी धाक जमायी। वहाँ से लौटने पर वे पहले सरकारी नौकरी तथा बाद में लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज में प्रोफेसर रहे। इसी अवधि में उनकी गद्यात्मक तथा पद्यात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई थी। गद्यात्मक कृतियों में उनके व्याख्यान ही प्राय: संकलित है जो उन्होंने विभिन्न अवसरों पर दिये थे।

उनकी कृतियो की चर्चित विशेषता रही है इस्लाम का आधुनिकीकरण। उनके अनुसार पाँच सौ वर्षों से इस्लाम के दार्शनिक विचार मृत पड़े हुए है और कुरान की व्याख्या निर्जीव आध्यात्मिक परिभाषा की शैली में ही होती है। जबकि आवश्यक यह है कि इस्लाम अपने को समय के अनुसार ढाले। आज के समय में मानवीय-सभ्यता ने इतनी प्रगति कर ली है कि कोई भी विचार या जीवन-दर्शन यदि समय की गति से कदम मिलाकर नहीं चल पाता तो उसे निष्प्राण हो जाना पड़ता है। यह तथ्य इकबाल की दृष्टि से भी ओझल नहीं हो पाया था और इसलिए उन्होने मुसलमानों को आधुनिक सभ्यता की अच्छी बाते विवेकपूर्ण सजग-दृष्टि से परखकर अपनाने की सलाह दी थी। उनकी मान्यता थी कि एक बार हमें अपने पूर्वजों की परंपरा को भी आधुनिक-सभ्यता के अनुकूल बनने के लिए तोड़ना पड़े तो उसमें हिचकिचाना नहीं चाहिए।

कहा जा चुका है कि इकबाल की उच्च-शिक्षा जर्मनी में हुई थी और वहाँ रहकर उन्होने पाश्चात्य-दार्शनिकों का भी डटकर अध्ययन किया था। यही कारण है कि वे एक ओर जहाँ इस्लाम के कट्टर अनुयायी थे वहीं काण्ट, हीगेल और नीत्शे जैसे दार्शनिकों ने भी उन्हें पर्याप्त प्रभावित

किया था । इन सभी विचारकों में हीगेल ने उन्हें काफी प्रभावित किया था । हीगेल के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनसे प्रेरणा प्राप्त कर ही कार्लमार्क्स ने समाजवादी समाज-व्यवस्था का विचार दिया, जिसमें कि समाज के किसी भी सदस्य का शोषण कोई दूसरा सदस्य न कर सके । इन प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होकर ही इकबाल ने सर्वप्रथम इस्लाम को आधुनिक-युग के अनुरूप ढालने की आवश्यकता प्रतिपादित की थी ।

लेकिन हीगेल से प्रभावित होते हुए भी इकबाल का व्यक्तित्व अपनी आस्थाओं के प्रतिकूल नहीं गया । हीगेल के विचार यद्यपि अद्वैत-दर्शन से मिलते-जुलते हैं परन्तु समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में वह नौकरशाही का समर्थक था । अद्वैत-दर्शन के रूप में इकबाल सूफीवाद के निकट थे अतः उन्होंने हीगेल की आदर्शवादी विचारणाओं को तो अपना लिया, परन्तु नौकरशाही के सिद्धान्तों को क्षीरन्यायवत छोड़ दिया । हीगेल जहाँ नौकरशाही के कट्टर समर्थक थे वहीं इकबाल नौकरशाही के प्रबल विरोधी । इस विरोध-भावना को उन्होंने अपने व्यक्तित्व में भी अंगीकार किया था ।

जर्मनी से लौटने पर सर्वप्रथम उन्हें उच्च शासकीय पद पर नियुक्त किया गया था । लेकिन इकबाल तो दर्शन के सागर में उन्मुक्त तैरने के अभ्यासी थे और नौकरशाही के रूप में उन्होंने स्वयं को बँधा हुआ पाया था । अतः उन्होंने शीघ्र ही इस जंजाल से छुटकारा पा लिया और लाहौर के महाविद्यालय में दर्शन का प्राध्यापकपद स्वीकार किया । यद्यपि वहाँ पूर्ववत वेतन और अन्य सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं फिर भी उन्होंने केवल इस लिए यह पद स्वीकार किया कि वहाँ दर्शन के सागर में गोते लगाने के उपयुक्त परिस्थितियाँ अधिक थीं ।

वैज्ञानिक मान्यताओं का उन्होंने इस्लामी-दर्शन के साथ जो तालमेल बिठाया वह सचमुच क्रान्तिकारी है । उनके अनुसार ईश्वर निरन्तर सृजनरत है । वे मानते हैं कि ब्रह्माण्ड अपने आपमें पूर्ण नहीं है बल्कि यह एक ऐसा ब्रह्माण्ड है जिसका निरन्तर विस्तार होता जा रहा है—

जो था नहीं, जो है, न होगा यही है एक हफमहरामा

करीबतर है नमूद जिसकी उसी का मुश्ताक जमाना।

भारतीय-दर्शन भी ब्रह्माण्ड को परिवर्तनशील मानता है । उनके अनुसार परिवर्तन की यह प्रक्रिया सनातन है और उस परिवर्तन में उत्थान का क्रम चलता ही रहता है । यही कारण है कि वे भविष्य में एक महान परिवर्तन की सम्भावना व्यक्त करते है जो आज की अपेक्षा कई अर्थों में श्रेष्ठतर होगा । उन्हीं के शब्दों में—"बिना उत्तराधिकारी के एक परिवर्तन होगा ।"

इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचारों का प्रतिपादन उन्होंने अपनी व्याख्याओं में किया । अलीगढ और हैदराबाद में उनके दिये हुए प्रवचनों का संकलन 'रिकान्स्ट्रिशन ऑफ रिलीजस थॉट इन इस्लाम'—के नाम से पुस्तक रूप में १९३४ में प्रकाशित भी हुआ है । ये व्याख्यान मद्रास मुस्लिम एसोसिएशन ने आयोजित किये थे ।"

१२ अप्रैल १९३९ को उनका देहान्त हो गया उनके साथ ही एक अमर क्रान्तिकारी दार्शनिक-शायर उठ गया पर अपने शेर और विचारों के रूप में वे सदैव सब के लिए प्रेरणास्रोत बने रहेंगे ।

प्राणवान कवि—

महाप्राण निराला

शिमला में सन् ३४ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ । श्री सत्यनारायण सिन्हा स्वागताध्यक्ष थे । कुछ शब्द उन्होंने ऐसे कह दिये जिससे आगत कवि क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने कवितापाठ करने से इन्कार कर दिया । कुछ समय के लिए वातावरण बिगड़ गया । क्षमा याचना करने पर कवि-सम्मेलन आरम्भ हुआ तो जनता बहक गई । समारोह विशृंखलित होता जा रहा था । ऐसे समय में महाकवि निराला उठे और उन्होंने अपनी कविता—'जागो फिर एक बार' पढ़ी । इस कविता में निहित भावों से जन-समुदाय इतना प्रभावित हुआ कि निराला अन्त तक कवि-सम्मेलन पर छाए रहे ।

अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों के माध्यम से पाठकों के अन्तस्तल को स्पर्श और प्रभावित कर पाने वाले गिने-चुने साहित्यकारों की अग्रिम पंक्ति में पं. सूर्यकान्त-त्रिपाठी-निराला का नाम लिया जाता है । उनकी कविता ही नहीं स्वभाव और रहन-सहन भी इतना मौलिक तथा प्रभावोत्पादक था कि उनके नये प्रयोगों की काव्यधारा से असन्तुष्ट होने वाले लोग भी नतमस्तक होते चले गये ।

निराला जी रूढ़ियों के तोड़ने वाले क्रान्तिकारी कवि के रूप में उभरे । उनका क्रान्तिकारी स्वर निरन्तर तीव्र होता चला गया । जो उनके इस स्वर को सह न पाते थे वे उनके सम्पर्क में आकर समर्पित हो गये । इस प्रकार निराला ने साहित्य के माध्यम से ही नहीं अपने सम्पर्क और रहन-सहन की विशिष्ट-शैली के माध्यम से भी लोगों को परिष्कृत जीवन-दर्शन दिया ।

बचपन से ही उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । गरीबी, अभाव और विवशता ने उन्हें मजदूर और गरीबों की आवाज बना दिया था । निरालाजी का साहित्य किसी भी कोण से परखा जाय दरिद्रता और उसके कारण शोषण-वृत्ति के प्रति सशक्त स्वरों मे रोष ही व्यक्त होता दिखेगा ।

अँग्रेजी-शासन के पोषक स्वार्थी तत्वों, भारतीय लोकमानस की कूप मण्डूकता तथा अन्य परम्पराओं, अनौचित्य और अन्याय के प्रति उनका विद्रोह का स्वर उनकी कलम और वाणी से मुखरित हुआ है। अपने को परिवार की परिधि में ही सीमित न रखकर निराला ने अपनी आत्मीयता और भावनाओं को विराट जगत की सीमा तक विकसित किया और विश्वमानव की समस्याओं तथा दैन्य-दुर्दशा को आमूल चूल परिवर्तित कर देने का आह्वान किया है।

निराला का साहित्यिक-जीवन जितना प्रखर था, व्यक्तिगत जीवन में उतनी ही कठिनाइयाँ और अड़चनें आती रहीं। अपने उदार स्वभाव के कारण निराला की आर्थिक स्थिति हमेशा गिरी हुई रही। अपनी आवश्यकताओं को लेकर जो भी निराला के पास आया, अपनी सामर्थ्य भर उन्होंने उसकी सहायता की।

एक बार निराला गया मे एक कवि-सम्मेलन से लौट रहे थे। संयोजक ने यथेष्ट पारिश्रमिक दिया। निराला के पास यही राशि थी। उसी समय रास्ते में कोई मिला। निराला ने पूछा—"इस समय कहाँ जा रहे हो ?"

परिचित ने उत्तर दिया —"मेरी माताजी बीमार हैं। इसी समय जाना है पैसों का प्रबन्ध करने जाना है। निराला ने जेब में जितने नोट थे सब निकाल कर दे दिये। यह भी नहीं सोचा कि कल क्या होगा ? ऐसी उदारता उनमें इतनी कूट-कूट कर भरी थी कि आप भूखे रहकर भी जरूरतमन्दों की सहायता करते। सही मायने में उनकी इस उदारवृत्ति ने ही उन्हे निराला व्यक्तित्व प्रदान किया।"

स्वयं सामान्य-स्थिति के व्यक्ति होते हुए भी निर्धनो की उन्होंने हमेशा मदद की थी। निर्धनता अपने आप में कोई अभिशाप नहीं। जो व्यक्ति निर्धन होते हुए भी उदारता नहीं त्यागते, वस्तुतः वे ही सम्पत्तिवान होते हैं। एक बार कोई मल्लाह उनके पास आया। उनकी दान-वृत्ति से वह पहले ही अच्छी तरह परिचित था। नाव में कभी सैर कराई होगी तभी से निराला को जानने लगा था। बस, इसी परिचय के आधार पर निषाद ने अपना दुखड़ा रोया। महाकवि ने नाव खरीदवा देने का आग्रह किया। निराला के पास उस समय ज्यादा रुपये तो थे नहीं। नाव खरीदवा देने का आश्वासन दे दिया और रेल भाड़ा देकर घर वापस भेज दिया। बाद में मल्लाह ने पत्र लिखे तो इस कुछ समय के परिचित को वास्तव मे नाव ही उन्होंने खरीदवा दी।

दूसरों की सेवा-सहायता करने में निरालाजी जितनी उदारता बरतते उतनी ही कम रुचि वे स्वयं की आवश्यकताओ की ओर देते थे। स्वयं अभाव-ग्रस्त रह कर ही दूसरों की सेवा करने मे जो सन्तोष और आनन्द मिलता है वह वैभव और सम्पन्नता से मिलने वाले आनन्द से हजार श्रेष्ठ है। क्योंकि दूसरों को सुख देने से आत्मा को सन्तोष होता है वह सुख-सामग्री भौतिक-साधनों को जुटाने और एकत्रित करने में कहाँ ? निराला आजीवन दूसरों की सहायता करते रहे थे। परन्तु स्वयं ने कभी किसी से सहायता की अपेक्षा नहीं की। महाकविनिराला जब अक्सर रुग्ण रहने लगे, तो बहुत से लोग उनकी सहायता के उद्देश्य से लिखने लगे। वे विनम्रता से क्षमा माँग लेते और उनकी सद्भावनाओं को ही पर्याप्त समझते। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो उनकी इस संकोचीवृत्ति को बाह्याचार समझते और उनकी सेवा के लिए आकुलता व्यक्त करते।

ऐसे ही एक सज्जन उन्नाव (गुना म.प्र.) से उनकी सेवा के उद्देश्य से आये थे। निराला के सामने जब उन्होंने यह प्रस्ताव रखा तो उन्होंने मना कर दिया। पर वे भी कब मानने वाले थे। वे किसी सुविधा युक्त मकान में ले जाकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करना चाहते थे। इसलिए इलाहाबाद जैसे शहर मे उन्होंने मकान ढूँढा और निराला को ले जाने के उद्देश्य से उनके पास आये। किसी भी मूल्य पर औरों को कष्ट देना उनको स्वीकार तो था नहीं। इसलिए निराला उनकी बात सुनते ही गर्मा उठे—"आप क्या मेरी जमींदारी सम्हालने आये हो। मुझे किसी की सेवा-सुश्रूषा नहीं चाहिए। बिस्तर उठाओ और चल दो यहाँ से।" निराला का व्यवहार देखकर सेवक को विवश हो जाना पड़ा। जब उन्होंने जाना स्वीकार कर लिया तो निराला का वही पूर्ववत प्रेमपूर्ण व्यवहार आरम्भ हो गया।

उक्त सज्जन को निराला का यह रवैया काफी बुरा लगा। वे तनिक भी रुकना नहीं चाहते थे। निराला ने भोजन करके जाने का आग्रह किया फिर भी उन्होंने इन्कार कर दिया। निराला फिर क्रोधित होकर बोले—

"तुम क्या अपने आप को इतना बड़ा समझते हो कि निराला के घर खाना तक नहीं खाओगे।"

निराला का यह व्यवहार देखकर वे द्रवित हो गये और अन्ततः उनका कहना मान लिया।

अपनी पत्नी और सन्तानो के मरते ही उन्होंने बंगाल छोड़ दिया और साहित्यकारो की नगरी इलाहाबाद मे ही आकर रहने लगे। वहाँ से मतवाला आदि पत्रो का सम्पादन किया। अपने परिवार के टूट जाने से निराला को बड़ा मानसिक आघात लगा। उनके व्यक्तित्व के विकास मे उनकी धर्मपत्नी का बड़ा योगदान रहा था।

पत्नी की मृत्यु हो जाने पर निराला आजीवन एकाकी ही रहे। परिजनों की राय को अस्वीकार कर उन्होंने दूसरे विवाह का विचार भी मन मे नहीं आने दिया। उनका यह एक पत्नीव्रत अनुकरणीय आदर्श है। परिजनो के आकस्मिक कालकवलित [illegible] से [illegible] के मन मे जगत के प्रति वैराग्य भा[illegible] के पश्चात् उन्होंने सन्यास औ[illegible] समझा तथा काव्य [illegible] लगे [illegible]

निराला विपन्नदशा में भी परिस्थितियों से जूझते रहे और झंझावातो मे भी अपने को शान्त बनाये रखा । विपत्तियाँ वस्तुतः मनुष्य की जीवनी-शक्ति को परखने के लिए-परमात्मा के वरदान रूप में आती है । जो धैर्यपूर्वक इन्हें सहता है महानता उसी का वरण करती है ।

क्रान्तिदर्शी, कविता और उदारता के कारण ही निराला श्रद्धेय नहीं बने, उन्होने अपनी अनेक विभूतियो का समुचित विकास किया था । कभी-कभी वे स्वयं कहा करते थे—"देखते नहीं मेरे पास एक पहलवान की छाती, फिलासफर का दिमाग और कलाकार के हाथ हैं ।"

निराला को मूलतः छायावादी कवि माना गया है । छायावाद को प्रेम और सौंदर्य की काव्यधारा माना गया है और निराला इस काव्यधारा के जनक थे । उनके कुछ आलोचको ने जीवन से निराश की अन्तर्व्यथा को कोमल कांत-पदावली मे विलीनीकरण की शैली कहा है । परन्तु जिन्होंने उनके साहित्य को गम्भीरता में देखा है । वे जानते है कि प्रेम और सौंदर्य का यह उपासक युग के प्रति भी कितना सजग है । 'राम-की-शक्ति-पूजा' और 'जागो फिर एक बार' मे कवि ने अपनी भावनाओं की जो सशक्त अभिव्यक्ति दी है देश के युवको को झकझोरने के लिए कम नहीं ।

प्रेम और सौंदर्य के साथ-साथ निराला ने शक्ति को भी आराध्य माना है और उसी के बल पर शोषितो और दलितों को अपनी दैन्य-स्थिति से मुक्त होने की प्रेरणा दी है । शोषण और तज्जनित दैन्यता हमारे समाज का बहुत बड़ा अभिशाप है और इससे मुक्त हुए बिना सामाजिक सुव्यवस्था निरी कल्पना ही होगी ।

सफलता शक्तिवानों का वरण करती है । निराला ने इस सिद्धान्त का ठोस प्रतिपादन किया था । राम की शक्ति पूजा मे जामवन्त और हनुमान के वार्तालाप प्रसंगों में निराला का यही विश्वास प्रधान-रूप से व्यक्त हुआ है और इसी केन्द्रीय विचार को लेकर राम-की-शक्ति-पूजा ग्रन्थ का प्रणयन हुआ था ।

निराला के राम लंका विजय के अभियान को आरम्भ करने से पूर्व शक्ति की आराधना कोई विशेष प्रयोजन से करते हैं । उनकी मान्यता है कि शस्त्र, शस्त्रबल, सैन्य बल, अथवा भौतिक बल ही पर्याप्त नहीं है बल्कि राम का अभीष्ट नैतिकबल है और इसी बल को चिरस्थाई बनाये रखने के लिए वे शक्ति की आराधना करते हैं ।

अपनी कविता के माध्यम से निराला ने आत्मशक्ति की, नैतिक बल की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है । आसुरीतत्वों के साथ दैवीपद्धति से मोर्चा लेने की जो प्रेरणा निराला के काव्यदर्शन में मिलती है, वह अन्यत्र कम ही दीख पड़ती है ।

मजदूरों और शोषितों के प्रति जो कसक पैदा करने की सामर्थ्य निराला के काव्य में है—ने उन्हें साहित्यिक ऋषि की श्रेणी में बिठाया है । उनके विचार, उनके आदर्श और उनकी मान्यताएँ महान हैं और उससे भी महान है उनका व्यक्तित्व ।

वे निरन्तर परिस्थितियों से संघर्ष करते रहे और अन्ध-परम्पराओं से टक्कर लेते रहे । इसी कारण वे महाप्राण सम्बोधित किये गये ।

संकल्प जो फलीभूत हुआ

चौदह वर्ष की आयु में वह विवाहित हो गए थे । पत्नी अच्छी हिन्दी जानती थी । उसके मुख से हिन्दी-भाषा सुनकर मन में इसे सीखने और निष्णात होने की लालसा जागी । इसे अनुपयुक्त भी नहीं कहा जा सकता । कुछ लज्जावश और कुछ भविष्य के प्रति आश्वस्त न होने के कारण वह अपनी आकांक्षा उसे बता नहीं सका । फिर पत्नी पितृगृह चली गई । युवक की कामना मन की मन में ही रह गई । विवाह के चार वर्ष बाद पत्नी का देहान्त भी हो गया ।

पत्नी के मरने के साथ हिन्दी सीखने की अभीप्सा नहीं मरी । उल्टे वह बलवती होती गई । किन्तु अहिन्दी भाषी बंगाल में हिन्दी किससे सीखी जाय ? यदि मन में संकल्प उभरे, कुछ करने की तड़प जागे तो साधन भी जुट जाते हैं । भले वह अत्यल्प हों, पर अभीप्सु तो कम से कम मे साध्य की प्राप्ति की कला जानते हैं । यही उनकी विशेषता है । यहाँ भी मन मे सीखने की अदम्य चाह ने रास्ता सुझा दिया था । उसने 'सरस्वती' पत्रिका के अंक पढ़कर अपने अध्यवसाय के बल पर अच्छी-हिन्दी लिखना आरम्भ कर दिया था । सरस्वती-पत्रिका ने अपनी इस विशेषता के कारण हिन्दी-भाषा के उन्नयन में बड़ा योग दिया था । इसका श्रेय उसके तत्कालीन सम्पादक आचार्यमहावीरप्रसादद्विवेदी को जाता है, जिन्होंने कुशल-शिल्पकार की तरह अपना दायित्व निबाहा था ।

अब तो वह आगे बढ़ा एवम् हिन्दी में कविताएँ लिखने लगा । कविताएँ तो लिखीं पर इन्हे छापे कौन ? इनके प्रकाशन के लिए तो सम्पादको पर निर्भर रहना पड़ता है । उसकी सभी कविताएँ लौटकर आने लगीं ।

पर युवक ने निराश होना सीखा न था । वह जानता था निराशा का परिणाम है—निष्क्रियता, हताशा, भय, उद्विग्नता, अशान्ति । जबकि जीवन का तात्पर्य है सक्रियता, उल्लास-प्रफुल्लता । दोनों परस्पर विरोधी हैं । जीवन है प्रवाह, निराशा है सड़न । जीवन, पुष्प की तरह उष्ण-किरणों के स्पर्श से खिलता है मुस्कराता है, निराशा का तुषार उसे कुम्हलाने के लिए मजबूर करता है उसने निराशाजनक भ्रान्ति को झटक दिया था । संघर्ष की राह पर चलने की ठानी । पहले भी उसने अध्यवसाय के सहारे हिन्दी सीखी थी । साहित्यकार बनने के लिए तो इसकी कुछ अधिक ही आनी अनिवार्य थी ।

यद्यपि विपरीतताएँ तो बहुत थीं तथापि उसने प्रकाशकों से संघर्ष किया था । स्वयं पत्रिकाओं का सम्पादन किया

यद्यपि विपरीततायें तो बहुत थीं तथापि उसने प्रकाशकों से संघर्ष किया था। स्वयं पत्रिकाओं का सम्पादन किया था। वहाँ भी यही स्थिति आयी। अब सम्पादकों का स्थान पत्र के मालिकों ने ले लिया था।

संघर्ष चलता रहा। पास में सम्पदा नहीं, न कोई डिग्री जिसके सहारे धन कमाया जा सके। उसने छोटे से छोटा काम किया। दवाइयों के पैम्फलेट लिखे। कभी कुछ किया। पर अन्दर में संकल्प कि जन भाषा के रूप में उभर रही हिन्दी के माध्यम से ही जनता को जीवनदायी विचार प्रदान करूँगा।

अंत में विजय हुई। एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसने छायावाद को नयी दिशा दी थी। 'रामकृष्ण वचनामृत' 'विवेकानन्द साहित्य' जैसे उत्कृष्ट-साहित्य को अनुदित करके हिन्दी-भाषियों के सामने रखा। जीवन-साधना में निरत यह कर्मयोगी थे सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला। जिसके साहित्य में पीड़ित मानवता की वाणी गूँजती थी। जो स्वयं में एक औलिया फकीर की मस्ती में जीते थे। उनकी कर्म-साधना, निराशा की अंधेरी गलियों में भटके राही के लिए प्रकाश दीप है, जिसके आलोक में हम अपना जीवन सँवार, सुधार सकते हैं।

गरीबों का मसीहा

"उफ! यह मुई गरीबी भी कितनी जालिम है। कैसी सिर चढ़कर बोल रही है इन दिनों। जिसके पीछे पड़ गयी तो फिर उसकी कमर ही तोड़ डालती है। हाय! भूख से कैसे बिलबिलाते रहते हैं उनके बच्चे! और माँ! माँ को तो मानो जीवन में विश्राम बदा ही नहीं। चौबीसों घण्टे काम-काम-काम। बच्चों की खातिर मशीन की तरह काम करना भी तो पड़ता है, फिर भी यह शैतान पेट भरने का नाम ही नहीं लेता! पिता कठिन परिश्रम करके भी जब आर्थिक दशा सुधार नहीं पाता, तो लाचार होकर परिस्थितियों से समझौता कर लेता है। और चारा भी क्या है! समझौता नहीं करे, तो और क्या करें? हे भगवान! तुम्हारी सृष्टि में यह विषमता कब तक चलती रहेगी।"

महाकवि निराला इन्हीं विचारों में डूबते-उतराते पैदल चले जा रहे थे। कई दिनों का उपवास! और पथ पर पैदल! पैर साथ नहीं दे रहे थे, किन्तु फिर भी वे किसी प्रकार चले जा रहे थे। क्या करते और कोई गुंजाइश भी तो नहीं थी। जेब में एक फूटी कौड़ी तक नहीं थी कि इक्का-ताँगा कर लेते। गरीबी के मसीहा को तो गरीब बन कर ही जीना पड़ता है, क्योंकि उनकी दरिद्रता उनसे देखी कहाँ जाती? वे स्वयं ऐश-मौज करें और उनके दूसरे भाई भूखों-नंगों की तरह रहें—ऐसी कल्पना तो उनकी स्वप्न में भी नहीं उठती।

इन्हीं परिस्थितियों में सूर्यकान्तत्रिपाठीनिराला दारागंज से लीडर-प्रेस चले जा रहे थे, ताकि प्रेस से रायल्टी के कुछ पैसे मिल सकें, तो क्षुधा तृप्त हो। प्रेस से रायल्टी के १०४ रुपये लेकर, इक्के में सवार होकर अपनी मुँह बोली बहिन महादेवी के निवास की ओर चल पड़े। इक्का अभी थोड़ी ही दूर बढ़ा था कि एक टेर सुनाई दी—"बेटा! इस अभागिन भूखी को भी कुछ मिल जाय।"

निराला ने इधर-उधर देखा तो ज्ञात हुआ कि पुकार उन्हीं को लक्ष्य करके की गयी है, तो इक्का रुकवाया, स्वयं उतरे और सड़क के किनारे बैठी बूढ़ी भिखारिन के पास आ पहुँचे। अन्तर में उठती करुणा को रोक न सके, बोले—"माँ! हमारे रहते तुम्हें भीख माँगनी पड़े, यह कैसे हो सकता है?"

"और क्या करूँ बेटा!"—बुढ़िया ने अपने क्षीण स्वर में कहा—"हाथ-पैर चलते नहीं। जब तक ठीक रहे तब तक मैंने भी स्वाभिमानवश किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया और पसीने की कमाई से अपना और अपना परिवार पालती रही, पर अब तो मैं बेटों को फूटी आँखों भी नहीं सुहाती। जिनके लिये मैंने अपना खून-पसीना एक किया, आज उन्हीं लोगों ने दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया है। पेट पालने के लिये कुछ तो करना ही था, सो इसे विवश होकर अपना लिया। किसी प्रकार यह बूढ़ा पेट भर जाता है।"

कवि का हृदय तड़फड़ा उठा। पूछा-"यदि एक रुपया दे दूँ, तो कब तक भीख नहीं माँगोगी?"

"कल तक"-उत्तर मिला।

"यदि पाँच रुपये दे दूँ, तो"

"पाँच दिन तक भीख नहीं माँगनी पड़ेगी"—बुढ़िया ने जवाब दिया।

कवि ने रायल्टी की पूरी राशि एक सौ चार रुपये दे देने की बात कही, तो बुढ़िया ने फिर कभी भीख न माँगने और इससे कोई धन्धा कर लेने का संकल्प लिया।

महाकवि सारी राशि बुढ़िया को दे स्वयं खाली जेब इक्के में बैठकर महादेवी के घर की ओर चल पड़े। जहाँ किराया भी महादेवी ने ही चुकाया। ऐसा था उनका विशाल कवि-हृदय। आज भी उनकी आत्मा चीख-चीख कर कह रही है कि महानता हृदय की विशालता से आती है; भौतिक सम्पन्नता से नहीं।

"मेरा सभी कुछ भगवान का है"—कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

"सर! सुना है आप कालेज छोड़ रहे हैं"।"ठीक सुना है" उनके प्राचार्य का उत्तर था। "फिर हमें कौन पढ़ाएगा"?

"कोई नया व्यक्ति" सपाट और ठण्डा सा उत्तर था। "एक बात पूछें" एक छात्र ने हिचकिचाते हुए कहा। "पूछो"। प्रेम भरा उत्तर था। "क्या यहाँ वेतन कुछ कम है"?

"ओह ! नहीं मेरे बच्चे! नयी जगह में मिलने वाला वेतन यहाँ के वेतन का दशांश होगा । यहाँ अभी ७१० मिलता है—वहाँ मिलेगा सिर्फ ७० रु." । सुनकर सभी एक बारगी अवाक् रह गए ।

एक महानुभाव अन्दर आए उन्होंने आचार्य महोदय के कान में कुछ कहा । उन्होंने दूर रखी मेज पर रुपयों की प्लेट ओर इशारा किया । आगन्तुक सज्जन मेज के पास गए उसमें से दो हजार रुपए उठाए और जैसे आए थे, वैसे ही चले गए । नवयुवक छात्रों को यह और अजीब लगा । जो आदमी अपने ऊपर एक कौड़ी भी अधिक खर्च नहीं करता । वही हजारों रुपए इस तरह दे देता है जैसे कुछ हुआ ही न हो ।

"सर ये कौन थे, इतने रुपए क्यों ले गए ?" उनमें से कुछ ने पूछा जिज्ञासा स्वाभाविक थी ।

"ये थे राष्ट्र को समर्पित एक व्यक्ति और राष्ट्र के लिए ही धन ले गए । इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न पूछना ।"

"आपका सभी कुछ आश्चर्यपूर्ण है" एक ने भयमिश्रित श्रद्धा से कहा ।

तुम्हारी बातें मैं समझ रहा हूँ । पर मेरा जीवन कुछ आश्चर्यपूर्ण नहीं । हाँ औरों से कुछ भिन्न जरूर है, कारण कि मुझे दृढ़ विश्वास है कि भगवान ने जो गुण, प्रतिभा, जो उच्च-शिक्षा और विद्या, जो धन दिया है, सब भगवान का है । इसके अल्पतम अंश में अपना काम चलाकर बाकी सब भगवान अर्थात् समाज को वापस कर देना उचित है ।

'निन्दक नियरे राखिये' के विश्वासी—

कवि शंकर कुरूप

मलयालम के प्रतिष्ठित कवि जी. शंकर कुरूप अपने ग्राम की पाठशाला मे प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके मुवाटपुला हाई-स्कूल में प्रविष्ट हुए किन्तु नवीं कक्षा तक पढ़ने के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि वे आगे किसी सरकारी मान्यता प्राप्त शिक्षणालय में नियमित अध्ययन नहीं कर सके । किन्तु प्रतिभा विकसित करने का पुरुषार्थ जिसके पास है उसकी प्रगति का पथ भला अवरुद्ध कैसे हो सकता है । १९१८ में उन्होंने मलयालम साहित्य की पण्डित परीक्षा उत्तीर्ण की और एक हाई-स्कूल के भाषा-शिक्षक बन गये ।

प्रगति की कामना इस बिन्दु पर आकर भी रुकी नहीं थी । १९२६ में मद्रास-विश्वविद्यालय द्वारा संचालित 'विद्वान' परीक्षा उत्तीर्ण करने के कारण कुछ ही वर्षों बाद उन्हें महाराजा कॉलेज एरणाकुलम में मलयालम संस्कृत के लेक्चरर बना दिये गये ।

एक तो उदीयमान कवि दूसरे नॉन-ग्रेजुएट होते हुए भी लेक्चरर बनकर ग्रेजुएटों को पढ़ाना । ये दोनों ही बातें कुछ ईर्ष्यालु लोगों को सहन नहीं हुईं । उन्होंने महाराजा तथा कालेज के अधिकारियों से उनकी शिकायत कर दी कि वे क्रांतिकारी कविताओं के द्वारा राज्य में विप्लव फैलाना चाहते हैं ।

उड़ती-उड़ती उनकी शिकायत की जाने की बात कुरूप जी के कानों तक भी पहुँची कि लोग उनकी शिकायत कर चुके हैं । वे इस समाचार को सुनकर चुप ही रहे उन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई । क्योंकि वे जानते थे कि निंदा उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती । उल्टे यदि वे कहीं दोषी हैं तो उन्हें सुधार कर अच्छे होने का सुअवसर प्राप्त होगा और नहीं है तो उनका कुछ बिगड़ने वाला नहीं है ।

उनकी इस चुप्पी से विरोधी और भी खुल गये । उनके विरुद्ध खूब प्रचार किया गया—जी भर का उन्हें 'क्रांतिकारी' कह कर बदनाम किया गया । विद्वेषियों द्वारा की गई इस निंदा ने एक तो उन्हें 'क्रांतिकारी' होने का प्रमाण-पत्र दे दिया दूसरे साहित्य-प्रेमियों और उनके समालोचकों ने उनके गद्य, पद्य-साहित्य का खूब गहराई से अध्ययन किया । इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक वे उदीयमान-साहित्यकार माने जाते थे, अब इस प्रचार के कारण लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार बन गये क्योंकि उनके साहित्य के विश्लेषण से उनकी साहित्यिक ईमानदारी तथा काव्य-प्रतिभा प्रकाश में आ गई ।

महाराजा तथा कालेज की प्रबन्ध-समिति ने कुछ समालोचकों तथा जाने-माने साहित्यकारों से उनके काव्य के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देने के लिए पत्र व्यवहार किया । मलयालम के उन जाने-माने साहित्यकारों तथा समालोचकों ने उनके सम्बन्ध में निष्पक्ष समालोचना की । मलयालम के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री षण्मुखम् चेट्टीयार ने उन्हे बताया कि कुरूप ने एक ईमानदार साहित्यकार के रूप में अपने कवि-धर्म का पालन किया है । उनकी 'कल भविष्य' शीर्षक कविता मे जो संघर्ष की बात कही है वह तो नवयुवकों को प्रेरित करने के लिए है । लगभग ऐसी ही सम्मतियाँ अन्य साहित्यविदों की थीं ।

परिणाम यह हुआ कि कुरूप की निंदा करने वालों की मनोकामना तो पूरी नहीं हुई किन्तु महाराजा तथा कॉलेज की प्रबन्ध समिति ने उनकी योग्यता का सम्मान करते हुए उनकी पदोन्नति कर दी । किसी को अपनी निंदा किये जाने पर खिन्न व कुपित नहीं होना चाहिए । हाँ, प्रशंसा के विष से अवश्य बचना चाहिए ।

किसी कवि ने कहा है—

'निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय ,
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय ।'

किन्तु मलयालम के प्रतिष्ठित कवि जी. शंकर कुरूप ने निंदकों से स्वभाव निर्मल करने भर की ही उपयोगिता नहीं ली वरन् उन्हें अपना प्रचारक भी बना दिया । निंदकों को निन्दा करते देख किसी को चिंतित और खिन्न होने की आवश्यकता नहीं ।

यद्यपि विपरीतताएँ तो बहुत थीं तथापि उसने प्रकाशकों से संघर्ष किया था । स्वयं पत्रिकाओं का सम्पादन किया था । वहाँ भी यही स्थिति आयी । अब सम्पादकों का स्थान पत्र के मालिकों ने ले लिया था ।

संघर्ष चलता रहा । पास में सम्पदा नहीं, न कोई डिग्री जिसके सहारे धन कमाया जा सके । उसने छोटे से छोटा काम किया । दवाइयों के पैम्फलेट लिखे । कभी कुछ किया । पर अन्दर में संकल्प कि जन भाषा के रूप में उभर रही हिन्दी के माध्यम से ही जनता को जीवनदायी विचार प्रदान करूँगा ।

अंत में विजय हुई । एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसने छायावाद को नयी दिशा दी थी । 'रामकृष्ण वचनामृत' 'विवेकानन्द साहित्य' जैसे उत्कृष्ट-साहित्य को अनुदित करके हिन्दी-भाषियों के सामने रखा । जीवन-साधना में निरत यह कर्मयोगी थे सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला । जिसके साहित्य में पीड़ित मानवता की वाणी गूँजती थी । जो स्वयं में एक औलिया फकीर की मस्ती में जीते थे । उनकी कर्म-साधना, निराशा की अंधेरी गलियों में भटके राही के लिए प्रकाश दीप है, जिसके आलोक में हम अपना जीवन सँवार, सुधार सकते हैं ।

गरीबों का मसीहा

"उफ ! यह मुई गरीबी भी कितनी जालिम है । कैसी सिर चढ़कर बोल रही है इन दिनों ! जिसके पीछे पड़ गयी तो फिर उसकी कमर ही तोड़ डालती है । हाय ! भूख से कैसे बिलबिलाते रहते हैं उनके बच्चे ! और माँ ! माँ को तो मानो जीवन में विश्राम बदा ही नहीं । चौबीसों घण्टे काम-काम-काम । बच्चों की खातिर मशीन की तरह काम करना भी तो पड़ता है, फिर भी यह शैतान पेट भरने का नाम ही नहीं लेता ! पिता कठिन परिश्रम करके भी जब आर्थिक दशा सुधार नहीं पाता, तो लाचार होकर परिस्थितियों से समझौता कर लेता है । और चारा भी क्या है ! समझौता नहीं करे, तो और क्या करें ? हे भगवान ! तुम्हारी सृष्टि में यह विषमता कब तक चलती रहेगी ।"

महाकवि निराला इन्हीं विचारों में डूबते-उतराते पैदल चले जा रहे थे । कई दिनों का उपवास ! और पथ पर पैदल ! पैर साथ नहीं दे रहे थे, किन्तु फिर भी वे किसी प्रकार चले जा रहे थे । क्या करते और कोई गुंजाइश भी तो नहीं थी । जेब में एक फूटी कौड़ी तक नहीं थी कि इक्का-ताँगा कर लेते । गरीबी के मसीहा को तो गरीब बन कर ही जीना पड़ता है, क्योंकि उनकी दरिद्रता उनसे देखी कहाँ जाती ? वे स्वयं ऐश-मौज करें और उनके दूसरे भाई भूखों-नंगों की तरह रहें—ऐसी कल्पना तो उनको स्वप्न में भी नहीं उठती ।

इन्हीं परिस्थितियों में सूर्यकान्तत्रिपाठीनिराला दारागंज से लीडर-प्रेस चले जा रहे थे, ताकि प्रेस से रायल्टी के कुछ पैसे मिल सकें, तो क्षुधा तृप्त हो । प्रेस से रायल्टी के १०४ रुपये लेकर, इक्के में सवार होकर अपनी मुँह बोली बहिन महादेवी के निवास की ओर चल पड़े । इक्का अभी थोड़ी ही दूर बढ़ा था कि एक टेर सुनाई दी—"बेटा ! इस अभागिन बूढ़ी को भी कुछ मिल जाय ।"

निराला ने इधर-उधर देखा तो ज्ञात हुआ कि पुकार उन्हीं को लक्ष्य करके की गयी है, तो इक्का रुकवाया, स्वयं उतरे और सड़क के किनारे बैठी बूढ़ी भिखारिन के पास जा पहुँचे । अन्तर में उठती करुणा को रोक न सके, बोले—"माँ ! हमारे रहते तुम्हें भीख माँगनी पड़े, यह कैसे हो सकता है ?"

"और क्या करूँ बेटा !"—बुढ़िया ने अपने क्षीण स्वर में कहा—"हाथ-पैर चलते नहीं । जब तक ठीक थे तब तक मैंने भी स्वाभिमानवश किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया और पसीने की कमाई से अपना और अपना परिवार पालती रही, पर अब तो मैं बेटों को फूटी आँखों भी नहीं सुहाती । जिनके लिये मैंने अपना खून-पसीना एक किया, आज उन्हीं लोगों ने दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया है । पेट पालने के लिये कुछ तो करना ही था, सो इसे विवश होकर अपना लिया । किसी प्रकार यह बूढ़ा पेट भर जाता है ।"

कवि का हृदय तड़फड़ा उठा । पूछा-"यदि एक रुपया दे दूँ, तो कब तक भीख नहीं माँगोगी ?"

"कल तक"-उत्तर मिला ।

"यदि पाँच रुपये दे दूँ, तो"

"पाँच दिन तक भीख नहीं माँगनी पड़ेगी"—बुढ़िया ने जवाब दिया ।

कवि ने रायल्टी की पूरी राशि एक सौ चार रुपये दे देने की बात कही, तो बुढ़िया ने फिर कभी भीख न माँगने और इससे कोई धन्धा कर लेने का संकल्प लिया ।

महाकवि सारी राशि बुढ़िया को दे स्वयं खाली जेब इक्के में बैठकर महादेवी के घर की ओर चल पड़े । वहाँ किराया भी महादेवी ने ही चुकाया । ऐसा था उनका विशाल कवि-हृदय । आज भी उनकी आत्मा चीख-चीख कर कह रही है कि महानता हृदय की विशालता से आती है; भौतिक सम्पन्नता से नहीं ।

"मेरा सभी कुछ भगवान का है"—कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

" सर! सुना है आप कालेज छोड़ रहे हैं" ।"ठीक सुना है" उनके प्राचार्य का उत्तर था । "फिर हमें कौन पढ़ाएगा"?

"कोई नया व्यक्ति" सपाट और ठण्डा सा उत्तर था । "एक बात पूछें" एक छात्र ने हिचकिचाते हुए कहा । "पूछो" । प्रेम भरा उत्तर था । "क्या यहाँ वेतन कुछ कम है"?

"ओह ! नहीं मेरे बच्चे! नयी जगह में मिलने वाला वेतन यहाँ के वेतन का दशांश होगा। यहाँ अभी ७१० मिलता है—वहाँ मिलेगा सिर्फ ७० रु." । सुनकर सभी एक बारगी अवाक् रह गए ।

एक महानुभाव अन्दर आए उन्होंने प्राचार्य महोदय के कान में कुछ कहा । उन्होंने दूर रखी मेज पर रुपयों की प्लेट ओर इशारा किया । आगन्तुक सज्जन मेज के पास गए उसमें से दो हजार रुपए उठाए और जैसे आए थे, वैसे ही चले गए । नवयुवक छात्रों को यह और अजीब लगा । जो आदमी अपने ऊपर एक कौड़ी भी अधिक खर्च नहीं करता । वही हजारों रुपए इस तरह दे देता है जैसे कुछ हुआ ही न हो ।

"सर ये कौन थे, इतने रुपए क्यों ले गए ?" उनमें से कुछ ने पूछा जिज्ञासा स्वाभाविक थी ।

"ये थे राष्ट्र को समर्पित एक व्यक्ति और राष्ट्र के लिए ही धन ले गए । इस सम्बन्ध में अधिक कुछ न पूछना ।"

"आपका सभी कुछ आश्चर्यपूर्ण है" एक ने भयमिश्रित श्रद्धा से कहा ।

तुम्हारी बाते मैं समझ रहा हूँ । पर मेरा जीवन कुछ आश्चर्यपूर्ण नहीं । हाँ औरों से कुछ भिन्न जरूर है, कारण कि मुझे दृढ विश्वास है कि भगवान ने जो गुण, प्रतिभा, जो उच्च-शिक्षा और विद्या, जो धन दिया है, सब भगवान का है । इसके अल्पतम अंश में अपना काम चलाकर बाकी सब भगवान अर्थात् समाज को वापस कर देना उचित है ।

'निन्दक नियरे राखिये' के विश्वासी—

कवि शंकर कुरूप

मलयालम के प्रतिष्ठित कवि जी. शंकर कुरूप अपने ग्राम की पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके मुवाटपुला हाई-स्कूल में प्रविष्ट हुए किन्तु नवी कक्षा तक पढ़ने के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि वे आगे किसी सरकारी मान्यता प्राप्त शिक्षणालय में नियमित अध्ययन नहीं कर सके । किन्तु प्रतिभा विकसित करने का पुरुषार्थ जिसके पास है उसकी प्रगति का पथ भला अवरुद्ध कैसे हो सकता है । १९१८ मे उन्होंने मलयालम साहित्य की पण्डित परीक्षा उत्तीर्ण की और एक हाई-स्कूल के भाषा-शिक्षक बन गये ।

प्रगति की कामना इस बिन्दु पर आकर भी रुकी नहीं थी । १९२६ मे मद्रास-विश्वविद्यालय द्वारा संचालित 'विद्वान' परीक्षा उत्तीर्ण करने के कारण कुछ ही वर्षों बाद उन्हें महाराजा कॉलेज एरणाकुलम मे मलयालम संस्कृत के लेक्चरर बना दिये गये ।

एक तो उदीयमान कवि दूसरे नॉन-ग्रेजुएट होते हुए भी लेक्चरर बनकर ग्रेजुएटो को पढ़ाना । ये दोनो ही बातें कुछ ईर्ष्यालु लोगों को सहन नहीं हुई । उन्होंने महाराजा तथा कालेज के अधिकारियो से उनकी शिकायत कर दी कि वे क्रांतिकारी कविताओं के द्वारा राज्य मे विप्लव फैलाना चाहते है ।

उड़ती-उड़ती उनकी शिकायत की जाने की बात कुरूप जी के कानों तक भी पहुँची कि लोग उनकी शिकायत कर चुके है । वे इस समाचार को सुनकर चुप ही रहे उन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई । क्योंकि वे जानते थे कि निंदा उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती । उल्टे यदि वे कहीं दोषी हैं तो उन्हे सुधार कर अच्छे होने का सुअवसर प्राप्त होगा और नहीं है तो उनका कुछ बिगड़ने वाला नहीं है ।

उनकी इस चुप्पी से विरोधी और भी खुल गये । उनके विरुद्ध खूब प्रचार किया गया—जी भर का उन्हें 'क्रांतिकारी' कह कर बदनाम किया गया । विद्वेषियों द्वारा की गई इस निंदा ने एक तो उन्हें 'क्रांतिकारी' होने का प्रमाण-पत्र दे दिया दूसरे साहित्य-प्रेमियो और उनके समालोचकों ने उनके गद्य, पद्य-साहित्य का खूब गहराई से अध्ययन किया । इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक वे उदीयमान-साहित्यकार माने जाते थे, अब इस प्रचार के कारण लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार बन गये क्योंकि उनके साहित्य के विश्लेषण से उनकी साहित्यिक ईमानदारी तथा काव्य-प्रतिभा प्रकाश मे आ गई ।

महाराजा तथा कालेज की प्रबन्ध-समिति ने कुछ समालोचको तथा जाने-माने साहित्यकारों से उनके काव्य के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देने के लिए पत्र व्यवहार किया । मलयालम के उन जाने-माने साहित्यकारों तथा समालोचकों ने उनके सम्बन्ध मे निष्पक्ष समालोचना की । मलयालम के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री षण्मुखम् चेट्टीयार ने उन्हे बताया कि कुरूप ने एक ईमानदार साहित्यकार के रूप में अपने कवि-धर्म का पालन किया है । उनकी 'कल भविष्य' शीर्षक कविता मे जो संघर्ष की बात कही है वह तो नवयुवको को प्रेरित करने के लिए है । लगभग ऐसी ही सम्मतियाँ अन्य साहित्यविदों की थीं ।

परिणाम यह हुआ कि कुरूप की निंदा करने वालो की मनोकामना तो पूरी नहीं हुई किन्तु महाराजा तथा कॉलेज की प्रबन्ध समिति ने उनकी योग्यता का सम्मान करते हुए उनकी पदोन्नति कर दी । किसी को अपनी निंदा किये जाने पर खिन्न व कुपित नही होना चाहिए । हाँ, प्रशंसा के विष से अवश्य बचना चाहिए ।

किसी कवि ने कहा है—

'निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय ,
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय ।'

किन्तु मलयालम के प्रतिष्ठित कवि जी. शंकर कुरूप ने निंदकों से स्वभाव निर्मल करने भर की ही उपयोगिता नहीं ली वरन् उन्हे अपना प्रचारक भी बना दिया । निंदकों को निन्दा करते देख किसी को चिंतित और खिन्न होने की आवश्यकता नही ।

समय के पृष्ठों पर अग्निकाव्य रचयिता अर्नेस्ट जोन्स

लन्दन (ब्रिटेन) के कोपेनहेगन मैदान मे एक भारी संख्या मे नागरिक एकत्रित हो रहे थे। हड्डियों को भी गलाने और चटका देने वाली सर्द हवा बह रही थी। फिर भी लोग मौसम की परवाह किये बिना इकट्ठे होते जा रहे थे। उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही थी। सर्दी से बचाव के लिए उपस्थित होने वाले लोगों ने अपना शरीर गर्म कपड़ो से पूरी तरह ढाँप लिया और कुछ एक तो ठण्ड दूर करने के लिए आस-पास की होटलो में भी जा बैठे। एकत्रित जन-समूह के सामने एक छोटा-सा मंच बनाया गया था। मंच के चारो ओर भी लोग जमा हुए थे। तभी पीछे से थोड़ा शोरगुल सुनाई दिया।

लोगो ने उत्सुकता पूर्वक उस दिशा मे देखा। साधारण वस्त्र पहने वह विभूतिवान व्यक्ति जिनके लिए कि लोग एकत्रित हुए थे—अपने कुछ साथियो से घिरा हुआ चला आ रहा था। शरीर पर नाम मात्र के ही वस्त्र थे। भयंकर बर्फीली हवा मे भी अपनी शरीर-रक्षा का कोई प्रबन्ध किये बिना ही चल देना इस विभूति के लिए कोई नयी बात नही थी।

ग्रेट-जोन्स, लॉंग-लिव—एक आवाज उठी विशाल जनसमूह के बीच से और हजारो कण्ठ से उसकी प्रतिध्वनि सुनाई दी। ब्रिटेन मे उस समय सर्वत्र ग्रेट जोन्स जन चर्चा का विषय बन गये थे। उन्होने देश की जनता के सामने एक महत्त्वपूर्ण सवाल उठाकर उसका समाधान ढूँढने का बीड़ा उठाया था और वह सवाल था— ब्रिटेनवासियो को अतुल धन, वैभव-सम्पन्न-भारत राष्ट्र की सम्पदा अनीति पूर्वक खीच लाने का क्या हक है? यह उस समय की बात है, जब भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए पहला संग्राम कुछ समय पूर्व ही लड़ा था।

लोगों का अभिवादन स्वीकार करते हुए अर्नेस्ट जोन्स मंच पर पहुँचे। वहाँ से उन्होने अपनी प्रभावशाली वाणी में जो भाषण दिया उसे सुन कर श्रोताओ के कलेजे काँप उठे। भारतीय-समाज पर किये जा रहे अत्याचारो का चित्र उन्होने इतनी मार्मिकता से खीचा था कि लोग जो सर्दी से बचने के लिए गर्म कपड़ो से लदे थे—इस पैनी हवा को अपने हृदय तक पहुँचने से रोक नहीं सके।

भारतीय-स्वतन्त्रता-संग्राम मे घटी उन घटनाओं का खुला चित्र उन्होने सर्वसाधारण के सम्मुख रखा। वे तथ्य जो एकदम छुपा लिए गये थे—जानकर लोगों को आश्चर्य और रोमांच हुआ। प्रेम और करुणा के मसीहा ईसा के भक्त और अनुयायी इतनी निर्दयता भी बरत सकते है यह जानकर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। अविश्वास भी नहीं कर सकते थे क्योंकि इस दुनिया में किसी भी व्यक्ति देश या जाति के बारे में निश्चितता पूर्वक कुछ कहा भी नहीं जा सकता। कौन, कब, कितना नीचे तक गिर जाये यह कोई भी अंदाज नही लगा सकता।

इस प्रकार का भाषण उन्होंने प्रथम बार तब दिया था जब वहाँ के अँग्रेजी अखबार सन् ५७ की स्वतन्त्र-क्रान्ति को राज्य-क्रान्ति की संज्ञा दे रहे थे और उसके निर्मम दमन की मनगढन्त कहानियाँ सुनाकर साधारणजनों में अपनी वीरता की डीग हाँक रहे थे। तथ्यों को यथार्थ दृष्टि से देखकर कवि अर्नेस्ट जोन्स ने पहली बार कहा कि यह राज्य-क्रान्ति नहीं स्वतन्त्रता-प्रेमी भारतवासियो का अन्याय और बर्बरता के खिलाफ छेड़ा गया एक नियोजित संग्राम था। कुछ कमजोरियो और असावधानियो के कारण जो पाशविकता के हाथों बड़ी विवशतापूर्वक घुटने टेक गया था। निस्सदेह इसके लिए पाशविकबल को वीरता की संज्ञा नहीं दी जा सकती उसकी प्रशंसा नही की जा सकती।

अपने इस दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए उन्होने अगस्त १८५७ मे ही सेन्ट जार्ज हॉल मे एक आमसभा आयोजित की थी। भाषण मे उन्होने अपने देशवासियो की उस नीति का विरोध किया था जो भारतीय जनता पर अन्याय. अत्याचार और शोषण के बर्बर कृत्य कर रही थी। उन्हं इंग्लैण्ड के व्यापारियो को समुद्री डाकू कहा। क्योंकि अन्य देशो मे जाते ही इस उद्देश्य से थे कि वहाँ की अर्थ-व्यवस्था को चौपट कर डाले और उस पर अपना कब्जा जमाले। ताकि वहाँ की श्रमजीवी जनता के पेट से अपने कोषालयो की नींवे सींचता रहे।

अगस्त ५७ की इस सभा मे व्यक्त इन विचारो ने कवि जोन्स को और अधिक विख्यात कर दिया। फिर तो स्थान-स्थान पर उनके भाषणो का आयोजन किया गया। ब्रिटेन वासियो को उन्होने अपने सजातीय भाइयो के कुकृत्यों से भलीभाँति अवगत कराया। हर भाषण मे उन्होने भारतीयों को अन्याय और बर्बरता के खिलाफ आवाज बुलन्द करने के लिए हार्दिक बधाई दी।

भारतीय-स्वतन्त्रता के प्रति इतनी सहानुभूति रखने वाले इस महाकवि का जन्म जर्मनी की राजधानी बर्लिन मे रह रहे अँग्रेज-परिवार मे २६ जनवरी, १८१९ ई. को हुआ। उनकी शिक्षा दीक्षा भी हुई। एकातिक प्राकृतिक वातावरण के सान्निध्य ने उनकी काव्य-प्रतिभा को जाग्रत किया विद्यार्थीजीवन मे ही वे अपनी मातृभाषा अँग्रेजी में अच्छी पद्य रचना करने लगे थे।

जोन्स का परिवार जर्मनी मे अच्छी प्रतिष्ठा का था उनके माता-पिता जातीय अभिमान के कारण स्वयं को अन्य लोगों से काफी ऊँचा और विशिष्ट समझते थे। इस वातावरण ने जोन्स के मन में यह धारणा अच्छी तरह जमा दी कि अँग्रेज दुनिया के सभी लोगों से श्रेष्ठ और सदाचारी है। मानवीगुणों की जितनी अधिक मात्रा इस जाति के लोगों में है वह शायद ही अन्य किसी और देश जाति के लोगों में होगी। उन्होंने अभी तक ब्रिटेन का समाज और जनता का

स्तर देखा तो था नहीं जर्मनी के लोगो में पायी जाने वाली स्वार्थ और सामान्य नैतिक स्तर से स्वयं को स्वयं के देशवासियों को कई गुना बड़ा तथा महान् अनुभव किया ।

कुछ समय बाद जब वे अपने स्वदेश लौटे और परिवार के साथ रहे तो वस्तुस्थिति से अवगत होकर उनकी धारणाएँ टूटने लगीं । अब तक अपने देशवासियो को सर्वोच्च महान् समझते आये थे । परन्तु उन्होने जब यह देखा कि ब्रिटेन के नागरिक अन्य लोगों से भी गये-गुजरे है तो इस मान्यता को ठेस पहुँची । इंग्लैण्ड मे उन दिनो प्रधानतया दो वर्ग थे । पहला तो वह जो अपनी जीविका श्रम और मजदूरी से कमाता था । इस वर्ग की स्थिति बड़ी दयनीय थी । क्योंकि इनके श्रम और पसीने का मूल्य लाभ तो दूसरा ही वर्ग उठाता, छीन लेता था । वह वर्ग था—पूँजीपतियो और बुद्धिजीवियो का, शोषण का चक्र जितनी वीभत्सता के रूप में वहाँ नृत्य कर रहा था उसका एक अश भी जर्मनी या अन्य देशो मे नही दिख पड़ा था ।

कदाचित अर्नेस्टजोन्स को वह पारिवारिक वातावरण न मिला होता जिसने कि उनके मन मे जातीय श्रेष्ठता का भाव जगाया था—तो शायद वे इस बात को इतनी गहराई से नहीं लेते । मनुष्य के हृदय मे बसने वाला सत्व जहाँ सन्तुष्ट होता है वहीं सात्विक अभिमान भी पैदा होता है और जब उस सात्विक अभिमान को आघात पहुँचाता है तो व्यक्ति विद्रोही बन जाता है ।

अर्नेस्ट जोन्स पेशे से बैरिस्टर और शौकिया कवि कलाकार थे । परन्तु सर्वहारा वर्ग की पीड़ा और सामाजिक विषमता ने उन्हे क्रान्तिकारी बना दिया था । उन्होने बैरिस्टरी छोड़ दी और पूरी तत्परता से जनता मे वैषम्य के प्रति विद्रोह की आग भड़काने के लिए खड़े हो गये । कलम और आवाज दोनों शोले उगलने लगीं । सम्पन्न और श्रेष्ठजनों से उन्होने अपील की—"एक ही देश के निवासियो मे एक ही पिता की सन्तानों मे इस प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए ।" परन्तु पुकार भर सुनकर कौन अपनी पाशविकता से मुक्त होने का दुस्साहस करेगा । अर्नेस्टजोन्स ने आवश्यक समझा कि देश के करोड़ो उन नागरिको मे चेतना फूँकी जानी चाहिए जो इस अन्याय और अत्याचार से पीड़ित हैं ।

अब वे जन जाग्रति की ओर आकृष्ट हुए । जोन्स ने अपने देशवासियो मे एक नयी चेतना फूँकी । लोग उनके भाषणो को सुनने के लिए बड़ी संख्या मे जमा होते । काव्य-रचनाओ के माध्यम से अन्याय-पीड़ित लोगो की नसों में गरम खून प्रवाहित होने लगा । उस समय अर्नेस्ट जोन्स अत्याचारियो के लिए दिनो दिन भयानक खतरा बनते जा रहे थे । मूलतः शक्ति और सत्ता इसी वर्ग के हाथ में थी इसलिये उसने जनता की आवाज—मानवता की कराह को दबाने का प्रयत्न आरम्भ किया ।

उस समय जबकि अर्नेस्ट जोन्स का सितारा इंग्लैण्ड के आकाश में सबसे ऊपर चमक रहा था । उनके अनुयायियो की संख्या लाखों और प्रभावितों की तो करोड़ों में थी । सन् १८५६ मे सरकार ने उन्हे अशान्ति फैलाने का आरोप लगाकर गिरफ्तार कर लिया । अर्नेस्टजोन्स वैरिस्टर तो थे ही—चाहते तो अपने इस अभियोग के खिलाफ पैरवी कर बरी भी हो सकते थे । परन्तु वे अच्छी तरह समझते थे कि उनके न्यायपक्ष की दलीले बिल्कुल नहीं सुनी जायेगी । अशान्ति भंग होने का तो बहाना भर था । सरकार किसी न किसी प्रकार जनता को उनके प्रभाव से मुक्त कराना चाहती थी । उनके न चाहने पर भी सहयोगियो ने अलग से वैरिस्टर किया । परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ । होना भी नहीं था ।

जोन्स को दो वर्ष को कारावास दण्ड दिया गया । एक बदबूदार जेल की कोठरी में जो सीलन और मच्छरों से भरी हुई थी—उन्हे रखा गया । भीषण ठण्ड में भी उन्हे ओढ़ने-बिछाने के लिए कोई वस्त्र नही दिये गये । बार-बार उनसे क्षमा माँगने और अपनी गतिविधियो को बन्द करने का वचन देने के लिए कहा गया था । परन्तु अर्नेस्टजोन्स ने दृढ़ता और सिद्धान्त-निष्ठा का परिचय देते हुए किसी भी स्थिति में समझौता न किया । जेल की यातनाओ ने उन्हें गम्भीर रूप से अशक्त और कमजोर बना दिया परन्तु उनका मन मजबूत और शक्तिशाली बनता गया ।

जेल मे उनके और परिवार के बीच भी कोई सम्पर्क नही बन सका । पत्नी और बच्चे किस स्थिति मे रह रहे हैं इसकी उन्हे कोई खबर तक नहीं लगती । उसी समय ब्रिटेन मे प्लेग फैली, जोन्स के पत्नी बच्चे भी इस संक्रामक रोग की चपेट मे आ गये । जोन्स तक इस घटना की खबर भी नहीं पहुँची । उनकी सजा खत्म हुई और वे अपने घर स्त्री पुत्रों से मिलने के लिए आने लगे । हृदय में मधुर कल्पनाएँ हिलोरे मार रही थीं । अचानक पहुँच कर वे सबको आश्चर्य चकित कर देगे । लेकिन घर जाकर तो वे स्वयं आश्चर्यचकित रह गये । सूना और खाने को दौड़ने वाला घर उन्हे भयानक यन्त्रणागृह लगने लगा जब उन्हें वस्तु-स्थिति का पता चला ।

क्षोभ और वेदना की अनुभूति थोड़ी मन्द पड़ने पर वे दुगुने वेग और गति से सक्रिय हो उठे । तब तक भारत में सन् ५७ का स्वतन्त्रता संग्राम भी लड़ा जा चुका था । अपने देशवासियो के स्वदेश मे और बाहर भी बर्बर कृत्यो ने उनमें कभी न बुझने वाली आक्रोश की ज्वाला भड़का दी । पत्नी की मृत्यु और सरकार की नीतियों दोनो ने आग का भभकता शोला बना दिया । भारतीय क्रान्ति की यथार्थता का बोध कराने वाली दो कृतियाँ, 'भारत का विद्रोह' तथा 'नया-जगत्' लिखकर उन्होंने अपनी प्रिय पत्नी को समर्पित की थीं । उनकी पत्नी एक सम्पन्न परिवार की लड़की थी । हर परिस्थिति में अनभ्यस्त होते हुए भी जितने सन्तोष और उल्लास से भरकर वे जोन्स को प्रेरणा प्रोत्साहन देती रहीं—वह सभी के लिए अनुकरणीय है ।

वे पचास वर्ष की आयु तक दुनिया भर के लिए अपने लोगों से लड़ते रहे । जेल से लौटने के बाद तो उनकी गतिविधियाँ और भी मुखर हुईं । पहले वे देशवासियों के लिए ही लड़ रहे थे—अब विश्व मानव ही उनका परिवार बन गया । २६ जनवरी, १८६९ को उनका देहान्त हो गया । भारत और ब्रिटेन की शोषित जनता के प्रति उनकी सहानुभूति और व्यथा वेदना उन्हें चिरस्मरणीय बना गयी । परन्तु ब्रिटेन की सरकार ने उनके नाम तक का भी कहीं उल्लेख नहीं किया । न्याय के पक्षधरों के लिए यह अपेक्षित भी नहीं है ।

युग चारण—
एलेक्जेण्डर पुश्किन

कवि कई तरह के होते हैं । कुछ ऐसे तुक्कड़ होते हैं जिनका काम छन्द गढ़कर लोगों को सुना देना और अपनी विशेषता की वाहवाही लूट लेना मात्र होता है । कुछ ऐसे होते हैं जो मनुष्य के भीतर रहने वाले पशु को उभार-उभार कर बाहर लाते हैं और उस बदबू से वातावरण को गन्दा करते रहते हैं । अनियन्त्रित उच्छृंखल काम-वासना अनेक गन्दी नालियो मे होकर बहती है, उन्हीं मे से एक नाली ऐसी कविता भी है । विकार और वासनाएँ भड़काने के अनेक हेय मार्ग मनुष्य ने ढूँढ़ निकाले हैं, विचारशील लोग उन्हें अरलील और घृणित ठहराते हैं । कविताएँ भी इस श्रेणी की होती हैं । फूहड़ लोग गन्दी भाषा मे अपने भाव व्यक्त करते है । इसलिए उन्हें कुत्सित और बाजारू कहते हैं । पर कुछ सुशिक्षित ऐसे भी होते हैं जो अच्छे शब्दो की आड़ मे यही काम करते है और अपनी कृतियों को 'कला' बताते है । कह नहीं सकते यदि वासनाओं को भड़काने वाली इन कुत्सित रचनाओ को भी माता-सरस्वती की साधना, कला मान ली जाय तो फिर वाणी का व्यभिचार किसे कहा जा सकेगा ? मध्य-काल के सामन्तवादीयुग मे भारत की तरह अन्य देशों मे भी रीति-काव्य और नायिका-भेद का बोलबाला रहा है पर जब कि मानवीय-चेतना ने सत्य को खोजने और उपयुक्त को ग्रहण करने की आकांक्षा जाग्रत की तो इस तरह की कृतियाँ अनुपयुक्त ही मानी जायेगी ।

कवि, मानवता का प्रतिनिधि होता है, वह सत्यं शिवं सुन्दरम् की आराधना करता है और वही कहता, लिखता एवं गाता है जिससे अनुचित का शमन और उचित का अभिवर्द्धन हो । जो घृणित है उसी को उछालने से विश्व मानव को कुरूप ही बनाया जा सकता है कोई सच्चा कवि ऐसी धृष्टता नहीं कर सकता । करेगा भी तो कम से कम उसे 'कला' तो नहीं ही कहेगा । जो 'कला' मानवता के शृंगार में प्रयुक्त हो उसी को तो सार्थक माना जा सकता है । रूस के महाकवि 'पुश्किन' ऐसे ही कलाकार थे । उन्होंने अपने युग की पीड़ा को छन्दबद्ध करके मानवीय अन्तःकरण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है । कोई ईमानदार कलाकार इसके अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है

रूस, उन दिनों नेपोलियन के आक्रमण के विरुद्ध आत्म-रक्षा की लड़ाई लड़ रहा था । सेन्ट-पीटर्स-बर्ग में शिक्षा पाने वाले इस युवक पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा और उसने अपने देश को अधिक समर्थ एवं बलवान बनाने की ठानी थी । पुश्किन ने देखा उसमें कवित्व मौजूद है और मनुष्य अपनी उपलब्ध किसी भी विशेषता को समाज के लिए समर्पित करके मानवता की बहुमूल्य सेवा कर सकता है उन्होंने अपने कवित्व को समाज सेवा में लगा डालने की योजना बनाई और नियमित रूप से रचनात्मक कविताएँ लिखने लगे ।

पुश्किन ने देश-भ्रमण किया और देखा कि निरंकुश शासन के विरुद्ध जनता में घोर असन्तोष व्याप्त है और वह अपने मानवीय अधिकारों की प्राप्ति के लिए बेचैन हो रही है । उत्साही युवक शासन का तख्ता पलटकर जनता की सरकार बनाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं । इन परिस्थितियों में पुश्किन ने अपना स्थान शोषित और संघर्षशील लोगों के बीच ही उपयुक्त समझा । वे कुलीन कहलाने वाले घराने में जन्मे थे । ऐसे लोग आमतौर से राज्य-समर्थक होते हैं पर उन्होंने सत्य को प्रधान समझा और कुलीनता के घेरे से निकल कर जनता के खेमे मे जा मिले । अब उनकी रचनाओं में जनता का, पीड़ित और शोषित जनता का दर्द बहने लगा । उनकी कविताएँ गाई जाने लगीं और जनता ने उनसे आवश्यक प्रेरणा प्राप्त की थी ।

उन्होंने देखा कि एकाकी प्रयत्न काफी न होगा । संगठित रूप से कवि और साहित्यकार कुछ काम करें तो ही विशाल देश का जन-मानस प्रबुद्ध बनाया जा सकेगा । अस्तु, वे साहित्यको के संगठन कार्य मे लगे और कवियों तथा लेखकों की एक संस्था 'ग्रीनलेम्प' बनाई । व्यवस्थित और संगठित रूप से होने वाली सभी कार्यों की तरह नव-चेतना का साहित्यक-निर्माण करने मे आशाजनक सफलता मिलने लगी । 'रोड टू लिवर्टी' तथा 'दी विलेज' नामक उनके दो काव्य बहुत लोक-प्रिय हुए जिनमें राजनीतिक उत्पीड़न के विरुद्ध जनता को संघर्ष करने के लिए प्रेरणा दी गई थी ।

पुश्किन जार सरकार की आँखो मे खटकने लग गये । उन्हें देश निकाला देकर साइबेरिया भेज देने की धमकी दी गई । उस समय तो कुछ प्रभावशाली मित्रों ने मध्यस्थता करके उन्हें बचा लिया और जुर्माना देकर ही पीछा छुड़वा दिया पर आखिर ऐसे कब तक चलता । उनके प्रयत्न उग्र होते जा रहे थे । सरकार ने उन्हें निर्वासित करके दक्षिणी रूस भेज दिया । चार वर्ष के निर्वासन काल में वे काकेशस, क्रीमिया, किसेनेव तथा ओडेसा में रहे, वहाँ उन्होंने पीड़ित जनता के दुःख-दर्द को और भी अच्छी तरह समझा तथा अपना कर्तव्य और भी दृढ़तापूर्वक निश्चित कर लिया । वे न तो विलासिता के लिए ललचाये और न अत्याचारों से डरे । एक ईमानदार और बहादुर इन्सान की तरह अपने समाज के पुनरुत्थान के लिए पीड़ित पद-दलित मानवता को ऊपर उठाने के लिए वे और भी अधिक दृढ़ता के साथ लग

गये । हमला से कोई भी योद्धा नहीं दबता तो फिर पुश्किन ही कैसे दबते ?

इस निर्वासनकाल मे भी उन्होंने साहित्य-साधना छोड़ी नहीं, वरन् 'दि रावर ब्रदर्स' 'दी जिरासीज' जैसे काव्य लिखे, उनमें 'काकेशस का कैदी' तो बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ । उन दिनो के शासक अलेक्जेण्डर प्रथम ने उन्हे उनके जन्म ग्राम 'मिखाइ लोवस्कोय' में कैद कर दिया ताकि उस छोटे दायरे में रहकर जन-सम्पर्क से वंचित रह जावें । इस एकान्त-वास में वे चिन्तन और मनन में संलग्न रहकर अधिक मनोबल संग्रह करते रहे और वहाँ भी उनने कुछ ग्रन्थों की रचना कर डाली ।

छोटे बड़े दर्जनों महा-काव्य और साधारण कविता की पुस्तके उन्होंने लिखी है । नाटक और उपन्यास भी कई लिखे हैं । इन सभी रचनाओं मे वह ओज आदर्श और प्रभाव मौजूद है जो अनाचार के विरुद्ध संघर्ष करने और मानवीय-पुण्यो की स्थापना में आवश्यक स्फूर्ति एवं प्रेरणा दे सके । उनके जीवन-काल मे भले ही उन रचनाओ को उतना सम्मान न मिला हो पर पीछे रूस ही नही विश्वभर में उन्हे मानवता की वकालत के रूप में सम्मान मिला । महर्षि टालस्टाय ने लिखा है—"पुश्किन की रचनाएँ प्रत्येक लेखक को पढ़नी ही चाहिए ताकि वह अपने लिए सही दिशा निर्धारित कर सके ।"

जीवन के अन्तिम दिनो मे उन्होंने 'दि कन्टैम्परेरी' नामक पत्रिका भी निकाली जिससे न केवल प्रेरक विचारो का ही विस्तार हुआ वरन् पत्रिका-कला का भी एक आदर्श उपस्थित हुआ । पुश्किन आदर्श के प्रतीक थे उनका जीवन भौतिक आकाक्षाओं से नही उत्कृष्टता की भावनाओं से अति ओत-प्रोत हो रहा था, ऐसी दशा मे उनकी कृतियाँ भी विश्व-मानव का शृंगार ही बन सकती थी । वे रूस के नहीं समस्त विश्व के कवि माने जाते हैं और उन्हे किसी क्रान्ति के ही प्रेरक नहीं वरन् अनैतिकता के विरुद्ध छेड़े गये विश्व-युद्ध का अग्रणी नेता समझा जाता है ।

महाकवि अलेक्जेण्डर पुश्किन ६ जून, १७९९ को मास्को मे जन्मे और १० फरवरी, १८३७ मे एक द्वन्द्व युद्ध मे मारे गये । ३८ वर्ष का उनका जीवन मानवता के अमर-गायक का जीवन है । इस थोड़ी-सी आयु में उनकी ज्वलत भावनाओ ने उनसे इतना करा लिया जितना कि मुर्दों की तरह जीने वाले दस जिंदगियों मे भी नही कर पाते ।

भारतमाता को पुश्किन जैसे सपूतो की आवश्यकता है । सामाजिक कुरीतियों, बौद्धिक भ्रम जंजालों, नैतिक अनास्थाओ से जर्जरित यह पवित्र भूमि आशा भरे नेत्रो से देखा करती है कि कोई अग्नि-गान का गायक इन विडम्बनाओं को भस्म कर डालने वाले गीत गाये, पर यहाँ तो 'कला' के नाम पर वासना भड़काने वाली और अबूझ पहेलियाँ जैसी जंजाल भरी तुकबंदी लिखने से ही फुरसत नहीं । कवि हो तो कविता भी हो । हृदय हो तो उसमे दर्द भी उठे । निम्नस्तर के लोगों के मन की बात कहकर तुकबंदी की वाहवाही लूटने वालो को कवि के कर्तव्यों का ज्ञान कहाँ ? भारतमाता पुश्किन जैसे कवियों को न जाने कब अपनी कोख में जन्म देगी और न जाने उनकी कृतियों से भारतीय-साहित्य को गर्व से मस्तक ऊँचा उठाने का अवसर कब मिलेगा ?

जाइगेर की कारावास में साहित्य-साधना

जाइगेर जर्मनी के एक विख्यात लेखक हो गये हैं । उन्होंने अपनी साहित्य-साधना कारावास में आरम्भ की थी तथा कारावास से पूर्व का एक भयंकर डकैत कारावास से एक लेखक बनकर निकला ।

उनके पूर्ववर्ती जीवन की कहानी बड़ी रोमांचक है । विस्मित कर देने वाली भी और चौंका देने वाली भी । जाइगेर जब कुल १२ वर्ष के थे तो उन्हे रोजगार की तलाश में भटकना पड़ा । समाज की निगाहो मे मूलतः यह प्रश्न उतना मानवीय सहानुभूति का नहीं था जितना कि सामाजिक प्रतिष्ठा का । जाइगेर रोजगार माँगने के लिए जिन लोगों के पास गये उन्हे इस बालक दीनावस्था का कम अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का अधिक ख्याल था क्योंकि कौन समाज की दृष्टि मे निर्दयी और क्रूर बनना चाहेगा ।

कहने का अर्थ यह कि जाइगेर को सभी स्थानों से निराशाजनक उत्तर ही मिले । भूखा क्या न करता के अनुसार जाइगेर ने एक बड़ी बदनाम मोटर कम्पनी में नौकरी कर ली । यह मोटर कम्पनी गैर कानूनी ढंग से अपने क्रिया-कलाप चलाती थी । जाइगेर तो मेहनत और लगन से काम करते थे । उन्हे कम्पनी की गतिविधियों से कोई लेना देना नहीं था । सीधा-सादा दीखने वाला यह लड़का कहीं किसी उलझन मे न फँसा दे यह सोचकर कम्पनी मालिक ने उसे एक केस में फँसा दिया जिसके कारण जाइगेर को बारह वर्ष की कैद मिली थी ।

जेल से छूटने पर तो रोजगार मिलना और भी मुश्किल हो गया । विवश होकर उन्हें अनैतिक, अनाचारिक मार्ग अपनाना पड़ा । उन्होंने एक डाकू दल बनाया जिसने दो वर्ष मे ५० से भी अधिक लूटपाट और चोरियाँ की । जाइगेर फिर पकड़े गये और जेलखानों के सींखचों में डाल दिये गये ।

जेल मे ही उन्होंने न जाने कैसे लिखने की टीस जगा ली और साबुन के कागजों पर लिखने लगे । जेलर से मिलकर खुशामदे कर उन्होंने उसे राजी कर लिया था । जेलर उन्हे लिखने के लिए कागज तथा स्याही आदि लाकर देने लगा । वे उन्हीं पर लिखते । यद्यपि जाइगेर न तो खास पढ़े-लिखे थे और न ही उनका थोड़ा बहुत स्वाध्याय था । लिखने के लिए आरम्भ में उन्होंने अपना विषय चुना अतीत का जीवन और उस पर ही लिखने लगे ।

फिर एक बार उन्होंने अपनी आकांक्षा के बारे में जेल के पादरी को बताया। पादरी ने जाइगेर में इससे एक बड़ी प्रतिभा को जागते हुए देखा। पादरी भी साहित्यिकरुचि का व्यक्ति था। उसने सरकार से सिफारिश कर जाइगेर के लिए विशेष सुविधाएँ दिलवा दीं। अब उनकी निखरी हुई कलम से और भी अच्छे पन्ने रगे जाने लगे।

कुछ समय बाद ही उन्होंने अपनी प्रथम कृति 'दी फोट्रेस' जो कि एक उपन्यास है कि पाण्डुलिपि सौंप दी। पादरी ने इस उपन्यास को पश्चिमी जर्मनी के एक प्रकाशक के पास छपने भेज दिया। उपन्यास काफी लोकप्रिय हुआ। और जाइगेर जेल में ही लेखक बन गये। इस उपन्यास को कई साहित्यिक समीक्षकों ने एक उत्तमकृति के रूप मे मान्यता दी।

कहाँ एक मुजरिम और कहाँ एक लेखक, परन्तु प्रयत्न और कर्म-साधना से सब कुछ सम्भव है। संसार में आत्मोन्नति के लिए जो भी थोड़ा कुछ करने का साहस दरशाते है—उनके लिए सहायक परिस्थितियाँ अपने आप निर्मित होती चलती है। कभी एक मुजरिम रहे जाइगेर ने आगे चलकर समूचे विश्व की विचारशील जनता को अपने साहित्य द्वारा एक सर्वथा नया प्रकाश और नयी जीवन दिशा दी—यह कर्म साधना, अपनी प्रतिभा को निखारने के लिए साहस पूर्ण प्रयास और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा का ही सत्परिणाम था।

परिश्रम के उपासक, सद्ज्ञान के साधक इलियट

युवक ने इस वर्ष अंतिम परीक्षा दी थी और अगले दिनों ही परीक्षा फल घोषित होने वाला था। इसके बाद छात्र-जीवन समाप्त होने वाला था। मेधावी और कुशाग्र बुद्धि के उस प्रतिभाशाली तरुण-छात्र को स्वयं तथा उसके अन्य साथियो मित्रो और परिजनो को भी अच्छे अंको से उत्तीर्ण होने की पूरा आशा थी और भावी जीवन की रूपरेखा आयोजन बनाने में तल्लीन वह युवक अपने अध्ययन-कक्ष में बैठा हुआ स्वाध्यायरत था।

तभी उस युवक के पिता ने कमरे मे प्रवेश किया और अपने बेटे को पुस्तकों से चिपका देखकर उनके चेहरे पर अस्पष्ट से भाव उभरे। उसकी अध्ययनशीलता से उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। आपत्ति तो यह थी कि उनका बेटा फैले हुए कारोबार मे तनिक भी रुचि नहीं लेता था। उन्होने पुकारा—इलियट।

उस युवक का नाम इलियट ही था। जो आगे चल कर टी. ए. इलियट के नाम से अँग्रेजी-भाषा का विख्यात जन-कवि बना। इलियट ने पुस्तको में झुका सिर ऊपर उठाया और पिता की ओर देखा। जैसे पूछ रहा हो—क्या आदेश है।

"तुम दिन भर स्टडी में ही घुसे रहते हो" थोड़ा बहुत अपना कारोबार भी तो देखा करो बेटा। आखिर तुम लोगों को ही तो आगे चलकर इसे सम्हालना है।" पिता ने कहा।

"मैंने अपने भविष्य के सम्बन्ध में दूसरा ही निर्णय लिया है पिताजी। उद्योग के क्षेत्र में मेरी तनिक भी रुचि नहीं। मैं जनमानस में आध्यात्मिक आनन्द का प्राण प्रवाहित करना चाहता हूँ और इसके लिए मैंने साहित्य-साधना का क्षेत्र चुना है।" इलियट बोले।

"तो क्या तुम इस उद्योग व्यवसाय में कोई सहयोग नहीं दोगे"—पिता ने इस प्रकार कहा जैसे उन्होंने कोई अप्रत्याशित निर्णय सुना हो। इलियट बोले—"क्षमा करना पिताजी। इसके लिए अन्य भाई काफी सिद्ध होंगे।"

इलियट की दृढ़ घोषणा सुनकर पिता हतप्रभ रह गये। वे अच्छे उद्योगपति थे लाखों की जायदाद और कारखाने थे। पैसे की कोई कमी नहीं थी उनके पास। और आशा थी कि पुत्र पढ़-लिखकर अपनी योग्यता और प्रतिभा का उपयोग उस समृद्धि और संपन्नता की अभिवृद्धि मे करेंगे। परन्तु इलियट की धारणा सुनकर उनकी आशा धूमिल हो उठी। और वे चिन्तित रहने लगे। कई दिनों तक इस चिन्ता के निवारण का उपाय खोजा। मित्रों और स्वजन बांधवों से चर्चा की तो किसी ने बता दिया कि ऐसा और आराम की जिन्दगी जीते जीते इलियट के मन में यह खुराफात पैदा हुई है। इसका एकमात्र उपाय है कि उनका हाथ खर्च बंद कर दिया जाय और कुछ दिनों तक मिथ्या कठोर रवैया अपनाया जाय।

इस परामर्श पर हर दृष्टिकोण से विचार किया तो उपयुक्त ही लगा और कुछ दिनों बाद उन्होंने अपने पुत्र को फिर बुलाया। वे बोले—"क्या तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय है कि तुम उद्योग, कारखानों में कोई सहयोग नहीं दोगे"।

"इसमें कोई सन्देह नहीं है"—इलियट ने कहा दृढ़ता पूर्वक कहा।

तो हमें भी तुमसे कोई सद्भावना नहीं है। जो [illegible] अपने पिता से सहयोग नहीं करना चाहता। उसे अपनी पारिवारिक संपदा का उपयोग भी नहीं करना चाहिए—पिता के चेहरे पर कठोरता के भाव उभर आये थे।

'जी धन्यवाद!' इलियट ने कहा—"मैं भी यही सोच रहा था और चंद दिनो में ही मैं आपको यह शुभ संवाद देने वाला था कि मुझे एक बैंक में नौकरी मिल गयी है। मेरे प्रयत्न जारी है"।

जो अपेक्षा की थी उसके एकदम विपरीत यह जवाब पाकर पिता पर जैसे ढेरो पानी गिर गया। उनके सम्मुख अपने पुत्र के भावी-जीवन का एक चित्र खिंच गया जो उनकी दृष्टि से बड़ा ही करुणापूर्ण था। कभी पैदल न चलने वाला इलियट घर से पैदल कार्यालय तक जा रहा है। विभिन्न प्रकार के पकवानों का भोजन करने वाला लाड़ला बेटा रूखा-सूखा खा रहा है। एक से एक कीमती और राजकुमारों के से कपड़े पहनने वाला इलियट सामान्य वेशभूषा में लदन की सड़कों पर घूम रहा है और राजभवन से भी विशाल

तथा सभी सुख-सुविधा साधनो वाले महलनुमा इमारत में निवास करने वाला बेटा झोपड़ी-सी लगने वाली किसी कोठरी मे सो रहा है।

उनकी आँखों से आँसू उमड़ पड़े। इलियट की ओर देखने का साहस नहीं हो रहा था। रुँधे कण्ठ से बोले—"मेरे बेटे! यह तुम क्या करने जा रहे हो। इतने बड़े संपन्न परिवार के होकर तुम्हें नौकरी करना शोभा नहीं देगा।"

इलियट भी समझदार थे। उन्होने अपने पिता की भावनाओ को समझा और कहा—"मैं जानता हूँ पिताजी, आपने पहले जो प्रस्ताव रखा, वह आपके हृदय से नहीं आया था और न ही आपका ममतापूर्ण अन्तःकरण ऐसा करने दे सकता था। अपने विचार से मुझे सही मार्ग पर लाने के लिए ही अपने ऐसा कहा होगा।"

पिता की भावनाओ को उन्होंने समझा तो सही परन्तु अपना निश्चय नहीं बदला। उन्होने बात को जारी रखते हुए आगे कहा—मेरी दृढ़ मान्यता है कि वर्तमान जीवन, जिसमे मैं बिना परिश्रम किये समाज की संपदा का उपयोग कर रहा हूँ, गर्हित और अवांछनीय है।

घर के लोग जानते थे कि इलियट अपने निश्चय पर दृढ़ रहने वाला है। इसलिए थोड़े बहुत प्रयत्न करने के बाद ही उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ कहना सुनना बंद कर दिया। लेकिन मित्रों ने तो कहना जारी ही रखा। साथी उनसे कहते—कहीं तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है। ऐसा काम क्यों करते हो जिससे तुम्हारे खानदान के नाम पर धब्बा लगे।

इलियट जवाब देते—जीविका के लिए आत्म-निर्भर बनने तथा स्वतन्त्र-रूप से काम करने के कारण किसी का नाम नीचा नहीं होता। नाम नीचा होता है खोटे और खराब काम करने से। सो मैंने आज तक न तो कभी किया है और न ही करूँगा। मैं तो सोचता हूँ कि परिश्रम से जीविका का उपार्जन कर मैं अपने खानदान का नाम ऊँचा ही कर रहा हूँ।"

"परिश्रम तो तुम अपने पिता के व्यवसाय मे लगकर सकते थे।"

"परिश्रम तो वहाँ भी किया जा सकता था। परन्तु मुझे डर था कि मेरा व्यक्तित्व वहाँ केवल एकांगी ही रह जाता और पूरी तरह उसी काम में लग जाने के कारण मेरा उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।"

"क्या है तुम्हारा जीवन उद्देश्य" ?

"मेरा उद्देश्य है साहित्य-साधना के माध्यम से समाज का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाना। इसके लिए जीविका की दृष्टि से अपने पैरो पर खड़ा होना नितान्त आवश्यक है। परिवार के लोग सुखी और संपन्न हैं। उन्हे मेरी सेवाओ की कोई विशेष आवश्यकता नहीं, इस लिए मैंने अपनी सेवाएँ समाज को समर्पित करने का निश्चय किया है।"—इलियट के ये उद्गार सुनकर मित्रों ने मुँह पर तो प्रशंसाओ के पुल बाँध दिये। परन्तु पीठ पीछे वे मखौल उड़ाते रहे।

अपने मखौल का उन्हें बाद में पता भी चलता और फिर उन्होने कहना ही बंद कर दिया। लेकिन मखौल और उपहास से वे निराश नहीं हुए। जिस दिन से उनकी बौद्धिक-चेतना का विकास हुआ था, वे यह जानने लगे थे कि अँग्रेजी-भाषा काव्य की दृष्टि से निर्जीव, कृत्रिम और पिछड़ी हुई है। उसमे रचे गये काव्य न तो जनसामान्य की समझ मे आने जैसे हैं और न काव्य का प्रयोजन—भावनात्मक जागरण कर पाने मे समर्थ है अँग्रेजी-साहित्य और भी कई दृष्टियो से अपूर्ण था। उसी समय से उन्होने निश्चय कर लिया और साहित्य-सेवा को अपना लक्ष्य चुना।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होने आवश्यक समझा था कि मातृभाषा का गहन अध्ययन किया जाय। परिवार के लोग उनकी ज्ञान जिज्ञासा के प्रति कोई स्थिर मत नहीं रखते थे। उनकी ओर से इलियट पढ़े या न पढ़े इससे कोई लाभ हानि की पर्वाह नहीं थी। क्योंकि पढ़-लिख ले या न पढ़ें विद्यमान अटूट संपदा उनके सुखमय जीवनयापन के लिए पर्याप्त थी। इसलिए उन्होंने इलियट की आकांक्षाओ मे कोई दखलंदाजी नहीं की। औसत स्तर की शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद उन्होने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और वहाँ अँग्रेजी के साथ-साथ फ्रेंच भाषा तथा साहित्य का भी अध्ययन किया।

इस भाषा का अध्ययन करते समय उनकी प्रवृत्ति दर्शन-शास्त्र की ओर उन्मुख हुई। अध्यात्मवादी जीवन दर्शन अपनाने से मनुष्य का व्यक्तिगत और सामाजिक-जीवन सुखी तथा समृद्ध बन सकता है, उन्होंने यह तथ्य अनुभव किया। और उन्हें एक मार्ग मिला। लगा बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाने के लक्ष्य मे उनकी यही आत्मिक अव्यक्त प्रयोजन छुपा है। उन्होंने अनुभव किया कि कानून, दण्ड, भय, प्रलोभन और समाज-व्यवस्था का कोई भी उपाय व्यक्ति को इतना नैतिक और सामाजिक नहीं बना सकता जितना कि अध्यात्म-दर्शन।

ज्यों-ज्यों वे इस विषय का क्रमबद्ध अध्ययन करते गये उनकी अभिरुचि, उत्साह, लगन और आस्था भी उत्तरोत्तर बढ़ती रही। यहाँ तक कि उन्होंने दर्शन-शास्त्र का गहन अध्ययन करने के लिए फ्रांस तक जाने का विचार किया और उसे कार्यरूप भी दिया। फ्रांस में अध्ययन करने के बाद वे पुनः अमेरिका आ गये और फिर वहाँ से जर्मनी गये। उस समय उनकी आयु उन्तीस तीस वर्ष की रही होगी। इतनी कम उम्र में दर्शन जैसे गम्भीर विषय की ओर बहुत कम लोग ही आकृष्ट होते देखे गये हैं। जर्मनी में वे उस समय भी उसी मनोयोग से और तल्लीनतापूर्वक दर्शन-शास्त्र पढ़ते रहे जबकि प्रथम महायुद्ध चल रहा था।

जर्मनी में अपनी शिक्षा पूरी कर उन्होने इंगलैण्ड के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे प्रवेश किया और वहाँ की उच्च परीक्षाएँ पास कीं। इंगलैण्ड को लौटने के बाद उन्होंने अपने पिता की सम्पत्ति के सहारे नवीन निधि करने की अपेक्षा स्वयं

फिर एक बार उन्होंने अपनी आकांक्षा के बारे में जेल के पादरी को बताया । पादरी ने जाइगेर में इससे एक बड़ी प्रतिभा को जागते हुए देखा । पादरी भी साहित्यिकरुचि का व्यक्ति था । उसने सरकार से सिफारिश कर जाइगेर के लिए विशेष सुविधाएँ दिलवा दीं । अब उनकी निखरी हुई कलम से और भी अच्छे पन्ने रंगे जाने लगे ।

कुछ समय बाद ही उन्होंने अपनी प्रथम कृति 'दी फोर्ट्रेस' जो कि एक उपन्यास है कि पाण्डुलिपि सौंप दी । पादरी ने इस उपन्यास को पश्चिमी जर्मनी के एक प्रकाशक के पास छपने भेज दिया । उपन्यास काफी लोकप्रिय हुआ । और जाइगेर जेल में ही लेखक बन गये । इस उपन्यास को कई साहित्यिक समीक्षको ने एक उत्तमकृति के रूप मे मान्यता दी ।

कहाँ एक मुजरिम और कहाँ एक लेखक, परन्तु प्रयत्न और कर्म-साधना से सब कुछ सम्भव है । संसार मे आत्मोन्नति के लिए जो भी थोड़ा कुछ करने का साहस दर्शाते हैं—उनके लिए सहायक परिस्थितियाँ अपने आप निर्मित होती चलती हैं । कभी एक मुजरिम रहे जाइगेर ने आगे चलकर समूचे विश्व की विचारशील जनता को अपने साहित्य द्वारा एक सर्वथा नया प्रकाश और नयी जीवन दिशा दी—यह कर्म साधना, अपनी प्रतिभा को निखारने के लिए साहस पूर्ण प्रयास और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा का ही सत्परिणाम था ।

परिश्रम के उपासक, सद्ज्ञान के साधक इलियट

युवक ने इस वर्ष अंतिम परीक्षा दी थी और अगले दिनों ही परीक्षा फल घोषित होने वाला था । इसके बाद छात्र-जीवन समाप्त होने वाला था । मेधावी और कुशाग्र बुद्धि के उस प्रतिभाशाली तरुण-छात्र को स्वय तथा उसके अन्य साथियों मित्रों और परिजनो को भी अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने की पूरा आशा थी और भावी जीवन की रूपरेखा आयोजन बनाने में तल्लीन वह युवक अपने अध्ययन-कक्ष में बैठा हुआ स्वाध्यायरत था ।

तभी उस युवक के पिता ने कमरे में प्रवेश किया और अपने बेटे को पुस्तकों से चिपका देखकर उनके चेहरे पर अस्पष्ट से भाव उभरे । उसकी अध्ययनशीलता से उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी । आपत्ति तो यह थी कि उनका बेटा फैले हुए कारोबार मे तनिक भी रुचि नही लेता था । उन्होंने पुकारा—इलियट ।

उस युवक का नाम इलियट ही था । जो आगे चल कर टी. एस. इलियट के नाम से अँग्रेजी-भाषा का विख्यात जन-कवि बना । इलियट ने पुस्तकों में झुका सिर ऊपर उठाया और पिता की ओर देखा । जैसे पूछ रहा हो—क्या आदेश है ।

"तुम दिन भर स्टडी में ही घुसे रहते हो" थोड़ा बहुत अपना कारोबार भी तो देखा करो बेटा । आखिर तुम लोगों को ही तो आगे चलकर इसे सम्हालना है ।" पिता ने कहा ।

"मैंने अपने भविष्य के सम्बन्ध में दूसरा ही निर्णय लिया है पिताजी । उद्योग के क्षेत्र मे मेरी तनिक भी रुचि नहीं । मै जनमानस मे आध्यात्मिक आनन्द का प्राण प्रवाहित करना चाहता हूँ और इसके लिए मैने साहित्य-साधना का क्षेत्र चुना है ।" इलियट बोले ।

"तो क्या तुम इस उद्योग व्यवसाय में कोई सहयोग नहीं दोगे"—पिता ने इस प्रकार कहा जैसे उन्होने कोई अप्रत्याशित निर्णय सुना हो । इलियट बोले—"क्षमा करना पिताजी । इसके लिए अन्य भाई काफी सिद्ध होंगे ।"

इलियट की दृढ़ घोषणा सुनकर पिता हतप्रभ रह गये । वे अच्छे उद्योगपति थे लाखों की जायदाद और कारखाने थे । पैसे की कोई कमी नहीं थी उनके पास । और आशा थी कि पुत्र पढ़-लिखकर अपनी योग्यता और प्रतिभा का उपयोग उस समृद्धि और संपन्नता की अभिवृद्धि मे करेगे । परन्तु इलियट की धारणा सुनकर उनकी आशा धूमिल हो उठी । और वे चिन्तित रहने लगे । कई दिनो तक इस चिन्ता के निवारण का उपाय खोजा । मित्रो और स्वजन बांधवों से चर्चा की तो किसी ने बता दिया कि ऐश और आराम की जिन्दगी जीते जीते इलियट के मन में यह खुराफात पैदा हुई है । इसका एकमात्र उपाय है कि उनका हाथ खर्च बंद कर दिया जाय और कुछ दिनो तक मिथ्या कठोर रवैया अपनाया जाय ।

इस परामर्श पर हर दृष्टिकोण से विचार किया तो उपयुक्त ही लगा और कुछ दिनों बाद उन्होने अपने पुत्र को फिर बुलाया । वे बोले—"क्या तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय है कि तुम उद्योग, कारखानों में कोई सहयोग नहीं दोगे" ।

"इसमें कोई सन्देह नहीं है"—इलियट ने कहा दृढ़ता पूर्वक कहा ।

तो हमें भी तुमसे कोई सद्भावना नहीं है । जो पुत्र अपने पिता से सहयोग नहीं करना चाहता । उसे अपनी पारिवारिक संपदा का उपयोग भी नहीं करना चाहिए—पिता के चेहरे पर कठोरता के भाव उभर आये थे ।

'जी धन्यवाद !' इलियट ने कहा—"मै भी यही सोच रहा था और चंद दिनों में ही मै आपको यह शुभ सवाद देने वाला था कि मुझे एक बैंक में नौकरी मिल गयी है । मेरे प्रयत्न जारी है" ।

जो अपेक्षा की थी उसके एकदम विपरीत यह जवाब पाकर पिता पर जैसे ढेरो पानी गिर गया । उनके सम्मुख अपने पुत्र के भावी-जीवन का एक चित्र खिंच गया जो उनकी दृष्टि से बड़ा ही करुणापूर्ण था । कभी पैदल न चलने वाला इलियट घर से पैदल कार्यालय तक जा रहा है । विभिन्न प्रकार के पकवानों का भोजन करने वाला लाड़ला बेटा रूखा-सूखा खा रहा है । एक से एक कीमती और राजकुमारों के से कपड़े पहनने वाला इलियट सामान्य वेशभूषा में लदन की सड़कों पर घूम रहा है और राजभवन से भी विरक्त

तथा सभी सुख-सुविधा साधनों वाले महलनुमा इमारत में निवास करने वाला बेटा झोंपड़ी-सी लगने वाली किसी कोठरी में सो रहा है।

उनकी आँखों से आँसू उमड़ पड़े। इलियट की ओर देखने का साहस नहीं हो रहा था। रुँधे कण्ठ से बोले—"मेरे बेटे ! यह तुम क्या करने जा रहे हो। इतने बड़े सपन्न परिवार के होकर तुम्हें नौकरी करना शोभा नहीं देगा।"

इलियट भी समझदार थे। उन्होंने अपने पिता की भावनाओं को समझा और कहा—"मैं जानता हूँ पिताजी, आपने पहले जो प्रस्ताव रखा, वह आपके हृदय से नहीं आया था और न ही आपका ममतापूर्ण अन्तःकरण ऐसा करने दे सकता था। अपने विचार से मुझे सही मार्ग पर लाने के लिए ही अपने ऐसा कहा होगा।"

पिता की भावनाओं को उन्होंने समझा तो सही परन्तु अपना निश्चय नहीं बदला। उन्होंने बात को जारी रखते हुए आगे कहा—मेरी दृढ़ मान्यता है कि वर्तमान जीवन, जिसमें मैं बिना परिश्रम किये समाज की संपदा का उपयोग कर रहा हूँ, गर्हित और अवांछनीय है।

घर के लोग जानते थे कि इलियट अपने निश्चय पर दृढ़ रहने वाला है। इसलिए थोड़े बहुत प्रयत्न करने के बाद ही उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ कहना सुनना बंद कर दिया। लेकिन मित्रों ने तो कहना जारी ही रखा। साथी उनसे कहते—कहीं तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है। ऐसा काम क्यों करते हो जिससे तुम्हारे खानदान के नाम पर धब्बा लगे।

इलियट जवाब देते—जीविका के लिए आत्म-निर्भर बनने तथा स्वतंत्र-रूप से काम करने के कारण किसी का नाम नीचा नहीं होता। नाम नीचा होता है खोटे और खराब काम करने से। सो मैंने आज तक न तो कभी किया है और न ही करूँगा। मैं तो सोचता हूँ कि परिश्रम से जीविका का उपार्जन कर मैं अपने खानदान का नाम ऊँचा ही कर रहा हूँ।"

"परिश्रम तो तुम अपने पिता के व्यवसाय में लगकर सकते थे।"

"परिश्रम तो वहाँ भी किया जा सकता था। परन्तु मुझे डर था कि मेरा व्यक्तित्व वहाँ केवल एकांगी ही रह जाता और पूरी तरह उसी काम में लग जाने के कारण मेरा उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।"

"क्या है तुम्हारा जीवन उद्देश्य" ?

"मेरा उद्देश्य है साहित्य-साधना के माध्यम से समाज का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाना। इसके लिए जीविका की दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा होना नितान्त आवश्यक है। परिवार के लोग सुखी और संपन्न हैं। उन्हें मेरी सेवाओं की कोई विशेष आवश्यकता नहीं, इस लिए मैंने अपनी सेवाएँ समाज को समर्पित करने का निश्चय किया है।"—इलियट के ये उद्‌गार सुनकर मित्रों ने मुँह पर तो प्रशंसाओं के पुल बाँध दिये। परन्तु पीठ पीछे वे मखौल उड़ाते रहे।

अपने मखौल का उन्हें बाद में पता भी चलता और फिर उन्होंने कहना ही बंद कर दिया। लेकिन मखौल और उपहास से वे निराश नहीं हुए। जिस दिन से उनकी बौद्धिक-चेतना का विकास हुआ था, वे यह जानने लगे थे कि अँग्रेजी-भाषा काव्य की दृष्टि से निर्जीव, कृत्रिम और पिछड़ी हुई है। उसमें रचे गये काव्य न तो जनसामान्य की समझ में आने जैसे हैं और न काव्य का प्रयोजन—भावनात्मक जागरण कर पाने में समर्थ है अँग्रेजी-साहित्य और भी कई दृष्टियों से अपूर्ण था। उसी समय से उन्होंने निश्चय कर लिया और साहित्य-सेवा को अपना लक्ष्य चुना।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने आवश्यक समझा था कि मातृभाषा का गहन अध्ययन किया जाय। परिवार के लोग उनकी ज्ञान जिज्ञासा के प्रति कोई स्थिर मत नहीं रखते थे। उनकी ओर से इलियट पढ़े या न पढ़े इससे कोई लाभ हानि की पर्वाह नहीं थीं। क्योंकि पढ़-लिख ले या न पढ़ें विद्यमान अटूट संपदा उनके सुखमय जीवनयापन के लिए पर्याप्त थी। इसलिए उन्होंने इलियट की आकांक्षाओं में कोई दखलंदाजी नहीं की। औसत स्तर की शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और वहाँ अँग्रेजी के साथ-साथ फ्रेंच भाषा तथा साहित्य का भी अध्ययन किया।

इस भाषा का अध्ययन करते समय उनकी प्रवृत्ति दर्शन-शास्त्र की ओर उन्मुख हुई। अध्यात्मवादी जीवन दर्शन अपनाने से मनुष्य का व्यक्तिगत और सामाजिक-जीवन सुखी तथा समृद्ध बन सकता है, उन्होंने यह तथ्य अनुभव किया। और उन्हें एक मार्ग मिला। लगा बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाने के लक्ष्य में उनकी यही आत्मिक अव्यक्त प्रयोजन छुपा है। उन्होंने अनुभव किया कि कानून, दण्ड, भय, प्रलोभन और समाज-व्यवस्था का कोई भी उपाय व्यक्ति को इतना नैतिक और सामाजिक नहीं बना सकता जितना कि अध्यात्म-दर्शन।

ज्यों-ज्यों वे इस विषय का क्रमबद्ध अध्ययन करते गये उनकी अभिरुचि, उत्साह, लगन और आस्था भी उत्तरोत्तर बढ़ती रही। यहाँ तक कि उन्होंने दर्शन-शास्त्र का गहन अध्ययन करने के लिए फ्रांस तक जाने का विचार किया और उसे कार्यरूप भी दिया। फ्रांस में अध्ययन करने के बाद वे पुनः अमेरिका आ गये और फिर वहाँ से जर्मनी गये। उस समय उनकी आयु उन्तीस तीस वर्ष की रही होगी। इतनी कम उम्र में दर्शन जैसे गम्भीर विषय की ओर बहुत कम लोग ही आकृष्ट होते देखे गये हैं। जर्मनी में वे उस समय भी उसी मनोयोग से और तल्लीनतापूर्वक दर्शन-शास्त्र पढ़ते रहे जबकि प्रथम महायुद्ध चल रहा था।

जर्मनी मे अपनी शिक्षा पूरी कर उन्होंने इंग्लैण्ड के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश किया और वहाँ की उच्च परीक्षाएँ पास कीं। इंग्लैण्ड को लौटने के बाद उन्होंने अपने पिता की सम्पत्ति के सहारे नवीन निधि करने की अपेक्षा स्वयं

के बल पर उपार्जन करना ही अधिक श्रेष्ठ समझा। इस पर उन्हे मित्रो और परिजनो के व्यंग्यो का भी शिकार होना पड़ा। वस्तुतः उन्होंने इस सत्य का साक्षात कर लिया था कि मात्र दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्तो और आदर्शों का अध्ययन भर कर लेने से जीवन मे सुख और आनन्द का अवतरण नहीं हो जाता। इस उपलब्धि के लिए तो उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में उतारना जरूरी है। परिश्रम, आत्म-निर्भरता और स्वतंत्र उन्मुक्ति द्वारा प्राप्त सुख से वैभव विलास और आराम-तलब परावलम्बन कई गुना बेकार है, निकृष्ट है।

बैंक में नौकरी करते हुए भी उन्होंने उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन, मनन और चिन्तन जारी रखा। धीरे-धीरे उनके पास विचार और भावो का इतना अक्षयकोष भर गया कि अब उन्हे अभिव्यक्ति देना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो गया। अध्यात्म-दर्शन में अधिकारिक ज्ञान संचय के बाद उन्होंने कलम उठायी और ऐसी प्राणवान तथा जीवंत रचनाएँ निसृत कीं लेखनी रूपी निर्झरिणी से कि रसिक पाठको का हृदय उन भावो से सराबोर हो उठा। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ भी बड़ी लोकप्रिय हुईं। लोगो ने एकमत से यह राय व्यक्त की कि अब तक ऐसी रचनाये नही लिखी गयी थीं। वे प्रभावोत्पादक भी होती थी, क्योंकि उनमे शब्दों की अपेक्षा इलियट का व्यक्तित्व ही अधिक बोलता था।

इंग्लैण्ड की जागरूक जनता ने साहित्य के क्षेत्र मे नवोदित कलाकार इलियट की रचनाओं को बड़े ध्यान-पूर्वक पढ़ना शुरू किया। बुद्धिजीवियो को उनकी कविताओं मे एक नया रस घुला दिखाई दिया। एक नया प्रकाश और एक नयी विचार-धारा मिली जो न केवल प्रगतिशील थी बल्कि समय सम्मत और उपयोगी भी थी। उनकी साधना उपलब्धियो ने अँग्रेजी-साहित्य के लिए नया प्रवेश द्वार खोल दिया और इलियट की रचनाओं के निष्ठावान अध्येता बनने लगे।

ज्यों-ज्यो उनकी प्रतिभा और क्षमता उजागर होती गयी त्यो त्यों उनके विचारो की माँग बढ़ने लगी। अब यह आवश्यक हो गया था कि वे अपना पूरा समय काव्य सृजन तथा विचार, प्रसार मे लगाये इसलिए उन्होंने बैंक की नौकरी छोड़ दी और 'क्राइटेरियन' नामक एक पत्र प्रकाशित करने लगे। इस पत्र मे समाज-कल्याण तथा व्यक्ति का उत्थान किस प्रकार किया जाय इस सम्बन्ध मे ढेरो लेख, कविताएँ कहानियाँ आलोचना तथा समीक्षाएँ छपती थीं। पूरा पत्र अभिनव-जीवन-दर्शन की तत्त्व विवेचना से भरा रहता था।

अँग्रेजी के विश्वविख्यात इस कवि का जन्म अमेरिका में मिसीसिपी घाटी के अन्तर्गत सेन्ट लुई मिसूरी मे २६ सितम्बर, १८८८ को हुआ था।

इलियट की काव्य-रचना का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं था। वे अँग्रेजी-काव्य-भाषा की निर्जीवता, कृत्रिमता तथा पिछड़ापन दूर करने के लिये काव्य-क्षेत्र में उतरे थे। वे वास्तव में काव्य की जन-भाषा का विषय और जनभाषा को काव्य-भाषा बनाने के सराहनीय प्रयास में आजीवन लगे रहे। वे अपने इस सत्प्रयास में बहुत कुछ सफल हुए और उन्हें विद्वान् आधुनिक अँग्रेजी भाषा का क्रांतिकारी परिष्कर्ता मानते हैं।

मातृ-भाषा की सेवा करने के लिये योग्यता प्राप्त करने के मन्तव्य से इलियट ने व्यापक अध्ययन किया था। वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन करने के बाद फ्रेंच-साहित्य तथा दर्शन का अध्ययन करने के बाद फ्रांस गये और वहाँ से लौटने के बाद पुनः हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन एवं भाषा विज्ञान के अध्ययन में संलग्न हो गये। प्रथम महायुद्ध से पूर्व वे जर्मनी में रहकर अध्ययन करते रहे और युद्ध के समय इंग्लैण्ड के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक दर्शन का अध्ययन करते रहे।

इलियट के आलोचक मित्र इलियट के ऊँचे एवं प्रगतिशील विचारों से बहुत प्रभावित हुये और बाद में आजीवन उनके उद्देश्यपूर्ण विचारो के समर्थक रहे। लन्दन बैंक में कुछ समय कार्य करने के बाद इलियट ने शिक्षक का कार्य कर लिया। इसी अपने अध्यापनकाल में उन्होंने साहित्य-सेवा की ओर पग बढ़ाया। उन्होंने रचना करना और उन्हे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित करना शुरू कर दिया।

भौतिकता के इस घोर युग में भी इलियट अन्तर्जगत के अमर तत्वो को ही मुख्य रूप से काव्य-साहित्य का विषय मानते थे और उन्होंने उन तत्वो को जन-साधारण की भाषा में बड़े ही सुन्दर और प्रभावपूर्ण ढंग से रखा भी। जिससे एक ओर साहित्य की नवीन वृद्धि हुई और दूसरी ओर लोग भौतिकता के प्रभाव में होने पर भी आत्मा के अनिवार्य तत्वों की ओर उन्मुख होने लगे। इलियट का यह प्रयोग अन्धकार मे आलोक के समान था, जिससे समाज को अनमोल आत्मिक लाभ हुआ।

इलियट की काव्य-साधना एवं साहित्य की मीमांसा करते हुए इजरा पाउन्ड जैसे अनेक विद्वानो एवं काव्य-मर्मज्ञों ने अपना मत व्यक्त करते हुए अनेक स्थानो पर कहा है—"काव्य मे सम-सामयिक जीवन का जितना सुन्दर, सही और मार्मिक चित्रण इलियट के काव्य में देखने को मिलता है उतना दूसरों के काव्यों मे नही। उनकी भाषा सहज, सुबोध तथा समर्थ भाववाहिनी होने का साथ-साथ प्रभावोत्पादिनी भी है। वास्तव मे जन-भाषा मे जन-भावो के कुशल चित्रकार हैं। उनकी शैली की नवीनता एवं सरलता के विषय मे इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि पढ़ने पर ऐसा अनुभव होता है मानो दो ईमानदार आदमी आपस में बात कर रहे है।"

श्री टी. एस. इलियट साहित्य-सेवा मे केवल काव्य क्षेत्र तक ही सीमित नही रहे। वे एक कुशल नाटककार, उच्चकोटि के निबन्ध लेखक और सूक्ष्मदर्शी समीक्षक भी थे। उन्होंने साहित्य की इन सभी शाखाओ को अपनी सेवा से सम्पन्न बनाया है। उनके 'द वेस्ट लैण्ड', 'दि फोर क्वार्टेट', 'प्रू फ्राक एण्ड आब्जर्वेशन', 'कार्सेज फ्राम दि एर्क', 'एश वेडेन्सडे' आदि काव्य पुस्तकें, 'मर्डर इन दि कैथेड्रल',

'फैमिली री यूनियन', 'द काकटेल पार्टी' आदि नाटक और जोन्सन, मिल्टन, यीट्स, ड्राइडन आदि पर लिखे उनके निबन्ध साहित्य निधि की अमर विभूतियाँ हैं ।

इलियट ने जहाँ काव्य में मानव की सूक्ष्म आत्म-चेतना और आन्तरिक सौन्दर्य का चित्रण किया है वहाँ नाटकों में समाज एवं मानव-हृदय की विकृतियों पर करारी चोट की है । इतना ही नहीं इलियट ने आधुनिक नागरिक-जीवन की उपयोगी बातों, आर्थिक प्रश्नों, वैज्ञानिक समस्याओं आदि ऐसे विषयों को काव्य का विषय बनाकर काव्य द्वारा समाज सुधार का पथ प्रशस्त किया है जिनको सामान्यतः अकाव्यात्मक ही माना जाता रहा था । अपने इन नए प्रयोगों की सफलता उन्हें अपने जीवनकाल में ही देखने को मिल गई थी । उनके उपयोगी प्रयोगों की सफलता से प्रेरित होकर प्रेम तथा भोगवादी नई पीढ़ी के कवियों ने समाजोपयोगी विषयों को अपनी रचनाओं में स्थान देकर सुधार में हाथ बटाना प्रारम्भ कर दिया था ।

नवीन प्रयोगों के साथ साहित्य-क्षेत्र में अपने विचारों को मान्यता दिलाने में श्री टी. एस. इलियट को कम संघर्ष नहीं करना पड़ा था । उन्होंने तीव्र से तीव्र आलोचना का सामना बड़ी धीरता के साथ किया । उन्होंने समाज के हितकारी जिन सत्यों को अपनी आत्मा की गहराई के साथ समझ लिया था, उन्हें साहित्य के माध्यम से जन-मानस में निरन्तर उतारते रहना ही अपनी साहित्य-साधना का लक्ष्य बना रक्खा था, जिसकी पूर्ति में वे आजीवन बड़े-बड़े कष्ट उठा कर लगे रहे और अन्त में उसकी सफलता देखकर सन्तोष के साथ इस संसार से विदा हुए । निःसन्देह इलियट की मृत्यु से संसार के काव्य-क्षेत्र में बड़ी गहरी क्षति हुई है ।

जिनकी कविताएँ स्याही से अधिक लोहू से लिखी गयी हैं—

पाब्लोनेरूदा

सन् १९३६ की बात है । तब स्पेन में गृहयुद्ध छिड़ा हुआ था । एक ओर थी निहत्थी, निर्धन और शोषित जनता तथा दूसरी ओर थी सशस्त्र, समर्थ एवं बर्बर फासिस्ट सरकार । यों जनता सामान्यतः शासन की गतिविधियों क्रिया-कलापों तथा नीतियों से इतना सरोकार नहीं रखती जितना कि अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन तथा सुविधाओं से । सरकार चाहे जिन कारणों से जनता पर कर भार तथा दूसरे बोझ डालती रहे, वह बिना कुछ कहे सहती उठाती जाती है । इसे जनता की विशेषता कहलें या दोष पर इतना अवश्य कहना पड़ता है कि वह बहुत सहनशील होती है ।

लेकिन फिर भी सहनशीलता की एक सीमा होती है और वह सीमा जब पार कर जाती है वहाँ की सरकारी नीतियों और लादे गये बोझों से तो जन आक्रोश फूट पड़ता है । फिर भले ही सरकार राष्ट्रीय हो या विदेशी जनता के क्रोध से उसका बच पाना मुश्किल क्या असंभव ही रहता है । जनता के पास मनोबल होता है, ऊब होती है, विद्रोही भावनाएँ तथा शक्ति होती है और वह भले ही निहत्थी हो सरकार से टकरा जाती है ऐसी दशा में विद्रोह को कुचलने के लिए सरकार भी कुछ बाकी नहीं रखती । अपनी सैनिक-शक्ति और शस्त्र बल को जो जनता के पैसे और खून पसीने से ही अर्जित होता है, उसी को दमित करने में लगा देती है । स्पष्टतः यह जन कल्याण और स्वार्थ-लिप्सा के बीच का संघर्ष है । जीत किसी भी पक्ष की हो, बुद्धिजीवी और सहृदय विचारशील व्यक्तियों का समर्थन तो जनता के पक्ष में ही जाता है ।

परन्तु वे देश, जो आततायी शासन से सम्बन्ध रखते है अपने कुछ स्वार्थ साधने के लिए उस शासन की हर रीति नीति को आँख मूँद कर समर्थन दिए चले जाते हैं । ऐसा ही एक देश चिली स्पेन के इस गृहयुद्ध में वहाँ की सरकार के पक्ष में बोल रहा था । चिली की सरकार नहीं चाहती थी कि वहाँ का कोई नागरिक भी स्पेन जनता का पक्ष ले । कोई ले भी नहीं रहा था, परन्तु संसार उस समय हक्का-बक्का रह गया जब चिली के राजनयिक अधिकारी पाब्लोनेरूदा ने जो उन दिनों स्पेन में ही थे अपनी सहानुभूति स्पेन की जनता के साथ होने की बात कही । दूसरे राष्ट्रों के मामले में राजनयिक अधिकारी का कुछ कहना उस देश की जिसका कि वह प्रतिनिधित्व कर रहा है अन्तिम राय मानी जाती है ।

हालांकि चिली का रुख इस सम्बन्ध में स्पष्ट था फिर भी जब नेरूदा ने कहा कि मेरी सहानुभूति निहत्थी इस्पहानी जनता के साथ है; यहाँ के फ़ासिस्ट फौजी तानाशाह के साथ तो यह समझा जाने लगा कि चिली और स्पेन की तत्कालीन सरकार में कोई गम्भीर मतभेद हो गये हैं, जिससे चिली ने अपनी राय बदल दी है । परन्तु चिली सरकार को तो इस बात का अनुमान भी नहीं था कि नेरूदा यह कह जायेंगे । उसे जब यह पता चला तो स्पेन से नेरूदा को वापस बुला लिया गया । इसके पूर्व ही वे स्पेन छोड़ चुके थे—यह कहकर कि जब तक स्पेन में जनता का शासन कायम नहीं हो जाता तब तक मैं यहाँ नहीं आऊँगा ।

स्पष्ट है कि यह बात नेरूदा ने अपने आपको सर्व प्रथम मनुष्य होने के नाते से कही थी किसी देश विशेष के प्रतिनिधि होने के नाते नहीं । जिस पद और दायित्व पर रहकर वे अपने देश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे उस पद से कोई व्यक्ति अपने मानवीय कर्तव्य बोध को इतने खरेपन और स्पष्टता से कहकर प्रकट कर दे यह बहुत बड़े दुस्साहस की बात है । नेरूदा चिली के राजदूत थे, इस लिए उन्हें ऐसी कोई बात नहीं कहना चाहिए थी । यह बात ठीक है । परन्तु नेरूदा ने अपने आपको किसी भी बड़े पद पर होने के बावजूद भी सर्वप्रथम मनुष्य माना । मनुष्य होने की यह गहरी अनुभूति ही उन्हें राजनयिक औपचारिकता के कृत्रिम और

अप्राकृतिक सीमा बन्धनो को तोड़ने के लिए विवश कर गयी।

स्वयं को मात्र मनुष्य समझते रहने के कारण उन्होने ऐसे दायित्वो से भी स्वयं को सर्वथा विलग रखा जिन्हे ओढ़ने पर उन्हे यह लगता था कि उनका मनुष्य पंगु परतन्त्र और विवश हो जायेगा। सन् १९७० की बात है चिली में राष्ट्रपति का चुनाव होने जा रहा था। वहाँ के राष्ट्राध्यक्ष पद हेतु नेरूदा का नाम प्रस्तावित किया गया। बड़ी ननुनच के बाद वे इसके लिए राजी हुए। परन्तु जब सुना कि उनके योग्य प्रतिभाशाली और अच्छे मित्र भी राष्ट्रपति बनने के लिए उत्सुक है तो उन्होने अपना नाम वापस ले लिया। पहला कारण तो यह कि उन्हे राष्ट्रपति बनना रुचा नहीं और दूसरा कारण मित्रता का था। सहृदयता, मैत्री और विश्वास को उन्होने सब बन्धनों से परे कर दिया और अपने योग्य मित्र को अवसर देने के लिए अलग हट गये।

राजनीति मे सक्रिय भाग लेने से पाब्लोनेरूदा क्यो उपराम हुए ? यह एकदम अलग बात है। उनके व्यक्तिगत विषयो से सम्बन्धित है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि उस स्थिति मे रहते हुए आगत भविष्य के लिए नेरूदा को यह अंदेशा था कि वे इन उत्तरदायित्वो का निर्वाह करते हुए अपने मूल व्यक्तित्व को खो देगे। वे मूलत: कवि थे और एक ऐसे कवि जिसने अपनी कविताओ को स्याही से अधिक लोहू से लिखा था। उनकी कविताएँ उस वर्ग के प्रति सहानुभूति और करुणा जाग्रत करती थीं जो शताब्दियो से समाज के अभिजात कुलो द्वारा पैरो तले रौंदा जाता रहा है।

गरीबो और दीन-दु:खियो के प्रति उनकी कविताओ मे सहानुभूति ही नहीं आक्रोश भी उभरता जो उस व्यवस्था को तहस-नहस कर देने के लिए उत्सुक है। जिसमे गरीब और श्रमजीवी वर्ग-शोषण की चक्की मे पिसते जाते है। पाब्लोनेरूदा की रचनाएँ इस दृष्टि से जीवन्त और प्राणवान् ही है। सरकार ने उन्हे सरकारी आदेश की अवहेलना के अपराध मे वापस चिली तो बुला लिया परन्तु बाद मे इसपहानी शरणार्थियो की सहायता के लिये उन्हें पेरिस भी भेजना पड़ा। क्योकि सरकार यह अच्छी तरह जानती थी कि इस काम को नेरूदा जितनी कुशलता से कर सकेगे उतनी दक्षता से शायद ही कोई और कर पाये। व्यक्ति के हृदय मे सेव्य के प्रति जितनी गहन करुणा, आत्मीयता और निष्ठा होगी वह उतनी ही अच्छी सेवा भी कर सकेगा।

नेरूदा का जन्म स्पेन के ही एक मजदूर परिवार हुआ था। उस समय पश्चिम के श्रमजीवियो की माली हालत इतनी बदतर थी कि लोगों को आश्चर्य होता वे ऐसी दशा में किस प्रकार जी रहे है। बचपन और यौवन ही नहीं उन्हे अपना सारा जीवन बड़ी आर्थिक तंगियो मे गुजारना पड़ा। शायद इसी कारण उन्हे इस वर्ग की कठिनाइयों और समस्याओ का अच्छा ज्ञान था और उनकी दृष्टि मे इसके लिए जिम्मेदार था वह वर्ग जो श्रमिकों और किसानों के पसीने की मेहनत पर अपनी विशाल अट्टालिकाएँ खड़ी करता था।

उनके क्रान्तिदर्शी विचारों के कारण ही समकालीन कवियो ने उन्हे कवि के रूप मे मान्यता नहीं दी। कोई मान्यता दे या न दे कलाकार इसकी चिंता कहाँ करता है उनकी कविताओ मे गरीब और शोषितों का स्वर जितनी तीव्रता से मुखरित हुआ है उसी ने उन्हे स्टालिन पुरस्कार से सम्मानित करवाया।

सन् १९४७ मे वे चिली की संसद के सदस्य भी चुने गये। जन-प्रतिनिधि के रूप मे उन्हे चुनकर भेजने वाली जनता का जिस निर्भीकता से पक्ष लिया वह चिली के संसदीय इतिहास मे गौरव का विषय बना है। लेकिन उन्हे अपनी निर्भयता के कारण ही बड़े-बड़े खतरे झेलने पड़े संसद-सदस्य के रूप मे उन्होने तत्कालीन राष्ट्रपति गैबियल विडेला पर जब यह आरोप लगाया कि उन्होने देश को अमेरिका के हाथो बेच दिया है सरकार ने उन पर देशद्रोह का आरोप लगाया। फलत: उन्हे देश छोड़ना पड़ा। सरकार ने उन्हे सन् १९५२ में वापस चिली बुला लिया। वह उनको निर्दोष मानने लगी थी। वस्तुत: वे थे तो निर्दोष ही। सितम्बर ७३ मे उनका देहान्त हो गया।

युग-प्रवाह को मोड़ देने वाले निर्भीक-विचारक

हिन्दी-साहित्य में मील के पत्थर—
चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

किसी प्रतिष्ठित साहित्यिक-पत्रिका के सम्पादन विभाग में कुछ कर्मचारियों की आवश्यकता थी। विज्ञापन निकाला गया तो कई एम. ए. और पी. एच. डी. के डिग्रीधारियों ने आवेदन किया। साक्षात्कार के लिये उन्हें जब बुलाया गया तो प्रायः एक प्रश्न सभी से पूछा गया। प्रश्न था—क्या आप 'उसने कहा था' के लेखक के विषय में कुछ जानते है।

जिन लोगों से पहली बार में ही यह प्रश्न पूछा गया और वे ठीक से उत्तर न दे पाये उन्हें तो ससम्मान वापस जाने के लिए कह दिया गया और जिनसे पहले कई प्रश्न पूछ लिये गये थे तथा बाद में यही प्रश्न किया गया था और उत्तर नहीं दे पाये थे उन्हें भी विदा कर दिया गया। उन्हें विदा करने का कारण भी गलत नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस कहानी और जिस लेखक के सम्बन्ध में प्रश्न किया जा रहा था वे दोनों ही हिन्दी साहित्य में मील का पत्थर माने जाते हैं।

सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा। इस युद्ध में ३६ देशों ने भाग लिया था। ब्रिटिश-गवर्नमेंट की ओर से लड़ने वाले देशों में एक देश भारत भी था। अँग्रेज-सरकार ने अपने हित में भारतीय-जन-शक्ति और सैन्यबल का तब भरपूर और यहाँ तक कि जबरन भी प्रयोग किया था। भारतीयसैनिकों ने इस युद्ध में जो कीर्तिमान स्थापित किया वह भारत में आज भी जन-चर्चा का विषय बना हुआ है। उस समय तो हर देश का हर नेता भारतीयवीरों का शौर्य पराक्रम देख, सुनकर यही कहते थे कि भारतीयजवान दुनिया भर में अद्वितीय, साहसी, पराक्रमी और शक्तिशाली हैं। युद्ध आरम्भ होते ही भारतीय-सैनिकों की यशोगाथा हर जगह गायी जाने लगी थी और तभी १९१५ में हिन्दी की प्रतिनिधि, मासिक पत्रिका 'सरस्वती' में 'उसने कहा था' कहानी छपी थी। यह कहानी विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी थी।

प्रेम और कर्त्तव्य को केन्द्र बनाकर लिखी गयी इस कहानी ने हिन्दी-जगत् में बड़ी हलचल मचा दी। शिल्प और कथावस्तु की दृष्टि से यह हिंदी साहित्य में अनूठी कृति सिद्ध हुई और उद्देश्य तथा भावो की दृष्टि से भी बड़ी प्रेरणाप्रद थी। प्रेम और कर्तव्य के सम्बन्ध मे प्रायः समझा जाता है कि ये दोनों भाव अलग-अलग हैं और यदाकदा एक ही बिन्दु पर टकरा भी जाते है। परन्तु, गुलेरी जी ने इस कहानी में सिद्ध कर दिया है कि प्रेम और कर्त्तव्य अलग नहीं हैं। बल्कि, प्रेम शब्द तो इतना व्यापक है कि उसमें कर्त्तव्यनिष्ठा, वचन का पालन, सत्य, त्याग, वीरता आदि गुण सहज ही समा जाते हैं। जिस प्रेम के कारण लगता है कि कर्त्तव्यपालन में कोई बाधा खड़ी हो रही है वह प्रेम, प्रेम नहीं, शरीर के तल तक सीमित रहने वाला मोह मात्र है।

कहानी का आरम्भ अमृतसर के बाजार से होता है। वहाँ एक किशोर और एक किशोरी संयोगजन्य परिस्थितियों में एक दूसरे से क्षण भर के लिए परिचित होते हैं। यही किशोर लहना सिंह जो कहानी का प्रमुख पात्र है, अपने हृदय में किशोरी के प्रति विशुद्ध प्रेम का अंकुर जन्म पाता है। आगे चलकर लहनासिंह सेना में भर्ती हो जाता है और उसकी मानस-प्रेयसी विवाह-बंधन में बँध जाती है। लहनासिंह के साथ उसका पति भी युद्ध में जाता है और वह जो जानती है कि उसके हृदय में उसके प्रति अगाध प्रेम है—एक बात कहती है। लहनासिंह दिये हुये वचन को पूरा करने के लिए—अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए प्रेयसी की हित कामना के लिए जान की भी बाजी लगा देता है। इस छोटे से कथानक को गुलेरी जी ने जिस भाव-प्रवण कुशलता के साथ कथा-सूत्र में पिरोया है—वह शैली, बाद में हिंदी साहित्य की विशिष्ट-पद्धति ही बन गयी।

यह भी बड़े आश्चर्य की बात है कि गुलेरी जी के तीन ही प्रयास प्रकाश में आये। उन तीनों प्रयासों में से उसने कहा था अन्तिम प्रयास है। इसके बाद उनकी कोई कहानी नहीं छपी परन्तु इस एक कहानी ने ही उन्हें जितनी ख्याति और प्रतिष्ठा प्रदान की वह यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि साहित्यिक-प्रतिभा निखारने के लिए ढेरों ग्रन्थ, रचनाएँ और कविता कहानियाँ लिखना कोई आवश्यक नहीं है। बेहतर है थोड़ी ही कृतियाँ लिखी जाँय परन्तु उनमें जीवन्तता और सार्थकता हो। अब उनकी रचनाओं का संकलन गुलेरी-ग्रन्थ के नाम से भी प्रकाशित हुआ है। परन्तु उसे देखते हुए भी नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अधिक कुछ लिखा है। गुलेरी ग्रन्थ में कुल ३३ रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओ में गुलेरी जी का व्यक्तित्व इतनी बुलंदगी से बोलता है कि लगता है हिन्दी-साहित्य को जीवन और प्राण देने मे यह अकेला व्यक्ति ही सर्वप्रथम सफल हुआ है।

अपनी कुछ रचनाओ के बल पर ही हिंदी-साहित्य में अमर हो जाने वाले गुलेरी जी का जन्म १८८३ ई. में जयपुर के ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। उनके पूर्वज हिमाचल-प्रदेश कांगड़ा जिले के गुलेर नामक स्थान से चलकर जयपुर में ही आ बसे थे। पूर्वस्थान को अपने वंशनाम से जोड़कर उन्होंने शायद अतीत को स्मरण रखने की परम्परा डाली थी। गुलेरी

जी के पिता शिवराम शास्त्री संस्कृत के प्रकाण्ड-पण्डित, साहित्य-मर्मज्ञ और ख्याति प्राप्त विद्वानव्यक्ति थे । उनकी विद्वता और पाण्डित्य, मात्र वाणीविलास या जीविकोपार्जन के ही साधन नहीं थे । बल्कि, जो कुछ भी उन्होंने सीखा और समझा उसे जीवन तथा व्यवहार में उतारने के सिद्धान्त पर उनका अधिक विश्वास था ।

यही कारण था कि उन्होंने सन्तान को जन्म भर देना ही काफी नहीं समझा । सुसतति के रूप में समाज को, विश्व को एक अनुपम उपहार देने में उनकी अधिक आस्था रही । शास्त्री जी ने बचपन से ही अपने पुत्र के व्यक्तित्व को परखा और उसे समुन्नत रूप देने की—सुविकसित करने की नीति अपनायी थी । बालक चंद्रधर प्राय बात-बात में अपने पिता की नकल करता और पुस्तके, ग्रन्थ उलट-पुलट करने में ज्यादा मशगूल रहता था । पिताजी जब संस्कृत के ग्रथों का पाठ करते तो वह बड़े ध्यान से सुना करता था । बाल सुलभ के चपलता को भुलाकर एकाग्रचित्त-सा बैठ जाता था । धीरे-धीरे जब वे बड़े हुए तो पारिवारिक संस्कारो के फलस्वरूप सस्कृत की ओर उनका रुझान बढ़ा ।

शास्त्री जी ने विद्याध्ययन के लिए बालक को अपने सान्निध्य मे रखकर संस्कृत पढ़ाना ही ठीक समझा । उन्होंने संस्कृत की विधिवत् शिक्षा चार पाँच वर्ष की आयु में ही आरम्भ कर दी और कुछ ही दिनों में चन्द्रधर ने संस्कृत के तीन सौ श्लोक कण्ठस्थ कर लिए, क्रमशः इस भाषा और साहित्य का विधिवत् शिक्षण देते हुए शास्त्री जी ने कुछ ही वर्षों मे पाणिनीय-व्याकरण तथा अष्टाध्यायी भी पढ़ा दी थी । पिता की बुद्धिमता और अपनी लगन के परिणामस्वरूप अल्पवय में ही चन्द्रधर ने संस्कृत का अधिकाधिक ज्ञान अर्जित कर लिया था । यहाँ तक कि उसी उम्र में उन्होंने एक बार भारत-धर्म महामण्डल के संयोजकों तथा उपदेशकों के सामने संस्कृत में धाराप्रवाह-भाषण देकर सबको चमत्कृत कर दिया था ।

उस समय अँग्रेजी भाषा-सरकारी कामकाज की तथा प्रतिष्ठित जनों की सामान्यभाषा थी । यह स्थिति तो आज भी है । लेकिन, शास्त्रीजी ने तात्कालिक दृष्टि से अपने पुत्र को इस भाषा का ज्ञान कराना भी आवश्यक समझा । सन् १८९३ मे जयपुर महाराज कॉलेज में प्रवेश दिलाकर शास्त्री जी ने अपने पुत्र को हर दृष्टि से योग्य बनाने की व्यवस्था की । बुद्धि और क्षमता का ठीक ढंग से समुचित विकास हो तो सफलता हर कहीं बाट जोहती है । थोड़े ही दिनो में गुलेरी जी अँग्रेजी भली-भाँति पढ़ना-लिखना सीख गये । बाद में सन् १८९९ मे उन्होंने प्रयाग-विश्व-विद्यालय मे एण्ट्रेंस की परीक्षा मे सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया था । इस सफलता को सम्मानित करने के लिये जयपुर सरकार की ओर से उन्हें स्वर्णपदक भी मिला था ।

बौद्धिक-चेतना के विकास पथ पर अग्रसर होते हुए गुलेरी जी धार्मिक कार्यों मे श्रद्धा के साथ भाग लेने लगे थे । इस सम्बन्ध में उनके विचार बड़े व्यावहारिक होते थे । सन् १९०० में कुछ लोग उनके पास एक मन्दिर के निर्माण की योजना लेकर आये थे । तब वे एक दूसरे मन्दिर के जीर्णोद्वार में लगे हुये थे । गुलेरी जी नये मंदिर की योजना वालों को परामर्श दिया कि नया मंदिर बनवाने की अपेक्षा बेहतर है कि पुराने मन्दिर जिनकी मरम्मत और देखभाल जरूरी है उनमें अपना श्रम व समय लगाया जाय । कई उदाहरण देकर उन्होंने अपनी बात की पुष्टि की और उन लोगों को मनाकर दूसरे मन्दिर के जीर्णोद्वार कार्य में लगा दिया । उस समय पुनर्निर्माण कार्य में दो विदेशी विशेषज्ञों का सहयोग भी उन्होंने प्राप्त किया था । अहर्निश इस कार्य में लगे रहने के बावजूद भी उन्होंने अविराम साहित्य-साधना की थी, कई-कई बार तो उन्हें भोजन करने तक का समय भी नहीं मिलता था । फिर भी समय निकाल कर उन्होंने एक संस्कृत-ग्रन्थ का अनुवाद किया । सम्राट-सिद्धांत का अनुवाद कार्य सम्पन्न करने के साथ-साथ उन्होंने जयपुर आर्ट जर्वेटरी एण्ड इण्टर्स नामक पुस्तक का प्रणयन भी किया था । गुलेरी जी ने साहित्यक्षेत्र में तो पदार्पण कर लिया था परन्तु, अध्ययन का क्रम भी उन्होंने अभी नहीं तोड़ा था । यद्यपि वे डिग्री प्राप्त करने के लिए नहीं पढ़ रहे थे । उनका लक्ष्य तो ज्ञानार्जन और योग्यता का विकास ही था और यह उद्देश्य समुचित ढग से प्राप्त भी होता जा रहा था ।

सन् १९०४ में जयपुर दरबार ने उनकी योग्यता और प्रतिभा से प्रभावित होकर खेतड़ी में नृपति जयसिंह बहादुर के शिक्षकपद पर नियुक्ति कर दी । परन्तु वे कुछ वर्ष ही इस काम को कर सके । १९१६ मे मेयो कालेज के संस्कृत विभाग मे प्राध्यापक की आवश्यकता हुई । इस पद को गुलेरी जी को निमन्त्रित किया गया । चूँकि जयपुर के सामंत पुत्रों को पढ़ाने की अपेक्षा उन्हें यहाँ बहुत कम सुविधायें मिलने वाली थीं, फिर भी उपार्जितविद्या और ज्ञान का लाभ अधिक से अधिक लोगों को मिले इसके लिए उन्होंने मेयो कालेज का वह पद सहर्ष स्वीकार कर लिया और जयपुर दरबार की सेवाओ से मुक्त हो गये थे ।

सन् १९२० मे उन्हें पण्डित मदन मोहन मालवीय ने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय मे मनीन्द्रचन्द्र नन्दी स्कॉलर तथा प्राच्य-विद्या और धर्म-विभाग के प्रधान पद पर कार्य करने के लिए निमन्त्रित किया । सैकड़ो विद्वान उन दिनो मालवीय जी के साथ काम करने का अवसर तलाशते रहते थे और फिर भी निराश हो जाते । गुलेरीजी फिर इस अयाचित अवसर को क्यों छोड़ने लगे ? उन्होंने मालवीय जी का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और उक्त विभागो के पद पर प्रतिष्ठित हो गये । गुलेरी जी ने वैदिक, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, बगाली, मराठी, गुजराती, अँग्रेजी, हिंदी, लैटिन, जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओ को भी इस अवधि में अच्छी तरह सीख लिया था ।

दिनभर व्यस्त दिनचर्या के बाद भी इतने अधिक विषयों र अधिकार करना—'है तो आश्चर्य का विषय ।' परन्तु, यह भी सच है कि यह असम्भव नहीं । वस्तुतः मनुष्यजीवन और शरीर इतनी अद्भुत क्षमताओं से भरा पड़ा है कि उनका एक अंश भी जाग्रत कर लिया जाय तो बड़ी सफलतायें मिल सकती है । गुलेरी जी ने कठोर श्रम, नियमानुवर्तिता और समय की पाबंदी से उन्हीं क्षमताओं को जागृत किया था जो किसी भी व्यक्ति द्वारा आसानी से जगायी जा सकती हैं ।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार और उत्थान में भी गुलेरी जी ने अपूर्व योगदान दिया था । वे इस उद्देश्य से नागरी प्रचारिणी-सभा के भी विशिष्टसदस्य रहे थे । वर्षों तक उन्होंने इस सभा का सभापतित्व किया । लगभग उनतालीस वर्ष की आयु में उनका देहान्त जयपुर में हुआ । उन जैसे प्रखर, तेजस्वी और तपसाधक व्यक्ति को हिन्दी-साहित्य में मील का पत्थर कहा जाय तो क्या गलत होगा ।

विराट प्रतिभा का धनी— जानस्टीनबेक

आज स्टीनबेक की आय का एकमात्र साधन है, साहित्य । जिसे देखकर बड़े-बड़े धनियों को भी ईर्ष्या होती है। एक दिन वह भी था जब दरिद्र परिवार में जन्म लेकर साधन-सुविधाओं को जुटाने में स्टीनबेक को संघर्ष करना पड़ता था। जब आप कैलिफोर्निया से न्यूयार्क आये उस समय इनकी समस्याएँ सुलझी नहीं वरन्-गरीबी और भुखमरी ने ही उनका स्वागत किया था।

सन् १९२९ में 'कप ऑफ गोल्ड' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई तो लेखक को आशा के स्थान पर निराशा ही हाथ लगी । उस पुस्तक से भी लेखक को किसी प्रकार की आय न हुई । उदरपूर्ति के लिये कुछ तो करना ही था अतः स्टीनबेक न्यूयार्क में मजदूरी करने लगे । कुछ दिनों आवाज लगाकर समाचार पत्र बेचते रहे, कुछ दिनो पेंटर और मछली वाले के सहायक के रूप में बिताये थे । स्टीनबेक में कार्य करने की लगन थी । कार्य छोटा हो या बड़ा इसकी चिन्ता न करते हुये वे पूरे मन से उसे करते थे ।

स्टीनबेक का मुख्य उद्देश्य था साहित्य-सृजन । इन विकट परिस्थितियों के मध्य भी वे समय निकाल कर स्वाध्याय और साहित्य-सृजन का कार्य करते ही रहे । 'पास्चर्स ऑफ हेवन', 'टू ए गॉड अननोन', 'कैनेरी रो', 'द वेबर्ड बस' आदि पुस्तकें इसी समय की लिखी हुई हैं ।

सन् १९३९ में 'द ग्रेप्स ऑफ रॉथ' नामक वृहद् उपन्यास का प्रकाशन हुआ । इस उपन्यास पर अमरीका का प्रसिद्ध पुरस्कार 'पुलिट्जर प्राइज' प्रदान किया गया । मानवीय-सम्वेदना की प्रधानता होने के कारण उपन्यास के नायक जोड और उसके जैसे अनेक-व्यक्तियों का परिचय अमरीकी सरकार को मिला था । उपन्यास में सरकार के प्रतिनिधियों ने देखा कि इन विषम परिस्थितियों में भी लोग जीते हैं और अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए दृढ़ रहते हैं । इस उपन्यास के कारण ही अमरीकी-सरकार को अपनी अर्थनीति में परिवर्तन करना पड़ा था ।

स्टीनबेक द्वारा लिखा गया साहित्य, जनता की प्रसुप्त वासनाओं को भड़काने वाला नहीं है और न उन्होंने किसी वाद के प्रचार-प्रसार के लिए साहित्य को माध्यम बनाया था । बल्कि उनके हृदय में दुःखी मानवता के प्रति सहानुभूति है इसलिए अपने कथा-साहित्य के द्वारा वह पाठकों को उन परिस्थितियों में ले जाकर खड़ा कर देते हैं जहाँ पर लाखों-करोड़ों व्यक्ति अभावों और विवशताओं की जिन्दगी जीते हैं । १९३६ में स्टीनबेक का 'इन डूबियस बेटल' उपन्यास प्रकाशित हुआ इसकी कथावस्तु फल चुनने वाले श्रमिकों के संघर्ष को लेकर निर्मित की गई है और विवश होकर जब यह श्रमिक हड़ताल करते हैं तो साम्यवादी उनका किस प्रकार लाभ उठाते हैं ।

विरोधी आलोचक तो अवसर की ताक में ही रहते हैं । उन्होंने स्टीनबेक को साम्यवादी कहना शुरू कर दिया । अमरीका में 'साम्यवादी' शायद सबसे बड़ी गाली है । सन् १९४२ में 'द मून इज डाउन' उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसमें एकतन्त्रवाद और लोकतन्त्र की तुलनात्मक स्थिति का चित्रण है । इस उपन्यास को पढ़कर आलोचकों ने यह आरोप लगाया कि नाजी पात्र पर्याप्त रूप से पिशाच नहीं है, इस प्रकार साम्यवादी से अब उन्हें 'क्रिप्टो नाजी' की उपाधि दे डाली गई ।

स्टीनबेक आलोचनाओं से विचलित होने वाले न थे । सत्य का उपासक जिस माध्यम से भी अपनी बात प्रकट करता है वह सत्य होती है और साँच को आँच कहाँ ?

स्टीनबेक यन्त्रीकरण को एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं । मशीन का पहिया उसके हाथ में रहे, हाथ से चले पैर से चले यहाँ तक तो गनीमत है, पर उस पहिये को गले में पहनाने के वह विरोधी हैं । महात्मागाँधी के बाद संसार में यांत्रिककृषि का विरोध करने वाले अकेले स्टीनबेक ही हैं । 'द ग्रेप्स ऑफ रॉथ' में उनने यही दिखाने की कोशिश की है कि जब अकेला आदमी दस लाख एकड़ जमीन का मालिक बन बैठा है तब हमारे लाखों अनुभवी किसान भूख से तड़प रहे हैं और पशुओं सरीखी जिन्दगी बिता रहे हैं । इस समस्या के निदान हेतु वह महात्मागाँधी के असहयोग-आन्दोलन तथा मानव की विवेकशीलता के जागरण की ओर ही संकेत करते हैं ।

अमरीकी आलोचक जोजेफ वारेन् बीच ने स्टीनबेक के 'द ग्रेप्स ऑफ रॉथ' को अब तक प्रकाशित अमरीकी उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना है । क्योंकि स्टीनबेक प्रचारक नहीं विचारक हैं । उन्होंने पहले पात्रों की सृष्टि की है और फिर उन्हें वाणी, विचार और प्राण प्रदान किये हैं ।

उपन्यास का छोटे से छोटा पात्र भी अपनी बुराई को दूर करने का प्रयत्न करता दिखाई देता है । उन्होंने साहित्य के माध्यम से यह बताना चाहा है कि कोई सन्त हो या

असन्त, ज्ञानी हो या अज्ञानी, साधारण व्यक्ति हो या अपराधी सभी मनुष्य है और मानवता के नाते किसी को अपमान करने का अधिकार नहीं है । स्टीनबेक विश्व-साहित्य का प्रथम कलाकार है जिसने बेतहाशा दौड़ती हुई दुनिया को रोककर कहा 'इस दौड़ में तुम्हें मानव पुत्र का अनादर न करना चाहिए । बुराइयों के कारण किसी को पतित या अपराधी कहने से क्या लाभ ? यह मत भूलो मनुष्य अपराधी पहले है, बाद को और कुछ ।

सन् १९६२ में इस मानवता के पुजारी को साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया । सचमुच इस पुरस्कार ने अमरकलाकार के सान्निध्य में अपने को गौरवान्वित ही अनुभव किया होगा ।

स्टीनबेक शोषण, हिंसा, शत्रुता, उत्पीड़न और वैमनस्य को आज की सभ्यता में देखते हैं । इसलिये वह आज के 'सभ्य' कहलाने वाले मनुष्य की पाशविकता को बदलकर पुनः सभ्य बनाने के लिये आतुर हैं पर इसके लिये वह पाशविकता की हत्या नहीं करना चाहते बल्कि मानवीयप्रेम की सरिता में डुबकी लगाकर उसे मनुष्य की पीड़ा का अनुभव कराना चाहते हैं ।

वर्षों पूर्व एच. जी. वेल्स ने स्टीनबेक का अभिनन्दन 'विराट् प्रतिभा के धनी' कहकर किया था जिसे उनके अनुरूप ही माना जा सकता है क्योंकि जहाँ तक लोकप्रियता का प्रश्न है स्टीनबेक जैसी प्रसिद्धि न अर्नेस्ट हेमिंग्वे को मिली, न सिंक्लेयर को और न विलियम फाकनर को ही ।

मानवतावादी साहित्यकार— पर्लबक

चीन मे उस समय कम्युनिष्ट शासन नहीं था । लोकसेवा मे लगे हुए एक ईसाईपरिवार की किशोरी अपने बापू से चीन की कहानियाँ बड़े चाव से सुना करती थी । अकाल, महामारी, बाढ़ और सूखाग्रस्त किसान परिवार की कहानियाँ वह बड़े चाव से सुनती थी । ऐसे ही एक किसान की कहानी उसके मन मे घर कर गयी थी । दाई कहानी सुनाते हुए कह रही थी—"विंग जब बीमार रहने लगा तो उसके पुत्रों ने सोचा जमीन का बँटवारा कर लेना चाहिए और वे किसी प्रश्न पर सहमत न होने के कारण झगड़ने लगे थे ।"

एक प्रश्न—किशोरी ने बीच मे ही बात काटी—क्या जमीन का बँटवारा भी होता है ।

नन्हीं किशोरी की समझ मे नहीं आया कि जमीन कैसे बाँटी जाती है । जंगल के बेरफलो को सहेलियो मे बाँटते हुए तो देखा था, पिताजी बच्चो मे पैसे भी बाँटते हैं, परन्तु जमीन, जमीन कैसे बाँटी जाती है ।

"हाँ जमीन बाँटी जाती है बेटा"—धाय माँ ने कहा—लोग अपनी सीमा बना लेते हैं और फिर उस पर हक समझ लेते है ।

"तो क्या हवा और पानी भी लोग बाँटते है"—किशोरी ने फिर पूछा पिताजी तो हमेशा कहते है कि धरती, पानी, हवा और नदियाँ सबके लिये बनाई है । वे भगवान की है, उनके लिये किसी को लड़ना नहीं चाहिए । फिर ये लोग क्यों झगड़ते है ।

उस समय तो दाई ने किसी तरह बहला दिया परन्तु किशोरी का चिन्तन चलता रहा और बड़ी होने पर उसने इसी पृष्ठभूमि पर एक उपन्यास लिखा जिसे आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई । इस उपन्यास को श्रेष्ठ कृति के रूप में नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ ।

उपन्यास का नाम है—'दि गुड अर्थ' और उपन्यासकार है पर्लबक । इस उपन्यास में उस किसान की व्यथा और वेदना भरी कहानी है जो यह मानता है कि रुपया पैसा तो लूटा जा सकता है । परन्तु धरती को कौन लूटेगा । किसमें सामर्थ्य है जो धरती को लूट सकता है । वह माँ है, समृद्धिदात्री है । आगे चलकर उसके ही पुत्र बँटवारे के लिये झगड़ते है । जिनसे किसान दुःखी होता है । फिर उस पर कई विपत्तियाँ आती है । जिससे वह संघर्ष करता है । इस कहानी को और किसान की व्यथा को पर्लबक ने अपनी सशक्त लेखनी से कागजों पर उतारा है । विश्व की कई भाषाओं में इस पुस्तक का अनुवाद हुआ है ।

पर्लबक का जन्म एक ईसाई मिशनरी परिवार मे हुआ था । उनकी शिक्षा-दीक्षा सयुक्त-राज्य-अमेरिका में ही हुई थी । परन्तु, उनका अधिकांश जीवन एशिया में बीता । उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में ऐशियायी सस्कृति की अमिट छाप दिखाई देती है । पिता उस समय चीन में ईसाई-धर्म-प्रचारक थे । उन्हे भी अपने परिवार के साथ रहना पड़ा फलतः उन्होंने चीन के जन-जीवन को अति निकट से देखा था । दूसरे देशो की भी उन्होंने यात्राएँ की और सर्वाधिक प्रभावित किया यदि किसी देश ने तो वह था भारत । इसी कारण उनकी अधिकांश रचनाओं मे प्राच्य-सस्कृति और भारतीय मान्यताओं की अभिव्यन्जना हुई थी ।

पीड़ित मानवता की पीड़ा को अपनी सजीव लेखनी से लिखकर समाज के सामने रखने की उनमे अद्भुत क्षमता थी । अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे भी कोरिया युद्ध के तथ्यो पर आधारित उपन्यास और पुस्तके वे लिखती रही थीं ।

उनके माता-पिता को बड़ी आशा थी बचपन मे कि पर्लबक आगे चलकर ईसाई-धर्म की प्रचारिका बनेगी । जिस रूप मे वे अपनी बेटी को देखना चाहते थे वह तो पूरी नहीं हो सकी परन्तु, सच्चे धर्म का—ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्तो का, मानवता, प्रेम और करुणा के आदर्शों की पर्लबक ने अपने जीवन और साहित्य के माध्यम से जो प्रतिष्ठापना की उसे देखकर लगता है कि उन्होने अपने माता-पिता की आशाओ को बड़ी कुशलता से पूरा किया था । कुछ वर्षों तक उन्होंने अपने माता-पिता की इच्छा के अनुरूप मिशनरी

कार्य भी किया था । युवावस्था मे एक धर्म-प्रचारक जानबक से शादी भी कर ली थी ।

बचपन मे सुनी कहानियाँ । तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियो और घटनाओ ने पर्लबक के भावुक अन्तःकरण को बेहद प्रभावित किया और उनका साहित्यकार जाग उठा । सन् १९३४ मे वे अमेरिका लौट आई और स्वतन्त्ररूप से पत्रकारिता का व्यवसाय अपने लिए चुन लिया ।

इसके पूर्व सन् १९३२ मे वे भारत भी आ चुकी थीं । यहाँ के ग्रामीण जीवन ने उन्हें बड़ा प्रभावित किया था । यहाँ के ग्रामीण-आँचलो की प्रशंसा उन्होने पहले से ही सुन रखी थी । इस कारण उनको महानगरो की अपेक्षा भारत की आत्मा—गाँवो को निकट से जानने और देखने की इच्छा हुई । एशिया के ही एक देश के पत्रकार रिचार्डवान्स ने उनका परिचय विशाल-भारत के सम्पादक पं. बनारसी दास चतुर्वेदी से कराया । चतुर्वेदी जी ने गाँवो में जाने और घूमने ठहरने आदि की व्यवस्था कर दी । यहाँ के भोले-भोले गाँववासियों की सादगी, सरलता और पवित्र जीवन ने उन्हे अपना बना लिया । भारतयात्रा के संस्मरणो मे उन्होंने एक स्थान पर कहा भी है कि भारत मे आकर मुझे ऐसा लगा जैसे मैं अपने ही घर मे आ गयी हूँ । यहाँ के जनजीवन और नागरिकों के रहन-सहन की सरलता ने मुझे यह प्रतीत कराया कि धर्म और अध्यात्म को इन लोगो ने अपने जीवन में पूरी तरह उतारा है ।

लम्बे और विशाल अध्ययन तथा चिन्तन-मनन ने उनके साहित्य को दिशा दी थी । यद्यपि साहित्यकार की कल्पना बड़ी ऊँची उड़ाने भरती है और इन उड़ानो से उसकी रचनाएँ यथार्थ से बहुत दूर जाकर केवल स्वप्निल दुनिया ही बसा पाती है । यथार्थ और कल्पना मे भटककर साहित्यकार एक भूलभुलैया मे फँस जाता है । जिसके कारण वह अपने वास्तविक उद्देश्य और साहित्य की सार्थकता से दूर जा गिरता है । कल्पनाओ के साथ-साथ यथार्थ को भी दृष्टिगत रख कर पर्लबक उस भटकन से अपने आप को बचा ले गयी थीं । उन्होंने समाज का, दुखी पीड़ितो का जो सजीव चित्रण किया साथ ही उनके समाधान भी सुझाये उनके कारण वे सार्थक और मूल्यवान साहित्य की स्रष्टा बन गयी थीं ।

इतने अमूल्य और विशिष्ट-साहित्य का सृजन ही पर्याप्त नहीं होता । जन-जन तक उसे पहुँचाना भी आवश्यक है । इसके लिये उन्होने अपनी पुस्तकों के सस्ते संस्करण तैयार कराये तथा गरीब से गरीब घर मे उन ग्रन्थो को पहुँचाया । पर्लबक ने एक स्थान पर लिखा है—"मैं अपनी पुस्तको के सस्ते संस्करण प्रकाशित होते देखकर बड़ी प्रसन्न हूँ । क्योंकि मैं सोचती हूँ इससे सभी लोग उन्हे पढ़ सकते है । निश्चय ही पुस्तक हर व्यक्ति की पहुँच के अन्दर होनी चाहिए । अन्यथा उत्कृष्ट साहित्य भी मँहगा होने के कारण पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने वाला बन जाता है ।

अमेरिका मे रहकर उन्होने रंग-भेद नीति से लेकर पूँजीवादी शोषण तथा सामाजिक अत्याचार जैसी परम्पराओ का विरोध किया था । इन समस्याओ का समाधान उन्होने केवल मानवतावादी जीवन मूल्यो मे देखा था । प्रेम, सहानुभूति, सौहार्द्र, सहिष्णुता और आपसी भाईचारे का शाश्वत-संदेश उनकी रचनाओं मे मुखरित हुआ है ।

विश्व-संस्कृति और विश्वएकता में पूर्व और पश्चिम का विभाजन बड़ा घातक है । पर्लबक ने सबसे पहले इस ओर ध्यान दिया तथा संसार के देशवासियो से इस बात का अनुरोध किया कि वे बातचीत और व्यवहार में धरती का पूर्व तथा पश्चिम के नाम से विभाजन न करें । उनकी हार्दिक इच्छा थी कि पूर्व और पश्चिम के मध्य स्वरूप एकता स्थापित हो । इसके लिये वे प्रयत्नशील भी रही थीं । उनका विचार था कि जब तक संसार मे इस प्रकार की एकता स्थापित नहीं हो जाती तब तक विश्व शान्ति एक दिवा-स्वप्न-मात्र ही बन कर रहेगी ।

उन्होने ५० से भी अधिक पुस्तके लिखीं थी । पिछले दिनो उनका अधिकांश समय पेन्सिलबेनिया स्थित फॉर्म पर व्यतीत होता था । यहीं वे साहित्य-सेवा करती थीं । ६ मार्च, १९७३ को ८० वर्ष की अवस्था मे वे परलोक-गामी हो गयीं । उनके निधन से विश्वसाहित्य को अपूरणीय क्षति हुई परन्तु उनके प्रतिष्ठापित मूल्यो और आदर्शों से नयी पीढ़ी का साहित्यकार सदियो तक प्रेरणा लेता रहेगा ।

जो अल्पायु में ही यशस्वी बना—स्टीफेनकेन

उन्तीसवर्ष की आयु कोई अधिक नहीं होती है । किन्तु इसी अल्पायु मे तो स्टीफेनकेन नामक अमेरिकी साहित्यकार सदा के लिए अपना पार्थिव शरीर छोड़कर चला गया था । साथ ही छोड़ गया अपनी कीर्ति के वे प्रकाश-स्तम्भ जो साहित्य-जगत् मे उसे अमर बनाने के लिये पर्याप्त थे । इतने अल्प समय मे ऐसे साहित्य का सृजन कर जाना निश्चय ही उसकी महान उपलब्धि थी ।

इतिहासकार व प्रसिद्ध लेखक एच. जी. वेल्स ने उसके बारे मे लिखा है—'निस्संदेह वह हमारी पीढ़ी के सर्वोत्तम लेखक थे । उनकी मृत्यु से हमारे साहित्य की अपारक्षति हुई है । अमेरिका के प्रमुख इतिहासकार व लेखक रार्बट ई. स्पीलर भी उन्हें अपने समय का श्रेष्ठतम साहित्यकार मानते हैं ।

सरस्वती के इस अनन्यतम आराधक का जन्म १ नवम्बर, १८७१ को न्यूजर्सी न्यूर्याक के एक मेथोडिस्ट पादरी के घर हुआ था । उसके माता-पिता दोनों ही लेखक थे । उनके भाई-बहिनो में से अधिकांश ने साहित्य व पत्रकारिता का क्षेत्र ही चुना था । इस प्रकार घर के धार्मिक तथा साहित्यिक वातावरण का बालक स्टीफेन के मन-मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव पड़ा । आठवर्ष की आयु में ही केन ने

कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया था। सोलहवर्ष की आयु मे तो वह 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' की स्तम्भ लेखिका अपनी माता के लिए उनके नाम से लिखने लगे थे।

स्टीफेन जब विद्यालय में पढ़ता था तभी अपनी साहित्यिक अभिरुचि के कारण अन्य विषयों पर पूरा ध्यान नहीं दे पाता था अतः वह इन विषयो में कमजोर रहता था। एक दिन उसके एक अध्यापक ने उससे कह दिया—"स्टीफेन यदि तुम्हे जीवन में कुछ बनना है तो मन लगाकर पढ़ना लिखना छोड़कर तुम गणित आदि महत्वपूर्ण विषयों पर ध्यान दो नही तो तुम कुछ भी नहीं बन सकोगे।" अध्यापक का यह कथन इस युवक के लिए एक चुनौती बन गया। उसने दृढ़-सकल्प कर लिया कि वह जीवन में कुछ बनकर ही बतायेगा।

उसने पढ़ाई छोड़ दी तथा केवल लेखन में ही निरत रहने लगा। शारीरिक-रुग्णता तथा आर्थिक-अभाव उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सके। वह जो कुछ लिखता था पहले उसकी अनुभूति स्वयं कर लेना चाहता था। कल्पना व सवेदनशीलता का अनूठा संगम उसने अपने हृदय मे किया था।

उसका पहला उपन्यास "मेगी—ए गर्ल ऑफ द स्ट्रीट" १८९१ में पूरा हो गया। इसे बड़ी कहानी भी कहा जा सकता है। इसमे वैभवशाली अमेरिका-वासियो की उस छटपटाहट का अङ्कन है जो भौतिक उपलब्धियो के अनंतर भी बनी ही रहती है। इस उपन्यास को कोई प्रकाशित करने वाला नहीं मिला। स्टीफेन ने अपने भाई से धन उधार लेकर उसका प्रकाशन किया। किन्तु भौतिकता प्रेमी अमेरिका समाज से उसे उपेक्षा ही मिली।

अपनी इस पहली रचना के इस प्रकार उपेक्षित होने पर भी वह निराश नहीं हुए वरन् उनने और भी अधिक उत्साह व मनोयोग से अपना लेखन-क्रम जारी रखा। और एक दिन उन्होंने ऐसा उपन्यास लिखा जिसने उनका नाम साहित्य-जगत मे चमका दिया।

युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह मार्मिक उपन्यास युद्ध के प्रति मनुष्य के मन मे तीव्र घृणा तो उपजाता ही है साथ ही साथ प्रेम व मानवता का स्वर्गीय सदेश भी देता है। इस उपन्यास का नाम है 'दि रेड बेज ऑफ केरेज।' इसका नायक एक अनुभव-शून्य सैनिक है। इस सैनिक की मनोदशा का मार्मिक-चित्रण उन्होने इस उपन्यास में किया है।

'मेगी'—ए गर्ल ऑफ द स्ट्रीट से 'दि रेड बेज ऑफ केरेज' तक की उसकी साहित्यक यात्रा बड़ी ही संघर्ष व कटु अनुभवों से भरी है। उनकी पहली कविता पुस्तक 'दि ब्लेक राईडर्स' १८९५ में प्रकाशित हुई। उसके वर्षों बाद उसने श्रेष्ठ कहानियाँ लिखीं जिनमें 'दी ब्राइड कम्स टू यलो स्काई' मुख है। 'दि रेड बेज ऑफ केरेज' ने उसे अटलांटिक के दोनों छोरों में लोकप्रिय बना दिया था।

१८९७ मे वे फ्लोरीडा चले गये। वहाँ उनका जहाज नष्ट हो गया और उन्हें कुछ यात्रियों के साथ एक खुली नाव में चार दिन तक बहने के बाद बचाया जा सका। मृत्यु के पूर्व मनुष्य की क्या मन:स्थिति हो जाती है। वह किस प्रकार अपने शुभ-कर्मों का स्मरण कर हर्षित तथा दुष्कर्मों को याद कर दुखित होता है इसका सुन्दर वर्णन उन्होने इस दुर्घटना का आधार लेकर लिखी 'दी ओपन बोट' नामक कहानी-संग्रह में किया है। यह अँग्रेजी-भाषा की छोटी कहानियो की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानी जाती है।

उसकी पीढ़ी के किसी अन्य युवा-लेखक को उतनी लोकप्रियता नही मिली जितनी उसे मिली। १८९८ मे स्पेन अमेरिकी युद्ध के आरम्भ हो जाने के कारण वह सेना मे भर्ती होना चाहता था किन्तु उसके स्वास्थ्य को देखते हुए उसे स्वीकृति नही मिली। अतः उसने 'न्यूयॉर्क वर्ल्ड' नामक समाचार-पत्र का काम करना स्वीकार कर लिया। इस समय उन्होंने हवाना रहते हुए कई अच्छी कहानियाँ, लेख व 'एक्टिव सर्विस' नामक उपन्यास लिखा।

क्रेन की यह विशेषता थी कि वह जो कुछ लिखता था वह बेसिरपैर का नहीं होता था। वह उसकी गहनतम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती थी। उसके लिए वह स्वयं दुख, कष्टो व अभावो को सहकर देखता था व फिर उन पर कलम चलाता था। उसने कभी पाठको को अलबलूल कल्पना लोक में भरमाने का प्रयास नही किया।

उसे पच्चीस-वर्ष की आयु मे क्षय-रोग हो गया। वह उसकी चिकित्सा कराने के लिए अपनी पत्नी के साथ इंग्लैण्ड गया। रोग तथा अर्थाभाव उसके चिरसंगी थे जो उसके प्राणों के साथ ही छूटे।

एक व्यक्ति जिसने पूरी शिक्षा भी नहीं पायी हो—जिसका शरीर भी उसका साथ नहीं देता हो, किस प्रकार अपने ध्येय मे सफल हो जाता है—अपने संकल्प व परिश्रम के बल पर स्टीफेन क्रेन उसका एक अनुपम उदाहरण है। अपनी कहानियो मे उसने वही कुछ लिखा है जो बाद में हेमिंग्वे ने अपनी कहानियो मे वर्णित किया है। हेमिंग्वे का 'ए फेयरवेल टू आर्म्स' एक प्रकार से 'दि रेड बेज ऑफ केरेज' का ही भाष्य लगता है। उसकी बचपन की कहानियाँ उसे मार्कट्वेन के समकक्ष बिठाती है।

उन्तीस वर्ष ही वह जीया। पर इन उन्तीस वर्षों में ही उसने जो कुछ कर दिखाया वह मनुष्य की संकल्प शक्ति का अनोखा उदाहरण है, जो हर निराश व्यक्ति की आशा बन सकता है।

विचारों के बल पर इतिहास का रुख बदलने वाली महान महिला—हैरियटस्टो

समाज में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तभी सम्भव होते हैं जब समाज उन परिवर्तनो को स्वीकार करने के लिए तैयार हो। अर्थात् जनमानस में प्रस्तुत स्थिति के प्रति वितृष्णा और नयी स्थिति का निर्माण करने के लिए जाग्रति आये। यह कार्य पुस्तकें द्वारा बड़े अच्छे और प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न किया जा सकता है। विश्वइतिहास के प्रमुख घटनाचक्रो का यदि अध्ययन किया जाय तो पुस्तको ने जन-जाग्रति के कार्य में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है यह आसानी से समझा जा सकता है। इस युग में जिन पुस्तको ने किसी देश या समाज की परिस्थितियो और वातावरण को सर्वाधिक प्रभावित किया है—वह है 'अंकल टाम्स केबिन' '(टाम काका की कुटिया)।'

अमेरिका के मूल निवासी, नीग्रोजाति के लोगो को वहाँ के रहने वाले गोरे अँग्रेज अपना गुलाम बनाकर रखते थे। उनका क्रय-विक्रय उसी प्रकार किया जाता था जैसे हाट-बाजारों में मवेशियो की खरीद बिक्री की जाती है। यह स्थिति सारे अमेरिका मे व्याप्त थी और विचारवान् भावनाशील व्यक्ति के लिए इस स्थिति को सह पाना प्रायः असम्भव ही था। मनुष्य द्वारा मनुष्य के साथ जानवर और मवेशियो का सा व्यवहार मानवता के नाम पर कलंक नहीं तो और क्या कहा जायगा? इस कलंक को मिटाने के लिए देश के कई व्यक्तियों ने गुहार मचायी थी। परन्तु, उनका कोई प्रभाव नहीं हो सका था।

तत्कालीन अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने भी नीग्रो दासो को मुक्ति का आश्वासन दिया था और वैसी घोषणा भी की थी। पर इस घोषणा का इतना विरोध हुआ था कि अमेरिका मे गृहयुद्ध की सी स्थिति बन गई थी। कारण था, जनमत द्वारा इस घोषणा को समर्थन न मिल पाना। उन्हीं दिनो सन् १८५१ मे एक पत्रिका 'इरा' ने एक वर्ष तक टाम काका की कुटिया उपन्यास धारावाहिक रूप मे छापा। इस उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन लोगों द्वारा बहुत पसन्द किया गया। 'इरा' पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित होने के बाद यही उपन्यास पुस्तक रूप में छापा गया। पत्रिका मे छपते समय ही यह उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ था कि देश-विदेशों में इसकी बड़ी माँग हुई थीं। जब यह पुस्तक रूप मे छपा, तब तो अमेरिका के बाहर भी, फ्रान्स तथा जर्मनी मे इस पुस्तक की बड़ी चर्चा हुई थी। कई गोरे मालिकों ने तो अपने यहाँ से नीग्रो दासो को भी मुक्त कर दिया था। कारण था, उपन्यास के प्रभाव से जागृत होने वाली मानवीय-सवेदना।

ऐसा क्या था इस उपन्यास में? स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है। जिस दिन 'टाम काका की कुटिया' प्रकाशित हुई उसी दिन उसकी ३००० प्रतियाँ बिक गयीं, वर्ष भर के भीतर ही उस पुस्तक के १२० संस्करण छापने पड़े और उनकी तीन करोड़ प्रतियाँ बिकीं। यद्यपि इस पुस्तक द्वारा समाज की एक वीभत्स कुरीति पर आघात किया गया था। किन्तु, वे लोग जो उस दुःस्थिति के लिए जिम्मेदार थे; उपन्यास पढ़कर इतने प्रभावित हुए कि सारे अमेरिकी महाद्वीप में जनमानस ने परिवर्तन की एक अंगड़ाई ली।

समाज की भयंकर कुरीति; दासप्रथा पर आघात करने के बावजूद भी इस पुस्तक के लोकप्रिय होने का कारण था। पुस्तक पढ़ जाने के बाद पाठक के मन पर होने वाली प्रतिक्रिया। 'टाम काका की कुटिया' मे दास नीग्रो पर होने वाले अत्याचारो और उत्पीड़न से दासो को मिलने वाली यन्त्रणा का इतना मार्मिक-चित्रण किया है कि पाषाण-हृदय से भी संवेदनाओ का स्रोत फूटकर बह निकले। पुस्तक में दो दासस्वामियों की कहानी है—श्रीमती शेल्वी और आगार्स्टन सेण्टक्लेयर तथा दूसरा साइमन लेग्री। श्रीमती शेल्वी और सेण्टक्लेयर सहृदय व्यक्ति हैं और साइमन लेग्री एक बहुत ही धूर्त पुरुष है। दासों की स्थिति देखकर शेल्वी और सेण्ट क्लेयर जिन अनुभूतियो से गुजरते हैं वे पाठक में अनायास ही मानवीय भावनाओ को उत्पन्न किये बिना नही रहतीं।

इस ऐतिहासिक पुस्तक की लेखिका का नाम था—हैरियटस्टो। स्टो की यह पहली औपन्यासिक कृति थी जिसने उन्हे प्रसिद्धि, सम्मान और यश के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया था। उन्हे न केवल सम्मान मिला बल्कि सम्मान से भी कई गुना अधिक लोक-श्रद्धा प्राप्त हुई। दिखने मे अति सामान्य, नाटे कद की घरेलू महिला स्टो थीं किन्तु सवेदना और अनुभूति का सागर अपने भीतर छुपाये हुए स्टो ने दास निग्रो की पीड़ा को कितने भावुक हृदय से अनुभव किया होगा, जिसकी अभिव्यक्ति ने ही लाखों-करोड़ों दिलों को बदल दिया। उनसे मिलने के बाद राष्ट्रपति लिंकन ने आश्चर्य व्यक्त किया था—"क्या तुम्ही वह महिला हो जिसने ऐसी पुस्तक लिखी कि उसके फलस्वरूप गृहयुद्ध हुआ।" रहन-सहन की दृष्टि से स्टो बहुत ही साधारण लगती थीं। देश और समाज मे ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत करने वाले उपन्यास की लेखिका के सम्बन्ध मे कोई अनुमान लगाना चाहे तो यही सोचेगा कि वह बहुत तड़क-भड़क वाली, गर्वीली और अभिमानिनी होगी। किन्तु स्टो इतनी सरल और सहज महिला थी कि उन्हे एक नजर देखने व जानने के बाद उनके सम्बन्ध मे इतनी प्रसिद्धि प्राप्त होने का विश्वास पहली ही नजर में नहीं लगाया जा सकता। करोड़ो की संख्या मे उनका उपन्यास बिक जाने के बाद भी स्टो अपना घरेलू काम स्वयं अपने ही हाथों से करती थीं। एक बार उनके पति रैवरेण्ट कैल्विन ई. स्टो ने उनसे कहा—'हैरि! तुम घर में इतनी व्यस्त रहती हो कि तुम्हें देखकर मुझे विश्वास नहीं

होता कि तुम वही हैरियट हो जिसने इतना महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखा।'

तब स्टो ने कहा था—"लोगों के लिए भले ही मैं कोई महान् लेखिका होऊँ पर तुम्हारे लिए तो वही हैरियट हूँ जो यह उपन्यास लिखने से पहले थी।" वस्तुतः यशस्वी और ख्याति प्राप्त हो जाने से कोई व्यक्ति महान् नहीं बन जाता है। महानता आती है उनके उत्कृष्ट व्यक्तित्व और आदर्श कर्तृत्व से। प्रसिद्धि के सर्वोच्च-शिखर पर पहुँच जाने के बाद भी कोई इतना विनम्र हो सकता है—यह बहुत कम ही देखने में आता है। किन्तु हैरियटस्टो के लिए वह सहज और स्वाभाविक ही था।

साहित्य और व्यक्तित्व दोनों ही दृष्टि से महान् हैरियटस्टो का जन्म १४ जून, १८११ को लिट्चफील्ड (कनेक्टीकट) में हुआ था। उनके पिता अपने समय के प्रसिद्ध धर्माचार्य और आध्यात्मिक स्वभाव के व्यक्ति थे। लाइमैन बीचर—हैरियट के पिता, अपने परिवार के लिए सुख सुविधाएँ जुटाने की अपेक्षा लोकसेवा के कार्यों में ही अधिक रुचि लेते थे। प्रायः वे घर से बाहर रहते और कहीं कोई बीमार पड़ता या कोई दुर्घटनाग्रस्त होता तो तुरन्त वहाँ पहुँचते तथा कष्ट-पीड़ितो की सेवा-सुश्रूषा में सन्तोष का अनुभव करते थे। अपनी आस्थाओं और मान्यताओ के अनुरूप ही बीचर ने अपने बच्चो मे भी संस्कार डाले और उन्हे अपनी सुख-सुविधाओ से अधिक, कष्ट पीड़ितो और दुःखितो, त्रस्तों की सेवा पर ध्यान देना और उनके लिए प्रयत्न करना ज्यादा महत्वपूर्ण है, सिखाया। इन संस्कारों और शिक्षाओ का ही परिणाम था कि हैरियट स्टो तथा उनकी अन्य बहिने दूसरों की सेवा को व्यक्तिगत कष्ट-कठिनाइयो से अधिक महत्त्वपूर्ण मानने लगी थीं।

परिवार के वातावरण मे उच्च-आदर्शों से सस्कारित होने के साथ ही स्टो की शिक्षा पर भी समुचित ध्यान दिया गया था। स्थानीय—शिक्षा पूरी कर लेने के बाद हैरियट को आगे पढ़ने के लिए हार्ट-फोर्ड भेज दिया गया। उस समय उनकी आयु १६ वर्ष मात्र थी। चरित्र और व्यक्तित्व से आदर्श होने के साथ-साथ हैरियट पढ़ने-लिखने मे भी प्रतिभाशाली और मेधावी थीं। शीघ्र ही उन्होने वहाँ की शिक्षा भी पूरी कर ली। अब उनके सामने अपने भविष्य का चुनाव था। मित्रो ने सुझाव दिया कि वे अपनी प्रतिभा और योग्यता का लाभ उठाते हुए अपना भविष्य बनाये। सुझाव स्पष्ट ही सम्पन्नता और समृद्धि की ओर प्रेरित करने वाला था पर स्टो ने तो बाल्यकाल से ही अपनी नसो मे पीड़ा के निवारण और पतन के निराकरण के संस्कारो से अभिषिक्त रक्त दौड़ता हुआ अनुभव किया था। उन्हीं दिनो हैरियट के पिता सिनसियाटी में एक विद्यालय की स्थापना के लिए प्रयास कर रहे थे। सम्पन्न और अमीर वर्ग के लोग तो अपने बच्चों को महँगी शिक्षा भी दिलाने में समर्थ थे किन्तु निर्धन और गरीब लोगो के पास निर्वाह के साधन ही बेमुश्किल जुटते तो बच्चों को पढ़ाने की व्यवस्था कहाँ से हो पाती। हैरियट के पिता—लाइमैन बीचर विद्यालय की स्थापना कर ऐसे असमर्थ और साधनहीन व्यक्तियों के लिए शिक्षा-सुविधा सुलभ करने की सेवा-साधना में संलग्न थे।

हैरियट भी सिनसियाटी (ओहियो) पहुँच गयीं और अपने पिता के लक्ष्य को पूरा करने में जुट गयीं। वे शाला के कार्य समय में तो कक्षाओं में पढ़ाती और बाद मे जो समय बचता उसे लोगों से सम्पर्क करने मे व्यतीत करती थीं। निर्धन और अशिक्षित परिवारों से सम्पर्क करते तथा उन्हें अपने बच्चों को पढ़ने भेजने के लिए तैयार करते समय उन्हें बड़े ही धैर्य से काम लेना पड़ता था। क्योंकि जिन व्यक्तियों के बीच उन्हें जाना पड़ता था उनका मानसिक और बौद्धिक स्तर बहुत ही पिछड़ा रहता था। उन्हे समझाना भी कोई आसान काम नहीं था। किन्तु हैरियट बड़े उत्साह और धैर्यपूर्वक अपने कार्य में जुटी रहती थीं। इस दौरान उन्हें कई खट्टे-मीठे अनुभव हुए। इन अनुभूतियो ने हैरियट के भावुक मन को लिखने के लिए प्रेरित किया। आरम्भ तो उन्होने धार्मिक पत्रों में लिखने से किया किन्तु शीघ्र ही उन लोगों के बारे में भी लिखने लगीं जिन्हे वे जानती थीं।

यहीं से उनकी लेखन यात्रा आरम्भ हुई। हैरियट और उनके पिता लाइमैन बीचर के साथ ही शिक्षा अभियान मे एक और सेवाभावी सामाजिक कार्यकर्ता भी जुटे हुए थे—'कैल्विन ई. स्टो।' कैल्विन, हैरियट के सम्पर्क मे आकर उनसे बहुत प्रभावित हुआ। लक्ष्य, विचार और कार्य-पद्धति की समानता ने दोनों को दाम्पत्य सूत्रो मे बँधने के लिए प्रेरित किया और कुछ दिनों बाद ही हैरियट बीचर तथा कैल्विन स्टो दम्पत्ति बन गये। हैरियट बीचर से हैरियट स्टो हो गयी। विवाह कर लेने के बाद हैरियट स्टो अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व को कुशलतापूर्वक निभाने के साथ ही समाज-सेवा और साहित्य साधना के लिए भी समय निकालती रहीं। उन्हे आठ व्यक्तियो के परिवार में गृहिणी का उत्तरदायित्व सम्हालना पड़ा। हैरियटस्टो सभी काम अपने हाथ से करती और इसके बाद भी वे लिखने-पढ़ने का समय निकाल ही लेती।

साहित्य के माध्यम से समाज-सेवा का काम उन्हे इतना जँचा कि बाद में अध्यापन कार्य छोड़कर इसी माध्यम से सेवा-साधना के लिए अपना सारा समय लगाने लगीं। जब कैल्विन स्टो अपने परिवार के साथ बर्नसविक में जा बसे तो वहाँ उन्हे नीग्रो दास-दासियो का जीवन निकट से देखने को मिला। उन्होंने देखा कि वे लोग कितना नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे है। उनकी दुर्दशा को स्टो सह न सकीं और अपनी व्यथा को कलमबद्ध करना आरम्भ कर दिया। जिन दिनो उनके पति बर्नसविक के बोडाइन कालेज में प्रोफेसर के रूप में काम करते रहे उन दिनों हैरियटस्टो अपना उपन्यास लिख रहीं थी। पति कालेज जाते थे और बच्चों को वे स्कूल भेज देती थीं। दोपहर के तीन-चार घण्टे उन्हें खाली मिलते थे—इस खाली समय में वे लेखनसाधना करती थीं। उपन्यास मे नीग्रो दास-दासियों के जीवन का यथार्थ

चित्रण आजाय इसके लिए वे गली-मुहल्लों में निकल पड़ती थीं। जहाँ नीग्रोदास काम करते थे वहाँ जातीं और उनकी पीड़ाओं को देखतीं, समझतीं, कठिनाइयों को सुनतीं और उनका विश्लेषण करती थीं।

इस पुस्तक को तैयार करने में उन्होंने इतने परिश्रम से काम किया था और इस आत्म-विश्वास से वे इस कार्य में संलग्न थीं कि अपनी घनिष्ठमित्र महिलाओं को वे बातचीत के दौरान कहती थीं कि—"इन दिनों मैं एक ऐसी पुस्तक लिख रही हूँ जिससे समूचे राष्ट्र के लोग यह समझने लगेंगे कि दासता एक अभिशाप है।" जब वह पुस्तक प्रकाशित हुई तो 'टाम काका की कुटिया' दासता के अभिशाप और उससे मुक्त होने के लिए एक विद्रोह का ही प्रतीक बन गयी थी।

१८६९ में हैरियटस्टो का देहान्त हो गया। परन्तु, उनकी कृति ने एक ऐसा तूफान मचा दिया जिसके कारण मानव-समुदाय के एक पीड़ित वर्ग को आज समानता का अधिकार प्राप्त है। अमेरिका में कई नीग्रो व्यापारी, चिकित्सक, कलाकार, राजनेता और शिक्षाशास्त्री हैं। उनमें मार्टिनलूथरकिंग, सल्फ्बव और मेरियन एण्डर्सन जैसी विश्व विख्यात विभूतियाँ हैं। विश्लेषण-कर्ता इसका अधिकांश श्रेय हैरियटस्टो को देते हैं। वहाँ के एक सुप्रसिद्ध राजनेता का कहना है—यदि 'टाम काका की कुटिया' न होती तो अब्राहिम-लिंकन और मार्टिनलूथरकिंग जैसे व्यक्ति इतिहास पुरुष नहीं बन पाते।

जिन्होंने अपना भाग्य आप लिखा—हैन्स एण्डरसन

हंस का एक बच्चा संयोग से बगुलों के झुण्ड में जन्म से पहुँच ही गया और जब वह थोड़ा बड़ा हुआ तो अपनी जाति के अनुसार अन्य बगुलों से भिन्न था। बगुलों के झुण्ड में पचीस तीस बगुले थे जिनका आकार, रंग और रूप एक सा था पर उन सबसे अलग था वह हंस-शावक। अतः सभी बगुले उसका मजाक उड़ाया करते, उसकी हँसी करते और उसका तिरस्कार भी करते थे। इस व्यवहार से वह बड़ा ही व्यथित होता था और कभी-कभी आत्महत्या का विचार भी करने लगता, पर सुखद संयोग उसके इन विचारों को कार्यरूप में परिणत नहीं होने देते थे।

एकबार वह अपने दुष्ट साथियों के साथ उड़ रहा था कि ऊपर नील गगन में उसे अपने समान रंग वर्ण और रूप के पक्षी उड़ते दिखाई दिये। उसे अब अनुभव हुआ कि मैं बगुलों से भिन्न हूँ और ऊपर उड़ रहे पक्षियों का सजातीय हूँ। बगुलों का साथ छोड़ कर वह भी उन पक्षियों में जा मिला जो उसे अपने सजातीय लगे थे और उन हंसों ने अपने परिवार के इस भटके सदस्य का खूब स्वागत किया। परी कथाओं के अमर लेखक हैंसएण्डरसन की एक कथा का यह सार है, जो उन्होंने बचपन में अपने पिता से सुनी थी और अब उसे ही कल्पना और कलम से रंग कर कागजों पर उतार दिया था। एण्डरसन की रचनाओं के समालोचकों में से एक ने इस कथा के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि—"वह भटका हुआ हंस का बच्चा था। तब तक उसे दुःखी रहना पड़ा जब तक उसे अपने स्वरूप और शक्ति का ज्ञान नहीं हुआ। और जब वह अपने आपको पहचानने लगा तो आकाश में इतनी ऊँचाई तक उड़ा जहाँ सामान्यपक्षी नहीं पहुँच पाता।" समालोचक चाहे जो कहते हों पर यह तथ्य हर व्यक्ति के सम्बन्ध में लागू होता है कि जब भी कोई अपनी शक्ति और सामर्थ्य को पहचान लेता है तो प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है और सफलता उसके चरण चूमती है। लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व एण्डरसन ने जो परीकथाएँ लिखीं वे आज भी उसी चाव से पढ़ी जाती हैं, जिस चाव के साथ उस जमाने में पढ़ी जाती थीं।

गरीब माता-पिता के पुत्र हैन्सएण्डरसन ने अपने जीवन-काल में ही पुरुषार्थ साधना के बल पर समृद्धि और ख्याति को अर्जित कर लिया तथा यह सिद्ध कर दिखाया कि कर्म-साधना ही समग्र सफलता का विधान है। यद्यपि उन्होंने बाल-साहित्य ही लिखा पर उनकी लिखी कहानियाँ इतनी रोचक और शिक्षाप्रद हैं कि प्रौढ़ व्यक्ति भी उन्हें पढ़ते हैं, प्रेरणा लेते हैं और जीवन दिशा ग्रहण करते हैं। इतने सफल लोक-कथाकार का जन्म डेनमार्क के ओडन नगर में सन् १८०५ में हुआ था। परिवार की आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय थी कि हर सदस्य कुछ न कुछ करता, फिर भी निर्वाह के लिए उपयुक्त व्यवस्था नहीं बन पाती। उनके पिता जूते गाँठते और माँ लोगों के कपड़े धोया करती थी। माता पिता की जो भी आमदनी हो जाती उसी से रूखे-सूखे का प्रबन्ध होता और जिस दिन कोई कमाई नहीं होती घर के सभी सदस्यों को पानी के घूँट से पेट की आग बुझाने के लिए बाध्य होना पड़ता था।

इतने पर भी उनके माता-पिता संजीदा किस्म के व्यक्ति थे। परिस्थितियाँ चाहे जो रही हों चेहरे पर कभी ग्लानि, उदासी नहीं आती थी। पिता जब शाम को घर लौटते तो वे हैन्स को छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाया करते थे। वे कुछ पढ़े लिखे भी थे, अतः यदा-कदा इतिहास और बाइबिल के बारे में भी बताया करते थे। बीच-बीच में वे चुटकुले भी सुनाते जिन्हें सुनकर पिता-पुत्र दोनों हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे। माँ को कुछ समझ में नहीं आता तो भी वे अपने पति और पुत्र के साथ खिलखिला उठती थीं। इस प्रकार निर्धन होते हुए भी परिवार का वातावरण उल्लासपूर्ण रहा करता था।

परिस्थितियों की अपेक्षा परिवेश ही. व्यक्तित्व को उपयुक्त साँचे में ढालने के लिए अधिक सफल होते हैं। पिता और माता हैन्स पर अपरिमित स्नेह करते और यथाशक्ति अपने लाड़ले की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एक बार पिता ने होल वर्ग के नाटक सुनाये। भावुक बालमना ने नाटकों के सम्बन्ध में कई

प्रश्न कर डाले और जब समझ में आया कि नाटक क्या चीज होती है और कहाँ तथा कैसे खेला जाता है तो जिद कर ली कि एक नाट्यशाला मेरे लिए भी बनवा दो । उस समय वे मात्र ग्यारह वर्ष के तो थे ही । ग्यारह वर्ष का बालक क्या तो नाटक खेले और क्या नाटकशाला चलायेगा । पर बाल हठ तो बाल हठ, उपलब्ध सभी खिलौने और अन्य उपकरण हैन्स को मनाने के लिए उसके सामने रख दिये पर उसे सन्तुष्ट नहीं किया जा सका । अन्ततः पिता को घर में ही एक छोटी सी नाट्य-शाला की व्यवस्था करनी पड़ी और नाट्यशाला के पात्र बने थे गुड्डे-गुड़िया ।

पिता और माता के अतिरिक्त दादी का भी अपने पोते पर असीम-स्नेह था । वे भी उसे रोचक किस्सों से लेकर भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनाया करती थीं और हैन्स बड़ा ध्यान लगा कर उन्हें सुना करता था । अपने लाडले के लिए नाट्य-शाला का निर्माण कर पिता ने संसार के रंग मंच से विदाई ले ली और ग्यारह वर्ष का हैन्स एक प्रकार से अनाथ हो गया था । अभी पति को मरे तीन वर्ष भी नहीं हुए थे कि हैन्स की माँ ने दूसरा विवाह कर लिया और अपने बेटे को साथ लेकर नये पति के साथ रहने लगी थी । सौतेले पिता का व्यवहार हैन्स के प्रति बुरा नहीं कहा जा सकता तो अच्छा कहना भी गलत है । वह अपने सौतेलेपुत्र के प्रति तटस्थ और उदासीनता का भाव रखता था । नये परिवार की खुशियों में विभोर हो उठी माँ का ध्यान भी हैन्स की ओर जरा कम जाने लगा और पन्द्रह वर्ष के इस किशोर ने अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माण करने का संकल्प लिया ।

हैन्स के पूर्व पिता ने उनके लिए जो नाट्यशाला खोली थी, उसमे गुड्डे-गुड़ियों के लिए कपड़े भी स्वयं वे ही तैयार करते थे और हैन्स चुपचाप बैठे-बैठे अपने पिता के कार्यों को एकाग्रतापूर्वक देखा करता था । इस प्रकार उन्हे सिलाई का थोड़ा पूर्वानुभव था । अपने भाग्य के आप निर्माण की जब आवश्यकता अनुभव हुई तो उन्होंने विचार किया कि जिस क्षेत्र मे अपना जरा अनुभव है उसी क्षेत्र मे प्रवेश करना चाहिए । समस्या केवल गुजारे की है और वह किसी भी पेशे से पूरी की जा सकती है । हैस को जिस विषय की अधिक जानकारी थी उसी मे प्रविष्ट होना उन्होंने उचित समझा और दर्जी का काम सीखना आरम्भ किया ।

लेकिन इस काम मे उनका मन नहीं लगा क्योंकि इन्हीं दिनो हैंस ने सामान्य से कुछ विशिष्ट बनने का लक्ष्य निर्धारित कर लिया था । वे चाहते थे कि एक अच्छे अभिनेता बन कर यश और धन कमाया जाय । प्रयत्न और पुरुषार्थ द्वारा यह लक्ष्य प्राप्त करना भी कोई बुरी बात नहीं थी । बुरी और अमानवोचित बात है तो लक्ष्यहीन जीवन । एण्डरसन ने अपने इस विचार से माँ को अवगत कराया । माँ ने उन्हें सहर्ष इस क्षेत्र में अपना भाग्य अजमाने की स्वीकृति दे दी और हैन्स कोपेनहेगन जाने की तैयारी करने लगे । वहाँ पहुँच कर उन्होंने बैले से सम्बन्धित श्रीमती शाल से अपनी आकांक्षा व्यक्त की । उनके मन मे बचपन के समय सुनी परी कथाओं के नायक की सी भूमिका निभाने की चाह थी । श्रीमती शाल ने हैन्स को एक पत्र लिख कर दिया जिसे लेकर वे जगह-जगह भटके ।

इस खोज में उन्होंने पाया कि रंगमंच पर सफल अभिनेता बनने के लिए नृत्य, गायन और साहित्यिक प्रतिभा भी आवश्यक है । अतः काफी समय तक उन्होंने इन योग्यताओं के अर्जन का प्रयास किया ताकि रंगमंच तक आसानी से पहुँच सके । लेकिन दुर्भाग्य ने उनका यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा और असफलता ही उनके हाथ लगी । इस असफलता के बावजूद भी वे अपने दृढ़ चारित्रिक आदर्शों से विचलित नहीं हुए और इन्हीं आदर्शों ने उनके लिए कई सहयोगी मित्र खड़े कर दिये थे ।

इन मित्रों के सहयोग से उनका परिचय सम्राट फ्रेडरिक से हुआ जो प्रतिभाशाली युवकों को अपने खर्चे से योग्य बनाने के लिए सहायता किया करता था । हैन्स की शैक्षणिक-योग्यता अब तक नहीं के बराबर थी और फ्रेडरिक ने उनकी प्रतिभा को परख लिया था । उसे यह सम्भव लगने लगा था कि हैन्स यदि शिक्षा का अभाव पूरा कर ले तो वह अपनी प्रतिभा के बल पर देश का गौरव बढ़ा सकता है । अतः फ्रेडरिक ने उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध कर दिया । मुश्किल से हैन्स की उम्र तब १८-१९ वर्ष की रही होगी । शिक्षा की सुविधा प्राप्त कर वे लगनपूर्वक पढ़ते गये और उन्होंने शैक्षणिक-प्रगति के साथ अपनी बौद्धिक-प्रतिभा को भी निखारा और माँजा था । इस शिक्षण-काल मे उनकी प्रवृत्तियों और विचारों की आकांक्षा बदली तथा वे साहित्यकार बनने का स्वप्न देखने लगे । विद्यार्थी-जीवन में ही उन्होंने एक पुस्तक लिखी जो सन् १८२९ ई. में प्रकाशित हुई । इस पुस्तक में उन्होंने अपने अनुभवों को एक कथानक के रूप मे पिरोकर कृति को औपन्यासिक रूप दिया । पुस्तक जब प्रकाशित हुई तो जिसके भी हाथों वह पहुँची, वह प्रभावित हुए बिना न रह सका । इस समय उनकी अवस्था केवल चौबीस वर्ष की ही थी और इस वय में ही वे अपनी पहली ही कृति के माध्यम से कोपेनहेगन के साहित्य-जगत में सम्मानपूर्ण ढंग से प्रविष्ट हो गये ।

इस पहली सफलता से प्रोत्साहित होकर उन्होंने अगले वर्ष तक काव्य-संकलन प्रकाशित कराया । यह संकलन भी हाथों हाथ बिक गया । हैन्स ने साहित्य के क्षेत्र मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था । इस ख्याति के साथ ही उनका परिचय एक बुद्धिजीवी युवती से हुआ । हैन्स उसे अपना जीवन-साथी बनाना चाहते थे पर उस युवती ने हैन्स के प्रस्ताव को निर्ममतापूर्वक ठुकरा दिया जिससे उन्हे बड़ा आघात पहुँचा और उन्होंने अपनी इतनी दुर्गति बना ली कि लगने लगा कहीं संसार एक उदीयमान प्रतिभा से लाभान्वित होने से वंचित न रह जाये । अतः उनके मित्रों ने उन्हें पर्यटन द्वारा इस आघात को भुलाने का प्रयत्न किया ।

सम्राट फ्रेडरिक द्वारा किये गये प्रबन्ध से हैंस ने कुछ स्थानों की यात्रा की और अपने यात्रा-संस्मरण लिख डाले जो काफी प्रसिद्ध हुए। इसके बाद जर्मनी, फ्रान्स और इटली आदि देशों की दो वर्ष तक यात्रा करते रहे। यात्रा से लौटने के बाद उन्होंने एक उपन्यास और लिखा। फिर आया उनके जीवन का एक नया आयाम जिसने उन्हें अमर बना दिया। सन् १८३५ में उन्होंने यो ही कोई धुन सवार होने पर कुछ परी कथाएँ लिखीं। यह एक पुस्तक के रूप में छपीं और इतनी लोकप्रिय हुई कि हैन्स को भी इसकी आशा नहीं थी। परी कथाओं का उनके पास अक्षय भण्डार था। बचपन में उन्होंने अपने पिता से कई परी कथाएँ सुनी थीं। सोचा स्मरण-शक्ति के आधार पर यदि उन्हे भी लिख डाला जाय तो साहित्य की महती सेवा हो सकेगी। पहली परी कथा पुस्तिका 'ट्रि फुल्स' के बाद तो उसी प्रकार की उन्होंने ढेरों पुस्तकें लिख डालीं और इन परीकथाओं में 'द डेरलेस टिन सोल्जर' 'अगली डक्लिंग' 'नाइटेंगिल' 'पीशूटर' 'द नौटी ब्बाय' आदि कहानियाँ बड़ी लोकप्रिय हुई। इन परीकथाओं के पात्र चयन में बौने, परियां, दैत्यों के साथ पशुओं, धातुओं, अनाज-फसलो तथा पेड़-पौधों तक को लिया गया है और प्रत्येक पात्र कहानी में बोलता है, जीवन्त है और इसी कारण अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

१८३८ ने राजा ने उनकी पेन्शन निर्धारित कर दी जिससे उनका निर्वाह आसानी से चलने लगा अब उन्होंने नाट्य-रचना पर भी अपनी लेखनी चलायी परन्तु मूलतः वे बच्चों के लिए ही लिखते थे। पेन्शन मिलने के बाद इन्होंने कुछ और देशों की यात्राएँ कीं। उनकी लिखी कहानियाँ कहने को बच्चों के लिए हैं पर जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है प्रौढ़ व्यक्ति भी उन्हें चाव से पढ़ता है। न केवल पढ़ता है वरन् पढ़ने के साथ साथ प्रभाव भी ग्रहण करता है प्रेरणा भी लेता है।

इस प्रकार अपनी बुद्धि, सूझबूझ, लगन और निष्ठा के बल पर गरीब, दीन-हीन और जूता गाँठने वाले मोची का पुत्र आज भी हजारों-लाखों लोगों का मनोरंजन करता है उन्हें उद्दीप्त करता है। हैन्सएण्डरसन ने अपनी सफलताओं के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि भाग्य और परिस्थितियाँ मनुष्य का निर्माण नहीं करते वरन् मनुष्य ही भाग्य और परिस्थितियों का निर्माण करता है, उन्हे बदलने की क्षमता रखता है।

संघर्षरत और सृजनशील साहित्यकार— एण्टन चेखव

कुछ वर्षों पूर्व बम्बई में भारतीय जननाट्यसघ द्वारा 'वार्ड नं. ६' नामक नाटक खेला गया था। इस नाटक ने जितनी लोकप्रियता प्राप्त की तब तक के नाटकों में शायद ही किसी और नाटक ने प्राप्त की होगी। यह नाटक रूसी-भाषा से अनूदित किया गया था और रूस में भी यह उतना ही, उससे भी कहीं ज्यादा लोकप्रिय हुआ था। बुद्धिजीवी वर्ग की नपुसंक अकर्मण्यता पर तीव्र प्रहार करने वाला यह नाटक जब लेनिन ने देखा तो वे इतने व्यग्र हो उठे कि अपने स्थान पर बैठ न सके। उन्हीं के शब्दों में, उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि जैसे वे स्वयं भी इस नाटक के एक पात्र हों।

वार्ड नं. ६—एक पागलखाने की पृष्ठभूमि पर लिखा गया नाटक है। इस नाटक का नायक डॉ. रैगिन पागलों के अस्पताल का सुपरिन्टेण्डेण्ट होता है। डॉ. बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा है—अस्पताल में सुधार की। लेकिन अनुकूल वातावरण के अभाव में वह कुछ कर नहीं पाता और निराश होकर बैठ जाता है। सुधार की तीव्र आकांक्षा है—परन्तु प्रतिकूलताओं के विरुद्ध लड़ने का जरा भी साहस नहीं और जब मन में दबी आकांक्षा जागती है और कुछ करने को बाध्य करती है तो प्रतिकूलताओं से लड़ने में अक्षम होने के कारण वह यह सोच कर मन को समझा लेता है कि—मैं तो अपने कर्तव्य का पालन पूरी ईमानदारी से कर रहा हूँ। जो कुछ हो रहा है उसके लिए मैं तनिक भी दोषी नहीं हूँ।

अस्पताल की व्यवस्था और सचालन-पद्धति में वह कोई सुधार नहीं कर पाता। इसका परिणाम यह हुआ कि पागलखाने से रसोइये तक उसकी अवज्ञा करने लगे। अस्पताल की अव्यवस्था बढ़ती गयी और एक दिन वहाँ का जमादार अस्पताल का संरक्षक बन बैठा। जमादार रोगियों और कर्मचारियों से दुर्व्यवहार करता उन्हें मारता-पीटता था। रोगी और कर्मचारी शिकायत लेकर डॉक्टर रैगिन के पास आते तो रैगिन उन्हें सैद्धान्तिक उपदेश देने लगता और कर्मचारी थे कि इस उपदेश को मानने से ही इन्कार करते थे। उसके उपदेश कुछ इस प्रकार के होते—"सहनशक्ति बढ़ा कर सुखी रहा जा सकता है।"

पीड़ित और प्रताड़ित व्यक्ति को उपदेशों का मरहम कब तक सुखी रख सकता है। उनमें से ही एक व्यक्ति कहता है—डॉक्टर भला बताओ यदि कोई किसान अपनी स्त्री के साथ मारपीट करता है तो उसे यह मानकर पीटने दिया जाय कि आखिर उसे एक न एक दिन तो मरना ही है। घण्टों इस प्रकार का विवाद चलता है। जिसमे डॉक्टर रैगिन की निष्क्रियता तथा उदासीनता और कर्मचारियों द्वारा हिंसा व अत्याचार के विरुद्ध कठोर संघर्ष और स्वाभिमानपूर्ण प्रतिरोध की भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है। यह विवाद बढ़ता ही चलता है और एक दिन ऐसा आता है कि डॉक्टर रैगिन को पागल और विक्षिप्त करार देकर उसी पागलखाने के वार्ड नं. ६ में भर्ती करा दिया जाता है।

पूरा कथानक लम्बा है और संवादों तथा घटनाक्रमो के आधार पर नाटक में यह तथ्य पूरी तरह उभारा गया है कि हिंसा और अत्याचार को रोकने के लिये निष्क्रिय विरोध, उपेक्षा व उदासीनता से काम नहीं चलता उसे रोकने के लिये अदम्य और कठोर-संघर्ष की आवश्यकता है तभी उसमें

सफल हुआ जा सकता है । हिंसा और अत्याचार के प्रति इतना तीव्र आवेग उत्पन्न होता है कि इस नाटक को देखकर या पढ़-सुनकर तो आसानी से समझा जा सकता है कि इसके कृतिकार के मन मे कितना तीव्र आक्रोश रहा होगा ।

इस नाटक के रचयिता एण्टन चेखव, उन्नीसवीं शताब्दी के उन गिने-चुने साहित्यकारो मे से है जिनकी रचनाएँ समाज पर अपना प्रभाव डाल सकी भी और अब भी वे उतनी ही जीवन्त तथा स्फूर्त बनी हुई है । उनकी रचनाओ मे कहीं कहीं इतना तीखा व्यंग्य होता है कि पाठक पढ़कर तिलमिला उठता है । यह तिलमिलाहट उत्पन्न करना ही चेखव का लक्ष्य रहा है । जिससे पाठक अध्ययन को केवल मनोविलास ही नहीं माने वरन् उससे आगे जीवन सार्थक भी बना सके । मनुष्य-समाज की वर्तमान स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होने एक स्थान पर लिखा है—ईश्वर की जमीन कितनी सुन्दर है । केवल हममे ही कितना अन्याय, कितनी अनम्रता और ऐंठ है । हम ज्ञान के स्थान पर अभिमान और छल-छिद्र तथा ईमानदारी के पीछे धूर्तता ही अधिक प्रकट करते है ।

चेखव ने मनुष्य की महानता के गीत बहुत कम गाये उसकी वस्तुस्थिति को उखाड़कर उससे होने वाली हानियो और दुष्परिणामों को समझाकर उसके यथार्थ अस्तित्व को प्रकट करने के लिए ही अधिक प्रयास किया । जब वे किसी विषय मे सत्य की निर्भीक-घोषणा करते है तो उनका उद्देश्य मनुष्य को सही दिशा मे अग्रसर होने के लिए प्रेरित करना ही होता है । उनकी रचनाओ मे सत्य को जिस बुलंदगी से कहा गया है, बहुत कम साहित्यकार ऐसा साहस कर सके है । यह भी सच है कि सत्य को निर्भयता पूर्वक कहने वाला व्यक्ति लौकिक दृष्टि से कभी लाभान्वित नही होता । चेखव समाज की इस व्यवहार नीति से भली-भाँति परिचित थे फिर भी उनके लिए इस मार्ग से हटाना असम्भव हो गया था ।

साहित्य साधना के मार्ग के रहस्य को समझकर उन्होने स्वयं को आतरिक रूप मे इस बात के लिए तैयार किया कि मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो और विपत्तियो मे भी वे अविचलित भाव से चलते रहें । इसी पूर्व तैयारी के परिणाम-स्वरूप वे जीवन भर अभाव और गरीबी से, अपयश और अपमान से, उपेक्षा और तिरस्कार से बिधते रह कर भी मुस्कराते रहे । ऐसे आजीवन संघर्षशील साहित्यकार एण्टन चेखव का जन्म सन् १८६० ई. में रूस के तागनरोग गाँव में हुआ था ।

आरम्भ से ही उन्हे अभावग्रस्त परिस्थितियों मे रहना पड़ा था । गरीबी और अभावों ने उनके पिता को भी चिड़चिड़ा बना दिया था । चेखव के पिता इतने क्रोधी थे कि दाल मे जरा भी नमक कम ज्यादा हो तो अपनी पत्नी पर लाल पीले होने लगते थे । चेखव को पढ़ाते समय बड़ी सख्ती से काम लेते और दिन में कई बार चेखव को पिटना पड़ता था । उस समय के जीवन का स्मरण करते हुए चेखव ने लिखा है कि मैं जब सुबह उठता तो मेरे मन में सबसे पहला यही विचार आता कि पता नहीं आज का दिन कैसा बीतेगा । चेखव का बाल्यकाल बिना हँसे-खेले ही बीता । उन्हे अपने पूरे बचपन में कभी मुस्कराने का अवसर ही नहीं मिला था । पिता क्या, दुश्मन मिले थे शायद, इतना होने पर भी उन्होने कभी अपने पिता की निंदा नहीं की थी ।

उनके जीवन-नाटक का यह एक अंक बहुत सम्भव था कि उन्हे असामाजिक या अपराधी जगत की ओर ढकेल देता । परन्तु उन्होने इस सिद्धान्त को झुठलाया कि बचपन बीत जाने के बाद मनुष्य में विकास की सम्भावनाएँ ही क्षीण हो जाती है । क्योंकि बाल्यकाल में सहा गया दुर्व्यवहार कुण्ठा बनकर जीवन भर सताता रहता है । लेकिन आगे चलकर चेखव को जब कुछ बनने की प्रेरणा मिली और उन्होने अपने व्यक्तित्व को विकसित करने की ठानी तो इन कुण्ठाओ को सीढ़ी बना कर वे ऊपर चढ़ गये । बाल्यावस्था के दुखभरे दिनो को वे भुला तो नहीं सके हाँ उन स्मृतियों को हल्का करने के लिए उन्होने सृजनात्मक तरीका अपनाया था । उन्होने अपनी रचनाओ में हास-परिहास और व्यंग्य का समावेश किया, प्रेम की भूख ने उन्हे दूसरो से प्रेम करने के लिए प्रेरित किया ।

यह सब तो आगे चलकर हुआ । बचपन मे तो वे मन्द-बुद्धि और अविकसित दिमाग के ही रहे थे । थोड़ा बड़ा हो जाने पर पिता ने उन्हे स्कूल में भर्ती करवाया । पढ़ने-लिखने मे दिमाग चलता ही नहीं था वे एक भी कक्षा पास नहीं कर सके । स्कूल के प्रबन्धको ने ऐसे विद्यार्थी को अपने स्कूल मे पढ़ाने से ही इन्कार कर दिया था । स्कूल छुड़ा कर उन्हे एक दर्जी की दुकान पर रखा गया । ताकि कपड़े सीना सीखकर गुजारा कर सके । परन्तु वहाँ भी वही चेखव महीनो तक प्रयत्न करते रहे लेकिन एक पायजामा भी नहीं सी सके । नौ-दस वर्ष की आयु तक उनकी यही स्थिति थी ।

जीवन के यथार्थ धरातल पर जब उन्हे उतरना पड़ा तो परिस्थितियो से संघर्ष करते हुए उनकी बौद्धिक-क्षमता न जाने कहाँ से जाग उठी । वस्तुत: सारी क्षमताएँ, सारी शक्तियाँ और सारी सम्भावनाएँ भगवान ने इस मानव शरीर में भर दी है । उनके उपयोग की स्थिति मे हम है नहीं इसलिए लगता है कि हम असहाय और दीन-दुखी है । उन सामर्थ्यों की एक झलक कभी हरेक के जीवन में देखने को मिलती है । जब जीवन खतरे में लगता है तब मनुष्य न जाने क्या से क्या कर गुजरता है ।

चेखव के साथ भी यही हुआ । संसार के कठोर-धरातल मे जब उन्होने प्रवेश किया तो वे सुप्त क्षमताएँ जाग उठीं और उन्होने शिक्षा तथा ज्ञानार्जन आरम्भ किया । संकल्प-पूर्वक वे इस साधना-समर में जुटे और कुछ वर्षों में ही वे इस योग्य हो गये कि २४ वर्ष की अवस्था में उनका पहला कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ । इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते

उन्होने ग्रीक, लैटिन, जर्मन और फ्रैंच भाषाएँ सीख ली थी। इसके साथ ही उन्होने डॉक्टरी का अध्ययन भी किया था।

'एक समय था वह बालक जिसे स्कूल के प्रबन्धक बुद्धिहीन करार देकर भर्ती करने से इन्कार कर दे कुछ वर्षों बाद ही चार भाषाओ की जानकारी तथा मातृभाषा का अधिकारिक ज्ञान रखने वाला बन जाय—इस बात पर सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु यह सच है कि लगन और निष्ठा के बल पर कुछ भी अप्राप्य नहीं है। चेखव से जब किसी ने पूछा कि इतने कम समय मे आप इतना विकास कैसे कर सके तो उनका एक ही उत्तर था—केवल प्रयत्न और पुरुषार्थ के बल पर।

काम के प्रति उनके मन मे ऐसी लगन जागी कि वे जब लिखने बैठते तो तब तक लिखते चले जाते जब तक कि उनकी उँगलियाँ दर्द के कारण काम करने से इन्कार न कर दें। ऐसी स्थिति में थक कर वे सो नही जाते पढ़ने लगते थे। धैर्य इतना था कि प्रकाशक रचनाएँ वापस कर देते तो बिना खिन्न हुए वे तुरन्त दुबारा लिखने बैठ जाते और सुधार कर फिर से लिखते थे। इस प्रकार उन्हें एक ही रचना को कई-कई बार लिखना पड़ता था।

पहली पुस्तक प्रकाशित होने के तीन वर्ष बाद उनकी दूसरी कृति छपी सन् १८८७ में और इसी कृति पर उन्हे साइन्स एकेडमी की ओर से पुश्किन पुरस्कार मिला था। दूसरी रचना ने ही उन्हे चोटी के साहित्यकारो की पंक्ति मे बिठा दिया था।

किसी नवोदित लेखक ने उनसे एक बार पूछा—आपको लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है तो चेखव ने बिना लागलपेट के कहा—प्रेरणा का स्रोत तो सभी का एक ही है हृदय। बाहरी परिस्थितियाँ उन्हे पहचानने मे सहायक भर सिद्ध हो सकती है। इसलिये लोग अक्सर भूल जाते है कि उन्हे प्रेरणाएँ कहाँ से मिलती है और वे उन परिस्थितियो को ही जो माध्यम का—उत्प्रेरक का काम करती है प्रेरणा स्रोत समझने लगते है। नवोदित लेखको को घटनाओ के अवलोकन की अपेक्षा अपने हृदय की साधना अधिक महत्वपूर्ण मानना चाहिए।

चेखव के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ बड़ी दुखपूर्ण रहीं। तत्कालीन शासको की नीति और शासन-तंत्र पर व्यंग्य प्रहार करने मे अग्रणी होने के कारण सरकार ने उन्हे एक पैसे की सहायता नहीं दी और उस जमाने मे लेखन कौन सा लाभदायक व्यवसाय था! अन्तिम दिनो मे वे इतने दुर्बल और अशक्त हो गये थे कि हाथ से कलम पकड़ना भी मुश्किल था।

सन् १८९० ई. मे वे शोखालिन गये थे। उस समय वे क्षय रोग के शिकार हो चुके थे इसलिये जल्दी ही लौट कर वे एक गाँव मे रहने लगे। यहीं पर सन् १९०३ मे देहान्त हो गया। परिस्थितियो से जीवन भर संघर्ष करते हुए मनुष्य समाज को उपकृत करने वालो के साथ जो व्यवहार किया जाता है वही व्यवहार चेखव के साथ भी जीवन काल मे और मरणोपरान्त हुआ। जीवन मे तो उन्हें उपेक्षा और तिरस्कार का सामना करना पड़ा तथा मरने के बाद वे मानव-आत्मा के महान-शिल्पी कहलाये।

नीचे से ऊपर बढ़ने वाले—
श्री एच. जी. वेल्स

आज से करीब ९५ वर्ष पूर्व की एक घटना है। लन्दन के एक उप-नगर मे बच्चों का एक दल खेलकूद मे मस्त था। सहसा एक बड़े लड़के ने अपने से कम उम्र वाले एक बालक को खेल ही खेल मे ऊपर उछाल दिया और उसे गोद मे लेने मे चूक गया। फलतः बालक धड़ाम से नीचे गिरा और उसकी एक टाँग टूट गई। काफी इलाज हुआ पर बच्चे की टाँग ठीक न हो सकी, पर इसी दुर्घटना ने उसके जीवन का रुख बदल दिया, उसके सौभाग्य का बन्द दरवाजा खोल दिया। बात यह हुई कि लड़के को अपनी असमर्थता के कारण सारा समय बिस्तर पर गुजारना पड़ता था। अतः दिल बहलाने के लिए उसने अच्छी-अच्छी पुस्तके पढ़ना प्रारम्भ किया। उसे इसमें बड़ा रस आने लगा। साहित्य के प्रति उसकी अभिरुचि बढ़ती गई। उसकी अन्तर्प्रेरणा जाग उठी। फिर क्या था, उसने अपनी भावनाओं को लेखनी का सहारा दिया और एक दिन वह अँग्रेजी-साहित्य का विश्व-विख्यात लेखक बन गया—एच. जी. वेल्स।

अगर वेल्स असमर्थता पर हमेशा दुःख और नैराश्य का ही रोना रोता तो क्या उसे यह सफलता मिलती? परिस्थितियो के बहाव के अनुकूल अपनी जीवन-नैया को खेकर ले चलने मे ही बुद्धिमानी है।

आगे बढ़ने की अदम्य-आकांक्षा, आंतरिक-उत्साह, ध्येय के प्रति अविचल निष्ठा मनुष्य को क्या से क्या बना डालते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वेल्स हैं।

एक कपड़े की दुकान। मालिक जोर से डाँट रहा है, "जल्दी करो भाई! ग्राहक चला जाएगा, तब कपड़ा निकाल कर दोगे क्या?"

और छोटी उम्र का एक लड़का, जो उस दुकान का नौकर है शीघ्रता से कपड़े का थान निकाल कर दे रहा है। हाथ काम मे लगे हैं दिमाग दुकान के मालिक की डाँट के प्रति सजग है और मन? वह उड़ रहा है किसी ऐसे लोक की कल्पना में जहाँ यह दासता, यह ताबेदारी, यह परवशता न हो!

किन्तु परवशता से छुटकारा कैसे पाया जाय? मन को ऊँचा उठने की, आगे बढ़ने की, कुछ बनने की कामनाओ को कैसे पूरा किया जाय? प्रत्येक वस्तु के लिये पैसा चाहिए तब कहीं आवश्यक साधन-सुविधाएँ जुट पाते हैं।

लेकिन वह लड़का सोचता है 'मेरी माँ तो गरीब है गरीब न होती तो मुझे यो थोड़े से पैसों के लिये इस उम्र

मे ऐसी नौकरी क्यो करनी पड़ती ? लेकिन फिर भी मेरी महत्वाकांक्षाएँ अडिग हैं । मुझे ऊँचा उठना है । आगे बढ़ना है । सारी जिंदगी यों ही दासता नहीं करनी है । साधन नहीं हैं तो उन्हे जुटाऊँगा । कठिन से कठिन श्रम करूँगा । अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिये जो भी कठिनाइयाँ सामने आयेगी उन्हे पराजित करूँगा और दुनिया को दिखा दूँगा कि भाग्य नहीं मनुष्य की कर्म निष्ठा बड़ी है ।"

बस किशोर का संकल्प प्रबल हुआ और उसने निश्चित दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये । उसके हृदय में एक ऐसा व्यक्ति बनने की महत्वाकांक्षा थी जो संसार प्रसिद्ध हो—जिसे सब आदर तथा श्रद्धा के साथ स्मरण करें और जो काल के भाल पर अपने अमिट पदचिन्ह छोड़ जाये !

इस सबके लिये उसे सबसे अधिक भाया एक लेखक का व्यक्तित्व । बस उसने इसी दिशा में अपने सारे प्रयत्न, अपनी समस्त गतिविधियाँ मोड़ दीं ।

सुबह से शाम तक वह दुकान पर काम करता, रात को छुट्टी पाता, तो घर आकर पढ़ना प्रारम्भ कर देता था । गये रात तक उसका अध्ययन चलता रहता था । प्रातः भी दुकान जाने का समय होने तक-वह थोड़ा-सा समय अपने अध्ययन के लिये निकाल लेता और रात के पढ़े हुए अंश की पुनरावृत्ति हो जाती थी ।

कुछ दिन मे यह हाल हो गया कि पुस्तकें दुकान में भी साथ जाने लगीं और जितने समय कोई ग्राहक न आता उतने समय उसका अध्ययन चलता रहता । उसकी निष्ठा को देख कर मालिक भी कुछ न कहता ।

लिखने के लिये पहले पढ़ना, ज्ञान बढ़ाना आवश्यक था । सो प्रथम प्रक्रिया पूर्ण हुई । अब उसने लेखन भी धीरे-धीरे प्रारम्भ किया । पहले छोटे-छोटे लेख लिखे । अपने आप लिखता, फिर काटता फिर लिखता । जब तक पूरा संतोष न हो जाता कि यह प्रत्येक दृष्टि से उत्कृष्ट हो गया है तब तक उसे सँवारता ही रहता था ।

कभी निर्देशन की भी आवश्यकता पड़ती थी । तो वह साभार परिचित लोगो के पास जाता और अपनी समस्या का समाधान कर लेता था ।

जो भी इस की गहन निष्ठा, प्रबल प्रयासो तथा अटूट लगन को देखता वही इस के प्रति सहानुभूति प्रकट करता और भरसक सहायता के लिये तैयार हो जाता था । लाइब्रेरी से पुस्तकें लाकर पढ़ीं, कुछ परिचित लोगो की सहायता से प्राप्त कीं । अधिकतर उसने सामयिक उपन्यासो का ही अध्ययन किया जिसके फल स्वरूप जीवन का एक दर्शन उसके सामने आया और मानव का मनोवैज्ञानिक स्वरूप ।

धीरे-धीरे लेखों से कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं । लिखते-लिखते जब उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि अब मेरी कहानियाँ लोगों को मनोरञ्जन एवं उल्लास देने के साथ उन्हे जीवन के एक दिशा देने मे भी पूर्ण समर्थ है तब उसने कहानियों का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया । जनता में उसकी कहानियों का भरपूर स्वागत हुआ । वे लोगों को इतनी प्रि लगीं कि उसे कहानी लेखन का कार्य बढ़ाना आवश्यक हो गया । जनता में उसकी कहानियों की धूम मच गई, लोग मुक्त-कंठ से उसकी सराहना करने लगे ।

लोगों ने सराहना की तो उत्साह और बढ़ा ! मानसिक शक्तियाँ दुगुनी हो गयीं । पत्र-पत्रिकाओं में भी देना प्रारम्भ किया । इससे उसका व्यक्तित्व प्रकाश में आया लोगों ने उत्साहित किया । प्रेरणा तथा प्रशंसा दोनों में ही अद्भुत जीवनी-शक्ति होती है । व्यक्तित्व के विकास में ये ऐसे ही कार्य करती हैं जैसे पौधे के विकास में बल तथा प्रकाश ।

अब तक विचारों में भी परिपक्वता आ गई थी और कलम में प्रौढ़ता । अब जो उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया तो उसमें भी आशातीत सफलता प्राप्त हुई ।

गरीबी अपने आप में एक ऐसी शिक्षिका है जो न जाने क्या-क्या सिखा देती है, न जाने कितना ज्ञान भर देती है जीवन में ! इस युवक ने भी गरीबी की पाठशाला में जिंदगी की किताब पढ़ी थी । सो लेखों में तथा उपन्यासों मे वह मार्मिकता रहती कि छपते ही हाथों-हाथ बिकते । लोग पढ़ते पसंद करते और सराहते ।

एक लेखक के रूप में ख्याति प्राप्त करने का उस बालक का स्वप्न आयु के साथ बढ़ा विकसित हुआ और आयु के साथ ही सफल होता हुआ युवा तथा प्रौढ़ हो गया ।

अपने अदम्य साहस, प्रबल-मनोकामना, महत्वाकांक्षा, लगन, उत्साह, कठिन श्रम तथा आत्म-विश्वास के बल पर ही यह व्यक्ति सफलता अर्जित कर सका । ये सब गुण हों, तो कोई भी मनुष्य प्रयास करके अपना अभीष्ट पा सकता है, आगे बढ़ सकता है, उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है । इसी महान लेखक की तरह, जिसका नाम था श्री एच. जी. वेल्स ! जो कि विश्व के साहित्यिक व्यक्तियों मे एक ऐतिहासिक व्यक्ति है ।

लोकसेवा की चाह जिन्हें रंगमंच पर खींच लायी—काकासाहब-खाडिलकर

रंगमंच को व्यवसाय मानने वाले कलाकारों की संख्या मे तो कोई कमी नहीं है । धन और ख्याति भी उन्हे खूब मिलती है । परन्तु कला-साधना का माधुर्य जो कलाकार को सामान्य स्तर से बहुत ऊँचा उठा देता है, उससे उन्हे वंचित ही रह जाना पड़ता है । ऐसे कलाकारो का नितांत अभाव है—यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु उनकी संख्या उँगलियो पर गिनायी जा सकती है, जिन्होने कला को, रंगमंच को जीवन धर्म के रूप मे चुना हो—व्यवसाय के रूप में नहीं । ऐसे साधको मे रंगमंच के माध्यम से लोक-जगत को समर्पित जीवन महान विभूतियो मे महाराष्ट्र के काका साहब खाडिलकर का नाम अग्रपंक्ति मे याद किया जाता रहा है ।

अपने समय के रंगमंच जगत् के एकछत्र अधिपति होने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है ।

काका साहब ने २६ वर्ष के कार्यकाल में कुल पन्द्रह नाटक लिखे । इन नाटकों ने ही उन्हे अमर बना दिया; जबकि पूरे जीवन में सैकड़ों और हजारों हँसी मजाक और फूहड़, गन्दा मनोरंजन करने वाले मंच कथाओं के लेखक अपने काल में भी याद नहीं किये जाते हैं । कला-जगत् में प्रतिष्ठा उन्हें ही प्राप्त होती है—जो इस साधना को व्यवसाय, धन्धा और उपकरण नहीं लोकसेवा का साधन, आराधना और ध्येय मानते हैं ।

रंगमंच को अपना जीवन अर्पित करने वालो के लिए यद्यपि अन्य कोई व्यवसाय हो भी नहीं सकता । परन्तु वे इसे मात्र व्यवसाय या जीवन निर्वाह का साधन नहीं मानते हैं । क्योंकि जीवन धनोपार्जन और सुख सुविधाएँ एकत्र करने का ही नाम नहीं है । ये वस्तुएँ जीवन की पोषक जरूर है परन्तु उसका प्राण नहीं । इसलिए कला-साधक धन को उतनी ही महत्ता देते हैं, जितनी की जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है । खाडिलकर को इस क्षेत्र मे इसी कारण आशातीत सफलता मिली कि उन्होने इस जीवन-धर्म का मर्म समझा था । फिर भी जब जनता ने उनकी साधना का प्रभाव ग्रहण किया तो पैसा इस प्रकार बरसने लगा कि अन्य नाटककार और थियेटर कम्पनियाँ उनसे कितनी ही दूर पिछड़ गयीं ।

पैसा बरसने लगा तो उन्होंने उसे बटोरा नहीं । निस्पृह कला साधक के लिये ये धन से कैसा लगाव । खाडिलकर अर्जित समस्त-राशि को लोकमंगल के लिये विसर्जित करते रहे । देश-भक्त, क्रान्तिकारियों के निर्माण और आवश्यकताओं को पूरा करने में लगाते रहे ।

काका साहब-खाडिलकर का जन्म सन् १८७२ में महाराष्ट्र के एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था । उनके जन्म से पन्द्रह वर्ष पूर्व ही देश मे स्वातन्त्र्य-संग्राम हो चुका था । परन्तु लोगों में वह आग अभी ठण्डी नहीं पड़ी थी । स्वतत्रता-संग्राम की विफलता का कारण भूत भूलों को ध्यान में रखकर प्रबुद्ध और विचारशील व्यक्ति उस आग को नयी हवा, नयी दिशा देने का प्रयत्न कर रहे थे । ऐसे जाग्रति-आन्दोलन की हवा से खाडिलकर का परिवार भी अछूता नहीं रहा था । परिणामस्वरूप बचपन से ही उन्हें ऐसा वातावरण मिला जिसमे देश-भक्ति और स्वातत्र्य प्रेम के बीज अकुरित होने लगे थे । बाल्य-काल व्यक्ति की भावी जीवन-दिशा-निर्धारण का महत्त्वपूर्ण समय है । इस उमर में व्यक्तित्व जिन भावनाओ से संस्कारित हो जाता है, उन्ही के आधार पर वह आगे चलकर अपने जीवन का महल खड़ा करता है ।

विद्यार्थी-जीवन में ही काकासाहब देश-भक्तिपूर्ण कविताएँ लिखने लगे थे । उनके साथी इन कविताओं को याद कर सस्वर गाया करते थे । कई बार तो गोरे अँग्रेजो का कोप-भाजन उन्हे इसी कारण बनना पड़ता कि उसमें अँग्रेजों को दस्यु और दानव के रूप में चित्रित किया जाता था ।

साहित्य-सृजन की प्रेरणा उन्हें पत्रकारिता के क्षेत्र में खींच लायी । कई पत्र कार्यालयों में उन्होंने काम किया और अपनी कलम को पैनी बनाते गये । उन्हीं दिनों भारत के राजनीतिक क्षितिज पर लोकमान्य-तिलक का उदय हुआ । जिन्होने विदेशी हुकूमत के खिलाफ अलगाव, असन्तोष और विद्रोह की आग फूँकी । तिलक जानते थे कि रंगमंच के माध्यम से इस आग को निरन्तर प्रज्ज्वलित रखा जा सकता है, दावानल के रूप में परिणित किया जा सकता है । इस कारण वे नाटक-कम्पनियों को बराबर प्रोत्साहन तथा सहयोग देते रहते थे । किर्लोस्कर देवल नाटक कम्पनी के तो वे सलाहकार भी रहे थे । मांडलेजेल से लौटते ही उन्होने सबसे पहले इस कम्पनी की स्थिति के बारे में पूछा था ।

रंगमंच के अतिरिक्त उन दिनो कलामंच के अन्य प्रयोग भी चले थे । गणेशोत्सव की पद्धति में तो उन दिनों तो अद्भुत क्रान्ति और परिवर्तन आया था, उन्हीं दिनों वि. दा. सावरकर, शिवराम म. पराजपे, विदर्भ-केसरी वामन राव जोशी जैसे विद्वान और लोकनायक कलामंच को जन-जागरण का माध्यम बनाये हुए थे ।

नाट्य इतिहास के इस स्वर्ण-युग में काका साहब खाडिलकर ने राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया । वे लोकमान्य-तिलक के निष्ठावान अनुयायी बन गये तथा उनके चलाये आन्दोलनो मे उत्साह-पूर्वक भाग लेने लगे । पत्रकारिता का क्षेत्र उनसे अभी छूटा तो नहीं था परन्तु उनका ध्यान मूलतः स्वराज्य-आन्दोलन की ओर ही था ।

लोकमान्य-तिलक जब काकासाहब की साहित्यिक प्रतिभा से परिचित हुए तो उन्होने इस प्रतिभा को जन-जाग्रति मे लगाने की प्रेरणा दी । काकासाहब ने अपने समय सर्वाधिक लोकप्रिय विधा, नाटक और मंच अभिनय के कथानक लिखने का निश्चय किया । उन्होने सर्वप्रथम रंगमच कला का अध्ययन किया और पाया कि नाटक कम्पनियाँ प्रधानतः जनता के मनोरंजन की दृष्टि से ही अपने प्रदर्शन आयोजित करती है ।

दूसरी ओर उन्होंने किर्लोस्कर, देवल जैसे रंगमंच शक्ति के उपासकों को पाया और मनोरजन के साथ-साथ जनता को एक चेतना भी प्रदान करते थे । सूझबूझ भरे मच-आयोजन यद्यपि उतने सफल नहीं होते जितने कि मनोरंजन प्रधान । परन्तु उसका प्रभाव स्थायी और दर्शक को झकझोर देने वाला होता था । ऐसे नाटक प्रायः रूखे और वर्ग-विशेष के लोगो तक ही सीमित रहते थे ।

काका साहब ने इन दोनों विधाओ को एक सूत्र मे समन्वय कर आबद्ध किया । इसमे प्रधान तो रखा गया था, कला का लोकमंगल स्वरूप । मनोरंजन के पक्ष को भी सर्वथा उपेक्षित नहीं किया गया था । रंगमंच में समाहित शक्ति से

अवगत होते ही उनकी तैयार कलम और प्रतिभा जन-जागृति की अन्तःप्रेरणा से प्रवाहित होने लगी थी। सन् १९०१ में उनका पहला नाटक 'सवाइ-माधव-रावांचा-मृत्यु' तथा दूसरा 'कीचक-वध' दर्शकों के सामने आया। एक उग्रपंथी राष्ट्र-प्रेमी पत्रकार ने ज्यो ही नाट्य-क्षेत्र मे पदार्पण किया, सभी वर्ग के लोग उनका स्वागत करने के लिये आतुर हो उठे थे।

उनका प्रारम्भिक नाटक कीचक-वध काफी लोकप्रिय हुआ। वायसराय कर्जन को क्रूरकर्मी-कीचक के रूप में अंकित कर उन्होंने दर्शकों की भावनाओं को उभारा था। इस नाटक का प्रभाव इतना अधिक हुआ था उस समय कि अँग्रेज सरकार को इस पर प्रतिबंध लगाना पड़ गया।

यह प्रतिबन्ध उनकी ख्याति और सफलता को बढ़ाने मे ही सिद्ध हुआ। वस्तुतः कोई भी बाधा या अवरोध व्यक्ति की प्रतिभा, यश को फैलने से किसी भी प्रकार नहीं रोकते। कीचक-वध के ऊपर प्रदर्शन-प्रतिबन्ध लगते ही काकासाहब सम्पूर्ण भारत मे प्रख्यात हो गये। समीक्षकों ने भी उनका मूल्यांकन करना आरम्भ किया और अब तक के अन्य कई नाटककारो को उनकी तुलना मे बहुत बौना बताया। तात्कालिक स्थिति के अनुसार तथा अल्पव्यय से खेले जा सकने वाले नाटकों का प्रस्तुतीकरण काकासाहब ने अति सरल बना दिया था। सन् १९४८ मे काकासाहब का देहान्त हो गया। उन्होंने कला-जगत् मे जो प्रतिमान उपस्थित किये वह इस माध्यम की शक्ति, सामर्थ्य और उपयोगिता को सदैव बनाये रखेंगे। उनके जीवन वृत्तकारो ने लिखा है—"काका साहब कला को लोकमंगल का एक साधन-साध्य सिद्ध करने वाले कलाकार थे। आज भी उनकी और अधिक आवश्यकता है।" वस्तुतः यह है भी एक सत्य।

संस्कृति व साहित्य के ज्योतिदीप—प्रसाद

उन्होंने जिस विधा पर अपनी लेखनी चलायी उसी में उनकी कृतियाँ अप्रितम अनुपम बन पड़ी। ऐसा चमत्कारिक व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में तो क्या विश्व साहित्य में भी प्रसाद के अतिरिक्त, खोजने पर भी नहीं मिलता हिन्दी-जगत् अपने इस रत्न पर गर्व कर सकता है—इतरा सकता है। गद्य और पद्य दोनों पर उनका अनूठा अधिकार था। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि में उनकी प्रतिभा मौलिक थी।

हिन्दी के इस लाड़ले सपूत का जन्म सम्वत् १९४६ में वाराणसी के प्रसिद्ध सुंघनी साहू परिवार में हुआ था। आपके पिता बाबू देवीप्रसाद लक्ष्मी के वरद-पुत्र ही नहीं सच्चे आराधक भी थे। शिक्षा तथा अन्य सामाजिक-कार्यों मे वे मुक्तहस्त दान भी दिया करते थे। ऐसे उदार पिता का पुत्र होने का सौभाग्य जयशंकर-प्रसाद को मिला।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। घर पर ही उन्होंने भारतीय-धर्म, अध्यात्म तथा साहित्य के ग्रन्थों का पठन, पाठन, मनन, चिन्तन किया बाद में अँग्रेजी पढ़ने के लिए उन्हें क्वीन्स कॉलेज में भेजा गया किन्तु पिताजी की मृत्यु का व्यवधान आड़े उपस्थित होने के कारण उनका यह अध्ययन अधिक दिनों नहीं चल सका।

प्रसाद जी जितने कुशाग्र बुद्धि थे उतने ही जिज्ञासु भी थे। उनका भोजन छूट सकता था पर स्वाध्याय नहीं छूट सकता था। अपने अनुज की इस वृत्ति से उनके ज्येष्ठ-भ्राता शम्भूरतन अनभिज्ञ नहीं थे। कॉलेज जाना बन्द होने पर उन्होंने प्रसाद जी के लिये अँग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि भाषाएँ पढ़ाने के लिये घर पर ही अध्यापकों का प्रबन्ध कर दिया था। हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान तो वे पहले पा ही चुके थे। उन भाषाओं के ग्रन्थ वे स्वयं ही पढ़ा करते थे।

बाल्यकाल मे ही उनकी प्रतिभा विकसित होने लगी थी। अल्पकाल में ही उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी तथा अँग्रेजी पर अधिकाधिक अधिकार कर लिया। अब तो उनकी साहित्यिक-रसास्वादन की पिपासा और भी बढ़ गयी तथा वे नित नयी पुस्तकों को पढ़ने में अपना समय व्यतीत करने लगे।

ज्ञान का घट जब भरने लगा तो उसमे से कुछ बूँदें छलक्कर बाहर भी आने लगी। वे दुकान पर बैठे-बैठे कभी-कभी तुकबन्दियाँ किया करते थे। किन्तु यह सब बड़े भैया से छिपकर चलता था। किन्तु यह छिपाव कितने दिन चलता। एक दिन उनकी असावधानी से उनकी कोई कविता उनके बड़े भाई के हाथ लग गयी। अपने भाई की काव्य-प्रतिभा देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए तथा उन्हें कविता करने की आज्ञा मिल गयी। बड़े भैया से उन्हे साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़ने का प्रोत्साहन मिलता रहा।

कुछ ऐसा संयोग हुआ कि उन्हीं दिनों 'इन्दु' नामक मासिक-पत्र का जन्म हुआ और 'इन्दु' के माध्यम से एक नयी प्रतिभा साहित्य-रसिकों के सामने आयी जयशकर प्रसाद के रूप मे। उनकी कविताएँ इस पत्र मे प्रकाशित होने लगीं।

आरम्भ मे ही आकण्ठ सम्मान पाने वाले प्रसाद जी को फिर परीक्षण की घड़ियों में गुजरना पड़ा। इन्हीं दिनों उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया और कारोबार का सारा भार उन्हीं के कन्धों पर आ गया। साहित्य-साधना तथा वैश्यवृत्ति ये दोनों दो ध्रुवो को मिलाने जैसे काम थे। किन्तु प्रसाद ने इस असम्भव को भी सम्भव बनाकर स्वयं को कलम के धनी ही नहीं लगन व पुरुषार्थ के धनी भी सिद्ध कर दिया।

प्रसाद जी पूरे आस्तिक थे। वे शिव के उपासक थे। देवाधिदेव शकर की उपासना करने के साथ ही साथ उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भी शिव जैसा ही बनाया था।

लगता है प्रसाद जी किसी प्रयोजन विशेष को पूरा करने के लिये ही आये थे। हिन्दी का कोष उन दिनों रीता पड़ा था। इधर भाषा-भाषी कहते थे हिन्दी से तो हमारा साहित्य ही समृद्ध है। हिन्दी के साहित्यकार भी इस बात

को स्वीकार करते थे। वे लोग बंगला के उपन्यासों का अनुवाद करके हिन्दी का कोष भर रहे थे। किन्तु मौलिकता अन्ततः मौलिकता होती है अनुवादों से भला किसी भाषा की समृद्धि हुई है।

समय की इस चुनौती को उन्होंने स्वीकार किया। सरस्वती का यह वरद पुत्र काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध सभी विधाओं में मौलिक तथा अनूठी कृतियों का सृजेता रहा। हिन्दी को, प्रतिभाओं से खाली कहने वालों के मुँह पर ताले पड़ गये।

काव्य की निर्झरणी बही तो आँसू, लहर, प्रेम पथिक, चित्राधार, झरना और कामायनी-महाकाव्य तक जा पहुँची जिसकी सानी का महाकाव्य भारतीय भाषाओं में तो ठीक विश्व की भाषाओं में नहीं मिलता है। मनुष्य के अन्तर्जगत के घात-प्रतिघातो में विकसित होता हुआ यह काव्य भारतीय-अध्यात्म के उस चरम-सत्य, आनन्द की प्राप्ति तक जा पहुँचा जहाँ सुख दुःख दोनों एकाकार हो जाते हैं। भावनात्मक पक्ष—श्रद्धा की कोरे बुद्धिवाद—इड़ा पर विजय मनुष्य की उस सूक्ष्म सत्ता की विजय है जो मानव मन का चरम लक्ष्य है उसके बिना उसे शांति नहीं मिल सकती। यह काव्य ही नहीं अध्यात्म और अन्तर्जगत का व्यापक परिचय भी है।

नाटक लिखे तो भारतीय-संस्कृति का वह उज्वल स्वरूप सामने ला रखा जिसे देखकर हम अपने उस वैभव उत्कर्ष पर गर्व कर सके। उससे प्रेरणा लेकर वर्तमान में कुछ वैसा ही पाने के लिए कमर कस लें। ध्रुवस्वामिनी, विशाखा, राज्यश्री, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, जन्मेजय का नाग यज्ञ आदि उनके प्रसिद्ध नाटक है जिनमें हमारी संस्कृति व सभ्यता का चरम गौरव आँखों के सामने सजीव हो उठता है।

'तितली', 'कंकाल' व इरावती (अपूर्ण) उपन्यास लिखकर उन्होंने उपन्यास जैसी लोकप्रिय विधा पर भी अपनी लेखनी आजमायी तथा ढाई उपन्यास लिखकर ही इसमें अपना नाम श्रेष्ठतम उपन्यासकारो में स्थापित कर दिया।

कहानियाँ आपने बहुत लिखी है। प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी, छाया, इन्द्रजाल, मधुलिका, ग्राम आदि आपकी प्रमुख कहानियाँ है जो कहानी-कला का उत्कृष्टतम उदाहरण ही नहीं जीवन मे उत्तमोत्तम प्रेरणाएँ भरने में भी सक्षम है।

'काव्य और कला' नामक पुस्तक में आपके लिखे हुए निबन्ध संग्रीहित है। ये भाषा व भावलालित्य दर्शन के साथ-साथ मनुष्य को निरन्तर उत्कृष्ट तथा मन से पवित्र; कर्मों से पावन बनने के लिये प्रेरित करते रहते हैं।

जो लोग यह कहते है कि "कला केवल कला के लिये है। उसे यदि मानव—जीवन से जोड़ा जाय तो वह अपना सौन्दर्य खो देती है।" उनके सामने प्रसाद जी के साहित्य का उदाहरण रखते ही उनकी पोल खुल जाती है। उनकी रचनाओं में जहाँ कला का चरम विकास है वहीं मनुष्य को देवता बनाने वाली प्रेरणाएँ भी भरी पड़ी हैं। 'कला—कला के लिये' का रोना रोने वालों के सामने कामायनी महाकाव्य रखकर पूछिये कि क्या इसमें कला का चरम विकास नहीं है साथ ही यह मनुष्य के लिए प्रेरणा देने में भी पूरी तरह सक्षम है— तो वे उत्तर ही नहीं दे पायेगे।

प्रसाद जी को अपनी सभ्यता व संस्कृति पर गर्व था। उनकी प्रत्येककृति में उनका यह गर्व झलकता है। कामायनी का नायक मनु स्वयं पौराणिक पात्र है। यही नहीं श्रद्धा, इड़ा, मनु के माध्यम से बढ़ती हुई कथा मनुष्य-जीवन के चरम-लक्ष्य आनन्द प्राप्ति पर जाकर समाप्त होती है। 'आकाश दीप' का नायक बुद्धगुप्त चम्पा द्वीप के भोले आदि वासियों में देवता की तरह पूजा जाता है। फिर भी वह वहाँ सन्तुष्ट नहीं हो पाता वह अपनी हृदय साम्राज्ञी चम्पा को कहता है—"चलोगी चम्पा उस दार्शनिकों के देश में......." कितनी ललक है उसके मन में अपनी गौरव-पूर्ण-मातृभूमि को देखने की इन थोड़े से शब्दों में प्रसाद जी ने उस गौरव को कैसा सजीव कर दिया है।

उनकी स्फुट कविताओं में भी इस महिमा-मण्डित धरा और यहाँ की संस्कृति का स्वरूप दिग्दर्शित होता है। उनकी "अरुणय मधुमय देश हमारा" शीर्षक कविता में जहाँ राष्ट्रीयता की उदात्त भावनाएँ भरी हैं वहीं सांस्कृतिक गौरव की महत्ता भी परिलक्षित होती है। उनकी एक कविता में वे आर्य-जाति के विषय में कहते है "हमारी मातृभूमि है यही, कहीं से आये है हम नहीं।" सत्य ही राष्ट्रीयता व संस्कृति का जो समन्वित गौरव-पूर्ण-चित्र प्रसाद जी की कृतियों में देखने को मिलता है अन्यत्र उसके दर्शन दुर्लभ हैं।

प्रसादजी के नारी पात्र उसके अपनी शक्ति-सम्पन्न स्वरूप में ही अवतरित हुए हैं। कामायनी की श्रद्धा मातृ-शक्ति की परिचायक है। उन्होंने इसी महाकाव्य में नारी का परिचय दिया है "नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पर तल में। पियूष स्रोत ही बहा करो जीवन के उर्वर आँगन में।" उनके नाटकों तथा कहानियों में भी उन्होंने ऐसे ही उदात्तनारी-पात्रों की सृष्टि करके उनमें प्राण भरे है जिनसे भारतीय नारी को अपना वह प्राचीन गरिमामय पद पाने की प्रेरणा मिलती है।

उन्होंने बहुत कुछ लिखा पर कुछ भी निरुद्देश्य नहीं लिखा। मनुष्य को मनुष्य बनाने—देवता बनाने की प्रेरणाएँ उनमें यत्र-तत्र भरी पड़ी है। उनकी रचनाएँ भारतीयता का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे यहीं की मिट्टी में उगी, पनपी तथा बढ़ी हैं। पाश्चात्य-अनुकरण का उनमे लेशमात्र भी नहीं है।

भाषा उनकी सुन्दर तथा उत्कृष्ट तत्सम-शब्दावली युक्त थी। भाषा की दृष्टि से उनकी भाषा हिन्दी का कीर्तिमान कही जा सकती है। भाषा सुन्दर और भाव भी सुन्दर सोने में सुगन्ध जैसी बात उनके साहित्य मे देखने को मिलती है। एक स्थान पर उन्होंने मृत्यु के सौन्दर्य का वर्णन किया

है—"मृत्यु अरी चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी सा शीतल।" मृत्यु मे भी सौन्दर्य देखने वाले इस कवि के ऋण से हिन्दी-जगत् कभी उऋण नहीं हो सकेगा।

इतने बड़े कवि, नाटककार व लेखक होते हुए वे सीधे-सादे रहते थे। धनीपरिवार में जन्म लेने पर भी कीचड़ से ऊपर कमल की तरह इस माया से अलिप्त ही रहे। सरस्वती की असीम अनुकम्पा पाकर भी उन्होने कभी अपना सम्मान नहीं कराया, कवि सम्मेलनों मे नहीं गये। सभाओ के सभापति नहीं बने। बस हिन्दी माँ के सेवक बने रहे। नागरी-प्रचारिणी-सभा के एक उत्सव मे उन्होंने प्रथम और अन्तिम बार एक कविता सुनायी।

१५ नवम्बर, १९३७ को उन्होने अपनी इहलीला समाप्त की। काश ! उस महान् विभूति से आज के साहित्यिक दुश्शासन कुछ सीख लेते।

विश्व—मानवता के समर्थक
सामरसेट माम

सन् १९६१ अँग्रेजी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार सामरसेट माम ने घोषणा की "मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरी सारी सम्पत्ति ब्रिटिश लेखक संघ को दी जाये और वह इस सम्पत्ति का उपयोग दरिद्र, असहाय और समाज से उपेक्षित साहित्यकारों के लिये करे।"

इस घोषणा से उनकी एकमात्र पुत्री जान होप को उत्तराधिकार से वंचित होना पड़ा। उसने अपने पिता के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा दाखिल कर दिया। यह पिता और पुत्री का झगड़ा था। दरिद्र लेखको के अधिकारों के लिये साहित्यकार-माम लड़ रहा था और पुत्री पिता की सम्पत्ति पर अपना दावा प्रकट कर रही थी।

माम की आज आर्थिक स्थिति अच्छी हो तो क्या,उसे अपने बचपन के दिन याद है,जब वह लंदन की एक गन्दी बस्ती में रहता था और सेंट टामस मेडीकल कालेज से डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद भी उसे उसी गन्दी बस्ती में नारकीय जीवन बिताना पड़ा था। उन्होंने गरीबों की मजबूरियों को पास से देखा था, अनुभव किया था। इसीलिए जो उनके द्वारा प्रथम उपन्यास सन् १८९७ में लिखा गया उसमें ऐसी ही स्थितियों का सजीव-चित्रण किया गया। माम की उम्र इस समय २३ वर्ष की थी और प्रथम उपन्यास 'लिजाआव लेम्बेथ' ने साहित्य-जगत् में तहलका मचा दिया था।

गरीबों के प्रति उनके हृदय में दर्द था। वह सन् १९३८ में प्रथम बार भारत आये। यहाँ से विदा होने पर जब उनसे पूछा गया कि भारत की कौनसी वस्तु ने तुम्हे सबसे अधिक प्रभावित किया है तो उन्होंने कहा "मुझे आगरा के ताजमहल, बनारस के घाट, मथुरा के मन्दिर और ट्रावणकोर के पर्वतों ने बिल्कुल भी प्रभावित नहीं किया। मैंने भारत के गरीब किसानो को, लंगोटी लगाये, भूखे पेट खेतों में काम करते देखा। वह सूर्योदय से पूर्व से कड़कड़ाती ठंड मे काम करता है, दोपहरी की तपती धूप उसे पसीने से लथपथ कर देती है और सूर्य अस्त तक अपना खेत जोतता है, मेहनत करता है। वह गत ३०० वर्षों से इसी प्रकार धरती माता के लिये अपना पसीना बहाता आ रहा है और इसके बदले उसे अल्पमात्रा मे निर्वाह सामग्री प्राप्त हो जाती है। भारतीय कृषकों की स्थिति को देखकर मेरे हृदय मे हलचल उत्पन्न हो गई।"

भारत की यात्रा के ऐसे तीखे संस्मरण उन्होंने अपने देश लौटकर 'एक लेखक की नोटबुक' मे लिखे। इससे यह प्रकट होता है, कि मानवता की मजबूरियाँ और गरीबी के चित्र सदैव उनकी आँखों के सामने रहते थे और उनके साहित्य में भी यही कथा-वस्तु का स्थान प्राप्त कर लेते है।

वह गरीबो के मित्र थे और जीवन के अंतिम क्षण तक वह इन्हीं के लिए अपनी सेवाएँ प्रदान करते रहे थे। उन्होंने गरीबी भोगी थी। अत: उसकी पीड़ा को वे जानते थे। उन्हे अच्छी तरह ज्ञात था कि मानवता की दरिद्रता को वह अकेले ही इस पृथ्वी से नहीं हटा सकते पर स्वधर्म पालन द्वारा धनिको को एक दिशा दे सकते हैं और यह बता सकते है कि उनके खून से पैदा होने वाले पुत्र-पुत्रियाँ ही धन के उत्तराधिकारी नहीं बनने चाहिए वरन् समाज के उन व्यक्तियों को भी अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश मिलना चाहिए जिन्हें वास्तव में आवश्यकता है। जो अन्न के अभाव में दम तोड़ रहे है, चाँदी के टुकड़ो के बिना अस्पतालो मे इलाज नहीं करवा पा रहे है या जिनके बच्चे फीस, पुस्तकें तथा अन्य सुविधाओ की कमी के कारण ज्ञान से वंचित हो रहे है।

माम की सशक्त रचनाएँ इस बात का प्रमाण है कि उनकी मानव-जीवन के प्रति कितनी श्रद्धा, सहानुभूति और संवेदना थी। उनका विवाह सन् १९१६ में एक विधवा, वेलकम के साथ हुआ था, पर इसका आगमन माम के लिये शुभ कहाँ रहा वह तो १३ वर्ष बाद सम्बन्ध-विच्छेद कर अलग हो गई थी तब से अलानसरले उनके मित्र बने और ३६ वर्षों तक एक-मात्र साथी और व्यक्तिगत सचिव के रूप में उनका काम करते रहे।

सन् १९६४ मे जब उनकी भेंट विलियम मौनार्ड से हुई थी तो उन्होंने कहा था, "मित्र ! मेरी शव-यात्रा की प्रतीक्षा न करना। मेरी मृत्यु के बाद कोई समारोह नहीं मनाया जायेगा। गिरजाघरों में मेरी आत्मा की शांति के लिये प्रार्थनाएँ नहीं की जायेगी और न संवेदनात्मक संदेश भेजे जायेंगे। नेताओं के शवो की तरह पुष्पमालाएँ भी अर्पित न की जायेगी। मेरा दाह संस्कार किया जायेगा।"

और इसी वर्ष अपने ९०वें जन्म-दिवस पर उन्होंने अनुभव किया कि वह मृत्यु के हाथ में हाथ डाले निर्भयतापूर्वक घूम रहे है और मृत्यु के हाथ अधिक मैत्रीपूर्ण है। ११ दिसम्बर, १९६५ का वह दिन भी आया जब मृत्यु

ने अपने घर बुलाने के लिये उनके पास निमंत्रण भेज दिया। वह ९१ वर्ष का शानदार और सार्थक जीवन जी चुके थे। इस दिन फ्रांस के नाईस नामक नगर मे अपने निवास स्थान 'रिवीराविता' मे वे अचानक गिर पड़े और मूर्छित हो गये उनकी यह मूर्छा अन्त तक न टूटी और १६ दिसम्बर तक मृत्यु से उनका संघर्ष चलता रहा।

उनके इस सघर्ष को देखकर चिकित्सको को चर्चिल का स्मरण हो आया और उन्होने कहा, विंस्टन चर्चिल माम के घनिष्ट मित्र हैं। उनमे वैचारिक एकता भले ही रही हो पर इस समय तो उनकी जीवनी-शक्ति मे साम्य दिखाई दे रहा है।

१६ दिसम्बर, १९६५ की प्रातः ५ बजे वे चिरनिद्रा मे लीन हो गये। उस समय उनके पास केवल अलान सरले ही थे। दूसरे दिन बड़े शान्त वातावरण मे उनके सचिव सरले ने ही चिता मे आग लगाकर स्वामी के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूरा किया और मृत्यु से पूर्व माम के कहे हुये शब्द सत्य सिद्ध हुये उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप दाह संस्कार न किया गया।

माम ऐसे भाग्यशाली साहित्यकार थे, कि उन्होने अपने जीवन में साहित्यिक सेवाओ के बदले अनंत सम्मान तथा लोकप्रसिद्धि प्राप्त की थी। उन्होने अपने पुरुषार्थ द्वारा सरस्वती से लक्ष्मी की साधना करवाई और विपुल धन प्राप्त किया, पर यश या धन के प्रति उनका तनिक भी लगाव न था।

उनकी पुस्तको के अनुवाद लगभग सभी भाषाओ मे किये गये और एक अनुमान के अनुसार लगभग १० करोड़ प्रतियाँ उनकी पुस्तको की प्रकाशित हुईं। वह प्रथम अंग्रेज थे, जिन्हे जर्मनी के हाईडल बर्ग विश्वविद्यालय द्वारा सीनेटर बनाया गया था। वे वाशिंगटन के कॉग्रेस पुस्तकालय के फैलो, 'फ्रेस लीजन आवआनर' के कमांडर और सयुक्त-राज्य-अमरीका के राष्ट्रीय-कला-संस्थान के सदस्य थे। आक्सफोर्ड जैसे अनेक विश्वविद्यालयो ने उन्हे डी. लिट. की उपाधि से विभूषित किया था। और सन् १९५४ मे महारानी एलिजाबेथ ने 'कम्पेनियन आवआनर' का सम्मान प्रदान किया।

माम पाँच भाषाओ के ज्ञाता थे। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने के बाद उन्हे ब्रिटिश गुप्तचर विभाग मे ले लिया गया और इसी सन्दर्भ मे उन्हे स्विट्जरलैंड तथा रूस भेजा गया। इस काल के सारे अनुभव हमे उनके द्वारा लिखित 'एसेंडन' कहानी सग्रह मे मिलते हैं। एक साथ उनके जीवन में हमे अनेक विलक्षण प्रतिभाओं का समन्वय दिखाई देता है। सन् १९०७ मे तो उन्होंने दरिद्रों और अस्वस्थो की सेवा के लिए एक व्यापारी जहाज पर चिकित्सक का कार्य स्वीकार कर लिया था। तभी उनका नाटक 'लेडी फ्रेडरिक' छह सप्ताह के प्रदर्शन के लिये चुना गया। दो महीने बाद ही उनके नाटक ने इतनी धूम मचा दी कि लंदन के 'वेस्ट एन्ड थियेटर्स' द्वारा उसे एक साथ अनेक नाट्यशालाओं मे प्रदर्शित किया गया।

उनका प्रतिभा के अस्तित्व मे तनिक भी विश्वास न था। आलोचको की उन्होंने तनिक भी चिंता न की। वह तो अपने पथ पर बढ़ते ही गये। उनकी कहानी 'वर्षा' का पाँच बार फिल्मांकन किया गया। कर्म से चिकित्सक होने के कारण साहित्य के क्षेत्र मे भी पोस्टमार्टम करने से वह नही चूके।

दूसरे महायुद्ध के बाद भारत की संस्कृति ने उन्हें पुनः आकर्षित किया और वह भारत आये। यहाँ वे कितने ही दिनो तक महर्षि-रमण के आश्रम में रहे। विदेश मे जन्म लेकर भारतीयता के प्रति श्रद्धा रखने वाले माम का जीवन हम सबके लिये प्रेरणादायक है।

आरंभिक जीवन में उपेक्षित रहकर भी माम अन्ततः सफल नाटककार बने। नाट्यशाला के प्रबन्धको ने इस आशा के साथ सर्वप्रथम उनका लिखा नाटक आरम्भ किया था कि वह कम से कम डेढ़ महीने तक चलता ही रहेगा क्योंकि उस नाटक का नाटककार ब्रिटेन का प्रसिद्ध साहित्यकार था। परन्तु नाटक चार छह दिनो मे ही असफल हो गया। हॉल की सब सीटें खाली रहने लगीं। प्रथम शो और उसके बाद भी तीन चार शो तक हाउस फुल रहा परंतु उसके बाद दर्शकों की सख्या घटने लगी और प्रबंधको को नाटक उतारने का निश्चय करना पड़ा। अब अगला कोई कार्यक्रम उनके पास नही था। खाली रंगशाला मे नाटक चलाया भी नहीं जा सकता था। इसलिए मैनेजर ने अपनी अलमारी मे रखे हुए पुराने नाटक टटोलना आरम्भ किये। ये सब नाटक रद्दी कर कभी न खेलने योग्य समझकर बड़ी बेतरतीबी से एक ओर डाल दिये गये थे।

मैनेजर के हाथ मे पहला ही नाटक आया और उसे आद्योपान्त पढ़ डाला। दो चार शो तक तो काम दे जायगा यह सोचकर उसने नाटक बदलने की घोषणा करवा दी।

रगमंच पर प्रस्तुतीकरण हुआ। पहले दिन कोई खास भीड़ नही थी। परन्तु जैसे ही नाटक खेला गया—लोगों ने इसे इतना पसन्द किया कि बाद मे निरन्तर दर्शक बढ़ते गये। महीनो तक वह नाटक चला। समीक्षकों ने इसे, अभी तक खेले गये सभी नाटकों मे सर्वश्रेष्ठ कहा और इस के नाम के साथ ही उसके रचयिता का नाम भी उभरकर आया, सामरसेट माम।

रंगशाला के प्रबन्धको से लेकर प्रकाशकों तक सभी ने माम की उपेक्षा की थी। परन्तु उन्हें आत्म-विश्वास था कि कभी न कभी मुझे सफलता अवश्य मिलेगी। उनका आत्म-विश्वास ही आखिर विजयी हुआ। निराशा उपेक्षा और अवहेलना के अन्धकार मे आशा का सूर्य एक दम उदित हुआ। जिन दिनों माम का नाटक रगमच पर लाने के लिए तैयारियाँ की जा रही थीं उन दिनो वे बड़ा अभाव-ग्रस्त जीवन जी रहे थे।

उनकी गरीबी और तंगी सीमा पार कर चुकी थी। लेखन करते तो थे परन्तु उससे इतनी आय नहीं होती थी जिससे निर्वाह चल सके। बरसो से वे प्रकाशको और रंगशालाओं का द्वार खटखटाते आ रहे थे परन्तु उन्हे कभी किसी ने संतोषप्रद उत्तर नही दिया। नौकरी करने का विचार भी हुआ। प्रयत्न भी किये परंतु असफलता और दुर्भाग्य उनसे सदैव आगे पहुँच जाते और माम को हर जगह निराश होना पड़ा था। आर्थिक स्थिति तो यह थी कि उनका मुश्किल से अपना गुजारा चल पाता था। समय पर रूखी सूखी मिल गयी तो खा ली और नहीं मिली तो पानी से ही पेट भर लिया। इस अंधकार और आँधी मे भी माम के हृदय में एक आशा का दीप जल रहा था। वे सोचते थे—बढ़ते हुए दुख प्रातःकाल के अरुणोदय से पूर्व घनीभूत होते अन्धकार की तरह हैं। निकट भविष्य में शीघ्र ही इनका अन्त होने वाला है।

इस आशा से वे अपनी लेखन-साधना, धैर्यपूर्वक चलाते रहे। मंगलमय भविष्य की आशा व्यक्ति को निष्ठापूर्वक श्रम से लगाये रखती है। आज नही तो कल सफलता जरूर मिलेगी। इस विश्वास को लोगो ने बड़ी-बड़ी असुविधा कठिनाइयो की तारणी नौका के रूप मे उपयोग किया है और वे सचमुच पार भी हो गये। क्योंकि लहरो मे चलाये गए हाथ आगे बढ़ाने मे सहायक ही सिद्ध होते है। परिस्थितियो से किया गया संघर्ष उन्हे पराजित करने का ही कारण बनता है। धैर्य और साहस कभी विपरीत परिणाम उपस्थित नही करते है।

माम को जब अपना नाटक सफल होने का समाचार मिला तो उन्हे संतोष के साथ साथ आश्चर्य भी हुआ। बड़े परिश्रम से तैयार किया गया वह नाटक रंगशाला के प्रबन्धको ने उपेक्षित कर विचाराधीन कर रखा था। अब तो माम का भाग्य ही पलट गया। दुख और अभावों के बादल छट गये। ब्रिटेन भर की रंगशालाओं के प्रबन्धक 'लेडी फ्रैडरिक' के लेखक सामरसेटमाम के पास आने लगे। माम ने अपने पुराने, अस्वीकृत नाटक उन प्रबन्धको को दिये। नाम प्रकाश मे आ जाने के कारण माम के सभी नाटक खूब चले। उनकी रॉयल्टी का पैसा इतना आ गया कि माम कुछ दिनो मे लखपति बन गये। बड़ी-बड़ी संस्थाओ ने उनका स्वागत अभिनन्दन किया।

यह सफलता उनके दीर्घ प्रयासो धैर्य और परिश्रम स्वरूप प्राप्त हुई थी। माम ने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन किया था। उनका विचार डॉक्टर बनने का था, परन्तु धीरे-धीरे उनका रुझान साहित्य की ओर हुआ और उन्होंने लेखक बनने का निश्चय कर लिया। इस क्षेत्र में मिली असफलताओ से वे बिल्कुल भी नहीं घबड़ाये। हितैषियों ने कई बार कहा कि लेखन का चस्का छोड़ कर वे रोगियों का इलाज शुरू कर दें परन्तु माम ने तो अपना एक ही लक्ष्य चुन लिया था, बुरी से बुरी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जिसकी ओर बढ़ना था। यह उनकी लगन और निष्ठा का ही सत्परिणाम था कि वे आगे चलकर इतने सफल हुए अन्यथा सामान्य और अस्थिर बुद्धि के लोग छोटी-छोटी विफलताएँ मिलने पर ही अपना विचार त्याग देते हैं। ऐसे अस्थिरमति वालो को किसी भी क्षेत्र मे सफल होना संदिग्ध ही रहता है।

साहित्यकारो मे अपनी प्रतिष्ठा हो जाने के बाद म और भी अच्छा लिखने का प्रयास करने लगे। सफलता इस प्रकार उन्होने पचा लिया। कई लोगो के लिए सफलता उनके पतन में ही सहायक होती है। निरन्तर प्र और आगे बढ़ने ऊँचा उठने की उत्कृष्ट लालसा व्यक्ति और भी ऊपर उठाती है। माम शीघ्र ही इस पद्धति अपनाकर शेक्सपीयर के समकक्ष हो गये। न्यूयार्क नाटक—विशेषज्ञो ने जब अँग्रेजी के दस सर्वोत्तम नाटको चुनाव किया तो मुख्य स्थान माम की एक कृति 'रैन' मिला। जो एक कहानी के आधार पर लिखी गयी थी इस नाटक की तुलना मे शेक्सपीयर के भी कई अच्छे नाटक हल्के समझे गये थे।

माम की पुस्तको तथा नाटकों से उन्हे काफी आमदनी हुई परन्तु उन्होने अपनी आय का अधिकांश भाग लोक-सेवा मे लगाया। उनके अकेले एक नाटक से तो आठ लाख रुपये की आमदनी हुई थी। परन्तु उन्होने यह सारी की सारी आय ब्रिटेन के युद्ध-पीड़ितो की सेवा मे खर्च कर दी।

ब्रिटेन के नागरिक होते हुए भी उन्हे फ्रांस मे रहना अच्छा लगता था। अपने जीवन का अधिकाश समय उन्होंने वही व्यतीत किया था। सफल साहित्यकार बन जाने के बाद तो वे वही चले गये थे। जब द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ तो उन्होने अनुभव किया कि मेरा देश मुझे पुकार रहा है। वे उन दिनो इंग्लैण्ड आ गये और युद्ध समाप्त होने तक वही रहे। सच्चा साहित्यकार उस समाज को नहीं भूल सकता जिसमे कि वह पला है, रहा है और आगे बढ़ा है।

वह साहित्य की आत्मा को आत्मसात् कर औरो का दर्द समझेगा अपना दर्द उसे समाज का संकट स्वयं पर विपत्ति स्वरूप अनुभव होगा। साहित्य को आराधना समझकर उसकी सेवा करने की भावना रखकर लिखने से स्वाभाविक ही है कि उनकी लेखनी मे प्रेरणा और स्वरो मे चेतना का स्वर फूट पड़े। अपने नाटको और कहानियो के माध्यम से उन्होने व्यावहारिक आदर्शों की ही शिक्षा दी है।

सामरसेट माम के कई नाटक उनकी कहानियो के आधार पर उनके मित्रो ने तैयार किये है। अँग्रेजी साहित्य के दस उत्तम नाटको मे चुना गया—रेन भी उनके मित्र ने एक कहानी पढ़कर लिखा था। जिसे वह समय काटने के लिए पढ़ने हेतु ले गया था। कहने का तात्पर्य यही है कि माम की साधारण रचना इतनी उत्तम बन पड़ी है जितनी कि विख्यात लेखकों की सर्वोत्तम कृतियाँ। इतना प्रखर और सशक्त-साहित्य उनके जीवन के कटु अनुभव, निष्ठा, धैर्य और अनवरत साधना से ही लेखनी द्वारा नि:सृत हो सका है।

माम ने वर्षों तक उपेक्षित रहकर एकदम चमक कर यह सिद्ध कर दिया कि सफलता के इच्छुक व्यक्ति के लिए उपेक्षा तिरस्कार और अभावों से उद्विग्न न होकर श्रम-साधना करते रहना ही विजय का मार्ग है। इस मार्ग का अनुसरण कर व्यक्ति सामान्य ही नही विकट से विकट परिस्थितियों मे भी ऊँचा उठ सकता है तथा प्रगति के उच्च शिखरों को छू सकता है।

जिन्होंने भारतीय चित्रकला को नवजीवन दिया—कलागुरु अहिवासी जी

बदन पर मिरजाई या अचकन, कमर से नीचे धोती और सिर पर पगड़ी या साफा जिसकी शैली बदलती रहती थी। दिखने में इस ठेठ देहाती भारतीय को जब जे.जे. स्कूल ऑफ आर्टस के प्रिंसिपल सोलोमन ने शिक्षक नियुक्त करके भारतीय चित्रशैली की कक्षाएँ आरम्भ की थी तो लोगो ने सोचा था कि स्कूल मे रूढ़ हो चली पाश्चात्य 'अनस्टोमी' और 'वाश मेयड' की शिक्षा-पद्धति के सामने ये देहाती महाशय क्या टिक सकेंगे। पर जब थोड़े ही समय में इन महाशय ने भारतीय-कला के प्रति श्रद्धाशील कलार्थियो की टोली एकत्रित कर ली और उनके भारतीय ढंग से बने चित्रकला प्रशिक्षण कक्ष जे.जे. ऑफ आर्टस के परिवेश, परिचय और प्रगति का अभिन्न अंग बन गये तो लोगों को मानना पड़ा कि व्यक्ति का वेश के माध्यम से मूल्यांकन कितना भरमाने वाला होता है।

ठेठ भारतीय वेशभूषा वाले ये कलागुरु थे जगन्नाथ अहिवासी, जिन्होंने भारतीय दृष्टि व गरिमा से भरे निष्ठावान कला-साधकों का निर्माण करके ही ख्याति नही अर्जित की, वरन् भारतीय-चित्रकला की श्रेष्ठता को भी अपने चित्रों द्वारा प्रतिपादित किया था।

पोरबंदर के एक वैष्णव-मंदिर के सामान्य से पुजारी का यह छोटा सा 'लल्लू' कलागुरु अहिवासी बन बैठा था। इसकी एक लम्बी दास्तान है जो हर व्यक्ति के लिये प्रेरक पदचिन्हों का कार्य कर सकती है जिनका अनुसरण करके हर क्षेत्र मे उच्चतम स्थान पाया जा सकता है।

६ जुलाई, १९०१ को गोकुल के निकटस्थ ग्राम बलदेव के ब्राह्मण—परिवार मे जन्मे जगन्नाथ को जिसे घर के लोग प्रेम से अपनी ब्रज परम्परानुसार 'लल्लू' कहा करते थे, अपनी जननी के स्नेह सुख से चार महीने की अल्पावस्था में ही वंचित होकर रह गये थे। सम्भवत: कुटिल कही जाने वाली इस नियति का यह अदृष्ट-विधान लल्लू के भीतर से एक महान कलाकार सिरजने में सहायक रहा हो, कहा नहीं जा सकता, पर इतना स्पष्ट है कि नियति के हर भूविलास में कोई न कोई सौभाग्य-सूचक निर्देश छिपा रहता है, जिसे अल्पज्ञ मानव समझ नहीं पाता और बिलख-बिलख कर रो पड़ता है।

लल्लू के पिता ब्रजवासी थे पर आजीविका के लिये पोरबंदर आ बसे थे। माता का असमय बिछोह, जैसे उसके निर्माण में अदृष्ट सहायक बना था वैसे ही स्वच्छता, सादगी और स्वावलम्बन के प्रति एकनिष्ठ, संस्कारी व भक्ति-प्रवण पिता मुरलीधर जी का समग्र सहचर्य उनके भीतर के 'भारतीय' को जगाने में सम्पूर्ण सहायक रहा था। अब वे पिता भी थे और माता भी। मंदिर मे ही उनका निवास भी था। मंदिर के देवता की पूजा-अर्चना के बाद बचा हुआ सारा समय वे पुत्र रूप मे उपस्थित देवता के निर्माण में लगाया करते थे।

अपने पिता से उन्हें जो कुछ मिला वह वर्णनातीत है। जो श्रद्धा, जो अकलुष सौन्दर्य दृष्टि और जो सर्वात्मभाव उनके चित्रों मे साकार देखने को मिलता है, वह बीज रूप मे अपने प्रथम शिक्षक पितृ-देव से ही प्राप्त हुआ था। पिता कीर्तनकार थे। पुत्र चित्रकार की प्रतिभा लेकर पैदा हुआ था।

एक दिन मुरलीधर जी के मित्र ने लल्लू के बने चित्र देखे तो उन्हे बालक मे चित्रकार की प्रतिभा दिखाई पड़ी। उन्होंने मुरलीधरजी को राय दी कि उसे किसी योग्य चित्रकला शिक्षक से शिक्षा दिलाएँ। इस प्रकार वे पोरबंदर के भावसिंह हाईस्कूल के कला-शिक्षक मालदेवजी राणा का शिष्यत्व पा गये। मुरलीधर जी ने यह निर्णय लेकर बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। बालक जो प्रतिभा के बीजांकुर लेकर पैदा होता है उनके विकास की ओर ही माता-पिता को ध्यान देना चाहिए न कि उस पर अपनी इच्छा थोपनी चाहिए। इस दृष्टि से वे एक आदर्श पिता कहे जा सकते थे।

प्रतिभा का संयोग जब प्रशिक्षण से होता है तो कला का विकास बड़ा शीघ्र होता है। हाईस्कूल मे पढ़ते हुए ही उन्होंने एक सुन्दर चित्र बनाया। उसे एक अँग्रेज अफसर ने अँग्रेज कलाकारों की तुलना में तुच्छ बताया व त्रुटियाँ बतलायीं। किशोर जगन्नाथ का हृदय उसकी इस हतोत्साहित कर देने वाली टिप्पणी से मर्माहत हो उठा। तो क्या कला का ठेका पाश्चात्य चित्रकारों ने ही ले रखा है? यह चुनौती सरल चित्त पर स्वाभिमानी जगन्नाथ को चुभ-सी गयी।

'अब तो वह बम्बई जाकर बाकायदा चित्रकला का अध्ययन करके उस अँग्रेजसाहब की चुनौती का उत्तर देगा।' यह धुन उसे सवार हो गयी थी, जगन्नाथ के मन पर। विधुर-पिता का यह इकलौता पुत्र उनका एकमात्र सम्बल भी था। वे उसे आँखो से दूर कैसे होने देते, पर पुत्र भी दृढ निश्चयी था। प्रगतिगामी पुत्र के मार्ग मे बाधा न बनकर मुरलीधर जी ने अपनी मोहमाया पर अंकुश लगाना ही श्रेयस्कर समझा। वे जानते थे कि पुत्र पर एकाधिकार का दावा कितना खोखला होता है सो उन्होंने पुत्र को बम्बई-यात्रा का मार्ग-व्यय देकर सिर पर स्नेहसिक्त आशीष भरा हाथ धर विदा किया। अपनी सामर्थ्यानुसार उसके आवास का प्रबन्ध उन्होंने बम्बई के एक वैष्णव मंदिर के आचार्य गोकुलनाथ के यहाँ कर दिया।

३.२२ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

अब भावना, साधना की खराद पर चढ़ चुकी थी। यह वह स्थिति होती है, जहाँ निर्बल संकल्प वालों की भावनाएँ कटु यथार्थ से टकराकर टूट जाती हैं। बम्बई जैसे नगर मे अपना खर्च भी चलाना और चित्रकला भी सीखना इसके लिये इस साधनहीन, परिचयहीन युवक को कितनी मेहनत करनी पड़ी होगी यह कल्पना ही की जा सकती है। पोस्टकार्ड साइज के देवी-देवताओं के चित्रों में रंग भरने से लेकर साइन बोर्ड पेंटिंग तक का कार्य उन्हें करना पड़ा था।

दिनभर की कठिन दौड़-धूप और रात्रि को मंदिर का शयन कितना असंगत होता है यह भुक्तभोगी ही जान सकता है। रात्रि को दस बजे से पहले मंदिर के पट बंद नहीं होते थे। दर्शनार्थियो का ताँता लगा रहता था और सवेरे तीन बजे ही जाग हो जाती थी ताकि चार बजे आरती का कार्य निबटाया जा सके। इस बीच के समय में ली जाने वाली नींद उनकी वय को देखते हुए कम थी। पर साधना तो साधना थी। काया जर्जर होती रही पर वह रुकी नहीं। अंत में उनके सहृदय-शिक्षक का ध्यान अपने होनहार शिष्य के मुझति चेहरे पर गया और उन्होने उसके निवास की व्यवस्था अपने घर पर कर दी थी। ये सहृदय अध्यापक थे महाशय केतकर।

कष्ट, अभाव, श्रम और आपदाओं द्वारा ली गयी कितनी ही परीक्षाओं मे उत्तीर्ण होते हुए इक्कीस वर्ष की आयु मे अहिवासी जी जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस में प्रविष्ट हुए।

इस बीच इस विश्वामित्र को व्यावसायिकता की मोहक मेनका से भी सामना पड़ा था, पर अपने उच्चादर्श और उच्च-संस्कारो के कारण वे अपनी तप-साधना से विरत नहीं हुए। एक व्यावसायिक कलाकार से वे पोर्टेट बनाना सीखते थे। उसने उन्हें सलाह दी थी—"अब तो तुम यह पढ़ाई का चक्कर छोड़ो और पोर्टेट बनाकर लक्ष्मी की साधना करो।" परन्तु कला के इस साधक को जिसने कला को व्यवसायवत् नही उपासनावत् स्वीकार किया हो उसे भला यह प्रलोभन कैसे लुभा सकता था।

उनकी कला मे प्रतिभा का पाटल पुष्प विकसित होने लगा था। उसका सौरभ, वातावरण में फैलने लगा था, फिर भी कई दुराग्रही अध्यापक जो कि पाश्चात्य कला के अंधभक्त थे उनकी प्रतिभा को समुचित आदर नही देते थे, वरन् उन्हे हतोत्साह करते थे। पर वे भी अपने आप को समझा चुके थे—'जगन्नाथ तुझे बिना प्रोत्साहन के ही आगे बढ़ना है।" इतना होते हुए भी उन्होने अपने गुरुजनो के प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित नहीं की थी।

आश्चर्य होता है भारतीयो की बौद्धिक पराधीनता पर कि अहिवासी जी की प्रतिभा को पहचानने वाला प्रथम कलामर्मज्ञ भारतीय नहीं पाश्चात्य चित्रकार था। सोलोमन महाशय जब जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस के प्रिन्सीपल बनकर आये तो उनकी पारखी दृष्टि ने इस हीरे का मोल आँका। तब भी भारतीय-शिक्षक अहिवासी जी की उपेक्षा ही करते रहे।

पारखी अध्यापक मिला तो भाग्य रूठ गया। पिताजी अस्वस्थ हुए। पढ़ाई छोड़ उनको परिचर्या का भार उन्हें सम्हालना पड़ा। वहीं उन्हें उसी स्कूल में अध्यापक का कार्य मिल गया जहाँ वे पढ़े थे। इस प्रकार घर खर्च और पिताजी की चिकित्सा का खर्च चलता रहा। पिताजी बचे नहीं चल बसे। घर का भार उनके कन्धों पर आ पड़ा था। तत्कालीन परम्परानुसार बाल्यकाल में ही पिता उनके हाथ पीले कर गये थे।

एक ओर अधूरा शिक्षण और दूसरी ओर पारिवारिक दायित्व। किसे चुने किसे छोड़ें यह सोचते हुए वे दोराहे पर खड़े थे। मुरलीधर जी की तरह आज भी कितने ही माता-पिता, पुत्र के आत्म-निर्भर होने के पूर्व ही उसके गले में एक पत्नी का बोझ लटका देते हैं और वह भी जगन्नाथ की सी विषम स्थिति में अपने आपको दोराहे पर खड़ा पाते है।

ऐसे विषम समय मे पति की महत्वाकांक्षा से परिचित, अनपढ़ किन्तु विवेकशील सहधर्मिणी ने उन्हे उबार लिया। एक अबला, सबल तरुवर से लिपटकर उसका आश्रय ऊपर चढ़ने वाली लता की तरह नहीं एक समर्थ सहारे की तरह उनकी पत्नी ने कहा—"मैं कैसे भी घर चला लूँगी आप अपनी पढ़ाई पूरी कर लीजिये।"

थोड़ा ना-नुकर करने के बाद अहिवासी जी को अपनी सहधर्मिणी की सम्मति स्वीकार करनी पड़ी। वे तर गये। उस अनामा अपरिचिता देवी के इस साहस को, इस त्याग को विस्मृत कर देना नारी जाति के प्रति अन्याय करना ही होगा।

वे पुनः जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस मे प्रविष्ट हुए। इस बार प्रिंसीपल सोलोमन साहब के प्रभाव से उन्हे छात्रवृत्ति भी मिल गयी। इसका प्रतिदान उन्होंने यह दिया कि उन्होंने स्कूल मे तमाम पारितोषिक जीते, परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा सूरत में हुई कला प्रदर्शनी में स्वर्ण-पदक प्राप्त किया। भित्ति-चित्रो के क्षेत्र मे उन्होने ६०० रुपये का डाली खुरशोद जी पुरस्कार प्राप्त किया था। डिप्लोमा करने के एक वर्ष बाद ही सन् १९२७ मे छब्बीस वर्ष की आयु में उनके 'स्वामी हरिदास' शीर्षक चित्र को बम्बई आर्टस सोसायटी की प्रदर्शनी मे 'रजत पदक' मिला।

जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस मे पढ़े हुए अहिवासी जी को उसी स्कूल मे अध्यापक बनाया गया तब लोगो ने उनके प्रति क्या सोचा था और किस प्रकार उन्होने उनकी धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया यह पहले बताया ही जा चुका है।

पाश्चात्य—जीवन-दर्शन भोग-परक और भौतिकता प्रधान होने के कारण पाश्चात्य-शैली के चित्रों में जहाँ शरीर और मन के संवेगात्मक बिम्ब ही दृष्टिगोचर होते हैं, वहाँ अहिवासी

ी की भारतीय-दृष्टि उनके चित्रों मे श्रद्धा, भक्ति, अकलुष, ौन्दर्य तथा आत्मप्रकटीकरण की सृष्टि कर जाती थी ।

नयी दिल्ली में जब वाइसरीगल लाज बना तो उसकी त्र-सज्जा का कार्य जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस को ही मिला । इसका श्रेय अहिवासी जी के एक चित्र को है जिसे इतना पसन्द किया गया कि उसके बाद किसी अन्य चित्र को देखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी ।

भारतीय-चित्रकला के विकास की झाँकी अजंता की गुफा में आज भी देखी जा सकती है । अहिवासी जी की आत्म-स्फूर्त-प्रेरणा उन्हीं चित्रकारों से तादात्म्य जोड़ती हुई अपने उस प्राचीन कला-वैभव को पाने के लिये तड़पती तरसती रही होगी । कहना न होगा कि उन्होंने सामयिक-चित्रकला को अपनी आत्मा से जोड़ा था ।

अहिवासी जी स्वयं भारतीयता के अवतार थे और उन्होंने अपने पिताजी का जो चित्र बनाया उसमें एक वैष्णव कीर्तनकार की उस आत्मा को प्रतिष्ठापित किया था, जो भारतीय-भक्ति-श्रद्धा का साकार रूप था । ब्रिटेन की कला प्रदर्शनी में उनके इस चित्र की विशेष प्रशंसा हुई और उसे प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम ने खरीद लिया था ।

अहिवासी जी कला की विधायिनी और विघातिनी दोनों शक्तियों से परिचित थे । कलाकार, पथ-पतित होकर समाज का जो विनाश करता है उसके लिये विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है । अत: उन्होंने अपने चित्रों के विषय भक्ति, श्रद्धा और अध्यात्म प्रेरित ही रखे । कृष्ण का नामकरण, 'मीरा स्वामी हरिदास, सारथी, राधा, संदेश, जाड़ा आदि चित्र उनकी भक्ति भावना के अनूठे प्रतीक हैं ।

वे एक सच्चे और उत्तरदायी चित्रकार ही नहीं एक आदर्श शिक्षक भी थे । जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस में उन्होंने अपनी कक्षा का स्वरूप भी ऐसी विशेषताओं से संयुक्त करके रखा था । एक चित्रकार की कला-साधना के उपयुक्त स्थल पर उपवन के बीच वृक्षों के झुरमुट में बने दो लकड़ी के कमरों में ही वे अपनी कक्षाएँ चलाते थे । जिनका वातावरण सर्वथा उन्मुक्त और स्वतन्त्र था । विद्यार्थी उनकी कक्षा में फर्श पर ही बैठते थे । भारतीय चित्रों के बीच साहित्य की रसभरी बातें भी होती थीं और चित्रकला सम्बन्धी मर्म-विवेचना भी । किसी भी रूढ़ पद्धति से अनबँधे रहकर विद्यार्थियों को अपनी मौलिक प्रतिभा विकसित करने का अवसर मिलता था ।

उनकी स्वतन्त्र—शिक्षा-नीति और छात्रों के प्रति पितृ तुल्य सहज वात्सल्य ने उनको कई निष्ठावान चित्रकारों का कलागुरु बना दिया । कलागुरु नन्दलाल बोस जब जे.जे. स्कूल ऑफ आर्टस में पधारे तो वे अहिवासी जी और उनके शिष्यगणों की कला-साधना को देखकर बहुत प्रभावित हुए थे । उन्होंने प्रसन्न होकर कहा था—"बंगाल स्कूल के साथ यदि गुजरात में भारतीय कला की मशाल लेकर कोई खड़ा रहने वाला है तो वे हैं अहिवासी जी ।"

बम्बई जैसे नगर में अपने सामान्य से वेतन पर उन्हें घर-गृहस्थी की गाड़ी खींचतान करके ही चलानी पड़ती थी । इस पर भी वे अपने प्रतिभावान, पर निर्धन छात्रों के लिये उसमें से भी कुछ न कुछ बचाकर रखते थे तथा उसे सहायता रूप में इस प्रकार देते थे कि किसी को पता न चले । उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन में जो कष्ट सहे थे, उन्हें वे जीवन भर नहीं भूले थे । उनके इस परमार्थ-परायण कार्य में उनकी सहधर्मिणी सदैव सहायक रहीं । घर का खर्च कम से कम रुपयों में चला लेती थीं ताकि अहिवासी जी को अपने शिष्यों की आर्थिक-सहायता करने में अर्थाभाव न खले ।

अहिवासी जी की कलाकृतियों को यथेष्ट सम्मान मिला । उनके 'मीरा के प्रयाण' चित्र को लंदन की रॉयल आर्ट प्रदर्शनी में से खरीदकर चीन को भेंट किया गया था । उनकी कला-कृतियों का संग्रह निजी व सरकारी संग्रहालयों में है । उन्होंने जिस भारतीय-कला का विकास किया उसने उनकी परम्परा को जीवित रखने वाले दसियों कलाराधक दिये हैं फिर भी उनकी संख्या पाश्चात्य शैली का अनुकरण करने वाले चित्रकारों की संख्या में न्यून ही है । यह हमारे लिये लज्जा का विषय है । अहिवासी जी अब हमारे बीच नहीं हैं पर उनका जीवन कलाकारों के लिये आदर्श बनकर अमर हो चुका है ।

कलाकार भी कलागुरु भी—नन्दलाल बोस

दरभंगा स्टेट—मैनेजर का अल्पवयस पुत्र माता-पिता के लाख समझाने पर भी पढ़ने-लिखने पर उतना ध्यान नहीं देता था जितना वे चाहते थे । उसका मन तो नदी तट पर बने कुम्हारों के जीर्ण-शीर्ण छप्परों के आँगन में घूमते चाकों व मृतिका से परिवर्तित होती सुन्दर मानवाकृतियों को देखने, परखने में ही रमता था । वह बड़ी एकाग्रता से उनके इस कर्म-कौशल को देखता था । माता-पिता हैरान थे कि यह अधिकारी का पुत्र हँडियाँ घड़ने वाले कुम्हारों की संगति में क्या पाने जाता है । किन्तु उन्हें क्या पता कि उनके पुत्र के भीतर जो कलाकार के बीजांकुर हैं वे पल्लवित-पुष्पित हो रहे हैं । यह किशोर अपने जीवन में विश्व-विख्यात चित्रकार, मूर्तिकार नन्दलालबोस के नाम से विख्यात हुआ ।

नन्दलालबोस का जन्म सन् १८८२ मे खड़गपुर मे हुआ था । इनके पिता दरभंगा स्टेट के मैनेजर थे । अच्छा खाता-पीता सम्पन्न घराना था । पिता उन्हे अपनी ही तरह कुशल अधिकारी बनाना चाहते थे । किन्तु नन्दलाल की आत्मा कुछ दूसरे ही संस्कार लिए हुए थी ।

उनका यह कथन—"पूर्व जन्म में हम उन्हीं चित्रकारो में से थे जिन्होंने अजन्ता की गुफाओ में चित्रांकन किया था । एक जन्म में तो कोई कलाकार बन नहीं सकता उसके लिये तो कई जन्म लेने पड़ते हैं ।" उनके अपने कर्तृत्व के द्वारा परिपुष्ट होता था । उनके जन्म-जन्मान्तर के संस्कार ही उन्हें

वहाँ खींच ले जाते थे जहाँ मिट्टी में भावों का सूक्ष्म अंकन होता था—मानव को गतिशीलता प्रदान की जाती थी। हर कोई व्यक्ति वहाँ गधों की कुत्सी लीद की दुर्गन्ध व यत्र-तत्र बिखरी मिट्टी को देखकर नाक-भौं सिकोड़ता था क्योंकि उनका ध्यान उधर ही जाता था किन्तु यह बालक तो मूर्तिकला सीखने की भावना से वहाँ जाता था।

किशोरावस्था में ही उन्होंने अपनी सूक्ष्म पकड़ व निरन्तर सजगता के बल पर सुन्दर मूर्तियों का निर्माण करना आरम्भ कर दिया। बीसवर्ष की आयु में उन्होंने सेन्ट्रल कॉलेजियट स्कूल में प्रवेशिका की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद एफ. ए. में पढ़ते हुए तो उनकी कलाकार बनने की प्रबल आकांक्षा ने अँगड़ाइयाँ लेनी आरम्भ कर दी। वे अपनी पाठ्य-पुस्तकों के हाशियो पर चित्रकारियाँ करने लगे।

घर से उन्हें जेब खर्च के पैसे मिलते उससे वे चित्रकला की पुस्तके खरीद लाते थे। उनके सहपाठी इस पैसे को व्यर्थ की वस्तुएं खरीद या चाट पकौड़ी खाने में खर्च कर देते थे। परन्तु, उनका ध्यान इस ओर भूल कर भी नहीं जाता था।

एकलव्य की शस्त्र-साधना की तरह उनकी कला साधना चलती रही थी। उनकी तुलना में पेरिस के महान क्रान्तिकारी व सफल चित्रकार के सुयोग्य शिष्य 'एडगर डेगास' से की जा सकती है जो विद्यालय का शुल्क मिलते ही कला सामग्री खरीद लेता था। उन दिनों ठाकुर शैली के उन्नायक अवनीन्द्र नाथ ठाकुर का नाम चित्रकला जगत मे प्रखर प्रभाकर की तरह देदीप्यमान हो रहा था। उन्होंने मन ही मन उन्हें अपना गुरु वरण कर लिया—ठीक एकलव्य के गुरु-वरण की तरह। उनके चित्र पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होते रहते थे। वे उन्हे खरीद लेते थे। जब भी उनका कोई चित्र उन्हें मिलता तो उन्हें ऐसा लगता कि कुबेर का कोष उन्हें मिल गया हो। सच है किसी भी कला अथवा व्यवसाय मे पूर्णता पाने के लिए यह तत्परता यह ललक न हो तो उसमें निष्णात होना सन्दिग्ध ही रहता है।

उनकी कला दिन-प्रतिदिन निखर रही थी। सतत् साधना के बल पर वे ऊँचाइयो को छूते जा रहे थे। इस दौरान उनकी भेंट अपने गुरु से हो गयी अपनी कला निधि के साथ। यह कला निधि थी राफेल के चित्र 'मैडोना' व कुछ यूनानी मूर्तियो की अनुकृतियाँ तथा उनके अपने कुछ मौलिक चित्र। उनके इन चित्रों को देखकर अवनीन्द्र बहुत प्रभावित हुए तथा उन्हें अपने विद्यालय में प्रवेश देने के लिए सहमत हो गये।

छात्र-जीवन मे उन्होंने इस द्रुत-गति से प्रगति की जिसके परिणामस्वरूप समकालीन चित्रकारो मे हलचल मच गयी। धड़ाधड़ उनके चित्र पुरस्कृत होने लगे, कला प्रदर्शनियो में उन्हें स्थान मिलने लगा, सराहना मिलने लगी। 'इण्डियन सोसायटी ऑफ 'ऑरियेण्टल आर्ट्स' की कला-प्रदर्शनी में उनके चित्र 'शिव सती' को पाँच सौ रुपये का पुरस्[...] हुआ।

उनकी इस द्रुत प्रगति का रहस्य उनकी कला[...] साथ-साथ भावनिष्ठा भी थी। वे पूरे धार्मिक तथा [...] विश्वासी थे। उनका एक भी दिन ऐसा नहीं जाता था [...] वे तल्लीन होकर उपासना नहीं करते थे। देव-दर्शन उन[...] नित्यक्रम था। यही कारण था कि उनकी मानसिक एका[...] अनुपम बन गई थी। उनका दर्शन बड़ा ही प्रखर व गह[...] होता था। जिस किसी चीज को देखते थे बड़ी ही गहरा[...] से देखते थे।

चित्रकला को भी वे आत्म-प्रशस्ती व आत्म-विज्ञापन का साधन नहीं वरन् आत्मा की हूक तथा लोक-हित का [...] ही मानते थे। कला की मानव अन्त:करण को छू लेने [...] अलौकिक शक्ति को वे मनुष्य में देवी-तत्वों के [...] के लिए आत्म-शोधन, आत्म-परिष्कार व आत्म-विकास [...] अनिवार्य मानते थे। कलाकार, चित्रकार अपने चित्रों में जि[...] भावों का, जिन प्रेरणाओं का सूक्ष्मांकन करता है वे उसी के अन्त:करण से ही तो निसृत होती हैं। यदि उसका [...] व्यक्तित्व व कर्तृत्व निष्कृष्ट व कलुषित हुआ तो वह उ[...] उदात्त भावनाओ का अंकन कर पाने मे सफल नहीं [...] पायेगा। उसके चित्रों मे प्राण-प्रतिष्ठा नहीं होगी। वे निष्प्राण कलेवर मात्र रह जायेंगे।

इस प्रकार कलाकार का जीवन कला-सृजन तक ही सीमित नहीं वरन् आत्मसाधना का पथ भी प्रशस्त करता [...] है। नन्दबाबू ने अपने जीवन मे कलाकार के इस आदर्श को पूरी तरह निभाया था। शान्ति-निकेतन मे कला गुरु रहते हुए उन्होंने अपने शिष्यो को भी वही सब पालने की बात दुहरायी थी। "अपने अन्दर निर्मलता, पवित्रता, प्रेम, सौन्दर्य, शान्ति, दया, ममता यदि है तो वही चित्रों मे आयेगी नहीं तो वह रेखा जाल ही रह जाएगा।" यही बात वे अपने हर शिष्य से कहते थे।

ईश्वर के प्रति उनकी श्रद्धा पूरे भक्त की थी। एक बार वे मन्दिर मे देर से पहुँचे। मन्दिर के पट बन्द हो चुके थे। पुजारी ने बताया—अब तो मन्दिर बन्द हो गया। कल आइयेगा। इस पर वे बोले—"भगवान का मन्दिर कभी बन्द नहीं होता।" पुजारी को मन्दिर खोल देना पड़ा। उन्होंने भावतन्मय हो प्रभु के दर्शन किये।

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जब शान्ति-निकेतन की स्थापना की तो उन्हे कला भवन के अध्यक्ष के लिए कोई उपयुक्त पात्र दृष्टिगोचर हुआ तो वे नन्दलाल बोस ही थे। नन्दबाबू अपने आपको इस पद के अयोग्य बताते ही रहे किन्तु रवीन्द्र ने उन्हें कलाध्यक्ष के आसन पर बिठाकर ही दम लिया। कलाकार तो उनकी निगाह मे कई थे किन्तु उन्होंने इन्हे ही क्यो उस पद पर साग्रह बिठाया। इसका मूल कारण यह था कि वे मात्र कलाकार ही नहीं थे कला जिस चरम उद्देश्य को लेकर चलती है उसके मर्मज्ञ भी थे।

तथा अपने चरित्र व व्यक्तित्व के बल पर वे छात्रो को सच्चे कलाकार बना भी सकते थे ।

गुरुदेव का यह चयन उपयुक्त ही था । भारतीयता से अनुप्राणित शान्ति-निकेतन मे आकर नन्दलाल बोस का भी हित हुआ और शान्ति निकेतन का भी । उनकी उच्चतम—कला-साधना और अथक श्रम के परिणामस्वरूप उनकी व शान्ति निकेतन की यश.श्री भारत मे ही नहीं विदेशो में अपनी विजय पताका फहराने लगी । देश-विदेश से छात्र, कलामर्मज्ञ व पर्यटक कविवर की इस कर्म-स्थली पर पहुँचने लगे । कलाध्यक्ष के रूप मे नन्दबाबू ने विश्व-स्तर पर ख्याति अर्जित की थी । उनके कार्यों से प्रभावित होकर वाराणसी विश्व-विद्यालय ने उन्हे 'डाक्टरेट' व 'विश्व भारती देशिक' की मानद उपाधियो से अलंकृत किया । उन्हे राष्ट्रपति-पदक से भी सम्मानित किया गया ।

अपने शिष्यो की कलागत प्रगति पर वे जितना ध्यान देते थे उनके चरित्र व व्यक्तित्व के विकास पर उससे भी अधिक । उन्हें अभिभावक का सा स्नेह भी देते थे व अनुशासन मे भी रखते थे । विद्यार्थियो के शका-समाधान के लिए वे सदैव तत्पर रहा करते थे । अपनी तरफ से वे छात्रो को मूल्यवान स्केच भी दे दिया करते थे । वे उन्हे सदा प्रेरित करते थे कि वे दत्त-चित्त होकर कला साधना करे । अपने उद्देश्य मे सफल हो । अच्छे कलाकार बने किन्तु कला बेचने, उससे अनुचित लाभ उठाने की भूल कभी न करे । "कला एक ईश्वरीय सामर्थ्य है । इसका गलत दिशा मे प्रयोग किया गया तो अर्थ का अनर्थ ही हो जायेगा ।" उनका यह कथन आज कला जगत् मे सत्य सिद्ध हो रहा है । आज का पथभ्रष्ट कलाकार मनुष्य-स्वभाव की स्वाभाविक कमजोरियो को जानकर, उन्हे विकृत खाद्य-सामग्री देकर व्यावसायिकता पर उतर आया है जिससे समाज का बड़ा अहित हो रहा है ।

वे अपने शिष्यो को समय-समय पर निम्नलिखित आशयो के निर्देश दिया करते थे जिससे वे कला के महान उद्देश्य से भटक कर स्वार्थ व अश्लीलता के इन्द्रजाल मे ही फँसकर न रह जायँ ।

"शिल्पी का मन और स्वभाव शीशे की भाँति स्वच्छ होना चाहिए । मानसिक-स्वच्छता तो होनी ही चाहिए । विशेष रूप से चारित्रिक निर्मलता तो होनी ही चाहिए ।"

"शिल्पी का स्वभाव नम्र तथा विनय-शील होना चाहिए अन्यथा अहकार व कुशल-शिल्पियों के प्रति द्वेष उसका पथ अवरुद्ध कर उसका पतन कर देंगे ।"

विश्व मानव, परमात्मा का प्रेमी व भक्त सहृदय प्राणी होना शिल्पी की अनिवार्य अर्हता है । तभी सफल अभिव्यक्ति सम्भव होती है ।

"अर्थ और यश के लिए उसे अपनी कला बेचनी नहीं चाहिए । यह कठिन अवश्य है पर असम्भव नहीं ।"

समय-समय पर वे इस आशय के लेख अपने संस्थान की पत्रिका मे प्रकाशित भी करते थे ताकि कला के महान उद्देश्य की रक्षा हो सके—कलाकार अपने पतन से बच सके ।

"उदर पूर्ति तो होनी ही चाहिए । जीवित रहने के लिए धन की आवश्यकता भी होती है । लेकिन धन संचय करके बड़ा आदमी होने का लोभ मनुष्य का पतन है । पेट के लिए और लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए लक्ष्मी की उपासना करने मे बड़ा अन्तर है ।" इन मान्यताओ के मानने वाले नन्दबाबू पूरे आध्यात्मिक ठहरते हैं ।

उनके चित्रो के विषय भी अपनी भावनाओ, मान्यताओं के अनुरूप धार्मिक ही हैं । पौराणिक व धार्मिक आख्यानों को उनकी सजीव तूलिका ने प्राणवान बना दिया है । कलाकार के गौरवमय दायित्वो को भान करने के लिए उनका यह जीवन निश्चय ही एक प्रकाश-दीप का काम करेगा ।

सफल सोद्देश्य पत्रकार—
अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी जी—सन् १९०० मे एन्ट्रैन्स पास किया और आगे पढ़ने का विचार करने लगे परन्तु यह विचार कल्पना ही बनकर रह गया । एक माह के भीतर-भीतर वाजपेयी जी की माता और बड़े भाई दोनों चल बसे । उस समय गृहस्थी का भार बड़े भाई के कन्धों पर ही था । वृद्धावस्था के कारण पिता तो कुछ कर नहीं पा रहे थे । परिवार की रीढ़ टूट गयी और बीस वर्षीय वाजपेयी जी के सम्मुख एक चिन्ताजनक-समस्या उत्पन्न हो गयी । पढ़ाई अब सम्भव नही थी—माता और भाई की वियोग व्यथा, घर मे वृद्ध पिता और अन्य अवयस्क परिजन इन सब समस्याओ ने मिलकर चारों ओर अन्धेरा कर दिया ।

न चाहते हुए भी उन्हे काम तलाशना पड़ा । मन से तो बड़ी साध थी पढ़ने की परन्तु परिस्थितियो के हाथो विवश ही तो है मनुष्य ! विपत्तियाँ जब आती हैं तो भविष्य के सब सँजोये सपने टूटकर बिखर जाते हैं और मनुष्य को अनचाहे भी उनसे संघर्ष करना पड़ता है । कई लोग तो ऐसे होते हैं जो इस विषम स्थिति में स्वयं को लुटा-पिटा अनुभव कर हाथ पर हाथ रख बैठ जाते हैं । वे जीवित तो रहते है, किसी तरह जीवन को बोझ समझकर उसे ढोते रहते हैं । सचमुच वे मृत्यु का ही आह्वान करते हैं । दूसरी प्रकार के लोग—परिस्थितियो से विवश होते हुए भी उनका सामना करने के लिए हुकार कर उठ खड़े होते है और तब तक संघर्ष करते रहते हैं जब तक कि उन पर विजय प्राप्त नहीं कर लेते ।

अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी दूसरे प्रकार के व्यक्तियों मे से निकले । उन्होंने दुर्भाग्य और संकट की हर चुनौती तथा स्थिति को स्वीकार किया और तमसाच्छादित वातावरण में भी प्रकाश की किरण ढूँढ ही ली । पढ़ाई का विचार स्थगित कर आगत उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए उन्होंने

३.२६ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

इलाहाबाद बैंक मे नौकरी के लिए आवेदन किया । बैंक अधिकारियों ने उन्हें कलकत्ता-शाखा में नियुक्त किया । कानपुर से कलकत्ता जाने की बात उन्हे समझ में नहीं आयी । आखिर साधारण-सी ही तो नौकरी थी, जिसके लिए इतनी दूर अपना घर-परिवार छोड़कर जाना उन्होने उपयुक्त नहीं समझा । वे कुछ महीनों तक इधर-उधर दूसरे काम की तलाश मे भटकने लगे । परन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली ।

निदान, कलकत्ता जाना ही स्वीकार करना पड़ा । परन्तु विलम्ब हो जाने के कारण उनकी नियुक्ति रद्द कर दी गयी थी । इसलिए उन्हे काफी भाग दौड़ करनी पड़ी । आखिर अप्रैल १९०२ मे वे कलकत्ता की बैंक शाखा मे कर्मचारी बनकर चले गये । यह नौकरी प्राप्त किये अभी अधिक समय नहीं हुआ था कि वे ऊब गये । बचपन से स्वतन्त्र और स्वच्छन्द-वातावरण में रहे वाजपेयी जी का मन अपने ही समान अनुपम गोरे अधिकारियो की डाँट-फटकार सुनने के लिए राजी कैसे हो सकता था । यह नौकरी उन्हें पराधीनतन्त्र की अवाछनीय गुलामी लगी । ऊब जाने का दूसरा कारण उनके व्यक्तित्व की वह विशेषता भी थी जिसके कारण वे मन ही मन विदेशी-दासता की बेड़ियो को तोड़ फेंकने के लिए स्वयं को तैयार कर रहे थे ।

उनके हृदय मे देश-प्रेम की भावनाएँ उमड़ने लगी थीं । भारत-माता को स्वतन्त्र कराने के लिए क्रान्तिकारियों का आह्वान, देश के कोने-कोने मे घट रही अन्याय, उन्मूलन और विरोध की घटनाएँ, उन्हे पुकार रहीं थी और वाजपेयी जी को आत्म-विस्तार की दूसरी परीक्षा के दौर से गुजरना पड़ा । किशोरावस्था मे ज्ञानार्जन को ही अपने जीवन को साथ बनाया और उसे पूरा करने की तैयारी मे लगे तो पारिवारिक उत्तरदायित्वो ने अपनी ओर खींच लिया । अब वे अपनी स्थिति और क्षमता के अनुरूप पारिवारिक कर्तव्यो का पालन कर रहे थे तो देश और समाज पुकार रहा था । वाजपेयी जी ने अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओ को परिवार के लिए तजा और अब पारिवारिक सौख्य को समाज की वेदी पर कुर्बान करने की बारी आयी थी ।

इसके लिये धनोपार्जन की आवश्यकता ने भी कुछ समय तक अवरोध पैदा किया परन्तु वाजपेयी जी इस आवश्यकता को अधिक समय तक महत्व नही देते रहे । उनके अन्तःकरण ने निरन्तर इस बात के लिए प्रेरित किया ...क सम्पदा जो गुलामी के बन्धन स्वीकार कर अर्जित की ...ती है, उसकी अपेक्षा तो निर्धन और गरीब ही रहना ...च्छा । धनागम की इच्छा और निर्बन्ध स्वतन्त्रता की ...कांक्षा—इन दोनो के बीच काफी समय तक अन्तर्द्वन्द्व ...ता रहा । द्वन्द्व-पूर्ण इस मानसिक स्थिति मे उन्होने तीन ...काटे और अन्ततः नौकरी से त्याग-पत्र दे ही दिया ।

सत् और असत् के मानसिक सघर्ष में भी सत् के ...अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी का जन्म ३० दिसम्बर, ... को हुआ । उनके पिता कलकत्ता में दलाली आढ़त का काम करते थे और यदा-कदा ही कानपुर आया-जाया करते थे । उस समय सभी सरकारी कामकाज उर्दू तथा अँग्रेजी हुआ करते थे इसलिए आगे चलकर अच्छी नौकरी मिले की आशा से वाजपेयी जी को उर्दू और फारसी की शिक्षा ही मुख्य रूप से दी गयी तथा बाद में अँग्रेजी भी ... परन्तु हिन्दी का तनिक भी ज्ञान उन्हें नहीं मिल सका । ... समय जब वे कलकत्ता गये तब भी वे केवल टूटी-फूटी हिन्दी ही लिख सकते थे ।

सत् और असत् के अन्तर्द्वन्द्व में भी सत् का ... करने वाले वाजपेयी जी ने जब १९०५ में बैंक कर्मचारी पद से त्यागपत्र दिया तो अब क्या करेंगे इस सम्बन्ध ... उनके पास कोई योजना नहीं थी । इस्तीफा देते समय ... चल रहे बंगभंग के विरुद्ध आन्दोलन की ओर ही उनका ध्यान था । उन्हीं दिनो कलकत्ता से निकलने वाले हिन्दी ... 'बंगभाषी' की बड़ी धूम थी । इस पत्र का मैनेजर वाजपेयी जी के रिश्ते में भतीजा लगता था ।

नौकरी छोड़ने के बाद रोजगार-व्यवस्था का प्रश्न उठा तो उन्होंने अपने भतीजे की सहायता ली और उन्हें ... बंगभाषी में काम मिल भी गया । वेतन तो बैंक से काफी कम था परन्तु वाजपेयी जी यहाँ सन्तुष्ट रहे क्योंकि काम में भी उनका मन लग गया था और न किसी भी प्रकार विदेशी सरकार की गुलामी ही थी । समाचार पत्र चलाने, सम्पादन करने और प्रेस का बहुत-सा अनुभव वाजपेयी जी ने यहाँ प्राप्त किया और उन्हे सम्पादन, समाचार प्रेस आदि के काम रुचिकर भी लगे । यह रुचि निरन्तर विकसित होती रही ।

परन्तु बंगभाषी की नौकरी भी उन्होने कुछ ही वर्षों तक की थी । स्वाधीनता-आन्दोलन मे भाग लेने के लिए वे नौकरी छोड़कर आगे आये । इस आन्दोलन मे ही उनका सम्पर्क क्रान्तिकारी (बाद मे योगीराज) अरविन्द तथा दादा भाई नौरोजी से हुआ । दूसरी ओर बाबूराव विष्णु पराड़कर, सखाराम गणेश देउसकर जैसे प्रभृति विद्वानो से हुआ जो उस समय हिन्दी के लिए काफी काम कर रहे थे । उनके तथा अन्य साथियो के प्रयासो से बगाल नेशनल कालेज मे हिन्दी के अध्ययन की भी व्यवस्था हुई थी । इस कालेज मे हिन्दी पढ़ाने के लिये योग्य व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव हुई और वाजपेयी जी पर जाकर सब की दृष्टि टिकी थी । यद्यपि उन्होने स्कूली शिक्षा तो इतनी प्राप्त नहीं की थी जिसके कारण वे लेक्चरार के पद के योग्य कहे जा सके परन्तु स्वाध्याय से उन्होंने इतना ज्ञान अवश्य अर्जित कर लिया था कि वे उस काम को आसानी से कर सके । जिस व्यक्ति को कालेज मे पढ़ने का मौका नहीं मिला वह अपनी स्वय उपार्जित विद्या-बुद्धि के बल पर कॉलेज के विद्यार्थियो को पढ़ाने योग्य सिद्ध हुआ ।

लेक्चरार की अन्य व्यवस्था हो जाने के बाद वाजपेयी जी का रुझान पत्रकारिता की ओर हुआ । उन्होने 'नृसिंह' मासिक पत्र निकाला जिसमे राजनीतिक टिप्पणियाँ तथा देश

म से ओत-प्रोत रचनाएँ प्रकाशित होती थीं । परन्तु अर्थाभाव के कारण यह पत्र अधिक समय तक नहीं निकल सका । बीच मे ही इसे बन्द कर देना पड़ा ।

१९११ मे भारत मित्र के स्वत्वाधिकारी बापू जगन्नाथ दास जी ने वाजपेयी जी को बुलाकर इस पत्र का सम्पादन भार सौपा । उस समय तक हिन्दी का एक भी प्रतिनिधि दैनिक नहीं निकलता था । वाजपेयी जी का ध्यान इस ओर तो था परन्तु आर्थिक-कारणो से अभी तक उन्होने इस दिशा मे कोई प्रयास नहीं किया था । अब जब उनका प्रभाव और वर्चस्व भारत मित्र के माध्यम से प्रतिष्ठित हो चुका था तो उन्होने पत्र के मालिक को इसका दैनिक-संस्करण निकालने का परामर्श दिया । नवम्बर १९११ मे भारत-मित्र दैनिक हो गया । इस परिवर्तन से वाजपेयी जी पर कार्य का बोझ बढ़ा । वे अहर्निशि पत्र को चलाने और उसे सँवारने मे लगे रहे । घर से भोजन-मात्र का सम्बन्ध रह गया । शेष सारा दिन और रात भारत मित्र कार्यालय मे ही व्यतीत होने लगे ।

रात-दिन काम करते रहने के कारण वाजपेयी जी का स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगा । वे काफी कमजोर हो गये । यहाँ तक कि उन्हे चलने मे भी कठिनाई होती थी फिर भी उन्होने काम करना नहीं छोड़ा । उनके साथी और स्वयं मालिक भी विश्राम के लिए कहते तो वे उत्तर देते कि मुझे अपने सुख-दुख का नहीं वरन् उस कार्य का ध्यान रखना चाहिए जिसका सम्बन्ध लाखो करोड़ो लोगो से है । अनवरत अविश्राम, श्रम के कारण उनका शरीर इतना कमजोर हो गया के वाजपेयी जी को बिस्तर पकड़ना पड़ा । उनके स्वस्थ होने तक समाचार-पत्र बन्द ही पड़ा रहा ।

जब वे ठीक हुए तो पुनः भारत-मित्र का दैनिक-सस्करण छपने लगा । अबकी बार कुछ नयी व्यवस्था हुई थी, जिससे वाजपेयी जी को अधिक काम न करना पड़े परन्तु वे कब मानने वाले थे । पत्र के सम्पादन का अधिक से अधिक काम वे स्वयं ही देखते थे । तब कही जाकर उन्हे सन्तोष होता था । सन् १९१४ मे महायुद्ध छिड़ा तो जन-साधारण को युद्ध के समाचार और अन्य आवश्यक बातो से अवगत कराने के लिए उन्होने अपने साथियो सहित फिर अनथक परिश्रम किया । अब सम्पादन का भार वे तथा उनके प्रिय सहयोगी जिनमे बाबूराव विष्णु पराड़कर, बद्रीनाथजी वर्मा आदि थे, सम्हालते थे । सब लोग मिशनरी भावना से काम करते थे । युद्ध के दौरान फिर कार्य भार पड़ा । वाजपेयी जी पहले से ही रुग्ण तो थे ही अब और भी अधिक बीमार रहने लगे । युद्ध समाप्त होने के बाद उन्होने भारत-मित्र छोड़ दिया और रोगोपचार के लिए काशी चले गये ।

१९२० मे स्वस्थ होने पर वाजपेयी जी ने 'स्वतन्त्र' पत्र निकाला इस पत्र के माध्यम से नाम के अनुरूप स्थिति लाने के लिए वाजपेयी जी ने प्रयत्न भी किया । असहयोग, सत्याग्रह और अन्य आन्दोलनों के समाचार सुर्खियो मे छपते थे । उस समय यह पत्र स्वतन्त्रता का अनूठा प्रचारक था । परिणामस्वरूप यह सरकार की निगाह मे आ गया और दमननीति का शिकार हुआ । कानून से हाथ बँध जाने के कारण वाजपेयी ने अपने ढंग से देश-सेवा का कार्य किया ।

उन्होने ऐसे साहित्य की आवश्यकता अनुभव की जो नवयुवको मे देश प्रेम की भावनाएँ जगाने के साथ-साथ उन्हे रचनात्मक दिशा भी प्रदान करे । इस उद्देश्य से उन्होने प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों के जीवन-चरित्र, स्वातन्त्र्य की प्रेरणा देने वाले ग्रन्थ तथा भारत का प्राचीन-साहित्य पढ डाला ।

हिन्दी के महत्व और आवश्यकता को उन्होने बहुत पहले ही देख लिया था । वे जानते थे कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति और प्राप्त कर लेने के बाद उसकी सुरक्षा के लिए अपनी भाषा का होना जरूरी है । इस उद्देश्य से हिन्दी प्रचार के लिए उन्होने कई पुस्तके लिखीं । व्याकरण से लेकर इतिहास और राजनीतिक दर्शन तक कोई भी विषय उन्होने अछूता नहीं छोड़ा । सम-सामयिक साहित्य के अन्तर्गत उन्होने सरकार की निगाह में आ जाने के बाद भी काफी पुस्तके ऐसी लिखी जो आगे चलकर प्रेरणा स्रोत बन गयीं ।

वाजपेयीजी अपने समय के विख्यात और सफल पत्रकार रहे है, साथ ही साथ साहित्यकार भी । इन विधाओ के माध्यम से उन्होने सर्व साधारण से बुद्धिजीवियो तक को जिस निष्ठा और भावना लोक की ओर उन्मुख किया उनमें उनका द्रष्टव्य प्रयास कम, अन्तरंग प्रयास ही अधिक प्रभावोत्पादक है ।

एक दुर्लभविभूति अधुनातन ऋषि—किशोरलाल मश्रुवाला

युग पुरुष महात्मागाँधी की मृत्यु के उपरान्त उनके प्रियपत्र और जनता तक गाँधी जी के ताजा विचारो को पहुँचाने वाले लोकप्रिय जनसंदेश वाहकपत्र—हरिजन के पुनः प्रकाशन की बात उठी तो सम्पादक की तलाश हुई । हरिजन पुनः निकले पर लोगों को यह अनुभव न हो कि वह गाँधी जी के उन विचारों से रिक्त हो गया है जो उन्हे पढने को मिलते थे । इसके लिये योग्य सम्पादक मिले श्री किशोरलाल मश्रुवाला । जिन्होने हरिजन का सम्पादन उसी कुशलता व बुद्धिमता से किया कि पाठक उसमे रंचमात्र भी कमी नहीं पा सके ।

श्री किशोरलाल मश्रुवाला गाँधीवाद के विश्वस्त और सिद्धहस्त व्याख्याता थे । उनको जब हरिजन के सम्पादन का गुरुत्तरदायित्व सौपा गया तो उन्होने अपनी दुर्बल काया और अपने जर्जरस्वास्थ्य को अपने स्वास्थ्य और सुख से उच्च स्थान देकर उसे स्वीकार कर लिया, स्वीकार ही नहीं किया वरन् पूरे दायित्व और निष्ठा के साथ उसे पूरा किया ।

गाँधीवाद और अन्यवादों को बीच श्री किशोरलाल जी एक महत्वपूर्ण अन्तर देखते थे । वे कहते थे—आज के अन्य सब वाद सुविधावादी हैं । मनुष्य के पास यदि फुर्सत है सुविधा है, तो वह उस वाद को माने, पर गाँधीवाद मे

यह दोष नहीं है यह जीवन के साथ चलने वाला वाद है । यह सुविधावादी नहीं है । अर्थशास्त्र कहता है मानव को सबसे अधिक सुविधाएँ मिलनी चाहिए । गाँधीवाद इसके विपरीत है, सुविधाएँ मनुष्य को अकर्मण्य और आलसी बना देती है साथ ही अहम्मन्य व हृदयहीन भी ।" गाँधीवाद के परम-भक्त के रूप मे उन्होने इस आदर्श को अपने जीवन में उतार कर दिखाया । उन्होने सुविधाओं की कभी चिंता नहीं थी । वस्तुतः सुविधाएँ मनुष्य के लिये अफीम का काम करती हैं । जो व्यक्ति असुविधाएँ झेलता है वह अपनी वास्तविक-शक्ति को पहचान सकता है उसे जगाने के साथ ही अपने व्यक्तित्व को भी उच्च-शिखर तक पहुँचा सकता है । पर, सुविधावादी सुविधाओ के जंजाल मे ही पड़ा रह जाता है ।

श्री किशोरलाल मशरूवाला गाँधीवाद के ही नहीं अन्य विषयो के भी विशद व्याख्याता थे । गाँधीवाद को उन्होंने देख परख कर अपने लिये और विश्व के लिये उपयोगी स्वीकार किया था । उनकी दृष्टि में विद्वत्ता का कुछ अर्थ नहीं था यदि उसका लाभ विद्वान व्यक्ति स्वयं ही न उठा सके । वे केवल कहने-सुनने या लेखनी का चमत्कार बताने देने तक में ही विद्वत्ता की सार्थकता नही मान लेते थे । उनके लिये विद्वत्ता मात्र बौद्धिक-विकास नहीं था । उन विचारों उन सिद्धान्तों को जीवन मे उतारने की अनिवार्यता को वे उसी सजगता से एकत्रित करते थे । गाँधीवाद के विद्वान होने के साथ ही उन्होंने गाँधीवाद के सिद्धान्तो को अपने जीवन मे उतारा भी था ।

हर किसी के विचारो को जीवन मे परखे बिना क्रियात्मक कसौटी पर कसे वे मान लेने वाले लोगो मे से नहीं थे । विचार को पहले आचरण की कसौटी पर उतार कर उसकी सच्चाई और उपयोगिता स्वीकारने के बाद ही वे उसको जनता के सामने रखते थे. देख परख कर स्वीकार करने के बाद उसमे निष्ठा भी पूरी रखते थे और उन्हे अपने जीवन मे उतार सके थे । अपनी इसी सजगता, सक्रियता और निष्ठा के कारण वे हरिजन का सम्पादन उसी कुशलता से कर सके थे जिससे कि गाँधी जी किया करते थे । सिद्धांत और जीवन-व्यावहार की यह अभिन्नता गाँधीजी और उनके अनुयायी किशोरलाल भाई मे समान रूप से देखी जाती है ।

विचारों की सत्यता और उपयोगिता की कसौटी ही यही है कि विचारों का प्रणेता स्वयं उसे अपने जीवन में उतार कर बता देता है । उनकी व्यावहारिकता, उपयोगिता सिद्ध करके । बहुत से व्यक्ति मुँह से तो बड़े-बड़े सिद्धांत बघारते हैं, पर उनके आचरणो मे उनका लेशमात्र भी अंश नही होता । ऐसे व्यक्ति चाहे कितने ही सिद्धान्तवादी बनते रहे उन्हें निष्ठावान अनुयायियो की सदा कमी ही रहा करती है । उनके आस-पास कथनी और करनी में जमीन-आसमान का अन्तर रखने वाले स्वार्थी लोगो की भीड़ भले ही लग जाये उनके सिद्धान्त धुएँ के बादलों की तरह एक छलावा मात्र रह जाते हैं । किशोरलाल मशरूवाला ऐसे मुखौटे लगाकर फिरने वाले लोगों में से नहीं थे । विचार भले है, उपयोगी है, वे सहज स्वीकार कर उन्हें आचरणों में उतारते थे, तब कहीं उन्हें लेखन मे उपयोग मे लाते थे ।

वे गाँधीवादी इसलिये नहीं बने थे कि इस वाद को गाँधी जैसे विख्यात व्यक्ति ने चलाया था । वे गाँधी जी के परम भक्त थे । उनके विचारों के परम भक्त थे । इसके पीछे एक ही बात थी कि गाँधीवाद सच्चावाद लगा था उन्हें । विवेक की कसौटी पर कसकर ही उन्होंने यह वाद स्वीकार किया था गाँधी जी की प्रसिद्धि के कारण नहीं हरिजन का सम्पादन करते हुए उन्होंने किसी भी व्यक्ति की गलत आलोचना नहीं की, किसी कार्य की गलत आलोचना नहीं की थी । पर यदि किसी ने गलत कार्य किया है तो वह चाहे उनका परम मित्र या पक्का गाँधीवादी ही क्यों न हो वे उसकी आलोचना करने मे पीछे नहीं रहे । सरदार पटेल, राजगोपालाचार्य, पं. गोविन्द वल्लभ पंत और पण्डित नेहरू जैसे प्रख्यात नेता भी उनकी आलोचना से बच नहीं सके थे । उनकी यह आलोचना इतनी निष्पक्ष होती थी कि उनसे असहमत होने के लिये कोई स्थान ही नहीं था । जिसकी आलोचना होती वह अपने को किशोर लाल भाई का अहसानमंद ही अनुभव करता था कि उन्होंने मेरी भूल सुधार कर बड़ी कृपा की है । उनकी आलोचना में राग-द्वेष को कतई स्थान नही था ।

लम्बे समय से उन्हे श्वास की बीमारी थी । इस बीमारी का कोई स्थायी इलाज नही था । उसका एक सामयिक इलाज उन्होने यह खोज निकाला था कि जब श्वास का दौरा उठता तो वे ऊँकड़ू बैठ जाते । थोड़ी ही देर मे दौरा समाप्त हो जाता था । इस बीमारी को लेकर वे कभी चुप बैठे नहीं रहे । बीमारी अपनी जगह स्थायी थी तो भी वे मनुष्य जीवन के गिने हुए साँसो मे से प्रत्येक का उपयोग करने से चूकना नहीं चाहते थे । उनके सेवाकार्यों मे यह बीमारी कभी व्यवधान नहीं बन सकी ।

वे १९४२ के सत्याग्रह मे भाग लेने के कारण जब पुलिस द्वारा गिरफ्तार किये जा रहे थे तो उनकी धर्म पत्नी गोमतीदेवी उनकी जेब में थोड़े से लोंग डालने लगीं कि खाँसी का दौरा उठे तब वे उन्हे काम मे लें । वे मना करते हुए बोले—"अब हमारे शरीर और स्वास्थ्य की चिंता सरकार को करनी है ।" गाँधीवाद को उन्होने किस निष्ठा से अपने जीवन मे उतारा था इसकी यह अनोखी मिसाल है, वे सुविधावादी नहीं कर्मण्य बने ।

उन्होने गाँधीजी द्वारा प्रेरित कई रचनात्मक संस्थाओं का संचालन किया पर वे अपना निर्वाह व्यय, जो अति अल्प था एक ही संस्था से लिया करते थे । बाकी संस्थाओं का काम वे अवैतनिक सेवक के रूप मे ही किया करते थे । उन्होंने कई पुस्तके लिखीं, लेख लिखे, हरिजन का सम्पादन किया, पर उन्होने लेखन, सपादन को आय का साधन कभी नहीं बनाया । पुस्तकों की रायल्टी व लेखों का पारिश्रमिक लेना उनकी दृष्टि से गलत था । वे कहा करते थे—"ईश्वर

अनमोल होते है । उनका मूल्य चुकाना किसी के द्वारा भव नहीं और फिर जो विचार लेखक देता है वे सारे के उसके अपने तो नहीं होते वह भी तो कहीं से कुछ न छ ग्रहण करता है । उसके अन्तस्फूर्ति विचार तो ईश्वरीय नुदान होते हैं भला उनका मूल्य लेना और दे सकना कहाँ भव है ।"

उपर्युक्त आचरण से स्पष्ट हो जाता है कि वे लोभ से कतने ऊपर उठ चुके थे । एक लेखक जो पुस्तक लिख ाता है उसकी रॉयल्टी उसके बेटे-पोते ही नहीं कितनी ही ीढ़ियों तक को हर नये प्रकाशन पर मिलती रहती हैं । तने बड़े लोभ को उन्होंने किस सहजता से छोड़ दिया यह उनकी महानता को बताने के लिये ही पर्याप्त नही है वरन् दूसरो के लिये प्रेरक भी है ।

बीमारी उन्हे आलसी नहीं बना सकी, विद्वता उन्हें लोभी नहीं बना सकी, पत्रकारिता के क्षेत्र मे रहकर भी वे रागद्वेष से ऊपर उठे रहे और गाँधीजी की तरह गृहस्थी होते हुए भी ब्रह्मचारी बने रहे । अपनी धर्मपत्नी श्रीमती गोमतीदेवी को उन्होंने अपने सिद्धान्तो के अनुरूप ढाल कर जीवन के उत्तरार्द्ध मे ब्रह्मचारी व्रत को अपनाकर एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया ।

स्वतन्त्रता-आंदोलन मे उन्होंने बढ़ चढ़कर भाग लिया था । श्वास रोग होने के कारण उनकी धर्मपत्नी तथा मित्र-परिजन उन्हे कहते थे—"आपका स्वास्थ्य इस बात की इजाजत नहीं देता कि आप इस आंदोलन में भाग लें । आपको कष्ट होगा ।" इस पर वे हँसते हुए कहते—"यदि कष्ट होगा, इस भय से कोई काम ही न किया जाय तो फिर इस जीवन का लाभ ही क्या ? यह जीवन ही कष्टो से भरा हुआ है । कष्टों से तो लड़ना चाहिए न कि डरना ।" आराम तो हराम मानने और आलस्य से दूर रहने के कारण श्वास की बीमारी भी उनकी राष्ट्र-सेवा में बाधक नहीं बन सकी । यदि वे बीमारी का बहाना बनाकर घर मे ही बैठ जाते तो उनके लिये समय काटना भी एक समस्या बन जाती । वे न स प्रकार यश, कीर्ति अर्जित कर पाते, न सुर दुर्लभ-मनुष्य न्म को सफल एवं सार्थक बना पाते ।

उनकी विद्वता, कर्मण्यता और काम क्रोध, मोह आदि र विजय पाये हुए व्यक्तित्व को देखते हुए उनके साथी सहयोगी उन्हे ऋषि-कल्प किशोरलाल भाई कहा करते थे । वस्तुतः उन्होंने अपने जीवन को प्राचीन भारतीय-ऋषि-मुनियो जैसा ही ढाल लिया था ।

जीवन जीने की कला, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र तथा गाँधी दर्शन पर उन्होने बहुत सी पुस्तके लिखी हैं । इनमे विषयानुरूप विशद विवेचन किया गया है । उनका यह लेखन विशुद्ध रूप से लोक-जागरण व राष्ट्रोत्थान के लिये था, अपनी विद्वता का प्रदर्शन या नाम की कामना से उन्होंने यह सब नहीं किया । वे जो विचार समाज को देना चाहते थे उसे पहले अपने जीवन मे ढाल कर देख लेते थे । यदि वह लोकोपयोगी होता था तो उसे जनमानस तक पहुँचाया करते थे । कोई ऐसा-वैसा अनुपयोगी विचार कभी उनकी लेखनी और वाणी के माध्यम से जन-मानस तक नहीं पहुँचा जिससे लाभ के स्थान पर हानि हो ।

गाँधी जी की मृत्यु के पश्चात् उनके वरिष्ठ उत्तराधिकारी संत विनोबा भावे ने गाँधी जी के नाम पर अपना उल्लू सीधा करने वाले राजनीतिज्ञों की तरह उनके नाम को अपने कार्यों के साथ नहीं जोड़ा । उन्होने गाँधी जी के विचारों पर ही आधारित व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया । किशोरीलाल मश्रुवाला ने अपने जीवन के अंतिम समय में प्रशंसा व प्रसिद्धि से दूर रहते हुए ठोस रचनात्मक कार्य करने के लिये सर्वोदय को उपयुक्त माध्यम मानकर, इस आंदोलन मे भाग लिया ।

वे चाहते तो सिद्ध गाँधीवादी के नाते राजनीति में उच्च आसन पा सकते थे । पर उन्होंने कभी ऐसी छोटी बात नहीं सोची । उनके चिंतन और उनकी विचार शक्ति इतनी प्रखर थी कि पं. नेहरू व डा. राजेन्द्र प्रसाद जैसे राजनेता उनके पास जाकर परामर्श प्राप्त करते थे ।

एक दिन किशोरीलाल मश्रुवाला ने गान्धी जी से कहा—मै आपका अनुयायी नहीं, आपके साथ चलने का प्रयत्न करता हूँ । आपको जिस सत्य की पहचान है उसी को अपने विवेक के आधार पर मैं भी समझने के लिए सचेष्ट हूँ ।

उनका आशय यह था कि अनुयायी बनकर पीछे चलने से वे स्वतन्त्र-चिन्तन न कर सकेंगे । किसी महापुरुष के पीछे चलने पर हम उसकी पीठ भर देख सकेंगे । मुँह नहीं । इससे उसके चले जाने के बाद दिशा भूल जाने का खतरा रहेगा । साथ चलने से उसके चले जाने के बाद भी अपने को असहाय एवं अपग अनुभव न करेंगे क्योंकि तब सत्य हमारा अपना सत्य भी बन चुका होगा ।

सफल पत्रकार, सजग समाजसेवी—
गंगाप्रसाद वर्मा

"पिताजी मैं भी पढ़ने जाऊँगा ।" अपने आठ वर्षीय पुत्र की इस आकांक्षा को सुनकर उसके पिता को हर्ष होना चाहिए था । किन्तु पिता की आँखे भर आयीं । वह अपने पुत्र की यह आकाक्षा पूरी करने मे असमर्थ था । घर की आर्थिक-स्थिति और अपनी रुग्णावस्था को देखकर उसकी आँखे भर आयीं वह न 'हाँ' कह सका और न 'मना' ही कर सका ।

अभावो मे पले बालक को परिस्थितियों ने समय के पहले ही वयस्क बना दिया था ।' वह अपने पिता की आर्थिक-विवशता को समझ गया । उसने उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा—'पिताजी आप चिन्ता न करे मैं इधर-उधर लोगों

के घर में काम करके घर का खर्च भी चलाऊँगा और पढ़ूँगा भी ।"

यहीं संकल्पशील बालक अपने कमजोर कन्धों पर घर गृहस्थी का जुआ भी उठाये रहा और उसकी पढ़ाई भी करता रहा । इस प्रकार उसने नवीं कक्षा उत्तीर्ण कर ली । दसवीं पढ़ा तो सही लेकिन परीक्षा नहीं दी क्योंकि जितनी शैक्षणिक योग्यता उसे अर्जित करनी थी, कर ली थी । अब कर्म क्षेत्र उसकी प्रतीक्षा कर रहा था ।

पढ़ते हुए वह एक छपाई प्रेस में काम करता था । इस युवक की योग्यता और लगन से प्रेस का मालिक बहुत प्रभावित था । उसने अपने प्रेसमालिक से अपने मन की बात बतायी कि वह एक समाचार पत्र निकालना चाहता है । प्रेस के अनुभवी मालिक ने युवक मे एक पत्रकार के बीजांकुर देखे थे । अत. उसने युवक की भरपूर मदद की और वह पत्रकारिता जगत् में चमक उठा । यह स्वनिर्मित व्यक्तित्व बाद मे गंगाप्रसाद वर्मा के नाम से भारतभर में एक कर्मठ लोक नेता, समाजसेवी तथा लखनऊ नगर के प्रभावशाली व्यक्तियो मे एक माना गया ।

उनके बचपन के संघर्ष की कहानी उन्हीं की कहानी रही हो ऐसी बात नही, अभाव तथा विषम परिस्थितियो से जूझते हुए कितने ही महत्वाकांक्षी व्यक्ति आगे बढ़े और उन्होंने श्रेय सम्मान पाया । विपन्नता हारे हुए आदमी के लिये अभिशाप होती है किन्तु सकल्पवानो के लिये यही वरदान भी बन जाती है ।

गंगाप्रसाद वर्मा ने मैट्रिक पास किये बिना ही 'हिन्दुस्तानी' नामक उर्दू पत्र निकाला । कुछ ही दिनों बाद उन्होंने इसके साथ ही साथ 'एडवोकेट' नामक अर्द्ध साप्ताहिक अँग्रेजी पत्र भी निकालना आरम्भ कर दिया । इन दोनों पत्रो का सम्पादन उन्होंने बड़ी कुशलता तथा बुद्धिमत्तापूर्वक किया ।

उन दिनो समाचार पत्र प्रकाशन का कार्य टेढ़ी खीर था । आज की तरह न तो समाचार पत्र पढ़ने वाले लोग अधिक थे क्योंकि शिक्षा का प्रसार उतना नही था । विज्ञापनो की आय नगण्य से मिलती थी । इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय-भावनाओ का प्रचार-प्रसार करने वाले समाचार पत्रो पर साम्राज्यवादी सरकार की गिद्ध दृष्टि लगी ही रहती थी । ऐसी स्थिति मे इस क्षेत्र मे सफल होना गंगाप्रसाद जी की व्यावसायिक सूझबूझ का परिचायक है जो अभावो मे पलकर बड़े होने के कारण स्वयमेव उनमे आ गयी थी ।

राष्ट्रीय गतिविधियो मे उनकी अत्यधिक रुचि थी । १८८५ में बाईस वर्ष की अल्पायु में वे बम्बई के नेशनल कॉंग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे सम्मिलित हुए तो सदा के लिए कॉंग्रेस के होकर रह गये । अपने पत्रो के माध्यम से उन्होंने देश-भक्ति की भावनाओ का पादप जन-जन के हृदय मे आरोपित करने का सामयिक दायित्व निभाया था ।

सरकारी अफसरो की नाराजगी सहते हुए—मित्रो-परिचितो द्वारा उपहास किये जाने पर भी वे नियमित रूप से कॉंग्रेस की प्रत्येक गतिविधियों में भा... रहे थे । कॉंग्रेस के इतिहास में वे ही एक ऐसे व्यक्ति... जो जब तक जीवित रहे उसके प्रत्येक अधिवेशन में भा... लेते रहे थे । कॉंग्रेस में उन्होने एक सामान्य-सदस्य के रूप में प्रवेश किया था । धीरे-धीरे उनकी यह सदस्यता इतनी महत्वपूर्ण होती गयी कि उनकी मृत्यु न होती तो वे कॉंग्रेस के तीसवें अधिवेशन में सभापति के पद पर आसीन कि... जाते । यह सब उनकी सेवाओं को देखते हुए किया ग... था । कॉंग्रेस के तीन प्रयाग के अधिवेशन तथा एक लखनऊ का अधिवेशन उनके सक्रिय सहयोग से ही सफल हो सके थे ।

लखनऊ कॉंग्रेस के अधिवेशन के समय अपने जि... योग्यता तथा प्रबंध कौशल का परिचय दिया, उसे देखकर लोग दंग रह गये थे । श्रीरमेशचन्द्र दत्त जैसे महापुरुषों ने उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी । सच्चे अर्थों में वे प्रशं... के अधिकारी भी थे ।

लखनऊ में उन्होने अपने कार्यों द्वारा वही स्थिति प्र... कर ली थी जो बम्बई से सरफिरोजशाहमेहता ने प्राप्त की थी । वे लखनऊ के जन-जीवन से सदा अभिन्न ही बने रहे । बराबर सत्ताईसवर्ष तक वे लखनऊ के म्युनिसिपलबोर्ड के सदस्य रहे । यह उनकी लोकप्रियता का अनुपम उदाहरण है । लखनऊ का अमीनाबाद पार्क उन्हीं के सद्प्रयासों का फल है । पार्क का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन वायसराय ने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी ।

प्राय: देखा जाता है कि बचपन में जो लोग अभावों मे पलते है वे जब सम्पन्न हो जाते है तो पैसे तथा पद के उनका मोह बढ़ जाता है । किन्तु वे इस मनुष्य स्वभाव की दुर्बलता के कभी शिकार नहीं हुए ।

पत्रकारिता के क्षेत्र मे उनका लोहा अच्छे-अच्छे पत्रकारों ने माना । अच्छे-अच्छे डिग्रीधारी पत्रकार उनके लिये सम्पादकीय तथा अन्य लेख अपने पत्रो मे छापते थे । य... उनके आत्म-विश्वास, कर्मनिष्ठा तथा स्वाध्यायशील प्रवृत्ति के कारण ही सम्भव हो सका था । उन्होने युक्त प्रदेश... हिन्दू सभा के प्रधान की हैसियत से सरकार को वर्न-सरक्यूलर के विषय मे जो युक्तिपूर्ण स्थिर स्मरणीय-पत्र लिखा उसकी देशभर मे बड़ी प्रशसा हुई थी । इस सरक्यूलर के विषय मे 'एडवोकेट' मे जो लेख निकले वे बहुत पसन्द किये गये ।

वे राष्ट्रीय व सास्कृतिक भावनाओ युक्त शिक्षण सस्थानो की स्थापना के पक्ष में थे । वे यह मानते थे कि अँग्रेजी सरकार द्वारा चलाये जा रहे स्कूल व कॉलेजो में हमारी सभ्यता व संस्कृति से घृणा करना सिखाया जाता है । अत: स्वदेशी विश्वविद्यालय खोलना चाहिए । महामना-मालवीय जी ने जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का संकल्प लिया तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा । उन्होने उसके लिये धन एकत्रित करने में जी जान से काम किया । इसी कारण वे विश्व-विद्यालय के सचालक

बोर्ड के सदस्य भी मनोनीत किये गये । आप धन संग्रह के लिये नगर-नगर चन्दा उगाहने वाले प्रतिनिधि मण्डल के साथ घूमे थे । किन्तु वे जीते जी इसको स्थापित हुआ न देख सके ।

उर्दू के अच्छे लेखक व पत्रकार होते हुए भी राष्ट्र भाषा हिन्दी की वे पक्की वकालत करते थे । गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव के अवसर एक विभाग के सभापति की हैसियत से उन्होंने हिन्दी का पक्ष लिया था । वे सदा शैक्षणिक संस्थाओं की गतिविधियों को देखते हुए उनमें किये जाने वाले सुधारो के सम्बन्ध में सचेष्ट रहा करते थे । वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य भी थे ।

५१ वर्ष की अल्पायु मे ही आपका देहावसान हो गया । वे स्वास्थ्य-कॉंग्रेस मे भाग लेने नैनीताल गये । वहीं ठण्डे पानी से स्नान करने के कारण अस्वस्थ हुए तो फिर नहीं उठे । ऐसे पुरुषार्थी समाज-सेवियो के पद चिन्हों पर चलकर हर कोई श्रेय, सम्मान पा सकता है—मनुष्य जन्म सफल कर सकता है ।

राष्ट्रभाषा के सजग प्रहरी—देवकरण भराड़े

देश भक्तो और स्वतन्त्रताप्रेमियो के अथक प्रयत्नों और अगाध बलिदानो के परिणामस्वरूप हमारा देश आजाद तो हुआ परन्तु आजादी के बाद दूसरा गुरुतर दायित्व देश-प्रेमियो के कन्धो पर आया, वह था-सदियो से पैरो तले गये राष्ट्र का नव-निर्माण । इस नव-निर्माण- यज्ञ का पहला चरण यही हो सकता था कि शताब्दियो की दासता भोग चुका जन-मानस खो चुके अपने आत्म-विश्वास और स्वाभिमान को पुनः अर्जित कर सके । इस दिशा मे आजादी के बाद की सीढ़ी पर ध्यान केंद्रित रखने वाले नरवीरो का ध्यान गया था और ऐसे प्रयत्न आरम्भ हुए जिनसे अपने देश, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपनी सभ्यता के प्रति आत्मीयता व भक्ति भावना जागे, उसकी फलश्रुति देशाभिमान के रूप में देखी जा सके । यह तभी सम्भव है जब हम अपनी जीवन दृष्टि को समझने के साथ-साथ उसकी महानता का भी बोध ग्रहण करे ।

इस ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कई देशभक्तों ने हिन्दीप्रचार की योजना बनायी । यद्यपि हिन्दीभाषा मे सारे भारत को एक सूत्र मे बाँधने की क्षमता स्वतन्त्रता से पूर्व ही समझ ली गयी थी और इन अर्थों मे वह यज्ञ भी आरम्भ हो चुका था । लेकिन स्वतन्त्रता के बाद तो यह कार्य और भी द्रुतगति से चल पड़ा । यह बात और है कि अपेक्षित सफलताएँ अभी अर्जित न की जा सकी हो । फिर भी जो कुछ मंजिले प्राप्त की जा सकी है—उनके लिए उन महामानवों के प्रति श्रद्धानत होना ही चाहिए- जिन्होंने इस यज्ञ मे अपने जीवन सहित, क्षमता, शक्ति और सम्पदा की आहुतियाँ दी थीं । ऐसे ही एक महामानव थे भुसावल के श्री देव करण जी भराड़े—जिन्होंने शक्ति भर हिन्दी-भाषा की सेवा की थी ।

यद्यपि भराड़ेजी का कार्यक्षेत्र न तो साहित्य-जगत् था और न ही शिक्षा क्षेत्र । फिर भी इस दिशा में हिंदी जगत की उन्होंने जो सेवाएँ कीं वे राष्ट्र-भाषा प्रेमियों के लिए एक प्रेरणादीप बनकर सदैव प्रकाश उपस्थित करती रहेगी । भराड़े जी का जन्म राजस्थानप्रान्त के नागौर जिले मे बसे एक ग्राम मे सन् १९०२ ई. मे हुआ था । वे माता-पिता की कनिष्ठ सन्तान थे । पिता श्रीलक्ष्मी नारायणजी अच्छे खाते-पीते और मध्यमवर्गीय आर्थिक स्थिति के थे । घर में माता तथा दो बड़े भाई और थे । इस प्रकार पाँच सदस्यो का यह परिवार पारिवारिक सौम्य वातावरण मे रहता था । लेकिन देवकरणजी तथा उनके भाइयों के भाग्य में अब और अधिक मातृ सुख न बदा था । वे अभी बाल्यावस्था को भी पार न कर पाये थे कि माँ का साया सिर से उठ गया । इस अप्रत्याशित संकट ने पूरे परिवार का सुख-चैन छीन सा लिया । जिस हृदय से ममत्व और वात्सल्य की वृष्टि होती रही थी उसे विदा होने पर बच्चे माँ का अभाव अनुभव न करें, लक्ष्मी नारायणजी ने इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा । उस क्षति को ज्यों की त्यो पूरा कर पाना तो असम्भव है परन्तु पिता के ध्यान ने बच्चो को माँ का अभाव अधिक खटकने न दिया । परिणामस्वरूप बच्चे पिता के रूप मे ही अपनी माँ को सामने खड़ा देखने लगे थे ।

इन्हीं दिनो लक्ष्मीनारायण जी के मन मे स्थान परिवर्तन की बात आयी । बच्चों के प्रति प्रेमपूर्ण-वात्सल्य ने उन्हे प्रेरित किया ऐसी स्थितियाँ बनाने के लिए कि उनका भविष्य सुरक्षित बन जाय और उनका जीवन सुख-सुविधाओं मे आसानी से व्यतीत होता रहे । इस विचार से उन्होंने अपना वह पैतृक ग्राम छोड़ दिया और महाराष्ट्र मे आ बसे । सन् १९१४ मे लक्ष्मीनारायण जी ने भुसावल मे अपना कारोबार जमाया तथा बच्चो की शिक्षा व जीवन विकास की व्यवस्था भी की थी । कारोबार के क्षेत्र में भराड़ेजी के पिताश्री ने एक किराने की दुकान में कदम रखा था । उन दिनो चल रही राष्ट्रीयता की हवा से वे भी अछूते न रह पाये थे सो अपने बच्चो के लिए स्कूली शिक्षा का प्रबन्ध तो किया परन्तु यह विचार कभी मन मे नही आने दिया कि बच्चो को सरकारी नौकर बनाना है । वे तो चाहते थे कि लड़के इतना भर पढ़-लिख जायें कि अच्छी सोसायटी मे उठ बैठ सके तथा इस काम काजी जीवन मे कोई असुविधा अनुभव न करें । इतना ही उनके लिए पर्याप्त था ।

भराड़े जी की शिक्षा का तो आरम्भ ही वहीं हुआ था । इधर लक्ष्मीनारायणजी अपनी स्वाभाविक सूझ-बूझ, परिश्रम और लगनपूर्वक किराने की दुकान में लगे रहे । गुजर-बसर हो जाये इतना तो ठीक था परन्तु पर्याप्त यही नही था । उनकी आकांक्षा इस क्षेत्र मे प्रगति और विकास की ऊँची मंजिल प्राप्त करना थी । इसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एकाग्रता, तन्मयता और निष्ठापूर्वक ईमानदारी

को साथ मे रखते हुए वे लगे रहे । यह बीज भी समय पाकर अंकुरित और विकसित होने लगा तथा लक्ष्मीनारायणजी का व्यवसाय फलने-फूलने लगा । ईमानदारी और परिश्रमपूर्वक की गयी लक्ष्मी की आराधना रंग लायी और छह वर्षों मे भराड़े जी की पिताश्री ने अपने कारोबार को इतना बढ़ा लिया कि सन् १९२० मे जयनारायण कन्हैयालाल एण्ड कम्पनी के नाम से एक संयुक्त-क्षेत्र स्टोर की स्थापना कर ली । यह स्टोर भराड़े जी के अँग्रेजो के नाम पर खोला गया था परन्तु संचालन और व्यवस्था का दायित्व संयुक्त-रूप से उन पर भी था ।

अपनी कार्यकुशलता और दक्षता के बल पर भराड़े जी ने इस स्टोर को इतना उन्नत बनाया कि १९४० मे जब पारिवारिक-सम्पत्ति और स्वरूप का विभाजन हुआ तो इसका सम्पूर्ण दायित्व उन्हे सौपा गया । जिन आदर्शों पर पिताजी चले थे तथा जिस मार्ग से उन्होने सफलता प्राप्त की थी उसे विरासत के रूप में वे अपनी सन्तानो को भी दे गये । ईमानदारी, प्रामाणिकता और सद्व्यवहार—व्यापार जगत में सफलता के तीन प्रधान अंग है । इनमे से एक का भी अभाव व्यावसायिक जगत मे व्यक्ति की स्थिति एक टाँग टूटी तिपाई पर बैठने के बाद जैसी बना देता है और तीनो की उपस्थिति व्यक्ति की प्रतिष्ठा को बढ़ाकर उसे समृद्धि के शिखर तक भी पहुँचा सकती है । इन्ही विशेषताओ के कारण सफलताएँ भराड़े जी की चरण चूमती गयी ।

व्यापार-व्यवसाय मे जिस मार्ग पर लोगो ने चलकर सफलताएँ अर्जित की हैं उसी मार्ग से भराड़े जी भी आगे बढ़ते गये । स्टोर का लाभांश दिनो दिन बढ़ता गया और ख्याति भी खूब फैली । इस मान्यता का आदर्श-रूप मे वरण करते हुए कि—"व्यापार मे ईमानदारी और सत्य व्यवहार भी उसे ईश्वर की आराधना बना देता है । लक्ष्मी की कृपा परिश्रमपूर्वक किये गये सत्प्रयासो से ही प्राप्त की जा सकती है ।" भराड़े जी का व्यापार दिन दूना रात चौगुना विकास को प्राप्त हो रहा था । इसके बाद उन्होने सूद पर रुपया देना शुरू कर दिया । परन्तु सूद लिया भी जाता केवल नाम मात्र को । सूद पर रुपये देने का उद्देश्य केवल यह था कि पास रखा हुआ रुपया जरूरतमंदों को समय पर काम आये । लेकिन जिस दृष्टिकोण से उन्होने यह व्यवसाय आरम्भ किया था—लोग भी उसी प्रकार लाभ उठाये यह आवश्यक तो था नहीं । कम दर पर रुपया मिल रहा है यह सोचकर कई व्यक्तियों ने उधार लिया और वह हड़प करने लगे । अन्ततोगत्वा उन्होने यह व्यवसाय बन्द ही कर दिया ।

उठती उमर और सामाजिक-चेतना ने उनके हृदय को इस बात के लिए प्रेरित किया कि अपने समाज के लिए भी कुछ कर गुजरें । सर्वप्रथम माहेश्वरी भवन के रूप मे भावना व्यक्त हुई । इसका उद्देश्य था समय-समय आयोजित होते रहने वाले सामाजिक और जातीय उत्थान के कार्यक्रमो में स्थान का अभाव पूरा करना । उन्होने स्वयं को मात्र माहेश्वरी समाज तक ही सीमित न रखा वरन् अन्य सामाजिक संस्थाओ—समाज, मन्दिरो में भी वे स्वेच्छया सहयोग—सेव के श्रद्धा सुमन चढ़ाने गये । समाज-सुधार आंदोलनों, राष्ट्रीय आंदोलनों तथा युवको व छात्रों को उन्होने मुक्त हस्त से अपनी विभूतियाँ बाँटी । आर्य समाज-भारतीय लोककला मण्डल, तीर्थ क्षेत्र आदि कई संस्थाओं के माध्यम से लोक सेवा के क्षेत्र मे उन्होने पदार्पण किया । विद्या प्रचारक मण्डल पूना के गरीब और निर्धन छात्रों को शिक्षा-अध्ययन जारी रखने के लिए उन्होने आर्थिक सहयोग देने का क्रम बनाया । प्रतिवर्ष वे मण्डल के प्रतिभाशाली तथा योग्य छात्रों छात्र-वृत्तियाँ देते थे । निर्धन-छात्रो में उन्हे बड़ी ख्याति मिली थी और वे अक्सर अपनी समस्यायें लेकर पास पहुँचते तथा सन्तुष्ट समाधान लेकर लौटते । यही नहीं उन क्षेत्रों में जहाँ कि कोई विद्यालय नहीं था भराड़े जी ने शिक्षण संस्था खोली ।

आरम्भ के परिच्छेदों में भराड़े जी की लोक-सेवी प्रवृत्तियो मे जिस प्रधान प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है—वह मुखर हुई—भुसावल के हिन्दी-विद्यालय के रूप में भुसावल मे यद्यपि मराठी भाषा-भाषियो की बहुसंख्या है, तथापि हिंदी जानने वाले लोग भी कम नहीं है और उनकी स्वाभाविक आकांक्षा यह रहती थी कि हमारे बच्चो को पढ़ने के लिए हिन्दी माध्यम मिले । स्वतन्त्रता के बाद तो यह राष्ट्र की भी आवश्यकता हो गयी कि हिंदी का प्रचार जन-जन में किया जाय । परन्तु भुसावल शहर मे ऐसी सस्था का अभाव था जो राष्ट्रभाषा-सेवी कही जा सके ।

हिन्दी-प्रेमी लोग इस दिशा मे प्रयत्नशील थे । परन्तु साधनो के अभाव मे क्या किया जा सकता था । कुछ जनसेवियो को भराड़े जी की उदारता और सेवा-निष्ठा का परिचय मिला तो वे उनके पास पहुँचे और अपना उद्देश्य सामने रखा । सेवा-भावी कार्यकर्ताओ की निष्ठा और राष्ट्र की आवश्यकता को समझते हुए उन्होने आश्वासन दिया कि प्रस्तुत योजना को पूरी करने के लिए वे तन-मन-धन से सहयोग करेगे । भराड़े जी ने स्वयं की जमीन पर हिन्दी भवन का निर्माण कार्य आरम्भ कराया । कार्यकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत भवन-निर्माण की आवश्यकता पूरी हो जाने से ही तो राष्ट्रभाषा का प्रचार-प्रसार सम्भव नहीं था । उसके लिये अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था भी आवश्यक थी । परन्तु प्रत्येक व्यवस्था के लिए भराड़े जी से निवेदन करना भी उपयुक्त न जँचता था ।

कार्यकर्ता उलझनपूर्ण स्थिति में आ गये थे । इस उलझनपूर्ण स्थिति मे उबारा स्वयं भराड़े जी ने और निश्चय हो गया कि अमुक मुहूर्त मे हिन्दी-भवन का उद्घाटन होना चाहिए । उद्घाटन के लिए आमंत्रित किया तत्कालीन रेलवे मन्त्री और बाद में भारत के प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को । १३ जनवरी, १९५३ को नवनिर्मित हिन्दी भवन का उद्घाटन कार्य सम्पन्न हुआ । शास्त्री जी ने भराड़े जी की सेवानिष्ठा, राष्ट्रप्रेम की मुक्त कंठ से सराहना करते हुए राष्ट्र-भाषा की प्रगति मे इस उपलब्धि को मील का एक पत्थर

बताया । स्थापित हिन्दी-भवन का उद्देश्य यह घोषित किया था कि इस संस्थान के माध्यम से हिन्दी न जानने वाले लोग हिन्दी सीखे और व्यावहारिक-जीवन में उसका उपयोग करने लगे ।

इस भवन मे श्री भराड़े जी ने अपने बच्चो को भर्ती करवाकर उस वर्ग की आँखे खोल दी जो यह मानते थे कि अँग्रेजी के बिना व्यापारी कामकाज तथा उच्च वर्गीय जीवन चला पाना असम्भव है । उस क्षेत्र मे व्यापार क्षेत्र मे मराठी-भाषा का अध्ययन ही सुविधानजक रहता परन्तु भराड़े जी को लगा कि यह मात्र भ्रम है । हिन्दी-भाषा जानने वाला व्यक्ति उसके देश मे ही अनजान और अजनबी की तरह समझा यह कोरी कल्पना और निराभ्रम नहीं तो क्या है ? और उनकी यह मान्यता भविष्य की कसौटी पर सचमुच ही खरी सिद्ध हुई ।

हिन्दी-भवन अब भी भराड़े जी की निर्मित परम्पराओं, मर्यादाओ पर दृढ़ रहता हुआ हिन्दी-भाषा के लिए उसी प्रकार कार्य कर रहा है जिस प्रकार कि उनके जीवन काल में था । वहाँ से हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर राष्ट्र-भाषा के प्रति निष्ठा जगा लेने वाले नागरिकों की संख्या अब हजारो तक पहुँच चुकी है । २२ फरवरी, १९७४ ई. को राष्ट्र-भाषा का यह प्रहरी इस संसार से विदा हो गया परन्तु अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के माध्यम से व्यापार के—जनसेवा के और हिन्दी-भाषा के प्रति प्रेम और आदर्शों के जो पद चिन्ह छोड़ गया वे इस पथ के पथिकों को दिशासूचक का काम देते रहेगे ।

पत्रकारिता के प्रकाशपुञ्ज— पराड़कर

"सत्य के लिए बड़े से बड़े व्यक्ति का भी विरोध अवश्य करेगे ।"—एक सभा मे बाबूराव विष्णु पराड़कर भाषण दे रहे थे । उस समय बड़े-बड़े नेता भी अँग्रेजी का तथा नागरी-लिपि मे फारसी और उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी का समर्थन कर रहे थे । सभा मे से एक व्यक्ति ने उठकर पूछा—'राजनीति मे आप जिन नेताओ के अनुयायी है वे स्वयं ही हिन्दुस्तानी और अँग्रेजी की वकालत करते है क्या आप उनका भी विरोध करने को तैयार हैं ।' तो पराड़कर जी ने एक दृष्टान्त देकर उक्त बात कही थी "जन्मेजय ने नाग यज्ञ किया था, सारी पृथ्वी को साँप के विष से रहित कर देने के लिए । एक साँप जो जन्मेजय के इस संकल्प का ही मूल कारण था इन्द्रासन के नीचे छुप बैठा ।

इन्द्र से अनुनय-विनय की गयी परन्तु उन्होने एक न सुनी । इन्द्रासन समेत ही साँप को यज्ञाग्नि मे भस्म करने की बात सोची गयी । जन्मेजय ने इन्द्र से उठने के लिए बार-बार कहा परन्तु वे टस से मस न हुए । अनाचारी को प्रश्रय देने वाले बड़े लोग भी अक्षम्य है । जन्मेजय ने सुरपति की परवाह छोड़ी और मन्त्र पढ़ा—'स इन्द्राय तक्षकाय स्वाहा' इसी तरह भले ही कोई भी कितना भी गणमान्य क्यो न हो हम हिन्दी-विरोधी का विरोध अवश्य करेगे ।"

राष्ट्र-भाषा के पद पर हिन्दी को आरूढ़ करने के लिए जो आन्दोलन उठा पराड़कर जी उसके कर्णधारो मे से एक थे । उनकी मान्यता थी कि भाषागत एकता के बिना राष्ट्रीय-एकता निरा स्वप्न मात्र ही है । इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए महात्मागान्धी ने भी स्वराज्य और हिन्दी को बराबर महत्व दिया था ।

हिन्दी के इतने प्रबल पक्षधर बाबूराव विष्णु पराड़कर का जन्म कार्तिक शुक्ल ६ वि. सं. १९४० को महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ । उनके पिता एक संस्कृत अध्यापक थे । पराड़कर जी की शिक्षा-दीक्षा बिहार प्रान्त मे हुई । जब वे इण्टरमीडिएट मे पढ़ रहे थे तो दैवयोग से उनके पिताजी का देहान्त हो गया । असमय के इस वज्रपात ने किशोरबाबूराव के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर दीं थी परन्तु वे घबराये नहीं । १९०५ मे हुए काशी के काँग्रेस-अधिवेशन में वे स्वयं सेवक के रूप में भर्ती हुए । आर्थिक विपन्नताओं ने तो पीछा छोड़ा नहीं था और हृदय में उमड़ती राष्ट्रीय भावनाओ से प्रेरित होकर वे स्वातन्त्र्य-आन्दोलन मे भी कूद पड़े । यह उनकी अप्रतिम साहस का परिचायक था । काशी अधिवेशन मे पराड़कर जी लोकमान्य तिलक आदि जैसे लोकप्रिय नेताओ के सम्पर्क में आये । इस सम्पर्क का प्रभाव ही कह लीजिये कि परिवार वालों की आवश्यकता पूरी करने हेतु नौकरी तलाशने के स्थान पर उनकी इच्छा के विरुद्ध वे कलकत्ता पहुँचे । दैनिक बंगवासी ने उन्हे पच्चीस रु. मासिक वेतन पर अपने यहाँ सहायक-सम्पादक के पद पर रख लिया । यहीं उनकी लेखन प्रतिभा विकसित हुई । उस समय उनकी आयु मुश्किल से २१-२२ वर्ष की रही होगी ।

१९५० मे वे अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी के सहयोगी बनकर 'दैनिक भारत मित्र' मे आये । यह पत्र उस समय राष्ट्रीय-विचारधारा का प्रतिनिधि माना जाता था । इंकलाब की आवाज देने और जनता मे चेतना फूँकने के कारण जल्द ही सरकार की निगाहो में आ गया और बाबू पराड़कर जी १९१६ में नजरबन्द कर लिए गये । चार वर्ष तक नजरबन्द रहने के बाद वे छूटे तो फिर 'भारत मित्र' के सम्पादक के रूप मे सामने आये ।

उस समय काशी मे 'आज' का प्रकाशन होने वाला था । इस पत्र के संस्थापक स्व. शिवप्रसाद गुप्त के आग्रह पर पराड़कर जी ने पचहत्तर रुपये मासिक वेतन पर इसका सम्पादन सम्हाला । यद्यपि उस समय मे सभी चीजे सस्ती थी, महँगाई आज जैसी नहीं थी फिर भी पचहत्तर रुपये उन्हे पर्याप्त नहीं पड़ते थे । इतना खर्च तो उनके पत्र-व्यवहार के डाक खर्च में ही लग जाता था । लेकिन पैसा कमाना तो उद्देश्य नहीं था । उद्देश्य था—जनजागरण का । इतने में ही वे अपना गुजारा चलाते थे ।

१९४२ में किन्हीं कारणों से 'आज' का प्रकाशन बन्द हो गया । बाबू जी तो जैसे पत्रकारिता के लिए ही जन्मे थे । 'आज' से निवृत्त होकर उन्होंने 'संसार' पत्र प्रकाशित किया । पत्र आरम्भ में कोई खास नहीं चला परन्तु उनकी उस राष्ट्रीय-विचारधारा ने युवकों को उन्मत्त कर दिया । राष्ट्रीय-आन्दोलन तीव्र-गति से चलने लगा था । अनेक क्रान्तिकारी जन्म ले रहे थे । आन्दोलन होते, क्रान्तिकारी जेल जाते और जेलें छोड़कर बाहर आते तो आश्रय के लिए हर किसी को पराड़कर जी ही दीख पड़ते । बाबू जी उनके निवास, भोजन और विश्राम से लेकर वस्त्र और चिकित्सा आदि तक की व्यवस्था सम्हालते । आज के श्री अमृतपाद डाँगे और जयप्रकाश नारायण जैसे मूर्धन्य नेताओ तक ने पराड़कर जी की व्यवस्थाओं का लाभ उठाया था ।

१५ अगस्त, १९४७ को 'संसार' छोड़कर वे फिर 'आज' में आ गए । क्रान्तिकारियों ने जिस आदर्श के लिए स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी थी । देश और सत्ताधीशो को उन आदर्शों से हटते देख वे बड़े क्षुब्ध रहने लगे थे । अपने जीवन के अन्तिम दिनों मे उनका यह क्षोभ बड़ा ही उभरकर आया था और इसी कारण वे अपने सन्ध्याकाल मे पश्चाताप की अग्नि मे जलते रहे थे । उन दिनों जो भी लोग पत्रकारिता के क्षेत्र में मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रखकर उनके पास आते वे कहते 'पत्रकार बनकर मैंने कुछ नहीं पाया है । मेरी आत्मा कराह उठती है ।' उन्हे इतना विक्षोभ हुआ कि दो-तीन महीने किसी एक मकान मे टिक कर रहना उनके लिए मुश्किल हो गया ।

उनकी प्रतिभा निखर चुकी थी । सतत् अभ्यास के द्वारा वे औसतन चार कॉलम से कम नहीं लिखते थे । उनकी स्मरण-शक्ति भी तीव्र थी । पहले वे सभी समाचार पत्र पढ़ लेते । लेख और सम्पादकीय टिप्पणी के उपयुक्त सामग्री पढ़कर टेबुल से सभी पुस्तक, पत्रिकाएँ तथा पत्रादि हटवा देते फिर पूरी तरह तल्लीन होकर लिखने बैठते । लिखते समय न समाचार पत्र देखते और न किसी प्रकार की कटिंग । केवल स्मृति के सहारे धाराप्रवाह लेखनी से सभी पढ़े हुए वक्तव्य, समाचार और आँकड़ो को यथास्थान उद्धृत करते जाते । न कहीं काट-छाँट की आवश्यकता और न ही कहीं कुछ मिटाने की जरूरत । स्वच्छ, सुदृढ़ और निरापद लेखन । ऐसी क्षमता चिर-साध्य-साधना का ही परिणाम हो सकता है ।

उनका लेखन जितना उच्चस्तरीय है उससे भी अधिक श्रमसाध्य है उनका अध्ययन । राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक गति-विधियों पर उनकी सामयिक टिप्पणियाँ पत्रकारिता के नये आयाम प्रस्तुत करती है । इसका मूल कारण था स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वभाषा के प्रति उनका उत्कृष्ट प्रेम । 'आज' के प्रथम सम्पादकीय में उन्होंने जो कुछ लिखा था । उसी में उनके वैचारिक और सैद्धान्तिक पक्ष का सुदृढ प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है । उन्होंने कहा था—"जब हम में आत्मगौरव होगा तब ही अन्य लोग हमें आदर और सम्मान से देखेगे । आत्म-गौरव की भावना का विकास स्वाधीनता देवी की निष्ठा पूर्ण उपासना से मिलता है ।"

यद्यपि वे स्वयं मराठी-भाषी थे परन्तु बोलचाल और व्यवहार मे वे हिन्दी-भाषी ही लगते थे हिंदी के प्रचार-प्रसार में उनका योगदान अविस्मरणीय है । उन्होंने यह सब भारत के राष्ट्रीय मानचित्र को उज्ज्वल बनाने के लिए किया था । क्योंकि उनकी दृष्टि में राष्ट्रभाषा के उत्थान के बिना राष्ट्र का उत्थान असम्भव है—इसी एक आदर्श ने उन्हें अनुकरणीय आदर्श बना दिया और वे पत्रकारिता के क्षेत्र में महान-परम्पराओं के महान जनक बने ।

आदर्शवादी बिक नहीं सकता— बालमुकुन्द गुप्त

दरवाजे पर खट-खट की आवाज हुई और अन्दर कमरे मे नीचे फर्श पर दरी बिछाकर बैठे चौकी पर कागज रखकर लिख रहे गुप्त जी ने छोटे लड़के को आवाज देते हुए कहा—"देखना बेटा । कौन आए है ?"

छोटे लड़के ने अपने पिता की आवाज सुन दरवाजा खोला और एक सज्जन अन्दर प्रविष्ट हुए । गुप्त जी उन्हें देखकर तुरन्त खड़े हो गए, "बहुत दिनो बाद दिखाई दिए हो मित्र । कहाँ हो आजकल क्या कर रहे हो ?"

आगन्तुक सज्जन जो उनके पुराने मित्र थे । उनके इन प्रश्नो के उत्तर तो दे ही रहे थे पर साथ ही घर की स्थिति को भी बारीकी से देख रहे थे । सोचा तो यह था कि 'भारत-मित्र' जैसे प्रतिष्ठित अखबार के सम्पादक से मिलने जा रहा हूँ । घर मे ठाट-बाट और रौनक नहीं होगी तो कम से कम मध्यमवर्गीय परिवार जैसी स्थिति तो होगी ही । पर यहाँ चारो ओर फटेहाली दिखाई पड़ रही थी । 'भारत मित्र' हिन्दी दैनिक के सम्पादक श्रीबालमुकुन्द गुप्त की कमीज जो बहुत ही हल्के और सस्ते कपड़े की सिली हुई थी पीछे दीवार पर खूँटी पर टँगी हुई थी । गुप्त जी बहुत मोटी निब वाली सस्ते दामो वाली कलम से लिख रहे थे ।

आगन्तुक सज्जन इन सब वस्तुओं को, घर के वातावरण को बड़ी बारीक नजर से देख रहे थे । इधर-उधर की बाते चल रही थीं । सज्जन अपना मन्तव्य कहने ही जा रहे थे कि गुप्त जी का ज्येष्ठ पुत्र कमरे मे आया और उसने बाजार से खरीद कर लाई हुई दो कमीजें अपने पिता के सामने रखी ।

गुप्त जी ने उससे पूछा—"कमीज तो अच्छी है । कितने की है बेटा ।" "चार रुपए की ।" "चार रुपए की ?" गुप्त जी ने बड़े ही विस्मय और आपत्तिजनक स्वर में कहा- "इतनी महँगी क्यों खरीदी ? इतने में तो घर के सभी सदस्यों के लिए कपड़े बन सकते है ।"

आगन्तुक सज्जन ने कहा—"बच्चे ही तो है गुप्त जी।" यदि ये अभी अपनी पसन्द का खा-पी और पहन नहीं सकेगे तो कब खाएँगे और पहनेगे।"

"लेकिन यह तो सरासर फिजूलखर्ची है।" हमारे परिवार की आर्थिक स्थिति इस योग्य नहीं है कि हम इतने महँगे कपड़े पहन सके"— गुप्त जी ने कहा "रहा खाने-पीने की उम्र वाली बात तो उन्हे मितव्ययिता अभी नहीं सिखायेगे तो कब सिखायेगे।"

अर्थाभाव वाली कठिनाई तो मै दूर किए देता हूँ। मै इसीलिए आपके पास आया हूँ। यह कहते हुए आगन्तुक मित्र ने पाँच हजार रुपए उनकी चौकी पर रख दिए।

यह देखकर गुप्त जी ऐसे चौके, जैसे सैकड़ों साँप-बिच्छू उनके शरीर पर रेग गए हो। गुप्त जी ने विस्मय, विस्फारित नेत्रो से मित्र महोदय की ओर देखते हुए कहा, क्या मतलब ?

मित्र ने कहा— "यह तो आपको मालूम ही है कि यहाँ की फौजदारी अदालत मे दो धनिकों के बीच मुकदमा चल रहा है। दोनों पक्षो के सनसनी पूर्ण विवरणों द्वारा अपने पत्र मे उनका आप समर्थन करे तो उन्हे लाभ हो सकता है। इसी के लिए मै उनकी ओर से यह भेट आपके पास लाया हूँ।

गुप्त जी ने धीरे पर गम्भीर स्वरों मे कहा "मित्र ! तुम गलत समझे हो। अगर अर्थोपार्जन मेरा ध्येय रहा होता तो आप जो अभी चारों ओर घूर-घूर कर देख रहे थे और मेरी गरीबी पर आश्चर्य कर रहे थे वह न होता। गरीबी मेरी शान है। मैने स्वेच्छया इसका वरण किया है, कारण कि मैं भारत के आम नागरिक से एक होकर जीना चाहता हूँ। उसके दुःख-दर्द के समझने, अनुभव करने की ललक है। यही अनुभव मेरे साहित्य को प्राण देते है। दूसरे शब्दो में कहा जाय तो गरीबी मेरा प्राण बन चुकी है। आप मेरा प्राण हरण करने आए हैं। वह भी अन्याय की खातिर—कदापि सम्भव नही।" गरीबी की गरिमा का गान सुनकर मित्र अपना रुपया उठा चलते बने और गुप्त जी पुनः लेखन मे व्यस्त हो गए।

हिन्दी साहित्य को समर्पित व्यक्तित्व— पं. माधवराव सप्रे

जनवरी सन् १९०० मे पेण्ड्रा (बिलासपुर) से हिन्दी का पहला समालोचनात्मक मासिक-पत्र छत्तीसगढ मित्र प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशक और सपादक श्री माधवराव सप्रे ने पत्र की नीति घोषित करते हुए कहा कि मेरा उद्देश्य हिन्दी-साहित्य की उन प्रतिभाओं को ढूँढ निकालना है जो देश और समाज के लिए कुछ काम आ सके। पत्र में कहानी, निबन्ध और लेख भी प्रकाशित होते थे परन्तु छत्तीसगढ मित्र की प्रसिद्धि उसकी आदर्श समालोचना के कारण ही हुई। लेखकों को मार्ग-दर्शन देने के साथ सप्रेजी ने विशुद्ध-हिन्दी और भाषा-विषयक त्रुटियों की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

यों बचपन में उन्होने देशसेवा और स्वाधीनता-आंदोलन मे भाग लेने का संकल्प लिया था। जिस समय वे मिडिल पास कर मैट्रिक में भर्ती हुए उस समय की परिस्थितियों ने उन्हे एक दोराहे पर ला खड़ा कर दिया। परिवार की आर्थिक स्थिति ठीक नही थी फिर भी वे अपने अध्ययन की तीव्र आकांक्षा को दबा नहीं पाये। तमाम विवशताओ और मजबूरियो के होते हुए भी वे स्कूल में भर्ती हुए।

तिलक और आगरकर भी उन दिनो कानून की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे। सप्रेजी उनके सपर्क मे आये। इन दोनों विभूतियों ने देश-भक्ति की भावना से प्रेरित होकर यह व्रत लिया कि वे विदेशी-शासन तन्त्र के एक पुर्जे सरकारी नौकर बनकर नहीं रहेगे। सप्रेजी भी तिलक और आगरकर के इस सकल्प से प्रभावित हुए। पारिवारिक-स्थिति ने उन्हें पढ़-लिखकर अच्छी नौकरी पाने के प्रलोभन से शिक्षा प्राप्त करने के लिए लगाया था। एक ओर तो देश-सेवा की भावना, तिलक और आगरकर का वह संकल्प जो उन्हे भी देश-सेवा के लिए प्रेरित कर रहा था। जी चाहने लगा कि वे भी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा ले लें और यह प्रतिज्ञा ले ली तो पढ़ने की क्या आवश्यकता। परिवार का व्यर्थ बोझ बनकर क्यों रहा जाय।

इस दुविधा भरी संकल्प-विकल्प की मनःस्थिति से उबरने के लिए उन्होंने स्वतन्त्र-चिन्तन का आश्रय लिया। जब-जब भी मनुष्य के सामने ऐसी स्थिति आती है तो स्थिति का विश्लेषण और तदनुसार निश्चय ही उससे निबटने का उपाय रह जाता है। सप्रेजी ने विचार किया शिक्षा से उपार्जित प्रतिभा-सम्पदा का उपयोग किसी और तरीके से नही किया जा सकता। लम्बे समय तक वे विचार करते रहे और एक ऐसे बिन्दु पर पहुँचे जहाँ उनके जीवन ने अपनी दिशा बदल दी। क्या आवश्यक है कि विकसित प्रतिभा और ज्ञान को दासता के बन्धन मे ही बाँधा जाय। दूसरे क्षेत्र भी तो खुले पड़े है जहाँ वे अपनी विभूतियों को ऐसे कामों में लगा सकते है जो उनके देश-सेवा की भावना और आकाक्षा को भी सन्तुष्ट तथा पूरा कर सके।

उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली कि सरकारी नौकरी में जाकर वे अपनी शक्तियो को क्लीब नहीं बनाये वरन् उनका उपयोग राष्ट्र-सेवा के लिए करते हुए उन्हें सही दिशा में लगायेगे। सप्रेजी ने निश्चय के इन क्षणों में अपना जीवन-लक्ष्य ही बदल दिया। खतरा सिर्फ इतना लगा कि शासकीय सेवा मे न रहकर परिवार की कोई आर्थिक सहायता नहीं कर सकेगे। स्वयं भी उन सुखो का उपयोग नहीं कर सकेंगे जिसकी लालसा मे हर सामान्य व्यक्ति मरता-खपता है। परन्तु उसके परिणाम में मिलने वाला आत्म-सन्तोष,

रूखी-सूखी खा कर प्राप्त होने वाली तृप्ति ही इतनी ज्यादा सुखद होगी जिसके लिए बड़े-बड़े धनपति और राजा-महाराजा लालायित रहते है ।

सप्रेजी को सही मार्ग मिल गया और विद्याध्ययन द्वारा अपनी ज्ञानप्रतिभा सम्पदा को बढ़ाने मे जुट गये । देश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर लिया गया संकल्प उनके प्रयत्नो को और भी प्रखर बनाता चला । वे अपने समय के सभी विद्यार्थियो की अग्रिम पंक्ति मे बैठे । उनका अध्ययन पाठ्य-पुस्तको तक ही सीमित नही रहा वरन् संसार के इतिहास, राजनीति और धर्म-दर्शन सभी विषयो मे जहाँ तक सम्भव हो सका वे गहराई तक उतरे और ज्ञान की मणिमुक्ता ढूँढ लाये ।

एम. ए. की परीक्षा पास करने के बाद उनकी माता का निधन हो गया । मन खिन्न हो उठा, माँ के अभाव ने उनका जीवन नीरस बना दिया परन्तु अपने उद्देश्य के प्रति निष्ठा ने उनको लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग से विचलित होने से बचा लिया । रात-दिन के परिश्रम और विपन्न पारिवारिक-स्थिति ने उन्हे तोड़ कर रख देने मे कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी । परन्तु, वे धैर्य और साहस के साथ अपने मार्ग पर चलते रहे ।

१८९८ मे कलकत्ता—विश्व-विद्यालय से उन्होने बी.ए. की परीक्षा पास की और जीविका की तलाश मे खो गये । उच्च-पदासीन परिजनों ने नायब तहसीलदार के पद पर नियुक्त करवाना चाहा लेकिन सप्रेजी ने विनम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया । उन्हें जीविका से अधिक अपनी उस प्रतिज्ञा की चिन्ता थी जो उन्होंने छात्र जीवन मे ली थी । उन्होंने हिन्दी-साहित्य-जगत् को अपना कार्य क्षेत्र चुना । हिन्दी-भाषा और साहित्य सेवा की उत्कण्ठा बलवती हो गयी । सप्रेजी की मान्यता थी कि भारत का पुनरुत्थान राष्ट्र-भक्ति और राष्ट्र-भाषा के पुनरुद्धार से ही सम्भव होगा । यद्यपि वे मराठी भाषा-भाषी थे फिर भी उनका विचार था कि राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी ही बैठ सकती है ।

जीविका और सेवा दोनो कार्य एक साथ चलाने के अवसर की तलाश में रहते हुए उन्होने पेंड्रा के राजकुमार को पढ़ाने का काम ढूँढ लिया । उनकी अध्यापन शैली इतनी अनूठी थी कि राजकुमार कुछ ही दिनो में योग्य हो गये । पेंड्रा के राजा-साहब ने प्रसन्न होकर सप्रेजी से बिना सलाह लिये ही उनका नाम तहसील दार के पद पर नियुक्त करने के लिए भेज दिया । सप्रेजी को पता तो तब चला जब उनका नियुक्ति-आदेश-पत्र आगया । सामान्य-व्यक्ति तो इसे अनुपम और अलभ्य सौभाग्य ही मानता, यत्किंचित असुविधा महसूस करने वाला भी शायद राजा साहब की इच्छा की अवहेलना नहीं कर सकता था । परन्तु सप्रेजी ने निडर होकर कह दिया "मै इस पद पर कार्य नहीं कर सकता ।"

राजासाहब के स्थान पर कोई व्यक्ति होता तो सप्रेजी को मूर्ख ही समझता लेकिन राजासाहब उनकी विद्वता और ज्ञान से पहले ही परिचित थे पूछा—आपको इस पद पर काम करने मे क्या अड़चन है ।

सप्रेजी बोले—कोई भी जागरूक बुद्धिजीवी विदेशी सरकार की गुलामी नही कर सकता ।

राजासाहब को बड़ा आश्चर्य हुआ । उनकी सिद्धान्त-निष्ठा और उसके लिए अभाव तथा कठिनाइयो भरा जीवन जीने की सहिष्णुता ने राजा-साहब को एकबारगी चमत्कृत कर दिया था । सच है, संसार की दृष्टि में लाभदायक लगने वाला ऐसा कोई भी काम सिद्धान्तवादी व्यक्ति नहीं करता जो उसके जीवन-मूल्यो के लिए क्षयकारी सिद्ध होता हो ।

पेण्ड्रा से उन्होने छत्तीसगढ़ मित्र का प्रकाशन किया परन्तु आर्थिक कठिनाइयो के कारण यह तीन वर्ष तक ही चल सका और वे नागपुर चले गये । नागपुर में उन्होने देश सेवक प्रेस मे काम शुरू किया और कुछ महीने बाद हिन्दी ग्रन्थ-प्रकाशक-मण्डली की स्थापना की । जिसका उद्देश्य हिन्दी के पाठको मे देश-प्रेम और राष्ट्र-भक्ति की भावनाएँ भरना था । इस संस्था ने हिन्दी के श्रेष्ठ-ग्रन्थो का प्रकाशन किया था ।

तभी उन्हे कोल्हापुर से निकलने वाले 'ग्रन्थमाला' मासिक का सम्पादक नियुक्त किया । इस मासिक द्वारा उन्होने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को कई अनमोल रत्न दिये महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सुअर्टमिला की कृति लिबर्टी, का अनुवाद स्वाधीनता के नाम से किया । कुछ महीनो बाद उन्होने हिन्दी—केसरी-नामक-साप्ताहिक समाचार-पत्र प्रकाशित किया था । इस पत्र मे राजनैतिक समाचारो और विषयो क्रान्तिकारी स्वरो मे लेख छपते थे ।

सप्रेजी अपने अन्तिम दिनो तक हिन्दीसाहित्य की सेवा करते रहे । मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े भी इस महान व्यक्ति ने राष्ट्रभाषा की जो सेवा की वह अद्वितीय है ।

चौकीदार से पत्र-सम्पादक—माधव खण्डकर

पूना के दैनिक 'प्रभात' के सम्पादक के रूप मे श्री माधवखण्डकर को नियुक्ति प्रदान की गयी है । छैतीस वर्ष की आयु के श्री खण्डकर २३ वर्ष पूर्व इसी पत्र के कार्यालय मे चौकीदार के स्थान पर नियुक्त किये गये थे । वह मनुष्य की सकल्प शक्ति, महत्वाकांक्षा, कर्मनिष्ठा, धैर्य तथा ईमानदारी का सराहनीय तथा अनुकरणीय उदाहरण है ।

चौदह वर्ष की आयु के किशोर माधव को अपनी दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण सातवीं पास करते ही नौकरी करने को विवश होना पड़ा । मन मे साध थी कि वह एक प्रख्यात पत्रकार बने । अतः उन्होंने अन्यत्र नौकरी करने की अपेक्षा किसी पत्र के कार्यालय में ही नौकरी करना उचित समझा । वे पूना से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र दैनिक 'प्रभात'

सम्पादक—स्वामी श्री बालचन्द्र कोठारी के पास जा पहुँचे। उन्होंने पहले तो मना कर दिया—"इतने छोटे बालक के लिए हमारे यहाँ कोई काम नहीं।"

"आप कोई भी काम दे दीजिए लेकिन मुझे रख लीजिए। मैं पत्र के कार्यालय में ही काम करना चाहता हूँ।"

"ऐसा क्यों? अन्यत्र क्यों नहीं?"

"मैं भविष्य में इस क्षेत्र में आगे बढ़ने का विचार रखता हूँ।"

कोठारीजी किशोर की इस तथ्यपूर्ण बात से प्रभावित हुए तथा उसे अपने समाचार-पत्र के कार्यालय में चौकीदार नियुक्त कर दिया। दिन मे जब उसे समय मिलता वह पढ़ने के लिए पाठशाला जाता तथा रात्रि में कार्यालय की चौकीदारी करता। चौकीदारी का काम पूरी तत्परता से करते हुए वह प्रेस व पत्र के दूसरे कार्यों को सीखने की गरज से बड़ी जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से देखा करता। उसके मालिक उसकी इस जिज्ञासावृत्ति से बड़े प्रसन्न हुए। अतः उसे दूसरे कामों में लगा दिया। धीरे-धीरे यह किशोर प्रगति करता गया।

बालचन्द्र कोठारी ने इस किशोर की प्रतिभा को पहचान लिया था। प्रतिभा, वस्तुतः कोई ईश्वरीय देन नहीं होती है। वह तो मनुष्य की अपनी जिज्ञासा, अपनी कर्मनिष्ठा, लगन व तत्परता के संयोजन का ही एक स्वरूप होती है, जो दिन-दिन अभ्यास के द्वारा विकसित होती जाती है। सबसे पहले वे कम्पोजीटर बनाये गये थे फिर प्रूफरीडर बने और बाद में प्रेस के व पत्र सम्पादन के हर विभाग मे उन्होंने दायित्व-पूर्ण पदों पर कार्य किया था। पत्र के मालिक उनकी प्रतिभा के ही नहीं सज्जनता, ईमानदारी व विनम्र व्यवहार के भी कायल थे।

नौकरी करते हुए ही उन्होंने बी. ए. की डिग्री प्राप्त कर ली थी। अब तो वे श्री कोठारी के दाहिने हाथ हो गये थे। कोठारी धीरे-धीरे वार्धक्य की ओर बढ रहे थे। बूढ़ा जर्जर पेड़ अपनी छाया तले उग आने वाले नूतन युवा पादप की ओर जिस आशा भरी दृष्टि से देखता है, उसी दृष्टि से वे भी खण्डकर को देख रहे थे। उनसे योग्य, अनुभवी व विश्वस्त सम्पादक उन्हें कहाँ मिलेगा यह सोचकर उन्होंने मन ही मन यह निश्चय कर लिया कि वे उन्हें ही सम्पादक बना देंगे। यों तो खण्डकर कई वर्षों से सहायक-सम्पादक का काम कर ही रहे थे।

अप्रैल १९७३ में श्री कोठारी ७२ वर्ष के हो गये और वे अपने पद से निवृत्त हो गये। अपने स्थान पर उन्होंने माधव खण्डकर की नियुक्ति कर दी थी। उनकी यह प्रगति इस बात की द्योतक है कि मनुष्य अपनी दीन-हीन दशा से समझौता नहीं कर ले और एक-एक कदम प्रगति के पथ पर बढ़ाता रहे तो उसे उसका लक्ष्य मिल ही जाता है। उनका यह उदाहरण कई थके प्रगति-पथिकों में नवीन-उत्साह भरने के लिए पर्याप्त है। बहुत से व्यक्ति यह भूल करते हैं कि सफलता के लिये जो धैर्य और अनवरत श्रम चाहिएँ, उसके लिए एक-एक कदम बढ़ाकर मंजिल छू लेने की जो योजना बनायी जानी चाहिए, मन में अटल-विश्वास रखना चाहिए, वह रख नहीं पाते। उसी का परिणाम यह होता है कि सफलता उनके लिये 'खट्टे अंगूर' बन जाया करती है।

निस्पृह लोकसेवी पत्रकार—

हुकुमचन्द नारद

नवीन प्रान्त विन्ध्य-प्रदेश का निर्माण हुआ तो एक श्रमजीवी पत्रकार से सूचना मन्त्री बनने का आग्रह किया गया। उन्होंने इस आग्रह को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए कहा—"मैं अपने देश-वासियों की सेवा एक साधारण पत्रकार के रूप में भी भली प्रकार कर सकूँगा।" मुख्यमंत्री ने उन्हें समझाते हुए पुनः कहा—"आप इस पद पर रहते हुए देश का अधिक ही हित करेंगे। आपके अतिरिक्त इस पद के उपयुक्त व्यक्ति भी तो नहीं दीखता।" मुख्यमन्त्री के इस आग्रह को भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वे जानते थे कि राजनीति के जाल-जंजाल में पड़कर नीति-अनीति का विवेक खोया भी जा सकता है। अतः वे कुर्सी की इस माया से दूर ही रहे। ये निस्पृह-जन सेवी थे श्री हुकुम चन्दनारद।

श्रीनारद की यह मान्यता थी कि शुभकार्य को जितना शीघ्र आरम्भ कर दिया जाय उतना ही उत्तम होता है। मनुष्य-जीवन का भरोसा भी क्या? गिनी गिनाई साँसें जाने कब चुक जायें तथा यह जीवन, निरर्थक ही चला जाये। उन्होंने अपने बावनवर्ष के जीवन का थोड़ा-सा अंश भी व्यर्थ नहीं गँवाया। यही कारण है कि वे इस छोटे से जीवन में कई महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित कर गये थे।

इनका जन्म १४ जनवरी, १९०१ को वर्तमान मध्यप्रदेश के एक गाँव में हुआ था। १९३० में ये अपने आठप्राणियों के परिवार सहित स्थायी रूप से जबलपुर में आ बसे थे। यहाँ रहकर उन्होंने अपने कर्मठ, सजग, दूरदर्शी, लगनशील, देशभक्ति एवं मानवता परायण व्यक्तित्व की प्रखर किरणें प्रसारित की। इस प्रकाश से वह क्षेत्र ही नहीं वरन् समूचा राष्ट्र प्रकाशित हुआ।

इस अप्रतिम योद्धा ने एक साथ कई मोर्चों पर युद्ध किया था। शासन और सत्ता के मद में चूर अँग्रेजों पर उन्होंने अपनी प्राणवान-पत्रकारिता के शस्त्र का उत्तमोत्तम प्रयोग किया था। महाकौशल पत्रकारिता के इतिहास में 'बेडा काण्ड' विशेष महत्व रखता है। बेड़ा तथा ग्रामों में अँग्रेज टामी सैनिकों ने जो कुकर्म किये वे मानवता के मुँह पर कलंक कालिमा बन चुके थे। उन्होंने ग्राम-वासियों को निर्दयतापूर्वक पीटा, उनके घर लूटे तथा निरीह महिलाओं के साथ बलात्कार किया था।

आततायी कितना ही समर्थ क्यों न हो उसे दण्डित कराना प्रत्येक सजग मानव का कर्तव्य होता है। इससे कर्तव्य

के निर्वाह करते समय प्राण भी क्यो न होम करने पड़ें, होम देने चाहिए यह निश्चय कर वे रण-क्षेत्र मे कूद पड़े थे । इस काण्ड का सजीव-चित्रण अपने पत्र मे उन्होंने किया तथा यह माँग की कि टामियों का कोर्टमार्शल न हो वरन् सामान्य न्यायालय में उन पर मुकदमा चलाया जाय तथा उन्हे दण्डित किया जाय ।

सारे भारतवर्ष में इसकी भयकर प्रतिक्रिया हुई थी । सभी समाचारपत्रो ने जोरदार शब्दों मे इस आग्रह को दोहराया था । जनता ने भी अपनी आवाज बुलन्द की थी । सत्ता को इस आग्रह के सामने झुकना पड़ा तथा आतताइयो को दण्ड मिला था ।

पत्रकारिता के द्वारा ही उन्होने राष्ट्रीय-आन्दोलन को गतिशील ही नहीं बनाया वरन् आन्दोलनो में भी पूरा-पूरा भाग लिया था । १९३९ के त्रिपुरा-कॉंग्रेस अधिवेशन मे इन्हें प्रचारसमिति का सयोजक बनाया गया था । इस दायित्व का उन्होंने पूरी तरह निर्वाह भी किया था । समाचारो की व्यवस्था भी इतनी सुनियोजित रही कि एक भी समाचार छूटने नहीं पाया था । 'भारत छोड़ो आन्दोलन' मे भी वे कई बार जेल गये थे । अँग्रेज-सरकार के कोप-भाजन बने थे ।

जनता अँग्रेज-शासन तथा देशी-रियासतो के दोहरे शासन की चक्की मे पिस रही थी । जन-सामान्य के इस दर्द की पीड़ा नारदजी के अन्तर को निरन्तर बेधा करती थी । इनकी कलम की मार देशी राजाओ पर भी बुरी तरह पड़ती थी ।

मेहर रियासत का तत्कालीन शासक का यह आदेश था कि उसकी रियासत मे कोई भी व्यक्ति सफेद गाँधीटोपी नही लगायेगा । उन्हे यह कब सहन होता । वे गाँधीटोपी लगाकर मेहर में ही नही गये वरन् उसी वेश में इन्होंने मेहर के शासक से वार्तालाप भी किया । परिणाम कई वर्षों तक मेहर रियासत मे उनका प्रवेश वर्जित रहा था ।

मेहर ही नहीं रीवाँ, सतना आदि कई रियासतो से उन्हे निर्वासित होना पड़ा था । इनसे निर्वासित हो वे जबलपुर आये तो उनके पास धन के नाम पर केवल आठ आने के पैसे थे । किन्तु धन से भी बड़ी सम्पदाएँ उनके पास थीं । जबलपुर आकर उन्होंने अपने जीवन का शुभारम्भ कपड़ो की गठरी कन्धे पर रखकर गली-गली, मोहल्ले-मोहल्ले फेरी लगाकर किया था । ईमानदारी और परिश्रम तथा मानवीय-सद्‌गुणो के बलबूते पर वे इतने ऊपर उठे कि उनसे मन्त्री बनने का आग्रह किया गया था ।

उनके पिता साधारण गृहस्थ थे । अपने पुत्र के लिये वे कोई धन-सम्पदा तो छोड़ नही गये थे किन्तु उन्होंने अपने पुत्र का निर्माण किया था । सद्‌गुणों की थाती अवश्य उन्हें सौंपी थी ।

गृह-त्यागी, अविवाहित या त्यागी वैरागी भी वे नहीं रहे थे । पत्नी तथा छह बालकों का भार उनके ऊपर था । परिवार यदि सीमित रहता तो और भी अच्छा था किन्तु वे परिवार से ही बँधे नहीं रहे । आपातकालीन धर्म को ता पीड़ित देशवासियो के लिये अपने जीवन का कण-कण लुटने में उन्होने कोई कसर नहीं रखी थी ।

पत्रकार का जीवन उन दिनों काँटों का पथ था । उस कण्टकाकीर्ण-पथ पर उन्होने अपने सुदृढ चरण बढ़ाये थे । महाकौशल में पत्रकारिता का शुभारम्भ श्री नारद ने ही किया था । देश मे चल रहे स्वातन्त्र्य संग्राम के लिये जन-जन को जगाने का दायित्व उन्होंने अपने कन्धो पर उठाया था । साधन-हीन व्यक्तियो का एक सुदृढ सत्ता से यह संघर्ष अनोखा था । इस संघर्ष का पुरस्कार जेल-यन्त्रणा ही हो सकती थी । वही इन्हे भी मिली जबलपुर तथा बम्बई जेल की काल कोठरियों मे इन्हे बन्द कर दिया गया था । किन्तु वे केवल शरीर तो थे नही वे समय की पुकार में अपनी आवाज मिला रहे थे । यह पुकार उन काल-कोठरियो में भला बन्द कैसे रह पाती ?

नारद जी सच्चे पत्रकार थे । वे जीवनभर गरीबों के साथी रहे थे । उनकी आवाज को मुखर बनाने में कोई कोर कसर उन्होने नहीं छोड़ी थी । जबलपुर से निकलने वाले पत्र 'लोकमत' के माध्यम से यह वाणी गूँजी थी । विदेशी शासन के आतंक से मुक्ति पाने हेतु जूझ मरने का संकल्प इनकी पत्रकारिता का प्राण था । 'लोक मत' मे प्रकाशित इनके लेख तथा समाचार वर्तमान, 'अमृत बाजार पत्रिका', विश्व मित्र, 'लीडर', 'जन्म भूमि' आदि पत्रो मे भी एक दो दिन के अन्तर से प्रकाशित होते थे ।

उनके समाचारो तथा लेखो मे इनके हृदय में बसे दर्द की सरिता बहती थी । समाचारो की खोज के निमित्त जबलपुर स्टेशन पर नित्य ही डाक गाड़ी देखना इनका नियम-सा बन गया था । यह नियम वे इस दृढ़ता से पालते थे कि डॉ राजेन्द्र प्रसाद जैसे नेताओ को भी उनके इस नियम का ज्ञान हो चला था ।

श्री हुकुम चन्द नारद का जीवन अभाव, निर्वासन तथा जेल यात्रा, आन्दोलन तथा सघर्ष की जीती-जागती कहानी है । वे इसे ही सच्चा-जीवन मानते थे । अपनी सहधर्मिणी को भी उन्होने अपने अनुकूल ढाल लिया था । घर-गृहस्थी की गाड़ी कैसे चलती है ? यह उनकी पत्नी ही जानती थी । उन्हें अपने पति पर गर्व था किन्तु रिश्तेदारो तथा पड़ोसियों के मुख से तो उन्हे अपने पति के बारे मे ऐसी-वैसी बाते ही सुननी पड़ती थीं । इन से नारद जी अनभिज्ञ नहीं थे । वे इन सब बातो पर ध्यान नहीं देते थे । उन्होंने अपने पारिवारिक-जीवन की मधुरता को घटने नहीं दिया वरन् बढ़ाया ही था । अपने पुत्रो के लिये भी वे धन-सम्पदा तो नहीं छोड़ गये किन्तु उन्हे आत्म-निर्भर अवश्य बना गये थे । उनके पाँचों पुत्र सम्मानित जीवन जी रहे है । परिवार निर्माण के लिये वे अपने व्यस्त-जीवन मे से समय निकाल ही लेते थे ।

नियमित शिक्षा-दीक्षा नहीं होते हुए भी अपनी लेखनी को इस प्रकार जीवन्त बनाया था कि उन्होंने पत्रकारिता के

क्षेत्र में यश भी कमाया तथा देश तथा समाज की सेवा भी की थी।

देशवासियों की दशा निकट से देख लेने पर किसी भी सहृदय तथा जाग्रत-विवेक व्यक्ति के अन्तःकरण में इनकी सेवा तथा प्रगति करने की भावनाएँ उठती हैं संकल्प जागते है। इन संकल्पों को साकार करने वाले व्यक्तियों में से एक श्री नारद हैं। इन्होंने अपने इस संकल्प को आजीवन निबाहा था।

सेवा में इन्हे जो आत्मसन्तोष मिलता था वही उनकी आत्मा का नैवेद्य था। नित्य नहीं तो तीसरे चौथे दिन तो उन्हे जबलपुर के विक्टोरिया अस्पताल में किसी न किसी रोगी—अस्वस्थ की सेवा—सहायता करते देखा जा सकता था। उनकी आत्मीयता का विस्तार इतना अधिक हो चला कि उन्हें प्रायः शल्य-चिकित्सा-कक्ष के सम्मुख किसी रोगी परिजन की प्रतीक्षा करते हुए प्रायः देखा जाता था।

अपना कर्तव्य करते रहने तथा प्रशंसा-पुरस्कार पाने की कामना से सर्वथा दूर उनकी सेवा-साधना चलती थी। वे प्रायः कहा करते थे—"शरीर को जैसे भूख प्यास लगती है उसी प्रकार आत्मा को भी भूख लगती है। यह भूख होती है समाज का ऋण चुकाने की—परोपकार की। यदि किसी को यह भूख अनुभव नहीं होती तो उसकी मनुष्यता सो रही है।"

नारद जी की मृत्यु ५२ वर्ष की अवस्था में २७ नवम्बर, १९५३ को हृदय-गति रुक जाने से हुई थी। देखते ही देखते कुछ ही क्षणों मे उनके मुखर जीवन का मौन समापन हो गया। उन्हें पार्थिव शरीर छोड़े कई वर्ष व्यतीत होने आये है किन्तु उनकी सेवा, साधना, राष्ट्र-प्रेम तथा पीड़ित मानव के प्रति सम्वेदनशीलता ने उन्हे अमर बना दिया है।

जबलपुर के जिस मुहल्ले के एक साधारण किराये के मकान में उनका अधिकाश जीवन व्यतीत हुआ उसमे से गुजरने वाले रास्ते का नाम हुकुमचन्दनारद मार्ग रखा गया है। १९४२ की शहीद-रक्त-स्नात तिलक-भूमि मैदान को जाने वाला मार्ग का नामकरण भी उन्हीं के नाम पर कर दिया गया है। यह मार्ग प्रत्येक भावनाशील पथिक को उनके पथ पर चलने का आग्रह करता रहेगा।

शासकीय विक्टोरिया अस्पताल, जबलपुर मे एक विश्राम कक्ष नारद जी की स्मृति में बनाया गया है। भारतीय पत्रकारो मे नारद जी प्रथम व्यक्ति हैं जिनके प्रति देशवासियों ने यह सम्मान प्रदर्शित किया है। श्रेय पथ के पथिको के ये स्मृति-चिन्ह यदि हमारे रक्त में हमारे भाइयों की व्यथा—हमारे पिछड़े समाज का दर्द तथा प्रगति-यज्ञ मे आहुति देने का सकल्प न जगाते तो दोष उस स्मारक का नहीं हमारे पानी हुए रक्त का ही होगा।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के साधक— पं. लेखराम

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक की बात है। उन दिनो भारत की अँग्रेज सरकार यह अनुभव करने लगी थी कि भारतीयो मे देश-प्रेम और राष्ट्रीयता के बीज धीरे-धीरे अंकुरित होते जा रहे है। निस्सन्देह इन भावनाओं का जागरण उन दिनों चल रहे सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रयासो का ही परिणाम था। भारतीय अपने धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के प्रति गौरव से भर रहे थे। अपने पाँव मजबूती से जमाये रखने के लिये अँग्रेजों ने यह आवश्यक समझा कि देश-वासियों को उस स्रोत से ही काट दिया जो उन्हें देशाभिमानी बना रहा है। इसलिए ईसाई धर्म-प्रचारक भय और प्रलोभन की नीति अपनाकर भारत का ईसाईयत और विदेशी-आस्थाओं के रंग में रगने के लिए प्रयत्नशील थे।

उधर मुसलमान भी अपनी सख्या बढ़ाने के लिए पद-दलित और उपेक्षित हिन्दुओं को अपने खेमे में शामिल करने के लिए जोरों से प्रयत्न कर रहे थे। तत्कालीन आर्यसमाजी नेताओं ने इस बारीकी और यह षड्यन्त्र विफल करने के लिए वे भी यत्नशील हो गये थे। इस उद्देश्य में मिल रही सफलता से ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए बल्कि भारतीय-धर्म-दर्शन और तत्व-ज्ञान की विजय पताका दूर देशान्तरो मे भी फहराने के लिए घूमते रहे थे।

ऐसे ही उत्साही संस्कृत-भक्तो मे से एक थे पण्डित लेखराम। जो उन दिनों बिलोचिस्तान और भारत के अन्य सीमावर्ती प्रान्तों में प्रचारकार्य कर रहे थे। परिवार मे सभी कोई थे, आश्रय और गृहव्यवस्था का बड़ा दायित्व भी उनके कन्धो पर था। परंतु पण्डित जी के लिए उन पारिवारिक दायित्वों से भी अधिक महत्वपूर्ण दायित्व धर्म और संस्कृति की रक्षा तथा उनका प्रचार था। इस प्रचार-कार्य मे उन्हे अगणित कठिनाइयो और बाधाओं का सामना करना पड़ता था। सर्वाधिक बाधाएँ और अवरोध उपस्थित करने वाले अपने ही भाई होते थे। क्योकि उन्हे आर्यसमाज के प्रचलित और प्रचारित सुधारवादी विचारधारा अखरती थी। इस अभियान ने उस व्यवस्था पर प्रहार किया था जो हिन्दू-समाज को पतन के गर्त मे ढकेलने और संकीर्ण व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए अन्ध-विश्वास तथा अविवेक को कायम रखने के लिए जिम्मेदार थी।

उन दिनो स्वामी दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित उत्साही, आर्यसमाजी-युवक और नेता उस व्यवस्था मे आमूलचूल परिवर्तन करने तथा हिन्दू-धर्म के मूल-स्वरूप की सुरक्षा के लिए प्राणपण से प्रयत्नशील थे। पोगापन्थी पण्डितों और धर्म-ध्वजियो का क्षुब्ध और कुपित होना स्वाभाविक ही था। उत्साही पण्डित-लेखराम को भी इन धर्म-ध्वजियों का कोपभाजन बनना पड़ा था। उन्हे तरह-तरह से परेशान किया गया। कई बार तो उन्हे दूरस्थ स्थानों में शास्त्रार्थ की चुनौती

देकर बुला लिया गया और जब वे आ गये तो शास्त्रार्थ के लिए कोई भी नही आये । अनेक बार उन्हे जान से मारने की धमकियाँ भी दी गयी थीं । फिर भी वे अपने कर्तव्य-पथ से हटे नहीं ।

कहा जा चुका है कि पण्डित लेखराम कर्तव्यनिष्ठ और सद्गृहस्थ व्यक्ति थे । उन्हें अपने दायित्वों का अच्छा ज्ञान था फिर भी जिस महत्कार्य के लिए उन्होने स्वयं को आत्मार्पित किया था वह कर्तव्य ही उनकी दृष्टि में सर्वोपरि था । चर्चा जिन दिनो की चल रही है उन दिनों वे बिलोचिस्तान में कार्यरत थे । वहाँ भी अन्य क्षेत्रों की भाँति कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा था । समय पर आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती थी । परन्तु पण्डित जी तो कष्ट कठिनाइयाँ सहने के आदी से हो गये थे । उन्हीं दिनों पण्डित जी के छोटे भाई का देहान्त हो गया था । जो परिवार में उनके स्थान पर कार्य कर रहा था । पण्डित जी को पता चला तो मन हुआ कि प्रचार कार्य बीच में ही छोड़ कर चला जाऊँ । लेकिन उनके समर्पित हृदय ने निर्णय दिया—"नहीं इतने दिन परिश्रम करने के बाद जो हवा बनी है उसे अनुकूल रुख देने से पूर्व घर जाना ठीक नहीं ।" गृह-व्यवस्था मे तो जाने न जाने से कोई अन्तर नहीं आयेगा । फिर भी लोकाचार का ध्यान रखकर घर गया भी सही तो यहाँ किया इतने दिनों का परिश्रम व्यर्थ चला जायेगा । जो इस महत्कार्य के लिए हानिप्रद ही सिद्ध होगा ।

इस शोक के अवसर पर जहाँ पण्डित जी ने पारमार्थिक-कर्तव्य को ही प्रधानता दी, वहीं उनके लिए कोई हर्ष की घटना भी अप्रभावकारी ही थी । इस घटना के कुछ समय पूर्व ही उनकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया था । जिस समय उनके दाम्पत्य-जीवन मे प्रथम सन्तान का आगमन हुआ उस समय उनकी आयु ३६ वर्ष थी । सामान्यत: इस वय मे सन्तान का प्राप्त होना सबसे 'बड़ी खुशी की घटना समझा जाता है । परन्तु समर्पण तो समर्पण है । गीता के 'हर्षोद्वेग भयमुक्ता' की भाँति समर्पण की साधना ही उनका जीवन था ।

पण्डित लेखराम का जन्म अविभाजित पंजाब प्रान्त रावलपिंडी जिले मे सन् १८५८ ई. मे हुआ था । जब उनका जन्म हुआ था तब अँग्रेजी सरकार का दमनचक्र जोरो से चल रहा था । कुछ समय पूर्व ही लड़े गये स्वाधीनता-संग्राम का बदला विदेशी-शासन पानी पी-पीकर ले रहा था । स्वाधीनता-संग्राम मे भाग न लेने वाले निरपराध व्यक्तियों को भी अकारण ही दण्डित किया जा रहा था । अँग्रेज सिपाही घर-घर जाकर लोगों को तंग कर रहे थे । इसी दमन-चक्र की प्रक्रियावधि में कोई अँग्रेज सैनिक लेखराम जी के पिता तारासिंह के घर भी पहुँचे और उन्हें अकारण ही तंग करने लगे । पण्डित तारासिंह ने वस्तुस्थिति और आगन्तुक अधिकारियों की प्रकृति तथा हैसियत से परिचित होते हुए भी स्पष्ट, खरे तथा निर्भयता से पूर्ण उत्तर दिए । बड़ा आश्चर्य हुआ उन अधिकारियों को, कोई भारतीय व्यक्ति उन्हे मुँह खोल कर जवाब दे इसको भी वे अपना अपमान समझते थे ।

कड़क कर बोले—ठैर । तुम्हारे पास जो कुछ भी हथियार हों उन्हें हमारे पास जमा कर दो ।

एक क्षण को विचार किया । तारासिंह ने और सोचा हथियार तो है अपने पास परन्तु उनका बिना दुरुपयोग किये वापस करना तो गलत है, स्वाभिमान के विरुद्ध है । उन्होंने कह दिया—'मेरे पास कोई हथियार नहीं है ।"

'ऐसा हो ही नहीं सकता'—अँग्रेज अधिकारी ने कहा और अपने साथ आये सैनिकों से तलाशी लेने के लिए कहा । हथियार है तो सही और वे रखे भी ऐसे स्थान पर है जहाँ आसानी से दृष्टि पड़ जाये । अब तो बड़ी चिन्ता हुई तारा सिंह को । पुलिस वालों ने भी खूब जाँचा-परखा परन्तु उन्हें हथियारो का कहीं पता ही न लगा और वे यह कहते बाहर आ गये—'यहाँ कोई शस्त्र नहीं है ।'

तारासिंह को सन्तोष तो हुआ परन्तु आश्चर्य भी कि शस्त्र कहाँ चले गये । बाद में पता चला कि बाहर हो रही बाते सुनकर परिवार का ही एक बालक उन हथियारों को कहीं छुपा आया था । परिवार की आर्थिक स्थिति, वातावरण और परम्पराएँ चाहे जैसी भी रही हो परन्तु उसके सभी सदस्यों मे स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था । पण्डित जी के पिताजी ने स्वाभिमान की भावना से प्रेरित होकर घर में रखे हथियार सैनिक अधिकारियो को नहीं बताये थे और उसी आत्माभिमानी बालक ने परिवार के आत्म-सम्मान की रक्षा हेतु उन शस्त्रो को अन्यत्र कहीं ले जाकर छुपा दिया ।

यह निष्ठा ही पण्डित जी को विरासत मे मिली । स्वधर्म के गर्व-गौरव के रूप मे फली-फूली । उनकी शिक्षा देहाती पाठशाला मे हुई थी । परन्तु आस्तिकता और धर्म-भावना का विकास पारिवारिक परिवेश में हुआ था । सत्रह वर्ष की आयु मे उन्होने पेशावर के पुलिस-विभाग मे नौकरी कर ली थी । एक प्रकार से यह उनकी शैक्षणिक योग्यता के विकासक्रम की इतिश्री थी । पुलिस विभाग के कर्मचारी होते हुए भी वे अपने व्यस्त-जीवन मे कठोर नियमनिष्ठ आस्तिक और ईश्वरभक्त थे । भगवान श्रीकृष्ण मे और भगवद्गीता मे उनकी गहरी अभिरुचि हो गयी । कुछ वर्षों तक पुलिस विभाग मे काम करते हुए उन्हें इस विभाग में विरति होने लगी और वे वैराग्य लेने का विचार करने लगे थे ।

जब उनकी माता को यह पता चला कि मेरा बेटा सन्यासी होने जा रहा है तो उन्होने लेखराम को विवाह बन्धन मे आबद्ध कर देने का विचार किया । यहाँ तक कि एक कन्या से सगाई भी पक्की कर दी थी । इधर पण्डित जी के आन्तरिक जीवन मे भी उथल-पुथल मची थी । वे महर्षिदयानन्द के सम्पर्क में आये । उस समय के समाचार पत्रो तथा सार्वजनिक चर्चाओं का मुख्य विषय प्राय: स्वामी जी का सुधारवादी आन्दोलन ही हुआ करता था । पण्डित

ी ने महर्षि की कुछ पुस्तके पढी और ऋषि की प्रखर, धक तथा आदर्श-विचारधारा के स्पर्श ने उन्हे इतना प्रभावित कया कि वे स्वामी जी से भेट करने के लिए व्याकुल से । उठे ।

स्वामी दयानन्द के विचारों में उन्होंने भारतीय-संस्कृति ी आत्मा के दर्शन किये । उन्हे लगने भी यही लगा कि द्विचारो और आध्यात्मिक जीवन-मूल्यो का प्रचार तथा नर्प्रतिष्ठा ही सच्ची धर्म-साधना है । इधर परिवार वालो द्वारा ववाह कर लेने पर भी जोर दिया जा रहा था । परन्तु, ण्डित जी उन्हें येन-केन-प्रकारेण टालते रहे । हाँ उनको ंन्यास लेने का विचार अवश्य मिट गया था क्योंकि वेचार-क्रान्ति को वे समग्र धर्म साधना और प्रचार की उत्कृष्ट द्धति मानने लगे थे । यह विश्वास दिलाने पर कि मैं ंन्यास तो नही लूँगा परन्तु विवाह भी अभी नहीं करूँगा रिजनों का दवाब कुछ कम हुआ ।

सन् १८७९ ई. मे पण्डित जी ने पेशावर में आर्य समाज की स्थापना की थी और प्रतिदिन गोष्ठी प्रचार का क्रम आरम्भ किया । कुछ दिनो बाद वे महर्षि-दयानन्द से मिलने के लिए अजमेर गये थे । अपने प्रेरणा-स्रोत और आदर्श से उन्हें बातचीत करने की बड़ी हार्दिक इच्छा थी । जी भी था कि मैं अपने गुरु से हृदय खोलकर खूब बातें करूँगा । जब वे स्वामी जी के सम्मुख पहुँचे और उन्होंने कुशलक्षेम पूछा तो वे भाव-विभोर से हो गये और कुछ भी न कह सके । बाद मे उन्होने कुछ बातें भी की थी । महर्षि उनकी प्रतिभा, निष्ठा और श्रद्धा-भावना से बड़े प्रभावित हुए तथा कहा "पच्चीस वर्ष से पूर्व विवाह न करना ।" घर वालो को पर्याप्त समय तक रोके रहने के लिए अब तो एक अच्छा आधार उन्हे मिल गया था ।

अजमेर से लौटकर पण्डित जी ने यह आवश्यक समझा कि धर्म-प्रचार के लिए कोई पत्र निकाला जाय । जो शिक्षित जनता की आत्मिक और मानसिक क्षुधा को तृप्त कर सके । उन्होंने आर्यसमाज पेशावर की ओर से एक 'धर्मोपदेश' नामक मासिक-पत्र निकालना आरम्भ किया । यह काम बड़े परिश्रम और दायित्व का था । फिर उन्होंने अकेला यही काम तो अपने हाथ मे ले नही रखा था । फिर भी उन्होंने निष्ठा और परिश्रमपूर्वक इस कार्य को चलाया था ।

महर्षि दयानन्द का निर्वाण होने के बाद आर्यसमाजी नेताओ ने स्वामीजी का जीवन-चरित्र प्रकाशित करने की आवश्यकता अनुभव की थी । इस कार्य का प्रथम चरण था महर्षि के प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित प्रामाणिक और तथ्यपूर्ण जानकारी एकत्रित करना । महर्षि ने स्वयं के विषय मे कभी कुछ नहीं कहा था । अतएव श्रमपूर्वक शोध अनुसन्धान की आवश्यकता थी । इस कार्य के लिए सब प्रकार से योग्य समझे गये पण्डित लेखराम और उन्हे ही लेखन व प्रकाशन का दायित्व सौंपा गया था ।

पण्डित जी ने स्वामी जी के जीवन विषयक प्रामाणिक जानकारी एकत्र करने के लिए बड़ी दौड़-धूप की थी । महर्षि के गुरु भाइयों से लेकर उनके बचपन के साथी-सहयोगियों तक से उन्होंने सम्पर्क किया था । मनोयोग और श्रम-पूर्वक इस कार्य में लगने से उन्हे अच्छी सफलता भी मिलने लगी और धीरे-धीरे स्वामी दयानन्द का प्रामाणिक जीवन वृत्त तैयार हो गया । उस समय चलाये गये विचार-क्रान्ति अभियान मे पूरा समय और श्रम देकर पण्डित लेखराम लेखन तथा सम्पादन का कार्य भी करते रहे ।

हिन्दी के अनन्य सेवक—अमृतलाल चक्रवर्ती

मुसीबत अकेली नहीं आती अपने बच्चे-बच्ची भी साथ लेकर आती है ताकि मनुष्य की पूरी तरह खबर ली जा सके । अमृतलाल चक्रवर्ती को दिसम्बर १८८१ में इन्टर की परीक्षा देनी थी उसके पहले ही आपत्तियो ने परीक्षा लेनी आरम्भ कर दी थी । सितम्बर मे पिताजी बीमार हुए । वे थोड़े दिन रोग भोगकर चल बसे । बीमारी फिर भी नहीं गई । उसने अमृतलाल को पकड़ लिया । विद्यालय के प्रधानाध्यापक ने दया करके गाँठ से खर्च के रुपये भेजकर परीक्षा देने बुलाया पर बीमारी ने पीछा नहीं छोड़ा ।

अच्छे होकर नौकरी के लिये कलकत्ता आये थे । बहुत प्रयत्न करने पर भी नौकरी नही मिली साथ जो खर्च के लिये रुपये लाये थे वे भी समाप्त हो गये । स्थिति भूखो मरने की आ पहुँची । अकेले होते तो ठीक पर बचपन मे ही विवाह करके इनके पिता ने पत्नी का भार और लाद दिया था । बाल-विवाह की कुरीति ने भारतीय समाज को कितना गया-गुजरा बना दिया था उसे अनुभव कर वह युवक परेशान हो उठा । कितने ही युवक इस कुप्रथा के शिकार होकर आगे नही बढ़ सके थे । वह इन कठिनाइयो से पीछे हटने वालो मे से नही था । उसने अपनी पत्नी के गले का हार बेचकर सब्जी बेचकर अपना खर्च चलाना आरम्भ कर दिया । गाँव से पाँच मील दूर प्रति सप्ताह एक हाट लगता था वहीं सब्जी बेचकर वह चार-पाँच रुपये कमा लेता था ।

उच्च-कुल के युवक को इस प्रकार सब्जी का धन्धा करते देखा तो जाति वालो ने टोका । उसे जाति से बाहर करने की धमकियाँ दी जाने लगीं । लोग कहते कुंजड़े का धन्धा ही करना था तो पढ़-लिखकर समय को बर्बाद क्यों किया ? युवक भी चुप न रहता—"पढ़े-लिखे लोगो का भूखो मरना क्या आपको अच्छा लगता है ? इस प्रकार की हीन मान्यताओ ने ही तो हमारे समाज को पतन के गर्त में डुबाया है । धंधा और परिश्रम तो मनुष्य का धर्म है ।"

आपातकालीन-स्थिति की तरह अमृतलाल ने सब्जी बेचने का काम किया था, इसका अर्थ यह नहीं था कि वह इसी से सन्तुष्ट हो गया था । जब साठ-सत्तर रुपये इकट्ठे हो गये तो वह अपने परिवार के साथ गाजीपुर चला गया । वहाँ

एक दुकानदार ने काम दिया । उसने दुकानदार के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर रेल्वे डिपार्टमेंट में सर्विस कर ली । वहाँ पर अफसर से झगड़ बैठा और नौकरी चली गई ।

कष्ट और कठिनाइयाँ मनुष्य को बनाने के लिये आती है जो इनसे लड़ता हुआ आगे बढ़ता जाता है प्रगति उसके कदम चूमती है । इन विषम अनुभवो मे भी युवक हारा नहीं । उसने कानून पढ़ना आरम्भ किया । पब्लिक प्रॉसीक्यूटर मि. हिल के यहाँ वह नौकरी भी करता और कानून पढ़ता था । मि. हिल इसकी प्रगति से बहुत प्रसन्न हुए ।

बचपन में ही अमृतलाल ने समाज की हीन दशा देखी थी । इसके पिता आनन्दचन्द्र चक्रवर्ती पुराने ढर्रे के ब्राह्मण थे । घर की स्थिति ठीक न होने के कारण उसे कभी मामा के यहाँ, कभी भाई के यहाँ रहना पड़ा था । समाज के विषम चित्र उनकी आँखों के सामने से गुजर चुके थे । कभी मौलवी के बेत खाकर स्कूल छोड़ना पड़ा तो कभी ट्यूशन करके अपना खर्च चलाना पड़ा । सामाजिक कुप्रथा तथा राजनैतिक-दासता के साथ-साथ अशिक्षा भारतीय-जनता को दीन-हीन बनाये जा रही थी । उसके प्रति बचपन से ही बालक के मन मे पीड़ा उमड़ने लगी थी । यहाँ जब वह 'प्रयाग समाचार' के सम्पादक देवकी नन्दन त्रिपाठी के सम्पर्क मे आया तो यह पीड़ा लेखो के रूप मे बह निकली । यहीं इसे हिन्दू-सभा मे सम्मिलित होने का अवसर मिला ।

प्रगति करने के अवसर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आते है । जो उन अवसरों को परखना जानते है वे आगे बढ़ जाते है । ऐसा ही एक अवसर इसके जीवन मे भी आया । हिन्दू-सभा के वार्षिकोत्सव में कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह आये थे । उन्होने इस युवक के आगे 'हिन्दुस्तान' पत्र के सम्पादक बनने का प्रस्ताव रखा । हिल साहब ने आश्वासन दे रखा था "कानून पास करते ही मुसिफ बनवा दूँगा ।" कानून पास करने मे कुछ ही महीने रह गये थे । सम्पादक का काम उन दिनो घाटे का सौदा था । वह अस्थायी तो था ही साथ-साथ आर्थिक दृष्टिकोण से भी महत्वहीन था । मुंसिफ बनने मे दुतरफा लाभ था । युवक ने पत्र-सम्पादक बनना ही स्वीकार किया । वह जानता था कि अपनी प्रतिभा व योग्यता का उपयोग वह सम्पादक बनकर भली प्रकार जन-जागरण के लिये कर सकेगा ।

'हिन्दुस्तान' के सम्पादक का काम करते हुए अमृतलाल ने अनुभव किया कि वे अभी इण्टर भी पास नहीं कर पाए है । उन्हे सम्पादक के नाते अपनी शिक्षा को पूरी करना चाहिए । राजा साहब ने मुझे सम्पादक बना दिया पर मुझे अपनी कमी तो पूरी करनी चाहिए । सन् १८८७ मे उन्होने सम्पादकी छोड़ दी । घर जाकर पूरी तैयारी करके इन्टर की परीक्षा में बैठे । इन्टर अच्छे अकों से पास करके ही सम्पादन क्षेत्र में आये ।

बगाली होते हुए भी हिन्दी के प्रति इनकी बहुत रुचि थी । पूरे देश को एक सूत्र में बाँधने का काम कोई भाषा कर सकती थी तो वह थी हिन्दी । इतने विशाल देश की भाषा का साहित्य भण्डार भी विशाल होना चाहिए । स्वयं वे उच्च-कोटि के साहित्यकार बनना चाहते थे जिससे इस भण्डार को भर सके तथा अन्य साहित्यकारो को प्रेरणा दे सके । इसके लिए हिन्दी का विस्तृत ज्ञान आवश्यक था । इण्टर पास करके इन्होने 'भारत मित्र' कार्यालय में नौकरी कर ली । सुबह-शाम काम करते और दिन मे मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट मे पढ़ते । इस प्रकार १८९० मे उन्होने बी. ए. किया ।

पत्र-सम्पादक का कार्य करते हुए उन्हीं पत्रों के म[illegible] को समझा था । गुलामी, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता तथा अज्ञान के कारण समाज जर्जर हो चुका था । उसकी नैतिक तथा बौद्धिक क्षमताएँ कुंठित हो चुकी थीं । उसे जाग्रत करने का काम पत्र-पत्रिकाएँ कर सकती थी । इस प्रकार के पत्र-पत्रिकाओ की संख्या उस समय उँगलियो पर गिनने लायक थीं । जनता को अपने अधिकारो तथा दायित्वो के प्रति जाग्रत रहने की प्रेरणा देने के लिये पत्रकारिता का माध्यम उस समय उपयुक्त था । इसी उद्देश्य से इन्होने मुसिफ बनना छोड़कर यह क्षेत्र अपनाया था ।

पत्रकारो की दुश्मन अँग्रेज सरकार तो थी ही साथ-साथ लोगो की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ भी इनके मार्ग का कुछ बड़ा रोड़ा थीं । ऐसी ही एक महत्वाकाक्षा, जब ये 'भारत मित्र' के सम्पादक थे इनकी राह मे रोड़ा बनकर आई । सन् १८८९ मे हरीसन रोड बन रही थी । जगन्नाथ खन्ना 'भारत मित्र' के मैनेजिंग डायरेक्टर थे । वे उस समय म्युनिसिपल कमिश्नर भी थे । इस सड़क के बनाते समय बड़ा बाजार का एक मन्दिर टूटने लगा । 'भारत मित्र' ने इसके विरोध मे लेख प्रकाशित करे व उनके कार्यों की टीका-टिप्पणी की । उन्होने चक्रवर्ती जी को इस भूल को सुधारने तथा 'भारत मित्र' ने अपनी भूल के लिये खेद प्रकट करने को कहा । चक्रवर्ती जी जनता को जगाना चाहते थे । सुलाना चाहते तो यह स्वेच्छा से गरीबी वरण का घाटे का सौदा-सम्पादक का काम ही क्यो स्वीकार करते । उन्होंने [illegible] कर दिया । खन्ना जी चाहते तो थे कि इन्हे उस पद से हटा दे पर दूसरा कोई व्यक्ति इस प्रकार के परमार्थ प्रयोजन वाले काम को करने के लिये मिला नहीं ।

इनकी प्रेरणा से ही बंगवासी वालों ने महाभारत का अनुवाद निकाला । 'हिन्दी बगवासी' पत्र भी इन्हीं प्रयत्नों से निकला । बगाली क्षेत्र मे हिन्दी का प्रचार करने के लिये इस पत्र के माध्यम से अपने पर्याप्त काम किया । दस वर्ष तक 'हिन्दी बंगवासी का सम्पादन करते हुए इन्होने कई पुस्तकें लिखीं । इन्हे प्रसिद्धि की चिन्ता नहीं थी । 'लेखक को प्रसिद्धि का लोभ नहीं करना चाहिए ।' यह समझाने के लिये इन पर अपना नाम प्रकाशित नहीं कराया ।

स्वाभिमानी, प्रगतिशील तथा जनता की आदर के समर्थक होने के कारण इन्हें कई पत्र-पत्रिकाओं ने काम करने

पड़ा । इन्होंने जिस पत्र को हाथ में लिया उसे ही सुविकसित करके छोड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि पत्र वालों ने पुनः इन्हें सम्पादन करने का आग्रह किया ।

पत्रिकाओं से निकाले जाने पर ये अपना कोई स्वतन्त्र व्यवसाय करने लग जाते थे कुछ समय तक 'आर्डर सप्लायर' का काम किया । फिर 'वेंकटेश्वर समाचार' का सम्पादन करने बम्बई चले गये । वहाँ किसी का स्वार्थ टकराया, विचारधारा न मिली तो 'निगमानिगम चन्द्रिका' के मैनेजर व सम्पादक बन गये । वहाँ से छूटे तो १९०६ में घर आकर मोदी की दुकान खोल ली । दुकान करते हुए स्वदेशी आन्दोलन में भाग लिया । 'भारत मित्र' से फिर बुलावा आया । वहाँ तीन वर्ष तक काम किया ।

व्यवसायी और साहित्यकार दोनों के रूप में प्रायः बहुत कम व्यक्ति सफल होते हैं लेकिन चक्रवर्ती जी इसके अपवाद थे । वे कहते थे दुकान करो या लेखन जिसमें कुछ परिश्रम करने की हिम्मत है व लगन है वह हर क्षेत्र मे सफल होता है । १९१३ में सेठ दामोदर राठी ने उन्हें अपनी व्यावर, राजस्थान वाली मिल में मैनेजर बना दिया । अच्छा पद, आय और सुख-सुविधा उन्हे अपने उद्देश्य से डिगा न सकी । 'वेंकटेश्वर समाचार' से बुलावा आया तो मैनेजरी छोड़कर बम्बई पहुँच गये । सेठ दामोदर दास वहाँ भी बुलाने पहुँचे । उन्होंने उत्तर दिया—"माफ कीजिये सेठ साहब हिन्दी लिखे बिना रहा नहीं जाता ।" सत्य है चक्रवर्ती जी की तरह स्वार्थ के साथ परमार्थ को जोड़ा नहीं जाय तो मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या रह जायेगा ।

चालीस वर्षों तक इन्होंने हिन्दी-भाषा के भंडार को अपने साहित्य से भरा । एक बंगला-भाषी प्रदेश के निवासी होते हुए भी हिन्दी के प्रति इनकी जो श्रद्धा थी वह हिन्दी-भाषी प्रदेश के साहित्यकारों के लिये एक प्रेरणा बनकर उभरी । इनके कार्यों को ध्यान में रखते हुए इन्हे १९२५ मे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का गौरवपूर्ण पद दिया गया । हिन्दी-साहित्य-भण्डार को समृद्ध बनाने के साथ-साथ इन चालीस वर्षों मे आपके मार्गदर्शन में कई पत्र-पत्रिकाएँ बन्मी, विकसित हुईं तथा जाग्रत नागरिको का निर्माण करने की महत्वपूर्ण भूमिका इन पत्रिकाओ ने निभाई । चक्रवर्ती जी जैसे लोकसेवकों के प्रयासो का ही परिणाम है कि आज हिन्दी राष्ट्र-भाषा का सम्मान पा रही है ।

चालीस वर्षों मे उन्होंने 'हिन्दुस्तान', 'भारत मित्र', 'हिन्दी बंगवासी', 'वेंकटेश्वर समाचार', 'कलकत्ता समाचार', 'निगमागम चन्द्रिका', 'फारवर्ड', 'श्री सनातन धर्म' आदि पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से जन-जागरण का बिगुल बजाया था । इनके मार्ग-दर्शन तथा सम्पादकत्व मे ये पत्र-पत्रिकाएँ समृद्ध हुईं ।

जरा-सी कठिनाई तथा असुविधा के आते ही हिम्मत पस्त हो जाने की अपेक्षा चक्रवर्ती जी की तरह साहस तथा परिश्रम के शस्त्रो से सज्जित होकर कर्मक्षेत्र मे उतरा जाय तो स्वयं के निर्वाह के साथ-साथ लोकजागरण जैसा परमार्थ भी किया जा सकता है । ऐसी जीवन्त आत्माएँ ही अज्ञानान्धकार में ज्ञान किरणें फैला सकती हैं ।

सजग पत्रकार, समर्थ समाजसेवी—
पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति

श्री. इन्द्र विद्या वाचस्पति ने डिक्लेरेशन प्राप्त करके दिल्ली से 'विजय' नामक राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हिन्दी पत्र निकालने का निश्चय किया तो एसोशियेटेड प्रेस के डायरेक्टर श्री राय ने कहा—"मेरे प्यारे बच्चे, दिल्ली से हिन्दी दैनिक निकालने का दुस्साहस न करो ।" पर इन्द्र जी भी धुन के धनी थे कहने लगे—"पत्र तो अवश्य निकालूँगा ।"

इन्द्र जी ने राय महाशय की बात नहीं मानी और पत्र निकाल ही दिया । पत्र निकाला पहले दिन केवल सत्तर प्रतियाँ बिकीं । खरीदने वालों में अधिक संख्या हिन्दी पढ़ने वाली लड़कियों की थी । पत्र छपता भी हैण्ड प्रेस मे था । तीन महीने मे ही इसकी बिक्री ५०० तक पहुँच गयी । यह संख्या उस समय को देखते हुए कम नहीं थी । पत्र जितनी संख्या में छपता था उतना ही बिक भी जाता ।

उन्हीं दिनों महात्मा गाँधी ने रोलट-एक्ट पर सत्याग्रह की घोषणा कर दी थी । इन्द्र जी को उन्होंने दिल्ली सत्याग्रह कमेटी का मन्त्री बना दिया था । यह उनके जोश को बढ़ाने के लिये काफी था । उन्होंने अपनी कलम की ताकत का भरपूर प्रयोग किया, खुलकर—बेलगाम । 'विजय' की धूम मच गयी थी । पहला राष्ट्रीय पत्र था, खूब बिकने लगा । सरकार की कोप दृष्टि पड़ना स्वाभाविक थी । जमानत माँगी गयी । सेंसरशिप लगायी गयी । पत्र बन्द करना पड़ा । पर दो वर्ष से अधिक चुप बैठना इन्द्र जी जैसे व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं था सो पत्र पुनः प्रकाशित हुआ, पर नाम बदल कर अब उसका नाम था 'अर्जुन' ।

असम्भव को सम्भव कर दिखाने और अँग्रेज सरकार की नाक तले रहकर उसी की नाक में दम करने वाले युवा पत्रकार इन्द्र विद्यावाचस्पति का यह साहस बहुत कुछ उनके पिताजी की देन थी । स्वामी श्रद्धानन्द जैसे महात्मा का पुत्र होने का उन्हे गौरव प्राप्त हुआ था । उस गौरव को उन्होंने समझा, स्वीकारा और निभाया इसके लिए वे साधुवाद के पात्र है । उन्होंने स्वयं को स्वामी श्रद्धानन्द का सच्चा उत्तराधिकारी भी सिद्ध किया ।

इन्द्र जी ने एक इण्टरव्यू के दौरान प. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' को बताया—"जब पिताजी ने गुरुकुल की स्थापना की तो मैं और मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी (जो सन् १९१४ में राजा महेन्द्र प्रताप के साथ इंगलैण्ड गये थे और १९२२ में रिवोल्यूशनरी पार्टी मे सम्मिलित होकर कहीं लुप्त हो गये थे) दोनो आरम्भ मे उसमें भर्ती किये गये । वहीं से हम दोनों स्नातक हुए । यह सन् १९१२ की बात है । हमारे

स्नातक होने के छह महीने पहले स्वामी जी ने अपनी कोठी के दानपत्र पर भी हमसे हस्ताक्षर करवा लिये थे । अपने 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस को उन्होंने गुरुकुल को पहले ही दे दिया था । स्नातक होने के समय हमारे पास भौतिक सम्पदा के नाम पर कुछ भी नहीं था । पर उसकी हमें चिन्ता भी नही थी क्योंकि पिताजी ने हमे जो कुछ दिया था वह उससे कई गुना मूल्यवान था ।

जिस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द 'पूत सपूत तो क्यो धन संचै, पूत कपूत तो क्यो धन संचै' की सीख पर चलने वाले थे उसी प्रकार उनके पुत्रद्वय भी उस सीख की सच्चाई पर विश्वास करने लगे थे । वे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखते थे । इन्द्र जी ने अपनी आँखो के सामने स्वामी जी के स्वप्नों का गुरुकुल काँगड़ी बसते देखा था । थोड़े से धन से जंगल मे चलाया गया यह शिक्षण संस्थान कैसे प्रगति करता चला गया ! स्वामी जी के संकल्पो के इस चमत्कार से वे चमत्कृत ही नही हुए थे उस संकल्प-शक्ति को उन्होंने अपने भीतर भी विकसित किया था ।

प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति का व्यक्तित्व बहुमुखी प्रतिभा से समन्वित था । वे कुशल आचार्य, निर्भीक पत्रकार, निष्ठावान देशभक्त, सजग साहित्यकार व समाज सेवी थे । राष्ट्र और समाज के लिये मर मिटने की जो भावना उनके पिताजी मे थी ठीक वैसी ही लौ उनमे भी जलती थी ।

त्याग, बलिदान का पाठ पढ़ने के लिये उन्हें कही दूर नहीं जाना पड़ा था । अपने पिताजी को उन्होंने सर्वस्व समाज के लिये समर्पित करते हुए देखा था । उस समय एक स्वार्थी और कायर की तरह उन्होंने यह नही कहा कि पिताजी आप हमारे लिये क्या छोड़े जा रहे है । अपने जीवन मे इन्द्र जी ने अपने पिता की उस परम्परा को निभाया ।

आचार्य, पत्रकार व साहित्यकार तीनो रूप मे आपने राष्ट्र और समाज की सच्ची सेवा की है । अपने तीस वर्ष के पत्रकार जीवन मे उन्हे अनवरत संघर्ष करना पड़ा था । सरकार की कोपदृष्टि का शिकार होने के कारण उनके राष्ट्रवादी-पत्रो को निरन्तर घाटा ही उठाना पड़ा था । यो उस समय पत्रकारिता थी भी घाटे का सौदा और जनजागरण और राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार करने वाले पत्रो का प्रकाशन तो हर प्रकार से जोखिम भरा ही होता था । यह एक प्रकार से स्वेच्छा से गरीबी वरण करने जैसा ही कार्य था ।

दिल्ली से उन्होंने सर्वप्रथम 'विजय' निकाला उसके बन्द होने पर 'अर्जुन' निकाला । 'अर्जुन' के पाँचों सम्पादको को उसकी राष्ट्रवादी नीति के कारण जेल की सजा भोगनी पड़ी । सरकार ने दो-दो हजार, पाँच-पाँच हजार की जमानते ले रखी थीं 'अर्जुन' के प्रकाशकों, सम्पादकों से । १९२७ में सरकार विरोधी लेखों के प्रकाशन के कारण उन्हें छः महीने की सजा भी भोगनी पड़ी । साथ ही पाँच हजार की जमानत और देनी पड़ी । वह भी जब्त होने की नौबत आ गयी तो उन्होंने 'अर्जुन' का नाम बदलकर 'वीर अर्जुन' कर दिया ।

इन्द्रजी ने पत्रकारिता को अर्थोपार्जन की दृष्टि से नहीं सार्वजनिक सेवा के उपयोगी माध्यम के रूप में अपनाया था । उन्हें इस बात की प्रसन्नता रही कि उनके प्रयत्नों से यह सिद्ध हो गया कि दिल्ली की भूमि में हिन्दी के अखबार भी पनप सकते है । उन्होंने जब वहाँ से हिन्दीपत्र निकाला था तब वहाँ अंग्रेजी के अतिरिक्त किसी भाषा का कोई दैनिक पत्र प्रकाशित नहीं होता था । उनकी सफलता के बाद दिल्ली से कई हिन्दी पत्र निकलने आरम्भ हुए । उनके 'विजय' की यह हालत थी कि जो लोग नहीं पढ़ सकते थे वे दूसरों से पढ़वाकर सुनते थे ।

आज तो पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वतन्त्र-विचारों की ... हो गयी है । यह कला आज पूँजीपतियों की क्रीतदासी ... जा रही है । बहुत से हिन्दी पत्रो के सम्पादक ... उपसम्पादक उनके पास 'अर्जुन' में काम कर चुके । 'अर्जुन' में कार्य करते समय उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था । वे सम्मति प्रकट करने में स्वतन्त्र थे । पेचीदे मामलो में भी स्वतन्त्रतापूर्वक विचार व्यक्त करते थे । हम वेतन चाहे सौ रुपये देते थे पर आत्मा नहीं खरीदते थे । तब वे ध्येयनिष्ठ पत्रकार थे । आज पत्रकारिता में सम्पादकों को पाँच सौ-छह सौ (अब हजार से ऊपर) रुपये वेतन मिलता है, लेकिन मैं जानता हूँ कि उनमे से कईयो को परिस्थिति की परतन्त्रता खल रही है क्योंकि उन्हे वह लिखना पड़ता है जो उनका मालिक चाहता है । पूर्व समय के ... लिये मर मिटने वाले सहकारी सम्पादको की आत्मा पर ... भारी बोझ डाल दिया गया है । स्वतन्त्र पत्रकारिता बड़ी ... हो गयी है । यदि पत्रकार के भीतर शक्ति और कौशल ... तो वह अपनी मान रक्षा कर सकता है लेकिन प्रलोभन ... है कि यह बहुत कठिन है । कोई भी योग्य और स्वाभिमानी पत्रकार इस स्थिति मे कार्य नहीं कर सकता ।

"पहले पत्र चलाना एक समाजोपयोगी कार्य था । अब ... व्यापार या राजनैतिक पार्टियो का प्रचार ही पत्रो का उद्देश्य हो गया है । संचालको को सरकार के विज्ञापनों की ... एक दूसरी चोट है । शक्ति के उपयोग की सबको ... है । त्याग कोई करना नहीं चाहता ।"

इन्द्र जी के इन शब्दो मे कितनी व्यथा झलकती है । कहाँ तिरोहित हो गया वह त्याग और तप ? इसकी ... जीवनभर उन्हे सताती रही । ये पंक्तियाँ उन्होने साठ वर्ष की आयु मे कही है । एक सजग राष्ट्रसेवी-समाजसेवी पत्रकार के नाते देश की दशा को उन्होने बड़ी गहराई से समझा था ।

उन्हें आश्चर्य होता था कि कैसे लोग एक ... बदल जाते है । उन्होने कहा था—"इस समय आवश्यकता है इस बात की कि सरकारी कर्मचारियों, मन्त्रिमण्डलों और पत्रकारो तथा जनता सबके चरित्र का स्तर ऊँचा हो । ... ऐसा न होगा तो स्वराज्य ताश के पत्तो के मकान की तरह ढह जायगा ।" इस अनिष्टकारी स्थिति से परित्राण ... मार्ग भी उन्होंने सुझाया था—"शिक्षण, दृष्टान्त और ...

ही हम स्थिति को सुधार सकते है । शिक्षा में सुधार हुआ ही नहीं है जबकि इसका होना देश की प्रथम आवश्यकता है । नैतिक और आचरण-सम्बन्धी बातों के प्रचार की भी आवश्यकता है । सबसे बड़ी बात है दृष्टान्त की । जनता वही करेगी जो बड़े करेंगे । त्याग ऊपर से ही आरम्भ होना चाहिए, इसके लिए उपदेश निरर्थक है ।"

इन्द्र जी की इन तथ्य-पूर्ण बातों से कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति असहमत नहीं हो सकता । आज देश में सबसे बड़ी आवश्यकता चरित्र-निर्माण और नैतिक जागरण की है । उसके लिये इन्द्र जी की तरह प्रलोभनों को जीतने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता है जो जनता का सही मार्गदर्शन कर सके, समझौतापरस्त लोगों की नहीं ।

एक ध्येयनिष्ठ पत्रकार के रूप में उनके सामने कई प्रलोभन आये जिन्हें उन्होंने ठुकरा दिया । थैली शाहों के द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रलोभनो को ठुकराने की जो प्रतिक्रिया हो सकती थी वह दूसरे पक्ष से हुई भी सही और इन्द्र जी को बड़े संकटों का सामना करना पड़ा पर उन्होंने धैर्य नहीं खोया ।

एकबार एक सेठ जी के प्रतिनिधि ने उनसे कहा कि 'अर्जुन' को उनके अंग्रेजी पत्र से मिला देने की इच्छा सेठ जी की है । इस पर वाकचातुर्य के धनी इन्द्र जी बोले—"अच्छी बात है लेकिन नीति निर्धारण का कार्य मैं ही करूँगा ।"

नीति सही रहे तो पत्र का स्वामित्व पाने से लाभ क्या मिलता सो सेठ जी रूठ गये और वे उन्हें नीचा दिखाने की सोचने लगे । एक बार उनके कारखाने में हड़ताल हुई जिसका समाचार अर्जुन में प्रकाशित हुआ तो सेठ जी ने धमकी दी प्रतिवाद छापा जाय नहीं तो वे मुकदमा दायर कर देंगे । पर प्रतिवाद नहीं छापा गया । कानून सेठ जी की सहायता नहीं कर सकता था । उन्होंने घाटा सहकर भी एक नया हिन्दी पत्र निकालने की घोषणा कर दी । यह पत्र निकला । उसकी 'अर्जुन' से प्रतिद्वन्द्विता हुई । परिणाम यह हुआ कि इन्द्र जी को भी अपने पत्र का आकार बढ़ाना पड़ा और कागज वालो के ४०,००० रुपये उन पर उधार चढ़ गये । इस पर भी इन्द्र जी ने ऐसी ताकतों से समझौता नहीं किया जो उनके मिशन को विच्छिन्न कर देना चाहती थीं ।

आजादी की लड़ाई में उन्होंने एक पत्रकार की हैसियत से ही नहीं एक जननेता के रूप मे भी भाग लिया । उनके पत्रो ने राष्ट्रीय-जागरण का जो कार्य किया वह अपने आप में अनूठा है । उनके पत्रों ने हजारो लोगो के मन में देश-भक्ति की भावनाएँ उत्पन्न की थीं ।

उन पर चार बड़े-बड़े राजनीतिक मुकदमे चलाये गये । वे उन सब में जीते । सरकारी वकील रायबहादुर सूर्यनारायण ने उनके मुकदमो मे जिस विशाल सहृदयता का परिचय दिया था और पूँजीपतियो के सरगनाओ का तिरस्कार किया था उसके मूल में इन्द्र जी की राष्ट्रनिष्ठा ही थी । उनकी पत्रकारिता के आदर्श लोकमान्य तिलक थे ।

गान्धी जी द्वारा चलाये गये असहयोग आन्दोलनों में भी इन्द्र जी ने खुलकर भाग लिया था । यह बात दूसरी है कि अहिंसा-सम्बन्धी उनके विचार कुछ भिन्न थे । आर्य-समाज जैसी सुधारवादी संस्था के शीर्षस्थ कार्यकर्ता के रूप मे उनकी समाज-सेवा भी भुला देने योग्य नहीं है ।

गुरुकुल काँगड़ी में अध्यापक रहते हुए तथा बाद में उसके मुख्य प्रबन्धकों में रहते हुए उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में भी अपना योगदान दिया था । गुरुकुलकाँगड़ी को आज की विकसित स्थिति तक पहुँचाने में जिन कर्मयोगियों का हाथ रहा है उनमे इन्द्र जी भी एक थे ।

इन्द्र जी सृजन और संघर्ष की प्रतिमूर्ति थे । उन्होने हर प्रकार के अन्याय, अनीति व अनाचार के विरुद्ध संघर्ष किया था । यही नहीं बीमारियों से भी उनका लम्बा संघर्ष चला था । बचपन मे ही उन्हे कई बीमारियो से लड़ना पड़ा था । बड़े होने पर भी रोगो ने साथ नहीं छोड़ा । सार्वजनिक कार्यों में रत रहने के कारण उन्हें अपने स्वास्थ्य की ओर अधिक ध्यान देने की फुर्सत नहीं मिली, जिसका फल आगे चलकर भोगना पड़ा । डॉक्टर अंसारी ने उन्हे, जब वे छियालीस वर्ष के थे तभी उनके शरीर की जाँच करके कह दिया था कि वे अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें । उनका एक फेफड़ा काम करने लायक नहीं रहा था अतः डॉक्टर का निर्देश था कि वे सार्वजनिक कार्य सदा के लिये बन्द कर दे पर उनके लिये यह सम्भव कैसे था । वे तो आत्मा की शक्ति के सहारे ही शरीर को खीच ले जाना चाहते थे । ऐसे कमजोर स्वास्थ्य में भी वे दो तीन बार जेल गये थे । परिणाम यह हुआ कि १९४२ मे भयंकर रूप से अस्वस्थ हो गये । महीनों इलाज चला तब कहीं स्थिति कुछ ठीक हो सकी थी ।

उनके अपने स्वास्थ्य का श्रेय वे अपनी पत्नी को देते है—"मेरे स्वास्थ्य का आधार मेरी पत्नी हैं । वे बराबर मेरे साथ रहती हैं और यात्रा तक में अँगीठी व थैला साथ रखती है ताकि पथ्य का खाना मिलता रह सके । उनके कारण मुझे कभी बाहर का खाना नहीं खाना पड़ा । रेल के डिब्बे में भी वे खाना पकाने की व्यवस्था बना लेती हैं ।"

उनके इन शब्दो मे यह सच्चाई प्रतिध्वनित होती है कि व्यक्ति अपनी असमर्थता को अपने सहयोगियो के द्वारा पाट सकता है । विवाह किया ही इसलिये जाता है कि जीवन भर के लिये एक निष्ठावान साथी का सहयोग एक दूसरे को मिल सके ।

शारीरिक-दुर्बलता इन्द्र जी के कार्यों मे बाधक नही बनी । साठवर्ष की आयु में भी अपनी खादी के मोटे वस्त्रो से आवृत्त दुबली-पतली साढ़े पाँच फुट लम्बी काया के लिये वे वाहनो पर नहीं अपने पाँवों पर निर्भर रहते थे । रहन-सहन सादा और विचारो में उच्चता यह उनकी महानता की

परिचायक रही है । वस्त्रों की तरह भोजन भी वे सादा ही करते थे । दिनचर्या को जिस प्रकार उन्होने नियम में बाँधकर रखा था वैसे ही भोजन का भी उनका अपना एक संयमित स्वरूप था । तभी तो काया की दुर्बलता उनके मार्ग में बाधक नहीं बन सकी । सार्वजनिक जीवन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए पत्रकार की व्यस्तता मे रहते हुए भी वे लेखन के लिये समय निकाल ही लिया करते थे । उन्होंने जो कुछ लिखा वह किसी उद्देश्य को लेकर लिखा । पाठक के विचारो को सन्मार्गगामी उत्तेजना मिले, वे प्रेरणा ग्रहण कर अपने आपके जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन मे भी रस लें । समाज के प्रति अपने दायित्व को समझें, निबाहे । ऐसी प्रेरणाएँ यदि साहित्य न दे सके तो उसे इन्द्र जी साहित्य की संज्ञा नहीं देते थे । उनका जीवन पत्रकारो, आचार्यों व समाजसेवियों के लिये आदर्श है ।

मान्य विद्वान और समाजसेवी—
पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी

स्वाधीन-भारत के सम्मुख जब राष्ट्र-भाषा का प्रश्न खड़ा हुआ तो उस समय तमाम बुद्धिजीवी दो वर्गों मे बँट गये । एक वर्ग वाले हिन्दी को इस पद के लिए सर्वथा उपयुक्त मानते थे और दूसरे अन्य अहिन्दी भाषा यथा—अँग्रेजी, उर्दू-संस्कृत आदि को । हिन्दी के बाद देश की सभ्यता संस्कृति और गौरव के अनुरूप कोई भाषा उपयुक्त प्रतीत होती थी तो वह संस्कृत थी । इस पक्ष के विद्वानो ने अनेक प्रकार से हिन्दी का विरोध किया । उनके तर्कों को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता था । परन्तु उनकी धारणा को क्रियान्वित करने के लिए सबसे ज्यादा बाधक था प्रचलन की कसौटी पर संस्कृत का खरा न उतरना ।

संस्कृत के पक्षधर विद्वान इस तथ्य को नजरअन्दाज ही कर गये और इसे ही राष्ट्रभाषा घोषित करने का प्रयत्न करने लगे । राजनेताओ और विद्वानो के सामने एक समस्या उठ खड़ी हुई । इसका समाधान खोजने के लिए अखिल-भारतीय-संस्कृत-साहित्य सम्मेलन का एक अधिवेशन बुलाया गया । इस अधिवेशन मे श्री नरहरि विष्णु गाडगिल तथा श्री दामोदरपादं सातवलेकर भी सम्मिलित हुए थे । सब लोगो ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये परन्तु सर्वाधिक प्रभावोत्पादक रहा संस्कृत के ही विद्वान पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का परामर्श । उन्होंने उपस्थित विद्वानो से कहा देश में साक्षरता के विकास के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि जन सुलभ भाषा का प्रचार किया जाये । इसके लिए हिन्दी ही ज्यादा उपयुक्त है । राष्ट्र-भाषा हिन्दी को घोषित किया जाय तो भी संस्कृत के उत्थान में कोई बाधा नही पहुँचेगी वरन् इस भाषा के पठन-पाठन मे और अधिक सहयोग मिलेगा । और जब लोग संस्कृत समझने लगे उस समय इस भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने का प्रश्न उठाया जाना चाहिए । प. चतुर्वेदी ने इस प्रकार अपने व्यक्तिगत प्रभाव और मूर्धन्यविद्वता के बल पर विघटनकारी प्रवृत्तियों को वशीभूत कर लिया ।

चतुर्वेदी जी मूलत: संस्कृत-साहित्यकार थे परन्तु हिंदी के क्षेत्र में भी उन्होने इतना कुछ किया है जो सदैव अविस्मरणीय ही रहेगा । उनकी साहित्य-सेवा को समाज, शासन और प्रबुद्ध वर्ग ने सम्मान की दृष्टि से देखा और सराहा है । सन् ६५ मे साहित्य-अकादमी द्वारा भी उन्हें विशेष पुरस्कार दिया गया था । लोकसिद्धि और ज्ञान के उच्च शिखर तक पहुँचने के लिए उन्हें आजीवन कठोर श्रम करते रहना पड़ा था ।

सफलता पुरुषार्थी और परिश्रमी को ही मिलती है । साधारणसी वेशभूषा और कन्धे पर पुस्तकों का झोला उठाये गिरिधर शर्मा को जिन लोगो ने प्राथमिक शाला में जाते हुए और साथियो द्वारा खिझाते हुए देखा होगा वे शायद ही सोच पाये हो कि यह बालक एक दिन आगे चलकर इस देश के पुरातन ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का पुनरुद्धार-कर्ता बनेगा । उपेक्षा और तिरस्कार मिलने पर भी गिरिधर शर्मा मनोयोग पूर्वक अपने अध्ययन में जुटे रहे । परिणामस्वरूप खिझाने और चिढ़ाने मे ही सचेष्ट रहने वाले छात्र तो पिछड़ गये तथा अध्यवसायी गिरिधर कक्षा मे सर्वाधिक अंको से उत्तीर्ण हुए । उनका श्रम उन्हे अनवरत सफलता दिलाता गया ।

चतुर्वेदी जी ने जब कुछ समझने-बूझने की वय में प्रवेश किया तब वे देश के प्रसिद्ध विद्वान मधुसूदन ओझा के सम्पर्क मे आये । श्री ओझा जी उस समय संस्कृत के पौराणिक और वैदिक-साहित्य पर अनुसंधान कर रहे थे । चतुर्वेदी जी को भी उन्होने इस दिशा मे लगने के लिए प्रेरित किया । सर्वप्रथम वे सस्कृत-भाषा का अध्ययन करने में जुटे । और इस विषय मे सर्वोच्च परीक्षा पास की ।

सस्कृत भाषा मे विश्वसनीय विशेष क्षमता अर्जित कर लेने के उपरान्त वे साहित्य-सेवा और अनुसधान की ओर आकृष्ट हुए । अब तो वे ओझा जी के काम मे पूरी तरह हाथ बटाने लगे । यही नही उनके बाद तो उस काम को और भी गति दी । आगे चल कर संस्कृत पत्रकारिता के क्षेत्र मे उन्होने बड़ी ख्याति अर्जित की । जीवनकाल में उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाओ का सचालन और प्रकाशन किया । जिनमें हिन्दी और संस्कृत दोनो ही भाषाओं के पत्र सम्मिलित थे । उनके संपादन मे निकलने वाला 'संस्कृत-रत्नाकर' प्रचार और प्रसार सभी दृष्टि से अभूतपूर्व पत्र सिद्ध हुआ । कई संस्कृत सेवी साहित्यकारो के सम्मुख अनेक समस्याये थीं उन्हे इस पत्र द्वारा राहत मिली । सस्कृत मे होने वाले प्रकाशन अधिकाश पौराणिक उदाहरण ही होते थे । नूतन ज्ञान को इस भाषा मे लिपिबद्ध करने का प्रयास बहुत कम हुआ है । किन्हीं-किन्हीं साहित्यकारों ने किया भी तो प्रोत्साहन न मिलने तथा प्रकाशित न होने के कारण अन्धकार में ही रह जाते है । उनका कोई उपयोग नही होता ।

श्री चतुर्वेदी जी ने सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर ध्यान दिया तथा नव-लेखन को प्रोत्साहित किया था। इसके लिए उन्होंने कई नयी प्रतिभाये ढूँढ़ी और उनका निर्माण किया। उनके सहयोग से सफल साहित्यकार बनने वालों की संख्या अंगुलियो पर नहीं गिनाई जा सकती। वह भी ऐसी प्रतिभाये जिन्होंने संस्कृत-भाषा को ही अपना क्षेत्र चुना और अपनी सफलता से औरों को चमत्कृत कर दिया।

संस्कृत-रत्नाकर के माध्यम से उन्होंने सरल और इस भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाले को भी आसानी से समझ में आने जैसा साहित्य तैयार कराया। अखिल भारतीय संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन अवसर पर उन्होंने संस्कृत को राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने से पूर्व उपयुक्त वातावरण के निर्माण की आवश्यकता बताई थी और इसके लिए प्रयत्न करने की सलाह दी थी उस समय कई लोगो ने उनका विरोध किया था। उन्हें इस भाषा के विकास का बाधक बताया था। वे लोग तो चुप बैठ गये परन्तु चतुर्वेदी जी ने अपने परामर्श पर कितने मनोयोग के साथ अमल किया यह जान कर उनके व्यक्तित्व से अप्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। किसी भी समस्या या लक्ष्य का समाधान विकल्प मार्ग सुझाने वाले तो बहुत मिल जायेंगे परन्तु उसका व्यावहारिक और प्रायोगिक पक्ष उद्घाटित करने वाले महामानव बिरले ही होंगे। इसी गुण का अभाव होने के कारण नेतृत्व, प्रबुद्ध और बुद्धिजीवी लोगो पर से जन साधारण का विश्वास उठ गया है।

संस्कृत—रत्नाकर को बोध-गम्य बनाने के लिए चतुर्वेदी जी ने अनेक बार रातदिन एक करके पत्र के अनुरूप कहानियाँ, कविताएँ उपन्यास और लेख तैयार किये। किसी भी पत्र के चलने और लोकप्रिय होने में दिनोदिन उसका बढ़ता और ऊँचा उठता स्तर अत्यावश्यक है। स्तर के अनुरूप रचनाएँ न मिलने पर चतुर्वेदीजी को अनेक रचनाएँ अस्वीकृत कर लौटानी पड़ती थीं। चतुर्वेदी जी जानते थे कि इससे नये लेखक हतोत्साहित होंगे, उनके मन मे हीनभावना घर करने लगेगी परन्तु उन्होंने एक नया मार्ग ढूँढ निकाला जो रचनाएँ थोड़े बहुत संशोधन के बाद छपने योग्य हो सकती थीं उन्हें वे लेखक के पास आवश्यक परामर्श देकर वापिस भेज देते। जो रचनाएँ बिल्कुल ही छपने योग्य नहीं होतीं उनके रचयिताओ को पुनः प्रयास करने के लिए प्रोत्साहित करते। ऐसे उदार और सेवा-भावी संपादक शायद ही मिलते होंगे।

चतुर्वेदीजी में उपर्युक्त विशेषता उनके निरभिमानी व्यक्तित्व का प्रतीक थी। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। विद्वानों मे उनका काफी सम्मान था फिर भी अभिमान उन्हे छू तक नहीं गया था। यही कारण था कि उनके मदनमोहन मालवीय, सातवलेकर, स्वामी श्रद्धानन्द, राजर्षि टण्डन, डा. सम्पूर्णानन्द, पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं. शालिग्राम शास्त्री जैसे विद्वानो से अति मधुर तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। वे अपने साथियो के साथ मीलो पैदल घूमते थे। टहलना उनकी दिनचर्या का अनिवार्य अंग बन गया था। इससे व्यायाम, परामर्श और प्रेम प्रतीति, अभिवर्द्धन आदि अनेक आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं।

उनके विशिष्ट गुणों, ज्ञान तथा सेवाओं ने कई अवसरों पर उन्हें सम्मानित कराया। विदेशी सरकार जो हर तरह से इस देश की सभ्यता-संस्कृति और भाषा को कुचलने के नित नये षड्यन्त्र रचती थी, ने चतुर्वेदी जी को महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया था। हिन्दू विश्वविद्यालय ने उन्हें वाचस्पति तथा राजर्षिटण्डन द्वारा संस्थापित हिन्दी-सम्मेलन ने साहित्य-वाचस्पति से अलंकृत किया।

चतुर्वेदी जी ने केवल साहित्य और संस्कृति की ही सेवा नहीं की वरन् अपनी पूरी क्षमता को भारतीय-समाज के बहुमुखी विकास में नियोजित किया था। शिक्षा और समाज-सेवा के क्षेत्र में भी उनकी सेवाएँ अविस्मरणीय हैं। विद्याध्ययन के बाद चतुर्वेदी जी सहारनपुर के स्याद्वाद जैन संस्कृत महाविद्यालय में प्रधानाचार्य बनकर आये। वहाँ शिक्षा के साथ-साथ साहित्य की भी आराधना चालू रही। तदुपरान्त वे ऋषि कुल ब्रह्मचर्य आश्रम हरिद्वार पहुँचे, सनातनधर्म कालेज लाहौर, जयपुर, अलवर आदि स्थानों पर विभिन्न शिक्षण संस्थाओ में उन्होंने कार्य किया था। काशीहिन्दू विश्वविद्यालय मे अनुसन्धान का विशेष दायित्व सौंपा गया तो उन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया और सभी लोगों की दृष्टि में ऊँचे उठ गये। काशी के ही ओरियण्टल कान्फ्रेंस में अध्यक्ष पद पर उन्हे प्राच्य-विद्या की सेवा का अवसर भी मिला।

पत्रकारिता, प्राच्य-विद्या और शिक्षा के साथ-साथ समाज-सेवा का क्षेत्र भी उनसे अछूता नहीं रहा। अपने जीवन काल मे वे भारतीय-धर्म, शास्त्रों की जीती जागती-प्रतिभा माने जाते थे। इस सम्बन्ध मे किसी भी विषय पर मतभेद की स्थिति आने से कई विद्वान उनके पास आते और परामर्श करते थे। बात उस समय की है जब मदनमोहन मालवीय तथा अन्य विद्वान शुद्धि आन्दोलन तथा गायत्री और वेद में हरिजनों एवं स्त्रियों के अधिकारी होने या न होने के सम्बन्ध मे शास्त्रावलोकन कर रहे थे। उस समय उपेक्षित व उत्पीड़ित और तिरस्कृत जाति के लोग बड़ी तेजी से ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे। स्थिति बड़ी चिन्तनीय हो गयी थी। हिन्दुओ की संख्या दिनोदिन घटती जा रही थी। फिर भी रूढ़िवादी, दुराग्रही महन्तगुरु इस वर्ग के लोगो को समानता का दर्जा किसी भी स्थिति में देने के लिए तैयार नहीं हो रहे थे। किसी भी सुधारवादी आन्दोलन की सफलता के लिए किसी न किसी का विरोध तो लेना ही पड़ता है। मालवीय जी ने भी शास्त्रावलोकन के उपरान्त यह पाया कि धर्म-ग्रन्थो की राय उनके ही पक्ष मे है। उनके विचार को बल और सहयोग दिया चतुर्वेदी जी ने और मालवीय जी तथा चतुर्वेदी जी के नेतृत्व मे चल पड़ा हरिजनोद्धार-आन्दोलन तथा सुधारवाद का समर्थक बहुमुखी प्रचार-अभियान। सात्विक और सरल जीवन जीने की प्रेरणा देकर लोगो के मन मे हिन्दुत्व के गौरव का भान कराया जाने लगा तथाकथित छोटी जातियों के

धर्म-परिवर्तन में आशाजनक सुधार हुआ उन लोगो में आत्म-विश्वास ने जन्म लिया था ।

सन् १९६६ मे उनका देहान्त हुआ । अन्तिम साँस तक वे संस्कृत की सेवा करते रहे । वे बहुमुखी प्रतिभा और निष्ठा के धनी थे । डॉक्टर सम्पूर्णानन्द ने उनके निधन पर श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए एक प्रामाणिक बात कही कि पं.गिरिधर शर्मा एक व्यक्ति नही थे वरन् देश को शिक्षा और संस्कृति की ओर अग्रसर करने वाली पीढ़ी के प्रतिनिधि थे ।

भारतीय संस्कृति के सेवक—जहूरबख्श

पुत्री का विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ, सम्बन्धी, मेहमानो ने अपनी अपनी रुचि के अनेक उपहार दिये । तभी सबके सामने आये एक हट्टे-कट्टे, बड़ी-बड़ी मूँछो वाले सज्जन, लोगो की आँखे चमक उठीं वे कोई अमूल्य उपहार देगे इस आशा से सब की आँखे एकटक हो गई थीं । यह सज्जन कन्या के पिता जी थे ।

उपहार कन्या के हाथ मे दिया गया तो बराती-घराती सभी चौक उठे पिता ने समझाया "बेटा ! रामायण इस देश की सांस्कृतिक विरासत है, तुझे रामायण देकर आज मै अपने आप को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ और कामना करता हूँ, कि तू सीता जैसे आदर्शों वाली नारी बने ।"

रामायण की भेंट पर चौकने वाली बात इसलिये हुई क्योकि यह विवाह एक मुसलमान कन्या का था । और कन्या का पिता मुसलमान थे । बाराती हुये भी यह विशुद्ध भारतीय आत्मा आजीवन अपने आपको भारतीय-संस्कृति का अंग मानती रही । उनका कहना था, दुनिया मे कोई धर्म-सस्कृति यदि मानवीय-सस्कृति और एकता का स्थान ले सकती है तो वह भारतीय-सस्कृति ही होगी क्योकि उसमे जीव-मात्र के अभ्युदय के लिये स्थान है ।

यह थे स्वर्गीय, श्री जहूरबख्श । जहूरबख्श मध्यप्रदेश के जबलपुर नामक नगर मे निवास करते थे । यह स्थान साम्प्रदायिकता पीड़ित क्षेत्र है । अनेक हिन्दू तथा मुसलमान अपनी इस संकीर्णता के कारण ही यहाँ भिड़ चुके है । साम्प्रदायिक दगो को जन्म दे चुके है । श्री जहूरबख्श इसके अपवाद थे । उनका कहना था, 'मेरा निर्माण इस देश की पवित्र मिट्टी मे हुआ, मेरे कानो मे इस के पुण्य गीत गूँजे, इसकी मिट्टी मे, मै खेला इस देश के प्रति मेरी श्रद्धा का कारण इतना ही नहीं वरन् इसके वह आदर्श है, जिनकी समता मुझे दुनिया की किसी भी संस्कृति मे दिखाई नहीं दी । कौन है जो जीव-जन्तुओ मे भी अपनी ही आत्मा का सदेश देता हो, अपने ही उत्थान की शिक्षा सब देते है । पर यह भारतीय संस्कृति है जिसने अपनी सारी शक्ति पुण्य और परोपकार मे लगायी है । यही वह संस्कृति है जो शान्ति और समता का पाठ पढ़ाती है, आने वाले समय पर दुनिया मे यदि किसी को सर्वोपरि प्राथमिकता मिलेगी तो वह भारती संस्कृति ही होगी ।"

वास्तव मे भारतीय-दर्शन के प्रति ऐसी स्पष्ट सहानुभूति कोई विचारशील व्यक्ति ही रख सकता है । सचमुच जहूरबख्श विचारशील व्यक्ति थे । अपनी बुद्धि पर ढक्कन लगाकर परिस्थितियों का विवेचन करने वाला ही निष्पक्ष समीक्षाएँ प्रस्तुत कर सकता है । पूर्वाग्रह चाहे वह मान्यताओं के सम्बन्ध मे, परम्पराओ या रीति रिवाजो के प्रति सदैव दुःखदायक ही होता है । मुसलमान होते हुये भी दव जहूरबख्श इस पाप से मुक्त थे । मुक्त ही नहीं थे वरन् अपना कार्यक्षेत्र उन्होंने इस प्रकार चुना कि वे उस बात के आदर्श भी बन गये ।

उन्होंने पैसे का मोह ताक पर रख दिया, पैतृक-धन का ध्यान नहीं दिया । कुर्सी और पद-प्रतिष्ठा का मोह भी उन्हे छू नहीं पाया था यह मसले ऐसे है जो लोगो को ल दे सकते हैं । थोड़ी भौतिक सुख-सुविधाएँ प्रदान कर सकते है किन्तु उनसे व्यक्तित्व मे जो गर्मी और प्रकाश आ चाहिए वह नही आ पाता । प्रतिभा विकास सदैव लीक से हट कर चलने में होता है । श्री जहूरबख्श ने इसी का अनुसरण किया था । उस समय जब हिन्दी पत्रकारिता का न कोई भूत था, न भविष्य, न उससे पेट पालन हो पाता, न सामान्य सुविधाओ की प्राप्ति । श्री जहूरबख्श ने पत्रकारिता का जीवन चुना और आजीवन राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा करते रहे थे ।

पत्रकारिता एक बात है और उसकी साधना दूसरी बात श्री जहूरबख्श ने वस्तुतः पत्रकारिता नहीं की साहित्य-साधना की थी । इस अन्तर को आज की परिस्थितियो मे स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है । आदर्श कही जाने वाली पत्रिकाएँ विज्ञापनो से भरी होती है और उन विज्ञापनो से वे सामान्य जनता का अहित करते है, किन्तु ऐसी पत्रिकाओं वाले भी पत्रकार कहलाते है । पत्रकार का उद्देश्य पाठक की बौद्धिक प्रतिभा को प्रखर बनाना और उनमे आत्म-खोज जाग्रत करना होना चाहिए पर जब उनकी कलम व्यक्तियो की चारणता तथा कुत्सित-उत्तेजना और वासना भड़काने वाला साहित्य लिखने लगती है, तो बुद्धि-विकास के स्थान पर आत्मा का पतन होने लगता है । कितने ही पत्रकार प्रगतिशीलता के नाम पर उथली छीटाकसी को ही पत्रकारिता मानते है । जीवन के गम्भीर अध्ययन और निष्कर्षों से उन्हे क्या मतलब ? उन्हे तो जनता के मानसिक बहाव को और तेज बनाकर अपना उल्लू सीधा करना अभीष्ट होता है तो पत्रकारिता के नाम पर आज यही सब कुछ हो रहा है । जहूरबख्श उसके अपवाद थे ।

उन्हे प्रकाशको ने प्रकाशन की रायल्टी नहीं दी, उन्हे कई बार तो खोटी-खरी भी सुनाई । सपादको ने पारिश्रमिक नहीं दिया अलबत्ता लेख माँग-माँग कर छापे । इतने पर भी उन्हे किसी प्रकार की शिकायत नही हुई । तुलसीदास जी ने

रामायण-प्रचार और अर्थोपार्जन के लिये नहीं लिखी थी, स्वान्तः-सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा, तुलसी ने रघुनाथ कथा आत्म-सुख के लिये लिखी और वह अमर हो गई, जहूरबख्श ने इन सब कठिनाइयों के बावजूद इसे अपनी सेवा और अपना कर्त्तव्य मानकर लिखते रहे और उस सम्मान के अधिकारी बन गये जो प्रायः हर किसी को नही मिला करता है । उनका निधन हुआ तब उनकी पुण्य-स्मृति में देश भर मे अखबारो ने उन्हे अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की थी ।

सुख-सुविधाओं की तरह कष्ट-कठिनाइयाँ भी जीवन का अनिवार्य अंग है । अनिवार्य ही नहीं वे जीवन की आवश्यकताएँ भी हैं । यदि कठिनाइयाँ न बनाई गई होती तो पात्रत्व की परीक्षा तथा व्यक्तित्व का विकास सदैव अधूरा ही पड़ा रहता । जिसके जीवन मे कठिनाइयाँ नहीं आईं उसकी तेजस्विता धूमिल हुई समझना चाहिये इसीलिये आत्मदर्शी जानबूझ कर कठिनाइयों का वरण करते हैं । जहूरबख्श के जीवन मे अनेक उतार-चढ़ाव आये पर उनकी जीवन-नौका ने अपनी यात्रा नहीं रोकी । उन पर साम्प्रदायिक व्यक्ति होने का आरोप लगाया तो उन्होने हँसकर इतना ही कहा मेरे शरीर मे जो भी कुछ रस-रक्त-माँस है, वह भारतीय अन्न जल से बना है, मुझे जिन्दा रहना है तो इसी भूमि मे और गीत गाना है तो इसी धरती मे । एक बार धर्मोन्मादी व्यक्तियो ने औरो के साथ उनका भी घर जला दिया और सारी सम्पत्ति खाक कर दी, उन्हें जबर्दस्त अर्थ-यातना का सामना करना पड़ा पर वे उससे जरा भी विचलित नही हुए । प्राथमिक विद्यालय का शिक्षक बनकर उन्होने नये सिरे से जीवन जीना प्रारम्भ कर दिया पर उन्होंने किसी को अभिशाप नहीं दिया । इससे उनका आत्मतेज ही विकसित हुआ, सच्चाई खरी उतरी और इस साधना का ही प्रतिफल है कि वे आज सारे देश की श्रद्धास्पद विभूति बन गये हैं ।

व्यक्तित्व की छाप छोड़ने वाले—महेन्द्रजी

हिन्दीसाहित्य के जाने माने हास्यकवि गोपाल प्रसाद व्यास ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है—"कुश्ती कसरत करना, सुबह शाम नियम से ठंडाई छानना, चौपड़-शतरंज खेलना, कवित्त लिखना-पढ़ना यही मेरे प्रिय व्यसन थे । हाथ खर्च चलाने के लिए कम्पोजीटरी सीख ली थी, प्रूफ आदि भी देख लेता था । आज सोचता हूँ गुरुवर डॉ. सत्येन्द्र ने मुझे महेन्द्र जी तक न पहुँचा दिया होता और उन्होने भी मुझे अपने अनुज की तरह न अपनाया होता तो मै आज कहाँ होता ?"

महेन्द्र जी का व्यक्तित्व सचमुच ऐसा ही वट-विटप था जिसकी छाँव में कितने की क्लात पथिको ने विश्राम लिया था, कितने ही साहित्यिक और साहित्येतर शुकपिको ने कल कूजन किया था ।-वह विटप जब धराशायी हुआ तो जाने कितने ही लोगो के मर्म-स्थल से ऐसी आह ऐसी भावाञ्जलियाँ निकली होगी जैसी पद्म श्री गोपाल प्रसाद व्यास के हृदय से निकली है । यह आहत, कर देने वाली वेदना और बाँह पकड़ कर प्रगति, परमार्थ पथ पर खींच लेने वाली प्रेरणा जो व्यक्ति जितने अधिक मनुष्यो के साथ जोड़ सका उतना ही उसका जीवन सफल सार्थक होता है । नहीं तो बड़े-बूढ़ों के शब्दो मे 'जगत मे की गयी भलाई के अतिरिक्त साथ कुछ नहीं जाता' की यह बात जानते हुए भी व्यक्ति खाली हाथ जाने को विवश होता है । इस दृष्टि से महेन्द्र जी का जीवन निश्चय ही सार्थक था—सफल था ।

आगरा के पुराने मोहल्ले मानपाड़ा के जर्जर घर में जन्मा यह बालक माता-पिता का स्नेह-दुलार अधिक नहीं पा सका था । इसका पालन-पोषण सहृदय नाना जी ने किया था । थोड़ी-बहुत लिखाई-पढ़ाई हुई कि नाना जी की सुखद छाया भी सिर से उठ गयी । संघर्ष और जीवन की साधना शुरू हुई । अपने पुरुषार्थ के बल पर एक-एक कदम आगे बढ़ता हुआ यही व्यक्ति शहर की तंग गली के उस जीर्ण घर से चलकर सिविल लाइन्स के सुन्दर से आवास में प्रतिष्ठित हो गया । यह मानवीय महत्वाकाक्षांओ और कर्मण्यता का प्रेरक उदाहरण है । ज्ञान की जो सम्पदा जन-जीवन मे यत्र-तत्र बिखरी पड़ी थी उसे बड़ी तत्परता से बटोरा, सहेजा और उस पर कृपण बनकर बैठा ही नहीं उसे जीवन मे उतारा भी सही ।

प्रेस के एक सामान्य कर्मचारी से प्रगति करते हुए प्रसिद्ध-पत्रकार, प्रकाशक, हिन्दी-सेवी, राष्ट्र-सेवी और नगर के सम्मानिक नागरिक बन जाने वाले महेन्द्र जी ने अपने मन को कभी छोटा नहीं समझा था, अपने व्यक्तित्व के पात्र को कभी छोटा नहीं पड़ने दिया था । धन, सम्पदा, यश, मान सब कुछ आया पर वह सब अपने और अपने परिवार के पालन-पोषण उसकी वृद्धि तक ही सीमित नहीं रहा वह दूसरों को आगे बढ़ाने, राष्ट्र व समाज का हित करने में भी नियोजित हुआ था । परिवार का पालन-पोषण तो सभी करते है, अपने व्यवसाय को सभी बढ़ाते पनपाते हैं, यह कोई बड़ी बात नहीं । मनुष्य को जो सामर्थ्य मिली है वह इतना भर करने तक की ही नही है । अपने काम के साथ-साथ समाज और राष्ट्र की सेवा को शुद्धाचरण के साथ जोड़कर चलना और अपनाकर दिखाना ही सच्चे मानव की कसौटी है जिसमे विरले ही खरे उतरते है । महेन्द्र जी उन विरले व्यक्तियो मे से एक थे ।

अपने जीवन को सफल बना लेने की बात उत्तम है पर सराहनीय तो अपने साथ-साथ दूसरो को आगे बढ़ाने में है और वह भी उसे अपनी गरज, अपना काम समझकर करना महेन्द्र जी की विशेषता थी । क्योंकि वे स्वयं भी एक साधारण हैसियत के आदमी से ऊपर उठकर इस योग्य बने थे कि वे किसी की सहायता कर सकते । उनकी इस द्रुत प्रगति के पीछे एक बहुत बड़ा कारण उनकी यह उदात्त-भावना

भी थी कि वे समर्थ हो जायें तो दूसरों को भी सहारा दे सकें।

व्यक्ति को परखने और आगे बढ़ाने की उनमें अनुपम क्षमता थी। जो उनके सम्पर्क मे आया और उन्हे लगा कि यह बहुत कुछ बन सकता है तो उस सम्भाव्य को पूरा करने में वे कभी पीछे नहीं रहते थे। कई व्यक्तियों से आरम्भ मे पेपर पर पते लिखवाने, बोलकर चिट्ठियाँ लिखवाने, प्रूफ पढ़वाने और लेख छपवाने का क्रमबद्ध काम लेते हुए उन्होंने अपने पत्र साहित्य-सदेश के सम्पादक तक पहुँचाये थे।

वे मानते थे कि महत्वाकांक्षा बुरी नहीं है किन्तु उनके साथ अपना ही हित जोड़े रखना बुरा है। सच पूछा जाय तो वे परहित के लिए ही महत्त्वाकांक्षाएँ उपजाया करते थे और यही उनकी सफलता का कारण भी था। लोग समझते थे उनके पास प्रकाशन-सस्थान, प्रेस, पत्र, व्यक्तित्व, परिचय-क्षेत्र सब कुछ है किन्तु जो अन्तरंग थे वे लोग ही जानते थे कि उनसे उनका परमार्थ यज्ञ पूरा नही होता था। उनका हाथ सदा तग रहा करता था। इस साहित्यिक और पत्रकारिता व्यवसाय से उन्हे दाल रोटी मिलती थी। कभी-कभी घाटा भी होता था। उन्होने अपनी स्थाई आय का स्रोत बीमाकम्पनी की एजेंटशिप व स्वदेशी एडवरटाइजिंग एजेंसी को बना रखा था। इनकी आय से वे अपने सामाजिक दायित्व निबटाते थे। कई साहित्यकारो व निर्धन छात्रो की उन्होंने एक तरह से स्थायी मासिक-सहायता की राशि बाँध रखी थी।

कई व्यक्ति उन्हे अपना निर्माता मानते है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भी कुछ इस प्रकार का विकसित किया था कि व्यक्ति उनसे बहुत कुछ सीख सकता था। साहित्यकार, पत्रकार, साहित्यव्यवसायी, प्रकाशक, सम्पादक, समाज-सेवी, स्वन्तत्रता-सग्राम के सैनिक, आगरा नगर के निर्माता, स्वदेशी वस्तुओ के प्रचारक आदि कितने ही रूपो मे उन्हे दुनिया जानती व मानती थी। मित्र बनाने की कला मे भी वे प्रवीण थे। बड़े-बड़े नेताओ, साहित्यकारो से लेकर छोटे-छोटे कर्मचारी तक उनके मित्र थे।

उनकी लम्बी-चौड़ी काया और उस पर खादी का सादा परिधान उनकी सादगी, गाम्भीर्य, विद्वता का परिचायक था। भाषा, साहित्य, संस्कृति और राष्ट्र इन चारो की सेवा करके वे स्वयं ही धन्य नही हुए वरन् उन्होने कितने ही लोगो को इन पुण्य कार्यों में लगाया भी था। जब हिन्दी का रिक्त कोष भरा जा रहा था, साहित्यकार गढ़े जा रहे थे, भारत पराधीन या स्वाधीन होने के लिए पुरजोर प्रयास चल रहे थे, प्रकाशन-व्यवसाय और पत्रकारिता उन दिनो घाटे का सौदा बनी हुई थी। यदि निष्पक्ष और सदाचरण के साथ देखा जाय तो भारतीय-जीवन-दर्शन व साहित्य पाश्चात्य चकाचौंध के आगे फीकी-सी दीख रही थी। ऐसे समय मे स्वयं-सेवको और साहित्य-सेवियों की कमी को पूरा करने का सामाजिक दायित्व उन्होंने बखूबी निभाया। साहित्य-प्रकाशन और पत्रकारिता समाज-सेवा व राष्ट्रीय-आन्दोलन को प्रबल बनाते हुई भी परिवार का ही नहीं भावनात्मक-परिवार की आर्थिक गाड़ी को खींच सकती है इस सत्य को उन्होंने व्यवहार में लाकर बताया था। घाटे के डर से जो पुण्य-कार्यों को हाथ में नहीं लेना चाहते उनको महेन्द्र जी का यह उदाहरण सम्बल देने को पर्याप्त है।

वे आगरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा के निर्माता थे। आगरा से प्रकाशित होने वाले 'दैनिक हिन्दुस्तान समाचार', 'सैनिक-सिंहनाद', 'आगरा-पंच' और 'साहित्य सदेश' आदि पत्रो का प्रकाशन, सम्पादन उन्हों ने किया था। साहित्य-प्रेस, साहित्य-रत्न भण्डार, साहित्य-कुंज आदि के संस्थापक, सचालक और आगरा मण्डल के स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में उन्हें जाना गया।

वे 'सैनिक' के दैनिक व साप्ताहिक सस्करणो के सम्पादक, प्रबन्ध सम्पादक भी रहे थे। 'सैनिक' के सम्पादन, प्रकाशन तक ही नहीं वे सचमुच के सैनिक बन कर सत्याग्रह-संग्राम मे लड़े भी थे। जब भी सैनिक प्रेस पर ताला डाला जाता महेन्द्र जी का काम बढ़ जाता था। सरकार के लाख प्रयासो के बाद भी सैनिक या अन्य नामो से आन्दोलन को गतिशील बनाने वाले पत्र निकलते ही रहते थे। यह महेन्द्र जी का चातुर्य ही था। उन्होने कई भूमिगत प्रेसो से 'सैनिक', 'आगरा सत्याग्रह समाचार', 'दैनिक हिन्दुस्तान समाचार' नामक पत्र प्रकाशित किये। देश-भक्तों के रक्त मे उबाल लाने के लिये इन समाचार पत्रो का प्रकाशन आवश्यक ही नही अनिवार्य-सा था।

एक बार घर की तलाशी हुई तो वहाँ कुछ ऐसी सामग्री मिली जो उनके राष्ट्रीय आन्दोलनकर्ता और राजद्रोह की पुष्टि करती थी। अत. उन्हे छह महीने कारावास और ढाईसौ रुपये का अर्थ-दण्ड भी भोगना पड़ा था। उसके बाद तो उनका एक पाँव जेल मे ही रहने लगा। कभी वे तो कभी उनकी सहधर्मिणी श्रीमती अंगूरी देवी जेल मे होती। कभी कभी तो दोनो ही, परिवार और व्यवसाय को, व और परिजनो के साथ छोड़कर जेल मे होते थे।

आदर्श को व्यावहारिक बनाने मे भी उनका अपना ए ही उदाहरण है। वे अपने पास आने वाले सैकड़ो समाचार पत्रो को नागरी-प्रचारिणी-सभा के वाचनालय मे पाठकों के पढ़ने के लिए भेज देते थे। इससे सभा को प्रतिमाह कितने ही रुपयो की बचत हो जाती थी। अपने पुस्तक-विक्रय केन्द्र 'साहित्य-रत्न भण्डार' पर भी उन्होने ऐसी ही व्यवस्था साहित्यकारो के लिए बना रखी थी। उन्हे नयी-नयी पुस्तके यो ही पढ़ने को मिल जाती थी। उनका यह 'साहित्य-रत्न-भण्डार' सचमुच मे अपने नाम को सार्थक करता था। यह साहित्यकारो की मिलन-स्थली बन गया था।

यो सब कामो मे वे आगे रहे और सफल हुए पर दूसरो को पीछे धकेलकर स्वयं आगे आने और निंदा, स्तुति व प्रचार पटुता की तथाकथित राजनीति से वे दूर ही रहे।

यदि इसे असफलता मानी जाय तो वे बस यही असफल रहे कि शुद्धाचरण छोड़ न सके ।

जिन्होंने कर्त्तव्य को सर्वोपरि समझा—रामानन्द चट्टोपाध्याय

"साहब एक सज्जन आपसे मिलना चाहते हैं ।" चपरासी ने द्वार पर पड़ी चिट उठाकर एक बड़ी मेज पर बिखरे कागजो के ढेर के बीच लिख रहे व्यक्ति से कहा । शब्दों ने उसकी तन्मयता भंग की । उसने चपरासी की ओर सिर उठाकर देखा, चश्मा उतारकर रूमाल से आँखे पोछी और बड़े इत्मीनान से कहा—"उन्हे भेज दो ।"

आज वह लगभग छह घण्टे से लगातार काम कर रहे थे । सम्पादक का दायित्व कोई मामूली चीज तो नही । यो सभी दायित्व अपने स्थान पर समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं । किन्तु जिससे जनमानस पर व्यापक प्रभाव पड़ता हो, अनेक जीवन शैलियो में उथल-पुथल होती हो उनका महत्व कुछ अधिक ही हो जाता है । उनका काम इसी दर्जे का था । अपने द्वारा सम्पादित 'मार्डन-रिव्यू' और 'प्रवासी' नामक पत्रो के द्वारा वह जन-जन को बोध कराने के लिये, उचित-अनुचित का विवेक सिखाने के लिये कृत-संकल्प थे । कर्त्तव्य के हवनकुण्ड मे उनकी समूची सामर्थ्य **"इदं समाजाय इदं न मम"** के भावो के साथ समर्पित होती रहती थी । उनका समूचा जीवन ही यज्ञ बन गया था—।

उनकी आँखे दरवाजे की ओर देख रही थीं—कौन मिलना चाहता है ? इतने में पैण्ट-शर्ट पहने, गले मे नैकटाई बाँधे एक युवक ने प्रवेश किया । अरे आप ! आइये । कमरे मे पड़े सोफे पर अपने साथ बिठाते हुए कहा । उसे देखते ही उस विगत दिन की धुँधली स्मृति साकार हो गयी । अभी तो एक माह से अधिक नही हुआ था जब वे गगा नहाते हुए भँवर मे फँस गये थे । डूब ही जाते कि.......। उनकी निगाह मे कृतज्ञता के आँसू भर आये, देखने लगे उस युवक की ओर यही तो है उनके प्राणो को बचाने वाला ।

स्वागत-सत्कार की सामान्य औपचारिकता पूरी करने के बाद स्नेह से पूछा-कहिये कैसे आना हुआ ?

"एक रचना आपके पत्र मे छपवाना चाहता हूँ ।" आगन्तुक ने एक कागज उनके हाथ मे थमा दिया ।

वह गौर से पढ़ने लगे । पढ़ते-पढ़ते उनके चेहरे पर अनेक भाव आये और चले गये । पढ़कर उसे थमाते हुए कहा—"यह मेरे पत्र मे नहीं छप सकेगा मित्र ! स्वरो मे व्यथा थी ।"

"क्यों नही छपेगा, क्या आप भूल गये कि मै वही हूँ ।" वह आगे कुछ कहता कि उन्होने स्वयं बात पूरी करते हुए कहा—"जिसने मेरी जान बचाई, मै आपके प्रति कृतज्ञ हूँ । किन्तु कर्त्तव्य की विवशता है ।"

"कौन-सा कर्त्तव्य ?" पूछने वाले के चेहरे पर वितृष्णा और निराशा के मिले-जुले भाव दिखाई देने लगे ।

"कर्त्तव्य एक लेखक का, एक सम्पादक का । जिसके तहत मेरी जिम्मेदारी है कि समाज का पथ-प्रदर्शन करूँ । मनुष्य को जीवन जीना सिखाऊँ । इसकी जगह मैं उसमे पशुता, कुत्सा कैसे भड़का सकता हूँ । मनुष्य के देवोपम जीवन को वासना के कुल-बुलाते कीड़ो से भरी नाली मे बदल पाना........ नहीं यह मेरे से न हो सकेगा बन्धु ! चाहे तुम्हारा मुझ पर कितना ही ऋण क्यो न हो ?"

"तो क्या मेरी रचना........."

"स्वयं गहराई से पढ़ो क्या उसमे घटिया भावो का उद्दीपन नहीं है । तनिक विचार करो, कागज की सड़कों पर कलम के घोड़े पर बैठकर बेतरतीब भाग-दौड़ का नाम क्या लेखन है ?"

"किन्तु मैने आपके प्राण बचाये थे ।" तो अब मैं आपके साथ चलता हूँ मुझे गंगा मे डुबा दो ।" कहने के साथ ही वे चलने के लिये तैयार हो गये ।

"क..........क्या ?" उत्तर सुनकर उसकी आँखें फटी रह गयी ।

उसे स्वयं के कानो पर विश्वास न हुआ । "तो क्या कर्त्तव्य जीवन से भी अधिक मूल्यवान है ।"

"कई गुना । कर्त्तव्य की वेदी पर अनेक जीवन अपनी आहुति देकर धन्य होते है, किन्तु जीवन बचाने की कायरता का पानी उड़ेलकर कर्त्तव्य का हवनकुण्ड ठण्डा नहीं किया जा सकता ।"

"पर क्या लाभ ऐसे कर्त्तव्य के पालन से जिसमे जीवन ही समाप्त हो जाय ।" आगन्तुक को उनकी बात शायद समझ में नहीं आ रही थी ।

"जीवन को तो एक न एक दिन समाप्त होना ही है । जहाँ तक लाभ का प्रश्न है लाभ ही है, एक नहीं अनेक । मानवीय इतिहास मे स्वर्णिम अक्षरो में टँकने का लाभ, सही माने मे इन्सानियत उपलब्ध करने का लाभ, आत्म-गौरव, आत्म-तृप्ति का लाभ.........."

वह न जाने और कितना गिनाते कि युवक ने क्षमा माँगते हुए कहा—"मुझसे भूल हुई, मैं नहीं जानता था कि जीवन की सार्थकता कर्त्तव्य के हवनकुण्ड मे आहुति बनकर धधकने में है । किन्तु मैं लेखन सीखना चाहता हूँ ।

"वह मैं तुम्हे सिखाऊँगा । मैं तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ और रहूँगा पर कृतज्ञता का मोल कर्त्तव्य की बलि नहीं अपितु जिसके प्रति कृतज्ञता उपजी है, उसका हित साधन है ।

युवक को आज जीवन की सच्ची मीमांसा का ज्ञान हुआ और यह ज्ञान-दाता थे—रामानन्द चट्टोपाध्याय, जिनके विचारो ने अनेक व्यक्तियो के जीवन मे क्रान्ति ला दी थी ।

जन जागरण के प्रकाशदीप—पं. रुद्रदत्त

उन दिनों हिन्दी-पत्रकारिता का उदय ही हुआ था। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ की संख्या उँगलियो पर गिनने जितनी थी। पाठक तो बहुत ही थोड़े थे, पर पत्रकारिता की उपयोगिता आज से भी अधिक थी। हजार वर्ष की राजनैतिक गुलामी से जर्जरित देश नैतिक-सामाजिक और बौद्धिक दृष्टि से अपंग हो गया था। उसे हर दिशा में जाग्रत और प्रशिक्षित करने की आवश्यकता थी। यह कार्य पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही संभव था। हर बार जल्दी-जल्दी नियत समय पर घर-घर पहुँचकर वे ही जन-जागरण का काम नियमित रूप से कर सकती है और उन्हीं के द्वारा लोकशिक्षण की प्रक्रिया सम्पन्न हो सकती है। यह तथ्य जिन्होने भली प्रकार समझा हो ऐसे व्यक्ति उन दिनो बहुत थोड़े थे। उन थोड़ों में ही एक गणना पं. रुद्रदत्त शर्मा की भी है।

सौ वर्ष से भी पूर्व सन् १८६५ मे एक इक्कीस वर्षीय युवक ने अँग्रेजी-शासन के पैरो तले कुचली हुई भारतीय जनता की दुर्दशा को देखा था। आँखों मे आँसू भर आये थे। स्थिति बदलने के लिये जन-जागरण आवश्यक था। चन्द आदमी न तो अँग्रेजो को भगा सकते थे और न जन सहयोग के बिना राष्ट्र को समुन्नत बना सकते थे। जनता के पास पहुँचे बिना, उसका द्वार खटखटाये बिना और कोई रास्ता न था। प्रवचनो का रास्ता भी उतना उपयोगी नहीं था। न तो लोकरुचि ही उस ओर थी और न वैसे सुलझे हुए वक्ता ही थे। फिर जगह-जगह भ्रमण करना थोड़े से लोग इकट्ठे करना फिर आगे चलना कष्ट-साध्य, धन-साध्य तो था ही, उसमें लाभ भी कम था। अपेक्षाकृत पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जन-जागरण सरल और स्थायी भी था। सो युवक ने अपना जीवन इसलिए समर्पित कर दिया कि वह पत्रकारिता के माध्यम से जन-जाग्रति का प्रयोजन पूरा करेगा।

उत्तरप्रदेश के बिजनौर जिले मे पं. रुद्रदत्त शर्मा सन् १८५४ में जन्मे थे। २१ वर्ष की आयु तक वे मथुरा और काशी में संस्कृत पढ़ते रहे थे। इसके उपरान्त उन्होने पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्रवेश किया था। उन दिनो गिने-चुने अखबार निकलते थे। उनमे से अधिकाश अँग्रेजो के पिट्ठू थे। प्रगतिशील पत्र उँगलियों पर गिनने लायक थे। उनकी आर्थिक-स्थिति दयनीय थी। आगरा से निकलने वाली 'हिन्दी-प्रदीप' पत्रिका का वार्षिक-चन्दा एक रुपया पाँच आने था। उसके संचालकों को यह प्रतीक्षा करनी पड़ती थी कि एक ग्राहक का भी चन्दा मनीआर्डर से आ जाये तो उनके आटे-दाल का प्रबंध हो। ऐसी ही स्थिति अन्य पत्रिकाओ की भी थी। ऐसे समय में कोई आर्थिक लाभ की दृष्टि से उस क्षेत्र में प्रवेश कर ही कैसे सकता था। उन दिनो यह सर्वथा सन्तों जैसा परमार्थ-परायण—गरीबी का स्वेच्छा वरण करने वाला मिशनरी काम था। सो सब समझते हुए पंडित जी ने अपनी समस्त व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को तिल देकर उसी को स्वीकार शिरोधार्य कर लिया।

इस कार्य में उन्हे आरम्भ से लेकर अन्त तक आर्थिक दुर्दशा मे रहना पड़ा। कई बार तो दयनीय हि में रहे। इतना ही नहीं उन्हे अँग्रेजी सरकार और उ पिट्ठुओं का कोपभाजन बनना पड़ा था। प्रगतिशील विच ने उनके कठिनाइयो को घटाया नहीं बढ़ाया ही। यह सम ऐसा ही था।

पहले-पहले उन्होने मुरादाबाद से निकलने वाली 'आर्य-विनय' का सम्पादन किया। वह आर्य-समाजी पत्रिका थी। पर उन्होंने एक बार आर्य-समाजियो को ही लताड़ने वाला लेख उन्हीं की पत्रिका मे छाप कर अपनी जान के लिए मुसीबत मोल ले ली। बात यह थी कि आर्य-समाज की ओर से मुरादाबाद टाउन-हॉल में एक बड़ी सभा बुलाई गई थी। उसमे जिले के अमीर और कलक्टर आदि सरकारी अफसर भी थे। नियमानुसार आर्यसमाज की हर सभा वेदमंत्रों के उच्चारण के साथ आरम्भ होती थी। पर कोई बड़ा आदमी नाराज न हो जाय इस दृष्टि से इस सभा मे कोई वेद-मन्त्र नही बोला गया था। लेख मे उनकी स्पष्टवादिता उसके शीर्षक से ही स्पष्ट थी। "शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि" अर्थात् शत्रु के भी गुण कहे और दोष गुरु के भी। इस लेख से अनेक आर्य-समाजी सदस्य रुष्ट हो गये और पत्रिका को सकट का सामना करना पड़ा था।

अपने लक्ष्य को ध्यान मे रखते हुए वे आजीवन उग्रवादी साहित्यकार बने रहे। थोड़े-थोड़े वर्षों तक कितने ही पत्रो को अपना योगदान देकर उन्हे आगे बढ़ाते रहे। एक ही जगह बने रहने की अपेक्षा उन्हें यही अच्छा लगा कि अपनी प्रतिभा का लाभ अनेक पत्रो को दे, उन्होने लगभग एक दर्जन से भी अधिक पत्रो मे काम किया और उन्हे समुन्नत करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

प्रमुखतया उन्होने ३० वर्ष तक जिन पत्रो मे काम किया उनकी सूची इस प्रकार है—(१) इन्द्रप्रस्थ, प्रकाश दिल्ली, २ वर्ष (२) भारत मित्र, कलकत्ता १० वर्ष, (३) हिन्दी-बंगवासी, कलकत्ता-२ वर्ष (४) भारत-रत्न, पटना २ वर्ष, (५) वेकटेश्वर समाचार, बम्बई- १ वर्ष (६) आर्य मित्र, आगरा- ६ वर्ष (७) सत्यवादी, हरिद्वार, १ वर्ष (८) हित-वार्ता, कलकत्ता- २ वर्ष (९) प्रेम, वृन्दावन २ वर्ष, (१०) मारवाड़ी नागपुर २ वर्ष।

इसके अतिरिक्त उन्होने दस पुस्तके भी लिखीं। उनकी प्रखर लेखनी अँग्रेज-सरकार की अनीति पर सदा प्रहार करती रहती थी इससे उन्हें समय-समय पर सत्ताधारकों का कोप-भाजन बनना पड़ा। एक बार तो कानूनी शिकंजे भी कस लिये गये पर पटना के तत्कालीन उदार कमिश्नर ग्रियर्सन ने व्यक्तिगत हस्तक्षेप करके उन्हें छुड़ाया था।

बीच-बीच में वे प्रचारक की दृष्टि से यत्र-तत्र भ्रमण भी करते रहे। एक बार नेपाल की सीमा के समीप अँग्रेजी

छावनी मे फँस गये तब वे अपने को धर्मोपदेशक बताकर बड़ी सूझ-बूझ के साथ न केवल छूट ही आये वरन् अँग्रेज-अधिकारियो से पाँच रुपया दक्षिणा भी ले आये।

वृद्धावस्था मे उनका शरीर पत्रकारिता के भार को सँभालने में समर्थ नहीं हो पाता था, उन्हें लड़के को पढ़ाने का ट्यूशन कार्य करना पड़ा। सचित पूँजी के नाम पर एक पैसा भी पास में नहीं था, जिसके सहारे वे बुढ़ापे के दिन गुजार सकते। अस्तु, अशक्त वृद्धावस्था मे भी उन्हें हाथ से मुँह की समस्या हल करते रहना पड़ा। उनका स्वर्गवास आगरा मे हुआ था। उन दिनो उनके पास न पेट भरने को रोटी थी न दवा खरीदने को पैसा, न कोई कुटुम्बी साथ था, न मित्र प्रशंसक। आड़े वक्त में अनुपयोगी व्यक्ति से सभी मुँह मोड़ लेते हैं, यही दुनिया का कायदा है। उसी का सामना पंडित जी को भी करना पड़ा था। बीमारी की दशा में एक गरीब कम्पोजीटर अपने आटे मे से कुछ बचाकर उन्हे दे जाता था, उतने से ही वे अपनी क्षुधा शान्त कर लिया करते थे। मृत्यु के दिन वे सर्वथा एकाकी थे।

उनकी मृत्यु की चर्चा करते हुए १७ नवम्बर, १९१८ के अक में आगरा से निकलने वाले अखबार 'मुसाफिर' ने लिखा "पंडित रुद्रदत्त अन्तिम बीमारी के समय पैसे-पैसे को मोहताज थे। मरने से दो-तीन महीने पहले उन्हें पेचिस और बुखार ने आ घेरा था। दवा खरीदने तक को उनके पास पैसा न था।" इसी तरह औरों ने भी मरने के बाद दुःख प्रकट किया पर आड़े वक्त में सहायता करने के लिये कोई भी आगे न आया था।

चर्चा, समाज की कृतघ्नता की नहीं की जा रही है। भुलक्कड़ जनता सिर्फ आँखों के आगे जो है उसी को देखती है—जो पर्दे से पीछे घटा उसे भुलाने में न उसे देर लगती है और न संकोच होता है। लोक-सेवा का व्रत लेने वाले इस तथ्य को जानते हैं, इसलिए वे बदले की भावना से इस क्षेत्र मे प्रवेश नहीं करते।

चर्चा, उस व्रतधारी की जा रही है जिसने अपनी विद्या, प्रतिभा, योग्यता का लाभ अपने लिए प्राप्त करने से मुँह मोड़कर लोक-मंगल के लिए अपने को समर्पित किया। इस मार्ग में आने वाली गरीबी और कठिनाई को स्वेच्छापूर्वक वरण किया और जो बिना किसी प्रकार की शिकायत के, बिना किसी रंज-मलाल के सेवा-धर्म के नैष्ठिक पथिक की भाँति अनवरत रूप से चलते रहे।

पंडित रुद्रदत्त शर्मा अब नहीं रहे पर उनकी आदर्श परायणता अनन्त-काल तक भावनाशील लोगो को प्रेरणा देती रहेगी और कहती रहेगी कि महत्वाकांक्षाओं के प्रलोभन और कष्ट, कठिनाई, भय, सकोच को छोड़कर ही सच्चे महामानव की भूमिका निभायी जा सकती है।

एक पत्र, एक मिशन 'स्वराज्य'— श्री शान्ति नारायण भटनागर

सन् १९०७। कलकत्ता के एक भारतीय मिलिटरी कैम्प के क्लर्क ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। पग-पग पर गोरे अधिकारियों द्वारा मिलने वाले हीनता-बोध व दुर्व्यवहार की एक स्वाभिमानी भारतीय पर इसके अतिरिक्त और क्या प्रक्रिया हो सकती थी। अँग्रेज पदाधिकारियों के आँखों में शासक वर्ग का दर्प काजल की सी प्रखरता से प्रकट होता ही रहता था। भारतीय कितना ही योग्य व बुद्धिसम्पन्न क्यों न हो उनके लिए मूक पशु ही था और विशेषकर जो उनके मातहत काम करते थे उन पर तो शासक वर्ग का होने का रौब जमाना वे अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते थे।

उसने जिस अपमान व प्रताड़ना को निकट से देखा था तथा स्वाभिमान की रक्षार्थ उससे विद्रोह कर अपनी रोजी को ठुकरा दिया था। वही स्वाभिमान, भारतीय जनता मे जाग पड़े—उनके हृदय-कुटीर में छिपी बैठी देश प्रेम की भावना जाग पड़े तो इन अँग्रेजों को भारत से निकाल कर ही दम ले। तभी उस भूल का सुधार सम्भव है जो उसने वर्षों तक विदेशी शासन का सहयोगी कर्मचारी बनकर की है। वे त्याग-पत्र देकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गये थे। अपने देशवासियों के साथ होने वाले अन्याय, अनाचार का प्रतिकार कर सकने का सशक्त माध्यम खोजते-खोजते वे देश-भक्ति पूर्ण पत्र निकालने के बिन्दु पर आकर ठहर गये, विश्वस्त-आश्वस्त होकर। यही 'स्वराज्य' नामक साप्ताहिक-पत्र के प्रकाश में आने की पृष्ठ-भूमि रही थी। यह स्वाभिमानी-भारतीय थे 'स्वराज्य' संस्थापक—सचालक शान्ति नारायण भटनागर।

राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत 'अमृत-बाजार-पत्रिका' नामक समाचार पत्र के द्वारा होने वाले जन-जागरण को देखते हुए ही उन्होंने 'स्वराज्य' निकालने का निश्चय किया था। इस निश्चय को पूरा करने के लिए धन की आवश्यकता थी जो उनके पास पर्याप्त नहीं था। वे अपने मित्रों, परिचितों से उसकी पूर्ति के लिए सहायता माँगने गये तो उन्हे निराशा ही हाथ लगी थी। उन लोगों ने यह सुना कि वे पत्रकारिता के क्षेत्र मे जा रहे है व साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने जा रहे हैं तो उन्होने उल्टे उन्हे अपने निश्चय से डिगाना चाहा। उनकी निगाह में यह पूरी मूर्खता का काम था। एक तो उन दिनों पत्रकारिता घाटे का सौदा ही था दूसरे शासन का कोपभाजन बनकर राष्ट्रीय-भावनाओं का पत्र निकालना—निरा पागलपन ही था।

मित्रों, परिचितों से आर्थिक-सहयोग नहीं मिलने से वे चिन्तित थे। उनकी यह चिन्ता उनकी पत्नी से छिपी न रही। वे उनसे पूछ ही बैठी—'आप किसी कारण चिन्तित है क्या मैं उसे जानने की अधिकारिणी नहीं।' "तुम्हे क्या बताऊँ। मैं देश-भक्ति-पूर्ण पत्र का प्रकाशन करना चाहता हूँ। किन्तु

इस सदुद्देश्य के लिए कोई आर्थिक सहायता नहीं देता। सभी कहते है अपने खर्च के लिये व्यापार करने के लिए तो मनचाहा धन ले लो पर हम तुम्हारे इस आग में कूदने में सहयोग नहीं देंगे।'' श्रीमती भटनागर अपने पति के इस अभिनवरूप को देखकर मुग्ध हो उठीं। उनको लगा कि अम्बर आकर उनके चरणों मे बिछ गया है। उन्होंने अपने सारे स्वर्णाभूषण तथा अपना सारा स्त्री-धन उनके सामने लाकर रख दिया और बोली—''कोई भी जनहित का कार्य अर्थाभाव से नहीं रुकता। इन निर्जीव कंकड़-पत्थरो का इससे अच्छा उपयोग क्या हो सकता है कि वे किसी महान कार्य में काम आये।'' शान्तिनारायण ने आज समझा था कि नारी और नर का यह युग्म ईश्वर ने क्यो रचा।

त्याग और उदारता की इस भूमि में एक गुलाब लगा। यह पाटल पादप था उर्दू-साप्ताहिक पत्र स्वराज्य जिसकी सौरभ से सारा भारतवर्ष महक उठा था। जन-जागरण की महत्त्वपूर्ण-प्रक्रिया मे अपना योगदान देकर इस पत्र ने अनगिनत देश-भक्त उत्पन्न किये थे। कितने ही लोगो की सोयी हुई देश-प्रेम की भावना की मृतप्राय-बेलि को साहस व उत्साह की रस वर्षा से सिंचित कर अभिनव प्राण-संचार किया।

इसका प्रथम अंक स्वातन्त्र्य-संग्राम (१८५७) की अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर ९ नवम्बर, १९०७ को प्रकाशित हुआ। इस पत्र के सम्बन्ध मे रोलट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—''स्वराज्य-समाचारपत्र की स्थापना करके शान्तिनारायण-भटनागर ने संयुक्त-प्रान्त मे क्रान्तिकारी आन्दोलन का समारम्भ किया।'' उसके आठ सम्पादको को कारावास मिला फिर भी 'स्वराज्य' के लिए सम्पादको की कमी नहीं पड़ी। अन्त मे प्रेस एक्ट की सहायता लेकर 'स्वराज्य' को बन्द कराया गया। उसका एक-एक अंक जब्त घोषित किया गया था।

स्वराज्य की जीवन-गाथा समाचार पत्रो के क्षेत्र मे अपने ढंग का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करती है। उन दिनो जिस प्रकार के साहित्य की—जिन भावनाओ के प्रस्फुटित करने, विकसित करने की आवश्यकता थी, उसी आवश्यकता की पूर्ति इस पत्र ने की थी। हर सप्ताह जन-जन के हृदय द्वार खटखटाने वाले सजग प्रहरी की भूमिका को उसने बखूबी निभाया।

शान्तिनारायण भटनागर शामली जिला मुजफ्फर नगर के निवासी थे। अपनी सरकारी नौकरी छोड़कर वे लाहौर पहुँचे। वहाँ उन्होंने लाला लाजपत राय, सूफी अम्बाप्रसाद, सरदार अजीतसिंह आदि से भेंट की तथा उनकी भारत माता सोसायटी के सदस्य भी बने। यह दल सामयिक क्रान्तिकारी व देश-भक्ति पूर्ण साहित्य का प्रकाशन करता था। उन्होंने भी अपने पत्र द्वारा उनके उद्देश्य की पूर्ति करने का कार्य किया। पत्र को 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक मोतीलाल घोष तथा लोकमान्य-तिलक से पूरा-पूरा प्रोत्साहन मिला।

स्वराज्य के लिए मोतीलाल घोष ने जो सन्देश दि[illegible] वह बड़ा ही मार्मिक तथा स्वराज्य के भावी क्रिया-कलापों की पूर्वाभिव्यक्ति स्वरूप था। उन्होने कहा था—'स्वराज्य देश की राजनीतिक प्रगति मे समर्थ है। पर इस कार्य में इसके लिए तैयार रहे कि आपका एक पाँव सदा जेल में रहे आपके उत्तराधिकारी आपकी स्थान पूर्ति के लिए उद्यत रहें।

उनकी यह भविष्य-वाणी पत्र के प्रकाशन के छह मही[illegible] बाद ही सत्य सिद्ध होकर रही। 'अमरशहीद खुदीराम[illegible] की माता के उदगार' कविता के कारण शान्ति-नारायण प[illegible] राजद्रोह का अभियोग लगाकर उन्हे बन्दी बना लिया गया। साम्राज्यवादी न्यायालय ने उन्हे इस अपराध मे साढे तीन व[illegible] का सश्रम कारावास तथा एक हजार रुपये का अर्थ दण्ड घोषित किया था। अर्थ-दण्ड नहीं दे पाने पर छह माह की अतिरिक्त जेल भुगतने का आदेश था।

शान्तिनारायण का स्थान रिक्त होते ही उनका [illegible] रामदास सुरालिया ने ले लिया था। किसी ने सच ही [illegible] है सत्य व न्याय के पक्षधरो को उत्तराधिकारियों की कमी [illegible] रहती। सुरालिया जी ने स्वराज्य के सम्पादक बनकर सं[illegible] ही ले लिया और वे प्रकाशानन्द के नाम से ही विख्[illegible] हुए। अर्थ-दण्ड के लिए सरकार ने स्वराज्य प्रेस नीलाम क[illegible] दिया। सुरालिया जी के नाम भी वारंट निकाल दिये प[illegible] गुप्त रहकर धन-संग्रह करते रहे व पत्र नियमित रूप से निकलता रहा।

नये प्रेस की व्यवस्था बनी तो सुरालिया जी के स्थान पर होतीलाल शर्मा सम्पादक बने। सुरालिया जी गुप्त [illegible] उनकी गिरफ्तारी के बाद प्रकाशन चालू रखने के उद्देश्य से भूमिगत ही रहे। वर्मा जी कुछ ही अंक निकाल पाये थे कि उन्हे भी राजद्रोह के अभियोग मे गिरफ्तार कर लिया गया। उनके बाद बाबू रामहरी ने उनके रिक्त स्थान की पूर्ति की। वे भी ग्यारह अंक ही निकाल पाये थे कि उन्हें [illegible] तीन अपराधो के दोषी करार दे अँग्रेजी सरकार ने ७-७ वर्ष के काले पानी की सजा दी थी।

स्वराज्य के हर अंक मे आग उगलने वाली सामग्री प्रकाशित होती थी। यह अग्नि भारतवासियो के हृदय में बस जाती थी और वे स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर उत्सर्ग करने को उद्यत हो उठते थे। विचारोत्तेजक साहित्य से जन-मानस को किस प्रकार झकझोरा व जनता को जगाया जा सकता है यह तथ्य उन दिनो प्रकाशित होने वाले राष्ट्रीय पत्रो में पूरी तरह उभरकर सामने आया था। उन सब मे भी 'स्वराज्य' सबसे निर्भीक पत्र था। यही कारण था कि उसके सम्पादकों को गिरफ्तार करने के लिए विदेशी सरकार आँख लगाए रहती थी।

बाबूरामहरी की गिरफ्तारी के बाद मुन्शी रामसेवक, सम्पादक, 'सहायक' लाहौर ने सम्पादक बनने का डिक्लेरेशन प्रस्तुत किया। किन्तु उन्हे तानाशाह सरकार ने 'सहायक' में प्रकाशित राजद्रोहात्मक सामग्री के आधार पर बन्दी बना

लिया। उनके पकड़े जाने पर नन्दगोपाल चोपड़ा नामक तरुण देशभक्त इस यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिए आगे आये। ये भी दस अंक ही निकाल पाये थे कि इन पर तीन लेखों के आधार पर तीन भिन्न-भिन्न अभियोग लगाये गये। सेशन जज, इलाहाबाद ने उन्हे प्रत्येक पर दस-दस वर्ष के कालेपानी का निर्वासन दण्ड दिया था। इनके पश्चात् 'भारत माता'. के सम्पादक श्यामदास वर्मा व लद्धाराम कपूर ने क्रमशः 'स्वराज्य' के सम्पादक बनने का गौरव प्राप्त किया। दोनों को भी पूर्व परम्परा का अनुसरण करते हुए अण्डमान निकोबार मे जेल-यन्त्रणा व नृशंस अत्याचार सहन करने पड़े थे।

एक ओर संसार का सबसे प्रभुता सम्पन्न साम्राज्य था और दूसरी ओर थोड़े से जांबाज देशभक्त थे। इस संघर्ष में दूसरे पक्ष का पलड़ा ही भारी पड़ रहा था। वे देश प्रेम की मशाल को अपने रक्त के स्नेह से प्रज्ज्वलित रखने मे सफल हो रहे थे। वस्तुतः यह उन उत्सर्ग की भावनाओ का ही परिणाम था कि वे हँसते-हँसते कष्टों व यन्त्रणाओं को सदुद्देश्य के लिए आमन्त्रित कर रहे थे। उनके चेहरों पर खिली विजय की मुस्कान शस्त्र शक्ति पर भावनाओं-विचारणाओं की विजय के नवकेतन फहरा रही थी। यही भावनाओ की मशाल 'स्वराज्य' था।

लद्धाराम को दस-दस वर्ष के काले पानी की सजा हुई तो स्वराज्य के प्रकाशन का ध्यान रखते हुए शहीद मास्टर अमीरचन्द ने अर्थ-व्यवस्था भी की व सम्पादक भी जुटाया। अब सम्पादक बने अमीर चन्द बम्बवाल। वे चार अंक ही निकाल पाये थे कि उनकी २०००) रुपये की जमानत सरकार ने जब्त कर ली। उन पर दो लेखों के आधार पर राजद्रोह का आरोप था। उन्हें भूमिगत हो जाना पड़ा। १९१० को सरकार ने 'प्रेस एक्ट' के अन्तर्गत 'स्वराज्य' का प्रकाशन ही बन्द करवा दिया।

स्वराज्य की प्रखरता व उसके लेखों की जो प्रतिक्रिया पाठकों के मन पर होती थी वह परमाणु बम से भी अधिक विस्फोटक होती थी। यही कारण था कि इसके सम्पादकों को येन केन प्रकारेण सरकार गिरफ्तार कर उन पर राजद्रोह के मनमाने अभियोग लगाकर लम्बी-लम्बी सजाएँ देती थी। यही नही 'स्वराज्य' के अवैतनिक प्रचारक एटा के पण्डित रामचरण लाल, जो उसके अंकों को नगर-नगर, गली-गली, चौराहे-चौराहे पर पढ़कर सुनाया करते थे, को भी तीन-तीन सभाओं के आधार पर उन्हें पृथक-पृथक दस-दस वर्ष के काले पानी का सश्रम कारावास दिया गया।

'स्वराज्य' के इस संक्षिप्त जीवन-काल में यह तथ्य पूरी तरह उजागर हो गया कि विचारोत्तेजक-साहित्य किस प्रकार जन-जीवन को नूतन दिशा दे सकता है। साहित्य व पत्रों के क्षेत्र में यत्र-तत्र आज जो उद्देश्यहीनता, पलायनवाद, कुत्सा, अश्लीलता दृष्टिगोचर हो रही है, यह प्रकारान्तर में समाज मे जो दिशाहीनता उत्पन्न कर रही है यह एक विचारणीय तथ्य है। आज के पत्रकार जगत, साहित्यकारों व साहित्य व्यवसाइयों व जनता के सम्मुख 'स्वराज्य' एक प्रश्न चिन्ह उपस्थित करता है। जाने कब साहित्य की इस शक्ति को सद्-प्रयोजन से जोड़ने का प्रयास किया जाने की प्रवृत्ति की पुनर्प्रतिष्ठा हो सकेगी।

अमर कला साधक— फ्रा एंजिल्को

एक बार एक मेडिकावासी धनी व्यक्ति फ्रा एंजिल्को के चित्रों को देखकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपना फ्लोरेंस स्थित एक विशाल-भवन उसे भेंट कर दिया।

वह स्वयं तो साधु था उसे प्रसादों से क्या लेना-देना था ? एंजिल्को ने इसको एक मठ बना दिया जिसमें एक भोजन गृह तथा ४१ साधुओं के छोटे आवास कक्ष बनाये गये।

यहीं भोजन-गृह में उसने अपने दस चित्र लगा दिये थे। बाद में इन चित्रों को देखने के लिये काफी दर्शक आने लगे तथा उसकी मृत्यु के कुछ वर्षों पश्चात् इस भवन को उसका स्मारक बनाना पड़ा था।

एंजिल्को ने अपना सारा जीवन लोक-सेवा मे लगाया था। तद्नुरूप ही उसे सम्मान तथा श्रद्धा मिली। वह रोम चला गया तो उसके साथी साधुओं ने उसे १४४९ मे पुनः फ्लोरेन्स बुलाया तथा अपने विहार का प्रमुख बनाया।

विहार का प्रमुख बनने के बाद उसे कला-साधना के लिये अधिक समय नही मिल पाता था फिर भी वह किसी न किसी प्रकार चित्र बनाने का समय निकाल ही लेता था। उसने इस काल में लगभग पैंतीस चित्र बनाये।

उससे प्रभावित होकर उस काल के अन्य चित्रकारों ने भी अपने चित्रों का लक्ष्य मनुष्य के अन्तःकरण में सद्प्रेरणाएँ भरने का रखा था। इसका परिणाम यह हुआ कि चित्रकला जन-मानस की मानसिक तथा आत्मिक-प्रगति में सहायक बनी।

चार सौ वर्ष गुजर जाने के बाद भी उसके चित्रों की लोकप्रियता घटी नहीं वरन् बढ़ी ही है। उसके चित्रों को देखकर मन में वासना-तृष्णाओं के जाल-जंजाल से ऊपर उठाकर नित्य सुख पाने, लोकमगल के लिये सर्वस्व न्योछावर करने की उमंग उठने लगती है। जीवन्त कला का यह अमर उपासक था फ्राएंजिल्को।

फ्रा एंजिल्को उसका वास्तविक नाम नही है। फ्रा से अभिप्राय उसके साधु होने से है तथा एंजिल्को से यह ध्वनि निकलती है—जिसने देवत्व का चित्रण करने में सफलता पायी है। उसका वास्तविक नाम 'जान-प्रदर-ग्योवानी' था।

इस महान चित्रकार का जन्म मेडिको राज्य मे पन्द्रहवीं-शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। उसके पिता एक सामान्य कृषक थे। उसका बड़ा भाई ईसाई साधु था।

भाई का ग्योवानी पर बड़ा प्रभाव था। वह भी बड़ा होकर अपने भाई की तरह ईसाई साधु ही बना।

३.५६ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

बचपन से ही वह जिज्ञासु तथा चिन्तन-शील था अपने निकटवर्ती मनुष्यों का गहराई से अध्ययन करने का आदी था ।

ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया उसके सामने यह तथ्य स्पष्ट होता गया कि मनुष्य मे उत्तम आचरण करने की, दूसरों के लिये सहयोग-सेवा तथा सहायता करने की स्वाभाविक कामना होती है । यह कामना अन्तःकरण की निर्मलता तथा देवत्व का प्रतिनिधित्व करती है । इसके विपरीत अपना ही हित सोचने तथा दूसरो का अहित करते हुए भी अपना स्वार्थ साधने की राक्षसी-प्रवृत्ति भी बीज रूप में होती है ।

इन दोनो प्रवृत्तियों में से जिसको पोषण मिलता जाता है मनुष्य वैसा ही बनता जाता है । यदि दैवी प्रवृत्तियो को पोषण मिलता है तो वह सन्त-साधु, देवता बन जाता है तथा आसुरी प्रवृत्तियो को पोषण मिलता है तो वह स्वार्थी, पशु, राक्षस होता जाता है ।

मनुष्यों मे जितनी अधिक देवत्व की वृद्धि होती जाती है उतना ही इस धरा पर स्वर्गोपम वातावरण उत्पन्न हो जाता है । यदि असुरता की वृद्धि होती है तो संसार मे नारकीय परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं ।

महात्मा-ईसा उस स्वर्गीय सन्देश के एक सन्देशवाहक के रूप मे इस धरती पर आये तथा भ्रमित धरती के मनुष्यों को सद्मार्ग बताते रहे थे । कुछ व्यक्तियो ने जिनके स्वार्थों पर ईसा के उपदेशो द्वारा चोट पहुँचती थी, ने उन्हे सूली पर टाँगा । ईसा का यह बलिदान व्यर्थ नही गया । मुझे भी इस सद्ज्ञान द्वारा प्रचार-प्रसार करने के लिये तत्पर हो जाना चाहिए ।

मनुष्य को ईश्वर ने अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक सुविधा सम्पन्न बनाया तथा उसे सुविकसित मस्तिष्क तथा समर्थ शरीर-यन्त्र दिया तो उसके पीछे ईश्वर का यही प्रयोजन रहा है कि वह इस धरती को स्वर्ग बनाये । अतः उसे भी ईसा का अनुगामी बनकर सद्ज्ञान का अलख घर-घर, द्वार-द्वार जगाना चाहिए । अतः वह भी ईसाई साधु बन गया ।

वाणी और कर्म द्वारा वह लोगो को धर्म का—मानवीय कर्तव्य का राजमार्ग बताने के लिये साधु बना था । वह अपने इस कर्त्तव्य को बखूबी निभाता रहा । अल्पकाल मे ही वह नागरिकों तथा साधु-समाज मे सम्मानित माना जाने लगा ।

एंजिल्को के शुद्ध सात्विक आहार, त्याग-तपोमय जीवन तथा नित्य-उपासना के द्वारा उस की आत्मा पर पड़े आवरण धीरे-धीरे उठने लगे । उसकी आत्मिक शक्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही थी । वह अपनी आत्मा की आवाज को सहज ही सुन सकता था ।

ये प्रतिभाएँ एंजिल्को को ही प्राप्त थीं, यह मानना गलत होगा । ईश्वर ने हर एक व्यक्ति को बीज रूप मे कुछ प्रतिभाएँ दी हैं, आवश्यकता है उन्हे पहचानने की और विकसित करने की । उन प्रतिभाओ मे से कला भी एक है । ऐसी ही कला के बीजांकुर उस साधु मे भी थे । चित्रकला में विशेष रुचि थी और इसी कला मे उसकी कुछ गति भी थी ।

कभी-कभी उसको अपने अन्दर से एक विशेष प्रकार की आवाज सुनायी देती थी—"एंजिल्को तुम अपने कर्म, व्यवहार तथा आचरण के द्वारा तो जन-कल्याण कर ही रहे हो । किन्तु तुम्हे और भी सामर्थ्य प्राप्त हुई है उसको भी पहचान कर उसके विकास का प्रयत्न करो और भी अधिक सेवा तुम कर सकते हो । तुम्हारे भीतर एक श्रेष्ठ चित्रकार के अंकुर विद्यमान हैं, उन्हे विकसित भर करने की आवश्यकता है । यदि तुम यह साधना कर सके तो तुम्हारे द्वारा बनाये गये चित्र युगो तक मानव-जाति को प्रेरणा तथा प्रकाश देते रहेंगे ।"

एंजिल्को ने अपने अन्तर की इस आवाज को सुन था । किन्तु उसे कौन मार्गदर्शन देगा । बड़े से बड़े ख्याति प्राप्त चित्रकारो के आगे उसके चित्रो को कौन प्रतिष्ठा देगा इस प्रकार की कमजोरी एक क्षण उसके मन मे आयी किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपनी इस कमजोरी को समझ गया था । यह उसका आलस्य बोल रहा था ।

अब वह आश्वस्त हो चला था । उसका अपना अन्तःकरण ही उसका गुरु—मार्गदर्शक बना । प्रसिद्धि की चाह तो सामान्य मानव को होती है जिसकी बुद्धि भ्रमित रहती है उसे प्रसिद्धि की चाह क्या ?

उसी समय से एंजिल्को अपनी कला-साधना में जुट गया । इसके लिए उसने अपने साधु कर्म—लोक सेवा—सद्ज्ञान के प्रचार-प्रसार के क्रम मे कोई व्यवधान नहीं डाला वरन् फालतू समय मे वह अपनी कला साधना करने लगा ।

सच्चे मन से तथा निष्काम-भाव से कोई कार्य किया जाता है तो उसकी सफलता सुनिश्चित रहती है । फ्र एंजिल्को की तूलिका कुछ ही समय मे प्राणवान हो उठी ।

सारे दिन वह साधु-संस्थान के कार्यालय मे काम करता, लोगों को उपदेश देने जाता, संस्कार करवाता तथा शेष समय मे वह चित्र बनाने का अभ्यास करता था । इस बचे हुए समय मे भी उसने कई चित्र इतने सुन्दर बनाए थे । उनमें से अभी तक दो सौ मिल चुके है ।

उसके चित्रो का एक उद्देश्य होता था—उनमें एक प्रेरणा भरी होती थी । "नीचे मत गिरो ऊपर उठो और आकाश को छू लो । देवत्व को प्राप्त करो । स्वर्ग किसी अन्य लोक मे नहीं उसे इसी लोक मे पाया जा सकता है—लाया जा सकता है ।" यह और किसी की नहीं उसकी आत्मा की आवाज थी जिसे वह चित्रो के माध्यम से अंकित कर जनसामान्य में प्रेरणा भर रहा था ।

फ्र एंजिल्को के चित्रो के विषय महात्मा-ईसा के जीवन से संबंधित होते थे । उन चित्रो द्वारा वह देवत्व को धरती पर लाने का प्रयास कर रहा था तथा उसे उनने पूरे हद

सफलता भी मिली थी । उसके चित्रो मे चित्रित पुरुष, देवदूत, स्त्री, देवी तथा बालक, देवता होता था । वैसी ही अनुपम होती उन चित्रों की पृष्ठभूमि स्वर्ग-धरा सी पावन, मनोहर तथा आल्हादकारी ।

उसकी 'घोषणा', 'ईसा की उत्पत्ति', 'यूनान की उड़ान', 'मागी की भक्ति' आदि चित्र चार सौ वर्षो बाद भी कलाकारों के प्रेरणा-स्रोत बने हुए हैं ।

किस प्रकार कला, मानव के उन्नयन में सहायक हो सकती है, उसके विचारो, भावनाओं को परिष्कृत करके सद्प्रेरणा दे सकती है, फ्रा एंजिल्को के चित्र इसके अनुपम उदाहरण हैं ।

उसके चित्रों को देखकर लगता है जैसे स्वयं मानव निर्माता ईश्वर ने अपने पुत्रो को सन्मार्गगामी बनाने के उद्देश्य से पथ-प्रदर्शक के रूप मे इन्हे रचा हो ।

ऐसे पैंतीस चित्र फ्लोरेंस के 'म्यूसो डी सेन मार्को' चर्च मे अलमारियों के पल्लो पर जड़े हुए हैं । ये सभी चित्र अनुपम हैं तथा किसी देवता के उतारे हुए लगते हैं । पन्द्रह इंच लम्बे तथा पन्द्रह इंच चौड़े इन चित्रो में सचमुच ही स्वर्ग उतर आया है ।

चित्र-कला के समालोचक इन्हे आश्चर्य की वस्तु कहते है तथा उनका मत है कि 'ऐसी सादगी' प्रेम तथा देवता के दर्शन अन्य चित्रों में दुर्लभ है । 'घोषणा' नामक चित्र में मधुरता तथा गरिमा के अतिरिक्त भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होते है ।

'कला को केवल कला के लिये' मान ने वाले कलाकार कला को कल्पना लोक की एक वस्तु बना लेते हैं उससे सामान्य-मानव कोई लाभ नहीं उठा पाता । आजकल चित्रकला के क्षेत्र मे ऐसे ही प्रयोग चल रहे है । कला को केवल लोक-रंजन का साधन मानने वाले तथा मानव की पाशविकता को गुदगुदाने—उभार देने वाले चित्रकार तथाकथित कलाकार, कला के नाम पर नग्नता का प्रचार भर करते है । किन्तु इसके विपरीत फ्रा एंजिल्को के चित्र मानव को उसका सच्चा-स्वरूप बताते हैं तथा कलाकार को मनुष्य से भिन्न नही बताते ।

फ्रा एंजिल्को की मृत्यु पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम दशक में हुई । वह आज भी अपनी चित्रकला तथा मानव जाति के उत्थान हेतु अपना सम्पूर्ण-जीवन समर्पित करने के जीवन-दर्शन के रूप में अमर है ।

आज जब चित्रकला पाशविक वृत्तियों के जाल में फँसी हुई है । चित्रकार लोग मनुष्य की वासना को उभारने तथा नारी को नग्न करने के प्रयास में दुश्शासन बने हुए हैं । फ्रा एंजिल्को जैसे सच्चे कला-उपासक की कमी आज की पीड़ित मानवता बुरी तरह अनुभव कर रही है । उसकी पुकार सुनकर कितने माई के लाल आज चित्रकला को पुनः अपने उस गौरवमय पद पर आसीन करने का साहस करते हैं, इसकी प्रतीक्षा कर रही है ।

सफल चित्रकार असफल मनुष्य—वान-गॉग

कुछ ही वर्षों पूर्व हॉलेण्ड की राजधानी एम्सटर्डम मे विख्यात चित्रकार वीसेंट वानगॉग की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए वान गॉग स्मृति संग्रहालय का उद्घाटन हुआ है, जिसमे उनकी अमर-कलाकृतियों का वृहदसंग्रह जुटाया गया है । इस संग्रहालय के लिए बिसेंट वानगॉग के अनुज थियो वानगॉग के सुपुत्र डा. वी. डब्लू. वान गॉग ने उनके २३० चित्र और ५०० से अधिक रेखाचित्र समर्पित किये हैं । यह सम्मान उनकी कीर्ति का समुचित मूल्यांकन माना जाएगा साथ ही उनकी अमर यादगार भी बनेगा ।

आज जिस वानगॉग की स्मृति को स्थाई बनाने के लिए इतने प्रयास चल रहे हैं, उसी वानगॉग को अपने छोटे से जीवनकाल में जितनी उपेक्षाएँ, जितना तिरस्कार और जितनी अवमानना सहनी पड़ी वे एक ओर इस सत्य को अनावृत करती हैं कि कठिनाइयाँ, अपमान, उपेक्षा, अवमानना उसे मनुष्य बनाती है । दूसरी ओर इस कटु सत्य को भी उद्घाटित करती है कि मनुष्य कितना स्वार्थी और स्वकेन्द्रित होता है कि उसे किसी दूसरे व्यक्ति की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिलती है । यह संसार का दर्द है । इसका ज्ञान हो जाना हर व्यक्ति के लिए उपयोगी है ।

बिसेंट वानगॉग का जीवन अतिअल्प और अति दुखद था । वह दुख कितना असह्य था यह इसी बात से प्रकट हो जाता है कि उसे सैंतीस वर्ष की अल्पायु मे आत्मघात करके इस संसार से विदा लेनी पड़ी थी । वानगॉग को इस दुनिया से कुछ भी नहीं मिला पर वानगॉग ने अपने अमर-चित्रों के रूप में मानवता को जो सभ्यता दी है उसका मूल्यांकन अब किया जा रहा है उनके जीवित रहते हुए नहीं हो सका ।

हॉलेण्ड के जनदर्त नामक कस्बे में सन् १८५३ में जन्मे वानगॉग के चित्रो को जितनी ख्याति मिली है उतनी गिने-चुने दो चार चित्रकारो को ही मिली है । 'रैम्ब्रा' के पश्चात् इसी महान-कलाकार का नाम सामने आता है । दुखी-मानवता के प्रति इतनी गहन आत्मीयता के प्रदर्शन करने वाले चित्रो के अंकन मे वानगॉग अप्रतिम है । सम्भवतः इसका कारण यही रहा हो कि वानगॉग को स्वयं गहनअवसाद और उपेक्षा सहनी पड़ी थी ।

अपने भाई थियो वानगॉग को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति से उन्हें प्रेम और सहयोग नहीं मिला था । उनको अपनी बदसूरती के कारण किसी भी नारी का प्रेम नहीं मिला । दुनिया का तो दर्द ही यही है । बाहरी टिमटाम पर ही वह मरती है । भीतरी-सौन्दर्य को देखने का प्रयास लोग कहाँ करते हैं । वानगॉग ने जिस सौंदर्य की सृष्टि की उसकी ओर उसके जीते जी बहुत कम लोगो ने ध्यान दिया था । मरने पर भले ही उसे कितना माना गया हो यह दूसरी बात

है । वानगॉग को जो उपेक्षा मिली वह उन लोगों के लिए कम प्रेरक नहीं है । जो वास्तव में प्रतिभावान है पर उनकी प्रतिभा समाहत नहीं हुई है । उन्हे विश्वास रखना चाहिए कि देर-सबेर उनका उचित मूल्यांकन होकर रहेगा ।

नारी के प्रेम से तो वानगॉग वंचित ही रहा था । एक प्रकार के नारी का प्रेम पाने की उसकी अभिलाषा उसके लिए अभिशाप बनकर रह गयी थी । जब वह 'क्लेपहेम' कस्बे मे रहा करता था तब उसके मकान मालिक की लड़की उर्सल लुइयर से उसका प्रेम हो गया । यह प्रेम एकतरफा था । उर्सल के मन मे उसके प्रति तनिक भी प्रेम नहीं था । जब उसने उर्सल पर अपने मनोभाव प्रकट किये तो उर्सल ने उसकी उपेक्षा की थी । यह उसके लिए बहुत बड़ी चोट थी ।

मानव-मन मे प्रेम पाने की आकांक्षा होना स्वाभाविक है, पर कोई किसी के प्रति प्रेम रखता है तो यह आवश्यक नहीं हो जाता कि वह भी उसे प्रेम करे, ही करे जिसे वह चाहता है । वह इसके लिए स्वतन्त्र है । किन्तु वानगॉग इस तथ्य को अस्वीकार ही करता रहा । इसे उसकी अति-भावुकता ही कहना चाहिए कि उर्सल के प्रति उसका प्रेम, पागलपन के स्तर तक पहुँच गया था । वह उर्सल को देखने मात्र की कामना से प्रति शुक्रवार की रात अपने गाँव से पैदल ही निकल पड़ता था ताकि रविवार को चर्च जाती हुई उर्सल को नजरभर देख सके । यह एक पागलपन ही कहा जाएगा ।

इसके पश्चात् भी उसने दो एक स्त्रियो के प्रति स्वयं को अनुरक्त पाया पर जब उसने अपने मनोभाव उन पर प्रकट किये तो दूसरा पक्ष ठण्डा ही रहा प्रेम-सम्बन्धों की इस असफलता से वह बहुत दु.खी हो गया ।

उस समय वानगॉग को अपनी वह असफलता बहुत चोट पहुँचाने वाली लगी थी पर सही दृष्टि से देखा जाय तो इस असफलता ने ही वानगॉग को महान चित्रकार बनाया था । जिस प्रकार पत्नी-प्रेम-अनुरक्त गृहस्थ तुलसीदास को सन्त-शिरोमणि, मानसकार, महाकवि तुलसीदास बनाने का श्रेय रत्नावली की उस प्रेमपूर्ण झिड़की को है उसी प्रकार वानगॉग को अमर चित्रकार बनाने में उसकी प्रणय-विफलताओ का बड़ा हाथ रहा है । यह बात दूसरी है कि मानसकार को जितना बड़ा अवलम्ब मिल गया था वैसा उसे नहीं मिला और वह टूटकर बिखर-बिखर गया । इसमे दोष उसका भी नहीं है, वहाँ का जीवन-दर्शन और सस्कृति ही वैसी है ।

प्रणय-सम्बन्धो की असफलता तथा जीवन की अथाह कठिनाइयो और अपरिमित कष्टो ने उसे सामान्य-धरातल के असामान्य ऊँचाइयों पर पहुँचा दिया और इसी कारण वह अपने चित्रों में जड़ता को चेतना देनें में सफल हो सका था । उसने 'स्टिल-लाइफ' में भी अपना योगदान दिया था । दृश्य चित्रों में भी उसने प्रकृति को अपनी अन्तरंग-भावनाओ के माध्यम से उभारा था । जिसमें उसकी व्यथित भावना साकार होकर अवतरित हुई है । सूरजमुखी के हँसते हुए ताजे पुष्प, बड़े-बड़े वृक्षों से छन-छन कर और धरती तल पर उत्र हुआ सूर्य का प्रकाश आदि उसके चित्रो में एक [illegible] प्रतीकात्मकता की सृष्टि करता है । 'साइप्रस' के चाँदनी [illegible] नहाये वृक्षों को देखकर वह उत्तेजित हो उठता है और [illegible] तत्काल ही चित्र समाप्त करने के उद्देश्य से बहते हुए [illegible] को तीव्र गति मे लगाना आरम्भ कर देता है ।

वानगॉग की कला-कृतियो की विशेषता यह थी उसकी कृतियो मे केवल एक अपने ही ढंग का यथार्थ । उसने अपने चित्रो में एक बात का विशेषतौर पर ध्यान [illegible] कि चित्र विषय से यथातथ्य अंकित न हो साथ ही [illegible] उसकी आन्तरिक अनुभूतियाँ एवं आकार भी नजरन्दाज न [illegible] उसने अपनी कृतियो में केवल मानव-आकृति को ही अ[illegible] विषय नहीं माना, वरन् वातावरण की प्रत्येक बड़ी से ब[illegible] और छोटी से छोटी वस्तुओं तक को अंकित किया, [illegible] फल-फूल, पेड़-पौधे, खेत-मैदान, मेज कुर्सी, भवन-पथ, [illegible] कूचे आदि । उसकी कृतियो मे उसकी आन्तरिक भावनाएँ निखरकर सामने आयी हैं ।

वानगॉग के चित्रो मे आत्मा की शक्ति, जिसे [illegible] दिव्यप्रकाश के सदृश देखा करता था उसी भाँति परिलक्षित होती है जिस प्रकार 'सेजाँ' के चित्रों मे शारीरिक-शक्ति [illegible] प्राणवत्ता का आभास होता है । यही कारण है कि वह अ[illegible] थोड़े से चित्रो के माध्यम से ही अमर हो गया है ।

उसने अपने चित्रो मे पीले-रंग का सबसे अधिक प्रयो[illegible] किया है । यदा-कदा ही उसने अन्य दूसरे हल्के रंगों [illegible] प्रयोग किया था । वह चेहरे-मोहरे से कितना ही भोंडा औ[illegible] बदसूरत रहा हो पर उसने अपनी भीतरी भावनाओं का प्रस्तुतीकरण अपनी चित्रकला के माध्यम से किया है [illegible] सुन्दरम् से अनुप्राणित है । काश उसके अपने जीवन मे [illegible] उसके इस आन्तरिक-सौंदर्य को देख पाता ।

कला और साहित्य की जननी पीड़ा ही रही है । [illegible] ने ही अमर संगीतकार बीथोवियन का निर्माण किया था । वाल्मीकि ने रामायण की रचना क्रौंच की पीड़ा की अनु[illegible] से ही प्रेरित होकर की थी । हिन्दी के प्रतिष्ठित क[illegible] सुमित्रानन्दन-पंत ने भी इसी सत्य को पद्य रूप मे निरूपित किया है—

> वियोगी होगा पहला कवि,
> आह से उपजा होगा गान ।
> निकलकर आँखों से चुपचाप,
> बही होगा कविता अनजान ।

पीड़ा तो कविता, साहित्य और कला का प्राण [illegible] है । वानगॉग ने अगर अपने सम्मुख आने वाले पीड़ा [illegible] को इस सत्य के साथ देखा होता तो बहुत सम्भव था [illegible] अपने जीवन से बेजार होने की आवश्यकता नहीं थी, कि[illegible] दुर्भाग्य से वह ऐसा नहीं कर सका था ।

वानगॉग की अति-भावुकता उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी । उसने देखा कि समाज के सफेदपोश लोग अपने [illegible]

ादतो को तृप्त करने के लिए वेश्याओ को समाज का निवार्य अंग तो बना देते और स्वयं सम्मानित बने रहते है और बदनाम वे होती है जो विवशतापूर्वक नारकीय जीवन ी रही होती है । भावुक वानगॉग यह देख कर वेश्याओं के प्रति सहानुभूति से भर उठा । उसकी अपनी एक मॉडल ो स्वयं एक बदनाम वेश्या थी उसकी कृपापात्री बन गयी ी । वह उसी के साथ रहने लगा । वह तब तक उसके साथ रहता रहा जब तक कि उसका भाई थियो वानगॉग जो कला चित्रो का अच्छा व्यापारी था, उसे अपने साथ रखने के लिए लेने नहीं आ गया ।

दलितो, शोषितों और समाज के गिरे हुए वर्ग के प्रति उसकी कितनी आत्मीयता थी उसका प्रकटीकरण अपने भाई को उस समय कहे इन शब्दो से हो जाता है जब वह उन्हें अपने साथ चलने का आग्रह करने लगा था—"मेरे भाई मैं अच्छा आदमी नहीं हूँ, परन्तु मैं हर व्यक्ति में मानवता देख सकता हूँ ।"

उनके भाई थियो ने विसेंट वानगॉग की पर्याप्त सहायता की थी । किन्तु उसकी भी अपनी पारिवारिक परिस्थितियाँ जब विषम हो चलीं तो उधर से सहायता मिलनी भी बन्द हो गई थी । वानगॉग को मानसिक परेशानी तो पहले ही थी । मित्रों से धोखा खाने और प्रेम मे निराश होने के कारण उसका मानसिक-संतुलन बिगड़ता चला गया । अन्त में उसकी स्थिति एक पागल जैसी हो गयी थी । यह उसके विरोधियो के लिए छकाने का अच्छा अवसर था । उन्होंने एक आवेदन-पत्र तैयार करके उस पर अस्सी व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाये, जिस पर न्यायालय मे विचार हुआ और उसे सेंट रेमी अस्पताल मे रहना पड़ा । यद्यपि वह यहाँ भी चित्र बनाता था पर उसमें वह पहले वाली बात नही रही थी ।

मनुष्य एक सामाजिक-प्राणी है । इस नाते वह समाज में सम्मान भी चाहता है और कुछ लोगो से अपनत्व की अपेक्षा भी रखता है, पर जब उसे वह नही मिलता तो वैसी स्थिति मे उसके लिये मानसिक संतुलन रख कर उस दिन की प्रतीक्षा करनी आवश्यक होती है जब वह अपने कार्यों द्वारा सम्मान व अपनत्व जीत ले । वानगॉग मे वह संतुलन और धैर्य नहीं था । इसलिए उसे सैतीस वर्ष की अल्पायु में ही आत्मघात करना पड़ा । उसका जीवन, सफल और सुखी जीवन भले ही नही कहा जा सके पर इन सभी ने उसके भीतर के उस महान-चित्रकार की प्रतिभा का विकास कर दिया और वह अपने चित्रो के माध्यम से अमर हो गया, एक सफल चित्रकार ! किन्तु, असफल आदमी के रूप मे । उसकी सफलताओ व असफलताओ से सीखने वालो को बहुत कुछ सीख मिलती है ।

दोष स्वीकार करने का भी साहस हो— विजयकृष्ण गोस्वामी

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उन संन्यासियो मे गिने जाते है जिन्होंने संन्यास का ध्येय आत्म-कल्याण मात्र न रखकर सारे समाज को ज्ञान का प्रकाश और नैतिक चेतना प्रदान करना माना । उनकी शिक्षाओ मे मुख्य बात यह रही है कि आत्म-हीनता का उदय, पाप और बुराइयो को छुपाने से होता है । यदि लोग अपने दोषो का चिन्तन किया करें, उन्हें स्वीकार कर लिया करें और उनका दंड भी उसी साहस के साथ भुगत लिया करें तो व्यक्ति की आत्मा मे इतना बल है कि और कोई साधन-सम्पन्नता न होने पर भी वह संतुष्ट जीवन जी सकता है ।

गोस्वामी विजयकृष्ण स्वयं इसी मार्ग का अनुसरण कर आत्म-स्थिति को प्राप्त कर सके थे । अपने संशोधन के मामले मे वह बचपन से ही कठोर थे । बुराई के दंड से मुकर जाना उन्होंने कभी न सीखा था ।

लड़कपन की बात है, विजयकृष्ण गोस्वामी अपने अन्य साथियो के साथ मैदान मे खेल रहे थे । लड़कों ने थोड़ी देर लकड़ी का घोड़ा बनाकर खेला पर उससे उन्हे आनन्द न आया । अब तो कोई सजीव घोड़ा हो तभी आनन्द आये ।

पर घोड़ा आये कहाँ से यह कठिन प्रश्न था । कस्बे मे एक ही घोड़ा था सो भी मजिस्ट्रेट का । वह घोड़ा पाना बड़ा मुश्किल था पर लड़के भी कम विचित्र न थे । सब ने एक निश्चित योजना बना ली थी ।

दोपहर को घोड़ा घास खा रहा था । सईस को थोड़ी नींद आ गई और लड़को को मौका मिल गया था । घोड़ा पकड़कर सब बालक पहले मैदान में इकट्ठा हुये और उस पर चढ़ने की इच्छा पूरी करने लगे ।

सईस की आँख खुली बेचारा घोड़ा न पाकर घबड़ा गया । मजिस्ट्रेट-साहब को उसने घोड़ा चुराये जाने की सूचना दे दी । मजिस्ट्रेट बाहर आये तो देखा दूर मैदान लड़के उस पर सवारी गाँठ रहे हैं । मजिस्ट्रेट महोदय छड़ी हिलाते हुए उधर चल पड़े ।

मजिस्ट्रेट को आते हुए देखकर सब लड़के नौ दो ग्यारह हो गये । एक ही लड़का था जो अब भी घोड़ा पकड़े खड़ा रहा । भागना उसके लिये सम्भव था परन्तु, उसमे अन्य बालको की अपेक्षा अधिक प्रखर प्रतिभा फूट रही थी, उसमे अजीब साहस, सचरित हो रहा था ।

मजिस्ट्रेट ने डाँट कर पूछा—"सच बताओ घोड़ा किसने चुराया" "मैंने" लड़के ने उत्तर दिया । "और लड़के तो मेरे साथ खेल मे शामिल हुये, घोड़ा मैने चुराया क्योंकि मेरी उस पर चढ़ने की इच्छा हुई, अब यदि आप दड देना चाहते है तो खड़ा भी मैं ही हूँ ।"

मजिस्ट्रेट ने ऐसा लड़का नहीं देखा था । बच्चे के इस अपूर्व साहस से वह बहुत प्रभावित हुये । उन्होंने निश्चय कर लिया यह बालक एक दिन अवश्य कोई बड़ा सेनापति अथवा राजनेता बनेगा ।

सेनापति तो वह नहीं बना उसकी आवश्यकता भी नहीं थी । वह एक बलिष्ट-आत्मा के रूप में प्रकट हुये और उन्होंने संसार की दु.खी परिस्थितियों के संशोधन मे अपना जीवन उत्सर्ग किया था ।

मनुष्य शरीर होने के नाते गल्तियाँ सभी से होती है । जो उन्हे छुपाते है वे गिरते चले जाते है पर जो बुराइयो को स्वीकार करता है उसकी आत्महीनता तिरोहित हो जाती है । इसलिए महात्मा जी की यह शिक्षा बड़ी ही महत्वपूर्ण है—अपने आचरण को गिराओ मत, भूल को स्वीकार करो उसका प्रायश्चित करने से आत्मा की जटिल ग्रन्थियाँ मुक्त होती चलेगी और क्रमश· अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ते चलोगे । ऐसे साहसी व्यक्ति ही सांसारिक सुख-वैभवो का भी लाभ पाते हैं ।

सामान्य कैदी से अंतर्राष्ट्रीय ख्याति तक—आन्द्रे मालरो

अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व की घटना है । प्रसिद्ध साहित्यकार आंद्रेमालरो ने उस समय न तो लेखन प्रतिभा का परिचय दिया था और न ही कोई स्थायी व्यवसाय अपनाया था । तब उनकी आयु पच्चीस-छब्बीस वर्ष की रही होगी । वे अपनी पत्नी के साथ कम्बोडिया मे फक्कड़पने से घूम रहे थे । साथ मे इस दम्पत्ति के साथ एक मित्र और था । घूमने की धुन तब सवार हुई जब उन्होंने पुरानी विद्या और कला की खोज का काम हाथ मे लिया, तब वे प्राच्य-विद्या-सस्थान से शिक्षा ग्रहण कर निकले ही थे । सुना था कि कम्बोडिया प्राच्य-रत्नो का खजाना है उसी आकर्षण ने उन्हे वहाँ की यात्रा करने के लिए प्रेरित किया था ।

कम्बोडिया मे घूमते-घूमते वे तीनो व्यक्ति नोमपेन्ह पहुँचे । वहाँ के पुराने बौद्ध-मन्दिरो को देखकर वे इतने अभिभूत हो उठे थे कि उन्होंने अपनी जेब का ही ध्यान नहीं रहा और वहाँ जो कुछ भी उनके पास था वह सब चुक गया । अब प्रश्न उठा कि क्या करे । तभी तीनो ने मिल र वहाँ के एक मन्दिर का कोष लूटने की योजना बनाई रि एक रात उस मंदिर को लूटने के लिए वे अगकोरवाट चे जो नोम-पेन्ह के समीप ही था । इस मन्दिर में बताते कि काफी सम्पदा है । तीनो ने मिलकर पहले तो वहाँ पहरा दे रहे चौकीदार को काबू में किया फिर अन्दर घुस ।

अन्दर पुजारी और कर्मचारी एक बड़े से हॉल मे सोते स हॉल के दरवाजे बन्द कर दिये । फिर मुख्य पुजारी रा-धमकाकर उससे तिजौरी को चाभी छीनी और तिजौरी में से कुछ सिक्के लेकर चलते बने । सोचा था जि काम चल जाय उतना ही काफी है ।

सुबह मन्दिर के अधिकारी ने रिपोर्ट लिखा दी मालरो, उनकी पत्नी तथा दोस्त कोई पेशेवर लुटेरे तो थे नहीं । इसलिए सुबह होने के कुछ समय बाद ही पकड़ लिये गये । मालरो की पत्नी को तो स्त्री होने का लाभ दिया गया और उसे बरी कर दिया गया पर मालरो को तीन वर्ष की कैद हुई । सुनते है मालरो की पत्नी ने आगे न्यायालय मे अपील की थी परिणामस्वरूप वह अपने पति की सजा कम कराने से सफल हो गयी थी जो तीन वर्ष से घट कर एक ही वर्ष रह गयी थी ।

जेल मे रहने के कारण मालरो को एकाकी जीवन बिताना पड़ा था । यह एकाकी जीवन उन्हे मृत्यु से भी अधिक भयावह लगता था । कोई काम तो था नहीं । इसलिए दिन के अधिकांश घटे खाली ही व्यतीत करना पड़ते थे । एक दिन उन्होंने देखा एक कैदी कागज पर कुछ लिखता जा रहा है और गुन-गुनाता भी जा रहा है । पास जा कर देखा तो वह कैदी गीत लिख रहा था । यह देख कर मालरो ने अपना खाली समय बिताने का एक साधन खोज लिया और वे केवल समय बिताने के लिए ही लिखने लगे ।

समय बिताने के लिए अपनाये गये इस क्रम ने उनके जीवन मे इतना बड़ा स्थान ग्रहण किया कि यही उनके जीवन मे आगे चलकर सबसे बड़ी विशेषता बन गयी । लेखक होने के कारण मालरो को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई । खाली समय मे लिखने की ओर प्रवृत्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले आन्द्रे-मालरो का जन्म १९०१ मे पेरिस मे हुआ था । उनके पिता मूलतः फ्लाडर्स के निवासी थे जहाँ कि मालरो के बाबा शराब और मछली का व्यापार किया करते थे । पता नही क्या बात हुई की मालरो के बाबा ने सिर मे कुल्हाड़ी मारकर आत्महत्या कर ली और इस घटना से दुखी होकर उनके पिता अपनी माँ सहित पेरिस आकर बस गये थे ।

मालरो को अपने जीवन मे प्रेम नाम की चीज किसी से नहीं मिली । उनके पिता अपनी ही धुन मे रहने वाले मनमौजी और रगीन तबियत के आदमी थे । जिससे उनकी पहली सन्तान होने के चार वर्ष बाद ही आन्द्रे की माँ उनके पिता से अलग हो गयी थी । आद्रे की माँ और पिता में काफी समय तक इस बात को लेकर विवाद चलता रहा कि आद्रे किसके पास रहे । माँ चाहती थी कि मेरा बेटा मेरे साथ रहे और पिता अपनी जिद मे आकर आद्रे को उसकी माँ के पास जाने देना नही चाहते थे । आन्द्रे की माँ का तर्क अपने आप मे काफी वजनदार था । उसका कहना था कि मेरा भूतपूर्व पति बेहद गैर जिम्मेदार और लापरवाह व्यक्ति है । उसके सरक्षण मे रहने से आंद्रि का भविष्य बिगड़ जायगा ।

जीत अन्ततः ! माँ के हृदय की ही हुई । और चार वर्ष के छोटे से बालक ने अपने माता-पिता को एक दूसरे से अलग होते हुए तथा अपना बँटवारा होते हुए देखा । बँटवारा इसलिए कि आंद्रे का पिता साल मे छह माह आंद्रे को उसकी माँ के पास छोड़ने के लिए राजी हो गया था पर शीघ्र ही उसने पूर्णतया आन्द्रे को उसकी माँ के संरक्षण में ही छोड़ दिया । आन्द्रे अपनी माँ के साथ ही रहने लगे । उनकी माँ के पास आर्थिक स्रोत इतने सुदृढ़ तो थे नहीं इसलिए आन्द्रे का बचपन बड़ी कठिनाइयो मे बीता था । पिता ने फिर दूसरी शादी कर ली थी जिससे दो बच्चे हो गये थे और इसी कारण उन्होने आंद्रे को अपने साथ रहने के लिए जोर देना बन्द कर दिया था । आन्द्रे को अपनी माँ के साथ रहने की छूट मिल गयी थी ।

उन्होने अपनी प्रारम्भिक-शिक्षा कहाँ प्राप्त की इसका कहीं उल्लेख नही मिलता है । स्वयं आंद्रे से जब उनके बचपन के बारे मे प्रश्न किया जाता तो वे यही उत्तर देते थे मुझे अपने बचपन से कोई लगाव नही है । इसलिए मैं उसकी कोई चर्चा नहीं करना चाहता । जिन लेखकों को मैं जानता हूँ उनमे से अधिकाश को अपना बचपन प्यारा है पर मैं अपने बचपन से घृणा करता हूँ । अपने बचपन से उन्हे क्यो घृणा हुई इसका कारण यही है कि बालक आंद्रे लगभग सारे बचपन मे माता और पिता की कशमकश मे जूझते रहे । १९ वर्ष की आयु मे उन्होने सीन नदी के किनारे बसे एक छोटे से गाँव मे पुरानी किताबो की दुकान खोली जैसे-तैसे उन्होने मेहनत-मजदूरी कर थोड़े बहुत रुपये इकट्ठे किये । इन रुपयों से उन्होने पुरानी किताबे खरीदी, जिनके पास ऐसी किताबो की कोई उपयोगिता नहीं थी उन लोगो ने वे किताबें आधे-तिहाई दामो मे बेच दीं । और आन्द्रे ने उन फटी पुरानी किताबो पर नया कवर चढ़ाकर व्यवस्थित बनाया तथा पोनी आधी कीमत मे बेचने लगे ।

इसी दुकान को चलाते हुए उनका परिचय क्लारा गोल्ड-स्मिथ नामक लड़की से हुआ । जो एक रईस घराने की पुत्री थी । क्लारा, आन्द्रेमालरो की ओर इस कदर आकर्षित हुई कि दोनों ही प्रणय-सूत्रो मे बँध गये । क्लारा के साथ शादी कर लेने पर आन्द्रे को काफी सहयोग मिला पर उनका दाम्पत्य जीवन शीघ्र ही नीरस हो गया । कारण कि क्लारा आन्द्रे के साथ सहयोग करते हुए भी बिगड़े स्वभाव की लड़की थी, गलत सगति और बुरे वातावरण मे रहने के कारण पति के प्रति वफादार रहने का उसका स्वभाव नही था । जब उसने देखा कि आन्द्रे उसके उन्मुक्त स्वभाव को देख कर असन्तुष्ट है तथा उसको सम्मान नहीं देता है तो वह इस सम्बन्ध को तोड़ने के लिए छट पटाने लगी थी । क्लारा समझती थी कि आन्द्रे उसके धन का गुलाम हो जायगा पर धन को अत्यधिक महत्त्व न देने वाले आन्द्रे के लिए चरित्र-निष्ठा अधिक महत्त्वपूर्ण थी । इससे खिन्न हो कर क्लारा ने अपने पति को तलाक दे दिया और उसे नीचा दिखाने का भी बहुत प्रयत्न किया था । यहाँ तक कि क्लारा ने आंद्रे की चरित्र हत्या करने के लिए एक निहायत ही वाहियात जीवनी लिखकर भी छपाई थी ।

तलाक शुदा पत्नी के इस तरह के व्यवहार को देख कर भी आन्द्रेमालरो अविचलित ही रहे और शान्त-भाव से अपना काम करते रहे थे । उन्होने क्लारा के प्रति कभी प्रतिशोध की भावना व्यक्त नहीं कि बल्कि मानविकी और प्राच्य विद्या का अध्ययन करने मे जुटे रहे । इन्हीं दिनों उन्होने जेल मे लेखन का अभ्यास किया और पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे । कुछ समय बाद उन्होने एक उपन्यास लिखा जिसका नाम था 'द काँकरा' यह उपन्यास उनकी पहली पुस्तक थी जो १९२५ में हुए केण्टन के विद्रोह की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी थी ।

'द काँकरा' लेखन कार्य के बाद मालरो ने एक पत्र भी निकाला । सन् ३० से ३९ तक उन्होने यूरोप में बढ रहे फासीवाद के विरुद्ध विचार-क्रान्ति का संघर्ष छेड़ा था । डिज ऑफ रेथ 'मेन्सफेट', 'द वाल नट ट्रीज आफ आल्टेन बर्ग', 'वायसेज ऑफ साइलेन्स', 'द मूमेजनरी म्यूजियम' और 'मेटा मौर्फोसिस ऑफ द गोड्स' आदि पुस्तके फ्रासीसी-साहित्य की अमूल्य-निधि कही जाती है । इनमें से कई कृतियाँ तो पुरस्कृत भी हुई । उनकी प्रतिभा का उपयोग संस्कृति पुनरुत्थान के लिए करने हेतु जनरल दगाल ने उन्हे सस्कृति मन्त्री भी नियुक्त किया और इस पद पर वे ११ वर्ष तक बने रहे ।

सन् १९७६ मे उनका देहान्त हुआ । उस समय वे प्रसिद्धि के जगत मे एक देदीप्यमान-नक्षत्र की भाँति चमकने लगे थे । उनका जीवन इस बात का उदाहरण है कि अनवरत अध्यवसाय के द्वारा मनुष्य क्या नहीं बन सकता है ।

महान अभियंता व प्रारूपकार—

गस्ताव इफिल

सौन्दर्य और फैशन की नगरी पेरिस का नाम सुनते ही उस दैत्याकार स्तम्भ की याद आ जाती है जिसे देखने को विश्व के लगभग दस लाख यात्री प्रतिवर्ष आते हैं । मन्द मथर गति से ऊपर उठते हुए लिफ्ट में बैठे यात्री हरित वृक्षों का परिधान ओढ़े फ्रास की राजधानी का भव्य और गरिमामय रूप मुग्ध-नयनों से निहारते नही थकते । इससे पृथक कोई सैलानी पेरिस की कल्पना ही नहीं कर सकता । इस विशाल स्तम्भ को देखते ही बरबस उस महान शिल्पी की याद आए बिना नहीं रहती । विश्व की तीसरी सबसे ऊँची इस इमारत के महान शिल्पी थे गस्तावइफिल, जिन्होने भवन-निर्माण कला को नवीन आधार एव नवीन दिशा दी थी । उनकी सफलता ने गगनचुम्बी भवन के निर्माण का द्वार खोल दिया ।

अपने नाम से सदा के लिये जुड़कर उसे अमरत्व प्रदान कर देने वाले इस स्तम्भ के बारे में वे स्वयं कहते थे— इस टावर से मुझे ईर्ष्या होती है । लोग समझते हैं कि यही मेरा एकमात्र निर्माण है । उनकी यह ईर्ष्या निराधार नहीं है ।

इफिल के बनाए हुए भवन, पुल, स्टेशन कारखाने आदि विश्व के कोने-कोने मे फैले हुए है। जिन्होने निर्माण के क्षेत्र मे एक क्रान्ति ही ला दी थी।

वे वर्तमान इस्पात स्थापत्य के जनक कहे जाते है। उनके दुर्निवर्य व्यक्तित्व और चमकती आँखो मे सदा सपने झाँकते रहते थे। वे कहा करते थे—"सपने देखना मुझे अपने पिता से विरासत मे मिला है तथा उन्हे अपनी कर्म-निष्ठा से मूर्त रूप देने का पुरुषार्थ अपनी माता से मिला है।" पिता पूरे कल्पक थे किन्तु उन कल्पनाओ को साकार करने की लगन उनमे नही थी। वे नेपोलियन की सेना मे उच्च पदाधिकारी थे। माता लकड़ी व कोयलो की सफल व्यवसायी महिला थी। दोनो के गुण उनके पुत्र मे एकात्म हुए थे।

डिजोन के समृद्ध इफिल परिवार मे १८३२ मे गस्ताव का जन्म हुआ था। बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि भविष्य का यह महान अभियन्ता पोलिटेकनिक विद्यालय मे प्रवेश के समय ली गयी परीक्षा मे असफल हुआ तथा उसे प्रवेश नही मिला था। उसने सेन्ट्रल स्कूल ऑफ इन्जिनियरिंग से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करके रेलवे की एक निर्माण सस्था मे नौकरी कर ली।

दो वर्ष तक वह ड्राइंग टेबल पर परम्परागत काम करता रहा। उच्च-अभियन्ता जैसा निर्देश देते, वह उसका पालन किया करता था। उसकी माता एक चतुर तथा दृढ निश्चयी महिला थी। उसने अपने पुत्र को इस प्रकार चुपचाप सामान्य सी नौकरी मे लगे हुए देखा तो एक दिन कह बैठी—"मुझे लगता है तुम्हारे अन्दर प्रगति करने का उत्साह नही है।" "नही मम्मी! ऐसी बात नही, आने वाला समय बतायेगा कि तुम्हारा गस्ताव क्या कर सकता है। मेरी अपनी योजनाएँ है किन्तु उन्हें पूरा करने के पहले मै अनुभव प्राप्त कर लेना बेहतर समझता हूँ।"

ससार मे दो प्रकार के व्यक्ति होते है। एक तो लीक पर चलने वाले—बँधी बँधायी परम्परा का अनुसरण करने वाले। दूसरे वे होते है जो नई लीक का निर्माण करते हैं—मानवीय प्रगति के नूतन सोपान गढ़ते है। ये चिंतक, मनीषी, अन्वेषक तथा नवीन दिशा निर्धारित करने वाले महामानव होने का सौभाग्य पाते है। गस्ताव भी इन्ही दूसरी प्रकार के व्यक्ति थे।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे योरोप मे रेलो का जाल बड़ी तीव्र गति से बिछ रहा था। दूरियो पर विजय पाने का वाष्पगति की शक्ति का उपयोग करने का यह चरण चल रहा था। किन्तु इसकी गति मे एक चीज बाधक बन रही थी। वह था पुलो का मन्दगति से निर्माण उन दिनो पुल चिनाई द्वारा बनते थे। चिनाई के द्वारा पुल बनाने मे कुशल-श्रमिको की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती थी। कुशल श्रमिकों व अधिक लागत के कारण पुल बनाना समय-साध्य और महँगा काम था। इफिल ने पत्थर व सीमेंट, चूना आदि की चिनाई के स्थान पर इस्पात के ढाँचों से पुल बनाने का निश्चय किया। इस प्रकार कुशल श्रमिकों के स्थान पर सामान्य मजदूर भी काम कर सकते थे तथा काम बहुत कम समय मे हो सकता था। इस विचार को मूर्त रूप देने के लिये उसने लोहे की मजबूती तथा उसकी भार सहन क्षमता का गहन अध्ययन किया—उसके आँकड़े एकत्रित किये।

जब उनकी कम्पनी को फ्रास की दक्षिणी रेलवे से गरोने नदी पर १६०० फुट लम्बा पुल बनाने का ठेका मिला तो उन्हे अपना कमाल दिखाने का अवसर मिला। उन्होंने अपने एकत्रित आँकड़ो के अनुसार उस पुल के निर्माण की पूरी तरह रूपरेखा तथा अनुमानित लागत का प्रारूप तैयार किया। अपनी इस योजना से लेस हो कर वे अपने उच्चाधिकारियों के पास पहुँचे। उनकी इस योजना के अनुसार पुराने सभी विधान बेकार हो जाते थे। नया तरीका अपनाने मे जोखिम भी कम नहीं थी। किन्तु उनके एकत्रित आँकड़े, उनकी योजना, उनका उत्साह तथा निष्ठा को देखकर वे उन्हे मना नही कर सके।

कम्पनी ने अपने इस अठाईस वर्ष के कनिष्ठ अभियन्ता की योजना को स्वीकार कर ली। कुछ लोगों मे यह प्रवृत्ति होती है कि वे अपने अतिरिक्त किसी को कुछ मान ही नही सकते। ऐसे ही उनके कुछ उच्च अधिकारी तथा अन्य फ्रेच इंजीनियर इस अनुभवहीन युवक द्वारा बनाई गयी योजना के अनुसार बनने वाले पुल की सफलता के प्रति कतई आश्वस्त नहीं थे। वे उस पुल के बनते ही गिरने की कल्पना करते हुए मन ही मन हर्षित हो रहे थे। इफिल ने अपनी योजना के अनुसार लोह-निर्मित आधार तथा ... स्थिर किये। पुल का काम परम्परागत शैली से बनने वाले पुलो की अपेक्षा आधी लागत व आधे समय मे ही पूरा हो गया। इस सफलता ने मानवीय प्रगति के इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ दिया था।

गरोने पुल की सफलता ने उनके लिए नवीन पथ खोल दिया था। उन्होने अपनी माता से आर्थिक सहायता लेकर अपनी प्रथक निर्मात्री संस्था खोल दी थी। पेरिस के एक व्यस्त बाजार मे सस्था का छोटा-सा कार्यालय खोला गया। दरवाजे के बाहर पीतल का नाम पट्ट लगाया गया था जिस पर खुदा था—"गस्ताव इफिल, निर्माता, प्रत्येक धातु विषयक कार्य विशेषज्ञ"।

इस जीवन के शुभारम्भ के कुछ ही दिनों बाद उनके पास एक महान शिल्पी अपनी समस्या लेकर आया। वह महान-शिल्पी था बार्थोल्डी और उसकी समस्या थी स्वतंत्रता की वह मूर्ति जिसे वह फ्रास व अमेरिका की मैत्रि के चिरस्थायी प्रतीक के रूप मे न्यूयार्क की खाड़ी के तट पर स्थापित करना चाहता था। किन्तु १५० फुट ऊँची ताम्बे की यह दैत्याकार प्रतिमा किस आधार पर टिकाई जाय कि वह उन पर अन्धड़ो को सह सके जो खाड़ी के तट पर प्राय उठा करते है। सभी अभियन्ता इस सम्बन्ध मे हार चुके थे।

इफिल ने उसकी समस्या का समाधान कर दिया । उनकी वर्कशाप से लोहे के धरना का जो आधार दिया गया वह सफल रहा ।

उनका मारिया पिया पुल, पुल निर्माण में दूसरी क्रान्ति था जिसे उन्होंने पुर्तगाल के लिए डोडरी नदी पर बनाया था । इस पुल के निर्माण उन्होंने भारी व मूल्यवान लकड़ी का मचान बनाए बिना ही किया था । उन्होंने जिस रीति से इस पुल का निर्माण किया था वह आज की सामान्य व सर्वमान्य-पद्धति बन चुकी है ।

इफिल की वर्किंग टेबल और उर्वर मस्तिष्क से नयी-नयी योजनाएँ निकलीं । वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के अभियन्ता माने गये । रूस, मिस्र, पेरू तथा अन्य कई देशों की समस्याओं को उन्होंने सुलझाया । कम समय और कम लागत में अधिक से अधिक मजबूत निर्माण कार्य उन्होंने किये । आज तक पेरिस फैशन निकालने में अग्रणी रहा था अब उनके कारण व इंजीनियरिंग की पद्धतियाँ निकालने में भी अग्रणी बन गया । दुनिया भर के अभियन्ताओं ने उनका अनुकरण किया था ।

एक बार उनके एक सहकारी ने उनसे कहा—"मैं कम्पनी के सारे रहस्य जानता हूँ ।" इस पर उसके अहम् को चूर-चूर करते हुए उन्होंने बताया—"मित्र ! मै कोई रहस्य रखता नहीं । यह तो ईश्वर की देन है कि रहस्यों का उत्पादन-केन्द्र मेरा मस्तिष्क है । उसमें सुरक्षित रहस्यों से तो तुम अनभिज्ञ ही रहोगे ।" उनका यह कथन असत्य नहीं था ।

धन और प्रतिष्ठा उनके स्वभाव मे कुछ भी अन्तर नहीं ला सकी थी । वे अस्सी वर्ष की आयु तक रात्रि के ग्यारह बजे तक अपना चिन्तन का क्रम व्यवस्थित रूप से चलाते थे । नयी-नयी योजनाएँ उनके मस्तिष्क से उपजती रहती थीं । रविवार का दिन उन्होंने अपने परिवार के लिए सुरक्षित रख छोड़ा था । इस दिन वे अपने बेटों-पोतों के साथ व्यतीत करते थे । बच्चों में वे बच्चे बनकर खेलने लग जाते थे । उनके यहाँ आमंत्रित महत्वपूर्ण व्यक्तियों को वे अपने परिवार के छोटे से छोटे सदस्य का बड़ी शान से परिचय देते थे ।

१८८० के आस-पास फ्रांसीसी उद्योग-पतियों ने सरकार को विश्व मेला लगाने का आग्रह किया । इफिल महाशय ने इस मेले के प्रतीक चिन्ह के रूप मे पेरिस में ९८४ फुट ऊँची मीनार बनाने का निश्चय कर लिया । मन की यह तरग अपने ढंग की अनोखी तरंग थी । उन्होंने उसकी योजना जब सरकार के सामने रखी तो योजना-समिति के सदस्य इस दैत्याकार मीनार की कल्पना से ही विस्मित रह गये । सरकार ने उनकी इस योजना की पूर्ति के लिए पञ्चमांश राशि ५००,००० पौंड ही स्वीकृत की । धुन के धनी व लगन के पक्के गस्ताव इफिल ने अपनी कम्पनी के कुछ अश गिरवी रख कर अर्थ की समस्या सुलझायी ।

जनवरी १८८७ में कार्य आरम्भ हुआ । ४० अभियन्ता व प्रारूपकार दो वर्ष तक इफिल महाशय के साथ कार्य करते रहे १५००० कम्टी लोहे के बनाये गये खण्ड २,५००००० कीलो से जोड़े गये । १२ महीनों में २५० मजदूरों ने चार वृत ढाई एकड़ भूमि पर स्थापित किये यह मीनार का आधार था ।

'कभी यह विशाल मीनार तूफान से गिर पड़े तो क्या होगा ? इस भय से ३०० लेखको व पत्रकारो ने निर्माण रोकने के लिए आन्दोलन किया । किन्तु गस्ताव के पास उसका एक ही उत्तर था ।' आज जो रोकने के लिए आंदोलन कर रहे है वे ही कभी इसकी प्रशसा करेगे । और जब १८८९ में यह स्तम्भ पूर्ण हुआ । इस पर फ्रांस का झण्डा फहराते हुए गस्ताव इफिल ने कहा—"फ्रांस का झण्डा ९८४ फुट ऊँचे खम्भे पर फहरा रहा है । यह गौरव अन्य किसी राष्ट्र ध्वज को आज तक प्राप्त नहीं हुआ ।" सचमुच उस दिन वे आन्दोलनकर्ता भी हर्ष से फूले न समाए ।

मीनार बनने के आठ महीनो मे ही इस पर लगाये गये टिकिट से उनका सब कर्ज उतर गया । उसके पश्चात् प्रतिवर्ष लाखों यात्री इस मीनार पर चढ़ते हैं । किन्तु उसकी एक भी कील अथवा धरण क्षतिग्रस्त नहीं हुआ न बदलनी पड़ी । गस्ताव इफिल के बुद्धिमान व कर्म-कौशल का यह अनुपम उदाहरण मनुष्य को सदा प्रेरणा देता रहेगा ।

इस ऊँची मीनार के निर्माण के समय उन्हे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उससे उन्हें नये अनुभव प्राप्त हुए तथा उन अनुभवों से भावी अभियन्ताओं को मार्ग दर्शन मिला । उसी के कारण गगनचुम्बी स्टेट इम्पायर बिल्डिंग जैसे भवन बन सकने सम्भव हुए ।

१८९४ में वे अपने व्यवसाय से कार्य मुक्त हो गये । उन्होंने अपनी मीनार में भौतिक-विज्ञान की प्रयोगशाला स्थापित की । उसमे वे नये-नये प्रयोग किया करते थे । इन्हीं प्रयोगों के दौरान उन्होंने वायु-सुरगों के निर्माण की योजना खोजी तथा ऊँचे भवनो पर होने वाले वायु का प्रभाव तथा उनकी क्षमता का अंकन करने वाली अपनी वायु-सुरंग बनाई । इसके पहले भी उन्होंने ऐसे कई अन्वेषण किये थे । बोलते सिनेमा उन्हीं का एक अन्वेषण था ।

अपनी ९१वें जन्म दिवस पर ही उनकी मृत्यु हुई । वृद्धावस्था मे भी उनका उत्साह युवकों-सा ही था । इस महान-अभियन्ता के जीवन से भावी पीढ़ियाँ अपने आप में अनूठा कर्म-कौशल व कल्पना को यथार्थ मे परिणित करने का सामर्थ्य लाभ पाती रहेगी ।

भारतीय स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले ब्रितानी पत्रकार—गाइआल्ड्रेड

लंदन मे रह रहे युवाभारतीयो तथा बुद्धिजीवियो ने अपने रोजमर्रा के कामो के साथ साथ वहाँ के जनमत को भारतीय-स्वतंत्रता का औचित्य समझाने के लिए एक अभियान स्तर का प्रयास भी चलाया था । इन प्रयासो में भारत के

क्रान्तिवीरो मे श्याम जी कृष्ण वर्मा तथा स्वातंत्र्य वीरसावरकर का नाम प्रमुख है । दोनो विभूतियों ने इंग्लैण्ड मे धूम मचा रखी थी और इस उद्देश्य से लंदन मे इण्डिया हाउस की भी नीव डाली गयी थी जो देशभक्तो की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था ।

इंग्लैण्ड मे रहते हुए ही सावरकर ने भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास लिखा । जिसमें इस भ्रामक प्रचार तथ्यो के आधार पर खण्डन किया गया था कि अँग्रेज जनता की माँग और स्वतंत्रता आंदोलन को अवांछनीय तत्वों की जरूरत कहती है । पुस्तक मे यह सिद्ध किया गया था भारत की जनता अपने जन्म-सिद्ध अधिकार को समझ चुकी है और उसे प्राप्त करने के लिए प्रबल उत्साह के साथ खड़ी हो रही है । इस पुस्तक मे १८५७ की क्रान्ति का भी यथातथ्य विवरण था जिसमे सिद्ध किया गया था कि सन् सत्तावन का युद्ध कोई सैनिक विद्रोह नही स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए लड़ी गयी लड़ाई थी । सावरकर तथा श्याम जी कृष्ण वर्मा पर सरकार की दृष्टि सदा रहती थी अतः किसी प्रकार उसे यह खबर लग गयी कि सावरकर द्वारा लिखित उक्त पुस्तक प्रकाशित की जा रही है और यदि वह प्रकाशित हो गई तो इंग्लैण्ड का प्रबुद्ध जनमत ब्रिटिश सरकार को भी हिला कर रख देगा । अतः उसने आदेश निकाला कि सावरकर द्वारा लिखित कोई भी ग्रन्थ प्रकाशित करना अथवा मुद्रित करना भी जुर्म है ।

ऐसा ही कुछ श्याम जी कृष्ण वर्मा के साथ भी हुआ वर्मा जी उस समय 'इण्डियन-सोशियोलाजिस्ट' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकालते थे जिसमें प्रबुद्ध नागरिको को भारत मे चल रहे आन्दोलनो का प्रामाणिक और वास्तविक विवरण दिया जाता था । ब्रिटिश सरकार ने उसके प्रकाशन पर रोक लगा दी और किसी भी प्रेस को यह पत्र छापने के लिए मना कर दिया । परिणाम यह हुआ कि कोई भी प्रेस इण्डियन सोशियोलाजिस्ट छापने के लिए तैयार नहीं हुआ । ऐसी परिस्थितियो मे भारतीय-स्वतंत्रता की लड़ाई से सहानुभूति रखने वाले और उसके समर्थक पत्रकार गाईआल्ड्रेड ने इण्डिया सोशीयोलाजिस्ट छापने का निश्चय किया । यद्यपि यह सरकार की अवज्ञा थी फिर भी एक पत्रकार के रूप मे सत्य और न्याय का समर्थन करने के लिए गाईआल्ड्रेड ने इसे भी उचित समझा । वे जानते थे कि सरकारी आदेश की अवहेलना का क्या परिणाम होगा फिर भी निश्चिन्त थे—इस आदर्शनिष्ठा ने उन्हे चिन्ताओ से मुक्त रखा कि जिस कार्य के लिए उन्हे दण्डित किया जायेगा वह अपराध पूर्ण कृत्य तो नहीं है, दण्डित होगे तो सत्य और न्याय का समर्थन करने के कारण ही न और न्याय के लिए कष्ट सहने से अधिक गौरवपूर्ण सौभाग्य और क्या होगा ।

ये घटनाएँ सन् १९१० की है । गाईआल्ड्रेड ने अपने प्रेस मे प्रतिबन्धित 'इण्डियन सोशियोलाजिस्ट' छापा और प्रकाशित किया । पत्र मे वर्मा जी की लौह लेखनी से निकलने वाले ओजस्वी विचार तो थे ही गाईआल्ड्रेड ने भी अपनी ओर से एक लेख लिखा था जिसमें भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन किया गया था । एक अँग्रेज-पत्रकार द्वारा भारतीय-स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन किये जाते देख सारे ब्रिटेन में तहलका मच गया । अब तक गाईआल्ड्रेड ने अपनी जो प्रतिष्ठा बनाई थी और जो स्थान पत्रकारिता के क्षेत्र मे प्राप्त किया था उसके कारण लाखों लोग उनके प्रशंसक थे । अपनी विशिष्ट शैली में आल्ड्रेड ने जब भारतीय-स्वतंत्रता-आन्दोलन का स्वरूप और स्वाधीनता की माँग का औचित्य प्रतिपादित किया था, तो पढ़कर उन लोगों के दिमाग भी बदल गये, जो अब तक ब्रिटेन की सरकार द्वारा भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के लिए किये जा रहे भ्रामक प्रचार से प्रभावित होकर आन्दोलन को अवांछनीय तत्वों की उच्छृखलता समझ रहे थे । गाईआल्ड्रेड के पत्र पर देश-विदेश के कई अखबारों ने उनके पक्ष में टिप्पणियाँ छापी और उससे हजारों-लाखों लोगों ने भारतीय-स्वतंत्रता आन्दोलन के औचित्य को समझा । इससे विदेशो में भारतीय स्वतंत्रता का पक्ष बहुत मजबूत हुआ ।

अँग्रेज सरकार को यह कैसे सहन हो सकता था कि कोई अँग्रेज भारतीय-स्वतंत्रता का पक्ष समर्थन करे और वह भी इतनी बुलंद आवाज मे । ब्रिटिश शासन ने राजद्रोह का अभियोग लगाकर गाईआल्ड्रेड को गिरफ्तार कर लिया । १३ मार्च, १९१० को स्वातन्त्र्य-वीर-सावरकर भी गिरफ्तार हो चुके थे । इन दोनो को ब्रिस्टन की जेल मे रखा गया लेकिन जेल अधिकारियो को यह कड़ी हिदायत दे दी गयी थी कि दोनो को अलग-अलग रखा जाये । सरकार उन्हे खूब खतरनाक कैदी समझती थी । इस सम्बन्ध मे पुलिस के चीफ इन्स्पेक्टर—रॉलट ने अपने उच्च अधिकारियो को लिखा था कि—"आल्ड्रेड आस्तीन का साँप है । वह पूर्णतः भारतीय विद्रोहियो से मिला है और उनका साथ दे रहा है । इसे सबक सिखाने के लिए यह उचित ही होगा कि आल्ड्रेड को कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाय ।"

गिरफ्तार होने के बाद गाईआल्ड्रेड पर मुकदमा चला । ओ स्ट्रीय न्यायालय मे उन्हे पेश किया गया—अभियोग था राजद्रोह । वादी पक्ष की सारी दलीले सुनने के बाद जब आल्ड्रेड से कहा गया कि 'तुम अपनी सफाई मे कुछ कहना चाहते हो ।'

'इतिहास के सत्यो को उजागर करना तथा न्याय का समर्थन करना यदि माननीय न्यायाधीश महोदय की दृष्टि में अपराध है तो मै मानता हूँ कि मै दोषी हूँ ।'

"अपना अपराध स्वीकार करने के बाद यदि तुम दुबारा ऐसी गलती न करने का वचन दो तो तुम्हे मुक्त किया जा सकता है ।"

"मी लॉर्ड ! मुझसे यह न होगा । मै मानता हूँ और सिद्ध कर सकता हूँ कि १८५७ मे भारत का विद्रोह गदर नहीं स्वाधीनता के लिए एक संघर्ष था । वहाँ इस समय चल रहा स्वाधीनता आन्दोलन सर्वथा न्यायोचित है और हम

बुद्धिजीवी व्यक्ति को भारतीय जनता के लिए न्यायिक स्वतंत्रता के मार्ग का समर्थन करना चाहिए ।" गाईआल्ड्रेड ने कहा—"और मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि यदि आप मुझे दोषी पा रहे है तो उचित दण्ड दे ही दें ।"

अदालत और सरकार ने उन्हें देशद्रोही मान कर दो वर्ष के सख्त कारावास की सजा सुना दी । जेल में उन्हें कई यातनाऐं दी गयीं थी । इस उद्देश्य से कि आल्ड्रेड का मनोबल टूट जाये और वह अपना स्वर बदल दें पर स्वतंत्रता के समर्थकों का मतलब क्या बदला जा सका है ? दो वर्ष बाद वे जब मुक्त हुए तो भारतीय-स्वाधीनता के पक्ष का प्रचार करने लगे ।

इंग्लैण्ड मे उन्हीं दिनो सावरकर पर मुकदमा चला और उन्हें भारतवर्ष भेजकर वहाँ के न्यायालय में मुकदमा चलाने का निर्णय दिया गया । भारत मे जब सावरकर को कालापानी की सजा हुई तो गाईआल्ड्रेड ने अपने अखबार का सावरकर विशेषांक निकाला और उसमें अंग्रेज सरकार की कुटिलताओं का पर्दाफाश किया इससे देश-विदेशों मे बड़ी हलचल मची ।

१९१६ में पुनः राजद्रोह का अभियोग लगाकर पुनः उन्हें बन्दी बना लिया गया । इस बार उन्हें वर्षो तक जेल यातनाएँ भोगनी पड़ीं और जब जेल से मुक्त हुए तो पुनः भारत की स्वतंत्रता का प्रचार करने लगे । यही नहीं उन्होंने सावरकर लिखित 'भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास भी अपने समाचार पत्र 'बर्ड' मे छापा । इस प्रकार गाईआल्ड्रेड ने आजीवन न्याय और औचित्य का समर्थन किया एवं भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष मे पाश्चात्य जनमत को जगाया । उनके सम्बन्ध मे किसी लेखक की यह टिप्पणी एकदम सटीक बैठती है—"गाईआल्ड्रेड एक निर्भीक पत्रकार थे । वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को विश्व के लिए कलक समझते थे । इस कलक को मिटाने के लिए अपनी लेखनी और स्याही का प्रयोग कर उन्होंने पत्रकारिता के इतिहास मे नये पृष्ठ जोड़े ।"

जी. ए. नटेशन—
प्रकाशन जिनके लिये एक व्यवसाय भी था और जीवन साधना भी

व्यक्ति चाहे तो व्यावसायिकता के साथ भी ध्येय, निष्ठा जोड़कर देश और समाज का बहुत बड़ा हित कर सकता है । ऐसे व्यक्ति तो कम ही मिलते हैं जो कि व्यक्तिगत स्वार्थ को सम्पूर्ण रूप से परहित मे विलय करके चलते हो । वैसा मार्ग चुनना और उस परम पथ पर चल सकना सबके लिये सहज सम्भव नही भी हो सकता है पर यह मध्यम-मार्ग तो सबके लिये अनुकरणीय हो सकता है । इस मध्यम मार्ग पर चलते हुए जी. ए. नटेशन ने प्रकाशन को व्यवसाय और समाज व राष्ट्र की सेवा का ध्येय पथ स्वीकारते हुए एक आदर्श उपस्थित किया है ।

वर्तमान तमिलनाडु प्रदेश के त्रिचनापल्ली के कॉलेज में अपनी शिक्षा पूरी करने के पश्चात नटेशन मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रविष्ट हुए । सार्वजनिक जीवन के प्रति किसी भी बौद्धिक-सम्पदा युक्त व्यक्ति का लगाव होना स्वाभाविक ही होता है । नटेशन मे भी यह प्रवृत्ति थी । कॉलेज-जीवन के पहले से ही वे समाज-सेवा के कामों मे रुचि लिया करते थे ।

अब तक उन्होने जो शिक्षा प्राप्त की थी उससे वे इतना तो जान ही गये थे कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह अपने लिये तो करता ही है पर यदि वह उसके साथ लोक-हित का—समाज सेवा का कार्य भी करना चाहे तो कर सकता है । उसके लिये उसे अपने व्यक्तित्व हित को पूर्ण रूपेण तिलांजलि देने की आवश्यकता नहीं रहती ।

कॉलेज की डिबेटिंग सोसायटी के सेक्रेटरी होने के नाते उनका सम्पर्क प्रबुद्धवर्ग से रहा करता था । इसी क्रम में उनकी भेट 'मद्रास टाइम्स' के सम्पादक श्री बार्लो से हुई । वे उनसे बहुत प्रभावित हुए और चाहने लगे कि वे भी ऐसा ही कुछ व्यवसाय करे ।

बी. ए., एल. एल. बी. करने के बाद वे पत्रकारिता के क्षेत्र मे पाँव जमाने के लिये श्री बार्लो के पास पहुँचे । उनके उत्साह और लगन को देखकर बार्लो ने उन्हें अपना सहकारी नियुक्त कर लिया ।

एक वर्ष तक श्रीबार्लो के सहकारी रहकर जब ये पत्रकारिता व प्रकाशन व्यवसाय में कुछ दखल रखने लगे तो उन्होने अपनी स्वल्प पूँजी से ही अपनी पृथक प्रकाशन संस्था नटेशन एण्ड कम्पनी खोल दी । श्री बार्लो के साथ रहते हुए वे पत्रकारिता और पुस्तक प्रकाशन के गुण ही नहीं सीखे थे उनका किसी एक लोकोपयोगी ध्येय के साथ समन्वय करना भी सीखे थे ।

आरम्भ से ही वे यही सोचकर इस क्षेत्र में आये थे कि उन्हे व्यवसाय तो करना ही है । उन्हे ही क्या हर व्यक्ति को अपनी आजीविका चलाने के लिये कुछ न कुछ सेवा या व्यवसाय तो करना ही पड़ता है । पर उस व्यवसाय को कुछ इस तरीके से क्यो न किया जाय कि वह व्यवसाय का व्यवसाय और सेवा की सेवा की जाय । वे भी प्रकाशन-व्यवसाय के साथ ही भारतीय-जनमानस मे राष्ट्रीय व राजनैतिक चेतना जगाने का काम करना चाहते थे ।

उन्होने जब अपनी प्रकाशन संस्था स्थापित की तब भारतीय-राष्ट्रीय-कॉंग्रेस की स्थापना हो चुकी थी । दादा भाई नौरोजी, न्यायमूर्ति रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जस्टिस तेलंग आदि जननेता उसका नेतृत्व कर रहे थे । उन्होने पहला ग्रन्थ जो प्रकाशित किया वह भी राजनीति से ही सम्बन्धित था । 'इण्डियन पॉलिटिक्स' नामक इस ग्रन्थ की भूमिका तत्कालीन कॉंग्रेस अध्यक्ष डब्लू सी. बनर्जी ने लिखी थी ।

जनता मे राजनीतिक-चेतना जगाना उन दिनो की सबसे बड़ी आवश्यकता थी । इसे पूरा करने के लिये

नटेशान-एण्ड-कम्पनी ने सस्ती और सुन्दर पुस्तके छापने का ध्येय बना लिया था। इस ध्येय का परिचय उनके इस प्रथम प्रकाशन से ही मिल जाता है।

उनके प्रकाशन के अपने बँधे बँधाये ध्येय थे जो उनके व्यवसाय के साथ जुड़े रहे थे। उनमे भारतीय-जनता को शिक्षित करना, उसमें राजनीतिक चेतना जगाना तथा भारत की जनता की भावी स्वतन्त्रता के लिये लोकमत के साथ ब्रिटिश सरकार का सहयोग प्राप्त करना भी प्रमुख था। लिखने की आवश्यकता नहीं होगी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रारम्भिक ध्येय भी यही था जो श्री नटेशान ने अपनी प्रकाशन-व्यवसाय के साथ जोड़ा था।

उन्होने दादा भाई नौरोजी, मिसेज ऐनीबेसेट, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा गोखले के भाषणों व लेखो के संग्रह प्रकाशित किये ताकि जहाँ ये राजनीतिक चेतना के नक्षत्र नहीं पहुँच सके वहाँ उनके विचारो की प्रेरणा, प्रकाश पुस्तकाकार मे जनता के पास पहुँच सके और जन-सामान्य उनसे लाभान्वित हो सके।

स्वामी-विवेकानन्द के भाषणो का संग्रह भी सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा प्रकाशित किया गया था। मिसेज ऐनीबेसेट द्वारा सम्पादित की गयी अँग्रेजी भगवद्‌गीता से जो उन्होने प्रकाशन क्षेत्र मे कीर्तिमान स्थापित किया था। इस पुस्तक की दस लाख प्रतियाँ बिकी थीं। जो उस समय प्रकाशन के क्षेत्र मे अनुपम उपलब्धि मानी जाती है। उनका छोटा किन्तु महत्वपूर्ण प्रकाशन देश के अग्रगण्य नेताओ की जीवनियो का प्रकाशन था। जो चवन्नी सिरीज के नाम से जाना जाता था। २४ अगस्त, १८७३ मे त्रिचनापल्ली के एक खाते-पीते परिवार में जन्मे श्री जी. ए. नटेशान को अपनी पारिवारिक स्थिति के अनुरूप शिक्षा पाने का सुअवसर मिला था। अपनी इस शैक्षणिक और बौद्धिक क्षमता का विनियोग मात्र अपने लिये ही न करते हुए उन्होने कम मुनाफे पर ऐसा साहित्य छापा जिसकी उस समय बहुत बड़ी आवश्यकता थी। उनकी इस सूझबूझ और समाजवादी-दृष्टिकोण ने उन्हे स्मरणीय बना दिया है। नही तो कितने ही पुस्तक प्रकाशन व्यवसायी आये और चले गये, कितनी ही प्रकाशन संस्थाएँ उगी, पनपी और मुर्झा गयीं पर उन्हे कोई याद नही करता।

सन् १९०० मे उन्होने 'इन्डियन रिव्यु' नामक अँग्रेजी पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। यह पत्र थोड़े ही दिनो मे अपने समय का सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र बन गया। वी. एस. श्री निवास शास्त्री और प्रो. के. वी. रामनाथन उनके सहकारी थे। स्व. श्री निवास शास्त्री जी अँग्रेजी का लोहा तत्कालीन अँग्रेज भी मानते थे। श्री नटेशान और श्री शास्त्री के लिये 'इण्डियन रिव्यु' का सम्पादन किसी भी प्रकार आत्म-साधना से कम था। वे लोग रात्रि मे दीपक के उजाले मे प्रूफ पढ़ा करते थे। क्या मजाल है कि कही जरा-सी भी चूक रह जाए।

अपने प्रकाशन में उन्होंने कभी यह दुराग्रह नहीं रखा कि यह मेरा पत्र है इसलिये इसमे मेरी ही विचारधारा की सामग्री प्रकाशित हो। वे यह कभी न भूले कि वे एक ऐसा व्यवसाय कर रहे है जो व्यवसाय ही नहीं समाजसेवा और राष्ट्रसेवा भी है। अपने विशिष्ट दृष्टिकोण को अपने तक ही सीमित रखते हुए वे अपनी पत्रिका में सभी मतों का आदर करते थे। वे 'इण्डियन रिव्यू' को राष्ट्रीय-पत्रिका मानकर उस पर सब राष्ट्रवादियों का अधिकार मानते थे।

इनका कार्यालय राजनैतिक विचारधाराओं का संगम स्थल और मद्रास की बौद्धिक गतिविधियों का केन्द्र वर्षों तक बना रहा था। राष्ट्रीय महत्व के अनेक निर्णय उनके इसी कार्यालय मे लिये गये थे।

जनता की बौद्धिक क्षुधा को जगाने और उसे परितृप्त करने का लगाव उनमें कम नहीं था। महीने के प्रथम दिनों मे लोग बैचेनी से 'इन्डियन रिव्यू' का इन्तजार किया करते थे जो राजनैतिक ही नही, आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा अन्याय विषयो पर भी भरपूर बौद्धिक आहार जुटाता था पाठको के लिये। सर जगदीशचन्द्र बसु तथा प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिको को प्रकाश में लाने से भी इस पत्रिका का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था।

महात्मागान्धी से श्री नटेशान का राजनैतिक दृष्टिकोण नहीं मिलता था। वे गाँधी जी के महात्मा स्वरूप को पसन्द नहीं करते थे फिर भी दोनो मे गजब का स्नेह और गहन आत्मीयता थी। गान्धी जी जब भी कभी दक्षिण-भारत की यात्रा पर निकलते थे वे नटेशन परिवार के साथ कुछ दिन अवश्य बिताते थे। वैचारिक मतभेदो को जीत जाने वाली इस गहन आत्मीयता का उदाहरण भी अपने ढंग का अनोखा है।

प्रकाशन-व्यवसाय को श्री नटेशान के जिस ढंग से अपनाया वह कम महत्वपूर्ण नही है। कहना न होगा कि उन्होने अपनी कम्पनी द्वारा प्रकाशित पुस्तको का मूल्य कम रखा ताकि वे अधिक से अधिक लोगो के पास पहुँच सकें। उन्होने लाभाश भी कम ही रखा। छपाई सादी होते हुए भी उनके प्रकाशनो मे दोष पूर्ण नही होती थी। गलतियाँ उनमे ढूँढे भी नही मिलती थी। उन्होने अपने प्रकाशनो द्वारा समय की एक बहुत बड़ी आवश्यकता को पूरा किया था।

आज पुस्तक प्रकाशन-व्यवसाय के साथ लोकहित और राष्ट्रहित का ध्येय न जुड़ा होने के कारण प्रकाशक अधिक से अधिक लाभ कमाने के चक्कर मे जनरुचि को विकृत करने पर तुले हुए है। काश ! वे श्री नटेशान से कुछ प्रेरणा लेते। उनके पद चिन्हो पर चलने वाले सत्साहसी प्रकाशन व्यवसाइयो की आज बहुत आवश्यकता है।

अमेरिकन पत्रकारिता के जनक—बेन हैरिस

२५ सितम्बर, १६९० की प्रातः अमेरिका में प्रथम समाचार पत्र प्रकाशित हुआ। बहुत से लोग समाचार पत्रो को जानते तो थे परन्तु ऐसे बहुत कम थे जिन्होने कभी कोई अखबार देखा हो। जब जनता मे 'पब्लिक-अकोरेन्सेज' की प्रतियाँ बाँटी गयी तो पूरे नगर में तहलका मच गया। इसलिए नहीं कि कोई नयी चीज देखने मे आयी हो बल्कि इसलिए कि अखबार मे जो समाचार और सम्पादकीय लेख छपे थे उन्होने सरकार की उन नीतियो का पर्दाफाश कर दिया था जो जनता के लिए भयानक रूप से घातक थीं।

औपनिवेशिक सरकार उन दिनों नवयुवको को जबरदस्ती फौज मे भर्ती कर रही थी और मौत के मुँह मे धकेल रही थी। सब ओर वैधानिक अराजकता का साम्राज्य था। मैसासुचेट्स मे ज्वर और माता फैल रही थी परन्तु सरकार का इस ओर बिल्कुल भी ध्यान नही था। सामान्य जनता इन खबरो से एकदम अनभिज्ञ थी। परन्तु, उसकी नागरिक चेतना को जाग्रत करने के लिए बेन हैरिस ने यह दुस्साहसपूर्ण कदम उठाया। अपनी सम्पादकीय नीति की घोषणा करते हुए कहा कि—लोग जहाँ कही भी हों, उनके लिए घातक सिद्ध होने वाली सार्वजनिक कार्यों से सम्बन्धित शासकीय नीतियों या अन्य परिस्थितियो की वस्तुस्थिति से अवगत कराना ही पब्लिक अकरेन्सेज का उद्देश्य है।

निश्चय ही यह नीति सरकार के पक्ष मे अहितकर थी। क्योंकि जनसामान्य की सुविधाओ का ध्यान रखना सत्ताधीशों के लिए उतना आवश्यक नही था जितना कि अपनी कुर्सी बनाये रखना। सत्तालोलुप शासक कभी अपने उद्देश्य और वास्तविक प्रयोजन को पूरा करने मे सफल नहीं हो सकते थे। ऐसे लोगों का मुखौटा उतार फेंक कर समाज के सामने उनका असली चेहरा लाने का प्रयास बेनहैरिस ने किया तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

परन्तु समर्थ और पदलोलुप अधिकारियों को यह सब कैसे सुहा सकता था। पब्लिक अकरेन्सेज की प्रतियाँ जैसे ही जनता के बीच आयीं तो अधिकारियो तक भी पहुँचीं। राज्यपाल, उसकी परिषद् और इंग्लैण्ड के विख्यात पादरी डॉक्टर काटन मेथर का रोष टूट पड़ा। डॉक्टर मेथर ने कहा—यह पत्र निस्सन्देह बड़ा दुष्टता पूर्ण है। इसका प्रकाशन बन्द होना चाहिए।

राज्यपाल ने तुरन्त आदेश दिया—"उपनिवेशवादियो को खुल्लम-खुल्ला अपमानित करने वाला यह पत्र कभी प्रकाशित नहीं होगा।" साथ ही यह नियम भी बना दिया गया कि "भविष्य मे कोई भी व्यक्ति या संस्था लाइसेंस लिए बिना कोई भी अखबार या पत्र प्रकाशित नही करेगा।" इस प्रक्रिया मे दो-तीन दिन तो लगे ही। इसलिए तब तक की सभी प्रतियाँ जला देने का निश्चय किया गया। पुलिस 'पब्लिक अकरेन्सेज' कार्यालय पर पहुँची और सब कुछ जब्त कर लिया। ऐजेण्टो के पास जो प्रतियाँ पहुँच चुकी थीं उन्हें जला दिया गया। जिन लोगो के पास अखबार की प्रतियाँ थी उन्हे भी नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार अमेरिका के सर्वप्रथम समाचार पत्र को प्रारम्भ मे ही कुचल दिया गया। आज वहाँ के अखबार सरकार की जो खुल्लम-खुल्ला आलोचना करते हैं उनका प्रेरणा स्रोत और प्रवर्तक पब्लिक अकरेन्सेज ही कहा जाता है।

बेन हैरिस मूलतः इंग्लैण्ड के निवासी थे। वहाँ भी वे अपनी स्वतन्त्र-पत्रनीति के कारण सरकार के कोपभाजन बने। लन्दन से जब 'डोमेस्टिक इन्टेलीजेन्स' प्रकाशित हुआ तो उसमे सरकार की साम्राज्यवादी-शोषण नीति की कड़ी आलोचना की गयी थी। इस पर सरकार ने उन्हे पकड़ लिया था और मुकदमा चला। उन पर अफवाह फैलाने का आरोप लगाया गया। बेन हैरिस ने जोर देकर कहा कि मैने जो कुछ कहा है वह सच है। परन्तु, उनकी एक भी नहीं सुनी गयी। उनके मामले की सुनवाई न्यायाधीश सरविलियमस्क्रोग्स कर रहे थे। विलियम स्क्रोग्स अपने पक्षपातपूर्ण निर्णयो तथा कड़ी सजाएँ देने के कारण अँग्रेजी-न्यायालय का कलक कहे जाते थे।

बेनहैरिस के मुकदमे का निर्णय देते हुए स्क्रोग्स ने कहा—'कोई भी व्यक्ति सरकार के विषय में कुछ भी कहने का अधिकारी नहीं है और पत्र के सम्पादक को ५०० पौण्ड का जुर्माना (जो उस समय भारी रकम मानी जाती थी) और रायल एक्स्चेन्ज मे स्थित पिजौरी में खड़े होने की सजा दी गयी।

बेनहैरिस जुर्माना अदा नही कर पाये परिणामस्वरूप उन्हे दो वर्ष का कारावास दण्ड दिया गया था। पिलौरी उस समय का एक ऐसा दण्ड उपकरण था जिसमे अपराधी को एक तख्ते पर लगे खम्भे के चौखटे मे झुककर खड़ा होना पड़ता था। चौखटे मे लोहे की बहुत बड़ी चादर लगी रहती थी जिसके ऊपर गर्दन फँसा दी जाती और गर्दन को ऊपर से फँसा दिया जाता। इस प्रकार अपराधी को मरणान्तक यातना दी जाती थी। बेन-हैरिस पिजौरी में एक घंटे तक खड़े रहकर यह यातना सहन करते रहे।

इस दंड के बाद उन्हे कारावास मे भेज दिया गया। इतनी यातनाएँ और अत्याचार सहने के बावजूद भी बेन हैरिस के चेहरे पर शिकन तक नहीं आयी। उनका आदर्श था झूठ का भंडाफोड़ और उसके परिणामो से जन-साधारण की रक्षा, झूठ या पाखंड का खंडन बुद्धिजीवी और विवेकशील लोगो का प्रथम कर्त्तव्य है। उन्हे चाहिए कि वे सामान्य-जनता को इस प्रकार के उन सभी कुचक्रों से बचाये जो लोकहित की दृष्टि से खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। फिर जिसने इस प्रकार का व्रत ही ले लिया हो उसके लिए तो मार्ग में आने वाली सभी बाधाओ से मुकाबला करना ही होगा। बेनहैरिस के मित्रो ने बहुतेरा समझाया कि अच्छे चाल-चलन की जमानत

देकर वे उसे एक बार क्षमादान दिलवाने का प्रयास कर सकते हैं । परन्तु हैरिस कभी सहमत नहीं हुए । सदैव यही कहते रहे कि मैंने बुरा क्या किया है जो अच्छे चाल चलन का इकरार लिखूँ ।

उन्होंने अपने सिद्धान्तों की कीमत पर परिस्थितियों से कभी समझौता नहीं किया । बेनहैरिस को कारावास मे बन्द कर दिया गया परन्तु संसद ने नौ माह बाद ही उन्हे रिहा कर दिया । जेल से आने के बाद उन्होंने पुस्तक विक्रेता और कॉफी विक्रेता का धन्धा शुरू किया, जैसे ही कुछ पैसे जमा हुए एक दूसरा अखबार प्रकाशित कर दिया । १६९० मे उन्होंने 'इंगलिश लिबर्टिज' की ५००० प्रतियाँ छापीं और उसमें भी उसी प्रकार के समाचार तथा लेख प्रकाशित किये । अखबार जैसे ही सरकारी अधिकारियो की दृष्टि मे आया बेनहैरिस को पुनः पकड़ने का आदेश हुआ । पुलिस जब उनके निवास स्थान पर पहुँची तो हैरिस का कहीं पता नहीं लगा । वे वहाँ से जा चुके थे ।

अपने विरुद्ध कार्यवाई और सजा होने की सम्भावना देखकर वे घर से भाग निकले थे । बेनहैरिस ने इंग्लैण्ड छोड़ दिया । पुस्तकों की दुकान और सारी सम्पत्ति अपने एक विश्वासपात्र नौकर को सौंप दी । सम्पत्ति के रूप में उनके पास कुछ चुनी हुई किताबे, पुस्तके और थोड़े बहुत रुपये मात्र थे ।

इन्हे लेकर ही वे अमेरिका पहुँचे और वहाँ चार वर्ष तक छुटपुट काम करते रहे । बेनहैरिस को पत्रकारिता का तो जैसे चस्का ही लग गया था । गफलत मे पड़ी हुई जनता को वस्तुस्थिति से अवगत कराना ही उनका जीवनोद्देश्य बन गया था । चार वर्ष तक कठोर परिश्रम करने के बाद उन्होंने जो थोड़ा बहुत पैसा इकट्ठा किया उसे लगाकर २५ सितम्बर, १६९० गुरुवार की एक सुनहरी सुबह को बोस्टन नगर की जनता में पब्लिक अकरेन्सेज की प्रतियाँ आ गयीं ।

अमेरिका की औपनिवेशिक सरकार ने न केवल उनका समाचार पत्र जब्त कर लिया वरन् अमेरिका छोड़ देने का भी आदेश दिया । घूमते-घामते हैरिस अपने पुत्र सहित १६९५ में लन्दन आ गये । उस समय शासन तन्त्र मे काफी उलट-फेर हो चुका था । सम्राट जेम्स द्वितीय का देहान्त हो गया था और उदार अधिकारियो ने समाचार पत्रों पर लगा प्रतिबन्ध हटा भी लिया था । इन बदली हुई परिस्थितियों से लाभ उठाकर बेन हैरिस ने 'लन्दन पोस्ट' नामक अर्द्ध साप्ताहिक शुरू किया । अब की बार यह पत्र चल निकला और लंदन तथा इंग्लैण्ड की सीमाओ को तोड़कर अमेरिका जा पहुँचा । जहाँ-जहाँ भी यह पत्र पहुँचता था उन सभी स्थानों के समाचार प्रकाशित किये जाते और जन हितकारी कार्यों की प्रशंसा तथा अफवाहों का खंडन एवं आलोचना छापी जाती । उन्होंने साहसपूर्वक संघर्ष करते हुए अपने कर्तव्य पालन की ओर दिया ।

जन-जाग्रति के प्र

जोमो केन्याता

भूख से तड़पता एक बालक केन्या
रहा था । उसकी आँखो में छलकते हुए
की कथा कह रहे थे । कहीं से एक बू
ज्यों ही उसकी दृष्टि बालक के चेहरे पर प
कि यदि इस कोमल फूल को सँजोया न गया
मुरझाना पड़ेगा । उसके ममत्व भरे हाथों की
वह बढ़ा और प्रखर बुद्धिमत्ता व लगनशील
उसकी गणना सुयोग्यो मे होने लगी ।

लोग उनके व्यक्तित्व की विशेषताओ
उनकी बुद्धिमत्ता और विचारशीलता से प्रभावि
अच्छी नौकरियो के प्रस्ताव भी आए, परन्तु उ
तो अपना दुःख भरा बचपन तैर रहा था । ऐस
बचपन उन्हे बाहर भी दिखा था । यही क्यो—
जिन्दगियाँ दिखाई पड़ीं । मनुष्यो के साथ पशु
व्यवहार होता देख उसका हृदय रो पड़ा ।
अफ्रीकियो मे सिर्फ रंग-रूप भर का अन्तर दिखाई
इसी के कारण उनकी सामाजिक और आर्थिक
आसमान-पाताल का अन्तर है । एक घृणा का पात्र
सम्मान का । एक का काम पिटना—दूसरे का पीटना
अपने जैसे ही मनुष्य के साथ पशु से गया-गुजरा
करे इससे बड़ी और क्या बिडंबना हो सकती है ?

जिस समाज मे हम उत्पन्न हुए हैं, जिस ज
हममें खून बह रहा है । उस समाज और जाति
हमारे कुछ कर्तव्य है । क्या इन्हे झुठलाया जा सकता
वह भी मात्र सुविधासम्पन्न जीवन जीने के लिए । नहीं
नहीं । अन्तस्तल की इसी कसक ने, मानसिक पीड़ा की
की छटपटाहट ने एक अनूठे व्यक्तित्व को जन्म दिया ।
व्यक्तित्व का स्वामी जोमो केन्याता के नाम से समूचे वि
मे जाना गया ।

सर्वप्रथम पढ़े-लिखे और शिक्षित व्यक्तियो को
तथ्य अवगत कराना आवश्यक था । सो उन्होंने सन् १९२
मे किक्यू-भाषा का पहला पत्र निकाला । इस पत्र के
सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक सभी कुछ वही थे । पत्र का
उद्देश्य था—स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जन-जागरण । विचार
इतने सशक्त और विश्लेषणपूर्ण थे कि अँग्रेज नागरिक भी
उसे नियमित पढ़ने लगे ।

सन् १९२९ मे वे लन्दन गये । वहाँ के सूत्र-संचालकों
को औचित्य को समझाने का प्रयत्न किया पर धन, मद,
अहंकार से बद हुए कानो मे मानवीय संवेदना कहाँ प्रवेश
करती है ? फिर भी प्रयास तो करना ही था । सन् १९३८
मे उन्होंने 'फेसिंग माउण्ट केन्या' नामक पुस्तक लिखी ।
विचार और संवेदना दोनो ही दृष्टियों से ग्रन्थ उत्तम था ।
इस पुस्तक की

ने लिखी थी । इसका प्रचार हुआ । विभिन्न देशो के शासन प्रमुखो व निवासियों तक उद्देश्य के औचित्य को समझाने का यह प्रयास काफी कारगर हुआ ।

दूसरो में सहानुभूति तो जगी, परन्तु स्वयं पीड़ितो मे जाग्रति नही आई । इस महत् कार्य को पूरा करने के लिए विभिन्न सृजनात्मक कार्यक्रमो के माध्यम से जनक्षेत्र मे उतरे । कर्त्तव्यो और अधिकारों के प्रति सचेष्ट करने के लिए घर-घर गए । प्रत्येक को समझाने की कोशिश की, तुम मनुष्य हो मनुष्य की तरह से रहो । मानवी जीवन की रीति-नीति से अवगत कराया । उनके सहयोगी भी उभरे । अवरोध भी आए । ९ वर्षों का कारावास, तरह-तरह के दण्ड दिए गए ।

पर जाग्रतजनचेतना भला अवांछनीयताओ को कहाँ स्वीकार करती है । हुआ भी यही । १२ दिसम्बर, १९६३ को राष्ट्र ने पीड़कों को उठाकर फेंक दिया । इतना ही नही सामाजिक स्थिति बदली । पहले पशु समझे जाने वाले मानव शरीरधारी मनुष्य समझे गए । सारी उलटी स्थिति उलटकर सीधी हो गई । यह एक व्यक्ति के अन्तर में उठी कसक का परिणाम था ।

विज्ञान को बोधगम्य बनाने वाले— रिची काल्डर

रिपोर्टर रिचीकाल्डर के प्रश्नो का उत्तर देते हुए वैज्ञानिक लार्ड रदरफोर्ड को काफी देर हो गई, फिर भी उनके प्रश्नो का क्रम न टूटा । उन्होने इस बात-चीत को समय का दुरुपयोग समझा और झुँझलाकर सूत्रों और समीकरणो से भरे एक वैज्ञानिक लेख को निकाल कर पढ़ने लगे । रिपोर्टर के प्रश्न की अनसुनी करते हुये रदरफोर्ड ने कहा 'इस लेख को वैज्ञानिक के अतिरिक्त और कोई भी विद्वान नहीं समझ सकता ।'

बात साधारण थी कि विज्ञान के गम्भीर विषयो पर लिखे गये लेखो का समझने की क्षमता वैज्ञानिको मे ही हो सकती है । पर वैज्ञानिक के उस कथन को रिपोर्टर ने चुनौती माना ।

१ जुलाई सन् १९०६ को जन्म लेने वाले रिची काल्डर के पिता स्काटलैड के जूट मिल मे मैनेजर थे । काल्डर के दो बड़े भाई वायुयान के कारखानो में इन्जीनियर थे । माता-पिता की यह हार्दिक इच्छा थी कि काल्डर विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक बने । पर काल्डर ने माता-पिता की महत्वाकांक्षाओं पर पानी फेर दिया । उसने पन्द्रहसाल की आयु में शीघ्र लिपि सीख कर विद्यालय से सदैव के लिए नाता तोड लिया । इतनी अल्प आयु मे विद्यालय छोड़ने वाले विद्यार्थी से माता-पिता यह कैसे आशा रख सकते हैं कि वह अपने जीवन में कुछ महत्वपूर्ण कार्य करके दिखायेगा ।

पत्रकार बनने की तीव्र इच्छा थी, अतः काल्डर ने डंडी के 'कूरियर' मे रिपोर्टर का पद स्वीकार किया । यह अपराध के समाचार लाकर समाचार पत्र को देते थे । चारवर्ष बाद लन्दन जाकर 'डेली न्यूज' के रिपोर्टर बन गये । यहाँ प्रकाशित समाचारो के साथ इनका नाम छपता था अतः पत्रकारिता के क्षेत्र मे इनकी ख्याति बढ़ने लगी । इसके बाद डेली क्रानिकल तथा डेली हैराल्ड में भी कुछ दिन कार्य किया ।

सन् १९२० से काल्डर की रुचि वैज्ञानिक लेखो की ओर बढ़ने लगी । अतः उन्होने वैज्ञानिको की पुस्तके तथा महत्वपूर्ण लेख पढ़ने शुरू कर दिये । समय मिलने पर विभिन्न प्रयोगशालाओ में जाते, वैज्ञानिकों से नये शोध-कार्यों पर चर्चा करते और विज्ञान के गूढ़ तथ्यो को प्रामाणिक तथा रोचक रूप मे प्रस्तुत करते थे । विज्ञान के प्रति बढ़ती रुचि को देखकर ही समाचार पत्रो मे इन्हें विज्ञान सम्बन्धी समाचार जुटाने का ही कार्य दिया गया था । अब तो उन्होंने 'डेली हैराल्ड' मे वैज्ञानिक विषयो पर धारा-वाहिक लेख ही लिखने प्रारम्भ कर दिये ।

काल्डर का यह दृढ़ विश्वास है कि विज्ञान कोई ऐसा कठिन विषय नही है जिसे कोई समझ ही न सके । कोई भी शिक्षित व्यक्ति अध्ययन व अभ्यास के द्वारा विज्ञान की व्यवस्थित जानकारी प्राप्त करके शोध-कार्यों की ओर अग्रसर हो सकता है । उनका यह विश्वास कोरे सिद्धान्त की बात नही है वरन् उन्होने अपने जीवन से स्वयं उसे प्रामाणिक सिद्ध कर दिया है । पन्द्रहवर्ष की आयु से विद्यालय का मुँह न देखने वाला व्यक्ति एक वैज्ञानिक की चुनौती स्वीकार कर ही विज्ञान मे दखल रखने वाला विद्वान बन जाता है ।

सन् १९३४ मे काल्डर की प्रथम पुस्तक 'बर्थ ऑफ दि फ्यूचर' प्रकाशित हुई । जिसमें विज्ञान की तब तक की उपलब्धियों का विवरण था । इसके बाद वे लिखते ही चले गये और विज्ञान सम्बन्धी लगभग २० महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की । जिनका विश्व की उन्नीस भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और विश्व के एक हजार से अधिक पत्र-पत्रिकाओं मे विज्ञान सम्बन्धी लेख प्रकाशित हो चुके हैं ।

काल्डर ने अपनी विद्वता को विज्ञान की सीमा में ही घेर कर नहीं रखा वरन् युद्ध के समय ब्रिटेन की जनता की वीरता और युद्ध के लिए अपर्याप्त तैयारी आदि विषयों का सजीव चित्रण करते हुये 'दि लेसन ऑफ लन्दन' तथा 'कैरी आन, लन्दन' नामक पुस्तकों की रचना की । उन पुस्तकों को देखकर सरकार ने उन्हे कैद करने की धमकी दी पर ये तनिक भी विचलित न हुये और सत्य बात कहने की अपनी आदत पर डटे रहे । बाद मे उनके सुझाव अमल में लाये गये ।

उनकी योग्यता और सेवाओं को देखकर शासन ने विदेश-विभाग की प्रचार-शाखा में योजना अधिकारी बना दिया गया । कार्य, कार्य और अत्यधिक कार्य का परिणाम यह

हुआ कि राह चलते उनके मस्तिष्क की एक नस फट गई और कितने ही दिन तक उन्हें पूर्ण विश्राम करना पड़ा। स्वस्थ होने पर यूरोप मे मित्रराष्ट्रो के सर्वोच्च सेनापति जनरल आइजनहोवर के प्रधान-शिविर मे विशेष सलाहकार के पद पर नियुक्त कर दिया गया।

युद्ध ने उनकी प्रतिभा को निखार दिया। सन् १९४६, ४७ के यूनेस्को अधिवेशनो मे बिटिश प्रतिनिधि दल के सदस्य बनाकर भेजे गये थे। सन् १९४६ में विश्व खाद्य कृषि संगठन द्वारा आयोजित अकाल-सम्मेलन के वे विशेष-सलाहकार बनाये गये थे। भूख समस्या पर उन्होने एक प्रामाणिक पुस्तक लिखी जिसका नाम है 'कामनसेस एबाउट एस्टार्विंग वर्ल्ड।'

काल्डर अवसर का उपयोग करना अच्छी तरह जानते जब भी उन्हे काम दिया गया उसे ईश्वर की उपासना समझकर पूर्ण मनोबल से किया। उसमे आने वाली कठिनाइयो की ओर तो उनका ध्यान ही न जाता था। युनेस्को की ओर से पश्चिम सहारा से लेकर ईरान तक के ऊसर इलाको का दौरा करके वहाँ की भौगोलिक शैक्षणिक व्यावसायिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओ का विवेचन समाधान सहित 'मेन ए गेस्ट दि डेजर्ट' नामक पुस्तक मे किया।

सन् १९५५ मे कनाडा सरकार तथा राष्ट्र-संघ के आग्रह पर साढे चार माह के लिये उत्तर ध्रुवप्रदेश तथा सन् १९६० मे राष्ट्र सघ और विश्व खाद्य कृषि-सगठन की ओर से कांगो गये जहाँ की समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करके प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। जो 'मेन एगैस्ट दि फ्रोजन नार्थ' 'एगनी ऑफ कांगो' नामक ग्रन्थो के रूप मे जाने जाते है।

'आफ्टर दि सेवेंथ डे' नामक महत्वपूर्ण-ग्रन्थ मे उन्होने जनसख्या की विस्फोटक समस्या तथा अणुयुद्ध की विभीषिकाओ का वर्णन करते हुये कहा है कि विज्ञान द्वारा विश्व मे स्वर्णयुग लाया जा सकता है क्योंकि इसके दो पक्ष विनाश तथा सृजन है और सृजन ही मानव जगत को सुखी तथा शान्तिमय बना सकता है।

पत्रकार, वैज्ञानिक और साहित्यकार होने के साथ-साथ उनका सार्वजनिक कार्यों से भी सम्बन्ध रहता है। इतनी व्यस्तता के बीच वे थोड़ा समय निकाल ही लेते हैं। श्रमिक शिक्षा-संघ, वैज्ञानिकप्रगति-संघ, अणुबम निरस्त्रीकरण समिति तथा मजदूर पार्टी से भी उनका सम्बन्ध है और अपना समय उनकी गतिविधियो मे भी देते रहते हैं।

विज्ञान को साधारण व्यक्ति के समझने योग्य सरल बनाने के प्रयत्न मे सफलता प्राप्त करने के कारण सन् १९६० में कलिंग-पुरस्कार प्रदान कर उनका सम्मान किया गया। सन् १९३१ में एडिनबरा विश्वविद्यालय ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का प्राध्यापक नियुक्त किया जिससे उनके माता-पिता का खोया हुआ धुँधलास्वप्न पुनः साकार हो गया।

५ फुट ९ इंच ऊँचाई वाले और १८० पोण्ड वजन के काल्डर को देखकर एक पहलवान की याद आती है। व्यक्ति परिश्रमी बनकर कुछ खोता नहीं वरन् पाता ही है।

भाव-साहित्य के प्रणेता वाल्ट ह्विटमेन

अमेरिका आज विश्व में अपनी जो स्थिति रखता है कभी वह ऐसा समृद्धिशाली देश नहीं था किन्तु औद्योगिकरण की तीव्र प्रक्रिया अपनाकर वह इस स्थिति को पाने जा रहा था।

उन्ही दिनो की बात है जब अमेरिकावासी अपना सारा ध्यान भौतिक उत्कर्ष की ओर ही नियोजित किये हुए थे नैतिक तथा आत्मिक प्रगति से उन्हे कोई सरोकार नहीं रह गया था। सारे धन-वैभव को अर्जित करने के लिये बनाए जाने वाले बड़े-बड़े कल-कारखानो के बीच मनुष्य एक मशीनी पुर्जा बनकर रह गया था। उसमे हृदय तथा भावनाएँ समाप्त गयी थी।

ऐसे ही समय मे एक आत्मद्रष्टा अमेरिकी कवि के मुख से यह गान फूट पड़ा था।

"मै युग-युग से आता हूँ।"

"और आकर हाड़-माँस का शरीर ग्रहण करता हूँ।"

"मनुष्यो के साथ मनुष्य बनकर घूमता हूँ।"

"यह देखते हुए ।क्र धर्म की रक्षा हो रही है।"

ये पंक्तियाँ हमारे महान धर्म ग्रन्थ की गीता का पद्यानुवाद सी लगती हैं, 'यदा यदा हि धर्मस्य—के महान सत्य को उद्घाटित करने वाले यह कवि वाल्ट-ह्विटमेन थे जो भौतिकता वादी देश में उत्पन्न होकर अध्यात्मवादी देश भारत के श्रेय पथ का अनुसंधान कर रहे थे।

उक्त पंक्तियाँ उनके घास की पत्तियाँ नामक कविता संग्रह की पवित्र गीत नामक कविता से उद्धृत की गई है। यही नहीं उनकी यह तीव्र आकांक्षा थी कि अमेरिका से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो तथा दोनो देश एक दूसरे की संस्कृति से लाभान्वित हो। उन्होने अपनी इस आकांक्षा को अपनी 'पैसेज टू इन्डिया' (भारत की एक यात्रा) नामक कविता के छंदो से सँजोया है।

इस प्रकार की सत्यान्वेषिक तथा आदर्शोन्मुख कविताओं के गुणग्राहक अमेरिका मे नही थे। इस कारण उन्हें जीवन पर्यन्त गरीबी मे गुजारा करना पड़ा था।

वाल्टह्विटमेन का जन्म : १ मई सन् १८१९ में अमेरिका के वेस्ट हिल्स नामक स्थान पर हुआ था। उनका परिवार काफी बड़ा था। माता लूसीयावान तथा पिता वाल्टर के अतिरिक्त उनके नौ भाई-बहिन परिवार मे थे।

इन सबका भार उनके पिता पर था जो पहले कृषि कर्म करते थे। उसमे असफल होने के कारण उन्हे बढ़ई का काम अपनाना पड़ा था। ऐसी स्थिति मे वाल्ट का बचपन

सुख से बीतना कैसे सम्भव था। किन्तु वाल्ट धन को सुख का श्रोत नहीं मानता था। उसके भाई जहाँ परिवार की दीन-हीन दशा से खिन्न रहते थे वहाँ वाल्ट सदा प्रसन्नचित्त रहता था।

मनुष्य के जीवन का सूत्र किन्हीं अदृश्य हाथों में थमा रहता है। अपनी अल्प बुद्धि से जिन परिस्थितियों को अवांछनीय तथा दुख, खिन्नता का कारण मान बैठता है किन्तु उसे पता नहीं रहता कि उसके सूत्रधार का उसे उन परिस्थितियो मे डालने का कोई न कोई शुभ अभिप्राय ही है।

वाल्ट को आगे चलकर एक कवि बनना था साहित्यकार बनना था। जितना अधिक जन-जीवन को निकट से देखने का अवसर पाएगा उतना ही उसकी लेखनी सशक्त होगी। इसी कारण पाँचवर्ष तक पाठशाला मे पढ़ने के बाद उसे एक वकील के यहाँ नौकरी करनी पड़ी थी।

ज्ञान पाठशाला मे ही मिलता हो, विद्या विद्यालयो की चाहरदीवारो मे बन्द रहती हो ऐसी बात नही। वह तो जन-जीवन में गलियो, बाजारों तथा चौराहो में, पुस्तकों में प्रकृति के सुरम्य उपवन में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। चाहिए कोई झोली फैलाकर बटोरने वाला।

उस ज्ञान तथा विद्या को ग्रहण करने की सामर्थ्य वाल्ट में थी। उसके नियोजक ने उसकी इस चाह को समझा तथा उसे पढ़ने के लिये पर्याप्त साहित्य दिया। उसने होमर, शेक्सपियर, वाल्टर, स्काट आदि को पढ़ा, बाइबिल को पढ़ा। इन सबने उसके ज्ञान भण्डार को समृद्ध किया था। वह इन पर चिन्तन-मनन किया करता था। वेस्टहिल्स के प्रांगण मे बिखरे नैसर्गिक-सौन्दर्य ने उसे जगत के सौन्दर्य से अभिभूत कर दिया था। बारहवर्ष का वाल्टह्विटमेन लेख व कविताएँ लिखने लगा तथा वे प्रादेशिक पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने लगी।

अपनी नौकरी के अतिरिक्त समय मे 'लांग आइलेण्ड पेट्रीयट' नामक साप्ताहिक-समाचार पत्र के मुद्रणालय में छपाई का काम सीखने लगे। इसके पश्चात् एक वर्ष तक वे छपाई का काम सीखने के लिये न्यूयार्क भी रहे।

सोलह वर्ष की आयु मे वे शरीर तथा बुद्धि से पूरे वयस्क हो चुके थे। दीखने मे पूरे गम्भीर व्यक्ति थे। यद्यपि वे स्वयं पाँच वर्ष तक ही स्कूल में पढ़े थे किन्तु उनकी योग्यता ने उन्हे इस अल्पायु में ही स्कूल अध्यापक बना दिया। वे स्कूल में पढ़ाने के साथ-साथ अब लॉग आइलेण्ड नामक पत्र भी निकालने लगे थे।

लॉग आइलैण्ड के वे स्वयं लेखक, सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक, पेकर तथा हॉकर सभी कुछ थे। जो लोग समय के अभाव की दुहाई देते हुए कहते है कि मै अमुक काम कैसे करूँ उनके लिये वाल्ट ने बहुत सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे स्कूल में पढ़ाते, अपना अखबार निकालते साथ ही साथ अन्य पत्र पत्रिकाओ के लिये लेख भी लिखते थे तथा राजनीति में भाग लेते थे। अकेले व्यक्ति द्वारा इतने कार्य सम्पादित होना एक आश्चर्य ही लगता किन्तु यदि समय का पूरा उपभोग किया जाय तथा मनोयोग, परिश्रम तथा निष्ठा का संगम करके जीवनक्रम को व्यवस्थित किया जाय तो यह असम्भव नहीं लगता।

१८४१ में वे अरोरा नामक एक पत्र के सम्पादक बनाये गये। उसके बाद वे कई पत्रो के सम्पादक रहे। इवनिंग टेटलर 'बुकलिन ईगल' आदि पत्रो का उन्होने कुशलतापूर्वक सम्पादन किया था। इन्हीं दिनो उन्होंने 'फ्रेन्कलिन एवेन्ज' नामक एक उपन्यास लिखा जो काफी लोकप्रिय हुआ।

वे अधिक समय तक एक ही पत्र के सम्पादक नहीं रह सके। इसका कारण यह था कि वे जनता को विचारोत्तेजक सामग्री देना चाहते थे जिससे जनता का नैतिक स्तर बढ़े किन्तु पत्रों के मालिकों का व्यवसायी दृष्टिकोण उनसे मेल नहीं खाता था अतः उन्हे सम्पादक पद से त्याग पत्र देना पड़ता था। अन्त में उन्होने अपनी सारी सम्पत्ति लगाकर अपना स्वय का 'फ्रीमेन' नामक पत्र निकाला।

ईश्वर भी मनुष्य की निष्ठाओ की कड़ी परीक्षा लिया करता है। उनका पत्र आरम्भ होते ही उनकी कर्मनिष्ठाओं की परीक्षा आरम्भ हो गई। पत्र प्रकाशित होना आरम्भ ही हुआ था कि एक दिन पत्र के कार्यालय में आग लग गयी तथा इस अग्नि मे सब कुछ स्वाहा हो गया।

इस प्रकार आरम्भ मे ही यह दुर्घटना हो जाने पर कोई साधारण साहस वाला व्यक्ति होता तो सिर पीट कर रह जाता किन्तु ह्विटमेन इस भयकर आघात को भी सह गये।

उन्होंने अपने घर आकर अपना पैतृक व्यवसाय बढ़ई-गिरी अपना लिया। उनके लिये किसी भी प्रसिद्ध पत्र की सम्पादकीय सहज प्राप्य थी। किन्तु वे जानते थे कि पत्र सम्पादक रहने के लिये उन्हें अपने आदर्शों को त्यागना पड़ेगा। अतः उन्होने इस गरीबी तथा अप्रसिद्धि को भी स्वीकार कर लिया।

बढ़ईगीरी का कठोर काम करते हुए उनकी कविता कुण्ठित नहीं हुई, सवेदन-शीलता तथा कोमल अनुभूतियों मे कोई कमी नहीं आयी। वरन् जन-जीवन को और भी निकटता से देखने-परखने तथा अपनी आत्मीयता के विस्तार मे सहायता ही मिली। दुकानदार, नाविक, मछियारे, बस ड्राइवर, किसान, बुद्धिजीवी आदि सभी लोगो से उनकी आत्मीयता थी।

इन्ही दिनो उन्होने कई कविताएँ लिखीं। ये सब मनुष्य की उस चिरंतन अभिलाषा को अभिव्यक्त करती थीं जो उसे निरतर देवत्व की ओर, अनित्य सुख की ओर प्रेरित करती रहती थीं। ये कविताएँ 'लिव्ज ऑफ ग्रास' (घास की पत्तियाँ) नामक संग्रह के रूप मे उन्हे स्वयं प्रकाशित करनी पड़ी क्योंकि इस प्रकार की आदर्शोन्मुख कविताओं को लोग पसन्द नहीं करते थे।

पुस्तक छप तो गयी किन्तु उनका सतोषजनक विक्रय नही हो सका। उनका आर्थिक संकट ज्यो का त्यो बना रहा।

किन्तु कोई सद्प्रयास निरर्थक नहीं जाता। उनके इस संग्रह ने इमर्सन जैसे दार्शनिकों को प्रभावित किया तथा वे उनके परम मित्र बन गये। ऐसे ही अन्य सुलझे दृष्टिकोण के व्यक्ति उनके मित्र तथा प्रशंसक बन गये।

लोगों की नजरों में उनकी कविता निरर्थक ही थी किन्तु वे उसे श्रेष्ठ कृति मानते थे। उन्होंने उसका दूसरा संस्करण भी छाप दिया। इस साहसपूर्ण कदम के सामयिक दण्ड स्वरूप उन्हें कर्जदार बनना पड़ा तथा विवश होकर क्लर्की करनी पड़ी।

एक महान ध्येय को लेकर चलने के कारण ह्विटमेन ने विवाह नहीं किया था। वे घर-गृहस्थी के झंझटों में ही उलझकर नहीं रह जाना चाहते थे। फिर भी वे इनसे मुक्त नहीं रह सके उन्हें आजीवन अपनी माता तथा अपने भाइयों की आर्थिक सहायता देनी पड़ी। कर्जदार रहते हुए भी उन्होंने अपने पारिवारिक दायित्वों को पूरी तरह हँसते मुस्कराते वहन किया।

पारिवारिक दायित्व, कर्ज, बीमारी तथा पुस्तक प्रकाशकों का उनकी कृतियाँ प्रकाशित नहीं करना आदि विकट परिस्थितियों से वे अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में निरंतर जूझते रहे। यह सब उनकी शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति से ही सम्भव नहीं हो गया वरन् उसके पीछे उनकी गहन आत्म-शक्ति भी काम कर रही थी। उसी के कारण वे नितांत विपरीत परिस्थितियों में भी साहित्य-सृजन करते रहे।

उनके मित्रों में अमेरिका के बड़े-बड़े आदमी थे। इमर्सन तथा अब्राहिम लिंकन जैसे उनके मित्र भी उनकी आदर्शोन्मुख कविताओं के प्रकाशन में कोई सहायता नहीं कर सके। समाचार पत्रों में उनकी निंदा होती थी।

किसी ने ठीक ही कहा है महान व्यक्ति जीते-जी महान नहीं कहलाते। वाल्टह्विटमेन के साथ भी यही हुआ वे जब प्रसिद्ध हुए तब तक मृत्यु की छाया उनके ऊपर मँडराने लगी थी।

२७ मार्च, सन् १९९२ में तिहत्तरवर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। उसके पन्द्रह वर्ष पहले से ही पक्षाघात के कारण उनका आधा अंग निष्क्रिय हो गया था। फिर भी वे अपना कार्य उसी निष्ठा व लगन से करते रहे जब कि वे स्वस्थ थे। उन्होंने 'ए पेसेज टू इण्डिया' नवेम्बर बाऊज, 'डेमोक्रेटिक विस्टाज' आदि कृतियों का सृजन किया।

संघर्ष में वे विजयी हुए। अमेरिका के बाहर उनकी ख्याति फैल चुकी थी। बाद में अमेरिका वासियों ने भी उन्हें सम्मान दिया था।

उन्होंने अपनी एक कविता में अपने आत्म-विश्वास को यों प्रकट किया है :—

"अब मैं इस ससार से विदा लेता हूँ।"
मैं उस मनुष्य सा हूँ।

"जिसकी आत्मा देह से निकल चुकी है—जो चुका हो फिर भी विजयी हो।"

भला ऐसी विजय उनके पद चिन्हों पर चलकर कौन न चाहेगा?

समाजवादी समाज के प्रथम संस्थापक लेनिन

काफी समय हो गया था माँ से मिले लेनिन को। माँ भी अपने बेटे को देखने के लिये रूस छोड़ कर स्टाक-होम आ गयी थी। पचहत्तर वर्ष की आयु थी उस समय निर्वासित लेनिन की माँ की माँ ने पुत्र की ओर स्नेह दृष्टि से देखा और पुत्र ने माँ की ओर श्रद्धा तथा प्रेम से। उस समय लेनिन क्रांतिकारी नेता के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। देश-विदेश के साम्यवादी संगठनों में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता था। स्टाक-होम में माँ ने जब अपने बेटे को पार्टी की एक बैठक में बोलते देखा तो कह उठी—"तू तो बड़ा अच्छा बोलने वाला हो गया है रे!"

लेनिन इसके उत्तर में क्या कहें। माँ को न तो अपने लाड़ले से कोई शिकवा था और न शिकायत कभी उन्होंने जबान पर ये शब्द नहीं लाये कि वकालत का अच्छा खासा पेशा छोड़ कर तूने यह कैसा रास्ता अपनाया कि खानाबदोशों की तरह यहाँ से वहाँ भागना पड़ता है।

कुछ दिनों वृद्ध माता लेनिन के साथ रही और फिर जहाज से वापस लौट गयी लेकिन लेनिन को पहुँचाने के लिए जहाज तक जाना भी मुश्किल हो गया क्योंकि गिरफ्तारी का डर था अतः घाट तक ही पहुँचाकर वे आ गये। माँ ने भी परिस्थितियों को देखा और अपने लाड़ले को चलते समय आखिरी बार चूमा। लेनिन जब अपनी माँ को विदा कर रहे थे तो उनकी आँखों में आँसू लुढ़क पड़े थे। इसलिए कि उन्हें लगा शायद फिर दुबारा माँ के दर्शन हो पायें या न हो पायें। क्योंकि एक तो पचहत्तर वर्ष की अवस्था में चल रहीं थी और, दूसरे पता नहीं था कि कब वे स्वदेश लौट सकेंगे।

सचमुच ही यह आखिरी मुलाकात सिद्ध हुई। १९१० की इस भेंट के छह वर्ष बाद लेनिन की वृद्धा माँ चल बसी और जब लेनिन रूस लौटे तो उनकी माँ को मरे एक वर्ष से भी अधिक समय हो चुका था। रूस की पहली क्रांति असफल हो जाने के बाद दूसरी क्रान्ति का सरंजाम जुटाने के लिए इस प्रकार की जाने कितनी मानसिक पीड़ाएँ झेलनी पड़ी थी और, उन्होंने सभी कष्टों को अपनी पत्नी क्रुप्सकाया के साथ प्रसन्नतापूर्वक सहा था। वे जानते थे इस मार्ग का वरण करते समय कि यह मार्ग काँटों और बाधाओं से भरा पड़ा है फिर भी उन्होंने इस मार्ग को प्रसन्नतापूर्वक चुना अपने लिए नहीं समाज के लिए, कोटि-कोटि उस जन समुदाय के लिए जो शोषण और उत्पीड़न की आग में जल रहा था। अपने हेतु इसलिए नहीं कि उनका अपना जीवन तो अर्थ

अन्त तक एक दम साधारण स्तर का था । सफल क्रान्ति के बाद जब सोवियत-सरकार बनी तो उसका प्रधान चुने जाने के बावजूद भी उन्होंने अपनी आवश्यकताएँ एकदम अनिवार्य रह की ही रखीं । न उन्हें भोजन पर अधिक खर्च करना भाता था और न वस्त्रों पर । वे भोजन पर जरूरत भर ही खर्च करते और कपड़े भी सीधे-सादे ही पहनते । राष्ट्राध्यक्ष होने से पहले इधर-उधर भागते रह कर भी और राष्ट्राध्यक्ष होने के बाद भी । सोवियत रूस जिसकी गणना आज विश्व की दो महाशक्ति सम्पन्न राष्ट्रों में की जाती है उसकी आधारशिला लेनिन ने ही रखी थी और व्यवस्था का श्रीगणेश भी जिसके परिणाम स्वरूप वह आज तक शिखर पर पहुँच चुका है ।

लेनिन का असली नाम ब्लादीमार इल्यीच उल्यानोव था परन्तु आगे चलकर उन्हें अपना नाम कई बार बदलना पड़ा पर लेनिन का नाम ही उनके व्यक्तित्व से इस प्रकार जुड़ा कि फिर अलग न हुआ । उनका जन्म वोल्गा नदी के किनारे सिम्बोर्स्क नगर में १० अप्रैल, १८७० ई. को हुआ था । परिवार अच्छा सम्पन्न और उससे भी ज्यादा प्रतिष्ठित वर्ग का था । उनके पिता शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर थे और माता एक डॉक्टर की पुत्री थी । माँ की साहित्य और संगीत में विशेष रुचि थी । माँ से साहित्य प्रेम तथा पिता से पुरुषार्थी और लगनशील व्यक्तित्व लेनिन को विरासत में मिले थे । उनके पिता इल्या निकोलायेविच उल्यानोव यद्यपि स्कूलों के डायरेक्टर थे परन्तु उनका बचपन बड़ी दैन्य और अभाव ग्रस्त परिस्थितियों में गुजरा था । मेहनत और लगन के बल पर उन्होंने उच्चशिक्षा प्राप्त की और अध्यापक बने थे । अध्यापक के पद से भी इन्हीं गुणों के आधार पर वे क्रमशः प्रधान अध्यापक इंस्पेक्टर आदि होते हुए डायरेक्टर के पद पर पहुँचे थे ।

लेनिन को क्रांतिकारी बनाने में उनके अग्रज अलेक्सान्द्र का बड़ा हाथ रहा । लेनिन के ऊपर रूस की तत्कालीन विषम परिस्थितियों तथा प्रगतिशील साहित्य का प्रभाव तो पड़ा ही पर उसे दिशा दी थी अलेक्सान्द्र ने । अलेक्सान्द्र पीटर्स बर्ग विश्वविद्यालय का विचारशील छात्र था । जिस विषय का वे अध्ययन कर रहे थे उसमें उज्ज्वल भविष्य की पूरी सम्भावना थी परन्तु देश और देश की बहुसंख्यक जनता के हितों को साधने में स्वयं को प्रयुक्त करना भी उन्होंने अपना लक्ष्य माना और जारशाही को उखाड़ फेंकने के लिए क्रान्तिकारी बनना ही अधिक श्रेयस्कर समझा । लेनिन को भी उन्होंने इसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी और क्रांतिकारी साहित्य पढ़ाया था ।

सन् १८८६-८७ में लेनिन के परिवार पर दो भयानक विपत्तियाँ आयीं । पहले वर्ष तो उनके पिता का अचानक देहान्त हो गया—ऐसी परिस्थितियों में बड़े भाई का सहारा था लेकिन अलेक्सान्द्र को भी उनकी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों के कारण सरकार ने गिरफ्तार कर लिया । अलेक्सान्द्र पर जार की हत्या के षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का अभियोग लगा और इसके दण्डस्वरूप मिली उन्हें बिना सफाई का मौका दिये फाँसी की सजा । लेनिन तथा उनकी माँ अपने पिता और पति की मृत्यु का गम भुला भी न पाये थे कि भाई के पुत्र को शहीद हो जाना पड़ा । लेनिन पर पिता की मृत्यु से अधिक भाई के मृत्यु दण्ड का अधिक प्रभाव हुआ । अब तक जारशाही की अव्यवस्था और उत्पीड़न का उन्हें दूर से ही जायजा मिला था—पहली बार उन्हें अनाम व्यक्तिगत और पारिवारिक क्षति उठानी पड़ी उस समय लेनिन की आयु १७-१८ वर्ष की रही होगी । यौवन में प्रवेश कर रहे इस नवयुवक ने तभी अपने भाई की कब्र के पास खड़े हो कर कसम खायी कि मैं इस अन्धी शासन-व्यवस्था की जड़ों पर चोट कर इसे ही उलटने, उखाड़ देने के लिए आजीवन संघर्ष का मार्ग अपनाऊँगा ।

उस समय वे हाईस्कूल पास कर कजान विश्व-विद्यालय में कानून की शिक्षा प्राप्त करने चले गये थे । उनके मन-मस्तिष्क में इस शासन-व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश और रोष तो था ही उसे और भड़काया कजान विश्वविद्यालय के क्रान्तिकारी युवक छात्रों ने । उस समय जारशाही के खिलाफ विद्रोह की आग जनता में भीतर-भीतर सुलग रही थी विशेषकर नवयुवकों तथा विद्यार्थियों में । विद्यार्थियों में कई ऐसे संगठन थे जो क्रान्ति का संगठन कर रहे थे जिन में लेनिन भी थे । लेनिन की अद्वितीय बुद्धिमता, अध्ययनशीलता और विद्वता के साथ-साथ उनकी निष्ठा ने शीघ्र ही विद्यार्थियों में अच्छा स्थान बना लिया । वे क्रान्तिकारी छात्र संगठनों में जमकर बोलने भी लगे ।

सरकार की निगाह शीघ्र ही इस क्रान्तिकारी युवक पर पड़ी और केन्द्रित हो गयी और एक सभा में भाषण देकर जनता को जारशाही के विरुद्ध बहकाने के आरोप में उन्हें गिरफ्तार कर लिया । जारशाही के जमाने में न्याय भी एक नाटक बना हुआ था । उन्हें तुरन्त नजरबन्द कर दिया गया । लेनिन गुर्बेनिया के कोकू शाकिनो गाँव में पुलिस की कड़ी निगरानी में रहने लगे । यह समय लेनिन ने अध्ययन करने में लगाया । सुबह उठकर ही वे किताब लेकर बैठ जाते और देर रात तक पढ़ते रहते । अध्ययन की दृष्टि से लेनिन ने इसी स्थान पर रहकर सर्वाधिक अध्ययन किया । स्वयं उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा है कि पीटर्स बर्ग की जेल और साइबेरिया की नजरबन्दी के लम्बे समय में भी मैंने उतना अध्ययन नहीं किया जितना कि कोकूशकिनो में किया ।

साल भर पुलिस की कड़ी निगरानी में रह कर लेनिन को एक खतरनाक राजनैतिक व्यक्ति घोषित कर वापस आने दिया गया । इसी कारण पुनः विश्वविद्यालय में वे भर्ती भी नहीं किये गये । यूनिवर्सिटी में प्रवेश न मिलने के कारण वे १८८९ में परिवार सहित कजान से गुर्बेनिया आ गये और वह प्राइवेट रूप से कानून की पढ़ाई करने लगे । कानून का जो कोर्स चार वर्षों में पूरा होता था लेनिन ने डेढ़ वर्ष में पूरा कर लिया तथा प्राइवेट छात्र के रूप में परीक्षा दी और प्रथम श्रेणी में पास होकर डिप्लोमा भी ले लिया ।

विश्वविद्यालय मे छात्र नहीं बन सके तो भी उन्हें लाभ ही हुआ । कई वर्ष लेनिन ने बचा लिए । डिप्लोमा प्राप्त कर लेने के बाद समारा को जिला कचहरी में उन्होंने वकालत की प्रैक्टिस आरम्भ कर दी । दो साल बाद वे समारा छोड़ कर पीटर्स बर्ग चले गये इसलिए नहीं कि वकालत का पेशा अच्छा चले वरन् इसलिए कि समारा की अपेक्षा पीटर्सवर्ग में रहकर अपना मूल ध्येय प्राप्त करना अधिक सुविधाजनक था । पीटर्सवर्ग उस समय रूस की राजधानी थी और एक औद्योगिक केन्द्र भी । स्वाभाविक ही मजदूर आन्दोलनो का केन्द्र भी वही रहता था ।

लेनिन ने वहाँ रहकर मजदूर-आन्दोलन को गति देने के लिए एक श्रमिक-संस्था संघर्ष-लीग की स्थापना की और लीग की ओर से एकमुख-पत्र भी प्रकाशित किया जिसका उद्देश्य था मजदूर आन्दोलन को सक्रिय बनाना । यहीं उनका परिचय एक मजदूर स्कूल की अध्यापिका क्रूप्सकाया से हुआ जो आगे चलकर उनकी सहधर्मिणी बनी । क्रुप्सकाया भी समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थी और यही नहीं इस समाज-दर्शन के विचारों का भी वह खूब प्रचार करती थी । लेनिन और क्रूप्सकाया ने एक दूसरे को जीवन साथी के रूप में वरण ही इसलिए किया कि उनके विचार समान थे, लक्ष्य एक समान थे और दोनों उस दिशा में समाज को बढ़ाना चाहते थे ।

संघर्ष लीग का मुख पत्र अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण शीघ्र ही सरकार का कोपभाजन बना । उसके प्रकाशन को बन्द कर दिया और लेनिन को गिरफ्तार कर पीटर्सवर्ग की जेल में डाल दिया गया । उनकी अनुपस्थिति में संघर्ष लीग नेतृत्व-विहीन हो गयी थी परन्तु लेनिन ने जेल की कोठरी में रहते हुए भी लीग का काम न रुकने देने के लिए अपने निर्देश भेजने का ढंग निकाल लिया । जेल मे जो समाचार पत्र और पुस्तके उन्हें पढ़ने के लिए उपलब्ध करायी जाती उन पुस्तकों और समाचार पत्रों के खाली स्थानो पर वे दूध से लिख देते । दूध से लिखे निर्देश यो तो किसी की निगाह में नहीं आते परन्तु उनके दल के लोग आँच पर तपाकर पढ़ लेते । इस प्रकार अक्षरो की बनावट पढ़ने योग्य दिखाई देने लगती । दूध और डबल रोटी तो उन्हें जेल से मिलते ही थे ।

उनकी ताक में बैठी थी । पीटर्सवर्ग पहुँचते ही पकड़ लि... गये और कुछ समय बाद चेतावनी देकर छोड़ दिये गये ।

सरकार की काक दृष्टि और तत्कालीन परिस्थितियों में कुछ भी कर पाना सम्भव न देखकर लेनिन ने रूस छो... दिया और जर्मनी चले गये । वहाँ से उन्होंने एक पत्रिका ... शुरू की जिसकी कई प्रतियाँ रूस भी भेजी जाती । य... आकर उन्होंने अपना नाम भी बदल लिया और पत्रिका ... मूल पता भी गुप्त रखा । जर्मनी की पुलिस को कुछ ... में लेनिन के छुपे तथा सक्रिय होने का पता चला तो उन... जर्मनी छोड़ दिया और १९०२ में लन्दन आये । लन्दन ... ही उन्होंने अपनी पत्रिका का प्रकाशन जारी रखा लन्दन में चल रहे मजदूर आन्दोलनो का समीप से अध्ययन करते हु... लेनिन अपना अधिकांश समय पुस्तकालय मे ही बिताते । उन्होंने बिटिश-संग्रहालय की उस लाइब्रेरी को भी छान मा... जिसमे तेरह साल तक अध्ययन कर मार्क्स ने 'कैपिटल' लिख डाला था । अगले वर्ष लेनिन लन्दन से पेरिस आ... गये और फिर जिनेवा इस्का—लेनिन की पत्रिका भी वहीं से प्रकाशित होने लगी ।

विदेशो मे रहते हुए भी लेनिन मजदूर आन्दोलनों प... अपना पूरा ध्यान रखते थे । उनकी दी गयी हवा से रूस में जारशाही के विरुद्ध जल रही विद्रोह की आग ज्वालामुखी बनती जा रही थी । और १९०५ मे तो एक गोल काण्ड को लेकर उसका विस्फोट भी हो गया । लेनिन ने कहा क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया है । अक्टूबर महीने में रूस में एक आम हड़ताल हुई और सारे देश के कारखाने तथा यातायात व्यवस्था ठप्प हो गयी । इससे जार घबड़ा उठा । जार हड़ताल को तुड़वाने के लिए अपने दाँव-पेच चलाने लगा । कही उसके दाँव सफल न हो जाये इस सम्बन्ध मे सतर्कता बरतने तथा क्रान्ति का निर्देशन करने के लिए लेनिन भी वहाँ आ गये । दिसम्बर मे सशस्त्र विद्रोह हुआ । इसे दबाने के लिए जार ने पुलिस और सेना का सहारा लेकर यह विद्रोह कुचल दिया ।

लेनिन क्रान्ति का पुनर्गठन करने के लिए फिर फिन लैण्ड ... से पेरिस, पेरिस से 'प्रालेतारी' नामक प... भी ... आरम्भ किया । यहाँ भी उनकी पत्नी साथ ... क्रुप्सकाया का जीवन यहाँ बड़ी ... तो उन्हे भूखे भी ... से

जब पहला विश्व युद्ध आरम्भ हुआ और बड़े पैमाने पर लोग तबाह होने लगे तो अनेक देशो मे क्रान्ति के अनुकूल स्थितियाँ आयीं। रूस मे भी आयीं और ऐसे समय मे जारशाही का प्रभाव मिटता जा रहा था वहाँ लेनिन और समाज वाद का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। ऐसे समय में लेनिन ने आवाज लगायी कि अब वह क्रान्ति हो सकती है जिसमे हम सफल हो सकते हैं। लोगो ने उनकी आवाज सुनी और सबसे पहले पेत्रोग्राद के मजदूर ९ जनवरी १९१७ को उठ खड़े हुए थे। क्रांति का दमन करने के लिए जार के सैनिक दौड़े परन्तु एक जगह दबायी जनता की आवाज कई स्थानो से सिंहनाद बन कर उठ खड़ी हुई।

अतएव शीघ्र ही जारशाही को घुटने टेक देने पड़े। र एक अस्थायी सरकार का गठन हुआ। लेनिन ने तार सदेश भेजा वह था 'यह तो क्रान्ति की शुरूआत है और हली सफलता। जार के घुटने टेक दिये हैं यह तो ठीक परन्तु जो अस्थायी सरकार बनी है वह भी विश्वसनीय हीं है। लेनिन उस समय स्विट्जरलैण्ड मे थे और अस्थायी रकार सचमुच उनके आने में रोड़े अटका रही थी। सरकार उन्हें रूस आने की अनुमति नहीं दी यहाँ तक कि उनकी त्या तक का प्रयास किया गया। लेनिन छुपे वेश मे रूस लौटे। अक्टूबर १९१७ मे निर्णायक क्रान्ति का आह्वान हुआ और २६ अक्टूबर को सफलता प्राप्त हुई। उस दिन अस्थायी सरकार का पतन हुआ।

नयी सोवियत सरकार का गठन हुआ जिसके अध्यक्ष चुने गये लेनिन। लेकिन अभी बहुत-सी बाधाएँ पार करनी थीं। साम्राज्यवादी शक्तियो द्वारा प्रेरित प्रतिक्रियावादियो ने सोवियत सरकार के विरुद्ध भी षड्यन्त्र रचे और इसी षड्यन्त्र के अन्तर्गत ३० अगस्त, १९१८ को लेनिन पर गोलियाँ चलायी गयी। लेनिन बुरी तरह घायल हुए और चौबीस घण्टे तक मौत से भी संघर्ष करने के बाद उसके मुँह से बच निकले।

२१ जनवरी, १९२४ की शाम को लेनिन का देहान्त हुआ। उस अवसर पर रूस की तमाम जनता रो उठी। विश्व मे समाजवादी समाज के पहले सर्जक अपने पीछे कई स्मृतियाँ छोड़ गये थे।

जिन्होंने विद्वता को सार्थक किया— अर्नाल्ड टायनवी

"धर्म इस ससार मे आने वाले प्रत्येक मनुष्य की सबसे बड़ी चिन्ता है। धर्म राष्ट्रीय सीमाएँ नहीं मानता। वह हिन्दू के मुँह से भी बोल सकता है, ईसाई और मुसलमान के मुँह से भी, किन्तु यदि उसका सदेश सचमुच सत्य से विस्तृत हुआ है, तो वह शीघ्र हम सबसे बात करेगा। यही है हिन्दू धर्म की एक विशेष अन्तर्दृष्टि और वह विशेष उपकार जो कि भारतीय-धर्म को इस विश्व को देना है।

भारत के पश्चिम में उपजे कुछ धर्मों की यह कहने की प्रवृत्ति है कि "सत्य हमारे पास है।" हिन्दू-धर्म उनसे नहीं झगड़ता, मगर इतना अवश्य कहेगा कि हाँ, आपके पास सत्य है, हमारे पास सत्य है। मगर हम दोनो में से किसी के भी पास पूर्ण सत्य नहीं है, न उसका एक खण्ड ही दोनो के पास है। कोई भी मनुष्य पूर्ण सत्य को नहीं पा सकता, क्योंकि सत्य के असंख्य पहलू हैं। एक मनुष्य को एक सत्य की झलक मिलती है, दूसरे को दूसरी दोनो झलकें अलग हैं, मगर दोनो आलोकदायी हैं। साथ ही दो झलकें एक झलक की अपेक्षा दुगुने से भी अधिक आलोकदायी है। सत्य एक है मगर उसके मार्ग अनेक हैं। ये विभिन्न मार्ग परस्पर विरोधी नहीं है, वे एक दूसरे के पूरक हैं।

सभी धर्मों के बारे मे दुराग्रह मुक्त होकर और सबके बीच एक सत्य शिव और सुन्दर सामंजस्य स्थापित करने की भावना से प्रेरित उपर्युक्त पक्तियो के लेखक से सहमत हो जाना हर पूर्वाग्रह मुक्ति के लिये सहज सम्भव है। इन पक्तियो में एक सम्भावित सत्य का उद्घाटन करने वाले व्यक्ति है इंग्लैण्ड के विश्व विख्यात साहित्यकार समाज सेवी, अर्थशास्त्री और अपने ढंग के अनूठे आलोचक अर्नाल्ड टायनबी, जिनका अपना जीवन भी अपनी इन पक्तियो की तरह ही प्रभामय, प्रखर और समन्वयवादी रहा है। उन्होंने अपनी प्रखर बौद्धिकता को जिस लोकोपकारी दृष्टि से नियोजित किया है वह अपने आप में इतनी विधेयात्मक एवं सर्जनात्मक है कि उसमे एक सम्भावित विश्व-परिवार का स्वप्न सँजोया हुआ लगता है।

वे आगे कहते है—"पश्चिमी धर्म कहते हैं—'नही आप यह नही कर सकते। आप बाकी सब मार्गों को तजे बिना हमारा मार्ग नहीं अपना सकते, क्योंकि हमारा ही एकमात्र सही मार्ग है।" हिन्दू कहेगा—'मै ये सब मार्ग अपना सकता हूँ और इनके अलावा और भी, क्योंकि ये सब अलग-अलग एकातिक मार्ग नहीं है।"

इस विषय मे, मैं मानता हूँ कि पश्चिमी धर्मों की अपेक्षा हिन्दू-धर्म सत्य मे अधिक गहरे पैठा है। मै यह भी मानता हूँ कि सत्य के सम्बन्ध मे यह भारतीय समझ आज मानव जाति के लिये अत्यधिक मूल्यवान है।

ऐसी स्थिति मे केवल हमारा मार्ग सही है, यह मानने वाली असहिष्णु मनोवृत्ति पहले जितने तो खराब है, पहले की अपेक्षा बहुत अधिक खतरनाक भी है। हिन्दू मनोवृत्ति एकातिकवादी मनोवृत्ति के विपरीत है और यह विश्व-मैत्री में भारत का योगदान है।

अन्ततः भारतीय-विचार और पश्चिमी-विचार परस्पर विरुद्ध और असम्बद्ध नहीं है। दोनो के लिये दुनिया मे गुंजाइश है और दोनो की आवश्यकता है। दोनो को निकट लाइये, दोनो मिलकर ससार की अपूर्व सेवा कर सकेगे।"

हिन्दू धर्म, संस्कृति और जीवन दर्शन के प्रति जिस व्यक्ति ने ये भक्तिपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं वे उस देश

में उत्पन्न हुए थे जिसने भारतवर्ष पर अपना राज्याधिकार जमाया था । उनके देश में उत्पन्न होने वाले उनके अंग्रेज बन्धु भारतवासियों को किस नजर से देखते थे उसे बताने की आवश्यकता नहीं है । ऐसी स्थिति में, ऐसे देश और ऐसे परिवेश में उत्पन्न होने और रहने के बाद भी उनके विचार कितने निष्पक्ष और मानवतावादी थे यह उनके उच्च दृष्टिकोण के ही परिचायक है ।

अर्नाल्ड टायनबी का जन्म इंग्लैण्ड के एक सम्पन्न परिवार में सन् १८८९ मे हुआ था । उनके पिता अभिजात्य कुल के थे । एक सम्पन्न अभिजात्य-कुलोत्पन्न बालक की जैसी शिक्षा होनी चाहिए थी उनकी भी हुई । मेधावी अर्नाल्ड ने इतिहास और अर्थशास्त्र मे अपनी योग्यता दर्शायी । उसने उन्हे अल्प-वय मे ही लन्दन स्कूल ऑफ इकनामिक्स जैसी विख्यात शिक्षण सस्था में प्राध्यापक का पद दिया ।

हर व्यक्ति के अपने जीवन का एक लक्ष्य होता है । इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह अपने आप को विभूतिवान बनाना चाहता है । अर्नाल्ड टायनबी अपने आप को विद्या-विभूति से विभूषित करना चाहते थे । अपनी लगन, श्रम और अध्यवसाय के बल पर वे इसे प्राप्त करने मे भी सफल हुए । युवावस्था मे ही वे इंग्लैण्ड के शीर्षस्थ विद्वानो मे गिने जाने लगे किन्तु मात्र विद्वान बन जाना ही उन्हें अभी नहीं था वरन् वे उसका सदुपयोग भी करना चाहते थे ।

ब्रिटिश सरकार के विदेश-अनुसधानविभाग के महत्वपूर्ण पद पर कार्य करते हुए उन्हे अपनी विद्वता को सार्थक करने की दिशा भी मिल गयी । उन्होने विदेश अनुसंधान विभाग को तो अपनी मूल्यवान सेवाओ से लाभान्वित किया ही साथ ही साथ अपने आत्मरजन के लिए जो कार्य चुना वह मानव-समाज की भावी सुख-शान्ति के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था ।

विद्वता और पाण्डित्य के धनी टायनबी ने अपने लिये जो कार्य चुना वह था ब्रिटेन के इतिहास पर शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखने तथा सस्कृतियो का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करके किसी विधेयात्मक तथ्य पर पहुँचना । यह कार्य विशुद्ध रूप से विद्यार्थी और शोधार्थी जैसा था जिसमे काम अधिक करना पड़ता और उसके अनुपात मे प्रसिद्धि कम ही मिलती थी । पर वे एक विद्वान—एक लेखक की जिम्मेदारी को भी बखूबी समझते थे । वे लियो टालस्ताय के इन शब्दो से सीख ले चुके थे—"दुनिया की हर बुराई और बेईसाफी की अधिकतम जिम्मेदारी से विद्वान, साहित्यकार और कलाकार बच नही सकता । आरम्भ मे भी साहित्यकार की जिम्मेदारी को नही समझा था । मै नहीं जानता था कि मै क्या लिख रहा हूँ और क्या शिक्षा दे रहा हूँ । मेरी एक ही अभिलाषा थी कि अधिक से अधिक धन और यश का सम्पादन किया जाये । यह मेरा पागलपन था और इस पागलपन को दूर करने मे मुझे पूरे छह वर्ष लग गये ।"

टालस्ताय ने अपने साहित्यिक दायित्व को समझ के वे महात्मा बन गये । टायबनी ने उनके अनुभव से सीख ली थी । वे यह जान चुके थे कि एक विभूतिहीन व्यक्ति यदि समाज का बहुत बड़ा हित सम्पादित नहीं कर सकता था तो उससे समाज की बहुत बड़ी हानि होने की सम्भावना भी नहीं है । पर जो विभूतिवान है वह यदि स्वार्थी सकीर्ण व पथ-भ्रमित हुआ तो समाज को अकल्पित हानि पहुँचा सकता है । इसकी इस मान्यता की पुष्टि आज के 'अनेका धनपति, विद्वान, कलाकार और साहित्यकार कर ही रहे हैं । इस विषय मे कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं ।

टायनबी की इस मान्यता ने न केवल उन्हें ब्रिटेन के शीर्षस्थ इतिहासकार ही नहीं बनाया वरन् ससार की प्रमुख सस्कृतियो का अध्ययन करके आपने विश्व-मानव को एक अमूल्य कृति का नाम है—'एक्सपरिमेंट ऑफ वेस्टर्न सिविलिजेशन ।' इस पुस्तक मे पाश्चात्य-सभ्यता सस्कृति की निष्पक्ष आलोचना की है साथ ही उसकी भारतीयजीवन-दर्शन से तुलना भी उसी भाव से की है । अध्ययन, विचार और चिंतन की जो प्रौढ़ता इसने दृष्टिगोचर होती है वह विद्वानों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करती है कि वे जो कुछ लिखें वह विश्व-मानव को यदि श्रेयस्कर पथ न दिखा सके तो वे विद्वता के नाम पर अपनी मानसिक व वैचारिक विकृतियो को तो कम से कम दुनिया पर न थोपे ।

उन्होने बहुत लिखा है पर उस पर बहुत लिखने के लिए उन्हे जितना पढ़ना पड़ा है, खोज करनी पड़ी है, उस पर चिन्तन, मनन करना पड़ा है वह उससे दसियों गुना श्रम और श्रमसाध्य था । अकेले टायनबी ने जो कार्य किया था एक व्यक्ति का नहीं पूरे एक मिशन का कार्य था ।

यद्यपि उनके समय मे विज्ञान ने आज की सी प्रगति नही की थी और न ही उस समय विज्ञान ने मानव को जो अपरिमित सामर्थ्य दी उससे आज की सी विश्व विनाश की सम्भावनाएँ ही पुष्ट हुई थी, फिर भी उन्होंने विज्ञान के सम्बन्ध मे जो बात कही है वह उन सब सम्भावनाओ को अपने में समेटे हुए है । उन्होने लिखा है—"आधुनिक मानव अपनी आत्मा की आध्यात्मिक रिक्तता को कैसे पूरी करेगा ? यह रिक्तता आधुनिक विज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है । विज्ञान ने परम्परा धार्मिक विश्वासो को उखाड़ फेका है, किन्तु रिक्त स्थान की पूर्ति मे वह स्वय भी असमर्थ रहा है । विज्ञान ने मनुष्य को जड़ शक्ति और मानव शरीर पर नियंत्रण स्थापित करने की अत्यधिक शक्ति और क्षमता प्रदान कर दी है, लेकिन आत्मनियत्रण के कार्य मे वह मनुष्य की कोई सहायता नही कर सकता और वस्तुत आत्म-सयम ही मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण और कठिन समस्या रही है ।

आज इसकी विशेष आवश्यकता इसलिए है कि मनुष्य की प्रकृति पर नियत्रण करने की क्षमता मे बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है । वह उस युवक के समान है, जिसने प्रौढ़ व्यक्ति के शस्त्रास्त्र तो धारण कर लिए है किन्तु उसका मस्तिष्क

उतना परिपक्व नहीं हुआ है । ऐसा युवक उस समय तक खतरनाक बना रहेगा, जब तक वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी उतना ही उन्नत और साधन सम्पन्न न हो जाये ।

"आध्यात्मिक परिपक्वता विज्ञान के द्वारा नहीं, बल्कि धर्म के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । इसलिए मुझे यह आशा है कि बीसवीं सदी का मानव पुनः सच्चे धर्म की खोज में निकलेगा और उसे खोज भी लेगा । यह धर्म परम्परागत धर्म से इतना भिन्न होगा कि पहली दृष्टि में मानव के इस धर्म को पहचाना भी नहीं जा सकेगा । सच्चे धर्म की कसौटी यह होगी कि उस धर्म में मानव कष्टों से सम्बन्धित समस्याओं का सामना करने की कितनी अधिक क्षमता है । भविष्य में हमारे समक्ष अग्निपरीक्षा का जो समय आने वाला है । उसमें हमारे इन कष्टों के और भी अधिक बढ़ जाने की सम्भावना है ।"

उपरोक्त पंक्तियों का लेखक विशुद्ध रूप से एक मानव है—इसे ब्रिटिश या और कुछ संज्ञा नहीं दी जा सकती । अध्यात्म और विज्ञान के पारस्परिक ऐक्य की जो बात उन्होंने कही है, आज वह पल्लवित-पुष्पित भी हो रही है । विचार अमर है और अमर है उनकी शक्ति, इसका सहज अनुमान उनके इन शब्दों से लगाया जा सकता है ।

विश्व-मानव के सुखद भविष्य सम्बन्धी प्रौढ़-चिंतन करने और पीड़ित मानवता के प्रति अनन्य सेवा भाव रखने वाले अर्नाल्ड टायनबी ने कह सुन कर या लिख कर ही नहीं किया, वरन् उन्होंने समाज-सेवा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । गरीबों और पीड़ितों के आवास, भोजन आदि का प्रबन्ध करने के लिए वे अपनी आय का एक बहुत बड़ा अंश ही नहीं निकालते थे वरन् अपने व्यस्त-जीवन में से इस कार्य के लिए नियमित रूप से कुछ घण्टे दिया करते थे ।

आश्चर्य होता है कि एक अकेला व्यक्ति इतना सब कार्य कैसे कर सका होगा ? यह आश्चर्य उनकी कार्यशैली व समय विभाजन को देखने पर आश्चर्य नहीं रह जाता । अध्ययन शोध और लेखन के क्षेत्र में उन्होंने अपनी क्षमताओं को आश्चर्यजनक रूप से विकसित कर लिया था । विश्व की कितनी ही भाषाओं, लिपियों को बड़ी शीघ्रतापूर्वक पढ़ने का अभ्यास बनाकर उन्होंने समय की काफी बचत कर ली थी । हर कार्य के लिये उन्होंने समय विभाजित कर रखा था । जिस समय वे जिस कार्य को करते उस समय वे पूरी तरह उसमें तल्लीन हो जाते, दूसरी ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं था । उनकी यह तल्लीनता ही उन्हें थकान से बचाती रहती थी । अर्नाल्ड टायनबी यद्यपि अब इस संसार में नहीं रहे हैं पर उनके विचार, उनके कार्य और उनका व्यक्तित्व हमें आज भी प्रेरणा देता रहता है ।

■ ■

ज्ञान-क्रान्ति के अग्रदूत

गीता-धर्म के प्रणेता—

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारत में प्लेग की सक्रामक व्याधि का प्रकोप बड़ी तीव्रता से दिखाई दिया था। यह बीमारी एक व्यक्ति से दूसरे को इस प्रकार उड़कर लगती थी कि बड़े-बड़े साहसी इसके नाम से काँपते थे। कलकत्ता जैसा बड़ा नगर इसके आतंक से कुछ समय के लिये उजाड़ हो गया था और उसकी रक्षा के लिये सेना की सहायता लेनी पड़ी थी। इसी व्याधि का आक्रमण जब पूना शहर पर हुआ तो वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। इसकी व्यवस्था के लिये जो गोरे अफसर और सिपाही वहाँ नियुक्त किये थे, उनका व्यवहार जनता के साथ बड़ा कठोर और अपमानपूर्ण था, जिससे प्लेग के साथ वे सरकारी कर्मचारी जनता को और भी बड़ी बीमारी की तरह जान पड़ने लगे। यह असन्तोष का भाव इतना अधिक फैल गया कि दो युवकों ने रैण्ड नामक अँग्रेज अफसर को पिस्तौल से मार दिया।

इस घटना से अँग्रेज अधिकारी क्रुद्ध हो उठे और चारो ओर दमन की धूम मचादी, जिससे जनता घबरा उठी। तिलक ने सरकार की इस नीति का विरोध किया और दमन करने वाले अधिकारियों को दोषी बतलाया। इस पर सरकार ने तिलक को मानहानि का दोषी बतलाकर गिरफ्तार कर लिया और मनमानी कार्यवाही करके १८ महीना की कड़ी कैद की आज्ञा सुनादी। जेल मे उनसे सामान्य कैदियों की तरह सब प्रकार का काम लिया गया और खराब भोजन दिया गया। इससे उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। जब यह खबर प्रकाशित हुई तो भारत ही नहीं इंग्लैण्ड मे भी इसका विरोध किया जाने लगा और मैक्समूलर, सर विलियम हंटर, विलियम केन, दादाभाई नौरोजी जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियो ने इंगलैण्ड की सरकार से कहा कि तिलक के समान विद्वान् के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाना कलंक की बात होगी। इन सब प्रभावशाली सज्जनों के सम्मिलित प्रयत्न से अन्त में तिलकजी को एकसाल बाद जेल से छोड़ दिया गया।

श्री बालगंगाधर तिलक (सन् १८५६-१९२०) ने आरम्भ से ही जनता की सेवा का व्रत ग्रहण कर रखा था। सन् १८७९ में बी.ए. तथा एल.एल.बी. की परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् घरवाले और इष्ट-मित्र यह आशा कर रहे थे कि अब वे वकालत करके खूब धन पैदा करेंगे, जिससे वंश के गौरव और वैभव की वृद्धि होगी। पर उन्होंने अपनी सेवाएँ पूर्णरूप से एक शिक्षा संस्था के निर्माण के लिये अर्पित कर दी। इसके फलस्वरूप सन् १८८० में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' और उसके ४-५ साल बाद फर्गुसन कालेज की स्थापना की गई। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि महाराष्ट्र में जो उल्लेखनीय जनजाग्रति और सामाजिक-उत्थान की योजनाओं का संचालन हुआ, उसका श्रेय मुख्यतः इन संस्थाओं से पढ़कर निकलने वाले विद्यार्थियों को है।

लोकमान्य तिलक ने जन-जाग्रति का कार्य-क्रम पूरा क के उद्देश्य से महाराष्ट्र में दो राष्ट्रीय त्यौहारों का प्रचलन किय था। इनमें से एक था 'गणपति-उत्सव' और दूसर 'शिवाजी-जयन्ती'। गणपति की मान्यता महाराष्ट्र मे प्राचीन काल से है और उस त्यौहार को पुराने ढंग से बराबर मनाय जाता था। तिलकजी ने बंगाल की दुर्गा-पूजा की तरह ग एक सप्ताह तक पूजने और साथ में तरह-तरह के राष्ट्रीय तथा सामाजिक महत्व के कार्यक्रम सम्मिलित कर उसे लोक-शिक्षण का माध्यम बना दिया। शिवाजी महाराज का उदाहरण तो राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनुपम है ही। उन्होंने विदेशियो के आक्रमण से स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा के लिये ही आजन्म कार्य किया। इन उत्सवो के कारण दो तीन वर्ष में ही ऐसी जन-जाग्रति हुई कि सरकार उनसे डरने लग गई और उसने ऐसी चाल चली कि पूना और बम्बई में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो गये। सरकार ने इ दोषारोपण 'शिवाजी-जयन्ती' पर किया कि उसी के का मुसलमान रुष्ट हो गये और हिन्दुओ से लड़ बैठे। परन्तु तिलकजी ने इस प्रकार की चाल से भयभीत न होकर अपने 'केसरी' साप्ताहिक मे लिखा—

"मैं समझता हूँ कि इन झगड़ो का कारण सरकार ही है। उसकी पक्षपात-पूर्ण नीति के कारण ही दगों की शुरूआत होती है। देश मे इस समय हिन्दू-मुस्लिम-द्वेष के बीज बोये जा रहे है। लार्ड-डफरिन की भेद नीति ही इन दगो का मूल है।"

वे राष्ट्रीयता का महत्व समझते थे और ऐसी सामयिक घटनाओं तथा दस-बीस व्यक्तियों के मारे जाने से घबड़ाकर पीछे कदम रखने वाले न थे। यद्यपि बम्बई में मुस्लिम-गुण्डों द्वारा हिन्दुओ की अधिक हानि हुई थी तो भी तिलकजी ने अपने अनुयायिओ को ऐसी बातो से आतंकित न होने का उपदेश दिया—

"यदि मुसलमान पशुता एवं अमानुषिक-कृत्यों पर उत गये है तो तुम्हे भी तत्काल रक्तपात और अनुचित उ का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। संगठन द्वारा अपने अधिक से अधिक सुदृढ बनाने का प्रयास करो। जब शक्तिशाली हो जाओगे तो दंगे होगे ही नहीं" और सम आने पर लोकमान्य का कथन सत्य सिद्ध हुआ।

सरकार की भेद-नीति ने जब मुस्लिमलीग को जन्म देकर हिन्दू-मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया तो सन् १९२० के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे भयंकर रूप में भड़क उठे थे। उनमें आरम्भ में हिन्दुओं को हानि उठानी पड़ी, पर दो-एक बार में जब वे ऐसी घटनाओं के लिये संगठित होकर गुण्डों का मुकाबला करने लगे तो उपद्रवियों का साहस टूट गया और फिर दंगे स्वयमेव कम होते चले गये।

इस प्रकार सरकार से तिलक जी का संघर्ष बढ़ता ही गया। सामाजिक तथा राष्ट्रीय-प्रगति के लिये जनता को तरह-तरह से प्रेरणा देते रहते थे और विदेशी सरकार को उसमें अपनी जड़ कटती जान पड़ती थी। इसलिये जब सन् १९०७-८ में तिलकजी ने काँग्रेस को सरकार के मुकाबले में क्रान्तिकारी-कार्यक्रम अपनाने की प्रेरणा दी तो सरकार बौखला गई और उसने उन पर राजद्रोह मुकदमा चला कर छह साल के देश निकाले का दण्ड दे दिया। इसका स्पष्ट आशय यही था कि जब तक तिलक भारतीय-जनता के निकट रहेंगे तब तक उनका व्यक्तित्व सर्वसाधारण को प्रभावित करता ही रहेगा। इसलिये उनको बर्मा की मांडले जेल में रखा गया, जहाँ न कोई इनकी भाषा समझने वाला था और न उनसे किसी प्रकार परिचित। सरकार के उद्देश्य को समझकर लोकमान्य ने भी अपना ध्यान सब तरफ से हटा लिया और 'गीता' का अध्ययन आरम्भ कर दिया। छह साल में उसका एक ऐसा प्रेरणाप्रद-भाष्य तैयार किया जिससे भारतीय-जनता स्वयम् ही कर्त्तव्यपालन की प्रेरणा प्राप्त करती रह सकती थी।

'श्रीभगवद्गीता' सत्-सिद्धान्तों की कैसी अपूर्व खान है, इसको विद्वान् लोग भलीप्रकार जानते हैं। कहने को तो वह सातसौ श्लोकों की एक छोटी सी धार्मिक पुस्तक है, जिसका लाखों व्यक्ति हर रोज पाठ भी कर लेते हैं, परन्तु उसमें मानव-कर्त्तव्यों का इस खूबी से निरूपण किया गया है कि प्रत्येक देश-काल में वह लोगों का सही मार्ग-दर्शन कर सकती है। यही कारण था कि सन् १९०५ से आरम्भ होने वाले स्वाधीनता-आन्दोलन में भी विद्वानों ने उसका सहारा लिया था। अरविन्द, तिलक, गाँधी, विनोबा आदि जैसे महान् विचारकों ने उसके सिद्धान्तों की समयानुकूल व्याख्या करके भारतीय जनता को अपने न्यायपूर्ण अधिकारों के संघर्ष में निर्भय बना दिया था। लोकमान्य का 'गीता-रहस्य' उनके जेल से छुटकारे के बाद जब प्रकाशित हुआ तो उसका प्रचार आँधी-तूफान की तरह बढ़ा और आज कई साल हो जाने पर भी उसके महत्व में कमी नहीं आई है।

लोकमान्य तिलक यद्यपि कट्टर धार्मिक-हिन्दू थे और राजनीति की तरह धर्म की रक्षा के लिये कटिबद्ध रहते थे, परन्तु वे हानिकारक रूढ़ियों के समर्थक न थे। इसलिये जब १९१७-१८ में उनको एक झूठे आक्षेप करनेवाले अँग्रेज-लेखक पर मानहानि का दावा करने इंग्लैण्ड जाना पड़ा और काशी के पण्डितों ने, बिना बहुत बड़ी भेंट लिये 'विदेश-यात्रा' की व्यवस्था देने से इन्कार किया, तो तिलकजी ऐसे ठेकेदारों को ठुकराकर निर्विघ्न विलायत पहुँचे और वहाँ कई महीने ठहर कर भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन का प्रचार भी करते रहे। उन्होंने बड़े निर्भीक शब्दों में यह घोषणा की थी कि "स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपना तन, मन, धन इस प्रकार न्यौछावर कर दिया कि उनके जीवन-काल में ही अँग्रेज की सरकार को इस बात के लिये विवश हो जाना पड़ा कि वह भारतीय-जनता को उसके अधिकारों की पहली किश्त देने को तैयार हो गई।

लोकमान्य के जीवन में धार्मिकता, सामाजिकता और राजनीतिकता का इस प्रकार समन्वय हुआ था कि वर्तमान युग में वह भारतीय-जनता के लिये सबसे बड़ा आदर्श है। उन्होंने लिखकर और कार्यरूप में उदाहरण उपस्थित करके लोगों को यही शिक्षा दी कि मनुष्य का प्रमुख धर्म यही है कि वह प्रत्येक अवस्था में 'कर्तव्य-पालन' पर आरूढ़ रहे। धर्म का एकांगी स्वरूप निम्नकोटि का है। वास्तविक 'धर्म' वही है—जिसके द्वारा जीवन के सब अंगों का समुचित विकास हो और प्रत्येक परिस्थिति का मुकाबला करने को तैयार रहा जाय। जो लोग थोड़े से भजन-पूजन करके ही अपने को 'धर्मात्मा' समझ लेते हैं उनको चाहिए कि धर्म-तत्व के महान-ज्ञाता लोकमान्य-तिलक के उपदेश से मार्ग-दर्शन प्राप्त करें।

साहित्यिक-सन्त—
श्री बर्नार्डशा

जब सन् १९२५ श्री बर्नार्डशा (१८५६-१९५०) को जगत् प्रसिद्ध नोबल-पुरस्कार दिया गया तो एक सप्ताह तक उन्होंने पुरस्कार देने वाली समिति को उसकी स्वीकृति के विषय में कोई उत्तर नहीं दिया। जो लोग उनके असाधारण स्वभाव और स्वच्छन्द-विचारधारा से परिचित थे उन्होंने अनुमान लगाना शुरू किया कि शायद वे इस प्रतिष्ठा को स्वीकार न करें। स्वीडेन के एक अखबार ने तो चुटकी लेते हुये कहा कि "कदाचित् बर्नार्डशा शहर के बाहर कहीं एकान्त में जाकर यह निर्णय कर रहे होंगे कि उन्हें यह पुरस्कार लेना चाहिये या नहीं!" इसके पश्चात् जब ब्रिटिश-गवर्नमेन्ट ने उनकी महान्-साहित्यिक-सेवाओं के उपलक्ष्य में उनको 'लार्ड' की पदवी देने का प्रस्ताव किया तो उन्होंने उसे सधन्यवाद लौटा दिया।

बर्नार्डशा के जीवन की यह घटना बतलाती है कि सच्चे साहित्यिक को कीर्ति और प्रशंसा की चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब लेखक को इसका चस्का लग जाता है तो वह जनता का सच्चा-मार्ग-दर्शन करने के बजाय उसकी रुचि के अनुसार बातें लिखकर झूठी प्रशंसा और वाहवाही प्राप्त करने की कोशिश करने लगता है। खेद का विषय है कि वर्तमान समय के लेखकों में यही दुर्गुण विशेष रूप से घर करता जा रहा है, जिससे वे अपने वास्तविक

धर्म—सर्वसाधारण को कर्तव्य-पालन और चरित्र-निर्माण का सच्चा-मार्ग दिखालाने से च्युत हो जाते है। जो लेखक केवल धन कमाने या जन-समूह के मुख से अपनी तारीफ सुनने की लालसा से पाठकों के चरित्र को पतित करने वाला साहित्य प्रस्तुत करते है, वे वास्तव में इस पवित्र पेशे में रहने के अधिकारी नहीं है। उनकी रचनाएँ भी दो दिन अपनी चमक दिखा कर, लोगो में चर्चा का विषय बनकर सदा के लिये लुप्त हो जाती है।

बर्नार्डशा ने यद्यपि स्कूल में बहुत कम शिक्षा पाई थी और सोलहवर्ष की आयु में ही एक दफ्तर में क्लर्की करने लग गये थे। परन्तु, वे सच्ची और खरी बात कहने, तीखे व्यंग्य द्वारा लोगों को उनकी कमजोरियों का ज्ञान कराने वाले थे। इसलिये वे धीरे-धीरे एक प्रसिद्ध आलोचक और नाटककार बन गये। वे अपनी बात स्वतन्त्रतापूर्वक कह डालते थे, बिना इस बात की तनिक भी चिन्ता किये कि लोगों को उनकी बाते कैसी लगती है, उनकी कही हुई बातें बुरी लगती है या अच्छी, वे उनकी प्रशंसा करते है अथवा निन्दा। इस कारण सन् १८७६ से लेकर १८८५ तक दस वर्ष तक उनको कठोर-साहित्य-साधना करनी पड़ी। उनको बहुत अधिक परिश्रम करने पर थोड़े से ही पैसे मिलते थे, जिससे उनको बहुत मामूली ढंग से निर्वाह करना पड़ता था और अपनी अभिलाषाओ को अतृप्त ही रखना पड़ता था। वे जो कुछ लिख कर भेजते थे वह अधिकांश मे बिना प्रकाशित हुये लौटकर आ जाता था। पर इससे निराश न होकर वे व्यक्तियो और समाज की त्रुटियों की खरी आलोचना करते रहे, जनता तथा राष्ट्र मे पाई जाने वाली कुरीतियों को प्रकट करते रहे। अन्त में कुछ समय बाद लोगो ने उनके महत्व को समझा और वे अँग्रेजी-साहित्य के एक स्तम्भ माने जाने लगे। फिर भी वे अपने सिद्धान्तों पर अटल रहे और अनेक लोगों द्वारा अपनी रचनाओ का सदा विरोध किये जाने पर भी उन्होंने समाज तथा राजनीति के सुधार का प्रयत्न बन्द नहीं किया। उन्होंने अपने निवास स्थान पर यह वाक्य लिख रखा था-

"लोग कहते है ? क्या कहते है ? कहने दो।"

उनका मन्तव्य यही था कि दुनिया में कहने-सुनने की तरफ अधिक ध्यान न दो। क्योंकि वह किसी विषय को सोच-समझकर और जाँच करके कोई बात नहीं कहती। जनता का एक बहुत बड़ा भाग तो हवा के साथ बहने वाला होता है। जो लोग एक दिन ईसा को पत्थर मारते थे वे ही कुछ समय बाद उसकी पूजा करने लग गये थे। इसलिये सबसे बड़ी बात है अपने सिद्धान्तो पर दृढ़ रहना और कर्तव्य का पालन करते जाना। ऐसे व्यक्ति को आज नहीं तो कल सफलता जरूर मिलेगी।

बर्नार्डशा स्वयं अपनी भी आलोचना करने में पीछे नहीं हटते थे। उन्होंने आरम्भिक अवस्था मे तीन उपन्यास लिखे थे। आगे चलकर स्वयं ही उनकी बड़ी खिल्ली उड़ाई। उन्होंने लिखा कि मेरी पहली कहानी तो इतनी घटिया थी कि उसे चूहों ने भी कुतरने से इन्कार कर दिया।

अब वे नाटक लिखने लगे जिसमें राजनीति और समाज में फैली कुरीतियों पर व्यंग और विनोद के रूप में प्रहार किया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि इस तरह की बातें लोगों के पहले नापसन्द होती है, वे उनसे चिढ़ते भी है, पर यदि लेखक अपनी बात सदा सत्यता के साथ कहता चला जाय तो बाद में उसकी कदर करते है। जिस समय देश में सैनिकवाद की लहर चल रही थी, उन्होंने 'आर्मस एण्ड दी मैन' (शस्त्र और मनुष्य) नाम का नाटक लिखा, जिसे यद्यपि दर्शकों ने एक प्रहसन समझकर प्रसन्नता प्रकट की पर जिसमे वास्तव में सैनिक ढंग की वीर पूजा का विरोध किया गया था और 'विश्वशान्ति' का सन्देश सुनाया गया था। बाद में अन्य लोगों ने एक संसार-व्यापी 'शान्ति-आन्दोलन' ही खड़ा कर दिया।

उनका दूसरा नाटक 'मिसेज वारेन्स प्रोफेशान' (श्रीमती वारिन का पेशा) में समाज में फैली वेश्यावृत्ति पर आक्रमण किया गया है। उसमें दिखलाया गया है कि जो लोग समाज में ऊपर से 'सज्जन' और 'सभ्य' बने रहते है उनमें से कितनों का ही भीतरी जीवन कैसा पतित होता है। यह नाटक प्रकाशित होते ही 'अश्लील' बतलाकर जब्त करली गई थी। पर सन् १९२४ में इस पर से निषेधता हटाली गई और अब इसे अश्लील के बजाय सच्चरित्रता की शिक्षा देने वाला माना जाता है। इनकी मुख्य शिक्षा यही है कि—मनुष्य जैसा विश्वास रखता हो वैसा ही जीवन उसे व्यतीत करना चाहिए। दुरंगा व्यक्तित्व रखना नीचता का लक्षण है।

बर्नार्डशा आरम्भ से ही पक्के शाकाहारी थे और उन्होंने शराब और सिगरेट का भी कभी उपयोग नहीं किया। सन् १८८४ से ही वे साम्यवादी बन गये और मजदूरों की सभा में भाषण देने लगे। धीरे-धीरे वक्तृत्वकला मे उन्होंने इतनी प्रगति की कि लोग टिकट के लिये रुपया खर्च करके बहुत बड़ी सख्या में उनका भाषण सुनने आते थे।

उनके धार्मिक-विचार पूर्ण स्वतन्त्र थे और उनके लेखों को पढ़कर अनेक लोग उनको अनीश्वरवादी मानते है। उन्होंने एक नाटक मे किसी पात्र के मुख से कहलवाया है कि क्या तुम यह कह सकते हो कि ईश्वर ने हमको बिना किसी कारण के बनाया है—मै तो यह जानता हूँ कि ईश्वर ने मुझे इसलिये बनाया कि उसे मेरी आवश्यकता थी। इस तरह के उद्‌गार ईसाई-धर्म के अनुयाइयों की निगाह में नास्तिकतापूर्ण हो सकते हैं क्योंकि वे ईश्वर को एक व्यक्ति की तरह समझते है। पर हिन्दु-शास्त्रो के वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार इसमे ऐसी कोई बात नहीं जान पड़ती।

बर्नार्डशा आजीवन अन्याय के विरोध मे अपनी आवाज उठाते रहे, यद्यपि उनकी व्यंग्यपूर्ण-शैली के कारण लोग अनेक बार उनके कथन का अर्थ कुछ का कुछ समझ लेते थे। महात्मागांधी की हत्या का [illegible]

कहा था—"दुनिया में बहुत भला होना भी ठीक नहीं है !" वे प्रजातन्त्र के वर्तमानरूप को ठीक नहीं मानते थे और सोवियत-रूस की शासन पद्धति का उन्होंने खण्डन किया है, यद्यपि वे एक साम्यवादी थे और इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। वास्तव में वे एक निरपेक्ष-व्यक्ति थे जो उचित जान पड़ने पर अपने शत्रु की प्रशंसा भी करने में संकोच नहीं करते थे।

नई-नई राहों का निर्माता—साहित्यकार

चालीसवर्ष की आयु में किसी का दूसरा विवाह सुना और देखा गया होगा पर इस दुनिया मे जार्ज बर्नार्डशा एक ऐसा विलक्षण आदमी था जिसने चालीस पार करने पर ही शादी की और जब लोगों ने इसका कारण पूछा, उन्होंने शान के साथ बताया—"लोग कामवासना के लिये शादी करते हैं, कुछ लोग धन के लिये शादी करते हैं। शादी हुई और बच्चों ने संख्या बढ़ाई, मुझे यह कुछ पसन्द नहीं लगता था। मैं समझता हूँ मनुष्य के लिये जीवन-पथ पर एक ऐसे साथी की आवश्यकता होती है जो किसी भी परिस्थिति मे अपने शरीर की तरह साथ दे सके। जब तक उसकी आवश्यकता न पड़ी शादी न की पर जब मित्र और सहचर आवश्यक हो गया तब शादी की। आप विश्वास कर लेगे कि चालीस के बाद किसी को काम-वासना कम सताती है और तब तक पैसे की दृष्टि से भी मे खुशहाल हो गया था इसलिये वह भी कारण नहीं बन सकता।"

मनुष्य को भगवान् ने बहुत कुछ दिया है। बुद्धि तो इतनी दी है कि वह संसार के सम्पूर्ण प्राणियो का शिरोमणि हो गया अन्यथा यदि किसी अन्य ग्रह में बैठा हुआ प्राणी उसे भी एक जानवर समझता होगा। बुद्धि पाकर भी मनुष्य एक गलती सदैव दुहराता रहता है और वह यह कि उसे जिस पथ पर चलने का अभ्यास हो गया है उसी पर चलता रहना चाहता है। रास्ते न बदलने से जीवन के अनेक महत्वपूर्ण पहलू उपेक्षित पड़े रहते हैं। भारतीय-तत्वज्ञान और दर्शन का प्रादुर्भाव सच पूछा जाय तो जीवन की उल्टी धाराओं का अभ्यास करके ही हुआ है। सैकड़ो लोगों ने सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ नये पथ विनिर्मित कर उनका अभ्यास किया तो तत्वज्ञान का एक विशाल भाण्डागार उपलब्ध हो गया। ऐसे ही लोगों के अभाव के कारण अब नये जीवन की नई दिशाएँ अशोधित और अछूती पड़ी हैं।

धनी, धन का मोह छोड़कर दो मिनट त्याग और निर्धनता का जीवन बिताने के लिये तैयार नहीं, नेता भीड़ पसन्द करता है वह दो क्षण एकान्त चिन्तन के लिये निकालने का समय आने नही देता। डाक्टर व्यवसाय करता है ऐसा कुछ नहीं कि सेवा का सुख भी देखे। पैसे को माध्यम न बनाये। व्यापारी बेईमानी करते है कोई ऐसा प्रयोग नहीं करते कि देखें ईमानदारी से भी क्या मनुष्य सम्पन्न और सुखी हो सकता है। जीवन में विपरीत और कष्टकर परिस्थितियो से भी गुजरने का अभ्यास मनुष्य जीवन मे बना रहा होता तो अध्यात्म और भौतिकता में पति-पत्नी जैसा सन्तुलन बना रहता। अर्थात् मनुष्य अपने लौकिक और परमार्थिक-लक्ष्य को पूरा करता रहता।

हमें नहीं मालूम कि जार्ज बर्नार्डशा ने अपने इस उद्देश्य में कितनी सफलता पाई किन्तु उन्हें जीवन में नव-पथ पर चलने की आदत थी और उसी के कारण एक व्यापारी के साधारण पुत्र ने साहित्यिक-जगत् का उच्च सम्मान पाया। उन्हें लोग रहस्यवादी व्यक्ति कहा करते थे और वे अपने को एक बच्चे की तरह ही प्रकृति का सरल, सीधा-सादा चितेरा समझते रहे।

जीवन मे अन्यतम सफलताएँ पाने के बावजूद भी उन्होंने अपने कुटुम्बियो से कहा—देखो भाई, मेरे दरगाह पर ऐसा कुछ न लिखना जिसे मेरी आत्मा स्वीकार न करती हो, यदि कुछ लिखना ही हो तो सीधे-सीधे लिख देना—"यहाँ गाड़ा गया है बर्नार्डशा न जाने वह बेचारा कौन था।" यही लिखा भी गया था। बर्नार्डशा कहते थे—"मैंने अपने हाड़-माँस के शरीर को जाना किन्तु यह न पहचाना कि मेरे पावो को स्पन्दन और हृदय को हलचल देने वाला कौन है। जब मैं उसे नहीं जान पाया तो फिर प्रशंसा किसकी लिखाऊँ ? शरीर की। ऐसा करके मैं अपनी समूची मनुष्यजाति को झूठा नहीं बनाऊँगा।"

हमारे पूर्वजों का भी यही उद्देश्य था कि व्यक्ति गुणो के साथ दोषमय भी हो सकता है इसलिये उसकी पूजा करना या गुणानुवाद गाना न उचित है न अच्छा। यदि कुछ पूजा और सम्मान का अधिकार है तो उसके सद्विचार और सत्कर्मों को ही हो सकता है जिसके द्वारा सारी सृष्टि का कल्याण होता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्यक्ष किसी का भला हो। अच्छे विचार कभी नष्ट नहीं होते वे लोगों को अदृश्य रूप से भी प्रेरणाये देते रहते हैं और लोगो का हित किया करते हैं।

बर्नार्डशा भी ठीक ऐसी ही प्रकृति के थे। यूरोप में माँसाहार का प्रचलन वैसे ही है जैसे भारतीयों में रोटी और दाल का साधारण आहार। पर बर्नार्डशा ने कभी माँस नहीं खाया। एक भोज में तो उन्हे चुपचाप माँस खिला देने का कुचक्र रचा गया तो बर्नार्डशा भोज से ही उठकर चले आये। इसी तरह उस पाश्चात्य-जीवन में भी उन्होंने अपने आपको शराब, सुन्दरी और अभक्ष्य से बचाकर रखा और यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य बुरी से बुरी स्थिति मे भी अपने आप को शुद्ध और निष्कलुष बनाये रख सकता है, शर्त यह है कि वह अपने सिद्धान्त के प्रति पूर्ण निष्ठावान् हो।

जहाँ छोटे-छोटे लोग भी अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं अपना नाम और जीवन-चरित छपा हुआ देखकर प्रसन्न होते हैं वहाँ भी बर्नार्डशा ने अपनी परम्परा न्यारी ही रखी। उन्होंने अपने एक निबन्ध में इस बात को यों साफ किया—आत्म-कथा प्रेरक और कलात्मक होनी चाहिए पर मेरे जीवन मे वैसा कुछ नहीं है। मैंने किसी की हत्या की नहीं,

किसी से बैर बढ़ाया नहीं, नारी के पीछे पड़ा नहीं, न कोई ऐसी घटना मेरे जीवन मे घटी जिसे पढ़कर लोगो को रोमांच हो । जो कुछ देने की वस्तु थी-विचार वह मैने पुस्तको मे लिख दिया । मैने नाटको में जीवन के अनुकरणीय पहलुओं को उतारकर रख दिया । जो सुनाने योग्य था सुना दिया गया फिर आत्म-कथा लिखकर लोगो को क्या पढ़ाऊँ ?

बर्नार्डशा ने यश से अपने को सदैव बचाया तभी वे जीवन मे उतना स्वाध्याय और चिन्तन कर सके । तुलसीदास का "मान ते ज्ञान नष्ट होता है" उक्ति को बर्नार्डशा ने सही तौर पर अपने जीवन मे उतारा और लोग साधन और सुविधाएँ होते हुए भी कोई उल्लेखनीय उन्नति इसीलिए नहीं कर पाते कि उन्हे काम की कम नामवरी की चिन्ता पहले होने लगती है और बस बौद्धिक विकास की साधना वही ठप्प पड़ जाती है । व्यर्थ के तानो-बानों मे जीवन बीतकर नष्ट हो जाता है । लोकेषणा से बचकर ही बर्नार्डशा अपने जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग कर सके ।

लोग उन्हे विलक्षण और रहस्यवादी व्यक्ति कहा करते थे परन्तु बर्नार्डशा बिलकुल साफ व्यक्ति थे । बहुचर्चा का यदि कुछ कारण था तो यही कि उन्होने कभी भी लकीर का फकीर बनना पसन्द नहीं किया । हर पग को एक नये पन्थ का साधक बनाया । बाल्यावस्था मे स्कूल मे उन्हे अक्षर-ज्ञान दिया जाता था पर वे प्रश्न पूछते थे आत्मासम्बन्धी । मास्टर उन्हें झिड़क देते थे इसलिये बर्नार्डशा को कहना ही पड़ा कि "मै स्कूल मे पढ़कर गया था और सब कुछ भूलकर उससे निकला ।" उनका आशय यह था कि मुझे वह शिक्षा दी जानी चाहिए थी जिससे आत्मा के रहस्य ढूँढे जाते है पर मुझे शाब्दिक-ज्ञान मे ही फँसकर रख दिया गया । भोजन के मामले मे पहले बता चुके है उसने अपने घर मे भी किसी से समझौता नही किया । नौकर-चाकर लोगो को बहुत पसन्द आते है पर बर्नार्डशा ने कहा मुझे आत्म-निर्भर बनना चाहिए । परमात्मा ने यदि नौकर की आवश्यकता समझी होती तो कुछ आदमियो के कई हाथ बनाता और कुछ के हाथ-पाँव ही न बनाता जिससे उनकी सेवा की जा सकती । समान-साधन देने का यही उद्देश्य है कि अपना काम मनुष्य को स्वयं करना चाहिए ।

जार्ज बर्नार्डशा ने एक बार पिता को शराब पीते देखा तो—टोका ! पिताजी शराब पीकर पागल नहीं बनते । पिता ने डाँट दिया तो उसने माँ से शिकायत की । माँ विवश रही पर बर्नार्डशा उसका सदैव विरोध करते रहे । जार्ज को घूमने के लिये सदैव गरीबों की बस्ती मे जाना पड़ता था । लोग गरीबो पर दया किया करते है पर बर्नार्डशा ने हमेशा एक ही बात कही—'मनुष्य अपनी दुर्बलता के कारण दीन और दरिद्र बनता है । अपनी भूल का दण्ड यदि वह भुगतता है तो दूसरा उसके प्रति दयालु क्यों हो ? यदि दयालु होना ही है तो सबसे अच्छी बात यह है कि उसे मानवीय दुर्गुणों को छोड़ने को कहा ।"

अपने सम्बन्ध मे वह वैसे ही आशान्वित और दृढ़निश्चयी थे । वह लेख लिखते थे पर इस दृष्टि से नहीं कि उससे कुछ पैसा मिलेगा । वह विशुद्ध विचार-सेवा की दृष्टि से ही लिखते थे । प्रारम्भ के नौ वर्षों में उन्हे लेखन कार्य पर कुल ६ पौण्ड मिले थे तो भी बर्नार्डशा ने अपने जीवन की स्वाभाविक मस्ती को नहीं छोड़ा । "६ पौण्ड मे कैसे रहा जा सकता है" नाम की एक पुस्तक खरीद ली थी और उसका उन्होने पूरा-पूरा लाभ उठाया । कम खर्च की जिन्दगी और साधन न बढ़ाने के कारण उन्हे अध्ययन के लिये पर्याप्त समय मिल गया और उसी का यह परिणाम था कि उनके विचारों मे शनैः-शनैः प्रौढ़ता और प्रखरता उतरती गई और लोग बढ़िया परिष्कृत-साहित्य बर्नार्डशा से प्राप्त कर सके ।

बर्नार्डशा ने यद्यपि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विपरीत पथ का रसास्वादन किया था । कई बार उसे विन्स्टन-चर्चिल और फ्रेंक-हैरिस तक की आलोचना करनी पड़ी । परन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके विचारो मे सब उल्टा ही उल्टा था । बर्नार्डशा ने जिन विपरीत परिस्थितियों का आस्वादन किया वह सत्य के प्रति आग्रह था । पाश्चात्य देशो मे प्रचलित समाजवाद का वे पूर्ण समर्थन करते थे और मार्क्स के विस्तृत अध्ययन के बाद भी उन्होने साम्यवाद का कभी समर्थन नहीं किया । क्योंकि साम्यवाद का सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से नैतिक नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति के श्रम, पौरुष और उद्योग की शक्तियाँ अलग-अलग है और उसी अनुपात मे उसे यदि पारिश्रमिक दिया जाता है तो उसमे अनुचित कुछ भी नहीं है । इसलिये साम्यवाद कभी सार्थक-सिद्धान्त नही हो सकता है । उसकी आध्यात्मिक रूप-रेखा भले ही समर्थन के योग्य हो ।

जन्म से मृत्यु तक नये-नये आदर्शों के स्तम्भ गाड़ने वाले बर्नार्डशा ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलताएँ ही पाईं । संघर्षों से घिस-घिस कर उनकी शक्तियाँ उद्दीप्त ही हुईं, कुण्ठित नहीं । बौद्धिक-दृष्टि से, विचार की दृष्टि से, यश और आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से भी वह कभी जीवन मे दुःखी और अभावग्रस्त नहीं रहे । दु:ख तो भावों की अधोगामी स्थित है । उससे वह विपन्नता मे भी बचे रहे और अन्त मे शाकाहार की उपयोगिता सिद्ध करते हुए उन्होंने यह दिखा दिया कि स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवन की दृष्टि से भी माँसाहार कभी उपयुक्त नहीं । उनका निधन २ नवम्बर, १९५० ई. में ९४ वर्ष की आयु में हुआ । जीवन के ९४ बसन्त देखकर वे विदा हुए ।

बर्नार्डशा भीतर से भारतीय जीवन की आत्मा थे । जन्म से आयरिश रहे तो उससे क्या बनता बिगड़ता है ।

सरस्वती के अनन्य सेवक— आचार्य रघुवीर

पंजाब के विश्वद्यालय से एम.ए. पास करने के बाद वे इंग्लैंड गये। लन्दन-विश्वविद्यालय से पी. एच्‌-डी. की उपाधि ग्रहण की। रायल-विश्वविद्यालय लिट्रेचर से डी. लिट कर स्वदेश लौटे। अँग्रेजी के प्रकाण्ड विद्वान् और इंग्लैंड में रहकर भी जिनकी वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार में नाममात्र की भी विदेशियत न थी—वे थे राष्ट्र-भाषा-हिन्दी के अनन्य-शिल्पी, भारतीय-संस्कृति के अनन्य-उपासक आचार्य रघुवीर। अपने जीवनकाल में ४ लाख नये शब्दों की रचना कर हिन्दी को समृद्ध करने का गौरवशाली कार्य उन्होंने पूरा किया। इस महान् देन को देश भला क्या भूलेगा !

विपरीत परिस्थितियों मे शिक्षा-सहवास के बावजूद भी आचार्य रघुवीर के जीवन को विदेशीपन छू नहीं गया था, जबकि इस युग मे अल्प-शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों का रहन-सहन, आचार-विचार पूर्णतया विदेशी-प्रभाव ग्रहण कर लेता है। इसके पीछे कोई बड़ा रहस्य नहीं, संस्कारो की नींव परिपुष्ट करने वाला उनका कौटुम्बिक जीवन है। माता-पिता की अगाध संस्कृतिनिष्ठा की अमरछाप थी, जो अँग्रेजी-विचार-धारा की कठोर आँधी में भी उन्हें हिमालय की तरह सुदृढ़ और स्थिर बनाये रख सकी।

आचार्य रघुवीर का जन्म सन् १९०२ मे रावलपिंडी मे हुआ था। माँ विचार और व्यवहार दोनों से आदर्श हिन्दू-नारी थी। पिता मुन्शीराम अध्यापक थे। दोनो की ही ज्ञानार्जन में अपूर्व निष्ठा थी। सदाचारी, राष्ट्रसेवी एवं परोपकारी दम्पति के मन में अपनी प्राचीन परम्पराओ के प्रति अविरल श्रद्धा थी। ईश्वर-आराधना के साथ-साथ पर्व और त्यौहारों पर विशेष सास्कृतिक आयोजन रखे जाते थे। उनमें बालकों को शीर्षगामी रखा जाता था, शिक्षाएँ दी जाती थीं। घरेलू वातावरण स्वच्छ और सुवासित किया जाता था तो उनके वस्त्र और शरीर भी साफ-सुथरे रहते थे। इन संस्कारों ने ही बालक रघुवीर के अन्तःकरण मे भारतीय-सस्कृति के प्रति अपार-प्रेम भर दिया था। उन्होने एक बार कहा था—"मुझे सौ जन्म लेने पड़े तो मैं हिन्दू होना चाहूँगा, भारतीय-संस्कृति जैसी पवित्रता, उज्ज्वलता और निश्छलता अन्य धर्मों में नहीं है।"

सब कुछ होते हुए भी आचार्य रघुवीर अनुभव करते थे कि हमारी संस्कृति मे तथा धर्म मे कुछ अभाव हैं। भले ही वे अभाव परिस्थितिजन्य, दीर्घकालीन दासता, अशिक्षा और इतिहास बदल दिये जाने के कारण उत्पन्न हुए हो पर यह निश्चित है कि उन कमियों को पूरा करने में समय लगेगा और उसके लिए वर्तमान पीढ़ी को विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। सच्चे मार्गदर्शन की आवश्यकता अनुभव हुई थी, इसके लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। भले ही वे सम्पूर्ण क्षमता प्राप्त न कर सके हों पर भारतीय-आदर्शों के प्रारम्भिक श्रीगणेश का प्रयास भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि बी.ए. के विद्यार्थी का कक्षा अ में क ख ग सीखना अनिवार्य होता है।

आचार्य रघुवीर ने योरोप और एशियाई देशो का कई बार भ्रमण केवल इसी दृष्टि से किया कि हमारी जो दुर्लभ उपलब्धियाँ वहाँ चली गई हैं, उन्हे लाया जा सके साथ ही विदेशी सभ्यता और संस्कृति में जो आदर्श और यथार्थवादी तत्त्व है, उनका ज्ञान प्राप्त कर भारतीय-संस्कृति में समावेश किया जा सके। अनेक ग्रन्थ जो भारतवर्ष में लुप्त हो चुके, उन्हें योरोप और एशिया से लाकर उनका अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन का बड़ा भारी कार्य, जो कोई बड़ी संस्था भी नहीं कर सकती थी, उतना आपने अकेले किया।

महत्वपूर्ण कार्य बड़े परिश्रम से सम्पन्न होते हैं। कोई सहयोगी न हो तो वह कार्य भी एक समस्या बन जाता है। विद्या-ज्ञानार्जन के ऐसे तपस्वी जब हमारे देश मे रहे तब तक पांडित्य-जीवित रहा और उसने लालित्य की रक्षा की। उसकी मृत्यु हो जाने से ही भारतीय संस्कृति के महान् आदर्श और उदात्तताएँ भी सुखी और सन्तुष्ट जीवन की रक्षा नहीं कर सकीं। अब तो विद्याध्ययन की रुचि का और भी अभाव हो गया है। १ घन्टे पढ़ने वाला व्यक्ति भी अपने आपको पठनशील कहलाने का बड़प्पन पाना चाहता है। पर यह थे आचार्य रघुवीर कि ५५ वर्ष की आयु मे भी प्रतिदिन १६ से लेकर २० घन्टे तक स्वाध्याय, लेखन और सम्पादन का कार्य करते थे। न उन्हे भूख परेशान करती थी, न सिर दर्द होता था। धूप और शीत की चिन्ता की हो ऐसा कोई समय नहीं आया। उनका एक लक्ष्य था कि भारतीय-संस्कृति का उत्थान और विकास हो, उसके लिये वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। पाण्डित्य के आर्ष उत्तरदायित्व और उसके माध्यम से विश्व-कल्याण की परम्परा का श्रीगणेश आपने किया। वर्तमान पीढ़ी उस अधूरे कार्य को किस तरह आगे बढ़ाती और पूरा करती है, यह जानने के लिए आचार्य जी का जीवन-क्रम बारीकी से देखना होगा।

विद्वान् होकर भी डॉ. रघुवीर ने अपने विचारों को जटिल नहीं बनाया। आज के युग में यह भी एक बड़ी बुराई है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के दम्भ ने विचारों, विशेषकर हिन्दू-दर्शन को इतना जटिल बना दिया है कि अपने ही लोग उसे समझ नहीं पा रहे है। चमत्कारवाद, भाग्यवाद, अन्ध-विश्वास ये सब बुराइयाँ उसी जटिलता की देन हैं अन्यथा भारतीय-दर्शन अत्यन्त सरल, सुखप्रद और पूर्ण वैज्ञानिक है। आचार्य रघुवीर इन सत्यों का प्रसार अनवरत करते रहे, वाणी से भी और लेखनी से भी।

डॉ. रघुवीर इन तथ्यों को मानते थे इसीलिए उन्होने सन् १९०६ मे 'सरस्वती-विहार' की स्थापना की थी। उनकी कार्य-शैली अपने ढंग की, उतनी ही महत्वपूर्ण थी। डॉ. साहब कहते थे—"देश में दो प्रतिशत अँग्रेजी बोलने वाले है, उनके हित के लिए शेष ९८ प्रतिशत की भावनाओं को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।" इस कथन और हिन्दी को

उसका स्थान दिलाने लिए उन्होंने बड़े प्रयास किये, मौखिक नहीं, सृजनात्मक। हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों की कमी दूर करने के लिए नये शब्द गढ़ने का संकल्प किया। ४ लाख शब्द पूरे भी कर दिये थे। १४ मई, १९६३ की कार दुर्घटना में मृत्यु न हो गई होती तो वह अपना संकल्प पूरा भी कर लेते पर यही देन कुछ कम नहीं और जो बची है उसे आने वाली पीढ़ी और भविष्य पूरा करेगा। सत्संकल्प कभी अधूरे नहीं रहते।

हिन्दी को शीर्ष स्थान देने का मन्तव्य अन्य प्रादेशिक भाषाओं की उपेक्षा न था। दिल्ली मे 'सर्वभाषा-सम्मेलन' आयोजित करने का श्रेय उन्हें ही है। मराठी-भाषी काका कालेलकर ने उसकी अध्यक्षता की थी। आपने प्रतिपक्षी व्यक्तियों को यह सिद्ध कर दिखाया कि उत्तर से दक्षिण, पूरब से पश्चिम सम्पूर्ण-भारत एक सांस्कृतिक सूत्र में बँधा है। इस सम्बंध को सुदृढ़ करने वाली भाषा-हिन्दी ही हो सकती है, अँग्रेजी की तरह के शब्द यदि हमारी हिन्दी में नहीं है तो यह भी सच है कि हमारे आध्यात्मिक-तत्वों की जानकारी देने वाली जो शब्दावली हिन्दी में सरलता से उपलब्ध हो सकती है वह अँग्रेजी तो क्या, सारे ससार की भाषाओं में नहीं है। इसलिए राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने के लिए हिन्दी को उसका स्थान मिलना ही चाहिए।

उन्हें किसी प्रादेशिक भाषा से घृणा न थी, वह सभी को समान प्यार करते थे और सबको सस्कृत की बेटी हिन्दी की बहिन सरीखी मानते थे। स्वयं ने संस्कृत और हिन्दी के अतिरिक्त फारसी, बँगला, पंजाबी आदि भाषाओ का ज्ञान प्राप्त किया था। दक्षिणी भाषाएँ भी पढ़ा करते थे।

'सरस्वती-विहार' के माध्यम से भारतीय-संस्कृति की रक्षा, विकास और प्रसार, हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों की रचना, हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो, अँग्रेजी हटाई जाये—जीवन के ये तीन उद्देश्य थे। यद्यपि तीनो अपूर्ण है पर वह अपनी निष्ठा के बल पर तीनों उद्देश्यो को खींचकर एक तिहाई मन्जिल तक ले आये है शेष दो तिहाई पूरा करना अब हमारा कर्त्तव्य है।

आशा है हर भारतीय आचार्यजी की भावनाओ को समझेगा और उन्हे पूरा करने मे सहयोग देगा जिससे उनकी आत्मा को अपार शान्ति मिलेगी।

मानव-प्रगति के संदेशवाहक—डार्बिन

अब से लगभग १०० वर्ष पहले योरोप मे बड़ा धार्मिक अन्धविश्वास फैला हुआ था। धार्मिक ही नहीं, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रो में भी धर्मगुरुओं पादरियों का बड़ा प्रभाव था और यदि वे किसी के मुख से बाइबिल के प्रतिपादित सिद्धान्तो के विरुद्ध एक शब्द भी सुन लेते थे तो उसके प्राणों के ग्राहक बन जाते थे। ऐसे ही लोगो ने कुछ समय पहले इटली में गेलीलियो को जेल मे सड़ाया और अन्य कितने ही लोगों को फाँसी पर चढ़ा दिया था। बाद में जनता के जाग्रत हो जाने पर इनकी राजनीतिक-शक्ति में तो कमी आ गई पर तो भी वे सब प्रकार के सुधारकों व नवीन विचार प्रकट करने वालों को अनेक प्रकार से अपमानित और तंग करने का प्रयत्न किया ही करते थे।

बाइबिल का सिद्धान्त है कि इस जगत को ईश्वर ने जैसा यह दिखाई देता है, इसी रूप में सात दिन के अन्दर गढ़ कर रख दिया है। अर्थात् इसमें जितने देश, जातियाँ, जीव-जन्तु, मनुष्य पाये जाते है—सबकी भगवान् ने सृष्टि-रचना जैसी की वैसी ही चली आती है।

पर अब शिक्षा का प्रसार हुआ और तरह-तरह की वैज्ञानिक खोजें होने लगीं तो मनुष्य का यह विश्वास हिलने लगा। उन्होंने देखा कि जगत् परिवर्तनशील है और इसमें सदा नये-नये बदलाव होते ही रहते है। ऐसे नये तथ्यों का पता चलता रहता है जिनके सम्बन्ध मे अभी तक किसी को कुछ भी ज्ञान न था। इस प्रकार की खोजो मे से अनेक ऐसी क्रान्तिकारी और हलचल मचाने वाली होती हैं कि उनसे लोगों के परम्परागत विचारों को धक्का लगता है, तो सत्य होने पर भी उनका विरोध होने लगता है और खोजकर्ता के लोग शत्रु बन जाते है। डार्बिन द्वारा खोजा गया 'विकासवाद' का सिद्धान्त एक ऐसा ही तथ्य था, जिसके प्रगट होते ही सभ्य जगत् में एक खलबली उत्पन्न हो गई और ईसाई-धर्म के अगुआ तो एकदम बौखला गये।

डार्बिन का जन्म १८०९ मे इंग्लैंड के मुख्वरी कस्बे मे मध्यवृत्ति परिवार मे हुआ था। संयोग से इसी दिन अमरीका में अब्राहमलिंकन का भी जन्म हुआ था और आलोचकों का यह कथन सोलह आने यथार्थ है कि "यदि लिंकन ने मनुष्य के शरीर को श्रम-दासता से मुक्त किया तो डार्बिन ने उसको मस्तिष्क के अज्ञान की दासता से छुटकारा दिलाया।"

बचपन मे डार्बिन पढ़ने-लिखने मे बहुत पिछड़े हुए थे और अधिक समय खेल-कूद मे लगाते थे। उसी आयु में उसे तरह-तरह के रंगीन पत्थर, सिक्के, कीट-पतंग एकत्र करने का शौक लग गया था। इस प्रकार की प्रवृत्तियों के कारण वह स्कूल में पढ़ाये जाने वाले पाठो को बहुत कम याद कर पाते थे, जिससे असंतुष्ट होकर वहाँ के हैडमास्टर ने उन्हें निकाल दिया था।

इसके बाद उनके पिता ने जो स्वयं एक डाक्टर था, इसे चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने एडिनबरा भेज दिया। परन्तु इस पढ़ाई मे भी उनका मन न लगा और दो साल का समय बर्बाद हो गया। फिर उसे कैम्ब्रिज नगर में धर्मोपदेशकों के विद्यालय मे दाखिल कराया गया। परन्तु, वहाँ वह अधिकांश समय खोजबीन की दिशा में ही लगाता रहता था। वे प्रकृति के रहस्यो तथा मानवीय-ज्ञान की यथार्थता खोजना चाहते थे। दूसरों की तरह आजीविका के

लिये शिक्षा उनका उद्देश्य न था, वे तो ज्ञान के शोधकर्ता का गौरवपूर्ण पद पाने के लालायित थे।

इन्हीं दिनो उनका परिचय हेसलो नामक प्रोफेसर से हो गया और उसकी प्रेरणा से डार्बिन की रुचि भूगर्भ विज्ञान में हो गई। हेसलो ने ही उनका सम्पर्क एक वैज्ञानिक खोज दल (एक्सपेडीसन) से करा दिया जो बीगल नामक जहाज मे दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि मे भौगोलिक और प्राकृतिक पर्यवेक्षण के लिए जा रहा था। डार्बिन को इस जहाज पर अवैतनिक प्रकृतिवेत्ता के रूप में नियुक्त कर दिया गया।

इस पञ्चवर्षीय खोज यात्रा मे डार्बिन को जो अनुभव हुए उससे उनके जीवन की गतिविधि बदल गई। सबसे पहले तो उसने दक्षिण अमरीका में गुलामों की दुर्दशा देखी जिससे उसके मानवतावादी हृदय को बड़ा आघात लगा। उसने इस हृदय-हीन प्रथा का जिक्र करते हुए लिखा था—"जो दासों के स्वामियों की प्रशंसा करते हैं और दासों को नीच दृष्टि से देखते हैं, वे कुछ देर को, अपने को दासो की स्थिति मे रखकर विचार करें। जरा कल्पना कीजिए कि आपकी भी स्त्री है, बाल-बच्चे है और आपको किसी के हाथ बेचकर उनसे सदा के लिये अलग कर दिया जाय तो आपके मन पर कैसी गुजरेगी? दासों के साथ यही व्यवहार निरन्तर किया जाता है और यह घृणित कार्य उन लोगों द्वारा किया जाता है जो धर्म का नाम लेकर दूसरो को अपने पड़ोसियों से प्रेम करने की शिक्षा देते हैं, जो ईश्वर में विश्वास रखते हैं और उससे प्रार्थना किया करते हैं कि पृथ्वी पर उनकी कृपा बनी रहे।"

दूसरा अनुभव था —पृथ्वी की बनावट मे विभिन्न युगों की शिलाओं मे पाये जाने वाले मृत प्राणियो के शिलीभूत पञ्जरों का निरीक्षण। डार्बिन ने देखा कि पुरानी शिलाओ मे बहुत साधारण तरह के जीव पाये जाते हैं, जबकि उसके बाद की शिलाओ में क्रम से विकसित होते हुए नये-नये जीवो के नमूने मिलते हैं इससे यह निष्कर्ष निकला कि इस समय दुनिया में जितनी तरह की जीव-जातियाँ मिलती हैं उन सबकी उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई है, वरन् आरम्भ मे थोड़े से साधारण बनावट के जीवों का ही आविर्भाव हुआ था और उसके बाद प्राकृतिक-परिवर्तन के प्रभाव से उनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होता रहा और नई-नई तरह के प्राणी उत्पन्न होते चले गये। यही कारण है कि एक युग की शिलाओ मे जैसे जीवो के कंकाल यन्त्रो से दिखाई देते हैं दूसरे युग की शिलाओं मे उनके बदले हुए शरीर और अगो वाले जीवो के ककाल मिलते हैं।

इन तथ्यों का बीससाल तक मनन करके सन् १८५८ में डार्बिन ने जीवों की उत्पत्ति (ओरिजिन ऑफ स्पेसीज) नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया जिसमें बताया गया कि दुनिया में सभी पदार्थ, प्राणियो और मनुष्यो का भी निरन्तर विकास होता रहता है जिससे कुछ हजार या लाखों वर्षों में रूप-रंग, आकार और स्वभावों में भी बहुत अन्तर पड़ जाता है और एक नई तरह के जीवों का आविर्भाव हो जाता है। यही 'विकासवाद' का बहुचर्चित सिद्धान्त माना गया है।

यह सिद्धान्त बाइबिल के एक ही समय में ईश्वर द्वारा समस्त जीवों और मनुष्य की सृष्टि किये जाने के मत का खण्डन करता था। इसे पुरोहित वर्ग इसके बहुत विरुद्ध हो गया और इंग्लैण्ड के मुख्य पादरी विशप सिलवर ने घोषणा की—यह शिक्षा धार्मिक रचनाओं और दैवी अभिव्यक्तियों के विरुद्ध है, यह विधाता का खंडन करती है। इसके परिणामस्वरूप पादरी-वर्ग डार्बिन का विरोधी रहा और कहा जाता है कि उसकी मृत्यु (१८८२) होने पर कोई पादरी उसका धार्मिक कृत्य कराने नहीं आया। इस तरह से डार्बिन को अपनी ज्ञान-चर्चा का वही परिणाम भोगना पड़ा जैसे हमारे देश मे विवाह, छुआछूत की प्रथा को तोड़ने वाले किसी सुधारक को बहिष्कृत होने पर सहन करना पड़ता है।

कुछ भी हो डार्बिन मनुष्य-जाति को एक ऐसा प्रेरणादायक सिद्धांत बता गए हैं, जिसका अनुसरण करके सृष्टि-रचना तथा मानव-जाति के उद्भव का रहस्य बहुत कुछ दृष्टिगत हो जाता है और मनुष्य भविष्य मे और भी अधिक उन्नति करके देवोपमस्थित को प्राप्त करने को सचेष्ट हो सकता है।

ऊँच-नीच की भावनाओं के विरोधी—महाकवि कम्बन

कवि और साहित्यिकों का कर्त्तव्य मनुष्यो को सत्प्रवृत्तियों की प्रेरणा देना है। प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्य एक पशु ही है। खाने-पीने, सोने, मलत्याग, प्रजनन की आवश्यकताएँ मनुष्य में अधिकांश मे पशुओ से मिलती-जुलती ही हैं। अन्तर तभी पैदा होता है जब विद्या, शिक्षा, साहित्य, कला आदि के सम्पर्क में आकर वह विवेक-बुद्धि का अधिष्ठाता बन जाता है। इसी से उसके विचारो का परिष्कार होता है, उदात्त-भावनाओं का जन्म होता है और वह समाजोपयोगी कार्य करने में समर्थ बनता है। इसलिये जो विद्वान् अपने ज्ञान-भण्डार और परिश्रमपूर्वक अर्जित किये अनुभव को जन-साधारण के हितार्थ प्रस्तुत करते हैं वे वास्तव में समाज के बहुत बड़े हितकारी हैं।

सद्गुणों और सत्कार्यों की प्रशंसा पढ़कर मनुष्य का चित्त उनकी तरफ आकर्षित होता है और वह भी उनकी अनुकरण करके वैसा ही यश और प्रसंशा प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगता है। इस प्रकार सत्कर्मों की शृंखला आगे बढ़ती है और समाज अधिक सुसंस्कृत बनता जाता है। इस तरह सत्साहित्य-निर्माण और समाजोत्थान का घनिष्ट सम्बन्ध है। इसके विपरीत जो लोग साहित्य के नाम पर अश्लीलता, भ्रष्टाचार, अन्याय आदि की दूषित-वृत्तियों को बढ़ावा देते हैं वे समाज को नीचे गिराने वाले, उसके शत्रु कहलाने के पात्र होते हैं। अतएव यदि कोई व्यक्ति लेखिनी का आश्रय लेता है, साहित्यकार के पवित्र कार्य को अपनाने

की इच्छा करता है, तो उसका धर्म एवं कर्तव्य है कि वह 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का ही उपासक बने, जन-समुदाय को मंगलमय मार्ग की ही प्रेरणा दे ।

तामिल-भाषा के महाकवि 'कंबन' (जन्म १२०० के लगभग) इसी तथ्य के उदाहरण थे । उनका जन्म दक्षिण भारत के चोल-राज्य के तिरुवलुन्दर नामक गाँव में ब्राह्मणवंश मे हुआ था । बहुत छोटी आयु मे ही उनके माता-पिता का देहात हो गया और वे अनाथ होकर इधर-उधर मारे-मारे फिरने लगे ।

उनका रिश्तेदार उनको नल्लूर ग्राम मे ले गया और सडैयप्प बल्लन नामक धनी किसान के घर के पास छोड़ आया । बल्लन ने कुछ समय बाद जब इस अनाथ बालक को अपने दरवाजे पर खड़ा देखा तो बड़ी दया आई और उसे अपने घर रख लिया । बल्लन के तीन पुत्र थे, ये भी उन्हीं के साथ रहने और पढ़ने-लिखने लगे । ये जन्म से ही प्रतिभाशाली थे और शीघ्र ही अनेक ग्रन्थो का अध्ययन करके विद्वान बन गये । उनकी रुचि काव्य-रचना की ओर हुई और मामूली प्रयास से ही वे एक अच्छे कवि बन गये ।

बल्लन उस समय के चोल राजा के दरबार मे जाया करते थे । उन्होंने राजा से कंबन की कविताओं की चर्चा की और गुण-ग्राहक राजा ने उनको बुला लिया । वह उनकी काव्य-शक्ति को देखकर बड़ा खुश हुआ और उसे राजकवि बना दिया । कुछ समय बाद राजा ने कंबन से तमिल-भाषा मे वाल्मीकीय-रामायण की तरह रामचरित्र लिखने का आग्रह किया । कंबन पक्के वैष्णव थे, उन्होंने राजा की सम्मति को सहर्ष स्वीकार किया । रामायण की रचना होने लगी और कुछ साल बाद बारह हजार पदो का सुन्दर ग्रन्थ लिखकर तैयार हो गया । यह ऐसा लोकप्रिय हुआ कि समस्त मद्रास-राज्य मे इसका प्रचार हो गया । जैसे उत्तर-भारत मे तुलसीदास की रामायण घर-घर पढ़ी जाती है उसी तरह दक्षिण-भारत मे 'कम्ब-रामायण' का सर्वत्र सम्मान के साथ पाठ किया जाता है—कथा कही जाती है । यद्यपि उन्होंने और भी कई अच्छे ग्रन्थ लिखे है, पर उनका नाम इसी 'रामायण' के लिए विख्यात है । अपने जीवन-काल में ही उनकी महान् कृति पर मुग्ध होकर उस देश के विद्वानो और महाराजाओ ने उनको 'कवि-सम्राट' की पदवी दे दी थी ।

कंबन की रामायण वाल्मीकीय-रामायण का केवल भाषान्तर ही नहीं है, वरन् उसमे उनकी बहुत मौलिकता भी है । उन्होंने राम-वनवास मे उनके सर्वप्रथम सहायक निषादराजगुह का वर्णन बहुत उच्च और उदात्त रूप मे किया है । यद्यपि उसकी गणना नीची जाति के शूद्रो में की जाती थी, पर कम्बन ने उसको एक स्वाभिमानी और बहादुर सरदार के रूप मे चित्रित किया है । लक्ष्मण का स्वभाव यद्यपि सभी राम-चरित्र के रचयिताओं ने उग्र बताया है पर निषादराज से उन्होंने बड़े प्रेमपूर्वक भेंट की और रामचन्द्रजी से निवेदन किया है—हे विजय सम्पन्न ! माता से भी अधिक स्नेह स्वभाव वाला 'गुह' नाम का व्यक्ति आपसे मिलने आया है।

गुह वास्तव मे रामचन्द्र जी से उसी प्रकार प्यार करता था जैसे माँ बेटे को करती है । वह राम के वनवास के कष्टों को सोचकर बड़ा दुःखी होता था । वह सोचता था कि जो राम अभी तक महलों में इतने आराम से रहते थे वे अकेले जंगल में कैसे निर्वाह कर सकेंगे? यदि रात के समय उनको प्यास लगेगी तो पानी लाकर कौन देगा ? इसी प्रकार की चिन्ता करते-करते वह बड़ी व्यथा का अनुभव करता है । राम के चित्रकूट चले जाने के कुछ समय बाद जब भरत भी उसी रास्ते से चित्रकूट जाने को आये और निषादराज को यह सन्देह हुआ कि कदाचित् वे राम का अनिष्ट करने के उद्देश्य से वहाँ जा रहे है तो वह लड़ने को तैयार हो गया ।

गुह के इस प्रेम का असर राम की माता कौशल्या पर बहुत अधिक पड़ा और वह उसे अत्यन्त स्नेह करने लगीं। जब राम वनवास से लौट कर अयोध्या आये तो उ[न्होंने] कहा—"राम-लक्ष्मण का वन-गमन एक तरह से अच्छा हुआ, क्योंकि इससे उनको गुह जैसा सज्जन मित्र मिल गया। अब तुम सब भाई गुह के साथ इस राज्य का पालन करो"।

इस प्रकार कम्बन ने निषाद जैसी नीच कहलाने वाली जाति के व्यक्ति को ऊँचा उठाकर, उसे राम का प्रिय मित्र बनाकर ऊँची-नीची जाति के मिथ्या अहकार की जड़ पर कुठाराघात किया है । उनके इस काव्यामृत-प्रवाह का पाठक के अन्तर्मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है और वह जाति के बजाय चरित्र की उच्चता के सिद्धान्त का कायल हो जाता है ।

राम-राज्य का वर्णन करते हुए भी कम्बन ने अयो[ध्या] मे समता के दृश्य का चित्र बड़े निराले ढग से खींचा है। वे कहते है—"अयोध्या मे कोई धनी नही था, क्योंकि वहाँ कोई गरीब ही न था । वे अमीर-गरीब के भेद से अनजान थे, क्योंकि सब बराबर थे" फिर कहते है—"अयोध्या में कोई भी पुरुष बलवान नहीं था, क्योंकि उन लोगो का सामना कर सके ऐसा कोई वीर नही था । अतः अयोध्या वाले सब समान बलवान थे, वे कमजोरी का नाम ही न जानते थे ।"

इस तरह कम्बन ने अपनी रचना द्वारा हर तरह से सद्गुणों को अपनाने एवं उनकी वृद्धि की प्रेरणा की है, जो एक सच्चे साहित्यकार का धर्म है । आज आठ-नौ सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी 'कम्बन-रामायण' वैसी ही लोकप्रिय बनी हुई है और उसका प्रचार बढ़ता जाता है, यही उसके महान गुणों और सदाशयता का स्पष्ट प्रमाण है ।

ज्ञान-यज्ञ का होता—न्यूटन

संसार में यों तो असंख्य मनुष्य सदा जन्म लेते और मरते रहते है पर सफल-जीवन उन्हीं का कहा जा सकता है जो समाज की, देश की, संसार की कुछ भलाई कर

जाये। जिसकी सारी आयु खाने, कमाने, सोने और बाल-बच्चे पैदा करने में ही व्यतीत हो गई इसे नाममात्र का ही मनुष्य कहा जा सकता है। हमारे धर्म-शास्त्रों के अनुसार मनुष्य का चोला बड़े भाग्य से मिलता है, यदि इसका सदुपयोग न किया गया, ससार की सेवा, परोपकार, करुणा, उदारता द्वारा मानव-जन्म को सार्थक न बनाया गया तो फिर वही गधे-घोड़े बनकर बोझा ढोना और डन्डे खाने की स्थिति को प्राप्त होना पड़ता है। भगवान ने मनुष्य के लिये यही विधान बनाया है कि या तो सत्कर्म करके उत्थान करो या स्वार्थ-साधन करके नीचे गिरो। एक-सी स्थिति लगातार शायद ही किसी की रह पाती है। यह बात परिवर्तन के नियम के विपरीत भी है।

वर्तमान वैज्ञानिक-युग के अग्रणी (पायोनियर) न्यूटन (जन्म १६२६) प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे। वे इंगलैण्ड के एक सामान्य किसान के घर में पैदा हुए और बचपन में ही पिता का देहान्त हो जाने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा भी ठीक तरह नहीं हो सकी, तो भी अपनी लगन और प्रतिभा के बल से उन्होंने उच्चकोटि का ज्ञान अर्जन किया और उसका उपयोग दूसरो को अज्ञान-अन्धकार में से निकालने के लिए किया था। उनकी मान्यता थी कि विद्या-दान ही सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण दान है। सम्पत्ति या उसके द्वारा दिये जाने वाले दान तो बहुत थोड़े समय तक ही काम देते हैं, पर विद्या और ज्ञान का दान ऐसा है जो दाता और ग्रहीता दोनों का उद्धार कर देता है।

बचपन में न्यूटन गाँव के स्कूल में पढ़ने को बैठाये गये। पर पढ़ने में वे पिछड़े हुए सिद्ध हुए, उनका मन तरह-तरह के खेलने के यन्त्र बनाने में अधिक लगता था। उनके पड़ौस में एक हवा-चक्की थी, उसने भी उसकी नकल पर वैसा ही खिलौना बना दिया। उसने एक जल घड़ी भी बनाई जो ठीक समय दिया करती थी। आगे चलकर वह पढ़ने मे भी परिश्रम करने लगे और उनकी गिनती तेज लड़कों में होने लगी।

पर चौदहवर्ष की अवस्था मे घर की परिस्थिति को देखते हुए उनकी माँ ने उन्हे किसानी का काम सिखाने की व्यवस्था की, जिससे वे जल्दी कमा कर परिवार की सहायता के लायक बन जाये। पर न्यूटन की रुचि विज्ञान की तरफ थी और वे उसके अध्ययन एवं मनन मे सलग्न रहा करते थे।

बाईस वर्ष की आयु में न्यूटन ने कैम्ब्रिज में बी.ए. की परीक्षा दी। उसी वर्ष लन्दन में इतना भयंकर प्लेग फैला कि कुछ ही दिनों मे पचास-साठ हजार व्यक्ति मर गये। यह देखकर कॉलेजो की छुट्टी कर दी गई और न्यूटन को दो वर्ष तक घर पर ही रहना पड़ा। इस अवकाश के समय का उपयोग उन्होने वैज्ञानिक विषयो की खोज में लगाया और संसार को नया ज्ञान देकर विचार-क्रान्ति का श्रीगणेश करने वाले सिद्धान्त खोज निकाले।

उनका सबसे पहला और महान आविष्कार 'गुरुत्वाकर्षण' का था। प्रसिद्ध है कि एक दिन न्यूटन अपने घर के बगीचे में बैठे थे कि अकस्मात् एक सेव का फल टूट कर उनके ऊपर गिर पड़ा। उसी समय उनके दिमाग मे यह प्रश्न उठा कि यह सेव नीचे ही क्यो गिरा? ऊपर की तरफ क्यों नहीं चला गया? यो तो हम सभी प्रति-दिन फलों को पेड़ो से गिरते देखते हैं, पर कोई इस बात पर गम्भीरतापूर्वक सोचने का कष्ट नहीं उठाता कि ऐसा होने का कारण क्या है? पर ज्ञानोपासक न्यूटन का ध्यान एकाएक इस तरफ गया कि पृथ्वी में ऐसी कोई शक्ति अन्तर्निहित है जो प्रत्येक पदार्थ को अपनी ओर खीचती है। यद्यपि इसके पहले भी लोग कभी-कभी 'आकर्षण-शक्ति' का नाम लिया करते थे, पर उसका स्वरूप और नियम क्या है इस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था।

न्यूटन ने इस समस्या पर पर्याप्त विचार करके यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी ही नहीं प्रत्येक आकाशस्थ पिण्ड में भी यह शक्ति मौजूद है। जो पिण्ड जितना बड़ा है, उसमें यह शक्ति उतनी ही अधिक है और दूसरे छोटे पिण्ड को प्रभावित करती है। जिस प्रकार पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति वृक्ष मे लगे फल को अपनी ओर खीचती है उसी तरह वह चन्द्रमा को भी खीचती रहती है और इसी कारण वह अन्तरिक्ष मे टिका है। सूर्य सबसे बड़ा पिण्ड है इसलिए वह पृथ्वी तथा अन्य सब ग्रहो को अन्तरिक्ष में एक कक्षा पर टिकाये रहने का मूल आधार है। इस प्रकार न्यूटन ने सृष्टि की रचना समझकर और गणित द्वारा उसके नियम स्थिर करके खगोल-विज्ञान की इतनी वृद्धि की कि मनुष्य समस्त ग्रहों और उपग्रहो की गति को समझने मे समर्थ हो सका। उसे यह भी विदित हो गया कि आकाश में ये करोड़ो-अरबो एक दूसरे से विशाल पिंड गुरुत्वाकर्षण की इस अदृश्य जंजीर द्वारा ही एक दूसरे को खीचते हुए अपनी-अपनी कक्षा मे स्थिर है और एक सिरे से टकराकर नष्ट नहीं हो जाते।

यद्यपि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त बड़ा जटिल है और उसके प्रत्यक्ष परिणामो को देखते हुए भी उसके स्वरूप की ठीक-ठीक व्याख्या करना अभी तक सम्भव नहीं हो सकी है। पर तब भी मनुष्य अपने दैनिक-जीवन में न्यूटन के आविष्कारों से बहुत लाभ उठा रहा है। आज भूमण्डल पर जितने तीव्र-गति के वाहन तथा वायुयान, अन्तरिक्ष-यात्रा कर रहे हैं, उन सब में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धात को काम में लाने की आवश्यकता पड़ती है। आज मनुष्य जो चन्द्रमा तक अपने यानों को उतारने में सफल हो रहा है तो उसका आधार न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी सिद्धान्त ही है।

न्यूटन ने दूसरा बड़ा आविष्कार प्रकाश के सम्बन्ध मे किया। उसने सिद्ध किया कि सूर्य की किरणे एक रंग की नहीं वरन् उनमे सात रंग मिले है और वे सब मिलकर श्वेत रंग का प्रकाश उत्पन्न कर देती हैं। उसके इस सिद्धान्त ने आगे चल कर दूरवर्ती तारागणों की बनावट और उनके तत्वो का ज्ञान प्राप्त करने मे बड़ी सहायता की।

न्यूटन का समस्त जीवन इसी ज्ञानोपासना में व्यतीत हुआ। वे इसमें ऐसे तल्लीन रहते थे कि अपने खान-पान, वस्त्रो आदि की ओर भी कभी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने अपना विवाह सम्भवतः इसी कारण से नहीं किया कि गृहस्थी का झंझट उनकी ज्ञान-साधना में बाधक सिद्ध हो सकता था। उन्होंने कभी भी मनोरञ्जन के साधनों—कला, संगीत, कविता आदि की ओर भी ध्यान नहीं दिया और अपना समस्त जीवन एक-मात्र सृष्टि विज्ञान की वास्तविकता को जानने और उससे मानव-जाति का ज्ञान-वर्द्धन करने में लगा दिया।

इतने पर भी न्यूटन को अपनी विद्या का कभी अहंकार नहीं हुआ। जबकि फ्रांस के एक जगत प्रसिद्ध विद्वान वाल्टेयर ने न्यूटन की शवयात्रा (सन् १७२७) के अवसर पर कहा कि "अगर संसार के सभी प्रतिभाशाली व्यक्ति एकत्रित किये जाये तो न्यूटन इस दशक का अग्रगामी होगा।" स्वयं न्यूटन ने अपने लिये कहा था कि—"मै अपने को ज्ञानरूपी समुद्र के किनारे खेलते हुए एक बालक के समान समझता हूँ, जो कभी कौतूहलवश सीप, घोघा आदि इकट्ठे कर लेता है, सत्य-सिद्धान्तों का अथाह महा-सागर तो मेरे सम्मुख अज्ञात ही पड़ा है।"

पुस्तकालय-प्रवृत्ति के प्राणदाता—डॉ. रंगनाथन

अभी दुनिया मे ऐसे लोगो का अभाव नहीं हुआ जो अपने जीवन की सफलता का मूल्यांकन अपनी सुख-समृद्धि से नहीं लगाते वरन् उन्होंने समाज, सस्कृति को कितना गौरव और वर्चस्व प्रदान किया, इस बात से करते है। डॉ. रंगनाथन का व्यक्तित्व इसी कोटि का माना गया है। उन्होंने सामाजिक-जीवन मे ज्ञान पिपासा और स्वाध्याय की अभिरुचि जगाने मे जीवन भर तपस्या की—और यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य-जीवन की यथार्थ सार्थकता को दे जाने में ही है।

डा. रगनाथ का पूरानाम सियाली रामामृत रंगनाथ है। मद्रास राज्य के सियाली नामक ग्राम मे १२ अगस्त, १८९२ में उनका जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। वे अपने पिता की पहली सन्तान थे। इस पूर्व जन्म का संस्कार भी कह सकते है और बच्चे का विवेक भी जिसने बिलकुल छोटी अवस्था में ही यह जान लिया था कि इस संसार मे ज्ञान से बढ़कर कोई निधि नहीं, विद्वता से बड़ी कोई सिद्धि नहीं। समृद्धि और सफलता के लिये भी विद्या और ज्ञान का होना आवश्यक है। इसलिये प्रारम्भिक-अवस्था में ही उन्होंने अपनी स्वाध्याय प्रवृत्ति को बहुत उद्दीप्त कर लिया था।

आज के विद्यार्थी के लिये कोर्स की ही पुस्तके भार स्वरूप लगती है। किन्तु जिसे ज्ञान की भूख जाग जाती है, उसे कोर्स की पुस्तके प्रातःकालीन नाश्ते से अधिक नहीं लगती थीं। यही स्थिति विद्यार्थी नायन की थी। उनका यदि समय अधिक खर्च होता तो वह केवल गणित के अभ्यास में, शेष पुस्तकें का तो वह परीक्षा से पूर्व कई आवृत्ति कर लिया करते थे। समय बचता था ता महापुरुषों के जीवन और संस्मरण पढ़ा करते थे। उसी से उनके मन में साधा[illegible] ढर्रे से निकलकर एक संकल्पशील जिन्दगी जीने का [illegible] जागा था।

उन्होंने राष्ट्र को एक नई प्रतिभा का लाभ देने का निश्चय अपने विद्यार्थी-जीवन मे ही कर लिया था। इसलिये पहले से ही उस क्षेत्र की तलाश में रहा करते थे जिसकी देश को सदैव बड़ी आवश्यकता है और फिर उसमें काम करने के लिए अवसर की प्रतीक्षा भी बड़ी तत्परता से करते थे।

बी.ए. कर चुकने के बाद एक दिन पिताजी ने दुखी होकर कहा, बेटा मुझे दुख है कि तुझ जैसे प्रखर-बुद्धि बा[illegible] बालक को आगे नहीं पढ़ा सकता। मेरी आर्थिक स्थिति अ[illegible] सहयोग नहीं दे रही है। ऐसे अवसर पर आज का विद्यार्थी भड़कता है, अपने भाग्य को दोष देता है या माता-पिता को कोसता है, परन्तु रंगनाथन ने मनुष्य को लाछित करना सीखा ही नहीं था। उन्होंने कहा, पिताजी! पढ़ाई बन्द होने का आप दुःख न करें। मै तो आजन्म विद्यार्थी हूँ सदैव रहूँगा। अब मुझे आपकी सेवा करनी चाहिये। इसलिए अब कोई काम की तलाश करता हूँ।

पिताजी बच्चे की सन्तुलित और उत्साही प्रवृत्ति पर बड़े सन्तुष्ट हुए। पर अभी उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। प्रतिभा हो, तो न सहयोग की कमी होती है न सहायता की। कालेज मे ही एक प्राध्यापक रासमहोदय ने बिना फीस के ही रंगनाथन को एम.ए.करने की अनुमति दे दी। इससे उनका एक काम यह भी पूरा ही हो गया।

अध्यापन प्रारम्भ करते ही उन्होंने सर्वप्रथम अपने गुरुदेव के उस आदर्श को जीवन मे उतारा जो कृपा उनके साथ की गई थी। उन्होंने देखा कई बच्चे प्रतिभाशाली होते है किन्तु धन के अभाव मे पढ़ नही पाते। इसलिए अपने घर के पालन-पोषण की तरह ही उनके प्रति भी समाज का कुछ कर्त्तव्य होता है। उन्होंने अपने मास्टर साहब के नाम पर छात्रवृत्ति की एक योजना प्रारम्भ की जिससे अनेक गरीब बालको को उन्हीं की तरह आगे पढ़ने का मार्ग खुल गया और इस प्रकार अपने गुरु-ऋण से भी छुटकारा पा गये।

१९२४ तक हमारे देश मे एक भी प्रशिक्षि[illegible] लाइब्रेरियन नहीं था। इस अभाव को सर्वप्रथम मद्रास विश्वविद्यालय ने अनुभव किया। इसलिए एक योजना बनाकर विश्वविद्यालय में पुस्तकालयाध्यक्ष का एक नया पद प्रारम्भ किया। अब एक ऐसे योग्य व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो इग्लैण्ड जाकर 'स्कूल आफ लाइब्रेरियनशिप' का प्रशिक्षण लेकर इस पद को सँभाल सके। एक सरकुलर निकाल कर जब ऐसे व्यक्ति की खोज की गई तो सभी लोग पीछे हट गये। क्योंकि लाइब्रेरियन होने में मास्टर जितना सम्मान भी नहीं था और इस बखेड़े के काम में कोई सिर फोड़ने को तैयार नहीं था। यह सरकुलर जब श्रीनगर

सामने आया तो प्रसन्नता से उनकी आँखें खिल गईं। की प्रसन्नता का कई साथियों ने उपहास किया पर उन्होंने -भाई यह तो मेरे जीवन में अमृत है। मुझे ज्ञान के र में पहुँचने और लोगों को अमृत बाँटने का तुल्य-कार्य मिल रहा है। इससे बढ़कर जीवन में प्रसन्नता हो सकती है। उन्होंने अपना नाम उस पद के लिए त कर दिया और सहर्ष लन्दन-विश्वविद्यालय के लिए चले गए। श्रेष्ठ पुरुष चारों तरफ भागते नहीं, परन्तु, दिशा नियत कर लेते हैं उसमें चाहे कितनी ही नीरसता कठिनाई क्यों न हो अन्त तक आरूढ़ रहते हैं। जब साधना ही साध्य बन जाती है तो मनुष्य उन परिस्थितियों भी बड़ा आनन्द पाने लगता है। श्रेय, यश और सम्मान ऐसे ही लोगों को मिलता है। 'मैं बोरी ढूँढन गई रही रे बैठ' को तो गीली बालू ही हाथ लगती है, जिसका ई उपयोग नहीं होता।

लन्दन में उन्होंने प्रशिक्षण ही नहीं लिया वरन् वहाँ के गों ने पुस्तकालयों का दैनिक उपयोग में किस प्रकार प्रयोग या है, किस तरह लोगों ने पुस्तकालयों से लाभ उठाया उस पद्धति का गहन अध्ययन भी किया। दुनिया भर के तकालयों के प्रयोग और इतिहास उन्होंने पढ़े। क-वर्गीकरण के विख्यात पण्डित डब्ल्यू.सी. बरवीक सेयर्स मिलकर पुस्तकालय-विज्ञान की अनेक सूक्ष्म बातों का नुभव किया। यहीं से उनके मन में अपने देश के तकालयों की दुर्दशा के लिए दर्द पैदा हुआ। बरवीक यर्स से उन्होंने यह दर्द व्यक्त करते हुए कहा भी था- रे भारत की आत्मा को दबा दिया गया है। ज्ञान हमारे ा की विरासत रही है किन्तु आज लोगों को इतना निर्धन दिया गया है कि वे पुस्तकें भी नहीं खरीद सकते। सी स्थिति में यदि पुस्तकालय न हुए तो ज्ञान की भिलाषाएँ और हमारा वर्चस्व दबा पड़ा रह जायेगा।"

लन्दन से प्रशिक्षण समाप्त कर भारत लौटते ही वे उस र्य में जुट गए। उन्होंने मद्रास-विश्वविद्यालय को एक योगशाला के रूप मे काम मे लिया और 'कामन' पद्धति मौलिक प्रतिपादन कर पुस्तकालय जगत में एक नई हलचल पैदा की। उन्होंने जनता को इस शास्त्र का प्रौढ़ न प्रदान करने के लिए यूनेस्को के पुस्तकालय की विषय मिति के सदस्य की हैसियत से जापान, डेनमार्क, इंग्लैंड दि कई देशों की यात्राएँ कीं और वहाँ उपलब्ध ज्ञान को शवासियों में फैलाने के लिये लेख लिखना प्रारम्भ कर या। पुस्तकालयों की उपयोगिता और प्रबन्ध से लेकर नार्जन की प्यास जागृत करने तक के ऐसे बढ़िया और टीले निबन्ध उन्होंने लिखे कि देश के प्रख्यात मनीषी डॉ. धाकृष्णन जैसे व्यक्ति और सरकार भी उनसे प्रभावित हुए ना नहीं रह सकी। पुस्तकालयों और पुस्तकों के वर्गीकरण और उनके अभाव को सबने स्वीकार किया और फिर समें सरकारी, अर्द्धसरकारी और गैर सरकारी प्रबन्ध भी रम्भ हुए। इस प्रकार देश ने एक नई करवट ली। लोगों ने पुस्तकालयों की उपयोगिता का अनुभव किया और उसके लिए प्रयत्नशील हुए। सरकार ने डॉ. रंगनाथन के इस महान कार्य को 'पद्मश्री' की उपाधि से विभूषित कर महान सम्मान भी प्रदान किया। पर यथार्थ आशीर्वाद तो उन्हें भारतवर्ष की अगली पीढ़ी देगी जो पुस्तकालयों के माध्यम से भारतीय-जीवन में धर्म, समाज-संस्कृति मे शक्ति और तेजस्विता को उभार कर ला सकेगी।

उनके प्रयत्न से मद्रास विश्व-विद्यालय में इस शास्त्र का शिक्षण और प्रशिक्षण भी प्रारम्भ किया गया। यह कक्षाएँ सुचारु रूप से चलने लगीं। लाइब्रेरी-एसोसियेशन के तत्वावधान में नियमित कक्षाएँ सारे देश के लिये थीं इसलिये यहाँ का प्रबन्ध हो जाने पर आप सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन के आमन्त्रण पर बनारस हिन्दू-यूनिवर्सिटी चले गये और वहाँ पुस्तकालय-शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में काम किया। १९५७ तक विक्रम यूनिवर्सिटी में भी पुस्तकालय-शास्त्र के पाठन और प्रशिक्षण की नींव जमाने का श्रेय भी आपको ही है। पुस्तकालयों के व्यापक-संस्थान और इस प्रवृत्ति को बल देने के लिये आपने 'एनल्स आफ लाइब्रेरी साइन्स' और 'एलीगीला' आदि पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। 'मद्रास-लाइब्रेरी-एसोसियेन' 'इण्डियन-लाइब्रेरी-एसोसियेशन' की स्थापना कराने में उनका मूल उद्देश्य देश मे पुस्तकालय-क्रान्ति पैदा करना था। सारे देश के लिये आदर्श-पुस्तकालय के कानून का प्रारूप भी इन्होंने तैयार किया, यही नहीं उनके सम्पर्क में जो आया उसे उन्होंने सदैव पढ़ते रहने की ही शिक्षा दी। इस तरह उन्होंने अनेक बालकों को ज्ञान की उज्ज्वल दिशाएँ भी प्रदान की हैं। उन्होंने पुस्तकालय शास्त्र पर और गम्भीर अध्ययन और अन्वेषण के लिए १ लाख रुपये का दान भी दिया है जिससे 'शारदा-रंगनाथन-प्राध्यापक-पद' का प्रशिक्षण चलता है। इस तरह उन्होंने लोगों समझाया कि देश को ज्ञानवान एवं विचारशील बनाने के लिए लोगो को वाणी से ही समर्थन नहीं देना चाहिए उसके कोई भी त्याग करने से भी पीछे नहीं हटना चाहिए। लोक-कल्याण की आवश्यकताएँ बिना इस तरह का आदर्श उपस्थित किये बिना पूरी न होंगी।

१९६३ से आप बैंगलोर में स्वयं द्वारा स्थापित 'अम्युमेटेशन रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग सेन्टर' के प्रधान के रूप में काम कर रहे हैं। शांति और एकान्त निष्ठा से वे आजीवन पुस्तकालय-शास्त्र पर ही शोध, अध्ययन का काम करते रहे हैं वही आज भी कर रहे हैं। १९६५ मे भारत-सरकार ने उन्हें पुस्तकालय के विज्ञान का राष्ट्रीय प्राध्यापक भी नियुक्त किया है। समाज-सेवी का यह सम्मान होना ही चाहिये था। उससे उन्हें सन्तोष भी मिला है। किन्तु उनकी एक इच्छा अभी यह है कि सारे देश में पुस्तकालयो का जाल बिछा दिया जाय और देश के हर वर्ग को उसकी नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पुस्तकें पढ़ने को मिल सकें। उदाहरण के लिए शहर की महिला को गृहस्थी पर जानकारी के लिये पुस्तकें मिलें तो छोटे बच्चों को साहस, शौर्य,

ईमानदारी के भाव प्रगाढ़ करने वाली छोटी-छोटी कहानी, कविताओं की किताबें भी मिल सकें। गाँव के किसान को कृषि का ज्ञान कराने वाला साहित्य भी हो और उसकी परिश्रमशीलता और कर्मठता को प्रेरणा देने वाली किताबें भी। फैक्ट्री के फिटर को उस विषय की टेक्नालाजी वाली किताबें भी हों। इस तरह जो लोगों को यह समझाया जा सके कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य और दर्शन क्या है। यह सब आवश्यकताएँ सामान्य-जनता तक की हैं और जब तक उन्हें पूरा नहीं किया जाता तब तक देश का विकास मन्द ही पड़ा रहेगा। सर्वांगीण विकास के लिये इस कार्यक्रम को एक आन्दोलन का रूप उन्होंने दिया पर वह थोड़े-से पढ़े-लिखे लोगों तक रह गया। उसे जनता तक पहुँचाने का कार्य विचारशील लोगों को सौंपना चाहिए जिससे डॉ. रंगनाथन और उनकी आत्मा को विश्राम एवं शांति मिल सके। जीवन भर ज्ञानामृत लुटाने वाले पण्डित के प्रति सम्मान यही हो सकता है कि देश में पुस्तकालय आन्दोलन को तेज कर दिया जाये, उसके लिए जो भी सम्भव, सहयोग और साधन दिये और जुटायें जायें।

विद्या-व्यसनी मोची—जोजफ पेन्ड्रेल

आधा जीवन बीत गया। निर्धनता ने पाँव नहीं समेटा। जोजफ पेन्ड्रेल के विचार और उनकी विद्वता की ख्याति सारे लन्दन और उसके आस-पास थी। किन्तु किसी को पता न था कि इतना बड़ा विद्वान और विचारक व्यक्ति अत्यन्त निर्धन और साधारण मोची का काम करने वाला हो सकता है। यह बात केवल उसके मित्र पीटर्सन को मालूम थी।

पीटर्सन ने एक दिन पेन्ड्रेल का परिचय एक धनी-मानी व्यक्ति से कराया तो उस व्यक्ति की प्रसन्नता का पारावार न रहा। वह पेन्ड्रेल का मूक-भक्त था। उसने यथेष्ट धन देकर पेन्ड्रेल की पुस्तकें प्रकाशित और प्रसारित करने की अनुमति माँगी। पेन्ड्रेल ने उत्तर दिया-"मुझे धन नहीं चाहिए, प्रशंसा और ख्याति से भी इसलिए मैं बचता आया हूँ कि कहीं विचार-साधना और सेवा में मुझे विघ्न न पड़े। धन और साधन पाकर अधिकांश लोगों का जीवन सुख-वैभव की ओर चला जाता है। मानवता की सेवा की भावना नष्ट हो जाती है। यह अड़चन मोल लेने के लिए मैं बिल्कुल तैयार नहीं। जीवन की सुरक्षा के लिये जितनी आजीविका और जितने साधन चाहिए उतना हम स्वयं कमा लेते हैं इससे अधिक की मुझे बिल्कुल भी इच्छा नहीं। मैं सेवा का मूल्य लेकर अपनी कर्तव्य-भावना को छोड़ना नहीं चाहता। मेरे लिए ! मेरे लिये चिन्ता न हो, शरीर की आवश्यकताओं को पूरी कर सकता हूँ उससे अधिक मुझे चाहिये नहीं।"

पेन्ड्रेल एक अंग्रेज थे, लन्दन के मैनचेस्टर स्क्वायर में रहते थे। ऐसे विद्वान व्यक्ति के बारे में यही कहा जा सकता है कि उन्हें बाल्यकाल में शिक्षा की बड़ी... होंगी। सुसंस्कृत और धनाढ्य घराना रहा ... लोगों की विचारणा होती है। पेन्ड्रेल को ... वातावरण बिलकुल भी नहीं मिला था। यह ... उनकी साधना का फल थी। उनकी लगन, ... विद्या-प्रेम का कारण था।

पेन्ड्रेल ने कठिनाई से अंग्रेजी ... साधारण-शिक्षा एक पाठशाला में पाई थी। ... पिता ने उन्हें मोची का काम सीखने के लिये ... नौकर रख दिया। यही धन्धा बाद में उन्होंने ... रखा। उसी एकात्मक भाव से उन्होंने ... वर्ष के जीवन तक जारी रखी।

अभी उन्होंने मोची का काम शुरू किया ... उन्हें ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में आने का अवसर ... एक लड़का बहुत पढ़ा-लिखा था और दूसरे ने ... शिक्षा न पाई थी। एक-एक रोजगार ... दिवालिया हो गया और एक-एक पैसे का ... गया। इसी अवस्था में उसकी हृदयगति रुक ... भी हो गई।

पढ़े-लिखे लड़के ने अपनी शिक्षा के बल ... स्थिति सँभाल ली। अच्छी नौकरी मिल जाने ... दिनों में वह फिर से पिता जैसी दबदबे ... पहुँच गया जबकि उसके बड़े भाई को भीख ... भरना पड़ता था।

होनहार व्यक्ति ऐसी घटनाओं से ही शिक्षा ... है। एक व्यक्ति एक सन्दर्भ के प्रेरक-तत्व को ... अपनी उन्नति का पथ-प्रशस्त करता है, दूसरा ... बैठा-बैठा अपनी सारी जिन्दगी दीन-हीन दशा में ... है। पेन्ड्रेल प्रथम श्रेणी का व्यक्ति था। दो ... स्थिति के इस अन्तर ने पेन्ड्रेल के समक्ष शिक्षा ... को स्पष्ट कर दिया। उन्होंने पक्का ... लिया-"संसार में शिक्षा उन्नति का मूल मन्त्र है ... सबसे बड़ा धन है। विद्या ही मनुष्य का ...

यह विचार, विचार न बना रहा। पेन्ड्रेल ... लाकर पढ़ना शुरू कर दिया। जितना पढ़ ... सहारे से आगे की पढ़ाई शुरू कर दी। ... अपने पाठ याद करते जाते और बिना ... मेहनत से पढ़ते ही थे।

सबसे बड़ी बाधा धन की थी ... का बदला बनाकर साधारण व्यक्ति ... जीवनोपयोगी उपासना से विचलित हो जाते हैं ... सामने बदला नहीं सचमुच गरीबी थी। ... खरीद सकते थे इसलिये पुरानी ... कर पढ़ना शुरू किया। ... उन्होंने इसी तरह पढ़ा।

जूते बना कर उन्हें बेचने के लिये बाहर जाना पड़ता । इस प्रवासी जीवन के अध्ययन के साथ-साथ सस्ती और योगी पुस्तकों की तलाश भी करते रहते । बचाये हुए पैसों प्रवास-काल में ही वे पुस्तके खरीद लाते थे और अतिरिक्त दय मे अपनी कोटरी में उन्हीं को पढ़ते रहते थे ।

बीस वर्ष तक निरन्तर फ्रेंच, ग्रीक भाषाओं का अध्ययन यां । इसके लिए उन्होने कोश की सहायता ली । दोस्ती यदि किसी से की तो वह पीटर्सन नामक ऐसे व्यक्ति जो पुस्तकों की नीलामी किया करता था । ठीक ही था, प्य को जो राह पसन्द होती है उस पर चलने वाले योगियो से प्रेम होना स्वाभाविक ही था । लोथ जैसे प्रसिद्ध ज्ञान का भी उन्हे सम्पर्क मिला । किन्तु उन्होंने अब तक विद्वता उपलब्ध की थी उसे सदैव इसलिए छिपाये रखा कहीं उनकी ज्ञान-साधना में कोई बाधा न पड़ जाये ।

कई व्यक्तियो से यह बात सुनने मे आती है—"क्या अवकाश तो मिलता ही नहीं है ।" उन्हे अपने काम और इतना ध्यान देना पड़ता है कि ग्रन्थो के स्वाध्याय लिए समय ही नहीं निकल पाता ! यह प्रवृत्ति बड़ी निकारक है । हमारे देश का प्रौढ़-वर्ग इसलिये और भी विकसित स्थिति में है कि यहाँ मध्य-जीवन की ज्ञान-साधना कोई महत्व नही दिया जाता । समय के अभाव की बात तो अपने आपको धोखा देना ही है ।

यह बात सही रही होती तो पेन्ड्रेल भी साधारण मोची अधिक कुछ न हो पाते । समय का सदुपयोग बुद्धि-विकास लिए करने का ही प्रतिफल था कि पेन्ड्रेल बहुत अच्छा तशास्त्री हुआ । उसे नौकाशास्त्र, खगोल-विद्या, तिक-ज्ञान की प्रत्येक शाखा और काव्य का एक दूसरे से धिक विभिन्न विषयो का अच्छा ज्ञान था । ७५ वर्ष की युपर्यन्त पेन्ड्रेल अच्छी-अच्छी पुस्तके मँगा कर पढ़ते । इस अवधि में न उन्हे अपनी आजीविका का कष्ट हुआ र न समय मिलने की शिकायत । "जीवन-व्यवस्था के सी काम मे मुझे कभी कोई रुकावट नही आई ।" यह द भी उन्ही पेन्ड्रेल के हैं ।

यह बात दूसरी है कि पेन्ड्रेल ने बढ़े हुए ज्ञान का ग न ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये किया, न किसी बाह्य फलता के लिये । पेन्ड्रेल की दृष्टि में—ज्ञान-आत्मा के कास का साधन है । यदि मनुष्य सच्चे अर्थों मे ईमानदार, यप्रिय सर्व-हितैषी और आत्मवादी हो सकता है, तो इस गति तक पहुँचाने वाला माध्यम ज्ञान ही हो सकता है, जो प्य के लिये आवश्यक है ।

आदर्श-परम्पराओं के प्रतीक—
श्री सत्यदेव विद्यालंकार

श्रीसत्यदेवजी-विद्यालकार पंजाब मे जन्मे । अपने जीवन ल में उन्होने मध्य-प्रान्त, राजस्थान; बंगाल, बम्बई, पंजाब था बिहार सभी प्रान्तों मे कार्य किया । अपनी बहुमुखी प्रतिभा के साथ उन्होने पत्रकारिता मे विपुल-यश अर्जन किया । उनके स्नेही और सहयोगी उन्हे 'भाई जी' कहा करते थे । यह सम्बोधन उनके लिये सर्वथा उपयुक्त था ।

संसार में भी व्यक्ति किसी भी क्षेत्र मे आगे बढ़ सके हैं, उनमे एक गुण विशेष रूप से जाग्रत पाया गया है । वह है कार्य करने की असाधारण क्षमता । यह गुण 'भाई जी' मे भी कूट-कूट कर भरा हुआ था । जिस कार्य को हाथ में लिया , उसको करते हुए थकान का अनुभव तो जैसे उन्हे होता ही नहीं था । उनके जीवन मे स्व.प्रधानमंत्री श्रीजवाहरलाल नेहरू की उक्ति "आराम हराम है" स्पष्ट चरितार्थ होती दिखाई देती थी । कभी-कभी तो प्रबल मनोबल द्वारा शारीरिक-क्षमता से ही अधिक कार्य कर जाते थे । उसका बाद मे उनके स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ा था । फिर भी अन्तिम समय तक उनका कार्य छूटना तो बड़ी बात है कम भी नहीं हो सका ।

'दैनिक हिन्दुस्तान' जैसे लोकप्रिय-पत्र के वह प्रथम सम्पादक थे । पत्र की सफलता मे उनकी सूझ-बूझ, तत्परता तथा अथक श्रम छिपा हुआ है । पत्रों की रूपरेखा बनाना, समय की आवश्यकता, जनरुचि तथा पत्र के स्तर के अनुरूप कालमों का वर्गीकरण, स्तम्भो का चुनाव आदि कार्य बहुत कठिन तथा श्रम-साध्य माना जाता है । 'हिन्दुस्तान' के प्रारम्भिक दिनो मे श्री विद्यालंकारजी ने न दिन को दिन समझा और न रात को रात । पत्र के स्वरूप मे ही वह लीन रहा करते थे । कभी लिखना, कभी रूपरेखा निर्धारण कर 'डमी बनाना'—कभी बड़े-बड़े नेताओ आदि से लेख मँगाने हेतु पत्र लिखने का क्रम सतत् चलता रहता था । स्वयं उनकी जानकारी इस विषय मे बहुत थी । पत्रकारिता मे उनकी धाक थी तथा अनेक पत्रकार उनसे परामर्श व मार्गदर्शन प्राप्त किया करते थे । फिर भी ज्ञान की कोई सीमा नहीं है । अपने ज्ञान मे सर्वश्रेष्ठ मानकर उसमे अन्य के हस्तक्षेप स्वीकार न करने वाला अपनी प्रगति के द्वार स्वयं बन्द कर लेता है । विभिन्न माध्यमों से अपने काम की बात निकालने मे प्रयत्नशील व्यक्ति विषय की बारीकियो मे उतरने मे समर्थ होते है । उन बारीकियो का स्वरूप वैसे छोटा भले ही दिखाई दे, किन्तु उन्हीं के द्वारा विषय की विशेषता सिद्ध होती है । भाई जी इस विषय मे बहुत सतर्क तथा उदार थे । छोटे-बड़े हर व्यक्ति से वह परामर्श किया करते थे । अपनी योजना समझना, उन पर चर्चा करना तथा सुझाव प्राप्त करना तो उनका स्वभाव-सा ही बन गया था । किन्तु किसी की भी बात को वह विवेक तथा अनुभव-जन्य-ज्ञान की कसौटी पर कसे बिना स्वीकार नहीं करते थे । उनकी इन्हीं विशेषताओं के कारण 'दैनिक-हिन्दुस्तान' इतने परिष्कृत रूप में सामने आया कि सहज ही सफल तथा लोकप्रिय सिद्ध हुआ ।

निर्भयता तथा सिद्धान्त-प्रियता उनके अन्दर पर्याप्त मात्रा मे थी उन्होने एकदर्जन से अधिक मासिक, दैनिक, साप्ताहिक पत्रों का सम्पादन अपने जीवन में किया । उनकी कार्य कुशलता के योगदान से उन पत्रों की श्रीवृद्धि हुई और आज

भी वे चल रहे है । किन्तु उन्होने कहीं भी डरकर अथवा लोभ-लालच में अपनी अन्तरात्मा के निर्देश के विपरीत कार्य नहीं किया उन्हें कई बार अच्छे-अच्छे पदों को इसी कारण छोड़ना पड़ा । उसके कारण उन्हें आर्थिक कठिनाइयाँ तथा संघर्षों का सामना भी बहुत करना पड़ा । किन्तु वे कभी रन्चमात्र भी विचलित नहीं हुए ।

वे सम्पन्न परिवार के अच्छी आर्थिक स्थिति के पिता के पुत्र थे । कई बार आर्थिक-संकट-काल में लोगों ने उन्हें पिता से सहायता लेने का सुझाव दिया । पुत्र पिता की सम्पत्ति में अपना अधिकार माने यह सामान्य-सी बात है । किन्तु वे और ही विचार के व्यक्ति थे । वे कहा करते थे—पिता के कार्य पुत्र को समर्थ बना देने का है । पुत्र का इतना ही अधिकार पिता पर कहा जा सकता है । जीवन भर पिता के ऊपर अपना बोझ डालना निकम्मे लोग का कार्य है । पिता की ढलती आयु में पुत्र को उन्हे देना उचित है, उनसे माँगना उचित नहीं है । उन्हें कुछ दूँ नहीं तो अपने लिये स्वयं व्यवस्था कर सकने जितना पुरुषार्थ तो मुझ में है ही और उन्होने अपने पुरुषार्थ की शान अन्त तक रखी । कभी आवश्यकता पड़ने पर कतिपय निकट के मित्रो से उन्होने उधार तो लिया, किन्तु व्यवस्था होते ही अविलम्ब चुका दिया ।

जीवन भर उनका विश्वास श्रम की कमाई पर ही रहा । अन्तिम दिनो उनके शरीर तथा नेत्रों में शक्ति कम रह गई थी । फिर भी वे अपनी धर्मपत्नी तथा सहकारी द्वारा बारह-बारह घण्टो तक लेख लिखवाया करते थे । उस समय तक उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ चुकी थी । अनेक बड़े-बड़े लोगो मे उनके प्रति श्रद्धा थी । उनका ज़रा-सा इशारा विपुल आर्थिक सहयोग एकत्रित कर सकता था । किन्तु उन्होंने कभी भी ऐसा नहीं किया । वास्तव मे यह आदर्श-मानवता के लिये शोभनीय है ।

पत्रकार का उत्तरदायित्व बड़ा है । निष्पक्षता तथा निर्भीकता उसमे होनी चाहिए । भाई जी की लेखनी शैली तथा प्रभावशाली थी । निरन्तर अभ्यास से उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र हो गई थी कि देश-विदेश की प्रमुख घटनाएँ, जानकारियाँ आदि, स्थान सन्, तिथि सहित उन्हे याद रहती थीं । किताब, कापी देखे बिना वे प्रामाणिक आँकड़े दिया करते थे । सत्य प्रतिपादन हेतु उनकी कलम चलती थी, तो विरोधो, आलोचनाओ को चीरती निर्भयतापूर्वक बढ़ती जाती थी । इन सभी प्रकार की साधना, गुणो द्वारा ही वे इतने सफल तथा प्रतिष्ठित पत्रकार बन सके ।

उनका कार्यक्षेत्र पत्रकारिता तथा लेखन में ही सीमित नहीं रहा । एक कार्य में विशेष योग्यता वाले व्यक्ति बहुधा अन्य कार्यों, कर्तव्यो आदि की ओर से उदासीन देखे जाते है । उससे उनका जीवन एकागी हो जाता है । लौकिक तथा आध्यात्मिक, दोनों ही दृष्टियों से यह उपयुक्त नहीं है । श्री विद्यालकार जी ने यह दोष अपने आप में नहीं आने दिया । उनका कार्यक्षेत्र व्यापक था । राष्ट्रीय-स्वतंत्रता-आन्दोलन में भी उन्होने विभिन्न स्तरों पर भाग लिया था । गदरवादी संगठन के सदस्य तो थे किन्तु उनने उग्रवादी पक्ष की उपेक्षा भी नहीं की । इतना ही नहीं उनका परामर्श तथा सहयोग भी क्रान्तिकारियों को सदैव मिलता रहा । जिनके विरुद्ध सरकारी वारन्ट होते थे सरकार जिनके पकड़ने वाले को इनाम देने की घोषणा करती थी, ऐसे क्रान्तिकारियों को भी वह निःसंकोच अपने यहाँ आश्रय दे दिया करते थे । उनके यहाँ रहने वाले उनके लिये प्रयुक्त सम्बोधन—'भाई जी' की सार्थकता अनुभव करते थे ।

स्वतन्त्रता-आन्दोलन के मध्य उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा । परन्तु आदर्श राष्ट्र-सेवी की तरह सामान्य जेल क्या कठिन यातनाएँ भी उन्हें अपने पथ से डिगा न सकीं । अपने व्यस्त जीवन की दुहाई देकर कभी भी उन्होंने राष्ट्रीय-कर्तव्य से मुँह मोड़ने का प्रयास उन्होने नहीं किया । बाधाओं के बीच अपना मार्ग बनाते हुए बढ़ते चलना उनके चरित्र का एक अति उज्ज्वल पक्ष था ।

अपनी राष्ट्रीय-भावना के कारण ही वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे । जिनका रहना, उठना, लाभ-हानि, मरना-जीना एक साथ एक स्थान पर होता है, ऐसे भाई-भाई थोड़ी सूझ-बूझ के अभाव में शांतिपूर्वक न रह सके यह दुःख का विषय है । प्रेम, सद्भाव, सहयोग के भावों की उपेक्षा के कारण ही ऐसी स्थिति पैदा होती है, ऐसा उनका विश्वास था । अपने परिचित-अपरिचित मुसलमान परिवारो में स्नेह के प्रभाव से ही पर्दानशीन मुसलमान महिलाएँ उनके आग्रह पर पर्दे जैसी अन्ध-परम्परा छोड़कर उनका स्वागत किया करती थीं ?

विवेकपूर्ण एवं परम्परा को- बन्धन न मानना आदि सिद्धातों के वे पालक व प्रचारक थे । इसी कारण समाज सुधारक के रूप में भी वे दिखाई देते रहे । विधवाओं की समाज मे होने वाली विडम्बना उन्हें बहुत कष्ट देती थी । अल्पवय की विधवाओ को एक ओर तो विवाह का अधिकार न देना, दूसरी ओर उनके शील पर सामाजिक दुर्बुद्धि के कारण छाया रहने वाला संकट किसी भी विचारशील को दुखी कर सकता है । भाई जी ने लगभग आधा दर्जन अल्पायु की विधवाओं का विवाह अपने प्रभाव तथा धन के उपयोग द्वारा कराकर, समस्या का रचनात्मक हल प्रस्तुत किया ।

विधवाओं के अतिरिक्त अविवाहित-कन्या की स्थिति भी किसी से छिपी नहीं है । अपनी मूढ़ता से वैवाहिक कुरीतियों को पोषण देना तथा उनके कारण भोली-भाली बच्चियों को दुर्भाग्य की निशानी, परिवार के ऊपर भार मानना नितान्त अनैतिक है । हमारी दुर्बुद्धि के कारण जो दण्ड समाज के मुखिया बनाने वालों को मिलना चाहिए वह बेचारी बालिकाओं को भुगतना पड़ता है । कन्याओं की इस स्थिति को देखकर किसका दिल न कराह उठेगा । इस स्थिति से कन्या वर्ग को उबारने का प्रयास करना हर व्यक्ति का सामाजिक कर्तव्य है। श्री विद्यालंकार जी ने अपने सम्बन्धियों की तीन लड़कियों तथा एक अनाथ कन्या को अपने व्यय से पढ़ा-लिखाकर देश

वरों के साथ उन्हे ब्याह दिया । उक्त, अनुकरणीय समाधान मूलक आदर्शों को समाज के थोड़े से भी सम्पन्न व्यक्ति जीवन मे ला सके तो समाज का बड़ा कल्याण किया जा सकता है । बड़े-बड़े कल्याण केन्द्रो तथा सहायता संगठनो से भी अधिक कार्य सहज ही हो सकता है । अपने सामाजिक-कर्तव्यो के निर्वाह की यह परम्परा बढ़े, तो हमारा सबका सौभाग्य होगा ।

पर्दा-प्रथा के भी वे विरोधी थे । वह उसे समाज को लँगड़ा बनाने वाली कुरीति कहा करते थे । उनकी दृष्टि में नारी का शील-रक्षण वृत्ति तथा दृष्टि की शुद्धता होता है—पर्दे पर लेखनी तथा भाषण की अपेक्षा वह ठोस कार्य को महत्व देते थे । उन्होंने अपने व्यक्तिगत प्रभाव से स्नेह, सौजन्य के आधार पर पचासो परिवारों को पर्दा-प्रथा से मुक्ति दिलाई । उनमें मुसलमान, मारवाड़ी, बिहारी आदि सभी प्रकार के परिवार थे । अपने परिचित परिवारो मे जाते थे-"अधूरे स्वागत से हमारी तृप्ति नहीं होगी । गृहिणी के द्वारा स्वागत हो तभी मेरा गृह प्रवेश का अधिकार है ।" उनका आग्रह खाली नहीं जाता था, भोजन के समय भी वह घर की महिलाओ के द्वारा परोसे जाने पर ही भोजन करने की शर्त रखकर अपनी रचनात्मक-बुद्धि का परिचय देते थे ।

स्वयं के विवाह के समय भी उन्होंने अपना सिद्धान्त बनाये रखा । पटियाला रियासत के उनके ससुराल वाले कट्टर पर्दा समर्थक थे । किन्तु भाई जी के आगे उन्हे झुकना ही पड़ा । स्वयं लड़की से बात करके अपने अनुरूप स्वभाव, गुण, दोषों को देखकर ही उन्होने विवाह की स्वीकृति दी । उनका वह चुनाव सार्थक भी हुआ । उनकी धर्मपत्नी के रूप मे श्रीमती सुभद्रा ने उन्हे भरपूर सहयोग दिया । हर कठिनाई, संघर्ष मे सच्ची-सहगामिनी की तरह उन्होने अपनी प्रतिष्ठा रखी ।

अपनी बहुमुखी प्रतिभा तथा गुणों का प्रकाश ६६ वर्ष तक फैलाते हुए यह उज्वात्मा २६ जून सन् १९६५ के दिन संसार छोड़ गये । उन्होंने जीवन मे अपना कर्म पूरा किया । आज का काम कल पर न छोड़ने वाले श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार गौरवमय परम्परा अपने पीछे छोड़ गये ।

ज्यामिति शास्त्र का जनक—यूक्लिड

जब यूक्लिड का शव दफनाने के लिये घर से बाहर निकाला गया- तब पड़ौस के दो-चार व्यक्ति ही बस उपस्थित थे । वे भी ईश्वर से यही प्रार्थना कर रहे थे कि "भगवान किसी का भी मस्तिष्क यूक्लिड की तरह विक्षिप्त न करे ।"

ज्यामिति-शास्त्र का जनक, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी शोध-कार्य में लगा दिया, उसके व्यक्तित्व का यह मूल्यांकन लोगों ने किया था ।

यूक्लिड ही नहीं संसार मे अधिकांश महापुरुषो का जीवन इसी प्रकार उपेक्षा, उत्पीड़न तथा प्रतारणाओ से भरा हुआ है ? जीवन का रस तिल-तिल करके वे जलाते हैं-विश्व को प्रकाशित करने के लिये दुनिया उन्हे पागल, विक्षिप्त तथा शैतान तक कहने से नहीं चूकती ।

यूक्लिड बचपन से ही तीव्र बुद्धि के प्रतिभावान बालक थे । किन्तु उनके इस अनोखे आविष्कार के कारण किसी ने भी उन्हे पहचान नहीं पाया । स्कूल में जब उनको तनिक-सा भी समय मिलता—पृथ्वी पर आड़ी-टेढ़ी रेखाएँ खींचा करते थे । इसे देखकर उनके शिक्षक ने उनके पिता को एक पत्र लिखा, जिसमे कहा गया था कि—"यूक्लिड का मस्तिष्क विकृत हो गया है और वह जमीन पर व्यर्थ के नक्शे बनाया करता है ।"

सभी टोकते किन्तु यूक्लिड की लगन में कोई कमी नहीं आई । वे निरन्तर पृथ्वी पर ज्यामिति सम्बन्धी कोण बनाया करते तथा नये-नये सिद्धातों का निर्माण किया करते । कभी-कभी तो वे अपनी साधना मे इतने तन्मय हो जाते थे कि उनको खाने-पीने तक की सुधि नहीं रहती । उसकी माता कहती, "चलो यूक्लिड, खाना खालो" और भूखा यूक्लिड अपनी कार्य-शृंखला मे बँधा-बँधा ही कहता—खाना ? क्या चीज होती है पिता आकर कहते यूक्लिड ? चलो । रात बहुत हो गई है । अब सो रहो और अपनी तल्लीनता मे डूबा यूक्लिड कहता, मै अभी-अभी सो कर उठा हूँ ।

उनके पिता यूरेनस परेशान हो उठते । एक दिन यूरेनस बैठे हुए अपने मित्रों के साथ वार्तालाप मे मग्न थे । सामने ही यूक्लिड पृथ्वी पर तरह-तरह के रेखा-चित्र बना रहा था । एकाएक वह रेखाएँ खींचते हुए बड़ा ही आनंदित होकर गाना गाने लगा । जिसको देखकर सभी विस्मित हो उठे । गाने का आशय था "किसी त्रिभुज की तीनो भुजाएँ बराबर होने पर उसके तीनो कोण आपस मे बराबर होते हैं । इसी तरह त्रिभुज के तीनों कोण बराबर होने पर उसकी तीनों भुजाएँ बराबर होती हैं ।"

इस प्रकार यूक्लिड अपनी खोज में निमग्न रहता और ज्यामिति के नये-नये सिद्धांतो का प्रतिपादन किया करता । आज जब इस प्रकार उसे गाना गाते देखा गया, जो न उनके पिता की समझ में आया और न उनके किसी मित्र के—तो उनके पिता ने एक उपाय सोचा और वे अपनी पत्नी से बोले 'यूक्लिड की इन बेसिर पैर की हरकतों का उपाय मैने सोच लिया है । उसे पागलखाने भेज देना चाहिए ।"

लेकिन माँ का हृदय बड़ा कोमल होता है । वह पागलखाने की बात सुनकर द्रवित हो उठीं और किसी प्रकार पति को ऐसा करने से रोक दिया ।

माँ ने उसने यूक्लिड को एकांत में ले जाकर पूछा—"मेरे अच्छे बच्चे । तुम मुझे बताओ कि तुम यह दिन-रात क्या किया करते हो । सब लोग तुम्हें पागल समझते हैं, पर मैं नहीं समझती ।"

यूक्लिड ने हँसकर कहा—सच माँ! मुझे कुछ नहीं हुआ है बात केवल इतनी है कि मुझे एक ऐसे विषय की जानकारी हो गई है जिसे अभी तक कोई नहीं जानता । इसी कारण लोग मुझे पागल समझते है ।

माँ तो आश्वस्त हो गई । किन्तु यह संसार—यह नहीं समझ सका कि यूक्लिड एक नया ही विज्ञान रच रहा है । वह निरन्तर उसे पीड़ित ही करता रहा ।

यूरेनस का एक मित्र था, एनोबर्बास केवल उसने यूक्लिड की प्रतिभा को समझा । तब उसने यूरेनस से कहा "तुम यूक्लिड का विवाह कर दो । उससे इसका ये दिन-रात अपने काम मे लगे रहना कम हो जायेगा ।" और उसने अपनी सुन्दरी कन्या यूरेका के साथ यूक्लिड का विवाह करवा दिया ।

फिर भी उसकी लगन पद्धति मे कोई अन्तर न आया ! नही दुनिया वालो का विरोध कम हुआ । जब एनोबर्बास ने देखा कि एक महान प्रतिभा को यो ही व्यर्थ दबाया जा रहा है तब उसने यूक्लिड को अपने घर पर ही रहने को बुला लिया । यूक्लिड का पिता यूरेनस भी उसका बराबर विरोध करता रहता था ।

पर एनोबर्बास ने यूक्लिड को बुलाकर मानो आफत ही बुला ली थी । उनके घर वालो ने उसे इस बात के लिये विवश किया कि वह यूक्लिड को घर से निकाल दे ।

आखिर उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध यूक्लिड तथा यूरेका को पृथक करने को बाध्य होना पड़ा ।

यूक्लिड की अखण्ड साधना चलती रही । जब तक उसे विश्वास न हो जाता कि अमुक सिद्धान्त पूरा हो गया—तब तक वह उसी मे लगा रहता । परी जैसी सुन्दर पत्नी भी उसकी निष्ठा मे कमी न ला सकी थी । वह अपने इस नवीन विषय की खोज मे दिन-रात मग्न रहता ।

आज ज्यामिति-शास्त्र को लोगो ने जाना तथा समझा है । तभी उसके स्रष्टा को भी समझने का प्रयास किया गया है । परन्तु अपने जीवन मे उसे सिवाय: दुःख तथा अवहेलना के कुछ न मिला । हर भवन की नीव में—विज्ञान के प्रत्येक चरण के प्रत्येक कोण मे तथा सम्पूर्ण व्योम-मंडल के प्रत्येक ग्रह की गति की जानकारी मे यूक्लिड की प्रतिभा प्रतिबिम्बित है ।

जब उसके पिता यूरेनस का देहान्त होने लगा—तब उन्होने यूक्लिड से कहा यदि तुम ये बेकार के नक्शे बनाना तथा व्यर्थ के गाने गाना छोड़ दोगे, तो मै तुम्हे अपनी जायदाद का मालिक बना सकता हूँ, अन्यथा नहीं ।

पर यूक्लिड को तो दूसरी जायदाद मिल चुकी थी । उसने साफ मना कर दिया और सम्पत्ति उसके एक नाते के भाई को दे दी गई । यूरेनस का कहना था कि "यूक्लिड अपना सिर उस दिन के लिये खपा रहा है जो कभी आयेगा ही नहीं ।" पर एक दिन ऐसा अवश्य आता है जब प्रतिभाशालियों के कृतित्वो का मूल्यांकन होता है । भले ही वह दिन कभी भी—कितने ही समय बाद—क्यो न आवे ?

यही यूक्लिड ने भी कहा था, जब वह मृत्यु शैया पर पड़ा था । उसने अपनी पत्नी से कहा "यूरेका ? अब मुझे मौत से कोई शिकायत नहीं है । क्योकि मैने अपना लक्ष्य पूरा कर लिया है । सुनो, यूरेका ? लोग मुझे अभी तक पागल ही समझते रहे । लेकिन भविष्य बतलाएगा कि मैं विक्षिप्त नहीं था, मैने जो कुछ किया है उसे लोग एक दिन जरूर समझेगे ।"

आज, जब उसने अपनी मंजिल—अपना लक्ष्य पा लिया—तब उसे अवकाश मिला था अपने विषय में, पत्नी तथा बच्चो के विषय मे सोचने का । उसने अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और कहा 'मेरे पुत्र ! तुम्हें मालूम होना चाहिए कि तुम्हारी माता ने मेरे साथ जीवन भर कष्ट उठाये है । मै उसे कभी सुख न पहुँचा सका । अब तुम उसे कष्ट न होने देना ।"

और अपने बड़े पुत्र यूडेमास को सम्बोधित करते हुए कहा "अब तुम लोगों को क्या देकर जाऊँ—कुछ समझ मे नही आता । फिर भी तो कुछ तो दिये ही जा रहा हूँ । ये ज्यामिति के तत्व तुम्हे दिये जाता हूँ । विश्वास रखो, भविष्य मे—संसार को इसकी आवश्यकता पड़ेगी ।"

अपने छोटे पुत्र युफोन की ओर उन्मुख होकर कहा "तुम्हे मै अपनी डायरी दिये जाता हूँ । भविष्य में लोगों को शायद इसकी आवश्यकता पड़े । दोनो भाई बहुत सँभाल कर रखना इन चीजो को" अपने अथक परिश्रम का प्रतिफल—ससार को सौंप कर वह इस संसार से विदा हो गया । एक गणित का महान गणितज्ञ, जिसे संसार ने सिवाय उपहास, तिरस्कार तथा अवहेलना के कुछ न दिया—संसार का ज्यामिति-शास्त्र की शोध करके नई थाती सौंप गया । एक ईमानदार त्यागी महापुरुष का जीवन अपनी निजी सुख-सुविधाओ तथा आवश्यकताओ को जिसने सदैव तुच्छ समझा एक प्रयोगशाला बनकर रह गया । किन्तु कालान्तर मे उसकी महत्ता तथा उपयोगिता को लोगों ने समझा तथा उसका मूल्यांकन किया । आज संसार की दृष्टि में यूक्लिड का जो महत्व है, वह किसी भी महान शोधकर्ता, वैज्ञानिक से कम नही । हाँ, नीव के पत्थरो को सदा अन्धकार तथा सीलन सहन करना ही होता है । यूक्लिड का जीवन उपेक्षा, कष्ट व पीड़ाएँ सहते हुए निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही रहा ।

अन्यतम ज्ञान-पिपासु—
पं.ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

"क्यो भैया आपको गुरुदेव इतना मारते और कड़वा बोलते हैं फिर भी आप उनकी सेवा इतनी लगन और तत्परता से करते हो जैसे वह आपके मात-पिता हों । इतनी श्रद्धा

व्यक्त करने की अपेक्षा तो आप अपने घर चले गये होते और अंग्रेजी पढ़ली होती तो वह किसी काम आती । कोई अच्छी नौकरी मिल जाती और मौज करते, अपनी इस छोटी-सी मनुष्य की जिन्दगी में ।'' यह शब्द एक हितैषी ने ब्रह्मदत्त जिज्ञासु से तब कहे जब वे एक दिन गुरु परिपूर्णानन्द के हाथों बुरी तरह पीटे गये थे ।

तब उस तरुण विद्यार्थी ने उत्तर दिया—''हाँ-हाँ मारते है, तो प्यार भी तो मुझे ही करते है । आपका तात्पर्य यह है कि मैं अपने आर्ष-ज्ञान को तिलान्जलि देकर बौद्धिक पराधीनता स्वीकार करूँ । आपकी सलाह और संवेदना के लिये आभार—किन्तु भाई जी, मुझे पद प्रतिष्ठा, यश और सुख की कामना कम, मनुष्य जीवन के सदुपयोग की चिन्ता अधिक है ।''

वैदिक-युग के विद्यार्थी की तरह अपने जीवन का क्रम प्रारम्भ करने वाले पण्डित ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु का जन्म पंजाब प्रदेश के गुरुदास पुर जिले में हुआ था । पड़ौस में अनेक कान्वेन्ट स्कूल थे जहाँ वे उच्च-शिक्षा प्राप्त कर सकते थे । किन्तु धर्माभिमानी अभिभावकों ने देखा कि हमारे सांस्कृतिक आदर्श मिटते जा रहे हैं, देश बौद्धिक दृष्टि से पाश्चात्य-सभ्यता में घुलता चला जा रहा है, ऐसे समय मे उस पीढ़ी की आवश्यकता है जो अपने व्यवहार, विचार और दृढ़-निष्ठा से सांस्कृतिक-आदर्शों का प्रसार और प्रतिष्ठा कर सके । इसलिये उन्होंने ब्रह्मदत्त को अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिये वाराणसी भेजा । विचारवान् माता-पिता बच्चों को विलासी और परम्परावादी नहीं बनाते वरन् उनमें शक्ति और तेजस्विता के विकास की बात सोचते हैं । इसलिये उनको फूलों के पलंग नहीं काँटों की गोद में सुलाते हैं । पण्डित ब्रह्मदत्तजी अध्ययन करने लगे । बड़े परिश्रम से विद्यार्जन किया ।

बड़े सरल थे पण्डित जी, सरलता उसे कहते हैं, जो एक वर्ष के बच्चे के हास्य, उसकी निश्चलता और मस्ती में घुला दे । पता न चले कि वह भी कोई बालक है या शिक्षित प्रौढ़ । यह नहीं कि अपने मामले मे वह इतना छोटा हो जाये कि विपरीत मान्यताओ से भी समझौता कर ले ।

पण्डित ब्रह्मदत्तजी ग्रहणशील प्रकृति के थे । किन्तु, अपने सिद्धान्तो में हिमालय की तरह निश्चल और अडिग भी थे । वस्तुत: जो लोग सामाजिक-जीवन में मृत्युपर्यन्त और उसके बाद भी पूज्य और प्रतिष्ठित बने रहते हैं वह सुगठित शरीर, साधन सम्पन्नता या वाक्पटुता और ज्ञान के कारण नहीं । यह तो सामान्य लोगों मे भी होते है । ज्ञान अँग्रेजी का हो या हिन्दी का, वह तो किसी भी विद्यार्थी को मिल सकता है । पर वह आधार, जिस पर व्यक्तित्व जिन्दा रहा करते है—कैसी भी परिस्थिति में अपनी रक्षा किये रहते हैं, सबसे नहीं मिल पाता महर्षिदधीचि, रन्तिदेव, सत्यहरिश्चन्द्र, कर्ण, मोरध्वज, राणाप्रताप, शिवाजी, महात्मागाँधी और नेताजी सुभाषचन्द्र तक के जीवन-गौरव इसी बात की पुष्टि करते हैं । भारतीय-धर्म और संस्कृति विश्व में जिन्दा ही केवल इसलिये है कि उसमें अमर्यादाओं के साथ रहने का कहीं कोई विधान नहीं है । फिर हिन्दू संस्कृति के महान स्वाभिमानी पण्डितजी भला उससे क्यों विमुख होते ।

एक बार उन्हें पत्र में एक साथी ने ऋषि लिखकर सम्बोधित किया । उन्होने बड़े विनीतभाव से उत्तर दिया—''मुझे यह लिखते हुए दु:ख हो रहा है कि आपने मुझे ऋषि लिखा । पाण्डित्य के अथाह समुद्र, साधना के निस्सीम आकाश और तेजस्विता मे सूर्य का दूसरा नाम ऋषि है । मैने तो उसके कुछ दो-चार कण ही बीनने का प्रयास किया है सो भी असफल ही रहा हूँ । मुझे ऋषियों की सन्तान होने का सौभाग्य मिला है इस पर चाहूँ तो अवश्य गर्व कर सकता हूँ, किन्तु यह भी देखना पड़ेगा कि मैं उनके पद-चिन्हों पर चल भी सकता हूँ या नहीं ।''

वे इतने दृढ़व्रती थे कि १५ अगस्त, १९६२ को जब उन्हे 'राष्ट्रीय-सम्मानित-पण्डित' की उपाधि मिली और राष्ट्रपति-भवन में सम्मान करने की शासकीय सूचना आई कि आपको अमुक तिथि पर कालाकोट और पायजामा पहन कर राष्ट्रपति-भवन में आना चाहिए तो उन्होने इस पर उत्तर दिया—''मैं जिस वेष-भूषा में सदा रहता हूँ उसी में आऊँगा । यदि इसमें कुछ आपत्ति हो तो मैं बेशक यह सम्मान छोड़ने के लिये तैयार हूँ ।'' उसके बाद वे राष्ट्रपति-भवन तभी गये जब उन्हें अपनी ही भारतीय वेष-भूषा में आने की स्वीकृति दे दी गई ।

यह कोई पांडित्य का दर्प नहीं था, वरन् आज के भारतीय-समाज को एक चुनौती थी जो स्वार्थ के लिये कैसा भी वेष धारण कर सकता है । अपने समाज, संस्कृति, बच्चे, नारी का ध्यान न रखकर कैसी भी शिक्षा, कला प्रसारित कर सकता है । आज ! आदर्श परम्पराएँ नष्ट हो चलीं, उसका एक ही कारण है अपनी सभ्यता और संस्कृति का स्वाभिमान नहीं रहा । पण्डितजी के मन में मनुष्यता के प्रति कोई भेद-भाव नहीं था । घर में आये हुए साधारण चपरासी की भी वही आव-भगत करते थे, जो किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति की । उसे भी अपने साथ चार-पाई पर बिठलाते थे । जन्म से कोई अछूत हो गया है यह मान्यता न तो शास्त्र की थी और न ब्राह्मण की, फिर वह भूल क्यों करते ?

उनके अन्त.करण में एक ज्वालामुखी धधकता रहता था । उन्होंने भारतीय-दर्शन और तत्वज्ञान का अवगाहन और उसकी उपासना की थी, इसलिये जब कभी उनकी पतनोन्मुख स्थिति पर विचार करते थे तो आँखें छलकने लगती थीं । वह यह ढूँढने का प्रयत्न करने लगते थे कि आज की परिस्थितियों में कौन से उपाय संभव हैं जिनके द्वारा भारतीय-समाज को अपनी तरह के आदर्शों में ढाला जा सके । उन्होने देखा कि भरतीय-संस्कृति का स्वरूप पण्डितों ने जटिल बना दिया है । इसलिये सामान्य उपासक उसका लाभ नहीं ले पाता । गुरु परिपूर्णानन्द की मृत्यु के उपरान्त भी वे अष्टाध्यायी के अध्ययन में लगे रहे और आखिर एक ऐसा सरल उपाय ढूँढ निकाला जिससे थोड़े समय मे

अष्टाध्यायी का अध्ययन कर वेदांग पढ़े जा सकते थे। उन उपायो से वेदांग सुबोध हो गये और समझे जा सकते थे। उसके बाद वैदिक-ग्रन्थों को आपने सरल मार्ग से पढ़ाने की परिपाटी चलाई। उसका यह प्रभाव हुआ कि पहले जो अँग्रेजी-शिक्षा का मोह करते थे वह भी संस्कृत पढ़ने की इच्छा करने लगे। उन्होने पहले लाहौर में और बाद में पाकिस्तान बँट गया तो वाराणसी में, इस तरह के शिक्षण की व्यवस्था की, जहाँ आर्ष ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे। अष्टाध्यायी पर जो भाष्य छपा है उसको शिक्षित जगत् मे बड़ा सम्मान मिला है। दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेद-भाष्य का सम्पादन भी आपने ही किया। यह इतने महत्त्वपूर्ण कार्य थे जिनसे भारतीय संस्कृति चिर-काल तक लाभान्वित होती रहेगी।

भारतीय-संस्कृति को जितना उन्होने आदर दिया उतना प्रसार नही कर सके, पर उन्हे कभी निराशा नहीं हुई। वह कहा करते थे—मुझे भारतवर्ष का भविष्य दिखाई दे रहा है, वह भविष्य जिसका कि नवागत पीढ़ी निर्माण करने जा रही है ऐसा बढ़िया होगा कि लोग उसकी कल्पना भी नहीं कर सकेगे। इस देश से पाप, दुर्बुद्धि और भ्रष्टाचार इस तरह नष्ट हो जायेगा जैसे यहाँ कभी उसका अस्तित्व ही न रहा हो, जो थोड़ा बहुत रह जायेगा वह शूद्र हो जायेगा अर्थात् वह अपने आप ही इतना भयभीत और दबा हुआ रहेगा कि लोग उसके अशुभ दर्शन भी न कर सकेगे और तब अत्यन्त पवित्र, दिव्य, कर्त्तव्य, भाव, सच्चाई, ईमानदारी, प्रेम और निष्ठाओ वाले भारतवर्ष का निर्माण होगा। उन्होने कहा हम सबको उस सुन्दर भविष्य के स्वागत की तैयारी मे अभी से जुट जाना चाहिए।

आप कहेगे कि ऐसी भविष्य-वाणियाँ तो बहुत बार पढ़ी है पर यह मालूम होना चाहिए कि महापुरुषो की दूरदर्शिता और भविष्य-ज्ञान कितना स्पष्ट होता है पण्डित ब्रह्मदत्त जी का अष्टाध्यायीभाष्य जब छपकर तैयार हो गया तो उन्होने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की। अनेक विद्वानो को उन्होने भोजन कराया। हर आगन्तुक से वह यह आशा भी व्यक्त करते थे कि अपनी संस्कृति के प्रसार के लिये कुछ न कुछ करना अवश्य, जिससे भारतवर्ष का निर्माण अपनी पूर्व परम्पराओ के अनुरूप हो सके।

इसके बाद उन्होने अपने निवास स्थान एवं विद्यालय की बड़े उत्साह के साथ सफ़ाई कराई। सफेदी पुतवाई गई, पुस्तकालय को सब तरफ से साफ कराया। जैसे किसी बड़े अफसर की कोठी हो उस तरह मकान, विद्यालय और पुस्तकालय चमकने लगे। किसी को भी यह पता नहीं था कि अचानक पण्डित जी यह क्यो कर रहे है। भीतर ही भीतर पण्डित जी किसी अज्ञात के स्वागत मे तल्लीन थे।

जब सब ठीक हो गया तो वे चारपाई पर इस तरह लेट गये जिस तरह दिन भर काम की थकावट से चूर-चूर शरीर को कोई शिथिल छोड़ देता है। शरीर थका था पर सुख से अपना कर्त्तव्य पूरा कर जाने का सन्तोष और शांति व्यक्त हो रहे थे। उन्होने अपने शिष्यो और अनुयाइयों को बुलाया और अपने समीप बिठाकर कहा—देखो अब कितना अच्छा लगता है। यह मकान अब उसी तरह अच्छा लगता है जिस तरह मनुष्य का स्वस्थ, साफ और बलवान शरीर, विद्यालय इस बात का प्रतीक बन रहा है कि हमारी शिक्षा का स्वरूप और सामाजिक जीवन उज्ज्वल चरित्र वाले नागरिक पैदा करने वाला हो। चरित्र के मामले में, सामाजिक व्यवहार के मामले में इस विद्यालय की तरह लोग स्वच्छ और सुन्दर हो और यह पुस्तकालय कहता है-जिस दिन हमारा ज्ञान शुद्ध और पवित्र बन जायेगा उस दिन यह धरती स्वर्ग की तरह दिखाई देने लगेगी।

स्वस्थशरीर, स्वच्छमन और सभ्य-समाज का प्रतीक शिक्षण समाप्त कर जो उन्होने अपनी आँखे बन्द कीं तो फिर कभी उन्हें खोला ही नहीं। पं. ब्रह्मदत्त समर्पित हो गये।

पर क्या वे मर गये ? क्या उनकी आकाक्षाएँ और उनका आशीर्वाद मर गया ? नहीं ! नहीं ! मृत्यु के समय उन्होने यह आभास कराया था कि आने वाला भारतवर्ष का यह स्वरूप होगा जो मेरे निवास, विद्यालय और पुस्तकालय का है। उसमे मै फिर हजार आत्माओ के रूप में अवतरित होऊँगा और अब न सही पर तब निश्चित रूप से अपने धर्म, अपनी संस्कृति, ज्ञान, तप, साधना, ब्रह्मदर्शन और वर्चस्व को विश्व सभ्यता के सिर पर मुकुट-मणियो की तरह अवस्थित हुआ देखकर पुलकित और प्रफुल्लित होऊँगा।

वह समय अब समीप ही है जब पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की आत्मा पुनः दिव्य-सन्तति के रूप मे जगेगी और भारतीय-संस्कृति का मुख उज्ज्वल करेगी।

निस्पृह साहित्य-सेवी— मामा वरेरकर

भारत के प्रसिद्ध साहित्यकार तथा मराठी-भाषा के महान लेखक मामा वरेरकर का पूरा नाम भार्गव विट्ठल वरेरकर था। मामा वरेरकर की सबसे बड़ी महानता यह थी कि मराठी भाषा-भाषी होने और उसी भाषा मे लिखने पर भी वे राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर हिन्दी के ही समर्थक थे। जहाँ उन्हें अपनी मातृभाषा-मराठी से अगाध-प्रेम था, वहाँ राष्ट्रीय-दृष्टिकोण से उन्होने हिन्दी को ही सम्पूर्ण भारत की भाषा स्वीकार किया है।

अनेक बार मित्रो के बीच राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर बात करते हुए उन्होने कहा—"मेरा जन्म महान् महाराष्ट्र-भूमि में हुआ है। मेरी जन्मभूमि वह वसुन्धरा है, जिसने पूर्वकाल से ही भारत-भक्तो की शृंखला चलाई। यहाँ का बच्चा-बच्चा सदैव से आसेतु हिमाचल भारत-भूमि को एक राष्ट्र मानता रहा है। मेरी जन्मभूमि का नाम ही उसकी उच्चता एव व्यापक राष्ट्रीयता का ज्वलन्त प्रमाण है। राष्ट्रीयता के प्रश्न पर मै प्रान्तीयता के सीमित एव हानिकारक दायरे में बँधकर अपने को क्षुद्र बनाने को तैयार नहीं हूँ। मैं हिन्दी को सम्पूर्ण भारत की भाषा मानता हूँ और चाहता हूँ कि शीघ्र ही यह

राष्ट्रभाषा के पद पर अभिषिक्त की जाये । महाराष्ट्र का कोई भी सुपुत्र द्वैत राष्ट्रीयता मे विश्वास नहीं रखता । मैं अखण्ड, अद्वैत एवं एक राष्ट्रीयता का पुजारी हूँ ।"

मामाजी का जन्म महाराष्ट्र-प्रान्त के अन्तर्गत रत्नगिरि जिले के चिपूलर ग्राम मे २७ अप्रैल सन् १८८३ को हुआ था ।

मामा वरेरकर की स्कूली-शिक्षा कुछ अधिक न थी । अधिक शिक्षा प्राप्त करने योग्य परिस्थिति न होने से उन्होने हाईस्कूल के आगे पढ़ने का आग्रह नहीं किया बल्कि परिवार की सहायता करने के लिए उन्होने डाक विभाग में बीस रुपए मासिक पर नौकरी कर ली । किन्तु उन्हे इस नौकरी मे सन्तोष न हुआ और सन् १९१० में डाकखाने की नौकरी छोड़ दी । ऐसा करने पर जब उनके सहकर्मियो ने उनके इस काम की आलोचना करते हुए कहा कि वरेरकर जी, आपने सरकारी नौकरी छोड़कर अच्छा नहीं किया । आपने आगे के लिए अपने भविष्य के द्वार बन्द कर लिए । तब उन्होंने निश्चिन्त भाव से यही उत्तर दिया—"आप मेरे बारे में उल्टा सोचते हैं । नौकरी छोड़कर मैंने अपने भविष्य के द्वार बन्द नहीं किये बल्कि खोल दिये हैं । अब मैं स्वतन्त्र रहकर अपने देश व समाज की सेवा कर सकूँगा और यही मेरे जीवन का लक्ष्य एवं भविष्य है । मैं जीवन भर नौकरी करने के बाद अपनी सारी क्षमताएँ बेचकर निकम्मा हो जाता । किन्तु अब मैं थोड़े-से पैसो पर बहुमूल्य जीवन को बेच लेने के बजाय समाज-सेवा जैसे महान् कार्य मे लगा सकूँगा । समाज-सेवा के क्षेत्र के विषय मे उनका असंदिग्ध उत्तर था—"साहित्य, ऐसा जन-साहित्य जो राष्ट्रीय एवं सामाजिक जीवन में एक नवीन जागरण ला सके । यदि मैं अपनी लेखनी द्वारा सामाजिक मान्यताओं तथा अद्वैत राष्ट्रीयता भावना थोड़ा-बहुत भी सम्पादन कर सका तो अपने जीवन को धन्य मानूँगा ।

मामाजी मे लेखक बनने की लगन बहुत थोड़ी-सी आयु से लग गई थी । इस सम्बन्ध मे एक बड़ी ही मनोरंजक घटना घटी, जिसने उनका झुकाव लेखन-कार्य की ओर कर दिया था । एक बार मामाजी के गाँव मे नौटंकी नाटक हुआ, जिसमें राधा-कृष्ण की लीला दिखाई गई थी । उस समय मामाजी की आयु केवल तेरह वर्ष की ही थी । लीला मे जो व्यक्ति कृष्ण बना था, वह लगभग ३० वर्ष की आयु का था और राधा बनने वाले लड़के की आयु केवल १५-१६ साल की । मामाजी को यह बात खटकी । उन्होने 'हरिवंश' मे पढ़ रक्खा था कि कृष्ण की आयु केवल आठ वर्ष की थी और राधा की आयु उनकी माता यशोदा के लगभग थी ।

बालक वरेरकर रासलीला के मालिक एवं व्यवस्थापक से मिले और अपनी जानकारी के आधार पर उसकी गलती बतलाई । स्वाँग का मालिक एक समझदार आदमी था । बालक की इस चैतन्यता पर वह बड़ा प्रसन्न हुआ उसने मामाजी से कहा कि स्वाँग की किताबे मैं स्वयं तो लिखता नहीं । लिखने वाले जैसा लिख देते है हम लोग वैसी ही लीला करके दिखा देते हैं । तुम ठीक-ठाक लिख दो, हम उसी के अनुसार अपनी लीला करने लगेगे ।

इस छोटी-सी घटना से मामाजी समाज मे साहित्य का महत्व समझ गये और उन्हे विश्वास हो गया कि समाज को बनाना, उसमे सत्य एवं असत्य की प्रस्थापना करना लेखको पर बहुत कुछ निर्भर करता है । साहित्य के अनुसार ही किसी राष्ट्र तथा समाज का उत्थान-पतन हुआ करता है । जनसाधारण, लेखको के विचारों से प्रभावित होकर उन्हीं के अनुसार अपने विश्वास एवं मान्यता बना लेते हैं । समाज के बनने-बिगड़ने में लेखको एवं साहित्यकारों का बहुत उत्तरदायित्व होता है ।

बालक वरेरकर ने नौटंकी के मालिक को रासलीला पर एक छोटा-सा नाटक लिखकर दिया, किन्तु वह इतना छोटा था कि खेला न जा सका । मामाजी के जीवन का यह प्रथम असफल प्रयत्न उनके जीवन मे सफलता का आधार बना । वे जब-तब अपने साहित्यिक-संस्मरण का जिक्र करते हुए कहा करते थे "सफलता-असफलता से तटस्थ रहकर मैंने जो नौटंकी-नाटक का प्रथम प्रयास किया था, उसने मुझमे साहित्य-सृजन का अदम्य साहस जगा दिया । यद्यपि मेरा वह नाटक अभिनय कला की दृष्टि से असफल रहा तथापि कलम की गति का कारण बनकर मेरे हृदय मे साहित्य-स्रष्टा का आत्म-विश्वास बनकर समा गया । मेरा विश्वास है कि उस समय मैं अपने प्रथम प्रयोग की असफलता से हताश हो जाता तो आज साहित्य के माध्यम से समाज की वह सेवा न कर पाता जो कि थोड़ी-बहुत कर सका हूँ ।"

डाकखाने की नौकरी छोड़ने के बाद मामाजी ने फिर कभी नौकरी करने का विचार नहीं किया और साहित्य के माध्यम से अपना जीवन राष्ट्र व समाज को समर्पित कर दिया ।

सबसे पहले १९२६ ई. मे उन्होने दिल्ली मे स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पर्क मे रहकर 'विधवा-कुमारी' नामक एक उपन्यास लिखा । आपके इस उपन्यास का उद्देश्य सामाजिक समस्याओ की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना था । अनन्तर गाँधीजी के असहयोग-आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होने अपनी लेखनी से माध्यम से गाँधीजी के उद्देश्य मे सहयोग करने के लिये 'क्रीतदास' नामक एक नाटक लिखा, जिसमे उन्होने जहाँ एक ओर खादी के प्रचार तथा सरकारी अदालतो के बहिष्कार की प्रेरणा दी है वहाँ वचक देशभक्तो की भी खूब खबर ली है । उनके इस नाटक का मूल सन्देश यह रहा है कि मौखिक देश-भक्ति से भारत का उद्धार नही होगा । इसके लिए रचनात्मक कार्यक्रम लेकर कर्मक्षेत्र मे उतरना होगा । साथ ही एक ओर देशभक्ति का जामा पहन कर जनता के सामने और दूसरी ओर श्रद्धा का लाभ उठाकर लोगो को लूटना देश-भक्ति नहीं, देशद्रोह है । ऐसे वचक देशभक्तो से जन-साधारण को सदैव सावधान रहना

चाहिए । मामाजी के इस नाटक ने इतना कार्य कर दिखाया, जितना कि बहुत से प्रचारक मिलकर न कर पाते ।

मामाजी उन लेखको मे से नहीं थे जो कि केवल लिखने के लिए ही लिखा करते है । वे जिस जनता के लिये साहित्य लिखते थे उसमे उसका प्रचार करने का भी प्रयत्न किया करते थे । यही कारण था कि वे न केवल नाटक लिखकर छोड़ देते थे बल्कि स्वयं अपने निर्देशन मे अभिनीत भी कराया करते थे ।

मामाजी ने गद्य-साहित्य की तीनो प्रमुख शाखाओं— उपन्यास, कहानी तथा नाटक मे लेखनी का चमत्कार दिखलाया है । उन्होंने 'सन्तुलन', 'अछूता प्यार', 'तूफान', 'खिलती कली' और 'एक जिन्दगी' आदि लगभग ५० पुस्तके लिखी हैं, जिनका मुल विषय राजनीति, राष्ट्रीयता, मानवता, नैतिकता एवं समाज सुधार रहा है और हिन्दी के जन-लेखक प्रेमचन्दजी की तरह उनकी पृष्ठभूमि किसान-मजदूर एवं पीड़ित वर्ग की दशा एवं सुधार-कार्यक्रमों पर ही आधारित रही है । अन्त मे साहित्यिकरूप मे समाज-सेवा करते हुए ८२ साल की आयु मे २३ सितम्बर १९६४ को परलोक सिधार गये । महाराष्ट्र के लेखक होने पर भी उनके जैसे निस्पृह, निर्लोभी लेखक देशभर के श्रद्धा-भाजन है ।

लोकप्रिय जन-कवि— रावर्ट फ्रोस्ट

अमेरिका के महान् कवि रावर्ट फ्रोस्ट उन कवियो मे नहीं थे जो यथार्थ के धरातल से दूर जाकर किसी कल्पना लोक मे विहार करते हुए जन-साधारण के लिए दुर्बोध बन कर जीवन के उस सौन्दर्य का दर्शन नही करा पाते जिसके लिए मानस लालायित रहा करता है । वे ठीक-ठीक जनता के कवि थे । उसी के जीवन के सत्यो को सीधी-सच्ची भाषा में व्यक्त करना उनकी कला थी ।

वे मानव जीवन के सत्य को सौन्दर्य का पुट देकर सामान्य भावनाओं के साथ सहानुभूति के साँचे में ढाल कर इस ढंग से उपस्थित किया करते थे जो मानव-हृदय को आन्दोलित किए बिना नहीं रहता । यही मानसिक आन्दोलन उनकी वास्तविक देन थी । वे ही बाते और वे ही भावनाएँ उनके काव्य का विषय रही हैं, जिनको हम सभी ने देखा है, देखते है और अनुभव करते है । जन-मानस की भावनाएँ उनकी भावनाएँ थी और उनकी भावनाएँ ही जनमानस की भावनाएँ बनी रहीं ।

रावर्ट फ्रोस्ट को मानवता से अगाध प्रेम था किन्तु वे उनकी कमियो, कुप्रवृत्तियों, कुंठाओ, अन्यायो, अत्त्याचारो और उत्पीड़नो को भी प्यार न कर सके । उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरी समाधि पर केवल [illegible] शब्द ही लिखे जाएँ—'यह व्यक्ति मानवता से विरक्त [illegible] बल्कि उसका रूठा हुआ प्रेमी था ।''

कवि रावर्ट फ्रोस्ट मे एक बड़ी विशेषता यह थी कि परम्परा, रूढ़ि, रीति अथवा पद्धतिबद्ध पुरातनता की लकीर के फकीर नहीं थे । अपनी कला को प्रगतिशील बनाने के लिए उन्होंने दृष्टिकोण को युग की आवश्यकता के अनुरूप बनाया था । पीछे चली आ रही धारा में नूतनता की तरंगें उठाने में वे भय अथवा संकोच के वशीभूत होना मानव की सबसे बड़ी कमजोरी मानते थे । जीवन की नई भावनाएँ, नई संवेदना, नई कल्पना उद्भासित करना ही उन्होंने अपनी कविता का लक्ष्य बनाया था । उनकी रचनाओं में निराशापूर्ण रोदन की वेदना नहीं आशा और अभिलाषाओं की पीड़ा पूर्ण अनुभूति भरी है । उन्होंने जीवन के ज्वलन्त सत्यों को दूर से नहीं बल्कि गहराई के साथ बैठकर देखा, उसे समझा और समझाया है ।

कवि रावर्ट फ्रोस्ट सौन्दर्य, सरसता और सुकुमार भावना के चित्रकार होने पर भी जीवन के शाश्वत सत्य संघर्ष से कभी विमुख न हो सके । वे हिम से अधिक अग्नि में विश्वास रखने वाले कवि थे । उन्होंने अपनी एक प्रसिद्ध रचना 'अग्नि और हिम' मे अपनी इस संघर्षप्रियता की झलक दी है । वे लिखते हैं-

''कुछ लोगो का विश्वास है कि विश्व का अन्त ज्वालाओ मे जलकर होगा और बाद मे हिम शेष रह जायेगा, किन्तु मैं मानव-जीवन को आशा, अभिलाषा और लालसाओ मे जलते देखकर इस विश्वास के लोगो के साथ सहमत होना चाहता हूँ कि विश्व का अन्त ज्वालाओं में जलकर होगा और अन्त में उसी की उष्मा शेष रह जाएगी ।''

अमेरिका के इस प्रेरक एवं लोकप्रिय कवि का जन्म २६ मार्च, १८७४ को सानफ्रांसिसको नगर में हुआ था । उनकी माता ईसावेल मूडी फ्रोस्ट को काव्य रचना में बड़ी रुचि थी । अपनी माता से संस्कार पाकर रावर्ट में भी कविता के प्रति रुचि जाग उठी और वे बहुत कम आयु में ही कविता लिखने का प्रयत्न करने लगे । उनकी उदार हृदया माता ने बालक रावर्ट को कभी हतोत्साह नहीं किया बल्कि वे प्रेमपूर्वक उसकी रचनाओ का सुधार करके उसका उत्साह बढ़ाया करती थीं ।

रावर्ट का प्रारम्भिक जीवन सामान्य गति से बहता चल रहा था । किन्तु मनुष्य की शक्तियो को उभारने के लिए और उसकी जीवन क्षमता की परीक्षा लेने की अभ्यस्त नियति को यह न भाया और उसने रावर्ट के पिता को संसार से उठा लिया । उस समय रावर्ट की आयु केवल ग्यारह वर्ष की थी और वे पाठशाला की प्रारम्भिक कक्षाओं को पार करने में लगे हुए थे ।

नियति के इस मर्म आघात से पारिवारिक-चक्र की धुरी टूट गई, जिससे जीवन मे एक अस्तव्यस्तता आने लगी । जो रावर्ट जीवन में महाकवि बनने की अभिलाषा से अपने भविष्य के सुन्दर स्वप्न बनाने में निश्चिन्त होकर लगा था, उसने टूटते भविष्य में कन्धा लगाने के लिए अपने स्वर्णिम स्वप्नों का सृजन छोड़ नहीं दिया, प्रत्युत् स्थगित कर दिया ।

वह इस निश्चय के साथ स्वप्न लोक से वापस आकर यथार्थ के काँटे पर उतर पड़ा कि पहले नियति की इस निर्ममता से निपट कर पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा करेगा और पुन अपने स्वप्नों को साकार करने की ओर उन्मुख होगा ।

उसने मेज, कुर्सी और किताबों के साथ अपने निवास कक्ष को विद्यालय मानकर स्कूल छोड़ दिया और एक मिल में मजदूरी कर ली । उसकी माता पुत्र की शिक्षा का विवशतापूर्ण स्थगन देख कर उदास हो उठी । राबर्ट ने समझाया—"मम्मी, तुम उदास क्यों होती हो । मैं बिना कालेज के ही विद्वान बनकर दिखाऊँगा और यदि परमात्मा की इच्छा विपरीत न हुई तो अवश्य ही एक अच्छा कवि बनकर तुम्हारी हार्दिक इच्छा पूरी कर दूँगा! सुख और सुविधापूर्ण जीवन के साथ तब मैं अधिक से अधिक व्यक्तिगत भावनाओं का एक साधारण गायक ही बन पाता किन्तु अब अभाव एवं संघर्षपूर्ण परिस्थिति में पड़कर जन-मानस का आन्दोलनकारी कवि बनकर जीवन के यथार्थ सत्यों को उद्‌घाटित करूँगा ।"

राबर्ट अपने विचार एवं निश्चय के अनुसार दिन मे मेहनत-मजदूरी करता हुआ रात में घर पर विद्याध्ययन करता रहा । अब उसका दृष्टिकोण काल्पनिक न रहकर यथार्थवादी होने लगा, जिससे आगे चलकर उसे लोकप्रिय बनाने में सराहनीय योगदान दिया ।

मिल की मजदूरी से जीवन की गाड़ी को और अनवरत अध्ययन से अपनी योग्यता को दूर तक खींच लाने के बाद राबर्ट ने मिल का काम छोड़ कर प्रतिभा प्रकाश के मन्तव्य से पत्रकारिता के साथ-साथ शिक्षक का काम अपना लिया । बौद्धिक-क्षेत्र मे आकर उसने अपनी पुरानी कविताओ का संशोधन, संवर्द्धन एवं शालीन सस्कार किया और अनुभव को भावों के आधार बनाकर नई-नई कविताएँ लिखनी आरम्भ कर दीं । लगभग १८-१९ साल अभ्यास एवं लेखन करने के बाद 'माई बटर फ्लाई' (मेरी तितली) नामक अपनी पहली कविता प्रकाशित कराई, जिसने राबर्ट के भविष्य की सूचना देकर लोगो का ध्यान आकर्षित किया ।

परिस्थिति-वश विचार-विरोध तथा सिद्धान्त-संघर्ष हो जाने से राबर्ट ने पत्रकारिता तथा शिक्षण की नौकरी छोड़कर स्वतन्त्र-जीविका-साधन के लिए एक खेत का प्रबन्ध करके कृषि-कार्य शुरू कर दिया । वे अधिक से अधिक यथार्थ जीवन तथा ठोस धरातल का अनुभव प्राप्त करना चाहते थे । किन्तु उन्होंने कुछ समय में अनुभव कर लिया कि कृषि का अणु क्षण व्यस्त रखने वाला काम परिश्रम का तथा जीविका के साधन तो देता है किन्तु उनके काव्य-विकास के आड़े आता है । निदान अपने जीवन उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने धन-धान्यदात्री कृषि को छोड़कर अपना पूरा समय काव्य अनुशीलन तथा लेखन मे लगा दिया और अमेरिका मे क्षेत्र की कमी देखकर इंग्लैड चले आये ।

इंग्लैड की जनता ने उनके उद्देश्य तथा प्रगतिशील काव्य-धारा का समुचित स्वागत किया, जिससे उनके शीघ्र ही दो काव्य-संग्रह 'ए वाथिज विल' तथा 'नार्थ आफ बोस्टन' प्रकाश में आए, जिन्होंने राबर्ट को लोक-प्रियता की एक लम्बी-चौड़ी परिधि में लगा दिया । उनकी ख्याति ने अमेरिकावासियों को अपनी गुणग्राहकता की कमी पर पश्चाताप करने के लिए विवश किया जिससे उन्होंने अपने प्रवासीकवि को आग्रहपूर्वक मातृ-भूमि में बुलाकर पिछली भूल का परिमार्जन किया ।

श्री राबर्ट फ्रोस्ट ने चार बार (पुलित्जर) नामक सर्व सम्मानित पुरस्कार और अमेरिका की सीनेट-सभा से प्रशस्तिपूर्ण सम्मान-पत्र पाकर नवासी वर्ष की आयु में सन् १९६२ में स्वर्गारोहण किया । मानव की सच्ची अनुभूतियों से भरपूर होने के कारण उनकी रचनाएँ जिस प्रकार आज लोकप्रिय हैं उसी प्रकार आगे भी युग-युग तक लोकप्रिय बनी रहेगी ।

विद्या को सार्थक बनाने वाले महामनीषी भाऊजी

विद्या का उद्देश्य क्या ? इस प्रश्न का उत्तर आज जिस रूप में तथाकथित शिक्षित लोगों ने दिया है उससे न विद्या का गौरव बढ़ा है और न वे शिक्षित लोग ही विद्वान होने का मान प्राप्त कर सके हैं । अधिक पैसे वाली, अधिक आराम की, अधिक रौब-दौब की नौकरी पाने के लिए आमतौर से लोग अधिक पढ़ने का कष्ट उठाते हैं । मनचाही नौकरी मिल जाने पर वे अपना श्रम सार्थक समझते हैं और यदि उससे कमाई में अधिक योग न मिला तो यही मानते हैं कि उन्होंने पढ़ाई व्यर्थ की ।

जिस जमाने मे शिक्षा के सम्बन्ध में ऐसी ओछी विचारणा सर्वसाधारण के मस्तिष्क पर अधिकार कर बैठी हो उपासना के लिए, आत्म-उत्कर्ष के लिए पढ़ने वाले व्यक्ति को आश्चर्य की दृष्टि से ही देखा जायगा । नागपुर के ज्ञानोपासक 'भाऊजी' जिनका असली नाम केशवजी लक्ष्मणजी दफ्तरी था, इसी प्रकार के व्यक्ति थे । जिनकी ज्ञान-साधना को सामान्य-स्तर के समकालीन लोगो ने उपहास की दृष्टि से देखा पर आज जब वे नहीं हैं, उनकी जीवन-साधना पर विचार करने वाला हर व्यक्ति यही मानता है कि ज्ञान का गौरव बढ़ाने के लिये, विद्या का समुचित लाभ प्राप्त करने के लिए भाऊजी जैसी आस्था ही अभीष्ट है ।

भाऊजी के पिता मामूली 'शिक्षक' थे । शिक्षक माने 'गरीबी' की उक्ति के वे भी अपवाद न थे । पिता ने निरन्तर प्रयत्न किया कि उनका पुत्र विद्या का धनी बने । उसके लिए उन्होंने शक्ति भर प्रयत्न भी किया । बालक की अभिरुचि ने सोने मे सुगन्ध का काम किया । उसने 'ज्ञान के लिये ज्ञान' का लक्ष्य रखकर पढ़ाई आरम्भ की । नौकरी जैसे तुच्छ प्रयोजन के लिए विद्या पढ़ने की बात कहने वालों से उन्हें

चिढ़ थी । ऐसे प्रसंग आने पर वे सदा यही कहते विद्या प्राप्ति का आत्मिक-लाभ ही उतना बड़ा है कि उसके सामने आजीविका जैसे प्रश्न को जोड़ा ही न जाना चाहिए । बालकपन मे ही उन्होने विद्या का वास्तविक लाभ उठाने के लिये पढ़ाई आरम्भ की थी । जीवन के अन्त तक, ७० वर्ष की आयु मे भी वे एकनिष्ठ भाव से वैसे ही विद्यार्थी बने रहे जैसे कि स्कूल मे भर्ती होने के दिन थे । उनके अध्ययन का क्षेत्र इतना विशाल था कि किसी भी विषय में वार्तालाप करने पर उनके अगाधज्ञान का सहज ही परिचय मिलने लगता था ।

स्कूली विषयो के अतिरिक्त उन्होने ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण, योग, चिकित्सा, दर्शन आदि अनेक विशिष्ट विषयों का गम्भीर अध्ययन किया । अध्ययन के लिए वे चोटी के विद्वानो से शिक्षण प्राप्त करने के लिए दूर-दूर प्रान्तो में गए ।

२१ वर्ष की आयु मे जब उन्होने गणित के विषय मे सम्मान के साथ बी.ए. पास किया तो अधिकारियो ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर नागपुर मौरिस कालेज मे इतिहास और न्यायशास्त्र का प्राध्यापक नियुक्त कर दिया । परन्तु वे देर तक उस बन्धन मे बँधे न रह सके । उन्होने वकालत की उच्च-परीक्षा पास कर ली । सरकार उन्हे न्यायाधीश की नौकरी देना चाहती थी पर उन्हे तो ज्ञान की साधना करनी थी । इस नियुक्ति से उन्होने स्पष्ट इनकार कर दिया और काटोल जैसे छोटे गाँव मे वकालत करके थोड़ी-सी गुजर की व्यवस्था करके अपने आगे के अध्ययन मे निमग्न हो गये ।

अपनी ज्ञान-साधना का लाभ सर्वसाधारण को देने के लिए उन्होने अनेक शोधपूर्ण-ग्रन्थो की रचना की । पाणिनि के संस्कृत व्याकरण सूत्रो की तरह उन्होने 'मराठी व्याकरण सूत्र' की अद्भुत रचना की । ज्योतिष शास्त्र सम्बन्धी ग्रह 'गणित कौतूहल' लिखा और लोकमान्य तिलक की सूचनानुसार 'कारणकल्पलता नामक परितोषिकार्ह' ग्रंथ लिखा । राजनीति सम्बन्धी राज्य शासन, ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ । धर्म-विषयक 'धर्म-रहस्य' और 'धर्म विवाद कल्प' पुस्तको ने धार्मिक जगत मे प्रतिष्ठा पाई और आरोग्य सम्बन्धी 'चिकित्सा परीक्षण' एवं 'स्वचिकित्सा प्रकाशिका' पुस्तके प्रख्यात हुई । इन रचनाओं को पढ़कर उनके विशाल अध्ययन और चिन्तन-मनन का अनुभव सहज ही लगाया जा सकता है ।

वह ज्ञान क्या जो कर्म मे न उतरे । इस आदर्श को भाऊजी ने सदा सामने रखा और जो पढ़ा था उसके निष्कर्ष को कार्यान्वित करने मे समय-समय पर अद्भुत साहस का परिचय देते रहे । सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन के समय नागपुर में राष्ट्रीय-महाविद्यालय की स्थापना हुई और उसके लिए ऐसे आचार्य की खोज हुई जो छात्रों में सच्चरित्रता व देशभक्ति कूट-कूटकर भर सके । यह उत्तरदायित्व भाऊजी ने उठाया । उन्होने वकालत छोड़ दी । और अवैतनिक रूप से उस कार्य को बड़ी सुन्दरता और सफलता के साथ चलाते रहे । सन् १९३० के स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होने आगे बढ़कर भाग लिया । वे

गिरफ्तार किए गए और सपरिश्रम कठोर दण्ड भोगने के लिए
कारावास भेज दिए गए । उनके पुत्र ने भी पिता का अनुकरण
किया और वे भी कारावास पहुँचाये गए ।
सजा के साथ जुर्माना भी हुआ था जिसे देने से इनका
करने पर पुलिस ने उनके घर का पूरा सामान जब्त लिया ।
उनकी पत्नी ने भगवान की मूर्ति को जब्त न करने का अनुरोध
किया, पर भाऊजी ने उन्हें रोकते हुए कहा—"मनुष्य को तो
भगवान को भी अपना नहीं कहना चाहिए ।" निर्लोभिता और
सन्त-प्रवृत्ति के और भी अनेक प्रसंग उनके जीवन में मिलते
है । धन और मान के लिए उनके मन में रत्ती भर आकांक्षा
न थी । विद्वानो को सम्मानार्थ दी जाने वाली 'महामहोपाध्याय'
की सरकारी पदवी को उन्होने ठुकरा दिया । अन्तत
नागपुर-यूनिवर्सिटी ने उन्हे डी-लिट. की सम्मानित पदवी से
विभूषित कर ही दिया ।
भाऊजी होम्योपैथी के प्रशंसक थे । एलोपैथी पर उ
विश्वास न था । उनका लड़का ऐलोपैथी का डाक्टर होकर
आया और घर पर दवाखाना चलाने की इच्छा प्रकट की तो
उन्होने इनकार करते हुए कहा—मेरे घर में मेरे ही सिद्धान्तों
के विपरीत आचरण नही हो सकता । कथनी और करनी में
भिन्नता उन्हें सहन नही हुई । या तो वे घर छोड़ते या लड़के
को अन्यत्र दवाखाना रखना पड़ता । अन्ततः घर मे अच्छी
जगह होते हुए भी डॉक्टर लड़के को अपना व्यवसाय दूसरी
ही जगह ले जाना पड़ा ।
सन् ३२ मे गाँधीजी ने यरवदा जेल मे 'अस्पृश्यता
निवारण' आन्दोलन गतिशील किया तो इस बात की
चख-चख चल पड़ी कि "हिन्दू धर्म मे अस्पृश्यता को स्थान
है या नहीं ?" रूढ़िवादी लोग इस सुधार का विरोध कर
रहे थे । वे अपने पक्ष मे धर्मशास्त्र का मन्तव्य होने की
दुहाई देते थे । इस अवसर पर शास्त्रार्थ को चुनौती देने
वालों मे भाऊजी अग्रिणी थे । उन्होने असंख्य प्रमाण देकर
यह सिद्ध किया कि हिन्दू-धर्म मे अस्पृश्यता के लिए कोई
स्थान नहीं, वह मानव-मात्र की समानता के सिद्धान्त का पोषक
है । रूढ़िवादियो की बोलती बन्द करने में भाऊजी की
अद्भुत प्रतिभा का सर्वत्र स्वागत किया गया ।
मिट्टी के तेल के छोटे से चिराग के धुँधले प्रकाश का
रात-रात भर लेखन और वाचन मे संलग्न ७० वर्षीय भाऊजी
प्राचीनकाल के उन सन्त-ब्राह्मणो का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत
करते थे जिन्होने अपनी विद्या और प्रतिभा की कीमत वसूल
करने से स्पष्ट इनकार करते हुए स्वेच्छा से दारिद्र्य का वरण
किया था । वे बहुत पढ़े, उन्होने बहुत सोचा, बहुत लिखा
और बहुत किया वह रोटी का लक्ष्य रखकर नहीं । उनके
सामने 'स्वान्त: सुखाय' और 'जगजन हिताय' के ऊँचे आदर्श
उपस्थित थे । पैसे-कौड़ी के लिये विद्या पढ़ने और पढ़कर
नौकरी की बात सोचने वालों की श्रेणी से उन्होने अपने को
ऊँचा रखा । ऊँचे दृष्टिकोण वाले व्यक्ति ऊँचे ही रहते और
ऊँचे ही उठते है । भाऊजी का शरीर अब नहीं है । आज
से आठवर्ष पूर्व वे महाप्रयाण कर गये पर उनकी हिमालय

जैसी ऊँचाई दूसरे को ऊँचे उठने के लिये—ऊँचा सोचने और ऊँचा करने के लिए चिरकाल तक विद्यमान रहेगी।

एक भूला हुआ तत्वज्ञानी—पाइथागोरस

दुनिया भर के बच्चों को पाइथागोरस के गणित के सिद्धान्तों के साथ संघर्ष करना पड़ता है। वे परेशान हो जाते हैं और शायद सोचते होंगे पाइथागोरस गणित के सिवा और कुछ नहीं जानते थे और बच्चों की शिक्षा मे गणित विषय थोपकर उन्होंने एक आफत खड़ी कर दी है। शायद इसी कारण से आधुनिक दुनिया के लोगों ने पाइथागोरस के विचार और जीवन से बहुत दिलचस्पी नहीं दिखायी। वास्तव में पाइथागोरस केवल गणित के ही विशेषज्ञ नहीं थे, वे एक सर्वांगीण विचारक एवम् विद्वान भी थे। उनकी विशेषता यह थी कि वे गणित, विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय की आवश्यकता बहुत अच्छी तरह समझते थे।

पाइथागोरस का जन्म यूनान में ईसवी पूर्व छठी शताब्दी मे हुआ था अर्थात् वे महात्मा बुद्ध और स्वामी महावीर के समकालीन थे। उन्हीं की तरह अहिंसक जीवन का महत्व ध्यान मे लेकर उन्होंने अपना प्रचार किया।

अपना समस्त जीवन उन्होंने ज्ञान की खोज में बिताया। अपने को वे गणितज्ञ नहीं, तत्व-चिन्तक मानते थे। तत्व-ज्ञानी की व्याख्या वे इस प्रकार करते थे-कुछ लोगो के जीवन मे धन प्राप्ति एकमात्र प्रेरणा होती है, कुछ लोग सत्ता और दण्ड शक्ति की प्राप्ति चाहते हैं, लेकिन श्रेष्ठ पुरुष अपना समय जीवन के अर्थ और हेतु की खोज में लगाता है, वह प्रकृति के रहस्यो को समझने का प्रयत्न करता है, ऐसे मनुष्य को वे तत्वज्ञानी मानते थे।

पाइथागोरस के विचार के अनुसार नैतिकता यानी सब पर प्रेम करना, प्राणीमात्र के लिये प्रेम के ऐक्य का—अद्वैत का वे प्रचार करते थे। इस सिद्धान्त के कारण उनके जीवन में व्यावहारिक करुणा का तत्व प्रमुखतया रहा। पशु-पक्षी मानव के छोटे भाई है—यह थी उनकी सिखावन और इसलिए किसी प्रकार की हिंसा का वे कतई समर्थन नहीं करते थे। कसाई की दुकान उनके लिए सर्वथा वर्ज्य थी। उन दिनों यूनान के मिंरों में पशु-बलि की प्रथा प्रचलित थी पर पाइथागोरस की पूजा वेदी पर पशु बलिदान के बदले फल-फूल अर्पित करने से होती थी। घास के बने पशु और शहद अर्पित होता था।

एक बार वेदी के सामने पाइथागोरस मौन खड़े थे। किसी ने उनसे पूछा—"आप प्रार्थना क्यों नहीं करते? झट पाइथागोरस ने उत्तर दिया—"*मैं प्रार्थना कर चुका हूँ।* देवता मेरे मन के गुप्त विचार को पढ़ सकते हैं। उनको शब्दों की आवश्यकता नहीं रहती।" पाइथागोरस के विचार मे प्रार्थना का स्वरूप श्लोकों को दोहराना या याचना करना नहीं है, अपितु भाव और वृत्ति का वह सवाल है। वे कहते थे कि प्रार्थना करते समय हमें अपने हित की याचना नहीं करनी चाहिए। अपने साथी तथा भूतमात्र के कल्याण की याचना करनी चाहिए।

पाइथागोरस के विचार से ब्रह्माण्ड में सर्व-शक्तिमान परमात्मा का वास है। ब्रह्माण्ड का निर्माण करने वाला, उसे व्यवस्थित रखने वाला वही एक है। वह सर्व शक्तिमान, सर्व-साक्षी और सत्यस्वरूप है। मनुष्य उस अनन्त, सर्वव्यापी परमात्मा का ही अंश है। इस प्रकार पाइथागोरस अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करते थे और महात्माबुद्ध की तरह विचार और कर्म दोनों में मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन करते थे।

किसी प्रकार के दबाव या गुलामी को वे कतई पसंद नहीं करते थे। उन दिनों यूनान में गुलाम रखने की प्रथा प्रचलित थी और उसे कानूनी मान्यता भी प्राप्त थी। धनी परिवार मे विरासत के रूप में उन्हे मिले हुए सभी गुलामो को उन्होंने मुक्त कर दिया था।

उनकी करुणा न केवल मानव तक ही सीमित थी, बल्कि प्राणिमात्र के लिये उनका हृदय करुणा बरसाता रहता था। वे मानते थे कि मानव और पशु में अन्तर केवल इतना ही है कि मानव को विवेक बुद्धि प्राप्त है, जो कि पशुओ के पास नहीं है अन्यथा दोनो एक ही परमात्मा की सन्तान हैं।

पाइथागोरस के विचारो के अनुसार प्रमुख पहलू निम्न प्रकार से ध्यान मे रखे जा सकते हैं—

अहिंसक व्यवहार से शत्रुओं को भी मित्र बनायें।

हर तरह की परिस्थिति में तथा हर बात पर शान्त, सन्तुलित मन से विचार करें। चित्त की शान्ति कभी न खोयें।

मित्रो के दोषो की अत्युक्ति न करे। किसी को बदनाम न करें। अपने को बदनाम करने वालों से बदला न ले। बुराई का बदला भलाई से दे।

क्रोध, अहंकार तथा स्वार्थ से बचें।

हर रात सोते समय सोचें—आज मैने कौन-सा अच्छा काम किया? मुझसे क्या गलतियाँ हुई? कौनसा कर्तव्य निभाने मे असमर्थ रहा?

हमेशा भलाई करने की आदत डालनी चाहिए। इससे आत्म-विकास के द्वारा आप उस मार्ग पर पहुँचेंगे, जो आपको मानवीय कमजोरियों से दूर ले जावेगा। सच्चा-आनन्द औरों की सेवा करने में तथा उनके जीवन मे सुख लाने मे है, अपने को उनके साथ एक रूप बनाने में है।

आत्मा की आवाज के निर्देश को हमेशा मानें। आत्मा की आवाज सुनना कठिन नहीं है अगर हम धीरज से सुनना चाहें। इससे आप जीवन के एक अच्छे स्तर पर पहुँच सकते है तथा ईश्वर की तरह अनन्त और अविनाशी बन सकते हैं जीवन भर पाइथागोरस का यही प्रयास रहा कि चित्त से अज्ञान हटे और शरीर से रोग मिटे। सत्य, प्रेम, करुणा के पथ

पर चलने से अज्ञान हट जाता है तथा सरल प्रामाणिक जीवन एवं प्राणिमात्र की सेवा से शरीर के रोग मिट जाते है ।

कन्नड़ के उद्धारक—महाकवि मुद्दण

आज जिस कन्नड़-भाषा को आदर की दृष्टि से देखा जाता है और समृद्ध साहित्य माना जाता है, उसकी यह स्थिति उस समय नहीं थी । वह समय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का समय था । अँग्रेजी राज्य और अँग्रेजी कूटनीतिज्ञ भारत की हर भाषा को गिराने और मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे । उनके स्थान पर अँग्रेजी-भाषा का महत्व बढ़ा रहे थे । वे जानते थे कि जिसकी भाषा चली गई उसका सब कुछ चला गया ।

अँग्रेजों की यह कूटनीति सफल हो रही थी । देश का हर प्रान्त अपनी मातृ-भाषा की ओर से उदासीन होकर अँग्रेजी को अपनाता चला जा रहा था । दक्षिण का कन्नड़ प्रदेश भी इस दोष से मुक्त न था । कन्नड़ की शिक्षित जनता अँग्रेजी की माया मे फँसती जा रही थी । अँग्रेजी पढ़ना, बोलना और लिखना गौरव और सभ्यता की बात समझी जाती थी । अपनी मातृ-भाषा के किसी भी विद्वान को आदर नहीं मिलता था । कन्नड़-जनता स्वयं अपनी ही भाषा को हेय दृष्टि से देखने लगी थी । यह स्थिति निस्सन्देह किसी भी देश के लिये भयानक होती है । इस भाषा की दासता से देश न केवल राजनीतिक दासता मे ही फँसता चला जाता है, बल्कि सांस्कृतिक गुलाम भी बन जाता है और जल्दी ही अपने स्वरूप को भूल कर अस्तित्व खो बैठता है ।

ऐसे अँधेरे समय मे कन्नड़ के कवि श्रीमुद्दण ने भाषा का उद्धार करने के लिये जो सेवाएँ की थी वे कन्नड़ के इतिहास मे सदा अमर रहेगी । यद्यपि उस समय कन्नड़-भाषा मे साहित्य रचना बेकार का श्रम माना जाता था । कोई भी उसे न प्रकाशित् करता था, न खरीदता था और न पढ़ता ही था । कन्नड़-भाषा में लिखना-पढ़ना पिछड़ेपन की निशानी मानी जाती थी । कन्नड के साहित्यकार को न सम्मान मिलता था, न श्रेय और न यश । अर्थ-लाभ होने का तो प्रश्न ही नहीं था । उस समय उस भाषा मे साहित्यिक श्रम करना विशुद्ध रूप से एक त्याग तथा सेवा ही थी, जिसमें पाना तो क्या पास से ही कुछ देना था । किन्तु श्रीमुद्दण ने इन सब प्रतिक्रियाओं की परवाह नहीं की और उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे यथासम्भव कन्नड़-भाषा को जन-प्रिय बनाने के लिये उसमें ही साहित्य-रचना करेंगे, फिर चाहे उनका सारा श्रम तथा समय, लाभ की दृष्टि से बेकार चला जाये । उन्होंने सोचा कि किसी बड़ी सफलता और वह भी सार्वजनिक सफलता के लिये प्रयत्नों की एक लम्बी परम्परा चला करती है । न जाने कितने लोग उसका सूत्रपात करने में ही अनाम जीवन देकर बलिदानियो के ज्योति-लोक में चले जाते है और न जाने कितने उसे आगे बढ़ाने मे अपने सारे समय और श्रम को बिना किसी श्रेय के दान कर देते है । जब तक यह परम्परा दूर तक नहीं चलती और लोग नाम-दान के चक्कर में सेवाओं का मोल-भाव करते रहते है, तब तक कोई सामाजिक तथा राष्ट्रीय उपलब्धि प्राप्त नहीं होती । किसी भी सफलता के ऊँचे और विशाल-भवन के लिये मजबूत और सच्चे पत्थरों की आवश्यकता होती है । बाग लगवाने वाला कदाचित् ही उसके फलों का लाभ उठा पाता है । यदि यही सोचा जाने लगे कि जब मुझे फल न मिलना है तो बाग लगाना ही बेकार, तो शायद संसार में एक भी बाग न लगाया जाये । मुझे हर मूल्य पर भाषा की सेवा करनी है, नींव का पत्थर बनना है ।

इस महान विचारक, भावुक और निःस्पृह कवि मुद्दण का जन्म दक्षिण कर्नाटक के उडपी तालुका के नन्दति में २४ जनवरी, १८६९ को एक निर्धन परिवार में हुआ और उन्होने ६५ वर्ष का निष्काम-कर्मयोग का जीवन बिता कर १५ फरवरी, १९३४ को शरीर छोड़ कर परलोक लाभ लिया ।

इनका संस्कारि नाम लक्ष्मीनारायण था । किन्तु इनके माता-पिता इन्हें मुद्दण कह कर ही पुकारते थे, जिसका अर्थ कन्नड भाषा मे प्यारा है । अपने इस प्यारे पुत्र को माता-पिता ग्रामीण पाठशाला से अधिक शिक्षा न दिला सके । किन्तु, मुद्दण की कामना आगे पढ़ने की थी निदान वह माता-पिता से अनुमति लेकर उडपी के एक हाईस्कूल मे दाखिल हो गया । किन्तु माता-पिता उसे गुजारा करने भर को आटा-दाल भी न दे सके । विवश होकर उसको स्कूल छोड़ देना पड़ा । किन्तु उसने निरन्तर अध्ययन का क्रम नहीं छोड़ा और दिन-दिन अपनी योग्यता बढ़ाता रहा ।

घर आकर मुद्दण अपने माता-पिता के काम मे सहयोग करने लगा । उसके पिता कथा-वाचक का काम करते हुए एक देव-मन्दिर मे पुजारी का काम करते थे । मुद्दण के पिता एक सप्ताह में एक बार मन्दिर मे कीर्तन का आयोजन करते थे और वर्ष मे एक सप्ताह देव-उत्सव मनाया करते थे । उसमे संगीत, नाच तथा कीर्तन के कार्यक्रम चला करते थे । किन्तु वे सारे कार्यक्रम बड़े ही पुराने तरह के असस्कृत तथा निरुद्देश्य ही होते थे । एक साधारण मनोरजन के सिवाय इनका न तो कुछ ध्येय होता और न उपयोगिता ।

मुद्दण ने इन बातो को देखा और उनकी प्रकृति का अध्ययन किया और उसी में से अपना कर्तव्य निकाल लेने का निश्चय कर लिया । जल्दी ही बड़े परिश्रम तथा सलग्नता के आधार पर उन्होने सगीत का स्तरीय अभ्यास कर लिया और लोक-नृत्य एवं अभिनय-कला का ज्ञान प्राप्त कर लिया । योग्यता-लाभ करने के बाद मुद्दण अविलम्ब ही उसके उपयोग मे लग गये । उन्होने सारे सास्कृतिक-कार्यक्रम पिता के हाथ से ले कर अपने जिम्मे कर लिये ।

सब से पहले श्रीमुद्दण ने सुललित कन्नड़ भाषा में हरिभजन तथा कीर्तन की रचना की । उन्हे संगीत के नियमों

में सिद्ध किया और स्वयं समारोहो मे सम्मिलित होकर मोहनी डालने लगे। उनके भजनो तथा कीर्तनों का इतना प्रभाव पड़ा कि वे जल्दी ही लोकप्रिय हो गये और शिक्षित लोगों के समारोहों में याद एवं आमन्त्रित किये जाने लगे।

अब श्री मुद्दण ने साहित्यक-स्तर के भजन तथा कीर्तन लिखे और उन्हें ऊँचे समाजो मे सुन्दर संगीतमयता के साथ गाया। उनकी प्राणस्तरीय तन्मयता तथा लक्ष्य के प्रति सत्य-निष्ठा की प्रेरणा ने उनके कीर्तनों तथा भजनों मे जादू भर दिया और पहली बार लोगो ने अपनी मातृ-भाषा की मधुरता तथा शक्ति का अनुभव किया। व्याकुल भावना के साथ जो कार्य सदुद्देश्य के लिये किया जाता है, वह अपना वांछित प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। लोगों ने न केवल उनके गीत तथा कीर्तन सुने ही, बल्कि कण्ठस्थ कर लिये। किन्तु, जब लोग उनसे उनके रचयिता के विषय मे पूछते, तो वे उस बात को पूरी तरह टाल जाते थे। वे नहीं चाहते थे कि लोग यह जानें कि यह रचनाएँ मुद्दण जैसे गरीब तथा अल्प-शिक्षित व्यक्ति की हैं। क्योंकि इस प्रकार कर्तव्य की छाप व्यक्तित्व पर भी पड़ती है जिससे उसके मूल्यन तथा अवमूल्यन की सम्भावना रहती है। मुद्दण केवल काम चाहते थे, नाम नहीं। साथ ही वे मानव-हृदय की इस दुर्बलता से भी अनभिज्ञ नहीं थे कि लोकप्रियता तथा नामवरी के भार से प्रायः मनुष्य की कार्यक्षमता कम हो जाती है और वह उद्देश्य की अपेक्षा अपनी लोक-स्थिति की रक्षा करने की ओर अधिक ध्यान देने लगता है, जिससे कभी-कभी उसे चतुराई तथा आवसरिकता का भी सहाय लेना पड़ता है। इन सब सम्भावनाओं तथा निरर्थकताओ से बचने के लिये श्रीमुद्दण, कवि के रूप मे अपने को छिपाये रखना ही ठीक समझते थे।

भजन-कीर्तनो के साथ-साथ श्री मुद्दण ने अनेक लोक-नाटको तथा सामूहिक नृत्यो का भी समारोह आयोजित किया, जिसमे कन्नड़-भाषा के लिखे विस्मृत नाटको को अभिनीत कराया और स्वयं ही उनमे निर्देशन दिया। उनके तत्वावधान में अभिनीत नाटक इतने सफल तथा प्रभावशाली सिद्ध हुए कि लोग उनकी प्रतियों की माँग करने लगे। इसके अतिरिक्त श्री मुद्दण ने संस्कृत तथा प्राचीन भाषाओ के सुन्दर-सुन्दर नाटको को कन्नड़ मे भाषांतरित कर अभिनीति कराया, जिससे कन्नड़ की साहित्य-समृद्धि के साथ-साथ लोक-रुचि मे भी जागरण आया और लोग उसका साहित्य पढ़ने के लिये लालायित हो उठे।

इन महती सेवाओ के प्रभाव में बुद्धिमान लोगो ने इस साहित्य तथा सांस्कृतिक स्रोत को पहचानना प्रारम्भ कर दिया और तत्कालीन विद्वान् श्रीमल्ली सुब्बाराव ने मुद्दण को अपने सम्पर्क में ले लिया। श्री सुब्बाराव की प्रेरणा तथा परामर्श से मुद्दण ने संस्कृत-ग्रन्थो के आधार पर 'रत्नावली-कल्याण' तथा 'कुमारविजय' जैसे सुन्दर, सरस तथा गेय काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया। ये दोनों ग्रन्थ यक्षगान जैसे ग्रन्थो की प्रकृति के थे। उन दिनों यक्षगान के आधार पर गीत तथा नृत्य कन्नड़ मे बहुत जन-प्रिय बने थे। किन्तु इनके अच्छे ग्रन्थों की कमी थी। श्रीमुद्दण ने उस कमी को सुचारु रूप से दूर किया, जिसका फल यह हुआ कि इन दोनों ग्रन्थों को लोगो ने हाथों-हाथ लिया और वे उनके माध्यम से अनायास ही अपनी मातृ-भाषा के सौष्ठव तथा आदर के समर्थक बन गये।

इतना काम करने के बाद मुद्दण ने अपने उद्देश्य की प्रगति पर विचार किया और उसका पता लगाने के लिये यात्रा की। उन्होंने पाया कि कन्नड़-भाषा का प्रचार हुआ जरूर है, लेकिन एक सीमित समुदाय तक ही। अभी यह सार्वजनिक भाषा नहीं बन पाई है। उनको इसका कारण खोज निकालते देर न लगी। कारण था उनकी रचनाओं का पद्य में होना। पद्य न तो लोगो को बोलने और लिखने के लिये अधिक प्रेरित कर पाता है और न सर्वसाधारण उसे सरलता से ग्रहण कर पाते हैं। निदान उन्होने 'पद्यं-वद्यं-गद्यं हृदयं' के सिद्धान्तानुसार गद्य मे लिखने का निश्चय किया। इस निश्चय में और भी अधिक अश्रेयता की सम्भावना थी, क्योंकि उस समय साहित्य का अर्थ पद्य ही था। गद्य में लिखने का तो न रिवाज ही था और न लोग उस ओर प्रवृत्त होते थे। किन्तु किसी भाषा के प्रचार के लिये गद्य-साहित्य का माध्यम सबसे उपयोगी माध्यम होता है। अस्तु श्रीमुद्दण ने गद्य में लिखना प्रारम्भ कर दिया और 'रामाश्वमेध' 'राम-पट्टाभिषेक' और 'अद्भुत-रामायण' नाम के तीन ग्रन्थों को श्री मुद्दण ने इतनी सरल, सरस और हृदयग्राही शैली में लिखा कि लोगों को पढ़कर विश्वास हो गया कि कन्नड़-भाषा काफी समर्थ, विचारवाहिनी एवं सरस है और इसमें कुछ भी अच्छे से अच्छे ढंग से लिखा जा सकता है। इस प्रकार प्रयत्न और परिश्रम से श्री मुद्दण ने अपने जीवन में ही लोगों को कन्नड़-भाषा की ओर प्रवृत्त होते देख लिया जिससे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ।

किन्तु इन निस्पृह और निर्लोभ उद्देश्य-सेवी महाकवि और साहित्यकार ने कदाचित् ही किसी ग्रन्थ मे अपना नाम दिया और उसके प्रकाशन और प्रसार का लाभ उठाया। इतना मूल्यवान् काम करने पर भी महाकवि मुद्दण अपनी मातृ-भाषा कन्नड़ को समृद्ध और जनता मे उसका प्रसार कर जिस गरीबी में पैदा हुए थे, उसी में मर गये। तथापि अमीरी में पाला हुआ उनका शरीर यों भी साथ न जाता जबकि गरीबी की तपस्या के बीच उन्होंने जो पुण्य और पश्चात् यश उपार्जित किया वह उनके साथ आज भी है।

नई शिक्षा के निर्माता—
आचार्य आर्यनायकम्‌जी

श्री आर्यनायकम् लंका में जन्मे, शान्ति-निकेतन में पढ़े और वहीं बंगाली विदुषी आशादेवी से प्रणय-बन्धन में बँधे थे। कुछ समय पूर्व देवी जी के साथ आप अपनी डाक्टरी जाँच के लिये दक्षिण भारत गये हुये थे। वहीं से अपने

रुग्ण भाई को देखने लंका गये और वहाँ ७४ वर्ष की अवस्था में हृदय की गति रुक जाने से स्वर्ग सिधार गये ।

आचार्य आर्यनायकम्‌जी के निधन से देश का एक महान्‌ शिक्षा-शास्त्री, गाँधीवाद का सक्रिय भाष्यकार तथा नई शिक्षा का निर्माता महापुरुष उठ गया । गाँधी जी सेवाग्राम में थे तब उन्होंने अपने पास बड़े-बड़े विद्वानों को रखा था और उनको अलग-अलग विधायक काम सौंप दिये थे तथा वे स्वयं सबके कामों का सरसरी तौर से निरीक्षण करते रहते तथा समय-समय पर आवश्यक आदेश-निर्देश दिया करते थे ।

नई शिक्षा का काम बापू ने आर्यनायकम्‌जी को सौंपा था और उन्होंने जिस लगन, उत्साह और निष्ठा के साथ उसे अपनाया था, उससे बापू बहुत ही प्रसन्न थे । आर्यनायकम्‌जी को उन्होंने रविबाबू के शान्ति-निकेतन से माँगा और गुरुदेव ने बापू को उन्हें सौंप दिया । आर्यनायकम्‌ का जीवन सेवा व साधन का अद्भुत मिश्रण था । आपने अनेक बार समस्त भारत की यात्रा की थी और नई शिक्षा के बारे में सारे संसार को भी जानकारी कराई थी । आर्यनायकम्‌जी सन्‌ ३७ से सन्‌ ६७ तक सतत्‌ ३० वर्ष सेवाग्राम में रहे और गाँधी जी द्वारा निर्धारित शिक्षा प्रणाली, नई-शिक्षा के काम को अन्जाम दिया था ।

आर्यनायकम्‌जी सच्चे अर्थों मे रचनात्मक कार्यकर्ता थे और उनकी सादगी एवं कर्तव्यपरायणता का सभी लोहा मानते थे । वे आदर्श शिक्षक थे और सेवाग्राम के वातावरण मे शांति-निकेतन की आत्मा को उन्होंने ही प्रविष्ट कराया था । नई-शिक्षा का सारे देश मे प्रचार हुआ, उसका पूरा श्रेय आर्यनायकम्‌जी को ही है । आपने सेवाग्राम मे हजारो शिक्षको को नई तालीम की शिक्षा दी और देशभर में उसकी ज्योति फैलाई । उन्हें स्थान-स्थान पर अच्छे साथी भी मिले । बिहार में आचार्य बद्रीनाथ वर्मा, रामशरण जी उपाध्याय, राममूर्ति, मद्रास के अरुणाचलम्‌, जी. रामचन्द्रन, उत्तर-प्रदेश में श्री करण भाई जैसे व्यक्ति उनके सम्पर्क में आये और सभी ने नई-शिक्षा के काम को लगन से अपनाया । लेकिन खेद की बात है कि स्वराज्य प्राप्ति के बाद गाँधी-हत्या हो गई और हमारी सरकार ने नई शिक्षा के कार्य को आगे बढ़ाने में दिलचस्पी लेना कम कर दिया । अत: नई शिक्षा के काम को स्वतन्त्रता के बाद जो गति मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिली । आर्यनायकम्‌जी बड़े दुखी थे ।

आर्यनायकम्‌जी बड़े ही स्पष्टवक्ता थे । जो कुछ कहना चाहते थे, साफ-साफ कह देते थे । वे कहा करते थे कि हमारे देश में बालकों की उपेक्षा हो रही है । वर्तमान-शिक्षा-प्रणाली से वे असंतुष्ट थे और उनका यह विश्वास था कि देशवासियों में यदि नई राष्ट्रीय चेतना, आत्म-निर्भरता की भावना पैदा करना है तो नई शिक्षा द्वारा ही वह हो सकेगी । इसी नई-शिक्षा के बालक अपना जीवन सुखी, संतोषी और स्वावलम्बी बना सकते है, जबकि वर्तमान शिक्षाप्रणाली उन्हें बेकार व अशान्त जीवन बिताने को मजबूर करती जा रही है ।

आज देश में शिक्षितों की बढ़ती हुई बेकरी का कारण वर्तमान शिक्षा-पद्धति की दूषित प्रणाली ही है ।

एक बार गाँधी ने श्री आर्यनायकम्‌जी से कहा- "देखो, यह नई-शिक्षा का काम मेरे जीवन का अन्तिम कार्य है और यदि भगवान्‌ ने इसे पूरा करने दिया तो भारत का नक्शा ही बदल जायेगा । आज की शिक्षा तो निकम्मी है । जो [illegible] आज स्कूल-कालेजो में शिक्षा पाते है, उनको किताबी [illegible] भले ही हो जाता हो, पर जीवन के लिये किताबी ज्ञान [illegible] अलावा और भी कुछ चाहिए । यदि यह किताबी ज्ञान [illegible] शारीरिक नैतिक अंगों को निर्बल और निकम्मा बना देता [illegible] तो मैं कहूँगा कि मुझे तुम्हारा यह ज्ञान नहीं चाहिए । [illegible] तो ऐसी शिक्षा चाहिए जो बच्चों की पढ़ाई के साथ-[illegible] उन्हे उत्पादक श्रम करने को प्रोत्साहित करे । यह नई-शिक्षा द्वारा ही सम्भव हो सकता है । मेरी स्वराज की कल्पना नई-शिक्षा में छिपी हुई है ।"

श्री आर्यनायकम्‌ ने गाँधीजी के इसी आदर्श को सम्मुख रख कर नई-शिक्षा के काम बढ़ाने मे अथक् परिश्रम किया था, पर आज हमारी सरकार बापू की नई शिक्षा को सर्वथा भूल गई है, यह देश का बड़ा दुर्भाग्य है ।

आर्यनायकम्‌जी प्रतिवर्ष नई-शिक्षा के कार्यकर्ताओं का एक अखिल भारतीय-सम्मेलन आयोजित करते थे, जिसमे देश भर के शिक्षा-शास्त्री भी भाग लेते थे । आसाम, सौराष्ट्र, उड़ीसा, मद्रास, बिहार, मध्य-प्रदेश आदि विभिन्न प्रदेशों में नई-शिक्षा के सफल सम्मेलन हुये । आर्यनायकम्‌जी का सच्चा स्वरूप उन सम्मेलनो में प्रकट होता था । उनका व्यक्तित्व महान्‌ था । उनमें ज्ञान की गहराई थी । उन्होंने गाँधीवाद को अपने जीवन मे आत्मसात्‌ कर लिया था और उनके हर काम मे उसके दर्शन होते थे ।

यहाँ एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा । आर्यनायकम्‌जी का छोटा बच्चा आनन्द एक बार सन्‌ १९३९ मे ६० ग्रेन कुनैन की गोलियाँ चाकलेट समझकर खा गया । फलत: उसकी मृत्यु हो गई । आर्यनायकम्‌जी को बहुत ही दु:ख हुआ । उस समय बापू ने आर्यनायकम्‌जी को सान्त्वना देते हुये कहा कि अब तक तो तुम्हारे एक ही बच्चा था पर आज से सारे सेवाग्राम के बच्चे तुम्हारे है । नई-शिक्षा में तो सारा भारत आ जाता है । इसलिये सारे भारत के बच्चे तुम्हारे ही है । अब तुम्हारी जवाबदारी और भी [illegible] गई है । इन सब बच्चो की सेवा करो और जिसे अ[illegible] बच्चा कहते थे उसे भूल जाओ या उसी का रूप सब ब[illegible] में देखो । यही शान्ति व सेवा का मार्ग है ।

तब से आर्यनायकम्‌जी ने सचमुच ही भारत के [illegible] बच्चों को अपना बच्चा बना लिया था और उनका प्रेम भारत-व्यापी हो गया था । महापुरुषों के आशीर्वाद में कितनी शक्ति होती है इसका अन्दाज लगाना कठिन है ।

आर्यनायकम्जी ने बच्चों की शिक्षा के लिये ही अपना जीवन अर्पण कर दिया था। वे बच्चों से मिल कर बड़े ही प्रसन्न होते-थे। उनके सुधार के लिए बराबर सोचा करते थे। यहाँ तक कि वे विदेश जाते तो वहाँ भी बच्चों से अवश्य मिला करते थे। बच्चे उन्हें बहुत ही प्यारे थे।

उनका सम्बन्ध देशभर के रचनात्मक कार्यकर्ताओं से था। आपने कुछ समय भूदान-आन्दोलन में भी लगाया। उनकी मान्यता थी कि भूदान तथा ग्रामदान का काम नई शिक्षा का ही कार्य है। उनकी धर्मपत्नी आशादेवी ने सदैव छाया की तरह उनके साथ रहकर उनकी सभी प्रवृत्तियों में सहयोग दिया।

एक बार नई-शिक्षा के बारे में बापू ने कहा—"देख आर्यनायकम् विनोबा से बढ़कर नई-शिक्षा का हिमायती और कौन हो सकता है? पर यह भी सम्भव हो सकता है कि दूसरे आवश्यक कामों के कारण वह भी नई-शिक्षा के कार्य को छोड़ दे। ऐसी स्थिति में तुम ही अकेले को यह काम करने की नौबत आ सकती है। क्या इसके लिये कुछ अन्दर से तैयारी है?"

आर्यनायकम्जी ने उत्तर दिया—"विनोबा जी तो क्या यदि आप भी इसे छोड़ देंगे तब भी वह मुझसे छूट नहीं सकता।" इसे कहते हैं दृढ़-संकल्प और अटूट श्रद्धा।

ज्ञान-यज्ञ का होता—
कर्मवीर कोलम्बस

स्पेन के 'सालमेका' दुर्ग के एक कक्ष मे एक बड़ी मेज के चारों तरफ चौदह व्यक्ति बैठे थे। इनमें से दस सफेद अगरखा और लबादा पहने हुए पादरी थे। उनके सिर पर एक विचित्र ढंग की टोपी थी, जिससे उनके मुख का बहुत-सा भाग छिपा रहता था और बोलने के समय ही वे उसको कुछ हटाते थे। शेष चार ने विद्वान आचार्यों (प्रोफेसरों) के से वस्त्र पहिन रखे थे। ये चौदहों व्यक्ति एक नक्शे और कुछ कागजात को बीच में रखकर बहस कर रहे थे। अकस्मात् उनमे से एक ने कुछ जोरदार आवाज में कहा-"आखिर मैं कहना चाहता हूँ कि छद्मवेष धारण करने वाला यह भिखारी है कौन? वह स्पेन का निवासी नहीं है, वह हमारे महान सम्राट की प्रजा नहीं है। वह एक विदेशी है जिसके कुलशील का भी पता नहीं। वह जिनेवा का निवासी है, जहाँ प्रतिष्ठित लोग नहीं रहते, जुलाहे रहते है—और जिनेवा में, जहाँ तक स्मरण किया जा सकता है, नास्तिक लोग ही अधिक रहते हैं।"

जिस समय वह पादरी भाषण कर रहा था उसी समय क्रिस्टोफर कोलम्बस (सन् १४४९ से १५०६) वहाँ आ पहुँचा। उसने इस भाषण का कुछ भाग सुन भी लिया। उसने देखा कि उसे पहले से ही जिस बात की आशंका थी वही सामने आ रही है। ये पुराणपंथी, दम्भी-पादरी जनता में ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाली प्रत्येक बात का विरोध करेंगे, जिससे लोग लकीर के फकीर बने रहकर इन 'धर्म गुरुओं' को भेंट-पूजा देते रहें। पर उसके हृदय में अपने महान् लक्ष्य के प्रति इतनी आस्था थी कि वह वक्ता के आक्षेपों को सुनकर घबड़ाया नहीं, वरन् बड़े विनीत भाव से और साथ ही दृढ़तापूर्वक उत्तर देते हुए उसने कहा—

"विद्वान् भद्र पुरुषो! मैं अपनी अयोग्यता से भली-भाँति परिचित हूँ। मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ, न मेरे पास राजकीय सत्ता के चिन्ह हैं और न मेरे पूर्वज महान् थे। जिनेवा की एक छोटी-सी गली में मेरा जन्म हुआ है। गरीबी की रोटियों का स्वाद ही मैंने चखा है। यहाँ पर मैं आपके सामने एक विद्वान या ज्ञानी के रूप में उपस्थित नहीं हुआ हूँ, वरन् एक जहाजी की हैसियत से ही आया हूँ। समुद्री-यात्रा के विषय में बहुत वर्षों तक अनुभव करने से पृथ्वी के विभिन्न भागों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मैंने प्राप्त की है और आगे भी अधिकाधिक खोज करने की मेरी आकांक्षा है। प्राचीन और नवीन लेखकों तथा उनके बनाये मानचित्रों (नक्शों) से भी मैंने बहुत कुछ सहायता ली है। पृथ्वी की गोलाई के विषय में विद्वानों में मतभेद अवश्य है, पर यदि हम उस सिद्धान्त को स्वीकार करले तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अगर जहाज द्वारा पश्चिम दिशा की तरफ यात्रा की जाय तो पूर्व के देशों में, जिनका नाम भ्रमणकर्त्ताओं ने 'कैथे' और 'सिपांगो' बतलाया है—पहुँचा जा सकता है। इस बात की साक्षिता समुद्र की लहरों के साथ बहकर आने वाले लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठों और नक्काशी की हुई लकड़ी की चीजों से प्राप्त हुई है।"

कोलम्बस के कथन पर समिति में कुछ देर तक बहस हुई पर पादरी और आचार्य यह मानने को तैयार न हुए कि पृथ्वी गोल है और उसमें नीचे की तरफ भी मनुष्य रह सकते है। तब तक उनको आकर्षण-शक्ति का सिद्धांत भी ठीक तरह से ज्ञात न था। उनकी विद्या केवल 'धर्म-पुस्तकों' में लिखे कुछ पाप-पुण्य सम्बन्धी नियमों और भूगोल-खगोल की थोड़ी-सी प्रत्यक्ष बातों तक सीमित थी। उन्हीं के आधार पर कोलम्बस के इस सिद्धान्त को 'झूठा' करार दे दिया कि मनुष्य पश्चिम दिशा से यात्रा करता हुआ पूर्व दिशा के देशों में पहुँच सकता है।

परन्तु समिति द्वारा निरुत्साहित और अपमानित किये जाने पर भी उस 'ज्ञान-यज्ञ के होता' का साहस और उत्साह कम न हुआ। वह बचपन से ही समुद्र की गोद में पला था और जहाजरानी (नौ विद्या) तथा समुद्री रास्तों के जानने में ही उसने अपनी समस्त शक्ति लगाई थी। परन्तु जहाँ अन्य 'जहाजी' लोग अपना उद्देश्य विदेशी व्यापार द्वारा अधिकाधिक धन प्राप्त करना रखते हैं, कोलम्बस के मन में भूगोल सम्बन्धी ज्ञान को बढ़ाने और उस विषय में अधिकाधिक खोज करने की अभिलाषा उत्पन्न हो गई थी। उस समय योरोप वालों में भारतवर्ष की अपार-संपत्ति की बड़ी चर्चा थी। लोग उसे 'सोने का देश' कहते थे। उस समय तक भारतवर्ष की बनी कुछ चीजें उनको स्थल-मार्ग के

रुग्ण भाई को देखने लंका गये और वहाँ ७४ वर्ष की अवस्था मे हृदय की गति रुक जाने से स्वर्ग सिधार गये।

आचार्य आर्यनायकम्‌जी के निधन से देश का एक महान् शिक्षा-शास्त्री, गाँधीवाद का सक्रिय भाष्यकार तथा नई शिक्षा का निर्माता महापुरुष उठ गया। गाँधी जी सेवाग्राम में थे तब उन्होंने अपने पास बड़े-बड़े विद्वानों को रखा था और उनको अलग-अलग विधायक काम सौंप दिये थे तथा वे स्वयं सबके कामों का सरसरी तौर से निरीक्षण करते रहते तथा समय-समय पर आवश्यक आदेश-निर्देश दिया करते थे।

नई शिक्षा का काम बापू ने आर्यनायकम्‌जी को सौंपा था और उन्होंने जिस लगन, उत्साह और निष्ठा के साथ उसे अपनाया था, उससे बापू बहुत ही प्रसन्न थे। आर्यनायकम्‌जी को उन्होंने रविबाबू के शान्ति-निकेतन से माँगा और गुरुदेव ने बापू को उन्हें सौंप दिया। आर्यनायकम् का जीवन सेवा व साधन का अद्भुत मिश्रण था। आपने अनेक बार समस्त भारत की यात्रा की थी और नई शिक्षा के बारे मे सारे संसार को भी जानकारी कराई थी। आर्यनायकम्‌जी सन् ३७ से सन् ६७ तक सतत् ३० वर्ष सेवाग्राम में रहे और गाँधी जी द्वारा निर्धारित शिक्षा प्रणाली, नई-शिक्षा के काम को अन्जाम दिया था।

आर्यनायकम्‌जी सच्चे अर्थों में रचनात्मक कार्यकर्ता थे और उनकी सादगी एवं कर्तव्यपरायणता का सभी लोहा मानते थे। वे आदर्श शिक्षक थे और सेवाग्राम के वातावरण मे शांति-निकेतन की आत्मा को उन्होंने ही प्रविष्ट कराया था। नई-शिक्षा का सारे देश मे प्रचार हुआ, उसका पूरा श्रेय आर्यनायकम्‌जी को ही है। आपने सेवाग्राम मे हजारो शिक्षकों को नई तालीम की शिक्षा दी और देशभर मे उसकी ज्योति फैलाई। उन्हें स्थान-स्थान पर अच्छे साथी भी मिले। बिहार मे आचार्य बद्रीनाथ वर्मा, रामशरण जी उपाध्याय, राममूर्ति, मद्रास के अरुणाचलम्, जी. रामचन्द्रन, उत्तर-प्रदेश में श्री करण भाई जैसे व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आये और सभी ने नई-शिक्षा के काम को लगन से अपनाया। लेकिन खेद की बात है कि स्वराज्य प्राप्ति के बाद गाँधी-हत्या हो गई और हमारी सरकार ने नई शिक्षा के कार्य को आगे बढाने में दिलचस्पी लेना कम कर दिया। अतः नई शिक्षा के काम को स्वतन्त्रता के बाद जो गति मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिली। आर्यनायकम्‌जी बड़े दुखी थे।

आर्यनायकम्‌जी बड़े ही स्पष्टवक्ता थे। जो कुछ कहना चाहते थे, साफ-साफ कह देते थे। वे कहा करते थे कि हमारे देश में बालकों की उपेक्षा हो रही है। वर्तमान-शिक्षा-प्रणाली से वे असंतुष्ट थे और उनका यह विश्वास था कि देशवासियो में यदि नई राष्ट्रीय चेतना, आत्म-निर्भरता की भावना पैदा करना है तो नई शिक्षा द्वारा ही वह हो सकेगी। इसी नई-शिक्षा के बालक अपना जीवन सुखी, संतोषी और स्वावलम्बी बना सकते हैं, जबकि वर्तमान शिक्षाप्रणाली उन्हें बेकार व अशान्त जीवन बिताने को मजबू करती जा रही है।

आज देश में शिक्षितों की बढती हुई बेकारी का कारण वर्तमान शिक्षा-पद्धति की दूषित प्रणाली ही है।

एक बार गाँधी ने श्री आर्यनायकम्‌जी से कहा- "देखो, यह नई-शिक्षा का काम मेरे जीवन का अन्तिम कार्य है और यदि भगवान् ने इसे पूरा करने दिया तो भारत का नक्शा ही बदल जायेगा। आज की शिक्षा तो निकम्मी है। जो लड़ आज स्कूल-कालेजो में शिक्षा पाते हैं, उनको किताबी ज्ञा भले ही हो जाता हो, पर जीवन के लिये किताबी ज्ञान के अलावा और भी कुछ चाहिए। यदि यह किताबी ज्ञान हमारे शारीरिक नैतिक अंगों को निर्बल और निकम्मा बना देता है, तो मैं कहूँगा कि मुझे तुम्हारा यह ज्ञान नहीं चाहिए। हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिए जो बच्चो की पढ़ाई के साथ-साथ उन्हे उत्पादक श्रम करने को प्रोत्साहित करे। यह नई-शिक्षा द्वारा ही सम्भव हो सकता है। मेरी स्वराज की कल्पना नई-शिक्षा में छिपी हुई है।"

श्री आर्यनायकम् ने गाँधीजी के इसी आदर्श को सम्मुख रख कर नई-शिक्षा के काम बढाने मे अथक् परिश्रम किया था, पर आज हमारी सरकार बापू की नई शिक्षा को सर्वथा भूल गई है, यह देश का बड़ा दुर्भाग्य है।

आर्यनायकम्‌जी प्रतिवर्ष नई-शिक्षा के कार्यकर्ताओं का एक अखिल भारतीय-सम्मेलन आयोजित करते थे, जिसमें देश भर के शिक्षा-शास्त्री भी भाग लेते थे। आसाम, सौराष्ट्र, उड़ीसा, मद्रास, बिहार, मध्य-प्रदेश आदि विभिन्न प्रदेशों में नई-शिक्षा के सफल सम्मेलन हुये। आर्यनायकम्‌जी का सच्चा स्वरूप उन सम्मेलनों मे प्रकट होता था। उनका व्यक्तित्व महान् था। उनमें ज्ञान की गहराई थी। उन्होंने गाँधीवाद को अपने जीवन मे आत्मसात् कर लिया था और उनके हर काम मे उसके दर्शन होते थे।

यहाँ एक घटना का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। आर्यनायकम्‌जी का छोटा बच्चा आनन्द एक बार सन् १९३९ मे ६० ग्रेन कुनैन की गोलियाँ चाकलेट समझकर खा गया। फलतः उसकी मृत्यु हो गई। आर्यनायकम्‌जी को बहुत ही दुःख हुआ। उस समय बापू ने आर्यनायकम्‌जी को सान्त्वना देते हुये कहा कि अब तक तो तुम्हारे एक ही बच्चा था पर आज से सारे सेवाग्राम के बच्चे तुम्हारे है। नई-शिक्षा में तो सारा भारत आ जाता है। इसलिये सारे भारत के बच्चे तुम्हारे ही है। अब तुम्हारी जवाबदारी और भी बढ़ गई है। इन सब बच्चों की सेवा करो और जिसे अपना बच्चा कहते थे उसे भूल जाओ या उसी का रूप सब बच्चों में देखो। यही शान्ति व सेवा का मार्ग है।

तब से आर्यनायकम्‌जी ने सचमुच ही भारत के सब बच्चों को अपना बच्चा बना लिया था और उनका प्रेम सर्वव्यापी हो गया था। महापुरुषों के आशीर्वाद में कितनी शक्ति होती है इसका अन्दाज लगाना कठिन है।

आर्यनायकम्‌जी ने बच्चों की शिक्षा के लिये ही अपना जीवन अर्पण कर दिया था। वे बच्चों से मिल कर बड़े ही प्रसन्न होते थे। उनके सुधार के लिए बराबर सोचा करते थे। यहाँ तक कि वे विदेश जाते तो वहाँ भी बच्चों से वश्य मिला करते थे। बच्चे उन्हें बहुत ही प्यारे थे।

उनका सम्बन्ध देशभर के रचनात्मक कार्यकर्ताओं से था। आपने कुछ समय भूदान-आन्दोलन में भी लगाया। उनकी मान्यता थी कि भूदान तथा ग्रामदान का काम नई शिक्षा का ही कार्य है। उनकी धर्मपत्नी आशादेवी ने सदैव छाया की तरह उनके साथ रहकर उनकी सभी प्रवृत्तियों में सहयोग दिया।

एक बार नई-शिक्षा के बारे में बापू ने कहा—"देखो आर्यनायकम् विनोबा से बढ़कर नई-शिक्षा का हिमायती और कौन हो सकता है? पर यह भी सम्भव हो सकता है कि दूसरे आवश्यक कामों के कारण वह भी नई-शिक्षा के कार्य को छोड़ दें। ऐसी स्थिति में तुम ही अकेले को यह काम करने की नौबत आ सकती है। क्या इसके लिये कुछ अन्दर से तैयारी है?"

आर्यनायकम्‌जी ने उत्तर दिया—"विनोबा जी तो क्या यदि आप भी इसे छोड़ देंगे तब भी वह मुझसे छूट नहीं सकता।" इसे कहते हैं दृढ़-संकल्प और अटूट श्रद्धा।

ज्ञान-यज्ञ का होता—
कर्मवीर कोलम्बस

स्पेन के 'सालमेंका' दुर्ग के एक कक्ष में एक बड़ी मेज के चारों तरफ चौदह व्यक्ति बैठे थे। इनमें से दस सफेद अंगरखा और लबादा पहने हुए पादरी थे। उनके सिर पर एक विचित्र ढंग की टोपी थी, जिससे उनके मुख का बहुत-सा भाग छिपा रहता था और बोलने के समय ही वे उसको कुछ हटाते थे। शेष चार ने विद्वान आचार्यों (प्रोफेसरों) के से वस्त्र पहिन रखे थे। ये चौदहों व्यक्ति एक नक्शे और कुछ कागजात को बीच में रखकर बहस कर रहे थे। अकस्मात् उनमें से एक ने कुछ जोरदार आवाज में कहा-"आखिर मैं कहना चाहता हूँ कि छद्मवेष धारण करने वाला यह भिखारी है कौन? यह स्पेन का निवासी नहीं है, वह हमारे महान सम्राट की प्रजा नहीं है। वह एक विदेशी है जिसके कुलशील का भी पता नहीं। वह जिनेवा का निवासी है, जहाँ प्रतिष्ठित लोग नहीं रहते, जुलाहे रहते हैं—और जिनेवा में, जहाँ तक स्मरण किया जा सकता है, नास्तिक लोग ही अधिक रहते हैं।"

जिस समय वह पादरी भाषण कर रहा था उसी समय क्रिस्टोफर कोलम्बस (सन् १४४९ से १५०६) वहाँ आ पहुँचा। उसने इस भाषण का कुछ भाग सुन भी लिया। उसने देखा कि उसे पहले से ही जिस बात की आशंका थी वही सामने आ रही है। ये पुराणपंथी, दम्भी-पादरी जनता में ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाली प्रत्येक बात का विरोध करेंगे, जिससे लोग लकीर के फकीर बने रहकर इन 'धर्म गुरुओं' को भेंट-पूजा देते रहें। पर उसके हृदय में अपने महान् लक्ष्य के प्रति इतनी आस्था थी कि वह वक्ता के आक्षेपों को सुनकर घबड़ाया नहीं, वरन् बड़े विनीत भाव से और साथ ही दृढ़तापूर्वक उत्तर देते हुए उसने कहा—

"विद्वान् भद्र पुरुषो! मैं अपनी अयोग्यता से भली-भाँति परिचित हूँ। मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ, न मेरे पास राजकीय सत्ता के चिन्ह हैं और न मेरे पूर्वज महान् थे। जिनेवा की एक छोटी-सी गली में मेरा जन्म हुआ है। गरीबी की रोटियों का स्वाद ही मैंने चखा है। यहाँ पर मैं आपके सामने एक विद्वान या ज्ञानी के रूप में उपस्थित नहीं हुआ हूँ, वरन् एक जहाजी की हैसियत से ही आया हूँ। समुद्री-यात्रा के विषय में बहुत वर्षों तक अनुभव करने से पृथ्वी के विभिन्न भागों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मैंने प्राप्त की है और आगे भी अधिकाधिक खोज करने की मेरी आकांक्षा है। प्राचीन और नवीन लेखकों तथा उनके बनाये मानचित्रों (नक्शों) से भी मैंने बहुत कुछ सहायता ली है। पृथ्वी की गोलाई के विषय में विद्वानों में मतभेद अवश्य है, पर यदि हम उस सिद्धान्त को स्वीकार करलें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अगर जहाज द्वारा पश्चिम दिशा की तरफ यात्रा की जाय तो पूर्व के देशों में, जिनका नाम भ्रमणकर्ताओं ने 'कैथे' और 'सिपांगो' बतलाया है—पहुँचा जा सकता है। इस बात की साक्षिता समुद्र की लहरों के साथ बहकर आने वाले लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठों और नक्काशी की हुई लकड़ी की चीजों से प्राप्त हुई है।"

कोलम्बस के कथन पर समिति में कुछ देर तक बहस हुई पर पादरी और आचार्य यह मानने को तैयार न हुए कि पृथ्वी गोल है और उसमें नीचे की तरफ भी मनुष्य रह सकते हैं। तब तक उनको आकर्षण-शक्ति का सिद्धांत भी ठीक तरह से ज्ञात न था। उनकी विद्या केवल 'धर्म-पुस्तकों' में लिखे कुछ पाप-पुण्य सम्बन्धी नियमों और भूगोल-खगोल की थोड़ी-सी प्रत्यक्ष बातों तक सीमित थी। उन्हीं के आधार पर कोलम्बस के इस सिद्धान्त को 'झूठ' करार दे दिया कि मनुष्य पश्चिम दिशा से यात्रा करता हुआ पूर्व दिशा के देशों में पहुँच सकता है।

परन्तु समिति द्वारा निरुत्साहित और अपमानित किये जाने पर भी उस 'ज्ञान-यज्ञ के होता' का साहस और उत्साह कम न हुआ। वह बचपन से ही समुद्र की गोद में पला था और जहाजरानी (नौ विद्या) तथा समुद्री रास्तों के जानने में ही उसने अपनी समस्त शक्ति लगाई थी। परन्तु जहाँ अन्य 'जहाजी' लोग अपना उद्देश्य विदेशी व्यापार द्वारा अधिकाधिक धन प्राप्त करना रखते हैं, कोलम्बस के मन में भूगोल सम्बन्धी ज्ञान को बढ़ाने और उस विषय में अधिकाधिक खोज करने की अभिलाषा उत्पन्न हो गई थी। उस समय योरोप वालों में भारतवर्ष की अपार-संपत्ति की बड़ी चर्चा थी। लोग उसे 'सोने का देश' कहते थे। उस समय तक भारतवर्ष की बनी कुछ चीजें उनको स्थल-मार्ग के

आज कोलम्बस के आत्म-त्याग और खोज के आधार पर योरोप वाले अमरीका के मूल निवासियों का सफाया करके उस देश के स्वामी बन बैठे हैं और संसार में 'सबसे बड़े धनी' कहला रहे हैं। इस बात का उनको स्मरण नहीं कि इस 'सोने की चिड़िया' को हस्तगत करने वाले के साथ उन्होंने कैसा व्यवहार किया था। पर कोलम्बस ने मरते समय इसकी कुछ चिन्ता न करके यही कहा—"मैं महापुरुष नहीं हूँ। मैंने तो भगवान की प्रेरणा से एक द्वार खोला है, जिससे अन्य लोग उसमें प्रवेश करके अग्रसर हो सकें।"

संस्कृति और सरस्वती के आराधक—

पं. मधुसूदन ओझा

सन् १९०० के लगभग इंग्लैण्ड में एडवर्ड सम्राट का राज्याभिषेक हुआ। जयपुर के महाराज सवाई माधोसिंह भी इस समारोह में सम्मिलित हुए। राज्याभिषेक के अवसर पर ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् और विभागाध्यक्ष श्री मैकडानल, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् वैडाल, सुविख्यात संस्कृतविद श्री टोनी एवं डॉ. टामस जैसे प्रतिभाशाली यूरोपीय पण्डित भी सम्मिलित हुए थे। महाराज माधोसिंह के साथ एक सादी वेषभूषा के पण्डित जी भी थे, नाम था उनका—'पं. मधुसूदन ओझा'।

अब हो या न हो पर उस समय पाश्चात्य विद्वानों में भी भारतीयों के ज्ञान को कसौटी पर कसने की आदत-सी थी। स्पष्टवादिता में भी वे कम न थे। विलक्षण विद्वान् टामस से जब मधुसूदन ओझा का परिचय कराया गया तो उन्होंने संस्कृत का पद्य बनाकर पण्डित जी से प्रश्न किया—

शृणोमि लक्ष्म्या मधुसूदनं युतं,
पश्यामि तु त्वामिह चैकमागतम्।
मन्ये भवन्तं विबुधं विवेकिनं,
कुतस्त्वनैषीत्र सहश्रियं भवान्॥

अर्थात्—माननीय महोदय! मैंने सुना है मधुसूदन (विष्णु) के पास तो सदैव ही लक्ष्मी का वास रहता है पर यहाँ मैं आपको अकेला ही देख रहा हूँ। यह संकेत उनकी पत्नी के साथ न होने पर था, पर साथ ही पंडितजी की अत्यन्त सादगी और निर्धनता पर व्यंग्य भी था।

पं. मधुसूदन ओझा ने सारा जीवन विद्याध्ययन में उत्सर्ग किया था। उन्होंने अनुभव किया था—आत्मा अनन्त ज्ञान का अगाध सागर है। उसे अवगाहन करने के लिये ज्ञान ही माध्यम है। विद्या की श्रेष्ठता और सार्थकता को उन्होंने अपने जीवन में भी उतारा था, यही कारण था कि वे लक्ष्मी के कृपा पात्र नहीं बन पाये थे। आत्म-व्रती के लिये उसकी आवश्यकता भी क्या थी। धन से प्राप्त होने वाले सुखों की अपेक्षा अर्जित-ज्ञान का सुख अधिक तृप्ति देता है। समाज-सेवा की प्रतिभा, दूसरों का दुःख-दर्द की स्वात्मानुभूति भी विवेकयुक्त, पीड़ित हृदय का ही हो सकती है। पंडित जी ने भी इसी पथ का अनुगमन किया था, उन्होंने धन को नहीं ज्ञान को महत्त्व दिया था। जहाँ जाते थे, वे ज्ञानामृत से लोगों को तृप्त करते थे, फिर यहाँ वे निरुत्तर कैसे हो जाते?

वाग्विनोद के साथ तुरन्त उत्तर दिया—

मधुसूदनस्य दृष्ट्वा, सरस्वती लालने विशेष रुचिम्।
रोषादिवायसुतां लक्ष्मीमनु— नेतुमत्र सौम्यायात्॥

अर्थात्—हे सौम्य! मधुसूदन को सरस्वती की सेवा में संलग्न देखकर लक्ष्मी रुष्ट होकर यहाँ (लन्दन) चली आई है, उन्हें मनाने यहाँ आया हूँ।

पंडित जी का चुटीला उत्तर सुनकर विद्वान् मण्डली हास्य-विभोर हो गई। उनकी विद्वता और प्रतिभा के समक्ष मैकडानल जैसा विद्वान् भी नतमस्तक हो गया। लन्दन में उनके कई भाषण हुए—जिनसे प्रभावित होकर वेस्ट मिनिस्टर गजट ने लिखा था—"पं. मधुसूदन ओझा वैदिक-ज्ञान के अप्रतिम विद्वान् हैं, दर्शन-शास्त्र के विशाल-ज्ञान से अनुप्राणित उस पंडित के मुख-मण्डल पर तपस्या का तेज स्पष्ट विद्यमान है।" इसके साथ ही गजट ने यह भी माना था कि "भारतीय-ज्ञान, संस्कृत और अध्यात्म विश्व-शिरोमणि है। जब तक संसार उसको अवगाहन और अनुशीलन नहीं करता अक्षय सुख-शान्ति के द्वार तब तक बन्द ही रहेंगे।"

इस तथ्य की व्यावहारिक आवश्यकता को अनुभव करने वाले भारतीय विद्वान पं. मधुसूदन ओझा बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में गाढ़ा नामक ग्राम में जन्मे थे। प्रतिभाएँ-सुसंस्कृत परिवारों से निकल कर आती हैं। पण्डित जी जो जन्म-जात प्रतिभा और जीवन-दिशा लेकर विकसित हुए थे, यह उस सुदृढ़, सुव्यवस्थित परिवार जीवन का स्वाभाविक उपहार था। अच्छे घरों के बच्चे भी आखिर अच्छे तो होते ही हैं। फिर ओझा जी उससे क्योंकर वंचित होते।

पारिवारिक जीवन में पली- हुई ज्ञान-मह-बुद्धि को फिर प्रयत्नपूर्वक पण्डितजी स्वयं अपनी स्थिरता और विचारशीलता का पुट देकर सँवारा। बड़े परिश्रम से उन्होंने बाल्यावस्था से ही व्याकरण, दर्शन, मीमांसा साहित्य और साथ ही साथ चारित्रिक मनोवृत्तियों को मजबूत बनाया। बौद्धिक-सम्पन्नता में चारित्रिक-समृद्धता तो सोने में सुगन्ध होती है। वह भला बुद्ध-जन और कला पारखियों से कहाँ छिप सकती है। उस समय के वैदिक-ज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित शिवकुमार-शास्त्री ने इस बालक की प्रतिभा को पहचान लिया। उन्होंने मधुसूदन को अपने पास रखकर वेद-शास्त्र, उपनिषद् और भारतीय-अध्यात्म का विचारीय और व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान किया, जिसे लेकर वे प्रतिभाशील व्यक्तित्व के रूप में सामाजिक जीवन में उतरे।

एक ओर ज्ञानार्जन की अभिलाषा की तृप्ति न होती थी, दूसरी ओर अब वे जीवन की दूसरी सीढ़ी गृहस्थ में प्रवेश कर चुके थे। अतएव आजीविका का प्रश्न भी था। विद्वान व्यक्ति के लिए उसमें क्या कठिनाई हो सकती थी पर मुख्य बात जो बाधक थी वह यही कि पं. मधुसूदन जी

व्यापारियो द्वारा ही मिला करती थीं। पर यह मार्ग कई हजार मील लम्बा था और अनेक राज्यों में बँटा था और रास्ते में लुटेरों का भी डर निरन्तर बना रहता था। चौदहवीं शताब्दी मे जब तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया पर कब्जा करके योरोप और एशिया के मार्ग के बीच एक बड़ी बाधा उत्पन्न कर दी तो योरोप के व्यापारी समुद्र होकर भारतवर्ष तक पहुँचने का विचार करने लगे।

इसी विचार को कार्य-रूप में परिणत करने की कल्पना कोलम्बस ने की थी। पर इसके लिये खोज करने वाले जहाजों, मल्लाहो और रक्षकों की व्यवस्था करने के लिये लाखो रुपये की आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य से वह वर्षों से योरोपीय राजदरबारों की खाक छान रहा था। पुर्तगाल के शासको ने उसे कुछ आश्वासन दिया और वह वहाँ चौदह वर्ष तक प्राचीन भ्रमण-वृत्तान्तों तथा नक्शों के आधार पर अपने ज्ञान को परिपक्व करता रहा। पर जब पुर्तगाल वालों ने अपनी प्रकृति के अनुसार उसके साथ विश्वासघात किया और उसके नक्शों को चुरा लिया तो वह किसी तरह अपनी जान बचाकर स्पेन चला आया।

इन भ्रमण-वृत्तान्तों मे कुछ बातें स्वयं देखभाल कर लिखी हुई थीं और बहुत-सी सुनी हुई और अनुमान द्वारा सोची हुई लिख दी गई थीं। कोलम्बस उन सबकी परीक्षा करके तथा गणित द्वारा पृथ्वी के आकार के संबंध मे निर्णय करके एक नये ही मार्ग से अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता था। पर नई बातों का विरोध करने वाले और लकीर के फकीर बने रहने वाले तथाकथित 'विद्वान्' ऐसी खोजो को कुछ महत्त्व देना नही चाहते थे। इसलिये उन्होंने स्पेन के शासको को यह 'रिपोर्ट' दे दी कि कोलम्बस की बातें काल्पनिक और मनगढ़न्त है। वह इस तरह राजकीय खजाने का धन हड़प जाना चाहता है। उस पर विश्वास न रहना चाहिए।

कोलम्बस अपने प्रयत्न मे रहा। कुछ सज्जन, जो मानवीयज्ञान की वृद्धि के लिए इस प्रकार के साहसी व्यक्तियो को उत्साहित करना उचित समझते थे, उसके सहायक भी हो गये। उनकी सहायता से वह स्पेन के राजा फर्डीनैण्ड और साम्राज्ञी इसाबेला के दरबार में पहुँच गया। यह सन् १४९२ के मार्च-अप्रेल की बात है, जब स्पेन वालो ने अपने देश मे से 'मूर' जाति के शासकों से युद्ध करके विजय प्राप्त की थी और उनके द्वारा अधिकृत 'ग्रैनाडा' प्रदेश को उनसे छीन लिया था। इस समय स्पेन वाले अपनी इस सफलता पर बड़े प्रसन्न थे और कोलम्बस को आशा थी कि वे नई दुनिया से 'सुवर्ण' प्राप्त करने के प्रस्ताव पर इस कार्य मे सहायता देने को प्रस्तुत हो जायेंगे। पर कठिनाई यही थी कि लगभग दो वर्ष तक मूरों से युद्ध करते हुए सेना के खर्च में उनका खजाना खाली हो चुका था और वे इच्छा करने पर भी इतनी बड़ी यात्रा के लिये धन की व्यवस्था कर सकना बहुत ही कठिन समझ रहे थे।

परन्तु तब भी धुन का पक्का कोलम्बस कोशिश कर रहा और सम्राट फर्डीनैण्ड के राजी न होने पर भी इसाबेला उसकी बातों से प्रभावित हो गई और उसने बहुमूल्य रत्नजटित हार इस 'खोज' कार्य के लिए दे दिया।

इसके पश्चात् दूसरी बड़ी कठिनाई मल्लाहों की उपस्थित हुई। ऐसे अज्ञातस्थान की यात्रा के लिये मल्लाह अपने प्राण देने को तैयार नहीं होता था। सुनी बातों के आधार पर वे कहते थे कि उस समुद्र का काला है और उसमें ऐसे दानवाकार जलजन्तु है जो जहाज को लेकर समुद्र तल में जा सकते हैं। बड़ी कोशि तथा 'पिंजोन' नामक प्रसिद्ध जहाजी व्यापारी की सहायता से कुछ मल्लाह तैयार हो सके और अगस्त में कोलम्बस तीन जहाज लेकर नई दुनिया को तलाश करने के लिए रवाना हुआ। रास्ते में मल्लाह कहीं भी भूमि का चिन्ह न देखकर बार-बार वापस चलने पर जोर देते रहे और कोलम्बस को वहीं पर मारकर फेंक देने को तैयार हो गये। एक मल्ला ने सचमुच उस पर एक छुरा फेंककर मारा, पर कोलम्बस ने अपने को बचाकर एक तोप का मुँह उनकी तरफ कर दिया और धमकाया कि वे अगर ज्यादा बदमाशी करेंगे तो वह उनको उड़ा देगा।

इस प्रकार अपने साथियो तथा प्रकृति में संघर्ष करता हुआ ढाईमहीने बाद कोलम्बस अमरीका के किनारे तक पहुँच गया। वहाँ पर जिन लोगों की बस्ती थी उनका नाम 'रेड इण्डियन' रखा गया। कोलम्बस भारतवर्ष को ढूँढने निक था और उसने इस भूमि उस देश का एक भाग समझा इसलिये वहाँ के निवासियों को वे 'इण्डियन' कहने लगे। उनका रंग ताँबे की तरह लाल था, इसलिये वे 'रेड इण्डियन' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

नई दुनिया मे पहुँचकर कोलम्बस वहाँ के भूगोल और नये-नये स्थानों की खोज में दत्तचित् हुआ, पर उसके सब साथी और पिंजोन सोने के लिये हाय-तौबा मचाने लगे। किसी प्रकार वहाँ से कुछ सामग्री प्राप्त करके वह स्पेन वापस आया तथा बादशाह और सब विद्वानो को इस बात का प्रमाण दिया कि उसकी कल्पना सत्य थी और समुद्र के पश्च एक बहुत बड़ा देश है जिससे अनेक प्रकार का लाभ उठा जा सकता है। इसके बाद उसने तीन-चार बार अमरीका के विभिन्न भागो की यात्रा की और योरोप वालो के लिये वहाँ जाने का रास्ता खोल दिया।

पर स्वार्थीशासक और व्यापारी, परोपकार तथा सत्य व्यवहार का महत्त्व कम समझ सकते थे। बस स्पेन के बड़े लोगो मे सोने को बटोरने के लिए दौड़ शुरू हो गई और उन्होने तरह-तरह के झूठे इलजाम लगाकर उसे गिरफ्तार कर दिया। बाद मे उसे छोड़ दिया गया, पर अपनी अमूल्य खोज के लिये ऐसा पुरस्कार पाकर उसका दिल टूट गया और कुछ ही वर्षों में ५७ वर्ष की आयु में ही उसका देहावसान हो गया।

आज कोलम्बस के आत्म-त्याग और खोज के आधार पर योरोप वाले अमरीका के मूल निवासियों का सफाया करके उस देश के स्वामी बन बैठे हैं और संसार में 'सबसे बड़े धनी' कहला रहे हैं। इस बात का उनको स्मरण नहीं कि इस 'सोने की चिड़िया' को हस्तगत करने वाले के साथ उन्होंने कैसा व्यवहार किया था। पर कोलम्बस ने मरते समय इसकी कुछ चिन्ता न करके यही कहा—"मैं महापुरुष नहीं हूँ। मैंने तो भगवान की प्रेरणा से एक द्वार खोला है, जिससे अन्य लोग उसमें प्रवेश करके अग्रसर हो सके।"

संस्कृति और सरस्वती के आराधक—पं. मधुसूदन ओझा

सन् १९०० के लगभग इंग्लैण्ड में एडवर्ड सम्राट का राज्याभिषेक हुआ। जयपुर के महाराज सवाई माधोसिंह भी इस समारोह में सम्मिलित हुए। राज्याभिषेक के अवसर पर ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् और विभागाध्यक्ष श्री मैकडानल, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् वैडाल, सुविख्यात संस्कृतविद श्री टोनी एवं डॉ. टामस जैसे प्रतिभाशाली यूरोपीय पण्डित भी सम्मिलित हुए थे। महाराज माधोसिंह के साथ एक सादी वेषभूषा के पण्डित जी भी थे, नाम था उनका—'पं. मधुसूदन ओझा'।

अब हो या न हो पर उस समय पाश्चात्य विद्वानो में भी भारतीयों के ज्ञान को कसौटी पर कसने की आदत-सी थी। स्पष्टवादिता में भी वे कम न थे। विलक्षण विद्वान् टामस से जब मधुसूदन ओझा का परिचय कराया गया तो उन्होंने संस्कृत का पद्य बनाकर पण्डित जी से प्रश्न किया—

शृणोमि लक्ष्म्या मधुसूदनं युतं,
पश्यामि तु त्वामिह चैकमागतम्।
मन्ये भवन्तं विबुधं विवेकिनं,
कुतस्त्वमेवीह सहश्रियं भवान्॥

अर्थात्—माननीय महोदय! मैंने सुना है मधुसूदन (विष्णु) के पास तो सदैव ही लक्ष्मी का वास रहता है पर यहाँ मैं आपको अकेला ही देख रहा हूँ। यह संकेत उनकी पत्नी के साथ न होने पर था, पर साथ ही पंडितजी की अत्यन्त सादगी और निर्धनता पर व्यंग्य भी था।

पं. मधुसूदन ओझा ने सारा जीवन विद्याध्ययन में उत्सर्ग किया था। उन्होंने अनुभव किया था—आत्मा अनन्त ज्ञान का अगाध सागर है। उसे अवगाहन करने के लिये ज्ञान ही माध्यम है। विद्या की श्रेष्ठता और सार्थकता को उन्होंने अपने जीवन में भी उतारा था, यही कारण था कि वे लक्ष्मी के कृपा पात्र नहीं बन पाये थे। आत्म-व्रती के लिये उसकी आवश्यकता भी क्या थी। धन से प्राप्त होने वाले सुखों की अपेक्षा अर्जित-ज्ञान का सुख अधिक तृप्ति देता है। समाज-सेवा की प्रतिभा, दूसरों का दुःख-दर्द की स्वात्मानुभूति भी विवेकयुक्त, पीड़ित हृदय का ही हो सकती है। पंडित जी ने भी इसी पथ का अनुगमन किया था, उन्होंने धन को नहीं ज्ञान को महत्व दिया था। जहाँ जाते थे, वे ज्ञानामृत से लोगों को तृप्त करते थे, फिर यहाँ वे निरुत्तर कैसे हो जाते?

वाग्विनोद के साथ तुरन्त उत्तर दिया—

मधुसूदनस्य दृष्ट्वा, सरस्वती लालने विशेष रुचिम्।
रोषादिवायसृता लक्ष्मीमनु— नेतुमत्र सौम्यायात्॥

अर्थात्—हे सौम्य! मधुसूदन को सरस्वती की सेवा में संलग्न देखकर लक्ष्मी रुष्ट होकर यहाँ (लन्दन) चली आई है, उन्हें मनाने यहाँ आया हूँ।

पंडित जी का चुटीला उत्तर सुनकर विद्वान् मण्डली हास्य-विभोर हो गई। उनकी विद्वता और प्रतिभा के समक्ष मैकडानल जैसा विद्वान् भी नतमस्तक हो गया। लन्दन में उनके कई भाषण हुए—जिनसे प्रभावित होकर वेस्ट मिनिस्टर गजट ने लिखा था—"पं. मधुसूदन ओझा वैदिक-ज्ञान के अप्रतिम विद्वान् हैं, दर्शन-शास्त्र के विशाल-ज्ञान से अनुप्राणित उस पंडित के मुख-मण्डल पर तपस्या का तेज स्पष्ट विद्यमान है।" इसके साथ ही गजट ने यह भी माना था कि "भारतीय-ज्ञान, संस्कृत और अध्यात्म विश्व-शिरोमणि है। जब तक संसार उसका अवगाहन और अनुशीलन नहीं करता अक्षय सुख-शान्ति के द्वार तब तक बन्द ही रहेंगे।"

इस तथ्य की व्यावहारिक आवश्यकता को अनुभव करने वाले भारतीय विद्वान पं. मधुसूदन ओझा बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले मे गाढ़ा नामक ग्राम में जन्मे थे। प्रतिभाएँ-सुसंस्कृत परिवारों से निकल कर आती हैं। पण्डित जी जो जन्म-जात प्रतिभा और जीवन-दिशा लेकर विकसित हुए थे, यह उस सुदृढ़, सुव्यवस्थित परिवार जीवन का स्वाभाविक उपहार था। अच्छे घरो के बच्चे भी आखिर अच्छे तो होते ही हैं। फिर ओझा जी उससे क्योंकर वंचित होते।

पारिवारिक जीवन में पली हुई ज्ञान-ग्रह-बुद्धि को फिर प्रयत्नपूर्वक पण्डितजी स्वयं अपनी स्थिरता और विचारशीलता का पुट देकर सँवारा। बड़े परिश्रम से उन्होंने बाल्यावस्था से ही व्याकरण, दर्शन, मीमांसा साहित्य और साथ ही साथ चारित्रिक मनोवृत्तियों को मजबूत बनाया। बौद्धिक-सम्पन्नता में चारित्रिक-समृद्धता तो सोने में सुगन्ध होती है। वह भला बुद्ध-जन और कला पारखियों से कहाँ छिप सकती है। उस समय के वैदिक-ज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित शिवकुमार-शास्त्री ने इस बालक की प्रतिभा को पहचान लिया। उन्होंने मधुसूदन को अपने पास रखकर वेद-शास्त्र, उपनिषद् और भारतीय-अध्यात्म का विचारीय और व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान किया, जिसे लेकर वे प्रतिभाशील व्यक्तित्व के रूप में सामाजिक जीवन में उभरे।

एक ओर ज्ञानार्जन की अभिलाषा की तृप्ति न होती थी, दूसरी ओर अब वे जीवन की दूसरी सीढ़ी गृहस्थ में प्रवेश कर चुके थे। अतएव आजीविका का प्रश्न भी था। विद्वान व्यक्ति के लिए उसमें क्या कठिनाई हो सकती थी पर मुख्य बात जो बाधक थी वह यही कि पं. मधुसूदन जी

अब भी कोई ऐसी व्यवस्था चाहते थे, जहाँ विद्या-अध्ययन का द्वार पूर्ववत् खुला रहे । ब्रह्म, आत्मविज्ञान, आत्मान्वेषण जीवन-दर्शन, तत्व-विद्या आदि विषय हैं भी इतने सरस और सुरुचिपूर्ण कि इनकी एक झलक मिल जाय तो फिर यही लगता है कि उस पूर्णता के दर्शन कैसे हों जिसके लिये मनुष्य-जीवन का आविर्भाव हुआ है और जिस सुख की प्राप्ति के लिये आत्मा, प्रतिक्षण छटपटाया करती है, इधर-उधर भटका करती है ।

पण्डितजी ने बीच वाला रास्ता अपनाया । जिसमें आजीविका का क्रम भी चलता रहे और ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति भी चलती रहे । उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री राजीव लोचन जयपुर के राज्य पण्डित थे, उन्हीं के सम्पर्क से वे भी जयपुर संस्कृत कालेज में प्रधानाचार्य नियुक्त हो गये । बाद में इनकी विद्वता, समाजसेवा की भावना और कुशाग्र मार्ग-दर्शन की शक्ति से प्रभावित होकर उन्हें पुस्तकालय अध्यक्ष भी निर्वाचित किया गया । धर्म सभा का भार भी इन्हीं को सौंप कर उन्हें राज्य मे मन्त्रि-स्तरीय सम्मान प्रदान किया गया ।

इन तमाम सुविधाओं को पण्डितजी ने स्वार्थ में निमित्त नहीं किया वरन् प्रतिभा-विकास के साथ-साथ समाज की विचार-सेवा में नियोजित कर दिया । ५० वर्ष तक उन्होंने वेदान्त और भारतीय-अध्यात्म का प्रसार किया । लगभग दो सौ से अधिक ग्रन्थों की रचना कर सामाजिक-जीवन में धार्मिक और नैतिक-विचारों की ज्ञान-गंगा प्रवाहित की ।

उनके ज्ञान का लाभ संसार ने उठाया और उठाता रहेगा । मनुष्य-जीवन पाने की यही तो सार्थकता है कि स्वयं ज्ञान की सुवास से सुन्दर फूल की तरह सुवासित रहे और जब इस धरती माता से विदा ले तो भी अपने पीछे वैसी ही सुवास छोड़ता हुआ जाये । पण्डितजी का जीवन बिल्कुल ऐसा ही था ।

आदर्श साहित्यकार—
श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

"परमात्मन् ! यह कैसा भयानक समय है । क्या भारत का सारा गौरव, सारा तेज और सारा स्वाभिमान दासता की काली रात मे इस प्रकार अस्त हो जायगा ? यदि यही दशा रही तो फिर भारत की प्राचीन-संस्कृति की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी ? यह तेतीस करोड़ की जनसंख्या वाला राष्ट्रकुल एक करोड़ जनसंख्या वाले अँग्रेजों का भक्ष्य बन जायेगा । हे प्रभो ! हे परमपिता ! ऐसा नहीं होना चाहिए । भारत, भगवत्-भूमि है, तेरी अपनी लीला-स्थली है, इसकी यह गरिमा सुरक्षित तथा अक्षुण्ण रहनी चाहिए ।"

यह राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत, पीड़ापूर्ण उद्‌गार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के हैं, जो बंगाल के एक प्रसिद्ध साहित्यकार माने गये हैं । यद्यपि बंकिमबाबू एक उच्च सरकारी पद पर काम करते थे और अँग्रेजों द्वारा उन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त था, किन्तु देश की दशा और मुख्यतया बंगाल की दयनीयता देखकर वे यह सोच भी न सके कि उनकी यह राष्ट्रीय-विचारधारा उनके पद के लिये कंटक बन सकती है । वे सोच भी किस प्रकार सकते थे । जिसके हृदय में मातृ-भूमि का प्रेम भरा होता है, जो अपनी रगों में राष्ट्र की मिट्टी, पानी की ऊष्मा अनुभव करता है, जिसकी श्वासें देश के वायुमण्डल की ऋणी होती हैं, उसे अराष्ट्रीयतापूर्ण विचार छूने तक नहीं पाते । यही तो मनुष्यता है जो हम सबको पशुओं से भिन्न रखती है । विवेकशून्य होने से यह जड़ता पशुओं में ही सम्भव हो सकती है कि यदि उनको सुख-सुविधापूर्वक चारा-दाना मिलता रहे तो वे दासता में भी रह सकते हैं । देश-विदेश में उनके लिये कोई अन्तर नहीं होता । उनका ध्येय तो भोजन होता है वह कहीं भी किसी स्थिति में मिले उन्हें संतोष ही रहता है । उनमें विचार-स्वातन्त्र्य अथवा आत्म-गौरव कहाँ ?

उन दिनों भारत में अँग्रेजी-राज्य अपनी जड़ें पूरी तरह जमा चुका था और पूरे भारत को सदा-सर्वदा के लिये पराधीन बनाये रखने के लिये अनेक प्रयत्नों में लगा हुआ था । बंगाल को वे सबसे अधिक जागरूक तथा चेतनाशील जानते थे । ब्रिटिश-शासकों का विश्वास था, कि यदि वे बंगाल को अपने प्रभाव से पूर्णतया पराभूत कर लें तो अनायास ही पूरे भारत पर अपना स्थायी प्रभाव स्थापित कर सकते हैं । बंगाली नौ-जवानों की प्रखर प्रतिभा से अँग्रेज गहराई से परिचित हो चुके थे । निदान, उन दिनों उन्होंने बंगाल में अपने सारे चक्र-कुचक्र चला रखे थे, जोकि अपना फल लाने लगे थे ।

बंकिमबाबू ने देखा कि बंगाली नवयुवक अँग्रेजियत के प्रभाव में बुरी तरह आते चले जा रहे हैं । यहाँ तक कि वे अपनी भारतीयता, संस्कृति तथा मातृ-भाषा तक को हीन दृष्टि से देखने लगे हैं । वे अँग्रेजी बोलने में गौरव और बंगला बोलने में हीनता का अनुभव करने लगे हैं । वे बंगला-साहित्य तो दूर, उसका अखबार पढ़ना तक पसन्द नहीं करते । बंकिमचन्द्र ने इस घातक प्रवृत्ति की भयंकरता को अनुभव किया । उनकी आत्मा राष्ट्रीय-गौरव से तड़प उठी और उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे बंगला मे ऐसे क्रांतिकारी-साहित्य-सृजन करेंगे, ऐसी रचनाएँ करेंगे जो प्रमाद में पड़े बंगाल को झकझोर कर जगा देगा । यदि आवश्यकता पड़ी तो नौकरी ही नहीं अपना जीवन तक उद्देश्य पूर्ति मे लगा देंगे ।

निदान बंकिमबाबू राष्ट्रीय-जागरण के अग्रदूत बनकर और हाथ मे लेखनी लेकर जनसेवा के क्षेत्र मे उतर पड़े । उन्होंने मातृभूमि की सेवा के रूप मे मातृभाषा मे सृजन का संकल्प कर लिया । सच्ची भावना और सच्ची लगन मे कितनी शक्ति होती है इसका अनुमान एक इस बात से ही लगाया जा सकता है कि उनके एक ही ओज तथा राष्ट्रीयता से परिपूर्ण गीत ने केवल बंगाल ही नहीं, सारे देश में ज्वलंत चेतना भर दी और हजारों नवयुवक देश की स्वाधीनता के लिये जान की आन में ही बलिवेदी पर चढ़ने और फाँसी

पर झूलने लगे । उनका वह मन्त्रोपम गीत है—"वन्दे मातरम् ।"

आत्मा की गहराई से निकला हुआ बंकिमबाबू का यह मातृ-गीत भारत-माता का पूजा-गीत बन कर ऐसा गूँजा कि एक समय उसके प्रभाव से अँग्रेजों की सत्ता हिलने लगी । उनके प्रभाव का चमत्कार तिरोधान होने लगा । सत्य के सम्मुख स्वार्थियों की दुरभिसंधियाँ ठहर ही कब पाती हैं ? कुछ थोड़े से शब्दों मे ऐसी अमोघ शक्ति का समावेश हो जाना इस बात का प्रमाण है कि रचयिता का हृदय निर्विकार है और उसकी आत्मा में लोक-कल्याण की सच्ची भावना निहित है । धन्य है ऐसे साहित्यकार जो साहित्य को अर्थ का माध्यम न बनाकर पारमार्थिक-स्फूर्ति का संवाहक बनाते हैं और साहित्य के सृजन में ही विश्वास करते हैं, जिसके द्वारा समाज की आत्मा मे उन्नत-आदर्शों की स्थापना हो सके ।

बंकिमबाबू साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए । वे जानते थे कि जन-साधारण का हृदय आन्दोलित करने और मातृभाषा का व्यापक प्रचार करने के लिये गद्य सबसे उत्तम शैली है । उन्होंने उपन्यास तथा कहानी के माध्यम से क्रांतिकारी-विचार जनता तक पहुँचाने प्रारम्भ कर दिये ।

उनका पहला उपन्यास है 'दुर्गेशनन्दिनी' । यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जो देश के प्राचीन गौरव को दिखाने और राष्ट्र की मूर्छित वीरता, त्याग और बलिदान की भावना को जीवित करने के लिये लिखा गया था । उनके दूसरे उपन्यास 'कपाल कुन्डला' में नारी जीवन का चित्र अंकित किया गया है और सन्देश दिया गया है कि राष्ट्रीय-उत्थान के लिये उसकी मातृशक्ति नारी का समुचित विकास बहुत आवश्यक है, जो नारी की रूढ़िजनित बेड़ियो को काटकर ही किया जा सकता है । इनके इस उपन्यास ने नारी समाज में चेतना और पुरुषों में नवीन दृष्टि के जागरण का उद्देश्य पूरा किया । कपाल कुन्डला के बाद बंकिमबाबू ने मृणालिनी, विष वृक्ष, कृष्णकान्त का वसीयतनामा, रजनी, चन्द्रशेखर आदि अनेक ऐसे उपन्यास लिखे जिन्होंने न केवल बंगाल में मातृ-भाषा का ही प्रचार किया बल्कि राष्ट्, समाज तथा समय की सारी समस्याओ पर प्रकाश डाला और उनके व्यावहारिक हल की ओर संकेत भी किया ।

इन अनुपम रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'आनन्दमठ' नाम के एक ऐसे उपन्यास की रचना की जिसने भारतीयो में ज्वलन्त राष्ट्रीय भावनाऐं भर कर त्याग, बलिदान तथा स्वाधीनता की अक्षय प्रेरणा दी थीं । आनन्द-मठ बंकिम बाबू की क्रांतिकारी आत्मा का मुख स्वरूप ही कहा जा सकता है । इस उपन्यास के माध्यम से बंकिमबाबू ने अन्यायी सरकार के विरुद्ध जो परोक्ष नेतृत्व किया है, उसने न केवल स्वतन्त्रता की ज्वाला में वृद्धि का अपितु उनके कलापूर्ण साहित्यकार होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है । इस प्रकार हम उनके साहित्य मे जिस कला-कल्पना तथा उद्देश्य की समाविष्टि के दर्शन पाते हैं, किसी साहित्यकार की वह सबसे बड़ी विशेषता तथा सफलता है । जब-जब जिस देश में ऐसे समर्थ, सच्चे तथा निःस्वार्थ साहित्यकार अपने कर्तव्य का पालन करते हुये रचनारत रहेंगे वे केवल जनता के प्यारे ही न बनेंगे बल्कि ऐसा पारमार्थिक लाभ भी प्राप्त करते रहेंगे जो तपोपूर्ण साधना का, एक महान् साधना का एक महान् फल माना जाता है ।

सरकारी नौकरी में रहते हुये भी बंकिमबाबू जो इतना उत्तम-साहित्य-सृजन कर सके, उसका कारण यह रहा कि सरकारी काम करने के बाद उनके पास जो समय शेष रहता था, वे उसका एक-एक क्षण इसी उपयोगी कार्य में लगाते थे । उनके सन्तुलित मस्तिष्क ने उनकी नौकरी को साहित्य में और साहित्य को नौकरी में बाधक नहीं बनने दिया । इस प्रकार जहाँ वे साहित्य में चरम सीमा तक भावुक थे, वहाँ अपने कर्तव्य पालन में कठोर कर्मठ । बंकिमबाबू जैसे ही कर्तव्य तथा कार्यनिष्ठ व्यक्ति संसार मे कुछ समाजोपयोगी कार्य कर जाते हैं ।

जापान के कर्मयोगी कवि—

श्री मियासावा केन्जी

जापान के आदर्श-शिक्षक मियासावा केन्जी आज संसार की विभूति बन गये हैं । उनके लिखे हुए बाल साहित्य का संसार की लगभग सभी भाषाओ में अनुवाद किया जा रहा है । उनका बाल-साहित्य विश्व बाल-साहित्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है ।

केन्जी की इस सार्वभौमिकता का मुख्य कारण उनकी वे विशेषताएँ रही हैं जो एक आदर्श-मनुष्य में होनी चाहिए । वे मानव-जीवन की सफलता एवं सार्थकता के लिये सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीनों की प्रतिस्थापना को आवश्यक मानते थे । मानव-जीवन के इन श्रेयों की व्यवस्था करते हुए वे कहा करते थे कि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् कोई पारलौकिक सिद्धियाँ नहीं हैं बल्कि ये विशुद्ध रूप से मानव-जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं । इनसे दूर रहकर कोई भी मनुष्य पूर्ण मनुष्य नहीं बन सकता ।

श्रीकेन्जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन अपनी इन्हीं व्याख्याओ के अनुसार सफलताओं एवं उपयोगिताओं के साथ बिताया और इन्हीं को अपने अन्तिम लक्ष्य, मोक्ष के लिए सोपान बनाया ।

श्री मियासावा केन्जी का जन्म जापान के जिला युवाते के अन्तर्गत हानायाकी शहर में एक अगस्त अठारह सौ छियानवे मे हुआ था । इनकी माता का नाम इची और पिता का नाम मासाजीरो था ।

अठारहवर्ष की आयु में पहुँचते-पहुँचते श्रीकेन्जी मे धार्मिक जिज्ञासा जाग्रत हो गई, जिसकी सतुष्टि के लिए वे बौद्ध-सम्प्रदाय के एक मन्दिर में जाकर धार्मिक-ग्रंथो का अध्ययन करने और ध्यान लगाने लगे । उनकी यह असामयिक विरक्ति देखकर उनके पिता को बड़ी चिन्ता हुई और वे उन्हे

४.३३ विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी

उक्त कार्यक्रम छोड़कर घर-गृहस्थी में रहने के लिए समझाने लगे । श्रीकेन्जी ने पिता को आश्वासन देते हुए विश्वास दिलाया कि वे साधु होकर संसार से विमुख न होंगे । बल्कि अपनी साधना से सच्चा ज्ञान प्राप्त कर संसार की सेवा ही करेंगे ।

श्रीकेन्जी ने अपने धार्मिक अध्ययन के साथ विद्यालय जाना भी आरम्भ कर दिया था । उन्होंने सोचा कि यदि केवल धर्म-संदेशों के आधार से वे संसार की सेवा करना चाहेंगे तो उनकी सेवाएँ मानव-समाज के लिए कुछ अधिक उपयोगी न होंगी । यह उनकी मात्र बौद्धिक-सेवा ही होगी, कोई सक्रिय सेवा न हो सकेगी । निदान उन्होंने विद्यालय में कृषि एवं कला को अपना अध्ययन का विषय बनाया । इसके साथ ही उन्होंने संगीत एवं काव्य कला का भी विकास किया । इन विषयों को चुनने में उनका उद्देश्य यही था कि कृषि की शिक्षा से वे समाज में सुख-सुविधाओं की वृद्धि का प्रयत्न कर सकेंगे और काव्य एवं संगीत के माध्यम से मानवआत्मा का कलात्मक उत्थान करने का प्रयास करेंगे और उनका धार्मिक-अध्ययन इन विषयों में धार्मिकभाव भरने में सहायक होगा ।

श्रीकेन्जी ने अपने अध्ययन में तन, मन और समय का सम्पूर्ण उपयोग करके तेईस वर्ष की आयु में ही कृषि विषयक अध्ययन को पूरा कर लिया था । उनकी इस परिश्रमशीलता एवं प्रखर प्रतिभा को देखकर उनके विद्यालय ने ही उनको कृषि विभाग में सहायक-शिक्षक के पद पर नियुक्त कर लिया, जिससे वे अपने शिक्षक के तत्वावधान मे कृषि अनुसंधान का कार्य करने लगे ।

चारसाल तक अध्यापन करने के बाद केन्जी टोकियो चले आये और वहाँ लेख-शोधन कार्य में लग गये । अध्यापनकार्य का त्याग करते समय उन्होंने अपने सहयोगी तथा शिक्षक जिनके तत्वावधान में वे कार्य करते थे, उनको बताया कि अब वे कुछ नवीन शोध-कार्य करेंगे जिससे कि जनता का वास्तविक हित-साधन कर सकें ।

टोकियो आकर श्रीकेन्जी ने अपना कार्यक्रम और भी अधिक व्यस्त बना लिया । वे दिन का अधिकांश भाग प्राचीनलेखशोधन मे लगाते और रात में बौद्ध-मन्दिर में जाकर प्रचार कार्य करते थे । इतना ही नहीं छुट्टी के दिन जाकर पुस्तकालय मे पूरे समय अध्ययन किया करते थे ।

अपनी इस व्यस्तता के साथ उन्होंने भोजन के प्रकार एवं मात्रा मे एक बड़ा परिवर्तन कर दिया । वे दिन मे एक बार थोड़े से आलू ही खाया करते थे और फिर सारे दिन पानी ही उनका भोजन बना रहता था । श्रीकेन्जी की यह कठिन तपस्या देखकर अनेक परिचितों ने कहा—श्रीकेन्जी आपने तो सम्पूर्ण-जीवन ही काम के लिये उत्सर्ग कर दिया है । ऐसा पता चलता है कि आपको अपने जीवन से जरा भी मोह नहीं है ।

श्री-केन्जी ने उत्तर दिया निःसन्देह मैंने ऐसा ही किया है । मैं जीवन को अपना नहीं समझता । इसको परमात्मा की धरोहर मानता हूँ, जो कि मुझे जनहित का कार्य करने के लिए दिया गया है । साथ ही अब मैंने आजीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने का निश्चय कर लिया है । अपने इस व्रत का पालन करने के लिए केवल काम ही ऐसा साधन है जो सबसे अधिक सहायक हो सकता है । ब्रह्मचर्य-पालन के लिए जो व्यक्ति सक्रियता छोड़कर अन्य साधनों का सहारा लिया करते है मेरे मत से वे ठीक नहीं करते । केवल ब्रह्मचर्य बनाये रखने के लिए ही जो इस व्रत को लेते है उनका सारा समय सजगतापूर्वक उसकी रक्षा करने में ही लग जाता है वे अपने इस व्रत का कोई लाभ समाज को नहीं दे पाते है । ब्रह्मचर्य का पालन शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक-शक्ति संचय करने के लिए किया जाता है सो भी समाज अथवा राष्ट्र की कोई सेवा करने के लिए । जिसने ब्रह्मचर्य से उपार्जित शक्तियों का कोई उपयोग संसार के लिए नहीं किया उसने मानो अपने गृहस्थ जीवन को निरर्थक ही तिलांजलि दे दी ।"

राजधानी टोकियो मे कुछ समय काम करने के बाद वे पुनः अपने घर ह्युवाते चले आये । उनकी वापसी का कारण उनकी बहिन की रुग्णता थी । उनकी छोटी बहिन इतनी बीमार हो गई कि बचने की कोई आशा न रही । उसने मृत्यु शैय्या पर अपने बड़े भाई केन्जी को देखने की इच्छा प्रकट की । केन्जी अपनी बहिन की अन्तिम इच्छा पूरी करने के लिए टोकियो से वापस चले आये । घर आकर उन्होंने अपने हाथ से बहिन की सेवा-सुश्रूषा की जिससे कि कुछ ही समय में वह अच्छी हो गई । परिवार के लोगों का विश्वास था कि यदि केन्जी घर न आये तो सम्भव है कि उनकी बहिन न बचे । इसलिए बहिन के जीवन के लिए केन्जी को अनुरोधपूर्वक बुलाया गया था । केन्जी ने टोकियो से चलते समय विदाई समारोह मे कहा कि मैं बहिन के मोह से घर नहीं जा रहा हूँ बल्कि एक जाते हुए मानव-जीवन को सांत्वना देने के लिए जा रहा हूँ ।

बहिन के स्वस्थ हो जाने के बाद श्रीकेन्जी हरियाणा के कृषि-विद्यालय मे अध्यापन करने लगे । इसी समय उन्होंने सैकड़ो कविताएँ तथा अनेक नाटक लिखे जो कि उन्हीं की देख-रेख मे अभिनीत भी किये गये । श्रीकेन्जी की अध्यात्म-भावों से भरी हुई कविताएँ आज भी जापान मे घर-घर गाई जाती है ।

लगभग पाँच-छह वर्ष अध्यापन करने के बाद श्रीकेन्जी कृषि-विद्यालय से निकले हुए तरुणों को कृषि का सक्रिय प्रशिक्षण देने के लिए अध्यापन छोड़ कर कृषि करने लगे । उन्होंने नगर से दूर जंगल मे स्वयं अपने हाथ से झाड़ियाँ काटकर एक छोटा-सा फार्म बनाया और उसी के किनारे एक कुटी बनाकर रहने लगे । वे अपने हाथ से खेती करते छात्रो को नि-शुल्क-प्रशिक्षण देते और अवकाश के समय धर्म प्रचार करते ।

इस प्रकार श्रीकेन्जी ने अन्य सभी ओर से अपने को पूर्ण रूप से जन-हित में लगा दिया । उन्होंने एक 'आदर्श-धरती-मानव-संघ' की स्थापना का सूत्रपात किया और किसान संस्कृति के विकास के लिए प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया । धरती-मानव-संघ की स्थापना का उद्देश्य बतलाते हुए श्रीकेन्जी ने बतलाया कि वे चाहते है कि कृषि-विद्यालय से निकले हुए छात्र केवल मौखिक शिक्षक ही न बने बल्कि वे अपने हाथों से खेती करें जिससे कि परिश्रम एवं बौद्धिकता का समन्वय हो सके । मेरा विश्वास है कि कृषि-फार्म में शिक्षा पाये हुए छात्र यदि किसान बन जाने लगें तो देश शीघ्र ही धनधान्य पूर्ण हो जाये और किसान-संस्कृति से मेरा मतलब है कि एक ऐसी श्रमिक-संस्कृति का विकास किया जाये जिससे कि संसार के श्रमिक-वर्ग का संगठन हो सके और संसार श्रम की महत्ता समझने लगे और उसका आदर करने लगे । ऐसा होने से संसार में फैला हुआ संघर्ष बहुत कुछ दूर हो सकता है ।

श्रीकेन्जी ने अपने उद्देश्य के प्रचार के लिये अथक परिश्रम किया । वे गाँव-गाँव घूमते, किसानो को इकट्ठा करते और उन्हें श्रम का महत्व बतलाते हुए कृषि की वैज्ञानिक विधि सिखाते । उन्होंने अपने फार्म पर एक कृषि-प्रशिक्षण-केन्द्र खोलने के साथ-साथ गाँवो में भी अनेक ऐसे छोटे-छोटे केन्द्र खोले जहाँ किसानो को आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाता था । उनकी चलाई हुई अनेक प्रारम्भिक पाठशालाओ में बच्चों को शुरू से ही कृषि कार्य मे रुचि पैदा की जाती थी ।

श्रीकेन्जी अपने फार्म पर जो प्रशिक्षण दिया करते थे, उसका कोई पारिश्रमिक न लिया करते थे बल्कि शिक्षणार्थियों को यथासम्भव अपने हाथ से पैदा किया हुआ अन्न, सब्जी तथा फल खिलाया करते थे । श्रीकेन्जी के इस अथक प्रयत्न का फल यह हुआ कि जापान की जनता ने श्रम तथा कृषि की महत्ता समझी और शीघ्र ही वह पिछड़े हुए देशों की पंक्ति से विकसित देशो की पंक्ति में आ गया ।

दिन-रात के इस राष्ट्रीय-कार्य मे निरन्तर संलग्न रहने से श्रीकेन्जी का स्वास्थ्य खराब हो गया और वे बीमार पड़ गये । अपनी बीमारी की हालत में श्रीकेन्जी ने किसी से सेवा नहीं ली और न अधिक दवाओं पर ही निर्भर रहे । उन्होंने अपने भोजन के समय तथा आत्मविश्वास के बल पर तीनसाल के लम्बे क्षयरोग पर विजय पाली । बीमारी की हालत मे उनके अनेक डाक्टर मित्रो ने उन्हे अंडा तथा मछली का शोरबा खाने के लिए परामर्श दिया किन्तु वे इसके लिए तैयार न हुए । उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मैं जीवन-भर शाकाहारी रहा हूँ और अब जिन्दगी के मोह मे पड़कर अपने शाकाहार का नियम नहीं तोड़ सकता । जिन्दगी मेरी अपनी नहीं है, वह परमात्मा की धरोहर है । फिर भी मैं अधिक समय जनता की सेवा करने के लिए उसे बचाने का प्रयत्न करूँगा तथापि अपने आहार-सम्बन्धी नियम को कदापि न त्यागूँगा ।

इस बार श्रीकेन्जी ने शारीरिक श्रम करना कम कर दिया और उसके स्थान पर बौद्धिक-कार्य में अधिक समय देने लगे । इसी अन्तिम समय में उन्होंने इतने सुन्दर बाल-साहित्य का सृजन किया कि आगे चलकर वह सारे संसार में बच्चों के पाठ्यक्रम मे स्वीकृत कर लिया गया । बाल-साहित्य लिखने के साथ श्रीकेन्जी ने जो कविताएँ इस अवधि मे लिखीं उन्होंने उन्हें कवि के रूप में भी अमर कर दिया । श्रीकेन्जी का गद्य-साहित्य जहाँ समाज-सुधार की दिशा मे प्रेरणाप्रद रहा करता था वहाँ उनका पद्य-साहित्य मनुष्यता के विकास की प्रेरणा देने वाला रहा है ।

अपने अन्तिमकाल में श्रीकेन्जी ने जो कविताएँ लिखीं वे उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ हैं । उनके काव्य साहित्य का महान् उद्देश्य उनकी एक अन्तिम रचना से समझा जा सकता है । जिसका भावार्थ इस प्रकार है—

"मेरी इच्छा है कि मैं एक ऐसा मानव बनूँ —

मैं सशक्त शरीर धारण कर सकूँ । ऐसा शरीर जिसका आधार संयम हो और जिस पर प्रकृति के प्रकोपों का कोई प्रभाव न पड़ सके और जो दिन-रात काम करके भी न थके—मै एक ऐसा मानव बन सकूँ—जिसकी आत्मा रागद्वेष के वशीभूत न हो, जिसका मन स्वार्थ देखने की योग्यता ही न रखे और जिसकी बुद्धि परमार्थ एवं परोपकार की पोषिका हो ।"

"मै एक ऐसा मानव बन सकूँ जिसकी कोई आवश्यकता न हो और जो अपने लिए कुछ भी न करके औरों के लिए सब कुछ कर सके ।"

"मै एक ऐसा मानव बन सकूँ—जिसकी सहानुभूति चारो दिशाओ मे फैली रहे । पूर्व दिशा मे यदि किसी बच्चे को बीमार देखूँ तो दौड़कर उसकी सेवा करने लगूँ, पश्चिम दिशा मे यदि किसी थकी हुई माँ को देखूँ तो उसका बोझ उठाकर सहायता कर सकूँ, उत्तर दिशा में यदि विवाद होता देखूँ तो प्रार्थनापूर्वक लोगो को न लड़ने के लिए कह सकूँ और दक्षिण दिशा में यदि किसी को मृत्यु शैय्या पर देखूँ तो उसको ढाढस बँधाकर धर्म का सन्देश दे सकूँ ।"

इस प्रकार साहित्य, श्रम तथा धर्म से संसार एवं समाज की सेवा करते हुए श्रीमियासावाकेन्जी ने सन् १९२९ में अपना शरीर त्याग दिया ।

विदेशों में हिन्दी के प्रचारक—
श्री स्वामी भवानी दयाल संन्यासी

स्वामी भवानी दयाल संन्यासी उन भारतीय देशभक्तो मे से हैं जिनका जन्म विदेश मे हुआ किन्तु उन्होंने भारत को ही अपनी मातृ एवं जन्मभूमि समझा और उसी की सेवा में अपना सारा जीवन लगा दिया ।

स्वामी भवानी दयाल संन्यासी के पिता कुली प्रथा के अन्तर्गत भारत से दक्षिण अफ्रीका भेजे गये थे । वहाँ जाकर

उन्होने अच्छी-खासी जायदाद पैदा की और स्थायी रूप से वही बस गये । स्वामी भवानी दयाल जी का जन्म दस सितम्बर अठारहसौबानवे ईसवी मे वहीं 'जोहान्सवर्ग' मे हुआ था ।

विदेश मे अँग्रेजी के माध्यम से शिक्षा-दीक्षा पाने वाले स्वामी भवानी दयाल जी ने जो राष्ट्रीयहित का सबसे महत्वपूर्णकार्य किया वह था दक्षिण-अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो के बीच हिन्दी का प्रचार । जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द को भारतीय-संस्कृति एवं धर्म का प्रचार विदेशो मे करने का श्रेय मिला हुआ है उसी प्रकार हिन्दी प्रचार का श्रेय स्वामी भवानी दयाल जी को है ।

यह वह समय था जब अफ्रीका मे प्रवासी-भारतीयो पर अमानुषिक अत्याचार किया जा रहा था । उनको साधारण-नागरिक-अधिकारो तक से वंचित कर दिया गया था । स्वामी भवानी दयाल भारतीयों की इस दुर्दशा से बहुत दुखी थे । वे प्रवासियो को एक सूत्र मे बाँधकर संगठित करना चाहते थे जिससे कि वे अपने सामान्य अधिकारो के लिए संघर्ष कर सके ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने हिन्दी को सबसे अच्छा साधन समझा । भारत के विभिन्न स्थानो से गये प्रवासी-भारतीयो की कोई एक भाषा नही थी । इसलिए उनके विचार-विनिमय का माध्यम अँग्रेजी ही बनी हुई थी । प्रवासियो मे राष्ट्रीय-विचार एवं एकता की भावना भरने के लिए हिन्दी ही उनको सबसे उचित माध्यम जान पड़ा । इसका कारण यह भी था, अँग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयो की संख्या बहुत कम थी । अधिकतर एक अंचल से गये लोग अपनी ही भाषा मे बात-चीत किया करते थे । इस प्रकार अफ्रीका के प्रवासी-भारतीय भी भाषा के आधार पर अनेक वर्गो मे बँटे थे । अतएव आवश्यक था कि उन्हे बात-चीत का एक ऐसा माध्यम दिया जाये जो उन्हे एक मंच पर इकट्ठा कर सके और इसके लिए उन्होने हिन्दी को ही सबसे उपयुक्त समझा ।

स्वामी भवानी दयाल ने हिन्दी-प्रचार के लिए दक्षिण अफ्रीका मे जो सबसे पहला कार्य किया वह यह कि स्वयं तो उनके बीच हिन्दी बोलते ही थे, प्रवासियो को भी टूटी-फूटी हिन्दी बोलने की प्रेरणा दिया करते थे । अहिन्दी-भाषी जब टूटी-फूटी हिन्दी बोलते थे तब वे उनके वाक्यो एवं शब्दो का सुधार करते जाते थे । इस प्रकार उन्होने बात-चीत मे ही, राहगली-हाट बाजार मे हिन्दी की मौखिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी ।

इस प्रकार प्रौढ़ो मे हिन्दी-शिक्षा का मौखिक प्रचार करते हुए उन्होने भारतीय-बच्चो के लिए अनेक प्रारम्भिक पाठशालाएँ खोलीं और उनको पढ़ाने के लिए बड़ी ही रोचक, शिक्षाप्रद एवं राष्ट्रीय भावो से ओत-प्रोत बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तके लिखीं । ये पुस्तके वे उन बच्चो को मुफ्त मे देते थे जो कि खरीद नही सकते थे । श्री भवानी दयाल की चलाई हुई बाल-पाठशालाओ मे कोई शुल्क नहीं लिया जाता था । साथ ही उनकी पावन-प्रेरणा से जो शिक्षक बालको को हिन्दी पढ़ाया करते थे वे किसी प्रकार का पारिश्रमिक नहीं लिया करते थे ।

हिन्दी-प्रचार के लिये उनका एक काम था भाषण-कार्यक्रम । स्वामीजी भारतीयों की बस्ती में कम-से-कम एक के बाद दूसरे के घर मिलन-गोष्ठियाँ रखते थे और उनमें देशभक्ति एवं मानव के मौलिक अधिकारो के साथ-साथ अफ्रीका में भारतीयो की समस्याओ पर बड़े ही मार्मिक ढंग से हिन्दी मे भाषण दिया करते थे । उनके इस कार्यक्रम से दुहरा लाभ होता था । एक तो हिन्दी का प्रचार, दूसरे राष्ट्रीय-भावना का जागरण और तीसरे समस्याओ के समाधान के लिए एकता । यह स्वामीजी के भाषणो का ही प्रभाव था कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी-भारतीय, अधिकारो के लिए संघर्ष करने को उठ खड़े हुए । प्रवासी भारतीयो मे जब कुछ-कुछ हिन्दी प्रचार हो गया तब उन्होने उसका स्तर ऊँचा करने के लिए अनेक हिन्दी-संस्थाओ की स्थापना की ।

दक्षिण-अफ्रीका मे हिन्दी के लिए इतना कुछ करने वाले स्वामीभवानीदयाल को स्वयं भी हिन्दी सीखने मे कुछ कम कठिनाइयो का सामना नहीं करना पड़ा था । उनके पिता बाबूजयरामसिंह कुछ पढ़े-लिखे न थे, वे अपनी पत्नी के साथ कुलीप्रथा के अन्तर्गत दक्षिणी-अफ्रीका आये थे । वहाँ उन्होने अपने परिश्रम एवं सूझ-बूझ के बल पर काफी व्यवसाय जमा लिया, इसलिए वे शिक्षा का महत्व व्यवसाय से ऊपर नहीं मान पाते थे । वे अपने लड़के भवानीदयाल को थोड़ी बहुत कामचलाऊ अँग्रेजी पढ़ाकर कारोबार मे लगाना चाहते थे । किन्तु भवानीदयाल दक्षिण-अफ्रीका मे असम्मानपूर्ण धनी जीवन नहीं चाहते थे । उन्होने होश संभालते ही प्रवासी-भारतीयो की दयनीय दशा का अनुभव करके उनके लिए कुछ करने का निश्चय कर लिया था और अपने उस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए जिस हिन्दी को माध्यम बनाना चाहते थे उसकी पढ़ाई का कोई प्रबन्ध दक्षिण अफ्रीका मे नहीं था, इसलिए वे वहाँ के अँग्रेजी स्कूलो को छोड़कर बारह वर्ष की आयु मे ही हिन्दी पढ़ने के लिए भारत चले आये थे ।

किन्तु जब वे भारत से अफ्रीका वापस आये तो डरबन मे ही उन्हे वापस भारत लौट जाने का आदेश हो गया । बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी जब उन्हे डरबन के बन्दरगाह पर उतरने नही दिया गया तब वे ट्रांसवाल चले गये, किन्तु वहाँ पर वे गिरफ्तार कर लिये गये । जब वे किसी प्रकार अदालत से मुक्त होकर जोहान्सवर्ग पहुँचे तो कुछ समय बाद उनके पिता का देहान्त हो गया और उनकी विधवा विमाता ने सम्पत्ति के लिए गृह-कलह प्रारम्भ कर दी । उन्होने अपनी विमाता को उसका भाग तो दिया ही, अपने भाग का भी अधिकार देकर सम्पत्ति के मोह से छुट्टी पाई और सन्यास ले लिया । निर्धनता-पूर्ण जीवन स्वीकार करके वे लोक-सेवा के कार्यो मे जुट गये जिसके फलस्वरूप वे इतना सब-कुछ कर सके ।

दक्षिण-अफ्रीका मे हिन्दी-प्रचार के पुनीत कार्य के अतिरिक्त स्वामीजी ने जो अन्य सेवाएँ कीं वे भी कुछ कम

महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपने भारतवास के समय उन्होंने बंगभंग-आन्दोलन को सफलता की दिशा में गतिमान बनाने के लिए गाँव-गाँव घूम-घूमकर जन-जागरण किया था।

असहयोग एवं स्वदेशी-आन्दोलन के प्रचार के लिए उन्होंने अथक परिश्रम ही नहीं किया बल्कि जेल की यातनाएँ भी सहीं। इसी सिलसिले में वे जगदीशपुर, डुमराँव तथा बक्सर में असहयोग-आन्दोलन का प्रचार करते हुए गिरफ्तार हुए और ढाईसाल के कारावास का दण्ड सहन किया। नमक-सत्याग्रह के समय प्रचार करने के कारण उनको अनेक वर्षों का कारावास सहन करना पड़ा।

राजनीतिक-सेवा करने के साथ-साथ उन्होंने भारत में जो समाज-सुधार के कार्य किये वे भी कुछ कम महत्व के नहीं हैं। उन्होंने हिन्दू-जाति में फैली हुई कुरीतियों को दूर करने का बहुमूल्य प्रयास किया जिसके फलस्वरूप वे बिहार आर्यप्रतिनिधिसभा के प्रमुख उपदेशक तथा प्रचारक बना दिये गये जिसको कि उन्होंने अवैतनिक रूप से ही स्वीकार किया था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में दक्षिणी-अफ्रीका के प्रवासी-भारतीयों को प्रतिनिधित्व दिलाने का श्रेय स्वामी भवानी दयाल को ही था। यह उन्हीं की सेवाओं एवं प्रयत्नों का फल था कि कांग्रेस के अधिवेशनों में प्रवासी-भारतीयों को अपने दसप्रतिनिधि हर साल भेजने का अधिकार मिल गया और इस प्रकार दक्षिण-अफ्रीका के भारतीय अपनी भारत-माता की पावन-गोद का सम्पर्क पा सके।

इस प्रकार उनसठ वर्ष की आयु तक स्वदेश-भारत भारतीयों एवं भारतीय-भाषा-हिन्दी की सेवा करने के बाद स्वामी भवानी दयाल संन्यासी का सन् १९५१ में स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु पर भारत से लेकर दक्षिण-अफ्रीका तक शोक मनाया गया।

रविवासरीय स्कूलों के जन्मदाता—रावर्ट रेक्स

इंग्लैण्ड से प्रकाशित 'ग्लासेस्टर' के प्रकाशक और सम्पादक रावर्टरेक्स एक दिन सूटी-आले की एक गन्दी बस्ती से निकलकर जा रहे थे। एक स्थान पर कुछ बच्चे खेल-खेल रहे थे। रेक्स जैसे ही उनके पास से गुजरे कि एक उद्दण्ड लड़के ने कीचड़ उछाल कर रैक्स के ऊपर दे मारा। सब लड़के खिल-खिलाकर हँस पड़े। बेचारे रेक्स का बदबू और कपड़ों के फूहड़पन से बुरा हाल हो गया।

रेक्स लड़कों पर बुरी तरह नाराज हुए। उधर से एक स्त्री आ रही थी। उसे देखकर रेक्स गरजकर बोले—यह तुम लोगों के लड़के हैं। शर्म आनी चाहिए। कैसे फूहड़ लड़के हैं, गन्दे स्थानों में खेलते हैं। इनके माँ-बाप इन्हें सभ्यता, शिष्टाचार भी नहीं सिखाते।

शिष्टाचार! सर, उस महिला ने विनम्र उत्तर दिया—यह तो शिक्षितों और सम्पत्तिवानों के भाग्य की बातें हैं। उनके पास समय रहता है, सुविधाएँ होती हैं, माता-पिता और घर वालों के पास समय होता है उनके पास बैठकर बच्चे अच्छी बातें सीखते हैं। धन होता है, इसलिये बच्चे स्कूल पढ़ आते हैं। इन निर्धनों के पास वह सुविधायें कहाँ? इन बच्चों के अभिभावक कम पैसे पाते हैं, आजीविका चल नहीं पाती, रहन-सहन इतने खराब कि आजीविका का आधा भाग नशेबाजी, जुआ और दूसरे दुर्व्यसनों में चला जाता है। विवश होकर इन बच्चों को भी फैक्टरियों में काम करने जाना पड़ता है। १०-१० घण्टे काम लिया जाता है तब ये शाम को घर लौटते हैं। आखिर मनोरंजन तो कुछ न कुछ इन्हें भी चाहिए। खेलने के मैदान हैं नहीं, साधन हैं नहीं तो सिवाय इसके कि इनमें यह गन्दी आदतें पड़ें और हो भी क्या सकता है। दोषी माता-पिता हैं सही, पर क्या वह शिक्षित समाज, सम्पन्न समाज भी इसके लिए समान्तर उत्तरदायी नहीं है। जब अपनी सुविधाओं के आगे पिछड़े वर्ग का जरा भी ध्यान नहीं देता। इन्हें भी साधन और सुविधाएँ दे सके होते तो क्यों इनमें गन्दी आदतें पड़ी होतीं? क्यों आप को इस अप्रत्याशित अपमान लगने जैसी दुर्घटना का सामना करना पड़ता।

स्त्री की बातें महाशय रेक्स के हृदय में घर कर गईं। "तुम सच कहती हो बहिन!" उन्होंने कहा—एक दूसरे के हितों की उपेक्षा करके समाज से यह विषमता नहीं जा सकती। सचमुच यदि समुन्नत वर्ग ने दलित और पिछड़े लोगों के विकास पर ध्यान दिया होता तो असभ्यता, अशिष्टता, उच्छृंखलता और उद्दंडता को बढ़ने का अवसर न मिलता। अपराधी मनोवृत्ति इस उपेक्षा का ही परिणाम है। हम अपने शेष समाज को भी अपने ही स्तर पर लाने का प्रयत्न कर सके होते तो वस्तुतः संसार से जेलें समाप्त हो जातीं, अपराध समाप्त हो जाते।"

रेक्स वहाँ से चले आये पर महिला के एक-एक शब्द, उस गली में रहने वाले लड़कों की दयनीय दशा की छाप उनके मस्तिष्क से न गई, हृदय-तन्त्री झकझोर कर रख दी इस घटना ने। कई रातें वे सो नहीं पाये।

आवश्यकता समझ में आ जाती है, तो कर्तव्य जाग जाता है। जो अब तक कभी नहीं हुआ, उसके लिये भी रास्ता निकल आता है। साहस का अभाव कई बार रुकावट पैदा कर सकता है। परन्तु सचमुच जिन्होंने समाज और संसार के प्रति अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व की अनुभूति कर ली उसे न तो हिम्मत का अभाव रोक सकता है न निजी स्वार्थ। रेक्स के अन्तर्मन में उठी पीड़ा 'रैक्स स्कूलों' के रूप में फूटी। वे प्रति रविवार को उस बस्ती में जाकर एक स्कूल चलाकर बच्चों को अक्षरज्ञान, नीति और सदाचार के पाठ पढ़ाने लगे।

बच्चों को मीठा बोलना, परस्पर अभिवादन, माता-पिता की आज्ञाएँ मानना, बेकार समय का उपयोग पढ़ने में लगाना, अच्छे खेल-खेलना, चोरी न करना इस तरह की शिक्षाएँ वह कथा-कहानियों और उपदेशों के माध्यम से देने लगे। प्रारम्भ

में थोड़े बच्चे आये पर जब औरों ने उन्हें साफ-सुथरा आकर्षक वेष-भूषा में देखा, मीठी-मीठी बात करते देखा, अच्छे मजेदार खेल खेलते देखा तो दूसरे अभिभावकों ने भी अपने बच्चे भेजने प्रारम्भ कर दिये । इस सामाजिक-कर्तव्य भावना और करुणा का सीधा सम्बन्ध बच्चों से था पर गंगा सीधी बह सकती है तो वह उल्टी भी बहाई जा सकती है । बच्चों का सुधार बड़ों के मनो को कचोटने लगा और वे चुपचाप अपने किये का पश्चाताप करने लगे । अपनी बुराइयाँ आप सुधारने लगे । कुछ ही दिनों में उस बस्ती में अपराधों की संख्या घटकर बिल्कुल न्यून हो गई । शक्ति, दम्भ और संगठित प्रयोग से भी जिन लोगों को नहीं सुधारा जा सकता था दया, प्रेम आत्मीयता के द्वारा वह सब अपने आप सुधरने लगे । रविवासरीय स्कूल की तेजी से प्रगति होने लगी ।

मूढ़ों और व्यर्थ अड़ंगा लगाने वालों की कमी नहीं, चाहे वह भारतवर्ष हो या इंग्लैण्ड । मनुष्य तो सभी एक है, इस दृष्टि से मनोविज्ञान भी सब जगह एक ही है । यदि यहाँ कुछ लोग बालविवाह, विधवाविवाह, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, पर्दा-जेवर आदि कुप्रथाओं की बुराइयाँ देखते हुए भी उन्हें स्वयं छोड़ना नहीं चाहते, औरों को छोड़ते देखकर भी आग-बबूला हो उठते है, उसी प्रकार वहाँ भी धर्माचार्यों, पादरियों तथा उनसे प्रभावित लोगो ने रेक्स के इस कदम का भारी विरोध किया । उन्होंने कहा—"सण्डे का दिन भगवान के लिये है न कि मनुष्य के लिये" । जबकि रेक्स का कहना था कि भगवान के तो सभी दिन है, पर इन अशिक्षितों की सुविधा का तो एक ही दिन है । यदि शेष सप्ताह उन्हें अपनी आजीविका के लिए व्यस्त रहना पड़ता है तो क्या उन्हें एक दिन का भी समय पढ़ने-लिखने और नीति-सदाचार सीखने के लिए नहीं दिया जा सकता । रेक्स के इस तर्क का किसी को उत्तर न देते बनता और इस तरह उनकी गतिविधियाँ भी तीव्र होती गई, सहयोगी भी बढ़ते गये ।

१७८० में यह घटना हुई । १७८५ तक कुल पाँच ही वर्ष होते है । मनुष्य लगन और परिश्रम से करे तो ५ वर्ष में पहाड़ के बराबर काम किये जा सकते है । रेक्स का अभियान इतनी तेजी से चला कि इस छोटी सी अवधि मे इंग्लैण्ड में ही ५० स्कूल खुल गये । इंडिन वर्ग में ३४ स्कूल चलने लगे, इनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या २५०००० तक पहुँच गई । अनेक समाज-सेवियों को काम करने और पुण्यार्जित करने का अवसर मिला, जबकि पिछड़े वर्ग के लिये आत्म-विकास के स्रोत खुल गये ।

आज भी सारे विश्व में रविवासरीय स्कूल चलते है । उनमे अब धर्म, सदाचार, सेवा, स्वच्छता आदि नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक बाते सिखाना प्रमुख हो गया है पर यह अभूतपूर्व उदाहरण है जिसे अपनाकर हम भारतीय भी न केवल अपने देश के निरक्षरता के कलंक को धो सकते है वरन् छुआ-छूत, ऊँच-नीच और दूसरी सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन चला सकते है । यदि हममें रेक्स जैसी लगन, सेवा-भावना और परिश्रमशीलता हो तो सप्ताह में एक दिन ही पर्याप्त है । समाज-सेवा के लिये रविवार का दान करके हम सारे देश को बदल सकते है ।

लौहलेखनी के धनी—श्री सखारामजी देऊसकर

भावनाओं तथा विचारों को जाग्रति और प्रसारित करने वाले साधनों में साहित्य का प्रमुख स्थान है । जो विचार लेखनीबद्ध करके समाज को दिये जाते है, वे स्वयं भी स्थायी रहते है और पाठकों की विचार-धारा में भी स्थायित्व का समावेश करते है । किन्हीं माध्यमों की अपेक्षा पुस्तक-बद्ध विचार भली प्रकार पढ़े और मनन किये जा सकते है । अस्तु विचार आन्दोलन के लिये स्थायी-साहित्य का बहुत महत्व है ।

कभी-कभी किसी विचारक की एक पुस्तक ही समयानुसार समाज में परिवर्तन कर डालती है । ऐसी किसी भी पुस्तक के प्रणेता को युगप्रवर्तक कहा जा सकता है । इसी प्रकार की परिवर्तनकारी एक पुस्तक बंगाल में बंगला-भाषा में ही प्रकाशित हुई थी । उसके प्रकाशित होने का समय बीसवीसदी का प्रथमचरण था । इस परिवर्तनकारी पुस्तक का नाम था 'देशेर कथा' । इस पुस्तक ने बंगाली नवयुवकों में ज्वलन्त देश प्रेम की भावनाएँ जाग्रत कीं और स्वाधीनता के लिये चल रहे स्वदेशी-आन्दोलन को गति प्रदान की थी । इस पुस्तक में संकलित सत्यों तथा तथ्यों ने तत्कालीन अँग्रेजी राज्य और अँग्रेजी रीति-नीति की असलियत खोल कर रख दी, जिससे राज-भक्त और अँग्रेजी राज्य के प्रशंसकों का भी भ्रम दूर हो गया था । बंगाल में अँग्रेजों का प्रभाव कम करने मे 'देशेर कथा' एक शक्तिशाली उपकरण सिद्ध हुई थी । उस समय ही इसकी लगभग दस-पन्द्रह हजार प्रतियाँ हाथो-हाथ बिकी थीं । बाद में यह पुस्तक राष्ट्रीय-साहित्य की एक स्थायी एवं अमूल्य निधि बनी और प्रायः बंगला पढ़े-लिखे सभी लोगों ने उसका पठन-पाठन और मनन किया था ।

'देशेर कथा' तत्कालीन बंगाल की सबसे अधिक लोक-प्रिय पुस्तक रही है । उसका महत्व प्रकट करते हुए बंगला-साहित्य के इतिहासज्ञ श्री दिनेशसेन तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे महान् व्यक्तियो ने बड़ी प्रशंसा की और लिखा 'ब्रिटिश-शासन मे हो रही भारत की आर्थिक लूट, मजदूर तथा किसानों द्वारा उपार्जित धन के शोषण तथा देशीउद्योग-धन्धो की कमी का सच्चा और मार्मिक वर्णन इसमे किया गया है । पुस्तक का प्रत्येक विषय आँकड़ो तथा गणनाओ के आधार पर किया गया है, साथ ही उसमें समाज को जगाने के लिये लिखे गये स्थल बड़े प्रेरक तथा यथार्थपूर्ण है । आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से देश को स्वावलम्बी तथा जाग्रत बनाने वाली यह अपने ढंग की पहली ही पुस्तक है ।" इस पुस्तक द्वारा दी गयी प्रेरणा और की गई जाग्रति से घबराकर सन् १९०७ में अँग्रेजी-सरकार ने देशेर कथा' को जब्त कर लिया था ।

इस विशेष पुस्तक से जुड़ी हुई सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह किसी बंगाली लेखक की लिखी हुई न होकर एक महाराष्ट्रीय विद्वान की लिखी हुई थी। इन बंगला के धुरन्धर महाराष्ट्रीय विद्वान का नाम सखाराम देऊसकर था। उनका जन्म १७ दिसम्बर, १८६९ को महाराष्ट्रप्रान्त के रत्नागिरि नगर में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में हुई और बाद में कुछ शिक्षा बंगाल के देवघर ग्राम में हुई थी। किन्तु घर की परिस्थिति अच्छी न होने से वे दोनों जगह मिलाकर इन्ट्रेन्स से अधिक शिक्षा न पा सके। फिर भी उन्होंने अपने व्यक्तिगत अध्ययन के आधार पर अँग्रेजी, संस्कृत और बंगला की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

आर्थिक परिस्थितियों से तंग आकर श्री सखाराम के पिता सदाशिवराव देऊसकर ने देवघर के पास थोड़ी-सी जमीन खरीदकर वहीं रहने और खेती-बाड़ी से अपनी गुजर-बसर करने लगे थे। इन्ट्रेन्स पास करने के बाद श्रीसखाराम कुछ दिन तो घर पर काम में पिता का हाथ बटाते रहे परन्तु उनका मन घर में न लगता था। वे बाहर निकल कर कुछ ऐसा काम करना चाहते थे, जिसमें उनकी योग्यता एवं विद्या का कुछ अधिक अच्छा और सार्थक उपयोग हो सके। साथ ही स्वाधीनता-संघर्ष के भी दिन थे। श्रीसखाराम उसमें भी अपना कुछ योगदान करना चाहते थे।

निदान, उन्होंने पिता से परामर्श किया और अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहा—"घर पर इतना काम नहीं है, जिसमें, मैं अपने सारे समय का पूरा उपयोग कर सकूँ। जो थोड़ी-सी खेती है उसे तो आप सम्हाल ही लेते हैं। न हो मैं कुछ और काम देखूँ और घर की स्थिति सुधारने का प्रयत्न करूँ। पिता ने उसकी बात ठीक समझी और अनुमति दे दी।

परिस्थितिवश श्रीसखाराम जी ऊँची-शिक्षा का कोई प्रमाण-पत्र न प्राप्त कर सके थे, इसलिये कहीं ऊँची जगह न मिल सकी। एक पाठशाला में सहायक अध्यापक के एक स्थान रिक्त होने का उन्हें समाचार मिला। उन्होंने तुरंत उसके लिये प्रयत्न किया और वह स्थान पा लिया। किन्तु उसमें उनका वेतन १०) मासिक था। श्रीसखाराम ने जीवन का शुभारम्भ करने के लिये उसे ही पर्याप्त माना। उन्हे इतना आत्म-विश्वास था कि पैर रखने भर का स्थान मिल जाने पर आगे वे स्वयं परिश्रम एवं योग्यता के बल पर उन्नति का मार्ग खोल लेंगे और आगे चलकर उन्होंने वैसा ही किया भी।

योग्यता एवं सद्व्यवहार के आधार पर श्रीसखाराम का परिचय देवघर के विद्वान राजनरायण बोस से हो गया। श्री राजनरायण जी बंगाल के 'प्रबोधान' आन्दोलन के लोकप्रिय कार्यकर्ता तथा संचालक थे। राजनारायण जी ने श्रीसखाराम की योग्यता पहचानी और उसके उपयोग का मार्ग सोचने लगे।

तभी बंगला के एक पत्र हितवादी का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। श्रीराजनरायण ने उसकी सूचना श्रीसखाराम को दी। वह तो ऐसे अवसर की तलाश में ही थे। उन्होंने तुरन्त उसका लाभ उठाया और उसमें लेख देने लगे। वह अपने लेख को पूरी तैयारी के साथ लिखा करते थे। लेख की तैयारी में कभी-कभी उन्हें बड़ी रात तक अध्ययन-मनन करना पड़ता था। वह किसी भी काम को परिश्रम-पूर्वक करने में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि काम छोटा हो अथवा बड़ा, उसमें मनुष्य को पूरा परिश्रम करना चाहिए। जो मनुष्य काम में परिश्रम की कृपणता करता है वह बड़ा काम तो दूर छोटे काम में भी बड़ी सफलता नहीं पा सकता। परिश्रम मनुष्य की शोभा और उसकी उन्नायक शक्ति है।

इस अध्यवसाय के कारण उनके लेख 'हितवादी' के प्रसिद्ध लेखक श्री रमेशचन्द्र दत्त, बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे लोगों के स्तर से किसी प्रकार कम न होते थे। उनके लेखों मे उनकी विद्वता तथा समीचीन दृष्टिकोण की स्पष्ट छाप होती थी। 'हितवादी' में उनके लेख उत्साहपूर्वक छापे और पढ़े जाते थे। इस कार्य में यद्यपि उन्हें विशेष आर्थिक लाभ अवश्य नहीं हुआ, किन्तु ख्याति के सम्बन्ध में वे काफी लाभ में रहे।

कुछ समय बाद श्रीसखाराम ने अपने लेखों में उद्देश्य का समावेश कर दिया। वह उद्देश्य था जनता मे स्वाधीनता-संग्राम के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना अपनी भावनाओ की यथार्थता के आधार पर श्रीसखारामजी अपने उद्देश्य मे सफल हुए। किन्तु इसकी प्रतिक्रिया सरकार पर अन्यथा रूप में हुई, होना भी चाहिए थी। जनता में देशभक्ति तथा स्वतंत्रता की भावना जाग्रत करने का अर्थ था, सरकार का विरोध। निदान उन्हें विद्यालय में वैसा न करने के लिये विवश किया जाने लगा। उन्होंने इसे अपने विचार-स्वातंत्र्य के साथ देश-सेवा के कर्तव्य पर अंकुश माना और खूब सोच-विचार कर पाठशाला से त्याग-पत्र दे दिया।

किन्तु अपनी सच्ची लेखनी द्वारा उन्होंने जो ख्याति तथा लोकप्रियता उपार्जित की थी, उसने उन्हें किसी जीविका-संकट में नहीं पड़ने दिया। तुरन्त ही उन्हें तत्कालीन 'प्रतिभा और साहित्य' में लिखने के लिये आह्वान किया गया। कुछ दिन इन दोनों पत्रों में लिखने के बाद श्रीसखारामजी को 'हितवादी' के सम्पादकीय विभाग में आमन्त्रित किया गया और 'हितवादी' में स्थायी रूप से कार्य करने लगे। उन्हें अपने योग्य कार्य-क्षेत्र मिल गया और उन्होंने अपनी योग्यता तथा क्षमताओं का पूरा-पूरा उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया।

एक प्रान्त के नायकों तथा महापुरुषों का परिचय दूसरे प्रान्त से हो और देश के विशेष व्यक्तित्व तथा अस्तित्व सार्वदेशिक स्तर पर सम्मानित तथा प्रेरक हों इस विशाल भावना के अधीन श्रीसखाराम ने बंगला-भाषा में जो प्रणयन किया है, वह अपना एक विशेष महत्व रखता है। श्रीसखाराम ने बंगला में महादेव गोविन्द रानाडे का एक सुन्दर जीवन-चरित्र लिखकर बंगला को महाराष्ट्र की प्रतिभा से परिचय किया। साथ ही अपने लेखो तथा भाषणो द्वारा

समय-समय पर गोपाल कृष्ण गोखले और बाल गंगाधर तिलक के नाम तथा महानकार्य बंगवासियो के हृदय मे स्थापित कर दिये, जिससे वह बंगवासियो के अपने आदर्श एवं अनुकरणीय पुरुष हो गये और लाल, बाल, काल का नया विधान बंगाल के घर-घर मे गूँजने लगा। इस प्रकार बंगाल तथा महाराष्ट्र को एक सूत्र मे गूँथ देने का शुभ श्रेय श्रीसखारामजी को जाता है।

श्रीसखाराम द्वारा अन्तर्प्रान्तीय-भावनाओ का यह समायोजन निःसन्देह उस समय की सबसे महत्वपूर्ण एवं महान् देशसेवा थी। इसी से प्रभावित होकर रवीन्द्रनाथ टैगौर ने एक स्थान पर बंगवासियो से अपील की और स्पष्ट शब्दो मे कहा कि रहन-सहन तथा भाषा मे भिन्न होने पर भी बंगाल तथा महाराष्ट्र भावनात्मक स्तर पर एक ही है। बंगालियो को हर प्रकार से महाराष्ट्रीयो की सहायता तथा सहयोग करना चाहिए।

श्रीसखाराम ने बंगला मे छत्रपति शिवाजी का एक सुन्दर जीवन-चरित्र लिखा जो 'शिवाजी-दीक्षा' नाम से प्रकाशित हुआ और बगालियो के बीच शिवाजी-जन्मोत्सव मनाने की प्रथा का प्रचलन किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस पुस्तक की प्रस्तावना कविता के रूप मे इस ढंग से लिखी कि श्रीसखाराम बंगालियो के अपने बन गये और घर-घर उनके नाम का प्रचार हो गया।

इसके बाद कुछ समय के उपरान्त वे स्वतन्त्ररूप से लेखन तथा स्वाधीनतासंघर्ष मे सक्रियसेवा करने लगे और इसी प्रकार देश तथा समाज की सेवा करते हुए लगभग ६० वर्ष की आयु मे स्वर्ग सिधार गये।

सम्पूर्ण देश की प्रान्तीय-भावना को एक राष्ट्र-भाव मे बदल देने की विधि यदि कोई जानना चाहे तो वह सखाराम देऊसकर के जीवन पर दृष्टि डाले और प्रान्तो के बीच सम्बन्ध और एकरूपता लाने के लिये उसी प्रकार एक कड़ी बनकर अपना जीवन समर्पित कर दे। श्री देऊसकर जी जन्म से महाराष्ट्रीय थे किन्तु कर्म से बंगाली। वे निश्चय ही जहाँ महाराष्ट्र के पुत्ररत्न थे, वहाँ बंगाल के पुरुष-रत्न थे। अस्तु, पूरे देश और विशेषकर महाराष्ट्र एवं बंगाल को इन अपने अद्भुतपुरुष का स्मारक बनाकर उसकी सेवाओ की स्मृति अमर करनी चाहिए।

लोक-नाटकों के कुशल संगठक—श्री अमरनाथ

अमरनाथजी ओझर रियासत के एक छोटे से गाँव बनगी में सन् १९५३ मे जन्मे थे। परिवार बहुत सम्पन्न नहीं था पर हिन्दुओं में जो शील संस्कार होने आवश्यक होते हैं वह सब मर्यादाएँ इनके घर में पाई जाती थीं। अमरनाथ जी केवल सोलह वर्ष के थे तब गाँव से कोई ५ मील दूर एक गाँव में किसी बारात में एक नौटकी आई। अन्य साथियों के साथ अमरनाथ भी नौटकी देखने जाने के लिये तैयार हो गये। युवक हो या बाल-वृद्ध मानसिक आह्लाद की आकांक्षा हर किसी की होती है। मनोरन्जन सभी चाहते हैं यह दूसरी बात है कि धोखा हो और लोग मनोरंजन की गलत दिशाएँ पकड़कर जीवन को कुमार्ग-गामी बना ले अथवा शुद्ध सात्विक मनोरजन द्वारा निर्माणात्मक शक्ति जुटाते चले।

पिताजी को मालूम पड़ा कि अमरनाथ नौटंकी देखने जा रहा है तो उन्होने बच्चो को बुलाकर डाँटा और वहाँ जाने से साफ इनकार कर दिया।

बात पहले से स्पष्ट होती तो आज्ञाकारी बालक को शायद ही कष्ट होता। अपने समाज मे नवयुवको की बदतर स्थिति का यही तो कारण है कि उन्हे पहले से अच्छी और सही दिशाओ का ज्ञान नही कराया जाता और जब वे प्रवाह मे बहकर किसी अच्छे बुरे काम के लिये उत्साहित होते हैं तो उन्हे रोका और टोका जाता है। इससे उनकी प्रतिरोध और प्रतिशोध की भावनाएँ भड़कती हैं। उद्दण्डता एवं उच्छृंखलताएँ इसी तरह बढ़ती है।

उठा हुआ जोश शान्त न हुआ। माँ ने थोड़ी शह दे दी कि पिताजी को मना लूँगी जा तू नौटंकी देख आ। अब क्या था, बच्चा चुपचाप निकल गया उसने पिता की आज्ञाओ की परवाह नही की।

अभी नौटंकी शुरू हुए १ घण्टा ही बीता था कि अमरनाथ समझ गये कि पिताजी के रोकने का क्या कारण था। नौटकी पार्टी के सारे कलाकार गँवार किस्म के थे। न उसके गाने अच्छे थे, न नाटक मे भावनाओ का विकास प्रेरक था। उनमे जितनी अश्लीलता और भौंडापन उभारा जा सकता था, उभारते थे और दर्शको मे भी ९५ प्रतिशत उसी कोटि के थे जो इसी मे पूर्ण रस ले रहे थे। अमरनाथ ने अब समझा अच्छे लोग नौटंकी देखने क्यो नहीं आते। इसके साथ ही उसके मस्तिष्क मे एक विचार आया कि ऐसी नौटकियो की जगह ध्रुव, प्रहलाद, भक्त-मोरध्वज, हरिश्चन्द्र जैसे प्रेरक-नाटक और सुन्दर लोक-गीतो का समावेश कर दर्शको का मनोरन्जन भी किया जा सकता है, सद्शिक्षण और मार्ग-दर्शन भी बखूबी से किया जा सकता है। इसके लिये इस क्षेत्र मे भी कुछ योग्य और विचार-शील लोगो को आना पड़ेगा। अभी तो वह निरे बच्चे थे, पर मस्तिष्क में उठा विचार भी तो कम महत्वपूर्ण न था, बीज जब पड़ जाता है तो यथासमय वह फूलता भी है।

अमरनाथ घर आये। सीधे पिताजी के पास जाकर अपनी गलती की क्षमा माँगी। पिताजी क्रुद्ध तो थे पर बच्चे के पश्चात्ताप करने से उनका असन्तोष धुल गया। इधर अमरनाथ ने संगीत का अभ्यास और तेज शुरू कर दिया और अपनी योग्यता का मोड़ वे उस दिशा में करने लगे जिससे नौटकी को एक व्यावसायिक ढंग पर रखते हुए भी सामाजिक सद्-शिक्षण का माध्यम बनाया जा सके।

२० वर्ष की आयु में अमरनाथ ने उत्तर-भारत के दोनों नौटंकी स्कूल कानपुर और हाथरस का निरीक्षण किया और वहाँ से इस सम्बन्ध मे काफी अनुभव प्राप्त किये ।

घर लौट कर उन्होने नये नाटकों के निर्माण का निश्चय किया । मस्तिष्क में जो थोड़ी योग्यता थी उसी के सहारे उन्होने नये नाटक जो दर्शकों की भावनाओं को उठा सकते थे, कुछ ऐसे नाटक उनकी कल्पना मे थे, कुछ अपने शिक्षित मित्रो से सहयोग लेकर दो-तीन नाटक तैयार किये । ध्रुपद, धमार के गीतों के अतिरिक्त चौबोला और बहर तबील तथा लावनी आदि गीतो के नये निर्माण मे उन्होने पूरी रुचि ली । इन प्रयत्नो से उनके पास मंच को विचार और भावनाओं से छोटे-छोटे सम्वादो और संगीतों से सजाने की यथेष्ट सामग्री एकत्रित हो गई ।

परन्तु मुख्य प्रश्न तो कलाकारो का था । ऐसे बच्चे जो इस नाटक मंडली मे प्रायोगिक तौर पर काम करने को तैयार होते एकाएक मिल जाना कठिन था । उसके लिये अमरनाथ को बड़ी दौड़धूप करनी पड़ी । किसी तरह ४-५ बच्चे एकत्रित हो सके । युवक-सगठन ने उन्हें ही अभ्यास कराना प्रारम्भ किया । यह एक बिल्कुल नया प्रयोग था, जिसके सम्बंध मे लोगों को शक ही था कि आदर्शवादी होने और साधारण जनता के लिये उत्तेजक सामग्री न होने के कारण यह नौटंकी चल न सकेगी । तो भी अमरनाथ ने साहस न खोया और अपना प्रथम नाटक अपने ही गाँव में पड़ौस की एक लड़की के विवाह मे आयोजित किया । इसे बिना पारिश्रमिक ही किया गया ।

लोगो की धारणा आखिर निर्मूल ही निकली । हमारे देश के नागरिकों मे धर्म की सुकोमल भावनाएँ गहराई तक जमी हुई हैं । भक्ति, करुणा, दया, त्याग, प्रेम, उदारता के दृश्य यदि भली प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं तो उन्हे दर्शक अश्लील स्वाँगो की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं । अमरनाथ की सफलता का कारण यही था कि उनका हर दृश्य ऐसा ही उदात्त और उत्कृष्ट भावनाओं को जगाता था । परिणाम यह हुआ कि पारिश्रमिक निश्चित न होते हुए भी लोगों ने पुरस्कार और उपहार के तौर पर इतना धन दिया जो सम्भवतः व्यावसायिक दृष्टि से भी नहीं मिलता । इससे अमरनाथ का उत्साह भी बढ़ा और अच्छे कलाकार न मिलने वाली कठिनाई भी सरल हो गई ।

अमरनाथ ने ६० वर्ष तक समाज की यह सेवा की । और जब उनका देहान्त होने लगा तो अपने उत्तराधिकारियो को भी उन्होने यही शिक्षा दी—"भाइयो! लोकरंजन के लिये लोकनाटकों, अभिनय और जन-गायन की बड़ी उपयोगिता है, उसे सेवा भावना, सच्चाई और सत्यता से ही करना चाहिए । यदि ऐसा उद्देश्य बनाये रखा तो उससे समाज का तो भला होगा ही, तुम्हारी आजीविका भी बँधी हुई चलती रहेगी ।"

अन्य लोकों की खोज करने वाले—यूरी गागरिन

खतरे के कामो को बिना हिचकिचाहट के करने वाले सभी लोग वीर या दुस्साहसी माने जाते हैं, पर फिर भी जीते जी 'परलोक यात्रा' का साहस इनसे कुछ भिन्न प्रकार का है । उसमे केवल मर जाने का ही खतरा नही है, वरन् एक स्थान में जाकर फँस जाने का भी भय लगता है । अन्तरिक्ष की भारहीन स्थिति भी एक ऐसी चीज है जिसका अनुभव मनुष्य ने कभी नहीं किया । इसके अतिरिक्त राकेट की १८ हजार मील प्रति घन्टे की चाल भी मनुष्य के स्वास्थ्य, हृदय की गति, रक्तचाप पर कोई ऐसा विपरीत प्रभाव डाल सकती है, जिसकी कभी कोई कल्पना भी नही कर सकता । इन सब कल्पनातीत बाधाओं और कठिनाइयों का सामना करने वाले व्यक्ति में कैसा सात्विक साहस, आत्मविश्वास और मृत्यु की तरफ से पूर्ण निश्चिन्तता चाहिए इसका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है ।

रूस निवासी मेजरगागरिन (जन्म १९३४) इस युग के सबसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होने स्वेच्छा से इस लोकोत्तर कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया । वह एक छोटे से गाँव के निवासी हैं जहाँ आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों की पहुँच बहुत कम हुई है । वहाँ पर जहाँ तक निगाह जाती है अनाज के खेतो के सिवाय और कुछ दिखाई नहीं पड़ता ।

दसवर्ष की आयु मे उन्हे आक्रमणकारी जर्मनो के आतंक से अपनी माता के साथ गाँव छोड़ कर भागना पड़ा, जबकि उनके पिता जर्मनो के साथ लड़ रहे थे । ग्यारहवर्ष की आयु मे वह फिर स्कूल जाने लगे और कुछ समय पश्चात् यन्त्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त करने मास्को के नजदीक के एक स्कूल में गये । स्कूल के पास ही हवाई जहाजो का कारखाना था जिसमें से नित्य नये जहाज बनाकर निकाले जाते थे और खुले मैदान मे लाकर जाँच करने के लिये उड़ाये जाते थे । उनको देखकर गागरिन में हवाई जहाज चालक बनने की इच्छा हुई और कई बार बाधा पड़ने पर भी अन्त मे उन्होने अपने प्रयत्न मे सफलता प्राप्त की । वायुयान-विद्यालय की परीक्षा (सन् १९५७) मे वे सर्वोच्च श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए और इसलिये शीघ्र ही रूस की वायुसेना में उनको अच्छी नौकरी मिल गई । उसी समय चिकित्सक विद्यालय की एक छात्रा वेलेन्टीना से उनका विवाह भी हो गया ।

उस समय रूस की ओर से अन्तरिक्ष मे उपग्रह छोड़े जा रहे थे । जब गागरिन ने सुना कि एक उपग्रह मे 'लाइका' नामक कुत्ता भी भेजा गया है तो उन्होंने सोचा कि जब ब्रह्माण्ड में एक जीवित प्राणी पहुँच गया तो मनुष्य क्यों नहीं पहुँच सकता ? और उन जाने वालो मे से मैं भी एक क्यों नहीं हो सकता इस प्रकार के विचारों ने उनके भीतर एक बिजली की लहर दौड़ा दी । परन्तु उन्होंने अपने इन मनोभावो

को प्रकट नहीं किया क्योंकि एक तो उन्होंने अभी हाल मे ही परीक्षा दी थी, उनसे पुराने समय के और अनुभवी बहुत अधिक व्यक्ति मौजूद है और दूसरे इसी समय शादी भी हुई है । इस प्रकार का विचार पत्नी के प्रति कठोरता प्रदर्शन समझा जा सकता है । फिर भी वे इस लक्ष्य को प्राप्त करने की तैयारी करने लग गये । उन्होंने आग्रहपूर्वक अपनी नौकरी ध्रुव प्रदेश मे करवा ली जहाँ मनुष्य को सदैव कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है । फिर वे वायुयान तथा अन्तरिक्ष सम्बन्धी ग्रन्थो का अध्ययन करके अपना ज्ञान भी बढ़ाने लगे ।

उचित अवसर पर गागरिन ने अन्तरिक्षयान का चालक होने के लिये आवेदन-पत्र भेजा । नियत समय पर एक मेडीकल बोर्ड के आगे पेश होना पड़ा, जिसने खूब ठोक-पीट कर शारीरिक स्वास्थ्य और विभिन्न अंगों की जाँच की । बहुत से उम्मीदवारों में से दस चुने गये जिनमें गागरिन भी थे । अब कुछ दिन बाद दूसरी परीक्षा में दस में से एक सर्वोत्तम व्यक्ति का निर्णय किया जाना था ।

अन्त मे दूसरी परीक्षा मे भी वह हर तरह से योग्य सिद्ध हुए और अन्तरिक्षयात्री की ट्रेनिंग के लिये भेज दिये गये । अन्तरिक्ष यात्रा मे अनेक ऐसी परिस्थितियो का सामना करना पड़ता है जिनका अनुभव पृथ्वी के वायुयान चालको को नहीं होता । आरम्भ मे गुरुत्वाकर्षण का भार कई गुना बढ़ जाता है और फिर एकदम भारहीनता की स्थिति आ जाती है । यह सब परिवर्तन एक मिनट के भीतर हो जाता है, जबकि १८ हजार मील की गति वाला राकेट कुछ ही सैकिन्डों मे यात्रा को डेढ़-दो सौ मील की ऊँचाई पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से बाहर पहुँचा देता है । गागरिन को पृथ्वी पर ही इस प्रकार की कृत्रिम उपायो से उत्पन्न की गई परिस्थितियो में होकर गुजरना पड़ा, जिससे वे अभ्यस्त हो जायें । साथ ही उन्हे अन्तरिक्ष में लगे कई प्रकार के यन्त्रो से वैज्ञानिक जाँच करने की भी शिक्षा दी गई ।

१२ अप्रैल १९६१ का दिन संसार के इतिहास मे अमर हो गया जबकि वीर, आत्मजयी व्यक्ति ने मनुष्य को पृथ्वी के बन्धन से छूटने का मार्ग दिखाया ।

साहित्य और युद्ध के मोर्चों पर—एहरेनबुर्ग

सन् १९४१ मे नाजी सेनाएँ भीषण गति से रूस के कीव, ब्रन्स्क और व्याज्मा नगर को अपने कब्जे मे करती हुई मास्को की ओर बढ़ती चली जा रही थीं । उस समय सैनिकों का ही नहीं वरन् देश के प्रत्येक नागरिक का यह परम कर्त्तव्य था—कि वह तन, मन, धन से अपने देश की रक्षा करे । साहित्यकार तो सामान्य व्यक्तियों से भिन्न ही एक कलाकार होता है जो अपने हृदय की स्याही को निचोड़कर साहित्य के द्वारा अनुकूल वातावरण का सृजन करता है । रूसी-साहित्यकार इल्या-एहरेनबुर्ग से तो सारा देश बहुत पहले ही परिचित हो चुका था । जब सन् १९३७ मे स्पेन के गृह-युद्ध के समय रिपब्लिकन सैनिको व स्वयंसेवको की टुकड़ी के साथ नागरिक वेश में एहरेनबुर्ग को देखा था । उनके हाथ में एक तख्ती थी जिस पर लिखा था 'स्वातंत्र्य-सैनिको की टोली' । उस समय एहरेनबुर्ग 'इजवेस्तिया' के संवाददाता के रूप में गये थे । पर स्पेन के युद्ध मोर्चे पर स्वयं सैनिक बन गये ।

बन्दूक लेकर शत्रुओं को पीछे खदेड़ने वाला तो सैनिक होता ही है पर सैनिकों में जान फूँककर, आगे बढ़ाने की प्रेरणा देने वाला, कलम रूपी अस्त्र से पौरुष की आग बरसाने वाला साहित्यकार भी किसी प्रकार सैनिक से कम महत्व का नहीं होता । नाजी सेनाओ के आक्रमण के समय एहरेनबुर्ग ने एक लेख रूसी समाचार पत्रों मे प्रकाशित कराया जिसका शीर्षक था 'विजय हमारी ही होगी' ।

उस आग उगलने वाले लेख को जिस-जिस व्यक्ति ने भी पढ़ा, देश-रक्षा के लिये मर मिटने को तैयार हो गया । उस लेख मे सैनिक के हृदय को किले के समान सुदृढ़ बताया गया था । देश की राजधानी को टैकों की सहायता से नहीं वरन् सैनिको की शूरता और सहन शक्ति के आधार से ही बचाने की बात कही थी । फासिस्ट जिस मार्ग से आगे बढ़ रहे हैं, भले ही वह मास्को पहुँचाता हो, पर हम लोग अपनी वीरता से शत्रु सैनिकों को यमलोक ही पहुँचा कर रहेंगे । इस तरह के वीरतापूर्ण उद्बोधन जिस सैनिक ने भी पढ़े वह पूर्ण मनोबल से शत्रु को पीछे हटाने के लिये तैयार हो गया ।

ऐसे अजेय हृदय लेखक का जन्म २७ जनवरी, १८९१ को यहूदी परिवार मे हुआ था । पर जब उनकी आयु एक साल से भी कम थी, सारा परिवार मास्को में आकर बस गया । एहरेनबुर्ग को पढ़ने-लिखने का बहुत शौक था । पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तथा नई ऐतिहासिक घटनाओ की जानकारी वे बड़े चाव से एकत्रित करते थे । विद्यालय में उनकी प्रतिभा को देखकर ही हस्तलिखित पत्रिका 'नई किरण' का सम्पादन कार्य उन्हे सौंपा गया था । सन् १९०५ मे जब देश मे क्रांति की लहर फैली तो एहरेनबुर्ग स्कूल छोड़कर मैदान में आ डटे और जार के सैनिकों को गश्त लगाने से रोकने लगे ।

पन्द्रहवर्ष की आयु में ही देश की पुकार को सुनकर वे बोल्सेविक पार्टी मे सम्मिलित होकर राजनीति में सक्रिय रूप से कार्य करने लगे । सन् १९०८ में उन्हे कैद कर लिया गया । शक मे पुलिस ने घर की तलाशी ली तो वहाँ भी पार्टी सम्बन्धी कुछ साहित्य मिला । पुलिस के लिए इतना ही पर्याप्त था । उन्हे ८ माह का कठोर कारावास का दण्ड भुगतने के बाद जमानत पर रिहा कर दिया गया, परन्तु बाद को भी उन पर कई पाबन्दियाँ लगी रहीं । स्वतन्त्र-मस्तिष्क और स्वतन्त्र-हृदय का साहित्यकार इस प्रकार का बंधन भला कैसे सहन करता, अतः वे पुलिस को चकमा देकर रूस की सीमा पार कर पेरिस चले गये ।

इस रंग-बिरंगी राजधानी में एहरेनबुर्ग को अपने देश की बराबर याद आ रही थी। वह बार-बार यही सोचते कि दुनिया मे सर्वत्र दुःख और दरिद्रता का ही एकछत्र साम्राज्य है। पर इसका मूल कारण क्या है? सन् १९०९ में मास्को की एक पत्रिका मे इनकी कविता प्रकाशित हुई और सन् १९११ से जो लेखन कार्य शुरू हुआ तो द्रुतगति से बढ़ता ही चला गया।

समय ने करवट ली, परिस्थितियाँ बदलीं व सन् १९१७ में जारशाही का अन्त हुआ। अतः एहरेन बुर्ग भी अपने देश रूस लौट आये। उनकी सेवाओं तथा त्याग को देखते हुए सरकारी कला-विभाग मे कार्य मिल गया।

सन् १९२१ मे सम्वाददाता के कार्य करने के कारण उन्हे काफी दिनो तक विदेश मे ही रहना पड़ा। एक बार तो उन्हे राजनीतिक प्रचार करने का आरोप लगाकर पेरिस में गिरफ्तार कर लिया गया और सजा काटने के लिये बेल्जियम जेल भेज दिया गया। जेल का जीवन उन दिनों बहुत ही यातनापूर्ण और शुष्क था। जहाँ एक-एक दिन लोग गिन-गिन कर काटते थे वहाँ एहरेनबुर्ग ने अपने मानसिक सन्तुलन को कायम रख कर एक माह की अवधि मे ही अपने प्रथम उपन्यास 'जो लियो जुरेनितो' की रचना कर डाली।

वे अपने जानदार साहित्य के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के ख्याति प्राप्त साहित्यकार बन गये। 'कम्यून वालो की मलिका' का तो यूरोप की समस्त भाषाओ मे अनुवाद हुआ। 'यूरोप के भवितव्य की कथा' जो पत्रात्मक शैली में है और जिसमे पूँजीवादी संसार के आने वाले 'कल' की कल्पना की गई है। काफी समय तक चर्चा का विषय बनी रही। इसके अतिरिक्त '१३ चिलमे' 'दि फाल ऑफ पेरिस', 'दि स्टार्म', 'दि नाइन्थ वेव' और 'दि स्प्रिंग' आदि पुस्तके साहित्य जगत मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

एहरेनबुर्ग का हृदय यदि साहित्यकार का है तो उसका मस्तिष्क कुशल राजनीतिज्ञ का। वे आलोचनाओ से डरने वाले व्यक्ति नहीं। जब ख्रुश्चेव ने नये साहित्यकारो और कलाकारो की उग्र आलोचना की उस समय एहरेनबुर्ग ही ऐसे साहित्यकार थे जिन्होने नव साहित्य और कला का पक्ष लेकर वास्तविक-स्थिति को सामने रखा।

वास्तव मे साहित्यकार युग-दृष्टा व युग-निर्माता होता है, यदि वह संसार के विभिन्न प्रलोभनों से मुक्त होकर अपने साधन पथ पर चले तो वह समाज के साथ बहुत बड़ा उपकार कर सकता है।

जन-जागरण के अमर साधक— समर्थ गुरुरामदास

भारतवर्ष का जहाँ यह दुर्भाग्य रहा है कि इसे संसार मे सबसे अधिक आक्रमणों एवं अत्याचारों को सहन करना पड़ा है, वहाँ यह सौभाग्य भी रहा है कि आवश्यकतानुसार इसमे समय-समय पर ऐसे महापुरुषो का जन्म भी होता रहा है, जिन्होने साधन एवं परिस्थितियों के अनुसार अन्धकार में डूबे भारत को प्रकाश की ओर बढ़ाया है। ऐसे ही युग-पुरुषो मे समर्थ गुरुरामदास का प्रमुख स्थान है।

उस समय भारत पर यवनो का राज्य था। मुगल-सम्राट औरंगजेब धर्मान्धता के वशीभूत होकर मन्दिरो तथा मूर्तियो को तुड़वा रहा था। असहाय हिन्दुओं के शिखा सूत्र काटे और सिर उतारे जाते थे। सैकड़ो साल निरन्तर लड़ते रहने से राजपूत राजा निरस्त हो चुके थे। धर्मोद्धार का कोई मार्ग दिखाई न दे रहा था। बड़ी भयंकर परिस्थिति चल रही थी।

समर्थ गुरुरामदास ने जिनका घर का नाम नारायण था, यवनो के इस असह्य अत्याचार की पीड़ा अनुभव कर ली थी। बालक नारायण उस समय उसके प्रतिकार के विषय मे तो कुछ अधिक न समझ पा रहा था केवल भारतीय-संस्कारो के कारण इतना अवश्य जानता था कि तपस्या एवं सच्चे मन से भगवद्भक्ति करने से सारे संकट दूर हो जाते हैं। इसके साथ उसे यह भी विश्वास था कि यदि समाज के सब लोग मिलकर उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना करे तो अवश्य कल्याण हो जाये। तपस्वीजन यदि अपने तप का भाग समाज-कल्याण के लिए प्रदान कर दें तो कोई कारण नहीं कि यवनो के इस अत्याचार की समाप्ति न हो जाये।

इस प्रकार विचारधारा ने उसे अल्प-आयु मे ही नारायण के मन मे विराग-भावना उत्पन्न कर दी। यह स्वाभाविक भी था। मनुष्य की आत्मा में जब परोपकार की भावना समाहित हो जाती है, तब उसको ससार के भोग-विलास से विरक्ति हो ही जाती है। इसका स्पष्ट कारण है कि विषय-वासना का केन्द्र स्थान मन होता है और वही मन जब किसी उच्चादर्श मे नियोजित हो जाता है तब उसमे विषय-वासनाओं के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता।

नारायण के बड़े भाई श्रेष्ठ, बड़े ही विद्वान् एवं सन्त प्रकृति के व्यक्ति थे। नारायण ने उनसे दीक्षा देने का अनुरोध किया। श्रेष्ठ ने उनकी इस जिज्ञासा को केवल बाल-बुद्धि ही नहीं समझा। उन्होंने इसके पीछे एक आग, एक लगन भी देखी! उन्होंने पाँच वर्ष के बालक नारायण की इस असामयिक जिज्ञासा का न तो मखौल उड़ाया और न उसकी इतनी उपेक्षा की कि वह हतोत्साह हो जाता। उन्होंने उसकी आयु क्रम बतलाकर कुछ समय बाद दीक्षा देने का आश्वासन दे दिया।

भाई के मात्र आश्वासन से नारायण को सन्तोष न हुआ। उसे तो अपने तप द्वारा देश का उद्धार करने की लगन लगी हुई थी। उसने स्वयं ही भगवान की शरण जाकर तप करने का विचार किया। कहना न होगा कि किसी कर्त्तव्य के प्रति आत्मा की सच्चाई किसी मार्गावरोध की कोई चिन्ता नहीं करती। वह काँटों के बीच में अपना मार्ग बना लेती है, पहाड़ों पर भी अपना पथ प्रशस्त कर लेती है। नारायण,

गोदावरी के किनारे एक मन्दिर मे जाने और वहाँ एकान्त में ध्यान लगाने का अभ्यास करने लगे ।

ज्यो-ज्यो नारायण का हृदय निर्मल होता गया । त्यों-त्यों उसे अपने अन्तर मे एक आवाज सुनाई देने लगी—"नारायण पृथ्वी पर अधर्मियो का अत्याचार फैला है । विदेशी लोग भारत भूमि को आक्रान्त किये हुए हैं । तू अपने तप और ज्ञान से देश का उद्धार कर ।" भोले भक्त ने इसे भगवदादेश समझा और उसी के अनुसार कर्त्तव्य करने का निश्चय कर लिया ।

बेटा वैरागी हुआ जाता था, माता को बड़ी चिन्ता थी । उसके पास एक ही अस्त्र था उसे रोकने का 'विवाह' । निदान, उसने नारायण के विवाह की चर्चा चलानी शुरू कर दी । कर्त्तव्यवती नारायण ने जब अपने बन्धन की बात सुनी तो वह विचलित हो उठा और घर से भागने को उद्यत हुआ ।

माता के अत्यधिक आग्रह पर विवाह का आयोजन हुआ । पुरोहित ने विवाह की कार्यवाही आरम्भ करने के लिए नियमानुसार 'सावधान' शब्द का उच्चारण किया । नारायण सतर्क हो गये । उन्होने सोचा कि सावधान होने का ठीक यही समय है । वे मण्डप छोड़ कर भाग खड़े हुए । लोग बहुत कुछ पीछे दौड़े, खोजा, तलाश किया, किन्तु लगन-शील बालक अपनी उड़ान भरकर गायब हो गया ।

घर से भागने के बाद नारायण कुछ समय तो अपने इलाके मे ही इधर-उधर छिपते फिरे, फिर नासिक को चले गये । अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा के प्रकाश से जिसका हृदय भरा हुआ है, जिसने अपने कर्त्तव्य को पहचान लिया है, अपना जीवन ध्येय देख लिया है उसे भला ससार का कौन-सा बन्धन रोक सकता है । विवाह तो एक बहुत ही साधारण बात है ।

भगवान श्रीराम के दास होने से नारायण ने स्वयं अपना नामकरण रामदास कर लिया और बाद मे उनके भक्तो, शिष्यो ने उनकी शक्ति देखकर रामदास के साथ समर्थ शब्द का समावेश कर दिया । इस प्रकार से नारायण से समर्थ गुरुरामदास हो गये । अनिर्वचनीय आलोक से परिप्लावित ज्ञान प्राप्त कर समर्थ गुरुरामदास ने अपना वास्तविक कार्य प्रारम्भ किया ।

उन्होने देशाटन का कार्यक्रम बनाया । भारतवर्ष की इस लम्बी तीर्थ-यात्रा मे वे एक दिन से अधिक कही भी नहीं रुके । उनकी इस यात्रा मे जो भी ग्राम, जनपद अथवा नगर पड़ता था उसमे धर्मोपदेश करते, देश की दशा बतलाते, परमात्मा पर विश्वास उत्पन्न कराते और आत्म-कल्याण के साथ भारत का उद्धार करने की प्रेरणा करते । समर्थ गुरुरामदास की अखण्ड विद्वत्ता, तेजोमय व्यक्तित्व तथा ओजपूर्ण वाणी का इतना प्रभाव पड़ता था कि नगर-नगर, ग्राम-ग्राम उनके शिष्य बनते चले जाते थे । इस प्रकार कुछ ही समय मे उनकी कीर्ति सारे भारत मे फैल गई ।

समर्थ गुरुरामदास के शिष्यो मे अनेक महाराज शिवाजी के सैनिक तथा अधिकारी थे । उनके द्वारा शिवाजी को भी उनकी कीर्ति सुनने को मिली । महाराज शिवाजी उनसे मिलने को अत्यन्त आतुर रहने लगे । यह समाचार समर्थ को मिला तो उन्होंने शिवाजी के नाम एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें उन्होंने शिवाजी को राज-धर्म का उपदेश किया । देश तथा धर्म की दशा का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हे धर्मोद्धार के लिये समर्थ बतलाते हुए उत्साहवर्द्धन किया ।

उन्होने लिखा—"हो सकता है कि तुम अपने राज्य की सीमित भूमि और गिने-चुने साधनों को देखकर यह समझो कि इतने अल्प-उपादानों एवं सीमित शक्ति के द्वारा यवनो के इतने व्यापक-अत्याचार को किस प्रकार रोक सकता हूँ और किस प्रकार धर्म की रक्षा करते हुए देश मे हिन्दूपद पातशाही की स्थापना कर सकता हूँ । तुम्हारा यह सोचना उचित न होगा । क्योकि मनुष्य की शक्ति साधनों मे नहीं, उसकी आत्मा में होती है । जिसे अपनी आत्मा में विश्वास है, मन मे देशोद्धार की सच्ची लगन है उसके कर्त्तव्य-पथ पर पद रखते ही साधन स्वय एकत्र होने लगते हैं । भगवानराम ने अपने विश्वास, बल, इच्छा-शक्ति तथा अविरत उद्योग से वन में अकेले ही वानरों तथा भालुओ की सेना बनाकर सर्व-शक्ति सम्पन्न रावण को न केवल हराया ही बल्कि पूर्णतया नष्ट कर दिया । पाण्डवो ने भिखारी बनकर भी उद्योगबल पर अपना वैभव प्राप्त कर लिया और योगीराजश्रीकृष्ण ने केवल एक अकेले ही महाभारत का नेतृत्व कर भारत से दुरात्माओ को नष्ट करा दिया । अपनी आत्मा का जागरण करो, मन को बलवान बनाओ और उद्धार कार्य मे एकनिष्ठ होकर लग जाओ । तुमको अवश्य सफलता प्राप्त होगी ।"

"अत्याचारी की शक्ति क्षणिक होती है । उसे देखकर कभी भी भयभीत न होना चाहिए । अत्याचारी प्रत्यक्षरूप मे निरपराधो पर तलवार चलाता हुआ परोक्ष मे अपनी ही जड़े काटा करता है । अत्याचार से अल्पायु एवं अत्याचारी से बढ़कर कोई भी कायर संसार मे नही होता । निष्कामबुद्धि से अपना कर्त्तव्य करो । भगवान तुम्हारी सहायता करेंगे ।"

पत्र पढ़कर महाराजशिवाजी का हृदय उत्साह से पूरी तरह भर गया । उन्होंने स्वल्प-साधनो से ही देशोद्धार का कार्य करने का निश्चय कर लिया । दृढ़ निश्चयी का कोई भी कार्य संसार मे नही रुकता ।

समर्थ गुरुरामदास का प्रेरक-पत्र पढ़कर जहाँ एक ओर शिवाजी मे उत्साह की वृद्धि हुई वहाँ उनसे मिलने की उत्सुकता अपनी सीमा पार कर गई । वे सोचने लगे, जिस महात्मा के वचनों मे इतना प्रभाव है, उसका व्यक्तित्व कितना महान होगा? निदान एक लम्बी खोज के बाद वे उनसे जा ही मिले ।

समर्थगुरु के दर्शन करके शिवाजी कृतार्थ हो गये, उन्होंने उनसे दीक्षा माँगी और संन्यास लेने की इच्छा प्रकट की । समर्थगुरुरामदास ने उन्हे वैसाख शुक्ल नववीं सम्वत् १५७१ शाके को गुरु मन्त्र दिया और प्रसाद के रूप में एक

रियल, मुट्ठी भर मिट्टी, दो मुट्ठी लीद और चार मुट्ठी पत्थर थे जो क्रमशः दृढ़ता, पार्थिवता, ऐश्वर्य एवं दुर्ग—विजय के प्रतीक थे । महाराज शिवाजी ने गुरु का यह प्रसाद शिरोधार्य किया और पुनः साधु जीवन अपनाने की अनुमति माँगी ।

समर्थगुरु ने उन्हें समझाया । पीड़ितों की रक्षा तथा धर्म का उद्धार करना तुम्हारा कर्तव्य है ? संन्यास का अर्थ संसार के कर्तव्य त्याग देना नहीं है । सच्चे संन्यास का अर्थ है अपनी तृष्णा-वासना, संकीर्णता और स्वार्थपरता का परित्याग और निःस्वार्थ भाव से देश-धर्म की रक्षा करना । तुम संन्यस्त भाव से अपने राज-धर्म का पालन करो, देश का उद्धार करो और धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिए संघर्ष करो ।

एक ओर शिवाजी अपनी सैन्य-शक्ति से देशोद्धार के लिए प्रयत्न कर रहे थे दूसरी ओर उनके गुरु देश-देश घूम कर धर्म-भावना जाग्रत करते थे । उन्होंने शिवाजी की सैन्य-शिक्षा के लिए हजारों महावीर मठों की स्थापना की, जनता को उनका सहयोग देने के लिए प्रेरित किया । झोली डाल कर गाँव-गाँव घूमे और आवश्यक धनराशि एकत्र की ।

गुरु की कृपा और अपने उद्योग से महाराजशिवाजी का दिन-दिन अभ्युदय होता गया और शीघ्र ही वे छत्रपति महाराज शिवाजी के नाम से हिन्दू-पद-पातशाही के प्रवर्तक मान लिए गये । गुरु एवं शिष्य के सम्मिलित प्रयत्नों से हिन्दुओं में आत्म-विश्वास जागा, धर्म के प्रति आस्था एवं श्रद्धा की वृद्धि हुई । जिसके फलस्वरूप मुगलसाम्राज्य की जड़ें खोखली हो गईं और आगे चलकर वह कुछ ही समय मे गिर कर ढेर हो गया ।

इन सब बातो के साथ ही समर्थगुरु अपने शिष्य शिवाजी का चरित्र उज्ज्वल रखने के लिए समय-समय पर उनकी परीक्षा लेते और उपदेश देते रहते थे । एक बार वे यह देखने के लिए कि अपने राज्य-विस्तार तथा अभ्युदय से कहीं शिवाजी में माया, मोह अथवा अहंकार की दुर्बलता तो नहीं आ गई, उनके द्वार पर गये और भिक्षा के लिए आवाज लगाई । शिवाजी ने उनकी आवाज पहचानी और एक परचे पर अपना सारा साम्राज्य लिखकर उनके कमण्डलु में डाल दिया ।

समर्थ गुरुरामदास ने उन्हे राज्य लौटाते हुए केवल अन्न माँगा । शिवाजी दुबारा दिया हुआ राज्य वापस लेने को जब किसी प्रकार तैयार न हुए तब उन्होने उन्हे अपनी ओर से एक प्रतिनिधि के रूप में राज्य करने का आदेश देकर प्रस्थान किया ।

गुरुभक्त शिवाजी ने सिंहासन पर उनके खड़ाऊँ प्रतिष्ठित कर दिये और राज्य का ध्वज भगवा रंग मे रंगवा दिया । इस प्रकार वे सारे राज्य को गुरु का समझ कर एक प्रतिनिधि के रूप मे राज-काज करते रहे ।

सम्वत् १६०३ में शिवाजी के स्वर्गारोहण के बाद समर्थ गुरुरामदास ने भी माघ कृष्णा नवमीं १६०३ को यह कहते हुए समाधि ली कि मेरा कार्य पूरा हो चुका अब आने वाली पीढ़ी अपना कर्तव्य करेगी ।

समर्थगुरु रामदास का जन्म चैत्र शुक्ल नवमीं रविवार सम्वत् १५३० में हुआ । इनके पिता का नाम सूर्याजीपन्त और माता का नाम रेणुबाई था । उनका लिखा हुआ ग्रन्थ 'दास-बोध' मानव-जीवन की सभी समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला एकमात्र अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है ।

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय

महामना पं. मदनमोहन मालवीय का जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ को इलाहाबाद में हुआ था । इनके पूर्वज मालवा के रहने वाले थे । अतएव इस परिवार के लोग अपने नाम के साथ मालवीय लिखा करते हैं ।

मालवीयजी के पिता पं. ब्रजलाल संस्कृत के उद्भट विद्वान थे । उनकी विद्वता का प्रभाव पुत्र पर बड़ी गहराई तक पड़ा और आगे चलकर वे अपने परिश्रम के बल पर संस्कृत के साथ अँग्रेजी के महान् विद्वान् बने । जिस प्रकार मालवीयजी पर पिता के पाण्डित्य का प्रभाव पड़ा उसी प्रकार उनकी माता मुन्नीदेवी की धार्मिकता का भी पूर्ण प्रभाव पड़ा ।

धर्मज्ञानपूर्ण-धार्मिक जीवन ने मालवीय जी को मानवता की मूर्ति बना दिया और उनके हृदय में मानव जाति के लिए अपार-प्रेम तथा सहानुभूति का सागर उमड़ पड़ा । अपने पूरे जीवनभर वे राजनीति तथा समाज के मंचो से देश, धर्म, समाज और संसार की सेवा करते रहे ।

अपनी प्रारम्भिक शिक्षा इलाहाबाद मे पूर्ण करके कलकत्ता से मैट्रिक की परीक्षा पास की और म्योर कालेज इलाहाबाद से बी.ए. किया ।

अपने विद्यार्थीकाल से ही मालवीयजी ने समाज सेवा की आवश्यकता तथा उसका महत्व समझ लिया था । जिस समय वे कॉलेज मे पढ़ रहे थे उसी समय उन्होंने अपने सहपाठियो के सहयोग से 'हिन्दू-समाज' नामक एक लोक-हितकारी-संस्था की स्थापना की थी ।

पण्डित मदनमोहन मालवीय बाल्यकाल से ही हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान के उपासक थे । हिन्दुत्व के प्रति उनका यह उपासनाभाव केवल इसलिए नहीं था कि वे स्वयं एक हिन्दू थे । उनकी इस भावना का कारण हिन्दू-संस्कृति का वह गौरव तथा हिन्दू-धर्म के मानवतापूर्ण वे सिद्धान्त तथा सन्देश थे । जिनका उन्होंने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था और अपने जीवन में उनको उतारकर उनकी यथार्थता तथा महानता का अनुभव किया था ।

मालवीयजी के परिवार की माली हालत अच्छी नहीं थी । उनके पिता जितने विद्वान थे, उतने ही त्यागी तथा परोपकारी व्यक्ति भी थे । एक तो वे अपनी विद्वता का मूल्य नहीं लेते थे और यदि कुछ थोड़ा-बहुत पाते भी थे उसका अधिकांश भाग परोपकार मे व्यय कर देते थे । उनका विश्वास था—'विद्वता प्राप्त करने मे गरीबी एक वरदान सिद्ध

गोदावरी के किनारे एक मन्दिर मे जाने और वहाँ एकान्त में ध्यान लगाने का अभ्यास करने लगे ।

ज्यों-ज्यों नारायण का हृदय निर्मल होता गया । त्यों-त्यों उसे अपने अन्तर मे एक आवाज सुनाई देने लगी—"नारायण पृथ्वी पर अधर्मियो का अत्याचार फैला है । विदेशी लोग भारत भूमि को आक्रान्त किये हुए हैं । तू अपने तप और ज्ञान से देश का उद्धार कर ।" भोले भक्त ने इसे भगवदादेश समझा और उसी के अनुसार कर्त्तव्य करने का निश्चय कर लिया ।

बेटा वैरागी हुआ जाता था, माता को बड़ी चिन्ता थी । उसके पास एक ही अस्त्र था उसे रोकने का 'विवाह' । निदान, उसने नारायण के विवाह की चर्चा चलानी शुरू कर दी । कर्त्तव्यवती नारायण ने जब अपने बन्धन की बात सुनी तो वह विचलित हो उठा और घर से भागने को उद्यत हुआ ।

माता के अत्यधिक आग्रह पर विवाह का आयोजन हुआ । पुरोहित ने विवाह की कार्यवाही आरम्भ करने के लिए नियमानुसार 'सावधान' शब्द का उच्चारण किया । नारायण सतर्क हो गये । उन्होने सोचा कि सावधान होने का ठीक यही समय है । वे मण्डप छोड़ कर भाग खड़े हुए । लोग बहुत कुछ पीछे दौड़े, खोजा, तलाश किया, किन्तु लगन-शील बालक अपनी उड़ान भरकर गायब हो गया ।

घर से भागने के बाद नारायण कुछ समय तो अपने इलाके मे ही इधर-उधर छिपते फिरे, फिर नासिक को चले गये । अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा के प्रकाश से जिसका हृदय भरा हुआ है, जिसने अपने कर्त्तव्य को पहचान लिया है, अपना जीवन ध्येय देख लिया है उसे भला संसार का कौन-सा बन्धन रोक सकता है । विवाह तो एक बहुत ही साधारण बात है ।

भगवान श्रीराम के दास होने से नारायण ने स्वयं अपना नामकरण रामदास कर लिया और बाद मे उनके भक्तो, शिष्यो ने उनकी शक्ति देखकर रामदास के साथ समर्थ शब्द का समावेश कर दिया । इस प्रकार से नारायण से समर्थ गुरुरामदास हो गये । अनिर्वचनीय आलोक से परिप्लावित ज्ञान प्राप्त कर समर्थ गुरुरामदास ने अपना वास्तविक कार्य प्रारम्भ किया ।

उन्होने देशाटन का कार्यक्रम बनाया । भारतवर्ष की इस लम्बी तीर्थ-यात्रा मे वे एक दिन से अधिक कहीं भी नही रुके । उनकी इस यात्रा मे जो भी ग्राम, जनपद अथवा नगर पड़ता था उसमें धर्मोपदेश करते, देश की दशा बतलाते, परमात्मा पर विश्वास उत्पन्न कराते और आत्म-कल्याण के साथ भारत का उद्धार करने की प्रेरणा करते । समर्थ गुरुरामदास की अखण्ड विद्वता, तेजोमय व्यक्तित्व तथा ओजपूर्ण वाणी का इतना प्रभाव पड़ता था कि नगर-नगर, ग्राम-ग्राम उनके शिष्य बनते चले जाते थे । इस प्रकार कुछ ही समय मे उनकी कीर्ति सारे भारत में फैल गई ।

समर्थ गुरुरामदास के शिष्यों मे अनेक महाराज शिवाजी के सैनिक तथा अधिकारी थे । उनके द्वारा शिवाजी को भी उनकी कीर्ति सुनने को मिली । महाराज शिवाजी उनसे मिलने को अत्यन्त आतुर रहने लगे । यह समाचार समर्थ को मिला तो उन्होने शिवाजी के नाम एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें उन्होंने शिवाजी को राज-धर्म का उपदेश किया । देश तथा धर्म की दशा का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हे धर्मोद्धार के लिये समर्थ बतलाते हुए उत्साहवर्द्धन किया ।

उन्होने लिखा—"हो सकता है कि तुम अपने राज्य की सीमित भूमि और गिने-चुने साधनों को देखकर यह समझो कि इतने अल्प-उपादानों एवं सीमित शक्ति के द्वारा यवनो के इतने व्यापक-अत्याचार को किस प्रकार रोक सकता हूँ और किस प्रकार धर्म की रक्षा करते हुए देश मे हिन्दूपद पातशाही की स्थापना कर सकता हूँ । तुम्हारा यह सोचना उचित न होगा । क्योंकि मनुष्य की शक्ति साधनों में नहीं, उसकी आत्मा में होती है । जिसे अपनी आत्मा में विश्वास है, मन में देशोद्धार की सच्ची लगन है उसके कर्त्तव्य-पथ पर पद रखते ही साधन स्वयं एकत्र होने लगते है । भगवानराम ने अपने विश्वास, बल, इच्छा-शक्ति तथा अविरत उद्योग से वन में अकेले ही वानरों तथा भालुओ की सेना बनाकर सर्व-शक्ति सम्पन्न रावण को न केवल हराया ही बल्कि पूर्णतया नष्ट कर दिया । पाण्डवो ने भिखारी बनकर भी उद्योगबल पर अपना वैभव प्राप्त कर लिया और योगीराजश्रीकृष्ण ने केवल एक अकेले ही महाभारत का नेतृत्व कर भारत से दुरात्माओ को नष्ट करा दिया । अपनी आत्मा का जागरण करो, मन को बलवान बनाओ और उद्धार कार्य मे एकनिष्ठ होकर लग जाओ । तुमको अवश्य सफलता प्राप्त होगी ।"

"अत्याचारी की शक्ति क्षणिक होती है । उसे देखकर कभी भी भयभीत न होना चाहिए । अत्याचारी प्रत्यक्षरूप मे निरपराधों पर तलवार चलाता हुआ परोक्ष मे अपनी ही जड़े काटा करता है । अत्याचार से अल्पायु एवं अत्याचारी से बढ़कर कोई भी कायर संसार में नहीं होता । निष्कामबुद्धि से अपना कर्त्तव्य करो । भगवान तुम्हारी सहायता करेंगे ।"

पत्र पढ़कर महाराजशिवाजी का हृदय उत्साह से पूरी तरह भर गया । उन्होने स्वल्प-साधनो से ही देशोद्धार का कार्य करने का निश्चय कर लिया । दृढ़ निश्चयी का कोई भी कार्य संसार मे नही रुकता ।

समर्थ गुरुरामदास का प्रेरक-पत्र पढ़कर जहाँ एक ओर शिवाजी मे उत्साह की वृद्धि हुई वहाँ उनसे मिलने की उत्सुकता अपनी सीमा पार कर गई । वे सोचने लगे, जिस महात्मा के वचनों मे इतना प्रभाव है, उसका व्यक्तित्व कितना महान होगा? निदान एक लम्बी खोज के बाद वे उनसे जा ही मिले ।

समर्थगुरु के दर्शन करके शिवाजी कृतार्थ हो गये, उन्होंने उनसे दीक्षा माँगी और संन्यास लेने की इच्छा प्रकट की । समर्थगुरुरामदास ने उन्हे वैसाख शुक्ल नववीं सम्वत् १५७१ शाके को गुरु मन्त्र दिया और प्रसाद के रूप में एक

नारियल, मुट्ठी भर मिट्टी, दो मुट्ठी लीद और चार मुट्ठी पत्थर दिये जो क्रमश: दृढ़ता, पार्थिवता, ऐश्वर्य एवं दुर्ग—विजय के प्रतीक थे। महाराज शिवाजी ने गुरु का यह प्रसाद शिरोधार्य किया और पुन: साधु जीवन अपनाने की अनुमति माँगी।

समर्थगुरु ने उन्हे समझाया। पीड़ितों की रक्षा तथा धर्म का उद्धार करना तुम्हारा कर्त्तव्य है ? संन्यास का अर्थ संसार के कर्त्तव्य त्याग देना नहीं है। सच्चे संन्यास का अर्थ है अपनी तृष्णा-वासना, संकीर्णता और स्वार्थपरता का परित्याग और नि:स्वार्थ भाव से देश-धर्म की रक्षा करना। तुम संन्यस्त भाव से अपने राज-धर्म का पालन करो, देश का उद्धार करो और धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिए संघर्ष करो।

एक ओर शिवाजी अपनी सैन्य-शक्ति से देशोद्धार के लिए प्रयत्न कर रहे थे दूसरी ओर उनके गुरु देश-देश घूम कर धर्म-भावना जाग्रत करते थे। उन्होंने शिवाजी की सैन्य-शिक्षा के लिए हजारो महावीर मठों की स्थापना की, जनता को उनका सहयोग देने के लिए प्रेरित किया। झोली डाल कर गाँव-गाँव घूमे और आवश्यक धनराशि एकत्र की।

गुरु की कृपा और अपने उद्योग से महाराजशिवाजी का दिन-दिन अभ्युदय होता गया और शीघ्र ही वे छत्रपति महाराज शिवाजी के नाम से हिन्दू-पद-पातशाही के प्रवर्तक मान लिए गये। गुरु एवं शिष्य के सम्मिलित प्रयत्नों से हिन्दुओं में आत्म-विश्वास जागा, धर्म के प्रति आस्था एवं श्रद्धा की वृद्धि हुई। जिसके फलस्वरूप मुगलसाम्राज्य की जड़ें खोखली हो गई और आगे चलकर वह कुछ ही समय में गिर कर ढेर हो गया।

इन सब बातो के साथ ही समर्थगुरु अपने शिष्य शिवाजी का चरित्र उज्ज्वल रखने के लिए समय-समय पर उनकी परीक्षा लेते और उपदेश देते रहते थे। एक बार वे यह देखने के लिए कि अपने राज्य-विस्तार तथा अभ्युदय से कहीं शिवाजी में माया, मोह अथवा अहकार की दुर्बलता तो नहीं आ गई, उनके द्वार पर गये और भिक्षा के लिए आवाज लगाई। शिवाजी ने उनकी आवाज पहचानी और एक परचे पर अपना सारा साम्राज्य लिखकर उनके कमण्डलु में डाल दिया।

समर्थ गुरुरामदास ने उन्हे राज्य लौटाते हुए केवल अन्न माँगा। शिवाजी दुबारा दिया हुआ राज्य वापस लेने को जब किसी प्रकार तैयार न हुए तब उन्होने उन्हे अपनी ओर से एक प्रतिनिधि के रूप में राज्य करने का आदेश देकर प्रस्थान किया।

गुरुभक्त शिवाजी ने सिंहासन पर उनके खड़ाऊँ प्रतिष्ठित कर दिये और राज्य का ध्वज भगवा रंग में रंगवा दिया। इस प्रकार वे सारे राज्य को गुरु का समझ कर एक प्रतिनिधि के रूप में राज-काज करते रहे।

सम्वत् १६०३ मे शिवाजी के स्वर्गारोहण के बाद समर्थ गुरुरामदास ने भी माघ कृष्णा नवमीं १६०३ को यह कहते हुए समाधि ली कि मेरा कार्य पूरा हो चुका अब आने वाली पीढ़ी अपना कर्त्तव्य करेगी।

समर्थगुरु रामदास का जन्म चैत्र शुक्ल नवमीं रविवार सम्वत् १५३० में हुआ। इनके पिता का नाम सूर्याजीपन्त और माता का नाम रेणुबाई था। उनका लिखा हुआ ग्रन्थ 'दास-बोध' मानव-जीवन की सभी समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला एकमात्र अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है।

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय

महामना पं. मदनमोहन मालवीय का जन्म २५ दिसम्बर, १८६१ को इलाहाबाद में हुआ था। इनके पूर्वज मालवा के रहने वाले थे। अतएव इस परिवार के लोग अपने नाम के साथ मालवीय लिखा करते हैं।

मालवीयजी के पिता पं. ब्रजलाल संस्कृत के उद्भट विद्वान थे। उनकी विद्वता का प्रभाव पुत्र पर बड़ी गहराई तक पड़ा और आगे चलकर वे अपने परिश्रम के बल पर संस्कृत के साथ अँग्रेजी के महान् विद्वान् बने। जिस प्रकार मालवीयजी पर पिता के पाण्डित्य का प्रभाव पड़ा उसी प्रकार उनकी माता मुन्नीदेवी की धार्मिकता का भी पूर्ण प्रभाव पड़ा।

धर्मज्ञानपूर्ण-धार्मिक जीवन ने मालवीय जी को मानवता की मूर्ति बना दिया और उनके हृदय में मानव जाति के लिए अपार-प्रेम तथा सहानुभूति का सागर उमड़ पड़ा। अपने पूरे जीवनभर वे राजनीति तथा समाज के मंचो से देश, धर्म, समाज और संसार की सेवा करते रहे।

अपनी प्रारम्भिक शिक्षा इलाहाबाद मे पूर्ण करके कलकत्ता से मैट्रिक की परीक्षा पास की और म्योर कालेज इलाहाबाद से बी.ए. किया।

अपने विद्यार्थीकाल से ही मालवीयजी ने समाज सेवा की आवश्यकता तथा उसका महत्व समझ लिया था। जिस समय वे कॉलेज में पढ़ रहे थे उसी समय उन्होंने अपने सहपाठियों के सहयोग से 'हिन्दू-समाज' नामक एक लोक-हितकारी-संस्था की स्थापना की थी।

पण्डित मदनमोहन मालवीय बाल्यकाल से ही हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान के उपासक थे। हिन्दुत्व के प्रति उनका यह उपासनाभाव केवल इसलिए नहीं था कि वे स्वयं एक हिन्दू थे। उनकी इस भावना का कारण हिन्दू-संस्कृति का वह गौरव तथा हिन्दू-धर्म के मानवतापूर्ण वे सिद्धान्त तथा सन्देश थे। जिनका उन्होने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था और अपने जीवन मे उनको उतारकर उनकी यथार्थता तथा महानता का अनुभव किया था।

मालवीयजी के परिवार की माली हालत अच्छी नहीं थी। उनके पिता जितने विद्वान थे, उतने ही त्यागी तथा परोपकारी व्यक्ति भी थे। एक तो वे अपनी विद्वता का मूल्य नहीं लेते थे और यदि कुछ थोड़ा-बहुत पाते भी थे उसका अधिकांश भाग परोपकार में व्यय कर देते थे। उनका विश्वास था—विद्वता प्राप्त करने में गरीबी एक वरदान सिद्ध

होती है ।' गरीबी मनुष्य को परिश्रमी, पुरुषार्थी तथा सन्तोषी बना देती है ।

बी.ए. पास करने के बाद उन्होंने इलाहाबाद में ही गवर्नमेण्ट स्कूल मे पचास रुपये महावार पर अध्यापक का पद ग्रहण कर लिया । मितव्ययी तथा सदाचारी प्रवृत्ति के मालवीय जी के लिए यह पचास रुपये का वेतन भी पर्याप्त था । उन्होंने इस छोटी-सी आय मे ही ऐसी व्यवस्था बना ली कि वे अपने घर का सारा खर्च पूरा करके परोपकार के कामों में खर्च करने के लिए कुछ न कुछ बचा लेते थे । वे अपनी बचत से गरीब विद्यार्थियों को फीस तथा पुस्तकों की सहायता किया करते थे और रोगियों को दवा बाँटते थे ।

अपनी दया, उदारता तथा संवेदनशीलता से मालवीय जी शीघ्र ही, न केवल स्कूल ही में बल्कि जनता में भी लोकप्रिय हो गये । अपने अध्यापन-काल मे मालवीय जी पढ़ाने के साथ-साथ देश-सेवा तथा समाज-सेवा के कार्य भी किया करते थे । देश की सक्रिय-सेवा करने के लिये उन्होंने कॉंग्रेस की सदस्यता स्वीकार कर ली और उसकी हर गतिविधि मे अपना योग देने लगे । वे उसके आन्दोलनो से लेकर अधिवेशनों तक में उत्साहपूर्वक भाग लेते थे ।

कॉंग्रेस में उस समय देश के छटे हुए विद्वान सम्मिलित थे, जिनकी योग्यता को चुनौती देकर कॉंग्रेस का पदाधिकारी हो सकना कठिन काम था, लेकिन मालवीय जी ने अपनी योग्यता तथा महानता का प्रमाण देकर शीघ्र ही कॉंग्रेस मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली ।

कलकत्ता कॉंग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में उन्होंने जिस योग्यता से देश की परिस्थिति का विवेचन किया उसको सुनकर सारा उपस्थित वर्ग प्रभावित हो उठा । उस अधिवेशन मे कालाकाँकर के राजा रामपाल भी उपस्थित थे । वे मालवीय जी के विचारो से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको अपने साप्ताहिक-पत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक नियुक्त कर लिया । मालवीयजी ने यह पद इस शर्त पर स्वीकार किया कि राजासाहब उनसे नशे की हालत मे न मिलने आयेंगे और न बुलायेंगे । राजा साहब ने यह शर्त मजूर कर ली और मालवीयजी पत्र का सम्पादन करने लगे ।

किन्तु कुछ समय बाद राजा रामपालसिंह अपनी शर्त भूल गये और एक दिन उन्होंने आवश्यक काम से मालवीय जी को उस समय बुला लिया जिस समय वे शराब पिये हुए थे । मालवीयजी ने उनको शर्त की याद दिलाई और तत्काल दो सौ रुपया मासिक की सम्पादकी छोड़कर चले आये ।

सम्पादक का पद छोड़ने के बाद मालवीयजी ने नौकरी न करने का निश्चय करके वकालत पास की और अल्पसमय मे ही अपनी परिश्रमशीलता से अच्छे वकीलो की सूची मे आ गये थे । अपने इस वकालत के व्यवसाय मे हजारो रुपये मासिक की आय होने लगी । किन्तु इस आयवृद्धि से उनकी सादगी मे कोई परिवर्तन नहीं आया । अपने पर व्यय करने वाली धन-राशि की मात्रा तो उतनी ही रही—जितनी कि पचास रुपये मासिक की आय में करते थे । हाँ आय के अनुपात से परोपकार पर व्यय होने वाली धनराशि अवश्य बढ़ गई ।

वकालत का व्यस्त व्यवसाय करते हुए भी वे लोक-सेवा के कार्य करते और कॉंग्रेस के हर अधिवेशन में भाग लेते रहे । वे मद्रास, बम्बई, कलकत्ता तथा नागपुर के कॉंग्रेस-अधिवेशनों में शामिल हुए और अपनी वाक्‌पटुता तथा दूरदर्शी-विचारों से कॉंग्रेस के चोटी के नेताओं के साथ जनता का बहुत विश्वास प्राप्त कर लिया । निदान १९०२ में वे प्रान्तीय-कौंसिल के सदस्य निर्वाचित किये गए और अखिल-भारतीय-कॉंग्रेस-कमेटी के अध्यक्ष बनाये गये और जब लाहौर-कॉंग्रेस में उन्होंने कॉंग्रेस की कार्य-विधि देश की आवश्यकता एवं राजनीति की दिशा की समीक्षा करते हुए सारगर्भित भाषण दिया तब तो उन्हें दिल्ली-कॉंग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया ।

मालवीयजी की यह उन्नति किसी की कृपा अथवा उदारता के कारण नहीं हुई थी । यह उनकी योग्यता, दूरदर्शिता, कर्त्तव्य-निष्ठा तथा परिश्रमशीलता का फल था । वे जिस काम को अपने हाथ में लेते थे उसे पूरा करने मे जी-जान से जुट जाया करते थे और जब तक उसे पूरा नहीं कर लेते थे—'चैन से न बैठते थे ।' अपने हाथ के काम मे वे अपनी सारी योग्यता तथा विद्या बुद्धि लगा देते थे, जिससे उनका हर काम पराकाष्ठा तक सफल होता था ।

जिस समय वे सरकार की व्यवस्थापिका-सभा के सदस्य थे उस समय वे बात-बात पर अपने साहस तथा देश-भक्ति का प्रमाण देते रहे । कोई भी ऐसा प्रस्ताव जो लोकमत अथवा जन-हित के विरुद्ध होता था उनकी कटुआलोचना तथा विरोध से न बच पाता था ।

१९३१ में मालवीय जी 'राउण्ड-टेबिल कान्फ्रेंस' मे भाग लेने लन्दन गये । राउण्ड-टेबिल कान्फ्रेन्स का उत्तरदायित्व वहन करते हुए भी उन्होंने अँग्रेज-जनता के सामने ईश्वर तथा हिन्दू-धर्म की विशेषताओ पर अनेक ओजस्वी-भाषण दिये । जिससे विदेशियो की दृष्टि मे देश का स्तर ऊँचा हुआ ।

राजनीतिक्षेत्र के अतिरिक्त मालवीयजी ने शिक्षा और समाजसेवा के क्षेत्र मे जो कार्य किये हैं वे भारत के इतिहास मे सदा अमर रहेंगे । काशी का हिन्दू विश्वविद्यालय प. मदनमोहन मालवीयजी की देश को महान् देन है । मालवीय जी को इस बात का बहुत दुःख रहा करता था कि देश मे ऐसी शिक्षा संस्थाएँ नहीं हैं जो भारतीय-तरुणो का आदर्श निर्माण कर उन्हे भारतीय-धर्म तथा सभ्यता, सस्कृति प्रेरित एवं पुनरुत्थान कर सके ।

इस अभाव पर एक लम्बे समय तक विचार करने के बाद उन्होंने एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया और आत्म-विश्वास के बल पर वह महान् कार्य करने के लिए खाली हाथ उठ खड़े हुए । उन्होंने विश्वविद्यालयों

के लिए धन एकत्र करने के लिए पूरे देश का दौरा किया और एक-एक पैसा माँग कर लगभग एक करोड़ रुपया जमा किया और ४ फरवरी, १९१६ को बसन्तपंचमी के दिन काशी विश्वविद्यालय का शिलान्यास कराया। उन्होंने केवल इतना ही नहीं किया अपितु आजीवन उसके अवैतनिक उपकुलपति रहकर संस्था की सेवा भी की।

हिन्दी के प्रसार तथा प्रचार के लिए उन्होंने साहित्यिक-सभा की स्थापना की। 'अभ्युदय' तथा 'मर्यादा' नामक दो पत्र-प्रकाशित किये और अपने प्रभाव तथा सतत प्रयासों से उर्दू के साथ हिन्दी को भी अदालतों की भाषा बनवाया। उनके इन महान् कार्यों के लिए हिन्दी सदैव ही उनकी आभारी बनी रहेगी।

भारतीय—संस्कृति के पृष्ठपोषक—
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

आजकल उत्तर-प्रदेश की राजधानी लखनऊ है, पर अब से ६० वर्ष पहले वह इलाहाबाद मे थी। तब एक अँग्रेजगवर्नर ने कुछ कारणों से लखनऊ को पसन्द करके वहाँ राजधानी स्थापित करा दी। फिर भी इलाहाबाद के महत्व को समझकर यह व्यवस्था की गई कि साल मे दो तीन महीने गर्वनर वहाँ आकर भी रहे। उनके रहने को वहाँ एक शानदार लाट साहब की कोठी बनी थी, जिसमें पानी का एक पक्का तालाब भी था। हमेशा तो यह खाली रहता था, पर जब गवर्नर आते थे तो उनके स्नान आदि के लिए उसे नल के पानी से भर दिया जाता था।

एक वर्ष बरसात की कमी से इलाहाबाद मे जमुना की धारा बहुत कम हो गई और इस कारण नलो के लिये पानी का मिलना बहुत कठिन हो गया। नगर मे हर जगह नलों के आगे घड़े लेकर लोगो की भीड़ लगी रहती थी और बड़ी देर तक खड़े रहने पर थोड़ा-सा पानी मिल पाता था। गरीब लोगों को जलाभाव से बहुत कष्ट सहन करना पड़ता था।

ऐसे समय में गवर्नर साहब का इलाहाबाद में आगमन हुआ। कोठी में आकर देखा तो तालाब सूखा ही पड़ा था। इससे उनके दिमाग का पारा ऊँचा चढ़ गया और अपने सेक्रेटरी को म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन से जवाब-तलब करने को भेजा। पर चेयरमैन ने उसे बतलाया कि पानी की इतनी कमी है कि हजारो लोगो को प्यासा मरना पड़ता है, ऐसी दशा में तालाब को भरने के लिए हजारो मन पानी को बर्बाद करना अक्षम्य अपराध ही होगा। पर अँग्रेजगवर्नर और उसका अँग्रेज सेक्रेटरी इस देश वालो को अपने से बहुत 'नीचे दर्जे' का मनुष्य मानते थे अथवा कोई मनुष्येतर प्राणी समझते थे। उनकी असुविधा की तुलना गर्वनरसाहब के 'शौक' से कैसे की जा सकती है? चेयरमैन अपनी बात पर दृढ़ रहा और सेक्रेटरी को अपना-सा मुँह लेकर लौट जाना पड़ा।

अँग्रेजों के उस दबदबे के युग में सामान्यप्रजा की असुविधा के सम्मुख गवर्नरसाहब की उपेक्षा करने वाले चेयरमैन थे श्रीपुरुषोत्तमदासजीटण्डन (सन् १८८२ से १९४२)। उनके पहले इस पद पर प्रायः 'राय बहादुर' और 'रायसाहब' उपाधिधारी व्यक्ति चुने जाते थे जो अँग्रेजगवर्नर की दरबारियों की तरह खुशामद करते रहते थे। उन्होंने टण्डनजी को भी वैसा ही 'चेयरमैन' समझकर अपना रौबदौब प्रकट किया, पर वे तो दूसरी धातु के बने थे। जहाँ पहले चेयरमैन लम्बे-लम्बे चुगा और कीमती मखमली पोशाके पहिन कर गवर्नरों के दरबार में उपस्थित होते थे, टण्डन जी हर जगह बहुत साधारण खादी का कुरता और धोती पहिनकर ही पहुँच जाते थे। उनके पैरो में भी बढ़िया चमचमाते बूट के बजाय सुतली के तले का 'रोपसोल' रहता था। मोटर अथवा घोड़ा-गाड़ी के बजाय वे पैदल या किराये के ताँगे पर ही आते-जाते थे। भला, ऐसा सीधा-सादा जीवन बिताने वाला 'चेयरमैन' गवर्नर साहब की शान-शौकत को क्या समझ सकता था और क्यों उससे दब सकता था?

एक इसी घटना मे नहीं, जब कभी कोई ऐसा मामला सामने आया तो उन्होंने देश के हित और सम्मान को ही सर्वोपरि माना और अपने अथवा किसी व्यक्ति विशेष के हितों को सदैव उससे नीचे स्थान दिया। जब उन्होने म्युनिसिपैलिटी का पुराना हिसाब देखा तो मालूम हुआ कि अँग्रेजी फौज के क्षेत्र में जाने वाले पानी के टैक्स के कई हजार रुपया बकाया है जिसे वे तकाजा करने पर भी नही देते और इधर जनहित के कामों के लिए खर्च की तंगी हो रही है। बस उन्होंने फौज के अँग्रेज अधिकारी को नोटिस दे दिया कि एक सप्ताह मे टैक्स का रुपया जमा न हो जायेगा तो पानी बन्द कर दिया जायगा। जब आठवे दिन पानी सचमुच बन्द हो गया तो साहबबहादुर की आँखे खुलीं और टण्डन जी के 'प्रताप' को समझकर उन्होने स्वयं आकर रुपया जमा कराया और पानी फिर से जारी कराने की प्रार्थना की।

भारतीय-प्रजा के सुख और सम्मान की रक्षा के साथ ही टण्डन जी भारतीय-संस्कृति के भी बड़े पृष्ठपोषक थे। वे मानते थे कि किसी जाति की संस्कृति और सभ्यता की मुख्य प्रतीक और संवर्द्धनकर्ता वहाँ की भाषा ही हुआ करती है, इसलिये उन्होंने अपना समस्त-जीवन भारत की राष्ट्रभाषा-हिन्दी की पुष्टि और वृद्धि में लगा दिया। यद्यपि वे हिन्दी, अँग्रेजी, संस्कृत, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं के विद्वान थे, तो भी वे कोई प्रसिद्ध लेखक न थे और न सार्वजनिक कार्यों से उनको इतना अवसर मिलता था कि बड़ी-बड़ी पुस्तके लिख डालते। पर उन्होंने हिन्दी का प्रचार बढ़ाने और उसे राष्ट्र-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के लिये जितना उद्योग और आत्मत्याग किया, उतना पचासो विद्वान और लेखक भी मिलकर नहीं कर सकते थे।

प्रयाग का 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' उनकी एक विमलकीर्तिपताका है। 'सम्मेलन' के जन्म से पहले देश में

हिन्दी की चर्चा बहुत कम सुनाई देती थी । केवल थोड़े से लेखक और हिन्दी-प्रेमी उसकी सेवा में लगे रहते थे । हिन्दी-साहित्य को भारत की कई प्रान्तीय भाषाओ के साहित्य की अपेक्षा पिछड़ा हुआ माना जाता था और इसलिये व्यावहारिक रूप से 'राष्ट्र-भाषा' होने पर भी उसको उचित महत्व नही दिया जाता था । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना करके टण्डनजी ने हिन्दी के प्रचार और उसकी प्रगति का द्वार खोल दिया । हिन्दी की परीक्षाएँ प्रचलित होने से लोगो मे उसे पढ़ने का शौक पैदा होने लगा और थोड़े ही समय मे कितने ही नये लेखक तैयार हो गये । प्रतिवर्ष देश के विभिन्न भागो मे सम्मेलन का वार्षिकोत्सव होने से हिन्दी के कार्यकर्ता संगठित होने लगे और हिन्दी का प्रचार बढ़ाने के लिए वहाँ नई-नई संस्थाएँ, पुस्तकालय, विद्यालय आदि की स्थापना की जाने लगी । इस प्रकार कुछ ही वर्षों के प्रयत्न से 'सम्मेलन' ने हिन्दी की जड़ को बहुत मजबूत कर दिया और उसके राष्ट्र-भाषा होने का सन्देश घर-घर मे पहुँचा दिया । इस महान सफलता का बहुत कुछ श्रेय टण्डन जी को ही था ।

हिन्दी को राष्ट्र-भाषा ही नही 'राज्य-भाषा' बनाने के लिए टण्डन जी को कितना आत्म-त्याग और स्वार्थ-त्याग करना पड़ा इसका कुछ अनुमान इससे हो सकता है कि हिन्दी के प्रश्न पर महात्मा-गाँधी और श्रीनेहरू जी से भी उनका मतभेद हो गया । इसके फलस्वरूप उनके सार्वजनिक जीवन को धक्का लगा और कॉंग्रेस मे उनका प्रभाव कम हो गया । पर इसकी भी चिन्ता न करके वे जीवन के अन्तिम समय तक हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने मे लगे रहे । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हिन्दी मे सस्कृत शब्दो के अधिक प्रयोग करने पर जोर देता था, जिससे भारतीय-सस्कृति की भावना सुदृढ़ बनी रहे । पर गाँधीजी राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी, उर्दू शब्दो से मिली-जुली भाषा हिन्दुस्तानी के पक्ष मे थे । जब उन्होने साहित्य-सम्मेलन के कई कार्यकर्ताओ से इस विषय मे मतभेद देखा तो सम्मेलन से त्याग पत्र दे दिया । यद्यपि यह एक बहुत गम्भीर-समस्या थी, पर टण्डनजी ने हिन्दी के हित की दृष्टि से इस खतरे को भी उठा लिया और गाँधीजी के पत्र के उत्तर मे लिखा—"यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं है और आपकी आत्मा कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आपसे अलग होने पर बहुत खेद होने पर भी मै नतमस्तक होकर आपके निर्णय को स्वीकार करूँगा ।" उनके इस कार्य का आशय क्या था इस पर विचार करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक सेठ गोविन्ददास जी ने कहा है—

"टण्डनजी का लक्ष्य यही था कि देशवासियो के संघर्षों द्वारा जो अधिकार हमें मिले है, उसके सभी सूत्रो को प्राप्त करके राष्ट्र की आत्मा को सौप दे । इन सब सूत्रो मे उनका प्रधान-सूत्र था राष्ट्र-भाषा को राज्य-भाषा के रूप मे काम मे लाना ।"

टण्डनजी का उदाहरण बतलाता है कि मनुष्य जब किसी उच्च ध्येय की पूर्ति का निश्चय कर ले तब किसी हालत में उससे कदम पीछे नहीं हटाना चाहिए । शास्त्र का भी यही वचन है कि "या तो कार्य को सिद्ध करे अथवा जीवन का अन्त कर दे ।" सत्पुरुषो का लक्षण यही बतलाया गया है कि "जिस कार्य को आरम्भ करे उसे विघ्नो के कारण बीच मे ही न छोड़ दे, वरन् लक्ष्य की तरफ ही सदा कदम बढ़ाते चले ।"

टण्डनजी का एक व्यक्तिगतगुण और भी था । उनका रहन-सहन ही नही खान-पान भी अत्यन्त सादा था । वे महीनो तक भिगोया हुआ गेहूँ, चना कच्चा ही खाते रहते थे । साथ मे थोड़ा गुड़ या छाछ आदि भी लेते थे, अपने आरम्भिक जीवन मे उन्होने दानेदार चीनी मे हड्डियो का सयोग होने की बात सुनकर उसका खाना छोड़ा तो पचासवर्ष तक गुड़ के सिवा किसी मीठी चीज को चखा ही नही । चमड़े के जूतो के लिए गायो के कटने की बात मालूम होने पर उन्होने सदा के लिए बिना चमड़े के जूते ही पहिने । अँग्रेजी मे फर्स्टक्लास एम.ए. और हाईकोर्ट के बड़े वकील होने पर भी कभी विदेशी पोषाक, कोट, पैण्ट, टाई आदि धारण न की वे भारतीयपोषाक धारण करना जातीयता की रक्षा की दृष्टि से आवश्यक समझते थे ।

टण्डनजी की सच्चाई और ईमानदारी भी इतनी सुदृढ़ थी कि वर्षों तक एक नामी वकील 'सम्मेलन' जैसी प्रसिद्ध संस्था के कर्त्ता-धर्त्ता नाभाराज्य के दीवान, म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन, प्रांतीय विधान सभा (कौंसिल) के अध्यक्ष रहने पर भी, एक पैसा की 'आमदनी' नहीं की । इसका परिणाम यह हुआ कि इतने बड़े नेता होने पर भी उनकी आर्थिक-दशा सदा सामान्य ही रही । जब असहयोग आन्दोलन मे गाँधीजी के आदेशानुसार उन्होने वकालत करना बन्द कर दिया तो घर का निर्वाह होना भी कठिन हो गया । उस समय कॉंग्रेस की तरफ से सेठ जमनालालबजाज ने सहायता देने को कहा, पर टण्डन जी ने यही उत्तर दिया-'मैं अपनी 'सेवा' को किसी मूल्य पर नहीं बेच सकता ।'

उनके इन गुणो और त्याग-तपस्यामय जीवन के कारण जनता उनको 'राजर्षि' कहने लगी और नि.सदेह वे इस पदवी के योग्य थे । इस प्रकार निष्काम-सेवा करते हुए ८० वर्ष की आयु मे उन्होने हिन्दी की हित-कामना करते हुए ही संसार को छोड़ा ।

संगीत-संस्कृति के संरक्षक—
पं. विष्णुदिगम्बर पुलुस्कर

भारतीय अध्यात्म-सस्कृति की अनेक दिशाओं मे स्वर-विराट की साधना और उपलब्धियो का बड़ा विशिष्ट स्थान रहा है । आदिकाल से भारतीय-संगीत-साधना के द्वारा न केवल जीवन-उद्देश्य की प्राप्ति मे सहयोग लिया करते थे वरन् वर्तमान जीवन को उदात्त और सरस, सुरुचिपूर्ण बनाने

में भी उपयोग किया करते थे । घर-घर, गाँव-गाँव, नगर-नगर, संगीत का साम-प्रवाह विचरा करता था और उससे यहाँ का जन-जीवन अतृप्ति में भी तृप्ति अनुभव किया करता था ।

संगीत का स्वरूप अभी भी जीवित है । कई बार तो वह विकासोन्मुख-सा भी लगता है । किन्तु अब संगीत का भी शास्त्रीय-स्वरूप विलुप्त हो चला है उसका दुरुपयोग किया जा रहा है । स्वार्थ-साधन बनाकर तथाकथित संगीतकारों ने उसे विकृत कर रखा है । भारतीय-संगीत भी ऐसी खिचड़ी बन गया है कि उसके उदात्त स्वरूप को जानना और पहचानना भी कठिन होता जा रहा है ।

ऐसे समय पंडित विष्णु दिगम्बर पुलुस्कर की याद आती है जिन्होंने अपना सारा जीवन साम-संगीत की साधना में लगा दिया । कठिनाइयों के बावजूद भी संगीत संस्कृति की रक्षा की । आज देश के कोने-कोने में फैले गांधर्व-महा-विद्यालय उनके अमर-स्मारक हैं ।

शास्त्रीय-संगीत के उन्नायक पं. विष्णु दिगम्बर पुलुस्कर का जन्म बेलगाम जिले के कुरुन्दवार रियासत में १९ अगस्त सन् १८७२ में हुआ । परम साध्वी माता गंगादेवी और कीर्तनकार पिता दिगम्बर-गोपाल-पन्त के प्रभाव ने बालक को प्रारम्भ में ही भावनाशील बना दिया था । उसी का प्रकाश लेकर वह कठिनाइयों में भी आगे बढ़ते रहे । निष्काम-कर्मयोगी की तरह अपनी संगीत-साधना में तटस्थ रहे ।

किशोर-अवस्था में पुलुस्कर पटाखों के साथ खेल रहे थे । किसी को क्या पता था कि दीवाली का प्रकाश उनके लिए अन्धकार बन जाने वाला है । एक पटाखा हाथ में ही छूट गया और दिगम्बर पुलुस्कर की दोनों आँखें बेकार हो गईं ।

किसी सहपाठी बच्चे ने पूछा---"विष्णु ! तेरी आँखे बेकार हो गईं अब तू क्या करेगा ? तेरा जीवन तो बड़ा कठिन हो गया ।" विष्णु ने उत्तर दिया परमात्मा की छाया हमारे साथ है तो हम क्यों निराश हों ? आँखे ही बेकार हुई हैं हाथ, पाँव, नाक, मुँह और तो सब ठीक हैं । मेरा मन, मेरा हृदय, मेरी आत्मा को जब तक ईश्वरीयबल मिल रहा है तब तक मैं क्यो घबड़ाऊँ, क्यों जीवन की चिन्ता करूँ । ऐसा क्यो न सोचूँ कि जो कुछ शेष है उसका सदुपयोग कर के पथ पर बढ़ सकना अभी भी सम्भव है ।"

बालक की भावनाओं के पिता को प्रभावित किया । श्रीदिगम्बरगोपालपन्त ने इन्हें संगीत-विद्या प्राप्त करने के लिए इखालकरजीकर के पास मिरज भेज दिया । बड़ी लगन के साथ आपने सगीतसाधना की । बारह-बारह घन्टे का कठोर अभ्यास वह भी बारहवर्ष तक अविराम चला । इस बीच श्रीविष्णु ने मानवीय सुखों की ओर देखा भी नहीं, फलस्वरूप उन्हें इस क्षेत्र में उल्लेखनीय निपुणता उपलब्ध हुई । कठिन-साधना का ही प्रतिफल था कि उदयपुरमहाराणा के दरबार में वहाँ के दरबारी गायक जकरुद्दीन को कहना पड़ा था-"विष्णुजी संगीत-पंडितों के भी पंडित हैं ।" पर इससे इनके अन्तर अभियान में कोई अन्तर नहीं आया और हँस कर बोले-"खाँ साहब! यह तो अगाध उपलब्धि का कण मात्र है, थोड़ी साधना की तो इतना मिल गया अभी तो वह अनुपलब्ध का सहस्रांश भी नहीं है ।"

संगीत सीखने के बाद उन्होंने महाराष्ट्र के गाँवों की यात्रा की । संगीत जैसी उदात्त कला का ह्रास और अवांछनीय दिशा परिवर्तन हो रहा है यह देखकर उन्हें अपार कष्ट हुआ और उन्होंने तत्काल निश्चय किया कि गुरुदेव की दी हुई संगीत की पूँजी अब आत्म-हित मे प्रयुक्त न होगी, चैन से न बैठूँगा, सारा जीवन इसी के लिए समर्पित करूँगा ।

व्यक्तित्व को उच्च बनाने का यथार्थ आदर्श भी यही है कि मनुष्य उस वर्ग की ओर भी देखे जो अपनी अपेक्षा अधिक अभावग्रस्त स्थिति मे है । किसी भी तरह की योग्यता चाहे वह धन की हो, विद्या या पद की, यदि मनुष्य अपने स्वार्थों तक ही परिसीमित रहता है तो अनपढ़, गँवार और पंडित में---अयोग्य और योग्य में-अन्तर ही क्या रहा ? बड़प्पन दूसरों की सेवा में, गिरे हुओं का स्तर उठाने में, जातीय गौरव, धर्म और संस्कृति के आदर्शों को अपनी निष्ठा द्वारा गौरवान्वित करने में है । मनुष्य इसी जीवन में कोई बड़ी भौतिक सफलता पा लेता है, बड़प्पन इसे नहीं कहते, बड़ाई उसकी होती है जो अपनी सफलताओं को समाज में बाँट देते हैं, अपनी योग्यता परहित में दान कर देते हैं ।

तत्कालीन भजनों, कीर्तनो मे भौंड़े और शृंगारिक शब्दो की बहुलता रहती थी जिससे संगीत---विरक्त रस होकर लोगो को दिग्भ्रात करता था । विष्णुदिगम्बर पुलुस्कर ने पहला धावा इन भौंड़े और अश्लील शब्दों को निकालने मे दिया । उनके स्थान पर भक्ति जीवन को ऊँचे उठाने वाले प्रेरणाप्रद शब्द और दण्ड गढ़े, जिससे कीर्तन और भजनों के माध्यम से सुरुचि फैलने लगी । साथ ही कीर्तन, सगीत को लोकप्रियता भी बढ़ी । इस सरस संगीत का आपने गाँव-गाँव पैदल घूमकर प्रसार-प्रचार किया ।

इसी बीच ख्याति सुनकर कश्मीर के महाराज ने उन्हे अपने यहाँ बुलाकर दो सौ रुपया मासिक पर दरबारी गायक नियुक्त कर लिया । यहाँ रहकर वे अपना जीवन सुख सुविधापूर्वक बिता सकते थे पर उन्होने देखा इसमें मनुष्य जीवन का यथार्थ उद्देश्य हल नही होता । सुख और सम्पत्ति की चाह तो कहीं भी पूरी हो सकती है उसके लिए जीवन के बहुमूल्य क्षणों को क्यों नष्ट किया जाय ? अभी एक बड़ा कार्य उन्हे करना था और वह था संगीत-विद्यालयो का एक इकाई मे स्वतन्त्र विकास, जिससे यह महान् आध्यात्मिक उपलब्धि जीवित रह सके, इसलिये उन्होंने नौकरी छोड़ दी और लाहौर चले गये ।

लाहौर में संगीत-विद्यालय की रूपरेखा बनाकर उसकी घोषणा कर दी । अपने पास जो कुछ भी था वह उस विद्यालय में लगा दिया । मकान भी किराये पर था और

सामान भी अपूर्ण पर, उससे दुःखद बात यह हुई कि दस दिन तक विद्यालय में एक भी छात्र प्रवेश लेने नहीं आया।

वहाँ के जस्टिस चटर्जी इस प्रारम्भिक असफलता से बहुत दुःखी हुए। उन्होंने पूछा—"अब क्या होगा?" तो विष्णुदिगम्बर हँस कर बोले—"जज साहब! हर बड़े काम की शुरूआत कठिनाइयो से होती है उन्हे जीतना काम मनुष्य का है। हमारा उद्देश्य बड़ा है तो हम घबड़ायें क्यों ? मेरी साधना जब तक मेरे साथ है तब तक असफलता की चिन्ता क्यो करे ? हम तो प्रयत्न करना जानते हैं और सफलता का विश्वास रखते हैं। पूरा करना न करना परमात्मा का काम है। हम उसकी चिन्ता क्यो करें ?"

दूसरे दिन से ही उन्होने अपने कई विशिष्ट आयोजन प्रारम्भ किये, फलस्वरूप लोगों ने शास्त्रीय-संगीत की आवश्यकता और उपयोगिता का प्रभाव स्वीकार किया और विद्यार्थियो का प्रवेश शुरू हो गया। यह विद्यालय १०५ संगीत छात्रो को लेकर अन्ततः विकसित हो चला। पंजाब मे इसका बड़ा प्रचार हुआ। जालंधर मे एक बड़ा सम्मेलन भी रखा गया। इसने अब एक विराट-मेले का रूप ले लिया है।

पंजाब के बाद बम्बई मे आपने गांधर्व-महाविद्यालय की अखिल-भारतीय-संगीत-परिषद स्थापना की। जिसकी आज सैकड़ो शाखाएँ सारे देश मे फैली हुई हैं। पंडित जी ने यहाँ भी बड़े धैर्यपूर्वक संगीत का प्रचार किया। उनके भव्य व्यक्तित्व, ओजस्विता और कर्तव्यनिष्ठा ने सभी वर्ग के लोगों को आकर्षित किया। लोगो की शास्त्रीय-संगीत के प्रति तिरस्कार की भावना समाप्त हुई। महात्मागाँधी ने राष्ट्रीय-संगीत-परिषद का संचालन भी पुलुस्कर जी को ही सौंपा। आपने रंगून और कोलम्बो तक मे कई संगीत अधिवेशन रखकर भारतीय-संगीत को उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया। संगीत पर लगभग ५० पुस्तके लिखी और एक मासिक-पत्र का सोलहवर्ष तक प्रकाशन भी किया।

इन सफलताओ के पीछे सहयोग और सूझ तो थी पर सबसे बड़ी बात उनकी साधना, निष्ठा, एकात्मलगन और तत्परता थी। इस सम्बन्ध मे कुछ हृदयस्पर्शी संस्मरण है। लाहौर का विद्यालय किसी तरह प्रारम्भ हुआ ही था कि उनके छोटे भाई का तार आया—"पिताजी मरणासन्न है जल्दी आओ।" इसका प्रत्युत्तर यो दिया—"पिता जी की पूरी सेवा करना, मैं आने मे असमर्थ हूँ।" दूसरा तार आया उसमे लिखा था—"मृत्यु हो गई, अन्त्येष्टि के लिये आओ।" किन्तु भयंकर कर्मी के लिए तब भी कोई बड़ी बात न थी। मृत्यु उसके लिये साधारण घटना मात्र थी, उसे बड़ा महत्व देना आवश्यक नही समझा। उद्देश्य बड़ा था उसके लिए मृत्यु का अटकाव नही आने देना चाहते थे, उत्तर दिया—"मृत्यु अनिवार्य है, आ नहीं सकता, माँ को आश्वासन देना।"

इसी प्रकार एक बार क्लास ले रहे थे तभी घर से पत्नी ने नौकर के हाथ पत्र भेजा—"पुत्री की मृत्यु हो गई श्मशान जाने के लिए आओ।" इसी कागज पर आपने उत्तर लिख भेजा-"लड़की जिसकी थी उसके पास गई, लौट कर न आयेगी। समय बीत रहा है वह भी न लौटेगा, पढ़ाई के बाद ही आऊँगा।"

पं. विष्णुदिगम्बरपुलुस्कर की इन्हीं दृढ़ताओ का प्रतिफल है कि आज शास्त्रीय-संगीत जीवित है। उन्होंने शास्त्रीय-संगीत को जीवित रखने की जो प्रेरणा दी है उससे भी उल्लेखनीय शिक्षा यही दी है कि मनुष्य को महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए महानत्याग, कठिन साधना और कठिन परिश्रम करना चाहिए।

उम खलतुम—
जिनके स्वरों में जादू है

सन् १९४४ का एक दिन। मिश्र के बादशाह फारुख दिनभर के काम-काजों में इतने व्यस्त रहे कि शाम होते-होते उनका शरीर और मन थकान के कारण बोझिल हो गया। अधीनस्थ अधिकारियों और सचिवों ने मनोरंजन के लिए कोई व्यवस्था बनाने का विचार किया। बादशाह का जी ऐसी दशा में कहीं जाने का तो हो नहीं सकता था। ऐसी व्यवस्था की अनुमति प्राप्त करने के लिए अधिकारीगण शाह के पास पहुँचे और अपनी बात कही, तो बादशाह ने अनमना भाव व्यक्त किया और 'नेशनल-स्पोर्टिंग' क्लब चलने की तैयारी करने के लिये कहा।

नेशनल-स्पोर्टिंग-क्लब—का नाम सुनकर अधीनस्थ लोग विस्मित तो हुए। क्योंकि वहाँ तो शाह शाम के समय थोड़े ही परिश्रम के कारण थके हुए होते ही बाहर नही निकलते और कहा—नेशनल-स्पोर्टिंग-क्लब। लेकिन यह विस्मय-भाव अधिक देर तक न रहा, जब उन्हे यह पता चला कि वहाँ खलतुम का प्रोग्राम है। यही नही वे स्वयं भी जाने के लिये उत्सुक हो उठे। संगीत-साम्राज्ञी उमखलतुम, शाह की ही नहीं साधारण जनता की भी प्रिय नेत्री रही है। सामान्य जनता भी उनके कार्यक्रमो मे इतने चाव के साथ भाग लेती रही है जितने चाव के साथ उच्च-अधिकारी और प्रतिष्ठित अभिजात कुल के लोग। खलतुम के जीवनीकार गोर्डन गास्कील ने तो यहाँ तक लिखा है कि जब कभी खलतुम का कार्यक्रम रेडियो से प्रसारित होता है तो मिस्र की राजधानी काहिरा मे यातायात कम हो जाता है। ढाई हजार मील दूर का सवलाका शहर के काफी हाउसो मे बैठे वृद्ध अपना खेल छोड़कर बाहर आ जाते है। ८०० मील दूर बगदाद के श्रीमत अरब अपनी मेजो पर से ब्रिज खेलना छोड़कर उठ जाते है और भौगोलिक विविधताओ से परिपूर्ण रेतीले देशो के प्रवासी अपने तम्बुओ मे इकट्ठे हो जाते हैं।

इसे कहते हैं संगीत का जादू जो सिर पर चढ़कर बोलता है और स्वयं खलतुम भी अपनी स्वर साधना से सिद्ध

सरस-कण्ठ से प्रस्तुत एक कार्यक्रम का पारिश्रमिक न्यूनतम एक लाख चार हजार रुपये के बराबर लेती है। अरब जगत में संगीत के माध्यम से करोड़पति बनी यह प्रथम महिला है। इस प्रकार खलतुम ने अपने स्वरो से यश, नाम, पैसा और लोकप्रियता चारों को खूब लूटा है। सामान्य-जन से लगाकर उच्च-अभिजात-कुल के जनो तक ने उन्हें प्यार दिया, उनका सम्मान किया।

१०४४ मे उसी नेशनल-स्पोर्टिंग-क्लब मे शाह फारुख ने उसे अल-कमाल की उपाधि से विभूषित किया। शासकीय-सेवा में रत व्यक्तियो के अतिरिक्त पहली बार किसी को इस अलंकरण से अलंकृत नहीं कराया गया था। शाह के इस कदम का विरोध भी खूब हुआ, लेकिन खलतुम तो जनजन के हृदय पर राज्य करती थीं सो जनता ने इस कार्य का स्वागत ही किया। शाहफारुख किन्हीं कारणो से उन्हें अधिक चाहते हो यह बात नहीं, उनकी लोकप्रियता देश, काल और स्थितियों की परिधि को भी पार कर गयी थी।

सन् १९५२ मे जब मिश्र में क्रांति हुई और शाह को पदच्युत किया गया, तब क्रान्तिकारियो मे एक दल ऐसा भी था जो चाहता था कि खलतुम को भी अपदस्थ कर दिया जाय। इतना ही नहीं, इस वर्ग के एक समाचारपत्र ने तो खलतुम की आलोचना करते हुए यह भी लिख डाला कि—खलतुम का संगीत केवल नशेबाजो के लिए है। क्रान्तिकारियो के नेता नासिर, खलतुम से भली-भाँति परिचित थे तथा वे भी उनके संगीत को पसंद करते थे। उन्होंने यह आलोचना लिखने वाले सपादक को बुलाया और कहा—"आपका मकसद यह है कि मैं भी नशेबाजो मे से हूँ।"

बात जिस ढंग से शुरू की गयी थी उसे सुनकर उक्त संपादक नासिर का आशय नहीं समझ पाये, परन्तु जब आशय स्पष्ट किया गया और खलतुम से सम्बन्धित सम्पादकीय टिप्पणी की याद दिलायी तो संपादक महोदय बड़े शर्मिन्दा हुए। वस्तुतः प्रतिभाओ का सम्मान व्यक्ति सत्ता या समुदाय नहीं, उनके भीतर विद्यमान कलात्मक चेतना ही करती है। यही कारण है कि खलतुम आज भी बड़े आदर, बड़े सम्मान और बड़े आदर्श के रूप के स्मरण की जाती हैं।

सगीत की इस साम्राज्ञी ने, अपना प्रारम्भिक जीवन साधारण स्थिति मे ही व्यतीत किया। सघर्ष भी उन्हे कम नहीं करने पड़े। उनके पिता एक गरीब किसान थे। खेती के लिए जमीन इतनी भर थी कि मांगलिक और धार्मिक अवसरो पर उन्हे कुरान की आयते सुना-सुना कर गुजर-बसर के लिये व्यवस्था करनी पड़ती थी। गाने का शौक उन्हे इन्ही परिस्थितियो मे मिला। पिता ने उनकी शिक्षा-दीक्षा का, जो हो सका प्रबन्ध कर रखा था। एक दिन इन्होने कुरान की आयतो को गाया। पिता ने सुना तो विस्मित रह गये। उन्हे क्या पता था कि—मेरी बेटी जिसकी संगीतमयी आवाज को सुनकर मैं विस्मित रह गया हूँ वह एक दिन कोटि-कोटि जनो को विस्मित और मंत्रमुग्ध कर देगी।

सुनकर हृदय फूल तो उठा, पर विचार यही आया कि खलतुम की यह प्रतिभा उनके पेशे को और भी विकसित कर सकती है। कुरान की आयते सुनने के लिए अभी जहाँ सौ आदमी आया करते हैं उसके साथ गाने बजाने का क्रम भी बनाया जाय तो हजार लोग भी आ सकते हैं और उनसे मिलने वाली भेट दक्षिणा उन्हे सम्पन्न नहीं तो खाती-पीती अवस्था तक तो पहुँचा ही सकती है। उनकी आशा गलत नहीं निकली। सर्वप्रथम वे एक विवाह अवसर पर अपनी बेटी को ले गये। इससे पूर्व उन्होने खलतुम के लिये संगीत शिक्षण की व्यवस्था भी की थी। खलतुम का यह पहला सार्वजनिक कार्यक्रम था और इससे ३० पौंड की आय हुई थी। सम्भवतया इतनी आमदनी तो उनके पिता को अपने कार्यक्रम मे पहले शायद ही कभी हुई हो। इस पहले पारिश्रमिक ने खलतुम के पिता को सपनो का महल बनाने की कल्पना दी।

उस समय उनकी आयु किशोरावस्था तक भी नहीं पहुँची थी। लगभग दसवर्ष की इस बालिका का स्वर मुक्तकण्ठ से सराहा गया और कुछ माह बाद तो उन्हे एक एक कार्यक्रम पचासरुपये तक हो गया। लोग उनका संगीत सुनने के लिए दूर दूर से आने लगे और वे अन्य स्थानो पर जाने लगीं—साथ में पिता भी होते। कई वर्षों तक पिता पुत्री पैदल भी और सवारी से भी, ऊँट, खच्चर, गधे और पास में पैसा होता तो रेल मे बैठकर प्रोग्राम देते रहे। संगीत ही अब जीविका का आधार बन गया। पिता ने आयते पढ़ना बंद कर दिया क्योंकि अब खलतुम के ही प्रोग्रामों की माँग इतनी आने लगी थी कि उन्हें अपने लिए प्रोग्रामो की ढूँढ की, तलाश की तो प्रतीक्षा भी नहीं रहती। कहाँ तो उन्होने सोचा था कि बेटी को अपने पेशे का एक सहारा बनायेगे और कहाँ स्वरो की इस जादूगरनी के साथ उन्हे स्वयं रहना पड़ा।

कई वर्षों तक मिस्र के कोने-कोने मे जाकर उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। १९२४ मे मिश्र की राजधानी काहिरा मे उनका पहला सार्वजनिक कार्यक्रम हुआ। राजधानी मे सब पहुँचे हुए नामी गरामी कलाकारो का ही प्रवेश हो सकता था। लोग काफी प्रयत्न करते और जी-तोड़ कोशिश करने के बाद एकाध कार्यक्रम कर पाने में सफल हो पाते थे। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि राजधानी मे कार्यक्रम कर लेने वाले लोग स्वयं को राष्ट्रीय-स्तर का समझने लगते थे। तब राजतंत्र होने के कारण निश्चित ही शाह की निगाह मे आने के लिये लालायित रहना स्वाभाविक है। काहिरा देश भर के प्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों, अमीरों और उच्च अधिकारियों की निवास नगरी थी सो इस वर्ग के सामने अपनी प्रतिभा का परिचय देने का अवसर हर किसी के लिए सौभाग्य था।

यह सौभाग्य पाने के लिए खलतुम या उनके पिता किसी के सामने नाक रगड़ने नहीं गये वरन् कहना चाहिए

सौभाग्य खुद उनके द्वार पर चलता आया। कहने का अर्थ यह कि कुछ कलाप्रेमी लोगों ने उनकी ख्याति के सम्बन्ध में सुनकर स्वयं ही उन्हें वहाँ आमन्त्रित किया और कार्यक्रम की व्यवस्था की। उम खलतुम का पहला प्रोग्राम ही इतना सफल रहा कि अभूतपूर्व कहा जाना चाहिए। पहले दिन संगीत और स्वर-विद्या के बढ़िया प्रस्तुतीकरण ने वहाँ उपस्थित लोगों को मंत्रमुग्ध कर दिया। उन श्रोताओं ने अपने मित्रों और परिचितों से भी इसकी चर्चा की और परिणामस्वरूप एक के बाद दूसरे प्रोग्रामों के प्रस्ताव आने लगे।

अन्य स्थानों के कार्यक्रमों को स्थगित रखकर वे दो वर्ष तक वहीं रहीं और जनमानस पर छा गयीं। काहिरा उस समय सभी राजनैतिक, प्रशासनिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र था। अरब-देशों के विभिन्न भागों से विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का वहाँ आना-जाना बना ही रहता था और खलतुम की प्रोग्राम शृंखला की बड़ी धूमधाम मची हुई थी सो उनकी ख्याति इस प्रकार देश विदेश में फैलने लगी। अरब-जगत ने उन्हें एक स्नेह और आदर का नाम दिया 'सौमा'।

१९३४ में काहिरा का पहला रेडियो स्टेशन स्थापित हुआ। इसका सबसे पहला कार्यक्रम उम खलतुम का ही था। इस कार्यक्रम में उन्होंने स्वर-साधना के ऐसे अद्वितीय आयाम प्रस्तुत किये कि मिश्र के संगीत-विशारद भी उनकी स्वर-शक्ति से अवगत होकर आश्चर्यचकित रह गये। लेकिन खलतुम की एक अविस्मरणीय विशेषता रही है कि उन्होंने पाश्चात्य-ढंग से कभी गाने का प्रयत्न ही नहीं किया। एकहजार साल पुरानी अरबी-शास्त्रीय संगीत-धारा, जो लगभग मृतप्राय हो गयी थी, को ही उन्होंने पुनर्जीवित किया। मिनटों तक साँस को साधकर एक ही स्वर खींच लेतीं और गीत की स्वर रचना के आरोह, अवरोह को ऐसी गति प्रदान करतीं कि शब्द कानों के द्वार से सीधे हृदय तक पहुँच जाते और वहीं सुने भी जाते।

सन् १९५३ में मिश्र के समाचार पत्रों में काले बार्डर के अन्दर एक शोक समाचार प्रकाशित हुआ था जिसमें खलतुम के गले पर सूजन आ जाने की दु:खद सूचना थी। यह समाचार इतना महत्त्व देकर प्रकाशित किया गया और वह भी राष्ट्रीय-स्तर के अखबारों में—इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि खलतुम ने स्वरों के माध्यम से जनमानस में कितनी गहराई तक प्रवेश किया। मजे की बात तो यह है कि उनकी चिकित्सा के लिये कोई डाक्टर तैयार नहीं हुआ। कारण यह कि इस रोग के उपचार हेतु शल्य-चिकित्सा आवश्यक थी और शल्य-क्रिया में तो सफलता असफलता दोनों की ही सम्भावना रही थी। असफलता के डर से भयभीत होकर कोई भी डाक्टर उनके गले को हाथ लगाने के लिए तैयार नहीं हुआ।

निदान उन्हें रेडियो-ऐक्टिव आइसोटोप पद्धति से चिकित्सा कराने के लिए वाशिंगटन (अमेरिका) भेजा गया। जिस समय वे अमेरिका के लिए रवाना हुईं हजारों लोग विदा करने के लिए हवाई अड्डे पर आये। कहते हैं कि मिश्र के इतिहास में किसी को भी विदा करने के लिए इतनी भीड़ आज तक नहीं उमड़ी। लोगों को इनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जानने के लिए इतनी उत्सुकता रहती कि सरकार को यह जानकारी देते रहने के लिए रोज विज्ञप्तियाँ प्रसारित करनी पड़तीं।

स्वस्थ हो जाने के बाद जब वे स्वदेश लौटीं तो उसी प्रकार स्वागत के लिए भीड़ जमा थी। हजारों लोग इस बात के लिए खुदा का शुक्र मना रहे थे कि फिर से उमखलतुम का वही मुग्धकारी संगीत सुन सकेंगे। उनका व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही सीधा-सादा और स्पष्ट खुला हुआ है। पचासवर्ष की उम्र पार करने के बाद उन्होंने डॉ. हसन अलहीफ्नावी के साथ विवाह किया। इतनी उम्र तक अविवाहित रहने का कारण पूछा गया तो बताया कि "किसी लक्ष्य विशेष की प्राप्ति के लिए जब तक उपयुक्त जीवन साथी न मिल जाय तब तक अविवाहित रहना ही अच्छा है।"

वय और अवस्था की सीमाएँ पार करते हुए भी उनकी साधना और समृद्धि में कोई अन्तर नहीं आया। पारिश्रमिक के रूप में उन्होंने लाखों भले ही कमाये हों परन्तु उन सबका उपयोग पुरातन संगीत को नवीनतम गति देने के लिए किया। समग्र अर्थों में वे सच्ची कला साधिका हैं इसीलिए एक प्रख्यात अरब संगीतकार ने उनके सम्बन्ध में यह राय व्यक्त की है कि—महत्त्वपूर्ण मानी गई दो वस्तुएँ कभी नहीं बदलतीं एक है पिरामिड और दूसरी है खलतुम।

महान संगीतकार बीथोवियन

"तुम राजकुमार हो तो कोई बड़ी बात नहीं है। यह एक सहज-संयोग है कि तुमने एक राजा के घर जन्म लिया है किन्तु तुम्हारा क्या बड़प्पन है ? इस धरा पर सैकड़ों राजकुमार होंगे किन्तु बीथोवियन एक ही होगा।" अपने अन्तरंग-मित्र के साथ अनौपचारिक ढंग से कहे गये इन शब्दों के पीछे महान संगीतकार बीथोवियन का अहंभाव न होकर मानव-जीवन की सच्चाई प्रकट होती है कि परमपितापरमेश्वर ने हमें बहुत कुछ दे डाला किन्तु वह कोई हमारी उपलब्धि नहीं ? अपनी उपलब्धि तो वही होगी कि भाग्य ने हमें काँटों पर चलने को पैदा किया है और फिर भी हम दूसरों के लिये सुमन बिखेरते चले जाएँ।

ऊपर वर्णित शब्दों में महान संगीतकार बीथोवियन के व्यक्तित्व और कृतित्व का समग्र परिचय मिल जाता है। उनका जीवन, अभाव और कष्टों की ऐसी कहानी है जिसे श्रोता सुनते-सुनते स्वयं ही रो पड़े। किन्तु ऐसे कष्टमय जीवन में भी वह ऐसा संगीत रचता रहा कि आज दो सौ साल पश्चात् भी संगीत के क्षेत्र में वह उतना ही लोकप्रिय है जितना कोई आधुनिक लोकप्रिय संगीतकार।

पश्चिमीजर्मनी की राजधानी बॉन में सन् १७७० में जन्मे बीथोवियन का युग संगीत के महान कलाकारो के अवतरण का युग था । जब वे हुए तब विख्यात संगीतकार मोजार्ट मात्र सोलहवर्ष के थे और उन्होने अपने गीत 'बास्टियन और वास्टियने' की रचना कर दी थी । संगीतकार हेडेन की आयु उस समय ३८ वर्ष की थी और वे अपनी प्रसिद्ध सिफिनी 'विदा' की रचना में लगे हुए थे । ऐसे ही समय में बॉन नगर की बोनगा से गली के ५१५ नम्बर के मकान की दूसरी मंजिल पर एक नवजात शिशु की ऊँआ-ऊँआ' की गूँज सुनाई दी । तब किसी ने इस बात की कल्पना भी नहीं की थी कि सदा बीमार रहने वाली माँ और शराबी पिता के घर जन्मा यह शिशु अपने संगीत से विश्व को मोहित कर देगा ।

उस युग के सभी संगीतकार अपने साथ साधन-सुविधाएँ लेकर उत्पन्न हुए थे । किन्तु बीथोवियन तो पैदाइशी पीड़ा लेकर आया था । किसी ने सत्य ही कहा है कि कविता और संगीत का जन्म या तो पीड़ा की कोख से होता है या फिर प्रेम के विधुर-अंक में । पीड़ा की कोख से जन्मा संगीत अधिक हृदयस्पर्शी और शाश्वत होता है ।

बचपन से ही अभाव, पीड़ा और तिरस्कार के बीच पले इस व्यक्ति ने जाने कैसे अपनी उस अन्तःशक्ति को पहचान लिया था जो सब कुछ झेलते हुए भी टूटना नहीं जानती थी । घर में तो आश्रय मिल जाना ही बहुत था कभी दिन अच्छे होते तो पेट की क्षुधा भी शांत हो जाती । रोगिणी माँ उसे अपनी विवशता देने के अतिरिक्त और कुछ भी देने में असमर्थ थी । पिता को तो कमाने और शराब पी जाने से ही फुर्सत नहीं थी ।

नन्हें बीथोवियन को इन परिस्थितियो को समझने मे अधिक देर न लगी । उसने कारखाने मे मजदूरी प्रारम्भ कर दी । साथ ही चर्च में बाजा भी बजाता और रात्रि को संगीत सीखता । किसी सुखद समय की यादगार मे रखा एक पुराना पियानो तो उसे घर में मिल गया । बीथोवियन उसी पर अभ्यास करता । शराब के नशे में लड़खड़ाते कदमों से उसका पिता घर लौटता और पुत्र को पियानो बजाते देखता तो अक्सर उसको मार भी पड़ जाती थी ।

फिर भी बीथोवियन अपने जीवन से निराश नहीं होता था । बीथोवियन को ऐसा भास होता था कि इस सुख-दुःख से परे कोई अदृश्य शक्ति है जो लाख दुःख सहने पर भी मरने नहीं देती । यह अदम्य जिजीविषा हमारे भीतर छिपी किसी सूक्ष्मसत्ता की ही अभिव्यक्ति है । कितना अच्छा हो यदि उस सत्य को संगीत के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया जा सके जो इस जिजीविषा के रूप में पुकार-पुकार कर कह रहा है—इस जीवन का कोई महान अर्थ है—महान प्रयोजन है, तभी तो तुम लाख कष्ट सहकर भी जीने के अभिलाषी रहते हो ।

कष्टों को झेलते हुए संगीत-साधना के सहारे वे संगीत की ऊँचाइयों को छूने और जीवन की उन सच्चाइयों को संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त करने में सफल हुए जो उनका अभीष्ट था । उनके विषय मे एक लेखक ने लिखा है- "वह राइन नदी का साहसी पुत्र था, जिसके लिये संसार की हर वस्तु अजनबी (या अछूती) रही, जिसने अपने मन की, अपनी आत्मा की पूरी गहराई के साथ जीने की कोशिश की, जिसने अपने संगीत से एक नये धर्म का निर्माण किया । बीथोवियन के बाद चलने वाले 'कल्ट' को मानने वाले कहते हैं कि उसने सौन्दर्य-शास्त्र और नीति शास्त्रीय-सिद्धान्तो को समान स्तर पर लाकर अपनी ही जीवन की उच्चता का प्रकाशन किया है । यदि हमें कला और सौन्दर्य-शास्त्र की अन्य विधाओ में उसी ऊँचाई को प्राप्त करना है तो हमें उसी प्रकार संयमपूर्ण जीवन बिताना होगा जैसे कि बीथोवियन का था और दु:ख की उन गहराइयों से गुजरना होगा जिन्हे बीथोवियन ने पार किया था ।

जिस प्रकार उन्हे बचपन मे माँ की सेवा और पिता का प्यार नहीं मिला, उसी प्रकार उनका पारिवारिक जीवन भी सुखी नहीं रहा । वे पीड़ाओ के तपते मरुस्थल में नंगे पाँव आगे बढ़ते ही गये । जैसे-जैसे वे पीड़ा की विकटता अनुभव करते, वैसे-वैसे ही उनका संगीत प्राणवान हो उठता । क्योंकि पीड़ा ने उनकी आत्मिक अनुभूति को संगीत के स्वरों मे समा देने की क्षमता प्रदान की थी । वे उस शक्ति से परिचित हो चुके थे जो पीड़ा और आल्हाद से परे होती है, वहाँ जो सौन्दर्य दीखता है वही सच्चा सौन्दर्य है । बीथोवियन इन्हीं गहन अनुभूतियो के सहारे जिस शक्ति का साक्षात कर चुके थे, उसे संगीत मे अभिव्यक्त कर चुके थे, उसी को भारतीय-दर्शन-आत्मा कहता है जो सुख-दुःख से परे शाश्वत है, सत्य है ।

महान और अलौकिक संगीत स्रष्टा के रूप में उन्हें जर्मनी में ही नहीं पूरे विश्व में ख्याति प्राप्त हुई । जगह-जगह उनकी सिफनियो को सुनने के लिये संगीत समारोह किये गये । उन्हे सम्मान मिला, प्रशंसा मिली, पुरस्कार मिले, बस नहीं मिला तो सुख । आर्थिक कष्ट, अभाव, सहयोगियों, स्नेहियों की कमी, यही सब उनके साथ रहीं थीं ।

बीथोवियन सदैव इसी आदर्श पर रहे कि सुख आये तो स्वागत, दुख आये तो स्वागत, सभी परिस्थितियो में समान रहना । दु:ख से वितृष्णा नहीं, सुख से प्रसन्नता नहीं । किन्तु सुख तो उनके पास फटका ही नहीं, बस दुःखो के झंझावात आते रहे । फिर भी उनका दीप निष्कम्प, निर्विकार, भाव से प्रदीप्त होता रहा और अपने सगीत का प्रकाश फैलाता रहा । उनके सगीत में जीवन के दुखों को शांति और हर्ष में बदल देने की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो गई । उनके संगीत को कई संगीत समालोचक 'मुक्तिदाता' के नाम से सम्बोधित करते हैं ।

उनके प्रेरणा स्रोत मिश्र के इतिहास प्रसिद्ध एक पिरामिड पर अंकित ये शब्द थे—'मैं ही सब कुछ हूँ, मैं

ही था और मै ही रहूँगा । कोई भी मरण-शील-प्राणी मेरे स्तर तक नहीं पहुँच सकता ।" इन शब्दो में और भारतीय धर्मग्रन्थ गीता के शब्दो में अद्भुत साम्य है । बीथोवियन अपने आप मे उसी आत्म-शक्ति की अनुभूति करते थे जो गीता मे कही गयी है ।

अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वे अपनी श्रवण-शक्ति से भी वंचित हो गये थे । एक संगीतकार के लिए इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है कि वह सुन न सके । किन्तु प्रकृति ने तो उन्हे अतः श्रवणेन्द्रयों से सुनाया था । इतने पर भी वे विचिलित नही हुए, उनकी संगीत-साधना को विराम नही आया । उनके सम्बन्ध मे अपने समय की विख्यात संगीत-समालोचक ब्रेहिना ब्रेटानो नामक महिला लिखती है—"वह देवताओ का भेजा हुआ एक जादूगर है और प्रकृति दत्त अपनी इस शक्ति को यह अपनी कला में प्रयोग करता है ।"

अक्टूबर १९७० मे बीथोवियन की दो सौवीं जन्म तिथि-सारी जर्मनी मे बड़ी धूमधाम से मनायी गयी । बीथोवियन महानसगीतकार ही नहीं महानव्यक्ति भी थे । उनकी अदम्य जिजीविषा और उसके साथ अभिव्यक्त हुई आत्म-सामर्थ्य हमे जीवन के उस शाश्वत सत्य को पाने के लिये प्रबल प्रेरणाएँ देती रहेगी ।

स्वर ब्रह्म के अनन्य आराधक—स्त्राविंस्की

हालीवुड के एक विख्यात फिल्म-निर्माता ने रूस के संगीतकार स्त्राविंस्की से सम्पर्क साधा । स्त्राविस्की उन दिनो अमेरिका मे ही रह रहे थे । फिल्म-निर्माता उनकी ख्याति और सगीत पर अधिकार से असाधारण रूप से प्रभावित था । वह चाहता था कि पश्चिम के जन-जन का यह प्रियकलाकार उससे अनुबंध करले और नियमित रूप से केवल उसी के लिए सगीत रचनाएँ किया करे । स्त्राविस्की के कक्ष मे प्रवेश करते ही फिल्मनिर्माता ने जरा-सी औपचारिक बाते पूरी कर अपनी मूल बात रखी । आप वर्ष मे हमे तीन सगीत कृतियाँ दिया कीजिये । हम उसके बदले आपको पारिश्रमिक रूप मे एक लाख डालर दिया करेगे ।"

प्रस्ताव था तो बड़ा आकर्षक । फिल्म निर्माता ने सोचा था कि स्त्राविंस्की इसे सुनते ही तत्काल स्वीकार कर लेगे । परन्तु उन्होंने विचार के लिए कुछ समय माँगा, फिल्म-निर्माता को बड़ा आश्चर्य हुआ-इतने लुभावने प्रस्ताव पर भी विचार करना पड़ता है । वह बोला—इसमे विचार करने की क्या आवश्यकता है । स्त्राविस्की बोले—मैं यह तै करना चाहता हूँ कि वर्ष भर मे मै इतनी संगीत कृतियाँ तैयार कर पाऊँगा कि नही ।

सारे यूरोप भर मे जिसकी संगीत-क्षमता की तूती बोलती थी, वही अपने सम्बन्ध मे इस तरह का विचार रखता हो तो यह कम आश्चर्य की बात नहीं है । खैर जो कुछ भी हो फिल्म निर्माता उस समय तो वहाँ से उठकर चला गया और दुबारा शाम को स्त्राविंस्की का निर्णय जानने के लिये पहुँचा ।

इस बार तो उसे पूरी आशा थी कि उत्तर सन्तोषजनक ही मिलेगा । परन्तु स्त्राविंस्की ने आशा के प्रतिकूल उत्तर दिया—"देखिये श्रीमान् मै संगीत को कोई पेशा नहीं बना सकता । किसी भी अनुबन्ध से बँध जाने पर यह तो जरूरी ही होगा कि मुझे कम से कम उतनी संगीत रचनाएँ तो देनी पड़ें । इस अनुबन्ध के अनुसार मेरा ध्यान सख्या पूरी करने पर ही रहेगा न कि उसे उत्तमकृति बनाने की ओर ।"

स्त्राविंस्की की बात एकदम सही थी । फिर भी फिल्म-निर्माता को केवल उनका नामभर चाहिए था । संगीत की गहराइयो को जानने-समझने की क्षमता सर्वसाधारण में कहाँ होती है । केवल स्त्राविंस्की की शोहरत ही फिल्म को चलाने के लिए पर्याप्त थी । फिल्म निर्माता ने कहा—"कृतिउत्तम हो या न हो, जनता को कोई उसे पहचान परख थोड़े ही हो सकती है । हमें तो आपकी रचना और नामभर चाहिए ।"

"आपका कहना बिल्कुल ठीक है"—स्त्राविंस्की बोले—"परन्तु यह बात मेरे सिद्धान्त और आदर्श के बिल्कुल विपरीत है । सगीत के नाम पर कूड़ा-कचरा देना औरो के लिए चाहे कुछ भी हो परन्तु कला के प्रति अवश्य विश्वासघात है और इसके लिए मैं अपने आपको कभी तैयार नहीं कर सकूँगा ।"

कुछ और शर्तें होती तो शायद फिल्म-निर्माता पारिश्रमिक की रकम बढ़ाने की बात भी सोचता । परन्तु आदर्श और सिद्धान्तो का सौदा करने के लिए किसी भी स्थिति मे तैयार न होने के लिए कृतसकल्प स्त्राविस्की को अन्य प्रलोभनो से लुभाया जा सकना असम्भव ही था । वस्तुतः जो लोग कला-साधना, कार्य और कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान तथा ईमानदार होते है, वे कला की कभी दुर्गति नहीं होने देते । यह उनकी महानता भी है और कला का सम्मान भी । ऐसा सगीत-साधक स्त्राविंस्की को स्वर-ब्रह्म का आराधक कहना अत्युक्ति न होगी । क्योकि ईश्वर की अभिव्यक्ति निष्ठा, लगन और ईमानदारी के रूप मे ही होती है । स्त्राविंस्की इन तीनो विभूतियो से सम्पन्न रहे ।

लाखो रुपये का प्रलोभन ठुकरा देने वाले स्त्राविंस्की कालान्तर मे कुछ हजार रुपयो पर एक फिल्म को अपनी-सगीत रचना देने के लिए तैयार हो गये । हालाकि कुछ हजार रुपये भी उन्हे मुश्किल से मिले होगे । परन्तु उन्हे खेद इस बात का अधिक रहा कि उस फिल्म मे संगीत की भयानक दुर्गति हुई थी । इस दुर्गति ने उन्हे सम्पूर्ण-फिल्म जगत से ही वितृष्ण बना दिया और भविष्य मे कभी किसी चित्र को अपना संगीत न देने की कसम खा ली । बाद मे उनकी कृतियो के लिए कई बड़े-बड़े प्रस्ताव आये परन्तु उन्होने सबको बिना देखे ही ठुकरा दिया । पूर्व का कटु-अनुभव ही उनकी उस निराशा का कारण रहा, जिसके कारण उनकी कला-साधना की उपलब्धियो का उनकी दृष्टि से

दुरुपयोग हुआ । एक कला-साधक की सबसे बड़ी खूबी यही है कि यह अपनी कला-उपलब्धियों का अपमान-दुरुपयोग होते नहीं देख सकता ।

संगीत को व्यवसाय-पेशा न समझकर लोकरंजन और लोकमंगल की साधना समझने वाले इगोर स्त्राविंस्की का जन्म सन् १८८२ में रूस के ओरा, नियनबाम कस्बे में हुआ था । उनके पिता पोलैण्ड से आये थे और सेण्टपीटर्सवर्ग (वर्तमान में लेनिनग्राद) के विख्यात शाही ओपेरा में लोकप्रिय गायक थे । स्वयं उनका संगीत से बड़ा लगाव था—इसके लिए तो वे कानून की पढ़ाई छोड़कर इस क्षेत्र में उतरे थे । परन्तु संगीत जगत के अनुभव उनके लिए निराशाजनक ही रहे । पिता की देखा-देखी पुत्र भी संगीत और वाद्ययन्त्रों का अभ्यास करने लगा । फेदोर इग्नातेविच ने इस भय से कि कहीं स्त्राविंस्की को भी यह चस्का न लग जाये और वह अपना जीवन बर्बाद न कर ले—बेटे की दिशा को बदलना चाहा । वे उसे वाद्य-यन्त्रों से उलझने के लिए मना करने लगे ।

स्त्राविंस्की को तो अब गाने-बजाने में मजा आने लगा था । संगीत के स्वरों ने उनकी आत्मा में प्रवेश पा लिया था । उन्होंने उसकी साधना तो नहीं छोड़ी केवल पिता के सामने ही अभ्यास नहीं करते । अपनी इच्छा के अनुरूप पुत्र को आज्ञा-पालन करते देख इग्नातेविच ने स्त्राविंस्की को कानून पढ़ने के लिए छात्रावास भेज दिया । घर पर जो थोड़ी-बहुत पाबन्दी थी—भय था, उस भय से वे मुक्त से हो गये । अध्ययन के बाद जो समय बचता उसे वे अपना अभ्यास बढ़ाने मे लगाते । मित्रों मे बैठकर व्यर्थ गपशप करना उन्हे भाता नहीं था । कानून पढ़ते समय उनका सम्पर्क सेण्ट-पीटर्सबर्ग मे रहने वाले एक प्रख्यात संगीत-विशेषज्ञ रिम्स्कीकासीकाफ से हुआ । कासीकाफ का पुत्र स्त्राविंस्की का सहपाठी था । दोनों मे अच्छी मित्रता और प्रेम था । इसी मैत्री से वे कासीकाफ तक पहुँचे ।

अपनी कुछ छोटी-मोटी रचनाएँ जो स्त्राविंस्की ने की थीं, कासीकाफ को बताईं । वे यद्यपि कोई खास महत्त्वपूर्ण नहीं रही थीं फिर भी उन्होने इन दोनो के बीच गुरु-शिष्य के सम्बन्ध कायम करवा दिये । कासीकाफ स्त्राविंस्की के मार्ग-दर्शक और शिक्षक बन गए । उन्होंने अपने प्रतिभाशाली और लगनशील शिष्य को शास्त्रीय संगीत तथा अन्य-धाराओ के सिद्धान्त समझाये और उन्हे तैयार किया ।

जब कासीकाफ को विश्वास हो गया कि मेरा शिष्य अब अपनी कला का सार्वजनिक प्रदर्शन करने के लिये योग्य बन चुका है, तो उन्होंने ऐसे अवसर की प्रतीक्षा की । कुछ दिनो बाद उनकी बेटी का विवाह हुआ । इस विवाह में नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति और कई कलाकार उपस्थित थे । अतिथियों और स्वजन-बांधवों ने तरह-तरह के उपहार दिये । स्त्राविस्की ने इस अवसर पर सबसे अनूठा और अद्भुत उपहार दिया । अपने गुरु के कहने पर उन्होंने स्वरचित-संगीतमय-कृति प्रस्तुत की । कृति के स्वर-सौन्दर्य ने श्रोताओ को मन्त्रमुग्ध कर लिया । इस अवसर पर उपस्थित कलाकारों ने एक स्वर से कहा था—"यह नवयुवक एक दिन संगीत के सर्वोच्च-शिखर पर पहुँच जायेगा ।"

सार्वजनिक कार्यक्रम में यह स्त्राविंस्की का प्रथम प्रवेश था, जो बड़ा ही आशाजनक और उत्साहप्रद रहा । दीर्घ साधना के बाद प्राप्त उपलब्धियों का उन्होंने सार्वजनिक समर्पण कर दिया ।

रूस के विख्यात नृत्य-नाटक कम्पनी के संयोजक दियेगलेफ भी, जो इस अवसर पर वहीं उपस्थित थे बड़े प्रभावित हुए । उन्होंने इस युवक कलाकार को कम्पनी के एक नाटक का संगीत रचने के लिए आमंत्रित किया । जब यह नाटक मंच पर प्रस्तुत किया गया तो दर्शकों मे सबसे आगे बैठे हुए महान संगीतकार क्लाडदेबुसी अन्तिम परदा गिरते ही मंच की ओर लपके । उन्होंने नये रूसी संगीत स्रष्टा को आलिंगन में भरकर चूम लिया ।

स्त्राविंस्की को आरम्भ से ही सफलता मिलती रही हो—बात ऐसी नहीं थी । उनकी अचानक बढ़ती ख्याति शीघ्र ही अभिशाप बनकर भी सामने आई । १९१३ ई. मे पेरिस की एक कम्पनी ने उनकी तीसरी संगीत रचना का प्रदर्शन किया । कुछ लोगों ने जो उनकी प्रसिद्ध से ईर्ष्या करने लगे थे—इस अवसर पर श्रोताओं को उकसाया । प्रस्तुतीकरण के समय बड़ा हा-हा हू-हू और शोरगुल हुआ । उनके संगीत का अजीब और हास्यापद कहा गया—परन्तु वे निराश नही हुए । धैर्यपूर्वक वे अपनी रचना प्रस्तुत करते रहे । कार्यक्रम बड़ी मुश्किल से पूरा हो सका लेकिन बाद मे उनकी और भी छीछालेदार हुई—यह स्थिति उनके हतोत्साहित करने के लिये पर्याप्त थी । यूरोप और रूस मे भी उनकी विरोधी हवा बहने लगी ।

स्त्राविंस्की को इसकी आशा नहीं थी । परन्तु उनको विरोध की कोई चिन्ता नहीं हुई । वे जानते थे कि प्रतिभाओ को आरम्भ में नहीं तो कुछ समय बाद ठोकरें अवश्य खानी पड़ती हैं : ये ठोकरें ही उनके विकास और उच्चता को एक सुदृढ़ आधार प्रदान करती हैं । इस विरोध का कारण यह था कि उन्होंने संगीत को सर्वथा एक नई व सार्थक शिक्षा दी थी । उन दिनो यद्यपि ऐसे संगीतकारों की कमी नहीं थी जो उस धारा के प्रतिनिधि न कहे जाये फिर भी उनका क्षेत्र सीमित और व्यक्तित्व प्रभावहीन था ।

संगीत को मात्र मनोरंजन और विलासिता का माध्यम समझने वाले ही इस क्षेत्र पर छाये हुए थे । चूँकि आरम्भ से ही स्त्राविंस्की ने नये प्रतिमानो की सृष्टि की थी इसलिए उनका विरोध अस्वाभाविक भी नहीं था । भावोत्तेजक और सात्विक-प्रेरणाओ के जागरण में उनका संगीत एकदम सफल होता था । ध्येय और लक्ष्य के प्रति ईमानदार स्त्राविंस्की को इसी सफलता और उसके आधार ने धैर्यवान तथा दृढ़ बनाये रखा । सत्प्रयासों मे एक शक्ति होती है जो प्रयत्नकर्ता को स्थिर और विरोधी झंझावतों मे भी बरगद की तरह खड़ा रहने की शक्ति देते हैं ।

बरसों तक वे इस हवा में भी यूरोपीय देशों में घूमते रहे । आखिर विजय उन्हीं की हुई, इन यात्राओं ने उन्हें सर्वप्रिय कलाकार बना दिया । स्ट्राविंस्की को एक-एक नई रचना के लिए बरसों समय लग जाता था । वे ६-६ वर्ष तक प्रयत्न और श्रम करते रहते । जब तक अपनी कृति से उन्हें सन्तोष नहीं हो जाता उसे वे कभी सार्वजनिक मंचों तक नहीं जाने देते । पूरे जीवनकाल में उन्होंने साठ से अधिक रचनाएँ की है और वे सबकी सब लोकप्रिय हुई हैं । ऐसे श्रमशील और आत्मतुष्टव्यक्ति के लिए संगीत-व्यवसाय कैसे बन सकता है ।

परन्तु उनकी जीविका का साधन भी संगीत ही था । पारिश्रमिक के रूप में उन्होंने जो कुछ कमाया है वह शायद ही किसी अन्य संगीतकार ने कमाया हो । लेकिन उन्होंने इसका उपयोग अपने लिए सीमितमात्र में ही किया । जीवन भर वे आठ फीट लम्बी आठ फीट चौड़ी कोठरी में रहे । छोटा-सा कमरा ही उनका शयनकक्ष, परामर्श-चर्चा और भोजन कक्ष सब कुछ था । छोटे मकान का उपयोग उन्होंने मितव्ययिता और सादगी की दृष्टि से ही किया । आवश्यकता भर अपने लिए रखकर शेष सब भी उनके साध्य-लोकमंगल-साधना मे लग जाता था ।

१९३४ में वे स्थायी रूप से कैलिफोर्निया में रहने लगे । इसके पूर्व उन्होंने विश्वभर के कई देशो की यात्राएँ की और संगीत को कला के रूप मे प्रतिष्ठित किया । उन्हें अपना आदर्श मानने वाले संगीतकारो की संख्या आज हजारो में है । १९६२ मे वे पुनः एक बार अपनी मातृभूमि रूस मे लौटे उस समय रूसवासियों ने उनका भव्य स्वागत किया ।

सवा पाँचफीट लम्बे छरहरे बदन के स्ट्राविंस्की ने दीर्घकाय और मोटे पेट के व्यवसायी संगीतकारों के सम्मुख अपनी स्वर ब्रह्म-आराधना से अनुकरणीय आदर्श रखा है कि संगीत-साधको को अपनी साधना व्यावसायिक दृष्टिकोण से परे रखकर कलात्मक दृष्टिकोण से जारी रखना चाहिए । इसी प्रकार वे अपने कलाकार को जीवित और जाग्रत रख सकते है ।

डॉ. तैस्सितोरि

बीकानेर के राजदरबार मे एक विदेशी व्यक्ति ने प्रवेश किया । वेशभूषा और शिष्टाचार के तौर-तरीके देखकर सभी दरबारियो को बड़ा आश्चर्य हुआ । उस समय तक बहुत से भारतीय, विदेशी खासकर पाश्चात्य ढंग के कपड़े पहनने और उन्हीं तौर-तरीकों मे अपनी शान महसूस करते थे । एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को भारतीय पोशाक मे देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक ही था । बीकानेरनरेश को परिचय देते हुए उसने अपना संक्षिप्त नाम बताया डॉ. तैस्सितोरि ।

इटली निवासी यह विद्वान भारत के सांस्कृतिक-गौरव और यहाँ की पुरातन साहित्य-संपदा से प्रभावित होकर अपने देश, परिवार और समाज को छोड़कर यहीं आ बसे थे । यहाँ आकर उन्होंने विशुद्ध भारतीय ढंग का रहन-सहन अपनाया । बीकानेर के महाराजा ने उनका सम्मान किया, एक तो विदेशी होने के कारण और दूसरे विदेशी होते हुए भी भारतीय होने के कारण । महाराज गंगासिंह को उनकी भारत-भक्ति ने प्रथम-दर्शन में ही बड़ा प्रभावित कर लिया था । उन्होंने डॉ. तैस्सितोरि से कहा—"हम आपकी क्या सेवा कर सकते है ।"

उस समय बीकानेर की अनूप-संस्कृतलायब्रेरी देश विदेश में प्रख्यात थी । भारतीय-संस्कृति का प्राचीन-साहित्य वहाँ उपलब्ध था । तैस्सितोरि उसका अवलोकन कर भारतीय-धर्म और संस्कृति के तथ्यों से परिचित होना चाहते थे । उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की और महाराज ने अनूप-संस्कृत-लायब्रेरी का सम्पूर्ण दायित्व और अधिकार ही उन्हें सौंप दिया । डॉक्टर ने आद्योपांत इस लायब्रेरी के पुराने ग्रंथ पढ़ डाले और कई का अनुवाद भी किया, ताकि उसका प्रकाश विश्व भर में फैल सके और संसार भर के लोग इस ज्ञानामृत से लाभ उठाकर अपने जीवन को धन्य बना सकें ।

डॉ. तैस्सितोरि का जन्म इटली के एक छोटे से गाँव में सन् १८८७ ई. में हुआ था । माता-पिता न तो अधिक धनवान थे और न ही गरीब । मध्यमवर्गीय इस परिवार में उनका जीवन अति-साधारण ढंग से आरंभ हुआ था । बचपन में उन्होंने कोई विशेष प्रतिभा नहीं दिखाई थी । सामान्य बच्चों की तरह ही वे खेलते-कूदते और हँसते-किलकारियाँ मारते रहे ।

स्कूल जाने योग्य होते ही उन्हे पढ़ने के लिए भेज दिया गया । विद्यार्थीजीवन में ही एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण वे पाठ्यक्रमोत्तर अध्ययन के लिए प्रेरित हुए । एक दिन स्कूल के शिक्षक कोई कविता की पुस्तक कक्षा में लाये और उसमे से कुछ पद्य सस्वर पाठ करने के लिए तैस्सितोरि से कहा । तैस्सितोरि को अध्यापक द्वारा चुनी हुई कविताएँ बहुत अच्छी लगी और अंत में मास्टरजी से पूछ ही लिया कि हमारे कोर्स की किताबो में इतनी बढ़िया कविताएँ क्यों नही है ।

अध्यापक ने कहा-संसार मे एक से बढ़-चढ़कर रस भरा साहित्य है । पहले तुम अपने कोर्स की पुस्तकें अच्छी तरह पढ़ो ताकि उनका आनद ले सको ।

अध्यापक की इस बात ने तैस्सितोरि के मानस-संस्थान के न जाने किस अंग को स्पर्श कर लिया और उन्होंने तत्क्षण निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो वे संसार की सर्वश्रेष्ठ साहित्य-कृतियो का आनद लेकर ही रहेगे । इस उत्सुकता के साथ कि कब इस योग्य होऊँ—तैस्सितोरि बड़े मनोयोग से पढ़ने लगे । परिणामस्वरूप वे अच्छे अकों से उत्तीर्ण होने लगे । माध्यमिक कक्षाओ में पहुँचने तक उनका भाषा-ज्ञान बहुत विकसित हो चुका था । इटली की भाषा पर उनका अधिकार हो गया था ।

सन् १९०६ में आगे के अध्ययन के लिए वे फ्लोरेस विश्वविद्यालय के छात्र बने । उन्होने अपने उसी अध्यापक से पूछा कि सर्वश्रेष्ठ-साहित्य कहाँ से प्राप्त हो सकता है ।

अध्यापक ने कहा—"यदि तुम सर्वश्रेष्ठ-साहित्य ही चाहते हो तो उसके लिए संस्कृत-भाषा सीखनी पड़ेगी । वैसे तो हमारी भाषाओ में भी उस साहित्य का अनुवाद मिल सकता है ।" उस समय इटालियन भाषा में कई भारतीय-रचनाओ का अनुवाद यहीं के विद्वान, साहित्यकार मधुसूदन दत्त ने प्रकाशित करवाया था । तैस्सितोरि ने उसका अध्ययन किया और इस प्रकार की जितनी भी कृतियाँ प्राप्त हुईं सबकी सब पढ़ डालीं । मधुसूदन-दत्त ने बंगला-भाषा में कई रचनाएँ लिखी थीं और उन्हें इटालियन में अनूदित कर रोम से प्रकाशित भी करवाया था ।

इन कृतियों ने तैस्सितोरि को आनंदित तो किया पर वे संतुष्ट नहीं हुए । उल्टे उनकी जिज्ञासा और बढ़ी । फलस्वरूप उनका ध्यान अध्यापक के उस परामर्श की ओर गया जिसमे उन्होने कहा था कि सर्वश्रेष्ठ-साहित्य के लिए तो संस्कृत-भाषा ही सीखनी पड़ेगी । ज्ञान पिपासा ने उनमें संस्कृत के अध्ययन की रुझान भी पैदा की । फ्लोरेस विश्वविद्यालय के भाषा-विभाग मे संस्कृत-भाषा के अध्ययन का भी प्रबंध था । उन्होने यही विषय लिया और संस्कृत सीखने लगे । इस भाषा के साथ-साथ उन्होंने हिन्दी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया ।

जिज्ञासा और उसे पूरी करने की लगन तैस्सितोरि में घर कर चुकी थी । इन्हीं दो आधारों का अवलंबन लेकर वे सहज और सरल हिन्दी तथा संस्कृत मे धीरे-धीरे अधिकारी ज्ञान रखने लगे । सन् १९१० में जब वे स्नातक हुए तो उन्होंने तुलसी की रामचरित-मानस और वाल्मीकि-रामायण का अच्छा अध्ययन कर लिया था । आगे की पढ़ाई के लिए उन्होंने संस्कृत-साहित्य को ही विशेष रूप से चुना ।

स्नातकोत्तर अध्ययन पूरा कर लेने के बाद उन्होने वाल्मीकि-रामायण तथा रामचरित-मानस के तुलनात्मक अध्ययन पर शोध-प्रबंध लिखा, जिस पर उन्हे डॉक्टर की उपाधि मिली । इन ग्रंथों के अतिरिक्त उन्होंने अन्य साहित्यिक-कृतियो का भी सम्यक अध्ययन किया था । अध्यापक का कथन अब सचमुच ही सत्य प्रतीत हुआ था । संस्कृत-भाषा का साहित्य वास्तव मे सर्वश्रेष्ठ लगा और डॉक्टर तैस्सितोरि इस अनुपमज्ञान की उद्भवस्थली भारत-भूमि की ओर आकृष्ट हुए । जिस सभ्यता की भाषा मे इतना अगाधज्ञान भरा पड़ा है वह सभ्यता कितनी महान होगी, इस विचार ने ही उनके हृदय मे भारत-प्रेम का संचार कर दिया । वे सोचने लगे कि यदि अवसर मिले तो भारत अवश्य जाना चाहिए और वहाँ की संस्कृति तथा जनजीवन का निकट से अध्ययन करना चाहिए ।

तभी उन्हे फ्लोरेस के पुस्तकालय का इन्चार्ज बना दिया गया । यद्यपि उनके लिए अन्य प्रतिष्ठित पदों और विभागो के द्वार भी खुले हुए थे परन्तु उन्हे तो चाहिए था ज्ञान और धर्म के मणिमुक्ता । इन रत्नकणों को छोड़कर उन्हे ऊँची नौकरियाँ और अच्छा वेतन नहीं चाहिए था । फ्लोरेस-पुस्तकालय भी उन्होने इसलिए चुना कि वहाँ पर भारतीय-भाषाओं के कई ग्रन्थ थे । अध्ययनकाल में उन्होंने अधिकांश पुस्तकें यहीं से प्राप्त की थीं । इस पुस्तकालय में काम करते हुए वे भारतीय भाषाओं की सभी उपलब्ध कृतियों का अध्ययन कर सकेंगे-इसी उद्देश्य से फ्लोरेस लायब्रेरी के संचालकों से सेवा का अवसर माँगा था जो उनकी योग्यता के कारण मिल भी गया ।

ज्ञान और विद्या की प्राप्ति के लिए बड़े से बड़े प्रलोभन ठुकराने वाले संकल्प के धनी संसार की दृष्टि में भले ही मूर्ख और नासमझ हों परन्तु सच में बुद्धिमान वे ही हैं । अधिक आय और भौतिक लाभ तो मनुष्य को अहंकारी और उसके गौरव-गरिमा से पदच्युत करने का ही कारण बनते हैं परन्तु, विद्या मनुष्य को ऊँचा उठाती है । भौतिकदृष्टि से भले ही उन्हें उस समय घाटे में रहना पड़ा हो परन्तु बौद्धिक-सम्पदा, विद्या-प्रतिभा के रूप मे उन्होंने जो कुछ अर्जित किया वह लाखों-करोड़ों की संपत्ति से अधिक मूल्यवान कहा जा सकता है ।

इस लाईब्रेरी मे काम करते हुए उन्होंने हिन्दी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी और बंगाली भाषाएँ सीखीं और इस देश में आने का अवसर तलाशने लगे । तभी सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. ग्रियरसन जो काफी समय से भारत में थे, से उनका सपर्क हुआ । ग्रियरसन डॉ. तैस्सितोरि के भारतप्रेम और संस्कृतप्रेम से बड़े प्रभावित हुए और उनकी आकांक्षा पूर्ति का मार्ग सुझाया और मदद की । सन् १९१४ में उन्होने भारतसरकार के समक्ष तैस्सितोरि को कलकत्ता की एशियाटिक-सोसाइटी के अंतर्गत राजस्थानी-साहित्य और ऐतिहासिक सर्वेक्षण का सुपरिटेंडेंट नियुक्त करने की सिफारिश की । सौभाग्य से उनकी सिफारिश मंजूर हो गयी और डा. तैस्सितोरि को अपने सपनों के देश में आने का मौका मिल गया ।

८ अप्रैल, १९१४ को उन्होंने अपनी कल्पनाओं की पुण्यभूमि भारत की धरती पर कदम रखा । यह क्षण शायद उनके जीवन का सर्वाधिक खुशी भरा क्षण था । हर्ष से उनकी आँखे भर आयीं और उन्होंने जहाज से उतरते ही अपनी इस देवभूमि को प्रणाम किया । कलकत्ता मे वे तीन महीने तक रुके और कई भारतीय विद्वानों, साहित्यकारो तथा अधिकारियों से मिले । इस अवधि में उन्होंने भावी-कार्यक्रमों की रूपरेखा बनायी और तदनुसार जोधपुर को अपना कार्य केन्द्र चुना ।

जोधपुर आकर उन्होंने अपना काम आरंभ किया । इस शहर की ही नहीं भारतभर की भूमि और वातावरण मे उनका मन खूब लगा । राजस्थानी लोकगीत भी उन्हें अच्छे लगे । कहने का तात्पर्य यह कि भारत की हर चीज ने उन्हें बाँध लिया । वे अनुभव करने लगे कि इस भूमि से उनका जन्मजन्मांतरों का संबंध है । चिरसाधित इच्छा और भारत के

मे मिले नए उत्साह ने फालकेसाहब को साहस से भर दिया। वे नए सिरे से चिन्तन करने लगे, उन्होने उत्साह और साहस के साथ आँखों की चिकित्सा आरम्भ कर दी।

दादासाहब की सहायता भगवान ने सत्प्रेरणा उत्साह एवं साहस के रूप मे तो की ही, उन्हे योग्य डाक्टर के सम्पर्क का भी लाभ प्राप्त हो गया। पूर्ण आशा और विश्वास के साथ उन्होने आँखो का ऑपरेशन कराया। नेत्र विशारद डॉ. प्रभाकर के द्वारा किए गए आपरेशन से उनकी दृष्टि लौट आई। उनका जीवन एक बार फिर प्रकाश से जगमगा उठा, आशाओ से भर गया।

उन्हें अपना कार्य आगे बढ़ाने के लिए अब साधन के रूप मे धन की आवश्यकता थी। धन थोड़ा नहीं कम से कम पच्चीस हजार रुपये चाहिए थे। इतना धन जुटाना ही एक महान तपस्या थी, फालके साहब जैसे मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए। नियमित अपने लक्ष्य पर आगे रहने के कारण उनकी स्वयं की कोई आशा नहीं रह गई थी। घर की आवश्यकताओ की पूर्ति एवं व्यवस्था उनकी पति-परायण पत्नी कभी-कभी गृहस्थी की आवश्यक वस्तुएँ बेच कर करती आ रही थी। ऐसी स्थिति मे इतना धन एकत्रित करना भी एक दुष्कर कार्य दिखाई दे रहा था।

उन्होने राजा-महाराजाओं, पूँजीपतियों, स्वदेशी और छोटे-मोटे व्यवसाय चलाने वाले सभी से चर्चाएँ कीं और अपनी योजना समझाकर इस व्यवसाय के लिए धन लगाने का अनुरोध किया किन्तु नई-नई योजना से सभी ने संदेह किया कि यह योजना सफल न हो सकेगी और कोई भी इसमे धन लगाने को आगे नहीं आया। उल्टे सबने इन्हे सनकी, अर्द्ध विक्षिप्त और मानसिक-विकृति से पीड़ित घोषित करने का प्रयत्न किया। उनके आत्मीय और घनिष्ट मित्रो तक ने उन्हे प्रोत्साहन नहीं दिया।

पहले तो वे बड़े निराश हुए। उन्हे अपने ही व्यक्तियो द्वारा हतोत्साहित किये जाने पर बहुत क्षोभ हुआ, किन्तु अपने लक्ष्य पर दृढ़ फालके फिर विचार करने लगे कि हम अपने से ही कार्य प्रारम्भ करें। पहले स्वयं ही पूरे प्रयास करेगे। ...ा के लिए दूसरो के सामने समस्या रखेगे। उन्होने ... अपनी बीमा की पालिसी गिरवी रखकर पन्द्रह ... प्राप्त किए। फालके साहब को अपना सर्वस्व ... उनकी योजना पर कुछ और सहयोग ...रा प्रस्तुत हो गये।

...व ही सन् १९१२ में फालके ... चित्रपट की सामग्री क्रय ... निश्चित किए थे, उनका

... गति का प्रमाण बिगड़ने ... के विक्रेताओं से सहज ... गयी। अब शूटिंग ... था, शेष रह गया।

इंग्लैण्ड मे स्टूडियो मे प्रवेश पाना सामान्य अँग्रेज को भी संभव न था फिर वह तो एक शासितदेश भारत के नागरिक थे। उन्हे स्टूडियो में पहुँच पाना महान कठिन दिखाई दे रहा था।

दादासाहब को विस्तृत-अध्ययन और व्यावहारिक ज्ञान से मार्ग मिल गया। कौनसा कैमरा क्रय किया जाय, इस विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिए, परामर्श करने के लिए वे फिल्मी पत्र 'बाइसकोप' के कार्यालय मे गए। सम्पादक से जो चर्चा हुई उससे वह फालके साहब से अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसे यह आश्चर्य हुआ कि उन्होने मात्र किताबे पढ़कर कल्पना के आधार पर इतना ज्ञान प्राप्त किया है। उसे इनकी लगन पर विश्वास हुआ और ऐसे लगनशील व्यक्ति को सहयोग देना उसने अपना कर्तव्य माना। सम्पादक ने 'हेपबर्थ' सिनेमा कम्पनी के मैनेजर को फोन करके इन्हे प्रत्येक वस्तु विवरण सहित दिखाने का आग्रह किया।

हेपबर्थ सिनेमा कम्पनी के मैनेजर ने दादासाहब का स्वागत किया, सम्मानपूर्वक शूटिंग दिखाई और इससे सम्बन्धित उनकी प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान किया। उन्हे अपने हाथ से शूटिंग करने का भी अवसर प्रदान किया।

फालके साहब की यह अनुभूति अब दृढ़ होती जा रही थी कि जो अपनी सहायता आप करते है, दैवी सहायता उन्हे अपने आप सुलभ होती जाती है।

विलियम्सन कैमरा और अन्य आवश्यक सामग्री लेकर दादासाहब भारत लौट आये। एक मास की स्वल्प-अवधि मे ही उन्होने दोसौफीट की प्रायोगिक फिल्में बना डालीं। इन फिल्मों को देखकर उनके उन मित्रो को भी अब विश्वास हो गया जो पहले इनकी खिल्ली उड़ा रहे थे। उन्होने यह अनुभव कर लिया कि भारत मे अब चित्रपट बन सकते हैं। और फालकेसाहब उसे बना सकते हैं।

फालके साहब के प्रयोगो को देखकर एक और सेठ पूँजी लगाने को प्रस्तुत हो गये। इनके पुरुषार्थ पर प्रसन्न होने से भगवान का एक और अनुदान उन्हें मिला।

पूर्ण तैयारी के साथ कार्य प्रारम्भ किया और मात्र छह महीने में 'राजा हरिश्चन्द्र' नाम की ३७०० फीट लम्बी लगभग एक घण्टा चलने वाली भारतीय कथा-रूपी चित्रपट फिल्म का प्रदर्शन किया गया। यह भारतीय चित्रपट व्यवसाय का जन्म दिन था।

कठिनाइयों ने फालके साहब का पीछा न छोड़ा। सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। विश्वयुद्ध का व्यावसायिक क्षेत्र मे व्यापक प्रभाव हुआ। चित्रपट उद्योग भी उससे प्रभावित हुए बिना न बच सका। यह व्यवसाय तो था ही अभी शैशव अवस्था में, सो लड़खड़ा गया।

अबकी बार फालकेसाहब को बहुत धक्का लगा। निराशा में डूब गए। उनके सामने कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। काम बन्द करने को विवश होना पड़ रहा था। इस बार उनकी धर्म-परायण, पतिभक्ता पत्नी ने उन्हें बल दिया

प्रति अपनत्व की भावना ही इस मान्यता के जन्म और दृढ होने का कारण थी ।

राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्रीरामकरण आसोपा ने उन्हे बड़ा सहयोग दिया । भारतीय ग्रंथों के संकलन, अध्ययन और अनुवाद के कार्यों में श्री आसोपा तैस्सितोरि के बहुत सहायक सिद्ध हुए और अधिक साहित्य सहजता से बीकानेर की अनूप लाइब्रेरी में प्राप्त हो सकता है यह जानकर वे कुछ समय बाद वहाँ चले गये ।

भारतीय-जीवन-दर्शन के दीर्घ सान्निध्य में रहने के कारण तैस्सितोरि पूरी तरह यहाँ की आध्यात्मिक विचारधारा मे रग गये थे । यहाँ तक कि अभिवादन और बधाई के लिए भी वे यहीं की शब्दावली के प्रयोग करने लगे थे । वेष-भूषा, रहन-सहन, बोल-चाल के लहजे से किसी भी प्रकार से विदेशी नहीं लगते थे । यह उनकी व्यावहारिक आदर्शवाद का संदेश सुनाने वाली भारतीय-संस्कृति के प्रति अगाध-प्रेम का ही प्रभाव था । उन्होंने अपने जीवन में उन सभी गुणों के विकास का प्रयत्न किया था । एक साधना अनुष्ठान के रूप में यहाँ की परपराओं और मान्यताओं को जीवन में अगीकार कर सच्चे सुख और आनन्द की उपलब्धि की थी ।

भारतीय-धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों को जीवन में उतार लेने के कारण उन्होंने जो शांति अनुभव की, उस अनुभूति ने अध्यात्म-दर्शन का लाभ अपने देश के लोगों को उठाने योग्य प्रयत्न करने के लिए भी प्रेरित किया । फलस्वरूप उन्होंने संस्कृत और राजस्थानी ग्रंथों का इटालियन भाषा में अनुवाद करना आरंभ किया । इस उद्देश्य से उन्होंने वैराग्य-शतक, वाल्मीकि-रामायण, रामचरित-मानस आदि कई महत्वपूर्ण ग्रथो को अनूदित किया । ये अनुवाद इटली और दूसरे यूरोपीय देशो मे काफी लोकप्रिय हुए । धर्म-साधना के प्रभाव स्वरूप जन्म लेने वाली लोकमंगल की प्रेरणाएँ ही इस कार्य का मूल आधार रहीं ।

अनुवादकार्य के अतिरिक्त उन्होंने मौलिक साहित्य भी लिखा, जो भारतीय-संस्कृति और सभ्यता की व्याख्या प्रस्तुत करता है । इस प्रकार उन्होंने भारतीय-जनता की भी महत्त्वपूर्ण सेवा की । बीकानेर मे वे लगभग पाँच वर्ष तक रहे और इन पाँच वर्षों मे उन्होंने जितना लिखा तथा अनुवाद किया था वह कोई शायद पचास वर्षों में भी नहीं कर सकता है । साहित्य-साधना के साथ-साथ ज्ञान-साधना भी अनवरत निर्विरोध चलती ही रही थी ।

२२ नवंबर, १९१९ को बत्तीसवर्ष की अल्पायु में एक साधारण-सी बीमारी के कारण उनका देहांत हो गया । इस छोटी-सी उम्र मे, उन्होंने अपने जीवन और आचरण से जो आदर्श प्रस्तुत किया वह दीर्घावधि तक विश्व के लोगों को प्रेरणा देता रहेगा ।

भारतीय चित्रपट के प्रवर्तक

दादासाहब फालके

दादासाहब फालके के मन में विचार आया कि फिल्म व्यवसाय विदेशियों के हाथ में है । इनका उद्देश्य विशुद्ध व्यावसायिक है । लोगों के मनोरंजन हेतु पश्चिमी-सभ्यता एवं संस्कृति पर आधारित मनोरंजन के चित्र ही इनमें दिखाये जाते है । पश्चिमी-सभ्यता के अश्लील कामुक और स्टंटचित्रों से हमारे देश के युवक-युवतियों और जनता पर कुप्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता । अतः हमे इस व्यवसाय का भारतीयकरण करना चाहिए । भारतीयकरण होने से इसे समाज-शिक्षण और समाज मे विचारशीलता उत्पन्न करने का माध्यम बनाया जा सकता है । देश को दिशाएँ दी जा सकती हैं जिससे हमारा देश, सांस्कृतिक, आर्थिक, शैक्षणिक तथा सामाजिक-विकास की ओर अग्रसर हो सके ।

उन्होंने दृढ निश्चय कर लिया कि इस दिशा में उन्हे सुदृढ़ता से प्रयत्न करना है । किन्तु इस कार्य के लिए विस्तृत अध्ययन, गहन-चिन्तन और जानकारियों की आवश्यकता पड़ेगी । भारी धनराशि इस महानकार्य के लिए चाहिए । सब ओर दृष्टि दौड़ाई और क्रमबद्ध रूप से अपना जीवन उसमें खपा देने को प्रस्तुत हो गये ।

कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व जिसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता फालके साहब पहले उसी में लग गये । उन्होंने विचारा कि विस्तृत अध्ययन किये बिना, अध्ययन के पश्चात् चिन्तन के माध्यम से सूत्र खोजे बिना, हमारी कल्पना मात्र शेखचिल्ली की कहानी बनकर रह जायेगी वे विचारे हुए मार्ग पर चल पड़े । चित्रपट-निर्माण पर ढूँढ़-ढूँढ़कर उन्होंने पुस्तको का गम्भीर अध्ययन किया । अध्ययन और चिन्तन के साथ-साथ उनका निश्चय दृढ होता गया और आत्मविश्वास जाग्रत होने लगा । अध्ययन-चिन्तन के साथ ही इस कार्य का क्रियात्मक अध्ययन भी वे सिनेमा देखकर करने लगे । दिन भर अध्ययन और रात्रि में सिनेमा देखकर अपने सूत्रो का तुलनात्मक-अध्ययन नियमित चलता रहा है ।

उच्च-आदर्श पर चलने वाले के मार्ग मे भी बाधाएँ आती है । उनके उद्देश्यपूर्ति मे जो विघ्न उपस्थिति होते है, उनमे वे हताश नहीं होते हैं उनसे प्रेरणा लेकर दुगुने उत्साह से अपने लक्ष्य की पूर्ति में जुट जाते है ।

दादासाहब के दिन-रात के परिश्रम से उनकी आँखे जाती रहीं । जीवन में अन्धकार छा गया । निराशा भर गई और सोचने लगे कि अब सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया । किन्तु पुरुषार्थी की भगवान सहायता करते हैं ऐसा विचार जब उनके मन मे आया तो अपनी निराशामय भावनाओ पर उन्हे बड़ी ग्लानि हुई । वे विचारने लगे कि निराशा से तो अकर्मण्यता आती है । प्रमाद, आलस्य और निष्क्रियता इस निराशा से ही उत्पन्न होते है । हमे हिम्मत नहीं हारनी चाहिए, प्रयत्न करना चाहिए । भगवान के अनुदान के रूप

में मिले नए उत्साह ने फालकेसाहब को साहस से भर दिया । वे नए सिरे से चिन्तन करने लगे, उन्होने उत्साह और साहस के साथ आँखों की चिकित्सा आरम्भ कर दी ।

दादासाहब की सहायता भगवान ने सत्प्रेरणा उत्साह एवं साहस के रूप मे तो की ही, उन्हें योग्य डाक्टर के सम्पर्क का भी लाभ प्राप्त हो गया । पूर्ण आशा और विश्वास के साथ उन्होने आँखो का ऑपरेशन कराया । नेत्र विशारद डॉ. प्रभाकर के द्वारा किए गए आपरेशन से उनकी दृष्टि लौट आई । उनका जीवन एक बार फिर प्रकाश से जगमगा उठा, आशाओ से भर गया ।

उन्हें अपना कार्य आगे बढ़ाने के लिए अब साधन के रूप मे धन की आवश्यकता थी । धन थोड़ा नहीं कम से कम पच्चीस हजार रुपये चाहिए थे । इतना धन जुटाना ही एक महान तपस्या थी, फालके साहब जैसे मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए । नियमित अपने लक्ष्य पर आगे रहने के कारण उनकी स्वयं की कोई आशा नहीं रह गई थी । घर की आवश्यकताओ की पूर्ति एव व्यवस्था उनकी पति-परायण पत्नी कभी-कभी गृहस्थी की आवश्यक वस्तुएँ बेच कर करती आ रही थी । ऐसी स्थिति मे इतना धन एकत्रित करना भी एक दुष्कर कार्य दिखाई दे रहा था ।

उन्होने राजा-महाराजाओ, पूँजीपतियो, स्वदेशी और छोटे-मोटे व्यवसाय चलाने वाले सभी से चर्चाएँ की और अपनी योजना समझाकर इस व्यवसाय के लिए धन लगाने का अनुरोध किया किन्तु नई-नई योजना से सभी ने संदेह किया कि यह योजना सफल न हो सकेगी और कोई भी इसमे धन लगाने को आगे नही आया । उल्टे सबने इन्हे सनकी, अर्द्ध विक्षिप्त और मानसिक-विकृति से पीड़ित घोषित करने का प्रयत्न किया । उनके आत्मीय और घनिष्ट मित्रो तक ने उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया ।

पहले तो वे बड़े निराश हुए । उन्हे अपने ही व्यक्तियो द्वारा हतोत्साहित किये जाने पर बहुत क्षोभ हुआ, किन्तु अपने लक्ष्य पर दृढ़ फालके फिर विचार करने लगे कि हम अपने से ही कार्य प्रारम्भ करे । पहले स्वयं ही पूरे प्रयास करेगे । बचे हुए के लिए दूसरो के सामने समस्या रखेंगे । उन्होंने वही किया अपनी बीमा की पालिसी गिरवी रखकर पन्द्रह हजार रुपये प्राप्त किए । फालके साहब को अपना सर्वस्व दाँव पर लगाते देखकर उनकी योजना पर कुछ और सहयोग देने के लिए भी कुछ लोग प्रस्तुत हो गये ।

धनराशि की व्यवस्था होते ही सन् १९१२ मे फालके साहब इंग्लैण्ड गये । वहाँ से उन्हे चित्रपट की सामग्री क्रय करनी थी और जो सिद्धान्त उन्होंने निश्चित किए थे, उनका अनुसंधान भी करवाना था ।

कैमरा मे फिल्म भरना, उसकी गति का प्रमाण बिगड़ने पर सुधार की प्रक्रिया आदि उन्हे वहाँ के विक्रेताओ से सहज मे ही कैमरा क्रय करते समय ज्ञात हो गयी । अब शूटिंग का प्रत्यक्ष अनुभव करना, जो दुष्कर कार्य था, शेष रह गया । इंग्लैण्ड मे स्टूडियो मे प्रवेश पाना सामान्य अँग्रेज को भी संभव न था फिर वह तो एक शासितदेश भारत के नागरिक थे । उन्हें स्टूडियो में पहुँच पाना महान कठिन दिखाई दे रहा था ।

दादासाहब को विस्तृत-अध्ययन और व्यावहारिक ज्ञान से मार्ग मिल गया । कौनसा कैमरा क्रय किया जाय, इस विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिए, परामर्श करने के लिए वे फिल्मी पत्र 'बाइसकोप' के कार्यालय मे गए । सम्पादक से जो चर्चा हुई उससे वह फालके साहब से अत्यन्त प्रभावित हुआ । उसे यह आश्चर्य हुआ कि उन्होने मात्र किताबे पढ़कर कल्पना के आधार पर इतना ज्ञान प्राप्त किया है । उसे इनकी लगन पर विश्वास हुआ और ऐसे लगनशील व्यक्ति को सहयोग देना उसने अपना कर्त्तव्य माना । सम्पादक ने 'हेपवर्थ' सिनेमा कम्पनी के मैनेजर को फोन करके इन्हे प्रत्येक वस्तु विवरण सहित दिखाने का आग्रह किया ।

हेपवर्थ सिनेमा कम्पनी के मैनेजर ने दादासाहब का स्वागत किया, सम्मानपूर्वक शूटिंग दिखाई और इससे सम्बन्धित उनकी प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान किया । उन्हे अपने हाथ से शूटिंग करने का भी अवसर प्रदान किया ।

फालके साहब की यह अनुभूति अब दृढ़ होती जा रही थी कि जो अपनी सहायता आप करते है, दैवी सहायता उन्हे अपने आप सुलभ होती जाती है ।

विलियम्सन कैमरा और अन्य आवश्यक सामग्री लेकर दादासाहब भारत लौट आये । एक मास की स्वल्प-अवधि मे ही उन्होंने दोसौफीट की प्रायोगिक फिल्मे बना डालीं । इन फिल्मो को देखकर उनके उन मित्रो को भी अब विश्वास हो गया जो पहले इनकी खिल्ली उड़ा रहे थे । उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि भारत मे अब चित्रपट बन सकते हैं । और फालकेसाहब उसे बना सकते हैं ।

फालके साहब के प्रयोगों को देखकर एक और सेठ पूँजी लगाने को प्रस्तुत हो गये । इनके पुरुषार्थ पर प्रसन्न होने से भगवान का एक और अनुदान उन्हे मिला ।

पूर्ण तैयारी के साथ कार्य प्रारम्भ किया और मात्र छह महीने मे 'राजा हरिश्चन्द्र' नाम की ३७०० फीट लम्बी लगभग एक घण्टा चलने वाली भारतीय कथा-रूपी चित्रपट फिल्म का प्रदर्शन किया गया । यह भारतीय चित्रपट व्यवसाय का जन्म दिन था ।

कठिनाइयों ने फालके साहब का पीछा न छोड़ा । सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया । विश्वयुद्ध का व्यावसायिक क्षेत्र मे व्यापक प्रभाव हुआ । चित्रपट उद्योग भी उससे प्रभावित हुए बिना न बच सका । यह व्यवसाय तो था ही अभी शैशव अवस्था में, सो लड़खड़ा गया ।

अबकी बार फालकेसाहब को बहुत धक्का लगा । निराशा में डूब गए । उनके सामने कोई उपाय नहीं सूझ रहा था । काम बन्द करने को विवश होना पड़ रहा था । इस बार उनकी धर्म-परायण, पतिभक्ता पत्नी ने उन्हें बल दिया

अपने समस्त स्वर्ण आभूषण देकर उसने समझाया कि इनकी उपयोगिता ऐसे कठिन अवसरों पर उपयोग कर लेने में ही है। इनको पहिनकर शरीर की सुन्दरता बढ़ाने मे इनकी सार्थकता नही है। कठिन समय पर काम आने के लिए ही ऊँची धनराशि लगाकर इन आभूषणो को बनाया जाता है। यदि ऐसे अवसर पर भी इनकी उपयोगिता न ली जा सकी तो उस धनराशि का दुरुपयोग ही समझा जाएगा। फिर भक्त जब तक अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा देता, अपना सर्वस्व बलिदान नहीं कर देता भगवान अपनी सहायता का हाथ नहीं बढ़ाता अतः आप इस धन से कार्य करें।

इस धन व कलाकारो के सहयोग से लंका-दहन चित्र पूरा हुआ। इस चित्र का बड़ा सम्मान हुआ। फालके साहब की व्यवसाय मे साख जम गई और स्थायित्व आ गया। दादा साहब ने और फिल्मे भी बनायीं जिनमे कई वृत्तचित्र और शैक्षणिक चित्र थे। गंगावतरण उनका प्रथम और अन्तिम टाकी फिल्म थी जिसका बहुत आदर हुआ। सारे देश में टाकी फिल्म बनाने पर फाल्के को बधाइयाँ मिलीं और पैसा उनकी सफलता पर अभिवादन के रूप में बरस पड़ा।

दादासाहबफालके ने देश को एक नया उद्योग ही नहीं दिया, देश की सभ्यता और संस्कृति की रक्षा का भी उन्होंने अपने आदर्श को बनाये रखा। शैक्षणिक और वृत्तचित्र के साथ ही उन्होने जो चित्र बनाये उनमे भारतीय आदर्शों को प्रधानता दी गई।

भारतीय संस्कृति के पोषक— डॉ.गोमेज

सन् १८६१ मे गोआ का प्रतिनिधित्व करने के लिए पुर्तगीज सरकार ने वहाँ के एक ३२ वर्षीय ईसाई को चुना। इस चुनाव के पीछे विदेशी साम्राज्यवादियो का यही मन्तव्य रहा था कि वह युवक पैदा भले ही भारत की धरती पर हुआ हो किन्तु संस्कारो तथा विचारणाओ से विदेशी होगा। उनकी यह धारणा निराधार भी नहीं थी। धर्मपरिवर्तन कर लेने के उपरान्त प्रायः भारतीय ईसाई अपने आपको योरोपियन समझने लगते है तथा 'भारतीय' कहलाने मे वे अपना अपमान समझते है।

उनकी इस आशा के विपरीत इस युवक ने पुर्तगाल की संसद में जो अपना प्रथम भाषण दिया तो उनकी यह धारणा गलत निकली। उसने कहा "मुझे बड़ा गर्व है कि मैं उस महान धरती पर जन्मा हूँ जहाँ की संस्कृति विश्व को सुख-शान्ति दे सकती है। मै अपने पूर्व वक्ताबन्धु के कथन का जोरदार शब्दों मे खण्डन करता हूँ। उनका यह कथन निराधार है कि उपनिवेषों की जनता असभ्य है। भारतवर्ष के निवासियो के लिए उन्होंने इन शब्दो का प्रयोग किया है जहाँ के निवासी हजारो वर्षों पहले भी इतने सभ्य थे कि जिन्होंने मनुष्यो के प्रति ही नहीं पशुओ तथा पेड़-पौधो के साथ भी सम्वेदनशीलता के सम्बन्ध स्थापित किये थे। जो शरीर मन तक ही नहीं आत्मा और परमात्मा की उच्च सत्ताओं के अन्वेषण में सफल हुए थे। काव्य, दर्शन, कला तथा इतिहास का उच्चतम विकास उन्होने किया।

मैं उसी जाति का, उसी वंश का एक व्यक्ति हूँ। मै यह स्वीकार करता हूँ कि आज वही देश अपनी उस गरिमा को भुलाये बैठा है। वह विदेशी दासता की लौह शृंखलाओ मे बँध चुका है। जो धरा स्वर्ग को भी पीछे रखती थी, जहाँ के मानव देवता गिने जाते थे। आज वह नरक बना दी गई है।

मैं ईसाई हूँ। क्या ईसाई अन्तःकरण विश्व-मानव को सुखी नहीं देखना चाहता? क्या दासता के बन्धन अनिवार्य है? महात्मा-ईसा ने तो पापी तथा हत्यारे पर भी दया करने का आदेश दिया था।" इसके पश्चात् उसने पुर्तगाली उपनिवेश की दुर्दशा का मर्मान्तक वर्णन किया।

जब भाषण समाप्त हुआ तो पुर्तगाली प्रतिनिधियो के मुँह लटक गये। दर्शकों ने तालियाँ पीटकर युवक की बातो का समर्थन किया। यह युवक थे डॉ. गोमेज जिन्होंने अपना सारा जीवन भारतीय जन-जीवन के उत्थान तथा भारतीयो को अपने वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराने में लगा दिया।

डॉ. गोमेज का जन्म सन् १८२८ मे गोआ मे नेवेलिन नामक एक ग्राम मे एक साधारण परिवार मे हुआ था। बचपन मे साधारण-सा बालक इस प्रकार का व्यक्तित्व बना लेगा तथा अपने कर्तृत्व को इतना प्रखर बनायेगा इसकी किसी ने कल्पना ही नहीं की।

गोआ के मेडीकल स्कूल मे शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने अपना डाक्टरी व्यवसाय आरम्भ किया। शारीरिक पीड़ा से भी गहन मानसिक तथा बौद्धिक जड़ता से पीड़ित देशवासियो को देखकर वे इस डॉक्टरी तक ही सन्तुष्ट नहीं रह सके। उनकी अन्त:प्रेरणा ने उन्हे अपने देशवासियों मे विदेशी दासता से मुक्ति पाने का उद्योग करने, उन्हे अपने स्वरूप का दिग्दर्शन कराने की प्रेरणा दी।

डॉक्टरी का व्यवसाय तो केवल शरीर निर्वाह का साधन-भर रह गया। आत्मा की हूक ने उनके व्यक्तित्व मे प्राण भरे। वे डाक्टर ही नही रहे। मराठी, कोकणी, अँग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रैंच आदि भाषाओ के पण्डित तथा भारतीय संस्कृति के ज्ञाता बने।

गोआ का प्रतिनिधित्व करने के कारण उनकी प्रतिभा तथा मानवतावादी विचारधारा का लोहा विदेशो ने भी माना। रही सही कमी 'ब्राह्मण' उपन्यास के लेखक ने पूरी कर दी। यह उपन्यास सन् १८८६ में पुर्तगाली भाषा मे प्रकाशित हुआ। फिर अँग्रेजी-फ्रेंच मे भी इसका अनुवाद हुआ। इसमे उन्होने भारतीय-संस्कृति का उदात्त रूप बड़ी सफलता से दर्शाया था।

डॉ. गोमेज मे प्रतिभा थी। उस प्रतिभा का उपयोग उन्होने स्वयं के लिए नहीं किया। अपने भाईयों की दुर्दशा देखकर भला विवेकवान पुरुष चुप बैठ भी कैसे सकता है।

वह समय क्रान्ति या आन्दोलन करने का नहीं उसकी पृष्ठभूमि तैयार करने का था। स्वतन्त्रता के प्रयास उत्तर तथा मध्य-भारत में ही आरम्भ हुए थे, दक्षिण अभी इस लहर से अछूता था।

अपने देशवासियों को जो कि अपने को दीन-हीन मानकर हाथ पर हाथ धरे विवश, विकल, निरुपाय बैठे थे जिन्हे अपनी विरासत का ज्ञान ही नहीं था। उन्हें पता नहीं था कि उनके पूर्वज उनके लिए जो सम्पदा रख गये हैं वह सम्पदा ऐसी है जो खर्च करने से बढ़ती है। बाँटने से परिवर्द्धित होती है। जिस न चोर चुरा सकता है न कोई अधिकार ही जमा सकता है। वह है एक महान सस्कृति एक देवता बनने का जीवन-दर्शन, धरा पर स्वर्ग उतारने जैसा चिन्तन-दर्शन।

इस तथ्य, इस सत्य का उद्घोष जब उन्होने पुर्तगाली संसद मे किया तो विदेशियों को अपनी धारणाऐं बदलनी पड़ीं। उन्हे अपने औपनिवेशिक आसन डोलते दिखाई दिये। उन्हीं दिनों इनका एक निबन्ध अर्थशास्त्र, राज-नीति तथा नैतिकता पर फ्रैंच में प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध ने योरोप के अर्थशास्त्रियो को कायल कर दिया। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान माईकेल के लिए वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होने उनका नाम पेरिस के राजनैतिक अर्थशास्त्र-संघ के लिए प्रस्तावित किया।

इन्हे अपने नाम तथा प्रसिद्धि की कोई आकांक्षा नही थी। उनकी आत्मा सदैव विश्व मे सुख-शान्ति लाने के लिए तड़पा-तरसा करती थी। वे विश्व नागरिकता के हिमायती थे। संकुचित सीमित परिधि में बँधकर मनुष्य तालाब के पानी की तरह सड़ने लगता है। यह सड़ांध उन दिनों सारे विश्व मे फैली हुई थी। अपने उपनिवेश बनाने की होड़ चल पड़ी थी। दूसरे का गला काटकर अपना घर भरने जैसी वृत्ति राष्ट्रों ने अपना ली थी। डॉ. गोमेज भारतीय-संस्कृति को विश्व-संस्कृति मानते थे। उनका दृष्टिकोण इतना विकसित होने का कारण इस संस्कृति के प्रति अनुराग तथा इसकी महानता की परख था।

आठ वर्ष तक वे पुर्तगाली-संसद के सदस्य रहे। इस काल मे उन्होने पुर्तगाल के उपनिवेशों की स्थिति मे सुधार करवाने के अपूर्व प्रयास किये। पुर्तगाल सरकार ने इन्हे मन्त्रीपद स्वीकार करने का आग्रह किया। इस आग्रह को उन्होने अस्वीकार कर दिया। मन्त्री पद की जिम्मेदारियों में उलझकर अपने उद्देश्य के प्रति उदासीन होना उन्हें स्वीकार नहीं हो सका। उनके मन में सेवा की भूख थी, पद पाने की लालसा का लेशमात्र अंश भी वहाँ नहीं था। वे अपने पीड़ित देशवासियो की सेवा करना चाहते थे, उन लोगों को वाणी देना चाहते थे जो बोलना भूल गये थे। उन्हे जगाना चाहते थे जो कुम्भकरण की नीद सो गये थे, अपनी शक्ति को भुला चुके थे।

उन्होने भारतीय-संस्कृति को अपनी लेखनी के द्वारा ही उजागर नहीं किया। जीवन में उन्होने ज्ञान और कर्म की गंगा-यमुना का संगम किया था। भारतीय आदर्शों को अपने जीवन में उतारा था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके व्यक्तित्व में ऐसी प्रखरता उत्पन्न हो गई कि जो भी उनके सम्पर्क मे आता वही इनका समर्थक तथा प्रशंसक बन जाता।

इस व्यक्तित्व की बदौलत उन्होने विश्व भर मे भारतीय-संस्कृति तथा आध्यात्मक के समर्थक बनाये—भारतीयस्वतंत्रताआन्दोलन के पक्ष में विदेशों में समर्थक उत्पन्न किये। उन्होने योरोप भ्रमण किया। जहाँ भी ये गये अपने विचारों तथा व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़कर आये। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल इनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। विदेशों मे भारत के विषय में जो भ्रांत धारणा फैली हुई थी उसे मिटाने में यह भ्रमण बहुत सहायक सिद्ध हुआ। लोग यह सोचने को विवश हुए कि भारत विश्व को बहुत कुछ अनुदान दे सकता है। भारतीय समय के फेर में पड़कर पिछड़ भले ही गये हों पर वे किसी से कम नहीं हैं।

१८६८ में ४० वर्ष की अल्पायु मे ही उनका देहावसान हो गया। वे अपना शरीर भारत आकर छोड़ना चाहते थे किन्तु मार्ग में ही उनकी साँसे समाप्त हो गईं।

डॉ. गोमेज के अधूरे स्वप्नों को पूरा करने के लिए ऐसी कई भारतीय-आत्माओं को जागना ही होगा।

अन्ध दम्पत्ति—नेमेथ

अब्राहमनेमेथ उस अमेरिकन अन्धे व्यक्ति का नाम है जिसकी आँखें जन्म के डेढ महीने बाद ही चली गई थीं—फिर भी उसने अपने जीवन के बल पर केवल उच्च शिक्षा ही प्राप्त नही की वरन् अन्धो के लिए एक ऐसी प्रणाली का भी आविष्कार किया, जिसके सहारे आज संसार के अगणित नेत्रविहीनों के लिए गणित जैसे कठिन विषय की शिक्षा प्राप्त कर सकना सम्भव हुआ है।

नेमेथ का पालन-पोषण उनके पितामह ने बड़ी कठिन आर्थिक परिस्थितियों में किया। बड़े होने पर इतना ही उन्होने किया कि अन्धों के स्कूल में उनके पढ़ने की भी व्यवस्था कर दी। उस समय नेत्रविहीनों की शिक्षा के लिए 'ब्रेल पद्धति' का आविष्कार हो चुका था और उस प्रकार की कुछ पुस्तकें भी छप चुकी थीं कागज में छेद करके सांकेतिक भाषा में अक्षर उकारे जाते थे और अन्धे छात्र उन्हें छूकर शिक्षा प्राप्त करने लगे थे। पर वह पद्धति उस समय बहुत ही अविकसित थी। गणित की उच्च शिक्षा के लिए उसमें संकेतो की कोई व्यवस्था न थी।

नेमेथ मनोयोगपूर्वक पढ़ने लगे तो उनकी प्रतिभा भी निखरी। गणित मे अभिरुचि अधिक थी। ये गणित में एम.ए. करना चाहते थे, पर उस समय उसके लिए कोई व्यवस्था न थी। मन मार कर उनने मनोविज्ञान मे एम.ए.

किया। इतनी शिक्षा तो प्राप्त कर ली पर उसका उपयोग कुछ न था। वे गुजारे के लिए कुछ काम प्राप्त करना चाहते थे पर अन्धे को भला कहीं क्या काम मिलता। अन्त में उन्होंने तकियों के खोल सीना आरम्भ कर दिया और अपनी गुजर करने लगे।

उन्हीं दिनों फ्लोरेस नामक युवती को किसी रोग से नेत्र-ज्योति खो देनी पड़ी। इस अन्धी लड़की को आश्रय की खोज थी। एक दूसरे का परिचय हुआ तो इन अन्धी-अन्धों ने परस्पर विवाह कर लिया और घर बसा कर रहने लगे। एक अन्धे को दूसरा आँख वाला साथी मिले तो उससे कुछ सहारे की भी आशा हो सकती है, जब दोनों ही अन्धे हो तो समस्या और भी अधिक उलझती है। प्रत्येक को अपनी ही नहीं अपने अन्धे साथी की भी चिन्ता करनी पड़ती है। जो हो, फ्लोरेस बड़ी मनस्वी थी, उसने अपने पति का साहस बढ़ाया और अधिक पुरुषार्थ करके, अधिक अच्छा जीवन बिताने के लिए उत्कण्ठा जाग्रत कर दी। नेमेथ आरम्भ से ही बड़े अध्यवसायी और परिश्रमी थे, पर फ्लोरेस ने तो उनके साहस को और भी दूना कर दिया। वे गणित मे उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। अन्धी पत्नी ने कहा—हम लोगो की सिर्फ आँखे ही तो नहीं हैं, जो संकल्प शक्ति हमे मिली है वह इतनी समर्थ है कि उसके बलबूते पर भी आकांक्षा की पूर्ति हो सकती है।

नेमेथ ने अन्ध-शिक्षा-प्रणाली पर नई शोध आरम्भ कर दी और ऐसा उपाय खोजा जिससे नेत्रहीनो के लिए गणित पढ़ सकना भी सम्भव हो सके। इसके लिए अँग्रेजी-भाषा के ज्ञान से काम नहीं चल सकता था, अतएव उन्होंने फ्रेंच, हिब्रू, ग्रीक, लेटिन आदि कई भाषाएँ पढ़ीं और अपने खोज कार्य को तेजी से चलाया। इसी बीच एक और सौभाग्य मिला कि अन्धी फ्लोरेन्स की एक आँख मे थोड़ी रोशनी लौट आई और वह इस लायक बन गई कि पति के बोले हुए शब्दो को लिख सके या किसी कागज को पढ़ कर उन्हें सुना सके। अब तो उनका मार्ग और भी प्रशस्त हो गया। उनके प्रयत्न और पुरुषार्थ की चर्चा चारो ओर हुई तो उदार व्यक्तियो की सहानुभूति भी उमड़ी। कालेज मे गणित के शिक्षक छुट्टी पर गये तब अस्थायी रूप से नेमेथ को वह कार्य मिल गया। वे नौकरी से बचे हुए घण्टो मे उसी विद्यालय मे छात्र रूप मे अध्ययन भी करते। परिवार का खर्च पूरा न कर पाते तो नर्तक मण्डली के साथ पियानो बजाने का काम करते और कुछ उससे भी कमा लेते थे। इस प्रकार कठिनाइयो से निरन्तर संघर्ष करते हुए उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एम. ए. की उपाधि प्राप्त कर ली।

जीडज ब्रेल ऑफ अमेरिका ने हिब्रू भाषा-भाषी नेत्रहीनो के लिए बाइबिल छापने का निश्चय किया तो वह कार्य नेमेथ के जिम्मे आया। उन्होंने बड़ी तत्परता से उस कार्य को पूरा किया।

अन्धो की शिक्षा के लिए किये जाने वाले सरकारी प्रयत्नों में वे रुचिपूर्वक भाग लेते और समय निकाल कर उन संस्थाओं को अपनी सेवा-सहायता अर्पित करते जो अन्धो की शिक्षा के लिए कुछ काम कर रही होतीं थी। उनकी धर्मपत्नी उन कार्यों मे उन्हे सदैव प्रोत्साहित करती थी। अन्धे होने का दु:ख उन्होंने न कभी माना वरन् अपने भाग्य को यह कहकर सराहा कि वे नेत्रहीनों की सहायता के लिए इसी कारण कुछ अधिक प्रयत्न कर सके, जो नेत्रयुक्त होने पर शायद उनके लिए सम्भव न होता।

अपना शोध-कार्य उन्होंने और भी अधिक उत्साह के साथ जारी रखा और उन्होंने पुरानी प्रचलित अन्ध-शिक्षा पद्धति 'ब्रेल कोड' मे एक क्रांतिकारी परिवर्तन किया जो 'ब्रेल साइड रूम' के नाम से पुकारा जाने लगा। वे इतने से ही सन्तुष्ट न हुए, वरन् एक और पद्धति का आविष्कार किया जो पूर्व प्रचलन की अपेक्षा अधिक सरल ही नहीं है, वरन् उसमे गणित जैसे कठिन विषय को पढ़ाये जाने की भी पूरी सुविधा है। इस पद्धति के गुण, दोषों पर विचार करने के लिए अमेरिकन शिक्षा-विभाग की 'ज्वायन्ट युनिफर्म ब्रेल कमेटी' के विशेषज्ञों ने पूरी तरह जाँच-पड़ताल की और जब उसे उपयुक्त पाया तो एक वर्ष बाद राष्ट्रीय-सम्मेलन में उसे सरकारी मान्यता प्रदान कर दी गई।

ओछी मनोभूमि के लोग राई-रत्ती अभाव और असुविधाओं का बहाना लेकर अपने दुर्भाग्य का रोना रोने लगते हैं और गया-गुजरा जीवन जीने की परिस्थितियो को ईश्वरीय-कोप, भाग्य-दोष बता कर अपनी निर्दोषता सिद्ध करते हैं। अपने को दीन-हीन सोचकर दूसरो से सहायता की याचना करते हैं और ऐसा मान बैठते हैं कि हम इन परिस्थितियों मे कर ही क्या सकते है? ऐसे निराशावादी हीन-वृत्ति के लोगो को नेमेथ दम्पत्ति एक चुनौती के रूप मे सामने खड़े होते हैं। वे कहते हैं—कोई अभाव ऐसा नही जो मनुष्य की संकल्प-शक्ति को प्रस्फुटित होने से रोक सके। मनस्वी व्यक्ति हर कठिनाई को परास्त कर सकते हैं और हर अभाव से समर्थ करते हुए आगे बढ़ने का रास्ता निकाल ही सकते है जैसा कि उन्होंने स्वय भी किया है।

तिब्बती-भाषा के मूर्धन्य विद्वान्—
श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस

कलकत्ता मे एशियाटिकसोसायटी के भवन-प्रांगण मे पहुँचने पर वहाँ स्थापित एक मानव-मूर्ति के दर्शन होते हैं। किन्तु यह मूर्ति किसी भारतीय महापुरुष की नहीं है। यह मूर्ति है एक हंगेरियन महापुरुष की जिन्होंने भारतीय-ज्ञानकोष की वृद्धि करने मे अपना सारा जीवन लगा दिया और उस सेवा में अपार कष्ट और कठिनाइयाँ भी उठाईं।

इन मूर्तिमान महा-मानव का जन्म हंगरी के एक छोटे से गाँव में ४ अप्रैल, १७८४ को हुआ था। भारत की एशियाटिकसोसायटी में इस प्रकार का सम्मान पा लेना एक बड़े श्रेय का काम है। यह सोसायटी भारत तथा अन्य प्राच्य-देशों की भाषाओं, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति तथा उनके

मूलों के साथ एक दूसरे से उनके सम्बन्ध के विषय में खोज कार्य करती है। अब तक इसने न जाने कितने प्राचीन-ग्रन्थों, पाण्डुलिपियो, शिला-लेखों, ताम्र तथा ताड़-पत्रो पर लिखी ऐतिहासिक एवम् साहित्यिक सामग्री की खोज की है। न जाने कितनी प्राचीन तथा विलुप्त भाषाओं तथा संस्कृतियों के संबंध में संसार को प्रामाणिक-ज्ञान दान दिया है। एशियाटिकसोसायटी महानतम विद्वानो तथा अन्वेषको की एक महान् सोसायटी और जिसका कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा समाजोपयोगी है। ऐसी सोसायटी मे एक सम्मानपूर्ण स्थान पा लेना किसी बड़े त्याग तथा पुरुषार्थ के बल पर ही सम्भव है। श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि-कोरोस ने उस त्याग तथा पुरुषार्थ का प्रमाण दिया और सोसायटी मे एक आदरपूर्ण स्थान पाया।

श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस हंगरी के एक छोटे से गाँव में पैदा हुए, वैसे ही जैसे संसार के सारे लोग पैदा होते रहे हैं। किन्तु श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस ही इस महत्ता को क्यों पहुँचे और संसार के वे करोड़ो लोग क्यो नहीं, जो उसी दिन उन्हीं जैसी परिस्थितियो मे विभिन्न स्थानो मे पैदा हुए होगे ? यह प्रश्न किसी रहस्य का संसूचक नहीं है। इसका एक यही उत्तर है कि श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस ने अपना जीवन अपने लिये न रखकर मानव-समाज की सेवा मे दे दिया। उन्होने एक सदुद्देश्य पूर्ण जीवन जीने की इच्छा की। उसके लिये जीवन की सुख-सुविधाओ का लोभ त्याग कर और कष्ट व कठिनाइयाँ उठाकर योग्यता प्राप्त की, जबकि उनके साथ जन्मे ससार के लाखों-करोड़ों की जीवन के प्रति केवल भोग-विलास और मौज-मनोरंजन की दृष्टि रही होगी। वे अपने लिये ही कुछ करते, जीते और मरते रहे हैं। अपने स्वार्थ और अपनी सुख-साधना के अतिरिक्त उन्होने समाज के लिये न कुछ किया और न कुछ करना चाहा। व्यक्ति तथा समिष्ट के इसी अंतर ने जहाँ एक को संसार का महान् मनुष्य बना दिया, उसको आदर तथा कीर्ति के रूप में अमर कर दिया, वहाँ दूसरे करोड़ो लोगो को एक ऐसी जिन्दगी व मौत दी कि उनको न तो जीवन मे कोई महत्व मिल सका और न मरने के बाद उनको कोई याद रख सका। कीड़े-मकोड़े से थोड़ी भिन्न जिंदगी जी कर और मरकर अनागत के साथ विगत के गहन अंधकार में विलीन हो गये। जिनके पास जिंदगी की कोई परिभाषा और मौत का कोई अर्थ है, वे विवेकवान् मनुष्य समाज के लिये जीने और समाज के लिये मरने का महत्व जानते हैं। अपने इसी सद्ज्ञान के प्रकाश में, सेवाओ मे प्रवृत्त होकर श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस की तरह ही नश्वर शरीरी होकर भी अविनश्वर श्रेय के अधिकारी बनने और संसार के लिये अनुकरणीय उदाहरण छोड़ जाते हैं।

श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस की प्रारम्भिक-शिक्षा गाँव की पाठशाला मे ही पूरी हुई। उनके घर मे ऐसे साधन नहीं थे, कि शिक्षा के लिये शहर के किसी बड़े तथा अच्छे स्कूल मे भेजे जाते। किंतु अलेक्जेण्डर ने गाँव की छोटी-सी पाठशाला से भी वह सब लाभ उठा लिया जो किसी को बहुत कुछ खर्च करने पर किसी उन्नत स्कूल मे मिल पाता है। ध्येयशील मस्तिष्क मरु में भी मार्ग निकाल लिया करते हैं। पाठशाला के छोटे या बड़े होने अथवा साधन-असाधनवती होने की ओर ध्यान न देकर जो विद्यार्थी अपने पाठ तथा परिश्रम की ओर ही एकाग्र रहा करते हैं, वे अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस की तरह शीघ्र ही समुचित योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

पढ़ाई में परिश्रम तथा गतिशीलता देखकर उसके पिता ने निश्चय कर लिया कि वे हजार कष्ट उठायेंगे लेकिन बच्चे को आगे पढ़ने के लिए बड़े स्कूल में अवश्य भेजेंगे। उन्होंने वैसा ही किया और अलेक्जन्डर को नागी एनीड के कालिज में प्रवेश का अवसर मिल गया। जिसने गाँव की छोटी-सी पाठशाला में ही बहुत परिश्रम कर लिया, वह भला कालिज जैसा विद्या का बड़ा क्षेत्र पाकर प्रमाद कैसे कर सकता था। अब तो वह सयाना भी हो गया था और अपनी जिम्मेदारियो के प्रति जागरूक भी। वह इस बात के प्रति कभी भी असावधान अथवा अकृतज्ञ नहीं हुआ, कि उसके पिता अभावों तथा आवश्यकताओ की कठिनाई उठाकर उसके लिये शिक्षा के साधन जुटा रहे है और उससे उसकी सार्थकता के लिये बड़ी आशा और अपेक्षा करते है।

अलेक्जेन्डर ने पूरा तन-मन लगा कर पढ़ा। जिसका परिणाम केवल यही नहीं हुआ कि उसने कालिज की सारी कक्षाएँ ऊँची श्रेणी मे पास कर लीं, प्रत्युत् अनेक छात्रवृत्तियाँ भी पाईं, जिससे विश्वविद्यालय मे प्रवेश का द्वार भी खुल गया और वह उन वृत्तियो के आधार पर गाटिन्शेन विश्वविद्यालय के और भी बड़े शिक्षा-क्षेत्र में पहुँच गया। वही लगन, वही परिश्रम और वही अध्ययनशीलता। अलेक्जेन्डर का विद्यार्थी-जीवन एक बड़े विद्वान् के रूप मे बदल गया। जिनके विषय थे भाषा, इतिहास और भूगोल।

शिक्षा मे पूर्णता प्राप्त कर, श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस ने अपने जीवन का उद्देश्य स्थिर किया। वह था, हंगरी राष्ट्र के मूल की खोज करना। उनका विश्वास था कि वह मूल एशिया मे ही कहीं होना चाहिए। निदान वे १८१९ मे अपनी यात्रा पर निकल चले। किंतु उनकी यात्रा की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपने इस यात्रा अभियान पर पैदल ही चले।

सबसे पहले वे योरोप की पद यात्रा पर इसलिये चले कि इस योरोप-भ्रमण मे वे और जितना ज्ञान-संचय कर सके कर लें। संसार में ज्ञान के कोष भरे पड़े हैं, किंतु उनका लाभ तथा आनंद अलेक्जेन्डर जैसे ध्येयधारी पुरुष ही पा पाते हैं। योरोप के विभिन्न देशों मे श्री अलेक्जेण्डर वहाँ के विद्वानों तथा इतिहास एवं भूगोल के ज्ञाताओं से मिले और उनके सम्पर्क का पूरा-पूरा लाभ उठाया। इस प्रकार ज्ञान के कोश में अभिवृद्धि कर, श्री अलेक्जेन्डर मिस्र तथा एशिया के विभिन्न देशों में घूमे और यहाँ भी ज्ञान, लाभ तथा अपने उद्देश्य की खोज की। अनन्तर वे अफगानिस्तान की राजधानी

होते हुए भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेशों में वर्षों तक घूमते तथा खोज करते रहे। उसके बाद लद्दाख की राजधानी लेह मे आये और वहाँ के साहित्य, इतिहास तथा भूगोल का गहन अध्ययन किया। इस अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि वे यारकंद के मार्ग से चीन की सीमा पर जाकर हंगरी राष्ट्र का मूल खोजें तो शायद अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त कर लें। इस पदात परिभ्रमण में यह कल्पना उनकी खुशी तथा उत्साह बढ़ा देती थी कि यदि एशिया में वे अपने राष्ट्र का मूल खोज सके तो निश्चय ही एशिया और हंगरी के सांस्कृतिक सम्बन्धो में वृद्धि कर सकेंगे और उनके राष्ट्र की प्राचीनता तथा व्यापकता प्रमाणित हो जायेगी, उनकी यह सेवा-राष्ट्र की एक बड़ी सेवा होगी।

यारकन्द के रास्ते चीन की सीमा पर जाने के लिये जब उन्होंने नक्शों तथा यात्रा वर्णनों का अध्ययन करने के साथ-साथ ऋतु, जलवायु तथा भूगोल का अध्ययन किया तो उन्हे ज्ञात हुआ कि दुर्गमता तथा आशंकाओ के कारण वे अपनी इस यात्रा मे सफल नहीं हो सकते। इस मार्ग को पार कर सकना मानव-शक्ति के वश की बात नहीं है। उन्होंने दुराग्रहपूर्वक असम्भव की ओर पदार्पण कर अपने उस जीवन को अनुपयोगी खतरे में डालना उचित न समझा जिसको सही मार्ग पर चला कर और अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। निदान वे चीन की सीमा की ओर न जाकर लाहौर की ओर चल पड़े। तभी उनका परिचय एक प्रसिद्ध विद्वान् श्री मूरक्रैफट के साथ हो गया, जिनकी राय पर वे उन्हीं के साथ इतिहास-अध्ययन करने मे लग गये। यहाँ उनको श्री तिरबतेबक नाम के एक महान् तिब्बती विद्वान् से तिब्बती भाषा का 'अन्कावटम तिब्बतेवम' नाम का एक बहुत ही प्राचीन तथा बड़ा ग्रन्थ मिला। उन्होंने अनुमान लगाया कि यदि इस ग्रंथ का ठीक से अध्ययन किया जा सके तो बहुत ही सम्भव है कि उन्हें इस में हंगेरियन-राष्ट्र के मूल का कोई पता अथवा सूत्र मिल जाए, निदान उन्होंने तिब्बती-भाषा सीखने की आवश्यकता अनुभव की और उसमे संलग्न हो गये।

अलेक्जेन्डर ने जल्दी ही एक विद्वान को खोज निकाला, जो उन्हे उन भाषा के माध्यम से तिब्बती-भाषा सिखा सके, जिसे वे स्वयं जानते हो। उस विद्वान ने श्री अलेक्जेन्डर को फारसी के माध्यम से तिब्बती-भाषा पढ़ना शुरू किया।

श्री अलेक्जेन्डर की विद्यार्थी वृत्ति पुनः जाग उठी और वे पूर्ववत पुन: उसी तन:मन से अध्ययन में लग गये। उनके अखण्ड अध्यवसाय के परिणाम-स्वरूप वे एक वर्ष में ही तिब्बती-भाषा के एक अच्छे जानकार बन गये। उनके बाद तो वे स्वयम् ही अध्ययन के द्वारा अपनी योग्यता में वृद्धि करने लगे।

श्री अलेक्जेन्डर तिब्बती-भाषा का और अधिक साहित्य खोजने के लिये लगभग सात-आठ साल तक उसके यागला, पुकउल और कानुभ नामक मठों तथा देश के विभिन्न पुस्तकालयों और संग्रहालयों को मथते रहे। गुणवान व्यक्ति और समाज के लिये किये गये सेवा-कार्य छिपते नहीं। एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे के पास होती हुई यह सूचना भारत सरकार के पास पहुँची कि हंगरी के एक अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस नामक विद्वान् संसार के एक बड़े भाग की पैदल यात्रा करते हुए तिब्बत में आये है और लगभग दस वर्षों से तिब्बती भाषा के साहित्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य भी कर रहे है।

सरकार ने तत्काल उनसे सम्पर्क स्थापित किया और पाया कि आर्थिक कठिनाई के कारण श्री अलेक्जेन्डर उतना बहुत नहीं कर पा रहे है, जितना कि वे कर सकते है और करना चाहते है। उसने तत्काल ही १०० रुपये मासिक की वृत्ति उनके लिये बाँध दी और शोध कार्य को आगे बढ़ाने का अनुरोध किया। श्री अलेक्जेन्डर कुछ समय तो वह वृत्ति लेते रहे, किन्तु फिर उस आभार से मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक अपने काम मे लग गये। श्री अलेक्जेन्डर ने जल्दी ही तिब्बती-भाषा का एक प्रामाणिक व्याकरण, शब्द-कोष और एक व्यावहारिक-शब्दावली तैयार करके प्रकाशनार्थ सरकार को दी। जिस प्रकाशन से संसार के विद्वानों का ध्यान उनकी ओर गया और एशियाटिक-सोसायटी ने उन्हे वैतनिक सदस्य बनाना चाहा। श्रीअलेक्जेन्डर सदस्य बने, किन्तु उन्होंने कोई वेतन स्वीकार न किया और अवैतनिक रूप से काम करते हुए उक्त सोसायटी को अपनी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक खोजें तथा लिटर्जी एवम् साक नामक ग्रंथ का अनुवाद भेंट किया। उनकी यह सेवा इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि एशियाटिक-सोसायटी ने उन्हे अपना पुस्तकालयाध्यक्ष का पद दिया, जिस पर वे बहुत समय तक योग्यतापूर्वक काम करते रहे।

तिब्बतियन-भाषा तथा साहित्य का महत्वपूर्ण काम समाप्त कर श्री अलेक्जेन्डर ने पुनः तिब्बत जाकर साहित्य तथा अपने मूल मन्तव्य की खोज का विचार बनाया। किंतु इस दूसरी यात्रा पर चलने के कुछ महीनों बाद ही अप्रैल १८४२ मे दार्जिलिंग में उनकी मृत्यु हो गई। श्री अलेक्जेन्डर जोमा डि कोरोस आज संसार में नहीं है किन्तु उनके काम तथा सेवाओ के मूल्यांकन रूप एशियाटिक सोसायटी ने उन्हे, उनकी मूर्ति स्थापित कर जो सम्मान दिया है वह ससार को उनकी याद कराता रहेगा।

नाद-ब्रह्म के अनन्य उपासक—शेषण्णा

शिव-रात्रि का पावन-पर्व। मैसूर राजवंश की परंपरा के अनुसार तत्कालीन नरेश कृष्णराज (तृतीय) ओडेयर ने संगीत-सम्मेलन का आयोजन किया। आज के दिन सम्पूर्ण-रात्रि भर जागरण करना राजपरिवार की अपनी परम्परा थी।

एक संगीतज्ञ महोदय द्वारा मैसूर में प्रचलित सगीत 'पलवी' गाया गया, जिसे श्रोता दोहराने में असफल रहे।

गायन भी कुछ जमा नहीं । कुछ देर के लिये सभा में निस्तब्धता छा गई । राजसभा अपमानित-सी हुई । महाराज को यह सहन नहीं हुआ, उन्होंने राजसभा के सुविख्यात संगीतज्ञ चिकरामप्पा को सम्बोधित करते हुए व्यंग्यबाण फेंका—

"क्या हमारे संगीतज्ञो को कंगन सिन्दूर बाँटा जाये ?"

महाराज की यह व्यंग्योक्ति सुनकर संगीतज्ञ का स्वाभिमान फुँफकार उठा । उन्होंने धीर गम्भीर स्वर में उनकी चुनौती स्वीकार करते हुए कहा—"महाराज इस गाने के लिये बड़ों की क्या आवश्यकता मेरा सात वर्ष का शेषण्णा इसे गायेगा ।"

संगीत की स्वर-लहरियो को संपादित वातावरण में उठाने वाले इस पुण्य पादप को उसके कलाकार पिता ने अपने हाथों तीन वर्ष की आयु मे ही दीक्षित कर दिया था । बालक शेषण्णा गाने लगा । सधा हुआ कण्ठ स्वर, मुग्ध कर देने वाली रसयुक्त स्वर-लहरी वातावरण में तैरने लगी । सभी श्रोता चकित से इस बाल कलाकार की कला-साधना पर चकित हो उठे । एक समा बँध गया । संगीत की समाप्ति पर महाराज अपने आसन से उठे और बालक को अपनी भुजाओ मे उठा लिया । उसे सिंहासन पर अपनी गोद मे बिठाकर मूल्यवान शाल के उपहार के साथ-साथ शुभाशीष दी—"हमारी सभा के गौरव की रक्षा करने वाला यह बालक अपने जीवन में यशस्वी संगीतज्ञ बने ।"

कृष्णराज ओडेयार की यह शुभ-कामना साकार होकर रही । यह बालक आगे चलकर विश्व विख्यात पाश्चात्य संगीत-सम्राट वीथोवियन तथा मोबार्ट की सानी का संगीतज्ञ बना । संगीत की चमत्कारी शक्ति के बारे में जो बातें प्रचलित हैं कि संगीत की स्वर लहरियों में हिरन अपनी सुध-बुध खो बैठता है, मनुष्य अपने आंतरिक विकारों को भूल जाता है, दीपक राग गाने से बुझे दीपक जल उठते हैं, मेघ मल्हार गाने पर शारीरिक ताप मिट जाता है, ऐसे ही चमत्कार की शक्ति उनके संगीत में उत्पन्न हुई । उनका संगीत सप्राण हो उठा ।

ऐसा ही एक चमत्कार दिसम्बर १९२४ के बेलगाम मे हुए अखिल भारतीय-कॉंग्रेस के अधिवेशन में श्रोताओं को देखने को मिला । महात्मा गाँधी तथा देश के सभी गणमान्य नेता उस अवसर पर उपस्थित थे । कर्नाटक प्रदेश अपने संगीत के लिये भारत मे ही नहीं विदेशो में भी विख्यात है । अतः एक कार्यक्रम कर्नाटक-संगीत का भी रखा गया था ।

अधिवेशन के अंतिम दिन संगीत-कार्यक्रम रखा गया था । इस दिन सोमवार था—पूज्य बापू के मौन का दिन । कुल डेढ घंटे का संगीत का कार्यक्रम था और अंत में तीस मिनट का महान-संगीतज्ञ शेषण्णा का वीणा वादन ।

वीणा पर शेषण्णा की उंगलियाँ नृत्य कर रही थीं और उनसे फूट रही थीं अलौकिक स्वर लहरियाँ । इस स्वरसागर में श्रोता मंत्रमुग्ध हो डूब उतर रहे थे । बीन की रागिनी पर लहराते हुए नाग की सी स्थिति में सब समय और स्थिति से अनभिज्ञ एक दूसरे ही लोक में विचर रहे थे । कलाकार तो अपनी कला के साथ अभिन्न हो चला था । उसकी तन्मयता का कोई छोर नहीं था ।

आधा घंटा बीत गया । समय खिंच कर एक घंटे तक पहुँच गया इसकी सुध न संगीतकार को थी न अमृत-पान करते श्रोताओ को उसका भान था । एक श्रोता का ध्यान अपनी घड़ी पर गया तो उसे समय का ध्यान आया । उसने पर्ची पर समय बीत जाने की सूचना महात्मा जी के पास पहुँचाई । किन्तु वे इस आनन्द से विरत होना नहीं चाहते थे उन्होंने उत्तर लिखा—"कोई चिंता नहीं ।"

शेषण्णा सचमुच मे संगीत-साधक थे । नाद को 'ब्रह्म' की संज्ञा मिली हुई है । सचमुच उन्होंने इसे ब्रह्म की उपासना समझकर ही पूरी निष्ठा, श्रम और आन्तरिक पवित्रता के साथ साधना की थी । उसी का परिणाम था कि वे संगीत की उन ऊँचाइयो तक पहुँच सके थे ।

कार्तिक-कृष्ण-पंचमी सम्वत १९५२ के दिन जन्मे इस संगीतज्ञ को संगीत की प्रतिभा अपनी पैतृक-सम्पदा के रूप में मिली थी । एक तो पारिवारिक वातावरण व संस्कार का प्रभाव था और उससे भी अधिक कारण थी उनकी साधना और निष्ठा । तीन वर्ष की आयु मे ही उनके पिता ने उन्हे सरस्वती की आराधना में लगा दिया था—स्वयं अपने हाथो से उन्हे दीक्षित किया था ।

२५ वर्ष की आयु में उन्होंने भारतभर मे भ्रमण करके संगीत का प्रचार किया । जहाँ भी वे गये सामान्य जन से लेकर राजामहाराजा तक उनसे प्रभावित हुए । मान, सम्मान, धन-दौलत, उपहार सब उन पर न्योछावर हुए किंतु इन सबको उन्होंने निर्लिप्त भाव से ग्रहण किया । अपनी सम्पदा को उन्होंने ब्रह्म की सम्पदा समझकर विद्वानो, समाजसुधारको व छात्रो की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मुक्त हस्त बाँट दिया । ऐसे निष्कामभाव को धारण करके ही उन्होंने वीणापाणि का वरदहस्त अपने मस्तक पर धराया था ।

चौदह वाद्य यन्त्रो पर उनका अधिकार था । सब में वे निष्णात थे, फिर भी वीणावादन में उन्हे कमाल हासिल था । देश भर के राजा-महाराजाओ से लेकर जार्जपंचम तक और सामान्य जनता से लेकर तिलक, नेहरू, गाँधीजी, महामना मालवीय, सरोजिनी नायडू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक उनके वीणावादन पर मुग्ध हुए थे । उनकी ख्याति देश-देशांतरो में भी फैली थी । लन्दन, पेरिस, बर्लिन आदि नगरों के कलासंस्थानो से उनके पास आमन्त्रण आये थे किन्तु वे जा नही सके ।

इतनी ख्याति पाकर भी वे नितांत निरभिमानी रहे—स्वयं को संगीत का एक विद्यार्थी भर मानते रहे । उनके संगीत की चमत्कारी शक्ति मे उनकी भीतर बाहर की निर्मलता तथा आचरणो की पवित्रता का बहुत बड़ा हाथ रहा था ।

संगीत को उन्होंने ईश्वर की उपासना का सा निर्मल और मानवीय अन्त.करण को देवत्व की ओर अग्रसर कराने के मार्ग से नीचे का कभी सोचा भी नहीं ।

७४ वर्ष की अखण्ड-संगीत-साधना करके सम्वत् २०२६ की आषाढ़-पूर्णिमा के दिन उनकी स्वर-लहरी विराट नाद मे विलीन हो गयी । संगीत की उच्चता और पवित्रता को आज वासना और कामुकता के पंक से कलुषित कर उसकी शक्ति का दुरुपयोग करने के पाप से बचने के लिये आज के तथाकथित संगीतकार उनके जीवन से कुछ प्रेरणा ले तो वे संगीत व संगीतकार दोनों की गरिमा की रक्षा कर सकते है ।

जिन्होंने भारतीय चित्रकला को आत्मावमूल्यन से बचाया— कलागुरु अवनीन्द्र

"जब मै यह सोचता हूँ कि बंगाल मे सर्वाधिक सम्मान किसे मिलना चाहिए, तो सबसे पहला नाम अवनीन्द्र का ही याद आता । उसने देश को आत्मावमूल्यन से बचाया है । अवहेलना की गहराइयो से उठा कर उसने स्वदेश को अपनी वास्तविक पदवी का अधिकारी बनाया है । कला-चेतना के नये युग का सूत्रपात उसी के प्रयत्नो द्वारा हुआ है ।" विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की गई प्रशंसा एक काका की भतीजे के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति नही वरन् उनका सच्चा मूल्यांकन है ।

भारत जब वैदेशिक राजनैतिक प्रभुत्व की सास्कृतिक दासता मे भी जकड़ता जा रहा था उन्ही दिनो अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी कला-साधना द्वारा उस दासत्व को उतार फेकने व पराये के मोह को त्याग अपने गौरवाभिव्यक्ति का पथ प्रशस्त किया ।

कला के इस अमरउपासक का जन्म जोड़ासा के प्रिंस द्वारिकानाथठाकुर के परिवार मे सन् १८७१ मे हुआ । यह परिवार पौर्वात्य और पाश्चात्य-सस्कृति के समन्वय का समर्थक था और ब्रह्म-समाज का प्रवर्तक और नयी संस्कृति का अग्रदूत भी । पुनर्जागरण का यह क्रम राजाराममोहनराय द्वारा अवनीन्द्र के जन्म के सौ वर्ष पहले ही चलाया जा चुका था ।

चित्रकला की तरफ इनका झुकाव बचपन से ही था । आठवर्ष की आयु मे ही उनकी कला-साधना चल पड़ी । पेड़, पोखर, बादल, ताल आदि आसपास के दृश्य ही उनकी चित्रकला के विषय रहते थे । फिर भी यह बच्चे की कला मात्र नहीं थी । उसमे उनकी भावी प्रगति के सूत्र-संकेत छिपे हुए थे ।

बचपन मे स्कूल भेजा गया तो एक दिन दुराग्रही अध्यापक महोदय को 'पुडिंग' का सही उच्चारण बताने के कारण पीटे गये । स्वाभिमानी अवनीन्द्र अपनी इस अकारण प्रताड़ना पर कुछ ऐसे रूठे कि उन अध्यापक महोदय से फिर पढ़ना उन्हे नहीं रुचा । फिर पिता ने घर पर ही उनके पढ़ने-लिखने की व्यवस्था कर दी ।

पिता की छत्र-छाया भी उन्हे अधिक दिनों तक नहीं मिल सकी । पन्द्रहवर्ष के अवनीन्द्र को छोड़कर वे सदा के लिए चल बसे । विधाता का कुछ विधान ही ऐसा था कि वह अवनीन्द्र को अपने आप आगे बढ़ाना चाहता था, पर पराश्रय से नहीं । पिता और पितामह दोनों चित्रांकनप्रतिभा से भरेपूरे थे किन्तु अवनीन्द्र को कलकत्ता के अन्य चित्रकला-शिक्षको से सीखना पड़ा । उनका प्रारम्भिक चित्रकलाशिक्षण संस्कृतकालेज कलकत्ता के चित्रकला मर्मज्ञो व दो योरोपियन चित्रकारो द्वारा संपन्न हुआ ।

अवनीन्द्र को अँग्रेज और अँग्रेजियत के नाम से ही कुछ ऐसी वितृष्णा थी कि वे भारत और भारतीयता से ही चित्रकला को अनुप्राणित करना चाहते थे । किन्तु उनकी इस बात को मानने के लिए कोई तैयार नहीं था, चित्रकला के क्षेत्र मे आज जो कुछ चल रहा है वह पश्चिम की अनुकृति मात्र है । वह मात्र कलेवर है उसमे प्राण नहीं है । लखनऊ, कटक, दिल्ली, कलकत्ता, कांगड़ा, मुगल, राजपूत आदि कई प्रचलित भारतीय शैलियाँ निष्प्राण होती जा रही है । अन्त मे हावेल के रूप मे उन्हे अपना समर्थ गुरु मिल गया । हावेल इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार करते थे कि आज चित्रकला के नाम पर जो कुछ सराहा जा रहा है वह पश्चिम की तृतीयश्रेणी की नकल मात्र है । अवनीन्द्र ने अपनी कला-साधना द्वारा इसका भारतीयकरण किया है जो अँग्रेजी, इतालवी और जापानी शिक्षा को सहेजते हुए भी अपनी आत्मा को अक्षुण्ण रख सके ।

इतना करते हुए भी वे दुराग्रही नहीं हुए थे, उन्होंने भारतीय-चित्रकला की परंपरा मे अपना वैशिष्ट्य ही दिया था उसे उन्होंने रूढ़ि नही बनाया था । अपनी नयी कला से वे देश-विदेश मे इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि १९४२ में 'विश्व-भारती' पत्रिका के अवनीन्द्र-विशेषांक मे मार्क्विस ऑफ जेटलेण्ड ने लिखा—"अवनीन्द्र की चित्रकलाप्रतिभा की प्रशंसा योरोप और अमेरिका मे भूरि-भूरि की जा रही है । इसका कारण है उनका एक ऐसे अधिष्ठाता होना जो कला के क्षेत्र मे अनुकरण का विरोधी है, जिसमे स्वदेशी प्रतिभा का सर्वोत्तम उत्कर्ष की उत्कृष्ट कामना है ।"

लारेन्स विनयान से स्वीकारा—भारतीय-चित्रकला के उत्कर्ष का पुनर्जागरण अवनीन्द्र तथा उनकी शिष्य-मडली के चित्रो द्वारा हुआ, इसमे कोई सन्देह नहीं । गुरुदेव के विदेशो मे विख्यात होने से पहले ही उनका यह यशस्वी भतीजा विदेशी कला-प्रेमियो की प्रशसा का पात्र बन चुका था । सरविलियमरोथेन्स्टाइन, निकोलस रोरिक जैसे चित्रकारो ने उनके चित्रो की मौलिकता, सुकुमारता, काव्यात्मकता और सवेगात्मक अनुभूतियो के कारण मुक्त कण्ठ से सराहना की । स्वय रोरिक ने हिमालय के जो चित्र बनाये है वे प्रयाग सग्रहालय की अनमोल सम्पदा माने जाते हैं ।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ने अवनीन्द्र के आग्रह पर ही गीतांजलि का अँग्रेजी मे अनुवाद कराया था। उन्हीं के प्रयासों द्वारा विश्व-कवि को अँग्रेजी के विख्यात कवि मेट्स का सहयोग मिला था। उस अनुवाद पर ही रवीन्द्रनाथ को नोबुल पुरस्कार मिला।

वे कलाकार के विकास के स्वयं पक्षपाती थे। उनकी दृष्टि मे मार्गदर्शक सहयोग देने भर का अधिकारी था, संशोधन का अधिकारी नहीं। वे स्वयं भी अपने शिष्यों का मार्गदर्शन तो करते थे पर सुधार नहीं। उन्होंने अपनी इसी पद्धति के अनुसार ही भारतीय-चित्रकला को नन्दलालबसु जैसे महान चित्रकार प्रदान किये थे। अपनी शक्ति पर बढ़ने और अपने पैरो पर खड़े होने की बात वे सदा अपने शिष्यो को बताया करते थे।

अपने इस तरीके से वे साहित्य के क्षेत्र मे भी प्रतिष्ठित हुए थे। उनकी पहली कहानी 'शकुन्तला' को रविबाबू की प्रशसा मिली थी। उसके पश्चात् तो उनका आत्मस्थ साहित्यकार स्वत: स्फूर्ति से कहानी, निबन्ध, संस्मरण आदि सर्जता गया। इन सभी साहित्यिक विधाओ मे वे किसी से पीछे नहीं रहे। यह मानवीय संकल्प और आत्मस्थ-संवेदना के जागरण का अनुपम उदाहरण है।

यो वे किसी से कुछ सीखने मे कतराते नहीं थे। प्रभु दत्तात्रेय की तरह वे प्रकृति से ही बहुत कुछ सीख लेते थे। वैष्णव पद बलि, बैताल पचविशति तथा बुद्ध सम्बन्धी चित्र उनके इसी गुण के परिचायक है। दूसरो के स्नेहअनुदान को कभी वे विस्मृत नही करते थे। उन्होंने अपने गुरु हावेल के बारे मे लिखा है—"मै नन्दलाल से गहरा स्नेह रखता हूँ किन्तु हावेल का स्नेह मेरे प्रति इससे अधिक गहरा था।" गुरु का यह स्नेह ही उन्हे सरकारी कला स्कूल का वाइस प्रिंसिपल बना सका था अन्यथा वे ऐसे बधनो मे बँधने वाले जीव नही थे।

उनकी चित्रकला और साहित्य अनूठा और बेजोड़ है। उनके चित्रो मे काव्य की सी भाव प्रवणता और साहित्य मे चित्रकार की सी चित्रमयता के दर्शन होते हैं। सब कुछ स्वाभाविक और आदर्शोन्मुख है और भारतीयता अनुप्राणित भी। कलागुरु अवनीन्द्र के इस अनुदान को हम विस्मृत नहीं कर सकते। ५ दिसम्बर, १९५१ को उनका देहावसान हो गया। उनके चित्रो में और साधनामय जीवन मे अपने राष्ट्रीय और मानवीय गौरव की जो झाँकी मिलती है उससे भारतवासियो को नयी प्रेरणा तो मिलती ही है, आज के चित्रकारो को नयी दशा भी। कला कोई भी हो चित्रकला, संगीत-कला अथवा काव्य-कला उसका स्पष्ट उद्देश्य सत्यं शिवं सुन्दरं है और उस स्तर से जो भी कलाकार गिरता है वह आत्मप्रवंचना की नारकीय आत्मप्रताड़ना का दारुण दु:ख तो भोगता ही है—समाज को भी अधोमुखी बनाने का पाप-भाजन बनता है। इसके विपरीत जो कला की गरिमा महिमा को बढ़ाते है वे भले ही मंदिर में न जाते हों पर विश्वविराट की आराधना द्वारा अपने प्रभु को प्रसन्न कर ही लेते है।

कलागुरु अवनीन्द्र ने न केवल कला के उच्च आयामों को शिखर स्तरीय छुआ वरन् अन्य अनेकों को भी उस दिशा में प्रेरित किया जिसने उन्हे कलागुरु के गरिमामय पद पर पहुँचा दिया। कला क्षेत्र मे ऐसे दो चार रत्न और हो सके तो सचमुच कला महिमा-मण्डित हो सकती है।

अप्रतिम एवं प्रज्ञाचक्षु संगीत साधक—श्री के. सी. डे

'तेरी गठरी में लगा चोर मुसाफिर जाग जरा-और बाबा, मन की आँखे खोल'—जैसे गीतो से घर-घर और हाट-बाट गुँजा देने वाले प्रसिद्ध फिल्मी गायक श्री के. सी. डे को कदाचित् सभी लोग जानते होगे। भले ही उनसे व्यक्तिगत परिचय और साक्षात्कार कम ही लोगो का हो किन्तु उनकी मार्मिक आवाज और संगीतोचित कंठ से सभी लोग परिचित होगे भला उस संगीत के सफल साधक की कला से कौन अपरिचित रह सकता है जिसके गाये हुए न जाने कितने गीतो मे से लगभग चार-पाँच हजार गीतो के रिकार्ड देश के ही नहीं विदेशो तक के कोने-कोने मे बजाये जाते हैं।

श्री के. सी. डे का पूरा नाम श्री कृष्णचन्द्र डे था। इनका जन्म १८९४ की जन्माष्टमी के दिन कलकत्ता मे श्रीशिवचन्द्र डे के घर पर हुआ था। इस संगीत के महान साधक ने जीवन में जिन बाधाओ को जीतकर सफलता तथा लोकप्रियता प्राप्त की है यह सामान्य नही कही जा सकती। किन्तु सच्ची लगन और एकनिष्ठ पुरुषार्थी के लिये संसार मे कुछ भी असाध्य नहीं होता। श्रीडे जिस समय केवल डेढ़वर्ष के थे उनके पिता का देहान्त हो गया। घर की आर्थिकस्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। फिर भी उनकी पूज्य माता श्रीमती निवारणी देवी ने हिम्मत न हारी और पुत्र का समुचित रूप से पालन करती रहीं। वे उसे अधिकतर अपने ही साथ रखतीं और प्रारम्भिक-शिक्षा के साथ नैतिक-शिक्षा भी देती थीं। जीवन की कठिनाइयो तथा उनके बीच साहस, धैर्य तथा परिश्रम का महत्व बतलातीं थीं। अपने पूजा के समय पास बिठा कर कथाएँ सुनातीं और भजन गाकर उसकी रुचि कीर्तन मे उत्पन्न करतीं थी। माता की इस पवित्र छाया मे बालक डे पढ़ने, बढ़ने और नैतिकता के सोपानो पर चढ़ने लगे। किन्तु मनुष्य के धैर्य की परीक्षा कठिनाई की केवल एक कसौटी पर नहीं होती।

अभी श्री के. सी. डे बारहवर्ष के नहीं हो पाये थे कि दैवदुर्विपाक से सहसा उनकी आँखें जाती रहीं। बड़ी दवा की गई, अच्छे से अच्छा उपचार किया गया लेकिन सब निष्फल चला गया और किशोर के. सी. डे को पूरी तरह से नेत्रहीन घोषित कर दिया गया। दैव के इस निर्मम आघात से माता विचलित हो उठी। उसके जीवन का एकमात्र सहारा

असहाय हो गया। नेत्रहीनता निःसन्देह बहुत बड़ी व्याधि थी। किन्तु बालक कृष्णचन्द्र ने साहस नहीं छोड़ा।

पहले माता उसे समझाती और धीरज बँधाती थी अब वह माता को धीरज बँधाता और कहता "माँ तू दुःखी क्यों होती है। तू मुझे उपयुक्त मार्ग तो बतला। देख मैं सफल होकर दिखलाता हूँ या नहीं। संसार मे एक मैं ही तो अंधा नहीं हूँ। न जाने कितने लोग नेत्रो से विवश हैं और पहले भी होते रहे है। उनमें से बहुत से ऐसे है जिन्होने साहस नहीं छोड़ा जो निरुपाय तथा निरुत्साह होकर पड़े नहीं रहे, उन्होने जीवन में बड़ी-बड़ी कीर्ति वाले काम कर दिखाये है। कृष्ण के महान भक्त महाकवि सूरदास तो जन्मान्ध थे, फिर भी उन्होने हजारो भजन और भक्तिपूर्ण पद लिखकर और उन्हे संगीत में बाँध कर संसार मे अमरत्व प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार और न जाने कितने लोग ऐसे हुए है जिन्होने नेत्र न होते हुये भी जीवन मे बड़े-बड़े काम कर दिखाये है। जीवन तो उन नेत्रहीनो का ही निरर्थक चला जाता है जिनकी मन की भी बंद हो जाती है और जो इस बाधा से हार मानकर हताश हो जाते है। माँ तू मुझे संगीत सीखने का प्रबन्ध कर दे। मैं जीवन मे एक ऊँचा संगीतज्ञ बनकर रहना चाहता हूँ।"

माता ने बेटे की बातें सुनीं और उसका उत्साह परखा और उसे ऐसा विश्वास हो गया कि कृष्णचन्द्र निश्चय ही एक कुशल संगीतज्ञ बन सकता है। निदान उसकी निराशा दूर हो गई और वह एक उपयुक्त गुरु की खोज मे लग गई। माता जानती थी कि योग्य एवं उपयुक्त शिक्षक विद्यार्थी की सफलता मे बहुत बड़ा सेतु है। योग्य शिक्षक विद्यार्थी की क्षमता, ग्राह्यता तथा झुकाव देखकर इस ढंग से शिक्षा देता है कि उसको पढ़ाया हुआ पाठ कभी निष्फल नहीं जाता। योग्य गुरु अयोग्य शिष्य को भी योग्य बना लेता है। वह पढ़ाने मे सच्चा परिश्रम करता है और साथ ही अपनी आत्मा की सद्भावना भी देता चलता है। इस प्रकार गुरु के आत्मबल से बलिष्ठ शिष्य अपने लक्ष्य-पथ पर निर्द्वन्द्व एवं निर्लिप्त बढ़ता चला जाता है।

माता की खोज चलती रही और पूरी भी हुई। उन्होने जल्दी ही शशिभूषण नाम के एक योग्य संगीतज्ञ को खोज निकला और प्रारम्भिक शिक्षा के लिये कृष्णचन्द्र को उनके तत्वावधान में दे दिया। श्रीशशिभूषण ने अनेक प्रश्नो द्वारा के. सी. डे को परखा और पाया कि लड़का सच्ची लगन वाला और उत्साही प्रवृत्ति का है। इसको दी हुई शिक्षा सफल तथा सार्थक होगी। गुरु का गौरव इसी में है और संतोष भी कि वह शिष्य को जो कुछ भी सिखाये अथवा पढ़ाये वह उसमें गुणित होकर पुष्पित तथा पल्लवित हो और लोग उससे उसके शिक्षक का नाम पूछने लगें। डे ने अपनी पात्रता सिद्ध की और श्री शशिभूषण ने शिक्षा देनी शुरू कर दी।

यों तो संगीत कला बड़ी सरल मालूम होती है और थोड़ा बहुत अभ्यास से सभी गाने-बजाने लगते है। किंतु जब इसी कला को विद्या के रूप में ग्रहण किया जाता है तब पता चलता है कि वह स्वर एवं नाद-विज्ञान बड़ा ही कठिन तथा परिश्रम साध्य है। नाद के रूप में जब संगीत की सिद्धि हो जाती है तब वह एक आध्यात्मिक तत्व बन जाता है और साधक को संसार के साधारण धरातल से उठाकर उच्च कक्षाओं में पहुँचा देता है। योग आदि अन्य साधनों की भाँति संगीत भी मोक्ष तथा आत्म लाभ कर सकने का एक महान साधन है। श्रीशशिभूषण अपने शिष्य को संगीत की उसी दिशा में ढालना चाहते थे। क्योंकि एक सच्चे गुरु का यह परम पावन कर्तव्य है कि वह किसी भी विषय के माध्यम से शिष्य को उन्नत, आध्यात्मिक दिशा में ही प्रेरित करे। वही तो जीवन का सार है और वही तो आत्मा की सच्ची आवश्यकता है। श्री शशिभूषण ने के. सी. डे की प्रारम्भिक संगीत शिक्षा में ही उच्चता की आधारशिला रख दी और संगीत-विद्या की इतनी गहरी जिज्ञासा जगा दी कि वह आजीवनसाधना करते रहने के लिये लालायित हो उठा।

श्री शशिभूषण ने के.सी. डे की साधना को प्रारम्भिक प्रवाह देकर आशीर्वाद दिया और छुट्टी दे दी। अब डे मे संगीत का मर्म समझ सकने की चेतना आ चुकी थी। अतः उसने आगे की शिक्षा के लिये कलकत्ता के श्री करमतुल्ला के निर्देशन मे स्वयं को दे दिया। उन्होने भी डे को पहचाना और पाँचवर्षों तक अपने प्रशिक्षण में रखा। इस अवधि मे कृष्णचन्द्र ने भी संगीत का अभ्यास करने मे दिन रात एक कर दिया। सब लोग सो जाते किन्तु कृष्णचन्द्र अपने अभ्यासकक्ष मे स्वर देवता की साधना में बड़ी रात तक लगे रहते और कोई भी सोकर उठता तो उन्हे अपने अभ्यास मे लगा पाता। इस प्रकार के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप श्री के. सी. डे एक योग्य तथा कुशल गायक बन गये। अब वे जगह-जगह कार्यक्रम में जाने और सराहना पाने लगे। इस प्रकार सफलता के सोपानो पर उनके चरण तेजी से बढ़ने लगे।

यद्यपि उन्हे देह त्यागे लगभग कई वर्ष हो गये हैं तब भी लोग उनके उस कीर्तन को आज भी याद किया करते है जो वे अपने किशोर काल मे भाव-विभोर होकर किया करते है। सुनने वालों का कहना है कि जिस समय श्री कृष्णचन्द्र राधारमणदास के साथ कीर्तन किया करते थे तब उपस्थित जनता मदमस्त होकर झूमने लगती थी। वह उनकी तन्मयता के साथ इतनी विभोर हो जाती थी कि आँखो से बहते हुए प्रेम के आँसुओं की सुध-बुध न रहती थी। लोग के. सी. डे के स्वर मे उतरे नादब्रह्म की अनुभूति-सी करने लगते थे और जब स्वर सहसा रुक जाता था तो ऐसा लगता था कि हम सब यहाँ नहीं थे किसी आनन्दलोक से अभी-अभी उतरे है। ऐसी थी श्री के.सी. डे की स्वर स्वयं संगीत साधना। उनके संगीत तथा कीर्तन-कला ने उन्हें दूर-दूर तक प्रसिद्ध कर दिया और संगीत के प्रत्येक कार्यक्रम में उनकी आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। यह एक बड़ी सफलता थी। किन्तु श्री के. सी. डे को सन्तोष न था।

किसी बात का ज्यों-ज्यों ज्ञान होता जाता है त्यों-त्यों पता चलता है कि अभी मैं कुछ भी नहीं जानता—ज्ञान के महासागर से एक चिल्लू भी नहीं भर पाया हूँ। निदान अपनी आत्मा की महती प्यास बुझाने के लिये श्री कृष्णचन्द्र ने पुनः साधना एवं शिक्षा के लिये शिष्यत्व ग्रहण करने का निश्चय किया। जहाँ ज्ञान अथाह है वहाँ एक से एक बढ़कर धुरंधरों की भी कमी नहीं। कमी केवल खोज की है। श्री डे ने खोजा और श्री बादल खाँ नाम के एक संगीत-महारथी को पा लिया और विनम्रतापूर्वक उनके शिक्षण में बारह साल तक रहकर संगीत की साधना की। किन्तु अभी भी उन्हें पूरा सन्तोष नहीं हुआ था। अस्तु, वे याविर खाँ और जोर खाँ नामक दो तबलावादकों की सेवा मे चले गये। इस समय तक श्री के. सी. डे जवान तथा ख्याति प्राप्त संगीतज्ञ हो चुके थे, किन्तु उन्होंने अपने वादन गुरुओं से तबला की शिक्षा ठीक विनम्र बच्चे की तरह ही ग्रहण की। जिसका फल यह हुआ कि चार-पाँच साल के कठिन परिश्रम से वे तबला वादन में पारंगत हो गये। इस प्रकार लगभग पच्चीस-छब्बीस साल एकनिष्ठ साधना करने के बाद वे अपनी कला से जनता की सेवा करने के लिये जनक्षेत्र मे आ गये। उसी क्रम मे एक दिन कलकत्ते के मौनसंगीत साधक तथा प्रच्छन्न नादयोगी श्रीवेणीबाबू से परिचय हो गया। डे ने तुरन्त जान लिया कि अभी वेणीबाबू से भी कुछ सीखा जा सकता है और एक बार वे पुनः अपना कार्यक्रम रोक कर शिष्यत्व में आ गये। वेणी बाबू ने उन्हें संगीत के आध्यात्मिक रहस्य बतलाये और परामर्श दिया कि वे इस साधना को आत्मलाभ का साधन बनाने से न चूके। श्री के. सी. डे ने वैसा ही किया और संगीत के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण बना लिया।

अब श्री के. सी. डे की कला तथा कीर्ति का विस्तार होने लगा। गुरुदेव रवीन्द्रठाकुर से उन्होंने नाटकों की प्रेरणा ग्रहण की और 'देवदासी' तथा 'विश्वप्रिया' जैसे नाटकों का संचालन तथा प्रदर्शन किया। साथ ही 'रंगमंच' नामक एक थियेटर की स्थापना की जिसके माध्यम से उन्होंने जनता को प्रेरक तथा शिक्षाप्रद नाटक दिखलाकर उसका मानसिक स्तर उठाने मे योग दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'एक तारा' नामक एक संगीत संस्था की स्थापना करके न जाने कितने उच्च कोटि के गायक एवं गायिकाओं का निर्माण किया।

श्री डे की ख्याति ने फिल्म-जगत को आकर्षित किया और बम्बई की फिल्म-कम्पनियों के डाइरेक्टर आकर उन्हें अनुरोधपूर्वक इसलिये ले गये कि उनके सहयोग से फिल्मी-संगीत का सुधार होगा। श्री डे ने उनकी प्रार्थना मान ली और फिल्म जगत में चले गये। श्रीडे को प्रथम सवाक फिल्मचण्डीदास का प्रथम गायक होने का श्रेय मिला। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'देवदास' आदि अनेक फिल्मों में न केवल संगीत ही दिया बल्कि उसमें अभिनय भी किया। उनकी संगीत-साधना ने उनके हृदय की आँखें खोल दी थीं और वे इतने सूक्ष्म अनुभूतिदर्शी हो गये थे कि 'जस्टिस' तथा 'दूर चलें' फिल्मों का सफल निर्माण कर सकने और बम्बई तथा दिल्ली में बनी दर्जनों फिल्मों का उन्होंने संचालन तथा निर्देशन किया था। फिल्म जगत में उन्होंने इतने गीत गाये हैं जितने शायद सारे गायकों ने मिलकर न गाये होंगे। उनके गाये चार पाँच हजार गीतों के रिकार्ड तो इस समय उपलब्ध हैं जिनका हिन्दी से बंगला, गुजराती आदि न जाने कितनी भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है।

इस संगीत के शिखरस्थ एकनिष्ठ साधक के सामने न जाने विवाह के कितने अच्छे-अच्छे प्रस्ताव आये। किंतु वह आजीवन अविवाहित रहकर अपनी साधना में लगा रहा। फिल्म जगत में रहकर कोई कमी न रहने पर भी श्री के.सी. डे किसी व्यसन के शिकार न हुए और जहाँ सारे फिल्मी लोग ठाट-बाट से रहते हैं वहाँ ये केवल धोती कुर्ता मे एक संत की तरह रहकर अपने जीवन लक्ष्य में लगे रहे और अंत में अपनी सारी धनराशि 'रंगमंच' तथा एकतारा संस्थाओं को, संगीत नाटक कला के विकास के लिये देकर २८ नवम्बर, १९६२ में स्वर्गलोक सिधार कर जनता की भावनाओं में अमर हो गये।

नेत्रहीनता व्यक्तित्व विकास में बाधक नहीं की प्रतिमूर्ति—दिव्य लोचन शर्मा

सोलहवर्ष के किशोर दिव्यलोचन शर्मा की चपल उँगलियाँ जब तबले पर त्वरित गति से थिरकती हैं तो तबले की ताल पर श्रोताओं का मन थिरकने लगता है। संगीत की स्वरलहरियाँ उन्हें मन्त्रमुग्ध कर देती हैं, वे सुध बिसरा कर उन स्वरों में खो जाते हैं। वाद्ययन्त्रों पर उसकी उँगलियाँ ऐसे चलती हैं जैसे उनमें विद्युत धारा प्रवाहित हो रही हो। यह अल्पवयस्क कलाकार नेत्रहीन है। सोलहवर्ष की आयु में उसने कला-जगत में जो नाम कमाया है वह अपने ढंग का अनूठा उदाहरण है। शारीरिक अपूर्णता उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक नहीं बन सकी है। इस पर कला पारखियों व कला-प्रेमियों ने बड़ी आशाएँ बाँध रखी हैं।

इस होनहार कलाकार का जन्म १३ अप्रैल, १९५० को उड़ीसा के कटक जिले में हुआ था। बालक जन्म से ही नेत्रहीन था। पिता रामचन्द्र आचार्य को अपने इस नेत्रहीन पुत्र के भावी जीवन की चिन्ता लगी रहती थी। किन्तु बालक ने छह वर्ष की अल्पायु मे ही अपने पिता को इस चिन्ता से मुक्त कर दिया।

नेत्रज्योति लुप्त होने का कारण बालक अपनी कर्णेन्द्रिय से ही आँखो का काम लेने लगा था। इससे उसकी श्रवणशक्ति में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई, जो कुछ वाद्यसंगीत विशेषकर तबला वह सुनता था उसे जो भी साधन मिल जाता उसी पर दोहराने लगता। पिता ने पुत्र की इस जिज्ञासा को भाँप लिया तथा उसे एक छोटा तबला-डुग्गी ला दी। वह अधिकांश समय इसी अभ्यास में लगा रहता। थोड़े ही समय में सुन-सुनकर तबला बजाना सीख गया।

छह वर्ष की आयु मे उसने अपना एक छोटा-सा कार्यक्रम तत्कालीन मुख्यमंत्री बीजूपटनायक के सामने प्रस्तुत किया। मुख्यमंत्री इस छोटे से बालक के इस सुन्दर तबलावादन पर बड़े प्रभावित हुए तथा उसके लिए दो सौ रुपये मासिक पर उसके लिए एक सुयोग्य शिक्षक रखवा दिया। गुरु के निर्देशन में थोड़े ही समय मे उसकी प्रतिभा विकसित होने लगी और उसके साथ ही उसका नाम भी फैलने लगा। बारहवर्ष का होते-होते वह एक कुशल तबलावादक बन गया।

कुछ परिस्थितियों वश उसके पिता को उड़ीसा छोड़ दिल्ली आ जाना पड़ा। यहाँ इस बाल कलाकार को और भी अधिक कलाविद्-कला प्रेमी मिल गये तथा उसकी प्रसिद्धी का क्रम आरम्भ हो गया। अब तक वह बड़े-बड़े संगीतकारों की संगत कर चुका है। सुप्रसिद्ध सितारवादक रविशंकर, शहनाई नवाजबिस्मिल्लाखाँ जैसे चोटी के फनकारों के साथ वह कार्यक्रमों में संगत दे चुका है। फिर भी वह अपने आपको अभी विद्यार्थी ही मानकर चलता है और यही हर कलाकार ही नहीं हर महत्वाकांक्षी व्यक्ति के विकास का प्रतीक भी है।

कई आकाशवाणी के केन्द्रों तथा टेलिवीजन पर यह किशोर अपनी कला का चमत्कार लोगो को बता चुका है। वह कहता है—"मुझे नेत्रहीन होने का कोई दुःख नहीं। जो कुछ मुझे ईश्वर से मिला है वहीं क्या कम है। उसके विकास करने मे मुझे समाज का जो सहयोग मिला है उसे देखता हूँ तो मैं अपने आपको भाग्यवान ही मानता हूँ—अभागा नहीं।" सच ही तो कहता है यह किशोर। मनुष्य परिस्थितियों, अभावों तथा शारीरिक अक्षमताओ का रोना ही रोता रहे तो उसका जीवन इसी रोदन में बीत जाय किन्तु जब वह अपनी सीमित सामर्थ्य को एक नजर देखे तो उसे भान हो जाय कि उसके पास क्या नहीं ? इस नेत्रहीन किशोर का स्वयं को भाग्यवान मानना व सिद्ध करना पूर्णांगो के लिए एक चुनौती ही है।

दिव्यलोचनशर्मा की तरह जो लोग मात्र एकआध अंग के विकृत या निष्क्रिय हो जाने पर जीवन से निराश नहीं हो बैठते वे अपने जीवन में पूर्णांगो से भी अधिक सुख, सन्तोष पा सकते है और स्वावलम्बी बनकर स्वाभिमान सहित जीवन-यापन कर सकते है।

जिन्होंने नृत्यकला को जन-जागरण का माध्यम बनाया—देवेन्द्र कुमार रायजादा

सन् १९४२ के आस-पास की बात है। फिरोजाबाद में आगरा-जन-नाट्य-संघ ने नृत्य-कार्यक्रम आयोजित किया। दर्शक थे सामान्य बौद्धिक स्तर के चूड़ी कारखानों में काम करने वाले श्रमिक, छोटे-मोटे व्यापारी, गिने-चुने, पढ़े-लिखे लोग। जैसा कि 'नृत्य' के सम्बन्ध मे जन-सामान्य की धारणा थी, यह भाण्ड मिरासियो या वेश्याओं का काम है। फूहड़ ढंग से कूल्हे मटकाना, शृंगारिकभाव दर्शाना और मनुष्य की छिछली वृत्तियों को गुदगुदाने वाले नयन कटाक्ष चलाना यही अर्थ समझता था सामान्य व्यक्ति तो।

किन्तु, इस आयोजन में जो कुछ उन्हें देखने-सुनने को मिला वह उनकी उस धारणा के सर्वथा विपरीत था। दर्शक मन में कुछ भी आग्रह लेकर आया हो, वह जो कुछ लेकर गया वह उच्च था, आदर्श था, उदात्त था। यहाँ उन्हें नृत्य-कला का वह विकृत रूप देखने को नहीं मिला वरन् मनोरंजन के साथ-साथ आत्म-रंजन और भावोत्तेजना प्रदान करने वाली पुनीत कला के दर्शन यहाँ हुए। लोग भाव-विभोर हो देखते-सुनते ही रह गये।

'ये पंछी आये है बिराने चुग चुन डारे है दाने' ब्रज भाषा की भाव लड़ियों में पिरोयी देशभक्ति की उमंगों का प्रवाह कुछ ऐसा बहा कि दर्शक किसी दूसरे ही लोक में पहुँच गये। गीतों के भाव भरे बोल, गेयता, कण्ठ मधुरता, लय तान पर थिरकते नर्तक के चपल पाँव, घुँघरुओं की मधुर झंकार से उठती वीर, करुण रस की लहरियाँ उनके अंतर को झकझोरती रहीं। ये पंछी इस देश के नहीं है पर इन्होंने इस देश के सब खेतों के दाने चुग डाले है। ये बिराने पंछी अँग्रेज हमारी स्वर्ण-धरा का बुरी तरह शोषण कर रहे है। यही भाव इस गीत में मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुए थे। उद्धव कुमार के इस देशभक्ति पूर्ण गीत और उस पर कत्थक नृत्य प्रस्तुत करते हुए युवा नृत्यकार देवेन्द्र कुमार रायजादा ने जो समा बाँधा था कि लोगों की पलके झपकनी बंद हो गयीं। वे आश्चर्यभिभूत हो उठे कि नृत्य-कला का यह उपयोग भी हो सकता था। देशप्रेम की देश के प्रति अपने कर्तव्य की जो भावनाएँ, प्रेरणाएँ साहित्य के माध्यम थोड़े से पढ़े-लिखे भावनाशील व्यक्तियों के हृदयों मे उठ सकती थीं वे ही भावनाएँ, उमंगे, प्रेरणाएँ सामान्य व्यक्ति के हृदय में इस नृत्य को देखकर उठ पड़ी थीं।

नृत्य-कला के इस स्वरूप का दिग्दर्शन कराने का श्रेय देवेन्द्र कुमार रायजादा को था। नृत्य-कला की परम्परा हमारे देशवासियो के लिये नयी नहीं है। मध्ययुग के सामती वातावरण मे यह विकृत होती चली गयी। देवेन्द्र कुमार ने उसे अपने परिष्कृत स्वरूप मे प्रस्तुत किया था। वीरवर अर्जुन श्रेष्ठतम नृत्य विशारद भी थे। अज्ञातवास के समय वे विराट पुत्री के नृत्य शिक्षक बने थे। नृत्य कला हेय और लज्जाकारक नहीं है और न यह पुरुष के पौरुष के अवमूल्यन का कारण हो सकती है। नृत्य कला अन्य संगीत, साहित्य, गायन आदि कलाओ की तरह ही मनुष्य के आत्मरंजन और उसकी सद्वृत्तियो, उदात्त भावनाओं के विकास का माध्यम बन सकती है। इस बात को जानते हुए वे उसे परिष्कृत रूप मे जनसाधारण के सामने प्रस्तुत करना चाहते थे, उसकी उपयोगिता सिद्ध करना चाहते थे।

सन् १९१९ मे ग्वालियर में जन्मे देवेन्द्र कुमार रायजादा को मन मारकर अपनी युवावस्था मे क्लर्क की नौकरी करनी पड़ी थी। इसका कारण उनके पिताजी की रूढ़िवादिता थी।

उन्होने अपने पिताजी से छिप-छिप कर ही नृत्य सीखा था। उनके पिताजी यह बिल्कुल पसंद नहीं करते थे कि उनका पुत्र नृत्यकार बने। उन्होने देवेन्द्र कुमार को सख्त हिदायत दे रखी थी-"मुझे तुम्हारे ये रंग-ढंग बिल्कुल पसंद नहीं हैं। तुम्हें एक इज्जतदार आदमी बनना है भाण्ड, मिरासी नहीं, समझे। यदि कभी नाचता देखा तो तेरी टाँगें ही काट कर रख दूँगा।"

पिता हद दर्जे के गुस्सेबाज और अड़ियल आदमी थे। उन्हें यह समझाना कि वे नृत्य कला को जो इतनी तुच्छ मानते हैं यह मात्र उनका दुराग्रह है, किशोर देवेन्द्र के वश के बाहर था। किन्तु वे नृत्य-साधना छोड़ना भी नहीं चाहते थे। चोरी-छिपे उनका नृत्य सीखने का क्रम चलता रहा, पर कभी न कभी तो वे पकड़ में आ ही जाते। फिर पिता उन्हें खूब डाँटते-फटकारते, कभी-कभी मार भी पड़ जाती। एक दिन तो उन्होने अपनी धमकी को सच ही कर दिखाया। बार-बार मना करने पर भी वे नहीं माने तो एक दिन उनके पिता ने नंगी तलवार उनकी टाँगों पर चला ही दी।

प्राणो पर खेल कर कला-साधना करने के उस स्मृति चिन्ह को वे अपने मित्रों को बताया करते थे। टाँग पर लगा लम्बा सा घाव उनके पिता द्वारा किये गये असि आघात का ही स्मृति चिन्ह है। न तो उनके पिता ही समझते थे अपने पुत्र के मन की साधना को और न पुत्र ही उनके आगे हथियार डालने को तैयार था। प्राणो पर खेल कर उन्होने कला-साधना न की होती तो वे नृत्य-कला को जनोपयोगी कैसे बना पाते।

वे ग्वालियर में क्लर्की करते हुए भी अपने मित्र उद्धवकुमार के साथ बाहर के नृत्य-कार्यक्रमों में भाग लिया करते थे। उन्होने दतिया घराने के उस्ताद हफीज खाँ साहब से नृत्य-शिक्षा पायी थी। रियाज के तो कहने ही क्या थे पाँच-पाँच, छह-छह घण्टे तक नृत्याभ्यास करना उनके लिये सामान्य सी बात थी।

१९४२ मे आगरा मे आगरा-जन-नाट्य-संघ की स्थापना हुई। इस संघ ने आरम्भ से नाटक, नृत्य और गायन तीनों विधाओं को अपनाया था। आरम्भ में सघ को गायनाचार्य ए. सी. पाण्डेय का सम्पूर्ण सहयोग मिला। किन्तु उनके आगरा से बाहर जाने पर संघ मे सुयोग्य नर्तक और नृत्य-शिक्षक का लगभग अभाव ही हो गया। संघ के सस्थापको का उद्देश्य नृत्य व संगीत को जन-जागरण का माध्यम बनाने का था। वे इन कलाओं को जन-साधारण के लिये उपयोगी बनाना चाहते थे। किन्तु ऐसा साधक भी तो चाहिए जो अपनी साधना द्वारा उनके उद्देश्य को पूर्ण कर सके। उनकी खोज आरम्भ हुई। श्री उद्धवकुमार ने उन्हे देवेन्द्रकुमार रायजादा का नाम सुझाया। उन्हे किसी प्रकार ग्वालियर से आगरा बुलाया गया। वहाँ इनकी तैयारियाँ और अभ्यास देख कर ही संघ के सचालकों की मनोकामना पूर्ण हो गयीं। उन्हे ऐसा ही निष्ठावान कलाकार चाहिए था।

वे ग्वालियर से आगरा आये तो आगरा के ही बन कर रह गये। पूरे चौबीसवर्ष तक वे आगराक्षेत्र के जन जीवन पर छाये रहे। संघ के नर्तक-दल के कार्यक्रम नगरों में ही नहीं छोटे-छोटे कस्बों व बड़े गाँवों में भी होते थे। इस क्षेत्र में उन्होने नृत्य-कला का जो अभिनव लोकोपयोगी स्वरूप दिखाया उसने लोगों के मन मोह लिये। उनकी उन्नत नृत्य-कला और समसामयिक संदर्भों से जुड़ी हुई नृत्य-संयोजना, उच्च उदात्त आदर्शों का प्रस्तुतीकरण कुछ इस आकर्षक ढंग से प्रस्तुत होता था कि लोकरंजन के साथ-साथ लोक-मंगल का महत्वपूर्ण लक्ष्य भी पूरा होता जाता था। जब दर्शक उनके कार्यक्रमों को देखता था तो हल्के और बाजारू किस्म के मनोरंजन की बात मन में आती ही नहीं थी। चाहे वह कार्यक्रम में कुछ भी सोचकर आया हो किन्तु जब जाता था तो एक आदर्श, एक प्रेरणा और देशभक्ति व सामाजिक-चेतना के भाव ही उसकी झोली में भरे होते थे।

उन्होने नृत्य-कला की आत्मा का दिग्दर्शन किया था। इसके लिये उन्हें मेहनत भी कम नहीं करनी पड़ी थी। उनका कथानक पौराणिक, साहित्यिक व देशभक्ति पूर्ण होते थे। स्वतंत्रताप्राप्ति के पहले उन्होने जो नृत्य कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे वे प्रायः देश-भक्ति पूर्ण होते थे। उनके कालिया-दमन, शिकारी, सिद्धार्थ का गृह त्याग आदि अनूठी कलाकृतियाँ थीं, जो हृदय के तारों को झंकृत कर देती थीं। उनसे राष्ट्रीय व सामाजिक चेतना के स्वर ही उभरते थे।

देवेन्द्र कुमार रायजादा को लोग डी. के. राय के संक्षिप्त नाम से अधिक जानते हैं। शिक्षित होने के कारण वे नृत्य ही नहीं नाटक व सज्जा के भी कुशल मर्मज्ञ बन गये थे। स्व. वृन्दावनलालवर्मा उनकी बड़ी प्रशंसा किया करते थे। उनके गाँव-गाँव जाकर अपनी कला के माध्यम से जन-जागरण का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने को वर्मा जी बहुत बड़ी समाज-सेवा मानते थे। उनके नृत्यो मे पुरुषोचित वीरभाव प्रखर होकर उभरता था। शिव ताण्डव में उनका वीर रस और नाग मंथन मे उनकी बालक्रीड़ा देखते ही बनती थी।

उन्होने अपनी कला को प्रसिद्धि व अर्थ-साधना से कभी जोड़ा नहीं। आगरा आने पर भी अधिक दिनों जननाट्य संघ पर भार बन कर नहीं रहे। धीरे-धीरे आत्मनिर्भर हुए। पत्नी को बुलाया। वहीं उन्होने अपना एक नृत्य-शिक्षण-संस्थान भी खोला। नवीन प्रतिभाओ को कुशल जौहरी की तरह बटोरा, उनको तराशा, खरादा था। फीस मिलती तो भी और न मिलती तो भी वे अपने शिष्यो को नृत्य-कला मे पारंगत बनाने में एकनिष्ठ होकर जुटे रहते थे। उनका घर सदा कलाकारो का अतिथि-स्थल, आश्रयस्थल बना रहता था। उनकी प्राकृत उदारता से कुछ लोगों ने गलत लाभ भी उठाया पर उनके संत-स्वभाव ने कभी इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने आगरा-क्षेत्र के नागरिकों को नृत्य-कला विषयक एक समझ दी। उसकी उपयोगिता समझायी।

वे अपनी सेवा और साधना के द्वारा अखिल-भारतीय स्तर पर विख्यात हुए। उनके निर्देश में तैयार हुई नृत्य

नाटिकाओं—'लोहे की दीवार' 'समय की पुकार', 'मजदूर की आत्मा' आदि सारे भारत-वर्ष में प्रसिद्ध हुई। 'लोहे की दीवार' स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिये राष्ट्रीय-एकता का एक प्रबल आग्रह थी। इसी प्रकार 'समय की पुकार' राजे, महाराजों की अँग्रेजपरस्ती पर कटु व्यंग्य और 'मजदूर की आत्मा' श्रमिक की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है।

नृत्य-कला और नाट्य-कला के क्षेत्र में उन्होने कई सफल प्रयोग किये थे। कला, समाज के लिये कितनी उपयोगी हो सकती है इसे उन्होने अपने प्रयासो द्वारा समाज के सामने रखा था। उनके नृत्य सामान्य भारतवासी के लिये थे। वे प्रायः गाँवो और कस्बो मे प्रदर्शन करते थे। कम से कम साधन-सामग्री मे अधिक से अधिक लोक-शिक्षण, लोक-रंजन हो सके, नृत्य के माध्यम से उच्च मानवीय भावनाओं को अधिकाधिक जगाया जा सके इसके लिये उन्होंने कई सफल प्रयोग किये थे।

उनके निर्देशन मे भारतीय सांस्कृतिक इतिहास पर तैयार किया गया छायाभिनय जिन्होंने देखा है वे उसे भूल नहीं सकते। साधारण मोमबत्ती के सहारे इसका प्रदर्शन कर उन्होंने लोगो को आश्चर्यचकित कर दिया था। सृष्टि के आरम्भ से लेकर भारत के स्वतंत्र होने तक की प्रमुख घटनाओं का प्रस्तुतीकरण इसमे हुआ था। शहीदो के छायाचित्र तथा शरणार्थियो के प्रयाण दृश्य इतने मार्मिक हो उठे थे कि दर्शक अभिभूत हुए बिना नहीं रहते।

शास्त्रीय-संगीत व नृत्य पर आधारित उनकी शिवस्तुति, शंख ध्वनि, यशोधरा, खारी बूँद, फसल नृत्य आदि नृत्य नाटिकाएँ जिन्होने देखी है वे उनके नृत्य कौशल, मंच-सज्जा, वेश-सज्जा, रूप-सज्जा व भावाभिनय को भुला नही सकते। इन सबसे बड़ी बात जो उन्होंने की वह इन सबको लोकहित मे ही प्रयुक्त करने की है। बोलते से चेहरे, लम्बे-लम्बे बालो और मुख पर एक आत्मीय मुस्कान वाले जन-जन के डी.के. राय अब हमारे बीच नही रहे। मात्र ५५ वर्ष की आयु मे, ५ सितम्बर, ७३ को उनका देहान्त हो गया। इतनी सी आयु मे भी जितना कुछ वे अपने देश को, देश-वासियो को दे गये वह उन्हे चिरस्मरणीय बनाने को पर्याप्त है।

भारतीय-नृत्यो की विदेशो मे धूम है। यहाँ भी नृत्य कार्यक्रम होते है पर एक वर्ग विशेष ही उससे लाभ उठा सकता है। सामान्य-जन के लिये तो सिनेमा ही मनोरंजन है जो आजकल अश्लीलता और विकृति का ही जनक बन बैठा है। कला को जनोपयोगी व जनजागरण का माध्यम बनाने का जो मार्ग देवेन्द्रकुमार रायजादा ने दिखाया था आज उस पर चलकर नृत्य-कला व नाट्य-कला को विस्तारित करने की आवश्यकता है। इस प्रयोजन के लिये जीवन समर्पित करने वाले निष्ठावान कलाकारों की आज समाज को बहुत आवश्यकता है।

नादब्रह्म के अनन्य आराधक—उस्ताद अलाउद्दीन

कलकत्ता की भीड़ भरी सड़कों पर कौन किस प्रयो से चल रहा है। चल रहा है या भटक रहा है—यह ज पाना मुश्किल है। हजारों किशोर और तरुण शहर चमक-दमक से प्रभावित होकर गाँव छोड़कर महानगरों की ओर दौड़ पड़ते हैं और परिणाम में मिलती है बेकारी, भूख और तड़पन या सहज जीवन से पाशविकता की ओर प्रवृत्ति। शहरी आकर्षण आज भी अपरिपक्व ग्रामीण वय को अपनी चमक-दमक से आकृष्ट कर रहा है और आज से कई दशाब्दी-शताब्दी पूर्व भी आकर्षित करता था। इसी प्रकार सात-आठ दशाब्दि पूर्व की घटना है। एक युवक अपनी नव-परिणीता वधू को और माता-पिता को छोड़कर कलकत्ता की सड़कों पर चार दिन से भूखा भटक रहा था। पेट मे एक दाना भी अनाज का नहीं जा पाया था।

चक्कर आने लगे और कुछ दूर चलकर एक मन्दिर की सीढ़ियों पर निढाल हो गया। पुजारी की स्त्री बाहर निकली तो इस बेसुध पड़े युवक को देखा। थोड़ा पानी पिलाया। युवक ने पलके झपकायीं। पुजारिन उसे सहारा देकर मन्दिर मे ले गयी। वह समझ गयी थी कि युवक भूखा है और भूख के कारण ही यह हालत हुई है। दो पूरियाँ और हलवा दिया। खाकर युवक ने तृप्ति पायी।

पुजारी ने पूछा—कहाँ से आये हो बेटा।

'शिवपुर से'

घर छोड़ दिया क्या—प्रश्न हुआ।

हाँ—युवक ने हामी भरी और अगले प्रश्न 'क्यो' का उत्तर दिया 'संगीत सीखने के लिए।'

'अहा! नाद ब्रह्म की साधना करोगे'—

पुजारी ने आनन्द विभोर होकर कहा।

'हाँ महाराज'—युवक ने उत्तर दिया।

मन्दिर था दक्षिणेश्वर का कालिका मन्दिर, पुजारी थे स्वामी रामकृष्ण परमहंस, युवक को खाना देने वाली माँ शारदामणि और नादब्रह्म के जिज्ञासु साधक थे—उस्ताद अलाउद्दीन खाँ। जो अपनी नव-परिणीता-पत्नी को शादी की रात ही छोड़कर बुद्ध की तरह नादब्रह्म की साधना के लिए निकल पड़े थे।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने वेदान्त की शिक्षाओ के प्रचार के लिए स्वामी विवेकानन्द को चुना तो नादब्रह्म की उपासना-पद्धति के प्रचार के लिए उस्ताद अलाउद्दीन खाँ को।

सत्संस्कार—हिन्दू हो या मुसलमान किसी भी जाति के व्यक्ति मे विद्यमान हो उन्हे प्रयोग और साधना के माध्यम से जाग्रत और प्रखर किया जा सकता है। स्वामी रामकृष्ण ने अलाउद्दीनखाँ को नादब्रह्म की, स्वर-साधना की ही दिशा में ही अग्रेषित किया। संगीत से हृदय में जो आनन्द जन्मत:

है वह आत्म-स्वरूप के उद्घाटन से ही उद्भूत होता है। संगीत, मनोरंजन का नही आत्मानन्द की प्राप्ति के व्यवस्थित और क्रमबद्ध विकास का विज्ञान है।

उस्ताद अलाउद्दीनखाँ ने अपनी स्वर-साधना को इस स्तर तक विकसित किया जहाँ पहुँचकर मनुष्य स्वयं के साथ ही अन्य औरों को भी आत्मिक-आनन्द उपलब्ध करा देता है। उनकी मान्यता थी कि—प्रायः सभी आध्यात्मिक-साधनाएँ अकेले साधक को ही लाभान्वित करती हैं। उनका परिणाम और आनन्द की मात्रा साधक तक ही सीमित रहता है। परन्तु संगीत तो एक ऐसी साधना है। जो स्वयं के साथ-साथ अन्य अनेक को भी भाव-विभोर और ईश्वर सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करा देती है।

उन्होंने इस मान्यता को सारे जीवन भर प्रमाणित किया और अपने सैकड़ो शिष्यों को इस साधन पर आरूढ़ कर दिया। उनकी शिक्षण-पद्धति मे भी आत्मीयता और तन्मयता का इतना पुट रहता कि शिष्यगण अपनी भूख-प्यास भी भूलकर संगीत-साधना मे अनथक रूप से लगे रहते। संगीत यदि मात्र मनोरंजन का ही साधन माना जाए तो इतनी तल्लीनता असम्भव-सी प्रतीत होती है। बात सन् १९१४ की है। 'लाल बुखार' की महामारी से आसपास के इलाके मे लोग बरसाती कीट-पतंगो की तरह मर रहे हैं। चिकित्सा आदि की व्यवस्था न होने के कारण रोग पीड़ित लोगो को रोगमुक्त करने के लिए कुछ किया तो नहीं जा सकता था। बाबा का आत्म-सिद्ध हृदय भावोद्विग्न हो उठा और उनका ध्यान महामारी के कारण अनाथ हुए बच्चो की ओर गया।

उन्होंने सब बच्चों को एकत्रित किया और अपने एक शिष्य राजा से कहकर उनके रहने और भोजन आदि की व्यवस्था करवा दी। उनकी सहधर्मिणी मदीनाबेगम रुई की बत्ती से बूँद-बूँद कर बच्चो को दूध पिलाती। दोनो ने मिलकर सब बच्चो को पाला-पोसा और बड़ा कर लिया। बच्चे तो बच्चे ठहरे—अक्सर खाली रहते तो आपस मे लड़ने-झगड़ने लगे। बाबा को चिन्ता हुई और उन्होंने सब बच्चो को संगीत-साधना मे लगा दिया। बच्चे खिलौनो की तरह एकतार से टिन-टिन करते तो कोई लकड़ी के टुकड़े पर ही 'ना धिन धिन्ना' की धुन निकालने में मस्त हो जाते।

बच्चे कुछ और बड़े हुए। उत्तरदायी पिता की तरह बाबा ने उन्हे आत्म-निर्भर बनाने की योजना बना डाली और उस योजना के अनुसार ही तैयार हो गया युग प्रसिद्ध 'मैहर बैण्ड' जिसने देश के कोने-कोने मे ख्याति प्राप्त की।

यद्यपि सभी बच्चो मे देहाती संस्कार ही प्रधान थे। रहन-सहन, वेषभूषा हर तरह से ठेठ 'ग्रामीण' इतने ग्रामीण कि लखनऊ के मैरिस कालेज में आयोजित म्यूजिक कान्फ्रेन्स के लिए जब बाबा को सादर आमन्त्रित किया गया और बाबा ने अपनी यह शिष्य मण्डली भेजने का विचार व्यक्त किया तो संयोजक भातखण्डे जी ने बैण्ड वादन का कार्यक्रम देने के लिए तैयार ही नहीं हुए। उनका विचार भी सही था। एक तो शास्त्रीय संगीत का पहले ही नीरस-सा प्रतीत होने वाला विषय और उसमें भी भाग लेने वाले ठेठ ग्रामीण। परन्तु बाबा ने तो हठ कर लिया। भातखण्डे जी ने इस बानर सेना को दस मिनट का समय देने के लिए बड़ी मुश्किल से सहमत हुए लेकिन जब इस देहाती मण्डली ने, मैहर बैण्डवादकों ने जब अपना कार्यक्रम आरम्भ किया तो ऐसा समां बँधा कि लोग लगातार तीन घण्टे तक मुग्ध होकर बैण्ड-वादन सुनते ही रहे।

बाबा हमेशा कहते थे अहंकार-साधना का सबसे बड़ा विघ्न है। निष्ठावान-साधक मे अपनी निष्ठा और उपलब्धि पर अभिमान बड़े धीमे से आते हैं। उनके स्वयं के जीवन की एक घटना वे सुनाते रहते थे और किसी भी लक्ष्य की साधना के लिए साधक को सावधान रहने की सलाह देते। रामकृष्णपरमहंस का शिष्यत्व और संगीत में प्रवीणता दोनों के मिल जाने पर अलाउद्दीन खाँ गर्वित हो उठे और उन्हे अपने संगीत ज्ञान पर अहंकार हो उठा। इसी अहंकार की तृप्ति के लिए वायलिन लेकर काशीपुर के जमींदार मणिन्द्रप्रताप के पास जा पहुँचे।

उसी समय अहमदअलीखाँ भी जमींदार के सामने वीणा बजा रहे। सुनकर बाबा को लगा कि उनका संगीत ज्ञान अभी अधूरा है। उनका घमण्ड टूटकर चूर-चूर हो गया। वे अहमदअलीखाँ के चरणों में गिर पड़े और आगे कभी घमण्ड को पास न फटकने देने की कसम खाई।

यदि वे चाहते तो अपने संगीतकार्यक्रमो के माध्यम से उपार्जित धन-राशि का उपयोग स्वयं के लिए कर ऐश आराम का जीवन बिताते। परन्तु उन्होंने अपना सारा पैसा संगीत-विद्या के प्रचार और अनाथ बच्चो की सहायता के लिए लगाया। एक बार उनके पुत्र ने उनके निवास स्थान पर कूलर और बिजली लगवाने का प्रयास किया तो बाबा ने रोक दिया। कहा—तमाम लोगो के लिए बिजली और कूलर उपलब्ध नहीं है तो हमें भी उनके सरीखा जीवन जीना चाहिए। हमारा कूलर है हाथ का पंखा और अल्लाह की हवा। माफ करो।' समर्थ होते हुए भी उन्होंने अपने जीवन मे सादगी ही बरती और औसत-स्तर का जीवन बिताया।

वे मुसलमान जरूर थे पर धर्म, सम्प्रदाय के प्रति किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं रखते थे। उन्होंने अपने जीवन में जो कुछ भी उपलब्धियाँ और सफलता प्राप्त की उन सबको गुरु कृपा का आशीर्वाद ही माना। उनके पास जो कोई भी कुछ सीखने के लिए जाता वे पहले यही पूछते—"शारदामाँ (स्वामी परमहंस की सहधर्मिणी) का दर्शन किया। नहीं, तो जाओ पहले उनके दर्शन कर आओ यहाँ जो कुछ भी है सब उनका ही प्रसाद है।"

जन्म से मुसलमान होने के कारण बाबा ने दो बार हज की यात्रा की और शिष्य-परम्परा से हिन्दू के नाते चारों धाम की तीर्थ यात्रा की। उनके उदार धार्मिक—दृष्टिकोण का

ही परिणाम है हिन्दू और मुसलमान उनके समान रूप से प्रशंसक रहे है ।

धार्मिक-सहिष्णुता मे उनकी निष्ठा अपूर्व थी । कट्टर इस्लाम मतानुयायी होते हुए भी उन्होंने कभी इस दृष्टि से दुराग्रह नहीं किया । वे कहा करते थे कि विभिन्न धर्म से एक ही मंजिल तक अलग-अलग पहुँचने के रास्ते है । मेरे गुरु ने यही सिखाया है और मै इस सीख पर हमेशा अमल करता रहूँगा । सैकड़ो मन्दिर, अनेक मस्जिद उनकी सहृदयता से लाभान्वित हुईं । उन्होंने पूरी मेहनत से कमाया और मुक्त हस्त से दान दिया ।

रामकृष्ण परमहंस को उन्होने धार्मिक भेदभाव से ऊँचा माना था । इसीलिए उन्होने स्वामीजी को अपना गुरु चुना और रामकृष्ण परमहंस ने भी अपने शिष्य को परखकर ही स्वीकार किया था । उस्ताद अलाउद्दीनखाँ के शिष्यो में हिन्दू मुसलमान सभी धर्म एवं मत के लोग थे ।

अपनी संगीत-साधना मे वे सन्तोष और विश्वास के बल पर उठे । मनुष्य के व्यक्तित्व को उत्कृष्ट और उन्नत बनाने वाले इन दो सद्गुणो को दृढ़ता से पकड़े रखा । जो उपलब्ध है उसमे सन्तुष्ट रहकर भविष्य के लिए ईश्वर पर विश्वास रखकर निश्चिन्त रहना उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी और इसी कारण वे अविराम अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिए चलते रहे । उनका सारा जीवन संगीत के प्रचार, प्रसार व संरक्षण मे बीता और मरने के बाद भी उन्होंने ऐसे सक्षम उत्तराधिकारी शिष्य बनाकर छोड़े जो उनके कार्य को आगे बढ़ाने मे लगे हुए है ।

एक सौ दस वर्ष की आयु मे संगीत का यह अनन्य आराधक ७ सितम्बर, १९७२ को अपनी इहलीला समाप्त कर परलोकवासी हो गया । पर उनकी नाद-ब्रह्म की साधना-पद्धति जो स्वयं के साथ अन्य औरो को भी आनन्दाभिभूत कर उठती है—अमर है ।

जिन्होंने संगीत को विलासिता की धारा से मुक्त किया—श्रीकृष्ण नारायण रतनंजकर

कभी-कभी आदमी को जीवन मे दोराहे पर खड़े होकर सोचने को विवश होना पड़ता है कि वह किस मार्ग को चुने । यह नाजुक समय बड़ा महत्वपूर्ण होता है । एक ओर ी होती है जीवन की सुख-सुविधाओ की सहज प्राप्ति की क्की सड़क, जिसे आजकल की भाषा मे सुनहरा कैरियर हा जा सकता है तथा दूसरी ओर होती आत्म प्रेरित साधना कटकाकीर्ण पथ जिसमे सुख का स्थान जोखिम ले लेती । जहाँ सहजता और निश्चितता को कोई स्थान नहीं होता , रास्ते के ककड़-काँटे बीनकर अपना पथ स्वय निर्मित की कष्ट-साध्य-प्रक्रिया होती है ।

यह अवसर हर आदमी के जीवन मे एक या एक से अधिक बार आते हैं । सामान्य साहस का और कमजोर सकल्पो का व्यक्ति सुख के पारम्परिक मार्ग को ही चुनता है और भीड़ में मिलकर अपना सारा अस्तित्व ही विसर्जित कर देता है । पर कुछ हिम्मत वाले ऐसे भी होते है जिन्हें जोखिमो से प्यार होता है और जो नया पथ गढ़ने का साहस रखते हैं, वे दूसरे प्रकार के सतत् कर्मरत-साधना-पथ को चुनते हैं ।

१९२५ में श्रीकृष्ण नारायण रतनजंकर नामक युवक ने भी स्वयं को ऐसे ही दोराहे पर खड़ा पाया । उसने बम्बई के विल्सन कॉलेज से बी. ए. कर लिया था । उन दिनो पढ़े-लिखे लोगो की बड़ी कमी थी । ग्रेजुएशन की बड़ी कीमत थी । बी.ए. की डिग्री के सहारे अंग्रेजसरकार की ऊँची-ऊँची नौकरियो को पाने और उनके साथ जुड़े रौबदाँब, ठाठबाट और सुख-चैन की जिंदगी जीने की सारी की सारी सहज सम्भावनाएँ जुड़ी हुई थी । किन्तु यह सब एक शर्त पर ही मिल सकता था आत्मसंतोष को खोकर । आत्मा की हूक कुछ और ही थी । वह हूक थी भारतीय-संगीत को अपने पूर्व गौरवपूर्ण-पद पर प्रतिष्ठापित करने की कामना ।

विगत काल की सामंतशाही और उसके बाद की पराधीनता ने भारत को राजनैतिक दासता के बन्धनो मे ही नहीं जकड़ा था वरन् हर क्षेत्र—संगीत, साहित्य, कला, संस्कृति तथा धर्म के मूल, शुद्ध और लोकोपकारी स्वरूप को ही विकृत करके या तो पलायनवादी बना दिया था या भोगपरक विलासोन्मुख केन्द्रित रसानुभूति के पंक मे निमिज्जत करके रख दिया था । उस समय का हर विवेकशील भारतीय इस बात को समझ रहा था और अपना दायित्व भी महसूस कर रहा था ।

श्रीकृष्ण नारायण ने यो तो अपने जीवन मे अभी छत्तीस बसंत ही देखे थे पर उन्हे अपने समाज और उसकी बौद्धिक, सास्कृतिक और कलात्मक धरोहर की विकृति पर जितना दु:ख था उसका आयु के साथ कोई सम्बन्ध नही था । वह अपने कन्धो पर उस दायित्व को अनुभव कर रहे थे ।

भावी संकटो और कष्ट के जीवन की आशंका से सकल्प वाले अपने महान ध्येय को नही छोड़ते । इस विचार ने उन्हे अपूर्व शक्ति प्रदान की और वे सुविधाओ और सहजताओ की ओर आकृष्ट नही हुए । भारतीय-संगीत को उसके पूर्व गरिमामय-पद पर प्रतिष्ठापित करने का जोखिम भरा पथ ही अपने लिये उचित माना ।

मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वह हमेशा सहज कार्य को, सहज-जीवन को सहज ही अपना लेता है । इस प्रकार वह स्वयं ही अपने पुरुषार्थ के मार्ग मे बाधा बनकर खड़ा हो जाता है । रतनजकर इस दुर्बलता के शिकार नहीं हुए तो आज उन्हे भारतीय संगीत के उद्धारक सगीत-साधक के रूप मे सादर स्मरण किया जाता है । इसके

विपरीत उन युवकों का कहीं नाम निशान भी नहीं मिलता जो सहज सुख से आकृष्ट होकर भीड़ में खो गये ।

१३ फरवरी, १९७४ की रात्रि को भारतीय संगीत के इतिहास में ऐसी अमावस्या के रूप मे याद किया जाता रहेगा । जिस रात संगीत के एक नहीं दो-दो चन्द्रमा अस्त हो गये । उस्ताद अमीरखाँ और पं. रतनंजकर । इस क्षति से सहस्रावधि जन-समुदाय के हृदय में दर्द के सोते बह निकले । ऐसी मौत जो हजारों को रुला जाय, उन्हीं लोगों को मिलती है जो जिंदगी के हर लम्हे का उपयोग एक उच्च ध्येय के लिये करते हैं ।

पं. रतनंजकर का जन्म ३१ दिसम्बर सन् १८९९ को एक संगीत-प्रेमी परिवार में हुआ था । सात वर्ष की आयु में ही उनके पिता ने उन्हे संगीत का शिक्षण देना आरम्भ किया । भारतीय-संगीत का सीधा सम्बन्ध अध्यात्म से है । इसका ध्येय तन-मन रंजन न होकर आत्मरंजन है । संगीत-साधना, ईश्वर-भक्ति का ही एक रूप है और उसी स्तर का कार्य है । यह नाद-ब्रह्म की उपासना है । उसके सात वर्ष के ग्रहणशील कोरे मन-मस्तिष्क पर संगीत के इस शिक्षण ने स्थायी प्रभाव डाला ।

आपदाएँ तो व्यक्तित्व के निर्माण के लिये लगभग अनिवार्य होती हैं सो वे रतनंजकर को ही क्यो मुक्त छोड़ देतीं । तेरहवर्ष की आयु में जननी साथ छोड़ गयीं । सहधर्मिणी का यह चिर, वियोग-हृदय रोग पीड़ित पिता के लिये असह्य था सो उन्होने खाट पकड़ ली । नौकरी गयी और रोग ने आ घेरा । बालक श्रीकृष्ण नारायण को लगे इन आघातों ने उन्हें और भी संगीत की ओर झुका दिया ।

इसके बाद सगीत सीखना और विद्योपार्जन करना ये दोनों ही क्रम एक साथ चले । किशोर रतनंजकर की लगन और साधना ने उनके संगीत में जो निखार पैदा किया उसे देखकर कई पारखियो की दृष्टि इस हीरे पर आकर लगी । १९१६ मे बड़ौदा संगीत सम्मेलन के अवसर पर वे उस्ताद फैयाज खाँ के सम्पर्क मे आये । पाँच वर्ष तक उन्होंने उनसे सगीत सीखा । प. विष्णु नारायणभातखण्डे से उन्हें संगीत का शिक्षण भी मिला और संगीत का वह स्पृहणीय स्वरूप भी जिस पर भारतीय संगीतकार गर्व कर सकते हैं ।

संगीत-साधना करते हुए उन्होने बी. ए. किया और बी. ए. करने के बाद नौकरी नहीं सगीत की सेवा की । पिछले समय में संगीत राज्याश्रय में पलने के कारण विकृत हो चला था । इस विकृति के साथ ही संगीतकार का सम्मान भी घट गया । संगीत को सरकारी गायक, गायिकाओं तथा रूपाजीवा नृत्यांगनाओं के कोष्ठो की कारा से मुक्त करके जन-सामान्य और प्रतिष्ठित वर्ग मे प्रतिष्ठापित करने का जो कार्य पं. विष्णु दिगम्बर पुलुस्कर ने आरम्भ किया था, उसे आगे बढ़ाने का कार्य करने वाले संगीत साधको की कमी को पूरा करने का श्रेय पं. रतनंजकर को है ।

यह बड़ा कठिन कार्य था क्योकि अभी तक थोड़े से सगीतज्ञों को छोड़कर सभी संगीतज्ञ राजदरबारो के आश्रय मे रह रहे थे । राजाओं को प्रसन्न करना उनके लिये आवश्यक था । इसके लिये उन्हे संगीत के साथ ऐन्द्रिक विलास को भी जोड़ना पड़ा था । यही संगीत के कलंकित होने का कारण भी था और संगीतज्ञों को गवैये का सम्बोधन दिलाने वाला भी । अब उनके सामने व्यक्तिगत रूप से तो अपनी जीविका भी संगीत के माध्यम से और वह भी पारम्परिक ढंग का व्यूह भेदते हुए करने का काम था । संगीत के माथे से विलासिता के कलंक को हटाने और उसे उस्तादो के चंगुल से निकालकर भारतीय-जनता में प्रतिष्ठित करने का अपना सपना भी पूरा करना था । संगीत की सम्यक-शिक्षा पद्धति उसकी मूल-आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए विकसित करनी थी । शुद्धस्वरों और बाजारूपन से मुक्त संगीतकार के रूप मे प्रतिष्ठा अर्जित करके आगे आने वाले संगीत साधकों के लिये राह बनानी थी । ये सब दायित्व पं. रतनंजकर ने अपने कन्धों पर लादे और उन्हे पूरे किये ।

उन्होने भारतीय-संगीत का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया । पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के रूप मे उन्हे सुयोग्य गुरु मिले तो पं. भातखण्डे को उनके रूप मे सुयोग्य उत्तराधिकारी । भातखण्डे जी के साथ व अकेले भी उन्होने सारे देश मे भ्रमण करके संगीत की उस आत्मा का उद्धार किया जो हास-विलास और ऐन्द्रिकता के नीचे दबी छटपटा रही थी । पुराने राग-रागनियों का पुनरुद्धार और नवीन का सृजन-क्रम उन्होंने साथ ही साथ चलाया । संगीत को उस्तादो की गद्दियो से निकालकर उसे व्यवस्थित शिक्षा-क्रम में ढालने का महत्वपूर्ण कठिन कार्य उन्होने किया ।

उनका कार्य विशिष्ट ध्येय को लिये हुए था । बने बनाये मार्ग पर चलकर मंजिल पा लेना एक बात है और अपने लिये नया मार्ग बनाकर मंजिल पा लेना दूसरी बात है पर पं. रतनंजकर ने तो अपने लिये नहीं दूसरो के लिये मार्ग बनाया था । इसके लिये उन्होने संगीत के क्षेत्र मे अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को भी विसर्जित कर दिया था ।

तेरह वर्ष के श्रीकृष्ण नारायण का संगीत सुनकर उस्तादकरीमखाँ मुग्ध हो गये थे और उन्हें अपने साथ ले जाने लगे थे पर उन्हें तो भातखण्डेजी की परम्परा को निभाना था सो उनके पिता ने उन्हें उस्ताद के साथ नहीं भेजा । उनकी यह प्रतिभा आगे चलकर अभ्यास के साथ ही और भी निखरी । उस्ताद फैयाज खाँ की रंजकता को भी उन्होंने अपने शास्त्रसम्मत संगीत के परिवेश मे बड़ी खूबी के साथ बाँध लिया, आगराशैली के वे सुघड़ गायक थे । वे चाहते तो गायक और संगीतकार के रूप मे और भी अधिक ख्याति पा सकते थे उन्होंने इस प्रसिद्धि के स्थान पर उस कार्य को महत्व दिया जो कि भारतीय-संगीत की क्रमबद्ध शिक्षा का स्वरूप स्थापित करने के लिये आवश्यक था । प्रसिद्धि की ओर न जाकर ठोस कार्य करने का उनका यह कदम गायक और संगीतकार रतनंजकर के लिये भले ही हितकर न रहा

हो पर भारतीय-संगीत के लिये तो बहुत उपयोगी रहा। वह एक बहुत बड़ा त्याग था।

उनके गुरु भातखण्डे जी ने लखनऊ में 'मैरिस म्यूजिक कॉलेज' की स्थापना की तो वे इसके प्राचार्य बनाये गये। यह आचार्य पद सही माने में काँटों का ताज था। संस्थान की आर्थिक स्थिति जितनी शोचनीय थी उसके लक्ष्य और विस्तार की योजनाएँ उतनी ही लम्बी-चौड़ी थीं। वस्तुतः यहाँ प्राचार्य बनने का अर्थ था असम्भाव्य को संभव कर दिखाना। पं. रतनंजकर ने इस दुर्वह दायित्व को जिस कौशल से निभाया और ऐसे लक्ष्यों को पूरा किया जिनके पूरे होने की आशा ही नहीं थी यह उनकी लगन, विश्वास, कर्मठता और आशावादिता का ही परिणाम था।

संगीत को 'विलासिता' की कारा से मुक्त करके उसके क्रमबद्ध व्यवस्थित शिक्षा-क्रम का स्वरूप बनाने और उसे अभिशप्त परिवेश से काटकर भारतीय-जनमानस में स्थान दिलाने का तपपूर्ण कार्य करने वाले पं. रतनजकर ने भी एक स्वतन्त्रता-संग्राम लड़ा था। यद्यपि वे क्रान्तिकारियों की तरह बम और पिस्तौल लेकर विद्रोही नहीं बने थे, अहिंसक सत्याग्रहियों की तरह उन्होंने लाठियाँ और गोलियाँ नहीं खायी थीं पर उन्होंने अपने क्षेत्र मे जो कार्य किया वह कुछ इसी किस्म का था। युद्ध सिपाही भी लड़ता है और किसान भी। वह राजनैतिक स्वतन्त्रता की लड़ाई थी तो यह कला को पराधीनता से मुक्त कराने की लड़ाई थी। इस परम्परा के जाने-माने सेनानियों मे उनकी गणना की जाती रहेगी।

संगीत को उन्होंने शास्त्र के साथ ही जोड़ा। उसकी बिखरी हुई मर्यादाओं को जोड़कर उसे ऐसे गरिमामय आसन पर प्रतिष्ठापित किया कि जिसका पदवदन कर हर कोई स्वयं धन्य हो और दुनिया उसे सम्मान दे। संगीत को वेश्या भाण्ड और गवैयों की कमाई का स्रोत न रखकर नादब्रह्म की उपासना का, लोक-जागरण व लोकरंजन का साधन बनाने के लिये उन्होंने अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया। संगीत की दुनिया मे उन्होंने नये प्रतिमान बनाये।

वे गायक, प्रकाण्ड पंडित, शास्त्रकार व प्रथम श्रेणी के शिक्षक थे।

उनके 'मैरिस म्यूजिक कॉलेज' से भारत के कितने ही संगीत-विद्यालय सम्बद्ध रहे थे। इन विद्यालयों के माध्यम से उन्होंने एक तरफ शुद्ध, परिष्कृत, आदर्शोन्मुख संगीत के साधक उपजाए दूसरी ओर उसे समझने, उसमे रस लेने वाला एक वर्ग भी निर्मित किया। इससे संगीत को एक नया जीवन मिला। पं. विष्णु दिगम्बर पुलुस्कर पर एक बार किसी दरबारी गायिका ने ताना कसा था—"आप कितने तानसेन पैदा कर पाये हैं।" इस पर पं. जी ने जो सटीक उत्तर दिया था—"तानसेन स्वयं भी एक तानसेन नहीं बना सका था तो मैं क्या बना सकूँगा, पर मैंने जो हजारों तानसेन पैदा किये है ये भारतीय संगीत को नया जीवन दे सकेंगे।" पण्डित जी के उसी कार्य को इन्होंने आगे बढ़ाया था। अधिकाधिक लोग संगीत के अर्थ को, उद्देश्य को और उपयोग को समझ सकें, उसकी साधना कर सकें, उससे लाभ उठा सकें, इसी से संगीत को नया जीवन मिलता है। ऐसा ही उनका प्रयास रहा।

उन्होंने संगीत के प्रचार के लिये स्थान-स्थान पर संगीत-सम्मेलनों का आयोजन ही नहीं कराया वरन् वे अपने लेखों व भाषणों द्वारा भी इसका प्रचार करते रहे थे। उन्होंने स्वरों की शुद्धता और संगीत की आत्मा की रक्षा करते हुए 'अभिनव-गीत-मंजरी' नामक पुस्तक तैयार की। इसमे उनकी १५० से अधिक रचनाएँ संग्रहीत है। विद्यार्थियों के लिये उन्होंने 'संगीत-शिक्षा' व 'तान-संग्रह' नामक पुस्तक तैयार की जो संगीत सीखने वालों के लिये बहुत उपयोगी है।

बहुत से लोग उन पर यह आक्षेप लगाते हैं कि उन्होंने स्वरों की शुद्धता व भावनाओं की उत्तमता पर अत्यधिक जोर देकर संगीत को नीरस बना दिया है। आलोचकों का यह कथन सही नहीं है। संगीत को विलासिता और मात्र रंजकता से मुक्त करने के लिये यह सब आवश्यक था। वह संगीत भला समाज को क्या दे सकता है जो मात्र हास-विलास की भावनाओं को ही जगाता रहे। उन्हे तो संगीत के क्षेत्र में क्रान्ति लाना था। उसे लोकोपयोगी ही नहीं हितकारी भी बनाना था।

उन्होंने अपनी परम्परा के बी. पी. कौशिक, राजेन्द्रसिंह, श्रीमती सुमति कुटाटकर, शत्रुघ्न शुक्ल, के. जी. गिंडे, सीताशरण सिंह, आर. सी. भट्ट, चिन्मय लाहिड़ी, दिनकर कैकिणी प्रभृति संगीत साधक भारतीय शास्त्रीय संगीत को दिये। इससे भी अधिक उन्होंने जो शिक्षणक्रम बनाकर संगीत शिक्षा का द्वार खोला वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ऐसी विभूतियों की हर देश को, हर समाज को, हर समय मे आवश्यकता रहती है।

लोककल्याण के लिए समर्पित महान विभूतियाँ

नारीजागरण के संदेशवाहक—
ईश्वर चन्द विद्यासागर

गर्मी के दिन थे। दोपहर के समय पीड़ित एक वृद्धा क के किनारे पड़ी अन्तिम साँसें गिन रही थी। लोग ते और मुँह फेरकर उधर से निकल जाते। कौन उस न्ययुक्त महिला को छुए ? संयोगवश उसी मार्ग से वरचन्द विद्यासागर निकले। उन्होने घृणा से अपनी दृष्टि नहीं वरन् उनके पास गये। सारी स्थिति का अवलोकन किया र गोदी में उठाकर अपने घर ले आये। वृद्धा की कित्सा की और खाने-पीने का सारा इन्तजाम किया। स्वस्थ जाने पर ईश्वरचन्द ने आजीवन उसके पालन-पोषण की वस्था की।

जन-जन में अपनी आत्मा के स्वरूप का ही दर्शन ने वाले ईश्वरचन्द का जन्म मेदिनीपुर जिले के वीरसिंह मक ग्राम मे ऐसे समय हुआ था जब विदेशी जातियाँ बरतापूर्ण ढंग से भारतीयो की इज्जत लूटने मे लगी थी। रवरचन्द दरिद्र परिवार में जन्म लेकर और दरिद्रावस्था मे वन व्यतीत करके भी कभी वित्तेषणा के व्यामोह मे न से। उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया गया फिर भी माज सेवा के कर्त्तव्य से विमुख न हुए।

पं. ईश्वरचन्द वन्द्योपाध्याय ने १९वीं शताब्दी के द्वानों मे जो प्रमुख स्थान बनाया था उसके मूल मे उनका ठोर परिश्रम ही दिखलाई पड़ता है। ९ वर्ष की आयु में संस्कृत-कालेज में प्रवेश लेकर वर्षों तक सतत अध्ययनशील हे। उनके इस अध्ययनकाल को तपपूरित जीवन कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। उन्हे अपना खर्च चलाने के लिए दूसरो का भोजन बनाना, बरतन माँजना और सफाई जैसे अनेक कार्य करने होते थे। इस कार्यों के बाद जो समय बचता वह कालेज मे निकल जाता था। घर पर पढ़ने के लिए दिन मे तनिक भी समय न बचता। रात को केवल १० बजे से १२ बजे तक नींद लेते और फिर किताबे लेकर बैठ जाते और सुबह होते ही फिर दूसरो के कार्य पर जाना होता।

गरीबी ने उनको इतना अधिक घेर रखा था कि रात की पढ़ाई भी वह अपने कमरे मे शान्तचित्त से न कर पाते। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी कि दीपक के लिए तेल कहाँ से लाये ? अतः सड़क के किनारे स्थित नगरपालिका की लालटेन से उन्हें अपनी पढ़ाई करनी होती थी। कभी-कभी रात मे अधिक नीद सताती तो वह आँखो मे सरसो का तेल लगा लेते या अपनी चोटी को पीछे किसी वस्तु से बाँध लेते। उनकी परिश्रमशीलता का ही परिणाम था कि उन्हें एक

के अभाव का रोना रोने वाले व्यक्तियो के लिए ईश्वरचन्द का जीवन एक ईर्ष्या की वस्तु हो सकता है। ऐसे व्यक्तियो के अन्धकारमय जीवन में ईश्वरचन्द की परिश्रमशीलता और सच्ची लगन प्रकाश की एक किरण बन सकती है, जिसके सहारे वे अपने अवशेष दिनो की यात्रा पूर्ण कर सके।

अध्ययन समाप्त करने पर ईश्वरचन्द की नियुक्ति प्रधान पण्डित के पद पर फोर्ट विलयम पार्ले कॉलेज में हुई। परिश्रमशीलता और ईमानदारी के कारण सहायक अधीक्षक, प्रोफेसर और प्राचार्य जैसे महत्त्वपूर्ण पदों तक जा पहुँचे। इस अवधि में उन्होंने संस्कृत-व्याकरण के प्रथम तीनों भाग प्रकाशित किए जो पर्याप्त समय तक पाठ्य पुस्तक के रूप मे चलते रहे। तत्पश्चात् उनकी नियुक्ति जिलाविद्यालय निरीक्षक के पद पर हुई और वे इसी पद से सन् १८६५ में सेवानिवृत्त हो गये। आज भले ही इस प्रकार के पदो का कोई विशेष महत्व न हो पर उन दिनो जब इन महत्त्वपूर्ण पदो पर केवल अँग्रेजो की ही नियुक्ति होती थी, कोई असाधारण प्रतिभा का भारतीय ही इन पदो को प्राप्त कर पाता था। उन्होंने कई बंगला पुस्तके भी लिखी थी। १ जनवरी, १८७७ को उनकी संस्कृत की विद्वता के लिए महारानी विक्टोरिया ने उन्हे सी. आई. ई. की उपाधि से विभूषित किया था।

ईश्वरचन्द सादा जीवन और उच्च विचारो की प्रतिमूर्ति थे। उनकी सादा वेषभूषा सौम्यता की प्रतीक थी। उन्हे भले ही बड़े से बड़े पदाधिकारियों से मिलने जाना हो वह धोती, चादर और चप्पल के अतिरिक्त और कुछ धारण न करते थे। पराधीन भारत में जन्म लेकर भी उनका स्वाभिमान देखते ही बनता था। जिन दिनों वे कलकत्ता संस्कृत कालेज के प्राचार्य थे, अँग्रेज शिक्षा अधिकारी से मुलाकात करने गये। जब वह घर पर पहुँचे तो उन्होने देखा कि वह अधिकारी जूते पहने ही पैर मेज पर रखकर बैठा था। ईश्वरचन्द के पहुँचने पर भी उसने पैर नीचे न किये। शायद उनके मन में आया कि पराधीन देश के निवासी के सम्मुख किसी प्रकार भद्रता बरतने की क्या आवश्यकता ? ईश्वरचन्द आवश्यक चर्चा कर अपने कालेज लौट आये। कुछ दिनो के बाद उसी शिक्षा अधिकारी को कालेज आने का काम पड़ गया। उन्होंने जैसे ही आफिस मे प्रवेश किया ईश्वरचन्द का उठकर स्वागत करना तो दूर रहा उन्होंने अपने पैर चप्पल सहित मेज पर रख लिए और उन्हे बैठने का संकेत किया। अँग्रेज शिक्षा अधिकारी ईश्वरचन्द के इस व्यवहार से बहुत झेपा और शर्मिन्दा होकर अपना-सा मुँह लिए वापस लौट गया। ईश्वरचन्द ने अपने व्यवहार से उसे सोचने के लिए विवश किया कि भले ही कोई व्यक्ति हो, शिष्टता का अपना महत्व

समझदार को करना ही चाहिए । जैसा दूसरों से चाहते हो वैसा ही स्वयं करो का मूक संदेश ईश्वरचन्द ने उस अधिकारी को दिया था ।

एक बार उन्हें अपनी माँ का पत्र मिला जिसमे छोटे भाई के विवाह के कारण घर आने का आग्रह था । ईश्वरचन्द का उच्च अधिकारी अवकाश देने को तैयार न था । वह त्यागपत्र लेकर उनके पास पहुँच गये । अँग्रेज साहब की आज्ञा से माँ की आज्ञा उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थी । वरिष्ठ अधिकारी को आश्चर्य हुआ । वह एक क्षण को अवाक् रह गया । उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि गुलाम देश का व्यक्ति भी कम्पनी की नौकरी से इस प्रकार मुँह मोड़ सकता है और इतना अधिक स्वाभिमानी हो सकता है । अन्त में विवश होकर वरिष्ठ अधिकारी को अवकाश देना ही पड़ा ।

ईश्वरचन्द एक ओर जहाँ विद्यासागर थे वहाँ दया सागर भी । पीड़ित मानवता के प्रति उनके हृदय मे करुणा की भावना थी । वे कितने ही छात्रो को पढ़ाई का खर्च भी देते थे । जिन दिनो माइकेल मधुसूदनदत्त पेरिस मे आपत्तिग्रस्त थे, उस समय उनकी सहायता करने वाले ईश्वरचन्द ही थे जिन्होंने ६ हजार रुपये भेजकर आड़े समय मे सहायता की । कितने ही निर्धनो के अन्न-वस्त्र का वे प्रबन्ध करते थे । वह किसी ऋणग्रस्त को परेशान देखते तो चुपचाप ही उसका ऋण मय ब्याज के चुकता कर देते । यदि कोई माता-पिता कन्यादान करने में अपने को असमर्थ पाते तो उन्हे ईश्वरचन्द के लम्बे हाथ सहायता पहुँचाते हुए दिखलाई पड़ते थे ।

हिन्दू-विधवाओं की दयनीय स्थिति को देखकर उनका हृदय रो पड़ा । इस कुरीति का उन्मूलन करने के लिए वे चल पड़े । उन्होने संकल्प कर लिया । उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक बार विवेक की कसौटी पर उन्हें जो बात खरी लगी उसे व्यवहार मे देने में तनिक संकोच न होता था । उन्होंने धर्म-ग्रन्थों के आधार पर अकाट्य तर्कों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि विधवा-विवाह शास्त्र सम्मत है । यदि कोई पति, पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह कर सकता है तो विधवा भी पुनर्विवाह करने का अधिकार रखती है । फिर क्या था ? ईश्वरचन्द का घर विधवाओं का शरण-स्थल बन गया जो अपना दूसरा विवाह करना चाहती थीं ।

यहाँ तक घोषणा कर दी "जो व्यक्ति ईश्वरचन्द के साथ भोजन करेगा, उनके विचारों का समर्थन करेगा वह भी समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा ।"

ईश्वरचन्द इन विरोधों के बावजूद भी अपने मार्ग से विचलित न हुए । नारी-जागरण के जिस मार्ग पर वे आगे बढ़े थे बढ़ते ही चले गये । वे स्त्री शिक्षा के समर्थक थे । वे अच्छी तरह जानते थे कि जब तक समाज के अर्द्ध भाग को अपंग स्थिति से निकालकर समर्थ नहीं बनाया जाता तब तक समाज की गाड़ी द्रुतगति से आगे नहीं बढ़ सकती । इसके लिए स्त्री-शिक्षा पर बल दिया और इसकी पूर्ति हेतु अनेक कन्या-विद्यालयो की स्थापना की ।

ईश्वरचन्द की सेवाओं की भले ही रूढ़िवादी पण्डितों द्वारा उपेक्षा की गई हो, पर वे अपने समय के कट्टर हिन्दू थे जिन्होंने विधवाओं को अनाचार के मार्ग पर बढ़ने न दिया वरन् भारतीयनारी का गृहलक्ष्मी रूप बने रहने का मार्ग आलोकित किया ।

२९ जुलाई, १८९१ मानवता के इतिहास मे ऐसा दिन है जब हृदय-रोग से वे स्वर्गवासी हुए । भारतीय समाज उनका चिरऋणी है । ईश्वरचन्द विद्यासागर के जीवन के कुछ मार्मिक एवं प्रेरणादायी प्रसंग इस प्रकार हैं ।

मानवता की सेवा ही जिनका धर्म था

ईश्वरचन्द विद्यासागर एक दिन अपने मित्र के साथ एक गाँव जा रहे थे । रास्ते में हैजा से आक्रान्त एक दीन-हीन व्यक्ति मूर्छित अवस्था मे पड़ा मिला । विद्यासागर उसकी सफाई करके पास के अस्पताल में पहुँचाने का उपक्रम करने लगे ।

साथी मित्र ने कहा—हम लोग आवश्यक काम से जा रहे हैं । उस छोटे काम को कोई और कर लेगा, हम लोग अपना कार्य क्यों छोड़ें ?

विद्यासागर ने कहा—मानवता की सेवा से बढ़ कर और कोई काम बड़ा नहीं हो सकता । इस निस्सहाय पीड़ित की उपेक्षा करके अपनी निष्ठुरता से तो हम लोग कलंकित करेंगे । निष्ठुर व्यक्ति का कोई कार्य भला नहीं कहा जा सकता ।

चुकाने वाले ईश्वरचन्द विद्यासागर थे जो गरीबी मे पले और गरीबी दूर करने के लिए ही अन्त तक प्रयास करते रहे ।

सफलता का रहस्य

एक बार विद्यासागर को रास्ते में एक भिखारी बालक मिल गया । वह उनके सामने हाथ फैलाकर एक पैसा माँगने लगा । विद्यासागर ने पूछा "यदि मै तुम्हें एक पैसे के स्थान पर एक रुपया दे दूँ तो तुम उस का क्या करोगे ।" वह बालक रुपये की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ उसने कहा "बाबूजी ! मैं भीख माँगना ही छोड़ दूँगा ।"

विद्यासागर उसके हाथ पर एक रुपया रखकर आगे बढ़ गये । कुछ वर्षों बाद विद्यासागर फिर उसी बाजार से जा रहे थे । सामने से एक युवक धोती कुर्ता पहने आया और झुककर उन्हें प्रणाम किया । विद्यासागर भी रुक गये तो उसने निवेदन किया "बाबूजी ! कृपया मेरी दुकान पर चलकर उसे पवित्र कीजिये ।"

विद्यासागर उस युवक की बात न टाल सके । थोड़ी ही देर में फल की बड़ी दुकान के सामने उन्होने अपने को खड़ा पाया । युवक ने कहा "यह दुकान आपकी ही है । शायद आपको याद होगा कि एक बार भिखारी को एक पैसे के बदले मे आपने एक रुपया दिया था और यह मंत्र सिखाया था कि मनुष्य को अपनी आजीविका आप कमानी चाहिए, उसी रुपये से मैने फलो का व्यवसाय शुरू कर दिया और आज इतनी बड़ी दुकान है ।"

विद्यासागर बहुत प्रसन्न हुए और अधिक उन्नति करने का आशीर्वाद देते हुए उन्होने कहा—बेटा जो लोग तुम्हारी तरह शिक्षा ग्रहण करते हैं उनके लिये यह सफलता कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है ।

कोई छोटा-बड़ा नहीं होता

एक बार ईश्वरचन्द विद्यासागर अपने एक बड़े जमींदार मित्र से भेट करने कलकत्ता जा रहे थे । एक साधारण दुकानदार ने उन्हें बुलाया और बैठने को एक बोरा बिछा दिया । विद्यासागर बोरे पर बैठकर उससे बाते करने लगे । उसी समय उनका जमींदार मित्र बग्घी पर कहीं जा रहा था । वह उन्हें देखकर कुछ झिझक से उतरा

शिकायत का कोई अवसर न मिले । वह गरीब है, केवल इसलिये मैं अपने दुकानदार मित्र का अपमान नहीं कर सकता ।"

विज्ञान और धर्म के समन्वय साधक—डॉ. सत्येनबसु

तब कलकत्ता विश्वविद्यालय मे विज्ञानसंकाय के अध्यक्ष डॉ. सत्येन्द्रनाथबसु थे । उस वर्ष छात्र अपने आपसी झगड़ों में उलझे रहने के कारण परीक्षा की तैयारियाँ नहीं कर पाये थे । कक्षाएँ नियमित रूप से चलती थीं परन्तु विद्यार्थी

समझदार को करना ही चाहिए । जैसा दूसरों से चाहते हो वैसा ही स्वयं करो का मूक संदेश ईश्वरचन्द ने उस अधिकारी को दिया था ।

एक बार उन्हे अपनी माँ का पत्र मिला जिसमे छोटे भाई के विवाह के कारण घर आने का आग्रह था । ईश्वरचन्द का उच्च अधिकारी अवकाश देने को तैयार न था । वह त्यागपत्र लेकर उनके पास पहुँच गये । अँग्रेज साहब की आज्ञा से माँ की आज्ञा उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थी । वरिष्ठ अधिकारी को आश्चर्य हुआ । वह एक क्षण को अवाक् रह गया । उसकी समझ मे नही आ रहा था कि गुलाम देश का व्यक्ति भी कम्पनी की नौकरी से इस प्रकार मुँह मोड़ सकता है और इतना अधिक स्वाभिमानी हो सकता है । अन्त मे विवश होकर वरिष्ठ अधिकारी को अवकाश देना ही पड़ा ।

ईश्वरचन्द एक ओर जहाँ विद्यासागर थे वहाँ दया सागर भी । पीड़ित मानवता के प्रति उनके हृदय मे करुणा की भावना थी । वे कितने ही छात्रो को पढ़ाई का खर्च भी देते थे । जिन दिनो माइकेल मधुसूदनदत्त पेरिस मे आपत्तिग्रस्त थे, उस समय उनकी सहायता करने वाले ईश्वरचन्द ही थे जिन्होने ६ हजार रुपये भेजकर आड़े समय में सहायता की । कितने ही निर्धनो के अन्न-वस्त्र का वे प्रबन्ध करते थे । वह किसी ऋणग्रस्त को परेशान देखते तो चुपचाप ही उसका ऋण मय ब्याज के चुकता कर देते । यदि कोई माता-पिता कन्यादान करने मे अपने को असमर्थ पाते तो उन्हें ईश्वरचन्द के लम्बे हाथ सहायता पहुँचाते हुए दिखलाई पड़ते थे ।

हिन्दू-विधवाओ की दयनीय स्थिति को देखकर उनका हृदय रो पड़ा । इस कुरीति का उन्मूलन करने के लिए वे चल पड़े । उन्होने संकल्प कर लिया । उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक बार विवेक की कसौटी पर उन्हे जो बात खरी लगी उसे व्यवहार मे देने मे तनिक संकोच न होता था । उन्होने धर्म-ग्रन्थो के आधार पर अकाट्य तर्कों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि विधवा-विवाह शास्त्र सम्मत है । यदि कोई पति, पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह कर सकता है तो विधवा भी पुनर्विवाह करने का अधिकार रखती है । फिर क्या था ? ईश्वरचन्द का घर विधवाओ का शरण-स्थल बन गया जो अपना दूसरा विवाह करना चाहती थीं ।

अब तक विधवा-विवाह को कानून से अनुमति न मिली थी । राजा राममोहनराय के प्रयत्नो से सती प्रथा तो बन्द हो चुकी थी । अत: इस दिशा मे ईश्वरचन्द ने प्रयास करना शुरू कर दिया । सन् १८५६ मे सफलता मिल गयी और हिन्दू-विधवा कानून पास हो गया । पहला विधवा-विवाह उन्हीं के मकान पर उन्हीं के द्वारा सम्पन्न कराया गया । इससे पूरे समाज में सनसनी फैल गयी । तत्कालीन पण्डित भला ईश्वरचन्द के प्रगतिशील विचारों को अपना समर्थन कैसे दे सकते थे ? वे चिढ़ गये । उन्होने यहाँ तक घोषणा कर दी "जो व्यक्ति ईश्वरचन्द के घर भोजन करेगा, उनके विचारो का समर्थन करेगा वह भी समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा ।"

ईश्वरचन्द इन विरोधों के बावजूद भी अपने मार्ग से विचलित न हुए । नारी-जागरण के जिस मार्ग पर वे आगे बढ़े थे बढ़ते ही चले गये । वे स्त्री शिक्षा के समर्थक थे । वे अच्छी तरह जानते थे कि जब तक समाज के अर्द्ध भाग को अपंग स्थिति से निकालकर समर्थ नहीं बनाया जाता तब तक समाज की गाड़ी द्रुतगति से आगे नहीं बढ़ सकती । इसके लिए स्त्री-शिक्षा पर बल दिया और इसकी पूर्ति हेतु अनेक कन्या-विद्यालयो की स्थापना की ।

ईश्वरचन्द की सेवाओ की भले ही रूढ़िवादी पण्डितो द्वारा उपेक्षा की गई हो, पर वे अपने समय के कट्टर हिन्दू थे जिन्होंने विधवाओं को अनाचार के मार्ग पर बढ़ने न दिया वरन् भारतीयनारी का गृहलक्ष्मी रूप बने रहने का मार्ग आलोकित किया ।

२९ जुलाई, १८९१ मानवता के इतिहास मे ऐसा दिन है जब हृदय-रोग से वे स्वर्गवासी हुए । भारतीय समाज उनका चिरऋणी है । ईश्वरचन्द विद्यासागर के जीवन के कुछ मार्मिक एवं प्रेरणादायी प्रसंग इस प्रकार है ।

मानवता की सेवा ही जिनका धर्म था

ईश्वरचन्द विद्यासागर एक दिन अपने मित्र के साथ एक गाँव जा रहे थे । रास्ते मे हैजा से आक्रान्त एक दीन-हीन व्यक्ति मूर्छित अवस्था मे पड़ा मिला । विद्यासागर उसकी सफाई करके पास के अस्पताल मे पहुँचाने का उपक्रम करने लगे ।

साथी मित्र ने कहा—हम लोग आवश्यक काम से जा रहे हैं । उस छोटे काम को कोई और कर लेगा, हम लोग अपना कार्य क्यो छोड़े ?

विद्यासागर ने कहा—मानवता की सेवा से बढ़ कर और कोई काम बड़ा नहीं हो सकता । इस निस्सहाय पीड़ित की उपेक्षा करके अपनी निष्ठुरता ही तो हम लोग प्रमाणित करेगे । निष्ठुर व्यक्ति का कोई कार्य भला नहीं कहा जा सकता ।

लौकिक उत्तरदायित्व

श्री ईश्वरचन्द विद्यासागर को उन दिनो ५००/=रु. मासिक वेतन मिलता था । औसत भारतीय स्तर का निर्वाह ही उन्होंने न्यायोचित समझा और अपने सीमित परिवार का खर्च ५०/= रु. मासिक से चलाया शेष ४५०/= रु. की बचत को निर्धन छात्रों की आवश्यकतायें जुटाने में लगाया करते थे । वे हमेशा कहते थे अपने लौकिक उत्तरदायित्व घटाकर लोकसेवी को परमार्थ नियोजित कर देना चाहिए । उन्होंने यह कहा भी और आजीवन निवाहा भी ।

अतीत की स्मृति

ईश्वरचन्द विद्यासागर का निवास दूसरी मंजिल पर था। एक दिन उनके पास उनका एक नौकर एक आवश्यक पत्र लेकर पहुँचा। गर्मी का समय था। गर्मी की तपन से नौकर बेहाल हो सीढ़ी नहीं चढ़ पा रहा था। वह सीढ़ी के कोने मे ही बैठकर सो गया। विद्यासागर किसी काम से नीचे उतर रहे थे। नौकर को सीढ़ी पर सोते देख वे तुरन्त समझ गये कि, यह किसी आवश्यक कार्य से ही मेरे पास आ रहा होगा। उसके हाथों मे लगा पत्र उन्होने धीरे से निकाला और पढ़ने के बाद वापस अपने कमरे में गए।

कमरे से पंखा व जल लेकर नौकर को हवा करने लगे।

इसी बीच उनके एक मित्र आ गये। नौकर के ऊपर हवा करते देख स्तम्भित होकर बोले! आपने तो गजब कर दिया। सात-आठ रुपया महीना पाने वाले नौकर के ऊपर हवा कर रहे हैं।

करुणार्द्र शब्दों में तुरन्त ही विद्यासागर बोले—"तो क्या हुआ? मेरे पिता जी भी तो सात-आठ रुपया महीना ही पाते थे। एक दिन सड़क पर चलते-चलते इसी प्रकार मेरे पिता जी बेहोश हो गये थे तो एक फेरी वाले ने उन्हें पानी पिलाया था तथा हवा की थी। मैं तो इस नौकर मे अपने स्वर्गीय पिताजी की मूर्ति ही देख रहा हूँ।"

समर्थता की जिम्मेदारी

अदालत मे रोते हुये व्यक्ति को देखकर एक सहृदय ने कारण जानना चाहा, तो पता चला की उसने बहुत पहले अपनी पुत्री के विवाह के लिए कर्ज लिया था। कर्ज समय पर चुक नहीं पाया तो ब्याज पर ब्याज बढ़ता गया और अब तीन सौ रुपये हो गये।

ऐसे धनी जो अपना दिया हुआ कर्ज माफ कर दें बहुत कम होते हैं, वह तो दुगुने का कागज लिखाकर हर ढंग से वसूल करने का प्रयास करते हैं। वह कर्जदार तो अवधि बढ़ाने की फरियाद करने आया था। पर अदालत मे भी कोई सुनवाई न हुई, क्योंकि मामला बहुत पुराना था।

वह रोते हुये घर चला गया उसकी पत्नी ने बताया कि डिग्री करने वाले कई व्यक्ति आये थे और दरवाजा घेरे काफी देर खड़े रहे अन्त में किसी दयालु व्यक्ति ने कर्ज चुकाकर उन्हे विदा किया। अब उसे समझते देर न लगी कि जो व्यक्ति अदालत मे मुझसे बात कर रहा था शायद यहाँ आकर उसने मेरा दु:ख हल्का करने के लिए रुपये चुका दिये हो।

वह व्यक्ति उनका पता लगाते हुए घर पहुँचा और बड़े ही विनम्र शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करने लगा। उन्होंने कहा—"भाई! रुपये चुकाये तो मैंने ही हैं पर कहना किसी से मत। क्योंकि थोड़ा पैसा जेब में होने के कारण यह तो मेरा कर्तव्य ही था, जिसे मैंने पूरा किया।" यह रुपया चुकाने वाले ईश्वरचन्द विद्यासागर थे जो गरीबी में पले और गरीबी दूर करने के लिए ही अन्त तक प्रयास करते रहे।

सफलता का रहस्य

एक बार विद्यासागर को रास्ते में एक भिखारी बालक मिल गया। वह उनके सामने हाथ फैलाकर एक पैसा माँगने लगा। विद्यासागर ने पूछा "यदि मैं तुम्हे एक पैसे के स्थान पर एक रुपया दे दूँ तो तुम उस का क्या करोगे।" वह बालक रुपये की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ उसने कहा "बाबूजी! मैं भीख माँगना ही छोड़ दूँगा।"

विद्यासागर उसके हाथ पर एक रुपया रखकर आगे बढ़ गये। कुछ वर्षों बाद विद्यासागर फिर उसी बाजार से जा रहे थे। सामने से एक युवक धोती कुर्ता पहने आया और झुककर उन्हें प्रणाम किया। विद्यासागर भी रुक गये तो उसने निवेदन किया "बाबूजी! कृपया मेरी दुकान पर चलकर उसे पवित्र कीजिये।"

विद्यासागर उस युवक की बात न टाल सके। थोड़ी ही देर मे फल की बड़ी दुकान के सामने उन्होंने अपने को खड़ा पाया। युवक ने कहा "यह दुकान आपकी ही है। शायद आपको याद होगा कि एक बार भिखारी को एक पैसे के बदले मे आपने एक रुपया दिया था और यह मंत्र सिखाया था कि मनुष्य को अपनी आजीविका आप कमानी चाहिए, उसी रुपये से मैने फलो का व्यवसाय शुरू कर दिया और आज इतनी बड़ी दुकान है।"

विद्यासागर बहुत प्रसन्न हुए और अधिक उन्नति करने का आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—बेटा जो लोग तुम्हारी तरह शिक्षा ग्रहण करते है उनके लिये यह सफलता कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

कोई छोटा-बड़ा नहीं होता

एक बार ईश्वरचन्द विद्यासागर अपने एक बड़े जमींदार मित्र से भेंट करने कलकत्ता जा रहे थे। एक साधारण दुकानदार ने उन्हें बुलाया और बैठने को एक बोरा बिछा दिया। विद्यासागर बोरे पर बैठकर उससे बातें करने लगे। उसी समय उनका जमींदार मित्र बग्घी पर कहीं जा रहा था। वह उन्हें देखकर कुछ झिझक से उतरा और उनसे बोले—"तुम जहाँ-तहाँ क्यो बैठ जाते हो? क्या तुम्हें अपनी प्रतिष्ठा का कोई ध्यान नहीं है?" यह सुनकर विद्यासागर ने उत्तर दिया—"तुम मुझसे मित्रता समाप्त कर दो ताकि फिर तुम्हें शिकायत का कोई अवसर न मिले। वह गरीब है, केवल इसलिये मैं अपने दुकानदार मित्र का अपमान नहीं कर सकता।"

विज्ञान और धर्म के समन्वय साधक— डॉ. सत्येनबसु

तब कलकत्ता विश्वविद्यालय मे विज्ञानसंकाय के अध्यक्ष डॉ. सत्येन्द्रनाथबसु थे। उस वर्ष छात्र अपने आपसी झगड़ों में उलझे रहने के कारण परीक्षा की तैयारियाँ नहीं कर पाये थे। कक्षाएँ नियमित रूप से चलती थीं परन्तु विद्यार्थी

छात्र-राजनीति में उलझे रह कर ही कक्षाओं में उपस्थित नहीं हो पा रहे थे । इधर परीक्षाएँ सिर पर सवार थीं । छात्रों को सुधि आयी तो आत्मविश्वास डोल गया कि परीक्षायें दे भी पायेंगे अथवा नहीं । छात्र नेताओं ने एक रास्ता निकाला—परीक्षाओं की तिथि आगे बढ़वाने के लिए आन्दोलन करने के रूप मे । आन्दोलन किया गया । एम. ए. व एम. एस. सी. के छात्रो ने सम्मिलित रूप से अपनी यह माँगें प्रस्तुत की कि परीक्षा की तिथियाँ आगे बढ़ायी जाएँ ।

कलासंकाय के अधिकारियों ने तो विद्यार्थियों की यह माँगें मान लीं । इसके बाद छात्र विज्ञानसंकाय के अध्यक्ष डॉ. बसु के पास पहुँचे और उनसे अपनी बात कही । डॉ. बसु ने स्पष्ट कह दिया—"आप लोगों की माँगें मान लेने का कोई भी युक्तिसंगत कारण नहीं है और मैं इन माँगों को मान लेने के पक्ष में कतई नहीं हूँ ।"

"देखिये । हमें अध्ययन के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाया है ।"

"इसके लिए कौन जिम्मेदार है । कक्षाएँ तो नियमित रूप से लगती रही है । परीक्षाएँ भी कोई जल्दी नहीं हो रही है । परीक्षाएँ निर्धारित समय पर हो रही है"

"जो भी हो । परन्तु हम परीक्षाओं की तैयारी नहीं कर पाये है और बिना तैयारी के हम फेल हो जायेंगे । यूनिवर्सिटी का रेकॉर्ड बिगड़ेगा ।"

"ऐसी स्थिति में मुझे आपके साथ सहानुभूति है परन्तु रेकॉर्ड खराब होने का कोई डर नहीं है ।"

डॉ. बसु को किसी भी प्रकार तैयार न होते देख कर छात्र नेताओ ने अनशन की धमकी दी तो उन्होंने कहा—यह आप लोगों की सरासर ज्यादती होगी । यह अन्याय है और इसका विरोध करने के लिए मुझे भी ऐसा ही करना पड़ेगा तब छात्र नेताओ ने उनका घेराव करने का डर बताया । इस पर डॉ. बसु गम्भीर और दृढ़ स्वर मे बोले—"मैंने अपने जीवन में न तो कभी किसी के साथ अन्याय किया है और न अन्याय सहा ही है । आप चाहे जो करें, परन्तु मुझे यह ठीक नहीं लगता और मैं इसके लिए किसी भी शर्त पर राजी नहीं हो सकता । इस प्रश्न पर मैं विश्वविद्यालय छोड़ देने के लिए भी तैयार हूँ परन्तु आप लोगो की अनुचित माँगें मानने के लिए मैं किसी भी सूरत मे तैयार नहीं हो सकता ।"

छात्रों के सभी दाव असफल गये थे और वे चुपचाप डॉ. बसु के कार्यालय से बाहर आ गये । परीक्षाएँ नियत तिथियों में ही हुईं । उनमे किसी तरह का फेर बदल नहीं किया गया । अन्याय और अनौचित्य के सामने कभी न झुकने वाले डॉ. बसु के लिए किसी पद से भी अधिक बड़ी थी उस पद की गरिमा और उस गरिमा को बनाये रखने के लिए वे कोई भी कुर्बानी देने को तैयार थे । तब वे विश्व भारती (शान्ति निकेतन) के कुलपति थे । विश्व भारती में ही आयोजित किसी सांस्कृतिक-कार्यक्रम के अवसर पर अँग्रेजी के प्राध्यापक डॉ. सुधीनघोष और कला-शिक्षक श्री रामकिंकर में किसी बात को लेकर मनोमालिन्य पूर्ण झड़प हो गयी । इस झड़प को लेकर कला-शिक्षक के भक्त कुछ छात्रों ने डॉ. सुधीनघोष के साथ मारपीट की । डॉ. बसु ने बीच बचाव किया तो वे भी छात्रों की उद्दण्डता का शिकार हुए ।

यहाँ तक तो कोई बात नहीं थी पर इसी घटना को लेकर कलकत्ता के कुछ अखबारों ने बावेला मचा दिया । डॉ. घोष व बसु पर अनर्गल आरोप लगाये जाने लगे । स्थिति कुछ ऐसी बनी कि डॉ. बसु के साथ-साथ कुलपति पद की ही छीछालेदर होने लगी । अब तक तो डॉ. बसु ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी परन्तु जब उन्होंने देखा कि उनको लेकर अकारण ही कुलपति पद की गरिमा को आघात पहुँचाया जाने लगा है तो उन्होंने तुरन्त पद से इस्तीफा दे दिया । विश्वभारती से विदाई लेते हुए उन्होंने कहा—"मेरा किसी से कोई बैर नहीं, न मैं किसी से नाराज हूँ । जहाँ तक मुझे याद आता है मैंने कभी किसी का अहित नहीं सोचा और नहीं कभी किसी का बुरा किया है । मैं नहीं जानता कि इस प्रकार मेरे त्यागपत्र देने पर आप लोग क्या सोचते होंगे परन्तु मैंने जो ठीक और सच समझा है वही सदा करने की चेष्टा की है ।"

अपनी मान्यताओं और सिद्धान्तों के प्रति इतने दृढ़, इतने कठोर और इतने कड़े रहने वाले डॉ. बसु व्यक्तिगत जीवन मे कितने शान्त, कितने विनम्र और कितने सहज थे इसका उदाहरण भी विश्वभारती मे ही घटी एक घटना से सामने आता है । तब विश्वभारती मे राष्ट्रपति राधाकृष्णन का आगमन हुआ था । उनके स्वागत मे एक विशाल सभा का आयोजन किया गया था । डॉ. बसु एक रिक्शे में बैठ कर सभास्थल पर गये । सुरक्षा गार्ड उन्हे पहचानता तो था नहीं । रिक्शे को रास्ते में ही रोक दिया । डॉ. बसु ने न अपना परिचय दिया और न ही सुरक्षा गार्ड को कुछ कहा । वे चुपचाप सभास्थल की ओर चल पड़े । जब मंच पर जाने लगे तो एक सुरक्षा गार्ड ने उन्हे वहाँ भी पूछा—आपकी तारीफ ।

सत्येनबसु, डॉ. बसु ने कहा । न उन्होंने अपने नाम के आगे डॉक्टर लगाया और न ही कहा कि मैं कुलपति हूँ, इस सभा का अध्यक्ष । क्योंकि सुरक्षा अफसर ने तपाक से कह दिया था—ठीक है । आप उधर जाइये । इशारा श्रोताओं की ओर था । सहज भाव से डॉ. बसु चल दिये । तभी डॉ. राधाकृष्णन की नजर उन पर पड़ी और वे मंच से नीचे उतरकर आये । डॉ. राधाकृष्णन् उनके कंधे पर हाथ रखकर वापस मंच की ओर साथ-साथ चलने लगे ।

अन्याय और अनौचित्य के आगे कभी सिर न झुकाने वाले अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़-निष्ठ और सहजता की प्रतिमा डॉ. बसु भारत के उन गिने-चुने वैज्ञानिकों में माने जाते है जिन्होंने अपना जीवन विज्ञान के माध्यम से मनुष्यता की सेवा करने और वैज्ञानिक जगत में अपने देश का सिर

ऊँचा उठाने के लिए अनथक प्रयास किये थे । साथ ही साथ समाज-सेवा और पीड़ित मानवता के उत्कर्ष में भी लगे रहे ।

आइंस्टीन के सापेक्षतावाद में उन्होंने जो नयी कड़ियाँ जोड़ीं उससे आइंस्टीन स्वयं प्रभावित थे और उन्होंने स्वयं डॉ. बसु के अनेक लेखों को जर्मन पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया । यद्यपि डॉ. बसु की आर्थिक-स्थिति कोई खास अच्छी नहीं थी परन्तु आर्थिक दशा से क्या? सेवा के लिए तो चाहिए मनस्विता और लगन । यह दोनों विशेषताएँ उनमें कूट-कूट कर भरी थीं । जीविका के लिए उन्होंने प्रयास तो किये पर जीवन-स्तर को तथाकथित रूप में ऊँचा उठाने की ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया । संसारभर के वैज्ञानिक प्राय: किन्हीं संस्थाओं या सरकारों पर निर्भर करते हैं । यह आवश्यक भी है क्योंकि आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर ही तो विज्ञान की सेवा की जा सकती है । लेकिन डॉ. बसु को कहीं से भी इस तरह का कोई सहयोग-सरंक्षण नहीं मिल पाया । उन्हे कई विश्वविद्यालयों ने मानद-उपाधियाँ दीं । सन् १९५८ मे लन्दन की रायल-सोसायटी के वे फेलो भी बने फिर भी डिग्रियों के सहारे या प्रशस्तियों को लेकर आर्थिक संरक्षण माँगने नहीं गये । अपने प्राध्यापकीय जीवन में ही मस्त रहते हुए उन्होंने विज्ञान की यथाशक्य सेवा की ।

उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर मैडमक्यूरी ने भी उन्हे अपनी प्रयोगशाला मे काम करने के लिए आमंत्रित किया था । एक वर्ष के लिए वे इस आमंत्रण पर पेरिस गये और वहाँ एक्सरे तथा भौतिक-विज्ञान से सम्बन्धित समस्याओं पर मौलिक गवेषणाएँ करते रहे । मैडमक्यूरी को आश्चर्य हुआ कि वे संपीड़न विद्युत प्रभावों की माप-जोख इतनी आसानी से किस प्रकार कर सके । सन् १९३६ में वे ढाकाविश्वविद्यालय के प्रोफेसर बने लेकिन विज्ञान मे शोध करने के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें शीघ्र ही वहाँ से हटना पड़ा । इस वर्ष जब ढाका में साम्प्रदायिक दंगे हुए तो उन्होंने प्रयोगशाला से निकल कर सैकड़ो स्त्री-बच्चों को बचाया । इसी प्रकार सन् ४६ मे कलकत्ता मे हुए दगे मे भी वे अपनी कार लेकर अल्प-संख्यकों को बचाते फिरे ।

वैज्ञानिक-प्रतिभा के साथ समाज-सेवा के क्षेत्र में इतनी सक्रिय भूमिका निभाने वाला उन जैसा व्यक्तित्व मुश्किल से ही अन्यत्र मिलेगा । सन् १९४२ मे एक छात्र-दल को सहयोग देकर उन्होंने ढाका हाल पर तिरगा फहराया था और जब नेताजी सुभाष ने बर्लिन से भारत की जनता के नाम अपना प्रथम रेडियो भाषण दिया तो उसे भारत में गुप्त रूप से प्रसारित करने की व्यवस्था डॉ. बसु ने ही की थी । उस समय डॉ. बसु ने ढाकाविश्वविद्यालय की प्रयोगशाला मे उच्च शक्तिसम्पन्न रिसीवर पर वह भाषण सुना और टेप किया तथा इसके बाद ही वह भाषण सारे भारत में प्रचारित किया गया ।

"आप तो एक वैज्ञानिक हैं । फिर आप इस तरह की गतिविधियो में कैसे भाग लेते हैं ?"—किसी ने पूछा तो डॉ. बसु ने कहा—"वैज्ञानिक होने से पहले मैं मनुष्य हूँ और अपना देश, जिसमें मैं जन्मा, पला व बड़ा हुआ उसका सेवक रहने में गौरव अनुभव करता हूँ । मैने विज्ञान के क्षेत्र को इसलिए चुना कि अब मेरे देश को इसकी बहुत जरूरत है । जिस प्रकार धर्म जनमानस मे अपना घर बनाये हुए है उसी प्रकार मैं चाहता हूँ कि विज्ञान को भी इस देश की जनता के मन-मस्तिष्क मे अपना घर बनाना चाहिए । धर्म और विज्ञान के समन्वय से ही इस देश का उद्धार हो सकेगा और मैं देश की भावना से ही विज्ञान का साधक बना हूँ । क्या यह देशसेवा नहीं है ।"

बात कुछ उलझती जा रही थी । डॉ. बसु अपने मन के सारे गुबार निकाल देना चाहते थे, परन्तु उन्होंने जो कुछ कहा वह इस तथ्य को उजागर करता है कि वे देशसेवा का उद्देश्य लेकर ही विज्ञान के क्षेत्र में उतरे थे । भारत को स्वतंत्रता मिल जाने के बाद तो वे यह भी कहने लगे कि विज्ञान को सिर्फ किसी देश के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव-जाति के हित मे प्रयुक्त किया जाना चाहिए, इसके लिए डॉ. बसु व्यापक स्तर पर विज्ञान के शोध के प्रयास चलाना चाहते थे । उन्होंने अपने दीक्षान्त-भाषणो में अक्सर कहा कि स्वतन्त्र-भारत मे ऐसे कुछ विश्वविद्यालय अवश्य खोले जाने चाहिए जिनमे सामाजिक, वैज्ञानिक एवं विज्ञानतात्विक सभी विषयों का उच्चतम स्तर तक पठन-पाठन मातृभाषा मे ही हो ।

उन्होंने अपने देश मे ही मौलिक, सृजनशील, वैज्ञानिक प्रतिभा के उदय की सम्भावना को आँका और कहा—"प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति अनन्त सम्भावना का आगार है, आवश्यकता उन्हे परखने और पहचानने भर की है । इसके लिए हमे गाँव-गाँव में स्थापित मंदिरों की तरह विज्ञान-गृहो की स्थापना करनी पड़ेगी और तभी हमारा दारिद्रय, हमारा पिछड़ापन तथा हमारी दुर्व्यवस्था का अन्त हो सकेगा ।

डॉ. बसु का निधन ४ फरवरी, १९७४ को हुआ उस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी परन्तु मरते दम तक तो वे विज्ञान और धर्म के बीच सेतु-बन्ध बनाने के लिए काम करते रहे । देहान्त के कोई दो सप्ताह पूर्व उन्होंने विज्ञान-कॉंग्रेस की विज्ञान-प्रदर्शनी में जो वक्तव्य् दी वह उनका अन्तिम संदेश था । उस दिन उन्होंने जो कुछ कहा उसका मूल स्वर यही था कि विज्ञान का सर्वांगीण प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए इसी में देश का कल्याण है और इसके बाद मरने से पहले भी उन्होंने यही अन्तिम शब्द कहे थे ।

एक विराट व्यक्तित्व—
डॉ. सिन्हा

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक की बात है । आरा के जिला हाईस्कूल के दुराग्रही हेडमास्टर ने स्कूल के कई विद्यार्थियों पर बिना किसी बात के, अपनी झोंक मे आकर अर्थदण्ड की सजा दे दी । यह बात एक अन्याय

छात्र-राजनीति मे उलझे रह कर ही कक्षाओं में उपस्थित नहीं हो पा रहे थे । इधर परीक्षाएँ सिर पर सवार थीं । छात्रों को सुधि आयी तो आत्मविश्वास डोल गया कि परीक्षायें दे भी पायेंगे अथवा नहीं । छात्र नेताओं ने एक रास्ता निकाला—परीक्षाओ की तिथि आगे बढ़वाने के लिए आन्दोलन करने के रूप में । आन्दोलन किया गया । एम. ए. व एम. एस. सी. के छात्रो ने सम्मिलित रूप से अपनी यह माँगें प्रस्तुत कीं कि परीक्षा की तिथियाँ आगे बढ़ायी जाएँ ।

कलासंकाय के अधिकारियों ने तो विद्यार्थियों की यह माँगें मान लीं । इसके बाद छात्र विज्ञानसंकाय के अध्यक्ष डॉ. बसु के पास पहुँचे और उनसे अपनी बात कही । डॉ. बसु ने स्पष्ट कह दिया—"आप लोगों की माँगें मान लेने का कोई भी युक्तिसंगत कारण नहीं है और मैं इन माँगों के मान लेने के पक्ष में कतई नहीं हूँ ।"

"देखिये । हमें अध्ययन के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाया है ।"

"इसके लिए कौन जिम्मेदार है । कक्षाएँ तो नियमित रूप से लगती रही है । परीक्षाएँ भी कोई जल्दी नहीं हो रही है । परीक्षाएँ निर्धारित समय पर हो रही हैं"

"जो भी हो । परन्तु हम परीक्षाओं की तैयारी नहीं कर पाये है और बिना तैयारी के हम फेल हो जायेंगे । यूनिवर्सिटी का रेकॉर्ड बिगड़ेगा ।"

"ऐसी स्थिति मे मुझे आपके साथ सहानुभूति है परन्तु रेकॉर्ड खराब होने का कोई डर नहीं है ।"

डॉ. बसु को किसी भी प्रकार तैयार न होते देख कर छात्र नेताओ ने अनशन की धमकी दी तो उन्होने कहा—यह आप लोगो की सरासर ज्यादती होगी । यह अन्याय है और इसका विरोध करने के लिए मुझे भी ऐसा ही करना पड़ेगा तब छात्र नेताओ ने उनका घेराव करने का डर बताया । इस पर डॉ. बसु गम्भीर और दृढ़ स्वर में बोले—"मैंने अपने जीवन में न तो कभी किसी के साथ अन्याय किया है और न अन्याय सहा ही है । आप चाहे जो करें, परन्तु मुझे यह ठीक नहीं लगता और मैं इसके लिए किसी भी शर्त पर राजी नहीं हो सकता । इस प्रश्न पर मैं विश्वविद्यालय छोड़ देने के लिए भी तैयार हूँ परन्तु आप लोगो की अनुचित माँगें मानने के लिए मैं किसी भी सूरत में तैयार नहीं हो सकता ।"

छात्रो के सभी दाव असफल गये थे और वे चुपचाप डॉ. बसु के कार्यालय से बाहर आ गये । परीक्षाएँ नियत तिथियों में ही हुईं । उनमें किसी तरह का फेर बदल नहीं किया गया । अन्याय और अनौचित्य के सामने कभी न झुकने वाले डॉ. बसु के लिए किसी पद से भी अधिक बड़ी थी उस पद की गरिमा और उस गरिमा को बनाये रखने के लिए वे कोई भी कुर्बानी देने को तैयार थे । तब वे विश्व भारती (शान्ति निकेतन) के कुलपति थे । विश्व भारती में ही आयोजित किसी सांस्कृतिक-कार्यक्रम के अवसर पर अँग्रेजी के प्राध्यापक डॉ. सुधीनघोष और कला-शिक्षक श्री रामकिंकर में किसी बात को लेकर मनोमालिन्य पूर्ण झड़प हो गयी । इस झड़प को लेकर कला-शिक्षक के भक्त कुछ छात्रों ने डॉ. सुधीनघोष के साथ मारपीट की । डॉ. बसु ने बीच बचाव किया तो वे भी छात्रो की उद्दण्डता का शिकार हुए ।

यहाँ तक तो कोई बात नहीं थी पर इसी घटना को लेकर कलकत्ता के कुछ अखबारों ने बावेला मचा दिया । डॉ. घोष व बसु पर अनर्गल आरोप लगाये जाने लगे । स्थिति कुछ ऐसी बनी कि डॉ. बसु के साथ-साथ कुलपति पद की ही छीछालेदर होने लगी । अब तक तो डॉ. बसु ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नही की थी परन्तु जब उन्होंने देखा कि उनको लेकर अकारण ही कुलपति पद की गरिमा को आघात पहुँचाया जाने लगा है तो उन्होंने तुरन्त पद से इस्तीफा दे दिया । विश्वभारती से विदाई लेते हुए उन्होंने कहा—"मेरा किसी से कोई बैर नहीं, न मैं किसी से नाराज हूँ । जहाँ तक मुझे याद आता है मैंने कभी किसी का अहित नहीं सोचा और नहीं कभी किसी का बुरा किया है । मैं नहीं जानता कि इस प्रकार मेरे त्यागपत्र देने पर आप लोग क्या सोचते होंगे परन्तु मैंने जो ठीक और सच समझा है वही सदा करने की चेष्टा की है ।"

अपनी मान्यताओ और सिद्धान्तो के प्रति इतने दृढ़, इतने कठोर और इतने कड़े रहने वाले डॉ. बसु व्यक्तिगत जीवन मे कितने शान्त, कितने विनम्र और कितने सहज थे इसका उदाहरण भी विश्वभारती मे ही घटी एक घटना से सामने आता है । तब विश्वभारती मे राष्ट्रपति राधाकृष्णन का आगमन हुआ था । उनके स्वागत मे एक विशाल सभा का आयोजन किया गया था । डॉ. बसु एक रिक्शे में बैठ कर सभास्थल पर गये । सुरक्षा गार्ड उन्हे पहचानता तो था नहीं । रिक्शे को रास्ते में ही रोक दिया । डॉ. बसु ने न अपना परिचय दिया और न ही सुरक्षा गार्ड को कुछ कहा । वे चुपचाप सभास्थल की ओर चल पड़े । जब मंच पर जाने लगे तो एक सुरक्षा गार्ड ने उन्हें वहाँ भी पूछा—आपकी तारीफ ।

सत्येनबसु, डॉ. बसु ने कहा । न उन्होंने अपने नाम के आगे डॉक्टर लगाया और न ही कहा कि मैं कुलपति हूँ, इस सभा का अध्यक्ष । क्योंकि सुरक्षा अफसर ने तपाक से कह दिया था—ठीक है । आप उधर जाइये । इशारा श्रोताओं की ओर था । सहज भाव से डॉ. बसु चल दिये । तभी डॉ. राधाकृष्णन की नजर उन पर पड़ी और वे मंच से नीचे उतरकर आये । डॉ. राधाकृष्णन् उनके कंधे पर हाथ रखकर वापस मंच की ओर साथ-साथ चलने लगे ।

अन्याय और अनौचित्य के आगे कभी सिर न झुकाने वाले अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़-निष्ठ और सहजता की प्रतिमा डॉ. बसु भारत के उन गिने-चुने वैज्ञानिकों में माने जाते है जिन्होंने अपना जीवन विज्ञान के माध्यम से मनुष्यता की सेवा करने और वैज्ञानिक जगत में अपने देश का सिर

ऊँचा उठाने के लिए अनथक प्रयास किये थे। साथ ही साथ समाज-सेवा और पीड़ित मानवता के उत्कर्ष मे भी लगे रहे।

आइंस्टीन के सापेक्षतावाद में उन्होने जो नयी कड़ियाँ जोड़ीं उससे आइंस्टीन स्वयं प्रभावित थे और उन्होंने स्वयं डॉ. बसु के अनेक लेखों को जर्मन पत्रिकाओ मे प्रकाशित कराया। यद्यपि डॉ. बसु की आर्थिक-स्थिति कोई खास अच्छी नहीं थी परन्तु आर्थिक दशा से क्या? सेवा के लिए तो चाहिए मनस्विता और लगन। यह दोनो विशेषताएँ उनमे कूट-कूट कर भरी थीं। जीविका के लिए उन्होंने प्रयास तो किये पर जीवन-स्तर को तथाकथित रूप मे ऊँचा उठाने की ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। संसारभर के वैज्ञानिक प्राय: किन्हीं संस्थाओ या सरकारो पर निर्भर करते हैं। यह आवश्यक भी है क्योंकि आर्थिक चिन्ताओ से मुक्त होकर ही तो विज्ञान की सेवा की जा सकती है। लेकिन डॉ. बसु को कहीं से भी इस तरह का कोई सहयोग-संरक्षण नहीं मिल पाया। उन्हें कई विश्वविद्यालयों ने मानद-उपाधियाँ दीं। सन् १९५८ मे लन्दन की रायल-सोसायटी के वे फेलो भी बने फिर भी डिग्रियो के सहारे या प्रशस्तियों को लेकर आर्थिक संरक्षण माँगने नहीं गये। अपने प्राध्यापकीय जीवन मे ही मस्त रहते हुए उन्होंने विज्ञान की यथाशक्य सेवा की।

उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर मैडमक्यूरी ने भी उन्हे अपनी प्रयोगशाला मे काम करने के लिए आमंत्रित किया था। एक वर्ष के लिए वे इस आमंत्रण पर पेरिस गये और वहाँ एक्सरे तथा भौतिक-विज्ञान से सम्बन्धित समस्याओ पर मौलिक गवेषणाएँ करते रहे। मैडमक्यूरी को आश्चर्य हुआ कि वे संपीड़न विद्युत प्रभावो की माप-जोख इतनी आसानी से किस प्रकार कर सके। सन् १९३६ मे वे ढाकाविश्वविद्यालय के प्रोफेसर बने लेकिन विज्ञान मे शोध करने के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने के कारण उन्हे शीघ्र ही वहाँ से हटना पड़ा। इस वर्ष जब ढाका मे साम्प्रदायिक दंगे हुए तो उन्होंने प्रयोगशाला से निकल कर सैकड़ों स्त्री-बच्चों को बचाया। इसी प्रकार सन् ४६ मे कलकत्ता में हुए दंगे मे भी वे अपनी कार लेकर अल्प-संख्यकों को बचाते फिरे।

वैज्ञानिक-प्रतिभा के साथ समाज-सेवा के क्षेत्र मे इतनी सक्रिय भूमिका निभाने वाला उन जैसा व्यक्तित्व मुश्किल से ही अन्यत्र मिलेगा। सन् १९४२ मे एक छात्र-दल को सहयोग देकर उन्होंने ढाका हाल पर तिरंगा फहराया था और जब नेताजी सुभाष ने बर्लिन से भारत की जनता के नाम अपना प्रथम रेडियो भाषण दिया तो उसे भारत मे गुप्त रूप से प्रसारित करने की व्यवस्था डॉ. बसु ने ही की थी। उस समय डॉ. बसु ने ढाकाविश्वविद्यालय की प्रयोगशाला मे उच्च शक्तिसम्पन्न रिसीवर पर वह भाषण सुना और टेप किया तथा इसके बाद ही वह भाषण सारे भारत में प्रचारित किया गया।

"आप तो एक वैज्ञानिक हैं। फिर आप इस तरह की गतिविधियों में कैसे भाग लेते हैं?"—किसी ने पूछा तो डॉ. बसु ने कहा—"वैज्ञानिक होने से पहले मैं मनुष्य हूँ और अपना देश, जिसमें मैं जन्मा, पला व बड़ा हुआ उसका सेवक रहने मे गौरव अनुभव करता हूँ। मैने विज्ञान के क्षेत्र को इसलिए चुना कि अब मेरे देश को इसकी बहुत जरूरत है। जिस प्रकार धर्म जनमानस में अपना घर बनाये हुए है उसी प्रकार मै चाहता हूँ कि विज्ञान को भी इस देश की जनता के मन-मस्तिष्क मे अपना घर बनाना चाहिए। धर्म और विज्ञान के समन्वय से ही इस देश का उद्धार हो सकेगा और मैं देश की भावना से ही विज्ञान का साधक बना हूँ। क्या यह देशसेवा नहीं है।"

बात कुछ उलझती जा रही थी। डॉ. बसु अपने मन के सारे गुबार निकाल देना चाहते थे, परन्तु उन्होंने जो कुछ कहा वह इस तथ्य को उजागर करता है कि वे देशसेवा का उद्देश्य लेकर ही विज्ञान के क्षेत्र मे उतरे थे। भारत को स्वतंत्रता मिल जाने के बाद तो वे यह भी कहने लगे कि विज्ञान को सिर्फ किसी देश के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव-जाति के हित मे प्रयुक्त किया जाना चाहिए, इसके लिए डॉ. बसु व्यापक स्तर पर विज्ञान के शोध के प्रयास चलाना चाहते थे। उन्होंने अपने दीक्षान्त-भाषणो मे अक्सर कहा कि स्वतन्त्र-भारत मे ऐसे कुछ विश्वविद्यालय अवश्य खोले जाने चाहिए जिनमे सामाजिक, वैज्ञानिक एवं विज्ञानतात्विक सभी विषयों का उच्चतम स्तर तक पठन-पाठन मातृभाषा मे ही हो।

उन्होने अपने देश में ही मौलिक, सृजनशील, वैज्ञानिक प्रतिभा के उदय की सम्भावना को आँका और कहा—"प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति अनन्त सम्भावना का आगार है, आवश्यकता उन्हे परखने और पहचानने भर की है। इसके लिए हमे गाँव-गाँव मे स्थापित मंदिरो की तरह विज्ञान-गृहो की स्थापना करनी पड़ेगी और तभी हमारा दारिद्र्य, हमारा पिछड़ापन तथा हमारी दुर्व्यवस्था का अन्त हो सकेगा।

डॉ. बसु का निधन ४ फरवरी, १९७४ को हुआ उस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी परन्तु मरते दम तक तो वे विज्ञान और धर्म के बीच सेतु-बन्ध बनाने के लिए काम करते रहे। देहान्त के कोई दो सप्ताह पूर्व उन्होंने विज्ञान-कॉंग्रेस की विज्ञान-प्रदर्शनी मे जो वक्तव्य दी वह उनका अन्तिम संदेश था। उस दिन उन्होंने जो कुछ कहा उसका मूल स्वर यही था कि विज्ञान का सर्वांगीण प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए इसी में देश का कल्याण है और इसके बाद मरने से पहले भी उन्होंने यही अन्तिम शब्द कहे थे।

एक विराट व्यक्तित्व—
डॉ. सिन्हा

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक की बात है। आरा के जिला हाईस्कूल के दुराग्रही हेडमास्टर ने कई विद्यार्थियों पर बिना किसी बात के, अपनी आकर अर्थदण्ड की सजा दे दी। यह बात एक

विरोधी छात्र को सहन नही हुई । गुरुजन है तो अपने स्थान पर किन्तु उनके अन्याय को सिर झुका कर स्वीकार कर लिया जाय इसमे कौन-सी बुद्धिमानी है । गुरुजनो का आदर करना तो ठीक है पर उनके अन्याय को शिरोधार्य करना तो ठीक नही । सो वह जाकर भिड़ गया उनसे, स्कूल के कार्यालय मे ही । फल यह हुआ कि उसे स्कूल से निकाल दिया गया ।

कुँवरसिंह की भूमि के शाहबाद मे जन्मा यह बचपन से ही अन्याय-विरोधी के रूप में प्रख्यात युवक आगे चल कर भारत-विख्यात न्यायविद बना । डॉ. सच्चिदानन्दसिन्हा, यही था इस विख्यात न्यायविद का नाम ।

आरा का जिला हाईस्कूल उत्तीर्ण करके पटना के टी. के. घोष स्कूल मे प्रविष्ट हुआ । मैट्रिक-परीक्षा पास करके पटना कालेज मे पढ़ते समय ही युवक सच्चिदानन्द के मन मे इग्लैंड जाकर उच्च शिक्षा-ग्रहण करने का विचार पैदा हुआ । सातसमन्दर पार उस छोटे से द्वीप को जाकर देखना चाहिए । वहाँ ऐसा क्या है कि वहाँ के निवासी आधी दुनिया पर अपना शासन जमाये हुए है ।

उसने अपने मन की बात पिता से बतायी । पिता अपने पुत्र के मुख से उसकी महत्वाकांक्षा सुनकर प्रसन्न होने की अपेक्षा उदास हो गये । इस उदासी का कारण था समाज की रूढ़िवादिता । भारतीय-समाज मे जहाँ के पोताध्यक्षो की कभी मिश्र और यूनान तक धूम थी, जहाँ के सार्थवाह जलीय-व्यापार द्वारा अकूत सम्पदा अर्जित कर राजा महाराजाओ से भी समृद्ध बन जाते थे उसी भारत के निवासी समुद्र-यात्रा को धर्मभ्रष्ट होने की बात मानते थे और विदेश जाने वालो को जाति-च्युत कर देते थे ।

सच्चिदानन्द समाज की इन सड़ी-गली रूढ़ियों मे विश्वास नहीं करते थे । पिता ने समाज के भय से इंग्लैंड जाकर पढ़ने की आज्ञा नहीं दी पर उनके मन मे विद्योपार्जन की जो लालसा जाग उठी थी वह क्या यो ही समाप्त हो जाने वाली थी । वे इंग्लैण्ड जाना ही चाहते थे । अपना कश्मीरी शाल, घड़ी व पुस्तके बेचकर जो रकम मिली उसी के सहारे एक स्टीमर मे बैठकर चल दिये । यह रकम तो अदन तक की यात्रा मे ही समाप्त हो गयी । अतः वहाँ से पिताजी को और धन राशि भेजने के लिए लिखा ताकि वे इंग्लैण्ड जाकर उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकें । पिता पैसे भेजेंगे ! वे इसी बात की बाट नहीं जोहते रहे वरन् वे वहाँ काम करके स्वयं कुछ कमाई करने लगे । उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि घर से पैसे न भी आये तो वे यों ही काम करते हुए इंग्लैण्ड जाकर अपनी मनोकामना पूर्ण करेंगे । ऐसे दृढ़निश्चयी की कामना भला कैसे अधूरी रह सकती थी । उनके पिता ने उनके लिए पर्याप्त धनराशि ही नहीं भेजी वरन् आगे से उनकी पढ़ाई का पूरा खर्च वहन करने का लिखित आश्वासन भी दिया ।

इंग्लैण्ड से वे बैरिस्टर बनकर स्वदेश लौटे । इंग्लैण्ड मे एक दिन उनसे एक परिचित अँग्रेज ने पूछा था—मि. सिन्हा आप भारत के किस प्रान्त के रहने वाले है ।

"बिहार के ।" उन्होंने उत्तर दिया ।

"पर बिहार तो भारत के मानचित्र पर है ही नहीं ।" अँग्रेज सज्जन का प्रश्न ठीक था । उन दिनो बिहार और उड़ीसा बंगाल के अन्तर्गत आते थे ।

"कोई बात नहीं अब होगा जरूर!" डॉ. सिन्हा ने उत्तर दिया । बिहार उन दिनों भारत के नक्शे मे भले ही न हो उनके मस्तिष्क में था । और उसे बनाकर ही उन्होंने दम लिया । बिहार को स्वतन्त्रप्रान्त बनाने का श्रेय उन्हीं को है । अब तक इस प्रदेश की जनसख्या यो ही उपेक्षित रही थी । अँग्रेज उससे कुँवरसिंह के विद्रोह का बदला उसे बंगाल का पिछलगू बनाकर ले रहे थे ।

बिहार का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने के लिए उ[illegible] व्यापक आन्दोलन खड़ा करना पड़ा था । इसी कार्य के लि[illegible] उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था । बिहार की दबी-पिसी जनता की आवाज को उन्होंने जनआन्दोलन और पत्रकारिता के माध्यम से सरकार के सामने रखा । उसी के फलस्वरूप बिहार व उड़ीसा प्रात बन सके । पहले ये दोनो एक थे । फिर इनका पृथक्करण हुआ ।

डॉ. सिन्हा अँग्रेजी के धुरंधर पण्डित थे । वे अँग्रेजी इस धाराप्रवाह ढंग से बोलते थे जैसे वह उनकी मातृभाषा हो पर मातृभाषा के ऊपर उन्होंने उसे कभी स्थान नहीं दिया। वे भोजपुरी भी उसी कुशलता से बोल लेते थे जिस कुशलता से अँग्रेजी को । कई वर्षों तक बैरिस्टरी करने के बाद उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि उनकी इस विद्वता और योग्यता का लाभ समाज को भी तो मिलना चाहिए, यह कृपण के धन की तरह उनके अपने हित मे ही तो खर्च नहीं होनी चाहिए । आज तक वे ऐसा करते हुए भूल कर रहे थे । उन्हे समाज की ओर भी देखना चाहिए, अपने उस पिछड़े समाज की ओर । वे राजनीति के क्षेत्र मे उतरे । राजनीति उन दिनो घर भरने का साधन नहीं समाज सेवा का मार्ग थी । डॉ. सिन्हा पहले भारतीय अर्थ सचिव हुए । इस पद पर रहते हुए उन्होंने देशवासियो की बड़ी सेवा की । उन्होंने इस कार्यकाल मे भारतीय-जेलो मे स्मरणीय सुधार भी किये ।

राजनीति मे रहते हुये भी उनका ध्येय समाज सेवा ही रहा । उन्होंने देखा कि देश शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है तो उन्होंने शिक्षा के प्रसार मे अपना योगदान दिया । पटना की कायस्थ-पाठशाला को उन्होंने अपनी सम्पति व सूझ-बूझ दान दी । वे आजीवन उसके सेक्रेटरी रहे ।

पटना विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर के रूप में उन्होंने शिक्षा-जगत मे अपना स्थायी नाम किया है । इस नये-नये विश्वविद्यालय को समर्थ व प्रख्यात बनाने के लिये उन्होंने जो अथक श्रम किया वह शिक्षाशास्त्रियों के लिये

अनुकरणीय है । इतने बड़े बैरिस्टर ने स्वल्प-वेतन पर पटना विश्वविद्यालय के लिये अपनी समस्त शक्तियाँ नियोजित कीं वह एक आदर्श है । वे यदि बैरिस्टरी करते तो वाइसचांसलर पद पर रहकर प्राप्त करने वाले वेतन का पचासों गुना अधिक कमा सकते थे । पर उन्हे रुपये से मोह नहीं था । वे तो यही सोचते थे कि उनके इस जीवन का सदुपयोग कैसे हो । आदमी के पास चाहे कितना ही पैसा हो या जमीन-जायदाद हो उसे खाने को तो उतना ही चाहिए, पहनने को उतना ही चाहिए । फिर आकाश जितनी आकाक्षाएँ जगाने से लाभ क्या ?

पटना विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर के रूप मे उन्होने एक व्यक्ति का नहीं पूरी एक संस्था का कार्य किया । उसे वे लोग पूरी तरह जानते हैं जिन्हे इस विश्वविद्यालय का इतिहास ज्ञात है । वे पूरी तरह से कर्मयोगी थे । आराम और विश्राम जैसे शब्दो से उनका दूर का भी परिचय नही था ।

सत्साहित्य से उन्हे कितना लगाव था । इस तथ्य का परिचय दिलाने वाला उनके द्वारा पटना मे स्थापित स्मारक आज भी विद्यमान है-'सिन्हा पुस्तकालय' के रूप मे । इस पुस्तकालय मे १५००० से भी अधिक पुस्तके हैं । ये सब पुस्तके उन्होने पढ़ी हैं । इनमे से अधिकांश पुस्तके उनकी अपनी, अपने पढ़ने के लिये खरीदी हुई हैं । इन पुस्तको मे कहीं-कहीं खीची गई लाल और नीली लकीरें उनके हाथो की खींची हुई हैं । अपने पीछे वे अन्य स्मृतियाँ तो छोड़ ही गये है पर 'सिन्हा पुस्तकालय' को विशुद्ध रूप से उनका स्मारक कहा जा सकता है । अपनी बौद्धिक विरासत के रूप में वे समाज को यह अमर अनुदान दे गये हैं ।

पुस्तके पढ़ना उनका एक व्यसन था । सच पूछा जाय तो मनुष्य को जिस प्रकार भोजन की भूख सताती है उसी प्रकार स्वाध्याय की भी भूख सताती है । जिन लोगो की मानसिक जठराग्नि प्रदीप्त है वे इस तथ्य को भली प्रकार जानते हैं । किसी को यह मानसिक क्षुधा अनुभव नही होती हो सो बात नहीं है । हर व्यक्ति चाहे वह पढ़ा-लिखा है या अनपढ़ इस क्षुधा को अनुभव करता है।पर बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो इस क्षुधा की तृप्ति के लिये उपयुक्त मानसिक आहार लेते है । डॉ. सिन्हा ने अपने पुस्तकालय के माध्यम से पढ़े-लिखे लोगों के लिये जो अपरिमित मानसिक आहार जुटाया है वह अपने आप में अनूठा है ।

वे नियमित रूप से नित्य कुछ न कुछ पढ़ा करते थे । परन्तु उसमे अनुपयुक्त कुछ भी नही होता था । मधुमक्खी जैसी संग्राहक वृत्ति थी उनकी । किस प्रकार यत्नपूर्वक ज्ञानरूपी मधु को संचित किया करते थे यह तो उनके स्वाध्याय क्रम को देखकर ही पता चल जाता है । यदि ऐसा न होता तो वे अपने पुस्तकालय की १५००० पुस्तके कैसे पढ़ पाते और वह भी इस मनोयोग से ।

उनसे वार्तालाप करने का जिन्हे सौभाग्य मिला है उन्हें उनके कण-कण करके बटोरे इस ज्ञानमधु का परिचय मिले बिना नही रहता था । उनके वार्तालाप मे मधु टपकता था—विनोद टपकता था । लोगो को उनके पास से उठकर जाने का मन नहीं होता था । उन जैसे मधुर विनोद-आलापक बिहार में ही नहीं भारत मे भी गिने-चुने ही होगे ।

'हिन्दुस्तान रिव्यु' पत्र का सम्पादन वे जिस कुशलता से करते थे उसे देखकर ब्रिटिश पत्रकार भी दाँतों तले उँगली दबाते थे । उनकी लेखनी में जादू भरा रहता था । डॉ. सिन्हा ने भी भारत को सी. वाई. चिंतामणि जैसा विख्यात पत्रकार दिया जिनका लोहा देश भर के पत्रकार ही नहीं विदेशी पत्रकार भी मानते थे । श्री चिंतामणि उन्हीं के शिष्य थे । डॉ. सिन्हा मनुष्यों के पारखी थे । इसी का उदाहरण सी. वाई. चिंतामणि थे ।

पटना विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर रहते हुए उन्होंने सामान्य से सामान्य व्यक्ति की मदद करने मे आनाकानी नहीं की । यद्यपि उनका गुरु-गम्भीर चेहरा व चेहरे पर झलकता पाण्डित्य हर किसी पर इन्हे उन्हें असामान्य जाहिर करने को पर्याप्त था पर जो उनके स्वभाव से परिचित थे वे उनके सामने अपनी कठिनाइयाँ रखते हुए तनिक भी संकोच नहीं करते थे । डॉ. सिन्हा उन्हे दूर करने मे पीछे न रहते थे ।

किसी को एम. ए. की परीक्षा देने मे दिक्कत हो या किसी को अन्य किसी प्रकार की कोई सहायता, उनके मुँह से कभी ना नहीं निकलती थी ।

बिहार की अपनी सस्कृति के अनुरूप वे पक्के आतिथ्य प्रदाता थे । डॉ. सिन्हा के भोजन की मेज पर हर दिन कोई न कोई नया मेहमान जुटा ही रहता था ।

डॉ. सिन्हा वृद्ध हो गये थे तब भी उनकी काम की गति वही थी । थकने का कभी नाम नहीं लेते थे । अस्सी वर्ष की आयु मे भी उनकी कर्मनिष्ठा युवको को मात करती थी ।

अपने जीवन मे एक साथ अँग्रेजी के प्रकाण्ड विद्वान, प्रख्यात पत्रकार, सजग समाज सेवी, जागरूक शिक्षाशास्त्री व आदर्शोन्मुख राजनीतिज्ञ के क्षेत्रो मे अपनी सफलता की यश सुरभि बिखेरते हुए वे जिस ढंग से जिये वह भारत की नयी पीढ़ी के लिये आदर्श है । यद्यपि वे अब हमारे बीच नही है पर अपने देश को बनाने का जो उनका सपना था उसे उनके पद चिन्हो पर चलकर अभी हमें पूरा करना है ।

नेत्रहीनों के प्रकाश दीप—

डॉ. सुबोधराय

'आह-माँ'—रोगशैया पर पड़े बालक ने अपनी माता को पुकारा जो पास ही बैठी बड़े प्यार से उसे सहला रही थी । माँ बोली—"हाँ ! बेटा-कह क्या बात है ?"

"तुम कहाँ छुप गयी हो माँ । मेरे पास आओ न । देखो न मेरे सिर को कोई जोरो से दबा रहा है"—बच्चा आर्तनाद कर उठा । सिर पर उसकी माँ का ही हाथ था और कमजोरी के कारण अब उसे ऐसा लग रहा था जैसे कोई सिर को जोरों से दबा रहा है ।

परन्तु माँ को यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि बच्चा कह रहा है तुम कहाँ हो । जबकि वह वहीं मौजूद है । कहीं इसका दिमाग तो नहीं फिर गया है, इस कल्पना से ही उसका ममता और वात्सल्य से भरा हृदय काँप उठा । काफी समय हो गया था इस लाड़ले को बिस्तर पकड़े हुए । रोग था कि विदा होने का नाम ही नहीं लेता था और इस रोग ने बच्चे को कुछ ही दिनो में मरणासन्न बना दिया था । इस प्रकार कराहते-पुकारते देखकर माँ बोली—"यह रही लाल । मैं यहीं तो बैठी हूँ तेरे पास । देख मेरी ओर देख ।"

उसने सिर पर रखा हाथ उसके गालो पर फेरते हुए मुँह अपनी ओर किया ताकि वह देख सके कि उसकी माँ यहीं बैठी हुई है । परन्तु बच्चे ने कहा—"कहाँ हो माँ तुम । मुझे तो दिखाई ही नहीं दे रहा है ।"

क्या हो गया है मेरे उजियारे को—और माँ बिलख-बिलख कर रो उठी । पिता आये तो उन्हें भी अपने पुत्र की स्थिति सुनकर चिंता हुई और उन्हें किसी बड़े अनिष्ट की कल्पना हुई । उन्होंने रुग्ण पड़े पुत्र की आँखो के सामने हाथ लहराया और कहा—"यह क्या है बेटे ।"

"कुछ नहीं है पिताजी सिवा एक काली और अँधियारी चादर के । सारा संसार अंधेरे मे ढँक गया है और अब सूरज भी अस्त हो चुका है ।(उस समय दोपहर का वक्त था) ।" पिता दौड़े गये डॉक्टर के पास इस शंका का निवारण करने के लिए, कहीं लाड़ला पागल तो नहीं हो गया है ।

डॉक्टर ने आकर रोगी बालक के स्वास्थ्य की विभिन्न ढंगो से परीक्षा की और बड़े दुःख भरे निराश स्वरो में कहा कि—"आपका पुत्र अब इस संसार को कभी नहीं देख सकेगा । उसके नेत्रो की ज्योतियाँ खो गयी है ।"

डॉ. यह कहकर चला गया और सारे परिवार का वातावरण दर्द भरी करुणा आवाजो मे डूब गया । जैसे उस परिवार का ही दीपक बुझ गया हो और अब उस बालक का जीवन केवल भार ही बनकर रह गया हो । माँ ने अपनी तकदीर ठोक ली और परमात्मा से कहा—"हे भगवान! इससे तो अच्छा था तू मेरे बच्चे की जिंदगी ही छीन लेता । केवल आँखे छीन कर उसे हमारे पास रहने दिया तो क्या उपकार किया है हमारा तूने ।"

परन्तु नहीं परमात्मा जब भी किसी से कुछ छीनता है तो उससे अधिक मूल्यों की वस्तु या उपहार भी उसे प्रदान करता है । लेकिन मनुष्य की सीमित और अपनी नाक से चार अंगुल दूर तक ही देखने वाली दृष्टि उस अमूल्य उपहार को कहाँ देख पाती है । पिता को अभी आशा थी कि बच्चा अब भी इन आँखों से देख सकेगा । उसकी दृष्टि लौट आयेगी और उसका संसार प्रकाशवान हो उठेगा ।

इसलिए वे कई वैद्यों और डॉक्टरों से लेकर जादूटोना जानने वाले जानभोपाओं और सन्त-महात्माओ तक भटकते रहे कि कोई तो उस बच्चे की दुनिया में उजाला कर दे । परन्तु सफलता नहीं मिली । नियति को तो कुछ और ही स्वीकार था । एक बार वे किसी संत पुरुष के दर्शन करने गये । सोचा था शायद यहाँ उनकी आशा फलीभूत हो । वे महात्मा बड़े प्रसिद्ध भी थे और पिता की मान्यता थी कि जो जितना विख्यात है वह उतना ही सिद्धि सम्पन्न होगा । उनका भोला, सरल और वात्सल्यपूर्ण हृदय इस बात को बिना ननुनच किये स्वीकार करने को तत्पर रहता था कि अमुक महात्मा उनकी कामना पूरी कर सकेगा ।

जिस महात्मा से पिता पुत्र दोनो मिलने गये वह कोई सिद्धि-विद्धि नहीं जानते थे परन्तु सचमुच उन्होंने पिता और पुत्र को एक नयी दृष्टि दी ।

अपने दर्शनार्थियों की समस्याएँ सुनते हुए उक्त महात्मा ने कहा—"आँखें-आँखें । क्या कर रहे हो भाई । तुम नहीं जानते कि तुम्हारे बच्चे की बाहरी आँखें चली गयी है तो उसकी एक दूसरी और वास्तविक आँख तो उसके पास ही है । उससे देखने का अभ्यास करो ।"

क्या महाराज ! उसकी दूसरी आँख देख सकती है—सरल हृदय पिता ने समझा मेरे बेटे की एक आँख ही खोयी है ।

"हाँ बेटा ! अब भी देखना सम्भव है उसी आँख से देखा जा सकता है । क्या तुम नहीं जानते इस बात को ।"

"नहीं जानता महाराज । परन्तु"

'परन्तु क्या'—संत ने बीच में ही बात काटते हुए कहा—"उस आँख की ज्योति कोई भी रोग नहीं छीन सकता । वह तो केवल खोयी ही जाती है और इस सम्बन्ध मे तुम अपने पुत्र को सतर्क कर सकते हो कि वह अपने जीवन मे उस आँख को उघाड़ ले । जानते हो मनुष्य की वास्तविक आँख क्या है और उसकी ज्योति क्या है । मनुष्य की वास्तविक ज्योति है—ज्ञान, बुद्धि और जब तक वह इसके पास है वह पार्थिव नेत्र वाले लोगो से भी ज्यादा देखने और समझ सकने में समर्थ रहेगा । जाओ वह आँख उघाड़ो इसकी ।"

पिता निराश से हो उठे । वे तो सोच कर आये थे कि महात्मा जी बच्चो को दृष्टि देने में समर्थ होंगे । परन्तु यहाँ तो केवल उपदेश ही मिला । उपदेश ही सही, इन बातो को सुनकर नेत्रहीन बालक के मुँह पर एक नया खिलापन आ गया । उसके चेहरे पर आशा-उत्साह और आनन्द की दीप्ति चमक उठी । उस दीप्ति को देखकर ही माँ के मन में यह भ्रम पैदा हो गया था कि बच्चा देख

सकता है और उसने अपने आसपास हाथ फैलाकर इशारा करते हुए पूछ लिया—यह सब क्या है बेटा।

"संसार ! जहाँ केवल एक ही दृष्टि से देखना सम्भव है और वह दृष्टि है ज्ञान"—बच्चे ने कहा और अपने भविष्य के सम्बन्ध में एक निश्चय जो उसने रास्ते में ही किया था अपनी माँ से कहा—"माँ मुझे मेरे स्कूल में भर्ती करवा दो। मैं पढ़ूँगा उस दृष्टि को प्राप्त करूँगा और आगे बढ़कर दिखाऊँगा। मैं विद्वान बनूँगा माँ-विद्वान।"

बालक में यह संकल्प पैदा हो गया जिसके बल पर संसार में बड़ी से बड़ी सफलताएँ और बड़ी से बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। यही बालक आगे चलकर डॉ. सुबोधचंद्रराय के नाम से विख्यात हुए। संकल्प, लगन और उत्साह के बल पर उन्होंने वह प्रगति कर दिखाई जो आँख वालों में भी कोई बिरला व्यक्ति ही कर सकता है।

डॉ. सुबोधराय का जन्म पश्चिम बंगाल के एक साधारण परिवार में हुआ था। परिवार की आर्थिक और लौकिक स्थिति चाहे जैसी रही हो परन्तु वहाँ का परिवेश इतना उत्कृष्ट था कि उनके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित श्रेष्ठ और प्रगतिशीलतत्वों को सहज ही विकास का अवसर मिल सका। बचपन बड़ी हँसी-खुशी और लाड़प्यार में बीत रहा था। उस समय उनकी आयु लगभग सात-आठ वर्ष की रही होगी। तभी विषूचिका के महारोग का उन पर आक्रमण हुआ। सौभाग्य से इस स्थिति मे उनकी प्राण रक्षा तो हो गयी परन्तु नेत्र ज्योति सदा-सदा के लिए जाती रही। माता-पिता के साथ-साथ उनका बाल हृदय भी आशा-निराशा के सागर मे डूबता-उतराता रहा।

काफी समय इसी प्रकार बीत जाने पर उक्त घटना से उनमे इतना आत्मविश्वास जागा कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब निराश होने से कोई लाभ नही। जीवन तो जीना ही पड़ेगा और यह भी निश्चित है कि नेत्रों की दर्शन-शक्ति लौट नहीं सकेगी। उन्होंने सोचा कि जिंदगी जीना ही है भले ही वह रोते-तड़पते जी जाय या हँसते इठलाते, स्थिति ज्यों की त्यों रहेगी तो रोने-कलपने से क्या लाभ। बेहतर यही है कि जितने समय जिया जाय आगे बढ़ते हुए, हँसते खेलते हुए, वर्तमान स्थितियो मे ही प्रगति करते हुए जिएँ और मार्ग भी उनके चरण आरोहण की प्रतीक्षा में था। वस्तुतः पथ तो पथिक को निमन्त्रण देता है, उस पर चलने वालो का ही साहस नहीं होता। और जो-जो चलने का साहस बटोर लेता है उसके लिए कदम-कदम पर क्षण-क्षण में मंजिल समीप आती दिखाई देती है।

सन् १९१९ मे उनके माता-पिता ने उन्हे कलकत्ता की अंधशाला में प्रवेश दिलाया। उनकी लगन और निष्ठा ने उनमे विचित्र प्रतिभा उत्पन्न कर दी थी। फलतः वे अपने अन्य साथियो से प्रतिस्पर्धा कर निरंतर आगे ही बढ़ते गये। सरकार ने उनकी प्रतिभा और योग्यता से प्रभावित होकर छात्रवृत्ति देना आरम्भ किया। इस पुरस्कार ने उन्हे गर्वोन्नत करने की अपेक्षा ऊँचा ही उठाया। उनका संकल्प बल और भी तीव्र तथा सशक्त हुआ। कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज से उन्होंने बी. ए. आनर्स किया और महाविद्यालय के छात्रों में उन्होंने श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। एम. ए. में तो उन्होंने पूरे विश्व-विद्यालय मे प्रथम स्थान प्राप्त कर लोगों को चकित कर दिया था। वस्तुतः थी भी आश्चर्य की बात कि एक नेत्रहीन छात्र कैसे सनेत्र छात्रों से भी बाजी मारकर अपनी योग्यता और प्रतिभा का कीर्तिमान स्थापित कर सकता है। लेकिन परिश्रम और पुरुषार्थ से सब कुछ सम्भव है।

उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी। सुबोधराय की प्रतिभा और व्यक्तित्व की क्षमता से अवगत होकर उनकी पारखी आँखो ने देखा कि यह युवक देश के उन हजारों-लाखो व्यक्तियों के लिए आशा का दीप बन सकता है जो इसी की तरह अन्धे हैं तथा अंधकार भरे संसार में अपनी किस्मत को रोते हुए सिर से हाथ लगाये बैठे हैं। सन् १९३९ में उन्हें अमेरिका तथा योरोप भेजा गया—विश्वविद्यालय की ओर से, ताकि वे नेत्रहीनो के लिए व्यवहार शिक्षा पद्धति का अध्ययन कर सकें।

भारत के २५ लाख अन्धो के भविष्य की कल्पना करते हुए वे विदेश गये। अपने लक्ष्य के प्रति ईमानदार और निष्ठावान बने रहकर उन्होंने उद्देश्य प्राप्ति मे भारी सफलता प्राप्त की। उनकी सरलता से प्रभावित होकर उनके संपर्क मे आने वाले उनके प्रति सहृदयता और सहयोग की भावना से भर उठे। इंग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध व्यापारी की बेटी मिस इवालिन तो उनसे इतनी प्रभावित हुई कि उसने राय से विवाह ही कर लिया। योग्य और अपने मिशन मे सहयोग देने की ललक देखकर राय ने इवालिन का पत्नी के रूप मे स्वागत किया।

एक वर्ष बाद वे भारत लौट आये। यहाँ उन्होंने पहले छह वर्षों तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। बाद में दो वर्षों में वे टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज के प्रोफेसर रहे। उन्हे लगन तो उस कार्य की लगी हुई थी जिसके लिए उन्हे डॉ. मुखर्जी से प्रेरणा और सहयोग मिला था। अवसर पाकर उन्होंने 'ऑल इण्डिया लाइट हाउस फॉर द ब्लाइण्ड' की स्थापना की। वे स्वयं इस सस्थान के निर्देशक तथा सचिव बने और पाँच वर्ष तक इसी रूप मे कार्य करते रहे। अध्ययन की उनकी अपनी अलग पद्धति रही है। वे ब्रेल लिपि के सहारे भी पढ़ते तथा सुनकर भी अध्ययन करते। इस प्रकार उन्होंने पर्याप्त मात्रा मे ज्ञान तथा अनुभव एकत्र किया। एक-एक क्षण का सदुपयोग तथा एक-एक ही घड़ी के श्रम का विवेकपूर्ण प्रयोग उनके जीवन का मूल मंत्र बना और उन्होंने नेत्रहीनो के लिए वही आँख खोलने का प्रयास अभियान स्तर पर चलाया जो उन्होंने स्वयं के लिए किया और प्रयोग में लिया था।

उन्होंने अंध-समस्या पर पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें इस समस्या के व्यावहारिक हल सुझाये गये हैं। केवल बातों से, योजनाएँ बनाकर या कार्यक्रम तैयार कर ही उन्होंने इस क्षेत्र में काम नहीं किया वरन् अपने जीवन का उदाहरण सामने रखकर अपने माध्यम से आदर्श उपस्थित कर नेत्रहीनों तथा नेत्रवानों के लिए भी प्रगति का एक नया मार्ग खोला है, जिसके लिए युगों-युगों तक उनकी वंदना की जाती रहेगी।

गौरवपूर्ण अतीत के प्रतिष्ठाता— रमेशचन्द्र दत्त

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत ने कई नररत्नों को जन्म दिया। जिन्होंने अपने अलग-अलग कार्यों से देश माता और संस्कृति का सम्मान बढ़ाया। रमेशचन्द्र दत्त ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। वे विदेशी शासनतन्त्र के एक भारतीय पुर्जे बनकर रहे। जिन्हें अपने देश, संस्कृति और सभ्यता पर नाज था। अँग्रेज सरकार को दत्त की राष्ट्रभक्ति फूटी आँखों नहीं सुहाती थी फिर भी उनकी योग्यता, कार्य-दक्षता और प्रतिभा का लाभ उठाने का प्रलोभन इन खटकती विशेषताओं को सहने के लिए बाध्य करता था। यही नहीं अँग्रेजी-शासन में वे एक ऐसे उच्च पदाधिकारी के रूप में जाने जाते थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्र के निर्माण की कल्पना की थी और उसके लिए आखिरी दम तक प्रयत्न किया।

रमेशचन्द्र दत्त का जन्म १३ अगस्त, १८४८ को कलकत्ता के एक उच्च शिक्षित और सम्पन्न परिवार में हुआ। उनके पिता डिप्टीकमिश्नर थे। अपने पिता के साथ ही उन्हें बंगाल, बिहार और उड़ीसा घूमने का मौका मिला। इन यात्राओं में बालक दत्त ने भारतीय जनजीवन में घोर निराशा देखी और देखा मनुष्य का मनुष्य के हाथों उत्पीड़न। अधिकारी से लेकर सामान्य-जन तक अँग्रेज भारतीय जनता को घोड़ों पर सवार चाबुक और हन्टरों से पीटते निकल जाते। भारतीय लोगों में न तो प्रतिरोध करने की क्षमता थी और न ही वे इस उत्पीड़न से बच ही सकते थे। एक बार उन्होंने पिता से पूछा—"ये लोग (अँग्रेज) इन्हें हन्टरों से क्यों मार रहे हैं।"

"इसलिए कि ये भारतीय हैं"—पिता ने कहा।

"हम भी तो इन्हीं जैसे हैं"—दत्त ने फिर पूछा।

"क्या हम भी भारतीय हैं।"

"हाँ हम भी भारतीय हैं बेटे! परन्तु हम ऊँचे लोग हैं।"

बालक रमेशचन्द्र का पिता के उत्तर समाधान नहीं कर सके फिर भी वह चुप रह गया। मन ही मन उन्होंने संकल्प लिया—अगर मेरा बस चले तो मैं इसे तुरन्त रुकवा दूँ। बालक का बस चलने में तो अभी काफी समय था कि माता का देहान्त हो गया। कुछ समय बाद नौका के डूबने से नदी पार करते समय पिता भी चल बसे। बालक रमेशचन्द्र का जीवन अन्धकारमय हो गया। ऐसी दशा में उनके चाचा ने अपने भाई के अनाथ बच्चों का पालन-पोषण किया और वे उन्हें अपने पास ले आये।

रमेशचन्द्र को स्कूल में भरती करवा दिया गया। उस समय उनकी आयु तेरह-चौदह वर्ष की थी और वे अच्छी तरह जानते थे कि हमारे माँ-बाप नहीं हैं। प्रकृति विपत्तियों में कुछ ऐसी प्रेरणाएँ भर देती है कि मनुष्य की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है और वह पूरी तन्मयता के साथ अपने काम में जुट जाता है। हमारे माँ-बाप नहीं हैं—इस अहसास ने रमेशचन्द्र को परिश्रमी और अध्ययन-शील बना दिया। यह गुण उनकी विशेषता बन गया जिसके आधार पर वे अन्त तक बढ़ गये। माता-पिता की छत्रछाया तो सभी के सिर से एक न एक दिन उठ ही जाती है परन्तु असमय में आयी इस विपत्ति ने बुद्धि और श्रम को दत्त का माँ-बाप बना दिया। जिन्होंने सदा सर्वदा उनका साथ, मार्ग-दर्शन और सहयोग दिया।

सन् १८६८ में उन्होंने बी. ए. की परीक्षा अच्छे अंकों में पास की। इसके पूर्व की भी सभी परीक्षाओं में वे अच्छे स्थान पर आये थे। एण्ट्रेंस और एम. ए. पास करने के बाद तो उन्हें छात्रवृत्ति भी दी जाने लगी थी। दत्त के शिक्षकों ने अपने छात्र की स्वयं उपार्जित प्रतिभा को परख लिया था। इसे विकास का अवसर मिले इसीलिए उन्होंने दत्त को आई. सी. एस. की परीक्षा में बैठने का परामर्श दिया। वे इस परीक्षा में भाग लेने के लिए चले गये। उस समय आई. सी. एस. की परीक्षा में ३२५ छात्रों ने भाग लिया था जिसमें से कुल ५० छात्र ही चुने गये। इन ५० छात्रों में भी रमेशचन्द्र दत्त अग्रिम पंक्ति में आये। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बिहारीलाल गुप्त और श्रीपद ठाकुर उनके उन भारतीय साथियों में से थे जो आई. सी. एस. के लिए चुने गये थे। इन चार प्रतिभाओं के पूर्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अग्रज सत्येन्द्रनाथ ठाकुर ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो भारत की सिविल सर्विस में प्रवेश कर सके थे।

इंग्लैण्ड के विद्यार्थी जीवन में उन्हें ग्लैडस्टन, डिजरैली, जानब्राइट, हेनरी फासेट, जान स्टुअर्ट मिल और चार्ल्स डिकेन्स जैसे राज नेताओं तथा साहित्यकारों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इन व्यक्तियों से दत्त कई बार मिले और उनके हृदय में भी ऐसी इच्छा उद्भूत हुई कि मुझे भी भारतीयता का गौरव बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस विचार के परिप्रेक्ष्य में उन्हें अपने देश का जन-जीवन याद आता तो अँग्रेजों द्वारा किया जा रहा पशुवत व्यवहार, अपने देश बन्धुओं की विवशता व सहिष्णुता, वहाँ की जनता की दशा का विचार उन्हें व्यथित कर उठता। वे सोचते जो जाति और जन-समूह इतना हीन भाव का शिकार हो चुका है उसे गौरव का भान कैसे कराया जाये। चिन्तन के इन क्षणों में वे निराश हो उठते और उनका ध्यान अपने तात्कालिक कर्त्तव्य अध्ययन में आ लगता।

अन्तर्द्वन्द्व और वैचारिक-संघर्ष का दौर चलता रहा परन्तु इसके कारण उन्होने अपने अध्ययन और कार्य साधन मे तनिक भी ढील नहीं आने दी । परिणाम-स्वरूप ही वे प्रशासनिक सेवाओ के लिए चुने गये । १८७१ मे उन्हे असिस्टेण्ट मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त किया गया ।

इस पद पर काम करते समय उन्होंने अनुभव किया कि अँग्रेज-अधिकारियों की दृष्टि में एक भारतीय कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता । दत्त की मान्यता इससे एकदम विपरीत थी । उनका विचार था कि भारतीय नागरिक अपने उत्तरदायित्व को बड़ी कुशलता के साथ निभा सकता है । कई ऐसे अवसरो पर जब अँग्रेज अधिकारियों ने भारतीयों के योग्यता के प्रति अपना संदिग्ध दृष्टिकोण व्यक्त किया हो, दत्त ने इस विचार का डटकर विरोध किया और कहते कभी भी आप लोग चाहो तो अपने विचार को प्रयोग की कसौटी पर कस सकते हैं ।

प्रयोग की कसौटी का समय भी बड़ी जल्दी ही आया । १८७६ में दक्षिण शहबाजपुर मे भयकर बाढ़ आई । यह गंगा के तट पर बसा हुआ एक टापू है । गंगा में भीषण बाढ़ और तूफान से चालीस हजार जाने गयीं । टापू के पूर्वी भाग में २५-३० फुट पानी चढ़ गया । लोगों के घर-परिवार अस्त-व्यस्त हो गये । सरकारी इमारतें नष्ट होकर नदी में बह गयीं । इससे वहाँ का शासनतन्त्र पूरी तरह लड़खड़ा गया । बाढ़ की विनाशलीला के शिकार हुए नागरिको की सहायता और पुन-व्यवस्था के लिए रमेशचन्द्र दत्त को भेजा गया । वे साथी यह कहने से भी नहीं चूके कि आप भारतीय है । दत्त ने भी बड़े आत्मविश्वासपूर्वक उत्तर दिया देखना महाशय मैं आपसे भी अच्छा प्रबन्ध करने में सफल होऊँगा और उन्होंने सचमुच इतनी कुशलता से अपना कार्य किया कि अँग्रेज अधिकारी भी दाँतो तले अँगुली दबा गये ।

परन्तु उनकी परीक्षा होनी तो अभी और बाकी थी । तूफान और बाढ़ का सकट समाप्त होते ही उस क्षेत्र मे हैजा फैला । अनुमानत: २० हजार आदमी इस महामारी के शिकार हुए । दत्त महाशय ने अद्भुत और अपूर्व सेवा-भावना का परिचय दिया । इस बीमारी को रोकने में उन्होंने कोई कसर उठा नही रखी । वे घर-घर जाते, लोगो की परेशानियाँ सुनते और औषधि से लेकर अन्न-वस्त्र तक की व्यवस्था करते । उनके इस सेवाभाव ने रोगग्रस्तो और नागरिको का हृदय जीत लिया । कोई समर्थ अधिकारी हमारे साथ है इस विश्वास ने लोगो मे मनोबल भी जगाया । कई व्यक्ति अच्छी तरह जानते हैं कि मनोबल के अभाव मे साधारण-सा रोग भी कितना त्रासदायी बन जाता है । फिर हैजे जैसी महामारी मे जब पूरे के पूरे समाज का मनोबल टूट चुका हो तो स्थिति कितनी भयानक बन जाती है ।

दत्त इस दूसरी कसौटी पर भी खरे उतरे । उन साथियो को अपना अभारतीय दृष्टिकोण बदलना पड़ा । सन् १८८३ मे उन्हे कमिश्नर बना दिया गया । जिस समय वे इन उच्च प्रशासनिक पदो पर कार्य कर रहे थे उस समय अँग्रेज अधिकारी ही नहीं शासक और इंग्लैण्ड के नागरिक भी यह मानते थे कि भारतीय कोई बड़ी जिम्मेदारी पूरी नहीं कर सकता । दत्त ने अपने साथियों के साथ इन लोगों का दृष्टिकोण भी अपनी योग्यता के बल पर बदलकर दिखा दिया । यही नहीं उन क्षेत्रों मे भी बड़ी कुशलता से अपना उत्तरदायित्व निभाया जहाँ कई अँग्रेज अधिकारी असफल हो चुके थे । इस प्रकार उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय अँग्रेजों से किसी भी प्रकार कम योग्य नहीं हैं वरन् वे उनकी अपेक्षा कुछ अधिक ही योग्यता रखते हैं ।

दत्त ने स्वयं को इस प्रकार तैयार किया था कि उन्हे कर्मयोग की आदर्श मूर्ति कहना अनुचित न होगा । इंग्लैण्ड मे अँग्रेजों का भारतीयों के प्रति घृणित व्यवहार उन्हे निराश कर चुका था । यहाँ तक कि उन्होंने आई. सी. एस. बनने का विचार ही छोड़ दिया । परन्तु तभी हृदय के एक कोने से आवाज उठी और उन्होंने सुना कि अँग्रेजों की इस धारणा को बदला जा सकता है । भारत महान है, यदि उसकी सोयी आत्मा जाग उठे, यहाँ के नागरिकों को गौरवपूर्ण अतीत से परिचित करा दिया जाये और उन्हें प्रेरणा दी जाय तो हम एक शक्ति के रूप में, स्वयं एक योग्य व्यक्ति के रूप मे अपनी प्रतिष्ठा बना सकते हैं ।

इसी भावना से उन्होंने आई. सी. एस. की निर्णायक परीक्षाएँ दी और अँग्रेज शासकों की अभारतीय नीति बदलने के लिए नैतिक रूप से बाध्य किया । यद्यपि अँग्रेजों ने अपनी नीति तो नहीं बदली फिर भी उन्होने यह अवश्य स्वीकार कर लिया कि भारतीय नागरिक अयोग्य नहीं है । और यह स्वीकार करते ही उन्होने शासकीय-सेवा से त्यागपत्र दे दिया । उनका एक लक्ष्य पूरा हो चुका था ।

अब उनके सामने दूसरा लक्ष्य था मातृभूमि की सेवा और भारत का राष्ट्र के रूप मे उत्थान । शासकीय नौकरी छोड़ देने के बाद उन्होंने अपने जीवन का एक नया अध्याय शुरू किया और अपनी लेखनी उठाकर भारत के महान अतीत से यहाँ के जन-जन को तथा विदेशियो को भी परिचित कराने मे संलग्न हो गये । उनका विचार था कि अपने महान अतीत से परिचित होकर भारतीय जनता अपनी स्थिति और क्षमता का सही मूल्यांकन करेगी । उसमें आत्मगौरव की भावना का विकास होगा और उसकी कर्मशक्ति उस गौरव-पूर्ण स्थिति को प्राप्त करने के लिये कमर कसकर उठ खड़ी होगी । सन् १८९४ मे उनका सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ 'प्राचीन भारत की गाथाएँ' प्रकाशित हुआ । जिसने बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी धारणा बदलने के लिए विवश कर दिया । उन्होंने उपन्यास भी लिखे । बंग-विजेता, माधवी कंकण, राजपूत, जीवन सन्ध्या, महाराष्ट्र, जीवन प्रभात—उनकी कुछ ऐसी अनुपम कृतियाँ हैं जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गयी हैं तथा बंगला-साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं । बाद में 'भारत का सामाजिक इतिहास' तथा 'महाभारत' और रामायण का पद्यबद्ध अँग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ । इन कृतियो मे जहाँ एक ओर भारतीयजनमानस को चुनौती दी गयी है वहीं उस

समय की जनता को अँग्रेजी शासन के अत्याचार सहते रहने की कायरता के लिए धिक्कार भी है ।

दत्त महाशय की साहित्यिक-कृतियों का अवलोकन कर तथा विचारो को जानकर ही भगिनी निवेदिता ने कहा था—उनका लक्ष्य भारत को ऊँचा उठाना है । यश कमाने की लालसा उन्हे छू तक नहीं गयी है । वे उन महान व्यक्तियो मे से है जो अपने देश के लिए बड़े-बड़े स्वप्न देखा करते है और उन्हे साकार करने के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहते हैं । भारतीयों को जगाने और झकझोरने के साथ-साथ ही उन्होंने इंग्लैण्ड स्थित अँग्रेजों को भी इस देश के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के लिए बार-बार समझाया । लेकिन उन्हे सफलता नहीं मिली । गोपालकृष्ण गोखले ने ठीक ही कहा था—दत्त महाशय उस पीढ़ी के व्यक्तियो मे से थे जिनके भाग्य में असफलता ही लिखी है परन्तु उनके प्रयत्नों से आने वाली पीढ़ी लाभ उठायेगी और सफलता प्राप्त करके रहेगी । ३० नवम्बर, १९०९ मे उनका निधन हो गया । वे उसी वानप्रस्थ परम्परा के प्रतीक थे जो पूर्व देश और समाज के विकास मे निरन्तर लगे रहते । बहुत सम्भव है उनकी प्रशासनिक सेवाओ को भुला दिया जाये परन्तु उनकी भावनाएँ, साहित्य और देश-भक्ति तो सदा के लिए अमर है । उसे भुलाना किसी के भी वश की बात नहीं है ।

सन्तकवि रइधू के सत्प्रयत्न

मुझे प्रसन्नवदना भगवती सरस्वती ने स्वप्न में दर्शन दिये और कहा कि—"मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ । मन की चिन्तायें छोड़कर तू काव्य-रचना कर । खलो से भयभीत मत होना, क्योकि भय बुद्धि की सारी क्षमता का हरण कर लेता है । उन देवी के मधुर वचनो से प्रभावित हो मैंने आनन्द का अनुभव किया, नींद टूट गई और मै उठ बैठा ।"

उक्त अंश सन्तकवि रइधू के एक पद का अर्थ है । इसमे उन्होंने अपनी काव्य-रचना प्रारम्भ करने तथा उसके पीछे छिपे उद्देश्य का सुन्दर दिग्दर्शन किया है । मातासरस्वती द्वारा दर्शन दिये जाने की बात सत्य हो अथवा अलंकारिक, इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता । किन्तु, जो भाव उक्त वाक्य में सन्निहित है वह विद्या की देवी सरस्वती का सन्देश कहलाने योग्य अवश्य है । प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मे यही संकेत दिव्य शक्ति द्वारा अपने साधको एवं वरदपुत्रो को किया जाता रहा है । कहते हैं सन्त रइधू ने भी काव्य-रचना इसी सन्देश के प्राप्त होने के बाद प्रारम्भ की थी ।

श्री रइधू वास्तव मे सन्त थे । काव्य का सहारा तो उन्हे आवश्यकता की पूर्ति हेतु लेना पड़ा था । भावना प्रधान—समाज को प्रेरणा देने मे काव्यशक्ति अनुपम सिद्ध होती है और इसी कारण इसका प्रयोग सदैव से व्यापक स्तर पर होता आया है । सन्त तुलसीदास, सूरदास, कबीर, दादू आदि सभी ने इसका उपयोग किया है । सन्त रइधू ने उसी परम्परा को निबाहा था । समय-समय की आवश्यकता के अनुरूप इसका प्रयोग किया जाता है ।

सन्त रइधू भी अपने समय की आवश्यकता समझते थे । उनके जन्म-स्थान तथा जन्म-मरण की तिथियों का सही-सही पता किसी को नहीं है । उनकी रचनाओं में प्राप्त संकेतों के आधार पर यह माना जाता है कि वे ग्वालियर के निकट ही कहीं जन्मे थे । उनका जन्म वि. संवत् १४५० के लगभग तथा देहान्त सम्वत् १५१२ से १५३६ के मध्य कभी होने का अनुमान है । उस समय छोटे-छोटे राजाओं के राज्य स्थान-स्थान पर थे । 'अपभ्रंश' भाषा धीरे-धीरे हिन्दी के रूप में बदलनी शुरू हो रही थी । श्री रइधू समाज की तत्कालीन परिस्थिति से चिन्तित रहा करते थे । जन-साधारण को सन्मार्गगामी बनने की प्रेरणा का कोई स्रोत नहीं था । राज्यों द्वारा सामान्य शारीरिक संरक्षण के अतिरिक्त अन्य विकासो पर ध्यान नहीं दिया जाता था । दुर्जन अपनी तिकड़म द्वारा जनता पर हावी रहा करते थे । 'पर दुःख दुर्वाह सन्तु सुपुनीता' के अनुसार रइधू का हृदय भर-भर आता था । अन्त मे उन्हे काव्य की प्रेरणा हुई और उसी माध्यम से उनने जन-सेवा कार्य प्रारम्भ किया ।

विपुल मात्रा मे समयानुकूल साहित्य का सृजन करके उन्होंने अपनी काव्य शक्ति की सार्थकता सिद्ध की और समाज को उपकृत किया ।

उनको जो प्रेरणा प्राप्त हुई उसका उन्होंने पूरी निष्ठा के साथ पालन किया था । दिव्य-शक्ति से संरक्षित अनुभव करते हुए उनकी निर्भीक बुद्धि उद्बोधन काव्य-रचना करने लगी । दुष्टो द्वारा किसी अनिष्ट का तो प्रश्न ही नहीं उठता, उन्हे राजकीय-संरक्षण भी प्राप्त हो गया । तत्कालीन राजा स्वयं जन-कल्याण के लिये प्रयास करने मे समर्थ भले ही न रहे हो, किन्तु इस दिशा मे प्रयास करने वालों को परिपूर्ण सहयोग तथा सन्मार्ग दिया करते थे । कवि रइधू की उपयोगिता समझकर तोमरवंशीय राजा डूँगरसिंह ने उन्हे अपने राजमहल मे सारी सुविधाएँ देकर उस पुण्य अभियान को अधिक गतिशील बनाने का आग्रह किया । उक्त सुविधाएँ पाकर श्री रइधू थोड़े ही समय मे अधिक कार्य करने मे समर्थ हुए । अपने प्रयासो से तत्कालीनसमाज तथा आगे आने वाले कवियों के लिये अनुकरणीय सन्देश दे गये ।

ज्ञानमुक्ताओं के जौहरी प्राच्य विद्याविशारद—डॉ. भाण्डारकर

दृढ़संकल्प और लगन का धनी मनुष्य यदि चाहे तो साधारणस्थिति से ऊपर उठकर प्रगति, यश और कीर्ति के उच्चशिखर पर ही नहीं चढ़ सकता वरन् अपने जीवन मे ऐसा चिरस्मरणीय कार्य कर सकता है जिससे देश का नाम विदेशो मे रोशन हो तथा आने वाली पीढ़ियाँ उससे लाभान्वित होकर अपने को धन्य मानती रहें । डॉ. रामकृष्ण भाण्डारकर ऐसे ही विशिष्ट व्यक्ति थे ।

जर्मनी के विश्वविख्यात वर्लिनविश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टर की मानद-उपाधि से सम्मानित किया । तत्कालीन ब्रिटिश-सरकार ने भी उन्हे 'सर' तथा के. सी. एस. आई. की उपाधियों से सम्मानित कर उनके पाण्डित्यपूर्ण महान-कार्य को सम्मानित किया था । प्राच्य विद्या और इतिहास सम्बन्धी उनके शोध-कार्यों और ज्ञान को देखकर पाश्चात्य-विद्वानो को भारत और भारतवासियो के प्रति अपनी धारणाएँ बदलनी पड़ी थीं और मानना पड़ा था कि विद्वता और बौद्धिक सम्बन्ध के वे ही अकेले मालिक नहीं है वरन् भारत-भूमि भी ऐसी विभूतियाँ उपजाने की सामर्थ्य रखती है ।

किसी व्यक्ति का किसी विषय में जगत विख्यात विद्वान हो जाना कोई बहुत आश्चर्य की बात नहीं है पर यह तब तो आश्चर्य की बात हो जाती है जब वह व्यक्ति ऐसे घर में पैदा हुआ हो कि वह उसे प्राथमिक कक्षाओ के आगे पढाने की सामर्थ भी न रखता हो । डॉ. भाण्डारकर के पिता एक सामान्य आय वाले क्लर्क थे । बच्चे में पढ़ने की लगन है इसलिये उसे पढ़ाना चाहिए यह सोचकर उनके पिता ने उन्हे ग्राम की प्राथमिक पाठशाला में भर्ती करा दिया । यहाँ तक तो कोई विशेष कठिनाई सामने नहीं आयी, पर जब वह पाँचवीं पास करके अपने पिता से उन्हे नगर के हाईस्कूल में पढ़ने के लिये भेजने का आग्रह करने लगे तो उनके निर्धन पिता के सामने अपने मेधावी-पुत्र को आगे पढ़ा सकने की विवशता प्रदर्शित करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था ।

रामकृष्ण अपने पिता की आर्थिक स्थिति से अपरिचित नहीं थे । वे अपने ही बलबूते पर शिक्षा प्राप्त करने के विषय मे सोच ही रहे थे कि उसी वर्ष १८४७ में उनके पिता का स्थानान्तरण रत्नागिरी हो गया जहाँ अँग्रेजी हाईस्कूल था । उन दिनो आज की तरह के स्कूल नहीं थे । उन्होने छह वर्ष मे ही अँग्रेजी मे मैट्रिक तक योग्यता प्राप्त कर ली । तत्पश्चात् वे अपने ही साहस और परिश्रम के बल पर बम्बई के एलफिन्सटन कॉलेज मे भर्ती हुए ।

इनके माता-पिता उनकी आर्थिकसहायता भले ही न कर सके हो पुरुषार्थ और अध्यववसाय रूपी सम्पदा से तो उन्होने अपने पुत्र को वचित नही रखा था । इनके अतिरिक्त और भी सद्‌गुणो की सम्पदा उन्हे अपने माता-पिता से प्राप्त हुई थी । अपने श्रम और पुरुषार्थ के सहारे वे एल्फिन्सटन कॉलेज मे पढ़ने लगे । अपनी न्यूनतम आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये उन्होने ऐसा काम खोज निकाला था ।

इसी कॉलेज मे दादा भाई नौरोजी उन दिनो अध्यापक थे । वे रामकृष्ण से बहुत प्रभावित हुए । ऐसे विद्यार्थियों को वे सहायता दिया करते थे । रामकृष्ण किसी की सहायता लेना नहीं चाहते थे अत: उनकी क्यो लेते । परन्तु जब उन्होने समझाया कि आज उन्हे जिस प्रकार सहायता की आवश्यकता है तो स्वीकार करले । जब वे समर्थ हो जायें तो वे अन्य जरूरतमंद छात्रो की सहायता करके उस अहसान से मुक्ति पा सकते है । इसी शर्त पर स्वाभिमानी और आत्मविश्वासी रामकृष्ण ने उनकी सहायता स्वीकार की थी ।

दृढ़निश्चयी और लगन के धनी सदा अपनी मंजिल पा लिया करते हैं । रामकृष्ण उसी कॉलेज मे अध्यापक बनाए गये जिसमें वे पढ़े थे । अध्यापन कार्य करते हुए उन्होंने एम. ए. पास किया । एम. ए. करने पर वे सिंध हैदराबाद में हाईस्कूल के हेडमास्टर बनाये गये ।

एम. ए. करके और हाईस्कूल के हेडमास्टर बनकर ही वे संतुष्ट नहीं हो गये । उन्होने देखा कि अँग्रेजो का राज्य होने के कारण अँग्रेजी का मान भले ही हो, यह हमारी भाषा नहीं है । हमें अपनी भाषा की प्रगति भी करना चाहिए । भारत इतना बड़ा देश और श्रेष्ठतम संस्कृति का स्वामी होते हुए भी परायी भाषा के सहारे चले यह तो कोई ठीक बात नहीं । उन्होंने इसी दृष्टि से देव-भाषा संस्कृत के प्रचार का सकल्प लिया । इसी प्रयोजन से उन्होने संस्कृत को पढ़ने सम्बन्धी दो प्राथमिक पुस्तको की रचना बड़ी मेहनत से की । उन दो पुस्तकों के कारण संस्कृत सीखना पर्याप्त सुगम हुआ और कई पाठशालाओ मे वे पढ़ायी जाने लगीं ।

रामकृष्ण भाण्डारकर की विकसित हुई प्रतिभा के पारखियो ने उन्हे संस्कृत के जाने माने विद्वान डॉ. कील हार्न के पद त्याग करने पर डेकन कालेज का प्राध्यापक नियुक्त करवा दिया । संस्कृत के प्रचार के लिये उन्हे स्वयं संस्कृत सीखनी पड़ी थी । उसके प्रारम्भिक ज्ञान मे ही उन्हे पता चल गया कि यह विश्व की श्रेष्ठतम भाषाओ मे से एक है । फिर तो उनका संस्कृत प्रेम दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया और वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् बन गये ।

सन् १८७० की बात है । एक पारसी सज्जन उनके पास एक ताम्रपत्र लाये जो कि पुराने खण्डहर मे गड़ा था पर उस पर अंकित लिपि को कोई पढ़ नहीं पा रहा था । भाण्डारकर भी उसे पढ़ नहीं पाये । यह ताम्रपत्र उनके लिये एक चुनौती बन गया । उसे पढ़ने के लिये उन्होने प्राचीन लिपियो को सीखना चाहा । इस सम्बन्ध मे जब उन्होने जानकारियाँ जुटायीं तो उन्हे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि अब तक भारतीय प्राकृत लिपियों को पढ़ने-समझने का कार्य योरोपीय विद्वानो ने ही किया था । उन्हे भी उन्हीं विद्वानो और उनके द्वारा लिखी गयी पुस्तकों का सहारा लेना पड़ा ।

विदेशी विद्वानो को हमारी इन प्राच्य विद्याओ और लिपियो से क्या लेना देना था कि उन्होने इसके लिये अपना, श्रम, समय और शक्तियाँ नियोजित करके पीछे वालो के लिये शोध का मार्ग खोल दिया ? इस प्रश्न का उत्तर उन्हें अपने आप से मिला कि ज्ञान किसी की बपौती नहीं होता । मनुष्य ने आज तक जो सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में विकास किया है वह मनुष्यजाति की मूल्यवान थाती है । इसे समझना और इसकी जानकारी पाना हमारे लिये ही नहीं हमारी भावी पीढ़ियो के लिये भी बहुत उपयोगी है । उन्हे भी अपनी

विद्वता का सदुपयोग इस महत्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करने मे करना चाहिए ।

हमारे पुरखो और अपने गौरवपूर्ण अतीत की जानकारी के यही तो सूत्र है जिनके आधार पर हम हजारों वर्षों पूर्व के इतिहास के बारे में कोई ठोस बात जान सकते है, निर्णय बना सकते है । यह सोचकर उन्होने प्राच्यविद्या सम्बन्धी जितनी पुस्तके मिल सकती थीं उन्हे पढ़ डालीं । फिर तो उनके सामने अतीत की पुस्तक के एक-एक करके पृष्ठ ही खुलते गये ।

पाली, प्राकृत, मागधी आदि भाषाओ और प्राकृत लिपियो के वे विद्या-विशारद ही बन गये । हमारे इतिहास की गुत्थियो को सुलझाने मे इन भाषाओं का बड़ा योगदान रहा है । एक छोटे से ताम्रपत्र ने श्री भाण्डारकर का ध्यान इस ओर क्या दिलाया उन्हे अपने जीवन का एक नया पथ ही मिल गया, जिसमे रस भी था और जो समाज के लिये महत्वपूर्ण भी था । उसके साथ ही भारत के प्राचीन इतिहास पर उनका महत्वपूर्ण शोध कार्य चल पड़ा ।

अब तक भारत का जो इतिहास लिखा गया था वह दूसरे लोगो की कलम से लिखा गया था । यूनानी आये थे तो उन्होने अपने पक्ष को प्रबल बताते हुए इतिहास की रचना की । मुसलमानों ने भी वही किया और अँग्रेज भी वही कर रहे थे । इसका अर्थ यह था कि भारत की भावी पीढ़ी को इन्ही की बातो पर विश्वास करना पड़ता । उन्हे अपने गौरवपूर्ण अतीत का ज्ञान ही नहीं हो पाता । स्वयं समर्थ होते हुए वे इस दोष दृष्टि को कैसे स्वीकार कर सकते थे । उन्होने प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रो तथा प्राचीन पुस्तको को पढ़कर जो उचित निष्कर्ष निकाले उन्हे निबंध रूप मे प्रकाशित किया । इससे एक ओर तो उनका यश, सम्मान बढ़ा दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्य अविकृत रूप मे भारतवासियो के सामने आये ।

१८७४ मे प्राच्य-विद्या-विशारदो का जो सम्मेलन हुआ उसमे आपको भी आमंत्रित किया गया पर वे किन्ही पारिवारिक कारणो से वहाँ उपस्थित न हो सके । १८७६ मे प्रो. विलसन की स्मृति मे जिस वार्षिक-व्याख्यान-माला की व्यवस्था हुई उसमे श्रीभाण्डारकर उनकी योग्यता देखते हुए उच्चपद पर प्रतिष्ठित किये गये । अँग्रेज विद्वानो से भी उन्हे उच्च स्थान दिया गया । भारत में वही सबसे बड़े अधिकारी थे । एक भारतीय की यह प्रतिष्ठा उनके लिये ही नहीं भारतवासियो के लिये भी एक प्रकार से गौरव की बात थी । हम अँग्रेजो से कम नही है यह आत्म-विश्वास उनमे जगाता था, डॉ. भाण्डारकर का यह सम्मान ।

१९०४ मे उन्हे बम्बई विश्व-विद्यालय का वाइस चासलर बनाया गया । १९१६ मे वियेना मे हुए प्राच्य-विद्याविशारदो के सम्मेलन मे उन्होने महत्वपूर्ण शोध सेवा के बल पर विश्वस्तर पर ख्याति प्राप्त की । सरकार ने उन्हे 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया ।

बर्लिन विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डॉक्टर' की उपाधि प्रदान की । यह सब उनके अपने श्रम, मनोयोग, उनकी अपनी निष्ठा का सम्मान था जिसके कारण वे ऐसे महत्वपूर्ण कार्य को सम्पादित कर सके जो हमारे लिये आज भी गौरव की बात है ।

उनके द्वारा की गयी अप्रकाशित संस्कृत-ग्रंथो की खोज भारत के प्राचीनकाल के इतिहास की रचना के लिये अत्यंत महत्व की है । उन्होने निजी पुस्तकालयों व प्राचीन खण्डहरों मे छिपे पड़े इस ज्ञान-भण्डार को एक कुशल जौहरी की तरह परखा, बटोरा और उसे प्रकाशित किया वस्तुतः यह कार्य जितना कठिन था उतना ही श्रमसाध्य व समयसाध्य भी था । लोगों ने ज्ञानी पुरखों की इस ज्ञानथाती को अपने घर के काठकबाड़ में जाने क्या सोचकर रख छोड़ा था, क्योंकि ज्यो-ज्यो देश मे विद्या पढ़ने-पढ़ाने का काम एक जाति और उस जाति के भी मुट्ठी भर विद्वान कहे जाने वालो के हाथ मे सिमटता गया पुराने ग्रंथ उनके लिये काले अक्षर भैंस बराबर होते चले गये । इनका उद्धार करने का कार्य डॉ. भाण्डारकर ने किया ।

अपनी इन पुरानी पोथियो के बारे मे चाहे वह धर्म सम्बन्धी हों या साहित्यसम्बन्धी या अन्य किसी विद्या सम्बन्धी, वे जाने क्या समझकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी सम्हालते चले आ रहे थे यह उन्हें भी पता नहीं था । ऐसे कितने ही ग्रंथों, लेखो व आलेखों को डॉ. भाण्डारकर ने न केवल सप्रयास अतिपरिश्रम से पढ़ा वरन् उन पर गवेषणात्मक रिपोर्ट भी लिखी और उसे प्रकाशित किया । यह रिपोर्ट बड़ी-बड़ी पाँच जिल्दों मे पूरी हुई । उनका यह कार्य पीछे वालो के लिये बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ इससे ऐतिहासिक-शोध का मार्ग खुल गया ।

एक साधारण परिवार मे जन्मा व्यक्ति यदि उच्च पद पर पहुँच जाय और उसे बड़ा सम्मान मिल जाय तो उसमें अभिमान आ जाना एक स्वाभाविक मानवीय दुर्बलता कही जा सकती है, पर डॉ. भाण्डारकर मे यह दुर्बलता नाममात्र को भी नही थी । विद्या उनके लिये अनुराग की वस्तु थी, गर्व करने की नहीं । ज्ञान से उन्हे उत्कट प्रेम था, एक प्यास थी जो कभी बुझती न थी । ईश्वर ने उन्हे शोध और परीक्षण की अद्भुत योग्यता प्रदान की थी । किसी भी प्रश्न को हाथ मे लेते तो उसकी समीक्षा मे तल्लीन हो जाते, उसकी जड़ तक पहुँचने का प्रयास करते । स्थूलज्ञान से उनका अन्वेषण-प्रिय मन कभी संतुष्ट नहीं होता था । आधे मन से वे कोई काम नही करते थे ।

दादाभाई नौरोजी से उन्होने अपने शिक्षण-काल में जिस शर्त पर सहायता स्वीकारी थी उसे वे आजीवन भूले नहीं थे । कितने ही निर्धन और होनहार विद्यार्थी उनसे सदा सहायता पाते रहे । वे उन्हे अपने सहृदय अभिभावक की तरह ही मानते थे । बम्बई विश्व-विद्यालय के वाइसचांसलर रहे हों या डेक्कन कॉलेज के प्रोफेसर, उनके घर का दरवाजा विद्यार्थियों के लिये चौबीसों घण्टे खुला रहता था । उनके इस सहृदय-स्वभाव और उदारतापूर्वक सहायता देने की वृत्ति

ने उनके कार्य को आगे बढ़ाने वाले शिष्यों की टोली निर्मित कर दी थी । उन्होने अपने शिष्यों को मात्र पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं दिया वरन् उनका निर्माण भी किया । एक शिक्षक के नाते वे स्वयं को भारत की भावी पीढ़ी के निर्माता मानते थे । शिक्षक होना उनके लिये जहाँ गर्व का विषय था वहाँ वे उसके गुरुतर दायित्व को भी भली प्रकार जानते थे, उसका निर्वाह करते थे ।

उनके शिष्य जस्टिस चन्दावरकर ने उनके सम्बन्ध मे लिखा है—"सर भाण्डारकर ने विविध बाधाओं को सहते हुए भी अपने को उनसे अलिप्त ही रखा । आपने सदा सत्य और न्याय का पक्ष लिया । आप सुधारवादी थे । जात-पाँत और छूत-छात के भेद को राष्ट्रीयताविरोधी और विघातक मानते थे । भगवद्-गीता और उपनिषदों को वे अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक मानते थे ।"

१८९१ में जब महाराष्ट्रियन समाज में घोर रूढ़िवाद और संकीर्णता फैली हुई थी आपने अपनी विधवा कन्या का पुनर्विवाह करके जिस नैतिक साहस का परिचय दिया वह उनके विवेकशील और सुधारवादी रूप को उजागर करता है । विधवा का विवाह भला कैसे सम्भव है ? ऐसे हजारों प्रश्न हजारो मुखों से निकलकर उनके निश्चय को डिगाने को तत्पर हुए । कितने ही मित्रो, परिजनो और कुटुम्बियों ने उनका खुलकर विरोध किया पर वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बारे मे जितना जानते थे उसका कणमात्र भी विरोधियो के पास नहीं था । उनकी युक्तियो और ज्ञान के आगे किसी की न चली ।

डॉ. भाण्डारकर ने भारत की भावी पीढ़ी को जो सम्पदा दी है उसे भुलाया नहीं जा सकता है और न उनके इस उदात्त-जीवन को विस्मृत किया जा सकता है । संस्कृति की सीता का उद्धार करने के लिये ऐसे ही उद्धारको की आज भी आवश्यकता है ।

नई पौध के कुशल बागवान—
दादासाहब लाड

आजादी की लड़ाई का बिगुल बजा तो देश प्रेम के मतवाले सिपाही अपना-अपना काम छोड़कर इस युद्ध में आ कूदे । अपनी-अपनी भावना, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सबने अपने-अपने मोर्चे सम्हाल लिये । कोई नायक बना, कोई सेनापति बना, कोई महानायक, कोई सैनिक, तो कोई-रसद जुटाने वाला या सेवा-सुश्रूषा करने वाला । जमकर युद्ध हुआ । अँग्रेजो के पाँव उखड़ गए । भारत आजाद हो गया ।

इस युद्ध के एक नायक ने देखा कि अब तो हवा ही बदल गई है । न रहा वह जोश, न रहा वह उत्सर्ग, न वे सिद्धान्त रहे, न कोई आदर्श रहा । आजादभारत में उन सब की दुहाई तो दी जा रही है पर वास्तव मे सत्ता-लोलुपता, स्वार्थ, अवसरवादिता और सिद्धान्तहीनता का ही सर्वत्र बोलबाला है । उसने इस समूह से अपना नाता तोड़ लिया । यह व्यक्ति थे दादासाहब लाड जो महाराष्ट्र के नाना पाटिल अच्युत पटवर्धन, यशवन्तराव चह्वाण के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े थे ।

इस बन्दर बाँट ने दादासाहब को यह सोचने पर विवश कर दिया कि अभी हम पूरी तरह आजाद नहीं हुए हैं । ये देशभक्तों के आराम करने, सुख भोगने के दिन नहीं वरन् उनके ऊपर बहुत बड़ा काम आ पड़ा है । अँग्रेज चले गये पर अँग्रेजियत नहीं गई । जो राज पहले अँग्रेज कर रहे थे वही अब हम कर रहे हैं । इससे अन्तर अवश्य पड़ा है फिर भी समाज तो ज्यो का त्यो पिछड़ा हुआ है, अशिक्षण ज्यो का त्यो मुँह बाए खड़ा है । अब प्रत्येक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार है पर वह उसका मूल्य नहीं जानता । सच्चे अर्थों में सुराज्य लाने के लिये उनके कन्धों पर जुआ पड़ा ही है । वे राजनीति से संन्यास लेकर समाज-सेवा के क्षेत्र मे आ गये ।

दादासाहब लाड का नाम नाथाजी लाड था । इनका जन्म २ जनवरी, १९१६ के दिन महाराष्ट्र के कुण्डल नामक गाँव में हुआ था । पिता की आय साधारण थी, पाँचवीं कक्षा तक पढ़ने के बाद इन्हे विवश होकर किर्लोस्कर छापाखाने में नौकरी करनी पड़ी । धीरे-धीरे परिश्रम तथा कर्तव्य-निष्ठा के बलबूते पर ये आगे बढ़ते ही गये । अपने इन गुणो के कारण वे विक्रय विभाग के प्रमुख बना दिये गये । इनके हाथ के नीचे कई कर्मचारी काम करते थे । हिसाब-किताब रखने तथा व्यवहार के बड़े पाबन्द थे । इनके कारण छापाखाने को बड़ा लाभ हुआ । छापेखाने के मालिक इनसे आयु तथा धन में बड़े होते हुए भी इनका सम्मान करते थे । सच है अपना सम्मान कराना अपने हाथ मे ही है ।

इन्हीं दिनो स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को बलिदान करने की, समय की पुकार को सुनकर इन्होने इस नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया । पिताजी भोले-भाले थे । घर तथा खेती का सारा काम माँ देखती थी । इनका सहारा जब माँ ने छिनते देखा तो उसने रोकने का प्रयास किया । नाथाजी ने अपनी माँ को समझाया व पारिवारिक स्वार्थ की अपेक्षा उन्होंने राष्ट्र के हित को महत्ता दी ।

जिस काम को करना है तो उसे पूरे मन से जी-जान से करना है । आधे-अधूरे मन से कोई भी काम करना इन्हें पसन्द नहीं था । खादी पहनना, सूत कातना तथा कुप्रवृतियों से दूर रहने वाला जीवन तो उन्होंने नौकरी करते हुए ही अपना लिया था । जब संग्राम में ही कूद पड़े तो फिर पूरे जोश के साथ लड़ना चाहिए । सतारा जिले मे इन्होंने १९४२ मे प्रचण्ड-आन्दोलन आरम्भ किया । जन-जन में इन्होने नई चेतना जाग्रत की ।

इनका काम जेल चले जाना नहीं था ये तो विरोध की अग्नि को धधकाकर दावानल बना देने के लिये क्षेत्र में ही रहना चाहते थे । संगठन के मामले मे वे पूरे सिद्धहस्त थे ।

विद्वता का सदुपयोग इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करने मे करना चाहिए ।

हमारे पुरखो और अपने गौरवपूर्ण अतीत की जानकारी के यही तो सूत्र है जिनके आधार पर हम हजारो वर्षों पूर्व के इतिहास के बारे में कोई ठोस बात जान सकते है, निर्णय बना सकते है । यह सोचकर उन्होने प्राच्यविद्या सम्बन्धी जितनी पुस्तके मिल सकती थीं उन्हे पढ़ डाली । फिर तो उनके सामने अतीत की पुस्तक के एक-एक करके पृष्ठ ही खुलते गये ।

पाली, प्राकृत, मागधी आदि भाषाओ और प्राकृत लिपियो के वे विद्या-विशारद ही बन गये । हमारे इतिहास की गुत्थियो को सुलझाने मे इन भाषाओं का बड़ा योगदान रहा है । एक छोटे से ताम्रपत्र ने श्री भाण्डारकर का ध्यान इस ओर क्या दिलाया उन्हे अपने जीवन का एक नया पथ ही मिल गया, जिसमे रस भी था और जो समाज के लिये महत्त्वपूर्ण भी था । उसके साथ ही भारत के प्राचीन इतिहास पर उनका महत्त्वपूर्ण शोध कार्य चल पड़ा ।

अब तक भारत का जो इतिहास लिखा गया था वह दूसरे लोगों की कलम से लिखा गया था । यूनानी आये थे तो उन्होने अपने पक्ष को प्रबल बताते हुए इतिहास की रचना की । मुसलमानों ने भी वही किया और अँग्रेज भी वही कर रहे थे । इसका अर्थ यह था कि भारत की भावी पीढ़ी को इन्ही की बातो पर विश्वास करना पड़ता । उन्हे अपने' गौरवपूर्ण अतीत का ज्ञान ही नहीं हो पाता । स्वयं समर्थ होते हुए वे इस दोष दृष्टि को कैसे स्वीकार कर सकते थे । उन्होंने प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा प्राचीन पुस्तको को पढ़कर जो उचित निष्कर्ष निकाले उन्हे निबंध रूप मे प्रकाशित किया । इससे एक ओर तो उनका यश, सम्मान बढ़ा दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्य अविकृत रूप मे भारतवासियो के सामने आये ।

१८७४ मे प्राच्य-विद्या-विशारदो का जो सम्मेलन हुआ उसमे आपको भी आमंत्रित किया गया पर वे किन्हीं पारिवारिक कारणो से वहाँ उपस्थित न हो सके । १८७६ मे प्रो. विलसन की स्मृति में जिस वार्षिक-व्याख्यान-माला की व्यवस्था हुई उसमें श्रीभाण्डारकर उनकी योग्यता देखते हुए उच्चपद पर प्रतिष्ठित किये गये । अँग्रेज विद्वानो से भी उन्हे उच्च स्थान दिया गया । भारत मे वही सबसे बड़े अधिकारी थे । एक भारतीय की यह प्रतिष्ठा उनके लिये ही नही भारतवासियो के लिये भी एक प्रकार से गौरव की बात थी । हम अँग्रेजो से कम नहीं हैं यह आत्म-विश्वास उनमे जगाता था, डॉ. भाण्डारकर का यह सम्मान ।

१९०४ मे उन्हे बम्बई विश्व-विद्यालय का वाइस चासलर बनाया गया । १९१६ में वियेना मे हुए प्राच्य-विद्याविशारदो के सम्मेलन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण शोध सेवा के बल पर विश्वस्तर पर ख्याति प्राप्त की । सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया । वर्लिन विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डॉक्टर' की उपाधि प्रदान की । यह सब उनके अपने श्रम, मनोयोग, उनकी अपनी निष्ठा का सम्मान था जिसके कारण वे ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पादित कर सके जो हमारे लिये आज भी गौरव की बात है ।

उनके द्वारा की गयी अप्रकाशित संस्कृत-ग्रंथो की खोज भारत के प्राचीनकाल के इतिहास की रचना के लिये अत्यंत महत्व की है । उन्होने निजी पुस्तकालयो व प्राचीन खण्डहरो में छिपे पड़े इस ज्ञान-भण्डार को एक कुशल जौहरी की तरह परखा, बटोरा और उसे प्रकाशित किया वस्तुतः यह कार्य जितना कठिन था उतना ही श्रमसाध्य व समयसाध्य भी था । लोगो ने ज्ञानी पुरखों की इस ज्ञानथाती को अपने घर के काठकबाड़ मे जाने क्या सोचकर रख छोड़ा था, क्योंकि ज्यों-ज्यो देश मे विद्या पढ़ने-पढ़ाने का काम एक जाति और उस जाति के भी मुट्ठी भर विद्वान कहे जाने वालों के हाथ मे सिमटता गया पुराने ग्रंथ उनके लिये काले अक्षर भैंस बराबर होते चले गये । इनका उद्धार करने का कार्य डॉ. भाण्डारकर ने किया ।

अपनी इन पुरानी पोथियो के बारे मे चाहे वह धर्म सम्बन्धी हों या साहित्यसम्बन्धी या अन्य किसी विद्या सम्बन्धी, वे जाने क्या समझकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी सम्हालते चले आ रहे थे यह उन्हे भी पता नहीं था । ऐसे कितने ही ग्रंथो, लेखों व आलेखों को डॉ. भाण्डारकर ने न केवल सप्रयास अतिपरिश्रम से पढ़ा वरन् उन पर गवेषणात्मक रिपोर्ट भी लिखी और उसे प्रकाशित किया । यह रिपोर्ट बड़ी-बड़ी पाँच जिल्दो मे पूरी हुई । उनका यह कार्य पीछे वालो के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ इससे ऐतिहासिक-शोध का मार्ग खुल गया ।

एक साधारण परिवार मे जन्मा व्यक्ति यदि उच्च पद पर पहुँच जाय और उसे बड़ा सम्मान मिल जाय तो उसमे अभिमान आ जाना एक स्वाभाविक मानवीय दुर्बलता कही जा सकती है, पर डॉ. भाण्डारकर मे यह दुर्बलता नाममात्र को भी नही थी । विद्या उनके लिये अनुराग की वस्तु थी, गर्व करने की नहीं । ज्ञान से उन्हे उत्कट प्रेम था, एक प्यास थी जो कभी बुझती न थी । ईश्वर ने उन्हे शोध और परीक्षण की अद्भुत योग्यता प्रदान की थी । किसी भी प्रश्न को हाथ में लेते तो उसकी समीक्षा मे तल्लीन हो जाते, उसकी जड़ तक पहुँचने का प्रयास करते । स्थूलज्ञान से उनका अन्वेषण-प्रिय मन कभी संतुष्ट नहीं होता था । आधे मन से वे कोई काम नहीं करते थे ।

दादाभाई नौरोजी से उन्होने अपने शिक्षण-काल में जिस शर्त पर सहायता स्वीकारी थी उसे वे आजीवन भूले नहीं थे । कितने ही निर्धन और होनहार विद्यार्थी उनसे सदा सहायता पाते रहे । वे उन्हे अपने सहृदय अभिभावक की तरह ही मानते थे । बम्बई विश्व-विद्यालय के वाइसचांसलर रहे हो या डेक्कन कॉलेज के प्रोफेसर, उनके घर का दरवाजा विद्यार्थियों के लिये चौबीसो घण्टे खुला रहता था । उनके इस सहृदय-स्वभाव और उदारतापूर्वक सहायता देने की वृत्ति

ने उनके कार्य को आगे बढ़ाने वाले शिष्यों की टोली निर्मित कर दी थी। उन्होंने अपने शिष्यों को मात्र पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं दिया वरन् उनका निर्माण भी किया। एक शिक्षक के नाते वे स्वयं को भारत की भावी पीढ़ी के निर्माता मानते थे। शिक्षक होना उनके लिये जहाँ गर्व का विषय था वहीं वे उसके गुरुतर दायित्व को भी भली प्रकार जानते थे, उसका निर्वाह करते थे।

उनके शिष्य जस्टिस चन्दावरकर ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—"सर भाण्डारकर ने विविध बाधाओं को सहते हुए भी अपने को उनसे अलिप्त ही रखा। आपने सदा सत्य और न्याय का पक्ष लिया। आप सुधारवादी थे। जात-पाँत और छूत-छात के भेद को राष्ट्रीयताविरोधी और विघातक मानते थे। भगवद्-गीता और उपनिषदों को वे अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक मानते थे।"

१८९१ में जब महाराष्ट्रियन समाज में घोर रूढ़िवाद और संकीर्णता फैली हुई थी आपने अपनी विधवा कन्या का पुनर्विवाह करके जिस नैतिक साहस का परिचय दिया वह उनके विवेकशील और सुधारवादी रूप को उजागर करता है। विधवा का विवाह भला कैसे सम्भव है? ऐसे हजारों प्रश्न हजारों मुखों से निकलकर उनके निश्चय को डिगाने को तत्पर हुए। कितने ही मित्रों, परिजनो और कुटुम्बियों ने उनका खुलकर विरोध किया पर वे भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बारे में जितना जानते थे उसका कणमात्र भी विरोधियों के पास नहीं था। उनकी युक्तियों और ज्ञान के आगे किसी की न चली।

डॉ. भाण्डारकर ने भारत की भावी पीढ़ी को जो सम्पदा दी है उसे भुलाया नहीं जा सकता है और न उनके इस उदात्त-जीवन को विस्मृत किया जा सकता है। संस्कृति की सीता का उद्धार करने के लिये ऐसे ही उद्धारको की आज भी आवश्यकता है।

नई पौध के कुशल बागवान—

दादासाहब लाड

आजादी की लड़ाई का बिगुल बजा तो देश प्रेम के मतवाले सिपाही अपना-अपना काम छोड़कर इस युद्ध में आ कूदे। अपनी-अपनी भावना, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सबने अपने-अपने मोर्चे सम्हाल लिये। कोई नायक बना, कोई सेनापति बना, कोई महानायक, कोई सैनिक, तो कोई-रसद जुटाने वाला या सेवा-सुश्रूषा करने वाला। जमकर युद्ध हुआ। अँग्रेजो के पाँव उखड़ गए। भारत आजाद हो गया।

इस युद्ध के एक नायक ने देखा कि अब तो हवा ही बदल गई है। न रहा वह जोश, न रहा वह उत्सर्ग, न वे सिद्धान्त रहे, न कोई आदर्श रहा। आजादभारत मे उन सब की दुहाई तो दी जा रही है पर वास्तव मे सत्ता-लोलुपता, स्वार्थ, अवसरवादिता और सिद्धान्तहीनता का ही सर्वत्र बोलबाला है। उसने इस समूह से अपना नाता तोड़ लिया। यह व्यक्ति थे दादासाहब लाड जो महाराष्ट्र के नाना पाटिल अच्युत पटवर्धन, यशवन्तराव चह्वाण के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े थे।

इस बन्दर बाँट ने दादासाहब को यह सोचने पर विवश कर दिया कि अभी हम पूरी तरह आजाद नहीं हुए हैं। ये देशभक्तो के आराम करने, सुख भोगने के दिन नहीं वरन् उनके ऊपर बहुत बड़ा काम आ पड़ा है। अँग्रेज चले गये पर अँग्रेजियत नहीं गई। जो राज पहले अँग्रेज कर रहे थे वही अब हम कर रहे हैं। इससे अन्तर अवश्य पड़ा है फिर भी समाज तो ज्यों का त्यों पिछड़ा हुआ है, अशिक्षण ज्यो का त्यों मुँह बाए खड़ा है। अब प्रत्येक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार है पर वह उसका मूल्य नहीं जानता। सच्चे अर्थों मे सुराज्य लाने के लिये उनके कन्धों पर जुआ पड़ा ही है। वे राजनीति से संन्यास लेकर समाज-सेवा के क्षेत्र में आ गये।

दादासाहब लाड का नाम नाथाजी लाड था। इनका जन्म २ जनवरी, १९१६ के दिन महाराष्ट्र के कुण्डल नामक गाँव मे हुआ था। पिता की आय साधारण थी, पाँचवीं कक्षा तक पढ़ने के बाद इन्हे विवश होकर किर्लोस्कर छापाखाने में नौकरी करनी पड़ी। धीरे-धीरे परिश्रम तथा कर्तव्य-निष्ठा के बलबूते पर ये आगे बढ़ते ही गये। अपने इन गुणो के कारण वे विक्रय विभाग के प्रमुख बना दिये गये। इनके हाथ के नीचे कई कर्मचारी काम करते थे। हिसाब-किताब रखने तथा व्यवहार के बड़े पाबन्द थे। इनके कारण छापाखाने को बड़ा लाभ हुआ। छापेखाने के मालिक इनसे आयु तथा धन मे बड़े होते हुए भी इनका सम्मान करते थे। सच है अपना सम्मान कराना अपने हाथ मे ही है।

इन्हीं दिनो स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को बलिदान करने की, समय की पुकार को सुनकर इन्होंने इस नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। पिताजी भोले-भाले थे। घर तथा खेती का सारा काम माँ देखती थी। इनका सहारा जब माँ ने छिनते देखा तो उसने रोकने का प्रयास किया। नाथाजी ने अपनी माँ को समझाया व पारिवारिक स्वार्थ की अपेक्षा उन्होंने राष्ट्र के हित को महत्ता दी।

जिस काम को करना है तो उसे पूरे मन से जी-जान से करना है। आधे-अधूरे मन से कोई भी काम करना इन्हे पसन्द नहीं था। खादी पहनना, सूत कातना तथा कुप्रवृत्तियो से दूर रहने वाला जीवन तो उन्होंने नौकरी करते हुए ही अपना लिया था। जब संग्राम में ही कूद पड़े तो फिर पूरे जोश के साथ लड़ना चाहिए। सतारा जिले मे इन्होंने १९४२ मे प्रचण्ड-आन्दोलन आरम्भ किया। जन-जन मे इन्होंने नई चेतना जाग्रत की।

इनका काम जेल चले जाना नहीं था ये तो विरोध की अग्नि को धधकाकर दावानल बना देने के लिये क्षेत्र में ही रहना चाहते थे। संगठन के मामले मे वे पूरे सिद्धहस्त थे।

ऐसी प्रतिष्ठा कमाने के लिये दादासाहब को कितनी सावधानी बरतनी पड़ी है इसे उनके अतिरिक्त कोई नहीं जानता।

इन छात्रावासों में रहने वाले छात्र सादा जीवन उच्च विचार के जीवन-दर्शन की महत्ता समझते हैं। अपने सुख के साथ-साथ समाज के हितों का भी ध्यान रखने का पाठ वे यहाँ पढ़कर जाते हैं। अन्य छात्रावासों में जो व्यापारिक दृष्टिकोण दिखाई देता है। हर बात के लिये फीस दो नहीं तो छात्रावास को खाली करो, ऐसा यहाँ नहीं होता यहाँ एक परिवार की भावना ही प्रमुख होती है। चरित्र-निर्माण की ओर [illegible] ध्यान दिया जाता है।

दादासाहब ने जिन स्कूलों का निर्माण किया है उनमें शिक्षा के साथ स्वावलम्बन को जोड़कर रखा गया है। शिक्षा समाप्त करके उन्हें नौकरी के लिये दर-दर भटकना नहीं पड़ता। आज ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है। बढ़ती हुई बेरोजगारी की इस समस्या का हल दादासाहब के इन स्कूलों ने प्रस्तुत किया है।

दादासाहब उन सच्चे हीरों में से एक हैं जिनसे [illegible] का प्रकाश विकीर्ण है। सेवा, त्याग, अपरिग्रह, पर दुःख कातरता और नम्रता की किरणें फूट रही हैं। उनके सरल व्यक्तित्व को न पद की चाह है न प्रतिष्ठा की। [illegible] का चरित्र कितने ही [illegible] सच्चे [illegible] अपनी [illegible] की [illegible] ने उनसे [illegible] प्रेरणा देने का [illegible] है।

दीपचंद जैन—जिन्होंने स्वयं जलकर औरों को प्रकाश दिया

क्यों न काम करते हुए मर जाय।" यह कहते वृद्ध के मुखमण्डल पर एक तेजस्वी-आभा झलक उठी।

वृद्ध पुरुष के हृदय में ईशावास्योपनिषद् के उस वाक्य ने गहरी जड़ें जमा ली थीं जिसमें कहा गया था—इस कर्मलोक में निश्चयपूर्वक कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखो। वृद्ध पुरुष को भले ही सौ वर्ष का जीवन-सुख न मिल पाया हो परन्तु जितना भी जीवन उन्हें मिला, उसमें उन्होंने सैकड़ों वर्ष से भी अधिक का काम कर दिखाया। स्वयं अपने नाम के अनुरूप दीपक की तरह तिल-तिल जलते रहे और अपने विचारों से, व्यक्तित्व से, आचरण और भावनाओं से ऐसा आदर्श उदाहरण दीप मानव के सामने रखा, जिसके सहारे हर कोई प्रकाश-पथ पर अग्रसर हो सकता है।

बाबू दीपचन्द जी जैन का जन्म सन् १९०४ में हरियाणा के रोहतक जिले में हुआ था। उनके पिता मध्यम श्रेणी के एक जैन परिवार के मुखिया थे। बचपन में जब वे बाबू जी स्कूल जाया करते तो पाठशाला में कई सांस्कृतिक कार्यक्रम हुआ करते। इन आयोजनों में अपनी [illegible] तो कोई [illegible] नहीं [illegible]। एक बार [illegible] ने जोर-जबरदस्ती से बाबू जी का [illegible] कविता पाठ के लिए आमंत्रण दे दिया। उन्हें इस बात की खबर ही नहीं थी—शायद। खबर होती तो बचपन [illegible] आयोजन में भाग ही न लेते।

[illegible] के मध्य बैठे हुए, बालक दीपचन्द का नाम कविता पाठ के लिए पुकारा गया तो उन्होंने समझा शायद कोई और ही नाम का विद्यार्थी होगा। सहज अनुभूति से [illegible] निकलने लगे। फिर [illegible] ने उनका नाम लिया [illegible] में ही बैठे थे। उन्होंने कहा—आओ

जनता की मनोभूमि के ज्ञाता थे । अँग्रेज सरकार ने इन्हें
पकड़ने वाले के लिये पाँच हजार रुपये का पुरस्कार घोषित
किया पर कोई इन्हे पकड़ने-पकड़वाने को राजी नहीं हुआ ।
महाराष्ट्र के कोने-कोने से सतारा के आन्दोलन को
सहायता मिली थी । इस धन का पाई-पाई का हिसाब दादा
ने रखा तथा अपने नेताओ को दिया । इस प्रकार के
आन्दोलनो में गुण्डा तत्वो तथा लुटेरों की बन आती है वे
इस आड़ में अपना उल्लू सीधा करते है । दादा साहब ने
अँग्रेजी सरकार से लोहा लेने के साथ-साथ इन तत्वो का भी
दमन किया ।

अँग्रेजी हुकूमत । सिर पटककर मर गई पर वह
दादासाहब की छाया तक न पा सकी । यह उनके अद्भुत
व्यक्तित्व व सूझबूझ का परिणाम था कि तीन वर्ष तक वे
भूमिगत रह सके । भारतीय क्रान्तिकारी इतिहास मे उन गिने-
चुने व्यक्तियो मे ये भी थे जो अँग्रेजो की आँखो मे धूल
झोकने मे सफल हुए थे ।

आजादी के बाद दादासाहब ने निराश होकर नहीं
अपना कर्त्तव्य समझकर समाज-सेवा का क्षेत्र चुना था । सबसे
बड़ी कमी जो उन्हे अनुभव हुई वह थी शिक्षा की । उन्होने
शिक्षा-विस्तार का कार्यक्रम अपने हाथ मे लिया । सबसे पहले
अपने गाँव को ही उन्होने अपनी कार्यभूमि बनाया । सातवर्ष
तक उन्होने वहाँ रात्रिपाठशाला चलाई । जिससे गाँव के
अशिक्षित स्त्री-पुरुषो ने लाभ उठाया । लोग जब स्वयं शिक्षित
हुए तो उन्होने शिक्षा की महत्ता को समझा । कुण्डल मे वह
स्कूल जिसमे बचपन मे दादासाहब पढे थे अब तक पाँचवी
कक्षा तक ही था । उन्होने नब्बे हजार रुपये का चन्दा एकत्रित
करके वहाँ मिडिल स्कूल की स्थापना की ।

अपने गाँव के पश्चात् उन्होने अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत
किया । बचपन मे शहर जाकर आगे पढ़ने की तीव्र लालसा
थी पर अर्थाभाव तथा छात्रावास की व्यवस्था नहीं होने के
कारण वे आगे पढ़ नहीं पाये थे । उनकी तरह कितने ही
होनहार बालक शिक्षा से वंचित रह जाते थे । शिक्षा अब
भी पैसे वालो के लिये ही रही थी । कुछ व्यक्ति ही इसके
अपवाद थे जो गरीबी मे भी अपने परिश्रम तथा लगन के
बलबूते पर आगे पढ़ सके थे ।

१९४८ मे उन्होने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति का
श्रीगणेश 'नाना पाटिल बोर्डिंग' आरम्भ करके किया । ओध
में इस बोर्डिंग के लिये दो लाख रुपये का ट्रस्ट स्थापित
किया । विदेश जाने वाले विद्यार्थियों के लिये ३५ हजार
रुपये का एक ट्रस्ट और खोला ।

दादासाहब के द्वारा स्थापित छात्रावासो तथा स्कूलो की
संख्या बहुत बड़ी है । इनके लिये धन जुटाने के लिये उन्होने
एक की तरह झोली फैलाई है । वे कहते—"ये
बोर्, पाठशालाएँ ही मेरा ससार है । स्वय अपने
एक अतिथि जैसी है जिसे मेरे परिवार
वाले भी जानते है ।" समाज-सेवा के लिये ही उन्होने अपना
सारा जीवन समर्पित कर दिया ।

एक-एक पैसा और मुठ्ठी-मुठ्ठी अन्न के लिये गाँव-गाँव
दर-दर, भटके क्या झोपड़ी और क्या महल कोई ऐसा स्थान
नही बचा जहाँ इस फकीर के चरण नहीं पड़े, जहाँ इसकी
झोली नहीं फैली । लोक-मंगल के लिए उन्होने जो झोली
फैलाई, उससे उनका मान घटा नहीं वरन् उन्होने लोगो को
यह बताया कि आज के समय धर्मशाला, सराय तथा मन्दिर
बनाने तथा बाबा, पुजारियों को धन दान देने की अपेक्षा इस
प्रकार के समाजहित के कार्यों मे लगाना ही उपयुक्त है ।
इस प्रकार दिया जाने वाला दान ही पुण्य होता है ।

दादासाहब के दाताओं में ऐसे किसान भी है जो एक
मुठ्ठी अन्न ही देते है और ऐसे किसान भी है जो उनको
देने के लिये बोरे के बोरे अनाज अलग से रख देते है ।
ऐसे धनदाता भी है जो केवल एक पैसा भर देते है और
ऐसे दानी है जो लाखो के चेक काट कर देते है । ये
प्रसन्नतापूर्वक सब स्वीकार करते है, कमी पड़ जाने पर वे
अपने घर से पूरा करने मे भी नही हिचकिचाते थे ।

वे कहा करते है—'बच्चे तो ईश्वर की बगिया के
फूल है । इन्हे पूरा खाद पानी देना हमारा कर्तव्य है । इस
बगिया के फूलो को विकास की पूरी सुविधा मिले । किसी
को अपनी परिस्थितियो से विवश होकर असमय मुर्झाना न
पड़े ।

इनके द्वारा सचालित इन छात्रावासो मे प्रवेश पाने के
लिये कोई शर्त नही रखी जाती । जिनके घर से जितनी
सहायता मिल जाती है उतना ही छात्रावास शुल्क के रूप मे
दिया जा सकता है । चाहे ये पाँच रुपये हो या पाँच सौ
हो । छात्रावास का वातावरण एक परिवार जैसा-घर जैसा होता
है । शिक्षा-समाप्त करके निकलने वाले विद्यार्थी जब काम पर
लग जाते है तो अपने घर वालो की सहायता करने की तरह
कुछ न कुछ धन राशि इन छात्रावासो को भेजते रहते है ।

गरीब छात्रो को कॉलेज की शिक्षा सुलभ कराने के
लिये इन्होने साँगली मे जो 'महाराष्ट्र-वसति-गृह' स्थापित किया
है उसमे अधिकाश हरिजन छात्र है ।

इतने छात्रावासो का सचालन वे पूरे मनोयोग से करते
है । उनके खर्च का हिसाब-किताब रखना, उनकी जाँच करते
रहना, वे बिना प्रमाद किया करते है । वे इस बात का ध्यान
रखते है कि जिस उद्देश्य के लिये उन्होने दान इकट्ठा किया
है उसी मे उसका प्रयोग हो । यदि ऐसा नहीं हो सका तो
जनता की जो श्रद्धा है वह समाप्त हो जायेगी । आज कई
व्यक्ति ऐसे भी है जो समाज की आड़ मे अपना घर भरते
है । उनकी गणना भी कहीं ऐसे लोगो मे न होने लगे इसका
उन्होने पूरा ध्यान रखा ।

उनकी सारी साख और व्यक्तित्व का सुपरिणाम है कि
महाराष्ट्र-वसति-गृह की मुहर से हजारो रुपये का सामान
साँगली के किसी भी दुकानदार से लिया जा सकता है ।

ऐसी प्रतिष्ठा कमाने के लिये दादासाहब को कितनी सावधानी बरतनी पड़ी है इसे उनके अतिरिक्त कोई नहीं जानता ।

इन छात्रावासों में रहने वाले छात्र सादा जीवन उच्च विचार के जीवन-दर्शन की महत्ता समझते हैं । अपने सुख के साथ-साथ समाज के हितों का भी ध्यान रखने का पाठ वे यहाँ पढ़कर जाते हैं । अन्य छात्रावासों मे जो व्यापारिक दृष्टिकोण दिखाई देता है । हर बात के लिये फीस दो नहीं तो छात्रावास को खाली करो, ऐसा यहाँ नहीं होता यहाँ एक परिवार की भावना ही प्रमुख होती है । चरित्र-निर्माण की ओर पूरा ध्यान दिया जाता है ।

दादासाहब ने जिन स्कूलों का निर्माण किया है उनमे शिक्षा के साथ स्वावलम्बन को जोड़कर रखा गया है । शिक्षा समाप्त करके उन्हें नौकरी के लिये दर-दर भटकना नहीं पड़ता । आज ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है । बढ़ती हुई बेरोजगारी की इस समस्या का हल दादासाहब के इन स्कूलो ने प्रस्तुत किया है ।

दादासाहब लाड उन सच्चे हीरो में से एक हैं जिनमें आत्मा का प्रकाश विद्यमान है । सेवा, त्याग, अपरिग्रह, पर दु:ख कातरता और मधुरता की किरणे फूट रहीं हैं । उनके सशक्त व्यक्तित्व को न पद की चाह है न प्रतिष्ठा की । ऐसे समाजसेवी का चरित्र कितने ही भावनाशील सच्चे मानवों को अपनी लोभ-मोह की परिधि त्यागकर कर्मक्षेत्र में उतरने की प्रेरणा देने को पर्याप्त है ।

दीपचंद जैन—जिन्होंने स्वयं जलकर औरों को प्रकाश दिया

लगभग एक वर्ष पूर्व की बात है । भारत की राजधानी व्यस्त-महानगरी दिल्ली के तीव्र गति से भागते हुए जन-जीवन मे एक सत्तर वर्ष का वृद्ध पुरुष एक हाथ में लाठी और दूसरे मे झोला पकड़कर आता-जाता दिखायी दिया करता था । कम्पन रोग से ग्रस्त काँपते हाथ, मँझोला कद, गेहुँआ रग, धोती और कुर्ता पहने जब उक्त वृद्ध सड़को पर से गुजरता तो बस स्टॉपो पर क्यू मे खड़े हुए युवको के चेहरे शर्म से झुक जाते थे । हाथ-पाँव से असमर्थ होते हुए भी जिस व्यक्ति ने उनका उपयोग नहीं छोड़ा । वाहनो की प्रतीक्षा मे खड़े बलवान अंगो वाले पुष्टदेह व्यक्ति उस वृद्ध की तुलना में कमजोर और उससे भी अधिक पगु लगते थे ।

कोई हितैषी रास्ते में मिल जाता तो वृद्धपुरुष को दूर से देख आदर से प्रणाम कर लेता । अपनी शुभ चिन्तना इन शब्दो में व्यक्त करता—"बाबूजी ! आपका इस उम्र मे भी दिल्ली की सड़को पर पैदल घूमना ठीक नहीं है । आपके कमजोर पैरों की जरा-सी भी चूक बड़ी दुर्घटना का कारण बन सकती है ।"

वे उत्तर देते—"इस प्रकार अपने पैरों के बल ही चलते हुए मौत आ जाये तो मैं उसका स्वागत करने के लिए हरदम तैयार हूँ । एक न एक दिन तो मरना ही है; फिर क्यों न काम करते हुए मरा जाय ।" यह कहते वृद्ध के मुखमण्डल पर एक तेजस्वी-आभा चमक उठी ।

वृद्ध पुरुष के हृदय में ईशावास्योपनिषद् के उन वाक्यों ने गहरी जड़ें जमा ली थीं जिनमें कहा गया था—इस कर्मलोक मे निश्चयपूर्वक कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रखो । वृद्ध पुरुष को भले ही सौवर्ष का जीवन-सुख न मिल पाया हो परन्तु जितना भी जीवन उन्हें मिला, उसमें उन्होंने सैकड़ोवर्ष से भी अधिक का काम कर दिखाया । स्वयं अपने नाम के अनुरूप दीपक की तरह तिल-तिल जलते रहे और अपने विचारों से, व्यक्तित्व से, आचरण और भावनाओं से ऐसा आदर्श उदाहरण-दीप समाज के सामने रखा, जिसके सहारे हर कोई प्रकाश-पथ पर अग्रसर हो सकता है ।

बाबू दीपचन्द जी जैन का जन्म सन् १९०२ में हरियाणा के रोहतक जिले में हुआ था । उनके पिता मध्यम श्रेणी के एक जैन परिवार के मुखिया थे । बचपन में जब वे बाबूजी स्कूल जाया करते तो पाठशाला में कई सांस्कृतिक-कार्यक्रम हुआ करते । इन आयोजनों में उनकी वैसे तो कोई रुचि नहीं थी । एकाध बार साथियों ने जोर-जबरदस्ती से बाबूजी का नाम कविता पाठ के लिए आयोजक को दिया । उन्हें इस बात की खबर ही नहीं थी—शायद । खबर होती तो सम्भव था वे उस आयोजन मे भाग ही न लेते ।

श्रोताओं के साथ बैठे हुए बालक दीपचन्द का नाम कविता पाठ के लिए पुकारा गया तो उन्होंने समझा शायद कोई मेरे ही नाम का विद्यार्थी होगा । सहज उत्सुकता से वे आस-पास निहारने लगे । जिन साथियो ने उनका नाम दिया था वे वहीं पास मे ही बैठे थे । उन्होंने कहा—जाओ दीपचन्द ।

"परन्तु मैंने तो अपना नाम दिया ही नहीं था"—आश्चर्य के साथ उन्होंने कहा ।

"हमने दिया था"—सहपाठियों ने कहा ।

"कमाल है । मुझे बताया तक नहीं, मैंने कोई तैयारी भी तो नही की है ।"

"इसमे तैयारी की क्या बात है । उर्दू की किताब से जो कविता याद हो वही सुना देना"—किसी प्रकार खींचतान करके मंच पर पहुँचाया गया बाबू दीपचन्द को । उन्होंने अपने मधुर स्वर मे पाठ्य पुस्तक से एक बढ़िया कविता जो उन्हे कण्ठस्थ थी सुना दी । इस कविता ने उन्हें आयोजन प्रतियोगिता का पुरस्कार विजेता बना दिया । वस्तुत: उनका कण्ठ इतना मधुर तो नहीं था फिर भी बाबूदीपचन्द ने जिस ढंग से कविता-पाठ किया था वह अवश्य ही कर्णप्रिय बन गया था ।

अक्सर अन्तर्निहित प्रतिभाएँ आकस्मिक रूप से जाग उठती है । उन्हें संयोग ही कहा जाना चाहिए । संयोग इसलिए कि प्रतिभाशाली व्यक्ति को उन आगत स्थितियों की कल्पना भी नहीं होती है । ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति का

आत्मविश्वास अचानक जाग उठता है । दीपचन्दजी के सुपटु प्रस्तुतीकरण ने उनको आयोजन-कर्त्ताओं तथा विद्यार्थियों का प्रशंसा पात्र बना दिया । उन्ही दिनो किसी हितचिन्तक अध्यापक ने उन्हे परामर्श दिया कि वे कविताएँ लिखने का भी प्रयत्न करते रहे । भावना तथा क्रिया-कौशल का समन्वय किसी भी व्यक्ति को अद्‌भुत प्रतिभाशाली तथा सफल बना देता है ।

दीपचन्दजी अपने अध्यापक का कहना मानकर कविताएँ लिखने लगे । योग्य और विद्वान आचार्य उनकी तुकबंदी को जाँचकर परिमार्जित करते तथा उन्हे प्रोत्साहन देते । धीरे-धीरे उनकी काव्य-प्रतिभा निखरती गयी । दीर्घ-साधना के उपरान्त वे दीपक उपनाम से पत्र-पत्रिकाओ मे भी अपनी रचनाएँ भेजने लगे; जिनका अच्छा स्वागत हुआ ।

उन्होने बी. ए. तक शिक्षा प्राप्त की थी । शिक्षा का माध्यम फरसी और उर्दू रहा । उन्होने फारसी मे मुंशी फाजिल और उर्दू मे अदीबआलम की परीक्षा उत्तीर्ण की । इसके अतिरिक्त अँग्रेजी और हिन्दी मे भी अच्छा अधिकार प्राप्त किया । उनके पिता वैश्य कुल के थे अवश्य परन्तु इतने साधन सम्पन्न नहीं थे कि दीपचन्दजी के लिए उच्च-शिक्षा का प्रबंध कर सके । साधन हीन, विपन्नपरिस्थितियों में भी उन्होने स्वयं को अपने जमाने के मान से अच्छा शिक्षित बना कर परिश्रम और लगन का, शील स्वभाव का ही परिचय दिया । बी. ए. पास करने के साथ-साथ उन्होने अपभ्रंश, गुजराती, प्राकृत, पंजाबी और ज्योतिष का भी अध्ययन किया । अवकाश के समय का सदुपयोग करने से ही दीपचन्दजी ने अपनी प्रतिभा तथा योग्यता का बहुमुखी विकास किया ।

परिवार की सहायता तथा जीविकोपार्जन के लिए उन्हे नौकरी तलाश करनी पड़ी । सन् १९२० ई. मे रेलवे-विभाग मे वे अच्छे पद पर नियुक्त हुए । यहाँ भी उन्होने कार्य को पूजा समझकर शासन की सेवा की थी । तभी भारतीय-स्वतन्त्रता-संग्राम की जन-चेतना जागी और जागा उसी आलोक मे दीपचन्द जी का हृदय । उन्होने समझा कि ब्रिटिश नौकरशाही के पुर्जे बनकर वे अपने देश के पाँवो मे गुलामी की बेड़ियाँ ही जकड़ रहे हैं । इसलिए शीघ्र ही इस निद्रा से जागने की आवश्यकता अनुभव करने लगे । विचार-मंथन के इसी अन्तर्द्वन्द्व मे उन्होने आठवर्ष गुजार दिये । आठवर्ष तक ही वे शासकीयसेवा मे रह सके ।

सन् १९२८ ई. मे उन्होने रेल्वे-अधिकारी के पद से त्यागपत्र दे दिया और जन-जागरण के राष्ट्रीय-यज्ञ मे ऋत्विज बन गये लोगों मे स्वातन्त्र्य-प्रेम और देशभक्ति की भावना जगाना ही उन्होने अपना लक्ष्य बना लिया । साहित्यिक-प्रतिभा और लगन तो उनके पास थी ही । उसी के माध्यम से विचार-क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार करने मे जुटे । पंजाब के एक राष्ट्रीय-विचारधारा प्रधान उर्दू पत्र में काम करने लगे । उन्होने सर्वप्रथम स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा संस्थापित दैनिक तेज पत्र में समाचार संपादन का कार्य किया । तदुपरान्त वे दिल्ली से प्रकाशित वतन में सहायक सम्पादक बने ।

परन्तु वे अनुभव कर रहे थे कि ऐसा कोई पत्र स्वयं निकालें जिसमे वे अपना हृदय तथा उत्साह भावनाएँ सहजता से उड़ेल सके । कुछ साधन जुटाकर उन्होने एक साप्ताहिक अखबार निकाला जिसके सम्पादन, संचालन से लेकर चपरासी और क्लर्क तक का काम उन्हे ही करना पड़ा । यद्यपि पत्र का स्तर अच्छा था और वह लोकप्रिय भी हुआ परन्तु कम से कम मूल्य मे पाठकों को उपलब्ध कराने के लिए अधिकांश समय और श्रम वे स्वयं ही लगाते थे ।

उन्होने इस पत्र को कई बार परिवर्तित, रूपान्तरित तथा नवीनीकृत किया । ये सब परिवर्तन तत्कालीन सुविधाओं तथा परिस्थितियो को दृष्टिगत रखकर किये गये । जिनके परिणाम-स्वरूप पत्र और अधिक उपयोगी तथा निर्धारित प्रयोजन को पहले की अपेक्षा अधिक सफलता से पूरा कर सका । फिर भी उन्हे इस पत्रकारिता के माध्यम से कोई आर्थिक लाभ नही हुआ । कारण था उन्होने इस दृष्टि से कभी विचार किया ही नहीं था । जिस जीवन-मंत्र को व्यवहार-सूत्र बनाकर वे कर्मक्षेत्र मे उतरे थे, उसकी साधना मे रत ही उनकी जीवन-ज्योति विलीन हुई ।

जन जाग्रति के धर्म सैनिक—
मास्टर दीनदयाल

मास्टर दीनदयाल सन् १९६५ मे प्राइमरी स्कूल के प्रधान अध्यापक पद से सेवानिवृत्त हुए तो उनके सामने ऐसी कोई परेशानी न थी कि शेष जीवन को किस प्रकार व्यतीत करेगे । समय कैसे कटेगा ? वह तो पिछले तीस वर्षो से समाज की सेवा करते आ रहे थे, उनके सामने कार्य का एक बहुत बड़ा क्षेत्र था । माँस और धूम्रपान छुड़ाने से लेकर व्यक्तियो को ईश्वर-उपासना मे लगाने के लिये उन्होने कोई प्रयत्न छोड़ा न था ।

अपने अध्यापनकाल मे वे आदर्श अध्यापक रहे । जिले की सारी जनता उनकी सेवाओ से परिचित थी । इसलिये हर गाँव के लोग यह चाहते थे कि मास्टर साहब हमारे गाँव में आ जाये तो गाँव की काया पलट हो जाय । जिस गाँव में रहे वहाँ के स्कूल के विद्यार्थियो को आज्ञाकारी, सेवाभावी और सत्संगी बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहे । अपने जीवन मे हजारो विद्यार्थियो को गीता, रामायण और माला बिना पैसे की देकर उन्हे स्वाध्याय तथा उपासना की ओर प्रेरित किया । अपनी आय का एक अंश निर्धन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति के रूप मे देकर पढ़ने के लिए उत्साहित करते रहे । धनाभाव के कारण कोई विद्यार्थी पढ़ाई से वंचित रहे यह इन्हे पसन्द न था । अत: गाँव के सम्भ्रान्त व्यक्तियो से सहयोग भी दिलवा देते थे ।

एटा जिले को ही नहीं वरन् फर्रुखाबाद और मैनपुरी को भी अपना कार्यक्षेत्र बनाकर गाँव-गाँव, गढ़े-गढ़े

कीर्तन-मण्डल स्थापित किए । सुमौर, गेवर असदुल्लापुर, पंचपुरा, मोहन नगला, बझेरा, सियार नगला, ठिवइया जुनेदपुर, अलीगंज, कैला, रामनगर, दिवरइया, लिढइया, मझोला, हथौड़ा, करनपुर, भैंसरासी और रम्पुरा में १८ बड़े कीर्तन मण्डल इस समय चल रहे हैं जिनमें २० से ४० व्यक्ति तक अच्छे कीर्तनकार हैं । गाँव-गाँव जाकर रात्रि मे उनकी चौपालो पर रहकर लोगो को कीर्तन करना सिखाया और पढ़े-लिखे व्यक्तियो को कीर्तन लिखवाये ताकि अन्य व्यक्ति भी उनसे सुनकर याद कर सके ।

मास्टरसाहब घूमते हुये जब इन गाँवों में पहुँचते हैं तो रात्रि को कीर्तन और सत्संग का आयोजन होता है । कीर्तन के बीच मे सामाजिक बुराइयो तथा मानसिक विकारो पर उनका प्रभावशाली प्रवचन होता है । जगह-जगह कीर्तन-मण्डलो की स्थापना से लोगो मे जाग्रति पैदा हुई है । मनोरंजन के साथ ही साथ उन्होंने अपने जीवन के प्रमुख उद्देश्य को भी समझा है । नई पीढ़ी के लोग जो अनुशासन-हीनता और नास्तिकता के लिए बदनाम हैं, ऐसे १८ से २५ वर्षीय युवको मे धर्म के प्रति झुकाव पैदा किया और कीर्तन, उपासना, सत्संग आदि के लिये प्रेरणा दी है ।

अपने अध्यापन काल मे बझेरा, रामनगर व दिवरैया पहुँचे तो एक कुँआ और एक मन्दिर का निर्माण भी कराया । ऐसे कार्यों मे आपने देखा कि यदि जनता को उसकी वास्तविक कठिनाई बताई जाय तो वह धन और श्रम देने में पीछे नहीं रहती उसी का परिणाम है कि इन गाँवो मे मन्दिर और कुँओ का निर्माण हो सका । सुमौर स्थानान्तरित होकर जब पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ का स्कूल एक बाग में लग रहा है जहाँ गर्मी और बरसात मे बड़ी कठिनाई होती है अतः गाँव वालो को स्कूल-भवन की आवश्यकता समझाई और उनकी प्रेरणा से एक अच्छी इमारत बनाकर खड़ी करदी गई ।

अब ६० वर्ष की आयु मे जबकि स्वास्थ्य भी खराब रहता था । मास्टर साहब गाँव-गाँव पैदल जाकर लोगो को धर्म के प्रति श्रद्धावान बनाने के लिये प्रयत्नशील थे । उनकी निस्वार्थ सेवा का ही यह परिणाम है कि उस क्षेत्र के ४०-५० ग्रामो मे जाग्रति हुई और लोगो ने जीवन का उद्देश्य समझ कर उसे सही ढग से जीने का संकल्प लिया ।

संस्कृति समर्पित जीवन—जे. पुरुषोत्तम

आज के इस विषम युग मे जहाँ एक ओर भारत जैसे महानतम सांस्कृतिक थाती के उत्तराधिकारी देश के वासी पाश्चात्य-भोग-प्रधान-भौतिक-संस्कृति की चकाचौध से प्रभावित होकर उसका अन्धानुकरण करते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य-जन-मानस इस भोग-प्रधान भौतिक-संस्कृति की निरर्थकता से परिचित होकर भारतीय अध्यात्मवादी-संस्कृति की ओर आशा भरी निगाह से देख रहे हैं, जिन थोड़े से भारतीय मनीषियों ने भारतीय-संस्कृति के पुनरुत्थान व प्रचार-प्रसार में योग दिया है उनमे श्री जे. पुरुषोत्तम का अपना विशिष्ट स्थान है ।

जे. पुरुषोत्तम संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित, आदर्श शिक्षक, आचार्य, धर्म ग्रन्थो के सरल व्याख्याकार तथा प्रख्यात साहित्यकार थे । हिन्दू-संस्कृति के कर्मठ-प्रचारक के रूप मे उनका व्यक्तित्व व कर्तव्य युग की आवश्यकता की आंशिक पूर्ति के रूप मे एक अनुकरणीय उदाहरण बन चुका है । ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ तो कई लोगो के पास हैं । पाण्डित्य और साहित्यिक क्षमता के धनी भी कई बैठे हैं पर जिन थोड़े से व्यक्तियों ने उनके सदुपयोग की बात सोची और उनसे समाज को लाभान्वित किया उनमें जे. पुरुषोत्तम की गणना की जाती है ।

१७ फरवरी सन् १९०६ मे अपनी ननिहाल पूर्वी-गोदावरी जिले के नादवपल्ली ग्राम में जन्मे पुरुषोत्तम के पिता जटावल्लभुला भारतीय-संस्कृति के प्रति अनन्य निष्ठा रखते थे । कभी एक दिन भी ऐसा नहीं जाता था जब वे बिना अपने आराध्य की उपासना किये भोजन करने बैठ गये हो । परिवार के इसी आस्तिकतापूर्ण वातावरण मे बालक पुरुषोत्तम का पालन-पोषण हुआ था । परिवार की पाठशाला मे उन्होंने जो सांस्कृतिक पाठ पढ़ा वह आगे चलकर जीवन भर विस्मृत नहीं हो सका । अपने पैतृक गाँव पूर्वी गोदावरी जिले के आत्रयपुरम् ग्राम मे ही उनकी प्रारम्भिक शिक्षा सम्पन्न हुई थी । आरम्भ से ही वे सस्कृत के अध्ययन के साथ-साथ पश्चिमी-संस्कृति के अध्ययन में भी रुचि लेते थे । श्री वेभूरी रामागोविन्द शास्त्री, श्री पुले उमा महेश्वर शास्त्री जैसे विद्वानो से उन्होंने संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की । मद्रास विश्व-विद्यालय से उन्होंने तेलगू व संस्कृत में एम. ए. किया ।

युवक पुरुषोत्तम के मानस पर भारतीय-संस्कृति की विशेषता के जो संस्कार बचपन मे पड़े थे वे कितने प्रबल थे इसका परिचय इस घटना से मिल जाता है । इण्टरमीडियेट कक्षाओं मे उन्होंने जैविकी विषय लिया । पर जब प्रायोगिक कक्षाओं मे मेढक चीरने की बात आयी तो पुरुषोत्तम विचलित हो उठे । हमारी संस्कृति तो मनुष्य को वह शिक्षा देती है कि उसे प्राणी मात्र को कुछ भी भय न हो तो वे जीवित मेढक को कैसे चीर सकते थे । उन्हे ऐसी विद्या नही चाहिए जो जीव-हिंसा के अनन्तर प्राप्त हो अतः वे प्रिंसिपल के पास पहुँचे और अपना विषय परिवर्तित करवा लिया । विज्ञान छोड़कर वे कला के विद्यार्थी बन गये ।

छब्बीसवर्ष की आयु मे वे आन्ध्र जीवन-विद्यापीठम् संस्कृत कॉलेज कोव्वुर (पश्चिम गोदावरी) के प्राचार्य नियुक्त किये गये । प्राचार्यपद पर हुई उनकी नियुक्ति भी कम आश्चर्य की बात नहीं थी । कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी के सचिव वी. सूर्यनारायणराव सनातन विचार-धारा के कट्टर विरोधी थे जबकि जे. पुरुषोत्तम उसके समर्थक । पर जे. पुरुषोत्तम की विद्वत्ता, योग्यता और व्यक्तित्व इस पद के

लिये इतना उपयुक्त था कि उनके मन के विरोधी श्रीराव को उन्होंने अपने कॉलेज का प्राचार्य नियुक्त किया ।

श्रीराव उनके व्यक्तित्व, चरित्र से इतने प्रभावित हुए कि श्रीराव ने अपने वसीयतनामे में ७०,००० रुपये की धनराशि से स्थापित एक पुस्तक प्रकाशन ट्रस्ट का आजीवन सदस्य मनोनीत किया । आश्चर्य इस बात का होता है कि उनके अपने दो पुत्रों को उन्होंने सदस्य नहीं बनाया । व्यक्ति की कर्त्तव्य निष्ठा अपने विरोधी का भी हृदय जीत लेती है । इस बात का इससे अच्छा उदाहरण और क्या होगा ?

अठारहवर्ष तक कोव्वुर के संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य पद पर रहकर समाज की महती-सेवा करने के बाद वे विजयवाड़ा के आर. सी. बी. कॉलेज में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए । तेरहवर्ष तक वे उस पद पर रहकर देवभाषा—संस्कृत की सेवा करते रहे । आंध्रप्रदेश के संस्कृत तथा तेलगू के अनेक विद्वान उन्हें आज भी अपना गुरु मानते थे ।

शिक्षक के रूप में उन्होंने अपने छात्रों को मात्र पुस्तकीयज्ञान ही नहीं दिया वरन् अपने चरित्र व आचरण द्वारा उन्हें अनेकानेक सद्गुणों से समन्वित भी किया । छात्र की किसी भी कठिनाई व समस्या का वे हर सम्भव हल प्रस्तुत करने में सदा आगे रहते थे । उनके अपने वेतन का अधिकांश भाग निर्धनछात्रों की सहायता की मद में व्यय होता था ।

सुयोग्य व आदर्श-शिक्षक के रूप में समाज की महती-सेवा करने के बदले में तो उन्हें वेतन मिलता था अतः वे कुछ निस्वार्थभाव से भी संस्कृत भाषा व भारतीय-संस्कृति की सेवा करना आवश्यक मानते थे । अतः वे चौदहवर्ष तक ग्रीष्मावकाश में नेलौर, राजमुन्द्री और विजयवाड़ा जैसे बड़े नगरों में 'धर्म-शास्त्र' की कक्षाएँ लगाकर भारतीय-संस्कृति का प्रचार करते रहे । इस शिक्षण के दौरान विद्यार्थियों के आवास, भोजन तथा पुस्तकों का प्रबन्ध भी अपने खर्चे से करते थे ।

वे जानते थे कि आज के इस अर्थ प्रधान-युग में अपनी गाँठ का खर्च लगाकर सांस्कृतिक-शिक्षण पाने अधिक व्यक्ति नहीं आयेंगे । इस निर्धन-देश में बहुत से व्यक्ति चाहते हुए भी धनाभाव के कारण इस शिक्षण शिविर में भाग नहीं ले पायेंगे । अतः जब भगवान ने मुझे इस योग्य बनाया है कि मैं उन्हें शिक्षण के साथ-साथ आवास, भोजन व पुस्तकों की भी निःशुल्क व्यवस्था कर सकता हूँ तो ऐसा क्यों न करूँ ।

उनकी इस सेवा-भावना और प्रतिभा से प्रभावित होकर १९६५-६७ में उन्हें 'शास्त्रीय भाषा-विकास समिति' का सदस्य नियुक्त किया गया । इस काल में उनकी सेवाएँ सराहनीय रहीं । उन्होंने समिति को संस्कृत के शिक्षण के लिये महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये ।

अपने जीवन में उन्होंने भारतीय-संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर २,५०० से भी अधिक भाषण दिये । भारतीय संस्कृति पर ९०० से भी अधिक तथा पूर्ण निबन्ध उन्होंने लिखे जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए । भारतीय समाज-व्यवस्था व संस्कृति में नारी के महत्वपूर्ण स्थान का दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से उनके द्वारा लिखे गये, वैदिक वीमैन (वेदकालीन नारी) और 'वीमैन इन स्मृतीज' (स्मृतियों में नारी) नामक पुस्तकें अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं । ये पुस्तकें अत्यधिक महत्व की हैं । ये पुस्तकें नारी को पुरुष से हीन मानने वाले दुराग्रहियों का मुँहतोड़ उत्तर देती हैं । इसी प्रकार 'हिन्दूइज्म' (हिन्दुत्व) तथा 'भारतीय-विज्ञान' नामक पुस्तकें हमारे प्राचीन एवं सांस्कृतिक वैभव का दिग्दर्शन कराने को पर्याप्त हैं । 'विप्राष्टक' 'धर्म मंजरी' 'भगवद्गीता प्रवास' तथा 'महाकवि दण्डेशो' आदि उनकी अन्य महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं ।

इतने सारे लेखन के पीछे सृजेता के मन में न तो पाण्डित्य का भाव रहा है और न ही अपना नाम कमाने की चाह । वरन् ये सभी पुस्तकें, लेख-भाषण आदि भारतीय-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के महान उद्देश्य से ही लिखे और कहे गये हैं ।

उनकी इस संस्कृति-सेवा को समादृत कर उनके द्वारा निबाही गयी परम्परा को प्रोत्साहित करने के लिए महा विद्यापीठम् मद्रास ने उन्हें 'धर्म-स्थापक' की उपाधि से विभूषित किया । नेलौर के महापण्डितों ने उन्हें 'आर्ष विद्या-भूषण' की उपाधि से विभूषित किया । राजकवि स्व. श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री ने उन्हें 'उपन्यास केसरी' की उपाधि से विभूषित किया । किन्तु वे इन सभी उपाधियों से ऊपर थे । इन उपाधियों से उन्हें कभी कोई लगाव नहीं रहा । सत्कार्यों के अभिनन्दन के रूप में वे इन्हें स्वीकारते भले ही रहे, रहे उनसे निर्लिप्त ही । वे कहा करते थे कि उपाधियों को अपने साथ नहीं कार्यों के साथ समझना चाहिए नहीं तो वे उपाधियाँ नहीं व्याधियाँ बन जाती हैं ।

वैदिक-संस्कृति की एक महती-सेवा उन्होंने यह थी कि आन्ध्र-प्रदेश में 'अथर्व-वेद' जो एक प्रकार से लुप्त हो चुका था उसे पुनः स्थापित किया । उस समय 'अथर्ववेद' के सस्वर ज्ञाता तीन या चार ही रह गये थे जिनमें एक वाराणसी व शेष गुजरात में थे । उन्होंने श्री तमिरल बाल गंगाधार शर्मा नामक संस्कृत-ज्ञाता नवयुवक को अपने खर्चे पर वाराणसी भेजा । १९४७ से ४९ तक उक्त युवक 'संघ-वेद-विद्यालय' में श्री भगवानलाल से वेदों का अध्ययन करता रहा । 'अथर्व वेद' का सस्वर ज्ञान होने पर यह युवक आंध्र प्रदेश स्थित अपने गाँव लौटा । यहाँ आकर उसने चार अन्य शिष्यों को अथर्ववेद पढ़ाया । इस प्रकार आन्ध्र-प्रदेश में अथर्व-वेद को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ ।

श्री जे. पुरुषोत्तम की यह संस्कृति-सेवा आज के युग में बड़ा महत्व रखती है । हमारी यह देवोपम सांस्कृतिक विरासत ही वह सामर्थ्य रखती है कि अशांत विश्व को सुख-शान्ति और सच्चा आनन्द दे सके । इसकी रक्षा करना हम भारतवासियों का परम पुनीत कर्त्तव्य है । इस तथ्य को

श्री जे. पुरुषोत्तम ने समझा और सारा जीवन इन्होने इसी ध्येय को समर्पित कर दिया ।

२९ अक्टूबर, १९७२ को उनका निधन हो गया । उनके इस निधन से सांस्कृतिक जगत को जो हानि हुई उसे पूरा करने का दायित्व हम भारतवासियो पर है । कौन इस महत्त्वपूर्ण दायित्व को स्वीकार कर यशस्वी बनने का सुख-सौभाग्य वरण करेगा, यह समय बतायेगा पर इतना सुनिश्चित है कि यह परम्परा लुप्त नहीं होगी ।

आदर्श शिक्षक—पं. जयरामजी

एक छात्र कक्षा में प्राय: देर से आया करता था । अध्यापक महोदय को उसका यो देरी से आना भला प्रतीत नहीं होता था । छात्र को देर क्यो हो जाती है? इस कारण को जानने के लिये उन्होंने ग्रामवासियो से पूछा तो पता चला कि उसके परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत ही दयनीय है । उसे अपने माता-पिता के साथ प्राय: भूखे सोना पड़ता था । उसकी माता घर मे आटा न होने पर भी चूल्हे मे झूठ-मूठ आग जलाकर धुँआ कर देती थी ताकि पड़ौसियो को पता न चले कि आज उनके घर चूल्हा भी नही जला है । गरीबी इतनी भीषण थी कि कभी-कभी तो उस बालक को गाय को दी जाने वाली बासी-बासी रोटियाँ खानी पड़ती थीं । सवेरे वह घरो मे सीधा लेने जाता था अत: प्राय: देर हो जाती थी ।

अध्यापक ने अपने छात्र के परिवार की आर्थिक स्थिति का परिचय पाने के बाद निर्णय ले लिया कि उन्हे क्या करना चाहिए । दूसरे दिन नित्य की तरह वह छात्र देर से आया तो अध्यापक जी बोले—"आज से तुम मेरे ही घर पर भोजन कर लिया करना और कभी देर से मत आना । उस दिन से वह छात्र उन्ही के चौके मे भोजन करने लगा । अपने इस सहृदय-अध्यापक की कृपा से वह पढ-लिखकर फिरोजाबाद के अँग्रेजी मिडिल स्कूल मे प्रधानाध्यापक बना और आस-पास के क्षेत्र मे आदर्श प्रधानाध्यापक माना गया ।

पं. नन्दराम नामक इस व्यक्ति के निर्माण मे उनके सहृदय अध्यापक प. जयराम जी का जो योगदान रहा वह उन्हे एक आदर्श अध्यापक सिद्ध करता है । पण्डितजी उन अध्यापको मे से थे जो शिष्यो को अपने पुत्रो की तरह मानकर उनकी सर्वांगीण प्रगति के लिये हर सम्भव प्रयत्न करना अपना धर्म-कर्त्तव्य मानकर चलते ।

नर-रत्नो के जौहरी की तरह बालक की स्वाभाविक प्रतिभा और गुण-कर्म-स्वभाव को परखकर उसे शिक्षा की सान पर चढ़ा कर किसी सुन्दरतम आभूषण में स्थापित कर देने का कार्य पं. जयराम जी ने किया था ।

हिन्दी-साहित्य-जगत को श्रीधरपाठक नामक धृतिमान तारक देने का श्रेय उन्हीं को है । उन्होंने सैकड़ो छात्रो का निर्माण करके समाज सेवा की एक अध्यापक के रूप में । श्रीधरपाठक की विलक्षण बुद्धि की चर्चा जब उनके कान मे पड़ी तब पं. जयराम फिरोजाबाद के स्कूल मे पढ़ाते थे चर्चा सुनने के उपरान्त वे ऐसे तीक्ष्ण बुद्धि विद्यार्थी को अपने विद्यालय मे लाने के लिये अकुला उठे ।

वे स्वयं श्रीधर पाठक के पिता से मिलकर बालक को अपने विद्यालय मे ले आने के लिये उनके पिता से मिलने के लिये जौंधरी ग्राम जा पहुँचे । पिता को सहमत कराने के साथ ही पुत्र की प्रतिभा को भी उन्होंने कुछ प्रश्न पूछ कर टटोला और अंत मे उसे अपने स्कूल मे भर्ती करवाकर ही संतुष्ट हुए ।

पाठक जी के पिता उन्हे आगे पढ़ाने का विचार नहीं रखते थे । पं. जयराम जी ने उनकी प्रतिभा की पहचान कर उसे विकसित करने के लिये मार्ग खोल दिया । आगे चलकर श्रीधरपाठक को साहित्य-क्षेत्र मे जो कीर्ति और सम्मान मिला तथा उनके द्वारा हिन्दी की जो सेवा हुई उसे हिन्दी-साहित्य के ज्ञाता जानते ही हैं ।

पं. जयरामजी का जन्म सम्वत १९०० मे फिरोजाबाद के एक निकटस्थ ग्राम मे एक ब्राह्मणपरिवार मे हुआ था । घर का वातावरण पूरी तरह धार्मिकरंग मे रगा हुआ था । पढ-लिखकर वे फिरोजाबाद के तहसील स्कूल मे हेडमास्टर बने । एक गाँव के रहने वाले व्यक्ति का कस्बे के स्कूल में हेडमास्टर बनाया जाना स्कूल के अध्यापको को कुछ रुचा नहीं । उनकी दृष्टि मे जयरामजी गँवार थे । किन्तु थोड़े ही समय मे जब उन्होंने अपने ज्ञान और कौशल से अपने स्कूल को एक आदर्श स्कूल बना दिया तो उनके विरोधियो को भी उन्हे मानना पड़ा ।

जिस समय वे अध्यापक का कार्य करते थे उन दिनों स्कूल की स्थिति आज जैसी नहीं थी पर अध्यापक कैसा होना चाहिए इसका आदर्श उन्होंने उसी जमाने मे प्रस्तुत कर दिया था । यह उनकी अपनी सूझबूझ और कर्त्तव्यनिष्ठा का ही परिणाम था । समय के संदर्भ मे उनके विचार बड़े ही आधुनिक ठहराते हैं ।

घर की स्थिति ठीक न होने से कोई बालक शिक्षा से वंचित रहे और अपनी प्रतिभाओ को विकसित न कर सके यह पण्डित जी को कभी सहन नही होता था अपनी थोड़ी ही आय मे वे ऐसे विद्यार्थियो के लिये वह सब व्यवस्था जुटा देते थे । इस सम्बन्ध मे पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी का यह संस्मरण बड़े काम का है जो पं. जयरामजी के गुरुत्व को दर्शाने के लिये पर्याप्त है ।

हमारे पूज्य पिताजी प. गणेशीलाल जी चतुर्वेदी ने पं. जयरामजी के चरणो मे बैठकर ही शिक्षा पायी थी । अपने गुरुदेव के बारे मे कहते हैं—"जब पं. जयराम जी फिरोजाबाद पहुँचे और उनके पढ़ाने की कीर्ति चारो ओर फैली तो मेरे बहनोई के भाई जमनादास जी मुझे उनके पास ले गये और बोले यह लड़का अनाथ है । पढ़ाना-लिखाना आपके हाथ है, रोटी कपड़ा हम देते हैं इस पर प. जयराम जी ने हमको पुस्तके ही नहीं ले दीं बल्कि फीस भी वे अपने पास

से भरते थे । ऐसे कितने ही अनाथ विद्यार्थियों को उन्होने पढ़ा-पढ़ा कर होशियार बना दिया ।"

उन्हे शिक्षक या अध्यापक कहना उनका उचित मूल्यांकन नहीं करने जैसी ही धृष्टता मानी जानी चाहिए । वे गुरु थे । उनके प्रेम, अनुशासन और शिक्षण के तालमेल को देखते हुए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि उनमे प्राचीन गुरुकुलों के आचार्य की आत्मा निवास करती थी ।

पण्डित जी बड़े मनोरंजक ढंग से पढ़ाते थे । सबको हँसाते-खिलाते ही पढ़ा दिया करते थे । अनुशासनप्रिय होते हुए भी वे शारीरिक दण्ड देने में विश्वास नहीं करते थे । छात्रो को सहजरीति से और प्रेम तथा अपनत्व से अनुशासित रखने मे उन्होने कमाल हासिल किया था ।

जयरामजी सचमुच में नयी पीढ़ी के निर्माता थे । वे जिस काल मे अध्यापन करते थे उस काल मे पढ़ाना कोई बहुत आवश्यक नहीं माना जाता था । न ही सामान्य व्यक्ति की यह स्थिति होती थी कि वह अपने बच्चो को पढ़ा सके । उस काल मे जो सेवाएँ उन्होने शिक्षा-क्षेत्र में दीं वे अभिनन्दनीय हैं ।

उनकी पत्नी को नित्य ढेर-ढेर रोटियाँ बनानी पड़ती थी अपने अनाथ और गरीब छात्रों के लिये । आज के शिक्षको की तरह छात्र से उनका नाता मात्र स्कूल तक ही सीमित नहीं था । किसी व्यक्ति के जीवन में पिता का जितना महत्व होता है उतना ही आचार्य का भी होता है । शिष्य और आचार्य का सम्बन्ध छात्र के विद्यालय छोड़ने के साथ ही समाप्त नही हो जाता । वह जीवनभर चलता है । इस तथ्य पर वे पूरी तरह विश्वास रखते थे । अपने छात्रो के पढ़-लिख जाने के बाद भी वे उन्हें हर प्रकार की सहायता व मार्गदर्शन देते थे साथ ही उसके प्रति वैसी ही ममता भी रखते थे ।

उनका पढ़ाया हुआ कोई अध्यापक यदि ठीक से पढ़ाने मे असमर्थ होता तो उन्हे बड़ा दु:ख होता था । उनका पढाया हुआ कोई व्यक्ति आगे चलकर अनैतिक बनता था तो उन्हे खेद होता था । प्राय: ऐसे अवसर कम ही आते थे । जब उन्हें अपने छात्रो से निराशा हुई हो ।

कहना न होगा कि वे छात्रो को पुस्तके रटाने तक ही सीमित नहीं रहते थे । वे उन्हें समर्थ, सच्चरित्र और उत्तरदायी नागरिक बनाने के लिये हर प्रकार से प्रयास करते थे और यही कारण था कि उनका पढ़ाया हुआ हर व्यक्ति अपने आपको उनका चिरऋणी अनुभव करता था । फिरोजाबाद आने पर अपने आचार्य जी के घर जाना और उनके चरण स्पर्श कर आशीर्वाद लेना उनके शिष्य अपना सौभाग्य मानते थे ।

वे कहा करते थे—"मेरे मुँह में बत्तीस दाँत है और मुझे हर समय इस बात का ध्यान रहता है कि मेरे मुँह से किसी के लिये भी बुरी बात नहीं निकले ।" अपने इस कथन को उन्होंने व्यवहार में भी लाया था । जिव्हा की इस साधना का चमत्कार उनके शिष्यों को उनके आशीर्वादों को फलितार्थ होने में देखने को मिला ।

माता-पिता जिस प्रकार अपनी संतान पर स्नेह युक्त अनुशासन रखते हैं और उनका यह अनुशासन संतान के बड़े होने पर भी रहता है किन्तु संतान को यह अखरता नहीं, इसी प्रकार पण्डित जी भी अपने कई प्रिय शिष्यों पर जीवन भर स्नेहपूर्ण अनुशासन रखते रहे थे । यह अनुशासन अधिकार-भाव से नहीं शुभेच्छा के भाव से ही था, जिसे उनके शिष्य सादर शिरोधार्य करते रहे थे ।

इसके पीछे उनकी यही भावना काम करती रही थी कि मेरा शिष्य किसी भी क्षेत्र मे जाय तो अपने और गुरु के नाम को लज्जित न करे ।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने तीन कोटि के गुरु बताए हैं—अधम, मध्यम और उत्तम । अधम गुरु वे होते हैं जो शिष्य का केवल मार्ग-दर्शन करते हैं, शिष्य को उस मार्ग पर प्रेम और अनुशासनपूर्वक चलाने की ओर ध्यान नहीं देते । मध्यम गुरु वे होते है जो मार्गदर्शन भी देते हैं और शिष्य को उस मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित भी करते हैं, । पर उस पर अनुशासन व प्रेमपरक नियंत्रण नहीं रखते । उत्तम गुरु वे होते हैं जो शिष्य को मार्ग भी बताते हैं और उसके पीछे पड़कर उसे लक्ष्य प्राप्ति तक पहुँचाते हैं । इस बीच उसे प्रेम देने, सहायता करने और अनुशासित रखने मे वे किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करते । इस दृष्टि से पं. जयराम जी उत्तम गुरु ठहरते हैं ।

स्कूली शिक्षण के समय भी और उसके बाद भी अपने छात्र की सफलता के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना उनका स्वभाव था । शिक्षाकाल में वे छात्रो के स्वास्थ्य, खान-पान और स्वतंत्रता की ओर पूरा ध्यान देते थे । उस समय भी कक्षा रूपी बाड़े मे छात्रो को बाँध कर रखना उन्हे कभी आवश्यक प्रतीत नहीं होता था । पण्डित जी छत्तीस वर्ष से अधिक जीवित न रह सके । विषम ज्वर महामारी से उनका देहान्त हो गया पर शिक्षक के रूप उनका यह आदर्श व्यक्तित्व भुलाये नहीं भूलता ।

औचित्य और न्याय के प्रबल समर्थक-गोपबंधु

कटक के एक लॉ कालेज मे उड़ीसा के गोपबंधु दास ने प्रवेश लिया तो पहले ही दिन बड़ी उलझन में पड़ गये । भारतीयवेषभूषा में वही आचार पद्धति, स्वागत और अभिवादन के शब्द अपनाते देखकर सहपाठी छात्रों ने उनकी बड़ी हँसी उड़ायी । पहला दिन तो जैसे-तैसे गुजारा और शाम को कमरे पर आकर सोचने लगे—"क्या मुझे भी इन लोगों के साथ-साथ अपनी जातीय-वेषभूषा का परित्याग कर पेण्ट बुशर्ट पहनना चाहिए ।"

कलकत्ता के कालेज के चकाचौंध भरे वातावरण का प्रभाव अपनी ओर खींचता तथा नस में बह रही देशभक्ति

और सस्कृतिनिष्ठा अपनी ओर, अन्तत: विजयी भारतीयता की हुई। संस्कारों ने वातावरण के प्रभाव को परास्त किया और दूसरे दिन भी वे कालेज में उसी भारतीय वेशभूषा मे पहुँचे। छात्रों ने सोचा था उस पहले दिन हँसी उड़ाने से गोपबंधुदास अपना रहन-सहन सुधार लेगा। कालेज से विदा होते समय चेहरे पर छाई उदासी और खिन्नता तो यही कहती थी परन्तु आज जो उनके चेहरे पर एक निश्चय की आभा और संकल्प की दृढ़ता खेल रही थी। सहपाठियों ने फिर हँसी उड़ाना, व्यंग्य कसना आरम्भ किया। गोपबंधु सब चुपचाप सहते रहे एक छात्र ने तो उनके कपड़े खींचने के लिए भी हाथ बढ़ाया।

गोपबंधुदास से यह नहीं सहा गया और उन्होंने कसकर एक तमाचा उस छात्र के गाल पर जड़ दिया। सब लोग आश्चर्यचकित रह गये। गोपबंधु ने कहा—"तुम अपने देश की सभ्यता और संस्कृति को भुलाकर मेरी ओर से भाड़ मे जाओ परन्तु अपने साथ मुझे भी पथभ्रष्ट करने वाले को किसी भी प्रकार सहन नहीं करूँगा।"

छात्रो पर फिर भी प्रभाव नहीं पड़ा। किसी ने कहा—"देश और संस्कृति से बढ़कर किसी को नही मानते तो यहाँ अँग्रेजी स्कूल मे क्यो भर्ती हुए हो"।

अच्छाई किसी भी माध्यम से मिले उसे ग्रहण करने मे कोई हर्ज नहीं समझता हूँ परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हम उसके अनुपयोगी मूल्यो को भी स्वीकार करते आये। विद्यार्थी चुप हो गये। इसके आगे उन्हे कोई उत्तर नहीं सूझ पड़ा।

देश और सस्कृति के इतने प्रबल पक्षधर गोपबंधुदास इससे पहले जातिधर्म का हत्यारा घोषित हो चुके थे और समाज ने उनका बहिष्कार कर दिया था परन्तु तब उन्होंने अपनी गल्ती को अस्वीकार ही नही किया, उन लोगो का भी डटकर विरोध किया जिन्होने गोपबंधु को अपराधी घोषित किया था और दण्ड दिया था। गोपबंधु ने उस समय यही कहा था—भले ही मुझे जाति से अलग कर दिया जाय मुझे इसका कोई रंज नही है, परन्तु मैं नहीं मानता कि मैने कोई गुनाह किया है।

उनके सामाजिक बहिष्कार का कारण एक छोटी-सी घटना थी। बात यह हुई कि वे प्रतिदिन सायंकाल घूमने जाया करते थे। एक दिन सड़क के किनारे कोई बुढ़िया रोती-बिलखती मिली। पूछा तो बताया कि उसका एक जवान बेटा मर गया है। मदद करने वाला भी कोई नहीं है और पास मे फूटी कौड़ी भी नहीं है।

पड़ोस मे थे तो कई लोग परन्तु वह बुढ़िया अछूत जाति की थी इसलिए कोई उसकी मदद नहीं कर रहा था। गोपबधु ने उसकी व्यथा सुनी और वृद्धा को ढाढस बँधाया। उसके बेटे का दाह संस्कार उन्होने स्वयं के हाथ से किया। नीलगिरि के ब्राह्मण-समाज मे हलचल मच गयी। जाति के लोगो ने उनकी निंदा की और जुर्माना भरने के लिए कहा। गोपबधु ने कहा कि मनुष्य की सहायता कर मैने कौन सा बुरा काम किया है जो आप जुर्माना लगा रहे हैं। मैं जुर्माना नहीं दूँगा।

'तुम्हे जुर्माना देना पड़ेगा'—पंचो ने कहा—'नहीं तो तुम जाति से अलग कर दिये जाओगे।'

'इससे मेरा क्या बिगड़ेगा'—गोपबंधु ने कहा और वे उठकर चले आये। ब्राह्मणो की पंचायत ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। नासमझी और पहली गलती के कारण परिजनो ने कुछ छूट देने के लिए कहा तो पंचों ने फैसला दिया कि—गोपबंधु यदि अपनी गल्ती को स्वीकार कर माफी माँग ले तो उसे क्षमादान दिया जायेगा।

रिश्तेदार गोपबंधु को समझाने आये परन्तु उन्होंने अपने कार्य को गल्ती या अपराध मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। परिणामस्वरूप उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। गोपबंधुदास जहाँ एक ओर प्रचलित मूढ़मान्यताओं के प्रति इतने प्रबल विद्रोही थे वहीं दूसरी ओर संस्कृति और देश के मौजूदा मानदण्डो के प्रति इतने दृढ़ आस्थावान भी थे। उनकी नीर-क्षीर विवेकी हंस वृत्ति, उचित-अनुचित का भेद करने वाले बौद्धिक क्षमता और उचित को स्वीकार कर ग्रहण करने तथा अनुचित को अस्वीकार कर उसका परित्याग करने के साहस ने ही उन्हें महामानव बना दिया।

उड़ीसा के पुरी जिलों में सुआडी ग्राम के एक छोटे से अतिसामान्य परिवार में गोपबधु दास का जन्म हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा वहीं पूरी हुई, आगे पढ़ने के लिए वे पुरी के हाईस्कूल मे भर्ती हुए और कटक के रेवेन्शा कालेज से बी. ए. की डिग्री प्राप्त की। किशोरावस्था मे उन्हे वकील बनने की धुन सवार हुई। परन्तु गुलाम भारत को विदेशी पंजे से छुड़ाना और देश की संस्कृति के अबाध विकास की संभावना का स्वप्न साकार करने की प्रेरणा उन्हे सामाजिक क्षेत्र मे घसीट लायी। कटक में बी. ए., एल. एल. बी. की परीक्षा उत्तीर्ण कर वे वहीं वकालत करने लगे। बचपन मे पढ़ी हुई इतिहास की पुस्तकें मे स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने वाले वीर बहादुरो के जीवन चरित्र और संग्राम की कहानियों ने उनके हृदय मे भी देशप्रेम और उसे आजाद कराने की ललक जगा दी थी। वे छात्र-जीवन मे ही अपने सहपाठियो से राजनैतिक समस्याओं पर वाद-विवाद किया करते थे। सार्वजनिक सभाओ मे भाषण देकर जनता को जगाने और प्रेरणा भरने का अभ्यास भी इसी वय में किया। किसी भी शासकीय-अधिकारी की अवांछनीय गतिविधियो पर टीका-टिप्पणी करने में उन्हें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती थी।

अन्याय न सहने की इस विशेषता के कारण उन्हे कई बार हानियाँ भी उठानी पड़ीं परन्तु उन्होंने कभी भी अपनी इस आदत को स्वीकार के रूप में स्वीकार नहीं किया। एक बार स्कूल के इंस्पेक्टर ने आलोचना के अपराध में उन्हे पूरे वर्ष छात्रवृत्ति न देने का दण्ड दिया। 'स्टेट्स मैन' मे

स्वास्थ्य विभाग की अकर्मण्यता पर लेख छपवाने के कारण उन्हे सिविल सर्जन के क्रोध का शिकार होना पड़ा। परन्तु उन्होंने सदैव यही माना कि अनीति और अन्याय को सहनकर सुख-सुविधाएँ पाने की अपेक्षा उनका विरोध करते हुए कष्ट-कठिनाइयाँ उठाना अच्छा है।

वकालत के धन्धे मे उनका मन नहीं लगा। देश-भक्ति और समाज-सेवा की उत्कण्ठा ने उन्हे शीघ्र ही यह व्यवसाय छोड़ने के लिए विवश कर दिया स्वस्थ विचारो वाले सभ्य-समाज की संरचना के लिए उन्हे आवश्यक लगा कि इसके लिए युवकों को आरम्भ से ही प्रशिक्षित किया जाय। अनाचार और अन्याय का प्रबल प्रतिरोध करने में सक्षम युवा पीढ़ी का निर्माण करने के लिए उन्होने सत्यवादी स्कूल की स्थापना की और उसे ही जनजागरण का केन्द्र बनाया। यह स्कूल बन गया। यहाँ की शिक्षा नीति उन्होने ही निर्धारित की थी, जिसमें एक ओर छात्रों को राष्ट्रप्रेम तथा समाज-निर्माण की शिक्षा दी जाती दूसरी ओर प्रचलित सामाजिक कुरीतियो एवं मूढ़मान्यताओ का विरोध करने तथा उन्हे जड़-मूल से उखाड़ फेंकने का साहस तथा प्रेरणा भी भरी जाती। इस स्कूल से निकलने वाले छात्र तत्काल ही कार्य-क्षेत्र मे उतर पड़े। कई लोगो ने उनकी सराहना भी की और अनेक ने उनकी निंदा, भर्त्सना भी। गोपबंधुदास के अनेक प्रशंसक बने और बहुत से विरोधी भी पैदा हुए। विरोधियो में वे लोग सबसे आगे थे जिनके स्वार्थों पर गोपबंधु के रचनात्मक कार्यों के कारण आघात पहुँचता था। ऐसे ही लोगो द्वारा एक दिन उनका सत्यवादी स्कूल जला दिया गया।

परन्तु इससे गोपबंधु हतोत्साहित नहीं हुए। उन्होने स्कूल के खण्डहर पर खड़े होकर एक जोशीला भाषण दिया और कहा कि अब वे तत्व जो करवट बदलती हुई युवा पीढ़ी से स्वयं को खतरा अनुभव करते हैं अपनी असलियत बताने लगे हैं। इसके सिवा बेचारे कर भी क्या सकते हैं परन्तु हमे उनसे घबड़ाना नहीं चाहिए।

स्कूल का भवन जल जाने पर भी काम रुका नहीं। विद्यार्थी खुले आकाश के नीचे पेड़ो की छाया तले बैठ कर पढ़ने लगे। विद्यार्थियो की निष्ठा और गोपबधु के विचारो से प्रभावित लोगो ने सहयोग दिया और एक बढ़िया सुन्दर भवन बनकर तैयार हो गया। उस समय के अन्य स्कूलो की तरह सत्यवादी स्कूल मे छात्रो को केवल किताबी ज्ञान ही नहीं दिया जाता वरन् उनके स्वास्थ्य और चरित्र पर भी विशेष जोर दिया जाता था। इसी का परिणाम था कि छात्रगण छुट्टियो मे बीमारो की सेवा और अशिक्षितों मे शिक्षा-प्रचार के लिए जाते थे। इस स्कूल से निकले छात्रो ने समाज-सेवा के क्षेत्र मे भी उल्लेखनीय कार्य किया।

गोपबंधु आदर्श गुरु के रूप मे विद्यार्थियो के श्रद्धा केन्द्र बन गये थे। यह सम्मान उन्होने अपने उत्कृष्ट चरित्र और आदर्श-विचारो के कारण प्राप्त किया। विद्यार्थियों से पुत्रवत्-प्रेम और मित्रवत्-स्नेह ने उन्हे विद्यालय परिवार के मुखिया का आनन्द और सम्मान दिलवाया। छात्रो से वे उनकी व्यक्तिगत समस्याएँ जानकर उन्हे सही परामर्श देते और सुख-दुःख मे भी साथी रहते। समय पर हर प्रकार की सहायता करना तो उनका स्वभाव ही बन गया था। स्वयं घाटे में रहकर दूसरो को लाभान्वित करने की आदतो ने कईयों को उनका अनुचर बना दिया। वकालत करते समय भी वे मुवक्किलों में संभव होता तो दोनो पात्रों को समझा बुझा कर सुलह करवा देते थे। कईयों को अन्याय से बचाने के लिए उन्होंने मुफ्त पैरवियाँ भी कीं।

तभी भारतीय-राजनीति में बड़ी उथल-पुथल मची। गोपबंधु को तो जैसे मुँहमाँगा वरदान मिल गया। जिन क्षणों का वे इन्तजार कर रहे थे वह समीप आ गया। उस समय जब महात्मागाँधी ने असहयोग-आंदोलन छेड़ा तो गोपबंधु भी अपने शिष्यो के साथ आंदोलन में कूद पड़े। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ उड़ीसा के गाँव-गाँव मे इस आंदोलन का प्रचार किया। अँग्रेजी-सरकार ने उन्हें बंदी बना लिया और दोवर्ष का कठोर कारावास दिया।

जेल से छूटकर वे पुनः इसी कार्य मे जुट गये। उन्होंने अपने उत्साही साथियों का एक दल बनाया जो गेरुआ वस्त्र पहनकर साधु वेष में गाँव-गाँव घूमता और देशभक्ति का प्रचार करता। सरकार और पुलिस की निगाहो से बचने के लिए ही उन्होने यह प्रयास किया परन्तु उनके छद्मवेष ने भी कई साधु-महात्माओं का मार्ग दर्शन किया। उनके देखा-देखी दूसरे कई साधु भी जन-जागरण के कार्य मे जुट गये।

उनके उत्साह और साधन ने देश के बड़े-बड़े नेताओ को प्रभावित किया। लाला लाजपतराय और महात्मा गाँधी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। यहाँ तक कि गाँधीजी तो एक बार उनसे मिलने के लिए स्वयं आये थे और सत्यवादी स्कूल की गतिविधियो, पढ़ाई और वहाँ की व्यवस्था देखकर उनकी मुक्त-कण्ठ से सराहना की थी। गोपबधु सर्वसाधारण मे भी दिनो-दिन लोकप्रिय होते जा रहे थे। उनकी लोकप्रियता और कार्यक्षमता देखकर ही पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय ने इन्हे 'लोक सेवक-समाज' का उपसभापति बनाया।

'लोक-सेवक-समाज' के उपसभापति बनकर गोपबधु ने केवल वाणी या लेखनी के माध्यम से ही नेतृत्व नहीं किया वरन् उदाहरण रखकर एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जो आज के पदलोलुप, स्वार्थी और बाते करने वाले नेताओ के लिए भी उसी प्रकार मार्गदर्शन दे सकता है जैसा कि उनके स्वयं के जीवन काल मे दे रहा था। एकबार वे लोक-सेवक-समाज के वार्षिक अधिवेशन मे भाग लेने के लिए लाहौर गये। लौटते समय रास्ते मे उनकी तबियत खराब हो गयी। डाक्टरो ने उन्हें विश्राम करने की सलाह दी। परन्तु गोपबंधु को तो कर्तव्य पुकार रहा था। उन्होंने कहा—विश्राम तो मैं इकट्ठा ही करूँगा और पूर्ववत् वे कार्य मे लग गये।

अस्वस्थ शरीर से भी अनवरत श्रम लेते रहने के कारण उनका स्वास्थ्य और बिगड़ने लगा। दिन-पर-दिन हालत गिरती

गयी परन्तु उन्होंने काम करना नहीं छोड़ा। अन्त में स्थिति काबू से बाहर हो गयी और उन्हें बिस्तर पकड़ना पड़ा। डाक्टरों तथा साथियों ने बड़े प्रयत्न किये परन्तु उन्हें बचाया नहीं जा सका। १७ जून, १९२८ को इकतालीस वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। सचमुच ही भावनाओं के धनी और लक्ष्य की ओर अविराम बढ़ते जाने वाले देश के इस महान सपूत ने जीवन की आखिरी साँस भी अपने लक्ष्य को समर्पित करने के उपरान्त ही विश्राम किया।

कैलाशनाथ 'त्यागी'—
जिन्होंने चौथेपन का सदुपयोग किया

आयु भी पैंसठ वर्ष की हो गयी और एकमात्र पुत्र भी पढ़-लिखकर डाक्टर बन गया तो कैलाश नाथ 'त्यागी' ने अब अपने घर से ही बँधे रहना कुछ ठीक नहीं समझा। अल्पायु में ही अनपढ़ पिता ने जो घर-गृहस्थी का बोझ उनके सिर पर लाद दिया था उसे अब तक खींचते आये थे। अब और उसे खींचते रहना उनकी दृष्टि में बुद्धिमानी नहीं थी।

बचपन में पढ़-लिख कर विद्वान बनने और उसका सदुपयोग करने की बड़ी चाह थी वह तो बाल-विवाह की प्रचलित कुप्रथा के भेट चढ़ गयी। पिता श्री ब्रजकिशोर तिवारी ने अन्य गृहस्थो की तरह बचपन मे ही पुत्र का विवाह कर अपने पारिवारिक दायित्वों को पूरा कर अपने को ऋण मुक्त समझ लिया और नवीं कक्षा तक पढ़ने के बाद उन्हे खेती के पैतृक-व्यवसाय मे जुट जाना पड़ा। तब उनकी आयु केवल पन्द्रह वर्ष की थी। फिर भी दुनिया की पाठशाला में जो ज्ञान उन्होंने बटोरा उसने उन्हें यही सिखाया कि समाज का ऋण सिर पर लेकर नहीं मरना चाहिए। उसे लड़के बच्चों के घर सम्हाल लेने पर समाज-सेवा करके उतार ही देना चाहिए।

स्वयं न पढ़ सके तो अपने पुत्र को शिक्षित बनाकर उस कामना का थोड़ा अंश पूरा कर लिया। यही सोच कर सतुष्ट हो लिये उस समय के लोग अपने बच्चो को पढ़ाना कोई आवश्यक नहीं समझते थे सो हमारी पढ़ाई न हो सकी तो अब हम ऐसी भूल न करें।

१९५५ मे उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया जिससे कि कुछ ऐसा ज्ञान पा सके जिससे यह मनुष्य जन्म सार्थक हो जाय। हमारे देश का अनपढ़ से अनपढ़ आदमी भी यह जानता है और कहता है 'चौरासी लाख योनियों मे यह मनुष्य जन्म श्रेष्ठ है' तो फिर उन जैसे विचारशील के लिये यह सोचना स्वाभाविक ही था।

संन्यासी बनकर एक वर्ष तक वे काशी रहे किन्तु जो सतोष उन्हें चाहिए था वह नहीं मिला। संन्यासी बन कर कौन-सा अंतर आ गया, समस्याएँ तो वैसी की वैसी ही उनके सामने थीं जैसी गृहस्थी में होती हैं। खाना, पीना, वस्त्रादिक आवश्यकताएँ तो ज्यों की त्यों थीं। एक वर्ष का संन्यासी जीवन बिताने और उस पर विचार करने पर उन्हें यह मर्म समझ में आ गया कि लोक-सेवा करना ही आज के समय का सबसे बड़ा संन्यास है। इसके लिये गाँव छोड़ कर काशी, हिमालय, प्रयाग या हरिद्वार जाने की आवश्यकता नहीं। अतः वे अपने घर आ गये और अपनी सामान्य आवश्यकताओं का भार अपने समर्थ पुत्र पर छोड़ उस ओर से निश्चिंत हो लोक-सेवा में जुट पड़े। घर से दूर रहकर भोजन, वस्त्र का भार समाज पर डालकर लोक-सेवा करने की बात उस स्थिति में तो ठीक हो सकती है जब बच्चे न हो किन्तु समर्थ बच्चों के होते हुए और उनके द्वारा पिता को पूरी सेवा, आर्थिक सहयोग मिलने की स्थिति में समाज पर निर्भर रहना ठीक नहीं।

उन्होंने अपने गाँव आकर अपनी जन्म-भूमि बड़ा गाँव मे महादेवी का एक मंदिर बनवाने का संकल्प किया। धर्म-प्रधान-देश भारत में मंदिर बनवाना एक पुण्य-कार्य माना जाता है और यही कारण है कि भारत में मंदिरों का आधिक्य है। उपासना, जीवन की मनुष्य के लिये भोजन की तरह ही आवश्यक है। सामान्य-जन जिस स्थान पर जाकर कुछ देर उपासना कर सके ईश्वर का सामीप्य पा सके। इसके साथ ही वह जन-जागरण का केन्द्र भी बना रहे इन दोनो उद्देश्यो को लक्ष्य करके उन्होंने मदिर-निर्माण का संकल्प लिया।

वे लोगों से दान लेते थे, लेकिन वह दान की राशि थी मात्र एक पुराना पैसा। यही एक तथ्य ऐसा है जो त्यागी जी की साधना और उनके महान उद्देश्य को स्पष्ट करता है। एक तो उन्हे एक-एक पैसा उगाहने मे काफी श्रम लगा। दूसरे प्रत्येक व्यक्ति का उस मंदिर मे रुका रहा। क्योंकि इतना स्वरूप दान हरेक व्यक्ति दे सकता है। यह नहीं कि यह अमुक जाति या अमुक सम्प्रदाय का मत है। आज भी कई मदिरो मे हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध है जो कि नहीं होना चाहिए। मदिर तो सभी बनवाते हैं किन्तु उनके इस मदिर-निर्माण का गूढ़ अर्थ था।

दो वर्ष में छह हजार रुपये एकत्रित करके उन्होंने मंदिर बनवाया। यह मदिर आज भी एक पैसे वाला मदिर कहलाता है। बूँद-बूँद से घट भरने, एक पैसे के सामान्य अनुदान से बहुत बड़ा काम कर सकने, सहयोग और ऐक्य की समर्थता प्रतिपादन के लिये यह एक पैसे वाला मंदिर बहुत अच्छा प्रतीक है।

मदिर बन जाने पर कैलाश नाथ 'त्यागी' विचार कर ही रहे थे कि एक दिन वे कहीं जा रहे थे तो उनको देख कर दो युवक परस्पर उनके सम्बन्ध में चर्चा करने लगे। कुछ सयोग ऐसा हुआ कि त्यागीजी को कोई परिचित मिल गये और वे वहीं खड़े-खड़े बातचीत करने लगे। वे युवक भी उन्हें निकल गये समझ उनकी आलोचना करने लगे—"मंदिर बनवाकर तो संन्यासीजी ने रुपया पानी की तरह बर्बाद कर दिया। कितना अच्छा होता वे यहाँ एक स्कूल

ही खोल देते जिससे इस क्षेत्र के युवकों की शिक्षा की समस्या हल हो जाती ।"

युवकों की इस चर्चा को सुनकर त्यागी जी अपनी इस आलोचना पर न तो रुष्ट हुए और न उत्तेजित ही वरन् उन्होंने गहराई से उनकी आलोचना की सच्चाई पर विचार किया । वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि युवकों का कहना बिलकुल असत्य नहीं, मंदिर उतना आवश्यक नहीं है जितना शिक्षा का प्रसार । मंदिर तो भारत में यों भी बहुत बन चुके हैं यदि उन्हीं का सदुपयोग हो जाय तो बहुत है । किन्तु शिक्षा का प्रसार तो बहुत ही आवश्यक है । यहाँ एक स्कूल खोलना चाहिए और उन्होंने एक स्कूल खोलने का सकल्प ले लिया ।

त्यागीजी अधिक पढ़े नहीं फिर भी जीवन का उन्हे बहुत अनुभव था । इसी अनुभव से लाभ उठाकर उन्होंने ऐसा स्कूल खोला जहाँ केवल शिक्षा ही नहीं दी जाती वरन् श्रम करना भी सिखाया जाता है स्वावलम्बी बनाया जाता है ।

अबकी बार उन्होंने दो पुराने पैसे (तीन नये पैसे) प्रत्येक व्यक्ति से माँगने आरम्भ किये । पहली बार जब उन्होंने लोगो से एक-एक पैसा माँगना आरम्भ किया था तो उन्होंने यही समझा था—"बाबा सठिया गये हैं' भला एक-एक पैसा इकट्ठा करने से भी कहीं मंदिर बनवाने जितना धन एकत्रित किया जा सकता है ।" किन्तु इस बार जब उन्होंने दो-दो पैसे माँगने का क्रम बनाया तो लोगों को उनके संकल्प के पूरे होने मे शंका नहीं हुई । क्योंकि वे पहले ही उनके झोली फैला कर एक-एक पैसा माँगने का चमत्कार देख चुके थे ।

यो उन्हे भगवा वस्त्र पहनने के कारण कई लोग 'बाबा' कहते किन्तु वे अन्य बाबाओ की तरह अपने पेट के लिए नहीं माँगते थे वे जन-सेवा से लिये निःस्वार्थ सेवाएँ अर्पित करते । दान व भिक्षा माँगने का क्रम आरम्भ में इसी रूप मे चला था । धीरे-धीरे यह विकृत होकर अकर्मण्यों के उदर-पोषण का साधन मात्र रह गया ।

उन्होंने उस प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित किया और दो-दो पैसे माँग कर छिहत्तरहजार रुपये एकत्रित करके एक सार्वजनिक टेक्नीकल स्कूल की स्थापना की जहाँ छोटे-छोटे उद्योगों का प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि पढ़े-लिखे युवक नौकरी के लिये भटकने की बजाय अपना स्वतंत्र व्यवसाय स्थापित कर सके या अपने शारीरिक, मानसिक श्रम से अपना रोजी, रोटी कमाकर बेरोजगारी का भार कम कर सके । अभी यहाँ कई सौ विद्यार्थी शिक्षण पाते हैं । छात्रो के भोजन, वस्त्र व निवास की सुविधा संस्थान निशुल्क उपलब्ध करता है । संस्थान प्रशिक्षार्थियो पर जितना व्यय करता है वह उनके ही संस्थान की कर्मशाला मे निर्मित वस्तुओ की बिक्री पर लाभांश के रूप मे मिल जाता है ।

यह स्कूल भी एक पैसे वाले मंदिर की तरह जन-सामान्य द्वारा 'दो पैसे वाला टेक्नीकल स्कूल' कहा जाता है । त्यागीजी चाहते थे कि वे इस स्कूल मे कम से कम एक हजार छात्रों के प्रशिक्षण की व्यवस्था बना सकें । इसके लिये वे प्रयत्नशील भी रहे । धन-संग्रह के लिये वे मध्य प्रदेश, असम, उड़ीसा और बंगाल का दौरा भी कर चुके थे ।

उनसे प्रायः लोग यह पूछ लेते "आप दो पैसे ही क्यों लेते हैं ।"

"क्योंकि दो पैसे हर एक व्यक्ति दान दे सकता है । गरीब-अमीर सभी इतनी राशि दे सकते हैं । मेरा काम भी हो जाता है और 'बूँद-बूँद घट भरहिं तलाबा' की उक्ति की सार्थकता भी स्पष्ट हो जाती है ।"

त्यागीजी ठीक ही कहते थे, कोई यह नहीं कह सकता कि इसमें मैने इतना धन दान दिया है, वरन सभी यह कह सकते हैं कि मेरा भी इसमें तुच्छ योगदान है । इससे वैराग्य का भाव नहीं उभरता न किसी के अहं की तुष्टि होती है वरन सहकारिता व सार्वजनिक हित के स्थानो के प्रति जन-सामान्य दायित्व व कर्तव्य अनुभव करता है ।

सन १८९० मे बिहार के सारन जिले के बड़ा गाँव के कृषक परिवार मे जन्मे कैलाश नाथ 'त्यागी' ने अपने जीवन के उस काल में समाज सेवा का सराहनीय, अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया । जबकि अधिकांश वृद्धजन बैठे-बैठे हुक्का गुड़गुड़ाने, समर्थ बेटों-पोतों का हित-चिंतन करने, उन पर अपना अनुशासन जमाए रखने अथवा मौत की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त कोई ऐसा कार्य नहीं करते जिससे कि समाज का कोई हित हो सके और अनुभवो की पूँजी को वे बिना खर्चे ही चले जाते है साथ ही समाज का ऋण भार भी लाद कर ले जाते हैं ।

जीवन के उत्तरार्द्ध मे अधिकांशजन वानप्रस्थ बनकर इन सब कार्यों को सम्पादित करते थे । त्यागी जी ने वैसा ही एक उदाहरण प्रस्तुत किया है । एक पैसे का मंदिर व दो पैसे का टेक्नीकल स्कूल बनाकर यदि इसी तरह वानप्रस्थ की उस स्वर्णिम परम्परा को पुनर्जीवित किया जा सके तो सरकार का भार भी हल्का हो जाय, लोगो मे नागरिक चेतना भी आये और क्षेत्रों का विकास भी सभव हो सके ।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी—
काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग

१८६८ में एम. ए. की उपाधि ग्रहण कर जैसे ही एक छात्र बाहर निकला—उसे लगा कि मैने जो कुछ सीखा है वह उसके मुकाबले मे तो कुछ भी नहीं है जो अभी सीखना बाकी है । यह अहसास उस समय को देखते हुए विचित्र ही कहना चाहिए क्योंकि आज से पचीस-पचास वर्ष पूर्व भी कोई व्यक्ति बी. ए. या इन्टर पास कर लेता था तो अपने आपको सर्वज्ञ समझने लगता था । उसकी चाल-ढाल

और रहन-सहन मे भी एक अकड़-सी आ जाती थी और गाँव वाले भी उसे किसी देवपुरुष से कम नहीं समझते थे। पचीस-पचास वर्ष पूर्व की यह स्थिति है तब सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सौ से भी ज्यादा साल पहले शिक्षित व्यक्तियो की समाज में क्या स्थिति होगी और उसके विपरीत उक्त युवक इतने विनीत भाव से अपने को अज्ञ महसूस करे उसे ज्ञान-साधना के प्रथम सोपान पर आरूढ व्यक्ति ही कहना चाहिए।

ज्ञान-साधना के इस प्रथम-सोपान पर आरूढ यह युवक आगे चलकर रामचन्द्र-त्र्यम्बक-तैलंग के नाम से विख्यात हुआ। समाज सुधार से लेकर साहित्य-साधना तक प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने जिज्ञासा प्रसूत प्रतिभा का परिचय दिया और देश-जाति की महत्त्वपूर्ण सेवा की।

उनका जन्म १८५० ई. में बम्बई के पास एक तैलंग परिवार मे हुआ था। वैसे उनके पूर्वज गोआ के रहने वाले थे पर किन्हीं कारणो से वहाँ आकर रहने लगे थे। जन्म के कुछ समय बाद ही उनके चाचा ने उन्हे गोद ले लिया और काशीनाथ जी इसी कारण अपने पिता के स्थान पर चाचा का—त्र्यम्बक जी नाम लिखने लगे। पिता का नाम यों बापू रामचन्द्र था। चाचा के पास रहते हुए ही उनकी शिक्षा मराठी के एक छोटे स्कूल मे आरंभ हुई और अपनी मातृभाषा की पढ़ाई पूरी करने के बाद वे बम्बई के एलफिन्स्टन हाईस्कूल और तदुपरांत कॉलेज मे भर्ती हुए।

परिवार के परिवेश ने उन्हे जहाँ उच्च संस्कारों से संस्कारित किया वही योग्य अध्यापको का शिष्यत्व भी उन्हे सौभाग्य से मिलने लगा। यही कारण था कि उनकी प्रतिभा दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ने लगी। १४ वर्ष की आयु मे ही उन्होंने एल्फिन्स्टन कॉलेज की प्रवेशिका-परीक्षा पास कर ली। उनके अभिभावक स्कूली पाठ्यक्रमेतर पुस्तकें भी ला-लाकर उन्हें पढ़ने के लिए दिया करते थे—इनका चयन विषयवस्तु को देखकर यह ध्यान रखते हुए किया जाता कि स्वाध्याय काशीनाथ के मन-मस्तिष्क मे जिज्ञासु और अध्ययनशील प्रवृत्ति जगा दे। जिज्ञासुवृत्ति के काशीनाथ जी उन पुस्तको को पढ़ते भी बड़े चाव के साथ थे।

सन् १८६६ ई. मे बी. ए. और इसके दो वर्ष बाद उन्होंने एम. ए. पास किया तब उन्हे अनुभव हुआ कि ज्ञान का अगाध सागर अभी हिलोरें भर रहा है जिसके गर्भ मे अगणित असंख्य अमूल्य रत्न है और उन्होंने किनारे बैठकर अभी कुछ सीपियाँ तथा घोंघे ही इकट्ठे किये है। अपनी इस कमी को स्वीकार कर उन्होंने ज्ञान-साधना के पथ पर कदम रखा। वस्तुत: यह सच है कि जो लोग यह जानते है हम सब जानते हैं वे ज्ञान की मंजिल तक नहीं पहुँचते। और जो ससार मे उपलब्ध ज्ञानराशि से सम्पन्न होने के मामले में स्वय को अल्पज्ञ समझते है वे भले ही पूर्णता को प्राप्त न हो सके पर ज्ञान-साधना मे सन्तोष-जनक प्रगति अवश्य करने लगते है। एम. ए. पास करने के बाद तैलंग जी ने एक-एक कर जितने भी सम्भव हो सके उन सब विषयो के अध्ययन का निश्चय किया और सर्वप्रथम विधि-शास्त्र को छुआ। विधिशास्त्र का गहन अध्ययन कर उन्होंने १८८० में एल. एल. बी. भी पास कर ली पर वे केवल विधिशास्त्र से ही न बँधे रहे। उन्होंने अँग्रेजी-साहित्य दर्शन, अर्थशास्त्र आदि विषयों तथा प्लेटो, हक्सले और मिल के ग्रन्थो का बड़ी रुचि के साथ स्वाध्याय किया—यही नहीं रेखा-गणित के सवाल भी लगाने लगे क्योंकि उनका विचार था इससे बुद्धि और तीव्र बनती है।

इन विविध विषयों को पढ़ते रहने के बाद जो कुछ मिल सका उसे स्वयं तक ही उन्होंने सीमित न रखा वरन् जनसामान्य के लिए सुलभ कराने की भी चेष्टा की। समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में लेख देने, सभाओं में भाषण देने और अन्य विषयों पर व्याख्यान करने के साथ-साथ वे व्यक्तिगत प्रश्न चर्चा में भी जिज्ञासु व्यक्तियों को महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ दिया करते।

सन् १८७२ में उन्होंने वकालत की प्रैक्टिस आरम्भ की। विधि-शास्त्र का गहन अध्ययन, सूक्ष्म दृष्टि और प्रखर वक्तृत्व शक्ति के कारण उनकी वकालत अच्छी चल निकली। वक्तृत्वकला में तो वे इतने सिद्धहस्त थे कि प्राय: ही सत्संग, समारोहो में उन्हे निमन्त्रित किया जाता रहता था। प्रार्थना समाज की साप्ताहिक गोष्ठियो मे वे नियमित रूप से जाया करते और समाज के अन्य सदस्यों को अपने स्वाध्याय-संदोह का दुग्धपान कराते थे। इन्हीं दिनों उन्होंने संस्कृत का भी अध्ययन कर लिया था। ज्ञान, अध्ययन और विचार-शक्ति के विकास द्वारा कोई भी व्यक्ति अच्छा वक्ता बन सकता है और तैलंग जी का तो पेशा ही वक्ता के सहारे चलने वाला था सो उनकी वकालत खूब चमकने लगी। उनके हाथ मे कोई केस जाते ही मुवक्किल तथा उसके गवाह यह समझ जाते थे कि अब इसका बाल भी बिगड़ने वाला नहीं पर अपनी इस अद्भुत क्षमता का उपयोग तैलंग जी ने न्याय का गला घोटने के लिए भी नहीं किया।

साथ ही उनकी वक्तृताएँ निर्भीक और स्वतंत्र-विचारो का प्रतिपादन करने वाली भी हुआ करती थीं। सन् १८७३ ई. में उन्होंने सरकार द्वारा बनाये नमक कानून के खिलाफ धुआँधार भाषण दिया यही नहीं कुछ दिनों बाद माल सम्बन्धी कानून को लेकर भी उन्होंने अपने स्वतन्त्र विचारो को व्यक्त किया। ये विचार इतने खुले थे कि सुनकर बड़े-बड़े अधिकारी दंग रह गये।

१८७६ ई. में उन्हे बम्बई विश्वविद्यालय का फेलो बनाया गया। इसके बाद वे क्रमश: विश्वविद्यालय की प्रबन्धकारिणी-सभा के सभासद् तथा उपसभापति भी रहे। इन पदों पर रहते हुए उन्होंने अपने दायित्व को बखूबी निभाया और विश्वविद्यालय को दिनोंदिन उन्नत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। विश्वविद्यालय से उनका सम्बन्ध लगभग सत्रह वर्षों तक का रहा। इन्हीं दिनों सरकार ने उन्हें जस्टिस ऑफ पीस भी बनाया और गवर्नमेन्ट लॉ स्कूल में कानून के अध्यापक नियुक्त हुए। अब तक इस पद पर केवल अँग्रेज

बैरिस्टर ही नियुक्त किये जाते थे । भारतीय व्यक्ति के रूप मे उन्हे ही यह सर्वप्रथम सम्मान मिला था । १८८२ ई. मे उन्हे शिक्षा-आयोग का सदस्य भी नियुक्त किया गया ।

इस प्रकार सरकारी सम्मानों से विभूषित होते रहने के बावजूद भी उन्होने अपनी भारतीयता को भुलाया नहीं । भारतीय-जनता के आत्मबोध हेतु तब कॉंग्रेस की स्थापना भी हो चुकी थी और तैलंग जी ने मिस्टर ह्यूम के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर यह कार्य सम्पन्न कराया था । बम्बई मे साहित्य, विज्ञान, राजनीति और समाज-सुधार सम्बन्धी कोई भी ऐसी संस्था नही थी जिससे तैलंग असम्बद्ध हो ।

उनके स्वतंत्र और निर्भीक विचारो के बावजूद भी अँग्रेजी प्रशासन ने उन्हे कई महत्वपूर्ण दायित्व सौंपे । शिक्षा-आयोग के सदस्य होते हुए उन्होने शिक्षा-पद्धति मे आवश्यक सुधार के लिए अमूल्य सुझाव दिये । सन् १८८४ मे उन्हे बम्बई की लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य भी मनोनीत किया गया । इस दायित्व को भी उन्होने कुशलता पूर्वक निबाहा । इसके पाँच वर्ष बाद वे हाईकोर्ट में जज बने । न्यायाधीश का पद भार सम्हालने के बाद उन्हे कुछ ऐसी संस्थाओ से अपना सम्बन्ध तोड़ देना पड़ा जिनसे कि सम्बन्ध रखने पर उन संस्थाओ के हितो पर आँच आ सकती थी फिर भी कॉंग्रेस के साथ उनकी सहानुभूति अन्त तक बनी रही । अचानक स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण सन् १८९३ ई. में उनका देहान्त हो गया परन्तु अँग्रेजी और मराठी-भाषा मे उन्होने अपनी जो कृतियाँ विरासत के रूप मे छोड़ीं वे उनकी बहुमुखी प्रतिभा को सिद्ध करती रहेंगी ।

सत्य और न्याय के प्रबल समर्थक—आशुतोष मुखर्जी

सन् १९२०-२१ के आस-पास कलकत्ता के उच्च न्यायालयों मे एक सनसनीखेज मुकदमा चला । इस मुकदमे को मुसलमान-पारा बमकाण्ड के नाम से आज भी याद किया जाता है । अभियुक्त के रूप में एक नौजवान बंगाली पर बम बनाने का आरोप लगाकर उसे पेश किया गया । मूल में वह इस काड से कोई सम्बन्ध नही रखता था । फिर भी बमकाण्ड केस को दबाने और उसके फलस्वरूप जनता मे पैदा हुए आत्म-विश्वास को कुचलने के लिए कुछ तो करना ही था । पुलिस असली सूत्रधार विप्लवियो को पकड़ने मे असफल रही थी—इसलिए उसने उक्त निर्दोष बंगाली युवक को पकड़ लिया ।

मुकदमे की कार्यवाई चली । चीफ जस्टिस् थे सरजेन किंसन । उनके साथ सुनवाई के लिए दूसरे न्यायाधीश के रूप में जस्टिस् ह्यूमहूम और तीसरे न्यायाधीश आशुतोष मुखर्जी नियुक्त किये गये । चूँकि दोनो न्यायाधीश अँग्रेज थे । पुलिस ने अँग्रेजी-शासन की जड़ें मजबूत करने के लिए ही निर्दोष व्यक्ति को गिरफ्तार किया था । इसलिए पुलिस के पक्ष में फैसला देना आवश्यक था परन्तु आशुतोष मुखर्जी ने अपना मतभेद व्यक्त करते हुए स्पष्ट कहा—'पुलिस एक बेगुनाह नौजवान को इस जुर्म में फँसाने की अपनी हीन कोशिश मे असफल रही है । सरजेन किंसन और ह्यूमहूम को भी इस कारण अपनी राय बदलनी पड़ी ।

आशुतोष मुखर्जी की ख्याति एक शिक्षाशास्त्री और कलकत्ता-विश्वविद्यालय के संस्थापकों के रूप में ही अधिक हुई है । परन्तु उन्होंने एक निष्पक्ष न्यायाधीश और धर्मनिष्ठ हिन्दू के रूप में भी अपनी प्रतिभा और धर्मनिष्ठा का अनुकरणीय परिचय दिया है ।

आशुतोष मुखर्जी का जन्म कलकत्ता के निकट भवानी पुर नामक स्थान पर एक सम्पन्न परिवार में २९ जून, १८६४ ई. को हुआ । उनके पिता पेशे से एक डॉक्टर थे साथ ही साथ अपने परिवार के बच्चों और स्वयं के ज्ञान-वर्द्धन की ओर भी पर्याप्त ध्यान देते थे । आशुतोष मुखर्जी के पालन-पोषण में उन्होंने अपने स्वभाव के अनुसार ही शिक्षा और प्रतिभा के विकास का भी समुचित प्रयास किया । परिणामस्वरूप आशुतोष जब चौदहवर्ष की आयु मे पाठशाला पढ़ने गये तो उनका ज्ञान तथा बुद्धि अपनी वय के अन्य विद्यार्थियो की अपेक्षा काफी परिपक्व थी । सामान्य जानकारी भी उन्हे अपने साथियो की अपेक्षा काफी अधिक थी ।

सन् १८७९ में उन्होंने एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास की । इस परीक्षा मे उन्होंने सब विद्यार्थियों मे दूसरा स्थान प्राप्त किया । इसके बाद वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज मे भर्ती हुए और बी. ए. परीक्षा मे विश्वविद्यालय भर मे सर्वप्रथम आये थे । एम. ए. की परीक्षाओं मे भी प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होने के कारण उन्हे स्वर्ण-पदक तथा आठ हजार रु. की छात्रवृत्ति मिली । आशुतोषमुखर्जी की इन सफलताओ का श्रेय उनके स्वभाव की अध्ययनशील विशेषता को दिया जाना चाहिए जो उन्होंने पिता के व्यक्तित्व तथा प्रयासो से प्राप्त की थी ।

सन् १८८८ मे उन्होंने कानून की डिग्री पास की और उसी साल वकालत भी आरम्भ कर दी । इस पेशे को उन्होंने एक शुद्ध व्यवसाय के रूप मे अपनाया । ऐसे मुकदमे की पैरवी करने के लिये बड़ी-बड़ी फीसें भी ठुकरा दीं, जिसमे उन्हें अनौचित्य और अन्याय का समर्थन करना पड़ा हो । आशुतोष मुखर्जी की ख्याति एक सफल वकील के रूप मे खूब हुई। परन्तु, वे सबके लिए सुलभ नही रहे ।

दसवर्षों तक सफल वकील के रूप मे काम करने के बाद उन्हें कलकत्ता उच्चन्यायालय की जस्टिस बेन्च का सन् १९०३ मे न्यायाधीश नियुक्त किया गया । इस पद पर रह कर भी अपने उसी आदर्श, मर्यादा और गौरव को यथावत् बनाये रखा । गलत और पक्षपातपूर्ण निर्णयों से वे उस समय तक सहमत नहीं हुए जब तक कि न्याय की मूल आत्मा का हनन करने की भूल को सुधारा नहीं गया । १९२० में जब वे मुख्य न्यायाधीश बने तो उनके फैसले एकदम निष्पक्ष और न्यायपूर्ण होते थे । ब्रिटिश-राज होने के कारण उद्दण्ड अँग्रेजो के प्रति आये मुकदमों मे न्याय की अवहेलना करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य-सा भी था परन्तु सरआशुतोष ने

कभी अपने सिद्धान्तों, मान्यताओं और कर्त्तव्य के प्रति आस्थाओं से समझौता नहीं किया। उन केसो में जिसमे सरकार और पुलिस दोषी होती थी, वे कोई रियायत नहीं करते और सामान्य-व्यक्ति के लिए जो न्याय-व्यवस्था थी उसी के अनुसार निर्णय देते। कानून की निगाह से सबको एकसमान देखना उस समय इतना सम्भव नहीं था। अँग्रेजों के प्रति चाहे जो हो रियायत करना तो एक भीति-परम्परा ही बन गयी थी। ऐसे समय में आशुतोष मुखर्जी ने निष्पक्ष और न्यायपूर्ण फैसले कर सचमुच ही बड़े साहस का परिचय दिया। कर्त्तव्य का उचित निर्वाह करने के लिए उन जैसा साहसी और निर्भीक व्यक्तित्व शायद ही कहीं देखने में आया हो। फिर उनके इस गुण की सर्वत्र वंदना ही की जाती थी।

न्यायाधीश के पद से अवकाश ग्रहण करते समय उन्होंने अपनी अन्तिम निष्पक्ष वारीन्द्रकुमार घोष के सकटोरिया-हत्याकाण्ड-केस में राय दी थी। वारीन्द्रकुमार घोष २२ वर्ष के युवक क्रान्तिकारी थे। अपनी नवविवाहित पत्नी को छोड़ कर उन्होंने रिवाल्वर द्वारा सकटोरिया डाकखाना के पोस्टमास्टर की हत्या कर दी थी। पुलिस पक्ष प्रबल था। बचाव पक्ष का वकील जानता था कि वारीन्द्र को फाँसी होगी ही इस कारण उसने सेशन-जज से एक अलग कक्ष में जाकर कहा था कि अभियुक्त को कम उम्र होने के कारण कसूरवार होते हुए भी उसे रियायत दी जानी चाहिए। हालांकि वारीन्द्रघोष को फाँसी हुई परन्तु सेशन-जज का इस विषय में वकील से बातचीत करना अनुचित था। इस बात पर आशुतोष मुखर्जी ने बड़ी टीका-टिप्पणी की थी और इसकी शिकायत भी मुख्य न्यायाधीश से करने की बात कही थी।

अपने कार्यकारी जीवन मे इतना कर्त्तव्यनिष्ठ, निर्भीक और उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग आशुतोष मुखर्जी को ये सब गुण धर्म के प्रति आस्था के परिणामस्वरूप ही मिले थे। बचपन से ही उन्होंने धार्मिक और पौराणिक कथाओं का अध्ययन किया था और सत्य तथा न्याय के प्रति अपनी आस्थाओ को सुदृढ़ बनाया था। उन अवसरों पर जब उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा की प्रशंसा की चर्चा की जाती तो प्रत्युत्तर में अक्सर यही कहते थे कि इन सबका श्रेय तो उस धर्म और सस्कृति को दिया जाना चाहिए जिसका मै पुजारी हूँ और जो भारत का प्राण है, आत्मा है।

भारतीय-संस्कृति और सभ्यता का वे सम्मान ही नहीं करते थे वरन् उसके सिद्धान्तों को भी अपने जीवन में उतारने का प्रयास करते थे। ईश्वर के प्रति उनका भक्ति विश्वास भी खूब था। वे प्रतिदिन नियमित रूप से उपासना किया करते थे तथा न्यायालय जाने के लिए घर से निकलते समय ईश्वर से अपने कर्त्तव्य को भला-भाँति निभाने की शक्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना भी करते थे। भारतीय सभ्यता रहन-सहन और वेषभूषा के प्रति लगाव भी उनका खूब था। न्यायाधीश के पद पर काम करते हुए भी कार्यावधि के बाद उन्होंने कभी पाश्चात्य ढंग के कपड़े नही पहने। न्यायालय में भी नियम से बँधे होने के कारण ही पाश्चात्य वेशभूषा अपनायी थी।

रहन-सहन की सादगी और सौम्य-स्वभाव को देखकर यह कहना मुश्किल था कि यह व्यक्ति एक उच्च-पदाधिकारी तथा कठोर न्यायाधीश होगा। परिवार के बच्चों को भी उसी धार्मिक वातावरण में रखते। एक कट्टर-हिन्दू होते हुए भी उन्होंने धार्मिक अन्ध-विश्वास और प्रचलित रूढ़ियों को कभी प्रश्रय नहीं दिया। उस समय विधवा-विवाह तथा समुद्र-यात्रा पर कड़े प्रतिबन्ध थे। हिन्दू-समाज इन प्रतिबन्धों को तोड़ने वाले को हीन दृष्टि से देखते भर ही नहीं बल्कि उसे दण्डित तथा तिरस्कृत भी करते थे परन्तु आशुतोष मुखर्जी ने इस प्रकार की अन्ध-परम्पराओं का भी समर्थन नहीं किया।

जब भी अवसर मिला होगा उन्होंने इन परम्पराओ पर प्रहार ही किया था। यहाँ तक कि उन्होंने स्वयं ने भी अपनी बेटी जो असमय में विधवा हो गयी थी पुनर्विवाह करवाया। हिन्दू ब्राह्मणों में इसका बड़ा विरोध किया परन्तु उन्होंने कोई परवाह नहीं की। अपने एक पुत्र को विलायत पढ़ने के लिए भेजने पर भी कम भर्त्सना नहीं हुई। उक्त दो कारणों से कई रिश्तेदारों ने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया परन्तु आशुतोष मुखर्जी अपने निश्चय पर दृढ़ ही रहे।

प्राचीन-संस्कृति के समर्थक होते हुए भी आधुनिक सभ्यता की अच्छाइयों से लाभ उठाना उनकी दृष्टि में प्रगति का मूल कारण था। नवीन होने के कारण हर वस्तु का तिरस्कार और परित्याग करना कूपमण्डूकता ही थी। इस विचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा भी है—कुएँ के मेंढक की तरह अपने घर में ही घुसकर बैठने और रोशनी से बचने का प्रयास करेंगे तो समय की गति और जमाने की दौड़ मे हम पिछड़ जायेंगे। अगर हम आगे बढ़ते हुए जमाने के साथ चलना चाहते हैं तो पूरी ताकत उसके लिए रास्ता बनाने और अपने फर्ज को पूरा करने मे लगानी होगी।

भारतीय-धर्म और दर्शन को संकीर्ण अर्थों मे न लेकर उन्होंने आत्म-निर्माण और लोक-सेवा का ही पर्याय माना था।

स्वयं के स्वास्थ्य, ज्ञान, मानसिक शांति और आत्मीयता की भावनाओ के विकास का समुचित ध्यान रखकर उन्होंने आत्म-निर्माण की आवश्यकता पूरी कर ली थी। उनका परिपुष्ट शरीर, स्वास्थ्य, आरोग्य और आत्मतेज की दीप्ति से देदीप्यमान ललाट देखने वाले को अनायास ही प्रभावित कर लेता था। आहार-विहार और श्रम-व्यायाम का ध्यान रखते रहने के कारण वे शायद ही कभी बीमार पड़े हो।

लोक-सेवा की धर्म-साधना के लिए उनका ध्यान शिक्षा की ओर गया। यों व्यक्तिगत रूप से उन्होंने कभी किसी को निराश नहीं किया। निर्धन और संकटग्रस्तों की सदैव सहायता की। स्वयं सादगी से रहकर, अपनी आवश्यकताएँ बहुत कम खर्च में चलाकर वे आमदनी का अधिकांश भाग-दीन-दुखियों की सेवा मे ही लगाते थे। गरीब विद्यार्थियों की पुस्तके और फीस में, निर्धनों की चिकित्सा-सहायता मे

बैरिस्टर ही नियुक्त किये जाते थे । भारतीय व्यक्ति के रूप में उन्हे ही यह सर्वप्रथम सम्मान मिला था । १८८२ ई. मे उन्हे शिक्षा-आयोग का सदस्य भी नियुक्त किया गया ।

इस प्रकार सरकारी सम्मानो से विभूषित होते रहने के बावजूद भी उन्होने अपनी भारतीयता को भुलाया नहीं । भारतीय-जनता के आत्मबोध हेतु तब कॉंग्रेस की स्थापना भी हो चुकी थी और तैलंग जी ने मिस्टर ह्यूम के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर यह कार्य सम्पन्न कराया था । बम्बई मे साहित्य, विज्ञान, राजनीति और समाज-सुधार सम्बन्धी कोई भी ऐसी संस्था नही थी जिससे तैलंग असम्बद्ध हो ।

उनके स्वतंत्र और निर्भीक विचारो के बावजूद भी अँग्रेजी प्रशासन ने उन्हे कई महत्त्वपूर्ण दायित्व सौंपे । शिक्षा-आयोग के सदस्य होते हुए उन्होने शिक्षा-पद्धति मे आवश्यक सुधार के लिए अमूल्य सुझाव दिये । सन् १८८४ में उन्हे बम्बई की लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य भी मनोनीत किया गया । इस दायित्व को भी उन्होने कुशलता पूर्वक निबाहा । इसके पाँच वर्ष बाद वे हाईकोर्ट मे जज बने । न्यायाधीश का पद भार सम्हालने के बाद उन्हे कुछ ऐसी संस्थाओ से अपना सम्बन्ध तोड देना पड़ा जिनसे कि सम्बन्ध रखने पर उन संस्थाओ के हितो पर आँच आ सकती थी फिर भी कॉंग्रेस के साथ उनकी सहानुभूति अन्त तक बनी रही । अचानक स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण सन् १८९३ ई. मे उनका देहान्त हो गया परन्तु अँग्रेजी और मराठी-भाषा मे उन्होने अपनी जो कृतियाँ विरासत के रूप मे छोड़ीं वे उनकी बहुमुखी प्रतिभा को सिद्ध करती रहेगी ।

सत्य और न्याय के प्रबल समर्थक— आशुतोष मुखर्जी

सन् १९२०-२१ के आस-पास कलकत्ता के उच्च न्यायालयो मे एक सनसनीखेज मुकदमा चला । इस मुकदमे को मुसलमान-पारा बमकाण्ड के नाम से आज भी याद किया जाता है । अभियुक्त के रूप मे एक नौजवान बंगाली पर बम बनाने का आरोप लगाकर उसे पेश किया गया । मूल में वह इस कांड से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था । फिर भी बमकाण्ड केस को दबाने और उसके फलस्वरूप जनता मे पैदा हुए आत्म-विश्वास को कुचलने के लिए कुछ तो करना ही था । पुलिस असली सूत्रधार विप्लवियो को पकड़ने में असफल रही थी—इसलिए उसने उक्त निर्दोष बंगाली युवक को पकड़ लिया ।

मुकदमे की कार्यवाई चली । चीफ जस्टिस् थे सरजेन किंसन । उनके साथ सुनवाई के लिए दूसरे न्यायाधीश के रूप में जस्टिस् हूमहूम और तीसरे न्यायाधीश आशुतोष मुखर्जी नियुक्त किये गये । चूँकि दोनों न्यायाधीश अँग्रेज थे । पुलिस ने अँग्रेजी-शासन की जड़ें मजबूत करने के लिए ही निर्दोष व्यक्ति को गिरफ्तार किया था । इसलिए पुलिस के पक्ष में फैसला देना आवश्यक था परन्तु आशुतोष मुखर्जी ने अपना मतभेद व्यक्त करते हुए स्पष्ट कहा—'पुलिस एक बेगुनाह नौजवान को इस जुर्म में फँसाने की अपनी हीन कोशिश मे असफल रही है । सरजेन किंसन और हूमहूम को भी इस कारण अपनी राय बदलनी पड़ी ।

आशुतोष मुखर्जी की ख्याति एक शिक्षाशास्त्री और कलकत्ता-विश्वविद्यालय के संस्थापको के रूप में ही अधिक हुई है । परन्तु उन्होने एक निष्पक्ष न्यायाधीश और धर्मनिष्ठ हिन्दू के रूप मे भी अपनी प्रतिभा और धर्मनिष्ठा का अनुकरणीय परिचय दिया है ।

आशुतोष मुखर्जी का जन्म कलकत्ता के निकट भवानी पुर नामक स्थान पर एक सम्पन्न परिवार मे २९ जून, १८६४ ई. को हुआ । उनके पिता पेशे से एक डॉक्टर थे साथ ही साथ अपने परिवार के बच्चो और स्वयं के ज्ञान-वर्द्धन की ओर भी पर्याप्त ध्यान देते थे । आशुतोष मुखर्जी के पालन-पोषण मे उन्होने अपने स्वभाव के अनुसार ही शिक्षा और प्रतिभा के विकास का भी समुचित प्रयास किया । परिणामस्वरूप आशुतोष जब चौदहवर्ष की आयु मे पाठशाला पढ़ने गये तो उनका ज्ञान तथा बुद्धि अपनी वय के अन्य विद्यार्थियो की अपेक्षा काफी परिपक्व थी । सामान्य जानकारी भी उन्हे अपने साथियो की अपेक्षा काफी अधिक थी ।

सन् १८७९ में उन्होने एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास की । इस परीक्षा में उन्होने सब विद्यार्थियो मे दूसरा स्थान प्राप्त किया । इसके बाद वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज मे भर्ती हुए और बी. ए. परीक्षा मे विश्वविद्यालय भर मे सर्वप्रथम आये थे । एम. ए. की परीक्षाओ मे भी प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होने के कारण उन्हे स्वर्ण-पदक तथा आठ हजार रु. की छात्रवृत्ति मिली । आशुतोषमुखर्जी की इन सफलताओ का श्रेय उनके स्वभाव की अध्ययनशील विशेषता को दिया जाना चाहिए जो उन्होने पिता के व्यक्तित्व तथा प्रयासो से प्राप्त की थी ।

सन् १८८८ में उन्होने कानून की डिग्री पास की और उसी साल वकालत भी आरम्भ कर दी । इस पेशे को उन्होने एक शुद्ध व्यवसाय के रूप में अपनाया । ऐसे मुकदमे की पैरवी करने के लिये बड़ी-बड़ी फीसे भी ठुकरा दीं, जिसमें उन्हे अनौचित्य और अन्याय का समर्थन करना पड़ा हो । आशुतोष मुखर्जी की ख्याति एक सफल वकील के रूप मे खूब हुई। परन्तु, वे सबके लिए सुलभ नहीं रहे ।

दसवर्षों तक सफल वकील के रूप में काम करने के बाद उन्हे कलकत्ता उच्चन्यायालय की जस्टिस बेन्च का सन् १९०३ मे न्यायाधीश नियुक्त किया गया । इस पद पर रह कर भी अपने उसी आदर्श, मर्यादा और गौरव को यथावत् बनाये रखा । गलत और पक्षपातपूर्ण निर्णयों से वे उस समय तक सहमत नहीं हुए जब तक कि न्याय की मूल आत्मा का हनन करने की भूल को सुधारा नहीं गया । १९२० में जब वे मुख्य न्यायाधीश बने तो उनके फैसले एकदम निष्पक्ष और न्यायपूर्ण होते थे । ब्रिटिश-राज होने के कारण उद्दण्ड अँग्रेजो के प्रति आये मुकदमों मे न्याय की अवहेलना करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य-सा भी था परन्तु सरआशुतोष ने

कभी अपने सिद्धान्तो, मान्यताओ और कर्त्तव्य के प्रति आस्थाओ से समझौता नहीं किया । उन केसो मे जिसमें सरकार और पुलिस दोषी होती थी, वे कोई रियायत नहीं करते और सामान्य-व्यक्ति के लिए जो न्याय-व्यवस्था थी उसी के अनुसार निर्णय देते । कानून की निगाह से सबको एकसमान देखना उस समय इतना सम्भव नहीं था । अँग्रेजो के प्रति चाहे जो हो रियायत करना तो एक भीति-परम्परा ही बन गयी थी । ऐसे समय में आशुतोष मुखर्जी ने निष्पक्ष और न्यायपूर्ण फैसले कर सचमुच ही बड़े साहस का परिचय दिया । कर्त्तव्य का उचित निर्वाह करने के लिए उन जैसा साहसी और निर्भीक व्यक्तित्व शायद ही कहीं देखने में आया हो । फिर उनके इस गुण की सर्वत्र वंदना ही की जाती थी ।

न्यायाधीश के पद से अवकाश ग्रहण करते समय उन्होंने अपनी अन्तिम निष्पक्ष वारीन्द्रकुमार घोष के सकटोरिया-हत्याकाण्ड-केस मे राय दी थी । वारीन्द्रकुमार घोष २२ वर्ष के युवक क्रान्तिकारी थे । अपनी नवविवाहित पत्नी को छोड़ कर उन्होंने रिवाल्वर द्वारा सकटोरिया डाकखाना के पोस्टमास्टर की हत्या कर दी थी । पुलिस पक्ष प्रबल था । बचाव पक्ष का वकील जानता था कि वारीन्द्र को फाँसी होगी ही इस कारण उसने सेशन-जज से एक अलग कक्ष में जाकर कहा था कि अभियुक्त को कम उम्र होने के कारण कसूरवार होते हुए भी उसे रियायत दी जानी चाहिए । हालांकि वारीन्द्रघोष को फाँसी हुई परन्तु सेशन-जज का इस विषय मे वकील से बातचीत करना अनुचित था । इस बात पर आशुतोष मुखर्जी ने बड़ी टीका-टिप्पणी की थी और इसकी शिकायत भी मुख्य न्यायाधीश से करने की बात कही थी ।

अपने कार्यकारी जीवन मे इतना कर्त्तव्यनिष्ठ, निर्भीक और उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग आशुतोष मुखर्जी को ये सब गुण धर्म के प्रति आस्था के परिणामस्वरूप ही मिले थे । बचपन से ही उन्होंने धार्मिक और पौराणिक कथाओ का अध्ययन किया था और सत्य तथा न्याय के प्रति अपनी आस्थाओ को सुदृढ बनाया था । उन अवसरो पर जब उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा की प्रशंसा की चर्चा की जाती तो प्रत्युत्तर मे अक्सर यही कहते थे कि इन सबका श्रेय तो उस धर्म और संस्कृति को दिया जाना चाहिए जिसका मैं पुजारी हूँ और जो भारत का प्राण है, आत्मा है ।

भारतीय-संस्कृति और सभ्यता का वे सम्मान ही नहीं करते थे वरन् उसके सिद्धान्तो को भी अपने जीवन में उतारने का प्रयास करते थे । ईश्वर के प्रति उनका भक्ति विश्वास भी खूब था । वे प्रतिदिन नियमित रूप से उपासना किया करते थे तथा न्यायालय जाने के लिए घर से निकलते समय ईश्वर से अपने कर्त्तव्य को भला-भाँति निभाने की शक्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना भी करते थे । भारतीय सभ्यता रहन-सहन और वेषभूषा के प्रति लगाव भी उनका खूब था । न्यायाधीश के पद पर काम करते हुए भी कार्यावधि के बाद उन्होंने कभी पाश्चात्य ढंग के कपड़े नहीं पहने । न्यायालय मे भी नियम से बँधे होने के कारण ही पाश्चात्य वेशभूषा अपनायी थी ।

रहन-सहन की सादगी और सौम्य-स्वभाव को देखकर यह कहना मुश्किल था कि यह व्यक्ति एक उच्च-पदाधिकारी तथा कठोर न्यायाधीश होगा । परिवार के बच्चों को भी उसी धार्मिक वातावरण मे रखते । एक कट्टर-हिन्दू होते हुए भी उन्होंने धार्मिक अन्ध-विश्वास और प्रचलित रूढ़ियों को कभी प्रश्रय नहीं दिया । उस समय विधवा-विवाह तथा समुद्र-यात्रा पर कड़े प्रतिबन्ध थे । हिन्दू-समाज इन प्रतिबन्धों को तोड़ने वाले को हीन दृष्टि से देखते भर ही नहीं बल्कि उसे दण्डित तथा तिरस्कृत भी करते थे परन्तु आशुतोष मुखर्जी ने इस प्रकार की अन्ध-परम्पराओ का भी समर्थन नहीं किया ।

जब भी अवसर मिला होगा उन्होंने इन परम्पराओ पर प्रहार ही किया था । यहाँ तक कि उन्होंने स्वयं ने भी अपनी बेटी जो असमय मे विधवा हो गयी थी पुनर्विवाह करवाया । हिन्दू ब्राह्मणों में इसका बड़ा विरोध किया परन्तु उन्होंने कोई परवाह नहीं की । अपने एक पुत्र को विलायत पढ़ने के लिए भेजने पर भी कम भर्त्सना नहीं हुई । उक्त दो कारणो से कई रिश्तेदारो ने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया परन्तु आशुतोष मुखर्जी अपने निश्चय पर दृढ़ ही रहे ।

प्राचीन-संस्कृति के समर्थक होते हुए भी आधुनिक सभ्यता की अच्छाइयों से लाभ उठाना उनकी दृष्टि में प्रगति का मूल कारण था । नवीन होने के कारण हर वस्तु का तिरस्कार और परित्याग करना कूपमण्डूकता ही थी । इस विचार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा भी है—कुएँ के मेढक की तरह अपने घर मे ही घुसकर बैठने और रोशनी से बचने का प्रयास करेंगे तो समय की गति और जमाने की दौड़ मे हम पिछड़ जायेगे । अगर हम आगे बढ़ते हुए जमाने के साथ चलना चाहते हैं तो पूरी ताकत उसके लिए रास्ता बनाने और अपने फर्ज को पूरा करने मे लगानी होगी ।

भारतीय-धर्म और दर्शन को संकीर्ण अर्थों मे न लेकर उन्होंने आत्म-निर्माण और लोक-सेवा का ही पर्याय माना था ।

स्वयं के स्वास्थ्य, ज्ञान, मानसिक शांति और आत्मीयता की भावनाओ के विकास का समुचित ध्यान रखकर उन्होंने आत्म-निर्माण की आवश्यकता पूरी कर ली थी । उनका परिपुष्ट शरीर, स्वास्थ्य, आरोग्य और आत्मतेज की दीप्ति से देदीप्यमान ललाट देखने वाले को अनायास ही प्रभावित कर लेता था । आहार-विहार और श्रम-व्यायाम का ध्यान रखते रहने के कारण वे शायद ही कभी बीमार पड़े हों ।

लोक-सेवा की धर्म-साधना के लिए उनका ध्यान शिक्षा की ओर गया । यों व्यक्तिगत रूप से उन्होंने कभी किसी को निराश नहीं किया । निर्धन और संकटग्रस्तों की सदैव सहायता की । स्वयं सादगी से रहकर, अपनी आवश्यकताएँ बहुत कम खर्च में चलाकर वे आमदनी का अधिकांश भाग-दीन-दुखियों की सेवा में ही लगाते थे । गरीब विद्यार्थियों की पुस्तकें और फीस में, निर्धनों की चिकित्सा-सहायता मे

तथा संकटग्रस्तो की मदद करने मे ही उनकी अधिकांश आय खर्च होती थी । इस कारण वे अपने मित्रो तथा उपकृत हुए लोगो में दीनबंधु के नाम से भी जाने जाते थे ।

सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र मे शिक्षा-जगत् मे किये गये प्रयासो ने उन्हे ऐतिहासिक व्यक्ति बना दिया । एक कर्त्तव्यनिष्ठ धार्मिक न्यायाधीश के रूप मे उन्हे शायद ही याद किया जाता, जितना कि उनकी शैक्षणिक सेवाओ के लिए । आज भी वे शिक्षाशास्त्री के रूप मे ही अधिक याद किये जाते हैं ।

शिक्षा-समाज की एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्य आवश्यकता है । अशिक्षित और बिना पढे-लिखे व्यक्तियो का समाज दुनिया के अन्य देशो की प्रगति की दौड़ मे पिछड़ जाता है । इसलिए आशुतोष मुखर्जी ने अपना ध्यान इस आवश्यकता की ओर ही दिया । शिक्षा के प्रचार-प्रसार मे वे तन मन-धन से प्रयत्नशील रहते थे । अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ करते ही उन्होने शिक्षण-संस्थाओ को सहयोग देना आरम्भ कर दिया । सन् १८९९ मे उन्हे कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से यूनिवर्सिटी के हितो की रक्षा के लिए बंगाल कौंसिल का सदस्य बनाकर भी भेजा गया था ।

बंगाल कौंसिल के सदस्य के रूप मे उन्होने प्रान्त भर की शिक्षण-संस्थाओ के हितो की रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किये और उन सभी प्रस्तावो का डटकर विरोध किया जो शिक्षा प्रचार के कार्य पर चोट करते थे । लार्ड कर्जन 'यूनिवर्सिटी बिल के विरोध मे उनकी बहस विधानसभा के रिकार्ड में उस समय की सबसे तगडी और जोरदार बहस मानी जाती है ।

कलकत्ता-विश्वविद्यालय के लिए उनकी सेवाओ की उतनी ही सराहना की जाती है, जितनी कि काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए प. मदनमोहन मालवीय की । इस विश्वविद्यालय में उन्होने अपने उन महत्त्वपूर्ण अवसरों को हाथ से जान-बूझकर निकल जाने दिया जिनमें कि वे स्वयं आगे बढ सकते थे परन्तु सर आशुतोष को अपना अकेले का व्यक्तिगत लाभ अभीष्ट नहीं था । वे तो चाहते थे कि अधिक से अधिक लोगो का लाभ हो और योग्य प्रतिभायें समाज की सेवा के लिए आगे आये । इसीलिए उन्होने विश्वविद्यालय मे बगला भाषा को उपयुक्त स्थान दिलाने के लिए अनथक प्रयत्न किये ताकि वे युवक जो प्रतिभाशाली तो है परन्तु अन्य दूसरी भाषा नहीं जानते हैं और इस कारण अपनी योग्यताओ का विकास नहीं कर पाते हैं—वे आगे बढ सके ।

कोई भी महामानव अपने व्यक्तिगत हितो का उतना ध्यान नहीं रखता जितना कि सामाजिक हितों तथा सबके लिए प्रगति के अवसरों का । योग्य-व्यक्तियों को मान्यता दिलवाने के लिए भी सरमुखर्जी ने काफी प्रयास किये । कवीन्द्र रवीन्द्र को साहित्य डॉक्टरेट करने के लिए आशुतोष मुखर्जी ने अध्ययन और लेखन की सुविधाओ, सहायताओं से लेकर शोध-प्रबन्ध को मान्यता दिलवाने तक बड़ा सहयोग दिया ।

कलकत्ता-विश्वविद्यालय के वर्तमान उन्नत स्वरूप का अधिकांश श्रेय भी उन्हे ही दिया जाता है । उनके कार्यकाल में ही विश्व-विद्यालय की पक्की इमारत बनी, समृद्ध पुस्तकालय खुला, छात्रावास भवनों का निर्माण हुआ और प्रयोगशालाएँ तथा विज्ञान-संस्थाओ की नींव पड़ी ।

शिक्षण-संस्थाओ की उन्नति और प्रसार के लिए वे चाहते थे कि विद्यार्थी भी इसमे रुचि ले । इसके लिए वे छात्रो के अधिक से अधिक निकट आने का प्रयास करते और उन्हे अनपढ व्यक्तियो तथा निर्धन और गरीब परिवार के बच्चो को शिक्षित बनाने के लिए प्रेरित करते रहते । उनसे प्रोत्साहित होकर कई विद्यार्थियों ने रात्रि पाठशालाएँ चलाई थीं और जनसपर्क द्वारा स्वयं के जेब खर्च और सर आशुतोष मुखर्जी के सहयोग से निर्धन परिवार के बच्चो को प्राथमिक स्कूलो मे भर्ती करवाया था ।

ये सब कार्य उन्होने इस समय मे किया जो न्यायालय मे जज का कार्य करते हुए, स्वयं भी अध्ययन करते रहने और अनेकविधि लोगो की सेवा-सहायता करने के बाद बचाया । अवकाश के समय का सदुपयोग कर व्यक्ति कितना महान् बन जाता है सर आशुतोषमुखर्जी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । वे अपने इन कार्यों मे इतने अधिक व्यस्त रहते कि फालतू मित्र-मण्डली बनाने, शौक-मौज पूरी करने तथा इधर-उधर की बातो मे फँसने का उनके पास अवकाश ही नहीं था । बचे हुए समय का इतना अच्छा उपयोग सेवा के किसी भी क्षेत्र मे व्यक्ति को सफल बना सकता है जरूरी है तो बस सेवा की टीस और उसकी लगन ।

२५ मई, १९२५ को सरआशुतोषमुखर्जी ने इस ससार से विदा ली । मरते समय भी उन्होने अपने आश्रित तथा अनुयायी व्यक्तियो को सेवा का मार्ग अपनाने और सत्य व न्याय का समर्थन करने की ही प्रेरणा दी थी ।

शिक्षा और स्वाभिमान के प्रति आग्रहशील-

डॉ. हरिसिंह गौर

१९३८ मे डॉ. हरिसिंहगौर ने ब्रिटेन की सीमा मे प्रवेश किया । कुछ वर्षों तक वहीं रहने का विचार था । इस उद्देश्य से कि ब्रिटेनवासियों को वहाँ के भारतियों को भारतीय नागरिको की माँग और अधिकारो का औचित्य समझाया जा सके । तो इंग्लैण्ड में भी उस समय कई विचारक तथा प्रबुद्ध और प्रतिष्ठित व्यक्ति भारतीय-स्वतंत्रता की आवश्यकता को स्वीकार कर रहे थे । वे मानते थे कि भारत की जनता अपना शासन और व्यवस्था सम्हलने में सक्षम है । परन्तु यह विचार अधिकाश प्रबुद्ध व्यक्तियों का वैयक्तिक मत था । वह अपनी ही परिधि तक सीमित भी था ।

सर्वसाधारण को तो यही बताया जा रहा था कि भारतवासी जंगली, असभ्य और फूहड़ हैं । वे अपने देश को सम्हाल नहीं सकते इसलिए अँग्रेज-जाति को वहाँ बने रहना आवश्यक है । वहाँ के नागरिकों को वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक तो पता था नहीं । वे भी इसी बात को मान लेते और विश्वास करने लगते कि अँग्रेजो का शासन भारत के हित मे ही है ।

लोकतान्त्रिक-व्यवस्था मे जनशक्ति ही सर्वप्रधान होती है । उसे जाग्रत कर अभीष्ट उद्देश्य पूर्ति के लिए अपेक्षित स्थिति पैदा की जा सकती है । डॉ. गौर ने इस तथ्य को समझ कर इंग्लैण्ड की भूमि पर पदार्पण किया था । ताकि भारतीय आत्म-अधिकार के पक्ष मे वहाँ का जनमत तैयार किया जा सके । कहना नहीं होगा कि लोकतन्त्र में जनशक्ति और जनता की उपेक्षा-अवहेलना बिल्कुल नहीं चलती । ब्रिटेन के लोग यदि एक स्वर से भारत को स्वतन्त्र करने की माँग करने लगे तो वहाँ की सरकार को विवश होकर इसके लिए मानना पड़ेगा ।

डॉ. गौर तत्काल ही क्रियाशील हो गये । उन्होंने ब्रिटेनवासियों को कई माध्यमो से अपनी बात समझाना आरम्भ कर दिया । लगातार छह वर्षों तक वहाँ के नागरिकों को अपनी लेखनी और वाणी द्वारा जगाया । जब उन्हे अपने प्रयत्न सार्थक और सफल होते दिखे, यह विश्वास हो गया कि स्वतंत्रता देने के लिए जनमत तैयार करने हेतु अब अधिक प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं है तो वे १९४४ में स्वदेश वापस आ गये । ढलान पर खड़ी गाड़ी को जरा-सा धक्का भर लगाने की जरूरत होती है फिर तो वह अपने आप ही निर्धारित दिशा में दौड़ने लगती है । फिर १९४४ तक भारत की स्वतंत्रता मिल जाना भी निश्चित हो चुका था । शीघ्र ही अँग्रेज चले जायेंगे यह सम्भावना साकार होती दिखायी देने लगी थी ।

इंग्लैण्ड से भारत लौट कर उन्होंने सामाजिक पुनर्निर्माण की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया । उस समय भारत को सर्वाधिक आवश्यकता थी शिक्षा और उच्च-ज्ञान के प्रचार की थी । भारत आकर उन्होंने सागर विश्वविद्यालय की रूपरेखा तैयार की और अभी तक की सञ्चित कमाई—लगभग २० लाख रुपये विश्वविद्यालय के निर्माण हेतु दान कर दी । रविशंकर शुक्ल ने भी उनकी योजना को मूर्तरूप देने मे बड़ा सहयोग दिया । पैसो की आवश्यकता हुई तो उन्होंने सागर की जनता से संपर्क साधा । जो कुछ भी बने इस विद्यामन्दिर की स्थापना के लिए देने का आग्रह किया । व्यक्तिगत कार्य के लिए आत्म-सम्भावी डॉ. हरि सिंह गौर ने निर्धन और अभावग्रस्त दिनों मे भी किसी से कुछ नही माँगा । परन्तु लोक कल्याण के लिए माँगने, सहयोग जुटाने में उन्होंने लज्जा नहीं शान समझी । स्वयं अकिंचन होकर, प्रस्तुत लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गली, मुहल्ले और सड़कों पर जिस किसी ने भी डॉ. गौर को सहयोग माँगते हुए देखा-वही उनकी महानता के सम्मुख नतमस्तक हो गया । स्वतन्त्रता मिलने तक तो अँग्रेज सरकार ने इस कार्य में भारी रोड़े अटकाये । परन्तु, जब पं.रविशंकर शुक्ल के नेतृत्व मे मध्य भारत प्रान्त (अब मध्यप्रदेश) मे लोकप्रिय शासन की स्थापना हुई तो तत्काल उनकी योजना स्वीकृत हो गयी । डॉ. गौर के निरन्तर प्रयासों से १९४६ में सागर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई ।

भारतीय समाज के अभ्युदय और पुनरुत्थान मे अपनी प्रतिष्ठा, वय, सम्पदा और समूचा जीवन लगा देने वाले डॉ. हरिसिंह गौर का जन्म २६ नवम्बर, १८७० ई. को सागर के एक निर्धन क्षत्रिय परिवार में हुआ था । प्राथमिक कक्षाएँ पास करने के उद्देश्य से माता-पिता ने स्कूल में भर्ती करवाया तो वे मन लगा कर पढ़ने लगे । श्रम और अध्यवसाय मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है । परिस्थितियाँ और वातावरण दुष्प्रभाव न डाले तो इन गुणों का समुचित विकास होता चलता है । पिता को परिवार के निर्वाह-योग्य उपार्जन के लिये कठोर परिश्रम करना पड़ता था । साथ ही वे समय-समय पर अपने लाड़ले को भी समझाते रहते कि यदि वह पढ़-लिख गया तो सुख-चैन से जियेगा । प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर उन्हे वह अनुकूल वातावरण मिला जिसमें व्यक्तित्व की नींव श्रम और पुरुषार्थ से भर जाती है ।

हरिसिंहगौर मैट्रिक की बोर्ड परीक्षा में प्रांत भर मे सर्वोच्च स्थान पर आये । उनकी प्रतिभा और लगन को प्रोत्साहित करने के लिए शिक्षाधिकारियों ने शिष्य-वृत्ति दी । इण्टर में भी वे इसी उच्च योग्यता से सफल हुए । उनके बड़े भाई भी इसी प्रकार प्रगति कर उच्च पदो तक पहुँचे थे ।

इण्टर पास कर लेने के बाद अपने अग्रज के सहयोग से वे १८८९ ई. में बैरिस्टर बनने के लिए विदेश गये । यात्रा का प्रबन्ध होना तो कोई मुश्किल बात नहीं थी । मुश्किल था इंग्लैण्ड के खर्चीले जीवन में अपने निर्वाह और अध्ययन दोनो के लिए समय और श्रम लगाना । कम खर्च मे, सादा जीवन व्यतीत कर वे अपना अधिकांश समय और श्रम अध्ययन मे लगाते रहे । तीनवर्ष तक आत्म-निर्भर रह कर अध्ययन करते हुए उन्होंने १८९२ मे कानून की डिग्री ली थी । इसके बाद उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय से डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की ।

अध्ययन काल के दौरान यद्यपि वे अधिकतर अपने कमरे और निवास स्थान पर ही रहते थे । फिर भी अन्य अनिवार्य कार्यों के लिए उन्हें जब भी अँग्रेजों के सम्पर्क में आना पड़ा तो बड़ा हताश होना पड़ा । कारण था अँग्रेज-युवकों और नागरिकों का भारतीयों के प्रति दुर्व्यवहार । जैसा कि आरम्भ में लिखा गया है वहाँ की सरकार ने भारतीयों की जो तस्वीर ब्रिटेनवासियों के सामने रखी थी । वह बेहद गिरी हुई और हीनस्वरूप की प्रतीक थी । जगली और असभ्य समझने के कारण अँग्रेजनागरिक भारतीयों से अपमानजनक व्यवहार करते थे ।

मूल्यों का प्रतिपादन किया । एक अर्थ में गीता राष्ट्रीय-पुनर्जागरण का प्रेरणा ग्रन्थ बन गई थी । मातृभूमि की रक्षा के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की अद्भुत प्रेरणा गीतोपदिष्ट तत्वज्ञान ने प्रदान की ।

भाईजी ने इसी महत्ता को देखकर 'साहित्य संवर्द्धिनी समिति' की स्थापना की और नयी सजधज के साथ रौद्र रूप भारत-माता के चित्र सहित गीता का प्रकाशन किया । उस समय के ही धर्मप्रेमी सद्गृहस्थ विद्वान श्रीजयदयालजी गोयंदका के सम्पर्क में आने से इनकी गीता-निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी । आगे चलकर इन दोनों महामानवों ने 'गीता-प्रेस' की स्थापना के पश्चात् गीता का व्यापक प्रचार किया ।

उन दिनों अरविंद और गाँधी सरीखे महापुरुषों के हाथ में मुक्ति-संग्राम की बागडोर थी । गाँव-गाँव में क्रांति का सन्देश लिये जन-नेता पहुँच रहे थे और कांग्रेस ने भी अपना लक्ष्य स्वतन्त्रता घोषित कर दिया था । भाईजी भी अपनी आत्म-प्रेरणा से स्वतन्त्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाने लगे और कांग्रेस के कार्यक्रमों का प्रचार करने लगे । उस समय के शिखरस्थ कांग्रेसी नेताओं—महात्मागांधी, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय आदि से भाईजी का निकट सम्बन्ध था । परिणामस्वरूप सरकार की पैनी दृष्टि से ये भी अछूते नहीं रहे ।

क्रान्तिकारियो से सम्बद्ध होने तथा उनकी गतिविधियों में भाग लेते रहने के कारण सन् १९१४ में उन्हें बंदी बना लिया गया । राजद्रोह का मुकदमा चला और उन्हें कारावास भेज दिया गया । समाजसेवा, सत्संग और राजनीति में व्यस्त रहने के कारण वे व्यापार पर ध्यान नहीं दे पाते थे । घाटा होने लगा और धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति शोचनीय बन गयी । विवश हो दुकान बन्द करनी पड़ी । अध्यात्म-निष्ठा के कारण इस विपन्न-स्थिति में भी उन्होने मानसिक सन्तुलन नहीं खोया । परिवार की चिन्ता तो थी ही, भरण-पोषण के लिए अपेक्षित साधनो का अभाव और विवश स्थिति—ऐसी दशा में अनायास ही आस्तिकजनो को परमात्मा का स्मरण हो आता है ।

जेल के यातनापूर्ण जीवन में इन्होने विश्वासपूर्वक नियमित उपासना का क्रम बनाया । इधर सरकार ने डुराण्डा और अलीपुर जेल में क्रमशः रखने के बाद अभियोग सिद्ध करने के लिए ठोस आधार और साक्ष्य एकत्रित नहीं कर पायी । इसलिए इन्हें शिमलापाल भेजकर नजर बन्द रखा गया । शिमालापाल में उनकी मनोभूमि का परिष्कृत होना आरम्भ हुआ । उनके व्यक्तित्व की महानता सुदृढ़ आधार यहीं बना । राजनीतिकबन्दी होने के कारण उन दिनो अन्य शुभचिन्तक तो क्या सगे-सम्बन्धी भी मुँह फेर लेते थे । फिर भी घर की देखरेख श्री जयदयाल गोयंदका तथा अन्य लोग करते । उस समय की सहानुभूति के प्रति भाईजी आजीवन कृतज्ञ बने रहे ।

डॉ. गौर ने यहाँ अच्छी तरह अनुभव किया कि सम्मान और आदर न मिलने का एकमात्र कारण देश की पराधीनता है। जैसे-तैसे अपनी अभीष्टपूर्ति के लिए आवश्यक दिन गुजार कर डॉ. गौर भारत लौट आये। तत्काल प्रैक्टिस चलना सम्भव नहीं था। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उन्होने शासकीय सेवा मे जाना ठीक समझा। प्रयत्न करने पर वे भंडारा (महा.) जिले मे ए. ई. सी. के पद पर नियुक्त हो गये। कुछ समय तक उन्होने इस पद पर रह कर अच्छा काम किया, परन्तु यहाँ भी उसी स्थिति का सामना करना पड़ा। अँग्रेज लोग हीन समझ कर व्यवहार करने के साथ-साथ भारतीयों को अयोग्य और असभ्य भी समझते थे। अधीनस्थ अधिकारियों की योग्यता पर विश्वास न होने के कारण अँग्रेज उन्हे कोई दायित्वपूर्ण कार्य नहीं सौंपते थे।

इस धारणा को तोड़ने के लिए डॉ. गौर ने एक बार अपने उच्च अधिकारी से ऐसा ही जिम्मेदारी वाला कार्य करने का उत्साह दर्शाया। उस काम में किसी दक्ष अँग्रेज के न होने से विलम्ब हो रहा था। तब उक्त अफसर ने मना करते हुए कहा—"तुम भारतीय कोई भी काम ठीक ढंग से नही कर सकते।"

अफसर की यह गर्वोक्ति सुनकर डॉ. गौर को गुस्सा तो आया। परन्तु उन्होने बड़े संयत शब्दो मे कहा—"सर यह आपका गलत विचार है। हम लोग कोई भी कार्य उतनी ही कुशलता से कर सकते हैं जितने कि अन्य और।"

अफसर को सन्तुष्ट करना मुश्किल था। उसने दो चार बाते और कही। जिस पर डॉ. गौर ने कह ही दिया—"यदि हम कोई काम नहीं कर सकते तो फिर इन पदो पर क्यो नियुक्त किया जाता है।"

"केवल मेहरबानी और अपनी सुविधा के लिए"—अधिकारी बोला। डॉ. गौर को यह बात चुभ गयी। उन्होने तुरन्त अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और कहा कि—"मुझे केवल मेहरबानी समझकर दिये गये अधिकारो का उपयोग नहीं करना है।"

अँग्रेज अधिकारियो पर तो हरिसिंहगौर की इस प्रतिक्रिया का कोई असर नही हुआ। परन्तु उनमे एक स्वतन्त्र-चेतना जागी।

वे वकालात करने लगे। प्रतिभा तथा श्रम लगन से किये गये कौन से कार्य असफल होते है। किञ्चित विलम्ब भले ही हो जाय लेकिन उनकी सफलता के बारे में बिल्कुल भी सदेह नहीं किया जा सकता।

स्वतन्त्रबुद्धि से इस क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ-साथ उन्होने दासता की उन जड़ो को भी खोदना आरम्भ किया जो भारत के स्वरूपचित्र पर गहराते काले धब्बों के रूप मे दुनिया के सामने उभरती जा रही थीं। इसके लिए उन्होने भारत के प्राचीन-साहित्य और गौरव को सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित करने का कार्य हाथ में लिया। ताकि लोग सदियों की भोगी हुई दासता से जमीं सामाजिक कुण्ठाओं को साफ करने में स्वयं को सक्षम समझने लगे। पुरातन भारतीय-संस्कृति के अन्धकार में पड़े उन पक्षो के शोध और साहित्य के माध्यम द्वारा लोगो को अवगत कराया। दी स्पाइट ऑफ बुद्धिज्म, सेवन लाइन्ज, रेण्डम राइजम, दि स्टेपिंग वेस्ट वर्ड—आदि अँग्रेजी और हिन्दी की रचनाएँ उनकी प्रधान कृतियाँ हैं। जो एक पक्ष का भ्रम और दूसरे की हीनता बोध तोड़ने में बहुत सफल हुईं।

वकालत का व्यवसाय करते हुए भी उन्होने साहित्य, कानून और धर्म से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण-ग्रन्थो की रचना कर अनुपम आदर्श उपस्थित किया है। वकालत भी कोई साधारण नहीं चलती थी। रायपुर, नागपुर, कलकत्ता, रंगून और लाहौर तक देश के चारो कोनो मे डॉ. हरिसिंहगौर अपनी अपनी प्रैक्टिस सफलतापूर्वक चलाते रहे। दूर-दूर तक उन्हे बड़े जटिल-जटिल मामलों को सुलझाने के लिए जाना पड़ता। प्रीवी-कौंसिल में भी उन्होने कई मुकदमो की पैरवी की। इतने व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने साहित्य, शिक्षा और देश सेवा के लिए पर्याप्त समय निकाला।

कानून सम्बन्धी अधिकांश पुस्तकें विभिन्न मुकदमो में विधिशास्त्र के अध्ययन का ही निष्कर्ष थीं। रायपुर के जमीदार का दीवानी मुकदमा हल करने के लिए उन्होने उस विषय का गहरा अध्ययन किया तो—"लॉ ऑफ ट्रान्सफर ऑफ प्रोपर्टी एक्ट"—ग्रन्थ सामने आया। इसी प्रकार भारतीय-दण्ड-संहिता का तुलनात्मक विवेचना हिन्दू विधिविधान आदि तीन हजार से भी अधिक पृष्ठों के विवेचन-ग्रन्थ उनके ऐसे ही अध्ययन और अनुभवो के परिणाम हैं।

देशसेवा का कार्य धीरे-धीरे अन्य कार्यों से उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण बनता गया। वे वकालत मे कम स्वातन्त्र्य आन्दोलनो तथा सेवा-प्रवृत्तियों की ओर अधिक आकृष्ट होते गये। सन् १९१४ मे उन्होने सी. पी. एण्ड ए. प्रांतीय-राजनैतिक-सम्मेलन की अध्यक्षता की। बाद मे वे भण्डारा नगरपालिका के अध्यक्ष भी रहे। कानूनो को न तोड़ कर स्वाधीनता प्राप्ति के लिए संघर्ष करने में उनका विश्वास था। इस नीति को कार्यान्वित करते हुए भी उन्होने अपने कई साथियो से राजनीति की अधिक और अच्छी सेवाएँ कीं।

सन् १९१८ मे जब सारे देश में इन्फ्लुएन्जा फैला तो वे अपनी सारी गतिविधियाँ समेटकर मानवता की सेवा मे जुट गये। डॉ. गौर सन् १९२१ से ३५ तक सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली के सदस्य भी रहे। भारतीय-स्वतन्त्रता के बाद उन्होने राजनीति में भाग न लेते हुए अपने उत्साह और अभ्यास को सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा मे जिस प्रकार नियोजित किया—वह उनकी महानता का सदैव स्मरण दिलाता रहेगा। २१ दिसम्बर सन् १९४९ को उनका देहान्त हो गया। वे नहीं रहे परंतु उन्होने जो मार्ग-प्रदीप्त किया वह युगों-युगों तक उन्हें अमर बनाये रहेगा।

समाजसेवी और सद्गृहस्थ संत— हनुमान प्रसाद पोद्दार

भारतीय-समाज में एक भ्रान्त मान्यता है कि आत्मा का विकास परिवार, समाज और उत्तरदायित्वों से मुक्त होने पर ही सम्भव हो सकता है । इन पलायनवादी विचारों के प्रतिपादन ने जनमानस में एक भयजनित अनास्था उत्पन्न कर दी है । धर्म और अध्यात्म के बल पर जीवन का विकास कितना सहज हो जाता है—स्वर्गीय हनुमानप्रसादपोद्दार ने स्वयं को इसके एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया ।

अध्यात्मवाद, कर्त्तव्यविमुख होने का उपदेश नहीं देता वरन् अपने कर्तव्य को तन्मयता से पूरा करने की प्रेरणा देता है । गीता में भगवान्कृष्ण ने कर्म-कौशल को ही योग माना है और पोद्दारजी ने स्वयं के माध्यम से इस योग की अनुपम विवेचना की ।

गीता को भारतीय-संस्कृति का प्रतिनिधि-ग्रन्थ कहा गया है । कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि गीता पढ़कर घर परिवार से उपराम हो जाते हैं । ऐसे लोगों को भाईजी (स्व. हनुमान प्रसाद पोद्दार) ने हमेशा यही कहा—"जिस गीता का सन्देश सुनकर संन्यासी बनने को उद्यत अर्जुन अपने कर्त्तव्य पालन में लग गया था । उसी ग्रन्थ का अध्ययन इतना विपरीत परिणामदायी कैसे हो सकेगा ।"

गृहस्थजीवन के प्रति निष्ठावान तथा समाज की बहुप्रचलित जीवन-पद्धति के अनुकूल रहकर ही सच्ची लोकसेवा की जा सकती है । अध्यात्म मे रुचि लेने वाले व्यक्तियों के प्रति परिजनों के मन में एक आशंका घर कर लेती है कि कहीं वह घर ससार छोड़कर सन्यासी न हो जाय । परिवार पर कोई सामान्य-सी आपत्ति आते ही प्राय: ऐसे अध्यात्मवादी पलायन कर जाते हैं परन्तु श्री पोद्दारजी ने ऐसा नहीं किया । सन् १९१७ में उनकी पत्नी सुबटीबाई और नवजात शिशु दोनों परलोकगामी हो गये । श्रीपोद्दारजी का दाम्पत्य-जीवन अति सुखद और मधुर था । इस मधुरता के प्रवाह में यकायक गतिरोध आने पर वैराग्य होना स्वाभाविक था परन्तु भाईजी ने इस विपत्ति को भी परमात्मा का वरदान माना और उसी निष्ठाभाव से अपने काम में लगे रहे ।

भाईजी उन दिनों राष्ट्रीय-मुक्ति-आन्दोलन मे सक्रिय रहते थे । उस समय जन-जागरण का जो अदम्य वातावरण बनता जा रहा था उसका आधार भी भारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि ही रहा है । भाई जी बचपन से ही आत्मोन्मुख हो गये थे । उस समय लगभग सभी आत्मवादियों ने अपनी मुक्ति और आनन्द की अपेक्षा देश को विदेशी दासता से मुक्त कराने की आवश्यकता को समझा था । देश-भक्ति को धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने में स्वामी विवेकानन्द और महर्षि अरविंद का अपूर्व योगदान रहा था । गीता के आधार पर इन्हीं महामानवो ने उच्च-जीवन मूल्यों का प्रतिपादन किया । एक अर्थ में गीता राष्ट्रीय-पुनर्जागरण का प्रेरणा ग्रन्थ बन गई थी । मातृभूमि की रक्षा के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की अद्भुत प्रेरणा गीतोपदिष्ट तत्वज्ञान ने प्रदान की ।

भाईजी ने इसी महत्ता को देखकर 'साहित्य संवर्द्धिनी समिति' की स्थापना की और नयी सजधज के साथ रौद्र रूप भारत-माता के चित्र सहित गीता का प्रकाशन किया । उस समय के ही धर्मप्रेमी सद्गृहस्थ विद्वान श्रीजयदयालजी गोयंदका के सम्पर्क में आने से इनकी गीता-निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी । आगे चलकर इन दोनों महामानवों ने 'गीता-प्रेस' की स्थापना के पश्चात् गीता का व्यापक प्रचार किया ।

उन दिनों अरविंद और गाँधी सरीखे महापुरुषों के हाथ में मुक्ति-संग्राम की बागडोर थी । गाँव-गाँव में क्रांति का सन्देश लिये जन-नेता पहुँच रहे थे और कांग्रेस ने भी अपना लक्ष्य स्वतन्त्रता घोषित कर दिया था । भाईजी भी अपनी आत्म-प्रेरणा से स्वतन्त्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाने लगे और कांग्रेस के कार्यक्रमों का प्रचार करने लगे । उस समय के शिखरस्थ कांग्रेसी नेताओं—महात्मागाँधी, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय आदि से भाईजी का निकट सम्बन्ध था । परिणामस्वरूप सरकार की पैनी दृष्टि से ये भी अछूते नहीं रहे ।

क्रान्तिकारियों से सम्बद्ध होने तथा उनकी गतिविधियो में भाग लेते रहने के कारण सन् १९१४ में उन्हे बंदी बना लिया गया । राजद्रोह का मुकदमा चला और उन्हे कारावास भेज दिया गया । समाजसेवा, सत्संग और राजनीति में व्यस्त रहने के कारण वे व्यापार पर ध्यान नहीं दे पाते थे । घाटा होने लगा और धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति शोचनीय बन गयी । विवश हो दुकान बन्द करनी पड़ी । अध्यात्म-निष्ठा के कारण इस विपन्न-स्थिति में भी उन्होंने मानसिक सन्तुलन नहीं खोया । परिवार की चिन्ता तो थी ही, भरण-पोषण के लिए अपेक्षित साधनों का अभाव और विवश स्थिति—ऐसी दशा मे अनायास ही आस्तिकजनो को परमात्मा का स्मरण हो आता है ।

जेल के यातनापूर्ण जीवन में इन्होंने विश्वासपूर्वक नियमित उपासना का क्रम बनाया । इधर सरकार ने डुराण्डा और अलीपुर जेल में क्रमशः रखने के बाद अभियोग सिद्ध करने के लिए ठोस आधार और साक्ष्य एकत्रित नहीं कर पायी । इसलिए इन्हे शिमलापाल भेजकर नजर बन्द रखा गया । शिमालापाल में उनकी मनोभूमि का परिष्कृत होना आरम्भ हुआ । उनके व्यक्तित्व की महानता सुदृढ़ आधार यहीं बना । राजनीतिकबन्दी होने के कारण उन दिनो अन्य शुभचिन्तक तो क्या सगे-सम्बन्धी भी मुँह फेर लेते थे । फिर भी घर की देखरेख श्री जयदयाल गोयंदका तथा अन्य लोग करते । उस समय की सहानुभूति के प्रति भाईजी आजीवन कृतज्ञ बने रहे ।

कारावास में वृत्तियों का अन्तर्मुखी हो जाना—भाईजी ने सबसे बड़ी उपलब्धि माना । इस विपत्ति को भी वरदान रूप में देखकर परमात्मा की सहृदयता पर अटल विश्वास जम गया । भगवत्प्रेम—इनके जीवन का प्रमुख ध्येय बना जो परवर्ती जीवन में लोक-सेवा और अध्यात्म प्रचार रूप में समानान्तर बहा ।

पौने दो वर्ष बाद इन्हें बन्दी-गृह से रिहा कर दिया । कमजोर आर्थिक स्थिति और राजकोप के भय से सगे-सम्बन्धी भी भाई जी की कोई सहायता नहीं करते थे । उनके वापस लौटने की खबर सुनकर सेठ जमनालाल बजाज ने इन्हें बम्बई बुलाया । सेठजी से इनका घनिष्ट परिचय नहीं था । एक बारात में ही इनकी भेंट हुई थी । इस अकल्पनीय सहायता भाव को भाईजी ने भगवत्कृपा समझी और बम्बई चले गये ।

वे बम्बई में भी राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय भाग लेते हुए समाज-सुधार में भी लगे तथा अनेक विध होने वाली सामाजिक कुरीतियों में वृद्ध विवाह को रोकने के लिए बहुत प्रयत्नशील रहे । अनेक वृद्ध काम लोलुपों के हाथों कई युवतियों का जीवन और भविष्य नष्ट होने से बचाया । एक बार की घटना है । एक प्रतिष्ठित और धनवान् मारवाड़ीवृद्ध पैसों के बल पर किसी युवती से विवाह कर रहा था । समाज में दबदबा होने के कारण कोई उसका विरोध भी नहीं कर रहा था । भाईजी को जब इसकी सूचना मिली तो कुछ साथियों को लेकर वे वहाँ पहुँचे । कोर्ट में बड़े दिनों की छुट्टियाँ चल रही थीं । वे 'इन्जक्शन-आर्डर' करवाने के लिए स्वयं मजिस्ट्रेट के घर गए और विवाह रुकवाने के लिए लड़की के माँ-बाप तथा उन वृद्ध महाशय को पकड़वाया । यद्यपि भाईजी पर प्राचीनता के प्रबल संस्कार थे फिर भी जहाँ कहीं अनाचार होता उसके विरोध में स्वयं को झोंक देते ।

समाज-द्रोही तत्वों के प्रति इतना कड़ा रुख अपनाने वाले पोद्दार जी दीन-दुखियों और विपत्ति-ग्रस्तों के लिए वे सचमुच 'भाईजी' के ही समान थे । वे अपने स्नेहशील और सेवापरायण स्वभाव के कारण इतने लोकप्रिय हो गये कि गरीब-अमीर, छोटे-बड़े, आस्तिक-नास्तिक सभी इन्हें अपना 'भाई' मानने लगे । 'भाईजी' का नामकरण भी इनके इसी मृदुल स्वभाव के कारण हुआ । सभी व्यक्तियों के प्रति एक ही प्यार एवं आत्म-भाव के कारण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्रीलाल याज्ञिक इन्हें 'भाईजी' कहने लगे । धीरे-धीरे यह नाम 'पोद्दारजी' तथा 'हनुमानप्रसादजी' से भी अधिक प्रचलित हो गया । जो भी इनके सम्पर्क में आता, अपने हृदय में भाई का सान्निध्य अनुभव करता । भाई शब्द की व्यंजना सुहृदय के अर्थ में हुई है । गीता के 'सुहृदं सर्व भूतानां'—को भाईजी ने अपने जीवन में पूरी तरह उतारा था ।

अध्यात्मनिष्ठा के जो बीज शिमलापाल के बन्दीग्रह में अंकुरित हुए थे, वे बम्बई में विकसित हुए । उनके बम्बई-जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि-'कल्याण' का प्रवर्तन है । धर्मनिष्ठा जाग्रत करने के लिए उन्होंने एक ऐसे साधन की आवश्यकता अनुभव की जिसके माध्यम से धर्म-दर्शन को जनसुलभ बनाया जा सके । सबके सुख की चिन्ता रखने वाले स्वयं कभी चैन की नींद नहीं ले पाते हैं । भाईजी सबके सुहृदय थे ही । अस्तु, दिन-रात वे दुखी लोगों को सुखी बनाने के उपाय ढूँढ़ा करते । यह एक प्रकार से उनका अन्वेषण था और उन्होंने पाया कि धर्म का मार्ग ही सुख की उपलब्धि कराता है । अतएव मनुष्य मात्र को सुखी बनाने के लिए सर्वप्रथम धर्म के प्रति आस्थावान् होना अनिवार्य है । 'कल्याण' का प्रकाशन भी इसी लक्ष्य को सामने रखकर किया था ।

पारिवारिक-जीवन से उपराम होते हुए भाईजी का अधिकांश समय लोकसेवा और 'कल्याण' की उन्नति में लगने लगा । उन्होंने पाया कि व्यापारिक-जीवन से इस काम में बाधा होती है । निर्वाह की व्यवस्था तो आसान है इसलिए अपने व्यापारिक-जीवन की इतिश्री कर दी और अहर्निश लोकसेवा में ही लग गये ।

बम्बई के व्यस्त और भीड़ भरे वातावरण में भाईजी का मन ऊबने लगा । सेठ जयदयाल गोयदंका ने भाईजी को गोरखपुर आकर 'कल्याण' के प्रकाशन का आमन्त्रण दिया । वे बम्बई छोड़कर गोरखपुर आ गये और अन्त समय तक यहीं रहे । उनके मन में गंगा तट पर रहने और भजन-पूजा करने की इच्छा भी हुई पर इस एकांगी लालसा को दमित कर आजीवन इस धर्म यज्ञ के ऋत्विज बने रहे ।

भाईजी ने केवल 'कल्याण' के माध्यम से ही लोकसेवा नहीं की वरन् अभावग्रस्त और प्राकृतिक प्रकोपों के शिकार लोगों की सहायता के लिए भी उन्होंने जो कुछ किया उससे उनकी महानता और भी निखर उठती है । सन् १९२५ में बिहार में भूकम्प आया । हजारों घर बरबाद और लाखों स्त्री-बच्चे अनाथ हो गए । असंख्यों का हँसता-खेलता जीवन मुरझा गया । भाईजी ने एक सेवा-समिति का तत्काल गठन किया और लोगों को इस पुनीतकार्य में जुट जाने का आह्वान किया । स्वयं दिन रात सहायताकार्यों में लगकर उन्होंने हजारों लोगों के आँसू पोंछे ।

उसी वर्ष गोरखपुर जिले में भीषण बाढ़ के कारण प्रकृति की ताण्डव लीला हुई । भाईजी अपने सहयोगी, साथियों के साथ सेवा के लिए पहुँच गये । इसी प्रकार क्रमशः राजस्थान और बंगाल में पड़े अकाल, सन् ४२ में द्वितीय-विश्व-युद्ध में भाग कर आये यात्रियों आदि की सेवा की । भगवत्प्रेम का प्रकटरूप लोकसेवा ही है । भाईजी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व इस आदर्श का अनुपम उदाहरण है ।

सन् १९४५ में अँग्रेजी-शासन ने हिन्दू कोड-बिल पास किया जिसके अनुसार भारतीय-परिवार व्यवस्था पर मर्माघात हुआ । संयुक्तपरिवारों की आदर्श-व्यवस्था का विघटन इसी विधेयक से हुआ । भाईजी ने इस विधेयक का सशक्त विरोध किया ।

इसी प्रकार भारतीय-संस्कृति में गाय की महत्ता के र्मिक-आधार को लेकर ही उससे होने वाले आर्थिक लाभों विश्लेषण कर गोहत्या बन्द कराने के लिए देशभर में न्दोलन छेड़ा। गाय के धार्मिक ही नहीं आर्थिक-महत्त्व का सुलझा हुआ प्रतिपादन पढ़-सुनकर बड़े-बड़े अर्थशास्त्री दंग जाते थे।

उन्हें धर्मप्रचारक, संस्कृति-संरक्षक या क्रान्तिकारी कुछ कहा जाय वे मूलतः एक समाज-सेवी और सद्‌गृहस्थ-सन्त । उनकी सादगी एवं सरलता देखते ही बनती थी। नुशासनप्रियता उनके जीवन में कूट-कूट कर भरी थी।

"क्यों हम लोगों को विलम्ब नहीं हो रहा है ? पसीने तर-बतर तो हम सब भी हैं, पर कुछ बोलना व्यर्थ ही !" इस तरह के विरोध की मन्द ध्वनि श्री भाईजी (श्री नुमान प्रसादजी पोद्दार) के कानो तक भी जा पहुँची। वेद-कणो से भरा मस्तक, अत्यधिकश्रम से श्रान्त शरीर, छड़ी सहारे उठते हुए चरण क्षणार्द्ध में वहीं ठहर गये। श्री ाईजी उस पंजाबी नवयुवक की ओर बढ़े और स्नेह से कुछ ोलना ही चाहते थे कि गीता-भवन के उत्साही सत्संगियों न्होंने अपनी निःस्वार्थ सेवाएँ अपने प्रवास के समय में ीता-भवन को अर्पित कर रखी थीं, एक साथ ही बोल ठे—'आप जानते हैं, ये कौन है ?'—स्वर तीखा था और श्न भी टेढ़ा।

'होंगे कोई, हमसे क्या, पर जब सब पंक्ति (लाइन) से जा रहे हैं, तब इन्हें क्रम यह सुविधा क्यों दी जाती है ?' ंजाबी नवयुवकों का स्वर भी तीखा हो चला था !

जबान सँभालकर बोलिए, नहीं तो

"नहीं-नहीं, ये ठीक ही तो कह रहे हैं, व्यवस्था तथा क्रम की दृष्टि से यही उचित है।"— स्नेह-मिश्रित स्वर मे श्रीभाईजी बोल उठे।

पंजाबी नवयुवक भी असमंजस में पड़ गये; उन्हें भी सोचने के लिए विवश होना पड़ा कि आखिर बात क्या है ? इसी बीच भाईजी मन्द-स्मित के साथ उनमें से एक नवयुवक के कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले—"आप जाइये; मैं अब पंक्ति से आकर ही बोट मे बैठूँगा।" और उसी स्मित के साथ वे पीछे लौट पड़े पंक्ति में खड़े होने के लिए।

उस रात्रि को श्री भाईजी गीता-भवन में प्रवचन करके आसन से उठ ही रहे थे कि अचानक श्रोताओं के विशाल-समुदाय मे से वे ही नव-युवक सामने आ उपस्थित हुए; लज्जा के कारण उनके मस्तक झुके हुए थे, पश्चात्ताप का परिताप उनके मुख पर छाया हुआ था—"हमे क्षमा कर दीजिये हम लोगो ने आपको पहचाना नहीं था। हमारे कारण दोपहर में आपको डेढ़ घन्टे धूप में प्रतीक्षा करनी पड़ी"—रुद्ध कण्ठ से समवेत क्षमा-याचना का स्वर फूट पड़ा।

"नहीं-नहीं इसमें क्षमा की क्या बात है ? आप सबने तो मेरी भूल को ही सुधारा है। क्षमा तो मुझे माँगनी चाहिये।" नवयुवकों से श्रीभाईजी ने कहा।

श्रीरंगम रामस्वामी श्रीनिवास राघवन राष्ट्रदेवता व राष्ट्रभाषा के नैष्ठिक उपासक

पत्नी ने जब गृहकार्य से अवकाश पाया तो पति मोदमयीवाणी मे उससे बोले—"देखो लक्ष्मी आज मैं तुम्हारे लिये क्या लाया हूँ।"

उनके इन शब्दों ने पत्नी की उत्सुकता को जगा दिया। उसकी कल्पना में एक साथ कई वस्तुओं के चित्र उभर आये। कोई सुन्दर-सी साड़ी या अन्य वस्त्र या कोई मनभावन आभूषण या कोई अन्य उपहार ऐसा ही कुछ लाये होंगे, वे। किंतु, जब उपहार देखा तो वह यकायक हँस पड़ी, देखा यह तो हिन्दी की वर्णमाला की एक छोटी-सी पुस्तक थी। जब उसकी हँसी थमी तो बोली—"आप भी विचित्र हैं। इस पुस्तक का मैं क्या करूँगी ? यह तो उत्तर-भारत की किसी भाषा की पहली पुस्तक है, बच्चो के पढ़ने की। क्या मुझे छोटी बच्ची समझ रखा है। विचित्र उपहार लाये है आप मेरे लिये।"

"हाँ। यह हिन्दी-भाषा की ज्ञान की पुस्तक है। मैं तुम्हारे लिये ही लाया हूँ। विद्या ही तो सच्चा भूषण है। मेरा यह उपहार किसी स्वर्णाभूषण से कम नहीं है। रही बालिका होने की बात सो हिन्दी ज्ञान में तो तुम बालिका ही हो ! मैं तुम्हे एक बालिका की तरह ही पढ़ाऊँगा।"

पति की अर्थपूर्ण बात पत्नी समझ गयी। पति-पत्नी के बीच मात्र पारिवारिक या घर गृहस्थी के दायित्वो का ही तो रिश्ता नहीं होता ? वहाँ तो पारस्परिक मानसिक व आत्मिक परिचय की गहनता भी तो होती है। वह पति की हिन्दी-निष्ठा से अनभिज्ञ नहीं थी। हिन्दी-सेवा के अभियान का श्री गणेश वे उसी से करना चाहते हैं। यह तो अच्छी बात ही है। वह सहमत हो गयी। थोड़े ही समय की सम्मिलित-साधना से राजलक्ष्मी न केवल स्वयं हिन्दी पढ़ना सीख गयी, वरन् दूसरों को पढ़ा सकने की योग्यता भी उसने अर्जित कर ली थी।

अपनी पत्नी को इस प्रकार अपने महान उद्देश्य में सम्मिलित करने वाले यह व्यक्ति और कोई नहीं दक्षिण-भारत में पैदा होकर भी हिन्दी-भाषा के प्रचार-प्रसार अनूठा योगदान देने वाले हिन्दी-भक्त श्रीरंगमरामस्वामी श्रीनिवासराघवन थे जो बाद मे राघवनजी के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने स्वयं ही नहीं वरन् उनके सारे परिवार ने राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार प्रसार के लिये बड़ा श्रम किया।

श्रीराघवन का जन्म सन् १९०० मे बैंगलौर के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता मैसूर-राज्य के

जाने माने वकील थे । दक्षिण-भारत के अन्य लोगों की तरह उनका यह परिवार भी हिन्दी विरोधी था । इस विरोध के अपवाद निकले श्रीराघवन ।

राघवन दोवर्ष के ही थे कि पिता का देहावसान हो गया । माता की छत्रछाया में, ज्येष्ठभ्राता की देखरेख मे वे बड़े हुए । परिश्रमी तो बचपन से थे ही । शिक्षित-परिवार मे उत्पन्न होने के कारण विद्याध्ययन की ओर लगाव आरम्भ से ही रहा । खूब मेहनत से पढ़ते इस कारण छात्र-वृत्तियाँ भी खूब पाते थे, परन्तु वे उस धन का उपयोग अपने निर्धन सहपाठियो की आर्थिक-सहायता करने में ही किया करते थे ।

त्रिचनापल्ली के सेंटजोसफकॉलेज से एम. ए. करने के बाद उन्होंने मद्रास कॉलेज के लॉ विभाग में प्रवेश लिया । उस समय तक स्वतन्त्रता-आन्दोलन की दावाग्नि सारे भारत मे फैल चुकी थी । तो वे इस आग से बचे कैसे रह सकते थे । भला, युग की पुकार को कोई जीवित, जाग्रत-आत्मा अनसुनी कर सकता था ? सो वे भी न कर सके । उन्होने कॉलेज छोड़ दिया और असहयोग-आन्दोलन मे भाग लेने लगे—स्वतन्त्रता व स्वदेशी का प्रचार करने लगे । इस कारण उन्हे आर्थिक कष्ट भी सहने पड़े । बीच मे पारिवारिक आवश्यकताओ से प्रेरित हो वे असहयोग पथ से कुछ दिनों के लिये विचलित हो, लेखा विभाग मे नौकरी करने लगे पर वे अधिक दिनों तक आत्मा की आवाज को ठुकरा न सके । थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने वह पद त्याग दिया और देश-सेवा में जुट गये ।

उन्होंने मैसूर-राज्य में कॉंग्रेस-कमेटी की स्थापना की और उस अभजगे क्षेत्र में जागरण का शंख फूंका । इन्हीं दिनों उन्होंने राष्ट्रीय-शिक्षण-संस्थान को जन्म दिया । इस संस्थान को सैकड़ो देशभक्त उपजाने का श्रेय मिला ।

वे मात्र राजनीतिक-आन्दोलन तक ही सीमित नही रहे वरन् उन्होंने समाज-सुधार का कार्य भी हाथ में लिया । उनके द्वारा सम्पादित किये समाज सुधार के कार्यों में मद्य-निषेध विशेष रूप से स्मरणीय है ।

श्रीराघवन को विशेष श्रेय मिला है राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में । उनका यह राष्ट्र-भाषा प्रचार का क्रम व्याख्यानो या समाचार-पत्रों मे लेख लिखने से आरम्भ नहीं हुआ वरन् उन्होने ठोस और रचनात्मक कार्य किये । हिन्दी-प्रचार का कार्य उन्होंने अपने घर से आरम्भ किया । अपनी पत्नी को हिन्दी सिखाकर अपनी सहयोगिनी—सह धर्मिणी भी बना लिया । श्रेय-पथ पर चलने वालों के लिये उनका यह उदाहरण बड़ा ही सटीक मार्गदर्शक है । परिवार बसाया ही इसलिये जाता है कि मानव-धर्म को निभाने के लिये दो सहधर्मी मिलकर एक और एक ग्यारह की शक्ति बन जाएँ । हमारे देश में प्रायः पति ही सामाजिक दायित्व निर्वाह करता है पत्नी केवल घर परिवार व रिश्तेदारी तक हीं सीमित रह जाती है । वस्तुतः यह उसके सहधर्मिणी के अधिकार के प्रति अनधिकार चेष्टा ही कही जाएगी ।

श्री राघवन ने १९४८ में दिल्ली में राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति की एक शाखा स्थापित की और अहिन्दी-भाषी प्रदेशों के भाई-बहिनों को हिन्दी सिखाने का कार्य आरंभ किया । अब तक तो भारत को स्वतन्त्र कराना उनका लक्ष्य था । उसी पूर्ति को लेकर वे असहयोग-आन्दोलन में सक्रिय भाग ले रहे थे । अब स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्र निर्माण का कार्य उन्हें अभीष्ट था सो उन्होने एक भाषा के सूत्र में उत्तर-दक्षिण के बाँधने का महत्त्वपूर्ण काम हाथ में ले लिया ।

उनकी शाखा द्वारा चलाये गये शिक्षणसत्र में पहली बार केवल सात शिक्षणार्थी आये । जिन लोगो को श्रीराघवन के कार्य के प्रति सहानुभूति थी वे यह देखकर बहुत चिन्तित हुए कि राघवन जी बिल्कुल निराश नहीं थे, वे बोले-आज सात शिक्षार्थी आये हैं तो अगले दिनो सत्तर आयेंगे और यह संख्या बढ़ते बढ़ते सात सौ, सात हजार भी हो सकती है । हमें इससे निराश नहीं होना चाहिए । सचमुच आशा के धनी राघवन की यह बात सच होकर रही ।

कुछ ही दिनों में यह छोटा-सा विद्यालय विकसित होकर बड़ा आकार ग्रहण करने लगा । इसके फलने-फूलने के साथ ही उनकी व्यस्तता भी बढ़ गयी साथ ही सहयोगी कार्यकर्ताओं की आवश्यकता भी अनुभव होने लगी । धीरे-धीरे सारा परिवार ही इस पुण्य-कार्य में जुट पड़ा । वे कहीं होते, उनकी पत्नी कहीं शिक्षण करती तो उनके पुत्र अन्यत्र परीक्षाएँ सञ्चालित करने का काम किया करते । किसी राष्ट्र-हितकारी कार्य के लिये सहयोगी उपजाने हों तो पहले परिवार रूपी संस्था अति उपयोगी सिद्ध होती है यदि परिवार का ढंग से निर्माण किया गया हो तो । राघवन जी के इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है ।

उनका कार्य बढ़ा तो पत्राचार के द्वारा हिन्दी-भाषा का शिक्षण दिया जाने लगा । सहयोगियों में भी वृद्धि हो गयी । परीक्षा-केन्द्र स्थापित हुए । दूर दराज के अहिन्दी भाषी नागरिकों को हिन्दी सीखने का अवसर घर बैठे मिल गया । यो वे सहज तैयार नहीं होते थे पर राघवन जी के निष्ठावान सहयोगी कार्यकर्ता उन्हें हिन्दी पढ़ने के लिये तैयार कर ही लेते थे । एक दिन अपनी पत्नी को वर्णमाला की पुस्तक लाकर देने से वर्तमान स्थिति की तुलना करते हुए वे हर्ष विभोर हो उठते ।

अत्यधिक कार्य व्यस्तता के कारण उनके स्वास्थ्य पर भी असर पड़ा उनका शरीर रुग्ण रहने लगा पर आत्मा उतनी ही प्रखर और सशक्त होती चली गयी । उस शक्ति के सहारे वे शरीर को भी खींच ले चले गये । राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति के उत्सवों, आयोजनों व बैठकों में वे कभी अनुपस्थित नहीं रहे । हिन्दी-प्रचार के काम को उन्होंने अपनी इकलौती पुत्री के ब्याह की तरह पूरे रस व दायित्व से सम्पादित किया । उन्हें अपनी अस्वस्थता का भान ही नहीं रहता था ।

उनके शुभचिंतकों, सहयोगियों व मित्रों को उनकी ढलती आयु और छीजते स्वास्थ्य की बड़ी चिन्ता रहती थी। वे बार-बार उनसे काम करने को कहते व आराम करने की सलाह देते किन्तु राघवन जी अपने को गिनी हुई साँसों में से आराम के हिस्से में कुछ भी न देने का निश्चय कर चुके थे। स्वास्थ्य-रक्षा के लिये उन्होंने आराम को नहीं संयम को ही उपयुक्त माना। हिन्दी प्रचार-प्रसार के काम में उन्होंने कभी अपने दुर्बल शरीर व कमजोर स्वास्थ्य को बाधक नहीं बनने दिया।

उनके इन कार्यों को देखते हुए उन्हें राष्ट्रव्यापी सम्मान भी मिला। वे वर्षों तक राष्ट्र-भाषा, प्रचार-समिति के कोषाध्यक्ष रहे। उनकी साध यही रही कि समिति का अपना कोष इतना समृद्ध हो कि वह अपना निजी भवन बना सके। शाखाओं को भी वे आत्म-निर्भर बनकर अपनी स्वायत्तता स्थापित करने के लिये प्रयत्न करने की राय दिया करते थे। उन्होंने अपनी शाखा को पूर्णरूपेण आत्म-निर्भर व स्वायत्तसम्पन्न बनाकर ही दम लिया।

वे दिल्ली की राष्ट्रभाषा सम्बन्धी गतिविधियों के केन्द्र बने रहे थे। कई हिन्दी-सेवी-सस्थाएँ उनके सहयोग मार्ग-दर्शन से लाभान्वित हुई थीं। अनेक हिन्दी पत्रिकाओ को उनसे प्रोत्साहन मिला था। १४ सितम्बर को 'हिन्दी-दिवस' के रूप में मनाने की प्रथा का प्रचलन भी उन्हीं ने किया था। एक अहिन्दी-भाषी-प्रदेश के व्यक्ति द्वारा यो दुराग्रहो से मुक्त होकर सारा जीवन राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा के लिये समर्पित कर देने की यह कहानी भारत के हर हिन्दी-प्रेमी को अपना धर्म याद दिलाने के लिये पर्याप्त है।

२० नवम्बर, १९६६ के दिन माँ हिन्दी के इस सपूत का निधन हो गया। आओ! उनकी चरण रज अपने मस्तक पर लगा हम उनके अधूरे कार्य को पूरा करने मे जुट जाँय और हिन्दी को सच्चे अर्थों मे राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये उनकी तरह उत्सर्ग कर धन्य हो जावे।

राष्ट्र-गौरव—डॉ. आत्माराम

अच्छे नम्बर होते हुए भी युवक को इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम. एस. सी कक्षा में प्रवेश नहीं मिल रहा था। उसने निश्चय किया कि वह दाखिला वहीं लेकर मानेगा परन्तु अपनी बात शिक्षकों से मनवाने के लिए उसने कोई विध्वंसात्मक कदम न उठाया। वह यह बात भली-भाँति जानता था कि मानवीय अन्तःकरण को सौजन्यता, सेवा आदि से प्रभावितकर किसी भी ओर मोड़ा जा सकता है। इसके विपरीत विध्वसात्मक कार्यों से सार्वजनिक-सम्पत्ति का नुकसान होता है। उसने प्रोफेसर के भाषण को कक्षा के बाहर खड़े होकर सुनने का क्रम अपनाया। प्रोफेसर ने एक-दो बार मना भी किया पर ज्ञानपिपासु तथा दृढ़ निश्चयी शिष्य की लगन देखकर अन्ततः उन्हे भी चुप हो जाना पड़ा। यह क्रम लगभग १ महीने तक चला और अन्ततः गुरु को पसीज कर उन्हे कक्षा में लेना ही पड़ा।

जब परीक्षा का परिणाम आया तो सभी यह देखकर चकित रह गये कि जिस विद्यार्थी को दाखिला देने में इतनी आनाकानी की गयी थी उसने ही विश्वविद्यालय मे प्रथम स्थान प्राप्त किया। यही निष्ठाशील युवक आगे चलकर भारत की वैज्ञानिक प्रगति के सूत्रधार डॉ. आत्माराम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

डॉ. आत्माराम का जन्म १२ अक्टूबर, १९०८ को उत्तर-प्रदेश के बिजनौर जिले के पिलाना ग्राम मे हुआ था। इनकी पारिवारिक स्थिति अत्यन्त ही साधारण थी। परन्तु, बचपन से ही माता-पिता ने बालक आत्माराम में अच्छे संस्कार डाले थे। परिणामतः श्रमशीलता, ईमानदारी, सादगी, सज्जनता, विनम्रता, सौम्यता आदि सद्गुणों की अमिट छाप इनके व्यक्तित्व पर पड़ी थी। अपनी इस गुण-संपदा के कारण ही एक साधारण से परिवार का बालक महान्‌वैज्ञानिक बन सका तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे ख्याति पा सका।

अध्ययन-काल में इन्होंने अपनी प्रतिभा, योग्यता तथा सद्व्यवहार से सभी गुरुजनो को मोहित कर लिया अच्छे विद्यार्थियो के साथ सभी की सहानुभूति रहती है आत्माराम को भी उनके गुरु तथा प्रमुख रसायनज्ञ प्रोफेसर धर की कृपा से एक अनुसंधान छात्रवृत्ति मिल गयी। आर्थिक समस्याओ की ओर से निश्चिन्त हो, वे अपने अध्ययन में पूर्णतः जुट गये। आत्माराम ने फोटो-रसायन क्रियाओ का अध्ययन किया तथा १९३६ मे उन्हें डाक्टर-ऑफ-साइन्स की उपाधि मिल गयी।

देश के आर्थिक-संकट को देखते हुए दूरदर्शी डॉ. आत्माराम ने विचार किया कि उद्योगो का विज्ञान से सीधा सम्बन्ध हो, तभी उत्पादन मे अधिकाधिक-वृद्धि हो सकती है तथा वैज्ञानिक ज्ञान का भी देशहित में समुचित उपयोग हो सकेगा। आर्थिक-विकास की गति को तेज करने के लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान के व्यावसायिक-पक्ष पर जोर दिया जाये।

अपने इस विचार को क्रियात्मक-रूप मे ढालने के लिए वे औद्योगिक-अनुसन्धान-कार्यालय के वैज्ञानिकदल मे सम्मिलित हो गये। यहीं पर डॉ. शान्तिस्वरूप भटनागर जैसे मूर्धन्य वैज्ञानिकों के सम्पर्क मे आये तथा उनके ज्ञान और अनुभव का लाभ उठाने का सुअवसर मिला।

अपनी प्रतिभा तथा लगनशीलता से यहाँ भी उन्होने सभी पर अमिट छाप छोड़ी। डॉ. भटनागर भी आत्माराम की वर्चस्वता से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने तभी 'कलकत्ता में केन्द्रीय काँच एवं मृतिका अनुसंधानशाला' की स्थापना की थी। यहाँ का कार्यभार सौंपने के लिए उन्हें किसी योग्य तथा परिश्रमशील व्यक्ति की खोज थी। डॉ. आत्माराम उन्हे इसके सर्वथा उपयुक्त लगे तथा वहाँ का प्रशासन उन्होंने निश्चिन्त होकर आत्माराम को सौंप दिया। इस प्रकार १९४५

मे वे देश की सर्वप्रथम अनुसन्धानशाला मे पहुँच गये । यहाँ पर भी उन्होने एक विचारशील-वैज्ञानिक तथा कुशल प्रशासक के रूप मे अपनी बहुमुखी योग्यता का परिचय दिया । उनकी सेवाओ के फलस्वरूप १९५२ मे वे इस अनुसंधानशाला के निदेशक भी बनाये गये ।

डॉ. आत्माराम की यह हार्दिक इच्छा है कि देश हर क्षेत्र में और विशेषकर औद्योगिक-क्षेत्र में स्वनिर्भर बने जिससे कि विदेशों से सामान मँगाने मे अधिक धन व्यय न करना पड़े । यह केवल उनकी इच्छा मात्र ही नहीं रही अपितु इस ओर उन्होंने सतत् प्रयास भी किये । समांगी काँच (ऑप्टीकल ग्लास) के निर्माण मे देश को आत्म-निर्भर बनाना उनकी एक महान देन है ।

१९५६ के पूर्व भारत-सरकार अन्य विकसित देशो की सहायता से समांगी-काँच का निर्माण भारत मे करना चाहती थी परन्तु विदेशी कम्पनियो की शर्तें अत्यधिक कठिन थीं । अन्ततः १९५६ को कलकत्ता की प्रयोगशाला को यह कार्य सौंपा गया ।

डॉ. आत्माराम ने दो वर्ष तक निरन्तर कठोरश्रम किया । रात-रात भर जग-जग कर उन्होने शोधकार्य किया और अल्पसमय मे ही समांगीकाँच का निर्माण कर दिखाया । विदेशो में इस काँच का परीक्षण करवाने पर पता लगा कि डॉ. साहब की खोज अत्यन्त उच्चकोटि की है । १९६० से ही उनके शोध के आधार पर अपने देश मे समांगीकाँच का निर्माण चल रहा है । इससे देश की सैनिक एवं सार्वजनिक आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाती है तथा इस ओर तनिक भी विदेशी मुद्रा व्यय नहीं करनी पड़ती । यही नहीं, अपितु अब भारत संसार के उन प्रमुख देशो मे से है, जो कि समांगीकाँच का निर्माण करते है ।

काँच-उद्योग के क्षेत्र मे उनकी खोजों का विदेशो मे भी पूर्ण स्वागत हुआ । ब्रिटेन की काँच-उद्योग-संस्था ने अपनी स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर डॉ. आत्माराम की उपलब्धियों का विवेचन करते हुए उन्हे सम्मानित सदस्यता प्रदान की । यह सम्मान विशिष्ट-आदरणीय तथा महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो को ही दिया जाता है तथा कतिपय ही भारतीय इस सम्मान के पात्र बने है ।

डॉ. आत्माराम ने अन्य उद्योगो को भी जन्म दिया । अनुपयोगी अभ्रक से विद्युतरोधी ईंटो का निर्माण, अभ्रक को गीला ही पीसकर समय तथा धन की बचत आदि कार्यों में उन्होंने नयी खोजें कीं । ताम्र-लाल काँच के उद्‌गम से सम्बन्धित उनकी शोध के फलस्वरूप काँच उद्योग को नयी दिशा मिली ।

डॉ. आत्माराम राष्ट्रभाषा-हिन्दी का अत्यन्त सम्मान करते है । उनका मत है कि विद्यार्थियो को मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर ही उनकी मौलिक प्रतिभाएँ सम्यक् रूप से उभर पायेगी । विदेशी-भाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा कभी भी योग्यताओं और प्रतिभाओं का समुचित विकास नहीं कर पाती । डॉ. साहब यह मानते है कि विज्ञान की शिक्षा हिन्दी के माध्यम से बहुत अच्छी तरह से दी जा सकती है । इन्होंने हिन्दी मे अनेक वैज्ञानिक पुस्तके भी लिखी हैं ।

डॉ. आत्माराम की महान् सेवाओ के फलस्वरूप १९५९ में उन्हें पदमश्री के राष्ट्रीय-सम्मान से विभूषित किया गया । इसी वर्ष डॉ. शान्तिस्वरूप भटनागर पदक पाने वाले प्रथमवैज्ञानिक कहलाने का श्रेय इन्हे प्राप्त हुआ । उत्तर प्रदेश की 'वैज्ञानिक-अनुसन्धान-संस्था' का प्रथम पदक पाने का सौभाग्य भी इन्हे मिला । वैज्ञानिक क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण शोधों के कारण आपको बड़ौदा विश्वविद्यालय के के. जी. नायक स्वर्णपदक से भी सम्मानित किया गया ।

इस प्रकार डॉ. आत्माराम यद्यपि साधारण से परिवार मे जन्मे थे तथापि अपनी लगन, ज्ञानप्राप्ति की सतत् पिपासा, देशभक्ति, परिश्रम, ईमानदारी, सादगी, सज्जनता आदि गुणों के कारण भारतीय-वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान-परिषद के महानिदेशक के पद पर पहुँचे । 'सम्पन्न परिवार के सुविधा-साधन युक्त व्यक्ति ही उच्च पद तक पहुँच पाते हैं, लोगो की इस धारणा को उन्होंने निर्मूल सिद्ध कर दिखाया । वास्तव में जिनके अन्दर मानव-समाज के लिए कुछ करने की ललक होती है—वे ही सत्पुरुष हर चुनौती को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ते है तथा अपने कार्य में सफलता भी प्राप्त करते हैं । ऐसे ही व्यक्ति समाज की विभूति बन चिरस्मरणीय रहते हैं ।

वनस्पति-विज्ञान के महारथी—
प्रो. महेश्वरी

अपने-अपने शोध-प्रबन्ध प्रयाग-विश्वविद्यालय को समर्पित करने के पश्चात् शोध-छात्रो ने सुख की साँस ली । अधिकांश ने सोचा चलो छुट्टी हुई अब आराम से जिन्दगी की गाड़ी लुढ़कने लगेगी । ऐसे ही दस-पाँच छात्र कालेज के कामन रूम मे बैठे बातचीत कर रहे थे । एक कह रहा था—"करे भी तो क्या करे ? भारत मे न तो आगे रिसर्च के साधन-सुविधाएँ हैं और न सरकार ही सहयोग देती है ।" दूसरे ने हाँ में हाँ मिलाई "अब तो प्रोफेसर बनकर जिन्दगी सुख से काटो, इन व्यर्थ की चिन्ताओ मे पड़ने से क्या लाभ ।" इनमे से एक युवक को इनका यह दृष्टिकोण अच्छा नहीं लगा । उसने कहा—'क्या भारत मे बसु जैसे वैज्ञानिक नहीं हुए ? उनके पास कौन से साधन थे । सरकार ने उन्हें क्या सहायता दी ?" उसके इस कथन पर सब चौंक पड़े पर यह उत्तेजना थोड़ी ही देर में विलुप्त हो गई । एक बोला—"सब बसु नहीं हो सकते ।"

वह युवक उनकी तरह निराशावादी नहीं था । उसने अपने शोध-कार्य को बहुसंख्यक डिग्रीधारियों की तरह अलमारी में बन्द नहीं किया, न डिग्रियों के बलबूते पर अपनी इस साधना का फल पाना चाहा । वह अपने प्रयासों द्वारा

यह सिद्ध कर देना चाहता था कि संकल्प शक्ति का धनी जो चाहे सो कर सकता है । वह निराशावादियों के सम्मुख आशा का राजमार्ग प्रस्तुत करना चाहता था ।

आगरा कालेज मे वनस्पति-विज्ञान का व्याख्याता नियुक्त होकर उसने कालेज के अधिकारियों से शोध-कार्य के लिए सुविधाओं की माँग की । अधिकारी उसकी इस माँग पर चौंके । वे सामान्य स्तर से ऊपर उठकर सोच ही नहीं पाते थे । उन्होंने इसे झक्की समझा । सुविधा के नाम पर उसे जीव-विज्ञान के कोने में एक कमरा दे दिया । कमरा क्या एक पुराना स्नानगृह था जिसे थोड़ी मरम्मत करके कमरा बना दिया था । ९ फुट लम्बे चौड़े तथा ८ फुट ऊँचे इस कमरे में न ठीक से प्रकाश आता था, न हवा, न धूप ।

युवक उनकी इस संकीर्ण हृदयता पर मन ही मन हँसा । उसने सोचा कि जब तक वह कुछ करके नहीं दिखा देता तब तक लोग उसे मानें कैसे ? यदि वह असहयोग का रोना रोता रहेगा तो कुछ कर पाना सम्भव नहीं होगा । जो कुछ मिला उतना ही नहीं मिलता तो क्या होता ? यह विचार कर वह अपने काम मे जुट गया । प्रबल आत्मशक्ति, श्रम, लगन तथा कर्मनिष्ठा के बल पर उसकी साधना फलने फूलने लगी । शोध पत्रों के माध्यम से उसकी कीर्ति विदेशों मे पहुँची तो बड़े-बड़े वैज्ञानिक चौंक पड़े । यह दृढ़-निष्ठ नवयुवक थे प्रो. पचानन महेश्वरी, जिन्होंने सर.जगदीशचन्द्रबसु की तरह भारत का विश्व में मान बढ़ाया तथा विश्व-मानव को महान अनुदान दिया ।

इनका जन्म जयपुर राजस्थान मे ९ नवम्बर, १९०४ के दिन हुआ । बचपन में इनमें ऐसी कोई विलक्षण प्रतिभा दृष्टिगोचर नहीं होती थी जिससे अनुमान लगाया जा सकता कि यह बालक आगे चलकर अपने जीवन में सराहनीय कार्य करेगा । इनके गुरु डॉ. विनफिल्ड डजन जो एक अमेरिकन मिशनरी थे । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र के रूप में ये उनके सम्पर्क में आये । इस आदर्शवादी-व्यक्ति ने इनके जीवन की दिशा ही बदलकर रख दी ।

युवक पचानन ने देखा कि एक व्यक्ति अमेरिका छोड़कर भारतवर्ष चला आया है । अपनी सब सुविधाओं, भावी-प्रगति के सुअवसरों को छोड़कर । कम वेतन पर भारत को उसने अपना कर्मक्षेत्र बनाया जहाँ वास्तव मे उनकी आवश्यकता थी । एक व्यक्ति ज्ञान-दान के लिये वहाँ से यहाँ आ सकता है तो क्या मैं इतना भावनाहीन हूँ कि मैं अपने देश की भावी पीढ़ी को कुछ दे न सकूँ ।

डॉ. पंचानन महेश्वरी के हृदय मे जब बहुजनहिताय जीवन अर्पित करने की ललक उत्पन्न हुई तो उनके अध्ययन तथा शोध-कार्य मे आश्चर्यजनक प्रगति होने लगी ।

जीवन में महत्त्वपूर्ण अन्वेषण करके ज्ञान-विज्ञान के नवीन पथ प्रशस्त करने की भावना—कुछ देने की लालसा उनके हृदय में हिलोरे लेने लगीं । सेवा-साधक डॉ. डजन ने इस युवक की भावना को समझा तथा उसे कर्म-निष्ठा तथा लगन से ध्येय पथ पर बढ़ने का उत्साह दिलाया । उसकी पीठ थपथपाकर बोले—"बेटा ! सच्चा सुख सेवा में ही मिलता है । चल पड़ो सफलता तुम्हारी बाट जोहती है ।"

प्रो. माहेश्वरी की विज्ञान-साधना की कहानी एक कर्मयोगी के जीवन की गीता है । जीवन में कभी उन्होंने यह नहीं जाना कि छुट्टी का दिन भी होता है । तीन बजे रात को उठ जाना तथा दस बजे से पहले नहीं सोना यह क्रम पूरे जीवन भर उन्होंने निभाया । अध्यापन के समय को छोड़कर उनका शेष समय उनकी प्रयोगशाला मे ही व्यतीत होता था ।

छात्र जीवन में जो चुनौती उन्होंने अपने साथियों को दी थी उन्हें एक पल भी वे विस्मृत नहीं कर सके । ऐसे-ऐसे परीक्षा के क्षण आये पर इनके माथे पर शिकन नहीं आयी । पहला-पहला लाड़ला पुत्र बीमार हुआ । पर्याप्त चिकित्सा तथा सेवा-सुश्रूषा के बाद भी वह बच न सका । उसका दाह कर्म करके लौटे और वे अपनी प्रयोगशाला में आकर अन्वेषण मे डूब गये । मित्र के धैर्य का बाँध टूट पड़ा वह बिलखकर रो पड़ा । इस पर उन्होंने धैर्य बँधाया—"जो हो गया उसे टालना सम्भव नहीं तो रोने से क्या लाभ ।" सच है ऐसे कर्मयोगी ही मनुष्य-जन्म सार्थक कर पाते हैं ।

अध्यापन कार्य से जो वेतन मिलता था । उसमे से अपने तथा अपने परिवार को गरीबों जैसा आहार तथा वस्त्र जुटाने जितना खर्च वे पत्नी के हाथ पर रखते और शेष सब प्रयोगशाला मे लगा देते ।

उनकी सहधर्मिणी शान्ती का प्रो. महेश्वरी से अलग अस्तित्व ही नहीं था । सही अर्थों में वह सहधर्मिणी थी । पति के मिशन मे सहमति ही नहीं पूरा सहयोग भी उन्होंने दिया । सहायक बनकर प्रयोगशाला में काम किया । कभी यह नहीं कहा कि आप इतना वेतन पाते हैं और परिवार के लिए इतना अल्प धन क्यों काम मे लाते हैं ।

प्रो. महेश्वरी ने सिवारों से लेकर फूल-पौधों तक हजारो 'स्लाइडे' बना डाली । उन पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखीं । डेढ़ सौ के लगभग शोध-पत्र प्रकाशित किये । यदि इनके निर्देशन में काम करने वालों के शोध-पत्र सम्मिलित करें तो यह संख्या छह सौ के लगभग होती है । पुष्पों पौधों के ८२ कुलों में भ्रूण-परिवर्धन किया । चन्दन-कुल का भ्रूण वैज्ञानिक अध्ययन जो कठिनतम माना जाता है उसे पूरा करके बड़े-बड़े वनस्पति विज्ञानियों का भ्रम दूर कर दिया ।

भारत मे ही पढ़े तथा भारत में ही शोध करने वाले प्रो. महेश्वरी अपने इन महान कार्यों से विश्व के अग्रिणी वनस्पति-विज्ञानी माने गये । उन्हे अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस आदि देशों ने आमन्त्रित किया तथा इनके ज्ञान से लाभ उठाया ।

परखनली में पराग केसर तथा पुंकेसर का कृत्रिम मिलन करके बीज के निर्माण की सफलता पाने वाले विश्व के प्रथम विज्ञानवेत्ता प्रो. महेश्वरी स्वभाव से बड़े सीधे मृदुभाषी तथा

विनम्र हैं । अपनी सफलताओं पर उन्हें तनिक भी गर्व नहीं साठवीं वर्ष गाँठ पर 'इण्डियन बोटेनिकल' सोसायटी ने इन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया । उसके उत्तर में उन्होंने कहा—"मुझे जो भी थोड़ी बहुत सफलता मिली है उसका श्रेय मेरे गुरु डा. डजन तथा मेरी सहधर्मिणी शान्ति को है ।"

अध्यापन और शोध दोनों क्षेत्रों में उन्होंने पूरा मनोयोग जुटाया । वे आगरा कालेज से छूटकर विभाजन के पहले तक ढाका विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर रहे तदनन्तर दिल्ली विश्वविद्यालय में रहे । अध्यापक के कर्त्तव्य को उन्होंने पूरी तरह निभाया । वनस्पति-शास्त्र की पुस्तकों का अभाव उन्होंने पूरा किया । पहले वाली पुस्तकों में आधार-भूत परिवर्तन करके उन्हें सामयिक बनाया । जो भारत ही नहीं विदेशों में भी पढ़ाई जाती है ।

'फाइटो मार्फोलॉजी' नामक अन्तर्राष्ट्रीय-वैज्ञानिक पत्रिका के वे संस्थापक, सम्पादक रहे । दिल्ली विश्वविद्यालय की पत्रिका 'बोटेनिका' भी उसी स्तर की रही इसके सम्पादक भी आप ही थे । पादप-भ्रूण-विज्ञान के महापण्डित के रूप में सारे विश्व के वैज्ञानिक उनका सम्मान करते थे ।

सन् १९६५ में प्रो. महेश्वरी ने 'नेशनल एकेडमी आफ साइंसेज' के चौतीसवें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में कहा था—"अन्तरिक्षयान, राकेट और चन्द्र-यात्रा की बात सोचने से पहले हम यह विचार करें कि अपने इसी ग्रह की वनस्पतियों, जन्तुओं तथा मनुष्यों का हम क्या उपयोग करें ? इस प्रकार के अनुसन्धान फैशनेबल हैं । हमें विदेशों का अन्धानुकरण नहीं करना है । हमारे सामने अपनी समस्याएँ है—भोजन, स्वास्थ्य, जनसंख्या की । अतः हमें यह देखना है कि भारत की खोजें सही दिशा में हो । हमे आज की नहीं भविष्य की बात सोचनी चाहिए ।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका चिन्तन भारतीय था । वे पश्चिम के अन्धानुकरण के पक्ष मे नहीं थे वरन् वे नवनिर्माण के स्वप्नद्रष्टा थे । उन्हीं स्वप्नों को साकार करने मे उन्होंने अपना श्रम, जीवन, धन तथा अपनी प्रतिभा नियोजित की ।

प्रो. महेश्वरी अनुशासनप्रिय थे । स्वयं भी अनुशासन में रहते थे तथा लापरवाही, आलस्य तथा फूहड़पन उनके किसी काम मे नहीं झलकता था । इसी अनुशासन को वे अपने परिवार जिसमे उनके हजारों शिष्य हैं, में भी देखना चाहते । मरे-मरे, आधे अधूरे मन से काम करने वाले को काम तथा काम करने वाले दोनों का अपमान समझते थे । एक बार उनके दो शिष्य मरी मरी चाल से चल रहे थे । उन्होंने उन्हें अपने पास बुलाया तथा सीना तानकर स्फूर्ति से चलते हुए बताया "देखो ! ऐसे चलते हैं ।"

यह अनुशासन सारे जीवन भर स्वयं पर उन्होंने रखा । आलस्य के दानव को कभी अपने पास उन्होंने फटकने नहीं दिया । एक-एक क्षण का उन्होंने सदुपयोग किया ।

उनका दृष्टिकोण भारतीय-अध्यात्म-प्रणीत था । पेड़-पौधों के बारे में उनका यह कथन इसकी पुष्टि करता है । केवल पौधे ही कार्बन डाइआक्साइड और पानी जैसी साधारण चीजों से भाँति-भाँति की शर्कराएँ तथा माँड आदि खाद्य पदार्थों का निर्माण कर सकते हैं, जिन पर हमारा जीवन निर्भर है । दुनिया के बड़े-बड़े रसायनवेत्ता को सभी प्रकार के यन्त्र और उपकरण दे दो, उत्प्रेरक दे दो, मगर वह कार्बन डाइआक्साइड और पानी से बहुत हुआ तो सोडावाटर ही पैदा कर सकता है ।" वे पेड़-पौधों को मनुष्य से कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे । मनुष्य अपने आपको इतना समर्थ नहीं मान बैठे । अपनी बौद्धिक क्षमताओं का सदुपयोग इस सृष्टि को सुन्दर सुसज्जित करने मे लगाए ।

अपने क्रिया-कलापों तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण द्वारा जहाँ एक ओर भारतीय नवयुवकों के लिए आदर्श प्रस्तुत किया है कि शिक्षा के लिये विदेश जाना आवश्यक है तथा प्रतिभा के विकास तथा वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए भारत में साधन-सुविधाओं का रोना रोकर केवल पेट भरने के लिए डिग्रियों का उपयोग करके रह जाना श्रेयस्कर है या विदेश चले जाना ठीक है । दूसरी ओर वैज्ञानिकों को यह बताया कि पहले धरती पर जो कुछ उपलब्ध है उन्हीं के द्वारा धरती पर स्वर्ग बसाया जाय न कि परमाणु शस्त्रों की होड़ मे मानवता के विनाश-यन्त्रों के निर्माण में वैज्ञानिक प्रतिभा का दुरुपयोग किया जाय, न फैशनेबल आविष्कारों मे धन तथा समय व्यर्थ गँवाया जाय ।

हमारे बीच अब यह महान वनस्पति विज्ञानी नहीं रहे पर उनके व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व के रूप मे वे सदा अमर रहेंगे । विज्ञान के माध्यम से उन्होंने विश्व तथा राष्ट्र की महतीसेवा की है ।

विज्ञान की अमर विभूति—
आचार्य जगदीशचन्द्र बसु

आज से लगभग सौ साल पहले की बात है । ढाका जिले के एक छोटे से गाँव मे एक डिप्टी कलक्टर रहते थे । वे बड़े सीधे-सादे पर धर्म के मामले मे बड़े पक्के थे । उनके परिवार मे पूरा धार्मिक वातावरण था । आँगन मे एक तुलसी का पौधा भी रहता था । रोज सुबह घर की स्त्रियाँ उसकी पूजा करती थीं । उस घर का एक बच्चा बड़ा नटखट था । वह अक्सर तुलसी के पौधे के पास चला जाता और खेल-खेल मे उसके पत्ते तोड़ने लगता । कई बार रात को भी अपनी आदत से बाज नहीं आता था । उसकी माँ उसे तुलसी के पत्ते तोड़ने से रोकती थी । रात को पेड़-पौधों के नीचे जाने से रोकती थी । जब वह ऐसा न करने का कारण पूछता तो उसकी माँ कोई उत्तर नहीं दे पाती । इस तरह बात आई गई हो जाती ।

वह बालक बड़ी ही जिज्ञासु-प्रकृति का था । किसी भी बात को यों ही नहीं मान लेता था । हर बात के बारे में सवालों की झड़ी लगा देता था । अपने सवाल का पूरा और सन्तोषजनक उत्तर पाकर ही उसकी जिज्ञासा शान्त होती थी ।

अगर उत्तर ठीक नहीं मिलता तो उसकी जिज्ञासा और भी बढ़ जाती । वह उसके बारे में लगातार सोचता रहता ।

पेड़-पौधों के बारे में उसके सवालो का बड़े होने पर भी जब ठीक से उत्तर नहीं मिला । तो वह उनके जीवन की खोज मे लग गया । उसकी दृष्टि बड़ी पैनी थी । खोज करते-करते एक दिन वह अपनी बात का उत्तर पा गया । उसे पता चला गया कि उसकी माँ बचपन में उसे पेड़ के पत्ते तोड़ने से क्यो रोकती थी ? रात को उनके नीचे जाने से क्यो मना करती थी ? और फिर एक दिन सारा संसार यह सुनकर चकित रह गया कि पेड़-पौधो में भी प्राण होते हैं । वे हमारी ही तरह साँस लेते हैं । सोते-जागते हैं तथा सुख-दुःख का भी अनुभव करते हैं । वे बीमार पड़ते है और फिर अच्छे भी हो जाते हैं । अपनी बात को सिद्ध करने के लिए उसने शक्तिशाली यन्त्र भी बनाये । उनसे पेड़-पौधो की गति तथा स्पंदन-क्रिया अपने आप लिखी जाती थी । वनस्पति-विज्ञान की यह महान विभूति और कोई नहीं आचार्य जगदीशचन्द्र बसु ही थे । उनकी गणना भारत के महान वैज्ञानिकों मे की जाती है ।

श्री जगदीशचन्द्र बसु का जन्म ३० नवम्बर, १८५८ को ढाका (पूर्व बंगाल) के राढ़ीखाल गाँव मे हुआ था । उनके पिता श्री भगवानचन्द्र बसु डिप्टी कलक्टर थे । वे बड़े सज्जन और सीधे स्वभाव के थे । अफसर होते हुए भी उनमें अहंकार की बू तक नहीं थी । उन दिनो अफसर अपने बच्चो को शुरू से ही कान्वेन्ट के अँग्रेजी स्कूलो मे पढ़ाया करते थे । उनकी निगाह मे अँग्रेजी स्कूल ही शिक्षा के उत्तम साधन थे । छुटपन से बच्चो को अँग्रेजी स्कूलो में इसलिए भेजा करता था, ताकि बड़े होकर वे सभ्य बन सके । साहब बनकर अफसरी कर सके । लेकिन भगवानचन्द्र बसु के मन मे ऐसी कोई बात नही थी । वे आत्मा एवं संस्कारो से पूरे भारतीय थे । अपने लड़के को भी वे इसी रंग मे रँगना चाहते थे । उसे अफसर नही सच्चा देश-सेवक बनाना चाहते थे । इसलिए उन्होने अपने बेटे को अँग्रेजी स्कूल मे पढ़ने नहीं भेजा और अपने पास ही गाँव की पाठशाला मे उसे भरती कर दिया ।

गाँव की उस देहाती पाठशाला मे बड़े घराने के बच्चो के पढ़ने का तो सवाल ही नही था । उसमे अधिकतर किसानों और मछुओ के बच्चे ही पढ़ते थे । वे पढ़ाई भी करते थे, साथ-साथ खेती और दूसरे कामो मे अपने घर वालो का हाथ भी बँटाते थे । बसु भी हर समय उनके साथ रहते थे । खेलते-कूदते और पढ़ते थे । उनके साथ रहकर उन्होने मनुष्यता का सच्चा पाठ पढ़ा । जीवन की सच्ची शिक्षा पाई थी । उनसे ही उन्हे शारीरिक श्रम करने की प्रेरणा मिली । सबको समान समझने की भावना पैदा हुई, अपनी मातृभाषा से उन्हें प्रेम भी हो गया । जीवन की यही सच्ची-शिक्षा हमेशा उनके काम आई ।

गाँव की पढ़ाई पूरी होने पर वे कलकत्ता गए । वहाँ उन्होने सेंट जेवियर कालेज मे शिक्षा पाई । वहाँ विज्ञान में बी. ए. किया और उच्च-शिक्षा के लिए वे लन्दन चले गए । वहाँ उन्होने रसायन-शास्त्र और वनस्पति शास्त्र विषय लिया । वहाँ खूब मन लगाकर पढ़ा और एम.ए. की उपाधि लेकर भारत लौट आये ।

भारत लौटने पर वे कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कालेज मे भौतिक-विज्ञान के अध्यापक बने । कालेज में उस समय अधिकतर अँग्रेज अध्यापक ही थे । प्रिंसिपल भी अँग्रेज था । वहाँ भारतीयों के साथ भेदभाव बरता जाता था । अँग्रेज अध्यापकों की तुलना में उन्हे कम वेतन दिया जाता था । अन्य तीन अध्यापक भी इसी कम वेतन पर काम करते थे । किसी मे भी इस अन्यायपूर्ण रवैये का विरोध करने का साहस नहीं था ।

भारतीय-अध्यापकों को कम वेतन देने का एक कारण और भी बताया जाता था । उन्हे विज्ञान की पढ़ाई के योग्य नहीं समझा जाता था । विदेशियो के इस अन्याय से बसु के दिल को गहरी चोट लगी । उनको अपने देश और जाति का अभिमान था । इसलिए उन्होने इस अन्याय का डटकर सामना किया । पूरे वेतन और समान अधिकारो की माँग की । इससे अँग्रेज प्रिंसिपल नाराज हो गया । उसने बसु की नौकरी कायम नहीं की । इसी आधार पर उन्हे वेतन और भी कम दिया गया । बसु इस वेतन को लेने के लिये तैयार नही हुए और बिना वेतन लिए ही पढ़ाते रहे तथा अपने अधिकारो के लिए भी लगातार लड़ते रहे ।

वेतन न लेने के कारण उन्हे आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ा पर बसु हार मानने वाले जीव नही थे । उन्होने बड़ी किफायत से काम चलाया । कलकत्ते में रहना बहुत महँगा पड़ता था । इसलिए उन्होंने वहाँ से दूर चन्द्रनगर मे एक सस्ता-सा मकान किराये पर ले लिया । वहाँ से कलकत्ता आने मे एक नदी पार करनी पड़ती थी । वे अपने हाथ से ही नाव खेकर उसे पार करते थे । उनकी पत्नी भी बड़ी भली थी । वह इस काम मे उनका पूरा हाथ बँटाती थी । बसु नदी पार करके कलकत्ता चले जाते और वह नाव खेकर पुनः उस पार ले जाती । इसी तरह तीन साल बीत गए । अन्त में उनका विरोध सफल हुआ । उनकी दृढ़ता के आगे कालेज वालो को झुकना पड़ा । वे भारतीयो को भी पूरा वेतन देने के लिए तैयार हो गए । बसु की नौकरी भी पक्की कर दी गई । उसको पिछला सारा बकाया वेतन भी मिल गया ।

बसु पढ़ाने के अलावा अपना शेष समय वैज्ञानिक प्रयोगों में लगाते थे । फोटोग्राफी से उनको विशेष रुचि थी । बिजली की चुम्बक वाली लहरो पर वे प्रयोग करना चाहते थे । उस समय इन लहरों को पैदा करने का कोई तरीका ही ईजाद नहीं हुआ था । उनके ग्रहण करने योग्य कोई अच्छा यन्त्र भी उपलब्ध नहीं था । बसु इन्हीं लहरो पर अपनी खोज करना चाहते थे । इसके लिए प्रयोगशाला की आवश्यकता थी और कहीं सुविधा न होने पर उन्होने अपने

घर पर ही एक छोटी-सी प्रयोगशाला बना ली। वहीं वे अपने प्रयोग करने मे जुट गए।

पहले बसु ने इन लहरो को पैदा करने का एक छोटा सा यन्त्र बनाया। यह यन्त्र बहुत अच्छा और सुविधानजक सिद्ध हुआ। उसमें प्लैटिनम चढ़े दो गोले लगे थे। उन गोलो के बीच से ही चिनगारियाँ छूटती थीं और उनसे ही बिजली की लहरें पैदा होती थीं। कुछ समय बाद उन्होंने इन लहरो को ग्रहण करने का एक नया यंत्र भी बनाया। यह भी बहुत छोटा था। किसी भी छोटे से सूटकेस में आ सकता था। इन्हीं यंत्रो की सहायता से बसु एक दिन बिना तार के संकेत भेजने में सफल हो गये। इन्हीं लहरों से आजकल रेडियो चलता है।

अपने इस अद्भुत आविष्कार को उन्होने लोगों को भी दिखाया। इसके लिये उन्होंने एक कमरे में एक घण्टी रखी दूसरे कमरे से बिजली की लहरें फेंकी। दोनों कमरों के बीच ७५ फुट का फासला था। उनके बीच में तीन दीवारें भी थीं। घंटी भी किसी तरह से नहीं जुड़ी थी। फिर भी घंटी बज उठी। इसी तरह उन्होने बिना किसी तार के एक पटाखे को फोड़ कर बताया। यह सब देखकर लोग चकरा गये। अपने इन प्रयोगो में दिखाने के लिये वे लन्दन भी गए। वहाँ के बड़े-बड़े वैज्ञानिको ने उनके ये आश्चर्यजनक प्रयोग देखे और सभी ने मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा की।

इस तरह जगदीशचन्द्र बसु ही बेतार के तार के वास्तविक आविष्कारक हैं परन्तु इसका श्रेय परिस्थितिवश उन्हें न मिल सका। उस समय विदेशो मे भी अन्य कई वैज्ञानिक इसी खोज मे लगे थे। इनमे बसु ही सबसे पहले सफल हुए। लेकिन उनके पास साधनों की कमी थी। सरकार की ओर से भी उनको कोई सहायता नहीं मिली। इनसे उनके आविष्कार का काम रुक गया। वह आगे नहीं बढ़ा और उसका उचित ढंग से प्रचार भी नहीं हो सका। फल यह हुआ कि अन्य विदेशी वैज्ञानिक ही इस खोज मे बाजी मार ले गये। यह वैज्ञानिक इटली का मारकोनी था। अब वे ही रेडियो के असली आविष्कारक माने जाते हैं, जबकि वास्तविकता कुछ और ही है।

बसु ने अपने जीवन में कभी हार मानना नहीं सीखा था। उनकी सारी मेहनत पर पानी फिर चुका था फिर भी वे निराश नहीं हुए। वे दूसरे क्षेत्र मे खोज करने को कटिबद्ध हुए। इस बार उन्होंने पेड़-पौधो का अध्ययन अपना क्षेत्र चुना। बचपन से ही वे इनके बारे में खोज करना चाहते थे। और यही खोज उनके लिए वरदान भी सिद्ध हुई। इसी खोज के कारण वनस्पति-विज्ञान मे उनका नाम अमर हो गया।

अपनी इस खोज से बसु ने सिद्ध कर दिया कि पेड़-पौधों में भी अन्य प्राणियों के समान जीवन होता है। वे भी हमारी तरह साँस लेते हैं, सोते-जागते हैं। उन पर भी सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख का असर होता है।

शुरू में वैज्ञानिकों ने उनकी बात को नहीं माना। तब उन्होंने अपने आविष्कार को रायल-सोसाइटी लन्दन के पास भेजा। वहाँ भी उनके प्रयोगों के बारे में सन्देह किया गया। पर बसु हताश नहीं हुए। उन्होंने एक ऐसा यंत्र बनाया, जिसमें पेड़-पौधों की गति अपने आप लिखी जाती थी। उससे उनकी गति भी एक करोड़ गुना दिखाई देती थी और विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं का प्रभाव भी स्पष्ट देखा जा सकता था। अपने शोध को सिद्ध करने के लिए बसु बाबू दुबारा लन्दन गये। वहाँ जाकर उन्होंने अपनी खोज के बारे में विस्तार से बताया। इस अद्भुत यन्त्र को देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक हैरान हो गये। आखिर उनकी खोज का मूल्य आँका गया। उन्हे अनेक उपाधियाँ प्रदान की गईं तथा रॉयल सोसायटी का सदस्य भी मनोनीत कर लिया गया।

फिर क्या था? उनके प्रयोग देखने के लिए अनेक देशों से निमन्त्रण आने लगे। तब उन्होंने सारे योरोप का दौरा किया और लोगों को अपनी खोज के बारे में विस्तृत जानकारी दी। सब जगह उन्होंने प्रत्यक्ष प्रयोग कर लोगो को अपने आविष्कार को सिद्ध करके बताया। इससे विज्ञान-जगत में चारों ओर उनकी धाक जमने लगी।

बसु अपनी खोज मे बराबर लगे रहे और कालेज मे अध्यापन कार्य भी करते रहे। सन् १९१५ मे उन्होंने कालेज से अवकाश ले लिया। दो साल बाद उन्होंने एक बड़ी प्रयोगशाला स्थापित की। यह 'बोस इंस्टीट्यूट' या 'बसु-विज्ञान-मन्दिर' के नाम से विख्यात है। १९१७ मे सरकार ने उन्हे 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया।

सर जगदीशचन्द्र बसु केवल एक महान-वैज्ञानिक ही नहीं थे, वे बंगला-भाषा के अच्छे लेखक और कुशल वक्ता भी थे। विज्ञान तो उनका जीवन ही था। इतना ही नहीं उन्होंने मृत्यु के समय अपनी सारी पूँजी भी विज्ञान-मंदिर में ही लगा दी।

२३ नवम्बर, १९३७ को अकस्मात दिल के दौरे से उनका प्राणोत्क्रमण हो गया। विज्ञान की यह विभूति आज हमारे बीच नहीं है। लेकिन वैज्ञानिक-जगत में भारत का नाम ऊँचा करने के कारण उनका नाम सदा अमर रहेगा।

दिल की धड़कन के साथ चलने वाला विज्ञान

फ्रांस की राजधानी पेरिस के एक सभागार में हजारों लोग जमा थे। सभी उत्सुकता और आश्चर्य से मंच पर टकटकी लगाए हुए थे। इसका कारण था आज प्रदर्शित किया जाता विलक्षण प्रयोग। यह स्वाभाविक है—जिसे यह जानकर आश्चर्य न होगा कि जिन पौधों को अभी तक निर्जीव समझते रहे हैं, जड़ता की मान्यता से विभूषित कर रखा है, वे भी चेतन और सजीव हैं।

इस असम्भव-सी लगने वाली बात को अपने वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध किया जाना था। ज्यों-ज्यों समय बीतता जा रहा था—उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। इतने में एक भारतीय-वैज्ञानिक अपने सहायकों के साथ मंच पर आए।

उन्होंने छोटा-सा उद्बोधन दिया। मित्रो ! पादप वर्ग भी हमारी ही तरह सचेतन और प्राणवान है। जो विष हमारे प्राण हरण कर निर्जीव बनाता है उसे यदि पौधों मे इन्जेक्शन के द्वारा प्रवेश करा दें तो वे भी प्राणहीन और निर्जीव हो जाएँगे। इस कथन के तुरन्त बाद उन्होंने तीव्र विष, पोटेशियम सायनाइड की पुड़िया माँगी। वहीं के सज्जन ने इसे ला कर दिया। इसे बीकर मे घोला गया। घोल को इन्जेक्शन मे भर कर गमले में लगे एक पौधे को लगाया। पर यह क्या ? एक मिनट, दो मिनट पूरे दस मिनट हो गए पौधा ज्यों का त्यो बना रहा। फिर क्या प्रयोग झूठा है ? पूर्व मान्यताएँ क्या सही थीं उपस्थित लोगों के बीच से असन्तोष के स्वर उभरे।

भारतीय वैज्ञानिक भी चकित था। यकायक उसके चेहरे पर दृढ़ भाव झलके, दृढ़ स्वरों मे उसने कहा कि यदि इस जहर से पौधा नहीं मर सकता तो मैं भी नहीं मरूँगा। इस वाक्य के साथ बीकर के शेष घोल को उठाया और गटा-गट पीने लगा। जनसमुदाय की नहीं-नहीं की आवाजे उसे विरत नहीं कर सकी। पर अरे ! वह भी तो नहीं मरा। तो क्या पोटेशियम सायनाइड नकली था। जी हाँ उसने आश्चर्य को तोड़ते हुए कहा मुझे विष की जगह शक्कर दी गई थी, घोल भी इसी का था। शर्बत पीने से भला पौधा क्यों मरने लगा। यही कारण है वह मेरी तरह खुश है। ईर्ष्यालु षड्यन्त्रकारियों के चेहरे झुक गए। उनकी सोच थी इस तरह उसे भरी सभा मे अपमानित किया जा सकेगा। पर जिसमे लक्ष्य के प्रति दृढ़ता व अपने प्रति विश्वास है उन्हे मार्ग के विरत करने की सामर्थ्य किसी में नहीं होती।

असली पोटेशियम सायनाइड लाया गया। इसके घोल को चुभोते हुए पौधा कुम्हलाया, सूखा और मुरझा गया। उपस्थित लोगों के चेहरे खिल उठे। क्यो न हो आखिर ज्ञान के एक नए अध्याय का शुभारम्भ जो हुआ था। ईर्ष्यालु खिसक गए। भारतीय-वैज्ञानिक के चेहरे पर एक आत्म-विश्वासी का तेज था।

यह भारतीय-वैज्ञानिक और कोई नहीं जगदीशचन्द्र बसु थे। सत्य को उद्घाटित करने की तीव्र अभीप्सा को हृदय मे सँजोने वाले श्रीबसु की नीति थी कि विज्ञान मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य विज्ञान के लिए। यह तभी तक उपयुक्त है जब तक मानव-हृदय मे धड़कती संवेदनाओ के साथ तैयार हो।

वे स्वयं भी अपने को सर्वप्रथम सरस सम्वेदनाओ से युक्त मनुष्य मानते थे। उनके लिए इसकी एक ही कसौटी थी, मनुष्य वही है, जो मनुष्यता को खुशहाल बनाए रखने के लिए अपनी सर्वाधिक प्रिय चीज को त्यागने के लिए तत्पर हो जाय। उन दिनो बंगाल अकाल-महामारी की चपेट मे आ गया। उन्हे भी प्रयोगशाला की दीवारे कैद न रख सकीं। आर्थिक सहायता दी। लोगों को अनेक तरह से मदद करने के लिए प्रोत्साहित किया। यही नहीं इस अवसर पर उन्होने कहा यदि जरूरत पड़ी तो प्रयोगशाला बेच देगे। अरे यह क्या ? मित्र-सहयोगी भौंचक्के रह गए। इतनी कठिनाइयो से स्थापित की गई प्रयोगशाला जिसमें घर का सब कुछ खप गया। जिसने उन्हे अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर का बनाया। शीर्षस्थ स्तर तक पहुँचाया, अमूल्य, बहुमूल्य मान-सम्मान, पदक, उपाधियाँ सभी कुछ दिलाई। उसे बेचने की बात कहना क्या कृतघ्नता नहीं है ?

इस प्रश्न के जवाब में श्रीबसु के नेत्रों में आँसू छलछला आए। बड़ी कठिनाई से भरे गले से जवाब दिया। नहीं मित्रो यह कृतघ्नता नही है। यद्यपि प्रयोगशाला मेरा जीवन है, प्राण है। पर मानवता के इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं।जबकि प्राणो का त्याग करना पड़ता है। ऐसे अवसर पर सहर्ष प्राण-दान भी विजय का द्योतक होता है। मानवता बिलखती-तड़पती रहे—और मैं बैठा रहूँ। प्रयोगशाला तो क्या कोई मुझे खरीदने को तैयार हो तो स्वयं भी बिक जाऊँ। डॉ. बसु ने इन भावो ने अनूठी जाग्रति पैदा की। देने वालों की थैलियाँ खुल गई। सभी ने आश्वासन दिया नही प्रयोगशाला नहीं बिकेगी। श्रम, समय, धन देने वालो की ऐसी बाढ़ आयी। अकाल का मुख बन्द हो गया। पर बसु की भावनाएँ उतनी ही उदात्त रही। वह जो कुछ कमाते उसका पाँचवाँ भाग अपने ऊपर खर्च करते। इसका कारण कंजूसी नहीं "सादा-जीवन उच्च विचार" की वह नीति थी जिसे उन्होने घुट्टी के रूप में बचपन मे सीखा था। शेषधन पर वह समाज का अधिकार मानते। नोबुल-पुरस्कार की राशि भी उन्होने समाज को अर्पित कर दी थी।

देश में स्त्री-शिक्षा की शुरूआत हुई। निवेदिता ने इस कार्य के लिए अपनी आहुति दी। श्रम तो था, पर धन नही। डॉ. बसु ने कहा धन के कारण ऐसा पुनीत कार्य नहीं रोका जा सकता। उन्होने एक लाख रुपया तुरन्त दिया। इसी प्रकार शराबबन्दी के लिए प्रयत्न किए गए। न जाने कितने लोग, व्यक्ति, परिवार मदिरा-राक्षसी की चपेट मे आते और नष्ट होते। जनमानस में जाग्रति आए इसके लिए एकलाखरुपए दिए। जिससे नाटक-मंचन, साहित्य-प्रचार आदि सार्थक साधनो के द्वारा जनमानस को झकझोरा जा सके।

देश आगे बढ़े, समाज प्रगतिशील बने इसमें विज्ञान की वैज्ञानिकता की भूमिका को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यह भूमिका और अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो, इस हेतु उन्होंने 'बसु-विज्ञान-मन्दिर' की स्थापना में अपना १५ लाख रुपया लगा दिया। यही उनकी समाज देवता को अर्पित की गई पूर्णाहुति थी।

अब वे वृद्ध हो चुके थे। सन् १९३७ में २३ नवम्बर के दिन कर्मठता, लगन और भावनाओं का मूर्तिमान स्वरूप हमे गुणों का उपदेश देता हुआ चिरनिद्रा में लीन हो गया। महानतम वैज्ञानिक आइंस्टीन ने कहा था "डॉ. बसु का

एक-एक कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक के लिए विजय-स्तम्भ स्थापित किया जाना चाहिए ।''

आदर्शोन्मुख कर्मनिष्ठा

लन्दन के एक होटल मे दो व्यक्ति बैठे काफी की चुस्कियाँ लेते हुए बात कर रहे थे । इनमे एक भारतीय दूसरा यूरोपियन था । चर्चा का विषय था, भारतीय व्यक्ति द्वारा दिया गया आज का भाषण । वह भारतीय अभी ३५-३६ वर्ष का युवक ही था, परन्तु आज के व्याख्यान मे विज्ञान के जिन नए क्षितिजो की ओर उसने इंगित किया था उनसे विज्ञान-जगत की नयी सम्भावनाएँ साकार होने लगी थी । भारतीय-वैज्ञानिक ने अपने अन्वेषणो का सार-विश्लेषण करते हुए सिद्ध किया कि बिना तार की सहायता के भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर सन्देश भेजे जा सकते है । तब रेडियो वायरलेस की कल्पना भी किसी को न हुई थी । ये आविष्कार तो उसी खोज के बाद किए गए जिनका श्रेय निश्चित रूप से भारत के प्रतिभासम्पन्न वैज्ञानिक ऋषि और लन्दन के होटल मे ठहरे उस युवक को है जिसे लोग जगदीशचन्द्रबसु के नाम से जानते थे ।

चर्चा के बीच बसु के व्याख्यान की प्रशंसा करते हुए यूरोपियन व्यक्ति ने कहा "तो आप इस आविष्कार को पेटेण्ट कब करवा रहे हैं ?'' ''क्षमा करना ! मेरा ऐसा कोई इरादा नहीं है । मैं विश्वास करता हूँ कि वैज्ञानिक-आविष्कार मनुष्यमात्र की सम्पत्ति है और उनका पेटेण्ट करना उचित नही है ।'' जगदीशबसु का उत्तर था ।

इस विश्वास को सराहते हुए यूरोपियन व्यक्ति ने कहा ''मित्र एक सुझाव है । मेरे एक मित्र है जो आपको इस आविष्कार के बदले जो चाहेगे मूल्य चुकाएँगे । आप इस आविष्कार के सम्बन्ध मे किसी से चर्चा न करे ।''

''यह सुझाव भी मेरे सिद्धान्तो के विपरीत है । मै मानवजाति की सेवा के लिए विज्ञान की आराधना करता हूँ । किसी व्यापारी को अपनी पूजा कैसे बेचूँ ?''

चर्चाएँ और भी चलती रही । दोनो मित्र विदा हुए । परन्तु दूसरे दिन जगदीशचन्द्रबसु को पता चला कि इस आविष्कार के सम्बन्ध में उन्होंने जो परीक्षण किए थे और जिन निष्कर्षों पर पहुँचे थे उन्हे कोई चुरा ले गया है ।

घटना सन् १८९५ की है । पता नहीं किसने बसु की मेहनत और साधना के परिणामो और सफलताओ को चुराया पर वह खिन्न न हुए और न ही उद्विग्नता ने उन्हे सताया । उसी शान्तभाव से वह अपने आगे के कार्य मे लगे रहे । अभी एक वर्ष पूर्व जब उन्होने अपनी पैतीसवीं वर्षगाँठ मनाई थी तब अपना सारा जीवन विज्ञान की शोध और मानव जाति की सेवा में लगाने का निश्चय किया था । इस निश्चय की पूर्ति में यह पहली सफलता मिली थी । वह भी हाथ से फिसल गई ।

परन्तु हताश न हुए । उन्होंने सीखा था कि सफलता से भी कई गुना मूल्यवान उद्देश्य की महानता है, जिसके प्रति स्वयं को नियोजित किया गया । संघर्ष, जीवन की शान है, जो हजार मुखड़े लेकर चुनौती देता है । उस चुनौती को जो स्वीकार कर लड़ने के लिए कमर कस ले वे विजयी होते, पर जो चुनौतियो को सामने देखकर घबड़ा जाएँ उन्हे काल किसी कूड़े के ढेर मे फेक सकता है ।

इस घटना के कुछ दिनो बाद एक दूसरे यूरोपियन वैज्ञानिक ने रेडियो और वायरलेस के आविष्कार को अपने नाम से पेटेण्ट करा लिया । कहते है यह वैज्ञानिक ही उस दिन लन्दन के होटल मे बसु के साथ देखा गया था । जब तक आविष्कार प्रकट न हुआ था, तब तक बसु थोड़े चिन्तित थे । परन्तु जब आविष्कार की घोषणा हुई तो बसु का चेहरा खिल उठा । इसलिए नही कि अपराधी मिल गया । वरन् इसलिए कि उनकी उपलब्धियो का लाभ मनुष्य-जाति को मिलना सम्भव हुआ । अब इसका श्रेय किसे मिला इसकी उन्हे कोई चिन्ता न थी ।

डॉ. जगदीशचन्द्रबसु को अपनी इस आदर्शनिष्ठा के कारण प्राय: घाटे मे ही रहना पड़ा । आविष्कार पेटेण्ट कराने के बाद उसके आविष्कर्ता वैज्ञानिक अपने लिए पर्याप्त सुविधा और साधन सम्पन्न परिस्थितियाँ निर्मित कर लेते थे परन्तु भारत का यह तप.पूत ऋषि आजीवन अपने आदर्शों के लिए कष्ट-कठिनाइयो से भरा जीवन जीता रहा । उनका हृदय इस बात के लिए तैयार ही नही होता था कि विज्ञान की साधना और उपलब्धियो का उपयोग पैसा कमाने के लिए करे । न ही उन्हे श्रेय की कभी चिन्ता होती थी ।

आगे चलकर उन्होने और अनेक चमत्कृत कर देने वाली खोजे की । पहली बार उनके प्रयासो से ससार को मालूम हुआ कि पौधो मे भी जीवन है । इन खोजो का परिचय जब विभिन्न देशों में फैला तो कई देशो के पूँजीपति, उद्योगपति उनके पास यह प्रस्ताव लेकर आने लगे कि वे अपने आविष्कार को पेटेण्ट करवा ले अथवा बेच दे । परन्तु सिद्धान्तो और आदर्शों को प्राणो से अधिक मानने वाले आचार्यबसु के लिए पैसा नही आदर्श मूल्यवान था, पूँजीपतियो के प्रस्ताव से उन्हे लगा कि ज्ञान और मानवता के कल्याण की जो साधना कर रहा हूँ और उससे जो उपलब्धियाँ मिल रही है, उन्हे यदि इन लोगो के हाथ बेच दिया तो साधना-पथ मे व्यवधान उपस्थित हो जाएगा और यह भी कि इस कारण वह एक साधक की भाँति विज्ञान के क्षेत्र मे अपना अस्तित्व खो देगें ।

अन्त तक उन्होंने अपनी खोजो से आर्थिक लाभ नहीं उठाया । वरन् श्रमपूर्वक ही जीविकोपार्जन करते रहे । जिस सस्था मे वे प्राध्यापक थे वहाँ से उन्हे डेढ़ हजार रुपया प्रतिमास मिलता था । चाहते तो उस रकम मे ठाट-बाट के साथ रह सकते थे । इस वेतन का भी पाँचवाँ हिस्सा अपने लिए रखते । बाकी जन-सेवा मे और शोधकार्यों मे खर्च करते ।

उनकी इस जीवन नीति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उनके एक मित्र ने पूछा "आप अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति होते हुए जिस ढंग से रहते हैं उससे आपका मूल्यांकन कैसे होगा ? आचार्यबसु ने गम्भीरता से कहा "मित्र ! मनुष्य जीवन के मूल्यांकन की कसौटी उसके द्वारा किया गया शान-शौकत का अर्जन नहीं है । वरन् वह आदर्शोन्मुख कर्म-निष्ठा है जिसके बलबूते हम समाज को कुछ सार्थक और उपयोगी दे पाते हैं । शान-शौकत बटोरने वालो की तो नीति उल्टी है वह देने के स्थान पर समाज से हड़पने-दूसरों का हक छीनने और अपने पास बटोरने में ही सारा जीवन गँवा देते हैं । जबकि जीवन की सार्थकता कम से कम लेने और अधिक से अधिक देने मे है । इस तरह व्यक्ति सन्तुष्ट और समाज सुखी रहता है ।" बसु की यह व्याख्या सुन मित्र चकित रह गया अब उसे पता लगा कि उन्होने श्रेय, सम्मान शान-शौकत को क्यों ठुकराया ? इसके पीछे जीवन के प्रति उनका सार्थक दृष्टिकोण ही था ।

सहधर्मिणी का सच्चा सहयोग

श्री जगदीशचन्द्र बसु कलकत्ता यूनिवर्सिटी में विज्ञान के अध्यापक नियुक्त किये गये । अभी तक ऐसा सम्मान किसी भी भारतीय को उपलब्ध नहीं हुआ था । इसलिए श्रीजगदीशचन्द्रबसु को भारतीय बड़ा भाग्यशाली मानते थे ।

कुछ दिन पीछे पदोन्नति का समय आया । श्री बसु को पदोन्नत कर दिया गया, पर अब वे जिस पद पर पहुँचे उस पर पहले से काम कर रहे अँग्रेज पदाधिकारी की अपेक्षा उन्हे वेतन कम दिया गया । जहाँ अन्य सम्बन्धियो ने उन्हे इस बात की अपेक्षा करने की सलाह दी वहाँ श्री जगदीशचन्द्र बसु ने इसे अपने स्वाभिमान पर आघात माना और तब तक वेतन लेने से इन्कार कर दिया जब तक कि उनका, स्वयं के वेतन के बराबर नहीं कर दिया जाता । इस तरह का सत्याग्रह करते हुए भी उन्होने अध्यापन कार्य नही छोड़ा ।

आजीविका का स्रोत बन्द हो जाने कारण घर खर्च चलाने की तंगी आ गई । उनकी धर्मपत्नी ने ऐसे गाढ़े समय के पति के स्वाभिमान को चोट न आने देने व किसी प्रकार मानसिक कष्ट न होने के लिए पूर्ण तत्परता बरती । कई अनावश्यक खर्च थे जिन्हे उनकी धर्मपत्नी ने बचा लिया और घर का निर्वाह चलाया । यहाँ तक कि रास्ते मे पड़ने वाली हुगली नदी को पार करने के लिए भी वे स्वयं नाव खेती थी ।

सरकार को इस बात का पता चला तो उसने यह लिखते हुए—"जिसकी ऐसी निष्ठावान पत्नी हो उसका वेतन नहीं रोका जा सकता ।" उनका वेतन अँग्रेज पदाधिकारी के बराबर कर दिया और अपनी पराजय मान ली ।

वनस्पति विज्ञान को नया आयाम देने वाले बीरबल साहनी

सन् १९३६-३७ में इण्डियनसाइन्सकाँग्रेस चल रही थी । इस काँग्रेस में देशभर की वैज्ञानिक प्रतिभायें उपस्थित थीं और ऐसे प्रयासों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर रही थीं जिसके माध्यम से भारत की वैज्ञानिक प्रतिभा उभर कर आये । इस काँग्रेस में उपस्थित वैज्ञानिकों का परिचय दे रहे थे महान भारतीय भौतिकशास्त्री वैज्ञानिक सर चन्द्रशेखर वेंकेटरमन ।

जिस मंच पर प्रथमश्रेणी के वैज्ञानिक बैठे हुए थे । उस पंक्ति में एक ऐसा व्यक्ति भी बैठा था जिसे देखकर लगता था कि वह राजनैतिक क्षेत्र का कार्यकर्ता है । श्रोताओ ने उस व्यक्ति की कहीं कभी चर्चा भी नहीं सुनी थी । तो फिर ऐसे नेता को इतना ऊँचा सम्मान दिया गया । सिर पर गाँधी टोपी और बन्द गले का कोट, वेषभूषा से पूरा राजनीतिज्ञ । लोगो के चेहरे पर उलझन के भाव थे क्योंकि प्राय: सभी नेताओ को राजनीतिक सभा गोष्ठियो मे ही देखा था । श्रोतागण उस व्यक्ति के सम्बन्ध मे जानने के लिए सर्वाधिक उत्सुक भी थे । कई एक अपने आसपास के लोगों से पूछते भी रहे । जो जानते थे वे उस व्यक्ति का नाम बता देते । सुनकर श्रोताओ के नेत्र विस्फारित रह जाते । क्योंकि इस व्यक्ति का नाम कई बार सुना है और उसके सम्बन्ध में जाना भी है । परन्तु यह कभी नहीं सोचा जा सका कि उसका व्यक्तित्व ऐसा होगा ।

सी.बी. रमन परिचय कराते हुए जब उस व्यक्ति तक पहुँचे तो उन्होने कहा आप हैं प्रो. साहनी । जिन पर हमारे देश को गर्व करना चाहिए । मेरा विश्वास है आप लोग मेरी इस बात से अवश्य ही सहमत होंगे कि प्रो. साहनी भारत के सबसे खूबसूरत एफ. आर. एस. हैं ।

प्रोफेसर ने उठकर प्रणाम किया, अभिवादन मे अपने हाथ जोड़े तथा दर्शको के हाथ अनायास ही करतल ध्वनि करने लगे । प्रोफेसर साहनी के कर्तृत्व से तो अधिकांश लोग परिचित थे परन्तु शायद उनके व्यक्तित्व से अपरिचित ही रहे होगे । रहन-सहन में इतना सादा और सरल होगा वह व्यक्ति जिसे ब्रिटेन की रायल सोसायटी ने कुछ माह पूर्व ही अपना फेलो चुना था । रायल-सोसायटी का सदस्य मात्र होना ही किसी भी वैज्ञानिक के लिए गर्व का विषय बन जाता था । उस समय सारे विश्व के वैज्ञानिको में यह सम्मान सबसे बड़ा गौरव माना जाता था और प्रोफेसर साहनी जिन्हें यह गौरव बिना इस उद्देश्य से प्रयास किये मिल गया था इतने सरल और सहज हो सकते हैं । यह लोगों के लिए आश्चर्य की ही बात थी ।

प्रोफेसर साहनी वनस्पति-विज्ञान के उन मूक साधकों में से थे जिन्होंने बिना किसी लोकयशी एहिक एषणा और व्यक्तिगत स्वार्थों की आकांक्षा किये विज्ञान को अपना जीवन

एक-एक कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रत्येक के लिए विजय-स्तम्भ स्थापित किया जाना चाहिए ।"

आदर्शोन्मुख कर्मनिष्ठा

लन्दन के एक होटल में दो व्यक्ति बैठे काफी की चुस्कियाँ लेते हुए बात कर रहे थे । इनमे एक भारतीय दूसरा यूरोपियन था । चर्चा का विषय था, भारतीय व्यक्ति द्वारा दिया गया आज का भाषण । वह भारतीय अभी ३५-३६ वर्ष का युवक ही था, परन्तु आज के व्याख्यान मे विज्ञान के जिन नए क्षितिजो की ओर उसने इंगित किया था उनसे विज्ञान-जगत की नयी सम्भावनाएँ साकार होने लगी थीं । भारतीय-वैज्ञानिक ने अपने अन्वेषणो का सार-विश्लेषण करते हुए सिद्ध किया कि बिना तार की सहायता के भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर सन्देश भेजे जा सकते हैं । तब रेडियो वायरलेस की कल्पना भी किसी को न हुई थी । ये आविष्कार तो उसी खोज के बाद किए गए जिनका श्रेय निश्चित रूप से भारत के प्रतिभासम्पन्न वैज्ञानिक ऋषि और लन्दन के होटल मे ठहरे उस युवक को है जिसे लोग जगदीशचन्द्रबसु के नाम से जानते थे ।

चर्चा के बीच बसु के व्याख्यान की प्रशंसा करते हुए यूरोपियन व्यक्ति ने कहा "तो आप इस आविष्कार को पेटेण्ट कब करवा रहे है ?" "क्षमा करना ! मेरा ऐसा कोई इरादा नहीं है । मैं विश्वास करता हूँ कि वैज्ञानिक-आविष्कार मनुष्यमात्र की सम्पत्ति है और उनका पेटेण्ट करना उचित नही है ।" जगदीशबसु का उत्तर था ।

इस विश्वास को सराहते हुए यूरोपियन व्यक्ति ने कहा "मित्र एक सुझाव है । मेरे एक मित्र है जो आपको इस आविष्कार के बदले जो चाहेगे मूल्य चुकाएँगे । आप इस आविष्कार के सम्बन्ध मे किसी से चर्चा न करे ।"

"यह सुझाव भी मेरे सिद्धान्तो के विपरीत है । मै मानवजाति की सेवा के लिए विज्ञान की आराधना करता हूँ । किसी व्यापारी को अपनी पूजा कैसे बेचूँ ?"

चर्चाएँ और भी चलती रहीं । दोनो मित्र विदा हुए । परन्तु दूसरे दिन जगदीशचन्द्रबसु को पता चला कि इस आविष्कार के सम्बन्ध में उन्होने जो परीक्षण किए थे और जिन निष्कर्षों पर पहुँचे थे उन्हे कोई चुरा ले गया है ।

घटना सन् १८९५ की है । पता नहीं किसने बसु की मेहनत और साधना के परिणामो और सफलताओ को चुराया पर वह खिन्न न हुए और न ही उद्विग्नता ने उन्हे सताया । उसी शान्तभाव से वह अपने आगे के कार्य मे लगे रहे । अभी एक वर्ष पूर्व जब उन्होने अपनी पैंतीसवीं वर्षगाँठ मनाई थी तब अपना सारा जीवन विज्ञान की शोध और मानव जाति की सेवा में लगाने का निश्चय किया था । इस निश्चय की पूर्ति में यह पहली सफलता मिली थी । वह भी हाथ से फिसल गई ।

परन्तु हताश न हुए । उन्होंने सीखा था कि सफलता से भी कई गुना मूल्यवान उद्देश्य की महानता है, जिसके

ः
क

वैज्ञा
नाम
दिन ह
तक आ
थे । पर
खिल उठा
इसलिए वि
मिलना सम्भ
उन्हे कोई चि
डॉ. जग
कारण प्राय: घाटे
के बाद उसके अ
और साधन सम्पन्न
भारत का यह तप.पू
कष्ट-कठिनाइयो से भ
बात के लिए तैयार ह
और उपलब्धियो का उ
ही उन्हे श्रेय की कमी ।
आगे चलकर उन्हो
वाली खोजे की । पहली
मालूम हुआ कि पौधो मे
परिचय जब विभिन्न देशों में
उद्योगपति उनके पास यह प्रस्
अपने आविष्कार को पेटेण्ट करव
सिद्धान्तो और आदर्शों को प्रा
आचार्यबसु के लिए पैसा न
पूँजीपतियों के प्रस्ताव से उन्हे
के कल्याण की जो साधना क
उपलब्धियाँ मिल रही है, उन्हे
दिया तो साधना-पथ मे व्यवधान
यह भी कि इस कारण वह एक
क्षेत्र मे अपना अस्तित्व खो देंगे
अन्त तक उन्होंने अपनी
उठाया । वरन् श्रमपूर्वक ही जी
संस्था मे वे प्राध्यापक थे वहाँ
प्रतिमास मिलता था । चाहते तो
साथ रह सकते थे । इस वेतन
लिए रखते । बाकी जन-सेवा
करते ।

सौंप दिया । डॉ. जगदीशचन्द्रबसु ने सभी पेड़-पौधो मे भी प्राण है—सिद्ध कर वनस्पति विज्ञान की जैविकी की एक शाखा के रूप मे प्रतिष्ठापित किया । विज्ञान के क्षेत्र मे इस उपलब्धि का श्रेय भारत को जाता है तो इस शाखा को समृद्ध बनाने का गौरव भी भारत को ही मिला है । प्रोफेसर साहनी ने इक्कीस ऐसे विशिष्ट अज्ञात शुंकुधारी जीवाश्मों का पता लगाया जिसका अभी तक किसी को ज्ञान ही नहीं था और वह भी अपने विभागीय कार्यो के दायित्व को व्यस्ततापूर्वक पूरा करते हुए । जीवन-ध्येय की प्राप्ति के लिए समय न मिलने का बहाना करने वालो के लिए प्रोफेसर साहनी एक चुनौती के रूप में उभरकर आते हैं जो आलस्य और प्रमाद वश अपनी प्रगति को रोक कर निष्क्रिय पड़े लोगो को भी कुछ तो करने के लिए बाध्य कर देती है ।

प्रोफेसर बीरबलसाहनी का जन्म पश्चिमी पजाब के एक कस्बे भेरा मे १४ नवम्बर, १८९१ ई. को हुआ । उनके पिता प्रो. रुचिरामसाहनी विख्यात रसायनशास्त्री थे । जिन्होने आगे चलकर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में रहकर कैमिस्ट्री पर शोधकार्य भी किया । प्रो. रुचिराम एक विज्ञान-साधक होने के साथ-साथ आदर्श सद्गृहस्थ भी थे । पारिवारिक उत्तरदायित्वों के प्रति निष्ठा से प्रेरित होकर उन्होने अपने पुत्र को प्रतिभाशाली और मेधावी बनाने में कोई कोर-कसर नही छोड़ी ।

परिणामस्वरूप बालक बीरबल को बचपन से ही वह वातावरण मिला । जिसमे उनकी प्रतिभा स्वाभाविक रूप से निखरती चली गयी । भारत मे प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद बीरबलसाहनी को केम्ब्रिज मे भर्ती करवाया गया । विज्ञान के प्रति पैतृक विरासत मे मिली रुचि, तन्मयता और लगन से वे निरन्तर सफल होते गये और सन् १९१४ ई. मे वे कैम्ब्रिज से ही स्नातक हुए ।

अब भविष्य के चुनाव का प्रश्न था । साहनी ने निर्णय लिया कि मैं भी अपने पिता की तरह ही विज्ञान की आराधना, उपासना करूँगा । पिता अपने पुत्र के इस संकल्प से प्रसन्न हुए और उनका हृदय ऐसे प्रतिभाशाली पुत्र को पाकर धन्य हो उठा । साहनी कैम्ब्रिज मे ही रुक गये और वहीं शोधकार्य करने लगे । यहीं पर उन्हे वनस्पति विज्ञान के दिग्गज डॉ. सर. ए. सी. सीवर्ड के सपर्क में आने का अवसर मिला । उन दोनो में गुरु शिष्य का सा सम्बन्ध हो गया । लगता था सीवर्ड को तो किसी योग्य शिष्य की तलाश थी और साहनी को किसी समर्थ गुरु की । इस सम्बन्ध से दोनों की तलाश पूरी हो गयी और उनके सम्बन्ध प्रगाढ़तर होते चले गये ।

सीवर्ड उन दिनों वानस्पतिक जीवाश्मों पर कार्य कर रहे थे । साहनी को भी यही विषय प्रिय था । वे अपने योग्य गुरु के सहयोग से इस क्षेत्र में प्रगति करते रहे । को साहनी की प्रगति पर दिनोदिन विश्वास बढ़ता । जब साहनी भारत लौटे तो सीवर्ड ने बड़े ही विश्वासपूर्वक कहा कि मैंने जिस परम्परा को कायम किया उसे साहनी आगे बढ़ायेगे ।

सीवर्ड साहनी की प्रतिभा के प्रति इतने आश्वस्त थे कि उनके भारत आ जाने के बाद भी उन्हें अपना अधिकारी शिष्य मानते रहे । एक बार भारत की वैज्ञानिक संस्था जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ने सीवर्ड के पास कुछ जीवाश्म निरीक्षण के लिए भेजे । सीवर्ड ने उन जीवाश्मो को यह कहकर लौटा दिया इनके अध्ययन का पहला अधिकार मेरे युवा शिष्य साहनी का है ।

साहनी ने डॉ. सीवर्ड के साथ रहकर जीवाश्म पौधो का अध्ययन किया और वनस्पति-विज्ञान की इस शाखा मे इतनी अधिकारिक दक्षता प्राप्त की कि १९१९ मे लंदन विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. एस. सी. से "लंकृत किया । प्रो. साहनी अहर्निश विज्ञान की साधना-उपासना मे जुटे रहते थे । यहाँ तक की कभी-कभी तो उन्हें भोजन करने का ध्यान भी नही रहता था । पिता ने अपने पुत्र की इस तन्मयता को गर्व दृष्टि से देखा । लेकिन उन्होने अब अपने पुत्र की एक नयी आवश्यकता समझी—जीवन साथी का जब यह प्रस्ताव रखा गया तो साहनी का उत्तर था कि घर बसाने और परिवार बनाने से तो विज्ञान की साधना मे अवरोध ही पैदा होगा क्यो न एकाकी प्रयत्न किये जाये ।

वस्तुत: ऐसी लड़की की खोज भी एक मुश्किल काम था जो उन्हे घर-गृहस्थी की झंझटो से बचाकर उनकी साधना मे सहायक बनी रहे । सौभाग्य से कहिए भारत आने के बाद ही यह खोज पूरी हुई । उनके जीवन में सावित्रीजी जैसी विदुषी लड़की ने प्रवेश किया ।

सन् १९३० मे वे दोनो दाम्पत्यसूत्रो में बँध गये । उस समय साहनी लखनऊ विश्वविद्यालय के बॉटनी विभाग मे प्रोफेसर के पद पर कार्यरत थे । गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने से पूर्व नौवर्षो तक वे विद्यादान के साथ महत्वपूर्ण शोधकार्य भी करते रहते थे । इस कार्यकाल मे उन्होने सुयोग्य वैज्ञानिको की एक ऐसी पक्ति तैयार की जो आगे चलकर इस विज्ञान को सम्पन्न बनाने मे समर्थ सिद्ध हुई ।

१९२१ मे जब साहनी प्रोफेसर बने थे । तब लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना हुए कुछ ही समय हुआ था और उसमे भी विज्ञान से सम्बद्ध वनस्पति जैसा उपेक्षित विभाग था । उस समय उन्हे कुल तीन कमरे मिले थे और प्रयोगशाला तथा वैज्ञानिक उपकरण भी इतने औसत स्तर का अभिरुचि सम्पन्न व्यक्ति प्रयत्नो के बाद निज की प्रयोगशाला यह एक तथ्य है कि उत्साही और लिए साधन-उपकरणो की व्यवस्था नहीं होती ।

विश्वविद्यालय आर्थिकदृष्टि से था । प्रबन्धकों का भी इस ओर था । परन्तु इन सबसे क्या

व्यक्तिगतरूप से एकाकी प्रयासो द्वारा उन्होंने इतने साधन और सहयोगी जुटा लिए कि आज लखनऊ विश्वविद्यालय का वनस्पति-विभाग भारत के शीर्षस्थ वनस्पति-विभागों मे गिना जाता है ।

जिस वर्ष वे प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए उसी वर्ष उन्होंने एक ऐसा कार्यक्रम तैयार किया जिसके अन्तर्गत भारत के सम्पूर्ण वानस्पतिक जीवाश्मों का अध्ययन किया जाना था । इस उद्देश्य से उन्होंने अपने शिष्यो के साथ भारत भर का भ्रमण किया और जंगलो तथा पहाड़ियो की खाक छान-छानकर कई नये जीवाश्मों का पता लगाया । उन्होने इस दौरान यह भी ज्ञात किया कि भारतीय जीवाश्मों और यूरोपीय जीवाश्मों मे बड़ा अन्तर है । इस अन्वेषण कार्य मे उन्होने सर्वाधिक समय दिया तथा महत्वपूर्ण कार्य राजमहल की पहाडियों पर किया । राजमहल की पहाड़ियाँ बिहार मे है, यहाँ उनकी उपलब्धियाँ विज्ञान के क्षेत्र में इतनी विस्मयकारी और अद्वितीय रहीं कि उनकी ख्याति विश्वभर मे फैल गयी । राजमहल की पहाड़ियों में इन्होंने सारकाडिआइडिया, पेण्टोजाइली, निपतियों फाइलम होमो जाइलम, विलियम सोनिया आदि जीवाश्म पौधो का पता लगाया । वनस्पति-विज्ञान मे उनकी और भी कई उल्लेखनीय उपलब्धियाँ रहीं । विज्ञान-जगत मे उन्हे इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई कि उनके शोधपत्र प्रमाणो के रूप में माने जाते है । इन्हीं सफलताओ ने विश्व मे गौरवपूर्ण स्थान दिलाया । वे कैम्ब्रिज तथा एम्स्टर्डम मे हुई पाँचवीं और छटी अन्तर्राष्ट्रीय वानस्पतिक काँग्रेस मे उपाध्यक्ष बने तथा १९५० मे स्टाकहोम मे आयोजित काँग्रेस के अध्यक्ष ।

वैज्ञानिकों के सम्बन्ध मे सामान्यत: यह समझा जाता है कि इस वर्ग के लोग गम्भीर और किसी दूसरी ही दुनिया मे रहने वाले होते है । यह कुछ हद तक सच भी है । वैज्ञानिक गुत्थियो मे ही उलझे रहने के कारण ये लोग प्राय: जागतिक जीवन में उदासीन हो जाते है । परन्तु प्रो. साहनी के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता । न केवल वैज्ञानिक जगत मे वरन् उनके परिचित मित्रो तथा स्वजन-सम्बन्धियों मे भी वे सबसे अधिक हँस-मुख तथा खुशमिजाज व्यक्ति माने जाते थे । उनके कई चुटकुले और हास्य-प्रसंग लोगो को आज भी याद है ।

इतने प्रफुल्ल स्वभाव का व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुखो के प्रति अवश्य ही उदासीन था । उनका जीवन त्यागपूर्वक उपभोग के सिद्धान्त पर आधारित था इसी भावना से प्रेरित होकर सन् १९४६ में जब जीवाश्म शोध प्रतिष्ठान की स्थापना हुई तो उन्हे अपनी सारी संपत्ति, सारी कमाई और संग्रह इस प्रतिष्ठान को अर्पित कर दिया । इस स्थापना के लिए अन्य कई सेवाभावी व्यक्तियो और राज्य सरकारों ने भी सहयोग दिया ।

दुःख की बात है कि प्रतिष्ठान की नींव ... ही अप्रैल १९४९ को वे हमसे ... ने जब यह सुना तो एकाएक विश्वास नहीं हुआ और विश्वास हुआ तो आँखों से आँसू टपक पड़े । पं. नेहरू ने ही इस प्रतिष्ठा की नींव रखी थी और उनके कंठ से ये स्वर निकले "अब वे केवल स्मृतियो मे ही विद्यमान हैं ।"

महान कामों में लगन-निष्ठा की अनिवार्यता

बात उन दिनो की है, जब लखनऊ विश्वविद्यालय बन रहा था । प्रो. साहनी वनस्पति विभाग के अध्यक्ष थे । केवल तीन ही कमरे बन पाए थे ।

कोई विदेशी वैज्ञानिक डॉ. साहनी से मिलने आये, आते ही उन्होंने प्रोफेसर साहनी के बारे में किसी से पूछा प्रो. साहनी कहाँ बैठते हैं ?

उसने इशारे से बताया—उधर बरामदे के कोने मे । आगन्तुक वहाँ गये । प्रो. साहनी की मेज पर किताबें-कापियाँ पड़ी थीं । वे सूक्ष्मदर्शी मे आँखें गड़ाये कुछ अध्ययन कर रहे थे । उसने आश्चर्य प्रगट किया—प्रो. साहनी आपका कोई निजी कमरा नहीं है । प्रो. साहनी ने बड़े आत्म-विश्वास से कहा—"हमेशा बड़े काम ऐसे ही किये जाते हैं । बड़े कामो के लिए तड़क-भड़क ही नही निष्ठा, लगन की जरूरत होती है ।" आगन्तुक प्रो. साहनी के विचारो की महानता से अविभूत हो उठा ।

नोबुल पुरस्कार विजेता— डॉ. खुराना

बालक गोविन्द अपने बड़े भाई नन्दलालखुराना को पकड़कर पास बिठा लेता और घड़ी सामने रखकर कहता 'देखे भाई ! एक मिनट में कौन अधिक शब्द लिख सकता है ।' गोविन्द इस प्रतियोगिता मे अपने भाई को सदैव परास्त कर देता था । घरेलू प्रतियोगिताओं में सदैव विजयी होने वाला बालक एक दिन नोबुल पुरस्कार विजेता बनेगा ऐसी किसी को भी आशा नहीं थी ।

चौबीस घण्टे के दिन रात मे १८ घण्टे प्रयोगशाला मे कार्य करने वाला यह वैज्ञानिक प्रारम्भ से ही समय का सदुपयोग करता रहा है और इस संसार में जिसने भी महानता प्राप्त की है और कुछ कर दिखाया है उसका रहस्य यही है ।

इस भारतीय-वैज्ञानिक का जन्म ९ फरवरी, १९२२ को अविभाजित भारत के जिला मुलतान के रायपुर ग्राम मे हुआ था । पिता लालाभगपतराये पटवारी थे । जब गोविन्द की आयु केवल १२ वर्ष थी तभी माता के प्यार से उसे वंचित हो जाना पड़ा । माता कृष्णा देवी धर्म-परायण स्त्री थीं उन्होने ही पाल-पोसकर बड़ा किया और पढ़ाया-लिखाया । अपनी माता से इन्हें तीन चीजें सीखने को मिलीं । ईश्वर के प्रति आस्था, बड़ो का सम्मान और कठोर परिश्रम ।

गोविन्द बचपन से ही मेधावी छात्र के रूप मे रहे । खूब पढ़ते थे, खूब खेलते थे और शैतानी में भी किसी से

सौंप दिया । डॉ. जगदीशचन्द्रबसु ने सभी पेड़-पौधों मे भी प्राण है—सिद्ध कर वनस्पति विज्ञान की जैविकी की एक शाखा के रूप मे प्रतिष्ठापित किया । विज्ञान के क्षेत्र में इस उपलब्धि का श्रेय भारत को जाता है तो इस शाखा को समृद्ध बनाने का गौरव भी भारत को ही मिला है । प्रोफेसर साहनी ने इक्कीस ऐसे विशिष्ट अज्ञात शुंफुधारी जीवाश्मों का पता लगाया जिसका अभी तक किसी को ज्ञान ही नहीं था और वह भी अपने विभागीय कार्यों के दायित्व को व्यस्ततापूर्वक पूरा करते हुए । जीवन-ध्येय की प्राप्ति के लिए समय न मिलने का बहाना करने वालों के लिए प्रोफेसर साहनी एक चुनौती के रूप मे उभरकर आते हैं जो आलस्य और प्रमाद वश अपनी प्रगति को रोक कर निष्क्रिय पड़े लोगो को भी कुछ तो करने के लिए बाध्य कर देती है ।

प्रोफेसर बीरबलसाहनी का जन्म पश्चिमी पंजाब के एक कस्बे भेरा में १४ नवम्बर, १८९१ ई. को हुआ । उनके पिता प्रो. रुचिरामसाहनी विख्यात रसायनशास्त्री थे । जिन्होंने आगे चलकर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे रहकर कैमिस्ट्री पर शोधकार्य भी किया । प्रो. रुचिराम एक विज्ञान-साधक होने के साथ-साथ आदर्श सद्‌गृहस्थ भी थे । पारिवारिक उत्तरदायित्वो के प्रति निष्ठा से प्रेरित होकर उन्होंने अपने पुत्र को प्रतिभाशाली और मेधावी बनाने मे कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी ।

परिणामस्वरूप बालक बीरबल को बचपन से ही वह वातावरण मिला । जिसमें उनकी प्रतिभा स्वाभाविक रूप से निखरती चली गयी । भारत मे प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद बीरबलसाहनी को कैम्ब्रिज मे भर्ती करवाया गया । विज्ञान के प्रति पैतृक विरासत मे मिली रुचि, तन्मयता और लगन से वे निरन्तर सफल होते गये और सन् १९१४ ई. में वे कैम्ब्रिज से ही स्नातक हुए ।

अब भविष्य के चुनाव का प्रश्न था । साहनी ने निर्णय लिया कि मैं भी अपने पिता की तरह ही विज्ञान की आराधना, उपासना करूँगा । पिता अपने पुत्र के इस सकल्प से प्रसन्न हुए और उनका हृदय ऐसे प्रतिभाशाली पुत्र को पाकर धन्य हो उठा । साहनी कैम्ब्रिज मे ही रुक गये और वहीं शोधकार्य करने लगे । यहीं पर उन्हे वनस्पति विज्ञान के दिग्गज डॉ. सर. ए. सी. सीवर्ड के संपर्क में आने का अवसर मिला । उन दोनो मे गुरु शिष्य का सा सम्बन्ध हो गया । लगता था सीवर्ड को तो किसी योग्य शिष्य की तलाश थी और साहनी को किसी समर्थ गुरु की । इस सम्बन्ध से दोनो की तलाश पूरी हो गयी और उनके सम्बन्ध प्रगाढ़तर होते चले गये ।

सीवर्ड उन दिनो वानस्पतिक जीवाश्मों पर कार्य कर रहे थे । साहनी को भी यही विषय प्रिय था । वे अपने योग्य गुरु के सहयोग से इस क्षेत्र मे प्रगति करते रहे । सीवर्ड को साहनी की प्रगति पर दिनोंदिन विश्वास बढ़ता चला और जब साहनी भारत लौटे तो सीवर्ड ने बड़े ही विश्वासपूर्वक कहा कि मैंने जिस परम्परा को कायम किया उसे साहनी आगे बढ़ायेंगे ।

सीवर्ड साहनी की प्रतिभा के प्रति इतने आश्वस्त थे कि उनके भारत आ जाने के बाद भी उन्हे अपना अधिकारी शिष्य मानते रहे । एक बार भारत की वैज्ञानिक सस्था जियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ने सीवर्ड के पास कुछ जीवाश्म निरीक्षण के लिए भेजे । सीवर्ड ने उन जीवाश्मों को यह कहकर लौटा दिया इनके अध्ययन का पहला अधिकार मेरे युवा शिष्य साहनी का है ।

साहनी ने डॉ. सीवर्ड के साथ रहकर जीवाश्म पौधों का अध्ययन किया और वनस्पति-विज्ञान की इस शाखा मे इतनी अधिकारिक दक्षता प्राप्त की कि १९१९ में लंदन विश्वविद्यालय ने उन्हें डी. एस. सी. से "लंकृत किया । प्रो. साहनी अहर्निशि विज्ञान की साधना-उपासना मे जुटे रहते थे । यहाँ तक की कभी-कभी तो उन्हे भोजन करने का ध्यान भी नहीं रहता था । पिता ने अपने पुत्र की इस तन्मयता को गर्व दृष्टि से देखा । लेकिन उन्होने अब अपने पुत्र की एक नयी आवश्यकता समझी—जीवन साथी का जब यह प्रस्ताव रखा गया तो साहनी का उत्तर था कि घर बसाने और परिवार बनाने से तो विज्ञान की साधना में अवरोध ही पैदा होगा क्यो न एकाकी प्रयत्न किये जाये ।

वस्तुत: ऐसी लड़की की खोज भी एक मुश्किल काम था जो उन्हे घर-गृहस्थी की झझटो से बचाकर उनकी साधना मे सहायक बनी रहे । सौभाग्य से कहिए भारत आने के बाद ही यह खोज पूरी हुई । उनके जीवन मे सावित्रीजी जैसी विदुषी लड़की ने प्रवेश किया ।

सन् १९३० मे वे दोनो दाम्पत्यसूत्रों मे बँध गये । उस समय साहनी लखनऊ विश्वविद्यालय के बॉटनी विभाग मे प्रोफेसर के पद पर कार्यरत थे । गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने से पूर्व नौवर्षों तक वे विद्यादान के साथ महत्वपूर्ण शोधकार्य भी करते रहते थे । इस कार्यकाल मे उन्होंने सुयोग्य वैज्ञानिको की एक ऐसी पंक्ति तैयार की जो आगे चलकर इस विज्ञान को सम्पन्न बनाने मे समर्थ सिद्ध हुई ।

१९२१ मे जब साहनी प्रोफेसर बने थे । तब लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना हुए कुछ ही समय हुआ था और उसमे भी विज्ञान से सम्बद्ध वनस्पति जैसा उपेक्षित विभाग था । उस समय उन्हे कुल तीन कमरे मिले थे और प्रयोगशाला तथा वैज्ञानिक उपकरण भी इतने कम कि कोई औसत स्तर का अभिरुचि सम्पन्न व्यक्ति चाहे तो थोड़े बहुत प्रयत्नो के बाद निज की प्रयोगशाला ही बना ले । लेकिन यह एक तथ्य है कि उत्साही और लगनशील व्यक्ति के लिए साधन-उपकरणो की व्यवस्था कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं होती ।

विश्वविद्यालय आर्थिकदृष्टि से भी इतना सम्पन्न नहीं था । प्रबन्धकों का भी इस ओर कोई खास ध्यान नहीं था । परन्तु इन सबसे क्या होता था । प्रोफेसर साहनी

व्यक्तिगतरूप से एकाकी प्रयासो द्वारा उन्होने इतने साधन और सहयोगी जुटा लिए कि आज लखनऊ विश्वविद्यालय का वनस्पति-विभाग भारत के शीर्षस्थ वनस्पति-विभागों में गिना जाता है ।

जिस वर्ष वे प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए उसी वर्ष उन्होने एक ऐसा कार्यक्रम तैयार किया जिसके अन्तर्गत भारत के सम्पूर्ण वानस्पतिक जीवाश्मो का अध्ययन किया जाना था । इस उद्देश्य से उन्होने अपने शिष्यों के साथ भारत भर का भ्रमण किया और जंगलो तथा पहाड़ियो की खाक छान-छानकर कई नये जीवाश्मो का पता लगाया । उन्होंने इस दौरान यह भी ज्ञात किया कि भारतीय जीवाश्मों और यूरोपीय जीवाश्मो मे बड़ा अन्तर है । इस अन्वेषण कार्य मे उन्होंने सर्वाधिक समय दिया तथा महत्वपूर्ण कार्य राजमहल की पहाड़ियो पर किया । राजमहल की पहाड़ियाँ बिहार मे है, यहाँ उनकी उपलब्धियाँ विज्ञान के क्षेत्र में इतनी विस्मयकारी और अद्वितीय रहीं कि उनकी ख्याति विश्वभर में फैल गयी । राजमहल की पहाड़ियों में इन्होंने सारकाडिआइडिया, पेण्टोजाइली, निपतियों फाइलम होमो आइलम, विलियम सोनिया आदि जीवाश्म पौधों का पता लगाया । वनस्पति-विज्ञान मे उनकी ओर भी कई उल्लेखनीय उपलब्धियाँ रहीं । विज्ञान-जगत मे उन्हे इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई कि उनके शोधपत्र प्रमाणों के रूप में माने जाते है । इन्हीं सफलताओ ने विश्व में गौरवपूर्ण स्थान दिलाया । वे कैम्ब्रिज तथा एम्स्टर्डम मे हुई पाँचवीं और छटी अन्तर्राष्ट्रीय वानस्पतिक काँग्रेस मे उपाध्यक्ष बने तथा १९५० मे स्टाकहोम मे आयोजित काँग्रेस के अध्यक्ष ।

वैज्ञानिकों के सम्बन्ध मे सामान्यत: यह समझा जाता है कि इस वर्ग के लोग गम्भीर और किसी दूसरी ही दुनिया मे रहने वाले होते हैं । यह कुछ हद तक सच भी है । वैज्ञानिक गुत्थियो मे ही उलझे रहने के कारण वे लोग प्राय: जागतिक जीवन में उदासीन हो जाते हैं । परन्तु प्रो. साहनी के सम्बन्ध मे यह नहीं कहा जा सकता । न केवल वैज्ञानिक जगत मे वरन् उनके परिचित मित्रों तथा स्वजन-सम्बन्धियों में भी वे सबसे अधिक हँस-मुख तथा खुशमिजाज व्यक्ति माने जाते थे । उनके कई चुटकुले और हास्य-प्रसग लोगो को आज भी याद हैं ।

इतने प्रफुल्ल स्वभाव का व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुखों के प्रति अवश्य ही उदासीन था । उनका जीवन त्यागपूर्वक उपभोग के सिद्धान्त पर आधारित था इसी भावना से प्रेरित होकर सन् १९४६ में जब जीवाश्म शोध प्रतिष्ठान की स्थापना हुई तो उन्हे अपनी सारी सपत्ति, सारी कमाई और समूचा सग्रह इस प्रतिष्ठान को अर्पित कर दिया । इस प्रतिष्ठान की स्थापना के लिए अन्य कई सेवाभावी व्यक्तियो तथा केन्द्रीय और राज्य सरकारो ने भी सहयोग दिया ।

लेकिन कितने दु:ख की बात है कि प्रतिष्ठान की नीव रखे जाने के छह दिन बाद ही अप्रैल १९४९ को वे हमसे विदा हो गये, पं. नेहरू ने जब यह सुना तो एकाएक विश्वास नहीं हुआ और विश्वास हुआ तो आँखों से आँसू टपक पड़े । पं. नेहरू ने ही इस प्रतिष्ठा की नीव रखी थी और उनके कठ से ये स्वर निकले "अब वे केवल स्मृतियों में ही विद्यमान है ।"

महान कामों में लगन-निष्ठा की अनिवार्यता

बात उन दिनो की है, जब लखनऊ विश्वविद्यालय बन रहा था । प्रो. साहनी वनस्पति विभाग के अध्यक्ष थे । केवल तीन ही कमरे बन पाए थे ।

कोई विदेशी वैज्ञानिक डॉ साहनी से मिलने आये, आते ही उन्होने प्रोफेसर साहनी के बारे में किसी से पूछा प्रो. साहनी कहाँ बैठते हैं ?

उसने इशारे से बताया—उधर बरामदे के कोने मे । आगन्तुक वहाँ गये । प्रो. साहनी की मेज पर किताबे-कापियाँ पड़ी थीं । वे सूक्ष्मदर्शी में आँखे गड़ाये कुछ अध्ययन कर रहे थे । उसने आश्चर्य प्रगट किया—प्रो. साहनी आपका कोई निजी कमरा नहीं है । प्रो. साहनी ने बड़े आत्म-विश्वास से कहा—"हमेशा बड़े काम ऐसे ही किये जाते हैं । बड़े कामो के लिए तड़क-भड़क ही नही निष्ठा, लगन की जरूरत होती है ।" आगन्तुक प्रो. साहनी के विचारो की महानता से अविभूत हो उठा ।

नोबुल पुरस्कार विजेता—डॉ. खुराना

बालक गोविन्द अपने बड़े भाई नन्दलालखुराना को पकड़कर पास बिठा लेता और घड़ी सामने रखकर कहता 'देखें भाई ! एक मिनट मे कौन अधिक शब्द लिख सकता है ।' गोविन्द इस प्रतियोगिता में अपने भाई को सदैव परास्त कर देता था । घरेलू प्रतियोगिताओं मे सदैव विजयी होने वाला बालक एक दिन नोबुल पुरस्कार विजेता बनेगा ऐसी किसी को भी आशा नहीं थी ।

चौबीस घण्टे के दिन रात में १८ घण्टे प्रयोगशाला में कार्य करने वाला यह वैज्ञानिक प्रारम्भ से ही समय का सदुपयोग करता रहा है और इस संसार में जिसने भी महानता प्राप्त की है और कुछ कर दिखाया है उसका रहस्य यही है ।

इस भारतीय-वैज्ञानिक का जन्म ९ फरवरी, १९२२ को अविभाजित भारत के जिला मुलतान के रायपुर ग्राम मे हुआ था । पिता लालागनपतराय पटवारी थे । जब गोविन्द की आयु केवल १२ वर्ष थी तभी माता के प्यार से उसे वचित हो जाना पड़ा । माता कृष्णा देवी धर्म परायण स्त्री थीं उन्होंने ही पाल-पोसकर बड़ा किया और पढ़ाया-लिखाया । अपनी माता से इन्हें तीन चीजे सीखने को मिलीं । ईश्वर के प्रति आस्था, बड़ो का सम्मान और कठोर परिश्रम ।

गोविन्द बचपन से ही मेधावी छात्र के रूप में रहे । खूब पढ़ते थे, खूब खेलते थे और शैतानी में भी किसी से

पीछे न रहते थे। भाषण देने की कला तो इन्हें छात्र जीवन से ही आ गई थी। गणित के प्रश्नों को हल करने में सदैव व्यस्त रहते। कभी-कभी तो खाना बनाते समय अपनी माँ के पास बैठ जाते और उससे होड़ करते "देखें माँ, तुम्हारी रोटी तवे से उतरकर चूल्हे मे पहले पहुँचती है अथवा मेरे प्रश्न का उत्तर पहले आता है।"

हर गोविन्द को अपने माता-पिता का अधिक लाड़-प्यार मिला था क्योंकि सब भाई-बहिनों में यह छोटे थे इसलिये माँ इनसे किसी काम के लिये नहीं कहती थी फिर भी चुपचाप घर के अनेक कार्य निबटा देते थे। प्राथमिक शिक्षा रायपुर गाँव में ही हुई। यह शुरू से ही प्रत्येक कक्षा में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त करने लगे थे। इसलिये योग्यता के आधार पर इन्हे छात्रवृत्ति मिलने लगी। माध्यमिक परीक्षा खानेवाल से दी और जिले भर मे प्रथम स्थान प्राप्त किया। इस आधार पर उन्हे फिर अगली कक्षाओं के लिये छात्रवृत्ति मिल गई। एम एस. सी. आनर्स तक वह छात्रवृत्ति के आधार पर ही पढ़ते रहे और प्रत्येक परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे।

सन् १९४६ मे भारत-सरकार द्वारा शोध-कार्य करने के लिए छात्रवृत्ति स्वीकृत हुई और वह इंगलैड के लिवरपूल विश्वविद्यालय चले गये। अर्देश्वर दलाल योजना के अन्तर्गत जिन सौ छात्रों को उच्चतर-शिक्षा हेतु विदेश भेजा गया था उनमे से हरगोविन्द भी एक थे।

लिवरपूल मे प्रो. ए. राबर्टसन के मार्ग-दर्शन मे शोध-कार्य पूर्ण करके १९४८ मे उन्होंने पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर ली। एक वर्ष बाद ही स्विटजरलैंड के ज्यूरिख नगर के समीप तकनीकी संस्थान मे प्रो. प्रीलॉग के साथ शोध-कार्य करने लगे। जब उनका कार्य समाप्त हो गया तो भारत-सरकार के निमन्त्रण पर स्वदेश लौट आये।

यहाँ वह केवल तीन माह रहे। यह अल्पकाल उनके जीवन मे सबसे अधिक दु:खदायी सिद्ध हुआ। नौकरी की तलाश मे इधर-उधर घूमते रहे पहले तो कहीं अच्छी नौकरी मिलती ही न थी और बाद मे मिली भी तो केवल तीन सौ रुपये मासिक वेतन पर। हरगोविन्द के जीवन मे निराशा अपना स्थान बनाती जा रही थी। अब वह इंगलैड लौट जाना चाहते थे। किराये के लिए उनके पास पैसे न थे। बड़े सकोच के साथ उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दलालखुराना से मार्गव्यय की व्यवस्था करने के लिये कहा। माता और परिवार के अन्य सदस्य नही चाहते थे कि हरगोविन्द भारत छोड़कर अन्यत्र जाये पर उनसे यह भी छिपा न था कि यह प्रतिभासम्पन्न और मेधावी वैज्ञानिक है जिसके लिये विकसित और साधनसम्पन्न प्रयोगशालाएँ भारत में नहीं है। अत: वह एक दिन कैम्ब्रिज वापस चले गये।

उनके परिवार की स्थिति उन दिनो बड़ी खराब थी। बड़े भाई सुभाषचन्द्रबोस के साथ आजाद हिन्द फौज में कार्य करने लगे थे। आजादहिन्दफौज के जवानो को ब्रिटिशसरकार ने कैद कर लिया था और सन् १९४६ मे जब छोड़ा तो न किसी प्रकार की पेंशन दी गई और न किसी रोजगार की व्यवस्था की गई। सरकार ने तो मुलतान से खानेवाल तक का आठ आने का टिकट लेकर विदा कर दिया था।

हरगोविन्द कैम्ब्रिज में दो वर्ष तक नुफील्ड फैलो रह कर तथा प्रो. अलेक्जेंडर टाड के साथ कार्य करके सन् १९५२ में कनाडा चले गये। वहाँ ब्रिटिश-कोलम्बिया अनुसन्धान-परिषद् के अन्तर्गत आरगैनिक केमिस्ट्री ग्रुप के विभागाध्यक्ष बने। उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर सन् १९५८ में कनाडा के रसायन-संस्थान ने शोध-कार्य हेतु एक पुरस्कार प्रदान किया। उनके जीवन में सादगी तो इतनी थी कि वह लिवरपूल में हाथ से कपड़े धोकर छात्रवृत्ति मे से भी पैसे बचा लेते थे। उनकी यही बचत-धन राशि कैम्ब्रिज की यात्रा में काम आई थी।

उनके साथ कैम्ब्रिज, मास्को, बर्कले, स्वीडन, न्यूयार्क, और लास एंजिल्स विश्वविद्यालयों के अनेक प्रोफेसरों ने कार्य किया था। उनमें प्रमुख जीव-शास्त्री डॉ. आर्थर कोर्नबर्ग थे। सन् १९५९ में डॉ. फ्रित्ज लिपमैन द्वारा खोजे गये को-एन्जाइम 'ए' का विश्लेषण कर उन्होने संसार मे ख्याति प्राप्त की। अब तो संसार के सभी विश्वविद्यालयो मे भाषण देने के लिये आमन्त्रित किये जाने लगे। केवल भारत के द्वारा ही उन्हे निमन्त्रण नहीं मिला और न यहाँ के निवासियो ने उनकी प्रतिभा को पहचाना। वैसे इन दिनो वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक बन चुके थे। पर भारतवासियो ने तो उन्हे नोबुल पुरस्कार विजेता के रूप मे ही देखा। इनके कैम्ब्रिज से छह, लिवरपूल से चार, ज्यूरिख से दो तथा कनाडा से ५३ शोध निबन्ध प्रकाशित हो चुके थे।

२७ मई, १९५९ को इस भारतीय-वैज्ञानिक के सम्मान में कनाडा मे एक विराट भोज का आयोजन किया गया तथा डॉ. लिपमैन सरीखे अनेक वैज्ञानिकों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनके साथ शोध-कार्य करने वाले वैज्ञानिकों मे आस्ट्रेलिया के डॉ. राल्फ, जर्मनी के डॉ. लर्च, कनाडा के डॉ. मार्फेट, अमरीका के डॉ. रैमलर, मैचेस्टर के डॉ. स्मिथ, के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं।

१९६० में डॉक्टर खुराना विस्कान्सिन विश्वविद्यालय के एन्जाइम शोध-संस्थान मे प्रोफेसर होकर अमरीका चले गये और बाद मे इस संस्थान के महा-निदेशक बने। १९६६ मे उन्होंने अमरीकी नागरिकता ग्रहण कर ली। नोबुल पुरस्कार मिलने से एक दिन पूर्व ही कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने उन्हे तथा उनके साथी डॉ. मार्शल वारेन निरेन वर्ग के लिये पच्चीस हजार डालर की राशि का 'लुइसा ग्रौस हारविन्स पुरस्कार' घोषित किया गया। उनके शोध-कार्य ने वैज्ञानिकों को जैविक गुणों को समझने की एक दिशा प्रदान की।

सन् १९५२ मे ही एक स्विस ससद-सदस्य की पुत्री एस्था पी. एच. डी. के साथ उनका विवाह हो चुका था। डॉक्टर खुराना को अपनी पत्नी के द्वारा पारिवारिक और वैज्ञानिक कार्यों में पूरी-पूरी सहायता मिली। उनके दो पुत्रियाँ तथा एक पुत्र है। डॉक्टर खुराना विदेश मे रहकर तथा इतने

बड़े वैज्ञानिक होते हुए भी अपने भारतीय परिवार को भूले नहीं वह बराबर आर्थिक सहायता पहुँचाते रहते। आशा है उनके शोध कार्य मानव को और अधिक सुखी तथा आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा देंगे ।

विश्व शान्ति के प्रबल प्रचारक— ग्रेनविल क्लार्क

स. रा. अमेरिका के ब्रिटेन स्थित भूतपूर्व राजदूत लुइस डगलास के कथनानुसार वे द्वितीय विश्वयुद्ध को दो तीन वर्ष पहले ही समाप्त कराने का श्रेय पाते हैं । स. रा. अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति जान. एफ. केनेडी ने उनके लिए ऐसी ही टिप्पणी की थी "ग्रेनविल क्लार्क ने जब यह समझा कि इस स्थिति में युद्ध अवश्यम्भावी है तो वे स. रा. अमेरिका को युद्ध मे कूद पड़ने के लिए तत्पर करते रहे । और जब उन्होंने देखा कि अब युद्ध की विभीषिका से विश्व को सदा के लिए मुक्ति दिलायी जा सकती है तो वे शान्ति प्रयासों के लिए भी उसी तरह आगे आये । उनका ध्येय सदा एक ही रहा विश्व की शान्ति और उसका स्थायी अस्तित्व । उनके आभार से हम मुक्त नहीं हो सकते ।"

जिस व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह टिप्पणियाँ की गयी है—ग्रेनविल क्लार्क का जीवन पारिवारिक दायित्वो के निर्वाह, व्यक्तिगत कामनाओ की सन्तुष्टि, राष्ट्रीय समस्याओं में अनूठे योगदान व विश्व शान्ति की अभिनव योजनाओं के सृजन का एक महाकाव्य रहा है ।

ग्रेनविल क्लार्क का जन्म १८८२ मे अमेरिका के गगनचुम्बी प्रासादो के महानगर न्यूयार्क की फिफ्थ एवेन्यू स्थित एक भव्य अट्टालिका मे हुआ था, जहाँ सम्पन्नता व ऐश्वर्य मे प्रतिस्पर्धा हुआ करती थी । अपार धन सम्पदा और सुख-वैभव के अपरिमित उपादानो के बीच पलने वाला यह बालकशाही हरमो के से सुख-ऐश्वर्य सुरा-सुन्दरियो की छाया में पलने वाले अय्याश शहजादो की तरह अकर्मण्य और विलासी नहीं हुआ । जैसा कि अमेरिका की सम्पन्नता व आरामतलबी के परिवेश मे पोषित होने वाले सामान्य भुक्त भोगी अमरीकी युवको की बाढ़ से यह स्पष्ट हो रहा है । धन और ऐश्वर्य प्रगति के सोपान नहीं पाँव की बेड़ियाँ ही अधिक सिद्ध हो रहे हैं ।

बालक ग्रेनविल अपने परिवेश मे ही खोकर नहीं रह गया । उसने अपने आपको एक धनी परिवार मे उत्पन्न होने वाले बालक की अपेक्षा विश्व का भावी नागरिक ही समझा । यह सब उसकी जिज्ञासुवृत्ति और स्वाध्यायशीलता का ही सुपरिणाम था । वह पारिवारिक सम्पदा पर अपना आधिपत्य, अधिकार नहीं मानता था । वरन् उसे अपनी प्रगति मे सहायक भर मानता था । उसने यदि ऐसा परिष्कृत दृष्टिकोण न अपनाया होता तो बहुत सम्भव था वह भी उससे उत्पन्न होने वाले विकारो से स्वय को अलिप्त न रख सका होता ।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विधि महाविद्यालय से विधि स्नातक की शैक्षणिक उपाधि पाने के पश्चात् उन्होंने न्यूयार्क में प्रैक्टिस आरम्भ की । अपनी परिश्रमशीलता व मस्तिष्कीय पकड़ के कारण वे थोड़े ही दिनों में न्यूयार्क के जाने-माने वकील बन गये । अपने इसी व्यवसाय के दौरान उनका सम्पर्क अपने सहव्यवसायी अभिभाषक फ्रेंकलिन डी. रूजवेल्ट से हुआ । उनका यह सम्पर्क थोड़े ही दिनों मे अटूट मैत्री में परिवर्तित हो गया । उनकी यह मैत्री रूजवेल्ट के राष्ट्रपति हो जाने पर अमेरिका के हित में काफी लाभकारी सिद्ध हुई । अपने एक साझीदारी अभिभाषक से मिलकर उन्होंने अपनी एक स्वतन्त्र-विधि संस्था बनाई जो काफी सफल व लोकप्रिय रही ।

आरम्भ से ही उनके विचार व्यक्तियों के सम्बन्ध मे ही नहीं, राष्ट्रों के सम्बन्ध मे भी मैत्री एवं भ्रातृत्व के आदर्शों के समर्थक रहे थे । वे यह मानते थे कि विश्व के देशों में पारस्परिक सद्भावना व सामञ्जस्य बना रहे इसका दायित्व राजनयिकों पर ही नहीं है वरन् प्रत्येक जागरूक विश्व-नागरिक को इस सम्बन्ध में अपने दायित्व का भान रहना चाहिए । वे अपनी इस मान्यता के अनुरूप ही अपना योगदान इस दिशा में देते रहे थे ।

अपना अभिभाषण व्यवसाय करते हुए भी उन्होंने विश्व-बन्धुत्व व निरस्त्रीकरण के प्रारम्भिक क्रिया-कलाप आरम्भ कर दिये थे । वे किसी भी देश की सैन्यशक्ति का बढ़ना विश्वशान्ति के प्रति घातक मानते थे । राष्ट्र की सुरक्षा व विश्वशान्ति के लिए युद्ध करना भी पड़े तो उसमे प्रत्येक नागरिक का योगदान हो । इस सम्बन्ध मे उन्होंने अपना एक व्यावहारिक कार्यक्रम भी स. रा. अमेरिका सरकार के सम्मुख रखा । १९१५ में योरोप के आकाश पर जब अशान्ति के बादल मँडराने लगे तो अमेरिका ने अपनी सेना मे वृद्धि करने का निश्चय किया । इस निश्चय का विरोध करते हुए उन्होंने रक्षा मन्त्री के सामने अपनी योजना रखी । उनकी यह योजना थी कि स्वेच्छा से जो व्यक्ति भावी युद्ध में अपने देश की रक्षा व विश्व पर तानाशाही का साम्राज्य स्थापित न हो जाय, इसके लिए अपनी सामयिक सेवाएँ देना चाहे वे उसके लिए पूरी-पूरी ट्रेनिंग ले ले । इस प्रकार धन की भी बचत होगी और सैनिकशक्ति के बढ़ने के साथ उत्पन्न होने वाले खतरों व समस्याओ से भी बचाव हो जायेगा ।

उनकी यह योजना स्वीकार कर ली गई । न्यूयॉर्क तथा अन्य तीन नगरों मे प्रशिक्षण-केन्द्र खोल दिये गये । १९१५ मे ही १२०० अधिकारी श्रेणी के लोगों को प्रशिक्षित किया गया । इस सफलता से प्रोत्साहित होकर सरकार ने एक सैनिक-प्रशिक्षण-कार्यक्रम ही आरंभ कर दिया । क्लार्क को उसका निदेशक बनाया गया । १९१६ में इनके इस कार्यक्रम के अन्तर्गत १६,००० लोगों को युद्ध-कला में स्नातक उपाधि प्रदान की गयी ।

१९१७ मे जब स. रा. अमेरिका युद्ध मे कूदा तो अधिकारी-वर्ग में अधिकांश व्यक्ति इसी प्रशिक्षण कार्यक्रम से

पीछे न रहते थे । भाषण देने की कला तो इन्हें छात्र जीवन से ही आ गई थी । गणित के प्रश्नो को हल करने में सदैव व्यस्त रहते । कभी-कभी तो खाना बनाते समय अपनी माँ के पास बैठ जाते और उससे होड़ करते "देखे माँ, तुम्हारी रोटी तवे से उतरकर चूल्हे मे पहले पहुँचती है अथवा मेरे प्रश्न का उत्तर पहले आता है ।"

हर गोविन्द को अपने माता-पिता का अधिक लाड़-प्यार मिला था क्योकि सब भाई-बहिनो मे यह छोटे थे इसलिये माँ इनसे किसी काम के लिये नही कहती थी फिर भी चुपचाप घर के अनेक कार्य निबटा देते थे । प्राथमिक शिक्षा रायपुर गाँव मे ही हुई । यह शुरू से ही प्रत्येक कक्षा मे सर्वोत्तम स्थान प्राप्त करने लगे थे । इसलिये योग्यता के आधार पर इन्हे छात्रवृत्ति मिलने लगी । माध्यमिक परीक्षा खानेवाल से दी और जिले भर मे प्रथम स्थान प्राप्त किया । इस आधार पर उन्हे फिर अगली कक्षाओ के लिये छात्रवृत्ति मिल गई । एम. एस. सी. आनर्स तक वह छात्रवृत्ति के आधार पर ही पढ़ते रहे और प्रत्येक परीक्षा मे प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे ।

सन् १९४६ मे भारत-सरकार द्वारा शोध-कार्य करने के लिए छात्रवृत्ति स्वीकृत हुई और वह इंगलैड के लिवरपूल विश्वविद्यालय चले गये । अर्देश्वर दलाल योजना के अन्तर्गत जिन सौ छात्रो को उच्चतर-शिक्षा हेतु विदेश भेजा गया था उनमे से हरगोविन्द भी एक थे ।

लिवरपूल मे प्रो. ए. राबर्टसन के मार्ग-दर्शन मे शोध-कार्य पूर्ण करके १९४८ मे उन्होने पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर ली । एक वर्ष बाद ही स्विटजरलैड के ज्यूरिख नगर के संघीय तकनीकी संस्थान मे प्रो. प्रीलॉग के साथ शोध-कार्य करने लगे । जब उनका कार्य समाप्त हो गया तो भारत-सरकार के निमन्त्रण पर स्वदेश लौट आये ।

यहाँ वह केवल तीन माह रहे । यह अल्पकाल उनके जीवन मे सबसे अधिक दु:खदायी सिद्ध हुआ । नौकरी की तलाश मे इधर-उधर घूमते रहे पहले तो कही अच्छी नौकरी मिलती ही न थी और बाद मे मिली थी तो केवल तीन सौ रुपये मासिक वेतन पर । हरगोविन्द के जीवन मे निराशा अपना स्थान बनाती जा रही थी । अब वह इग्लैड लौट जाना चाहते थे । किराये के लिए उनके पास पैसे न थे । बड़े संकोच के साथ उन्होने अपने बड़े भाई नन्दलालखुराना से मार्गव्यय की व्यवस्था करने के लिये कहा । माता और परिवार के अन्य सदस्य नही चाहते थे कि हरगोविन्द भारत छोड़कर अन्यत्र जाये पर उनसे यह भी छिपा न था कि यह प्रतिभासम्पन्न और मेधावी वैज्ञानिक हैं जिसके लिये विकसित और साधनसम्पन्न प्रयोगशालाएँ भारत मे नही है । अत: वह एक दिन कैम्ब्रिज वापस चले गये ।

उनके परिवार की स्थिति उन दिनो बड़ी खराब थी । बड़े भाई सुभाषचन्द्रबोस के साथ आजाद हिन्द फौज मे कार्य करने लगे थे । आजादहिन्दफौज के जवानो को ब्रिटिशसरकार ने कैद कर लिया था और सन् १९४६ मे जब छोड़ा तो न किसी प्रकार की पेंशन दी गई और न किसी रोजगार की व्यवस्था की गई । सरकार ने तो मुलतान से खानेवाल तक का आठ आने का टिकट लेकर विदा कर दिया था ।

हरगोविन्द कैम्ब्रिज में दो वर्ष तक नुफील्ड फैलो रह कर तथा प्रो. अलेक्जेंडर टाड के साथ कार्य करके सन् १९५२ में कनाडा चले गये । वहाँ ब्रिटिश-कोलम्बिया अनुसन्धान-परिषद् के अन्तर्गत आरगैनिक केमिस्ट्री ग्रुप के विभागाध्यक्ष बने । उनकी सेवाओ से प्रभावित होकर सन् १९५८ मे कनाडा के रसायन-संस्थान ने शोध-कार्य हेतु एक पुरस्कार प्रदान किया । उनके जीवन मे सादगी तो इतनी थी कि वह लिवरपूल मे हाथ से कपड़े धोकर छात्रवृत्ति मे से भी पैसे बचा लेते थे । उनकी यही बचत-धन राशि कैम्ब्रिज की यात्रा में काम आई थी ।

उनके साथ कैम्ब्रिज, मास्को, बर्कले, स्वीडन, न्यूयार्क, और लास एंजिल्स विश्वविद्यालयों के अनेक प्रोफेसरो ने कार्य किया था । उनमे प्रमुख जीव-शास्त्री डॉ. आर्थर कोर्नबर्ग थे । सन् १९५९ मे डॉ. फ्रित्ज लिवमैन द्वारा खोजे गये को-एन्जाइम 'ए' का विश्लेषण कर उन्होने संसार मे ख्याति प्राप्त की । अब तो संसार के सभी विश्वविद्यालयो मे भाषण देने के लिये आमन्त्रित किये जाने लगे । केवल भारत के द्वारा ही उन्हे निमन्त्रण नहीं मिला और न यहाँ के निवासियो ने उनकी प्रतिभा को पहचाना । वैसे इन दिनो वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक बन चुके थे । पर भारतवासियो ने तो उन्हे नोबुल पुरस्कार विजेता के रूप मे ही देखा । इनके कैम्ब्रिज से छह , लिवरपूल से चार, ज्यूरिख से दो तथा कनाडा से ५३ शोध निबन्ध प्रकाशित हो चुके थे ।

२७ मई, १९५९ को इस भारतीय-वैज्ञानिक के सम्मान मे कनाडा मे एक विराट भोज का आयोजन किया गया तथा डॉ. लिपमैन सरीखे अनेक वैज्ञानिको ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । उनके साथ शोध-कार्य करने वाले वैज्ञानिको मे आस्ट्रेलिया के डॉ. राल्फ, जर्मनी के डॉ. लर्च, कनाडा के डॉ. माफेट, अमरीका के डॉ. रैमलर, मैचेस्टर के डॉ. स्मिथ, के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं ।

१९६० मे डॉक्टर खुराना विस्कान्सिन विश्वविद्यालय के एन्जाइम शोध-संस्थान मे प्रोफेसर होकर अमरीका चले गये और बाद मे इस संस्थान के महा-निदेशक बने । १९६६ मे उन्होने अमरीकी नागरिकता ग्रहण कर ली । नोबुल पुरस्कार मिलने से एक दिन पूर्व ही कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने उन्हे तथा उनके साथी डॉ. मार्शल वारेन निरेन वर्ग के लिये पच्चीस हजार डालर की राशि का 'लुइसा ग्रौस हारविन्स पुरस्कार' घोषित किया गया । उनके शोध-कार्य ने वैज्ञानिको को जैविक गुणो को समझने की एक दिशा प्रदान की ।

सन् १९५२ मे ही एक स्विस ससद-सदस्य की पुत्री एस्था पी. एच. डी. के साथ उनका विवाह हो चुका था । डॉक्टर खुराना को अपनी पत्नी के द्वारा पारिवारिक और वैज्ञानिक कार्यो मे पूरी-पूरी सहायता मिली । उनके दो पुत्रियाँ तथा एक पुत्र है । डॉक्टर खुराना विदेश मे रहकर तथा इतने

उसने सोचा ऐसे स्थान पर रहकर उन लोगों की सेवा करने मे उसे कितना आत्म-सन्तोष मिलेगा, जहाँ वास्तव मे डॉक्टर की आवश्यकता है ।

गोर्डनसीग्रेव ने आगन्तुक अतिथि को अपने मन की बात कह दी । डॉक्टर हार्पर ने उससे कुछ प्रश्न पूछे और जब उसे विश्वास हो गया कि गोर्डन उसका उत्तराधिकारी बन सकता है तो उसने गोर्डनसीग्रेव की शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया ।

१९१७ में वह जॉन हॉपकिन्स मेडीकल स्कूल, बाल्टीमोर, मेरीलेण्ड, स. रा. अमेरिका मे भर्ती हुआ । यहीं उसका परिचय मार्टिनमोर्स नामक एक युवती से हुआ । युवती उसके पारमार्थिक जीवनोद्देश्य से अत्यधिक प्रभावित हुई । उसका भी विचार यही था कि जीवन का लक्ष्य-मात्र खाने-पीने और मौज-मजा करने से भी कुछ ऊँचा होना चाहिये । उनके विचार मिलते थे सो यह परिचय घनिष्ठता मे बदलता हुआ एक दिन विवाह की मंजिल तक जा पहुँचा ।

अब गोर्डनसीग्रेव अपने मिशन मे अकेला नहीं रह गया था उसे एक साथी मिल गया था । ये दोनों जवानी का कुछ दूसरा ही अर्थ लेते थे । जवानी मात्र हास-विलास की उम्र नहीं वरन् ऐसी मधुऋतु है जिसमे कठिन और असम्भवकार्य भी सम्भव और सरल किये जा सकते हैं ।

अपनी शिक्षा समाप्त कर यह युगल अपने कर्मक्षेत्र की ओर चल पड़ा । उत्तरीबर्मा के घने जंगलों में अवस्थित नामखाम वह स्थान था जहाँ हार्पर ने एक अस्पताल खोल रखा था । वहीं उन्हें अपनी चिकित्सा सेवाएँ देनी थीं । स्टीमर द्वारा बंगाल की खाड़ी को पार करके रंगून होते हुए कई दिनों तक नाव द्वारा इरावदी नदी में सफर करते हुए वे इस स्थान पर पहुँचे तो डाक्टर हार्पर के तथाकथित चिकित्सालय को देखकर उनके मुँह से आश्चर्य भरी चीख निकल पड़ी ।

अस्पताल के नाम पर यहाँ एक छोटी सी झोपड़ी थी जो निकटवर्ती जगलो मे लायी गयी लकड़ियो से बनाई गयी थी । इसमें तो उँगलियो पर गिने जाने जितने मरीज भी नही रखे जा सकते थे । लेकिन अभी उन्होंने देखा ही क्या था । अभी तो उन्हें और भी बहुत कुछ देखना था ।

दूसरे ही दिन उन्होंने अपना कार्य आरम्भ किया तो पता चल गया कि यहाँ पर यह छोटा-सा चिकित्सालय भी पर्याप्त है । दिन भर मे एक भी मरीज उधर नहीं आया । इस प्रकार कई दिन गुजर गये लेकिन अस्पताल में एक भी मरीज नहीं आया । अब वे क्या करें । उनके क्षेत्र मे दो लाख आदिवासी लोग थे के पर उनमे से एक भी व्यक्ति अस्पताल मे चिकित्सा कराने नहीं आया ।

उन्होने चुप बैठे रहने की अपेक्षा उस क्षेत्र के आदिवासियों मे काम करने का निश्चय किया । वे स्थान-स्थान पर जाते और उन्हे उपयोगी पुस्तके बाँटते । लोग उनके द्वारा बाँटी गयी पुस्तकों को ले तो लेते पर पढ़ते नहीं । वे या तो उन्हे फेंक देते या उनसे बीड़ी बनाने का काम लेते पर कोई अस्पताल के निकट फटका भी नहीं ।

उन्हें अस्पताल मे चिकित्सा कराने के लिये श्रीमती गोर्डन को वहाँ की स्थानीय भाषा 'दही' सीखनी पड़ी । वे लोग घर-घर जाकर शक्तिवर्द्धक गोलियाँ बाँटते । बड़ी कठिनाई से लोगों ने उन पर विश्वास किया तब कहीं जाकर अस्पताल का काम चला ।

धीरे-धीरे चिकित्सालय में रोगियों की संख्या बढ़ने लगी उसके साथ ही काम भी बढ़ने लगा । चिकित्सालय की यह झोपड़ी छोटी पड़ने लगी । श्रीसीग्रेव ने इस बारे मे ऊपर लिखा । अस्पताल बनाने के लिये ऊपर से २०,००० डालर की सहायता आयी । यह सहायता गोर्डनसीग्रेव के इच्छित चिकित्सालय के लिये अति स्वल्प थी । इसके लिये उन्होंने सहकारिता की रीति अपनायी । अपने द्वारा प्रशिक्षित की गयी ग्रामीण नर्सों और उनके प्रति श्रद्धाभावना रखने वाले लोगों की सहायता से नदी से पत्थर एकत्रित कराये गये । एक ट्रक किराये पर लिया जो १३० मील दूर स्थित रेलवेस्टेशन लाशियों से सीमेंट लाता था । बर्मा में फैले हुए मिशनरियों को छुट्टियों मे वहाँ बुलवा लिया और सबने मिलकर एक बड़े से मजदूर-चिकित्सालय-भवन का निर्माण किया । सहकारिता के कारण थोड़ी सी धनराशि मे बड़ा-सा चिकित्सालय स्थापित हो गया ।

गोर्डनसीग्रेव के साथी ज्यों-ज्यों लोग रोग मुक्त होते जाते त्यों-त्यों उनकी ख्याति फैलती जाती और अस्पताल मे रोगियों की भीड़ बढ़ती जाती थी । अब तक अपने पुराने टोने, टोटके, झाड़-फूँक, जन्तर-मन्तर व देशी दवाइयों की प्रचलित चिकित्सा के कारण रोग ठीक न होने के कारण कई लोग असमय ही मृत्यु के ग्रास बन जाते थे अब उनकी प्राण रक्षा होने लगी ।

इन लोगो के पास डॉक्टर की फीस व दवाई के पैसे देने के लिये कुछ भी न था । डॉक्टर गोर्डन एक रोगी पर प्रतिदिन बारह सेंट (एक रुपये से थोड़ा सा कम) व्यय करते थे किन्तु गरीब मरीजो से कभी नहीं कहते थे कि वे इसका भुगतान करें । इसका परिणाम यह होता था कि उनका और उनकी पत्नी का आधे से भी ज्यादा वेतन इस कार्य मे भेंट हो जाता था । उन्हें मोटे वस्त्र और सादा खाना ही नसीब होता था । पर इसके साथ ही उन्हे जो आत्म-सन्तोष मिलता था वह उन सुख-सुविधाओं से हजारो गुना अधिक होता था जिन्हे सामान्य व्यक्ति महत्व देते हैं । उनके मरीजों द्वारा उन्हे इस चिकित्सा के बदले कभी थोड़ा सा अन्न, एक अण्डा, एक मुर्गा या एक बकरा मिल जाता था वह भी कभी कभार ।

यदाकदा उनके सामने ऐसे भी प्रसंग आ जाते थे तब उन्हे यह अनुभव होता था कि उनका जीवन सार्थक हो गया है । एक बार उन्होंने एक चीनी का उपचार किया । वह इतना गरीब था कि वह अपने प्राणरक्षक को कुछ भी देने मे असमर्थ था । पर वह कृतघ्न कैसे रह जाए । वह वापस

निकले हुए थे । विश्व-युद्ध के समय १६०,००० लोगों ने अपनी अवैतनिक सेवाऐं सरकार को समर्पित करने का आवेदन किया । इनमें सभी श्रेणी के व्यक्ति थे । इनमें से २७,००० को कमीशन दिया गया । युद्ध काल में सामान्य नागरिकों के इस प्रकार सैनिक बन जाने को फ्रांस के एक इतिहासकार ने 'सैनिक चमत्कार' की संज्ञा दी है । मित्रराष्ट्रों की विजय में ग्रेनविल क्लार्क के महत्वपूर्ण योगदान को उसने पूरी तरह स्वीकारा है ।

प्रथम व द्वितीय-विश्व युद्ध के समय में ग्रेनविल क्लार्क ने अपनी महत्वपूर्ण सेवाऐं मानवता की रक्षा व तानाशाहों की भ्रष्ट कामनाओं के शीशमहल को चूर-चूर करने में लगायीं । युद्ध को विध्वंसक व अनावश्यक मानते हुए भी अनिवार्यता के रूप मे उन्होंने स्वीकारा और एक कर्नल के रूप में वे स .रा. अमेरिका सेना में रहकर अपना जौहर दिखाते रहे । युद्धकाल के अनन्तर वे पुनः अपने व्यवसाय में लग जाते थे ।

क्लार्क ने कभी राजनीति मे भाग नहीं लिया । फिर भी वर्षों तक अमेरिका सरकार ने उनकी बातों को माना । उन्हे किसी राजनयिक से अधिक ही मान्यता मिली । इसके मूल मे उनका प्रखर चिन्तन व उच्च बौद्धिक-क्षमता ही मुख्य थी ।

१९४४ मे जब वे ६२ वर्ष के हो गये तो उन्होंने अपने व्यवसाय तथा सरकारी पद से मुक्ति पाली थी तथा अब एक भारतीय वानप्रस्थ की तरह पूरी तरह समाजसेवी का जीवन जीने लगे । अपने न्यूहेम्पशायर नगर स्थित एक सामान्य बंगले में वे रहने लगे तथा विश्व शान्ति के लिए प्रयास करने लगे । वे कहते थे कि मेरा वास्तविक जन्म तो आज हुआ है । मेरे जो अरमान थे उन्हें पूरा करने का समय तो अब आया है । अभी तक तो मैं घर-परिवार व देश की समस्याओं से बँधा हुआ था किन्तु अब मैं उन सबसे अपने को मुक्त पा रहा हूँ । उनका रहन-सहन बहुत ही सादा था । वे दिखावे व बाह्याडम्बर मे फँसकर जीवनोद्देश्य से भटकने को मूर्खता की संज्ञा देते है ।

अपने इस शान्त एकान्त घर मे रहकर वे शान्ति विषयक योजनाओ पर गहन चिन्तन करते, लेखन करते तथा विश्व के राजनयिको व समाज-सेवियो से पत्राचार करते । वे युद्ध को निमन्त्रण देने के सर्वथा विरुद्ध थे । यदि एक विवशता की तरह ऊपर थोप ही दिया जाय तो प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा के लिए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे होने वाले अत्याचार को रोकने के लिये तो कमर कसनी ही पड़ती है । उनकी मान्यता थी कि जिस प्रकार व्यक्ति अपनी नैतिक व वैधानिक मर्यादाओं मे बँधा हुआ नीतिपूर्वक शान्ति से जीवनयापन करता है । कोई नीतियों का उल्लंघन करता है तो सामाजिक व वैधानिक दण्ड व्यवस्था उसे रास्ते पर लाने, उसके अपराध का दण्ड देने के लिए मौजूद होती है । उससे कोई बच नहीं सकता । ऐसी ही व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर देशों में भी पारम्परिकरूप से स्थापित की जा सकती है । यह समय को देखते हुए आवश्यक भी है ।

वे इसे असम्भव भी नहीं मानते थे । उनका विश्वास था कि आणविक शस्त्रास्त्रों पर व्यय होने वाले धन का दशमांश भी यदि इन प्रयासों में लगाया जाय तो यह सम्भव है । पारस्परिक समस्याओं व विवादों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय करे । उसके पास अपने आदेशों को मनवाने के लिए अपनी सैन्य-व्यवस्था हो । उन्होंने अपने इन सिद्धान्तों की विषद व्याख्या 'इण्डियाना ला रिव्यू' नामक पत्रिका मे १९४४ में प्रकाशित भी की थी ।

उनकी यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सेना आज तक चली आयी सैन्य परम्परा से सर्वथा भिन्न थी । यह उन प्रशिक्षित स्वयं सेवकों का दल होगा जो आवश्यकता पड़ने पर एक सैन्य-संगठन के रूप मे परिवर्तित हो जाऐंगे । देश की जनसंख्या के अनुसार इनकी संख्या निर्धारित की जाएगी ।

१९४५ मे जब संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई तो उन्होंने सोचा था कि उनका स्वप्न साकार हो जायगा किन्तु उसमें वीटोपावर, न्यायालय को अपने निर्णयो को मनवाने के लिये कोई सैन्यशक्ति नहीं होना आदि ऐसे कारण हैं जिनसे कि उनका स्वप्न साकार नहीं हो सका । संयुक्त-राष्ट्र-संघ हथियारों की घुड़दौड़ रोकने में इन्हीं कारणों से असमर्थ रहा ।

१९५७ में उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर लुइसशोन के सहयोग से अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड पीस थ्रॉम वर्ल्ड ला' प्रकाशित की । इसमे उन्होंने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर उनके प्रयोग के ढंगों का विषद वर्णन किया है । यह रूसी व चीनी सहित बारह भाषाओं मे अनुदित हो चुकी है ।

छठे दशक के पूर्वार्द्ध मे रूस व अमेरिका के राष्ट्रपतियों ने एक दूसरे से मिलकर विश्वशान्ति को दृष्टिगत रखते हुए मैत्री के लिए अपने कदम बढ़ाए थे । ख्रुश्चेव व जॉन एफ. केनेडी के समय ऐसा लगने लगा था कि अब विश्व के पूँजीवादी व साम्यवादी गुटों का शीत-युद्ध समाप्त हो जायगा । इसके पीछे ग्रेनविल क्लार्क की यह पुस्तक व उसके सिद्धांत काम कर रहे थे । राष्ट्रपतिकेनेडी ने जब क्लार्क की यह पुस्तक पढ़ी तो वे उसके सिद्धान्तो से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा उन्होंने मैत्री की पहल अपनी ओर से की थी । यह असम्भव नही कि क्लार्क का यह स्वप्न आज नहीं तो कल साकार होकर रहे ।

डॉक्टर गोर्डनसीग्रेव की श्रेय साधना

युवक गोर्डनसीग्रेव के रंगून स्थित घर एक दिन आयरलैण्डवासी डाक्टर रॉबर्टहार्पर आया । उसने गोर्डन को बताया कि कैसे वह उत्तरीबर्मा के जंगलो मे रहकर वहाँ के आदिवासियो की सेवा करता है, जहाँ घरों के बाहर शेरों की गर्जनाएँ सुनाई पड़ती हैं । गोर्डन के पिता स्वयं मिशनरी डॉक्टर थे । गोर्डन पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ।

उसने सोचा ऐसे स्थान पर रहकर उन लोगों की सेवा करने में उसे कितना आत्म-सन्तोष मिलेगा, जहाँ वास्तव मे डॉक्टर की आवश्यकता है ।

गोर्डनसीग्रेव ने आगन्तुक अतिथि को अपने मन की बात कह दी । डॉक्टर हार्पर ने उससे कुछ प्रश्न पूछे और जब उसे विश्वास हो गया कि गोर्डन उसका उत्तराधिकारी बन सकता है तो उसने गोर्डनसीग्रेव की शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया ।

१९१७ मे वह जॉन हॉपकिन्स मेडीकल स्कूल, बाल्टीमोर, मेरीलेण्ड, स. रा. अमेरिका में भर्ती हुआ । यहीं उसका परिचय मार्टिनमोर्स नामक एक युवती से हुआ । युवती उसके पारमार्थिक जीवनोद्देश्य से अत्यधिक प्रभावित हुई । उसका भी विचार यही था कि जीवन का लक्ष्य-मात्र खाने-पीने और मौज-मजा करने से भी कुछ ऊँचा होना चाहिये । उनके विचार मिलते थे सो यह परिचय घनिष्टता मे बदलता हुआ एक दिन विवाह की मंजिल तक जा पहुँचा ।

अब गोर्डनसीग्रेव अपने मिशन में अकेला नहीं रह गया था उसे एक साथी मिल गया था । ये दोनो जवानी का कुछ दूसरा ही अर्थ लेते थे । जवानी मात्र हास-विलास की उम्र नहीं वरन् ऐसी मधुऋतु है जिसमे कठिन और असम्भवकार्य भी सम्भव और सरल किये जा सकते है ।

अपनी शिक्षा समाप्त कर यह युगल अपने कर्मक्षेत्र की ओर चल पड़ा । उत्तरीबर्मा के घने जंगलों में अवस्थित नामखाम वह स्थान था जहाँ हार्पर ने एक अस्पताल खोल रखा था । वहीं उन्हें अपनी चिकित्सा सेवाएँ देनी थी । स्टीमर द्वारा बंगाल की खाड़ी को पार करके रंगून होते हुए कई दिनो तक नाव द्वारा बरावदी नदी में सफर करते हुए वे इस स्थान पर पहुँचे तो डाक्टर हार्पर के तथाकथित चिकित्सालय को देखकर उनके मुँह से आश्चर्य भरी चीख निकल पड़ी ।

अस्पताल के नाम पर यहाँ एक छोटी सी झोपड़ी थी जो निकटवर्ती जगलो मे लायी गयीं लकड़ियों से बनाई गयी थी । इसमें तो उँगलियो पर गिने जाने जितने मरीज भी नहीं रखे जा सकते थे । लेकिन अभी उन्होने देखा ही क्या था । अभी तो उन्हें और भी बहुत कुछ देखना था ।

दूसरे ही दिन उन्होंने अपना कार्य आरम्भ किया तो पता चल गया कि यहाँ पर यह छोटा-सा चिकित्सालय भी पर्याप्त है । दिन भर मे एक भी मरीज उधर नहीं आया । इस प्रकार कई दिन गुजर गये लेकिन अस्पताल में एक भी मरीज नहीं आया । अब वे क्या करें । उनके क्षेत्र में दो लाख आदिवासी लोग थे के पर उनमे से एक भी व्यक्ति अस्पताल मे चिकित्सा कराने नहीं आया ।

उन्होने चुप बैठे रहने की अपेक्षा उस क्षेत्र के आदिवासियो मे काम करने का निश्चय किया । वे स्थान-स्थान पर जाते और उन्हे उपयोगी पुस्तके बाँटते । लोग उनके द्वारा बाँटी गयी पुस्तकों को ले तो लेते पर पढ़ते नहीं । वे या तो उन्हे फेंक देते या उनसे बीड़ी बनाने का काम लेते पर कोई अस्पताल के निकट फटका भी नहीं ।

उन्हें अस्पताल में चिकित्सा कराने के लिये श्रीमती गोर्डन को वहाँ की स्थानीय भाषा 'ददी' सीखनी पड़ी । वे लोग घर-घर जाकर शक्तिवर्द्धक गोलियाँ बाँटते । बड़ी कठिनाई से लोगो ने उन पर विश्वास किया तब कहीं जाकर अस्पताल का काम चला ।

धीरे-धीरे चिकित्सालय में रोगियों की संख्या बढ़ने लगी उसके साथ ही काम भी बढ़ने लगा । चिकित्सालय की यह झोपड़ी छोटी पड़ने लगी । श्रीसीग्रेव ने इस बारे में ऊपर लिखा । अस्पताल बनाने के लिये ऊपर से २०,००० डालर की सहायता आयी । यह सहायता गोर्डनसीग्रेव के इच्छित चिकित्सालय के लिये अति स्वल्प थी । इसके लिये उन्होंने सहकारिता की रीति अपनायी । अपने द्वारा प्रशिक्षित की गयी ग्रामीण नर्सों और उनके प्रति श्रद्धाभावना रखने वाले लोगो की सहायता से नदी से पत्थर एकत्रित कराये गये । एक ट्रक किराये पर लिया जो १३० मील दूर स्थित रेलवेस्टेशन लाशियो से सीमेंट लाता था । बर्मा में फैले हुए मिशनरियो को छुट्टियो में वहाँ बुलवा लिया और सबने मिलकर एक बड़े से मजदूर-चिकित्सालय-भवन का निर्माण किया । सहकारिता के कारण थोड़ी सी धनराशि मे बड़ा-सा चिकित्सालय स्थापित हो गया ।

गोर्डनसीग्रेव के साथी ज्यों-ज्यों लोग रोग मुक्त होते जाते त्यों-त्यों उनकी ख्याति फैलती जाती और अस्पताल में रोगियों की भीड़ बढ़ती जाती थी । अब तक अपने पुराने टोने, टोटको, झाड़-फूँक, जन्तर-मन्तर व देशी दवाइयों की प्रचलित चिकित्सा के कारण रोग ठीक न होने के कारण कई लोग असमय ही मृत्यु के ग्रास बन जाते थे अब उनकी प्राण रक्षा होने लगी ।

इन लोगो के पास डॉक्टर की फीस व दवाई के पैसे देने के लिये कुछ भी न था । डॉक्टर गोर्डन एक रोगी पर प्रतिदिन बारह सेंट (एक रुपये से थोड़ा सा कम) व्यय करते थे किन्तु गरीब मरीजों से कभी नहीं कहते थे कि वे इसका भुगतान करे । इसका परिणाम यह होता था कि उनका और उनकी पत्नी का आधे से भी ज्यादा वेतन इस कार्य मे भेंट हो जाता था । उन्हें मोटे वस्त्र और सादा खाना ही नसीब होता था । पर इसके साथ ही उन्हे जो आत्म-सन्तोष मिलता था वह उन सुख-सुविधाओ से हजारो गुना अधिक होता था जिन्हें सामान्य व्यक्ति महत्व देते हैं । उनके मरीजों द्वारा उन्हे इस चिकित्सा के बदले कभी थोड़ा सा अन्न, एक अण्डा, एक मुर्गा या एक बकरा मिल जाता था वह भी कभी कभार ।

यदाकदा उनके सामने ऐसे भी प्रसंग आ जाते थे तब उन्हें यह अनुभव होता था कि उनका जीवन सार्थक हो गया है । एक बार उन्होंने एक चीनी का उपचार किया । वह इतना गरीब था कि वह अपने प्राणरक्षक को कुछ भी देने मे असमर्थ था । पर वह कृतघ्न कैसे रह जाए । वह वापस

पोर्ट्समाउथ की एक बस्ती पोर्टसी मे चार्ल्सजौन हुफ्फमडिकेन्स का जन्म [illegible] फरवरी, १८१२ ईस्वी को हुआ। उनके पिता सुरक्षाविभाग के एक साधारण क्लर्क थे। प्राय: वे नौसैनिक विभागों में काम किया करते थे। जब चार्ल्स दोवर्ष के थे तभी उनके पिता का स्थानान्तरण लन्दन मे हो गया और कुछ दिनो बाद ही केन्ट बन्दरगाह चेथम मे। यह परिवार बड़ी सादगी से एक कुटिया मे रहता था। चूँकि वेतन कम मिलता था और परिवार के सदस्यों की संख्या बहुत थी अत: स्वाभाविक ही उन्हे आत्यन्तिक मितव्ययिता से काम लेना पड़ता। लेकिन अभावो और तंगहाली में भी बच्चे का विकास किस प्रकार किया जा सकता है, उसकी कला कोई उनके पिता से सीखे। पिता अपने बच्चो को छोटी-छोटी मजेदार और शिक्षाप्रद-कहानियाँ सुनाया करते थे।

नौसाल की आयु में चार्ल्स की शिक्षा-दीक्षा का भार चेथम के बैपटिस्ट गिरजाघर में वहाँ के पादरीफादर गिलिज को सौप दिया गया। उन्होने थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना सीखा ही था कि उनकी रुचि अध्ययन की ओर काफी बढ़ गई। उन्होंने शिक्षाकाल मे ही अपने घर के कबाड़ी खाने में रखी सभी पुस्तके निकालीं और उन्हे पढ़ डाला। परिवार की सदस्यसख्या शीघ्र ही दस हो गयी। चार्ल्स की माता ने आठ बच्चो को जन्म दिया था। इससे जौन पर ऋण चढ़ने लगा। घर में दिन प्रतिदिन भोजन की कमी रहने लगी और बच्चो के तन पर पर्याप्त कपड़े भी नहीं थे। प्राय: वे फटे-चीथड़ो मे गंदे-गलीज रहते हुए यहाँ-वहाँ घूमने लगे।

घर की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ चली। जो वेतन मिलता था वह सब साहूकारो की जेब में जाने लगा। चार्ल्स की माता कुछ विचारशीला थी अत: उन्होंने शिक्षक का काम चलाना चाहा। परन्तु इसी बीच जौन का स्थानान्तरण लन्दन हो गया। खैर इससे क्या, श्रीमती जौन ने लन्दन मे शिक्षण-दृष्टि से थोड़ा बहुत गुजारा चलाने की योजना बनाई। जिस स्थान मे वे लोग रहने लगे थे उसी में अध्यापन का निश्चय किया गया। इसके लिए उस मुहल्ले के निवासियो से अपने बच्चे पढ़ने भेजने के लिए कहा गया, पर दुर्दैव ने यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा। इन्हीं दिनो साहूकार ने जौन को ऋण चुकाने के लिए कहा, पर चुकाया कहाँ से जाय? निदान साहूकारो ने उनका सारा सामान कुर्क कर लिया। जौन पर मुकदमा चला और आय से अधिक खर्च करने व ऋण लेकर न देने के अभियोग मे उन्हें कारावास की सजा हुई। निर्वाहशक्ति से अधिक बच्चो को जन्म देना किस प्रकार व्यक्ति के लिए अप्रत्याशित विपत्तियाँ बुलाता है, जौन का परिवार इसकी एक मिसाल बन गया।

सब कुछ बर्बाद हो जाने से बच्चे घर-घर के हो गये। तब चार्ल्स की आयु कोई चौदह-पन्द्रहसाल की थी। उन्हे भी जीवनसंघर्ष में कूदना पड़ा। इन्हीं दिनों श्रीमतीडिकेन्स से सहानुभूति रखने वाले एक रिश्तेदार ने उनसे कहा कि वे किसी भी बच्चे को उनके कालिख बनाने वाले कारखाने मे नौकरी पर रख दें। श्रीमतीजौन ने चार्ल्स को इसके लिए सर्वथा योग्य समझा और वे ओल्ड हंगर फोर्डस्टेअर्ट मे उक्त फैक्ट्री मे नौकरी के लिए चले गये। वहाँ उन्हे कालिख की शीशियो पर लेबल चिपकाने का काम सौंपा गया। चार्ल्स यह काम भी बड़ी लगन और मेहनत के साथ करने लगे। दूसरे वे एक रिश्तेदार के बेटे भी थे अत: मालिक उन्हे दोनो कारणो से बहुत ज्यादा पसन्द करता था। चार्ल्स महत्त्वाकांक्षी युवक थे और चाहते थे कि वे इतना पैसा कमाये जिससे कि सभी साहूकारो का पैसा चुका कर अपने पिता को छुड़ा लायें। पर अभी उनकी ऐसी स्थिति नही थी। मारशल्सी विशेष रूप से बसाई गयी एक बस्ती थी जिसमे केवल ऋणग्रस्तो को रखा जाता था। अधिक बच्चे होने के कारण श्रीमतीजौन्स उनकी भली-भाँति देखभाल नहीं कर पाती थी अत: वे भी अपने पति के पास मारशल्सी चली गयीं। जौन्स वहाँ के मैले-कुचैले मकानों मे रहते थे। चार्ल्स अकेले अपने काम पर लगे रहे और शेष सभी बच्चे माता-पिता के साथ चले गये।

पैसा इकट्ठा हो जाने पर जौनडिकेन्स ने अपने सभी साहूकारों का कर्ज चुका दिया और उस परिवार को मारशल्सी से मुक्ति मिल गयी। इसी समय किसी बात पर जौनडिकेन्स की अपनी पत्नी- चार्ल्स की माँ से झगड़ा हो गया और दोनो अलग-अलग रहने लगे। चार्ल्स की नौकरी भी इस कारण छूट गयी और वे अपने पिता के साथ रहने लगे। पिता ने फिर अपने बेटे की शिक्षादीक्षा आरम्भ करायी। पुन: छात्रजीवन मे लौट आने के बाद चार्ल्स की नेतृत्व क्षमता विकसित हुई। यहीं से उन्हे लिखने की भी प्रेरणा हुई। प्रारम्भ मे उन्होने नाटक लिखे और अपने साथियो के साथ उन नाटको को मच पर अभिनीत किया। किन्तु दुर्भाग्य से उन्हें पुन: स्कूल छोड़ कर काम खोजना पड़ा। १६-१७ साल की आयु मे उन्होंने सामान्य-शिक्षा तो ग्रहण कर ही ली थी, अत: वे आराम से पढ़ने-लिखने भी लगे। अब की बार उन्होने एक वकील के यहाँ काम तय किया और उसके पास लिपिक के रूप मे नौकरी करने लगे। यहाँ उन्हे चालीस रुपये माहवार मिलता था जो एक अर्से के बाद बड़ी मुश्किल से पैतालिस रुपये हुआ। परन्तु चार्ल्स को यहाँ कई मानवीय-गुणो का बोध हुआ, विशेषकर मधुर व्यवहार जिसके द्वारा वकील और उनके मुंशी लोग अपने मुअक्किल खोजते थे। इधर पिता ने भी स्टेनोग्राफी सीख ली थी और वे हाउस-ऑफ-कॉमन्स में एक पत्र-प्रतिनिधि-संवाददाता का काम करने लगे।

चार्ल्स को जौन-डिकेन्स का यह नया पेशा बेहद पसन्द आया और उन्होने भी स्टेनोटाइप सिखाने वाली एक पुस्तक खरीद कर आशुलेखन सीख लिया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे जिस काम को करने की ठान लेते उसे करके ही छोड़ते थे। जब उन्होंने निश्चित कर लिया कि आशुलिपि सीखना है तो वे इस काम पर टूट पड़े और इसे पूरा करने के बाद ही उन्होने चैन लिया। आशु-लेखन का काम सीख लेने के बाद उन्होंने वकील के यहाँ की

चीन गया । तीनवर्ष तक वहाँ मजदूरी की और चाँदी के तीस रुपये बचाकर अपने साथ लाया । उसने वे तीस रुपये डॉक्टर के हाथ पर रख दिये । डॉक्टर उसकी इस श्रद्धा को देखकर रो पड़े ।

डॉक्टर गोर्डन ने वहाँ के कई युवक-युवतियो को नर्सिंग का प्रशिक्षण देकर अपने चिकित्सालय के कर्मचारियों की संख्या में आवश्यकतानुसार वृद्धि की । उनके द्वारा प्रशिक्षित किये ये युवक-युवतियाँ द्वितीय विश्व-युद्ध के समय बहुत उपयोगी सिद्ध हुए ।

द्वितीय विश्व-युद्ध की आग फूट पड़ने के पहले यह चिकित्सालय काफी परिवर्द्धित हो गया था । शल्य चिकित्सा के लिये पृथक भवन बन गया था, प्रसूति-गृह भी अलग बन गया था और डॉक्टर सीग्रेव के रहने के लिये पृथक आवास भी । जहाँ कभी एक छोटी-सी काठ की झोपड़ी खड़ी थी वहीं यह विशाल चिकित्सालय खड़ा करने का श्रेय डॉक्टर सीग्रेव को ही है । उन्होंने सहकारिता और सहयोग के बल पर इतना बड़ा अस्पताल चला दिया था ।

अचानक द्वितीय-विश्व-युद्ध छिड़ गया । वर्मा पर जापान का आक्रमण हुआ । इस आक्रमण की ब्रिटिश सरकार को कोई आशंका नहीं थी । डॉक्टर सीग्रेव वर्मा रोड बनाने वाले हजारो मजदूरो को चिकित्सा सहायता पहुँचाने में लगे हुए थे । तभी विश्व-युद्ध छिड़ गया । जापानी बम-वर्षक उनके क्षेत्र पर भयंकर बमबारी करने लगे थे । ऐसी विकट स्थिति मे भी वे अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं हुए उन्होने पत्नी और बच्चों को रंगून भेज दिया ताकि वे वहाँ से भारत जाकर सुरक्षित रह सकें और वे अपने काम में जुटे रहें ।

युद्धकाल मे डॉक्टर सीग्रेव की चल चिकित्सा इकाई ने ३०० मील लम्बे जंगल के क्षेत्र में अपनी अविस्मरणीय सेवाएँ अर्पित कीं । मानवता पर युद्ध थोपने वाले युद्ध थोप रहे थे तो मानवतावादी सीग्रेव युद्ध की विभीषिका से पीड़ित जनो को अपनी चिकित्सा-सेवाओं द्वारा राहत पहुँचाने मे लगे हुए थे ।

वे घण्टो दलदली भूमि मे खड़े-खड़े एक के बाद एक ऑपरेशन किया करते थे तब उनके शरीर पर मात्र एक पाजामा ही रहता था और सारा शरीर पसीने से नहाया रहता था । उन्हे अपने शरीर का ध्यान ही नहीं रहता था । कब दिन उगता है और कब रात हो जाती है इसका उन्हे ध्यान नहीं रहता । उन दिनो वे चौबीस घण्टों में औसत एक सौ पचास से भी अधिक ऑपरेशन किया करते थे । उनके द्वारा प्रशिक्षित की गई वर्मी नर्सों ने इस युद्ध-काल मे जो सेवा-कार्य किया वह अनूठा था ।

आधे पेट और नंगे पाँव ये नर्सें इस जंगली क्षेत्र में दिन रात बीमार और घायल लोगों का उपचार किया करती थी । लीडोरोड का निर्माण और मित्रराष्ट्रों की सेना की वापसी की कहानी अंशत: इन नर्सों की कहानी है । यदि ये वहाँ नहीं होती तो ऐसा होना कभी सम्भव नहीं था ।

इस युद्धकाल में नामखाम, जहाँ डॉक्टर सीग्रेव का चिकित्सालय था, जापानियों के अधिकार में आ गया था । मित्रराष्ट्रों की सेना द्वारा पुन: उस क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त करने के साथ ही डॉक्टर सीग्रेव जब अपने अस्पताल पहुँचे तो यह देखकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ कि उनकी जी-तोड़ मेहनत और कल्पना का वह स्मारक अब मात्र खण्डहर रह गया था । बमवर्षा के कारण वह मात्र मलवे का ढेर रह गया था । बड़ी देर तक वे दुखितमना उसे देखते रहे । किंतु उनकी यह उदासी स्थायी नहीं रही । वे उसके पुनर्निर्माण के कार्य मे जुट गये ।

युद्धकाल में डॉक्टर सीग्रेव द्वारा की गई अविस्मरणीय सेवाओं के कारण वे वर्मा में ही लोकप्रिय नहीं हुए थे वरन् अमेरिका और योरोपीय देशों मे भी विख्यात हो गये थे । इन देशों में उनकी शान्ति-पूर्ण-वीरता के कई किस्से मशहूर हो गये थे । इन देशो के निवासियों से डॉक्टर सीग्रेव ने अपने चिकित्सालय के पुनर्निर्माण के लिये आर्थिक सहायता चाही तो थोड़े ही समय में उन्हे आशातीत सहायता मिल गयी । इस धनराशि से उन्होंने पहले से भी अच्छा और मजबूत चिकित्सालय-भवन बनवाया ।

डॉक्टर सीग्रेव ने अपने जीवन के साठवर्ष वर्मा के उन जंगलों मे बिताये जहाँ आधुनिक सुखसुविधाओ के नाम पर कुछ भी नहीं था । नल, बिजली, सिनेमा गृह की तो बात छोड़िये वहाँ पक्की सड़क तक नहीं थी । वहाँ की आदिवासी जातियाँ नितान्त अनपढ़ और रूढ़िवादी थीं, १९६५ मे जब उनकी मृत्यु हुई तो उनके अन्तिमदर्शन के लिये वर्मा भर मे से हजारो व्यक्ति आये । उनमे से प्रत्येक को किसी न किसी रूप मे डॉक्टर सीग्रेव से चिकित्सा सेवा मिली थी । जीवन में इतने लोगों का श्रद्धाभाजन बनना मनुष्य जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि ही कही जा सकती है ।

जन कल्याण को समर्पित महान आत्मा—चार्ल्स डिकेन्स

प्रसिद्ध इतिहासकार थॉमस कार्लाइल एक सहभोज मे गये थे । वहाँ उनकी भेट एक नवोदित प्रतिभा से हुई और उसके सम्बन्ध मे कार्लाइल ने लिखा—"उसकी नीली आँखों मे निखार है और उनसे प्रतिभा झलकती है । वह अपनी भवो को इस प्रकार बल देता है कि वे विलक्षण प्रतीत होती हैं । उसका मुँह चौड़ा और बाहर को निकला हुआ और कुछ ढीला-सा है । वह बोलते समय भवो आँखों और मुँह को बड़े प्रभावशाली ढग से घुमाता है ।" नवोदितप्रतिभा के बाहरी व्यक्तित्व का यह चित्र खीचते हुए कार्लाइल ने इस युवक के उज्ज्वल भविष्य की सुनिश्चित सम्भावना व्यक्त की थी और सचमुच ही उसका भविष्य इतना उज्ज्वल सिद्ध हुआ कि अपनी प्रतिभा के बल पर वह युवक पाश्चात्यजगत का सर्वाधिक पढ़ा जाने वाला साहित्यकार बना । इस साहित्यकार का नाम था—चार्ल्स डिकेन्स ।

पोर्ट्समाउथ की एक बस्ती पोर्टसी मे चार्ल्सजौन हुफ्फर्माडिकेन्स का जन्म ७ फरवरी, १८१२ ईस्वी को हुआ। उनके पिता सुरक्षाविभाग के एक साधारण क्लर्क थे। प्राय: वे नौसैनिक विभागों मे काम किया करते थे। जब चार्ल्स दोवर्ष के थे तभी उनके पिता का स्थानान्तरण लन्दन मे हो गया और कुछ दिनो बाद ही केन्ट बन्दरगाह चेथम मे। यह परिवार बड़ी सादगी से एक कुटिया मे रहता था। चूँकि वेतन कम मिलता था और परिवार के सदस्यों की संख्या बहुत थी अत: स्वाभाविक ही उन्हे आत्यन्तिक मितव्ययिता से काम लेना पड़ता। लेकिन अभावो और तंगहाली में भी बच्चे का विकास किस प्रकार किया जा सकता है, उसकी कला कोई उनके पिता से सीखे। पिता अपने बच्चो को छोटी-छोटी मजेदार और शिक्षाप्रद-कहानियाँ सुनाया करते थे।

नौसाल की आयु में चार्ल्स की शिक्षा-दीक्षा का भार चेथम के बैपटिस्ट गिरजाघर में वहाँ के पादरीफादर गिलिज को सौंप दिया गया। उन्होने थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना सीखा ही था कि उनकी रुचि अध्ययन की ओर काफी बढ़ गई। उन्होने शिक्षाकाल मे ही अपने घर के कबाड़ी खाने मे रखी सभी पुस्तके निकाली और उन्हे पढ़ डाला। परिवार की सदस्यसंख्या शीघ्र ही दस हो गयी। चार्ल्स की माता ने आठ बच्चो को जन्म दिया था। इससे जौन पर ऋण चढ़ने लगा। घर में दिन प्रतिदिन भोजन की कमी रहने लगी और बच्चो के तन पर पर्याप्त कपड़े भी नहीं थे। प्राय: वे फटे-चीथड़ों मे गंदे-गलीज रहते हुए यहाँ-वहाँ घूमने लगे।

घर की आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ चली। जो वेतन मिलता था वह सब साहूकारो की जेब मे जाने लगा। चार्ल्स की माता कुछ विचारशीला थीं अत: उन्होंने शिक्षक का काम चलाना चाहा। परन्तु इसी बीच जौन का स्थानान्तरण लन्दन हो गया। खैर इससे क्या, श्रीमती जौन ने लन्दन मे शिक्षण-दृष्टि से थोड़ा बहुत गुजारा चलाने की योजना बनाई। जिस स्थान मे वे लोग रहने लगे थे उसी मे अध्यापन का निश्चय किया गया। इसके लिए उस मुहल्ले के निवासियो से अपने बच्चे पढ़ने भेजने के लिए कहा गया, पर दुर्दैव ने यहाँ भी पीछा नही छोड़ा। इन्हीं दिनो साहूकार ने जौन को ऋण चुकाने के लिए कहा, पर चुकाया कहाँ से जाय ? निदान साहूकारो ने उनका सारा सामान कुर्क कर लिया। जौन पर मुकदमा चला और आय से अधिक खर्च करने व ऋण लेकर न देने के अभियोग मे उन्हें कारावास की सजा हुई। निर्वाहशक्ति से अधिक बच्चो को जन्म देना किस प्रकार व्यक्ति के लिए अप्रत्याशित विपत्तियाँ बुलाता है, जौन का परिवार इसकी एक मिसाल बन गया।

सब कुछ बर्बाद हो जाने से बच्चे घर-घर के हो गये। तब चार्ल्स की आयु कोई चौदह-पन्द्रहसाल की थी। उन्हे भी जीवनसंघर्ष में कूदना पड़ा। इन्हीं दिनो श्रीमतीडिकेन्स से सहानुभूति रखने वाले एक रिश्तेदार ने उनसे कहा कि वे किसी भी बच्चे को उनके कालिख बनाने वाले कारखाने में नौकरी पर रख दें। श्रीमतीजौन ने चार्ल्स को इसके लिए सर्वथा योग्य समझा और वे ओल्ड हंगर फोर्डस्टेअर्ट मे उक्त फैक्ट्री मे नौकरी के लिए चले गये। वहाँ उन्हें कालिख की शीशियो पर लेबल चिपकाने का काम सौपा गया। चार्ल्स यह काम भी बड़ी लगन और मेहनत के साथ करने लगे। दूसरे वे एक रिश्तेदार के बेटे भी थे अत: मालिक उन्हे दोनो कारणो से बहुत ज्यादा पसन्द करता था। चार्ल्स महत्त्वाकांक्षी युवक थे और चाहते थे कि वे इतना पैसा कमाये जिससे कि सभी साहूकारों का पैसा चुका कर अपने पिता को छुड़ा लाये। पर अभी उनकी ऐसी स्थिति नही थी। मारशल्सी विशेष रूप से बसाई गयी एक बस्ती थी जिसमे केवल ऋणग्रस्तो को रखा जाता था। अधिक बच्चे होने के कारण श्रीमतीजौन्स उनकी भली-भाँति देखभाल नहीं कर पाती थी अत: वे भी अपने पति के पास मारशल्सी चली गयी। जोन्स वहाँ के मैले-कुचैले मकानो मे रहते थे। चार्ल्स अकेले अपने काम पर लगे रहे और शेष सभी बच्चे माता-पिता के साथ चले गये।

पैसा इकट्ठा हो जाने पर जौनडिकेन्स ने अपने सभी साहूकारो का कर्ज चुका दिया और उस परिवार को मारशल्सी से मुक्ति मिल गयी। इसी समय किसी बात पर जौनडिकेन्स की अपनी पत्नी- चार्ल्स की माँ से झगड़ा हो गया और दोनो अलग-अलग रहने लगे। चार्ल्स की नौकरी भी इस कारण छूट गयी और वे अपने पिता के साथ रहने लगे। पिता ने फिर अपने बेटे की शिक्षादीक्षा आरम्भ करायी। पुन: छात्रजीवन मे लौट आने के बाद चार्ल्स की नेतृत्व क्षमता विकसित हुई। यहीं से उन्हे लिखने की भी प्रेरणा हुई। प्रारम्भ में उन्होने नाटक लिखे और अपने साथियो के साथ उन नाटको को मंच पर अभिनीत किया। किन्तु दुर्भाग्य से उन्हे पुन: स्कूल छोड़ कर काम खोजना पड़ा। १६-१७ साल की आयु मे उन्होने सामान्य-शिक्षा तो ग्रहण कर ही ली थी, अत: वे आराम से पढ़ने-लिखने भी लगे। अब की बार उन्होंने एक वकील के यहाँ काम तय किया और उसके पास लिपिक के रूप मे नौकरी करने लगे। यहाँ उन्हे चालीस रुपये माहवार मिलता था जो एक अर्से के बाद बड़ी मुश्किल से पैंतालिस रुपये हुआ। परन्तु चार्ल्स को यहाँ कई मानवीय-गुणो का बोध हुआ, विशेषकर मधुर व्यवहार जिसके द्वारा वकील और उनके मुंशी लोग अपने मुअक्किल खोजते थे। इधर पिता ने भी स्टेनोग्राफी सीख ली थी और वे हाउस-ऑफ-कॉमन्स में एक पत्र-प्रतिनिधि-संवाददाता का काम करने लगे।

चार्ल्स को जौन-डिकेन्स का यह नया पेशा बेहद पसन्द आया और उन्होंने भी स्टेनोटाइप सिखाने वाली एक पुस्तक खरीद कर आशुलेखन सीख लिया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे जिस काम को करने की ठान लेते उसे करके ही छोड़ते थे। जब उन्होंने निश्चित कर लिया कि आशुलिपि सीखना है तो वे इस काम पर टूट पड़े और इसे पूरा करने के बाद ही उन्होंने चैन लिया। आशु-लेखन का काम सीख लेने के बाद उन्होने वकील के यहाँ की

क्लर्की छोड़ दी और लंदन के अखबार में वे छोटे से संवाददाता बन गये । टूसन अखबार के बाद उन्होंने मिरर ऑफ पार्लियामेण्ट में संवाददाता का काम किया । इस काम मे उनकी निष्ठा और लगन ने सफलता दिलाई तथा धीरे-धीरे वे प्रगति के पथ पर अग्रसर होते गये । बाद मे बहुत से समाचार-पत्रों को समाचार देने का काम वे करने लगे और लंदन के सबसे अच्छे संवाददाता बन गये ।

टूसन और 'मिरर ऑफ पार्लियामेण्ट' आगे चलकर बन्द हो गये तो उनको मार्निंग क्रॉनिकल्स में काम मिल गया और वे इस पत्र के विशेष-प्रतिनिधि नियुक्त किये गये । यह सन् १८३४ की बात है । अब पत्रकारिता उनका जीवन और प्राण ही बन गयी थी । साथ ही लेखन का काम भी आरम्भ किया । प्रथम उन्होंने कहानियों पर अपनी कलम चलाई । कहानियों के नये-नये प्लॉट ढूँढने के लिए वे गाँवों में घूमे । जिन समाचार पत्रों से वे सम्बद्ध थे उनमें जब ये कहानियाँ छपने लगीं तो उन्होने अपने सभी प्रतिस्पर्धियों को मात दे दी । अब उनकी आय तीन सवा तीन-सौ रुपये प्रतिमाह तक हो गयी थी और निर्वाह आराम से चल रहा था । उस समय जब उन्होंने कथा-लेखन के क्षेत्र में कदम रखा था उन्हें प्रति कहानी तीस रुपये मिलने लगा था और सप्ताह में कम से कम वे एक कहानी लिख डालते थे । बाईस साल की आयु मे उन्हे साहित्य-जगत से प्रथम परिचय हुआ था और फिर तो जैसे उनका भाग्य सितारा चमकने लगा था । सन् १८३६ मे लन्दन की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था चौपमैन एण्ड हॉल के प्रबन्धकों की दृष्टि उनकी प्रकाशित कहानियों पर पड़ी तो उन्हे लगा कि इस युवा प्रतिभा का उपयोग करके तो वे अपार धनराशि कमा सकते हैं । मालिकों ने उनसे प्रकाशन के लिए कहानियाँ लिखने को कहा । चार्ल्स तो साहित्य-साधना को ही अपना जीवनलक्ष्य बना चुके थे । अत: उन्हे क्या एतराज हो सकता था और जब उनकी लिखी कहानियाँ छपने लगीं तो पहली पुस्तक का पहला संस्करण चार हजार का छपा और उसी पुस्तक की बार-बार आवृत्तियाँ पहले की अपेक्षा अधिक संख्या मे होने लगीं । यहाँ तक कि पंद्रहवाँसंस्करण तो प्रथम संस्करण से दस गुनी संख्या मे चालीस हजार का निकाला गया ।

इस प्रकार इस प्रतिभाशाली युवा-कथाकार को प्रारम्भिक असफलताओ के बाद ही इतनी अधिक ख्याति मिली कि उसे सह पाना भी कठिन था । पर डिकेन्स उन सब सफलताओ को प्राप्त कर अतिरिक्त गर्व की स्थिति मे नहीं आये । उस गुण की जो उन्होंने वकील के यहाँ रहते हुए अपने मालिक और उसके मुंशियों से सीखा था—सज्जनता और मधुर व्यवहार को उन्होने कभी नहीं छोड़ा । 'पिकविक-पेपर्स' नामक पुस्तक छपने के बाद उनकी बढ़ती बिक्री और लोकप्रियता से प्रभावित होकर कई समृद्ध और सम्पन्न-व्यक्ति उनके निकट सम्पर्क मे आकर घनिष्ठता बढ़ाने लगे थे । 'मार्निंग क्रानिकल' प्रकाशन-संस्था के एक भागीदार जॉर्जहॉगर्थ ने तो अपनी पुत्री का विवाह भी उनके साथ कर दिया और चार्ल्स डिकेन्स तथा उनकी पत्नी कैथरीन डिकेन्स बड़े सुखपूर्वक रहने लगे । लेकिन कैथरीन का स्वभाव चार्ल्स के स्वभाव से जरा भी मेल नहीं खाता था । वह गर्व और अभिमान में आकर हर किसी को दुत्कार दिया करती थी जबकि चार्ल्स छोटे से छोटे व्यक्ति के साथ भी सद्व्यवहार करने के पक्षपाती थे । पति-पत्नी के इस बेमेल स्वभाव के कारण सम्बन्धों में तनाव पैदा होने लगा और १८५८ में उनका सम्बन्ध भी टूट गया ।

उनकी सफलता ने लन्दन के प्रकाशकों में यह स्पर्धा चला दी थी कि कौन चार्ल्स से उनकी पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए अनुमति लेता है और इस कारण उनके घर पर हमेशा प्रकाशकों का आना-जाना बना रहता था । डिकेन्स शक्ति भर सभी को सन्तुष्ट रखते थे । उनकी कृतियाँ देश की सीमा लाँघ कर विदेश में भी पहुँचने लगीं । सामान्य-पाठकों में उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गयी कि वे उनसे मिलने के लिए आतुर हो उठे और सन् १८३८ से उन्होंने विदेश-यात्रा के कार्यक्रम भी बनाये । इन यात्राओ से एक ओर जहाँ उनके पाठकों को सन्तुष्टि मिलती वहीं उन्हें भी दूसरी ओर नये-नये अनुभव तथा नयी-नयी जानकारियाँ प्राप्त करने का अवसर मिलता था ।

इसके बाद उन्होने नाटक लिखना भी आरम्भ किया । कुछ नाटकों मे तो वे स्वयं भी पात्र बने और उस भूमिका को निबाहा । समीक्षकों का कहना है कि उनका अभिनय भी गजब का होता था । अहर्निश साहित्य-साधना में लगे रहने के कारण उनके स्वास्थ्य पर भी असर हुआ । परन्तु उन्होंने काम करना नहीं छोड़ा । उनकी साहित्य-साधना लोकोपयोगी थी । स्वयं एक अवसर पर उन्होंने कहा था—मैंने स्वय को तथा स्वयं की क्रियाओं को विरुद्ध आन्दोलन और निर्धनो के कल्याण तथा सामाजिक-सुख शान्ति के लिए समर्पित किया है । इस उद्देश्य से ही उनका लेखन भी होता था और उन्होंने 'हाउस-होल्ड वर्ड्ज' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र भी प्रकाशित करना आरम्भ किया था । आठ साल बाद सन् १८५९ ई. में इसका नाम 'आल द इयर राउण्ड' रख दिया गया ।

इससें एकवर्ष पूर्व ही उनके दाम्पत्य-जीवन मे तनावो का अन्त सम्बन्ध-विच्छेद के रूप में हो गया था । पत्नी केवल बड़े लड़के को ही अपने साथ ले गयी थी और शेष सबको उनके पास छोड़ चुकी थी अत: बच्चो की देखभाल भी उनके जिम्मे आगयी थी । चार्ल्स ने इसका बराबर ध्यान रखा । वे नहीं चाहते थे कि माँ के प्यार का अभाव बच्चो के स्वाभाविक-विकास मे बाधक बने । अत: उन्होंने गैड्ज-हिल मे एक मकान खरीद लिया और बच्चो तथा उनकी मौसी के साथ वहीं रहने लगे । चार्ल्स अपनी पत्नी से बहुत प्यार करते थे और उसके चले जाने का उन्हे बहुत दु:ख हुआ था । हालाकि उन्होंने कैथरीन को रोकने की कोशिश भी की पर कैथरीन भी अपने ढंग की एक ही औरत थी । पति का मनुहार, बच्चों का प्यार और घर का मोह कुछ उसे नहीं रोक सका । चार्ल्स को सांसारिक चीजों से घृणा-सी होती जा

रही थी, उनकी रुचि का क्षेत्र भी सीमित होता गया और वे आत्म-केन्द्रित होते गये इस कारण उन्हें भीड़-भाड़ की अपेक्षा एकान्त ही पसन्द आने लगा।

इस मानसिक-असंतुलन के समय चार्ल्स ने किसी लोकोपकारी कार्य के लिए जन-सहयोग एकत्रित करने हेतु अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में से एक पुस्तक के कुछ अंश सार्वजनिक रूप से पढ़कर सुनाये। अपने प्रिय-लेखक की उन पंक्तियों को जिन्हें पढ़कर पाठकगण हर बार भाव विभोर हो उठे थे, उन्हीं के शब्दों और उन्हीं की वाणी में सुनकर सामान्यपाठकों की भावस्थिति का अनुमान लगाना कठिन है। इस प्रकार उनके सामने एक नया क्षेत्र खुल गया। लोगों में भी इस कार्यक्रम के प्रति दिलचस्पी हुई और स्थान-स्थान से निमंत्रण आने लगे कि इस प्रकार का कार्यक्रम वे अमुक स्थान पर भी दें। इन आमंत्रणों ने चार्ल्स के जीवन की एकरसता को दूर किया और उनका उत्साह भी बढ़ाया। अतः उन्होंने इस प्रकार के कार्यक्रम देने का निश्चय कर लिया। प्रायः सभी स्थानों पर उनके श्रोताओं ने उनका भावभरा स्वागत किया इस काम से चार्ल्स को भी रुचि होने लगी। उनकी प्रशंसा और चर्चा भी पहले की अपेक्षा अधिक हार्दिक हो उठीं। क्योंकि पहले ही उन्हें इतनी लोकप्रियता मिल चुकी थी कि इंग्लैण्ड के इतिहास मे आज तक शायद ही किसी साहित्यकार को मिली हो।

अब धीरे-धीरे उनकी कल्पना-शक्ति मन्द पड़ती जा रही थी। पर उनका उत्साह तो और अधिक प्रखर होने लगा था। कल्पना-शक्ति की मन्दरता पर चिन्ता न करते हुए पहले की अपेक्षा वे और अधिक उत्साह के साथ काम में लग गये। पहले उन्होंने लेखन की दिशा पकड़ी थी, फिर मंच पर सक्रिय हुए। अब लेखन और मंच दोनों ही उनका साधन-क्षेत्र बन गया था। १८६१ मे उन्होंने 'ग्रेट एक्स्पैटेशन्स' पुस्तक लिखी। इसके चार वर्ष बाद उनकी अन्तिम पुस्तक प्रकाश में आयी—'अवर म्यूचुअल फ्रेण्ड'। उनकी लेखनी से बुराइयो के विरुद्ध आन्दोलन, निर्धनों के कल्याण और समाज के सुख के लिए—आदर्श मर्यादा के अनुरूप ही ये दोनों कृतियाँ थीं। अवर म्यूचुअल फ्रैण्ड प्रकाशित होने के बाद वे अमेरिका के दौरे पर गये, वहाँ भी डिकेन्स का स्वागत इंग्लैण्ड की तरह ही हुआ। उनकी वाणी में उनकी पुस्तकों के अंश सुनने के लिए इतनी भीड़ इकट्ठी होती थी कि टिकटघरों के सामने लोग घण्टों पहले आकर बैठ जाते और कई एक तो मध्यान्ह समय होने वाले कार्यक्रमों में पूर्व रात्रि से ही टिकट खिड़की के सामने आकर चटाइयाँ बिछाते और सो जाते थे।

सन् १८७० में अंतिमबार वे जनता के सामने आये। ८ जून की रात्रि को उनका अकस्मात निधन हो गया और उन्हें पसन्द करने वाले, उनकी नयी पुस्तकों की प्रतीक्षा करने वाले पाठक इस समाचार को सुनते ही दहाड़ मार कर रो उठे। सचमुच उन्होंने स्वयं को जिस उद्देश्य के लिए समर्पित किया उसकी पूर्ति की दिशा मे बढ़ने के लिए शक्ति का एक अंश भी अपने पास बचा नहीं रखा। उनकी रचनाएँ समाज की सुख-शान्ति के लिए जहाँ भ्रातृ-भाव का संदेश देती हैं वहीं और भी कई मानवीय-समस्याओं पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं, जो मानव समाज को घुन की तरह खाये जाती हैं। इस एकाकी व्यक्ति ने साहित्य के माध्यम से जो विचार क्रान्ति उत्पन्न किए उसने आधुनिक समाज की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें न केवल एक साहित्यकार वरन् एक महान उद्देश्य को समर्पित एक महान-आत्मा के रूप में याद करती रहेगी।

जिसने मृत्यु पर विजय पायी—

आरफन्सन

कनाडा के एक नगर में अस्पताल के सर्जन ने मरणासन्न नये रोगी को भर्ती करते हुए, उसके साथ आये व्यक्ति से कहा—"मित्र! मैं इसे बचाने का भरसक प्रयत्न तो करता हूँ परन्तु कह नहीं सकता कि यह मृत्यु के मुँह से निकल जायेगा।"

डॉक्टर! आहत के साथ आये व्यक्ति जिसका नाम फोर्ट सैम्पसन था, ने कहा—"आप अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करें। परन्तु, मैं नहीं सोचता कि मेरा मित्र मृत्यु के हाथों पराजित हो जायगा क्योंकि घाव लगने के बाद लगभग वह एक सप्ताह तक कठोर परिश्रम करता रहा है।"

अच्छा—आश्चर्य विस्फारित नेत्रों से सर्जन ने सैम्पसन और आरफन्सन की ओर देखा। गोली आरफन्सन के दिल से केवल एक इंच के फासले पर लगी थी। वह बायें फेफड़े से आरपार निकल गयी थी। लेकिन रीढ़ की हड्डी बची थी-जिसके सहारे आरफन्सन काम करता रहा। फेफड़े पर हल्का सा आघात भी व्यक्ति को निश्चेष्ट कर देने के लिए पर्याप्त है तो यह क्यों नहीं आश्चर्य की बात है कि घायल फेफड़े से आहत व्यक्ति एक सप्ताह तक श्रम करता रहा।

'कमाल है'—सर्जन ने मन ही मन कहा—इसे तो गोली लगने के घण्टे भर बाद ही मर जाना चाहिए था। इतने घातकघाव के बाद भी यह कैसे जिन्दा रहा।

आरफन्सन नाम का वह व्यक्ति एक शिकारी था। घटना सन् १९३० की है। फरवरी की बर्फीली हवाएँ कलेजों को चीरती बह रही थीं। कनाडा की वल्वलेरू नदी का पानी इन हवाओं के कारण जमकर बर्फ हो गया था। ऐसे मौसम मे शिकार आसानी से मिल सकता है—यह सोच कर आरफन्सन अपने डेरे से कन्धो पर भरी रायफल टांग कर निकला। उस क्षेत्र में एक जंगली बिल्ली ने बड़ा उत्पात मचा रखा था। रात के अन्धेरे में वह चुपके से आती और गाँववासियों के घरों में घुस जाती। दुधमुँहे बच्चे ही प्रायः उसका शिकार बनते थे। माँ के आँचल में मुँह छुपाये सो रहे बच्चों को वह इतनी चालाकी से उठाती कि बच्चे चीख भी न पाते। सुबह उठने पर या रात में ही कभी नींद

खुलती तो उन्हे दीख पड़ती थी खून की बूँदे । जो बच्चो के जख्मी हुए शरीर से टपक जाती थीं ।

आरम्भ में तो लोगो को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस प्रकार कौन बच्चो को उठा ले जाता है । इसलिए उन्होंने निगरानी करना शुरू कर दिया । एक अवसर पर यह देख लिया गया कि बच्चे उठा ले जाने वाला जानवर एक जंगली बिलाव है । लोगों ने उस समय हल्ला भी मचाया परन्तु बिल्ली किसी कुशल अपराधी की तरह बच भागी । उसके बाद उसने और भी सावधानी बरतना आरम्भ कर दी । यही नहीं वह बड़े बालको को भी नोच भागती थी तथा अपना कार्यक्षेत्र भी बढ़ा दिया वह आसपास के गाँवो में भी शिकार करने लगी थी । गाँव वालों ने बड़ी हायतोबा मचायी । उसे मारने की तरह-तरह से कोशिशे भी की गयीं । परन्तु बिल्ली भी हद से अधिक चालाक निकली । सभी शिकारियो को उसने चकमा दे दिया और साफ-साफ बच निकली ।

पास ही के गाँव में शिकारी आरफन्सन रहते थे जिन्होंने कई खतरनाक अभियानों में सफलता पायी थी । जब उन्हे यह पता चला तो वे अपने साथियो के साथ उस खतरनाक बिलाव का शिकार करने को चल दिये । उस क्षेत्र के लोगो से उन्होने तलाश की तो पता चला कि बिल्ली प्रायः इसी जंगल मे भाग जाया करती है । आरफन्सन तथा उसके सहयोगियो ने उसी जंगल के पास अपना डेरा डाल दिया । रात को योजना बनायी गयी कि एक-एक शिकारी शिकार पर जाये । बिलाव तो है ही साथ मे विश्वासपात्र रायफल बन्दूक भी है फिर डर किस बात का । इससे सारे जंगल में एक साथ तलाश भी हो जाएगी और बिल्ली को इधर उधर भाग कर बचने का अवसर भी नहीं मिलेगा ।

सबके बाद में आरफन्सन निकला । रायफल अपने कन्धे पर रखकर । कुछ दूर जंगल में निकल जाने के बाद पास की झाड़ी से पत्तो की खड़खड़ाहट सुनाई दी । आरफन्सन ने जगह का परीक्षण करने के लिए आसपास देखा भी सही । वहाँ छोटे-छोटे ताजे पैरो के निशान थे । कुछ सोचकर आरफन्सन ने कन्धे पर टँगी रायफल उतारी और आवाज की ओर निशाना साधकर गोली दाग दी । तुरन्त फड़फड़ाहट सुनाई दी । आरफन्सन ने जाकर टटोला वहाँ पर एक जंगली बिल्ली अपनी आखरी साँसें गिन रही थी । शायद यह वही थी जिसने आस पास के गाँवो मे उत्पात मचा रखा था ।

सन्तोष और चैन की साँस लेकर आरफन्सन मृतप्राय बिल्ली के पास पहुँचा और उसने वह देह उठा कर अपने कन्धों पर टाँग ली । रायफल मे अभी एक गोली और बची थी । वह भी ज्यों की त्यों कन्धे पर टाँग ली । वह सोचता जा रहा था सहज ही सफलता मिल गयी । अपनी इस सफलता पर और गर्व से फूला न समाता था । लोग उसे कितना सराहेगे, वनजीवन का यह कंटक निकल जाने का समाचार सुनकर कितना प्रसन्न होगे ? इस क्षेत्र के निवासी लोग । थोड़ी देर तक चलते-चलते उसे अपना डेरा पेड़ों के झुरमुट में से साफ दिखाई देने लगा । पर नजदीक आया देखकर उसकी भूख तेज हो गयी ।

दरवाजे पर पहुँचते ही उसने बिल्ली की लाश को कन्धे से उतारने के लिए हाथ पीछे की ओर किये । 'धाँय'—वातावरण को भेदती हुई रायफल की एक गोली उसकी पीठ को छेद गयी । वह हक्का-बक्का रह गया । इस सुनसान में ऐसा कौन-सा दुश्मन है जिसने अपना बैर निकलने का यह उपयुक्त अवसर निकाला । कहीं मेरा ही तो कोई साथी नहीं । नहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार मेरी जानकारी में किसी को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया । मेरा तो सभी से अच्छा व्यवहार है, गोली इतनी निकट से चली थी कि लगता था किसी ने उसकी पीठ पर ही रायफल की नाल टिका कर फायर किया है । इतनी सारी बाते उसने क्षण भर मे सोच डालीं और तेजी से अपने स्थान से हट कर दरवाजे की ओट मे आ गया ।

पीछे मुड़ कर देखा तो एकदम सन्नाटा, कोई नहीं । रायफल की आवाज अभी भी दूर पहाड़ियों से टकराकर गूँज रही थी । असमंजस की स्थिति मे उसने बिल्ली को झटके से नीचे उतारा तो साथ में कन्धे पर टँगी हुई रायफल भी खिसक गयी । देख कर आरफन्सन को सारी स्थिति समझ मे आ गयी । घायल बिल्ली के पंजो मे रायफल का घोड़ा दबा हुआ था और जब वह मृतप्राय बिल्ली को कंधे से उतार रहा था तब इसी तरह घोड़ा दब गया और रायफल चल गयी ।

आरफन्सन अभी यहाँ अकेला ही था । साथ के शिकारी साथी पता नहीं कब लौटे । उनके आने का इन्तजार किया जाय तो पता नहीं शरीर में गोली का कितना विष फैल चुकेगा । मृत्यु की कामना उसे अभी थी नहीं फिर भी उससे भय भी नहीं था । आरफन्सन को बड़ा विश्वास था अपने आप पर अपने सुदृढ़ शरीर पर कि यह गोली उसका अंत नहीं कर सकती ।

जूते के फीते खोलने के लिए वह जैसे ही नीचे झुका—पीठ से रक्त का फव्वारा फूट निकला । पहने हुए सब कपड़े खून से तर हो उठे । साथ ही जोरों की खाँसी भी आने लगी । उसने जूते उतारे, कमर सीधी की और गोली के घाव को हाथ से दबा कर अन्दर तक घुस गया, दर्पण निकाला और पीठ की तरफ उसे रखकर पीछे मुड़कर देखा तो एक बड़ा-सा सूराख ज्वालामुखी की तरह गर्म रक्त उगल रहा था । खाँसी आई और मुँह से झाग गिरने लगे । यह निश्चित पता चल गया था कि गोली पीठ से बाँये फेफड़े को चीरती हुई सीने से पार निकल गयी है । इसी प्रकार दर्पण में घाव देखते हुए खून को बहते रहने दिया गया तो जीवनलीला देखते ही देखते समाप्त हो जायेगी । यह सोचकर कुछ उपाय करने के लिए वह उद्यत हुआ ।

साथ के सामान में से एक तौलिया ढूँढ कर निकाला और उसे फाड़ कर फोये बनाने लगा । दर्पण में देखकर

उसने घाव में तौलिया के टुकड़े भरे और खून का बहना बंद किया। फिर उसने तौलिये की ही पट्टी ऊपर से कसकर बाँध ली।

खेमे मे कोई कीटाणुनाशक औषधि तो थी नहीं। थोड़ी देर मे ही पूरे शरीर में जहर फैल सकता था। इसलिए घाव को पानी से धोना उचित जँचा। परन्तु पानी भी तो नहीं था—बाहर सर्द हवा बह रही थी। तम्बू से बाहर निकलते ही बर्फीली हवाएँ जख्मी घाव को और भी नुकसान पहुँचा सकती है। परन्तु काम तो सब अपने ही हाथों से करना था। ठण्डीहवा की परवाह किये बिना ही वह एक हाथ में बाल्टी और दूसरे मे कुल्हाड़ी लिये वह चल दिया। नदी की सतह पर जमी कठोर बर्फ को दाँये हाथ से कुल्हाड़ी चलाकर तोड़ा और उसे बाल्टी मे भरकर ले आया।

डेरे मे आकर आग जलायी, पानी गर्म किया और गर्म पानी से अपना घाव धोया। फाहे काफी समय तक धोते रहने के कारण शरीर के जख्म में तनाव पैदा हुआ और घाव दर्द करने लगा। आरफन्सन ने इसके बाद घाव को अच्छी तरह से बाँध लिया। इसके बाद उसे खाने की याद आयी।

तम्बू में तैयार बना खाना तो था नहीं अत: उसने स्वयं खाना बनाया। खाने के बाद वह अपनी स्थिति पर विचार करने लगा। बार-बार उसके विचार इसी केन्द्रबिन्दु पर पहुँचते कि कुछ भी हो मैं मरूँगा नही। यह सोचते-सोचते ही उसे नींद आ गयी।

शाम हुई, रात गहराई और सुबह भी हो गयी। साथी नहीं आये—शायद किसी शिकार के पीछे दूर तक निकल गये हो। पूरा दिन और पूरी रात गुजर गयी। दूसरे दिन आरफन्सन के तीनों साथी शिकार से लौटे। कई बार ऐसा होता था। सप्ताहो तक वे लोग अपने शिकार का पीछा करते हुए वे दूर तक निकल जाया करते थे। आरफन्सन ने उनके लौटने पर सारा घटनाक्रम कह सुनाया। आश्चर्य तो उसके साथियो को भी हुआ। गोली के आरपार हो जाने के बाद भी कैसे वह सामान्य दिनचर्या मे व्यस्त रहा।

तुरन्त आरफन्सन को निकट के अस्पताल मे भर्ती करवाने का विचार किया गया। आस-पास दूर मीलो दूर तक कोई कस्बा नही था। सबसे नजदीक के नगर तक पहुँचने के लिए भी कम से कम दो दिन का समय चाहिए। कुछ भी हो, चलना निश्चित हो गया। पैदल ही आरफान्सन अपने साथियो के साथ अस्पताल तक गया।

दो दिन तक चलते रहने के कारण वह थक गया था। इसलिए अस्पताल मे जाकर वह बेहोश हो गया। डॉक्टर ने उसकी पूरी चिकित्सा की और वह बच गया। अन्य कोई और सामान्य मनोबल का व्यक्ति होता अवश्य ही मर जाता परन्तु आरफन्सन के पास आत्मविश्वास की अपार मूल्यवान संपदा थी और उसी के बल पर वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सका।

आदर्श सहकारी प्रतिष्ठान के अधिष्ठाता— एमास वुडवर्ड

"इस औद्योगिक प्रतिष्ठान का एक भी कर्मचारी अप्रसन्न या असन्तुष्ट नहीं दिखाई देता। यहाँ अफसरो और कर्मचारियों के बीच किसी संस्कारी परिवार के सदस्यो जैसा सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध है। यहाँ कोई भी आदमी अपना समय नष्ट करता हुआ नहीं पाया जाता। न यहाँ कोई कर्मचारी-संघ है और न कभी यहाँ हड़ताल ही हुई है।"

ये वाक्य किसी प्रचार-पुस्तिका से उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं। बल्कि यह वास्तविकता है अमरीका के एक कारखाने की।

यह कारखाना है राकफोर्ड मे स्थित 'वुडवर्ड गवर्नर कम्पनी।' यहाँ गति पर नियन्त्रण रखने वाले यन्त्र (गवर्नर) बनाये जाते हैं। इस कम्पनी की सफलता और ख्याति का तो अनुमान आप इसी से लगा सकते हैं कि इसके द्वारा निर्मित 'गवर्नर' ही संसार के अधिकांश जल-विद्युत ग्रहो, जहाजों, वायुयानों, डीजल इंजनों और राकेटो आदि मे प्रयोग किये जाते हैं। इसके कर्मचारियो और अंशधारियों (शेयर होल्डरो) ने समय-समय पर अपने तात्कालिक स्वार्थ की अपेक्षा कम्पनी के सामूहिक हित को अधिक महत्व देकर इसे समृद्ध बनाया है और अन्तत: दोनो ही वर्गों को इससे समुचित लाभ हुआ है।

इस औद्योगिक प्रतिष्ठान की स्थापना सन् १८७० मे हुई, जबकि एक मामूली मशीन चालक श्रीएमासवुडवर्ड ने पानी की चक्कियों की गति पर नियन्त्रण रखने के लिए 'गवर्नर' का आविष्कार किया और नौकरी छोड़कर यह यन्त्र बनाने एवं बेचने की ठानी। किराये के एक छोटे से बाड़े मे किराये की दो-चार मशीने बैठाकर उन्होने 'वुडवर्ड गवर्नर कम्पनी' की स्थापना की।

गवर्नरो की उपयोगिता और कम्पनी की साख की ख्याति जल्दी ही दूर-दूर तक फैल गयी। काम दिन दूना और रातचौगुना बढ़ता गया। आगे चलकर कम्पनी ने अमरीका मे ही नहीं, बल्कि इंग्लैण्ड, हालैण्ड और जापान मे भी अपने कारखाने खोले। इस प्रकार छोटी सी वुडवर्ड गवर्नर कम्पनी ने धीरे-धीरे एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीयसंगठन का रूप धारण कर लिया।

राकफोर्ड के इस कारखाने का अन्तरंग जितना सुन्दर है उतना ही प्रभावोत्पादक है, उसका बाहरी रूप उसकी इमारत, बगीचा सभी कुछ दर्शनीय है। इतने धनी और सम्पन्न देश में भी बहुत कम औद्योगिक प्रतिष्ठान इतने शोभाशाली और आकर्षक हैं।

कम्पनी के संस्थापक एमासवुडवर्ड ने जीवन-पर्यन्त कम्पनी का संचालन किया। उनके पश्चात् संचालन का दायित्व उनके सुयोग्य पुत्र ने सम्हाला। उनके बाद अब कार्य भार सम्हाल रहे हैं श्री अर्ल मार्टिन, जिन्होंने एक मामूली

मजदूर से उन्नति करके कम्पनी के जनरल मैनेजर का पद प्राप्त किया है।

वुडवर्ड कम्पनी की सबसे महत्वपूर्ण बात है, कर्मचारियों और अंशधारियों (शेयर होल्डरों) के बीच की सहयोग-भावना। प्रारम्भ से ही एमासवुडवर्ड ने इस भावना का बीज बो दिया था और बड़े यत्नपूर्वक उसे सींचा और पनपाया था। वे उदारचरित के व्यक्ति थे। अपने सभी साथियो और कर्मचारियों से वे बन्धुभाव रखते थे और उनके सुख मे अपना सुख समझते थे। उनका विचार था कि कम्पनी के अधिकतम विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसका हर कर्मचारी और अंशधारी स्पष्ट रूप से अनुभव करे कि उसका निजीहित कम्पनी के हित से भिन्न नहीं हो सकता।

वे यह भी मानते थे कि प्रत्येक कर्मचारी को उसकी योग्यता और मेहनत के अनुरूप वेतन और अपने कार्यक्षेत्र में योग्यता बढ़ाने का पूरा-पूरा अवसर बिना पक्षपात के देना कम्पनी का कर्तव्य है। न्यूनतमवेतन भी इतना अवश्य हो कि छोटे से छोटा कर्मचारी भी अपने परिवार का सम्मान पूर्वक भरण-पोषण कर सके। कम्पनी का लाभ कर्मचारी और अंशधारी वर्ग में न्यायपूर्वक बाँटा जाय ताकि दोनों वर्गों में सद्भाव और सहयोग की भावना बनी रहे और दोनों सक्रियरूप से कम्पनी की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

इन्हीं उदार-विचारों के आधार पर उन्होने कम्पनी का संचालन किया। उनके बाद के अध्यक्ष भी इस परम्परा को आगे बढ़ाते आये है। किन्तु वुडवर्ड गवर्नर कम्पनी को अपने कर्मचारियों और अंशधारियों में ऐसा पारस्परिक विश्वास बनाये रखने में काफी बाधाओं का भी सामना करना पड़ा है।

सन् १९३० में अमरीकी-उद्योग को बहुत धक्का पहुँचा। हजारों कारखाने बन्द हो गये और उनके कर्मचारियों को जवाब मिल गया। वुडवर्ड गवर्नर कम्पनी के सामने भी यही परिस्थिति पैदा हो गई। जब काम ही नहीं रहा तो आमदनी कहाँ से होती। सवाल पैदा हुआ कि कर्मचारियों का क्या हो? इस जटिल-समस्या पर विचार करने के लिये कर्मचारियों और अंशधारियों की एक आमसभा बुलाई गई। उसमे सभी सम्भव उपायों पर हर दृष्टि से खुलकर विचार किया गया।

कम्पनी की आर्थिक दशा अच्छी थी, इसलिए सभा मे यह निश्चय किया गया कि एक भी कर्मचारी निकाला नहीं जायेगा। हर एक के निजीऋण जो अधिक नहीं थे, कम्पनी स्वयं चुका देगी और बाद मे काम शुरू होने पर वापस ले लेगी। छोटे-बड़े सभी कर्मचारियों को समान रूप से गुजारे-भर का वेतन दिया जायेगा ताकि वे और उनके परिवार भूखे न मरें और यह क्रम उस समय तक चलेगा, जब तक कम्पनी के पास पैसा रहेगा।

इन निर्णयो से कर्मचारी और अंशधारी दोनो सहमत हो गये। इससे कर्मचारियों की रोजी-रोटी की समस्या हल हो गयी और अंशधारियों ने इस स्पष्टतः अनुत्पादक व्यय को भावीलाभ की प्रत्याशा में नियोजित पूँजी के रूप में देखा। अंशधारियों की इस उदार नीति से जो सद्भावना स्थापित हुई, वह आज तक उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी है।

उपर्युक्त व्यवस्था लगभग दो साल तक चली। इस बीच उत्पादन तो बन्द सा रहा किन्तु अनुसन्धान, विकास और वर्तमान 'गवर्नरों' के सुधार के लिये प्रयोग व प्रयत्न किये गये। डीजलइंजन और हवाई जहाजों के लिए उपर्युक्त 'गवर्नर' इसी दौरान विकसित किये गये। सन् १९३२ में फिर काम शुरू हुआ। सब कुशल कर्मचारियों के मौजूद होने के कारण वुडवर्ड कम्पनी को तुरन्त उत्पादन शुरू करने में कोई कठिनाई नहीं हुई और शीघ्र ही काम इतना बढ़ गया कि माल की माँग पूरी करने के लिये हर कर्मचारी को लगभग साठ घण्टे प्रति सप्ताह काम करना पड़ता था।

सन् १९४६ में कम्पनी की व्यवस्था में परिवर्तन करके कर्मचारियों को औपचारिक रूप से अंशधारियों के समान ही 'साझीदार-सदस्य' का स्थान दिया गया, यद्यपि कम्पनी-कानून के अनुसार अंशधारियों की ही रही। इस समय कम्पनी के लगभग १२०० अंशधारी हैं, जो अपने को कर्मचारियों का साझीदार मानते हैं। लगभग १३४० कर्मचारी सदस्य हैं। कम्पनी की नीतिनिर्धारण में कर्मचारी-सदस्यों के विचारों को भी मान्यता दी जाती है। हर माह एक आमसभा होती है, जिसमें कम्पनी का आय-व्यय व उच्च कर्मचारी आय-व्यय, मासिक-उत्पादन, व्यवसाय की स्थिति, वर्तमान समस्याएँ और उनके सुलझाव की व्यवस्था आदि का परिचय कर्मचारी-सदस्यो को कराते है और उनकी शंकाओं का समाधान भी करते हैं।

जहाँ तक सम्भव हो कम्पनी के अधिकारी कर्मचारियों में से ही चुने जाते है। उनसे आशा की जाती है कि वे कर्मचारियों की सुविधा और दुःख-दर्द का विशेष ध्यान रखे, उनका समुचित नेतृत्व करे तथा कर्मचारी सदस्यो के श्रम एवं अंशधारी सदस्यों के धन का उपयोग ईमानदारी और होशियारी से इस प्रकार करें कि कम्पनी की अधिकतम उन्नति हो।

यह भी ख्याल रखा जाता है कि कर्मचारियो का न्यूनतम-वेतन भी इतना हो कि समझदारी से खर्च करने पर उसमे कर्मचारी, उसकी पत्नी और दो बच्चों का परिवार प्रतिष्ठा के साथ रह सके। उच्चतम मूल वेतन जो कंपनी के सर्वोच्च अधिकारी को मिलता है न्यूनतम मूल-वेतन का दस गुना होता है।

हर कर्मचारी से यह आशा की जाती है कि वह अपना सामान्यखर्च मूलवेतन से चलाये और वर्ष के अन्त में मिलने वाले लाभांश का उपयोग मकान बनवाने, अन्य सामान लेने अथवा पर्यटन में करे या उसे पूँजी नियोजन मे लगाए। सर्वसम्मति से इस लाभांश का १५ प्रतिशत एक विशेष फण्ड में डाल दिया जाता है, जिसका मूलधन और लाभ कर्मचारी को कम्पनी छोड़ते समय दिया जाता है। इस प्रकार यदि

कर्मचारी अपने वेतन से कुछ भी बचत न कर पाये, तब भी बुढ़ापे के लिए उसे पर्याप्त धनराशि मिल जाती है, जो पेन्शन के अतिरिक्त होती है ।

कारखाने का अपना स्वतन्त्र-भोजनालय है, जिसमें मध्यान्ह के समय सबको नि:शुल्क भोजन मिलता है । इसी प्रकार कम्पनी की ओर से अस्पताल, नाई की दुकान, वाचनालय, पुस्तकालय, शिक्षा, मनोरंजन, खेलकूद आदि की सभी सुविधाएँ नि.शुल्क प्रदान की गयी हैं ।

इस तरह पारम्परिक सहयोग को व्यावहारिक रूप देकर 'बुडवर्ड गवर्नर कम्पनी' ने संसार के सामने एक नया आदर्श प्रस्तुत किया है । उसने सिद्ध कर दिया है कि यदि अंशधारी अपने तात्कालिक स्वार्थ पर थोड़ा नियन्त्रण रखे, तो उन्हें कर्मचारियों का पूर्ण सहयोग-सद्भाव प्राप्त हो सकता है । जिससे अन्त मे उन्हे ही कहीं अधिक लाभ होगा ।

क्या हमारे भारतीय पूँजीपति और कारखाने के संचालकगण इस संस्थान की कार्य-प्रणाली से कुछ प्रेरणा ग्रहण करेंगे ?

उदारमना, मानवतावादी विज्ञान-तपस्वी—अल्बर्ट आइन्स्टाइन

विश्वविख्यात कवि और भारतीय-दर्शन के ज्ञाता गुरुदेवरवीन्द्रनाथ ठाकुर जब विदेश-यात्रा के समय अमेरिका गये थे तो १४ जुलाई, १९३० के दिन अपने समय के एक महान-वैज्ञानिक ने उन्हे सादर अपने निवास स्थान पर आमंत्रित किया । रवीन्द्रनाथ उनके मकान पर पहुँचे । यथोचित स्वागत-सत्कार के बाद वार्ता का दौर शुरू हुआ तो वे वैज्ञानिक उनसे आत्मा-परमात्मा, जगत, ब्रह्म, सत्य आदि आध्यात्मिक विषयो पर उनसे अनेक प्रश्न पूछते रहे एक जिज्ञासु बालक की तरह सरल भाव से, न अपनी प्रसिद्धि का लेश मात्र भी गर्व और न विज्ञान को ही सत्य मानकर तर्क करने की ही ललक । कभी अपना मत प्रकट भी किया तो 'मेरा ऐसा मत है, मैंने ऐसा देखा है' के विनम्र भाव से ही । इतनी सादगी और सरलता थी उनमें जो उन्हे प्रसिद्ध वैज्ञानिक ही नहीं महामानवों की पंक्ति में ला खड़ा कर देती है । यह थे बीसवीं सदी के महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाइन ।

दिखने मे बिल्कुल साधारण, सिर पर बड़े-बड़े बाल, बदन पर घिसी हुई चमड़े की जाकेट, बिना सस्पेन्डर की पतलून, पाँवो मे बिना मोजे के जूते जिसके तस्मे कुछ इस प्रकार बँधे हुए कि जूते खोलते समय न उन्हें ढीला करना पड़े, न पहनते समय ही उन्हें कसना पड़े । उन्हें देखकर यह कभी नहीं लगता था कि यही वह वैज्ञानिक है जिसने क्रान्तिकारी सिद्धान्त दिये हैं, जिसे सारा विश्व सम्मान देता है । नोबुल-पुरस्कार भी उसके कर्मों के सामने बौना बन जाता है ।

जीवन बहुत छोटा और अरमान बहुत बड़े—समय कम और काम अधिक इस समस्या को आइन्स्टाइन ने इसी प्रकार हल किया था । लम्बे-बाल नाई से बार-बार बाल बनवाने के समय की बचत करते थे । बिना मोजे के ढीले तस्में वाले जूते उन्हे मोजे पहनने और बार-बार तस्मे कसने के लिए जूतों को सलामी देने के श्रम व समय से बचाते थे । चमड़े का जाकेट ओवरकोट से छुट्टी दिलाता था । उस प्रकार पहनावो को साधारण और काम को असाधारण महत्व देने के कारण, समय का मूल्य समझने के कारण ही वे एकाग्र होकर विज्ञान साधना कर सके थे, अपने प्रारम्भिक समय मे क्लर्की करते हुए भी शोध के लिए समय निकाल सके थे ।

आइन्स्टाइन के सम्बन्ध में पढ़ते समय मन, मस्तिष्क में उनका जो चित्र उभरता है वह वेष-विन्यास में कुछ भिन्न होते हुए भी बहुत कुछ उन भारतीय-तपोनिष्ठ ऋषियों जैसा ही होता है जिन्होंने अपने जीवन को किसी महत्त्वपूर्ण सत्य की खोज मे लगा दिया था, जिनके पुण्य प्रताप से ज्ञान की गंगा धरती पर बही थी ।

अल्बर्ट आइन्स्टाइन का जन्म चौदहमार्च सन् १८७९ के दिन जर्मनी के एक साधारण परिवार में उल्म नगर में हुआ था । पिता बिजली के सामान का छोटा-सा कारखाना चलाते थे और माँ घर का कामकाज करती थीं । उन पर उनके चाचा के व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव पड़ा था, विज्ञान के प्रति उनकी भक्ति जगाने वाले उनके चाचा ही थे जिन्होंने आगे चलकर उनके पढ़ने-लिखने की व्यवस्था की थी, खर्च उठाया था । चाचा ने भी अपने इस जिज्ञासु और जहीन भतीजे में छिपी प्रतिभा को ताड़ लिया था और बचपन में ही उनके मस्तिष्क को विज्ञान की ओर मोड़ा था । चाचा उन्हें जो उपहार देते थे उनमें अधिकांश वैज्ञानिक यंत्रादि होते थे । बचपन में ही अपने चाचा की दी हुई कुतुबनुमा ने उनकी विज्ञान के प्रति रुचि जगा दी थी ।

प्रकृति से गम्भीर और मारकाट के खेलों से नफरत करने के कारण उनकी माता नन्हें आइन्स्टाइन के लिए हँसी मे कहा करती थीं—"मेरा अल्बर्ट बड़ा होकर प्रोफेसर बनेगा" उनकी यह हँसी में कही गई बात सचमुच सत्य होकर रही ।

प्रारम्भिक शिक्षा के दौरान वे अपने नगर की पाठशाला में 'फिसड्डी' समझे जाते थे । इसका कारण विज्ञान के अतिरिक्त अन्य विषयों के प्रति उनकी उदासीनता ही थी, यहाँ तक कि गणित की भी कुछ शाखाओ में वे कमजोर पड़ जाते । किन्तु विज्ञान-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर शिक्षकों को भी निरुत्तर, हतप्रभ कर देते थे । "यह कक्षा में अनुशासनहीनता फैलाता है ।" ऐसा आरोप लगाकर अध्यापकों ने उन्हे विद्यालय से बाहर निकाल दिया । अभिभावक और अध्यापक प्राय: यहीं चूकते हैं । वे बालक को अपने ढंग से पढ़ाना, बनाना चाहते हैं जबकि बालक भी अपनी कुछ ईश्वर प्रदत्त विभूतियो, प्रतिभाओं को लेकर जन्मता है और उन्हे विकसित करने की आवश्यकता होती है । बच्चों को पढ़ाया जाय के साथ क्या पढ़ाया जाय यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

मजदूर से उन्नति करके कम्पनी के जनरल मैनेजर का पद प्राप्त किया है ।

वुडवर्ड कम्पनी की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, कर्मचारियो और अंशधारियों (शेयर होल्डरों) के बीच की सहयोग-भावना । प्रारम्भ से ही एमासवुडवर्ड ने इस भावना का बीज बो दिया था और बड़े यत्नपूर्वक उसे सींचा और पनपाया था । वे उदारचरित के व्यक्ति थे । अपने सभी साथियो और कर्मचारियो से वे बन्धुभाव रखते थे और उनके सुख मे अपना सुख समझते थे । उनका विचार था कि कम्पनी के अधिकतम विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसका हर कर्मचारी और अंशधारी स्पष्ट रूप से अनुभव करे कि उसका निजीहित कम्पनी के हित से भिन्न नहीं हो सकता ।

वे यह भी मानते थे कि प्रत्येक कर्मचारी को उसकी योग्यता और मेहनत के अनुरूप वेतन और अपने कार्यक्षेत्र में योग्यता बढ़ाने का पूरा-पूरा अवसर बिना पक्षपात के देना कम्पनी का कर्त्तव्य है । न्यूनतमवेतन भी इतना अवश्य हो कि छोटे से छोटा कर्मचारी भी अपने परिवार का सम्मान पूर्वक भरण-पोषण कर सके । कम्पनी का लाभ कर्मचारी और अंशधारी वर्ग में न्यायपूर्वक बाँटा जाय ताकि दोनों वर्गों में सद्भाव और सहयोग की भावना बनी रहे और दोनों सक्रियरूप से कम्पनी की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे ।

इन्हीं उदार-विचारो के आधार पर उन्होने कम्पनी का संचालन किया । उनके बाद के अध्यक्ष भी इस परम्परा को आगे बढ़ाते आये हैं । किन्तु वुडवर्ड गवर्नर कम्पनी को अपने कर्मचारियो और अंशधारियो मे ऐसा पारस्परिक विश्वास बनाये रखने मे काफी बाधाओं का भी सामना करना पड़ा है ।

सन् १९३० में अमरीकी-उद्योग को बहुत धक्का पहुँचा । हजारों कारखाने बन्द हो गये और उनके कर्मचारियों को जबाब मिल गया । वुडवर्ड गवर्नर कम्पनी के सामने भी यही परिस्थिति पैदा हो गई । जब काम ही नहीं रहा तो आमदनी कहाँ से होती । सवाल पैदा हुआ कि कर्मचारियो का क्या हो ? इस जटिल-समस्या पर विचार करने के लिये कर्मचारियो और अशधारियो की एक आमसभा बुलाई गई । उसमे सभी सम्भव उपायो पर हर दृष्टि से खुलकर विचार किया गया ।

कम्पनी की आर्थिक दशा अच्छी थी, इसलिए सभा में यह निश्चय किया गया कि एक भी कर्मचारी निकाला नहीं जायेगा । हर एक के निजीऋण जो अधिक नहीं थे, कम्पनी स्वयं चुका देगी और बाद में काम शुरू होने पर वापस ले लेगी । छोटे-बड़े सभी कर्मचारियों को समान रूप से गुजारे-भर का वेतन दिया जायेगा ताकि वे और उनके परिवार भूखे न मरे और यह क्रम उस समय तक चलेगा, जब तक कम्पनी के पास पैसा रहेगा ।

इन निर्णयों से कर्मचारी और अंशधारी दोनो सहमत हो गये । इससे कर्मचारियो की रोजी-रोटी की समस्या हल हो गयी और अंशधारियों ने इस स्पष्टतः अनुत्पादक व्यय को भावीलाभ की प्रत्याशा में नियोजित पूँजी के रूप में देखा । अंशधारियों की इस उदार नीति से जो सद्भावना स्थापित हुई, वह आज तक उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी है ।

उपर्युक्त व्यवस्था लगभग दो साल तक चली । इस बीच उत्पादन तो बन्द सा रहा किन्तु अनुसन्धान, विकास और वर्तमान 'गर्वनरों' के सुधार के लिये प्रयोग व प्रयत्न किये गये । डीजलइंजन और हवाई जहाजों के लिए उपर्युक्त 'गवर्नर' इसी दौरान विकसित किये गये । सन् १९३२ में फिर काम शुरू हुआ । सब कुशल कर्मचारियों के मौजूद होने के कारण वुडवर्ड कम्पनी को तुरन्त उत्पादन शुरू करने में कोई कठिनाई नहीं हुई और शीघ्र ही काम इतना बढ़ गया कि माल की माँग पूरी करने के लिये हर कर्मचारी को लगभग साठ घण्टे प्रति सप्ताह काम करना पड़ता था ।

सन् १९४६ में कम्पनी की व्यवस्था में परिवर्तन करके कर्मचारियों को औपचारिक रूप से अंशधारियों के समान ही 'साझीदार-सदस्य' का स्थान दिया गया, यद्यपि कम्पनी-कानून के अनुसार अशधारियों की ही रही । इस समय कम्पनी के लगभग १२०० अंशधारी हैं, जो अपने को कर्मचारियों का साझीदार मानते हैं । लगभग १३४० कर्मचारी सदस्य हैं । कम्पनी की नीतिनिर्धारण में कर्मचारी-सदस्यों के विचारो को भी मान्यता दी जाती है । हर माह एक आमसभा होती है, जिसमें कम्पनी का आय-व्यय व उच्च कर्मचारी आय-व्यय, मासिक-उत्पादन, व्यवसाय की स्थिति, वर्तमान समस्याएँ और उनके सुलझाव की व्यवस्था आदि का परिचय कर्मचारी-सदस्यों को कराते हैं और उनकी शकाओ का समाधान भी करते हैं ।

जहाँ तक सम्भव हो कम्पनी के अधिकारी कर्मचारियो में से ही चुने जाते हैं । उनसे आशा की जाती है कि वे कर्मचारियों की सुविधा और दुःख-दर्द का विशेष ध्यान रखे, उनका समुचित नेतृत्व करें तथा कर्मचारी सदस्यो के श्रम एवं अंशधारी सदस्यों के धन का उपयोग ईमानदारी और होशियारी से इस प्रकार करें कि कम्पनी की अधिकतम उन्नति हो ।

यह भी ख्याल रखा जाता है कि कर्मचारियो का न्यूनतम-वेतन भी इतना हो कि समझदारी से खर्च करने पर उसमे कर्मचारी, उसकी पत्नी और दो बच्चो का परिवार प्रतिष्ठा के साथ रह सके । उच्चतम मूल वेतन जो कपनी के सर्वोच्च अधिकारी को मिलता है न्यूनतम मूल-वेतन का दस गुना होता है ।

हर कर्मचारी से यह आशा की जाती है कि वह अपना सामान्यखर्च मूलवेतन से चलाये और वर्ष के अन्त मे मिलने वाले लाभांश का उपयोग मकान बनवाने, अन्य सामान लेने अथवा पर्यटन में करे या उसे पूँजी नियोजन मे लगाए । सर्वसम्मति से इस लाभांश का १५ प्रतिशत एक विशेष फण्ड में डाल दिया जाता है, जिसका मूलधन और लाभ कर्मचारी को कम्पनी छोड़ते समय दिया जाता है । इस प्रकार यदि

ने वर्षों पूर्व दिया था। उनकी इस साधारणता में भी एक ऐसी असाधारणता थी कि उन्हें सभी गणमान्यव्यक्तियों ने अपने पास बिठाया, सम्मानित किया। सच है जब तक व्यक्ति अपने सम्मान को लकपने के लिये प्रयत्नशील रहता है सम्मान उसकी पकड़ से बाहर रहता है और जब वह सम्मान के प्रति उदासीन हो जाता है तो वह बिन बुलाये मेहमान की तरह आ सकता है।

जीवन में चिंतन, मनन का कितना महत्व है उसे स्पष्ट करते हुए उन्होने विश्वयुद्ध पीड़ित जर्मन विस्थापित वैज्ञानिकों के सम्मुख भाषण देते हुए कहा था—"आप लोगो के लिये उपयुक्त काम लाइटहाउस की रखवाली करना अथवा जूते ठीक करना है क्योंकि इस काम में चिंतन के लिए पर्याप्त समय मिलता है।" वे स्वयं भी छोटे-मोटे रोजमर्रा के काम करते समय चिंतन में डूबे रहते थे उनकी पत्नी एल्जा उन्हें ऐसे अवसर पर मीठा उलाहना देती थी—"श्रीमानजी पहले खाना खा लीजिये फिर सोचते रहियेगा।" उनकी पहली पत्नी ने उनके इसी प्रकार काम मे डूबे रहने व चिंतन करते रहने के कारण तलाक ले लिया था। किन्तु उनकी दूसरी पत्नी एल्जा ने उनके काम और चिंतन के महत्व को समझकर उनका पूरा संरक्षण किया था। उनकी पुत्रियाँ भी अपने इस दार्शनिक पिता से क्रिया-कलापो पर खूब चटखारे ले-ले कर हँसती थीं। उनका पारिवारिक जीवन उनके इस स्वभाव को लेकर कभी-बोझिल नहीं बना। क्योंकि उनके इस स्वभाव की महत्ता को वहाँ स्वीकार कर लिया गया था।

महान वैज्ञानिक-महामानव अल्बर्ट आइन्स्टाइन का यह जीवन, व्यक्ति और समग्र मानवता की अभिन्नता का अनूठा प्रतिपादन है जिसकी महत्ता हर व्यक्ति, हर वर्ग के लिए स्वीकारने और अनुसरण करने योग्य है।

विचार और साहसिक दृढ़ता के प्रतीक—

अर्नेस्ट हैमिंग्वे

विश्व उन दिनो प्रथम विश्वयुद्ध की लपटो मे झुलस रहा था। अमेरिका का एक युवक अपने समवयस्क साथियो को सैनिक बनकर युद्ध के लिए प्रयाण करता देख रहा था। कैसा होता है युद्ध ? क्यों होती हैं लड़ाइयाँ ? कौन छेड़ता है इन्हे, क्या लाभ होता है इनसे ? इस प्रकार के कितने ही प्रश्न उसके मस्तिष्क मे पावसकालीन मेघो की तरह उमड़ रहे थे। इनका उत्तर उसे युद्ध-क्षेत्र में ही मिल सकता था। उसने भी युद्ध मे भाग लेने का निश्चय कर लिया।

वह भर्ती-दफ्तर में अपना चयन हेतु पहुँचा। किन्तु उसकी एक आँख कमजोर होने के कारण उसका चयन नहीं हो सका। उसके मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी थी वह तो यो ही तृप्त होने वाली नहीं थी। वह युद्ध को निकट से देखने का अवसर खोजने लगा। जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी निकल आती है। वह अखबार का प्रतिनिधि बनकर वहाँ जा पहुँचा जहाँ मृत्यु का ताण्डव हो रहा था।

यह युवक और कोई नहीं विख्यात लेखक अरनेस्ट हैमिंग्वे थे जो युद्ध का अनुभव पाना चाहते थे। बहुत प्रयास करने पर उन्हें घायल सैनिकों को चिकित्सालयों तक पहुँचाने वाली एम्बुलेंस पर काम करने का अवसर मिला। लोग तो युद्ध के नाम से काँपते है और वे युद्ध को पास से देखना चाहते थे। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने निडर थे। युद्ध हो जाय और वे उसका अनुभव पाने से वंचित न रह जाएँ। यह सोचकर वे एक दिन मौका देखकर सैनिकों के साथ खाई से भी आगे बढ़ गये। उसी समय शत्रुपक्ष की ओर से एक बम फेंका गया जो उनके निकट ही आकर फूटा।

इस बमविस्फोट में हैमिंग्वे और उनके साथ के तीन सैनिक बुरी तरह आहत हुए। दो का तो प्राणान्त ही हो गया। हैमिंग्वे ने युद्ध की भयंकरता को निकट से देख लिया था। आहतावस्था मे ही उन्होने निश्चय कर लिया कि उन्हें क्या करना चाहिए। स्वयं बुरी तरह घायल थे। फिर भी उन्होंने उस तीसरे सैनिक को अपनी पीठ पर लादा और खाई की ओर लौट चले। खाई तक पहुँचते ही सैनिक मर गया। हैमिंग्वे भी बेहोश होकर गिर पड़े।

बाद में जब आपरेशन किया गया तो पता चला कि उनके शरीर मे बम के २३७ टुकड़े गढ़ गये थे। घायल सैनिक को पीठ पर लाद कर लाते समय भी उन पर शत्रु पक्ष के सैनिक ने आक्रमण किया था। जिससे उनकी एक टाँग बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गयी थी। उनकी इस वीरता का सम्मान इटली सरकार ने शौर्य पदक व पुरस्कार देकर किया।

हैमिंग्वे वस्तुतः सिपाही थे। अन्याय, अत्याचार, शोषण, गरीबी, उत्पीड़न, राज्यलिप्सा, स्वार्थ, घृणा आदि से लड़ना उनका काम था। उनके साहित्य में भी इन सब विकृतियों से जूझने का प्रबल स्वर उभरा है। वे इन सबका चित्रण करने के साथ ही उसमें वह प्रेरणा भी भरा करते थे कि आने वाली पीढ़ियाँ साहस, वीरता और धैर्यपूर्वक इन विकृतियों से लोहा ले और उन्हें परास्त करे। प्राणों पर खेल कर भी वे इनसे जूझें। उनका समूचा जीवन संघर्षपूर्ण था और उस रणक्षेत्र के वे सच्चे सिपाही थे।

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने पर वे अपने देश लौटे। वहाँ उनका शानदार स्वागत हुआ। उनका पैर अभी तक ठीक नहीं हुआ था। डॉक्टरो ने आराम करने की सलाह दी थी। लेकिन उन्होंने अपने आराम का ध्यान नहीं किया। परिवार की खस्ता हालत देखकर वे उसे सुधारने के लिये कठिन परिश्रम करते रहे। सच है जो व्यक्ति अपने कष्टों को देखता है तो उसे जरा सा कष्ट भी पहाड़-सा लगने लगता है पर जो दूसरो की पीड़ा को देखता है उसे अपना दर्द बहुत नगण्य लगता है। मनुष्य अपने आपको अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के स्तर पर विकसित करता

पढ़ाई छूटने पर उन्हें इटली जाना पड़ा । परिवार पहले ही आर्थिक-कारणों से इटली स्थानांतरित हो चुका था । पिता उन्हें पढ़ाने की स्थिति में ही नहीं थे । अतः चाचा जेकब ने अपने इस होनहार भतीजे को अपने खर्चे से स्विट्जरलैण्ड के एक अच्छे पोलिटेकनिक स्कूल में पढ़ाया । यों चाचा की स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं थी परिवार भी बड़ा था पर भतीजे की प्रतिभा अविकसित ही रह जाय यह वे कैसे सह सकते थे अतः उन्होंने आर्थिक तंगी भुगतकर भी उन्हें पढ़ाया था ।

पढ़लिख कर वे वैज्ञानिक-शोध-कार्य में प्रवृत्त होना चाहते थे किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण उन्हें नौकरी करनी पड़ी । नौकरी मिली स्विस-पेटेंट-ऑफिस में क्लर्क की । किन्तु उनकी शोध की महत्वाकांक्षा ने उन्हें रास्ता सुझा दिया जिससे कि वे शोध-कार्य के लिए समय निकाल सकें । उन्होंने बहुत से व्यर्थ के कामों को कम कर दिया । सादाजीवन अपनाकर वे बहुत से झझटों से मुक्ति पा गये । अब वे दिन को ऑफिस में कलम घिसाई करते और रात्रि में अपना शोध-कार्य । एक पेट की भूख बुझाता था तो दूसरा मन और आत्मा की । दिन भर नौकरी करने पर दिमाग थक जाता है फिर कोई काम करना असम्भव नहीं, इस मान्यता को आइन्स्टाइन ने गलत सिद्ध कर दिया था । वे ऑफिस के काम को भी पूरे मनोयोग से करते और रात्रि में अपने शोध-कार्य को भी उसी तल्लीनता से करते थे । वास्तव में थकान होने का कारण किसी भी काम के साथ मनोयोग, तन्मयता नहीं जोड़ पाना है । काम को काम नहीं साधना समझ कर किया जाय, उसके साथ भावनाएँ तथा अपनी पूरी शारीरिक, मानसिक सामर्थ्य मनोयोगपूर्वक जोड़ा जाय तो थकने का प्रश्न ही उत्पन्न न हो ।

इसी प्रकार दिन को नौकरी करते हुए और फालतू समय में शोध करने के परिणामस्वरूप सापेक्षवाद नामक वैज्ञानिक-सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसने वर्षों से चली आ रही मान्यताओ को निराधार सिद्ध कर दिया । न्यूटन जैसे वैज्ञानिकों के कुछ सिद्धान्त भी झूठे पड़ गये । उस सिद्धान्त का आधार यह तथ्य है कि हम जो कुछ देखते हैं और जो कुछ वास्तव में प्रकृति में घटित हो रहा है उनमे बहुत भिन्नता है । १९०५ मे उन्होंने सापेक्षवाद का सिद्धान्त गतिशील माध्यम की गति नामक शोध पत्र के द्वारा प्रकाशित किया । उसके साथ ही उनके अन्य चार महत्वपूर्ण शोध-पत्र भी प्रकाशित किये गये ।

हर नई बात चाहे वह कितनी ही सत्यतापूर्ण और उपयोगी क्यो न हो दुनिया उसे एकदम स्वीकार नहीं कर लेती । यही आइन्स्टाइन के साथ भी हुआ । किन्तु उनके इस सिद्धान्त को अंततः स्वीकार किया ही गया । १९०९ मे वे ज्युरिख विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर बनाये गये फिर कुछ वर्ष बाद 'कैसर विहेल्म संस्थान' के निर्देशक, जो उस समय विश्वविख्यात विज्ञान-संस्थान था ।

वे कोरे बुद्धिवादी वैज्ञानिक ही नहीं थे वरन् उदार मानव भी थे, पूरे भावनाशील, हृदय प्रधान । नाजी जातिवाद ने जब जर्मनी में हिंसा और उत्पीड़न का ताण्डव खड़ा किया तो उन्होंने उनके इस कुकृत्य की घोर निंदा की । उन्हें इसी कारण जर्मनी छोड़ देना पड़ा । नाजियों ने उनके सिर की कीमत लाखों रुपये रखी थी । वैज्ञानिक होते हुए भी वे उसे ही सर्वोपरि नहीं मानते थे । वे उसे मानव-प्रगति का साधन भर मानते थे साध्य नहीं । यही कारण था कि वे मानवता का पक्ष लेकर नाजियों के कोपभाजन बने थे ।

स्वयं को वे साधारण-सा व्यक्ति मानते थे । अपने समकालीन महापुरुषों में उनकी भक्ति की सी श्रद्धा थी । उनकी मृत्यु पर उन्होंने कहा था—"आने वाली पीढ़ियाँ इस बात पर विश्वास नहीं करेंगी कि इस प्रकार व्यक्ति हाड़-माँस के पुतले के रूप में पृथ्वी पर विचरण करता था ।" यहाँ उनकी भाषा दार्शनिक-सी हो गयी है । वे अपने को गाँधीजी से बहुत छोटा मानते थे । उन्होंने तत्कालीन भारतीय-राजदूत गगनबिहारी मेहता से कहा था—"मेरी तुलना उस महान व्यक्ति से न करो जिन्होंने मानव जाति के लिए बहुत कुछ किया मैं तो उनके सामने कुछ भी नहीं हूँ ।"

वे पूरे तपस्वी थे । वैज्ञानिक-शोध को उन्होंने एक तपस्या समझकर ही किया था । उससे न उन्होंने लाभ उठाने की कोशिश की और न महान-वैज्ञानिक के रूप में प्रतिष्ठा पाकर उनकी सादगी, सरलता और निरहंकारिता में किंचितमात्र अन्तर ही आया । जिस विज्ञान की साधना उन्होंने एक तपस्वी की तरह की थी जब उसे ही मानवजाति के विनाश में प्रयुक्त होते देखा तो उनकी आत्मा बिलख उठी थी । वे इस दुःख को भुलाने के लिए कभी-कभी संगीत का सहारा लेते थे । वे अच्छे वायलिनवादक थे । जब वे जर्मनी छोड़कर अमेरिका पहुँचे थे तो उनके साथ वायलिन का बक्सा देखकर लोग उन्हें संगीतकार समझ बैठे थे । उनका हर काम पूरी तल्लीनता से होता था । वायलिन बजाते तो ऐसी दर्दीली धुनें निकालते कि उनका अपना दर्द उस प्रवाह में खो जाता । वायलीन और उसमे बसा संगीत उनके दुःख-दर्द और कठिनाइयो का सच्चा साथी था ।

उन्होंने विज्ञान को मानव-सेवा का एक साधन मानकर ही अपनाया था, साथ ही विश्वबन्धुत्व और विश्व-शान्ति के लिए भी उन्होंने एकनिष्ठ होकर कार्य किया था । उनके सामने देशो का, जातियो का और धर्मों का उतना महत्व नहीं था जितना मानवता का । अपनी इस भावना को मूर्तरूप देने के लिये उन्होंने युद्ध समाप्ति का एकमात्र हल सुझाते हुए विश्व-काँग्रेस की कल्पना की थी, जिसमें विश्व के सभी देश व जाति संकुचित राष्ट्रीयता से मुक्त होकर एक हो जाएँ ।

अपनी प्रसिद्धि से वे सदा त्रस्त रहा करते थे । वे स्वयं को साधारण-सा व्यक्ति प्रदर्शित करना चाहते थे किन्तु उन्हे सर्वत्र सम्मान व प्रसिद्धि ही मिलती थी, नोबल-पुरस्कार प्राप्त करने के लिये वे स्टाकहोम गये तो उन्होंने अपना वही पुराना चमड़े का जाकेट पहना था जो उन्हें उनके एक मित्र

ने वर्षों पूर्व दिया था । उनकी इस साधारणता में भी एक ऐसी असाधारणता थी कि उन्हें सभी गणमान्यव्यक्तियों ने अपने पास बिठाया, सम्मानित किया । सच है जब तक व्यक्ति अपने सम्मान को लकपने के लिये प्रयत्नशील रहता है सम्मान उसकी पकड़ से बाहर रहता है और जब वह सम्मान के प्रति उदासीन हो जाता है तो वह बिन बुलाये मेहमान की तरह आ सकता है ।

जीवन में चिंतन, मनन का कितना महत्व है उसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने विश्वयुद्ध पीड़ित जर्मन विस्थापित वैज्ञानिकों के सम्मुख भाषण देते हुए कहा था—"आप लोगों के लिये उपयुक्त काम लाइटहाउस की रखवाली करना अथवा जूते ठीक करना है क्योंकि इस काम में चिंतन के लिए पर्याप्त समय मिलता है ।" वे स्वयं भी छोटे-मोटे रोजमर्रा के काम करते समय चिंतन में डूबे रहते थे उनकी पत्नी एल्जा उन्हें ऐसे अवसर पर मीठा उलाहना देती थी—"श्रीमानजी पहले खाना खा लीजिये फिर सोचते रहियेगा ।" उनकी पहली पत्नी ने उनके इसी प्रकार काम में डूबे रहने व चिंतन करते रहने के कारण तलाक ले लिया था । किन्तु उनकी दूसरी पत्नी एल्जा ने उनके काम और चिंतन के महत्व को समझकर उनका पूरा संरक्षण किया था । उनकी पुत्रियाँ भी अपने इस दार्शनिक पिता से क्रिया-कलापों पर खूब चटखारे ले-ले कर हँसती थीं । उनका पारिवारिक जीवन उनके इस स्वभाव को लेकर कभी-बोझिल नहीं बना । क्योंकि उनके इस स्वभाव की महत्ता को वहाँ स्वीकार कर लिया गया था ।

महान वैज्ञानिक-महामानव अल्बर्ट आइन्स्टाइन का वह जीवन, व्यक्ति और समग्र मानवता की अभिन्नता का अनूठा प्रतिपादन है जिसकी महत्ता हर व्यक्ति, हर वर्ग के लिए स्वीकारने और अनुसरण करने योग्य है ।

विचार और साहसिक दृढ़ता के प्रतीक—

अर्नेस्ट हैमिंग्वे

विश्व उन दिनों प्रथम विश्वयुद्ध की लपटों में झुलस रहा था । अमेरिका का एक युवक अपने समवयस्क साथियों को सैनिक बनकर युद्ध के लिए प्रयाण करता देख रहा था । कैसा होता है युद्ध ? क्यों होती हैं लड़ाइयाँ ? कौन छेड़ता है इन्हें, क्या लाभ होता है । इनसे ? इस प्रकार के कितने ही प्रश्न उसके मस्तिष्क में पावसकालीन मेघों की तरह उमड़ रहे थे । इनका उत्तर उसे युद्ध-क्षेत्र में ही मिल सकता था । उसने भी युद्ध में भाग लेने का निश्चय कर लिया ।

वह भर्ती-दफ्तर में अपना चयन हेतु पहुँचा । किन्तु उसकी एक आँख कमजोर होने के कारण उसका चयन नहीं हो सका । उसके मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी थी वह तो यों ही तृप्त होने वाली नहीं थी । वह युद्ध को निकट से देखने का अवसर खोजने लगा । जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी निकल आती है । वह अखबार का प्रतिनिधि बनकर वहाँ जा पहुँचा जहाँ मृत्यु का ताण्डव हो रहा था ।

यह युवक और कोई नहीं विख्यात लेखक अरनेस्ट हैमिंग्वे थे जो युद्ध का अनुभव पाना चाहते थे । बहुत प्रयास करने पर उन्हें घायल सैनिकों को चिकित्सालयों तक पहुँचाने वाली एम्बुलेंस पर काम करने का अवसर मिला । लोग तो युद्ध के नाम से काँपते हैं और वे युद्ध को पास से देखना चाहते थे । इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने निडर थे । युद्ध हो जाय और वे उसका अनुभव पाने से वंचित न रह जाएँ । यह सोचकर वे एक दिन मौका देखकर सैनिकों के साथ खाई से भी आगे बढ़ गये । उसी समय शत्रुपक्ष की ओर से एक बम फेंका गया जो उनके निकट ही आकर फूटा ।

इस बमविस्फोट में हैमिंग्वे और उनके साथ के तीन सैनिक बुरी तरह आहत हुए । दो का तो प्राणान्त ही हो गया । हैमिंग्वे ने युद्ध की भयंकरता को निकट से देख लिया था । आहतावस्था में ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि उन्हें क्या करना चाहिए । स्वयं बुरी तरह घायल थे । फिर भी उन्होंने उस तीसरे सैनिक को अपनी पीठ पर लादा और खाई की ओर लौट चले । खाई तक पहुँचते ही सैनिक मर गया । हैमिंग्वे भी बेहोश होकर गिर पड़े ।

बाद में जब आपरेशन किया गया तो पता चला कि उनके शरीर में बम के २३७ टुकड़े गढ़ गये थे । घायल सैनिक को पीठ पर लाद कर लाते समय भी उन पर शत्रु पक्ष के सैनिक ने आक्रमण किया था । जिससे उनकी एक टाँग बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गयी थी । उनकी इस वीरता का सम्मान इटली सरकार ने शौर्य पदक व पुरस्कार देकर किया ।

हैमिंग्वे वस्तुतः सिपाही थे । अन्याय, अत्याचार, शोषण, गरीबी, उत्पीड़न, राज्यलिप्सा, स्वार्थ, घृणा आदि से लड़ना उनका काम था । उनके साहित्य में भी इन सब विकृतियों से जूझने का प्रबल स्वर उभरा है । वे इन सबका चित्रण करने के साथ ही उसमें वह प्रेरणा भी भरा करते थे कि आने वाली पीढ़ियाँ साहस, वीरता और धैर्यपूर्वक इन विकृतियों से लोहा लें और उन्हें परास्त करें । प्राणों पर खेल कर भी वे इनसे जूझें । उनका समूचा जीवन संघर्षपूर्ण था और उस रणक्षेत्र के वे सच्चे सिपाही थे ।

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने पर वे अपने देश लौटे । वहाँ उनका शानदार स्वागत हुआ । उनका पैर अभी तक ठीक नहीं हुआ था । डॉक्टरों ने आराम करने की सलाह दी थी । लेकिन उन्होंने अपने आराम का ध्यान नहीं किया । परिवार की खस्ता हालत देखकर वे उसे सुधारने के लिये कठिन परिश्रम करते रहे । सच है जो व्यक्ति अपने कष्टों को देखता है तो उसे जरा सा कष्ट भी पहाड़-सा लगने लगता है पर जो दूसरों की पीड़ा को देखता है उसे अपना दर्द बहुत नगण्य लगता है । मनुष्य अपने आपको अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के स्तर पर विकसित करता

पढ़ाई छूटने पर उन्हें इटली जाना पड़ा। परिवार पहले ही आर्थिक-कारणो से इटली स्थानांतरित हो चुका था। पिता उन्हें पढ़ाने की स्थिति में ही नहीं थे। अतः चाचा जेकब ने अपने इस होनहार भतीजे को अपने खर्चे से स्विट्जर-लैण्ड के एक अच्छे पोलिटेकनिक स्कूल मे पढ़ाया। यो चाचा की स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं थी परिवार भी बड़ा था पर भतीजे की प्रतिभा अविकसित ही रह जाय यह वे कैसे सह सकते थे अतः उन्होने आर्थिक तंगी भुगतकर भी उन्हें पढ़ाया था।

पढ़लिख कर वे वैज्ञानिक-शोध-कार्य मे प्रवृत्त होना चाहते थे किन्तु आर्थिक कठिनाइयो के कारण उन्हे नौकरी करनी पड़ी। नौकरी मिली स्विस-पेटेंट-ऑफिस मे क्लर्क की। किन्तु उनकी शोध की महत्वाकांक्षा ने उन्हे रास्ता सुझा दिया जिससे कि वे शोध-कार्य के लिए समय निकाल सके। उन्होने बहुत से व्यर्थ के कामो को कम कर दिया। सादाजीवन अपनाकर वे बहुत से झंझटो से मुक्ति पा गये। अब वे दिन को ऑफिस मे कलम घिसाई करते और रात्रि मे अपना शोध-कार्य। एक पेट की भूख बुझाता था तो दूसरा मन और आत्मा की। दिन भर नौकरी करने पर दिमाग थक जाता है फिर कोई काम करना असम्भव नहीं, इस मान्यता को आइन्स्टाइन ने गलत सिद्ध कर दिया था। वे ऑफिस के काम को भी पूरे मनोयोग से करते और रात्रि मे अपने शोध-कार्य को भी उसी तल्लीनता से करते थे। वास्तव मे थकान होने का कारण किसी भी काम के साथ मनोयोग, तन्मयता नहीं जोड़ पाना है। काम को काम नहीं साधना समझ कर किया जाय, उसके साथ भावनाएँ तथा अपनी पूरी शारीरिक, मानसिक सामर्थ्य मनोयोगपूर्वक जोड़ा जाय तो थकने का प्रश्न ही उत्पन्न न हो।

इसी प्रकार दिन को नौकरी करते हुए और फालतू समय मे शोध करने के परिणामस्वरूप सापेक्षवाद नामक वैज्ञानिक-सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसने वर्षों से चली आ रही मान्यताओ को निराधार सिद्ध कर दिया। न्यूटन जैसे वैज्ञानिको के कुछ सिद्धान्त भी झूठे पड़ गये। उस सिद्धान्त का आधार यह तथ्य है कि हम जो कुछ देखते है और जो कुछ वास्तव मे प्रकृति मे घटित हो रहा है उनमे बहुत भिन्नता है। १९०५ में उन्होने सापेक्षावाद का सिद्धान्त गतिशील माध्यम की गति नामक शोध पत्र के द्वारा प्रकाशित किया। उसके साथ ही उनके अन्य चार महत्त्वपूर्ण शोध-पत्र भी प्रकाशित किये गये।

हर नई बात चाहे वह कितनी ही सत्यतापूर्ण और उपयोगी क्यो न हो दुनिया उसे एकदम स्वीकार नहीं कर लेती। यही आइन्स्टाइन के साथ भी हुआ। किन्तु उनके इस सिद्धान्त को अंततः स्वीकार किया ही गया। १९०९ मे वे ज्युरिख विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर बनाये गये फिर कुछ वर्ष बाद 'कैसर बिहेल्म सस्थान' के निर्देशक, जो उस समय विश्वविख्यात विज्ञान-संस्थान था।

वे कोरे बुद्धिवादी वैज्ञानिक ही नहीं थे वरन् उदार मानव भी थे, पूरे भावनाशील, ह्रदय प्रधान। नाजी जातिवाद ने जब जर्मनी मे हिंसा और उत्पीड़न का ताण्डव खड़ा किया तो उन्होने उनके इस कुकृत्य की घोर निंदा की। उन्हें इसी कारण जर्मनी छोड़ देना पड़ा। नाजियो ने उनके सिर की कीमत लाखों रुपये रखी थी। वैज्ञानिक होते हुए भी वे उसे ही सर्वोपरि नहीं मानते थे। वे उसे मानव-प्रगति का साधन भर मानते थे साध्य नहीं। यही कारण था कि वे मानवता का पक्ष लेकर नाजियो के कोपभाजन बने थे।

स्वयं को वे साधारण-सा व्यक्ति मानते थे। अपने समकालीन महापुरुषों मे उनकी भक्ति की सी श्रद्धा थी। उनकी मृत्यु पर उन्होने कहा था—"आने वाली पीढ़ियाँ इस बात पर विश्वास नहीं करेंगी कि इस प्रकार व्यक्ति हाड़-माँस के पुतले के रूप मे पृथ्वी पर विचरण करता था।" यहाँ उनकी भाषा दार्शनिक-सी हो गयी है। वे अपने को गाँधीजी से बहुत छोटा मानते थे। उन्होने तत्कालीन भारतीय-राजदूत गगनबिहारी मेहता से कहा था—"मेरी तुलना उस महान व्यक्ति से न करो जिन्होने मानव जाति के लिए बहुत कुछ किया मैं तो उनके सामने कुछ भी नहीं हूँ।"

वे पूरे तपस्वी थे। वैज्ञानिक-शोध को उन्होने एक तपस्या समझकर ही किया था। उससे न उन्होने लाभ उठाने की कोशिश की और न महान-वैज्ञानिक के रूप में प्रतिष्ठा पाकर उनकी सादगी, सरलता और निरहंकारिता मे किंचितमात्र अन्तर ही आया। जिस विज्ञान की साधना उन्होने एक तपस्वी की तरह की थी जब उसे ही मानवजाति के विनाश मे प्रयुक्त होते देखा तो उनकी आत्मा बिलख उठी थी। वे इस दुःख को भुलाने के लिए कभी-कभी संगीत का सहारा लेते थे। वे अच्छे वायलिनवादक थे। जब वे जर्मनी छोड़कर अमेरिका पहुँचे थे तो उनके साथ वायलिन का बक्सा देखकर लोग उन्हे संगीतकार समझ बैठे थे। उनका हर काम पूरी तल्लीनता से होता था। वायलिन बजाते तो ऐसी दर्दीली धुनें निकालते कि उनका अपना दर्द उस प्रवाह मे खो जाता। वायलीन और उसमे बसा संगीत उनके दुःख-दर्द और कठिनाइयो का सच्चा साथी था।

उन्होने विज्ञान को मानव-सेवा का एक साधन मानकर ही अपनाया था, साथ ही विश्वबन्धुत्व और विश्व-शान्ति के लिए भी उन्होने एकनिष्ठ होकर कार्य किया था। उनके सामने देशो का, जातियो का और धर्मों का उतना महत्व नहीं था जितना मानवता का। अपनी इस भावना को मूर्तरूप देने के लिये उन्होने युद्ध समाप्ति का एकमात्र हल सुझाते हुए विश्व-कॉंग्रेस की कल्पना की थी, जिसमें विश्व के सभी देश व जाति संकुचित राष्ट्रीयता से मुक्त होकर एक हो जाएँ।

अपनी प्रसिद्धि से वे सदा त्रस्त रहा करते थे। वे स्वय को साधारण-सा व्यक्ति प्रदर्शित करना चाहते थे किन्तु उन्हे सर्वत्र सम्मान व प्रसिद्धि ही मिलती थी, नोबल-पुरस्कार प्राप्त करने के लिये वे स्टाकहोम गये तो उन्होने अपना वही पुराना चमड़े का जाकेट पहना था जो उन्हें उनके एक मित्र

ने वर्षों पूर्व दिया था। उनकी इस साधारणता में भी एक ऐसी असाधारणता थी कि उन्हें सभी गणमान्यव्यक्तियों ने अपने पास बिठाया, सम्मानित किया। सच है जब तक व्यक्ति अपने सम्मान को लकपने के लिये प्रयत्नशील रहता है सम्मान उसकी पकड़ से बाहर रहता है और जब वह सम्मान के प्रति उदासीन हो जाता है तो वह बिन बुलाये मेहमान की तरह आ सकता है।

जीवन में चिंतन, मनन का कितना महत्व है उसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने विश्वयुद्ध पीड़ित जर्मन विस्थापित वैज्ञानिकों के सम्मुख भाषण देते हुए कहा था—"आप लोगों के लिये उपयुक्त काम लाइटहाउस की रखवाली करना अथवा जूते ठीक करना है क्योंकि इस काम में चिंतन के लिए पर्याप्त समय मिलता है।" वे स्वयं भी छोटे-मोटे रोजमर्रा के काम करते समय चिंतन में डूबे रहते थे उनकी पत्नी एल्जा उन्हें ऐसे अवसर पर मीठा उलाहना देती थी—"श्रीमानजी पहले खाना खा लीजिये फिर सोचते रहियेगा।" उनकी पहली पत्नी ने उनके इसी प्रकार काम में डूबे रहने व चिंतन करते रहने के कारण तलाक ले लिया था। किन्तु उनकी दूसरी पत्नी एल्जा ने उनके काम और चिंतन के महत्व को समझकर उनका पूरा संरक्षण किया था। उनकी पुत्रियाँ भी अपने इस दार्शनिक पिता से क्रिया-कलापों पर खूब चटखारे ले-ले कर हँसती थीं। उनका पारिवारिक जीवन उनके इस स्वभाव को लेकर कभी बोझिल नहीं बना। क्योंकि उनके इस स्वभाव की महत्ता को वहाँ स्वीकार कर लिया गया था।

महान वैज्ञानिक-महामानव अल्बर्ट आइन्स्टाइन का यह जीवन, व्यक्ति और समग्र मानवता की अभिन्नता का अनूठा प्रतिपादन है जिसकी महत्ता हर व्यक्ति, हर वर्ग के लिए स्वीकारने और अनुसरण करने योग्य है।

विचार और साहसिक दृढ़ता के प्रतीक—

अर्नेस्ट हैमिंग्वे

विश्व उन दिनों प्रथम विश्वयुद्ध की लपटों में झुलस रहा था। अमेरिका का एक युवक अपने समवयस्क साथियों को सैनिक बनकर युद्ध के लिए प्रयाण करता देख रहा था। कैसा होता है युद्ध ? क्यों होती हैं लड़ाइयाँ ? कौन छेड़ता है इन्हें, क्या लाभ होता है। इनसे ? इस प्रकार के कितने ही प्रश्न उसके मस्तिष्क मे पावसकालीन मेघों की तरह उमड़ रहे थे। इनका उत्तर उसे युद्ध-क्षेत्र में ही मिल सकता था। उसने भी युद्ध मे भाग लेने का निश्चय कर लिया।

वह भर्ती-दफ्तर में अपना चयन हेतु पहुँचा। किन्तु उसकी एक आँख कमजोर होने के कारण उसका चयन नहीं हो सका। उसके मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी थी वह तो यों ही तृप्त होने वाली नहीं थी। वह युद्ध को निकट से देखने का अवसर खोजने लगा। जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी निकल आती है। वह अखबार का प्रतिनिधि बनकर वहाँ जा पहुँचा जहाँ मृत्यु का ताण्डव हो रहा था।

यह युवक और कोई नहीं विख्यात लेखक अर्नेस्ट हैमिंग्वे थे जो युद्ध का अनुभव पाना चाहते थे। बहुत प्रयास करने पर उन्हें घायल सैनिकों को चिकित्सालयों तक पहुँचाने वाली एम्बुलेंस पर काम करने का अवसर मिला। लोग तो युद्ध के नाम से काँपते है और वे युद्ध को पास से देखना चाहते थे। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने निडर थे। युद्ध हो जाय और वे उसका अनुभव पाने से वंचित न रह जाएँ। यह सोचकर वे एक दिन मौका देखकर सैनिकों के साथ खाई से भी आगे बढ़ गये। उसी समय शत्रुपक्ष की ओर से एक बम फेंका गया जो उनके निकट ही आकर फूटा।

इस बमविस्फोट में हैमिंग्वे और उनके साथ के तीन सैनिक बुरी तरह आहत हुए। दो का तो प्राणान्त ही हो गया। हैमिंग्वे ने युद्ध की भयंकरता को निकट से देख लिया था। आहतावस्था में ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि उन्हें क्या करना चाहिए। स्वयं बुरी तरह घायल थे। फिर भी उन्होंने उस तीसरे सैनिक को अपनी पीठ पर लादा और खाई की ओर लौट चले। खाई तक पहुँचते ही सैनिक मर गया। हैमिंग्वे भी बेहोश होकर गिर पड़े।

बाद में जब आपरेशन किया गया तो पता चला कि उनके शरीर में बम के २३७ टुकड़े गड़ गये थे। घायल सैनिक को पीठ पर लाद कर लाते समय भी उन पर शत्रु पक्ष के सैनिक ने आक्रमण किया था। जिससे उनकी एक टाँग बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गयी थी। उनकी इस वीरता का सम्मान इटली सरकार ने शौर्य पदक व पुरस्कार देकर किया।

हैमिंग्वे वस्तुतः सिपाही थे। अन्याय, अत्याचार, शोषण, गरीबी, उत्पीड़न, राज्यलिप्सा, स्वार्थ, घृणा आदि से लड़ना उनका काम था। उनके साहित्य में भी इन सब विकृतियों से जूझने का प्रबल स्वर उभरा है। वे इन सबका चित्रण करने के साथ ही उसमें वह प्रेरणा भी भरा करते थे कि आने वाली पीढ़ियाँ साहस, वीरता और धैर्यपूर्वक इन विकृतियों से लोहा लें और उन्हें परास्त करें। प्राणों पर खेल कर भी वे इनसे जूझें। उनका समूचा जीवन संघर्षपूर्ण था और उस रणक्षेत्र के वे सच्चे सिपाही थे।

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने पर वे अपने देश लौटे। वहाँ उनका शानदार स्वागत हुआ। उनका पैर अभी तक ठीक नहीं हुआ था। डॉक्टरों ने आराम करने की सलाह दी थी। लेकिन उन्होंने अपने आराम का ध्यान नहीं किया। परिवार की खस्ता हालत देखकर वे उसे सुधारने के लिये कठिन परिश्रम करते रहे। सच है जो व्यक्ति अपने कष्टों को देखता है तो उसे जरा सा कष्ट भी पहाड़-सा लगने लगता है पर जो दूसरों की पीड़ा को देखता है उसे अपना दर्द बहुत नगण्य लगता है। मनुष्य अपने आपको अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के स्तर पर विकसित करता

हुआ, दूसरों के सुख-दु:ख को अपना मानने लगता है तो समझना चाहिए कि वह देवता बनने के मार्ग पर चल पड़ा है। हैमिंग्वे भी उसी पथ के पथिक थे।

१८९९ में अमेरिका के प्रसिद्ध नगर शिकागो में जन्मे अर्नेस्टहैमिंग्वे का व्यक्तित्व बड़ा ही अनूठा था। वे प्रसिद्ध लेखक ही नहीं श्रेष्ठयोद्धा, बाक्सर और शिकारी भी थे। हारना उन्होंने कभी सीखा ही नहीं था। खतरो से जूझने मे उन्हे अनोखा आनन्द मिलता था। उनका शरीर भरा-पूरा और घावो से भरा हुआ था। देखने मे वह सैनिक अधिक और साहित्यकार कम ही लगते थे। निर्भयता और साहस मनुष्य को ईश्वर की दी हुई अनुपम विभूतियाँ हैं इनका जो विकास हैमिंग्वे के जीवन मे देखने को मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। साहस की हरक्षेत्र मे आवश्यकता होती है। चाहे वह व्यापार हो, खेती हो, उद्योग हो या कला साधना हो। बिना साहस के व्यक्ति अपनी क्षमताओ का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सकता।

बचपन से ही उन्हे मुक्केबाजी का बड़ा शौक था। वे विद्यालय के जाने-माने बॉक्सर थे। उनके पिता उन्हे सदा इसके लिये प्रेरित करते रहते थे। इसी मुक्केबाजी के शौक से एक बार उनकी नाक टूट गयी थी। एक बार आँख पर भारी चोट आयी थी और वह सदा के लिये कमजोर पड़ गयी थी। पर उन्होंने कभी खेल से मुँह नहीं मोड़ा था। वे खेलों में भी सबसे आगे रहते थे और पढ़ने में भी। स्कूल की पत्रिका मे सबसे अच्छी रचनाएँ भी उन्हीं की छपा करती थीं।

साहित्य-सृजन, युद्ध-कौशल मुक्के-बाजी और मछली का शिकार इन चारो बातो मे कोई सामंजस्य नही है। पर यह हैमिंग्वे की परिश्रमशीलता और आत्म-विश्वास का ही परिणाम था कि उन्होंने इन चारो बातों मे अपना वर्चस्व सिद्ध किया था।

नेपोलियन की तरह असम्भव शब्द पर वे भी विश्वास नहीं करते थे। प्रथमविश्वयुद्ध मे एक टाँग घायल करा के वे अमेरिका लौटे तो जी-जान से पत्रकारिता और साहित्य-सृजन में लग गये। परिश्रम और लगन सब कुछ करा देती है। यह उक्ति उनके जीवन मे बहुत चरितार्थ हुई थी। यहाँ उन्होंने कई समाचार पत्रों मे काम किया। पर यह काम भी उन्होंने पूरी ईमानदारी के साथ किया। वे अपनी लेखन शैली के बारे में लिखते है—"दुनिया में सबसे कठिन काम है ईमानदारी और सरलता के साथ आदमी की कहानी कहना।" इस कठिन काम को उन्होंने बखूबी पूरा किया।

हैमिंग्वे जब विख्यात नहीं हुए थे, उन दिनों पेरिस गये वहाँ उनकी भेट प्रसिद्ध साहित्यकार स्टीन और एजरापाउन्ड से हुई। उन्होंने अपनी रचनाएँ उन्हे दिखायीं स्टीन ने उन्हे नापसन्द किया और पाउण्ड ने उनमें कई कमियाँ बतायी। सिद्ध लेखकों द्वारा उनकी रचनाओ के सम्बन्ध में दी गयी इन निराशाजनक सम्मितियो का उन पर कोई प्रभाव नहीं

हुआ। वे अपने लेखन को और भी परिमार्जित और अर्थपूर्ण बनाने का प्रयास करते रहे।

उन्हीं दिनों एक दुर्घटना भी घटित हो गयी। हैमिंग्वे की पत्नी अपने साथ उनकी सारी पाण्डुलिपियाँ जो एक मजबूत बक्से में बन्द की हुई थीं, लेकर रेलगाड़ी में यात्रा कर रही थीं। किसी चोर ने समझा बक्से में भारी मालमत्ता है। एक स्टेशन पर वे जब पानी पीने उतरीं तो चोर ने वह बक्सा उड़ा लिया। हैमिंग्वे को जब अपने वर्षों के परिश्रम से तैयार पाण्डुलिपियों के खो जाने का पता लगा तो उन्हे कुछ देर के लिये तो बड़ा दु:ख हुआ पर उन्होंने न तो अपनी पत्नी को कुछ कहा और न निराश ही हुए। उन्होंने इस आघात को भी अपनी प्रगति के लिये आवश्यक मानकर सहन कर लिया और नये सिरे से और नये ढंग से लिखने का निश्चय कर लिया। जो व्यक्ति उनकी तरह विपत्तियों को भी उपयोगी मानकर चलते हैं वे लक्ष्य प्राप्ति मे अवश्य सफल होते हैं।

हैमिंग्वे ने नये सिरे से साहित्य लिखा। चार-पाँच पुस्तके प्रकाशित होने पर भी उन्हे यथोचित सम्मान नहीं मिला। आलोचकों ने उन्हे रद्दी बताया। पर वे भी हिम्मत हारने वाले नहीं थे। वे जानते थे कि आरम्भ में हर व्यक्ति को संघर्ष करना पड़ता है। १९२५ मे उनका 'सन् आलसो राइजेज' नामक उपन्यास छपा जो बहुत लोकप्रिय हुआ। देखते ही देखते उसकी २६ हजार प्रतियाँ बिक गयीं। फिर तो साहित्यगगन पर हैमिंग्वे का भाग्यसूर्य चमकने लगा।

'फैयरवेल टू आर्म्स' उनका अत्यधिक लोकप्रिय उपन्यास है। इसमे युद्ध की भयंकरता का सजीवचित्रण हुआ है। हैमिंग्वे का साहित्य निरुद्देश्य नहीं था। उनके साहित्य मे पीड़ित मानवता की करुणकथा चित्रित हुई है। समता-ममता और बन्धुत्व का स्वर उनकी रचनाओं मे अत्यधिक प्रभावी बनकर उभरा है। निराशा और कुण्ठा उसमे कहीं देखने को नहीं मिलती। जहाँ विकृतियों का नग्न-चित्रण उनके साहित्य मे है। वहीं उनसे संघर्ष कर उन्हे भेट देने की प्रबल प्रेरणाएँ भी उसमे भरी पड़ी हैं।

१९३६ मे जब स्पेन की जनतंत्री-सरकार को उलट देने के लिये जनरलफ्रैंको नाम के रक्त-पिपासु व्यक्ति ने स्पेन पर आक्रमण किया तो सभी देशों में खलबली मच गयी। हैमिंग्वे ने स्पेन की जनतंत्री सरकार की सहायता करने के लिये अपने मित्रों, परिचितो व प्रशसकों से चन्दा उगाह कर दो लाख रुपये की राशि एकत्रित करके स्पेन सरकार को भेजी। यही नहीं वे स्वयं भी स्पेन गये, समाचार पत्र के प्रतिनिधि बनकर। वे अन्याय और शोषण से बहुत घृणा करते थे। वे चाहते थे कि सारी दुनिया में सुख-शान्ति स्थापित हो जाय। उनके साहित्य-सृजन का यही उद्देश्य था।

दूसरे महायुद्ध में उन्होंने फासिस्टो के विरुद्ध संघर्ष किया था। इस युद्ध में वे बुरी तरह घायल भी हो गये थे। वे चोरी-छिपे पेरिस तक पहुँच गये थे और नाजी

दुरभिसंधियों को छिन्न-भिन्न करने में सहायक बने थे । हैमिंग्वे मानवता की रक्षार्थ कलम और तलवार दोनो से लड़े थे । उन्होने इस संघर्ष में प्राणों की कभी परवाह नहीं की थी । कई बार वे मरते-मरते बचे थे । सच है जो मृत्यु से नहीं डरते वे ही जीवन का सच्चा आनन्द उठा सकते हैं ।

१९५३ मे अरनेस्ट हैमिंग्वे को अमेरिका का सबसे बड़ा पुरस्कार, पुलिट्जर पुरस्कार मिला । १९५४ मे उन्हे साहित्य पर नोबुल पुरस्कार मिला । हैमिंग्वे अपनी इस सफलता का श्रेय उनकी प्रतिभा को नहीं अपनी लगन और अपने परिश्रम को देते है । साथ ही वे उन आलोचकों और सम्पादकों को भी श्रेय देते हुए कहते है उन लोगों ने मुझसे बड़ी साधना करायी । खास तौर से पत्रों के सम्पादक लोग शनिवार की रात को मुझसे बहुत काम लेते थे । मुझे इतनी कड़ी मेहनत करने में बड़ा मजा आता था—हम जो कुछ लिखते थे वह एकदम नया और ताजा होता था । ऐसी दृष्टि लेकर चलने वाले के लिए यह दुनिया बड़ी सुन्दर और यह जीवन बड़ा सरस हो जाता है ।

बहुत बड़े साहित्यकार हो जाने पर भी वे साहित्यिक गोष्ठियों में बहुत कम भाग लेते थे । लेते भी थे, तो बहुत कम बोलते थे । उनको कभी अपने साहित्यकार होने का गर्व नहीं उपजा ।

उनका जीवन एडवैंचर से भरा हुआ था । खिलाड़ी की तरह उन्होंने सुख-दुःख में समभाव रहते हुए हँसते-खेलते जीवन जिया था । संकटों को उन्होंने स्वयं बुलाया था । घोरविपदाओं में भी वे मुस्कराये थे । आत्मा, सुख-दुःख से परे होती है । यह तथ्य उनके जीवन में साकार देखा जा सकता है । २ जुलाई, १९६१ को उनका देहावसान हुआ । जीवन को उन्होंने जिस सहजता और उल्लास से जिया वैसे हम भी जियें तो जीवन का जीने का आनन्द आ जाय ।

तूफानी विद्यार्थी—अगस्तोरिशी

१२ वर्ष का एक नन्हा-सा विद्यार्थी अपने परिवार के साथ वन-विहार के लिये निकला । बात ब्राजील के एक छोटे से देहात सान्ता टेरेसा की है । बस्ती छोड़कर ज्यो-ज्यो यह टोली जंगल की ओर बढ़ती गई इस किशोर का मन प्रकृति के सौन्दर्य में विभोर होता गया । दूर-दूर तक फैली मनोरम हरियाली, चहचहाते पक्षी, पराग बिखेरते पुष्प और उनसे इठलाता मलय पवन, नि.सर्ग की तूलिका से रचा गया सुशोभित दृश्य देखकर बालक बोला—"पिताजी आप तो मुझे पुस्तकों के चित्रो तक सीमित रखना चाहते हैं—अहा ! कैसी सुन्दर पुस्तक देखने को मिल रही है । बड़ा होऊँगा तो अपना सम्पूर्ण जीवन प्रकृति की इसी गोद मे और सुनसान के इन सहचरों का जीवन किस प्रकार चलता है उसकी शोध में ही लगाऊँगा ।"

पिता की आँखें डबडबा उठीं । वह चाहते थे कि मेरा बेटा विश्वविद्यालय तक शिक्षा प्राप्त करे । किन्तु लम्बे परिवार ने उनकी सारी आकांक्षाओ को धराशायी कर रखा था । रिशी उनके ११वें पुत्र थे । भले ही उनकी आजीविका के स्रोत अच्छे रहे हो, पर जब उसमे पलने वाले सदस्यो की संख्या अनियन्त्रित थी तो आकांक्षाओ पर दबाव पड़ना स्वाभाविक ही था । अपने बच्चे के यह शब्द सुनकर उन्हे अपनी भूल पर दुःख भी हुआ और विवशता पर बेचैनी भी, किन्तु इस अध्यवसायी बालक ने जो कुछ कहा था वही कर दिखाया । सचमुच ही अपने ५० वर्षों के लम्बे जीवनकाल को उसने पशु-पक्षियो, जीव-जन्तुओ और वनौषधि-वनस्पतियो के ही शोध कार्य मे खपा दिया । उनके बारे मे किसी समय एक विशेषण प्रचलित हो गया था कि—"वे एक ऐसे तूफानी विद्यार्थी है जो विश्वविद्यालय नहीं गये, विश्वविद्यालय स्वयं ही उनके पास आया ।" किसी भी व्यक्ति की सफलता के लिये यह वाक्य प्रामाणिक हो सकता है बशर्ते कि अपने काम मे उसकी जिज्ञासा और लगन अगस्तोरिशी की भाँति ही प्रखर और प्रचण्ड हो जाय ।

अगस्तो इस घटना के बाद ज्यादा दिन तक स्कूल नही जा सके । उनके पिता निराश हुये पर वे इससे जरा भी विचलित नही हुये । उन्होने कहा—संसार एक बहुत बड़ा विद्यालय है, जब तक भगवान की पाठशाला विद्यमान है, ज्ञान के लिये, बौद्धिक क्षमताओं के विकास के लिये किसी को भी भटकने और तरसने की आवश्यकता नहीं । किशोर बालक ने छोटी अवस्था से ही तीन डायरियाँ बनाईं । तीनो डायरियाँ लेकर वह जंगल पहुँचता और अपना अभ्यास प्रारम्भ करता । एक डायरी मे वह वनस्पति विद्या के अनुभव लिखता । जंगल में कितने प्रकार के फलो वाले पौधे पाये जाते हैं, कितने फूलो वाले और कितनी घासे । किस प्रकार की मिट्टी में, कितने तापमान में, किस ऋतु में, किस जलवायु में कौन-सा पौधा जन्म लेता है ? और बढ़ने से लेकर परागण, प्रसवन एवं पुष्पित, पल्लवित होने तक का सारा ज्ञान वे अपनी डायरी मे उतारते, इसके लिये उन्हें कई बार तो दिन-दिन भर रात-रात भर एक ही आसन पर भूख प्यास की परवाह किये बिना बैठे रहना पड़ता । बालक की निष्ठा इतनी प्रगाढ थी कि दर्शक थक जाते पर वह नहीं थकता था । उसी का परिणाम था कि ब्राजील के ४०० वर्गमील लम्बे जंगल का नक्शा, कहाँ कौन से वृक्ष पाये जाते हैं, एक-एक पौधे की परिस्थितियो का सुविस्तृत ज्ञान जब उन्होंने तैयार किया तो मालूम हुआ कि उनकी विषय सूची में ९०,००० हजार पौधे अपना नाम लिखा चुके हैं । उन्होने १९ पौधों की नई जातियाँ भी तैयार कीं । वनस्पति-विद्या का इतना सुविस्तृत ज्ञान अब तक कोई नहीं दे सका था, जितना रिशी ने दिया । एक प्रकार से उन्होने भारतीय-दर्शन मे उपलब्ध ज्ञान के पीछे सन्निहित तप को मूर्तिमान कर दिया और दिखा दिया कि जो गहरे पैठ करते हैं वही रत्न पाते हैं । १५ साल की नन्हीं सी आयु में ही उन्होने विद्वानो को चौंकाने वाले आँकड़े, तथ्य और ज्ञान प्रस्तुत कर दिया, यह मनुष्य-जीवन की एक अद्भुत मिसाल है ।

हुआ, दूसरों के सुख-दुःख को अपना मानने लगता है तो समझना चाहिए कि वह देवता बनने के मार्ग पर चल पड़ा है । हैमिंग्वे भी उसी पथ के पथिक थे ।

१८९९ में अमेरिका के प्रसिद्ध नगर शिकागो में जन्मे अर्नेस्टहैमिंग्वे का व्यक्तित्व बड़ा ही अनूठा था । वे प्रसिद्ध लेखक ही नहीं श्रेष्ठयोद्धा, बाक्सर और शिकारी भी थे । हारना उन्होंने कभी सीखा ही नहीं था । खतरों से जूझने में उन्हें अनोखा आनन्द मिलता था । उनका शरीर भरा-पूरा और घावों से भरा हुआ था । देखने मे वह सैनिक अधिक और साहित्यकार कम ही लगते थे । निर्भयता और साहस मनुष्य को ईश्वर की दी हुई अनुपम विभूतियाँ हैं इनका जो विकास हैमिंग्वे के जीवन मे देखने को मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है । साहस की हरक्षेत्र में आवश्यकता होती है । चाहे वह व्यापार हो, खेती हो, उद्योग हो या कला साधना हो । बिना साहस के व्यक्ति अपनी क्षमताओं का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सकता ।

बचपन से ही उन्हे मुक्केबाजी का बड़ा शौक था । वे विद्यालय के जाने-माने बॉक्सर थे । उनके पिता उन्हें सदा इसके लिये प्रेरित करते रहते थे । इसी मुक्केबाजी के शौक से एक बार उनकी नाक टूट गयी थी । एक बार आँख पर भारी चोट आयी थी और वह सदा के लिये कमजोर पड़ गयी थी । पर उन्होंने कभी खेल से मुँह नहीं मोड़ा था । वे खेलों में भी सबसे आगे रहते थे और पढ़ने में भी । स्कूल की पत्रिका मे सबसे अच्छी रचनाएँ भी उन्हीं की छपा करती थीं ।

साहित्य-सृजन, युद्ध-कौशल मुक्के-बाजी और मछली का शिकार इन चारो बातो मे कोई सामंजस्य नहीं है । पर यह हैमिंग्वे की परिश्रमशीलता और आत्म-विश्वास का ही परिणाम था कि उन्होंने इन चारो बातों में अपना वर्चस्व सिद्ध किया था ।

नेपोलियन की तरह असम्भव शब्द पर वे भी विश्वास नहीं करते थे । प्रथमविश्वयुद्ध मे एक टाँग घायल करा के वे अमेरिका लौटे तो जी-जान से पत्रकारिता और साहित्य-सृजन मे लग गये । परिश्रम और लगन सब कुछ करा देती है । यह उक्ति उनके जीवन मे बहुत चरितार्थ हुई थी । यहाँ उन्होंने कई समाचार पत्रो मे काम किया । पर यह काम भी उन्होंने पूरी ईमानदारी के साथ किया । वे अपनी लेखन शैली के बारे में लिखते हैं—"दुनिया में सबसे कठिन काम है ईमानदारी और सरलता के साथ आदमी की कहानी कहना ।" इस कठिन काम को उन्होंने बखूबी पूरा किया ।

हैमिंग्वे जब विख्यात नहीं हुए थे, उन दिनो पेरिस गये वहाँ उनकी भेट प्रसिद्ध साहित्यकार स्टीन और एजरापाउन्ड से हुई । उन्होंने अपनी रचनाएँ उन्हें दिखायीं स्टीम ने उन्हे नापसन्द किया और पाउण्ड ने उनमे कई कमियाँ बतायी । सिद्ध लेखको द्वारा उनकी रचनाओ के सम्बन्ध मे दी गयी इन निराशाजनक सम्मितियों का उन पर कोई प्रभाव नहीं

हुआ । वे अपने लेखन को और भी परिमार्जित और अर्थपूर्ण बनाने का प्रयास करते रहे ।

उन्हीं दिनों एक दुर्घटना भी घटित हो गयी । हैमिंग्वे की पत्नी अपने साथ उनकी सारी पाण्डुलिपियाँ जो एक मजबूत बक्से में बन्द की हुई थीं, लेकर रेलगाड़ी में यात्रा कर रही थीं । किसी चोर ने समझा बक्से में भारी मालमत्ता है । एक स्टेशन पर वे जब पानी पीने उतरीं तो चोर ने वह बक्सा उड़ा लिया । हैमिंग्वे को जब अपने वर्षों के परिश्रम से तैयार पाण्डुलिपियों के खो जाने का पता लगा तो उन्हे कुछ देर के लिये तो बड़ा दुःख हुआ पर उन्होंने न तो अपनी पत्नी को कुछ कहा और न निराश ही हुए । उन्होंने इस आघात को भी अपनी प्रगति के लिये आवश्यक मानकर सहन कर लिया और नये सिरे से और नये ढंग से लिखने का निश्चय कर लिया । जो व्यक्ति उनकी तरह विपत्तियों को भी उपयोगी मानकर चलते हैं वे लक्ष्य प्राप्ति मे अवश्य सफल होते हैं ।

हैमिंग्वे ने नये सिरे से साहित्य लिखा । चार-पाँच पुस्तके प्रकाशित होने पर भी उन्हे यथोचित सम्मान नहीं मिला । आलोचकों ने उन्हे रद्दी बताया । पर वे भी हिम्मत हारने वाले नहीं थे । वे जानते थे कि आरम्भ में हर व्यक्ति को संघर्ष करना पड़ता है । १९२५ में उनका 'सन् आलसो राइजेज' नामक उपन्यास छपा जो बहुत लोकप्रिय हुआ । देखते ही देखते उसकी २६ हजार प्रतियाँ बिक गयीं । फिर तो साहित्यगगन पर हैमिंग्वे का भाग्यसूर्य चमकने लगा ।

'फैयरवेल टू आर्म्स' उनका अत्यधिक लोकप्रिय उपन्यास है । इसमे युद्ध की भयंकरता का सजीवचित्रण हुआ है । हैमिंग्वे का साहित्य निरुद्देश्य नहीं था । उनके साहित्य में पीड़ित मानवता की करुणकथा चित्रित हुई है । समता-ममता और बन्धुत्व का स्वर उनकी रचनाओ में अत्यधिक प्रभावी बनकर उभरा है । निराशा और कुण्ठा उसमे कहीं देखने को नहीं मिलती । जहाँ विकृतियों का नग्न-चित्रण उनके साहित्य मे है । वहीं उनसे संघर्ष कर उन्हे मेट देने की प्रबल प्रेरणाएँ भी उसमें भरी पड़ी है ।

१९३६ मे जब स्पेन की जनतंत्री-सरकार को उलट देने के लिये जनरलफ्रेंको नाम के रक्त-पिपासु व्यक्ति ने स्पेन पर आक्रमण किया तो सभी देशो में खलबली मच गयी । हैमिंग्वे ने स्पेन की जनतंत्री सरकार की सहायता करने के लिये अपने मित्रों, परिचतो व प्रशंसकों से चन्दा उगाह कर दो लाख रुपये की राशि एकत्रित करके स्पेन सरकार को भेजी । यही नहीं वे स्वयं भी स्पेन गये, समाचार पत्र के प्रतिनिधि बनकर । वे अन्याय और शोषण से बहुत घृणा करते थे । वे चाहते थे कि सारी दुनिया मे सुख-शान्ति स्थापित हो जाय । उनके साहित्य-सृजन का यही उद्देश्य था ।

दूसरे महायुद्ध में उन्होंने फासिस्टो के विरुद्ध संघर्ष किया था । इस युद्ध मे वे बुरी तरह घायल भी हो गये थे । वे चोरी-छिपे पेरिस तक पहुँच गये थे और नाजी

दूसरी डायरी में अगस्तो रिशी ने पक्षियों के जीवन वृत्तान्तों की शोध लिखना आरम्भ किया और अपने इस प्रयास में उन्होंने ४०० विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे चहचहाने वाले पक्षियों के बारे में वह जानकारियाँ दीं जो न केवल पक्षियों से सम्बन्धित-ज्ञान की अनमोल रत्न बन गयीं वरन् उन जानकारियो ने जीवन-जगत के उन अज्ञात पहलुओं पर भी प्रकाश डाला जो आत्मा के अस्तित्व और उसकी एक रूप सर्वव्यापकता को प्रमाणित करने मे बड़ी सहायक हैं।

उनके जीवन के दो हृदय-स्पर्शी-संस्मरण इस बात का मार्ग-दर्शन करते हैं कि किसी नई वस्तु की शोध के लिये कितनी गहन-साधना करनी पड़ती है। एक बार वे एक पक्षी की जीवनचर्या की जानकारी प्राप्त कर रहे थे। उन्होंने उस पक्षी के घोसले को निरीक्षण-केन्द्र बनाया और उस स्थान पर लगातार ३५ दिन तक बैठना पड़ा। मादापक्षी के हाव-भाव, रहन-सहन तथा गर्भावस्था के विशिष्ट रहन-सहन पर अनोखी जानकारियाँ इस एकान्त साधना में मिलीं। जब मादा सो जाती केवल उतने ही समय के लिये वे उठते, जल्दी-जल्दी स्नान, कुल्ला, भोजन, वस्त्र बदलना आदि काम करके फिर वहीं आ बैठते। अण्डे देने, उन्हे सेने, १४ दिन बाद बच्चे निकलने तक के एक-एक क्षण का आँखों देखा विवरण उन्होंने लिखा। नवजात बच्चों के आहार-विहार, शिक्षण उनके मलमूत्र के रासायनिक विश्लेषण द्वारा उन्होंने अनेक अप्रकट जानकारियाँ एकत्रित कीं। उन्होंने इन कार्यों में पूर्णशोधकों द्वारा लिखी पुस्तकों का भी मार्गदर्शन व प्रकाश प्राप्त किया पर जब उनकी पुस्तक तैयार हुई तो पिछली सभी पुस्तके उनके ज्ञान-गुरु के सम्मुख प्राथमिक स्तर के शिष्य के समान प्रतीत हुईं।

बच्चों की पैदाइशी तौल, उनके शरीर का तापमान, उन्हे प्रदत्त परिस्थितियो तथा उनके जीवन और विकास के लिये कौन-कौन-सी प्रवृत्ति का आहार चाहिए, इस सब तक की सूक्ष्म जानकारियाँ देकर उन्होंने यह बताया कि जीवन की गम्भीरता के रहस्य अत्यधिक सूक्ष्म है। केवल थोड़े से स्थूल क्रियाकलाप ही जीवन का विश्लेषण नहीं कर सकते है, हमे सूक्ष्म इकाइयों मे प्रवेश करके ही सत्य को पहचानना चाहिए।

एक बार उन्हे एक जल-पक्षी के आहार आदि से सम्बन्धित एक शोध में तीन दिन तक लगातार पानी मे डूबे रहना पड़ा, कोई उपकरण नहीं थे तो उन्होने लौकी के तूँबे मे दो छेद कर उसमे पारदर्शी कागज चिपकाकर ही काम चलाया और अभाव-ग्रस्त स्थिति मे भी अपना शोध-कार्य बन्द नही किया। वे परिस्थितियो पर हावी रहे परिस्थितियाँ उन पर हावी नहीं हो पाईं और हर तरह उन्होने सफल-जीवन-दर्शन की अनुकरणीय झाँकी प्रस्तुत कर दी।

तीसरी डायरी में उन्होने पक्षियों के अतिरिक्त नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं पर शोध का काम किया। यह काम भी उतनी ही लगन और दिलचस्पी से सम्पन्न हुआ। एक बार उन्हें एक चींटी दिखाई दी। वह कुछ भटक गई प्रतीत होती थी। अपने कुनबे मे वह किस तरह पहुँचती है किस प्रकार वह अन्य चींटियों से सम्वाद करती और मनोवांछित जानकारियाँ लेकर अपने किले तक पहुँचती है इस सारी जानकारी के लिये अगस्तो ३० घण्टे तक चींटी की गतिविधियों का पर्यवेक्षण करते रहे। इन ३० घण्टों में उन्होंने जो जानकारियाँ इकट्ठी कीं वह प्राणिशास्त्र को अनेक कौतुक भरे ज्ञान प्रदान करती है।

अगस्तो रिशी ने इसी प्रकार कठिन साधनाएँ जारी रख कर प्रकृति-पुस्तक का अथाह-ज्ञान संकलित कर अपना विस्तीर्ण किया और अपने से आगे आने वाली पीढ़ी के लिये ज्ञान का विशाल भाण्डागार सचित कर दिया।

कुँआ प्यासे के पास नहीं आता पर अगस्तो ने यह सब कर दिखाया। ब्राजील के विश्वविद्यालय ने उन्हें प्राणि-विशेषज्ञ की उपाधि से विभूषित कर उच्चवेतन पर अपने यहाँ आने का आमन्त्रण भेजा, पर प्रकृति प्रेमी को दीवारों में बँधकर अपनी ज्ञान-साधना को अवरुद्ध करना न भाया। उन्होंने इन्कार कर दिया। रीयो के नेशनल म्यूजियम के प्राकृतिक-विशेषज्ञ अध्यापक केन्डीडो डे मेलो लियाराओ ने उन्हे म्यूजियम मे आकर काम करने का आग्रह किया पर उसे भी उन्होंने ठुकरा दिया। फलतः विश्वविद्यालय और अजायब घर दोनों ही उनके पास आये अर्थात् उन्हें विश्वविद्यालय तथा अजायबघर दोनों ने अपनी-अपनी तरह की सुविधाएँ जहाँ वे चाहते थे वहाँ दीं और इस प्रकार अपना स्वतन्त्र चिड़ियाघर तथा प्राकृतिक विश्वविद्यालय बनाकर उन्होंने अपना शोध-कार्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक जारी रखा। उन्होंने दिखा दिया कि जो एक बार दृढ़ निश्चय करके सच्चाई के साथ किसी लक्ष्य की ओर चल देता है साधन-सुविधाएँ छाया की भाँति उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगती हैं। सान्ता टेरेसा मे बना सरकारी बायोलाजिकल केन्द्र (गवर्नमेण्ट बायोलाजिकल फील्ड स्टेशन) आज भी इस गौरव-गाथा का प्रसार कर रहा है और प्रतिवर्ष ५०००० से अधिक पर्यटकों को बुलाकर उपर्युक्त प्रकार की प्रेरणा प्रदान करता है।

इन सब महान् कार्यों के लिये ब्राजील सरकार ने उन्हें बहुत बड़ा इनाम दिया और उनका अभिनन्दन किया गया जिसमे उनकी लगन, साधना और विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। उस प्रशस्ति का उत्तर बहुत ही विनम्र शब्दों मे देते हुये इस आजीवन-विद्यार्थी ने कहा—यह दुनिया इतनी विशाल है कि उसके सम्पूर्ण रहस्य कोई भी जान नहीं सकता। मैने तो अथाह ज्ञान-सागर का एक नन्हा सा बिन्दु मात्र लिया है—और इन शब्दो में मानो उन्होंने अपनी सारी अहता धो डाली और अपनी महानता का मुख उज्ज्वल कर दिया। सचमुच जो विद्या प्रेमी होते हैं वे ऐसे ही एकनिष्ठ, निश्छल और विनीत होते हैं।

नोबुल पुरस्कार के प्रवर्तक— अल्फ्रेड नोबुल

परिश्रम, उद्योगशीलता और मितव्ययिता से जो सम्पत्ति कमाई थी उसकी वसीयत में मरते समय अल्फ्रेड नोबुल ने लिखा—"मेरे प्रत्येक भतीजे को पाँच-पाँच हजार पौण्ड देकर जो सम्पत्ति बचे उसे बेचकर धन रकम कर लिया जाय। इस प्रकार प्राप्त ब्याज से प्रतिवर्ष ऐसे व्यक्तियों को पुरस्कार दिया जाय जिनका गत वर्ष का कार्य मानवता के लिए मौलिक रूप में सबसे अधिक लाभदायक समझा जाय। ब्याज के रूप में प्राप्त होने वाले धन को पाँच समान भागों में विभक्त किया जाय। एक भाग उस व्यक्ति के लिए जो भौतिक-विज्ञान में सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज करे। दूसरा भाग उस व्यक्ति के लिए जो रसायन-विज्ञान में उपयोगी खोज करे। तीसरा भाग-चिकित्साशास्त्र मे नई खोज करने वाले व्यक्ति के लिए। चौथा भाग साहित्य-क्षेत्र में किसी आदर्श का नेतृत्व करने वाली सर्वश्रेष्ठकृति के लिए और पाँचवाँ भाग उस महापुरुष के लिए जो राष्ट्रों में भ्रातृत्व का प्रचार करने वालों में वर्तमान सैनिक बल का अन्त करके विश्वशांति की स्थापना के लिए प्रयत्न करने वालों में सबसे बढ़कर माना जाय। पुरस्कार देते समय जातियाँ या देश का विचार न किया जाय। जिसकी कृति अपने क्षेत्र में पुरस्कार योग्य प्रमाणित हो उसे ही पुरस्कार दे दिया जाय भले ही वह किसी भी जाति का हो अथवा किसी भी देश का निवासी।"

वसीयत के अनुसार उन्होंने देहावसान के बाद २० लाख पौण्ड की सम्पत्ति छोड़ी। जिसकी वार्षिक ब्याज की आमदनी ६ लाख रुपये के लगभग है। कई कारणों से ब्याज घटता-बढ़ता रहता है अतः इन पाँच क्षेत्रों में विशिष्ट सेवा के लिए जो पुरस्कार दिये जाते हैं वे ९० हजार से अधिक किन्तु सवा लाख पौण्ड से कम होते हैं। इन पुरस्कारों की व्यवस्था नोबुल फाउण्डेशन नामक एक समिति करती है जिसमे पाँच सदस्य होते हैं। पुरस्कार किसे दिया जाय—उसका आधार स्वयं अल्फ्रेड अपनी वसीयत में लिख गये हैं। यह पुरस्कार संसार का सबसे बड़ा और सर्वाधिक पुराना पुरस्कार है—जो १९०१ में दिया जाना प्रारम्भ हुआ।

विभिन्न क्षेत्रों में मानवता की सेवा को प्रोत्साहित करने वाले इन पुरस्कारों के जनक का जीवन परिचय तथा कृतित्व जानने के लिए उत्सुक होना भी स्वाभाविक है। उनका जीवन जितना रोमांचकारी और आश्चर्यजनक है उतना ही महान और अनुकरणीय भी है। उनके पिता ने चौदहवर्ष की अवस्था में स्कूल छोड़कर पानी के जहाज में केबिनबॉय की छोटी-सी नौकरी से अपना जीवन शुरू किया था। विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति करते हुए उन्होंने कई आविष्कार किये लेकिन कुछ घटनाओं के कारण उनका मस्तिष्क जीवन के अन्तिम दिनों में विकृत हो गया और उसका प्रभाव अतिशय संवेदनशील मन के स्वामी अल्फ्रेडनोबुल पर भी हुआ।

उनका पूरा नाम अल्फ्रेड बर्नार्ड नोबुल था। पर कुल नाम से ही वे विख्यात हुए। १८३३ में उनका जन्म स्टाकहोम में हुआ था। उनके जन्म के समय की स्थिति को देखते हुए माता-पिता को यह भय होने लगा था कि यह कुछ वर्षों भी जी सकेगा या नहीं। क्योंकि शरीर से वे बहुत दुबले थे और भार भी बच्चों के औसत वजन से कम। स्नायुविक दुर्बलता इस कदर थी कि मौसम जरा भी शुष्क होता तो गर्मी का शिकार हो जाते और वातावरण में जरा भी नमी आती तो सर्दी ज्वर आदि हो जाते। इस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि से कमजोर रहने के कारण वे प्रायः माँ के समीप ही रहते, यहाँ तक कि बड़े होने पर भी उनका अधिकांश समय अपनी माँ के साथ ही गुजरता। माँ उन्हें बाइबिल और अन्य पुस्तकों से प्रेरक कहानियाँ सुनाया करती थीं और यह प्रेरणा दिया करतीं कि तुम कमजोर हो तो क्या हुए, आगे चलकर एक महान व्यक्ति बनोगे और सारा संसार तुम्हारा नाम श्रद्धा और सम्मान के साथ लेगा।

अल्फ्रेड नोबुल सामान्य से अधिक संवेदनशील और भावुक थे। छोटी-छोटी घटनाओं की उनके मन पर गम्भीर प्रतिक्रिया होती थी। ऐसी ही एक सामान्य घटना की प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने आजीवन अविवाहित रहने का संकल्प कर लिया। जीवन में किसी स्त्री को स्थान न दे पाने के कारण वे सदैव अपनी माँ की ही अभ्यर्थना करते रहे। पिता ने उन्हें अपने प्रिय विषय विरासत के रूप में दिये और अल्फ्रेड अपने पिता की भाँति ही रसायन, भौतिकशास्त्र, यान्त्रिकशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हुए। पिता के मित्र तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिक जान एरिक्सन के सान्निध्य में रहकर वे नौसेना सम्बन्धी यन्त्रों का ज्ञानार्जन करने लगे। १८५३ में एरिक्सन ने ५० हजार डालर की पूँजी लगाकर एक नये ढंग का इन्जन बनाया। उस समय अल्फ्रेड की आयु बीसवर्ष मात्र थी। इंजन का परीक्षण किया जाना था उसके लिए स्थान और तिथि भी निश्चित कर लिये गये थे। एरिक्सन ने इस इंजन के निर्माण में अपनी समस्त अर्जित पूँजी झोंक डाली थी—इसलिए परीक्षण के प्रति उत्सुकता और कौतूहल रहना स्वाभाविक था।

एक वाष्पपोत में यह इंजन जोड़कर निर्धारिततिथि को नियतस्थल से समुद्र में छोड़ा गया। पोत कुछ दूरी पर गया लेकिन समुद्र के तूफानी थपेड़ों की चपेट में आकर अथाह सागर में डूब गया। एरिक्सन बड़े निराश हुए—लगा वे लुट-पिट गये हैं। वहीं अल्फ्रेड भी उपस्थित थे। एरिक्सन की निराशा-पूर्ण-वेदना ने उनके भावुक मन पर बड़ा असर किया और उन्होंने तत्क्षण निश्चय कर लिया कि अगर हो सका तो वे ऐसी धनराशि का प्रबन्ध करेंगे जिससे वैज्ञानिकों को अपने अन्वेषण प्रयोगों में सुविधा मिल सके। जीते जी तो उनका यह निश्चय पूरा न हो सका। मरने के बाद भी नोबुल पुरस्कार के रूप में उन्होंने ऐसी व्यवस्था बनायी जिससे वैज्ञानिकों को सहायता मिल सके। सम्भवतः यही कारण है

कि उन्होंने पाँच पुरस्कारों में से तीन विज्ञान के लिए सुरक्षित रखे हैं ।

इसके बाद वे अमेरिका से स्वदेश लौट आये । उस समय उनके पिता नाइट्रोग्लैसरिन पर परीक्षण कर रहे थे । वे ऐसा मिश्रण तैयार करना चाहते थे जिसका विस्फोट खतरनाक न हो लेकिन शक्तिशाली हो । सन् १८६७ में अल्फ्रेड ने यह मिश्रण तैयार कर दिखाया इसी अन्वेषण ने डायनामाइट को जन्म दिया । यह मिश्रण बिना किसी भी प्रकार का खतरा उठाये कहीं भी ले जाया जा सकता है तथा बड़ी-बड़ी चट्टानों को भी तोड़ने में इसका प्रयोग किया जा सकता है । डायनामाइट उन्होंने नाइट्रोग्लैसरिन से तैयार किया था ।

अल्फ्रेड ने यह आविष्कार पेटेण्ट करा लिया । इस आविष्कार से औद्योगिक-जगत में काफी सहायता मिलने की सम्भावना थी अतः कई देशों ने उन्हें अपने यहाँ इस वस्तु के कारखाने खोलने के लिए आवेदन-पत्र दिये । परन्तु किसी ने भी उनकी योजना को समझने का प्रयत्न नहीं किया । फ्रांस के सम्राट नैपोलियन तृतीय ने जब उनकी योजना को सुना तो उसे यह योजना बड़ी लाभदायक लगी और उसने पर्याप्त धन देकर फैक्टरियाँ खुलवा दीं । फ्रान्स में जब कई फैक्टरियाँ खुल गयीं तो अपना कार्यक्षेत्र व्यापक बनाने के लिए वे अमेरिका गये । अमेरिका में उन्हें किसी ने नहीं पूछा । सब लोग इस बात से डरते थे कि उनके विनाशकारी फार्मूलों का शिकार कहीं हम न हो जाएँ । यहाँ तक कि एक होटल वाले ने अल्फ्रेड के सम्बन्ध में सुनते ही अपने यहाँ से निकाल दिया ।

अमेरिका से निराश होकर अल्फ्रेड कैलीफोर्निया गये और वहाँ अपने एक मित्र से इस सम्बन्ध में सहयोग माँगा । अल्फ्रेड की योजना सुनकर उक्त मित्र काफी खुश हुआ और उसने हर सम्भव सहयोग दिया । उसी की सहायता से अल्फ्रेड ने एक फैक्टरी कैलीफोर्निया में खोली । इसके बाद तो यूरोप के कई देशो मे उनकी फैक्टरियाँ खुली और आमदनी भी खूब होने लगी । अपने अन्वेषणो मे और सुधार करते हुए उन्होंने कुछ नये आविष्कार भी किये । नाइट्रोग्लैसरिन से ही उन्होंने एक ऐसा विस्फोटक तैयार किया जिसका प्रयोग आजकल युद्धो में किया जाता है ।

दसवर्षों तक उन्होंने अगाध परिश्रम किया था । यद्यपि उनका स्वास्थ्य काफी नाजुक रहता था फिर भी वे प्रयोगशाला में ही अधिकांश समय बिताते थे । फैक्टरियो में विस्फोटक पदार्थ तैयार होता था—अतः स्वाभाविक ही वहाँ की हवा मे विषैले तत्व घुल जाया करते । वहाँ के जहरीले धुएँ का अल्फ्रेड के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा । वे अस्वस्थ रहते, फिर भी अस्वस्थ दशा में काम करते रहते । जब तकलीफ बढ़ जाती तो वे आराम करने लगते और पीड़ा जरा कम होती तो पुनः काम करने लगते ।

दिनो दिन उनके पास सम्पत्ति का अम्बार जमा होता जा रहा था । ऐसे मे प्रायः यह होता है कि व्यक्ति अहंकारी और घमण्डी होने लगता है और यदि वह साधारण परिस्थितियों से उठा हो तब तो यह खतरा और भी बढ़ जाता है । लेकिन अल्फ्रेड इसके विपरीत उदार और विनम्र होते गये । जो भी जरूरतमंद उनके पास सहायता की याचना लेकर पहुँचता वे उसे खाली हाथ न जाने देते । सम्पत्ति का उन्हें न गर्व था और न प्रतिष्ठा का अभिमान । उनकी मान्यता थी कि सम्पति आज है, कल नहीं । उसके रहते मनुष्य को अपनी मानवता क्यों भुला देनी चाहिए । सन् १८७० में जब उनसे किसी पत्रकार ने उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में प्रश्न किये तो उनके उत्तर इस प्रकार थे ।

विशेष रुचि ?

किसी पर भार न होना ।

कोई अवगुण ?

अपना कोई परिवार नहीं बसाया और धन-दौलत की पूजा भी कभी नहीं की । स्मरणीय है अपने अवगुण स्वयं को दिखाई नहीं देते ।

आपकी कोई इच्छा ?

भरपूर जीवन जियूँ । जिंदा ही न दफना दिया जाऊँ ।

स्वयं को अकिंचन समझने की मनोवृत्ति उनकी विशेषता कही जाना चाहिए । करोड़पति होते हुए भी जो व्यक्ति स्वयं को कुछ न समझे उसकी महानता को किन शब्दों मे व्यक्त किया जाय । उनका समूचा जीवन प्रायः रेल, जहाज और होटलों में कटा । घर के नाम पर प्रयोगशाला थी । अतः उन्होंने अपने रहने के लिए कोई घर तक भी नहीं बनाया ।

अल्फ्रेड की वैज्ञानिक उपलब्धियो को सम्मानित करने के लिए उन्हें स्वीडिश नार्थ स्टार, फ्रेंच ऑर्डर, ब्राजीलियन ऑर्डर ऑफ द रोज आदि अनेक उपलब्धियाँ दी गयीं । ये उपलब्धियाँ विभिन्न देशो द्वारा दी गयी थीं । इन सम्मान समारोहो में जब उनकी प्रशस्ति मे कुछ कहा जाता तो वे स्पष्ट कह देते कि यह बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है और प्रशस्ति-भाषण मे व्यक्त किये गये उद्गार अपने ऊपर लागू न होने की बात भी मजाक के मूड मे कह जाते ।

जीवन के अन्तिम दिनो में उन्हें यह आभास हुआ कि अब मृत्यु समीप है और अपने पास है अपार सम्पत्ति, इसका क्या उपयोग किया जाना चाहिए ? किसी उत्तराधिकारी को सौंप दे । परन्तु उससे तो जिस व्यक्ति के हाथ मे यह सम्पत्ति पड़ेगी उसमे कई विकार उत्पन्न हो जायेगे । कोई स्मारक छोड़ जाने की बात भी नहीं जमी । बड़े सोच-विचार के बाद उन्हें अपना वह निश्चय याद आया जो एरिक्सन का प्रयोग असफल होने तथा ५० हजार डॉलर की पूँजी समुद्र मे डूब जाने के समय किया था । उसी निश्चय के अनुसार १८९० मे उन्होने नोबुल पुरस्कार के लिए वसीयत लिखी ।

जब उनसे पूछा गया कि आप जीवनभर विस्फोटक पदार्थ तैयार करते रहे और अब अंतिम दिनो विश्व शांति की बात कैसे या[illegible] ? तब उन्होने कहा था—'वस्तुत. [illegible] विस्फो[illegible] [illegible] नही है यदि उसका प्रयोग

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रँगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्त्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा यहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा यहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं–

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार ।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रस्त

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्य-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर-जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ। विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्रायः ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीला संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। ❑❑❑

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१ युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन
समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३ उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८ ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओ का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६.ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त

[illegible]

वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे--

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवनः एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

हर निमिष उनका साथ रहा । अंतिम बीस वर्ष शांतिकुंज हरिद्वार या सूक्ष्म शरीर से हिमालय में बीते । ऋषि परम्परा का बीजारोपण, सिद्ध तीर्थ गायत्री तीर्थ का निर्माण एवं वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के लिए संकल्पित ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान व समर्थक साहित्य का लेखन इसी अवधि में हुआ । जीवन भर उनने लिखा, हर विषय को स्पर्श किया एवं जीवन मूरि की तरह भाव-संवेदना को अनुप्राणित करने वाली अपनी लेखनी साधना की । स्वयं के बारे में वे कहते थे- "न हम अखबार नवीस हैं, न बुक सेलर, हम तो युगदृष्टा हैं । हमारे ये विचार, क्रांति के बीज हैं । ये फैल गए तो सारी विश्व-वसुधा को हिलाकर रख देंगे ।"

गद्य ही नहीं, पद्य पर भी उनकी उतनी ही पकड़ थी । हजारों को प्रेरित कर उनने सृजनात्मक काव्य लिखवाया। लेखनी उनकी पत्रों के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को बदलती चली गयी । प्राय: श्रेष्ठ लेखक, श्रेष्ठ वक्ता नहीं होते । किन्तु उनकी ओजस्वी अमृतवाणी ने लाखों का कायाकल्प कर दिया । उनके उद्बोधनों को, जो उनने भारत के कोने-कोने व मथुरा-हरिद्वार की पावन भूमि में दिए, इस वाड्मय में देने का प्रयास किया गया है । करुणा छलकाती उनकी वाणी, अंत: को स्पर्श करती हुई जीवन-शैली बदलने को प्रेरित रहती प्रतीत होती है।

सत्तर खण्डों में जो पाँच-पाँच सौ पृष्ठ के हैं, प्राय: वह सब कुछ समा गया है, जो ऋषि युग्म के माध्यम से प्रकट हुआ । जो कमियाँ हैं, वह संपादन मण्डल की हैं । जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह सब उसी गुरु-सत्ता का है, उन्हीं का है, उन्हीं को समर्पित है ।